

श्री अभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतमाम्

श्रीकैलासविद्यालोकस्य एकत्रिंशः (३१) सोपानः

बृहदारण्यकोपनिषत्

आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशाङ्करभाष्यसमेता

(प्रथमो भागः)



'गोविन्दप्रसादिनी' टिप्पणी एवं 'कैलासविद्याप्रकाशक' क्रोडपत्र परिष्कर्ता विद्यावाचस्पति

महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज



'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर

महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज



'कुमुदतोषिणी' टीकाकार एवं सम्पादक

डॉ० उमेशानन्द शास्त्री

एम. ए, एल-एल. बी., पी. एच. डी, व्याकरणाचार्य



श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति, ऋषिकेश

प्रकाशक—
श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति
मुनि की रेती, ऋषिकेश (उ० प्र०)

भारत सरकार द्वारा उपलब्ध कराए गए रियायती दर के कागज पर मुद्रित

प्रथम संस्करण ११००



गुरु पूर्णिमा वि. सं. २०३१

—पुस्तक प्राप्ति स्थान—

१. श्री कैलास आश्रम मुनि की रेती, ऋषिकेश-२४९२०१
२ श्री कैलास आश्रम, उजैली, उत्तरकाशी-२४९१९३
३. श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार-२४९४०१
४. श्री राम आश्रम, समानामण्डी, पटियाला-१४७१०१
५. श्री दक्षिणामूर्ति सं० म० विद्यालय, मिश्रपोखरा, वाराणसी-२२१००१
६. श्री चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-२२१००१
७. श्री चौखम्बा विश्वभारती, चौक, वाराणसी २२१००१
८. मोतीलाल बनारसीदास, चौक, वाराणसी-२२१००१

मुद्रक—श्री कैलास विद्या प्रेस, श्री ब्रह्मानन्द आश्रम, मुनि की रेती, ऋषिकेश (उ० प्र०)

सम्पादकीय—

श्री कैलास आश्रम ऋषिकेश की आदर्श परम्परा

श्री कैलास आश्रम (ब्रह्मविद्यापीठ) ऋषिकेश की संस्थापना प्रातःस्मरणीय आद्यसंस्थापक ब्रह्मलीन स्वामी धनराज गिरि जी महाराज द्वारा उस समय की गई, जिस समय भारतवर्ष मे प्राचीन पद्धति से दार्शनिक ग्रन्थो का पठन-पाठन मृत प्राय सा हो चला था। विद्वान् एवं धार्मिक नेताओं का झुकाव भी संसार की सत्यता प्रतिपादन करने मे होता जा रहा था। सामाजिक पुनरुत्थान के नाम पर भारतवर्ष की आदर्श संस्कृति एवं सभ्यता का निर्वचन पक्षपातपूर्ण दृष्टि में किया जाने लगा था। ऐसे अवसर पर ब्रह्मविद्या के पठन-पाठन, इसकी सार्वकालिक उपयोगिता एवं महत्त्व पर बल दिया जाना आवश्यक था। परम श्रद्धेय स्वामी धनराज गिरि जी महाराज ने उत्तराखण्ड में गङ्गा के पवित्र एवं सुरम्य वातावरण मे रहने वाले आत्मानन्द के रसिक साधको एव महापुरुषों को इस ब्रह्मविद्या के अध्ययन के लिए प्रेरित किया। प्रारम्भ मे वृक्ष की छाया मे अध्ययन-अध्यापन करना, भिक्षान्न भोजन करते हुए तत्त्वजिज्ञासुओं की पिपासा को शान्त करना मात्र ही इनका जीवन था। कालान्तर में अभिनव-चन्द्रेश्वर भगवान् महादेव की प्रेरणा से महाराजश्री ने सन् १८८० मे श्री कैलास आश्रम ब्रह्मविद्यापीठ की स्थापना कर भारतवर्ष मे दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन की परम्परा को सदा-सदा के लिए सुरक्षित रखने का बीड़ा उठाया।

श्री कैलास आश्रम ब्रह्मविद्यापीठ पिछले एक शतक से वेदान्त अध्ययन-अध्यापन की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए हुए है। गङ्गा के तट पर एक छोटी सी पहाड़ी पर स्थित कैलास आश्रम वेदान्त जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त मनोरम स्थल है। साधको एव ब्रह्मविद्यानुरागियो के लिए बहुत ही अनुकूल वातावरण है। यहाँ का एकान्त सेवन एव निष्ठावान् महापुरुषो का आश्रय किसको आत्मशान्ति प्रदान नही करता। यहाँ का वायुमण्डल वैराग्यरागरसिको को आत्मरति के लिए स्वभावतः प्रेरणा देता है। यहाँ की पवित्र भूमि मे आचार्यजनो के श्रीचरणो के सान्निध्य मे ऐसा लगता है मानो अद्वैत-निष्ठा सब ओर से सिमट कर मूर्तिमती होकर यही आवास करने लगी हो। स्वामी विवेकानन्द जी एव स्वामी रामतीर्थ जी प्रभृति विशिष्ट महापुरुषो की साधनस्थली श्री कैलास आश्रम मे सर्वप्रथम सन् १९६७ मे मुझे आने का अवसर दैवयोग से प्राप्त हुआ। विद्यावाचस्पति अनन्त श्री विभूषित महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द जी महाराज के दर्शन किए। उनकी तत्त्वनिष्ठा अलौकिक थी। इधर सन् १९७३ से तो संस्था का अङ्गभूत होकर जीवन्मुक्त महापुरुषो की अद्वैतनिष्ठा का चिन्तन करने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा है।

श्री कैलास आश्रम के पीठाचार्य अपनी विद्वत्ता एवं तत्त्वनिष्ठा के लिए विद्वत्समाज में सदा सर्वप्रिय रहे हैं। यहाँ के पीठाचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी महाराज एवं विद्यावाचस्पति अनन्त श्री विभूषित महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज ने उपनिषदों का रहस्य प्रतिपादन करने के लिए सस्कृत भाषा मे टिप्पण एव शोधपत्रों को लिखा। सर्वत्र चर्चा चली आ रही थी कि कैलास मे उपनिषदों पर दुर्लभ हस्तलेख हैं। पूर्व पीठाचार्यों की प्रकाशन कराने की प्रवृत्ति नही होती थी। इस तरह वे हस्तलेख वर्षों तक पुस्तकालय की शोभा बने रहे। इनके

काशन का एकमात्र श्रेय परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ यतीन्द्रकुलतिलक वर्तमान ठाचार्य महामण्डलेश्वर वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य अनन्त श्री विभूषित स्वामी विद्यानन्द गिरि जी हाराज को है। सन् १९६९ में कैलासाश्रम के पीठाचार्य महामण्डलेश्वर होने से पूर्व ही आपके कई न्थ प्रकाशित हो चुके थे। आपकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर "वेदान्त परिभाषा" एवं "ब्रह्मसूत्र वद्यानन्दी वृत्ति" इन ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए भारत सरकार शिक्षा विभाग ने आर्थिक सहयोग भी दिया। श्री कैलास आश्रम के इतिहास में ऐसा पहली बार ही हुआ कि उक्त संस्था की दार्शनिक उपलब्धियो को अधिकाधिक प्रकाश मे लाने के लिए ठोस कार्य किया हो और यह सब पूज्य महाराजश्री की प्रेरणा व कृपा से संभव हुआ।

लेखन, अनुवाद एवं सम्पादन

प्रस्तुत बृहदारण्यकोपनिषत् के टिप्पण एवं क्रोडपत्र लेखन का कार्य फरवरी सन १९७५ मे महाराज श्री ने मुझे सौंपा था। टिप्पणकार द्वारा मूल पुस्तक मे ही यत्र तत्र रिक्त स्थलो में बारीक-बारीक अक्षरो मे लिखे गये पदार्थ की प्रेसकापी बनाना, सन्देहास्पद स्थलो मे भाष्य, आनन्दगिरिटीका एवं वार्तिककार आदि के भावो का विश्लेषण करते हुए सही पाठ का निर्णय लेना, यह एक दुःसाध्य कार्य था जो महापुरुषों की कृपा से मैं यथाबुद्धि निष्पादित कर पाया। मूल मन्त्र, भाष्य, एवं आनन्दगिरि टीका पर "गोविन्दप्रसादिनी" टिप्पणी इतनी प्रचुर मात्रा मे हैं कि हस्तलिखित १७५२ पृष्ठो मे पूर्ण हुई। इसी प्रकार "कैलास विद्याप्रकाशक" क्रोडपत्र को ३३७ हस्तलिखित पृष्ठो मे पूर्ण किया जा सका। यदि इन्हें 'आनन्दगिरि' टीका की तरह स्वतन्त्र निबन्धात्मक टीका ही कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी क्योंकि उपनिषन्मन्त्रो, भाष्य एवं आनन्दगिरि टीका के सारगर्भित अर्थ को इनमें अधिक स्पष्ट किया है।

महाराज श्री की आज्ञा हुई कि शाङ्करभाष्य पर सरल, संक्षिप्त, भावाभिव्यञ्जक अनुवाद हो, इसके लिए मैंने "कुमुदतोषिणी" टीका लिखी। यद्यपि बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य पर पहले भी कई लेखक अपनी लेखनी उठा चुके हैं एवं भाष्य के मर्म को समझाने का प्रयास किया है, तदापि इस टीका मे कुछ नवीनता अवश्य मिलेगी। भगवान शङ्कराचार्य मन्त्रो पर अपना भाष्य लिखते समय मन्त्र के एक-एक पद को लेकर उसके पर्यायवाची शब्द का प्रयोग करते हुए व्याख्या करते जाते हैं। अपने अनुवाद मे मैंने भाष्य मे आये हुए मन्त्र के पदों को उद्धरणचिह्नों (" ") के अन्दर लेकर पुनः उसका अर्थ किया है। इससे कहीं-कहीं जहाँ भाषा प्रवाह मे गत्यवरोध आया है, वहाँ अनुवाद मे भाष्य की मौलिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयास किया है। 'कुमुदतोषिणी" टीका करने मे सुरेश्वराचार्यरचित "भाष्यवार्तिक", विद्यारण्यरचित बृहदारण्यकवार्तिकसार, आनन्दगिरि टीका, स्वामी विष्णुदेवानन्दगिरि जी महाराज द्वारा रचित टिप्पण एवं क्रोडपत्र का पर्याप्त आश्रय लिया गया है। टिप्पण एवं क्रोडपत्र के भावो को अनुवाद मे समावेश करने के लिए उन्हें कोष्टक ( ) मे रख दिया है, इससे उन पाठको का विशेष हित होगा जो संस्कृत भाषा का केवल प्रारम्भिक ज्ञान रखते हों किन्तु शाङ्करभाष्य की गहराई को समझने के इच्छुक हो। पूर्वोक्त पाण्डुलिपि एवं शाङ्करभाष्य अनुवाद ३ वर्ष ४ मास मे पूर्ण हुआ।

इससे पहले कि मैं अपनी इतिकर्तव्यता यहीं पर समझने के लिए निवेदन करता, महाराजश्री ने इस बृहदारण्यकोपनिषत् के सम्पादन का कार्य भी मुझे करने का आदेश दिया। उनकी आज्ञा के

वशीभूत एवं हृदयस्थित संविश्शक्ति से प्रेरणा पाकर मैंने सब ओर के लोकोपकारी दायित्वों को समेट कर अपनी पूर्ण शक्ति इसके सम्पादन में लगा दी। इसका मुद्रण श्री कैलास विद्या प्रेस ऋषिकेश में होने के कारण ही इतनी जल्दी इसे प्रकाश मे लाया जा सका।

अध्ययन प्रक्रिया

बृहदारण्यक उपनिषत् के अध्ययन की दो प्रक्रियाएँ थी; एक काण्वशाखीय एवं दूसरी माध्यन्दिनशाखीय। माध्यन्दिनशाखीय प्रक्रिया के आचार्य भर्तृ प्रपञ्च एवं मण्डनमिश्र आदि थे, तथा भगवान् शङ्कराचार्य की प्रक्रिया काण्वशाखीय है। भगवदानन्दज्ञानरचित आनन्दगिरि टीका से यह स्पष्ट होता है। यथा —

"काण्वोपनिषद्विवरणव्याजेनाशेषामेवोपनिषदं शोधयितुंकामो भगवान्भाष्यकारः" इत्यादि।

भगवान् शङ्कराचार्य ने अपनी प्रक्रिया को श्रुतिसम्मत सिद्ध करने के लिए बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य में प्रायः १५ स्थलों में माध्यन्दिनशाखीय प्रक्रिया का खण्डन किया है। सबसे अधिक स्थलों में द्वैताद्वैत के सिद्धान्त को प्रस्तुत कर उसे शास्त्रविरुद्ध घोषित कर अनादरदृष्टि से देखने के लिए कहा है। उधर सुरेश्वराचार्य ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी आचार्य मण्डनमिश्र को पण्डितंमन्य कहकर उनके मत का निराकरण करते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषत् का प्रतिपाद्य विषय

ईशादि अन्य नौ उपनिषदें, जिन पर शाङ्करभाष्य उपलब्ध है, सभी ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करती हैं किन्तु कलेवर और अर्थ की दृष्टि से महान् होने के कारण बृहदारण्यक उपनिषत् का अपना एक विशिष्ट स्थान है। ईशादि उपनिषदें जहाँ संक्षिप्त एवं सरल है, वहाँ बृहदारण्यकोपनिषत बृहत्, और गम्भीर है। इसके एक-एक मन्त्र मे इतना पदार्थ है कि उसका अर्थ चिन्तन करते-करते समाधि सी लग जाती है। यह कहना बहुत हद तक सुसगत ही है कि सभी वेद, शास्त्र एव पुराणादि शास्त्रो के श्रवण एव पठन से अद्वैतनिष्ठा उतनी सुदृढ नहीं होती, जितनी एकमात्र बृहदारण्यकोपनिषत् के श्रवण, पठन, मनन एव निदिध्यासन करने से की जा सकती है। द्वैतपरक शास्त्र बहिर्मुखता तक ही सीमित रहने देते हैं, जो कि परमार्थ मे बाधक है। विद्यारण्य मुनि के मत में—

"अन्तर्मुख पुरुष के लिए यह ससार दुःखदायी नही होता और बहिर्मुख पुरुष तो संसार में, दु.ख के अनन्तर दुःख ही प्राप्त करता है। ज्ञानी पुरुष सदा अन्तर्मुख रहता है और अज्ञानी सदा बहिर्मुख रहता है क्योंकि विवेक के न होने से बहिर्मुख पुरुष प्रत्यक्तत्त्व को नही जानता है" (वा. सा.१.४.११-१२)।

बृहदारण्यक उपनिषत् पुत्रैषणा, वित्तैषणा एव लोकैषणा से ऊपर उठना सिखाता है। धर्म केवल अन्तःकरण की शुद्धि कर ज्ञान के लिए द्वारभूत है। "विविदिषन्ति यज्ञेन", "ज्ञानमुत्पद्यते पुसा क्षयात्पापस्य कर्मणः" "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा" इत्यादि श्रुतिवाक्यो से सिद्ध होता है कि विविदिषा से ब्रह्मात्मैक्य होता है, मन के मलों को क्षय करने से विविदिषा आती है तथा धर्म से मनोमल क्षीण होते हैं। इसी से ईशावास्योपनिषत् मे "प्राणधारण पर्यन्त कर्मों मे निष्ठा किए रहे" ऐसा कहा है। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः" इत्यादि। किन्तु "तमेव विदित्वा", "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्"

"तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं ज्ञानं मोक्षस्य साधनम्" इत्यादि सैकडों हजारों श्रुति स्मृति वाक्यों से निरतिशय आनन्दप्राप्तिरूप मोक्ष ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। इसका विस्तृत विवेचन बृहदारण्यकोपनिषत् प्रथम अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में हुआ है।

बृहदारण्यक उपनिषत् में संसाररूप अनर्थ की निवृत्ति के लिए उपदेश है। अनर्थ का हेतु शरीरधारण है क्योंकि किसी भी शरीरधारी को प्रिय और अप्रिय (सुख और दुःख) विच्छेद नहीं होता है। धर्म और अधर्म देह के कारण हैं और दोनों का मूल विहित और प्रतिषिद्ध कर्म है। रागद्वेष के कारण शोभनाध्यास और अशोभनाध्यास होता है। *अन्य वस्तु के सद्भाव के बिना पूर्वोक्त सद्भाव* हो नहीं सकता। वह अन्य वस्तु का सद्भाव आत्मा के अज्ञान से कल्पित है। इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् अनादि अविद्या अनर्थ परम्परा का समूल उच्छेद कर ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करता है।

भगवान् शङ्कराचार्य एवं श्रीमत्सुरेश्वराचार्य

वार्तिककार श्रीमत्सुरेश्वराचार्य जी शाङ्करभाष्य की प्रक्रिया एवं सिद्धान्त प्रतिपादन शैली से बहुत प्रभावित हैं। उन्होंने भगवान् शङ्कराचार्य की भावपूर्ण वन्दना इस प्रकार की है—

"आ शैलादुदयात्तथाऽस्तगिरितो भास्वद्यशोरश्मिभि
र्व्याप्तं विश्वमनन्धकारमभवद्यस्य स्म शिष्यैरिदम्।
आराज्ज्ञानगभस्तिभिः प्रतिहतश्चन्द्रायते भास्कर-
स्तस्मै शङ्करभानवे तनुमनोवाग्भिर्नमस्तात्सदा"॥

इनकी दृष्टि में भगवान् शङ्कराचार्य का बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य सभी उपनिषदों की वृत्तिरूप होने से गम्भीर है, अतः इस पर वार्तिक की अपेक्षा है। वार्तिककार अपना बुद्धिवैभव प्रदर्शित करने के उद्देश्य से भाष्य पर वार्तिक नहीं लिखते, बल्कि गुरुदेव के श्रीचरणों में श्रद्धा के अतिरेक के कारण उन्होंने ऐसा किया। उन्हीं के शब्दों में—

"श्रद्धामात्रबलेन वार्तिकमिदं तस्या समासात्कृतम्"। (वा. उपसंहारात्मके श्लोके)

श्रीमत्सुरेश्वराचार्य जी ने कहीं कहीं भाष्य की प्रकारान्तर से भी व्याख्या की है (पृ २००)। इसी तरह 'प्रियतरम्' के भाष्य में 'तमप्' प्रत्यय के अर्थ में 'ईयसुन्' प्रत्यय मानते हैं। इसमें दो हेतु दिये हैं, प्रथम क्योंकि पुत्र की बहुत लोग अतिशय विवक्षा करते हैं, दूसरे यह छान्दस प्रयोग है (पृ २४४)। 'विद्यया देवलोकः' (बृ. उ. १. ५. १६) के भाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—

'विद्यया देवलोको न पुत्रेण नापि कर्मणा। देवलोको वै लोकानां त्रयाणां श्रेष्ठः प्रशस्यतमः। तस्मात्तत्साधनत्वाद्विद्या प्रशस्ति'।

इस पर वार्तिककार ने अपनी असहमति प्रदर्शित की है (पृ ३७७)। सम्प्रति वाक्य का संबन्धान्तर प्रदर्शित किया गया है (पृ ३१६-८३)। 'अथातो व्रतमीमांसा' (बृ. उ. १. ५. २१) इत्यादि मन्त्र का वार्तिककार ने तात्पर्यान्तर वर्णन किया है। बृ. उ. १. ५. २३ में 'यतश्चोदेति' इत्यादि ग्रन्थ को पूर्वार्ध प्रश्नरूप से एवं 'प्राणाद्वा एष उदेति' को उत्तररूप में वर्णित किया है (पृ ४०२)। जो भी हो, वार्तिककार कात्यायन एवं काशिकाकार जयादित्य वामन ने जिस प्रकार महर्षि पतञ्जलि-

रचित महाभाष्य तथा भगवान् पाणिनि के सूत्रो से कई स्थलो में वैमत्य प्रगट किया है; कम से कम श्रीमत्सुरेश्वराचार्य जी का भाष्यकार भगवान् शङ्कराचार्य जी से सिद्धान्ततः कोई विरोध नही है।

अद्वैतवाद की सर्वोच्च प्रतिष्ठा

भगवान् शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद को केवलाद्वैतवाद, निर्विशेषाद्वैतवाद, ब्रह्माद्वैतवाद, औपनिषदाद्वैतवाद, निर्विशेषब्रह्माद्वैतवाद आदि विभिन्न नामो से पुकारा जाता है। उपनिषदो मे प्रतिपादित केवल निर्विशेष ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है, वही सत्य है। ब्रह्म से अतिरिक्त सभी कुछ दृश्यमान जगत् और जीव मिथ्या है। ब्रह्म जगत् और जीव का तभी तक द्वैतरूप से भान होता है, जब तक ब्रह्मज्ञान का उदय नही होता। भगवान् शङ्कराचार्य अद्वैतवाद से भिन्न सिद्धान्त को अपसिद्धान्त कहते हैं, अत. उससे समझौता करने के लिए किसी भी अवस्था मे तैयार नही हैं। जो लोग कहते हैं—द्वैत भी सत्य है, अद्वैत भी सत्य है, एकत्व भी सत्य है, अनेकत्व भी सत्य है, भेद भी सत्य है, अभेद भी सत्य है—ऐसा कहना ठीक नही है क्योंकि विशिष्ट अद्वितीय ब्रह्म विषयक उत्सर्ग व अपवाद का विकल्प अथवा समुच्चय सभव नही है, दूसरे यह कल्पना सुशोभना नहीं है क्योंकि इससे श्रुति, स्मृति और न्याय का विरोध आता है (बृ उ शा भा ५ १ २)।

कुछ दार्शनिक ज्ञान के साथ-साथ उपासना के समुच्चय महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं किन्तु भाष्यकार को यह कदापि सह्य नही है। उन्ही के शब्दो मे—

"यावदयमेव वेद पश्यामि शृणोमि स्पृशामीति वा स्वभावप्रवृत्तिविशिष्ट वेद तावदञ्जसा कृत्स्नमात्मान न वेद" (बृ उ शा भा १ ४ ७)।

भगवान् शङ्कराचार्य के विचार मे पुरुषो की विभिन्ना बुद्धि को देखते हुए शास्त्र अनेक प्रकार से साध्यसाधनरूप सबन्धविशेषो का उपदेश करता है। विषयो मे प्रवृत्त होने के कारण पुरुष शास्त्र की उपेक्षा कर साधनविशेषो मे प्रवृत्त होता है। शास्त्र तो सूर्य और प्रदीपादि के समान तटस्थ ही रहता है। इस प्रकार किसी पुरुष को परम पुरुषार्थ भी अपुरुषार्थ के समान लगता है। बुद्धि-वैचित्र्य के कारण ही उपासक द्वैत से छुटकारा नही पा सकता। कहा भी है—

"अपि वृन्दावने शून्ये सृगालत्व स इच्छति।
न तु निर्विषय मोक्षं गन्तुमर्हति गौतम"॥ इत्यादि।

भगवान् भाष्यकार के मत मे कर्म और विद्या का स्वरूप क्रमश अज्ञानात्मक एवं ज्ञानात्मक है, अत. उनमें परस्पर भेद है। "कर्मविद्यास्वरूपयोर्विद्याविद्यात्मकयो प्रतिकूलवर्तनं विरोध" पृ ५७७)। जीव कर्मासक्ति के द्वारा बन्धन मे फँस जाता है और ज्ञान द्वारा मोक्ष लाभ करता है। इसलिए तत्त्वद्रष्टा महापुरुष कर्मासक्ति नही करते। वार्तिककार ने भी तत्तत्स्थलो मे इसकी पुष्टि की है।

भगवान् शङ्कराचार्य ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी भर्तृप्रपञ्चादि दार्शनिको का विशेषरूप मे खण्डन करते हैं। यद्यपि बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य मे परमत प्रस्तुत कर उसके दूषण से मन्त्र का कोई सबन्ध नही दीखता, तथापि आचार्य शङ्कर अद्वैतवाद के उत्कर्ष एव सुदृढ प्रतिष्ठा के लिए यह सब प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्मसूत्र में विभिन्न मतों का वर्णन होने के कारण शाङ्करभाष्य में उसका खण्डन

कर सिद्धान्त को स्थापित करना न्यायसङ्गत है। क्योंकि शङ्कराचार्य से पूर्व भी द्वैतवादी अपने मत को शास्त्रसम्मत कहते चले आ रहे थे; इसलिए उपनिषद्भाष्य तथा गीताभाष्य में भी जरा सा अवसर मिलते ही उन्होंने द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी, एवं ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी आदिकों को श्रुति-विरुद्ध सिद्ध करना अपना प्रधान कर्तव्य समझ लिया है। इसे उन्होंने स्थान-स्थान पर श्रुति, स्मृति और तर्क से सम्यक् प्रकार से सिद्ध किया है, ताकि साधक असत्पथ का त्याग कर सत्पथ का अनुसरण करे।

मधुविद्या

बृहदारण्यकोपनिषत् में तीन काण्ड हैं; प्रथम मधुकाण्ड, द्वितीय याज्ञवल्क्यकाण्ड और तृतीय खिलकाण्ड। मधुकाण्ड में उपदेश, याज्ञवल्क्यकाण्ड में उपपत्ति एवं खिलकाण्ड में उपासना; इस क्रम से तीनों काण्डों में ये तीन ही अर्थ प्रधानरूप से कहे गये हैं। मधुकाण्ड मे चार अध्याय है, उनमें प्रारम्भ के दो अध्यायो में प्रवर्ग्य नामक कर्म कहा गया है, अतः यह उपनिषत् नही माना जाता है। प्रकृत ग्रन्थ बृहदारण्यकोपनिषत् का प्रथम अध्याय उपनिषत्क्रम से है; बृहदारण्यक क्रम से वह तृतीय अध्याय है। दोनो अध्यायो को मधुकाण्ड की सज्ञा क्यो दी गई जबकि द्वितीयाध्याय पञ्चम ब्राह्मण ही मधुब्राह्मण नाम से विख्यात है। इसका समाधान यह है कि जिस मधुविद्या का प्रतिपादन इस ब्राह्मण मे विशेष रूप से है, उसी का विस्तार द्वितीयाध्याय चतुर्थब्राह्मणपर्यन्त हुआ है। भगवान् भाष्यकार के शब्दो में—

"अथवाऽऽत्मैवेदं सर्वमिति प्रतिज्ञातस्याऽऽत्मोत्पत्तिस्थितिलयत्वं हेतुमुक्त्वा पुनरागमप्रधानेन मधुब्राह्मणेन प्रतिज्ञातस्यार्थस्य निगमन क्रियते" (पृ. ६२७)।

मधुविद्या प्रकारान्तर से ब्रह्मविद्या ही है। इसका उपदेश हिरण्यगर्भ ने विराट् प्रजापति को किया, प्रजापति की वशपरम्परा से दध्यङ्ङाथर्वण ने अश्विनीकुमारो को इसका उपदेश किया। छान्दोग्योपनिषत् मे मधुविद्या की एक अन्य भी परम्परा है जिसमें पिता अरुण से उद्दालक ने सुना (छा. उ. ३.११.४)। बृहदारण्यकोपनिषत् में इस परम्परा के साथ कोई संबन्ध नही है (बृ. उ. २. ६. १-३)।

संक्षेप मे मधुविद्या का स्वरूप इस प्रकार है। यह पृथिवी आदि समस्त जगत् परस्पर उपकार्य और उपकारक स्वरूप हैं। लोक मे जो भी पदार्थ परस्पर उपकार्य - उपकारक रूप होते हैं, वे एककारणपूर्वक, एकचैतन्यानुविद्ध और एकप्रलयस्थान वाले देखे जाते हैं। इसलिए यह पृथिव्यादिरूप जगत् भी परस्पर उपकार्य उपकारक स्वरूप होने के कारण वैसा ही होता है। पृथिवी, सब भूत, पार्थिव पुरुष और शरीर ये चारो एक दूसरे के मधु हैं। सब पृथिवी भूतों की कार्य है, अतः इनमें एककारणपूर्वकत्व है। जिस एक कारण से ये सब उत्पन्न हुए हैं, वही एक परमार्थ ब्रह्म है। जिसके स्वरूप ज्ञान से सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म होता है, वही यह मधुचतुष्टय है। कहा भी है—

"सर्वं सर्वस्य कार्यं स्यात् सर्वः सर्वस्य भोजकः।
इत्येषा मधुविद्याऽत्र वैषम्यक्लेशहारिणी" ॥ (वा. सा. १. ४. १४)

इस मधुविद्या की स्तुति के लिए आख्यायिका भी कही गयी है कि किस प्रकार इन्द्र द्वारा इस गोपनीय विद्या का उपदेश देना मना करने पर भी अथर्वा के पुत्र दध्यङ्नामा ने अश्विनीकुमारों को इसका उपदेश किया। जब इन्द्र ने क्रोध से उस ब्राह्मण का धड़ अलग कर दिया तो अश्विनीकुमारों ने

अपनी विद्या से पुनः यह विस्थापित कर दिया। इस मधुविद्या का फल यही है कि ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान हो जाये। इसलिए आचार्य शङ्कर के शब्दो मे ठीक ही कहा गया है—

"तस्माद्ब्रह्मविज्ञानादेवलक्षणात्पूर्वमपि ब्रह्मैव सदविद्ययाऽब्रह्माऽऽसीत्सर्वमेव च सदसर्वमासीत्तां त्वविद्यामस्माद्विज्ञानात्तिरस्कृत्य ब्रह्मविदब्रह्मैव सन्ब्रह्माभवत्सर्वः सन् सर्वमभवत्" (पृ. ६४६)।

प्रवर्ग्यप्रकरण मे प्रोक्त मधुविद्या एव बृहदारण्यकोपनिषत् तथा अन्य उपनिषदो मे इस विद्या के स्वरूप मे क्या साम्य एव भेद है; मीमांसको एव भर्तृप्रपञ्चादि आचार्यों द्वारा इसे उपासना का स्वरूप क्यो दिया गया जबकि भगवान् शङ्कराचार्य का इसे ब्रह्मविद्या मानने के लिए आग्रह है—इत्यादि विषयो पर एक स्वतत्र अनुसन्धान करने की आवश्यकता है।

प्रस्तुत संस्करण के संबन्ध में

यह बृहदारण्यक उपनिषत् वर्षों से अनुपलब्ध है। आनन्दाश्रम यन्त्रालय से मुद्रित आनन्दगिरिटीका सहित शाङ्करभाष्य भी अब अप्राप्य है। इसी प्रकार श्रीमत्सुरेश्वराचार्य का बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक भी अब दुर्लभ है। इस ग्रन्थ की वर्षों से प्रतीक्षा थी। श्री कैलास आश्रम के इस सस्करण को पाठकवृन्द के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमे अपार हर्ष हो रहा है। इसके सम्पादन का क्रम इस प्रकार है। ग्रन्थ के शीर्षस्थ भाग मे स्थूलाक्षरो मे उपनिषन्मन्त्र का मुद्रण है। उसके नीचे श्रीमत्परमहस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ यतीन्द्रकुलतिलक वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्रीविभूषित स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज कृत उस मन्त्र की "विद्यानन्दी मिताक्षरा" हिन्दी भाषा मे व्याख्या है। जहाँ मन्त्र का भाष्य अधिक है, वहाँ शाङ्करभाष्य को ही शीर्पस्थ भाग पर लिया गया है। शाङ्कर-भाष्य को मन्त्र से भिन्न टाइप मे दिया है। उसके नीचे उसी पृष्ठ के शाङ्करभाष्य से सम्बद्ध आनन्दगिरि टीका दी गई है। भाष्य से इसके टाइप भी भिन्न हैं, एवं दो प्रकार के हैं, एक भाष्यार्थ प्रतिपादन के लिए तथा दूसरा भाष्य के प्रतीक को प्रदर्शित करने के लिए है। प्रतीक के पूर्व प्राय डैश (—) का चिह्न रहता है। पृष्ठ १८८ मे भाष्य एव आनन्दगिरि टीका का नमूना लें—

* [3]तदे[4]वंभूतं [5]जगदव्याकृतं [6]सन्नामरूपाभ्यामेव [7]नाम्ना [8]रूपेणैव च व्याक्रियत।

(भा०)

"अज्ञातं ब्रह्म जगतो मूलमित्युक्त्वा तद्विवर्तो जगदिति "निरूपयति—तदेवभूतमिति।

(आ गि. टी.)

आनन्दगिरि के नीचे शाङ्करभाष्य की "कुमुदतोषिणी" टीका है। उसके नीचे मूलमन्त्र, शाङ्करभाष्य एव आनन्दगिरि टीका पर की गई टिप्पण है। यथा उपरोक्त उदाहरण मे ही भाष्य मे ३ से ८ तक के अक दिए हैं एव आनन्दगिरि टीका मे १० व ११ अक दिए हैं। उन्ही अको को नीचे मुद्रित कर उसकी टिप्पण को दिया गया है। उसके नीचे क्रोडपत्र को दिया है। जैसे उपरोक्त भाष्य के प्रारम्भ मे ही सितारे * का चिह्न दिया है, उसी सितारे * को नीचे लगाकर प्रतीक सकेत कर क्रोडपत्र मुद्रित किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण में टिप्पण एवं फ्रोडपत्र का समावेश इसका मुख्य आकर्षण है। टिप्पण और क्रोडपत्रों के अध्ययन से विद्यावाचस्पति अनन्त श्री विभूषित स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज की सर्वशास्त्रपारङ्गता निर्विवाद सिद्ध होती है। स्थान-स्थान पर प्रसङ्गप्राप्त उपनिषन्मन्त्रों, षड्दर्शनसूत्रों, तत्तद्भाष्यों, भाष्यवार्तिक, वार्तिकसारादि के उद्धरणों के द्वारा आपने श्रुतिसम्मत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। कहीं-कहीं तो स्वाराज्यसिद्धि जैसे प्रकरण ग्रन्थों एवं वात्स्यायन सूत्रों का भी संकेत मिलता है। इनके अर्थों का जितना अधिक विचार किया जायेगा, उतनी ही विशेष आनन्दानुभूति होगी एवं अद्वैत तत्त्व के प्रति निष्ठा दृढ़तर होती जाएगी।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति की ओर से श्री कैलास आश्रम शताब्दी महोत्सव आयोजन के अवसर पर किया जा रहा है। इसके लिए श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति के अध्यक्ष एवं कैलासपीठाधीश्वर यतीन्द्रकुलतिलक महामण्डलेश्वर अनन्तश्रीविभूषित स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज के हम सदा सर्वदा ऋणी हैं, जिनके दृढ संकल्प से एवं प्रकाशन कार्य को प्राथमिकता देने के कारण ही यह दुर्लभ ग्रन्थ प्रकाश में लाया जा सका। श्री कैलास आश्रम के सुदृढ स्तम्भ परम श्रद्धेय श्री १०८ स्वामी हरिहर तीर्थ जी महाराज ने समुचित मार्ग निर्देशन द्वारा ग्रन्थ को उत्तरोत्तर अधिक परिमार्जित ढंग से प्रस्तुत करवाने में प्रेरणाप्रद सहयोग दिया है। जिन महापुरुषों, विद्वान् महानुभावों ने अपने अमूल्य समय में से कुछ समय देकर इस ग्रन्थ के लिए शुभाशीर्वचन, भूमिका, शुभाशंसा, अभिनन्दन आदि लेख लिखे है, श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति उनकी अत्यन्त आभारी है।

ग्रन्थ प्रकाशन को यथाशीघ्र पूर्ण करवाने में श्री कैलास आश्रम के जिन तत्त्वजिज्ञासु महापुरुषों ने निष्काम भावेन सेवा की है, उनमें स्वामी परिपूर्णानन्द गिरि जी महाराज रघुनन्दन पुरी, उमानन्द गिरि, शम्भु गिरि, शिवानन्द शास्त्री, गीतानन्द, मुक्तानन्द, सुरेश्वरानन्द, केशवानन्द, रामानन्द शास्त्री, राघवानन्द, दिव्यानन्द, प्रसन्नानन्द, देवेन्द्रानन्द, रामेश्वरानन्द, चन्द्रेश्वरानन्द, ओंकारानन्द, कैवल्यानन्द, पुजारी दया गिरि, त्रिभुवन चैतन्य, शिव चैतन्य जी प्रभृति के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। उपरोक्त सभी महानुभाव साधुवाद के पात्र हैं।

यद्यपि ग्रन्थ में मुद्रण सबन्धी त्रुटियों को न होने देने के लिए पूर्ण प्रयास किया गया है तो भी यदि अनवधानवश कोई अशुद्धि रह गयी हो तो कृपालु पाठकजन इसे क्षमा करेंगे।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

उपनिषद् कुटीर,
पश्चिम विहार
नई दिल्ली—११००६३

भवदीय :
डॉ. उमेशानन्द शास्त्री
१३ जून १९७९ (गणेशचतुर्थी)

भारतहृदयसम्राट् अनन्तश्रीविभूषितस्वामिहरिहरानन्दसरस्वती-
श्रीकरपात्रीमहाभागानां

★ शुभाशीर्वचांसि ★

बृहदारण्यके काण्वशाखीये कलितं पुरा ।
भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं शङ्कराचार्यदेशिकैः ॥१॥
अत्र भाष्ये स्वटीकायामानन्दगिरिणाद्भुतम् ।
तस्मिंस्तस्मिंस्स्थलेऽपूर्वं रहस्यं विशदीकृतम् ॥२॥
हिन्दीभाषामयीभाष्य उमेशानन्दशास्त्रिणा ।
अभ्याहृत्य क्वचित्किञ्चित्कृता टीका न विस्तरा ॥३॥
विद्यावाचस्पतिविष्णुदेवानन्दगिरिः स्वयम् ।
कृतवान् टिप्पणं साधु विदुषां मोदमादधत् ॥४॥
स्थालीपुलाकन्यायेन कुत्रचित्कुत्रचिन्मया ।
दत्ता दृष्टिर्मनस्तोषो बहुधा समपद्यत ॥५॥
महामहामण्डलेशो वीतरागो महायतिः ।
विद्यानन्दगिरिर्विद्वत्प्रवरो धीविवर्धनम् ॥६॥
अध्ययनाध्यापनयोः कालाद् भवितात् पुनः ।
सुधीपरम्पराप्राप्तं क्रोडपत्रं सुनिर्मलम् ॥७॥
कैलासाश्रमसद्ग्रन्थप्रकाशसमिति त्वया ।
शुभाशिषा वर्धयित्वाऽऽप्लाव्य प्रेरणस्रोतसा ॥८॥
एतद्गुणगणोपेतं भाषायां सदनूदितम् ।
बार्हदारण्यकं भाष्यं तया सम्यक् प्रकाश्यते ॥९॥
मीमांसान्यायमाश्रित्य विचारे विपुलीकृते ।
निष्प्रपञ्चं ब्रह्मतत्त्वं साधकानां समुस्फुरेत् ॥१०॥
ग्रन्थश्च प्रचयं गच्छेद् राघवनारायणस्मृतिः ।
सर्वेषां मङ्गलं भूयात् सर्वे सुखमवाप्नुयुः ॥११॥

—❀—❀—

प्रस्तावना

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः

अनादि काल से प्राणिमात्र के मानस मे यही नैसर्गिक अभिलाषा रही है कि हम सम्पूर्ण दुःखो से सर्वथा छूट जायें और सबसे बडा आनन्द प्राप्त कर लेवें। जीवन के इस स्तर को परमेश्वर की प्राप्ति या मोक्ष की प्राप्ति की सज्ञा अध्यात्मशास्त्र मे दी गयी है। यद्यपि धर्म, अर्थ और कामरूप पुरुषार्थ की ओर भी लोक की बहुधा प्रवृत्ति देखी जाती है फिर भी इन तीनो की नश्वरता को प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र प्रमाण से समझ लेने से विवेकी इन्हें पीठ पीछे कर मोक्ष प्राप्ति की साधना मे प्रवृत्त होता देखा जाता है। इसीलिये मोक्ष को परमपुरुषार्थ और धर्म, अर्थ एव काम को केवल पुरुषार्थ कहा गया है। मोक्ष के स्वरूप निर्धारण मे तथा उसके साधनो के निरूपण मे दार्शनिको का कुछ मतभेद है, फिर भी श्रुतिप्रतिपादित मोक्ष का स्वरूप त्रिविधदुःखों की आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति ही मान्य है। ऐसा मोक्ष ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होता है। इसे श्रुति अपने कण्ठ से बतलाती है—"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशु", "नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय"। अर्थात् "न कर्म से, न पुत्रादि प्रजा से और न धन से ही मोक्ष मिलता है, किन्तु अनात्माभिमान के त्याग से कुछ एक मनीषियो ने मोक्ष प्राप्त किया है","ब्रह्मज्ञान के सिवा मोक्ष का कोई दूसरा मार्ग नही है"—यह श्रुति का डिण्डिम उद्घोष है। अन्यान्य दार्शनिकों ने भी दबी जबान से इसे स्वीकार किया है।

अपौरुषेय वेद के कर्म, उपासना एव ज्ञान, ऐसे तीन काण्ड हैं। इनमे से ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् या वेदान्त कहते हैं। निष्काम भाव से कर्म और उपासना के अनुष्ठान से चित्त के मल तथा विक्षेप दूर हो जाते है, तत्पश्चात् वेदान्त श्रवणादि का मुख्य अधिकारी माना जाता है। "कषाये कर्मभि पक्वे ततो ज्ञान प्रवर्तते" इत्यादि। श्रुति ने भी वेदानुवचन, तपोदान यज्ञादि को ब्रह्मजिज्ञासा यानी मुमुक्षा का ही साधन माना है, मोक्ष या मोक्ष के अन्तरग साधन ब्रह्मज्ञान के प्रति इन्हे साधनरूप से स्वीकार नही किया है। इस प्रकार कर्म और उपासना के अनुष्ठान का भी चरम फल मोक्ष ही है। वेद के शिरोभाग वेदान्त को वेद का रहस्य कहा गया है। जिसके अनुष्ठान मे शास्त्रविहित कर्म और उपासना का त्याग भी मनुस्मृति ने कहा है।

"तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेद कृत्स्नोऽधिगन्तव्य सरहस्यो द्विजन्मना॥ मनु २।१६५

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥" मनु. १२।९२

"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृत कृतेन" इस मुण्डक श्रुति मे भी यही बात बतलायी गयी है। अत. मोक्ष साधन आत्मज्ञान का सम्पादन ही मुमुक्षुओ का एकमात्र कर्तव्य है।

ऋग्, यजुः, साम और अथर्ववेद में सभी ११८० शाखायें थीं। जिनमें से कालगति से बहुत शाखायें इस समय उपलब्ध नहीं है। प्रत्येक शाखाओं की उपनिषद् मानी गयी हैं। सम्प्रति उपलब्ध उपनिषदो मे ईशादि दशोपनिषद् पर भगवत्पादभगवान् आद्य शङ्कराचार्य जी का प्रसन्न, गम्भीर भाष्य विद्वानों के हृदय को अपनी ओर बरबस खींच लेता है। वे विद्वान् मुक्तकण्ठ से शाङ्करभाष्य की प्रशंसा करने लग जाते हैं। यद्यपि परवर्ती कुछ विद्वानो ने शाङ्करभाष्य एवं उसके केवलाद्वैतसिद्धान्त पर पर धूलिप्रक्षेप करने का असफल प्रयत्न किया है, फिर भी विद्वत्समाज मे शाङ्करभाष्य एव उसका सिद्धान्त सदा माग्य रहा है और आगे भी समादरणीय रहेगा। सभी उपनिषदो की अपेक्षा कलेवर तथा अर्थ में बड़े होने के कारण बृहद और अरण्य (वन) में अध्ययनीय होने के कारण इसे बृहदारण्यक कहते है। जिस प्रकार शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयिसहिता के अन्तर्गत काण्व और माध्यन्दिनीशाखा मे ईशावास्योपनिषद् मिलती है, वैसे ही शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयिब्राह्मण के अन्तर्गत काण्व एवं माध्यन्दिनीशाखीय बृहदारण्यकोपनिषद् भी मिलती है। बृहदारण्यक के सभी ८ अध्याय हैं। प्रथम के ४ अध्यायों को मधुकाण्ड, तत्पश्चात् २ अध्याय याज्ञवल्कीयकाण्ड और अन्तिम २ अध्याय खिलकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। बृहदारण्यक के प्रथम और द्वितीय अध्याय प्रवर्ग्य कर्म के अङ्ग हैं, क्योंकि इनमे अश्वमेधादि कर्मों का निपुणतम निरूपण किया गया है। ये कर्म विद्या के अङ्ग नहीं हैं। केवल अरण्य मे अध्ययन के लिये ही विद्या की सन्निधि में इनका पाठ किया गया है। अतः प्रारम्भ के २ अध्यायों को उपनिषद् नहीं मानते है। अतएव उपनिषद् भाष्यकर्ता आद्यशङ्कराचार्यजी ने बृहदारण्यक के प्रारम्भिक दो अध्यायों पर भाष्य नहीं लिखा है। यही बात बृहदारण्यक वार्तिकसार में कही गयी है। मधुकाण्ड के तीसरे और चौथे अध्याय को बृहदारण्यकोपनिषद् मानकर आद्य शङ्कराचार्य जी ने इनपर भाष्य लिखा है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रथम अश्वमेध ब्राह्मण में अश्व के अवयवों मे विराट् के अवयवों की दृष्टि का विधान उपासना के लिये किया गया है। यह उपासना अश्वमेधकर्मसंबन्धी होती हुई भी स्वतन्त्र है। इसीलिए इसे उपनिषद् माना है। इस विज्ञान का प्रयोजन यह है कि जिनका अश्वमेध कर्मानुष्ठान मे अधिकार नहीं है, उन्हे इस उपासना के अनुष्ठानमात्र से ही अश्वमेधकर्मानुष्ठान का फल मिल जाता है। इसे पाठक इस प्रस्तुत सस्करण के १६वें पृष्ठ में देखें। बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रारम्भ मे अश्वमेध ब्राह्मण पाठ का आशय यह भी है कि जिस प्रकार कर्म का फल ससार है, ऐसे ही उपासनासहित कर्म या केवल इस उपासना का फल भी ससार ही है, अर्थात् हिरण्यगभ पर्यन्त सभी मरणधर्मा और नश्वर हैं। इस प्रकार के फल का वर्णन भी प्रथम अश्वमेध ब्राह्मण मे नहीं है किन्तु द्वितीय अग्नि ब्राह्मण के अन्त म फल बतलाया गया है। पृथक् फल का कथन न होने से दोनो ही ब्राह्मणों द्वारा एक ही उपासना बतलायी गयी है। अश्वमेधपयोगी अग्नि की उत्पत्ति द्वितीय ब्राह्मण मे बतलायी गयी है, जो अग्नि विराट् का अवयव है। अतः वह अग्नि विराट् बुद्धि से उपास्य है। कार्य कारण का अभेद घट भाष्य द्वारा अत्यन्त कुशलतापूर्वक भाष्यकारो ने कहा है। "नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्" (बृ.उ. १-२-१). इस मन्त्र में मृत्यु शब्द से मायाविशिष्ट चेतन (ईश्वर) को कहा गया है, जो सम्पूर्ण विश्व का अभिन्न निमित्तोपादान कारण होने से अश्वमेधोपयोगी अग्नि का भी वैसा ही कारण है। इस प्रकार दोनों ब्राह्मणों में अश्वमेध की ही उपासना बतलायी है; जिसका फल अपमृत्यु पर विजय प्राप्त करना है।

इस अध्याय के तृतीय उद्गीथ ब्राह्मण मे शुद्ध्यादि गुणो से युक्त प्राण की उपासना हिरण्यगर्भ

की प्राप्ति के लिये कही गयी है। मनुष्य ही प्रजापति है। इसके अन्तःकरण मे आसुरी और दैवी ऐसी दो प्रकार की वृत्तियाँ उठती रहती हैं। इनमें शास्त्रसंस्कार के बिना स्वभावतः स्वार्थपरायणता से युक्त आसुरी वृत्ति ही अधिकतर होती है। इसीलिये इसे ज्येष्ठ कहा है। शास्त्रसंस्कारयुक्त निःस्वार्थ वृत्ति पीछे से ही होती है और वह भी थोडी। अतः इस दैवी वृत्ति को कनिष्ठ कहा है। एक बार देवताओ ने असुरों पर विजय पाने के लिये क्रमशः वागादि इन्द्रियो को उद्गान करने के लिए कहा; किन्तु भोगासक्त होने के कारण ये सभी असुरों द्वारा पाप से वेध दिये गये। स्वार्थपरायणता को ही पापशब्द से कहा है। अन्त मे मुख्य प्राण ने उद्गान किया। इसमें स्वार्थपरायणता न होने के कारण इससे टकराकर असुर परास्त हो गये। अतः निःस्वार्थ भाव से अहोरात्र क्रियाशील मुख्य प्राण को श्रेष्ठ मानकर इसकी उपासना करे। जिससे अध्यात्मपरिच्छेद से छूटकर अधिदैवभाव हिरण्यगर्भ को उपासक प्राप्त कर लेता है। इस उपासना को उद्गीथविद्या भी कहते हैं। यहाँ पर प्राण की स्तुति अनेक प्रकार से की गयी है।

इस प्रथमाध्याय के 'सृष्ट्यादि सर्वरूपता' नामक चतुर्थ ब्राह्मण मे यह कहा गया है कि केवल ब्रह्मविद्या ही मोक्ष का साधन है। पूर्वोक्त वैदिक कर्म, उपासना या दोनों का समुच्चयानुष्ठान मोक्ष का साधन नही है। उनका फल नश्वर होने के कारण अन्ततः अनर्थ का ही हेतु है। अतः मुमुक्षुओ को इनसे उपरत होकर मोक्ष के एकमात्र साधन ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिये वेदान्त श्रवणादि का अनुष्ठान करना चाहिये। मन्वादि शरीर उत्पत्ति से पूर्व पुरुष की तरह शिरपादादि वाला विराडात्मा ही था। उसी विराडात्मा के अह तथा पुरुष, ऐसे दो नाम उपासना के लिए कहे गए हैं। अविचारावस्था मे अकेलापन भय का हेतु है और विचार से भय निवृत्त हो जाता है। अतः आज भी विचार से आत्मैकत्वदर्शन कर लेने पर भय मिट जाता है। इसी विराडात्मा से सम्पूर्ण विश्व उत्पत्ति का विस्तार बतलाया गया है। अद्वय आत्मा से जगद्विस्तार वर्णन का तात्पर्य अद्वैत बतलाने में है। वह परमात्मा क्षुरधान मे छुरे के समान देहादि मे नख से शिख तक व्याप्त है। वह प्राणनः क्रिया करने से प्राण और दर्शनादिक्रिया करने से चक्षुरादि भी बन जाता है। व्यष्टिभाव की उपासना का परित्याग कर समष्टिभाव की ही उपासना करनी चाहिये। आत्मा वित्तादि सभी से प्रिय है। यदि वित्तादि को आत्मा से भिन्न मानकर प्रिय कहेगा तो वित्तादि के वियोग से उत्पन्न दुःख का अनुभव करना ही पडेगा। अतः ब्रह्मविद्या से ही सर्वभावापत्ति वामदेवादि मे देखी गयी है। देवता भेददर्शी अज्ञानी के ही ऐश्वर्य के बाधक होते हैं; अभेददर्शी ज्ञानी के नही। इसलिये सम्पूर्ण चतुर्थ ब्राह्मण का उपदेश अद्वय आत्मदर्शन कराने मे ही है।

प्रथमाध्याय के पञ्चम 'सप्तान्न' ब्राह्मण मे बतलाया गया है कि अज्ञानी पूर्वजन्म मे कर्म और उपासना का अनुष्ठान कर उत्तर जन्म में भोग के लिये सप्तान्नरूप से जगत् की सृष्टि करता है। उत्कृष्ट कर्म और उपासना के फलस्वरूप वैराज पद को प्राप्त कर जगत् की सृष्टि करता है। यह बात चतुर्थ ब्राह्मण मे कही गयी है। निकृष्ट (सकाम) कर्म और उपासना के फलस्वरूप मनुष्यादि पद को प्राप्त हुआ जीव अपने भोग के योग्य सप्तान्न की सृष्टि करता है, यही बात इस पञ्चम ब्राह्मण मे कही जा रही है। प्रथम मन्त्र से सूत्ररूप में सप्तान्न सृष्टि को बतलाकर इसी का विस्तार सम्पूर्ण ब्राह्मण द्वारा किया गया है। अन्त में सम्प्रदान कर्म का निरूपण कर अध्यात्म और अधिदैव प्राणदर्शनरूप व्रत की मीमांसा बतलायी गयी है।

प्रथमाध्याय के षष्ठ ब्राह्मण मे उपसंहार के लिये पूर्वोक्त विस्तृत अविद्याकार्य को सक्षेपरूप से कहा गया है। जगत् व्याकरण से पूर्वावस्था मे कही जाने वाली अनात्मवस्तु सब नाम, रूप और कर्म; बस इतने ही है। इनमे देवदत्तादि नामविशेष का उपादान कारण नामसामान्यरूप वाणी ही है। शुक्लनीलादि रूप और स्पर्शादिविशेष का उपादान चक्षु शब्दवाच्य रूपसामान्य अर्थात् प्रकाश्यमात्र है। ऐसे ही मनन, दर्शन, चलनादिक्रियाविशेष का उपादान आत्मा (देह) है क्योकि इन्ही सामान्य से सम्पूर्ण विशेषो की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अविद्या के विषय ससार को यहाँ तक दिखलाया है, जो अध्यारोपात्मक है। इसके बाद द्वितीय अध्याय मे पूर्वोक्त अध्यारोपित जगत् का अपवाद कर विद्या के विषय आत्मा को कहेगे। इसी को वार्तिकसार मे कहा है कि "अध्यारोपापवादाभ्या मधुकाण्ड प्रवर्तते। अध्यारोप्य तृतीयेन चतुर्थेन त्वपोह्यते" ॥ आरण्यक दृष्टि से वार्तिककार ने तृतीय और चतुर्थ कहा है। उपनिषद् दृष्टि से प्रथम और द्वितीय अध्याय ही है।

मधुकाण्ड के प्रथम अध्याय के समान ही इसके द्वितीय अध्याय मे भी ६ ब्राह्मण हैं। इनमे अजातशत्रु ब्राह्मण मे गर्ग गोत्र मे उत्पन्न ज्ञानाभिमानी बालाकि ब्राह्मण और तत्त्वज्ञानी काशिराज अजातशत्रु का सवाद है। "नापृष्ट कस्यचिद्ब्रूयात्" इस शास्त्रमर्यादा के अनुसार बिना पूछे उपदेश नही करना चाहिये। किन्तु दृप्तबालाकि ने बिना पूछे ही अजातशत्रु से कहा कि मैं तुझे ब्रह्म का उपदेश करूँ। गुणग्राही राजा ब्रह्मविद्या की महत्ता को जानता था। अतः उसके गर्वलिप्तरूप दोष की ओर ध्यान न देकर इस माङ्गलिक वचन के लिये एक सहस्र गौ भेंट कर दी। उसके बाद बालाकि ने आदित्यादि द्वादश स्थलो मे ब्रह्मरूपता का आरोप किया, किन्तु राजा अजातशत्रु ने उन्हें परिछिन्न देवमात्र बतला कर उन सबमे ब्रह्मरूपता का निषेध कर दिया। साथ ही उन उपासनाओ का विशिष्ट फल भी बतलाया। जिसे राजा अच्छी प्रकार जानता था। इससे अधिक बालाकि को ज्ञान नही था। अत उसका गर्व चूर-चूर हो गया। विवश हो गार्ग्य ने ब्रह्मज्ञान के लिये तत्त्वज्ञ राजा की शरण ली। राजा गार्ग्य का हाथ पकडकर महल के भीतर एक सोये हुए पुरुष के पास ले गया। उस सुषुप्त पुरुष को हे बृहन्, हे पाण्डरवासः, हे सोमराजा इत्यादि नाम लेकर पुकारा, किन्तु वह उठा नही। तत्पश्चात् हाथ से दबा-दबाकर उठाने पर वह उठ गया। इस प्रसङ्ग से श्रुति ने यह सिद्ध किया है कि नामरूपाभिमानी देव वस्तुतः विज्ञानमय आत्मा नही है। वह तो नामरूप से परे सर्वत्र अधिष्ठानरूप से विद्यमान है। सुषुप्ति काल मे वह चक्षुरादि विज्ञान को अन्त करण मे प्रतिफलित चिदाभास द्वारा ग्रहण कर हृदयाकाश मे सोता है। उसी की सत्ता और चेतनता से सभी सत्, चेतन एव क्रियाशील होते हैं। वह इन्द्रियो का प्रेरक होने से प्राण है किन्तु प्राणो का भी प्रेरक होने से प्राणों का प्राण है। यही उस आत्मा की रहस्यमय उपनिषद् है।

जगज्जन्मादि कारण अद्वय ब्रह्म का स्वरूप अजातशत्रु ब्राह्मण मे बतलाया गया। अब द्वितीय अध्याय के द्वितीय शिशुब्राह्मण मे जगत् का स्वरूप बतलाते हैं। इन्द्रियो का प्रेरक शरीरमध्यवर्ती मुख्य प्राण ही शिशु है। यह वर्तमान देह उसका आधान है। शिर प्रत्याधान है। अन्नपानजनित शक्तिरूप प्राण स्थूणा (कील) है और अन्न-बाँधने की रस्सी के समान है। ऐसे शिशु की उपासना करने वाला शिरः स्थित सात शत्रुओ को अपने वश मे कर लेता है। विषयासक्ति के कारण दो आँख दो कान, दो नाक और एक मुखरूप आयतन मे रहने वाली सातो इन्द्रियाँ कल्याणकामी पुरुष के शत्रु के समान है; जिन्हे पूर्वोक्त प्राणोपासक वश मे कर लेता है। इन्ही का वर्णन इस ब्राह्मण में विभिन्न नाम और प्रकार से किया गया है।

अजातशत्रु ब्राह्मण के अन्त में "प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" इस वाक्य से ब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया है। तत्पश्चात् शिशु ब्राह्मण मे उन प्राणों की सात संख्या भी बतला दी गयी। अथ द्वितीय अध्याय के तृतीय मूर्तामूर्त्त ब्राह्मण मे समस्त उपाधियों के निषेध द्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्मतत्त्व को स्पष्ट रूप से बतलाएँगे। ब्रह्म के मूर्त्त और अमूर्त्त दो रूप हैं। इनमे पृथिवी, जल और अग्नि मूर्त्त हैं एव वायु और आकाश अमूर्त्त हैं। इन्ही का विस्तार अध्यात्म तथा अधिदैव जगत् है। उपर्युक्त दोनो रूपो का "अथात आदेशो नेति नेति" इस वाक्य से निषेध कर निष्प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप का बोध कराया गया है। निषेध की इतनी स्पष्टता एवं तत्त्वज्ञान के लिये निषेधवाक्य पर इतनी निर्भरता औपनिषद सिद्धान्त की अपूर्वता का द्योतक है। निःसन्देह उपनिषद् के बिना औपनिषद ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो नही सकता। अतः निषेध श्रुतिवाक्य ब्रह्मतत्त्वावगम कराने में सर्वथा समर्थ है।

मधुकाण्ड के चतुर्थ अध्याय में चतुर्थ मैत्रेयी ब्राह्मण है और मुनिकाण्ड के छठे अध्याय में भी यह प्रसंग आता है। एक ही ब्राह्मण का दो बार होना अभ्यास द्वारा तात्पर्य का निश्चायक है। सम्प्रदाय भेद भी मैत्रेयी ब्राह्मण के द्विरावृत्ति में कारण हो सकता है। मधुकाण्ड आगमप्रधान है और मुनिकाण्ड उपपत्तिप्रधान है। महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थी। दोनों को सम्पूर्ण धनसम्पदा का बँटवारा कर ऋषि स्वयं गार्हस्थ्य जीवन से उठकर संन्यास ग्रहण करना चाहते थे। अतः मैत्रेयी से कहा, अरी मैत्रेयी! आओ, कात्यायनी के साथ तुम्हारी धनसम्पदा विभाजन करदूँ। कात्यायनी सामान्यबुद्धि थी, किन्तु मैत्रेयी तो ब्रह्मवादिनी थी। इसलिये महर्षि याज्ञवल्क्य से उसने कहा, कि मुझे धन से पूर्ण सम्पूर्ण पृथिवी मिल जाये, तो मैं अमर हो जाऊंगी या नही। महर्षि ने कहा—नहीं नही, धनसम्पत्ति से कोई अमर नही हो सकता। जैसा धनादिसम्पन्न व्यक्ति का जीवन होता है, ऐसा ही तुम्हारा भी जीवन होगा। अमरत्व की आशा वित्त से नहीं की जा सकती। इसपर मैत्रेयी ने कहा कि जिसे लेकर मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी। अत' अमरत्व साधन जिसे आप जानते हैं, मुझे तो उसीका उपदेश करें। मैत्रेयी की यही तीव्र मुमुक्षा एव जिज्ञासा महर्षि याज्ञवल्क्य के उपदेश की प्रेरणा-स्रोत बन गयी। इस प्रकार की मुमुक्षा जहाँ नही है; उसके प्रति किया हुआ परमार्थतत्त्व का उपदेश सद्यः फलप्रद नही होता। वेदान्त विचार से पूर्व विवेक वैराग्यादि साधनो को अपनाना आवश्यक है। इसीलिये महर्षि ने आत्मतत्त्व उपदेश से पूर्व पति पत्नी, पुत्र, वित्तादि मे प्रेम आत्मा के लिये बतलाया, जिससे कि आत्मा से भिन्न वस्तु मे सर्वथा राग हट जावे। आत्मा ही परम प्रेम का विषय है। इससे आत्मा में परमानन्दरूपता की सिद्धि भी हो जाती है। अतः सच्चिदानन्द आत्मा ही दर्शन के योग्य है, श्रवण, मनन और निदिध्यासन के योग्य है। आत्मा सम्पूर्ण विश्वकल्पना का अधिष्ठान है इसीलिये हे मैत्रेयी! आत्मा के विज्ञान से सम्पूर्ण विश्व विज्ञात हो जाता है। यदि आत्मा से भिन्न किसी को भी जानेगा, तो वह उस भेददर्शी के पराभव (ब्रह्मात्मस्वरूप अमृतत्व से पतन) का कारण बन जायगा। इससे आगे दुन्दुभि आदि अनेक दृष्टान्तों से यही सिद्ध किया है कि यह सम्पूर्ण प्रपञ्च चिदात्मा से भिन्न नही है। जैसे दुन्दुभि, शंख और वीणा आदि के शब्दसामान्य का ग्रहण पहले होता है। तत्पश्चात् तालस्वर आदि से युक्त शब्दविशेष का ग्रहण होता है। वैसे ही पहले चिदात्मा का ग्रहण होता है। उसके बाद ही उसमे कल्पित नामरूपात्मक जगत् का ग्रहण होता है। जैसे प्रकाश का नेत्र से ग्रहण हुए बिना नीलादि रूप को कोई देख नही सकता; ठीक उसी प्रकार चिदात्मा को देखने के बाद ही उसमे कल्पित नामरूपात्मक जगत् को देख सकता है; यहाँ पर दुन्दुभि आदि शब्द से श्रुति ने

उनसे उत्पन्न शब्दसामान्य को ही कहा है, जिसमें तालस्वरादियुक्त शब्दविशेष कल्पित हैं। जैसे गीली लकडी के साथ अग्नि का संयोग होने पर पहले धुआँ निकलता है, तत्पश्चात् चिनगारियाँ छिटकती है। वे चिनगारियाँ अग्नि से भिन्न नही हैं। ऐसे ही परमार्थ ब्रह्मात्मतत्त्व से माया सम्बन्ध के कारण छिटकते हुए कोटि२ ब्रह्माण्ड उससे भिन्न नही हैं। नामरूपात्मक सम्पूर्ण प्रपञ्च का उसी परमार्थतत्त्व मे विलय दिखलाने के लिए जल समुद्र आदि का दृष्टान्त श्रुति ने दिया है। जैसे समुद्र का जल बादलो द्वारा आकृष्ट कर पर्वतादि पर बरसाने के बाद नदी आदि के रूप मे छलकता हुआ अन्ततः समुद्र मे लीन हो जाता है। ऐसे ही नामरूपात्मक जगत् परमात्मा से निकल कर अन्ततः परमात्मा में ही समा जाता है; अत. यह प्रपञ्च परमात्मस्वरूप ही है। जैसे समुद्र का जल मिट्टी और उष्णता के सम्बन्ध से खिल्यभाव (कठिन) हो जाता है और पुन. पानी मे डालते ही अपने कारणसम्पर्क से उस सैन्धवधन की कठिनता मिट जाती है एव सैन्धवघन (नमक का टुकडा) विलीन हो जलमात्र शेष रह जाता है। ऐसे ही माया के कार्यकरणसघात के सम्पर्क से ब्रह्म मे जीव-भाव दीखता है। तदनन्तर वर्णाश्रम आदि से विशिष्टरूप मे भी भासने लग जाता है। जब शास्त्र और आचार्य के उपदेश से ब्रह्मविद्या का उदय होता है, तब ये कार्यकरणसघात अपने अधिष्ठान ब्रह्मतत्त्व मे मिथ्या प्रतीत होने लगते है एव संघातप्रयुक्त जीवभाव भी निवृत्त हो जाता है; क्योकि जीवभाव के निमित्त सघात के निवृत्त हो जाने पर सघातनिमित्तक जीवभाव भी निवृत्त हो जाता है। फिर तो ब्रह्म ही शेष रह जाता है। इसीको श्रुतिने "महद्भूतमनन्तरमपार विज्ञानघनम्" कहा है। मरने के बाद सज्ञासामान्य का अभाव नही होता, किन्तु अन्त.करणादि उपाधियो के रहते जो विशेष विज्ञान होता है, वह विज्ञान उपाधि की अभावदशा मे नही होता क्योकि यह आत्मा अविनाशी है। इसका कभी भी उच्छेद नही होता है। जहाँ पर अविद्या दशा मे रज्जु मे आरोपित सर्प की भाँति द्वैत खडा हो जाता है, वहाँ पर ही दूसरा दूसरे को देखता है, सुनता है इत्यादि दर्शनादि विशेषविज्ञान होता है। किन्तु रज्जुतत्त्व के ज्ञान के समान जहाँ पर कल्पित विश्व के अधिष्ठान ब्रह्मतत्त्व का बोध हो गया; वहाँ पर द्वैत का अभाव हो जाने के कारण कौन, किससे, किसको देखेगा; कौन किससे, किसको सुनेगा इत्यादि सम्पूर्ण कर्ता, करण, क्रिया का अभाव सुस्पष्ट हो जाता है। जो सबका प्रकाशक है, भला उसे कौन प्रकाशित कर सकता है। इसीलिए विदेहकैवल्य दशा मे विशेष विज्ञान का अभाव कहा है। इससे मैत्रेयी का सम्पूर्ण मोह निवृत्त हो गया और महर्षि याज्ञवल्क्य के प्रति मोह मे डालने की उसकी आशङ्का भी मिट गयी अर्थात् परिच्छिन्नता के मिट जाने पर शुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्म सामान्य चैतन्य ही शेष रहता है।

मधुकाण्ड के चतुर्थ अध्याय मधु नामक पञ्चम ब्राह्मण मे कहा हैं कि जैसे अनेक मधुकर अनेको पुष्पो का सार लेकर मधु को बनाते हैं, वैसे ही ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण भूतो की समष्टि कर्म सस्कार के फलस्वरूप पृथिव्यादि जगत् का निर्माण होता है। अतः ये पृथिव्यादि जगत सम्पूर्ण भूतो के कार्य हैं। वैसे ही पृथिव्यादि कारणसामग्री से सम्पूर्ण भूतो के कार्यकरणसघात का निर्माण होता है। अतः ये भूत भी पृथिव्यादि के कार्य हैं। इस प्रकार पृथिव्यादि जगत् और ब्रह्मादिस्तम्ब-पर्यन्त सभी भूतो मे परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव रहने के कारण इनका परस्पर कार्यकारणभाव है। अतएव ये एक दूसरे के मधु हैं। इतना ही नही, प्रत्युत जो इन पृथिव्यादि के अधिष्ठानरूप नित्य, चैतन्य, आनन्दघन पुरुष है और जो शरीर आत्मा है। दोनो एक ही तत्त्व है। यही आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यह सब कुछ है। इस प्रकार इस मधु ब्राह्मण मे अधिष्ठानदृष्टि से सम्पूर्ण प्रपञ्च की ब्रह्मरूपता बतलायी गयी है। "इन्द्रो मायाभि. पुरुरूप ईयते" इस श्रुति ने तो अपनी मायाशक्तियो

के कारण परमात्मा का ही अनेक रूप होना बतलाया है। इस मधुविद्या का उपदेश अति आग्रह करने पर अश्विनीकुमारो को दध्यङ् आथर्वण ऋषि ने घोडे के शिर से किया था। पता लगने पर पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार देवराज इन्द्र ने ऋषि के अश्वशिर को काट डाला, जिस शिर से दध्यङ् आथर्वण ऋषि ने मधुविद्या का उपदेश किया था। उस घोडे के शिर कट जाने पर पुनः अश्विनीकुमारो ने ऋषि का अपना शिर ज्यो का त्यो जोड दिया। इससे इस मधुविद्या की दुर्लभता सिद्ध होती है, क्योकि इस विद्या को सीखने के लिए ऐसे उपक्रम किये जा सकते हैं। यह विद्या देवताओ के लिये भी दुर्लभ है। इसीलिए अनधिकारी समझ कर ऋषि ने इन्द्र को इसका उपदेश नही किया और अश्विनीकुमारो को इस देवदुर्लभ मधुविद्या को प्राप्त करने के लिये आचार्य के शिरश्छेदनरूप उग्र कर्म करना पडा। इसके आगे मधुवश नामक षष्ठ ब्राह्मण मे मधुविद्या की वंशपरम्परा का वर्णन कर मधुकाण्ड समाप्त हो जाता है। इसका पाठ विद्याप्रयुक्त ऋण के अपनयन, विद्यासम्प्रदायप्रवर्त्तक ऋषियो के प्रति कृतज्ञताप्रदर्शन एव विद्यावश सस्मरण हेतु पुण्यसम्पादन के लिए अवश्य करना चाहिये। वशवर्णन से ब्रह्मविद्या की स्तुति भी हो जाती है। जिसे इतने बडे बडे महान् पुरुषों ने अङ्गीकार किया है, अत. महापुरुषो से अनुगृहीत यह विद्या अत्यन्त उत्कृष्ट एव भाग्यशालिनी है इसमे प्रथमान्त शिष्य हैं और पञ्चम्यन्त आचार्य है अर्थात् अमुक से अमुक ने इस विद्या को प्राप्त किया है।

इसके बाद दो अध्याय याज्ञवल्क्य (मुनि) काण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। मधुकाण्ड आगम-प्रधान है और मुनिकाण्ड उपपत्ति (युक्ति) प्रधान है। इसमे वाद, कथा एव जल्पकथा के रूप मे उक्त विद्या का ही विस्तार है। आत्मतत्त्व प्रकाशन में प्रवृत्त आगम और उपपत्ति करतलामलकवत् परमार्थ-तत्त्व को दिखला सकते हैं। क्योकि "श्रोतव्यो मन्तव्यः" ऐसा श्रुति ने भी कहा है। अत पूर्वोक्त आगम से अवगत अर्थ को ही परीक्षापूर्वक निश्चय कराने के लिये उपपत्तिप्रधान मुनिकाण्ड को कहते हैं। आख्या-यिका प्रकृत विद्या की स्तुति के लिये अथवा उपायविधानपरक होती है। "पुष्कलेन धनेन वा" इत्यादि शास्त्रो मे दान को भी विद्याप्राप्ति का उपाय कहा है; जो यहाँ पर उपलब्ध हो रहा है। विद्वानों के साथ वाद करना भी विद्याप्राप्ति का उपाय न्यायविद्या मे देखा गया है। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध." इत्यादि। वह विद्याप्राप्ति उपाय वादकरण भी इस अध्याय मे स्पष्ट दिखाई देता है। विद्वानो के सम्पर्क से विद्या की वृद्धि प्रत्यक्ष देखी जाती है। अत विद्याप्राप्ति उपाय प्रदर्शन के लिये यह आख्यायिका है।

विदेह देश के प्रसिद्ध राजा जनक ने बडी दक्षिणा वाले यज्ञ द्वारा यजन किया। जिसमे निमन्त्रित, या दर्शनार्थी कुरु एव पाञ्चाल देश के बहुत से ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस विद्वत्समुदाय को देखकर उस राजा को विशेष जानने की उत्कण्ठा हो उठी कि इन एकत्रित ब्राह्मणों मे बडे प्रवक्ता कौन हैं। अत. उसने अपनी गोशाला मे एक हजार गायें रुकवा दी, जिनमे प्रत्येक के सीगो मे दश-दश पाद सोना बँधा था। राजा ने उन ब्राह्मणो से कहा—हे पूज्य ब्राह्मणो! आप मे जो ब्रह्मिष्ठ हो, वह इन गायो को ले जाये। इसे सुन उन ब्राह्मणों मे से किसी को भी अपने को ब्रह्मिष्ठा की प्रतिज्ञा करने का साहस नही हुआ। उन्हे साहसहीन देख याज्ञवल्क्य ने अपने सामविधि श्रवण करने वाले ब्रह्मचारी शिष्य से गायों को गुरुकुल की ओर हाँकने के लिये कहा। इससे ब्राह्मण क्रुद्ध हो गये। उन क्रुद्ध ब्राह्मणो मे एक, राजा जनक का अश्वल नामक होता था। उसने याज्ञवल्क्य से पूछा—हे याज्ञवल्क्य! हम सबमे तुम्ही ब्रह्मिष्ठ हो। महर्षि याज्ञवल्क्य ने सच्चे तत्त्वज्ञ के अनुरूप ही उत्तर दिया। ब्रह्मिष्ठ को तो हम नमस्कार करते हैं। इस समय हमें गो की इच्छा है। व्यवहार से अपने

मे ब्रह्मिष्ठता की प्रतिज्ञा करने वाले उस याज्ञवल्क्य से होता अश्वल ने मन मे प्रश्न करने का निश्चय कर लिया। यहाँ से अश्वल ब्राह्मण प्रारम्भ होता है।

मधुकाण्ड के उदगीथ ब्राह्मण मे पाङ्क्त कर्म द्वारा यजमान के मृत्यु से पार होने का संक्षिप्त वर्णन हो चुका है। उसमे आये दर्शन विशेष के लिये ही यहाँ विस्तार से कह रहे है। अश्वल ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जो यह ऋत्विग् अग्न्यादि सभी साधन स्वाभाविक आसक्तियुक्त कर्म से व्याप्त है, इतना ही नही, बल्कि मृत्यु द्वारा वश मे किया हुआ है, भला ऐसी मृत्यु की व्याप्ति का अतिक्रमण किस दर्शनरूप साधन से यजमान कर सकता है। याज्ञवल्क्य ने कहा—होता ऋत्विगरूप अग्नि और वाक से। तात्पर्य यह है कि जो यह अधियज्ञ होता ऋत्विग और अध्यात्म होता वाक् है, दोनो ही परिच्छिन्न साधन उपर्युक्त मृत्यु से व्याप्त हैं एव प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। इन दोनो मे अधिदैवत अग्नि दृष्टि करने पर मुक्ति होती है, अर्थात इनमे अग्निस्वरूप दर्शन ही मुक्ति है। अत परिच्छिन्न होता ऋत्विग् और वाक अपरिच्छिन्न अधिदैवताग्निरूप से देखे जाने पर यजमान की मुक्ति का साधन है। इस अपरिच्छिन्नदृष्टिरूप मुक्ति का फल जो अपरिच्छिन्न अधिदैवत अग्नि की प्राप्ति है, वही अतिमुक्ति है। अर्थात् मुक्ति ही अतिमुक्ति का साधन है। पुन अश्वल ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि यह जो कुछ है सभी दिन और रात्रि से व्याप्त है एव इनके अधीन है। ऐसी स्थिति मे किस साधन के द्वारा यजमान दिन और रात्रि की व्याप्ति को पार कर सकता है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—अध्वर्यु ऋत्विग् और चक्षुरूप आदित्य के द्वारा। अर्थात् यज्ञ का अध्वर्यु और यजमान का नेत्र दोनो ही परिच्छिन्न हैं। इनमे जब आदित्य दृष्टि करेगा, तब ये दोनो अपने-अपने परिच्छिन्न दृष्टि से न दीखने पर अपरिच्छिन्न आदित्य दृष्टि से देखे जाएँगे। यह आदित्य दर्शन ही मुक्ति है और आदित्यभाव की प्राप्ति अतिमुक्ति है। अत आदित्यभावापत्तिरूप अतिमुक्ति का साधन अध्वर्यु और नेत्र मे आदित्यदर्शनरूप मुक्ति ही है। आदित्य मे दिन और रात्रि का विभाग नही है। अतएव आदित्यभावापन्न पदार्थ भी अहोरात्र के परिच्छेद से मुक्त हो जाता है। अहोरात्र का परिच्छेदक आदित्य है किन्तु प्रतिपदा आदि तिथियो का परिच्छेदक आदित्य नही है, अपितु चन्द्रमा है। अत अश्वल ने याज्ञवल्क्य से पुन. पूछा—यह जो कुछ है, सब पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से व्याप्त हैं एव इनके द्वारा वशीभूत है। ऐसी दशा में किस साधन स यजमान पूर्वपक्ष और अपरपक्ष की व्याप्ति को पार कर सकता है। याज्ञवल्क्य ने कहा—उद्गाता ऋत्विग् से और वायुरूप प्राण से, क्योकि यज्ञ का उद्गाता प्राण ही है और जो प्राण है वही वायु है एव वही उद्गाता है। अत उद्गाता तथा प्राण मे परिच्छिन्नदृष्टि निवृत्ति के लिए अपरिच्छिन्न अधिदैवत वायु दृष्टि करना ही मुक्ति है। इस दृष्टि के फलस्वरूप चन्द्रभावापत्ति ही अतिमुक्ति यजमान की है। चन्द्रमा मे प्रतिपदादि तिथिप्रयुक्त पूर्वपक्ष और अपर नही है। अतएव चन्द्रभावापन्न पदार्थ पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से सर्वथा मुक्त हो जाता है। यद्यपि चन्द्रमा पूर्वपक्ष तथा अपरपक्ष का कारण है, इसलिये इनकी व्याप्ति से मुक्ति पाने के लिये यजमान को यज्ञ के साधनो मे चन्द्रदृष्टि करनी चाहिये, पर श्रुति ने तो यज्ञ के साधन उद्गाता और प्राण मे वायुदर्शन करने को कहा है। तथापि चन्द्रमा मे वृद्धिक्षय का निमित्त वायु ही है। अत वायुभावापन्न पुरुष तिथ्यादि काल को पार कर जाता है—ऐसा कहना युक्तियुक्त ही है। अपरिच्छिन्न लोकप्राप्ति के मार्ग के विषय में अश्वल याज्ञवल्क्य से पूछता है कि यह जो अन्तरिक्ष है, वह तो निरालम्ब सा है; फिर भला यजमान किसके सहारे स्वर्गलोक मे चढता है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि ब्रह्मा ऋत्विक् और मनरूप चन्द्रमा से। नि सन्देह यज्ञ का ब्रह्मा मन है और यह मन चन्द्रमा है।

अतः परिच्छिन्न अधिभूत ब्रह्मा और अध्यात्म मन में अपरिच्छिन्न अधिदैवत चन्द्रदृष्टि करने से अपरिच्छिन्न चन्द्ररूप आलम्बन द्वारा यजमान कर्मफल स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेता है । बस यही अतिमुक्ति है। इस प्रकार अतिमोक्षों का वर्णन पर सम्पदों का वर्णन इस अश्वल ब्राह्मण में किया है।

अश्वल ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि आज कितनी ऋचाओं से होता इस यज्ञ मे शस्त्र शंसन करेगा। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—तीन ऋचाओं से। वे हैं; पुरोऽनुवाक्या, याज्या और शस्या। याग से पूर्वप्रयुक्त ऋचाएं पुरोऽनुवाक्या, यागार्थप्रयुक्त ऋचाएं याज्या और शस्त्रकर्म मे प्रयुक्त ऋचाएँ शस्या कही जाती है। सभी ऋचाएँ इतनी हैं। अतः इनके द्वारा पुरुष सम्पूर्ण प्राणिसमुदाय पर विजय प्राप्त कर लेता है। अश्वल ने पुनः पूछा कि आज इस यज्ञ मे अध्वर्यु कितनी आहुतियों द्वारा होम करेगा। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—तीन से। जो समिधाज्यादि आहुतियाँ होम की जाने पर प्रज्वलित होती हैं, जो तिल-यवादि आहुतियाँ होम करने पर अत्यन्त शब्द करती हैं एव जो दुग्ध सोम की आहुतियां होम करते ही पृथिवी पर सो जाती हैं, बस ये ही तीन हैं। उपर्युक्त तीनो आहुतियो से यजमान लक्षण में समानता रहने के कारण क्रमशः देवलोक, पितृलोक और मनुष्यलोक को जीत लेता है। अश्वल ने पूछा—आज यज्ञ मे दक्षिण की ओर सव पर आसीन ब्रह्मा कितने देवताओं द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है। "देवताभि" मे बहुवचन प्रासङ्गिक है अथवा प्रतिवादी को व्यामोह मे डालने के लिये किया गया है क्योंकि देवता एक है, इसे अश्वल भी जानता है। याज्ञवल्क्य ने कहा—एक देवता से। वह देवता मन ही है। वह मन ही वृत्तिभेद से अनन्त है। "अनन्ता वै विश्वेदेवा." इस प्रकार अनन्तता मे सादृश्य होने के कारण वह मनरूप देवता के द्वारा अनन्तलोक को जीत लेता है। अश्वल ने फिर पूछा—आज इस यज्ञ मे उद्गाता कितनी स्तोत्रिया ऋचाओं का स्तवन करेगा। कुछ ऋचाओं के ऋक्सामसमुदाय का ही नाम स्तोत्रिया है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—तीन का। वे पुरोऽनुवाक्या, याज्या और शस्या ही तीन हैं। 'प' शब्द की समानता रहने के कारण अध्यात्म मे प्राण ही पुरोऽनुवाक्या है। आनन्तर्यसमानता के कारण अपान ही याज्या है और व्यान ही शस्या है क्योंकि प्राण और अपान की अभाव दशा मे ही ऋचाओं का उच्चारण करता है। लोक-सम्बन्धी सादृश्य होने के कारण इन तीनो ऋचाओं द्वारा क्रमशः पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक और द्युलोक को जीत लेता है। इस प्रकार अपने प्रश्नो का यथार्थ उत्तर पाकर अश्वल चुप हो गया।

उसके बाद द्वितीय आर्तभाग ब्राह्मण मे जरत्कारुगोत्र मे उत्पन्न जारत्कारव आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य से पूछा—ग्रह कितने और अतिग्रह कितने हैं एवं वे कौन-कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं। इनमें प्राण, वाग्, रसना, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त और त्वग् ग्रह है। जो गन्धादि अपने-अपने विषयो से गृहीत हैं। अतएव ये विषय अतिग्रह है। आर्तभाग ने पुनः पूछा—यह जो कुछ है, सब मृत्यु का खाद्य है, पर इस मृत्यु का भक्षक देवता कौन है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—निःसन्देह अग्नि ही मृत्यु है, जो जल का भक्ष्य है। इस प्रकार के ज्ञान से पुनर्मृत्यु को जीत लेता है। आर्तभाग ने पुनः पूछा कि इस प्रकार परमार्थ ज्ञानरूप मृत्यु के द्वारा मृत्यु को खा लिये जाने पर शरीर छोड़ता है; तो उस मरने वाले विद्वान् से पूर्वोक्त वागादि ग्रह और उनके विषयरूप अतिग्रह उत्क्रमण करते हैं या नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं। जैसे समुद्र मे तरगें लीन हो जाती हैं, वैसे ही ब्रह्मस्वरूप मे अभिन्नभाव से स्थितिप्राप्त उस विद्वान् मे ही कार्य-करण सभी लीन हो जाते हैं। आर्तभाग फिर ने पूछा—मृतपुरुष को क्या नहीं छोड़ता। याज्ञवल्क्य ने कहा—नाम नहीं छोड़ता क्योंकि नाम अनन्त है और विश्वेदेव भी अनन्त हैं।

अन. नाम के अनन्तत्वाधिकारी विश्वेदेवों को आत्मभाव से प्राप्त कर इस अनन्तदर्शन से वह अनन्त-लोक को ही जीत लेता है। आर्तभाग ने पुनः पूछा कि जब मरे हुए अज्ञानी के वागादि इन्द्रियों के उपकारक अग्न्यादि देव अपना उपकार (सहयोग) करना छोड देते हैं, तब यह पुरुष कहाँ रहता है। याज्ञवल्क्य ने आर्तभाग को एकान्त मे ले जाकर वादियो के अभिमत (जीव के आश्रयस्थान) स्वभावादि का खण्डन कर कर्म को ही जीव का आश्रयस्थान बतलाया क्योंकि कार्यकरणसघात के पुनर्ग्रहण में पुण्य पाप कर्म ही निमित्त कारण है। यथार्थ उत्तर सुनकर आर्तभाग चुप हो गया।

तत्पश्चात् तृतीय भुज्यु ब्राह्मण मे कहा गया है कि केवल कर्म या उपासनासहित कर्म का फल ससार ही है, मोक्ष नही है। मद्रास में भ्रमण करते हुए गन्धर्व से दिव्य ज्ञान प्राप्ति के अभिमान वाले लह्य के पौत्र भुज्यु ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि पारिक्षित कहाँ रहे। याज्ञवल्क्य ने कहा—जहाँ अश्वमेधयाजी जाते हैं, वहाँ पारिक्षित रहे। साथ ही भुवनकोश को भी बतला दिया। इस प्रकार गन्धर्व ने वायु की ही प्रशंसा की थी। सम्पूर्ण भूतो में विविधरूप से व्याप्त वायु व्यष्टि है और केवल सूत्रात्मारूप से समष्टि वायु ही है। इस प्रकार जानने वाला पुनर्मृत्यु को जीत लेता है अर्थात् एक बार मरकर फिर वह नही मरता। अपने प्रश्न का यथार्थ उत्तर सुन भुज्यु चुप हो गया। चतुर्थ उषस्त ब्राह्मण मे आत्मा के अस्तित्व और निरुपाधिक स्वरूप को जानने के लिये चक्र के पुत्र उषस्त ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि जो साक्षादपरोक्ष-ब्रह्म सर्वान्तर आत्मा नाम से प्रसिद्ध है, उसे गो के सीग पकड़कर जैसे दिखलाया जाय, वैसे मुझे दिखला दो। याज्ञवल्क्य ने कहा—यह कार्यकरणसघात जिससे आत्मवान् (सत्ता एव स्फूर्ति वाला) हो रहा है, वही तेरा स्वरूप है। वही प्राणनादिक्रियारूप उपाधि के कारण प्राणादि नाम से कहा जाता है। निरुपाधिक आत्मा का वर्णन कोई भी पुरुष गोशृङ्गग्रहण की भाँति कर नही सकता। तुम दृष्टि के द्रष्टा को घटादि विषय के समान देख नही सकते। यद्यपि चक्षुःसंयुक्त अन्तःकरण की वृत्तिरूप लौकिक दृष्टि उत्पत्ति विनाशशील है, तथापि द्रष्टा की स्वरूप-भूत दृष्टि नित्य है। उसे दृश्यवस्तु की भाँति नही देख सकते हो। श्रुति के श्रोता, मति के मन्ता और विज्ञाति के विज्ञाता को कोई भी अपनी लौकिक श्रुति, मति एव बुद्धि का विषय नही बना सकता है। यही तुम्हारे कार्यकरणसंघात का आत्मा है। इससे भिन्न सब नाशवान् तुच्छ है। अपने प्रश्न का यथार्थ उत्तर पाकर उषस्त चुप हो गया।

उसके बाद पचम कहोल ब्राह्मण मे पूर्वब्राह्मणोक्त आत्मा का ही अनुवाद कर उसमे क्षुधापिपासादि संसारधर्म से रहित होने की बात कहोल ने कुछ विशेष जानने की इच्छा से पूछी। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि इस असंसारी आत्मा को जानने की इच्छा से अथवा जानकर ब्राह्मण पुत्रादि त्रिविध एषणा से मुक्त हो भिक्षाचर्या करते है। अतः आत्मजिज्ञासु सन्यासी विधिवत् श्रवण, मनन एव निदिध्यासन द्वारा इसी आत्मा को जानकर ब्राह्मण (कृतकृत्य) हो जाता है। इस प्रकार क्षुधा-पिपासादि सम्पूर्ण ससार धर्मरहित नित्य तृप्त आत्मस्थिति को ही ब्राह्मण पद कहते हैं। इससे भिन्न अविद्याविषय एषणात्रय स्वप्न, माया एव मरीचि उदक की भाँति तुच्छ है। इस प्रकार अपने प्रश्न का यथार्थ उत्तर पाकर कहोल भी चुप हो गया।

इसके आगे गार्गी ब्राह्मण से लेकर शाकल्य ब्राह्मण पर्यन्त पूर्वोक्त सर्वान्तर आत्मा के बोध कराने के लिए कहा गया है। अन्तर्बाह्यभावरूप से व्यवस्थित पृथिव्यादि में बाह्य-बाह्य निराकरण करते हुए द्रष्टा के साक्षात् सर्वान्तर सभी ससारधर्म से रहित मुरूप आत्मा के दर्शन कराने के लिए यह प्रसग

प्रारम्भ किया जाता है। पञ्चम गार्गी ब्राह्मण मे वचक्नु की पुत्री गार्गी और याज्ञवल्क्य के संवाद से यह सिद्ध होता है कि पृथिवी, जल, वायु, अन्तरिक्ष लोक, गन्धर्व लोक, आदित्य लोक, चन्द्र लोक, नक्षत्र लोक, देव लोक, इन्द्र लोक, प्रजापति लोक तथा ब्रह्म लोक मे स पूर्व-पूर्व उत्तरोत्तर मे ओत-प्रोत है। तत्पश्चात् ब्रह्म लोक किसमे ओत-प्रोत है। गार्गी के इस प्रश्न के उत्तर मे याज्ञवल्क्य ने कहा कि आगम से पूछने योग्य देवता को अनुमान के आधार पर पूछना अतिप्रश्न हो जायेगा। यदि तुम्हें मरना इष्ट नही है, तो अतिप्रश्न न कर। इस बात को सुन गार्गी चुप हो गयी। सप्तम आरुणि ब्रह्मलोक के अन्तरतम सूत्र को बतलाया गया है। अध्ययन के समय मद्रास मे भ्रमण करते हुए आथर्वण कबन्धनामा गन्धर्व से दिव्य ज्ञान प्राप्ति के अभिमानी अरुणपुत्र उद्दालक ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि यह लोक, परलोक तथा सभी भूत जिसमे गुँथे हुए हैं, उस सूत्र और इनके नियामक अन्तर्यामी को जाने बिना ही तू ब्रह्मवेत्ता की सम्पदा गायो को यदि ले जाओगे, तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा। याज्ञवल्क्य उत्तर दिया कि यह लोक, परलोक एव सभी भूत वायु से गुँथे हुए हैं। इस वायु के अभाव में मृत पुरुष के अग वैसे ही बिखर जाते हैं, जैसे धागो के न रहने पर उसमे पिरोये हुए मण्यादि बिखर जाते हैं। अपने का यथार्थ उत्तर सुनकर उद्दालक ने शेष अन्तर्यामी को बतलाने के लिए कहा। याज्ञवल्क्य ने अधिदैव, अधिभूत और अध्यात्म जगत् मे ईश्वर को ही नियामक बतलाया। जो सम्पूर्ण ससार धर्म से रहित तथा सभी प्राणियो का अन्तरात्मा है; यह देखा नही जाता, किन्तु वह स्वय चक्षु के पास होने से दर्शन स्वरूप है। वैसे श्रोत्र, मन और बुद्धि का भी विषय नहीं है, किन्तु इनके सन्निहित होने से श्रोता, मन्ता और विज्ञाता कहा जाता है। साथ ही इससे भिन्न कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता एव विज्ञाता नही है अर्थात् स्वरूपतः द्रष्टृत्वादिधर्मरहित होता हुआ भी तत्तदुपाधियों से युक्त होने पर वही द्रष्टा इत्यादि भी है। इस तुम्हारे आत्मस्वरूप ईश्वर से भिन्न सब तुच्छ (नाशवान्) है। यथार्थ उत्तर सुन आरुणि उद्दालक चुप हो गया।

इसके बाद अष्टम अक्षर ब्राह्मण मे सभ्य ब्राह्मणो तथा प्रतिवादी याज्ञवल्क्य की अनुमति प्राप्त कर गार्गी ने दो प्रश्न पूछे। जिनका उत्तर देना याज्ञवल्क्य के लिये दुष्कर है, ऐसा गार्गी समझती थी। प्रथम प्रश्न से गार्गी ने पूछा—जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे, इन दोनो के मध्य मे और स्वयं भी जो द्युलोक तथा पृथिवी हैं। इनके सिवा भूत, वर्तमान और भविष्य जो कहे जाते जाते हैं, ये सबके सब किसमे ओत-प्रोत हैं। याज्ञवाल्क्य ने कहा—उपर्युक्त व्याकृत जगत् अव्याकृताकाश में ओत-प्रोत है। गार्गी ने द्वितीय प्रश्न से पूछा—उक्त आकाश किसमे ओत-प्रोत है। गार्गी समझती थी कि यदि याज्ञवल्क्य इसे अवाच्य कहकर इसका उत्तर नही देता तो *अप्रतिपत्तिनाम निग्रहस्थान से* निगृहीत हो जायेगा और यदि अवाच्यतत्त्व के विषय मे कुछ बोलेगा तो विप्रतिपत्ति नामक निग्रह स्थान से निगृहीत हो जायेगा। इन दोनो दोषो को निवृत्त करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा कि इस तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं। यह स्थूलादि से भिन्न है। यह न किसी का भक्ष्य है और न किसी का भक्षक है। यह सत्ता स्फूर्ति मात्र से ही सब पर अनुशासन कर रहा है। अत इसके अनुशासन मे सूर्यादि स्थित हैं। एव मर्यादा का अतिक्रमण कोई नहीं करता। इस अक्षर तत्त्व को सत्ता मे ही दानादि कर्मों का फल निश्चित मानकर मनुष्य दाता की प्रशसा करता है, देवगण यजमान का और पितृगण जीविका के लिए दर्वी होम का अनुवर्तन करते हैं। इस अक्षर को जाने बिना इस लोक मे हजारों वर्ष तक किये हुए होमादि नाशवान् ही होते हैं। इस अक्षर को न जानकर मरा हुआ कृपण है। अत उसको जन्मना मरना पड़ता ही है। पर इस अक्षर को जानकर मरा

हुआ व्यक्ति ब्राह्मण है। यह अक्षर देखा सुना नहीं जाता, किन्तु यह दृष्टिस्वरूप, श्रुतिस्वरूप इत्यादि होने से द्रष्टृ, श्रोतृ, मन्तृ और विज्ञातृ है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा आदि नहीं है, बल्कि इसमे भिन्न वस्तु तुच्छ, नाशवान् है। इसी अक्षर में आकाश ओत-प्रोत है। गार्गी ने सभी सभ्य ब्राह्मणों से कहा कि आपमें से कोई इस ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य को शास्त्रार्थ में जीत नहीं सकता। अच्छा हो, आपलोग नमस्कार करके इससे छुटकारा पा जावें। इतना कह कर गार्गी चुप हो गयी।

पूर्व ब्राह्मणों के द्वारा बतलाये गये ब्रह्म का नियम्य देवताओं के प्राणपर्यन्त संकोच और आनन्त्यपर्यन्त विकास वर्णन द्वारा साक्षादपरोक्ष ज्ञान कराना है। इसके लिए यह नवम शाकल्य ब्राह्मण प्रारम्भ किया गया है। इसमे विदग्ध शाकल्य के पूछने पर याज्ञवल्क्य ने (देवसख्याबोधक मन्त्रपद) निविद् द्वारा पहले ३३०६ देवसंख्या को बतलाकर देवताओं का विस्तार बतलाया। पुनः उनको बतलाते हुए तेंतीस, छः, तीन, दो, अध्यर्ध और अन्त में एक देव है, ऐसा कहा। सख्येय के विषय में पूछने पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि ३३०६ तो इनकी विभूतियाँ है। वस्तुतः आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति इस प्रकार तेंतीस है। अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र ये आठों सम्पूर्ण प्राणियों के बसाने वाले होने से वसु कहे जाते हैं। दश इन्द्रियाँ और मन इस मरणशील शरीर से निकलने पर सम्बन्धियों को रुलाते है; इसीलिये ये रुद्र कहे गये है। संवत्सर के अवयवरूप बारह मास द्वादश आदित्य इसलिये कहे जाते हैं क्योंकि सभी प्राणियों की आयु और कर्मफल को ग्रहण कर ये चलते हैं। प्राणियों की हिंसा करने वाला वज्र इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है, जो यज्ञ साधन पशुगण के अधीन है। वसुरूप से पूर्वोक्त अग्न्यादि मे चन्द्रमा और नक्षत्रों को छोड़ कर तेंतीस देवताओं के रूप में अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्युलोक ये छः ही है। अग्नि और पृथिवी को मिलाकर एकदेव, वायु और अन्तरिक्ष को एक कर देने पर दूसरा देव तथा आदित्य और द्युलोक को एक करने पर तीसरा देव होता है। अतः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये तीनों लोक ही तीन हैं। वैसे ही अन्न और प्राण मे पूर्वोक्त सबका अन्तर्भाव हो जाने से दो ही देव है। एक होते हुए भी वायु को अध्यर्ध इसलिये कहा जाता है क्योंकि वायु के रहने पर ही यह सब अधि ऋद्धि को प्राप्त होता है। एक देव प्राण है, वह ब्रह्म है। इतना ही नहीं; बल्कि सर्वदेवरूप होने के कारण वह महद्ब्रह्म है। इसीलिये उसको परोक्षार्थवाचक 'त्यत्' ऐसे शब्द से कहते हैं। इस प्रकार अनन्त देवो का निविद्सख्याविशिष्ट में अन्तर्भाव किया। पुन. उनका तेंतीस आदि मे अन्तर्भाव करते-करते अन्त मे प्राण को शेष रखा। अतः एक, अनन्त और मध्यवर्ती सख्या से विशिष्ट एक प्राण ही है। उसके बाद प्रश्नोत्तर द्वारा उसी प्राणब्रह्म के आठ भेद बतलाये गये हैं। जिस देव का आश्रय पृथिवी है, देखने का साधन होने से अग्नि जिसका लोक है, संकल्पादि कार्य करने का साधन मन जिसकी ज्योति है; ऐसा यह पृथिवी का अभिमानी देव कार्यकरणसघात वाला है। वही पार्थिवांश शरीर मे होने से शारीर कहा जाता है। उस शारीर देव का देवता अमृत है। खाये हुए अन्न का जो रस माता के शरीर मे बीज के आश्रयभूत लोहित की निष्पत्ति का कारण है; उस रस को ही अमृत कहा गया है। स्त्री प्रसंग की अभिलाषा काम जिसका आश्रय है, हृदय (बुद्धि) लोक है और मन ज्योति हैं; वह पुरुष अध्यात्म भी काममय है। उद्दीपक होने से स्त्री ही उस काममय पुरुष का देवता है। शुक्लादि-रूप ही जिसके आश्रय हैं, चक्षु लोक है और मन ज्योति है; वह पुरुष आदित्य में रहता है, जो सभीरूपों का विशिष्ट कार्य है। उसका देवता सत्य यानी चक्षु है क्योंकि अध्यात्म चक्षु से ही अधिदैव आदित्य की निष्पत्ति होती है। आकाश ही जिसका आश्रय है, श्रोत्र लोक है और मन ज्योति है; वह पुरुष

श्रोत्र मे रहता है और प्रतिश्रवण के समय विशेषरूप से वहाँ रहने के कारण प्रातिश्रुत्क कहा जाता है। उसका देवता है दिशाएँ, क्योकि दिशाओ से ही यह प्रातिश्रुत्क पुरुष निष्पन्न होता है। रात्रि का अन्धेरा रूप तम ही जिसका आयतन है हृदय लोक है और मन ज्योति है, अध्यात्मपक्ष मे तम अज्ञान-मय पुरुष ही है अर्थात् अज्ञान मे प्रतिबिम्बित चैतन्य अथवा अज्ञानोपाधिक चैतन्य ही पुरुष है। जिसकी प्रवृत्ति ईश्वर प्रेरणा के अधीन होने से मृत्युपदवाच्य ईश्वर ही उस पुरुष का देवता है। प्रकाशक विशिष्टरूप ही जिसका आयतन है चक्षु लोक है और मन ज्योति है, उस तमरूपायतन देव का विशेष आयतन प्रतिबिम्ब के आधारभूत दर्पणादि हैं एव देवता उसका प्राण है क्योंकि प्राण द्वारा घर्षण करने पर ही आदर्शादि प्रतिबिम्ब ग्रहण के योग्य होते हैं। अतएव प्रतिबिम्ब पुरुष की निष्पत्ति का कारण प्राण को कहा है। वापी, कूपादि म स्थित सभी साधारण जल ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है और मन ज्योति है, उस पुरुष का देवता वरुण है। सूय किरणो द्वारा पृथिवी पर गिरा हुआ जल ही वरुण शब्द से कहा गया है, जो वापी कूपादि मे स्थित पेयजल की उत्पत्ति का कारण है। वीर्य ही जिसका आयतन है, उस रेत आयतन पुरुष का विशेष आयतन पुत्ररूप है। हृदय लोक और मन ज्योति है, उस पुत्रमय पुरुष का देवता प्रजापति (पिता) है, क्योकि पिता से ही पुत्र की उत्पत्ति होती है।

शाकल्य ने कहा कि तुम जो सभी ब्राह्मणो का आक्षपपूवक तिरस्कार कर रहे हो और अब भयभीत होकर कहते हो कि इन ब्राह्मणो ने तुम्हे अङ्गारे पकडने के लिये चिमटा बना रखा है। पर तुम सत्य बोलो—वस्तुत तुम ब्रह्मज्ञानी हो क्या ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—अधिष्ठातृदेव एव प्रतिष्ठा के सहित दिशाओ को मैं जानता हूँ। याज्ञवल्क्य के इस प्रतिज्ञा का तात्पर्य यह है कि दिशाओ मे पाँच प्रकार से विभक्त अपने हृदयोपाधिक आत्मा को दिगात्मस्वरूप समझकर उसके द्वारा सम्पूर्ण जगत को आत्मस्वरूप जानकर मैं दिक्स्वरूप मे स्थित हूँ। तदनुसार पूर्वदिशा मे मैं आदित्यरूप हूँ, वह आदित्य अध्यात्मचक्षु से निष्पन्न होने के कारण चक्षु मे प्रतिष्ठित है क्योकि अपने करण मे कार्य प्रतिष्ठित होता ही है। चक्षु रूपो म प्रतिष्ठित है, क्योकि चक्षु रूपात्मक है और वह रूप से, रूपग्रहण के लिये ही प्रयुक्त होता है। वह रूप हृदय (मन और बुद्धि) मे प्रतिष्ठित है, क्योकि सभी लोक हृदय से ही रूप को जानते हैं हृदय ही रूपाकार रूप मे परिणत होता है एव वासनात्मक रूपो का स्मरण भी हृदय से होता है। अत रूप हृदय मे ही प्रतिष्ठित है। वैसे ही दक्षिण दिशा म मैं यमदेवता वाला हूँ। वह अपने कारण यज्ञ मे प्रतिष्ठित है। ऋत्विजो द्वारा निष्पादित यज्ञ को यजमान दक्षिणा से खरीद लेता है। इसीलिये यज्ञ को दक्षिणा म प्रतिष्ठित कहा गया है। ऐसे यज्ञ द्वारा यजमान यम के सहित दक्षिण दिशा को जीत लेता है। दक्षिणा श्रद्धा म प्रतिष्ठित है क्योकि श्रद्धा के बिना कोई दक्षिणा नही देता, अपितु श्रद्धा उत्पन्न होने पर ही दक्षिणा देने मे पुरुष प्रवृत्त होता है। वह श्रद्धा हृदय मे प्रतिष्ठित है क्योकि श्रद्धा हृदय की ही एक वृत्ति है और वृत्ति सदा अपने कारण वृत्तिमान् मे प्रतिष्ठित रहती ही है। अत हृदय म श्रद्धा को प्रतिष्ठित कहना युक्तियुक्त है। इसी प्रकार पश्चिम दिशा मे मैं वरुण देवता वाला हूँ। जल का काय होने से वरुण जल मे प्रतिष्ठित है। वह जल वीय मे प्रतिष्ठित है। 'रेतसो ह्याप सृष्टा" इस श्रुति के अनुसार जल वीय का काय है। वीर्य हृदय मे प्रतिष्ठित है। इसीलिये पिता के अनुरूप पुत्र को लोग कहते हैं कि यह मानो अपने पिता के हृदय से निकला है। अत हृदय मे रेत को प्रतिष्ठित कहना ठीक ही है। वैसे ही उत्तर दिशा मे मैं सोम देवता वाला हूँ। वह सोमलता दीक्षा मे प्रतिष्ठित है क्योकि दीक्षित यजमान ही सोमलता को खरीदता है।

ग्रौर ऐसे सोम से यजन कर यजमान सोमसम्बन्धिनी उत्तरदिशा को प्राप्त होता है । दीक्षा सत्य मे प्रतिष्ठित है क्योंकि दीक्षित पुरुष से सत्य बोलने के लिये कहते हैं। ग्रत: सत्य का कार्य दीक्षा नष्ट न हो जाय, इस भय से दीक्षित पुरुष सदा सत्य ही बोलता है । वह सत्य हृदय मे प्रतिष्ठित है क्योंकि हृदय से ही सत्य को जानता है । याज्ञवल्क्य के उक्त सभी उत्तर को सुनकर शाकल्य ने स्वीकार किया कि हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है । इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा कि ध्रुवादिशा मे मैं ग्रग्नि देवता वाला हूँ । मेरु के चारो ग्रोर रहने वालों की दृष्टि मे ऊर्ध्व दिशा का कभी भी व्यभिचार नही होता। इसीलिए यह ऊर्ध्वा कही गई है। ऊर्ध्व दिशा मे प्रकाश की बहुलता है ग्रौर प्रकाश ही ग्रग्नि है । वह ग्रग्नि वाक् मे प्रतिष्ठित है ग्रौर वाक् हृदय मे प्रतिष्ठित है। ऐसा कहते समय समस्त दिशाग्रो में फैले हुए हृदय के द्वारा याज्ञवल्क्य सम्पूर्ण दिशाग्रो को ग्रात्मभाव से प्राप्त था। नाम, रूप ग्रौर कर्म के स्वरूपभूत उस याज्ञवल्क्य की देवता ग्रौर प्रतिष्ठा के सहित सभी दिशाएं ग्रात्मभूत थी। इनमे रूप पूर्व दिशा के सहित याज्ञवल्क्य का हृदय स्वरूप हो गया था। एव केवल कम, पुत्रोत्पादन रूपकर्म ग्रौरज्ञानसहित कर्म ग्रपने फल तथा ग्रधिष्ठातृ देवो के सहित दक्षिण, पश्चिम ग्रौर उत्तर दिशाग्रो के साथ उस याज्ञवल्क्य का हृदय ही हो गये थे। इसी प्रकार ध्रुवा के सहित सम्पूर्ण नाम भी वाक् द्वारा उसके हृदय को प्राप्त हो चुके थे। उक्त रीति से सब नाम, रूप ग्रौर हृदय ही तो हैं। ऐसे सर्वात्मक हृदय के विषय मे (हृदय किसमे प्रतिष्ठित है, ऐसा शाकल्य के पूछने पर) याज्ञवल्क्य ने शाकल्य को प्रेतनाम से सम्बोधित कर कहा कि इस शरीर से हृदयरूप ग्रात्मा ग्रन्यत्र हो जाय, तो इस शरीर को या तो कुत्ते खा जाएं या पक्षी चोच मार-मार कर नोच डालें । ग्रतः मुझ शरीर मे हृदय प्रतिष्ठित है ग्रौर शरीर नाम, रूप तथा कर्ममय होने के कारण हृदय मे प्रतिष्ठित है। इस प्रकार कार्य ग्रौर कारणरूप हृदय (ग्रात्मा) एव देह परस्पर एक दूसरे मे प्रतिष्ठित है । ये दोनो देह ग्रौर ग्रात्मा प्राणवृत्ति मे प्रतिष्ठित हैं। प्राणवृत्ति ग्रपान मे प्रतिष्ठित है, ग्रन्यथा ग्रपानवृत्ति द्वारा रोके बिना यह प्राण बाहर निकल जाता। वैसे ही मध्यवर्ती व्यानवृत्ति द्वारा रोके बिना यह ग्रपानवृत्ति नीचे की ग्रोर चली जाती ग्रौर प्राणवृत्ति ऊपर की ग्रोर ही चली जाती। ग्रतः ग्रपानवृत्ति व्यान मे प्रतिष्ठित है। व्यान उदान मे प्रतिष्ठित है। यदि पूर्वोक्त तीनो वृत्तियाँ कीलस्थानीय उदानवृत्ति में बंधी नही होती तो ये सभी ग्रोर चली जाती । समान में केवल उदान नही, ग्रपितु सभी प्राणादि प्रतिष्ठित हैं, उक्त प्रसङ्ग से यही दिखलाया है कि शरीर हृदय ग्रौर वायु ये परस्पर प्रतिष्ठित हैं । तथा विज्ञानमय के लिए प्रयुक्त होकर सघातरूप से नियमपूर्वक प्रवृत्त होते हैं । ग्रब इसके ग्रागे यह बतलाना है कि यह सब जिसके द्वारा नियत है ग्रौर जिसमें ग्राकाशादि सम्पूर्ण जगत् ग्रोत-प्रोत एव प्रतिष्ठित है; उसी निरुपाधिक साक्षादपरोक्ष ब्रह्म का निर्देश ग्रग्रिम प्रसङ्ग से करना है । मधुकाण्ड मे "नेति नेति" वाक्य से जिसका निर्देश किया गया है, वही यह ग्रात्मा सम्पूर्ण कार्य धर्म से ग्रतीत होने के कारण ग्रगृह्य है। ग्रत गृहीत नही होता। एव मूर्त्त ग्रौर सघात से भिन्न होने के कारण ग्रशीर्य है। ग्रत नष्ट नही होता। ग्रमूर्त्त होने से ग्रसङ्ग है। इसलिए कही भी ससक्त नही होता ग्रौर न व्यथित एव हिंसित ही होता है । शीघ्रता मे श्रुति ने क्रम को छोड़कर ग्रौपनिषद पुरुष का स्वरूपत. निर्देश किया। ग्रब पुनः ग्राख्यायिका का ही ग्रनुसरण करती है—पृथिव्यादि ग्राठ ग्रायतन, ग्रग्न्यादि ग्राठ ग्रालोक, शारीरादि ग्राठ पुरुष ग्रौर ग्रमृतादि ग्राठ देव बतलाये गये हैं। जो उन पुरुषो को निश्चयपूर्वक जानकर पुन. प्राची ग्रादि दिग् द्वारा उन्हें ग्रपने हृदयरूप ग्रात्मा मे उपसहार कर ग्रौपाधिक धर्मों का ग्रतिक्रमण किये हुए है ; उसी ग्रौपनिषद पुरुष को तुम विद्याभिमानी से मैं पूछता हूँ। यदि तुम उसकी विस्पष्ट व्याख्या नहीं करोगे. तो तुम्हारा शिर गिर जायगा, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा ।

किन्तु शाकल्य उसे जानता नही था, अत उसका शिर गिर गया। लुटेरों ने उसकी हड्डियो को कुछ और ही समझकर उसके शिष्यों के पास से छीन लिया। ब्रह्मज्ञानी के अनादर से ऐसा दुष्परिणाम होता है। इस प्रकार यह आख्यान आचारप्रदर्शन और विद्यास्तुति के लिये है। पहले निषधमुख से ब्रह्म का निर्देश किया था; अब पुन विधिमुख से ब्रह्मनिर्देश के लिये आख्यान का अनुसरण करती हुई श्रुति कहती है। अब्रह्मज्ञ ब्राह्मणो को जीतकर गोधनग्रहण को उचित मानते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा—हे पूज्य ब्राह्मणो ! आपमे जिसकी इच्छा हो, वह मुझसे पूछे या सभी मुझ से पूछें, अथवा आपमे से जो चाहे, उससे मैं पूछता हूँ, या सभी से मैं पूछता हूँ। इस प्रकार कहने पर भी प्रत्युत्तर देने का साहस उन ब्राह्मणों मे नही हुआ। तब वृक्ष के दृष्टान्त से जगत् कारण के विषय मे याज्ञवल्क्य ने पूछा, किन्तु जगत् के मूल का ज्ञान उन ब्राह्मणो को नही था। अत ब्राह्मण हार गए और ब्रह्मिष्ठ होने से याज्ञवल्क्य गायो को ले गए। इस प्रकार आख्यान समाप्त हो गया।

याज्ञवल्क्य ने जिस जगत् के कारण के विषय मे पूछा था, उसे श्रुति स्वय ही कहती है—वह विज्ञानस्वरूप है, वही आनन्द है। वह जगत्कारण विषय विज्ञान के समान दु ख से अनुविद्ध नहीं है किन्तु विज्ञान और आनन्द इन दोनो विशेषणो से युक्त ब्रह्म क्या है। वह धन का दाता और यजमान के कर्मफलदाता होने से परम गति है। इतना ही नही, प्रत्युत ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मवेत्ता का भी परायण है।

पूर्व ब्राह्मणोक्त निषेध और विधिवाक्य द्वारा निर्दिष्ट विज्ञान आनन्दरूप ब्रह्म का ही याज्ञवल्क्यकाण्ड द्वितीयाध्याय प्रथम याज्ञवल्क्य ब्राह्मण मे वागादि देवता के द्वारा बोध कराया गया है। इस प्रथम याज्ञवल्क्य ब्राह्मण मे राजा जनक और याज्ञवल्क्य का सवाद है। जनक ने विभिन्न आचार्यों से वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और हृदय को ही ब्रह्मरूप से सुन रखा था। जिन्हें राजा जनक से सुनकर याज्ञवल्क्य ने प्रत्येक के आयतन (गोलक) और प्रतिष्ठा (आश्रय) को पूछा। किन्तु उन आचार्यों से उक्त विषय मे जनक ने कुछ सुना नही था। अत. वे बतला न सके। तब याज्ञवल्क्य ने उन सभी के आयतन और प्रतिष्ठा को बतलाकर भिन्न-भिन्न प्रकार से उनकी उपासना का विधान बतलाया। उनमे प्रत्येक उपासना का फल बतलाते समय यही कहा कि इनके उपासकों को उपास्यदेव कभी नही त्यागता है। उस उपासक का अनुसरण सभी प्राणी करते हैं और वह उपासक देव होकर देवों को प्राप्त करता है। जनक ने प्रत्येक उपासना के फल सुन उसी को परम पुरुषार्थ मानकर याज्ञवल्क्य को एक-एक हजार गौ भेंट करना चाहा, किन्तु याज्ञवल्क्य ने उसे यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि मेरे पिता का यह सिद्धान्त रहा है कि शिष्य को कृतार्थ किये विना उसका धन नही लेना। अत अपने पिता के सिद्धान्त के विरुद्ध मैं इस दक्षिणा को स्वीकार नही कर सकता।

इस घटना से राजा जनक मे दानीपने, विद्वान्पने और बहुश्रुत होने का अहङ्कार चूर-चूर हो गया। वे राजसिंहासन से उठ याज्ञवल्क्य के समीप जाकर नमस्कार करते हुए उपदेश के लिये प्रार्थना करते हैं। तब याज्ञवल्क्य ने ज्ञानित्वादि का अभिमान त्याग कर शिष्यभाव से शरणापन्न राजा जनक को विद्या का अधिकारी समझकर उन्हें विराट् का उपदेश किया और फिर उस सर्वात्मा का

प्रत्यगात्मा में उपसंहार करके परब्रह्म का भी उपदेश किया। जिससे जनक ने अपने में कृतकृत्यता का अनुभव करते हुए अपना सम्पूर्ण राज्य-वैभवादि गुरुदेव के चरणों में समर्पण कर दिया। इस प्रकार द्वितीय कूर्च ब्राह्मण के साथ ही यह प्रकरण समाप्त हो जाता है।

मुनिकाण्ड के द्वितीयाध्याय तृतीय ज्योतिर्नामा ब्राह्मण में आत्मा के स्वयंज्योतिष्ट्व होने का प्रतिपादन किया गया है। इस बार जनक के पास जाते समय याज्ञवल्क्य ने सोचा था कि मैं कुछ भी नही बोलूंगा। किन्तु बात विपरीत हो गयी क्योकि अग्निहोत्रसंवाद प्रसङ्ग में किसी समय प्रसन्न हो ऋषि ने राजा को स्वेच्छापूर्वक प्रश्न करने के लिए वरदान दे रखा था। अतः प्रश्न करने के सामान्य नियम का पालन न कर जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि यह पुरुष किस ज्योति वाला है। याज्ञवल्क्य ने क्रमशः आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि, वाक् और अन्त में आत्मज्योति से बैठना, अन्यत्र जाना, सब काम करना एवं नियत स्थान पर लौट आने की बात कही। वह आत्मा प्राणों में बुद्धिवृत्तियों के भीतर विज्ञानमय है। वह जाग्रत् मे बुद्धि के साथ तादात्म्य हुआ सब काम करता है और स्वप्न में देहरूप मृत्यु के रूपों को पार कर जाता है। वह आत्मस्वरूप के अज्ञान से जनन-मरणादि देहधर्म को अपने मे मानता है। यह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में क्रमशः और क्रम के बिना भी जाता आता रहता है। स्वप्न में रथादि के न रहने पर भी जाग्रत् की वासना से स्वयंप्रकाश आत्मा सब कुछ बना लेता है। यह स्वप्न द्वारा देह को निश्चेष्ट करके भी स्वयं सोता नही है और देह को जीवित पहिचान के लिए प्राण को छोड जाता है; अन्यथा निद्राकाल में कहीं मृत्यु का भ्रम न हो जाये। आश्चर्य यह है कि स्वप्न मे आत्मा के विलास को सभी देखते हैं; पर आत्मा को नही देखते। आत्मा की असङ्गता बेहद है। यह एक अवस्था की वस्तु को दूसरी अवस्था मे नहीं ले जाता, किन्तु अकेला ही चला जाता है। अतः जाग्रदादि सभी अवस्थाओ से इसकी असङ्गता सिद्ध होती है। यह जाग्रत् और स्वप्न में श्रान्त हुआ बाज पक्षी के समान ही अपने विश्रामस्थान सुषुप्ति में चला जाता है। सम्पूर्ण द्वैत के विस्मरणपूर्वक स्वरूप की स्मृति बनी रहे तो इसी को जीवनमुक्ति कहते है। सोया हुआ पुरुष जाग्रत् और स्वप्न के दृश्य पदार्थ के सङ्ग और उससे होने वाले शोक को पार कर जाता है। वह नित्य, विज्ञानघन आत्मा सुषुप्ति मे किसी वस्तु को नही देखता। इससे उसके दर्शनादि शक्ति के नाश की आशङ्का नही करनी चाहिये क्योकि वह शक्ति उसकी नित्य है। जाग्रत् स्वप्न मे अविद्या की विक्षेप-शक्ति से द्वैत के खड़े हो जाने पर दूसरे को दूसरा देखता सुनता है इत्यादि। जैसे जल विशुद्ध और एक है, वैसे ही सुषुप्ति मे अद्वैत आत्मा द्रष्टा एक है। सुषुप्ति और समाधि मे द्वैत का विस्मरण समान है। दोनो मे भेद इतना ही है कि समाधि मे स्वरूप का बोध बना रहता है और निद्रा मे यह बोध नही रहता है। यही पुरुष की परम गति, परम सम्पत्ति, परम लोक और परम आनन्द है। इसी आनन्द की कला को लेकर तीनो लोक जीवित हैं। मनुष्य के सर्वाधिक आनन्द से लेकर ब्रह्मलोक-पर्यन्त विषयसंसर्गजन्य जितना भी आनन्द है; इन सभी से अधिक आनन्द निष्पाप, कामनाशून्य, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, विद्वान् को प्राप्त होता रहता है। आत्मानन्द की अभिव्यक्ति जितनी विषय से होती है, उससे कई गुण अधिक आत्मानन्दाभिव्यक्ति निष्कामता तथा स्वरूपनिष्ठा से होती है। यह बात यहां पर तथा तैत्तिरीयोपनिषद् मे भी बतलायी गयी है। इन सभी बातों को सुनकर राजा जनक ने कहा कि इसके बदले श्रीमान् को मैं एक सहस्र गायें देता हूँ। अतः इसके आगे भी आप बन्धन से मुक्त करने के लिये उपदेश करें। इस बात को सुनकर महर्षि भयभीत हो गये। भयभीत होने के दो कारण हो सकते है। एक यह कि हमारे सम्पूर्ण उपदेश को केवल एक हजार गोदक्षिणा से राजा माप

रहा है । दूसरा यह कि कामप्रश्न के बहाने मेरा सारा विज्ञान ले लेना चाहता है। हम मोक्ष उपयोगी सभी उपदेश कर चुके हैं । अब कुछ शेष रहा नही । यदि कुछ आगे हम कहेंगे, तो सम्भवत. उसे भी यह बुद्धिमान् राजा इसी मापदण्ड से मापेगा, जो उचित नहीं । फिर कामप्रश्नरूप वरदान दे देने के कारण मैं तो बंधा हुआ हूँ । नि सन्देह आत्मा का प्रवक्ता और श्रोता दोनो ही आश्चर्य हैं । इस आत्मविद्या को किसी भी मायिक पदार्थ से मापा नही जा सकता । इसके आगे मरणासन्न की दशा, ऊर्ध्वश्वास का कारण, देहान्तर में जाने का प्रकार एव प्राणो का देहान्तर मे जाने की विधि का निपुणतम निरूपण किया गया है ।

मुनिकाण्ड द्वितीयाध्याय के चतुर्थ शारीर ब्राह्मण मे महर्षि याज्ञवल्क्य ने सम्पूर्ण उपदेशो का सार सग्रह करके बतलाया है । मरणासन्न दशा में यह जीव सभी इन्द्रियो के तेज को लेकर हृदयदेश मे अभिव्यक्त विज्ञानवाला होता है । हृदय के अग्रभाग के प्रद्योतनपूर्वक भावी देह ग्रहण के लिए चक्षुरादि द्वार से निकल जाता है । उस जीव के साथ ज्ञान, कर्म और पूर्वानुभवजन्य सस्कार जाते हैं । जैसे तृणजलोका आगे के पैरो से दूसरे तृण का आश्रय लेने पर ही पहले वाले तृण को छोडता है, वैसे ही यह जीवात्मा वर्तमान शरीर को अचेतन बना दूसरे शरीर का आश्रय लेकर ही पूर्व देह को छोडता है । यह विज्ञानमय आत्मा सकल्पानुसार शरीर का निर्माण कर लेता है और सकल्प पूर्व के कर्म एव वासना के अनुरूप होता है । पुन सकल्पानुसार कर्म कर तदनुरूप फल को प्राप्त करता है । यह तो कामनामय अज्ञानी जीव की गति बतलायी । इससे भिन्न आप्तकाम ज्ञानी पुरुष के प्राण देहान्तर ग्रहण के लिये शरीर से निकलते ही नहीं हैं । प्रत्युत ब्रह्मज्ञानी जीवितावस्था मे ही ब्रह्मस्वरूप हो हो जाता है । प्रारब्धक्षीण होते ही निर्विशेष ब्रह्मभाव को प्राप्त कर जाता है । जीवन्मुक्त पुरुष सर्प की केंचुली की भाँति देह को छोड कर सुखपूर्वक स्वरूप मे स्थित रहता है । इस उपदेश के बदले एक सहस्र गौ भेंट करने की प्रतिज्ञा पुनः जनक ने की । औपनिषद पुरुष की उपेक्षा कर केवल कर्म मे या कर्मबोधक वेदादि शास्त्रो के अभ्यास मे लगे रहने वाले व्यक्ति अन्धकूप मे गिरते हैं । ऐसे अज्ञानी पुरुष घोर अज्ञानान्धकार से आच्छादित उन लोको को प्राप्त करते हैं, जहाँ पर सुख नाममात्र भी नही है । इसके विपरीत आत्मा को अपरोक्ष अनुभव करने वाला आप्तकाम एव कृतकृत्य पुरुष शरीर के ताप से भी सन्तप्त नही होता । वह तो जीवित दशा मे ही मुक्त हो जाता है । इस प्रकार आत्मा को जानकर जीवन्मुक्ति का लाभ इस मनुष्य देह मे ही प्राप्त करना चाहिये । अन्यथा इस क्षति की पूर्ति कही भी सम्भव नहीं है । भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनो काल के प्रशासक, प्रकाशमय आत्मतत्त्व को शास्त्र एव आचार्य की कृपा से जानने वाला ब्रह्मवेत्ता भय के कारण द्वैत के मिट जाने से शरीर सुरक्षा की भी चिन्ता नहीं करता । सर्वाधार, अद्वय ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान से अमरत्व मिलता है और भेददर्शी बार-बार जन्मता-मरता रहता है । आत्मबोधक वेदान्त शास्त्र का ही अनुशीलन करें, अनात्मबोधक शास्त्र का अभ्यास केवल वाणी का व्यायाममात्र भूसे कूटने के समान व्यर्थ प्रयास है । ऐसे आत्मज्ञान तथा आत्मनिष्ठा प्राप्त करने के लिये एषणात्रय का सन्यास करना भी आवश्यक है । उस आत्मजिज्ञासु की दृढ धारणा होती है कि जब हमे आत्मलोक का ही सम्पादन करना है, तो फिर हम प्रजा से क्या करेंगे । "नेति नेति" निषेधमुख से वेदान्त वाक्य द्वारा आत्मा को जानकर ज्ञानी पुरुष धर्माधर्म को भी दग्ध कर डालता है, जो अज्ञानदशा में सबको सन्तप्त करते रहते हैं । इस प्रकार ओजस्वी भाषा द्वारा याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को उपदेश किया । उन्होने इस उपदेश से कृतकृत्य हो ऋषि के चरणो मे आत्मसमर्पण कर डाला । आत्मा महान्, अजन्मा, अजर, अमर, अभय, ब्रह्मस्वरूप है । ऐसे आत्मा को

जानने वाला पुरुष अभय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इस प्रकार शारीर ब्राह्मण का सार बतलाया गया।

इसके आगे मुनिकाण्ड की रीति से मैत्रेयी ब्राह्मण मे आत्मतत्त्व का उपदेश मैत्रेयी को महर्षि याज्ञवल्क्य ने किया और जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्दानुभव करने के लिये सन्यास ग्रहण कर लिया। इस अध्याय के षष्ठ ब्राह्मण मे मुनिकाण्ड के आचार्य वश का वर्णन है इस प्रकार याज्ञवल्क्यकाण्ड के दोनो अध्यायो का सक्षिप्त वर्णन हो जाता है।

बृहदारण्यक के अन्तिम सप्तम एव अष्टम दो अध्याय खिलकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसमे अनेक प्रकार की उपासनाएँ बतलायी गयी है। खिलकाण्ड के प्रथमाध्याय मे १५ ब्राह्मण हैं। बृहदारण्यक के इससे भिन्न किसी अध्याय मे इतने ब्राह्मण नही है। प्रथम ब्राह्मण मे वायु के समान ही असङ्ग और व्यापक चिदाकाश की उपसना ओङ्काररूप से करनी चाहिये। ऐसा बतलाया गया है।

प्राजापत्यनामक द्वितीय ब्राह्मण मे एक रोचक आख्यान है। प्रजापति के पुत्र देव, मानव और दानव एक बार दीर्घकाल तक उनके पास ब्रह्मचर्यपूर्वक वास किये। तप से शुद्धात.करण उन तीनो को क्रमश एक ही "द" अक्षर का उपदेश प्रजापति ने किया। अपने अधिकार और योग्यता के अनुरूप देवो ने इन्द्रियदमन, मनुष्यो ने दान और दानवो ने दया अर्थ उस दकार का समझा। जिसे ब्रह्मा ने यथार्थ बतलाया। तत्पश्चात् क्रमश हृदयब्रह्म, सत्यब्रह्म, सत्यब्रह्मसस्थानरूप आदित्यमण्डलस्थ और दक्षिणनेत्रस्थपुरुष, मनोमय पुरुष, विद्युद्ब्रह्म, वाग्धेनु की उपासना, वैश्वनराग्निघोष, उपासनागति, रोगादिजन्यताप मे तपदृष्टि, अन्न और प्राण के अन्योऽन्याश्रयत्व, उक्थदृष्टि से प्राणोपासना, गायत्री के प्रत्येक पाद की उपासना और फल का वर्णन, अन्त मे कर्म और उपासना के समुच्चय अनुष्ठान वालो के लिये मार्गयाचना बतलाकर प्रथमाध्याय समाप्त हो जाता है।

खिलकाण्ड के अन्तिम अध्याय मे प्राणसवाद से मुख्यप्राण की श्रेष्ठता बतलायी गयी है। प्राणोपासक के लिये भोजन से पूर्व और पश्चात् स्मृतिविहित आचमन मे अनग्नता चिन्तन करने को बतलाया। जिसका विस्मृत विचार ब्रह्मसूत्र मे किया गया है।

इससे पूर्व ज्ञानकर्मसमुच्चय अनुष्ठान करने वाले साधक शोभनमार्ग से ले जाने के परमेश्वर से प्रार्थना कर रहे थे। उससे पूर्व केवलकर्म से पितृलोक और उपासना एव उपासनासहित कर्म से देवलोक की प्राप्ति बतलायी गयी है। पर उपर्युक्त दोनो स्थानो मे मार्गविशेष का निर्धारण नही किया गया था। इसी बात को स्पष्ट बतलाने के लिये कर्मविभागनामक द्वितीय ब्राह्मण कहा गया है। विद्याभिमानी श्वेतकेतु पाञ्चालो की सभा मे आया। वहां पर प्रवाहण जवलि ने श्वेतकेतु से पाँच प्रश्न पूछे— उनमें से एक का उत्तर वह दे सका। इससे खिन्न मन हो श्वेतकेतु अपने पिता के पास आकर उलाहना देने लगा। श्वेतकेतु के पिता गोतम ने भी इस विषय में अपनी अनभिज्ञता व्यक्त की। गोतम उक्त प्रश्नो के उत्तर जानने के लिये प्रवाहण के पास आया। ब्राह्मण होने के कारण गोतम वाणीमात्र से क्षत्रिय प्रवाहण के प्रति शिष्यभाव से उपसन्न हुआ। क्योकि आपत्तिकाल मे ब्राह्मण को क्षत्रिय के शिष्यत्व करने के लिये शास्त्र ने आज्ञा दे रखी है। उसके बाद राजा ने द्युलोक, पर्जन्य, भूलोक, पुरुष एव स्त्रीरूप आध्यात्मिक पाँच अग्नियो का उपदेश कर प्रसिद्ध पञ्चाग्नि का भी उपदेश किया। जो अनुवादमात्र

है, उपास्य नही है। अतएव छान्दोग्य की पञ्चाग्निविद्या और बृहदारण्यक विद्या को समान मानकर परस्पर गुणोपसहार का आदेश ब्रह्मसूत्र मे सूत्रकार एव भाष्यकार ने दिया है। प्रतीकोपासकों मे से केवल पञ्चाग्निविद्या के उपासक ही अर्चिरादि देवयान से ब्रह्मलोक जाता है, दूसरे प्रतीकोपासक नही जाते इससे विपरीत केवल कर्मी मरने पर धूमादि पितृयान से चन्द्रलोक जाते हैं। जहाँ से कर्म-फल भोगने के बाद पुनरावृत्ति होती है। इन दोनों से भिन्न प्राणी के लिए कीट, पतगादि योनियो मे बार-बार जन्म मरण ही गति है।

इस अध्याय के तृतीय श्रीमन्थ ब्राह्मण में कर्म के साधन मानुषवित्त धनोपार्जन का वह उपाय बतलाया है, जिससे प्रत्यवाय न लगे क्योंकि उपासना स्वतन्त्र है; किन्तु कर्म दैव तथा मानुषवित्त के के अधीन है। महत्त्वप्राप्ति के लिये श्रीमन्थ कर्मानुष्ठान की आवश्यकता है क्योंकि महत्त्व प्राप्त होने पर धन स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसीलिये श्रीमन्थ ब्राह्मण कहा गया है।

जिस प्राणोपासक धनार्थी पुरुष ने श्रीमन्थ ब्राह्मण मे विहित कर्म का अनुष्ठान कर लिया है; श्रीमन्थ कर्मानुष्ठान कर पुत्रमन्थ कर्मानुष्ठान के लिये उसे पत्नी के ऋतुकाल की प्रतीक्षा करनी पडती है क्योकि सत्सन्तान ही अपने और पिता के लोकप्राप्ति का साधन हो सकती है। अत सत्सन्तान प्राप्ति के लिये यह श्रीमन्थ ब्राह्मण कहा गया है। शास्त्रविधि से उत्पन्न किया हुआ पुत्र अपने पिता-पितामहादि से भी आगे बढ जाता है। तथा ", तू लक्ष्मी, कीर्ति और ब्रह्मचर्य द्वारा उन्नति की परा-काष्ठा पर पहुंच गया " ऐसी स्तुति उसकी लोग करते हैं। विशिष्ट पुत्र से पिता भी स्तुति का पात्र बन जाता है।

पचम ब्राह्मण मे खिलकाण्ड की आचार्यपरम्परा का वर्णन है। यहाँ पर स्त्री विशेषण से पुत्र का विशेषण देकर आचार्यवश का वर्णन इसलिये किया गया है क्योकि स्त्री प्रधानता से ही गुणवान् पुत्र की उत्पत्ति पुत्रमन्थ प्रसग मे बतलायी गयी है। ये यजु श्रुतियाँ आचार्यवश बतलाने वाली ब्राह्मण स मिली नही है। जिसमे इनमे कोई पौरुषेयत्व की आशङ्का कर सके। ये तो सर्वथा शुद्ध हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण बृहदारण्यकोपनिषद् का सार सग्रह किया गया।

अनादि अपौरुषेय वेद के शिरोभाग होने से उपनिषद् भी अनादि और अपौरुषेय है। इनकी परम्परा भी ऐसी ही है। पर वेदान्त का जैसा केवलाद्वैत सिद्धान्त भगवत्पाद आद्य शङ्कराचार्य जी की वाणी मे निखर कर आया, ऐसा इनसे पूर्व देखने मे नही आता। इसीलिये पीछे मे केवलाद्वैत सिद्धान्त को शाङ्कर सिद्धान्त की सज्ञा दी गयी है। इनसे पूर्व या तो केवल कर्मकाण्ड मे मानव समाज निरत थे या उसमे ऊबकर अवैदिक सिद्धान्त और तन्त्र साधनो मे निरत होते जा रहे थे। उस समय साक्षात् भगवान् शङ्कर ने शङ्कराचार्य रूप से इस धरा पर अवतरित हो सनातन वैदिक सिद्धान्त को प्रशस्त किया। उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और गीता को प्रस्थानत्रयी कहते हैं। इन तीनो से समर्थित सिद्धान्त ही विद्वत्समाज मे मान्य होता है। अत आद्य शङ्कराचार्य जी ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा साथ ही अनेक प्रकरण-ग्रन्थो का निर्माण कर अद्वैत ज्ञान को सुलभ कर दिया। ईशादि जिन दशोपनिषद् पर भगवान् आद्य शङ्कराचार्य जी का भाष्य है, उनमे बृहदारण्यकोपनिषद् का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। इसमे भाष्यकार ने अपना हृदय खोलकर रख दिया है। केवल कर्म या ज्ञानकर्मसमुच्चय के अनुष्ठान से शाश्वत शान्ति

रूप मोक्ष नही मिलता। अपितु मोक्ष का ऐकान्तिक साधन ब्रह्मात्मैक्यबोध है। यह बोध अमति प्रतिबन्ध के साधनचतुष्टयसम्पन्न मुमुक्षु को अद्वैत ब्रह्मविद्या के आचार्य के मुख से महावाक्य सुनते ही हो जाता है। इसीलिये इस आत्मा को औपनिषद पुरुष कहा गया है। जिसका साक्षात्कार केवल उपनिषद् महावाक्य से होता हो, उसे औपनिषद पुरुष कहते हैं। असम्भावना विपरीतभावना प्रतिबन्धक के रहने पर श्रोत्र के साथ महावाक्य का सम्बन्ध होने पर भी अद्वैतज्ञान नही होता। अत उक्त प्रतिबन्धक की निवृत्ति के लिए अद्वैत ब्रह्मविद्या के श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य मुख से गुरु उपसत्तिपूर्वक वेदान्त का श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप विचार करना चाहिये, ऐसा श्रुति का आदेश है। उपनिषद् के मौलिक सिद्धान्त को अवगत करने के लिए मूलमन्त्र, शाङ्करभाष्य और उसकी आनन्दगिरि टीका को आचार्यपरम्परा से पढना आवश्यक है। वह परम्परा आज भी कैलासाश्रम मे दृष्टिगोचर होती है।

❀ प्रस्तुत संस्करण की विशेषता ❀

आनन्दगिरि टीकासहित उपनिषद शाङ्करभाष्य के सभी संस्करणो मे से आनन्द आश्रम से प्रकाशित संस्करण अच्छा माना जाता है। जिसमे अत्यन्त परिश्रमपूर्वक पाठ संशोधन के साथ पाठभेद भी दिया गया है। पर वह केवल संस्कृतज्ञो के लिये ही उपादेय रहा। हिन्दी अनुवाद न होने के कारण स्वल्प संस्कृत जानने वालो या संस्कृत न जानने वालो के लिये उपयोगी नही था। इस समय वह संस्करण भी दुर्लभ हो गया है। इसके अतिरिक्त हिन्दीभाषान्तर के सहित उपनिषद शाङ्करभाष्य गीताप्रेस आदि कई स्थानो से प्रकाशित हुए। जो शाङ्करभाष्य के तात्पर्यज्ञान के उपयोगी सिद्ध न हो सके कटु सत्य यह है कि आनन्दगिरिटीका के बिना शाङ्करभाष्य का तात्पर्यावगाहन असम्भव ही है। विशेषत बृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्करभाष्य समझने के लिये आनन्दगिरिटीका भी पर्याप्त नही है। इसे समझने के लिये बृहदारण्यक वार्तिक की परमावश्यकता है। जो वर्तमान समय मे दुष्कर ही है। कैलासाश्रम की वेदान्त अध्ययन परम्परा मे टिप्पणी का आविष्कार महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी महाराज ने किया। तबसे टिप्पणसहित उपनिषद शाङ्करभाष्य अध्ययन-अध्यापन का क्रम कैलासाश्रम की अध्ययनपरम्परा मे चलता रहा। टिप्पणी के आविष्कर्ता से साक्षात् अध्ययन करने वाले उनके प्रिय शिष्य महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज हुए। जिन्होने १३ वर्षो मे केवल बृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्करभाष्य आनन्दगिरिटीका एव अभिनव टिप्पणी का विधिवत् अध्ययन किया। स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज से अनेकानेक महापुरुषो ने उक्त रीति से उपनिषद् का अध्ययन किया। इस प्रकार वेदान्त अध्ययन की संशोधित एवं परिष्कृत परम्परा का प्रादुर्भाव कैलासाश्रम से हुआ, जिसे सभी सहृदय विद्वान् स्वीकार करते हैं। अपने सद्गुरुदेव से प्राप्त टिप्पणी का अध्ययन और अध्यापन काल मे स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज ने पुन परिष्कार किया। अनुक्त द्विरुक्त भाग को परिष्कृत कर नया रूप दिया। बृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्करभाष्य आनन्दगिरिटीका पर टिप्पण लिखते समय टिप्पणकार ग्रन्थ के तात्पर्य को समझाने के लिये जहां अपनी ओर से टिप्पणी की कल्पना की है, वहां वार्तिक का उदाहरण भी दिया है, जिससे टिप्पण का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया है। सामान्य टिप्पणी के अतिरिक्त विस्तृत टिप्पणी पृथक् से टिप्पणकार ने लिखी है। जिसे इस प्रकाशन मे "कैलास विद्याप्रकाशक क्रोडपत्र" की संज्ञा दी गयी है एव सामान्यटिप्पणी का "गोविन्दप्रसादिनी" नाम रखा गया है। इन दोनों टिप्पणियो के सहित

बृहदारण्यकोपनिषद शाङ्करभाष्य के अध्ययन करने से जहाँ एक ओर इसके तात्पर्य अवगाहन में अपूर्व लाभ मिलता है, वहाँ पर अध्येता के मन मे वार्तिक के अध्ययन के लिये अभिनव रुचि जाग उठती है। इस प्रकार वार्तिक अध्ययन की आकांक्षापूर्ति के लिए पाठक वार्तिक ग्रन्थ का भी अध्ययन अवश्य करेंगे। यो तो बृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्करभाष्य से सम्बन्धित आवश्यक अश को टिप्पणीकार ने सगृहीत कर रखा है। साथ ही उसकी व्याख्या भी कर दी है, जिससे पाठको को अध्ययन मे पर्याप्त सहयोग मिलेगा एव अन्यथा कल्पना का अवसर नही मिल सकेगा।

प्रस्तुत प्रकाशन का संकल्प ॐ

कैलासाश्रम मे आने से पूर्व काशी तथा दिल्ली मे रहते समय ही हमने कैलासाश्रम की अध्ययन-परम्परा एव टिप्पणी की प्रशसा सुन रखी थी। फलत कैलासाश्रम मे आने पर सर्वप्रथम हमारे मन मे यही सकल्प उत्पन्न हुआ कि परस्पर से चिरसयोजित इस टिप्पणी की सुरक्षा के लिये समुचित प्रयत्न करना चाहिये। इससे पूर्व महात्माओ ने अपने समझने के लिये आवश्यक उपयोगी भाग को अध्ययन करते समय अपना पुस्तक मे लिख लिया, बस इतना ही करते थे। आखिर कागज की एक निश्चित आयु होती है। काल पाकर कागज के सड जाने एव जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर इन मनीषियो का सस्मरण कौन करेगा ? इन बातो पर बार-बार विचार कर इसे प्रकाश में लाने का सकल्प मन मे जाग उठा। तदनुसार धर्मप्रचार करते समय प्रवास मे ही हमने माण्डूक्यकारिका शाङ्करभाष्य की टिप्पणियो को प्रेस के उपयोगी बनाकर कुछ वर्ष पूर्व ही प्रकाशित करा दिया था। तब से ऐसे ही सटिप्पण-शाङ्करभाष्य सहित शेष उपनिषदो के प्रकाशन की माँग बढ़ती गयी। पर निरन्तर भ्रमण में रहने के कारण शेष उपनिषदो की टिप्पणियो को हम स्वय प्रेस के उपयोगी न बना सके। इस काम के लिये सुयोग्य परिश्रमी विद्वान् की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। जिसकी पूर्ति हमारे प्रिय डॉ उमेशानन्द जी शास्त्री ने की। डॉ० उमेशानन्द जी शास्त्री के सहयोग के बिना सटिप्पण शाङ्करभाष्य के सहित बृहदारण्यकोपनिषद् का प्रकाशन दुष्कर ही था। आपने बृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्करभाष्य आनन्दगिरि टीका की परमपूज्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्री स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज वाली पुस्तक के आधार पर सामान्य टिप्पण तथा क्रोडपत्र की शुद्ध प्रेसकापी करने मे अथक परिश्रम किया है, जो श्लाघनीय है। एतदर्थ ये अनेक साधुवाद के पात्र हैं। क्योकि टिप्पणकार ने अपने समझने या विद्यार्थियो को समझाने के लिए आनन्दाश्रम वाले सस्करण मे जहाँ भी स्थान मिला, टिप्पणी लिखते गये; उन टिप्पणियो को प्रेस उपयोगी बनाने के लिए अत्यधिक परिश्रम की आवश्यकता थी, जिसे आपने किया। इसके अतिरिक्त शाङ्करभाष्य की हिन्दी व्याख्या लिखकर डा उमेशानन्द जी शास्त्री ने इसे सब सामान्य उपयोगी बना दिया, जो स्वर्ण मे सुगन्ध के समान हो गयी।

ॐ श्री कैलास आश्रम शताब्दी ॐ

बहुत बार ऐसा देखा गया है कि पाण्डुलिपि पुस्तकें वर्षों पडी रहती है। उसका प्रकाशन नही हो पाता। उपयुक्त समय और सभी सामग्री उपलब्ध न होने के कारण प्रकाशन कार्य अवरुद्ध पड़ा रहता। यह एक दैव सयोग ही कहा जायगा कि १९८० ई० मे कैलासाश्रम को सस्थापित हुए सौ वर्ष पूरे हो

जायेंगे। इस प्रसंग को लेकर हमारे मन में कैलास ग्राश्रम शताब्दी समारोह मनाने का संकल्प भगवान् भूतभावन अभिनवचन्द्रेश्वर एवं पूर्वाचार्यों की प्रेरणा से उठ गया। इसका समर्थन श्री कैलासाश्रम ट्रस्ट कमेटी ने किया। कार्यक्रम निर्धारित कर तीन चरणों में विभक्त कर दिया गया। शताब्दी के प्रस्तावित कार्यक्रमों में प्राथमिकता प्रकाशन विभाग को दी गयी। जिसके अधीन दुर्लभ चिरसंगृहीत साहित्य का प्रकाशन, सामूहिक चित्रों एव स्मारिका के प्रकाशन का कार्य निर्धारित किया गया। इस प्रकाशन कार्य के लिए स्वयं कैलास विद्या प्रेस की स्थापना की गयी। कागज की दुर्लभता भी प्रकाशन कार्य में कम बाधक नही थी। दिल्ली प्रशासन ने कोटा से बृहदारण्यकोपनिषद् प्रकाशन के लिए कागज देकर हमारे कार्य को सरल बना दिया। एतदर्थ उन्हें भी भूरिशः धन्यवाद है। मूलमन्त्र, शाङ्करभाष्य ,दोनों की हिन्दी व्याख्या, शाङ्करभाष्य की आनन्दगिरिटीका, टिप्पणी एवं क्रोडपत्र इन सातों को सुव्यवस्थित रूप से सम्पादन करना सरल नही था। हमारे संकल्पानुसार इसके सम्पादन का कार्यभार भी डॉ० उमेशानन्द जी शास्त्री को अपने कन्धों पर लेना पड़ा। इस कार्य में कैलास विद्या प्रेस के सभी कर्मचारियों का सहयोग भी प्रशसनीय है ; जिसके फलस्वरूप बृहदारण्यकोपनिषद् का प्रस्तुत संस्करण पाठको के सामने अतिशीघ्र हम उपस्थित कर पाये हैं। इससे पूर्व ईशावास्योपनिषद् तथा मुण्डकोपनिषद् का प्रकाशन उपर्युक्त सभी सामग्री के सहित प्रकाशित हो चुका है। शेष छः उपनिषदों का प्रकाशन भी भगवत्कृपा से यथाशीघ्र होने की सम्भावना है। इत्यों शम्।

भगवत्पादीय:
महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द जी गिरि

गंगा दशहरा
श्री कैलास आश्रम
उत्तरकाशी (उ० प्र०)

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ मुम्बापुरीस्थ आनन्दवनाश्रमपीठाधीश्वर पदवाक्यप्रमाणपारावारीण वेदान्त-न्याय-व्याकरणाचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्री विभूषित स्वामी काशिकानन्द गिरि जी महाराज द्वारा

अभिनन्दन

आर्यभूमि भारतवर्ष औपनिषद विद्या का जन्मस्थान है। चरम विकास भी उसका यही हुआ। ज्ञान विज्ञान सम्पन्न वह समय भारतवर्ष का सुवर्णयुग था। "तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीति" इस उक्ति का मूर्त्तरूप-साक्षात्कार यहाँ होता था। किन्तु अनीति नीति को कुचल डालती है। राक्षस देवताओ को परास्त किया ही करते है। अन्यायी विदेशियो ने धोखे से भारत को गुलाम बनाया। दीर्घदासता ने भारतीयो के मनोबल को काफी धक्का पहुँचाया। अनीति की विजय ने नैतिकता को गिराया। शम, दमादि का अवमूल्यन होने लगा। साधनाओ की न्यूनता होने लगी। औपनिषद विज्ञानालोक फीका पडने लगा। उसी बीच मे भौतिक विज्ञान का चमत्कार भी सामने आने लगा। उसका परिणाम यह हुआ कि साधनाहीन कुछ लोग इन्ही चमत्कारो को सब कुछ समझने लगे। दूसरे लोग अध्यात्मतत्त्व के साथ शर्त लगाने लगे। अध्यात्मतत्त्व को हम अवश्य मानेंगे बशर्ते कि वह विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरे, ऐसी घोषणायें होने लगी।

भौतिक विज्ञान का चमत्कार भी अवश्य एक प्रकाश है। परन्तु यह न तो वस्तु का यथार्थ-स्वरूपदर्शन करा सकता है और न मार्गदर्शन ही। मरुमरीचिका न वस्तुदर्शन कराती है और न मार्गदर्शन ही। उससे असत् जल का दर्शन होता है और आगे का दृश्य ओझल होता है। वैसे ही यह भौतिक विज्ञान का चमत्कार भी मरीचिकाजलसदृश भौतिक क्षणिक सुख का दर्शन कराता है और अध्यात्म मार्ग को ओझल कर देता है। अत भारत के ऋषियो ने इसे अज्ञान के अन्धकार से अधिक महत्त्व नहीं दिया। उन्होने "अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा" इस प्रकार भौतिक विज्ञान की सप्रयोजनता स्वीकार करते हुए भी "अन्ध तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते" इस प्रकार उसे अविद्या ही माना और परिणाम अधकार प्रवेश ही बताया।

हम भौतिक विज्ञान को दोष नही दे रहे। यह विज्ञान प्राचीनकाल मे भी था, आगे भी रहेगा। उसका केवल स्वरूप परिवर्त्तन होता रहता है। अनेकविध यन्त्रतन्त्रादि प्राचीन युग मे भी विद्यमान थे। भौतिक सुख सुविधा एव उसकी सामग्रियाँ भी पुष्कलरूप से थी। इतिहास-पुराणादि मे इन सबका वर्णन मिलता है। किन्तु विशेषता यही थी कि इन सबक होते हुए भी इन्ही का सब कुछ समझने का अविवेक लोग नही करते थे। कारण, वे शारीरिक एव मानसिक स्वस्थता होने के कारण साधनाएँ करने मे धैर्य रखते थे। आज स्थिति यह है कि शारीरिक स्वास्थ्य के अभाव होने के कारण लागू आलसी बन गये हैं। बिना श्रम किये सब कुछ प्राप्त करना चाहते है। तप करना और साधनायें करना रुचता नहीं। मानसिक स्वास्थ्य के अभाव से शम-दमादि निष्ठा से रहित हुए। फलत अध्यात्म आलोक दूर चला गया। अनुभूति के अभाव मे तत्त्व के अस्तित्व मे ही सशय होने लगा। उसी बीच मे नये रूप मे विज्ञान के चमत्कार आ धमके और उसी की चकाचौंध मे लोग अन्धे से होने लगे।

औपनिषद अर्थ की अनुभूति न सही, केवल परोक्षनिश्चय भी हो गया होता तो यह स्थिति पैदा न होती। पर दैवयोग से अध्यात्मप्रधान भारत में ही यह सब हो गया।

औपनिषद विद्यायें अनादि हैं। केवल विद्या ही नहीं, उपनिषदें स्वरूपत: भी अनादि ही हैं। इनको श्रुति कहा जाता है। इसलिये कि केवल सुनकर ही लोग इन्हें याद रखते थे। लिखने एवं मुद्रित करने की आवश्यता ही नही थी। आज चाहे बुद्धि की बढ़ती हुई मन्दता का परिणाम हो, चाहे परिश्रम करने मे आलस्य का फल हो; लोग केवल श्रवणकर उन उपनिषदों को याद रखने में सर्वथा असमर्थ ही हो गये है। अतएव उनका लेखन तथा मुद्रण करना आवश्यक हो गया। इतना ही नही इन के अर्थों को हृदय मे धारण करना भी कठिन हो जाने कारण व्याख्याओं का भी लेखन तथा मुद्रण आवश्यक हो गया। यह आज की ही स्थिति नही। हजारों वर्ष पूर्व ही यह स्थिति संमुख आ चुकी थी। उसी समय अर्थ का अनर्थ न हो, इस आशय से भूतानुकम्पी शंकरावतार भगवान् भाष्यकार ने इन सब पर भाष्य लिखा और वास्तविक अर्थ को हमेशा के लिये सुरक्षित कर दिया।

बहिर्मुखता जैसी-जैसी बढी; वैसे-वैसे जो बातें उपनिषदों के साथ हुई, वही भाष्यों के साथ भी होने लगी। अर्थात् भाष्यों का आशय सम्यक् अवगत करना भी कठिन होने लगा। भाष्य प्रसन्न होने साथ गंभीर भी होने से भाष्याशय को स्थायीरूप से हृदयंगम कर रखना दुष्कर होने लगा। तब इन भाष्यो पर आचार्य श्री आनन्द गिरि जी ने टीकाये लिखी। उन्होने भाष्याशय को तो स्पष्ट किया ही, साथ ही स्थान-स्थान में भाष्य में आयी हुई दुरूह ग्रन्थियो को भी खोलकर रखा जिससे एक समस्या का हल हो गया अर्थात् उपनिषदों का वास्तविक रहस्य समझने के लिये आवश्यक सामग्रियों का आकलन आनन्दगिरीय व्याख्या में आकर पूर्ण हुआ।

किन्तु समस्या एक नयी और आ गयी। वह यही कि अध्ययन की संप्रदायागत परिपाटी ही टूटने लगी। गहन अध्ययन का अभाव भी होने लगा। साधारण लोगों की बात तो दूर, संस्कृत के अध्येताओं मे भी आत्मविश्वास का अभाव होने लगा। साधारण लोग तो संस्कृत को सचमुच देव-भाषा ही समझने लगे। अर्थात् यह देवताओ की ही पढने की भाषा है, अपनी नहीं; यो समझने लगे। इसका नतीजा यह निकला कि औपनिषद अर्थ से लोग फिर दूर होने लगे। लोग अनुभवशून्य होने लगे। इसी मौके पर हमारे पूर्वोक्त भौतिकविज्ञान का भी आक्रमण हुआ। कुछ पादप्रसारियो ने इस पर घोषणा की कि जो विज्ञान की कसौटी मे खरा उतरे; वही बात सही हो सकती है। विज्ञान के बाह्याडम्बरों मे फँसे हुए लोग स्वर मे तान मिलाने लगे। अध्यात्मसाधना मे अलस व्यक्तियो ने कर-ताल बजाना शुरू किया। फिर क्या था, इसी की रागलहरी मे सामान्य लोग बहने लगे।

इन सब के मूल में भोग वासना काम कर ही थी जो भौतिकविज्ञान के क्षणिक सुख भोग से उदभूत हुई किन्तु उसके भी मूल मे औपनिषद अर्थ का अज्ञान ही सक्रिय रहा "रागो लिङ्गम-बोधस्य" यही अनुभवियो का अनुभव है। दूसरो की तो बात क्या, कई सत भी इस अज्ञान के घेरे में आकर भौतिक विज्ञान का महिमागान करने लगे और अपने लक्ष्य से दूर हटते गये। हम पहले कह आये है कि औपनिषद पुरुष का साक्षात्कार भले न हो, परोक्षज्ञान भी यदि होता तो ऐसी स्थिति उप-स्थित नही होती। सर्वथा अज्ञान का ही यह परिणाम है, और वही भारत में घटित हुआ।

यदि उपनिषद् भाष्य एवं उनकी व्याख्याओ को ठीक तरह से समझ लिया होता तो भी तथा-कथित विज्ञानवादियो को यह मालूम हो जाता कि यह आत्मतत्त्व भौतिकविज्ञान की कसौटी पर कसने

की चीज नही है। सामान्य लोग भी समझने लगते कि औपनिषद ज्ञान और भौतिकविज्ञान दो भिन्न मार्ग हैं—"दूरमेते विपरीते विषूची"। दोनों का अपना-अपना रास्ता अलग है। एक को दूसरे के साथ जोडना सभव नही है। चन्द्रमा के आलोक मे दिन को, या सूर्य के आलोक मे कोई रात को देखना चाहे, वैसे ही भौतिकविज्ञान के आलोक मे आत्मतत्त्व को देखने की चेष्टा है। उपनिषदो के अध्ययन मात्र से भी इतनी भूल का निवारण करना सभव था। शर्त उसमे इतनी ही कि जो अध्ययन हो, वह निर्भ्रान्त हो। एतदर्थ दो कार्य आज के समय परम आवश्यक हो गये हैं; एक तो सस्कृतज्ञो के लिये करना है जो स्वय अध्ययन कर आगे दूसरो को अध्यापन से समझावें। दूसरा सामान्यजन के लिये करना है जो ठीक ठीक अर्थ के जानने के इच्छुक हो।

इन मे प्रथम कार्य भाष्य एव व्याख्या के दुर्बोध अशो को सुगम बना कर किया जा सकता है और वह कार्य ऋषिकेश कैलास आश्रम मे कभी से चालू किया गया था और कब का पूर्ण भी हो गया था जिसका समय-समय पर विस्तार भी हुआ। भाष्यों पर कैलास आश्रम की टिप्पणियाँ संत समाज मे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ये उक्त कार्यकलाप का मूर्तिमान् स्वरूप हैं। भाष्य तथा टीका का अर्थ समझने में ये अत्यन्त उपयोगी हैं। कैलासाश्रम के टिप्पणी संप्रदाय मे परम पूज्य प्रात.स्मरणीय अनन्त श्री विभूषित श्री स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरिजी महाराजकृत टिप्पणियाँ परम उत्कृष्ट हैं। परन्तु खेद की बात यही रही कि ये टिप्पणियाँ जनसाधारण के लिये आज तक अप्रकाशित ही रही। दूसरा कार्य (सामान्यजन भी जिससे औपनिषद रहस्य आसानी से समझें) यह था कि भाष्यो का सरल सुबोध हिन्दी अनुवाद किया जाय। यद्यपि यह कार्य गीताप्रेस गोरखपुर आदि स्थानो से भी सपन्न किया गया था। किन्तु भाष्य-टिप्पणियो के अभाव मे वह अनुवाद "लोचनाभ्या विहीनस्य दर्पण कि करिष्यति" वाली बात को चरितार्थ कर रहा था। ये टिप्पणियाँ अध्यापको के लिये तो लोचन सदृश हैं। इनके साथ अनुवाद हो तो ही पूरा भाष्याशय समझ मे आ सकता है।

इन दोनो कार्यों की पूर्ति के लिये कैलासाश्रम की शताब्दी महोत्सव के उपलक्ष्य मे वर्तमान महामण्डलेश्वर श्री १००८ स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज ने सटिप्पण सानुवाद सव्याख्या उपनिषद् भाष्य मुद्रण प्रारम्भ कर दिया है जिसकी प्रशसा जितनी की जाय; अल्प ही है। माण्डूक्योपनिषत् का प्रकाशन कुछ साल पहले ही हो चुका था। हाल मे ही ईशावास्य तथा मुण्डक का मुद्रण भी हो गया है और सब से बड़ी उपनिषद् बृहदारण्यक प्रकाशित हो रही है।

बृहदारण्यक आकार मे बृहत् तो है ही, तत्त्वप्रतिपादन की दृष्टि से भी इसकी विशालता विद्वज्जनविदित है। तदनुरूप ही इस पर टिप्पणी भी उभय दृष्टि से बृहत् है। अर्थात् जगह-जगह सुरेश्वराचार्यकृत वार्तिक श्लोको का उदाहरण देते हुए टिप्पणी लिखी गयी है जो सबको विशेष बोधदायी एव आनन्दकारी है। इस उपनिषत् का भाष्यानुवाद डॉ० उमेशानन्द शास्त्री जी ने अत्यन्त सुन्दर ढग से किया है। भाषा प्रवाह को कायम रखते हुए ही कोष्टको मे व्याख्येय अश की व्याख्या भी जो की गयी है, वह उनकी अपनी विशेषता है। अति श्रमसाध्य इस कार्य का जिस द्रुतगति से सपादन हो रहा है, उसे देखकर कोई भी धन्य-धन्य कहे बिना नही रहेगा।

हमे विश्वास है कि इस प्रशसनीय कार्य से हमारा अध्यात्मविज्ञान फिर एक बार चमक उठेगा। लोगो को औपनिषद ज्ञान मे रुचि बढेगी। "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" के अनुसार निर्भयता का मार्ग प्रशस्त होगा। मैं उक्त प्रकाशन का हृदय से अभिनन्दन करता हूँ।

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ मुम्बापुरीस्थ संन्यासाश्रमपीठाधीश्वर न्याय-वेदान्ताचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्री विभूषित स्वामी ब्रह्मानन्द गिरि जी महाराज द्वारा

अभिनन्दन

हमारे वैदिक साहित्य के मूर्धन्य भाग को उपनिषद् शब्द से कहा गया है। उपनिषदो को ही वेदान्त कहते हैं। 'वेदान्तो नाम उपनिषद् प्रमाणम्' इस उक्ति से यही सिद्ध होता है कि उपनिषद् का ही अपर नाम वेदान्त है। वेदो का चरम भाग या अन्तिम तात्पर्यभूत ही वेदान्त है।

वेद क्या है ? थोडा इस पर भी विचार करे । 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपाय यो वेदयति बोधयति स वेद ' अर्थात् जो इष्टप्राप्ति तथा अनिष्टपरिहार के अलौकिक उपाय का बोध करावे। "यद्वा ज्ञायन्ते विद्यन्ते लभ्यन्ते वा एतेन धर्मादय पुरुषार्था इति वेद:" अथवा जिसके द्वारा धर्म आदि चार पुरुषार्थो का बोध हो, प्राप्ति हो, उसे वेद कहते है। अलौकिक उपाय वेदो मे बताये गये हैं। इस विषय मे सायणाचार्य ने कहा है—

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एत विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता" ॥

वेदो की वेदता इसी मे है, जिसको प्रत्यक्ष प्रमाण या अनुमान प्रमाण आदि के द्वारा न जाना जा सके, ऐसी वस्तु का बोध करावे। दृष्टान्त रूप यो समझे—स्वर्ग नरक-धर्म-अधर्म आदि वस्तुएँ ऐसी हैं जो कि प्रत्यक्ष आदि के प्रमाणो के द्वारा नही जान सकते है। जिस स्वर्ग के विषय मे कहा जाता है—

"यन्न दुखेन सम्भिन्न न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीत च तत्सुख स्व पदास्पदम्" ॥

एतादृश स्वर्ग का साधन यज्ञादि धर्म है। न तो स्वर्ग प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से सिद्ध है न स्वर्ग के साधन, न उपाय ही। दोनो का लौकिक उपाय न होकर वैदिक यानी अलौकिक उपाय है।

वेद एक बडे औषधालय के समान है। अधिकारी के अनुसार सभी पुरुषार्थों का उपदेश करता है। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो कहते हैं कि वेदो मे तो भिन्न-भिन्न बातें लिखी है, मतभेद है। धर्म तो एक होना चाहिये। किन्तु वेदो को तो सबको ही हितोपदेश करना है और और सब को ही हित करना है। इसलिए सबके ही उपयोगी उपदेश उसमे प्राप्त होते है। कामनाओ की पूर्ति के उपाय विविध कर्म वेद मे विस्तार से बताये गये हैं, जिससे स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति होती है।

जो मनुष्य पूर्वकृत कर्मानुष्ठान द्वारा शुद्धान्त करण हो चुके हैं, जिनकी कामनाएँ दब चुकी हैं, उनके लिए आरण्यक और उपनिषदो मे उपासना और तत्वज्ञान का उपदेश भी वेदो मे दिया गया है। यदि वेद केवल निष्काम पुरुषो को ही उपदेश देते तो रजोगुण प्रधान सकाम पुरुष वेदो के उपदेशरूप लाभ से वंचित रह जाते। तब सब जगत् का उपकार वेदो के द्वारा कैसे होता ?

वेदो के प्रकट करने वाले परमात्मा पर भी यह कलङ्क आता कि उसने कुछ थोड़े मे सत्त्व-प्रधान प्राणियों को ही उपदेश दिया । इसलिए सब प्रकार के प्राणियो के उद्धार के लिये ही वेदो को प्रयत्न करना पडा है । वेद सबको ही अपने अधिकार के अनुसार उपदेश देता है—कर्मकाण्ड के अधिकारियो को कर्मकाण्ड द्वारा उनकी अभिलाषा की पूर्ति के साधन बताता है, उपासना के अधिकारियो को उपासना का उपदेश देकर आगे बढाता है और ज्ञान के अधिकारियो को तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर सीधा मोक्षमार्ग मे प्रविष्ट कराता है।

अन्य धर्म केवल एक मार्ग बनाते हैं । जो उस मार्ग में चल सकें, वे अपना कल्याण साधन करें; जो न चल सकें, उनके लिए कोई उपाय नही । जैसे हमारे देश भारत में ही जैन और बौद्ध धर्म हैं, वे वेद को नही मानते । अतएव वे अपने अधिकारभेद भी नही रखते । उनके धर्म केवल निवृत्ति मार्ग को प्रधानता देते हैं । इसकी परीक्षा की जाय तो प्रतिशत बहुत ही अल्प अंश निवृत्ति-प्रधान पुरुषो का प्राप्त होगा । शेष अपना कल्याण का साधन नही कर सकते है, यही सिद्ध होता है । एव ईसाई धर्म उद्भावक हजरत ईसा का एक उपदेश प्रसिद्ध है 'जो कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड मारे तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो । बदला लेने का प्रयत्न कभी न करो' । इसमे सन्देह नही कि उपदेश अत्यन्त शान्ति प्रधान और कल्याणकारक एव उच्च श्रेणी का है । परन्तु देखना यह है कि इनका पालन कितने मनुष्य कर सकते हैं । फिर भी इस धर्म के अनुयायी बनने वालों मे नित्य लडाई-झगडा, नित्य भिन्न-भिन्न प्रकारो से औरो के नाश की प्रवृत्ति और सदा ही बदला लेने की भावना देखी जा रही है । किन्तु वैदिक सनातन धर्म मे ऐसी बात नही ।

अधिकार भेद पर चिढकर बहुत लोग वैदिक सनातन धर्म पर उलटा आक्षेप करते हैं । आक्षेपकर्ता पर यह दृष्टान्त लागू होता है । किसी नगर में दो वैद्य आए । उनमे एक वैद्य के पास एक ही नुस्खा था । चाहे कोई शिर दर्द वाला आवे या कोई पेट दर्द वाला, वह सबको एक ही नुस्खा बता देता था । यह तो वही कहावत हुई जैसा कि किसी कवि ने वैद्य का उपहास करते हुए कहा है—

'यस्य कस्य तरोर्मूल येन केनापि पेषितम् ।
यस्मै कस्मै प्रदातव्य यद्वा तद्वा भविष्यति' ।।

इसके अलावा दूसरा वैद्य जो नगर मे आया था, वह प्रत्येक प्राणी के भिन्न-भिन्न रोगों की परीक्षा करता । तब सब बातो का विचार करके एक-एक रोग मे भी अनेक प्रकार की औषधियो का प्रयोग बताता । अब कहिए कि इन दोनो वैद्यों मे से अधिक लोकोपकार किसके द्वारा होगा । नि.सन्देह यही कहेगे कि अधिक उपकारक तो दूसरा वैद्य ही है । बस यही न्याय यहां भी समझिए । जैसे वैद्य स्थूल शरीर का चिकित्सक होता है, वैसे ही धर्माचार्य सूक्ष्म शरीर या अन्तःकरण व्यावहारिक आत्मा के चिकित्सक हैं । इसी उद्देश्य से सनातन धर्म में अधिकारभेद-भाव माना गया है । कर्मकाण्ड का अधिकारी कर्म करे, उपासना करे, उपासक भी निर्गुण निराकार की उपासना नही करते, उनके लिए सगुण नाना रूपो की व उन रूपो की मूर्ति आदि की उपासना बतायी गयी है । क्रमिक उन्नति करता हुआ मनुष्य अन्तिम सर्वात्मक ज्ञान पर पहुंच जाता है । सनातन धर्म का यही विश्वास है कि अधिकारानुसार क्रमिक उन्नति का मार्ग सब को बताना चाहिये । एक मार्ग पर हठ करने से सबका लाभ नही हो सकता ।

जिसे हम कहते हैं कि अन्त मे ज्ञानकाण्ड द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह ज्ञानकाण्ड उपनिषद् को ही कहते हैं। यद्यपि उपनिषदो मे अनेक प्रकार की विद्या है—'ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाखा एषाऽश्वत्थ सनातन' इत्यादि से अश्वत्थ विद्या, सदसद् विद्या, ज्ञानकर्म विद्या, प्राण विद्या, योग विद्या, प्रणव विद्या, पञ्चाग्नि विद्या, विराट् विद्या, देव विद्या, नक्षत्र विद्या, भूत विद्या, यज्ञ विद्या इत्यादि विद्याओ का यत्र तत्र निरूपण किया गया है, फिर भी उपनिषद शब्द का मुख्यरूपेण ब्रह्मविद्या अर्थ है। उपनिषद् शब्द के प्रत्येक अवयवभूत शब्दो का पर्यवसान अर्थ ब्रह्मविद्या मे ही है। षद्लृ धातु विशरण-गति-अवसादनार्थ मे पाणिनि महर्षि ने स्मरण किया है। वार्तिककार सुरेश्वराचार्य जी ने कहा है—

> "उपनीयेममात्मान ब्रह्मापास्तद्वय यत.।
> निहन्त्यविद्या तज्ज च यस्मादुपनिषद्भवेत् ॥
> निहृत्यानर्थमूला स्वाविद्या प्रत्यक्तया परम्।
> गमयत्यस्तसभेदमतो वोपनिषद्भवेत् ॥
> प्रवृत्तिहेतून्निःशेषांशास्तन्मूलोच्छेदकत्वत.।
> यतोऽवसादयेद्विद्या तस्मादुपनिषन्मता" ॥

यथोक्त विद्याजनक होने के कारण उपचाररूप के ग्रन्थ को भी 'लागल जीवनम्' की तरह उपनिषद ग्रन्थ को भी ब्रह्मविद्या शब्द से कहा जाता है। सभी उपनिषदो मे वृहदारण्यकोपनिषद का कलेवर बडा है। सुरेश्वराचार्य जी ने भी कहा है—"वृहत्वाद्ग्रन्थतोऽर्थाच्च वृहदारण्यक मतम्"। भाष्यकार भगवत्पाद ने भी जैसा विशद और विवेचनापूर्ण भाष्य वृहदारण्यक पर लिखा है, वैसा किसी दूसरी उपनिषद् पर नही लिखा। अत यह उपनिषदो मे सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जा सकती है। बडी खुशी की बात है कि वृहदारण्यकोपनिषद को शाङ्करभाष्य आनन्दगिरिटीका, टिप्पण, क्षेपत्र मन्त्र व भाष्यानुवाद सहित लब्धप्रतिष्ठित ऋषिकेश स्थित कैलास आश्रम के महामण्डलेश्वर अनन्त-श्री विभूषित स्वामी विद्यानन्दगिरि जी महाराज के महान् प्रयत्न द्वारा कैलास आश्रम के शताब्दी महोत्सव के उपलक्ष्य मे प्रकाशित किया जा रहा है। इसकी बडी आवश्यकता थी। जिज्ञासु-मुमुक्षुओ को इसकी प्राप्ति से बहुत ही आनन्द का अनुभव होगा। एतदर्थ कैलासाश्रम के महामण्डलेश्वर जी को जितना धन्यवाद दिया जाय वह अल्पमात्रा मे ही होगा। सभी लोग इसका अलभ्य लाभ उठावें, यही हमारी हार्दिक इच्छा है।

संस्कृत जगत् के प्रकाण्ड विद्वान्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के कुलपति आचार्य डॉ. बदरीनाथ शुक्ल जी द्वारा

अभिनन्दन

वेद विश्व का और प्रधानतया भारतवर्ष का सर्वप्राचीन वाङ्मय है। भारत के आचार्यों ने वेदों का पर्याप्त अनुशीलन कर यह निष्कर्ष प्राप्त किया है कि वेद अपौरुषेय वाणी है। इसमें किसी प्रकार के परिवर्तन अथवा परिवर्धन की स्वतन्त्रता किसी भी पुरुष को नहीं है; चाहे वह सर्वज्ञ ही क्यों न हो। भारत में वेदों के सम्बन्ध में यह मान्यता कोई श्रद्धा अथवा अन्धविश्वास के कारण नहीं है किन्तु वेद में उपलब्ध उन शाश्वत सदेशों के कारण है जो निष्पक्ष रूप से सम्पूर्ण मानव जाति के उद्धार एवं उत्थान में सहायक है। रचनाशैली एवं प्रतिपाद्यतत्त्वों की दृष्टि से वेदों के अनेक विभाग किये गये हैं। उपनिषद् भी वेदों का एक विशेष वर्ग है जिसमें आत्मतत्त्व का विशद वर्णन किया गया है। इन उपनिषदों का वैदिक वाङ्मय में सर्वाधिक महत्त्व केवल इस कारण है कि उनमें मनुष्य के आत्मा के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। यह स्पष्ट है कि मनुष्य संसार के किसी क्षेत्र में कोई भी कार्य क्यों न करे किन्तु उसकी प्रवृत्ति का सर्वत्र एक ही मूल है—उसके अपने आत्मा की तृप्ति। उपनिषदों की यह अत्यन्त सुव्यक्त अभिव्यक्ति है क्योंकि मनुष्यों के जितने भी कार्य हैं, सभी आत्मतुष्टि के लिये हैं। मनुष्य अपनी आत्मा के सम्बन्ध में सत्य जानकारी करे क्योंकि यदि वह अनात्मा को आत्मा समझ कर प्रयास करेगा तो उसका सारा प्रयास आत्मा के लिये नहीं होकर अनात्मा के लिये होगा। फलत उसके सारे प्रयत्नों से उसके आत्मा की तुष्टि कभी नहीं होगी। इसलिये उपनिषदों ने "आत्मानं विद्धि" "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः" इत्यादि रूप में आत्मज्ञान का सम्पादन करना ही मनुष्य का पहला कर्तव्य बतलाया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा का अत्यन्त विस्तृत विवेचन हुआ है। उसमें अनात्मदृष्टि को सर्व दुःखों का मूल बतलाते हुए आत्मदृष्टि को सर्व श्रेयों का मूल बतलाया। उसके प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में ही एक वाक्य उपलब्ध होता है जिसका आशय यह है कि सम्पूर्ण वेद प्रत्यक्ष और अनुमान से ज्ञात न हो सकने वाले इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के उपाय का प्रतिपादन करता है और ये दोनों ही बातें सम्पूर्ण मानवजाति के लिये उपयोगी है। वेद की इस महिमा का वर्णन करते हुए मरणोत्तर मनुष्य के अस्तित्व अनास्तित्व के शङ्का से प्रारम्भ कर मरण के उत्तर भी आत्मा का अस्तित्व है, इस निर्णय की स्थापना की गई है। यों तो स्पष्ट है कि सभी उपनिषदें भेददृष्टि को संसार की समस्त बुराइयों का कारण बताते हुए आत्मैक्यदृष्टि को ही श्रेय का साधन बतलाती हैं, किन्तु इस तत्त्व का प्रतिपादन बृहदारण्यक उपनिषद्-में जिस विस्तार एवं तत्त्व से किया जाता है, उसका स्थान अद्वितीय है। इसलिये भारत के अनेक आचार्यों ने बृहदारण्यक उपनिषद् की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया कि उनके द्वारा प्रतिपादित उपायों को अनायासेन जनसामान्य को समझाया जा सके तथा तज्जनित फलों से लाभान्वित कराया जा सके, यही कारण है किविद्यावाचस्पति स्वामी श्री विष्णु-देवानन्द गिरि जी ने महाराज मूल बृहदारण्यक उपनिषद्, उस पर शांकरभाष्य तथा आनन्दगिरिविरचित

भाष्यटीका पर एक ऐसा टिप्पण एवं अभूतपूर्व क्रोडपत्र लिखने का संकल्प किया, जो उपनिषद्भाष्य एवं आनन्दगिरि के गूढ तत्त्वो को प्रकाशित करने के लिये निश्चल शाश्वत प्रदीप का कार्य कर सके। मैंने इस टिप्पण तथा क्रोडपत्र को सावधानी से देखा है तथा उसे इस योग्य पाया है कि उसके बारे मे नि.संकोच कहा जा सके कि वह मूलभाष्य तथा आनन्दगिरि के लिये एक वास्तव प्रकाशस्तम्भ है। इस टिप्पण से भाष्यादि को समझने मे पद-पद पर सहायता मिलेगी, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है। अनेक स्थलो का हृदयस्पर्शी विवेचनावलोकन टिप्पणकर्ता स्वामी श्री विष्णुदेवानन्द गिरि जी को अभिनन्दित करने के लिये प्रेरित करता है। ब्रह्मविद्या के प्रवर्त्तक आचार्यों से तथा विश्वनाथ से हमारी प्रार्थना है कि इस ग्रन्थ के रचना के उद्देश्यो को पूरा करने मे सहायता करें। मुझे पूरी आशा है कि इस टिप्पण तथा क्रोडपत्र की सहायता से अनेक लोगों को उपनिषद् तत्त्व हृदयंगम होकर आत्मोत्थान की दिशा को प्रशस्त करेगा।

इस संदर्भ में मैं कैलाश आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति के अध्यक्ष महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्द गिरि जी महाराज को भी अभिनन्दित करने में प्रसन्नता का अनुभव करता हूं, जिन्होंने इस प्रकाशन की महत्ता को समझा तथा उसको सम्पन्न करने का अथक प्रयास किया।

वीतरागशिरोमणि, कैलास आश्रम के मानद न्यासी

श्री १०८ स्वामी परमेश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज

द्वारा

शिव सम्मति

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥"

आत्मा का श्रवण श्रुतिवाक्यो से करना चाहिए अर्थात् शास्त्र किस वस्तु (जीव-ब्रह्म के भेद या अभेद) का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार प्रमाणगत सशयनिवृत्ति के साधन को श्रवण कहते हैं। युक्तियो से आत्मा का मनन करना चाहिए अर्थात आत्मा परमात्मा भिन्न हैं या अभिन्न; इस प्रकार प्रमेयगत सशयनिवृत्ति के साधन को मनन कहते हैं। मनन के पश्चात् उस तत्त्व मे अपनी निरन्तर स्थिति बनाने का नाम ही निदिध्यासन है। आत्मतत्त्व के साक्षात्कार मे ये तीनों ही कारण हैं। लोग इधर-उधर की बात सुनकर या आधुनिक पुस्तकें पढ सुनकर अपने आपको श्रोत्रिय समझने लगते हैं, परन्तु यह शास्त्रमर्यादानुकूल नही है। शास्त्रपरम्परा इससे भिन्न है। इस परम्परा को देखना हो तो आप श्री कैलास आश्रम, ऋषिकेश मे आकर आज भी देख सकते हैं, जो अन्यत्र उपलब्ध होनी बहुत कठिन है। इसका एकमात्र कारण श्री कैलास आश्रम के संस्थापक आद्य आचार्य श्री १०८ स्वामी धनराज गिरि जी महाराज की अटूट निष्ठा एवं श्री अभिनवचन्द्रेश्वर की महती कृपा जो इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाये हुए है। श्री कैलास आश्रम के पीठाचार्यों तथा अन्यान्य वीतराग सन्तों ने इसकी सुरक्षा के लिये कितना परिश्रम, कितना त्याग, कितना शास्त्र का

मन्थन किया है, वह तो आपको बृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्करभाष्य, आनन्दगिरि टीका तथा 'गोविन्द-प्रसादिनी' टिप्पणी एवं क्रोडपत्र सहित अध्ययन-अध्यापन से अवगत होगा। प्रस्थानत्रयी के ऊपर श्री कैलास आश्रम की टिप्पणियों में से सर्वाधिक विस्तृत टिप्पणी बृहदारण्यकोपनिषद् के ऊपर है। दूसरी प्रसन्नता की बात यह है कि ग्रन्थ के आशय को खोलने के लिये क्रोडपत्र भी साथ में लिखा है। यदि श्री कैलास आश्रम के इन महामनीषियों ने यह टिप्पणी तथा क्रोडपत्र नहीं लिखा होता तो इस बृहत्काय ग्रन्थ के शाङ्करभाष्य का तथा आनन्दगिरि टीका का तात्पर्य निर्णय करना प्रत्येक के वश की बात नहीं थी। ये ग्रन्थ के अर्थ को प्रकाशित करने के लिये मानो दिव्य ज्योति है। टिप्पणी तथा क्रोडपत्र श्री कैलास आश्रम की निजी निधि है। यह अभी तक आश्रम के पुस्तकालय में सुरक्षित रखी हुई था। जिसका अध्ययन-अध्यापन परम पूज्य प्रातःस्मरणीय श्री तीर्थ जी महाराज प्रभृति महात्मागण यथावधि करते-कराते हैं। इस निधि से सबको लाभ हो ऐसी दयार्द्रभावना से सबके समक्ष प्रकट करने का परम श्रेय वर्तमान पीठाचार्य परमादरणीय श्री कैलासपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर अनन्त श्री विभूषित स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज को है। भगवत् कृपा से उनके हृदय में यह प्रेरणा हुई कि प्रातःस्मरणीय ब्रह्मलीन विद्यावाचस्पति अनन्त श्री विभूषित महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज का टिप्पणादि लेखन का मंगलमय प्रयास चिरकाल तक जिज्ञासुजनों को मंगल प्रदान करता रहे, उनके हृदयान्धकार को दूर करने के लिये दिव्य ज्योति का काम करता रहे, इसी भावना से श्री महामण्डलेश्वर जी ने बृहदारण्यकोपनिषद् क्रोडपत्रादि के सहित प्रकाशित करवाया, हस्तलिखित से स्वल्प काल तक थोड़े जिज्ञासुओं का उपकार हो सकता था परन्तु प्रकाशित होने पर चिरकाल तक बहुतों का उपकार होगा।

नव प्रकाशित इस बृहदारण्यकोपनिषद में दूसरी विशेषता यह भी है कि शाङ्करभाष्य का अनुवाद राष्ट्रभाषा में श्रीमान् डॉ० उमेशानन्द शास्त्री जी ने साधारण जिज्ञासुजनों के लाभार्थ किया है। अब यह ग्रन्थ जैसे विद्वानों के लिये उपयोगी है, वैसे ही साधारण जिज्ञासुजनों के लिये भी लाभप्रद होगा। अन्य ग्रन्थों में जहाँ राष्ट्रभाषा अनुवाद है, वहाँ आनन्दगिरि टीका उपलब्ध नहीं। जहाँ आनन्दगिरि टीका है, वहाँ शाङ्करभाष्यादि का अनुवाद नहीं मिलता लेकिन इस ग्रन्थ में दोनों ही हैं। श्रीमान् डॉ० उमेशानन्द शास्त्री जी ने इसके सम्पादन कार्य में अथक परिश्रम किया है। भगवान् से उनकी मंगलमय कामना करते हुए शतशः धन्यवाद देते हैं।

श्री कैलास आश्रम के मनीषियों ने टिप्पणी आदिकों का प्राकट्य करने में कितना मनन किया होगा, यह तो पाठकगण अध्ययन के समय ही जान सकेंगे तथा वर्तमान पीठाधीश्वर जी महाराज ने इसके प्रकाशन में अत्यधिक परिश्रम किया है। खासकर आश्रम के शताब्दी समारोह के उपलक्ष्य में ऐसे बृहत्काय ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये एक कैलास विद्या प्रेस भी लगाना पड़ा। उसमें बहुत सी कठिनाइयों का सामना करते हुये भी प्रकाशन कार्य सम्पन्न कराया। इन सब विभूतियों के हम ऋणी हैं। भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि इन महापुरुषों का परिश्रम सफल हो। जिज्ञासुजन इसका अध्ययन कर कल्याण के भागी बनें। यही हमारी शुभ कामना है। ओ३म् शम्।

भूमिका

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो नमो महद्भ्यो गुरुभ्यः।

नमः श्रुतिशिरःपद्मषण्डमार्तण्डमूर्तये । बादरायणसंज्ञाय मुनये शमवेश्मने ॥

यद्वक्त्रमानससरःप्रतिलब्धजन्मभाष्यारविन्दमकरन्दरसं पिबन्ति ।

प्रत्याशमुन्मुखविनीतविनेयभृङ्गाः तान् भाष्यकवित्तकगुरून् प्रणमामि मूर्ध्ना ॥

न स्तौमि तं व्यासमशेषमर्थं सम्यङ् न सूत्रैरपि यो बबन्ध ।

विनापि तैः सङ्ग्रथिताखिलार्थं तं शङ्करं नौमि सुरेश्वरं च ॥

श्रीव्यासशङ्करसुरेश्वरपद्मपादान्वेदान्तशास्त्रसुनिबन्धकृतस्तथान्यान् ॥

विद्याप्रदानिह यतिप्रवरान् कृपालून् अस्मत्गुरून् सततमेव नमामि मूर्ध्ना ॥

अथेदानीं प्रकाश्यते श्रीमद्भगवत्पादप्रणीतं बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यम् आनन्दगिरिव्याख्यया, विषमस्थलटिप्पण्या महामण्डलेश्वरविद्यावाचस्पतिश्रीस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिवरैः प्रणीतेनक्रोडपत्रेण संवलितं राष्ट्रभाषानुवादसहितं च प्रियपाठकानां वेदान्तविद्याविनोदरसिकानां प्रमोदाय च । सुविदितमेवैतत्समेषां भारतीयानां ऋषिवंशप्रसूतानामस्माकं परमं सर्वस्वं वेदानाम् । ते च ऋग्वेदादि-भेदेन चतुर्विधाः प्रथन्ते । तत्रास्ति यजुर्वेदः कर्मकाण्डज्ञानकाण्डयोः भित्तिस्थानीयः शुक्लकृष्णभेदेन द्विविधः। तत्रापि शुक्लयजुर्वेदे काण्वमाध्यन्दिनभेदेन संहिताद्वयं ब्राह्मणं च शतपथाभिधं च । शतं पन्थानोऽध्यायाः यत्र सन्ति, तेन शतपथमिति नाम्ना गीयते। तत्र काण्वशतपथब्राह्मणे सन्ति चतुर्दश-काण्डानि । तत्रापि अन्तिमे काण्डे चतुर्दशे अष्टाध्याया विलसन्ति । तत्र चादिममध्यायद्वयं प्रवर्ग्याख्यस्य कर्मणः ज्योतिष्टोमाङ्गभूतस्य प्रतिपादकम् । अत एव तदिदमध्यायद्वयं प्रवर्ग्यकाण्डमिति वैदिक-निकाये प्रसिद्धम् ।

बृहदारण्यकोपनिषदः षडध्यायात्मकत्वम्—चतुर्दशकाण्डस्यावशिष्टाः षड् अध्यायाः अत एव षडध्यायी बृहदारण्यकोपनिषदभिधीयते, न तु अष्टाध्यायात्मिका। अत एवोक्तं च भगवत्पादैः भाष्यो-पक्रमे 'सेयं षडध्यायी' इति ।

अस्या उपनिषद अध्यायसंख्याविषये वैषम्यं तत्र मूलं तत्परिहारश्च—पुण्यपत्तने आनन्दाश्रम-मुद्रणालये मुद्रिते बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये वार्तिके च षडध्याया इति । 'उषा वा' इत्यादिरध्यायः प्रथमाध्यायतया मुद्रितः। भगवत्पादाश्च षष्ठे चतुर्थे पञ्चमे इति व्यवहरन्तो दृश्यन्ते। अतो पाठकमहा-भागानां छात्राणां जिज्ञासूना च भ्रान्तिर्जायते । सेयं भ्रान्तिः मुद्रितपुस्तके 'ब्राह्मणक्रमेण तृतीयो-ध्यायः उपनिषत्क्रमेण प्रथमोऽध्याय' इति प्रत्येकमध्यायोपसंहारपुष्पिकायां दर्शनात् दूरी भवेत् । भाष्यव्याख्यानोपक्रमदृष्टयापि प्रथमोऽध्याय इति व्यवहारस्समर्थनीयः। तत्रादिममध्यायद्वयं प्रवर्ग्याख्यकर्मनिरूपणपरम्। "उषा वा अश्वस्य"त्यारभ्यमाणस्य ब्राह्मणक्रमेण तृतीयाध्यायस्य उपनिष-त्क्रमेण प्रथमाध्यायस्यैव भाष्यमकारि भगवत्पादैः। अत एव भगवत्पादा बभाषिरे—

"यत् शिष्याचार्यसंवादेन च षष्ठे प्रश्नप्रतिवचनन्यायेन सविस्तरं विचार्योपसंहृतमिति, अक्षराणां चतुर्थे यथा व्याख्यातोऽर्थः तथा प्रतिपत्तव्योऽपि"—इति ।

प्रायशो व्याख्याकारोऽपि तथैव व्यवहरन्ति । अतो वस्तुवृत्तमनुसन्धानैरस्माभिरपि प्रथमोऽध्याय इत्येव व्यवहार कृत इत्यवधेयं विबुधैरिति । एतेन अष्टाध्यायात्मकं बृहदारण्यकमिति केषाचित्कथन चिन्त्योपपत्तिकम् ।

बृहदारण्यकशब्दनिर्वचनम्—इय च षडध्यायी शब्दतोऽर्थतश्च बृहत्त्वात् अरण्येऽधीयमानत्वाच्च बृहदारण्यकमिति शिष्टैर्व्यवह्रियते । "एतदारण्यकं सर्वं नाऽव्रती श्रोतुमर्हती"ति स्मरणात् । अत एव महर्षिका केचन याज्ञवल्क्यकाण्डमेवाध्यापयन्ति न तु मधुकाण्डखिलकाण्डे । प्रवचनकाले तास्तानर्थविशेषान् बोधयन्त्येव केवलम् । इय चोपनिषद् 'उषा वाऽश्वस्य मेध्यस्य शिर." इत्याद्युपक्रमा काण्वशतपथब्राह्मणान्तर्गता, न तु माध्यन्दिनीयशतब्राह्मणान्तर्गता । सा हि "द्वया ह वै प्राजापत्या" इत्याद्युपक्रमा । भगवत्पादै काण्वशाखोपनिषद भाष्य व्यरचि । न तु माध्यन्दिनीयाया उपनिषदः । उभयत्रापि तत्र तत्र पाठभेदा उपलभ्यन्ते । ते च भगवत्पादैस्तत्र तत्र प्रादर्शि तथाऽर्थभेदाश्च ।

अस्या उपनिषदः काण्डत्रयात्मना विभागवर्णनम्—तत्र षडध्यायी बृहदारण्यकोपनिषत् । तत्र सन्ति षडध्यायाः । तेषा काण्डत्रयात्मना विभाग भाष्यकारादिभि. प्रादर्शि । आदितोऽध्यायद्वयमागमकाण्ड (मधुकाण्डम्) आगमैकप्रधानत्वात् । द्वितीय च याज्ञवल्क्यकाण्ड मुनिकाण्ड चेति गीयते । वादजल्पकथामधिकृत्य प्रवृत्तत्वेनोपपत्तिप्रधानत्वात् । तृतीय च खिलकाण्डम् अथवा परिशिष्टकाण्डमिति च व्यपदिश्यते ।

खिलशब्दार्थनिरूपणम्—प्राचीनैराचार्यै खिलकाण्डस्येद लक्षणमुक्तम्— 'कर्मोपासनब्रह्मकाण्डेषु त्रिष्वपि यद्यावद्वक्तव्यमवशिष्ट तस्य सर्वस्य अभिधानेन प्रकीर्णरूपत्व खिलत्वम्' । यथा बृहदारण्यके पञ्चमेऽध्याये "पूर्णमद पूर्णमिदमि"त्यादिना ब्रह्मतत्त्वमभिहितम् । 'ॐ कं ब्रह्म ख ब्रह्म" इत्यादिभि 'यो ह वै ज्येष्ठ च श्रेष्ठ च वेद" इत्यादिभि वाक्यै नानाविधानि उपासनानि अभिहितानि 'स य कामयेत महान् प्राप्नुयाम ' इत्यादिना मन्थस्य कर्म अभिहितम् । तथा पुत्रविशेषादिकामनायुक्तानां तत्कर्माण्यभिहितानि । अत पञ्चमषष्ठयो अध्याययो खिलकाण्डत्वम् । अत एव चतुर्वेदीभाष्यकारै माधवाचार्यै बृहदारण्यके पञ्चमषष्ठावध्यायौ खिलकाण्डत्वेन आचार्यै उपहृतौ, इत्युक्त "अम्भस्य पारे" इत्याद्युपनिषद्भाष्योपक्रमे इति ।

ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वेन ईशावास्यबृहदारण्यकयो संबन्धवर्णनम्—ईशावास्यमित्यादयो मन्त्रोपनिषद । तेषा व्याख्यानरूपा बृहदारण्यकोपनिषत् । अनयोर्मन्त्रब्राह्मणयोरेकार्थप्रतिपादकत्वेनैकवाक्यता, उभयोरेकार्थप्रतिपादकत्वात् । तत्परःशब्द सशब्दार्थ इतिन्यायात् । मन्त्रेण सक्षेपेणोक्तार्थस्य प्रतिपादक ब्राह्मणमिति युक्तम् । अत्र ईशावास्यमित्यादिप्रथममन्त्रे सर्वैषणापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता 'ईशावास्यमिद सर्वं .. मा गृध कस्यस्विद्धनमिति" ।

अज्ञाना जिजीविषूर्णा ज्ञाननिष्ठाऽसभवे "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा" इति कर्मनिष्ठोक्ता द्वितीयेन मन्त्रेण । अनयोर्निष्ठयोर्विभाग मन्त्रप्रदर्शितयो बृहदारण्यकोपनिषदि प्रदर्शित । "सोऽकामयत जाया मे स्यादि"त्यादिनाऽज्ञस्य कामिन कर्माणीति । "मन एवास्यात्मा वाग्जायेत्यादि' वचनात् । अज्ञत्व कमित्व च कर्मनिष्ठस्य निश्चितमवगम्यते । तत्फल सप्तान्नसर्गं । 'सप्तान्नानि तपसा मेधयाऽजनयत् पिता" (बृ० उ० १-५-१) । तेषु सृष्टेष्वन्नेषु तस्य पितु, अहमिद ममेदमिति आत्माध्यासेन मन आदिष्वितरेषु सबन्धाध्यासेनावस्थान ससार प्रसिद्ध । जायाद्येषणात्रयसन्यासेन चात्मविदा कर्मनिष्ठा प्रातिकूल्येनात्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता । यथोक्त बृहदारण्यके 'किं प्रजया करिष्यामो येषां

नोऽयमात्माऽयं लोकः" इत्यादिना । अत एव चतुर्थब्राह्मणे "अस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानो-ऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकाम इति" (बृ० उ० ४-४-६) ।

भर्तृप्रपञ्चव्याख्यानेन अस्यागतार्थत्ववर्णनम्—भर्तृप्रपञ्चाचार्येण भाष्यं भगवत्पादीयभाष्यापेक्षया ग्रन्थतः गुरुभूतं पाठक्रमानुसारि च । परमद्यत्वे तदिदं लुप्तप्रायं नामशेषमास्ते भगवत्पादैः तथान्यैश्च व्याख्यातृभिस्तत्रानूदितमस्ति । भगवत्पादैस्तु अर्थक्रमानुसारेण व्याख्यातमिति विशेषः । अत एव भगवत्पादैः भाष्योपक्रमे "अल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते' (पृ. २) । अत्र वृत्तिशब्देन भाष्यमभिप्रेतम् । अत्राल्पग्रन्था इति वृत्तिविशेषणेन बहुग्रन्थाद्भर्तृप्रपञ्चभाष्यादस्य वैलक्षण्यं सूचयति । यथोक्तमानन्दगिरिणा—

"उषा वा अश्वस्य इति । एतेन चिकीर्षिताया वृत्तेः भर्तृप्रपञ्चभाष्येणागतार्थत्वमुक्तम् । तद्धि 'द्वया हे'त्यादि माध्यन्दिनश्रुतिमधिकृत्य प्रवृत्तम् । इयं पुनः 'उषा वा अश्वस्य' इत्यादि काण्वश्रुतिमाश्रित्येति । भर्तृप्रपञ्चभाष्याद्विशेषान्तरमाह—अल्पग्रन्थेति । अस्या ग्रन्थतोऽल्पत्वेऽपि नार्थतस्तथात्वमिति ग्रन्थस्य ग्रहणम्" (पृ. २) ।

तेनेदमवगम्यते—भर्तृप्रपञ्चभाष्यं भाष्यकाराणां समये विद्वत्समाजे समादरपात्रं विद्वद्भिः आदरेणाधीयमानञ्चासीदिति वेदविरुद्धं तदीयमत निराकृत्य उपनिषदर्थः परिशोधितः परिष्कृतश्च भगवत्पादैः । तेन तदारभ्यैव भगवत्पादीयं भाष्यं विद्वद्भिः समाद्रियते स्म इति ।

उपनिषच्छब्दार्थनिर्वचनम्—शब्दो द्विविधः रूढः यौगिकश्चेति । तत्र रूढः समुदायशक्तिरित्यनर्थान्तरम् । समुदायशक्त्याऽर्थबोधकशब्दो रूढ इत्युच्यते । यथा गौरिति । योगः अवयवशक्तिः । अवयवशक्त्याऽर्थबोधकशब्दो यौगिक इति सकीर्त्यते । यथा पाचकादिशब्दः । प्रकृते उपनिषच्छब्दः रूढो यौगिको वा इति जिज्ञासाया यौगिकः एव परिगृह्यते विषयप्रयोजनादिलाभात् । न तु रूढः । उपनि-इत्युपसर्गद्वयपूर्वकात् 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' इति धातोः कर्तरि क्विपि उपनिषच्छब्दः निष्पद्यते । तत्र गतिः विशरणमवसादनञ्चेति धात्वर्थाः । गत्यर्थमादाय जीवस्य ब्रह्मरूपतां गमयतीत्युपनिषत् । विशरणं शिथिलकरणम् । अविद्यां शिथिलयति । अपसादयत्यविद्याम्, अविद्याप्रयुक्तं कार्यं च निहन्तीत्युपनिषत् । अतः उपनिषत्पदं यौगिकं ब्रह्मविद्यापरम् । यथोक्तं वार्तिके—

"उपनीयेममात्मानं ब्रह्माऽपास्तद्वयं यतः ।
निहन्त्यविद्यां तज्जञ्च तस्मादुपनिषद्भवेत्" ॥ इति ।

अस्यायमर्थः—अत्रोपनीयेति वारद्वयं योजनीयम् । इममात्मानं ब्रह्म उपनीय, अपास्तद्वयं ब्रह्म इममात्मानं उपनीयेति । तथा चायमर्थः परिनितिष्ठति इमं त्वंपदलक्ष्यमपरोक्षात्मानम् अपास्तद्वयं शोधितं तत्पदार्थं ब्रह्म । उपनीय तदात्मतया बोधयित्वा वाक्यजन्यवृत्तिरूपा विद्या अविद्यां निहन्तीति । अतः उपनिषच्छब्दो यौगिकः । तादर्थ्यात् ग्रन्थेऽपि प्रयोगः । उपनिषदमधीमहे उपनिषदमध्यापयाम इति । "आयुर्वै घृतमिति"वत् लक्षणया प्रयोगः । एतेन यदुक्तं विद्यासागरेण न्यायकल्पलतिकायामुपनिषच्छब्दः रूढ इति । अत्र पक्षे विषयप्रयोजनादिकं न लभ्यत इति यौगिकोऽपि उपनिच्छब्द इति । तन्निरस्तमिति वेदितव्यम् । यौगिकत्वस्वीकार एव विषयादिकं लभ्यते, नान्यथा । भगवत्पादैश्च—"संसारव्याविवृत्सुभ्यः संसारहेतुनिवृत्तिसाधनब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्राप्तये" इति भाषितम् । यथा भूताकाशे रूढस्यापि आकाशशब्दस्य "आकाशस्तल्लिङ्गात्" इत्यधिकरणन्यायेन ब्रह्मणः असाधारण-

धर्मदर्शनेन रूढि परित्यज्य आसमन्तात् काशत इति आकाश इति योगमङ्गीकृत्य आज्यपृष्ठादिशब्दवत् आकाशशब्दस्य यौगिकत्वमेवेति सिद्धान्तितम्। अत एव अध्वरमीमासकैरपि सदिह्य अवयवार्थेनैव उपपत्तौ रूढिर्न कल्पिता प्रोक्षणीष्वर्थसयोगादित्यधिकरणे। अत उपनिषच्छब्द यौगिक एव न तु रूढ इति।

भाष्यलक्षणम्—वृत्तिशब्देन भाष्य ग्रहणम्। भाष्यलक्षणञ्च यथोक्तम्—

"सूत्रस्थ पदमादाय वाक्यै सूत्रानुकारिभि।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्य भाष्यविदो विदु"॥ इति।

इद च लक्षण टिप्पण्या सुविशद व्याख्यातमिति द्वितीयपृष्ठस्थटिप्पणी द्रष्टव्या जिज्ञासुभि क्वचित् 'आक्षिप्य भाष्याद्भाष्य'मित्यपि भाष्यलक्षण कथ्यमान दृश्यते। तदपि प्रकृते सगच्छत एवेति तदपि अत्र स्पष्टमेव।

अस्या उपनिषद सर्ववेदान्तार्थप्रतिपादकत्वम्—शब्दतोऽर्थतश्च बृहदियमुपनिषत्सर्वविद्या-प्रतिष्ठिताया ब्रह्मविद्याया अपेक्षिताना बहिरङ्गानामन्तरङ्गानाञ्च साधनाना विवेचनमुखेन सर्वमेव वेदान्तशास्त्रप्रमेयजात कार्त्स्न्येन सम्यगेवोपपादयति। कि बहुना समेषा वेदवाक्याना काण्डत्रयात्मक-विभक्तानामवान्तरतात्पर्यभ्या जीवब्रह्मैक्यप्रतिपादने पर्यवस्यतीति। अत एवोक्त वार्तिकारम्भे सुरेश्वराचार्ये—

"या काण्वोपनिषच्छन्नेन सकलाम्नायार्थसशोधिनी
सच्चक्रुर्गुरवोऽनुवृत्तगुरवो वृत्ति सता शान्तये।
अर्थाविष्करण कुतार्किककृताशङ्कासमुच्छित्तये
तस्या न्यायसमाश्रितेन वचसा प्रक्रम्यते लेशत"॥ इति।
[स वा २]

अनेन च पद्येन सरससरलपदसन्दर्भेण अर्थगाम्भीर्ययुक्तेन च भाष्यार्थ विवृत। तथाहि—सकलस्याम्नायस्य त्रिकाण्डात्मकस्य वेदस्यार्थ सम्यग्शोध्यतेऽनया सा सकला-म्नायार्थसशोधिनी महातात्पर्यम्। अर्थात् कर्मकाण्डस्यावान्तरतात्पर्यं साध्यसाधनभावसबन्धे अन्त करणशुद्धिद्वारा ब्रह्मात्मैक्ये। एव देवताकाण्डस्यापि। ब्रह्मकाण्डस्य तु साक्षादेव जीवब्रह्मैक्य प्रतिपादनपरत्व 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्तीति' श्रुते। एव च तत्र तत्र उपनिषत्सु प्रासङ्गिकेन रूपेण प्रतिपादिताना बहिरङ्गाणा यज्ञादीनामन्तरङ्गाणा शमादीना प्रतिपादनमुखेन सकलोपनिषदा तात्पर्यनिरूपणपरमिदमुपनिषद्भगवत्पादीय भाष्यम्। गुरव आचार्या जन्मत सर्वज्ञा यतो हि अनुवृत्ता शुश्रूषादिना सेविता गुरव गौडपादगोविन्दभगवत्पादा यैस्तथोक्ता सता वृत्ति चक्रु इत्यन्वय। सता नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनसम्पन्नानाम् अनर्थनिवृत्त्युपलक्षितानन्दावाप्तये अर्थात् वार्तिक-तत्फलकमिति। वेदान्तानामद्वैतपरत्वप्रतिपादन मुख्य फल भेदावलम्बिशुष्कतार्किकोत्थापितशङ्कानिरास अवान्तरफलम् आगममूलकयुक्त्या लेशत प्रतिपाद्यते। तस्या लेशत इत्यनेन ग्रन्थौद्धत्यप्रकाशनार्थमिति वेदितव्यम्। तस्या अर्थाविष्करण प्रक्रम्यते।

सबन्धवार्तिकम्—अथ तस्यास्य कर्मकाण्डेन सबन्ध इति भाष्य सबन्धवार्तिकमिति विबुधै निगद्यते। अनेन भाष्येण प्राचीनैरुपवर्णिताना सबन्धाना निरासमुखेन साध्यसाधनभावसबन्ध उपवर्णित।

संबन्धप्रतिपादनपरस्य 'अस्य भाष्यस्योपरि ११३५ (श्लोकाः) वार्तिकानि प्रणीतानि सुरेश्वराचार्यैः यत्सवन्धवार्तिकमिति भण्यत अभियुक्तैः। यत्र वेदान्तशास्त्राभिमत समस्तमेयप्रमेयजातमुपनिबद्धमस्ति। एवमधिकारिभाष्यं प्रयोजनभाष्यञ्चेति महान् दु खगाहोऽय पन्था इति।

वेदप्रामाण्यनिरूपणम्—प्रातःस्मरणीयनामधेयैः भगवत्पादैः संबन्धप्रतिपादनात्पूर्वं वेदाना प्रामाण्य सम्यग्समर्थितम्। अप्रसिद्धप्रमाणभावानां, वेदानां (वेदान्ताना) सबन्धप्रतिपादनं निष्प्रयोजनमापद्येत। अत एव भगवत्पादा आदौ वेदप्रामाण्य समर्थयामासु। तथा च भगवत्पादै य भाष्य "सर्वोऽप्यय वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः · सर्वपुरुषाणा निसर्गत एव तत्प्राप्तिपरिहारयोरिष्टत्वादिति" (पृ.५)। अस्यायमभिप्रायस्तथाहि—को नाम वेद तस्य किं लक्षण कथं तस्य प्रामाण्यमिति जिज्ञासा जायते। अतस्तदादौ निरूपणीयं भवति। सामान्यज्ञानानन्तर हि विशेषजिज्ञासा समुदयते। तत्रेद उच्यते मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् अर्थात् मन्त्रब्राह्मणात्मकः नियतस्वरानुपूर्विकः शब्दराशिरिति। सर्वोऽपि चेतनः इष्टं मे स्यात् अनिष्ट मा भूदिति पर्येषते। तस्य उपायः लोके प्रत्यक्षेणानुमानेन वाऽवगम्यते, सः लौकिकोपायः यथा विषयादिभोग औषधसेवा च। यत्र उपायः लौकिकेन प्रमाणेनावगम्यते किन्तु शास्त्रेणैव वेदापरपर्यायेन ज्ञायते स च उपाय. अलौकिक इति उच्यते। उपाय बोधयति यो ग्रन्थः स वेद इति तल्लक्षणम्। यथा "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति। अत्र स्वर्गादिरूपस्य इष्टस्य प्राप्तेरुपाय: ज्योतिष्टोमयाग.। स चानेन विधिवाक्येन प्रतिपाद्यते। अय चोपायः शास्त्रेणैव समधिगम्यते न लौकिकः। अतोऽयं उपायोऽलौकिक इति व्यपदिश्यते। एवं 'न ब्राह्मणं हन्यात्' इति अनिष्टपरिहारस्यालौकिक उपायः तद्वर्जनमिति वेदादेवावगम्यते,। अतः इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरुपायः धर्माधर्मशब्दप्रवेदनीय इति उभयत्र लक्षणसमन्वय.। अत्रालौकिकपदेन प्रत्यक्षानुमाने अनुव्यावर्तेते। अनुभूयमानस्य स्रक्चन्दनवनितादेः इष्टप्राप्तिहेतुत्वमौषधसेवादेः अनिष्टपरिहारहेतुत्वं च प्रत्यक्षादेवावगम्यते। स्वेनानुभविष्यमानस्य पुरुषान्तर्गतस्य च इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारहेतुत्वमनुमानेनावसीयते। न खलु ज्योतिष्टोमादि स्वर्गप्राप्तिहेतुकलञ्जभक्षणवर्जनादि अनिष्टपरिहारहेतुरित्ययमर्थः।

शाब्दिकप्रवरेण तार्किकशिरोमणिना वाऽवगन्तुमनुमातु वा शक्यते तस्मादलौकिको उपायबोधको वेद इति। वेदशब्दश्च यौगिकः उञ्छादिगणे पठितः, वृषादिगणे पठितः रूढ.यो दर्भमुष्टिवाची। अत एवोक्तमभियुक्तै.।

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता" ॥ इति।

एवं च प्रागुद्धृतस्य भाष्यस्यायमर्थः समस्तो वेदः कर्मकाण्डदेवताकाण्डज्ञानकाण्डात्मकः इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपाय बोधयति। अत एव प्रायेण पुंसा इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोर्लौकिक उपायः अभीप्सितो भवति। अय च भाष्यसन्दर्भः भगवता आनन्दज्ञानेन त्रेधा व्याख्यातः।

'सर्वोऽप्ययं वेदः' इत्यादिभाष्यस्याद्यव्याख्यानम्—तत्र भवानानन्दज्ञानः "एषोऽर्थोऽध्ययनविध्युपात्तः सर्वोऽपि काण्डद्वयात्मको वेदो मानान्तरानधिगत यदिष्टोपायादि तज्ज्ञापनपरस्तथा चाज्ञातज्ञापकत्वाविशेषात्तुल्य प्रामाण्य काण्डयोरिति" प्रथमं व्याख्यानम्।

द्वितीयं व्याख्यानम्—"अथवा वेदन वेदोऽनुभवः। स च शब्देतरमानायोग्यो रूपादिहीनत्वात्। 'एतदप्रमेयम्' इति हि श्रुतिः। स चेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायस्तस्यैव तत्तदात्मनाऽवस्थानात्। 'सच्च

स्यच्चाभवत्' इत्यादिश्रुतेः। स च प्रकाशनः सर्वप्रकाशकत्वात्। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इति श्रुतेः। स च परोऽविद्यातत्कार्यातीतत्वात्। 'विरजः पर आकाशात्' इत्यादि श्रुतेः। एवंरूपो वेदपदवेदनीयश्चिदेकरसः प्रत्यग्धातुरेव सर्वोऽपि कार्यकारणात्मकः प्रपञ्चः। 'आत्मैवेदं सर्वम्' इति श्रुतेः। तथा च यथोक्तं वस्तु प्रकाशयन्तो वेदान्ता विधिवाक्यवत्प्रमाणमिति" इति द्वितीयं व्याख्यानम्।

तृतीयं व्याख्यानम्— तृतीयं च व्याख्यानमिदानीं प्रकाश्यते। "प्रत्यक्षादिनाऽनवगतो योऽभीष्टप्राप्त्याद्युपायो ब्रह्मात्मा तस्य प्रकाशनपरः सर्वोऽप्ययं वेदः। तस्यैवाज्ञातत्वात्तत्र कर्मकाण्डं कर्मानुष्ठानप्रयुक्तबुद्धिशुद्धिद्वारा ब्रह्माधिगतावारादुपकारकम् (परम्परया सहकारीति टिप्पणग्रानुसन्धेया)। 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इति श्रुतेः। ज्ञानकाण्डं तु साक्षादेव तत्रोपयुक्तम्। परमपुरुषस्यौपनिषदत्वश्रवणात्। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति च श्रुतेः। तद्युक्तं कर्मकाण्डवज्ज्ञानकाण्डस्यापि प्रामाण्यमिति"। अतः पूर्वोक्तरीत्या वेदस्य प्रामाण्यं सिध्यति। तथा चोक्तम् 'तस्य ज्ञानमुपदेशः' इति (मी० द० १-१-५)। अस्यार्थः—तस्य प्रत्यक्षादिभिरनवगतस्य धर्मस्य ब्रह्मणश्च ज्ञानं ज्ञापकम्। करणे ल्युडन्तोऽयं ज्ञानशब्दः। प्रत्यक्षाद्यनुपलब्धेऽर्थे उपदेशः। वेदवाक्यं प्रमाणं तस्य स्वार्थे प्रमाणान्तरानपेक्षत्वात्। इदं बादरायणस्यापि सम्मतम्। अत्रत्या टिप्पणी नवमत्रिंशत्पृष्ठयोः जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्या।

प्रमाविचारः—प्रमाकरणं प्रमाणमित्युच्यते। करणं चासाधारणं कारणम्। अत्र चायं प्रमाकरणं प्रमाणमित्यत्र समेषां दार्शनिकानां मतैक्यम्। परन्तु प्रमाशब्दार्थे वैमत्यं दृश्यते। यथार्थानुभवः प्रमेत्याचक्षाणाः नैयायिकाः याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यमाचक्षते। तच्च तद्वति तत्प्रकारकत्वे सति अनुभवस्वरूपम्। वेदान्तिनस्तु अज्ञातार्थज्ञापकत्वं प्रमायाः लक्षणमिति प्रतिपादयन्ति। अर्थेऽनुपलब्धविशेषणात्। व्यवहारे भाट्टनयः इति न्यायाच्च। अज्ञातार्थज्ञापकत्वमात्रस्य प्रमालक्षणत्वे शुक्तौ इदं रजतमित्यत्रापि उक्तलक्षणस्य गमनादतिव्याप्तिस्स्यात् तद्वारणाय अबाधितत्वविषयविशेषणम्। अयमर्थः अव्यतिरेकशब्देन सूचितः। चकारः अनुक्तसमुच्चयार्थः असदिग्धत्वं गमयति। एवं च अनधिगतः अबाधितः असदिग्धः प्रयोजनवान् योऽर्थः तद्विषयकत्वे सति ज्ञानत्वं प्रमायाः लक्षणमिति। न्यायकणिकायां वाचस्पतिमिश्रैः परिष्कृतमिदं लक्षणमुक्तम्। अत्र नैयायिकोक्तं प्रमालक्षणमिति प्रमालक्षणं परिशील्यमानम् अस्मदुक्तलक्षण एव परिवसति अनुभवविशेषणदानेनैव। अत एवानधिगताज्ञातार्थज्ञापकत्वमिति प्रमालक्षणं सर्वतन्त्रसिद्धान्त इत्युक्तं गूढार्थतत्त्वालोके मधुसूदनसरस्वतीभिः। अज्ञातज्ञापकत्वं हि प्रामाण्यमिति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः।

प्रमाविवेचनम्—अत्रेदं बोध्यं यत्प्रमाणं भवति तद्बोधकमेव भवति न अबोधकं भवति। अतः बोधकत्वं स्मृतिसंशयविपर्ययज्ञानसाधारणमिति अधिकदेशवृत्तित्वाद्व्यापकं भवति। प्रामाण्यं तु न्यूनदेशत्वात् व्याप्यं भवति। यथा धूमस्याग्निर्व्यापको भवति तथा प्रामाण्यस्य बोधकत्वं व्यापकं भवति। प्रामाण्यं च व्याप्यं भवति। प्रमायाः ज्ञानविशेषत्वं दर्शयितुमेव सूत्रे विशेषणत्रयमुपात्तम्। औत्पत्तिकः अर्थेनोपलब्धे अव्यतिरेकश्चार्थे अबाधितेऽनधिगतेऽसदिग्धे चार्थे प्रमाजनकं प्रमाणमिति। तत्र अबाधित इत्यनेन विशेषणेन विपर्ययज्ञानविषयाद्व्यावृत्तिः क्रियते। अनधिगत इत्यनेन स्मृतेः असन्दिग्धे इत्यनेन संशयविषयाद्व्यवच्छेदः क्रियते। एवंभूते विषये यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रमा। तस्याः जनकं वेदवाक्यमिति। इदं च ज्ञानानां प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते स्वत एव ज्ञायत इति स्वतः प्रामाण्यमित्युच्यते। इदं च मतमस्मद्गुरोर्भगवतो बादरायणस्यापि सम्मतम्। प्रामाण्ये परापेक्षायाः अभावात्। स च वेदः अपौरुषेयः। अत एव निरस्तसमस्तदोषाशङ्कः इति समस्तस्यापि वेदस्य प्रामाण्यं सुस्थितं भवति। तदनन्तरं तस्य

विषयादिजिज्ञासा जायते। तत्सबन्धप्रतिपादन सगत भवतीत्यप्रेत्य भगवत्पादै सबन्धकथनात् पूर्वं वेदस्य प्रामाण्य प्रासाधि। तत्रोपनिषद. प्रधान बोधकतया स्वत.सिद्धप्रमाणभाव इति तदुपकारित्वात् कर्मकाण्डस्य देवताकाण्डस्य च तदुपकारित्वमिति।

तात्पर्यलिङ्गनिरूपणम्—भगवान्सर्वज्ञकल्प. मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दराशि भारतीयानामस्माक परम सर्वस्व तस्यावान्तरतात्पर्य कर्मकाण्डादौ महातात्पर्य तु जीवब्रह्मैक्य एव इति प्रतिज्ञामात्रेण प्रागवादिष्म। साम्प्रत तात्पर्यनिर्णय कथ भवति तत्र कति लिङ्गानीति सङ्क्षेपेणाधस्ताद्रुपवर्ण्यते। वाक्य तात्पर्यविषयीभूतेऽर्थे प्रमाण भवति न तु प्रतिपादनेऽर्थे। यत्पर सब्द स शब्दार्थ इति न्यायात्। स चार्थ पौर्वापर्यपरामर्शेनैव शब्दाना वर्णयितव्य। समेषा वेदवाक्याना तत्र तत्रार्थे तात्पर्यनिर्णयोपयोगीनि लिङ्गानि प्राचीनैराचार्यैर्वेदार्थावगमायैकेन पद्येन सगृह्य उपवर्णितानि। यथा—

"उपक्रमोपसहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्ग तात्पर्यनिर्णये" ॥ इति।

अस्मिन् प्राचीनपद्य उपक्रमोपसहाराभ्यामेकमेव लिङ्गमभिप्रेतम्। तेन लिङ्गानि षडित्युपपद्यतेऽन्यथा तयोर्भेदे सप्तसङ्ख्यापात। अत ताभ्या सप्तसङ्ख्याप्रसङ्ग। ताभ्या तत्तद्वाक्यीयाऽऽद्यन्तभागनिष्ठमेकार्थपर्यवसायित्व लक्षणया बोध्यते। द्वितीयञ्च लिङ्गमभ्यास। अभ्यासो नाम अनन्यपर पुन श्रवणम्। तृतीय च लिङ्गमर्थवाद। स च स्तुतिनिन्दाऽन्यतरप्रतिपादन वचनमभिधीयते। एतानि त्रीणि लिङ्गानि शब्दघटितत्वाच्छब्दनिष्ठलिङ्गमित्यभियुक्तैर्व्यवह्रियते। एतानि च त्रीण्युपक्रमोपसहारौ अभ्यास अर्थवादश्चेति शब्दनिष्ठान्यतिप्रसङ्गवारकाणि यथा ब्राह्मणस्य यज्ञोपवीतादीनि। एतानि चातिप्रसङ्गनिराकरणमुखेन प्राकर्मिकेऽर्थे तात्पर्यग्राहकाणि।

अपूर्वताफलमुपपत्तिश्चेति त्रीणि लिङ्गानि प्रामाण्यशरीरसपादकानि। अपूर्वत्वञ्च प्रमान्तरागोचरत्वम्। प्रकृतवाक्यद्वावगम्यार्थज्ञानात्प्राक् केनापि प्रमाणान्तरेणाज्ञातत्वम्। अर्थात् अज्ञातार्थज्ञापकत्वमनधिगतार्थगन्तृत्वमिति मन्तव्यम्। पञ्चम च लिङ्ग फल प्रकृतवाक्यार्थज्ञानस्य फलवत्त्वमपि तात्पर्यग्राहक भवति। षष्ठ च लिङ्गमुपपत्ति। सा चाबाधितत्वम्। अर्थात् प्रकृतवाक्यार्थस्याबाधितत्वमेतत्त्रय चार्थनिष्ठ यथा चायमत्र निष्कर्ष शब्दनिष्ठस्य लिङ्गत्रयस्यातिप्रसङ्गवारकत्वम्। अर्थनिष्ठस्य लिङ्गनिष्ठस्य प्रामाण्यस्य स्वरूपसपादकत्वमिति।

उपक्रमोपसहारयोरेकार्थनिष्ठत्वम्—एकस्य वाक्यस्यानेकार्थभाने तात्पर्यसशये सति यस्मिन्नर्थे आद्यन्तभागयोरुपक्रमोपसहारयो पर्यवसान भवति स एव तात्पर्यविषय इति सप्रधार्यते। इतरथा तस्य वैयर्थ्य प्रसज्ज्येत। क्वचित्त्वनुवादकत्वशङ्कानिरासयापि तस्य लिङ्गत्वम्। यदीद वाक्यमेतमर्थमनुवदेत्तर्हि इदमेवानर्थक स्यादुक्ते सभवति। तस्मादुपक्रमोपसहारयोरेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यनिर्णायकत्वेन लिङ्गत्वमुरीकर्तव्यम्।

अभ्यासः—द्वितीय त्वभ्यासनामकमिद चैकस्मिन्नर्थे वाक्यस्य तात्पर्यमित्यत्र गमक भवति। अध्वरमीमासकै द्वितीयाध्यायद्वितीयपादद्वितीयाधिकरणे 'समिधो यजती'त्यादौ पञ्चकृत्वोऽभ्यस्तेषु यजतिषु कर्मभेदकप्रमाणतया समर्थितम्। तस्यायमाशय, एकेन विहितस्यान्येन विधानायोगात् नानाकर्मविधाने तात्पर्यग्राहकमभ्यासनामकम्। पूर्वोत्तरपक्षादिक तत्रैवद्रष्टव्यम्। प्रकृते च सिद्धार्थविषयक सदेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यग्राहकतया लिङ्गमिति व्यपदिश्यते। अतोऽभ्यासस्यैकस्मिन्वस्तुन्यादर

ज्ञापनद्वारा तात्पर्यग्राहकत्वम् । यथोक्तं यास्कीये निरुक्ते—'अभ्यासे हि भूयस्त्वमर्थस्य भवति यथाऽहो दर्शनीया, अहो दर्शनीयेति'। भामतीनिबन्धेऽपि वाचस्पत्ये ईदृश्येवाऽऽनुपूर्वी दृश्यते । अस्यायं भावो दर्शनीयस्य पदार्थस्याभ्यासेन दर्शनीयतमत्व प्रतीयते ।

अभ्यासार्थवादयोरन्यतरेणान्यतरस्य गतार्थताशङ्कासमाधाने—अभ्यासः प्राशस्त्यज्ञापनद्वारा यथा तात्पर्यग्राहकः तथैवार्थवादोऽपि प्राशस्त्यज्ञापनद्वारा तात्पर्यज्ञापको भवति । तर्हि एतयोः कस्को विशेष इति शङ्का जायते । अत्रेदं समाधानं बोध्यमभ्यासेनर्थान्तरादुत्कृष्टत्वरूपं प्राशस्त्य बोध्यते । अतोऽभ्यासार्थवादयोरन्यतरेणान्यतरस्य चरितार्थ्यम् । न वाऽभ्यासार्थवादयोरैक्यमिति ।

अपूर्वता—अपूर्वत्वमपि तात्पर्यग्राहक लिङ्गम् । तच्च प्रकृतवाक्यार्थविषयस्य ज्ञानात्पूर्वं प्रमाणान्तरेणाज्ञातत्वम् । एतेन प्रामाण्यशरीरप्रविष्टमज्ञातार्थज्ञापकत्वरूपमनधिगतार्थगन्तृत्वं बोध्यते । अत इद प्रामाण्यशरीरसंपादनमुखेन तात्पर्यग्रहे निर्णयहेतुर्भवति ।

फलम्—उक्तज्ञानस्य प्रयोजनवत्वं ज्ञानस्य हानोपादानोपेक्षाबुद्धया फलानीति न्यायभाष्यकारः वात्स्यायनमुनिः बभाषे । अत इदमपि प्रयोजनप्रतिपादकमुखेन प्रमाणशरीरनिर्वाहमुखेन तात्पर्यनिर्णायकं भवति ।

उपपत्तिः—उपपत्तिर्नाम उक्तज्ञानविषयस्याबाधितत्वम् । एतस्य लिङ्गत्रयस्य प्रामाण्यस्वरूपसंपादनमुखेन तात्पर्यं प्रति ज्ञापकताऽपि लिङ्गत्वमुपपद्यते । यथा यज्ञोपवीतादिक ब्राह्मण प्रति । एतेषां त्रयाणा मध्ये आद्यं विशेषणमपूर्वनामक "य एव विद्वान् पूर्णमासी यजत" इति विद्वद्वाक्यं समुदायानुदकम् । तस्य स्वार्थे प्रामाण्यवारणायोपात्तम् । द्वितीय च विशेषण'मुत्ताना वै देवगवावहन्ति' इत्यादेः प्रामाण्यवारणाय । सकलस्य वेदस्याध्ययनकर्तव्यता बोधयतः । अध्ययनविधेः प्रयोजनवदर्थज्ञानपर्यवसायित्व जिज्ञासाधिकरणोक्त न प्रस्मर्तव्यम् । अतो यादृश ज्ञानं प्रमातुरिष्टप्रयोजकं भवति तस्यैव प्रमात्वेन लोके व्यवहारो दृश्यते । निष्प्रयोजनस्य केनापि पुसा प्रामाण्यानभ्युपगमात् । अतः द्विविधेन लिङ्गत्रयेण तात्पर्यावधारणात् तात्पर्यवति चार्थे शब्दप्रमाणं भवति । तात्पर्यवविश्रुतिः प्रत्यक्षाद्बलवतो न श्रुतिमात्रमिति अभ्युक्तोक्ते. । तत्रापि निष्प्रपञ्चस्य वाक्यस्य प्राधान्य सप्रपञ्चवाक्यस्यार्थतदङ्गत्वमित्यादि सिद्धिलघुचन्द्रिकयोः (४२५-४२६ पृष्ठयोः) निपुणतरमुपपादितम् ।

उपक्रमादीनां समन्वयनिरूपणम्—तत्त्वमसीति वाक्ये त्रीणि पदान्युपलभ्यन्ते । अत्र तत्त्वंपदयो सामानाधिकरण्य श्रूयते । तच्च वाच्यार्थयोः सर्वज्ञत्वकिंचिज्ज्ञत्वादिविशिष्टयोः विरुद्धधर्माक्रान्तयोरभेदायोगेनानुपपन्ने सति तत्त्वपदार्थयोः विरुद्धविशेषणात्यागेन जीवब्रह्मैक्यस्वरूपमात्रे लक्षणाऽङ्गीक्रियते । तथा लक्ष्यमाणावपि ब्रह्मजीवौ भेदेनैव प्रतीयेयाताम् । लक्ष्यकोटयननुप्रविष्टस्य भेदस्य प्रतीतावपि अघटमानस्याभेदस्य साक्षाद्भेदप्रतीत्याऽत्यन्तमघटना स्यात् । अत. भेदकविशेषणयोरिव भेदस्य त्याग. तात्पर्यानुरोधात् । तात्पर्याधीनत्वाच्छब्दवृत्ते. । लक्ष्यमाणदशायामेवप्रत्यग्ब्रह्मैक्यप्रतीतिदशायामेव शाब्दस्याभेदस्य प्रतीते. तत्त्वपदार्थौ ब्रह्मजीवपयन्तौ लक्षणीयौ ।

तत्र छान्दोग्यवाक्य तदर्थं त्वमर्थपर्यन्त लक्षयति । बृहदारण्यकवाक्यं तु त्वमर्थं तदर्थपर्यन्त लक्षयति । अर्थात् छान्दोग्यस्थ तत्त्वमसीति वाक्यमस्मात्प्राक्तन तदर्थं त्वमर्थपर्यन्तमानयति । 'यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिद विज्ञात भवती"ति सर्वविज्ञानप्रतिज्ञादिना । बृहदारण्यकवाक्य तु "स वा एष महानज आत्मा" इत्यतः प्राक्तन त्वमर्थ तदर्थपर्यन्तमानयति । "अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति" इति

प्रश्नोत्तरलिङ्गेन। तत्र तत्पदार्थे विशेषणाशत्यागाय छान्दोग्ये "वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यमिति" श्रुतिरुपकरोति । बृहदारण्यके तु त्वपदार्थे विशेषणाशत्यागाय अनन्वागतस्तेन भवति । "असङ्गो ह्यय पुरुष" इत्याद्यसङ्गत्वश्रुतिरुपकरोति । एव च तत्त्वपदार्थयो जीवब्रह्मपर्यन्तता प्रतिपादनेन परस्परोपकाररूपस्य उपकारस्य प्रयोजनस्यैक्याद्विधैकत्वम् । अयमर्थ न्यायसङ्ग्रहे विवरणाचार्यैरुपपादितम् । विस्तरस्तु परिमले द्रष्टव्यः । अत. सर्वेषा वेदवाक्याना जीवब्रह्मैक्यप्रतिपादन एव तात्पर्यमिति । असकृद्भगवत्पादैस्तद्व्याख्यातृभिश्च प्रतिपादितमित्यद्वतवेदान्तिभिरेव पय पीतमिति ।

उपनिषत्प्रतिपाद्यनिरूपणम् – सर्वास्वुपनिषत्सु बृहदिति सविस्तर वार्तिकवचनावष्टम्भेनोपापादि । तत्र षडध्याया. । काण्डत्रयमिति च पूर्वमवोचाम । तत्र मधुकाण्डे ब्राह्मणक्रमेणाध्यायचतुष्टयम् उपनिषत्क्रमेण चाध्यायद्वयम् । तत्र मधुकाण्डे अध्यायद्वयात्मके मधुद्वयम् । आथर्वणा दध्यङ्महर्षिः त्वाष्ट्र कक्ष्यञ्चेति मधुद्वयमुपादिक्षत । तत्र आद्य त्वाष्ट्र मधु प्रवर्ग्याख्यस्य कर्मणोऽङ्ग यज्ञस्य शिरश्छेदप्रतिसन्धानादिविषय दर्शनम् । द्वितीय तु कक्ष्य गोप्य रहस्यमित्यर्थ परमात्मसबन्धिविज्ञानम । तत्र प्रथमद्वितीयौ अध्यायौ प्रवर्ग्यकर्मविषयौ, अस्य कर्मकाण्डत्वेन भगवत्पादै न तस्य भाष्यमकारि । अत एव (तृतीयचतुर्थाभ्यामध्यायाभ्या) प्रथमद्वितीयाभ्या प्रतिपादितोऽर्थ । चतुर्थाध्यायस्यावमाने 'इय पृथिवी सर्वेषा भूताना मधु" इत्यादिना अनेकपर्यायै मधुब्राह्मणे न्यरूपि । मधुकाण्डञ्च चतुर्थाध्यायेन समापितम् । तस्य गुरुपरम्पराऽपि 'अथ वश' इत्यादिना 'ब्रह्म स्वयभु ब्रह्मणे नम इत्यन्तेन प्रकीर्तिता ।

याज्ञवल्क्यमुखेनागमप्रधानेन मधुकाण्डेनोपदिष्टोऽर्थ तृतीयचतुर्थाभ्यामध्यायाभ्या वादकथा जल्पकथा चाश्रित्य विस्तरेण निरूपित । अत एवेदमध्यायद्वयमृषिकाण्ड मुनिकाण्डमिति याज्ञवल्कीय काण्डमित्यपि अभियुक्तै व्यवाहारि । तस्यापि पृथगाचार्यवश निरूपित । तत कानिचित् उपासनानि श्रीमन्थपुत्रमन्थादिक कर्म चेति अवशिष्टमपेक्षितमर्थ प्रतिपादयति खिलकाण्ड पञ्चमषष्ठाध्यायात्मकम् । तदन्ते च सम्पूर्णाया बृहदारण्यकोपनिषद आचार्यवशपरम्परा समाम्नाता ।

अत एव मुनिकाण्डे चतुर्थब्राह्मणस्यावसाने अद्वैतात्मतत्त्वबोधनाय नानोपायवर्णन स्थालीपुलाकन्यायेन लिङ्गाना वर्णनम्—"स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभय वै ब्रह्माभयꣳ हि वै ब्रह्म भवति य एव वेद" (बृ उ ४ ४. २५) । अस्यार्थ —जन्मजरामरणादिरहितोऽविद्याकार्यरहित आत्मा भयरहित ब्रह्म तद्विद्वानपि अभय ब्रह्मैव भवतीति वेदान्ताना सारभूतोऽर्थ उपसमाहारि । *तथा च भगवत्पादीय भाष्यम्—*

"इदानी समस्तस्यैवाऽऽरण्यकस्य योऽर्थ उक्त स समुच्चित्यास्या कण्डिकाया निर्दिश्यत एतावान्समस्तारण्यकार्थ इति" ।

एवमागमकाण्डेऽपि मधुब्राह्मणावसाने "तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्" (बृ उ २ ५ १९) इति समाम्नायते । अत्तानुशासनमित्यस्य अशेषस्य सर्ववेदान्तोपदेश इत्यर्थ । 'कारणरहित ब्रह्म' इत्यादिना कार्यकरणविनिर्मुक्तमेकरस पूर्ण प्रत्यगभिन्न ब्रह्म सर्ववेदान्तसारमिति स्वय ब्रूते । एव षष्ठेऽध्याये चतुर्थब्राह्मणे "स वा एष महानज आत्मा योऽय विज्ञानमय प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशान" (बृ उ ४ ४. २२) इति । अत्र "योऽयं विज्ञानमय" इत्यादिना जीवमनूद्य तस्य प्रमाणान्तरानधिगतासंसारात्मत्व बोध्यते । अत्र "सर्वस्य वशी सर्वस्येशान" 'न कर्मणा वर्धते नो कनीया' नित्यादिवचनान्यसंसारिस्वभावनिरूपणपराणि ।

द्रष्टान्तरनिषेधमुखेनाद्वैतवर्णनम्—अव्याकृतप्रक्रियायामपि "स एष इह प्रविष्ट. । आ नखाग्रेभ्यो यथा क्षुर क्षुरधानेऽवहित स्याद्विश्वभरो वा विश्वभरकुलाये" (बृ उ १ ४ ७) इत्यादिना स्व-सृष्टे कार्ये देहादौ प्रवेशमभिधाय तस्यैव प्राणनादिक्रियाकर्तुं प्राणादीनामभावत्वमुपवर्णयति "स प्राण-न्नेव प्राणो भवति पश्यञ्चक्षु शृण्वञ्श्रोत्र"मित्यादिना । क्वचिच्चाशेषविशेषशून्यतया अपास्तसमस्त-विशेषणमात्मतत्त्व तात्पर्येण निरूपयति ।

उक्तार्थे साक्षितयाऽक्षरब्राह्मणस्योपन्यास.—तथा अक्षरब्राह्मणे ' स होवाचैतद्वै तदक्षर गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वदीर्घमलोहितमस्नेह"मित्यादि । एवमेव सर्वविशेषनिषेधक "स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीयतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यती"ति (बृ उ ४ ५ १५) । ईदृशमात्मन स्वरूप लोकत तर्कशास्त्राद्वेदादपि विधिकाण्डान्नावगम्यते । परन्तूपनिषद्भिरेवावगम्यते 'त त्वौपनिषद पुरुष पृच्छामी' ति वाक्य मुक्तकण्ठ ब्रूते । उपनिषत्स्वेव प्राधान्येन प्रतिपाद्यमानत्वैवौपनिषदत्वम् । यथोक्त भगवत्पादै शारीरकमीमासाभाष्ये समन्वयसूत्र—

"नन्वात्माऽहप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्न न तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात् । न ह्यहप्रत्ययविषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षिसर्वभूतस्थस्सम एक कूटस्थनित्य पुरुष विधिकाण्डे तर्कसमये वा केनचिदधिगत सर्वस्यात्मा" इति ।

अद्वैतवेदान्तिना सर्वस्व विवर्तवाद – विवर्तवाद स्वप्ने बाधितानामत एव मिथ्याभूताना रथादिपदार्थाना सृष्टिकथनेन स्फुट प्रतिपादित । यथा—"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथ सृजते' (बृ उ ४ ३ १०) इति । इद च श्रुतिवचन प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनि-षेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वाना रथादीना स्वप्ने रथादीना सृष्टिमभिदधानो विवर्तवाद स्फुटीकरोति ।

किंच "यस्मिन पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठित" इत्यादिना द्वैतवत् ब्रह्म इत्युक्त्वा "नेह नानाऽस्ति किंचन" इति द्वैतमासेधती श्रुति मुक्तकण्ठमेव द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमुपपादयति । "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति । तद्यथा ऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृते प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदछशरीरछशेतेऽथायमशरीरोऽमृत प्राणो ब्रह्मैव तेज एव" (बृ उ ४ ४ ७) इत्यादिवाक्यजात जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति चोपनिषत्प्रसिद्ध समुपवर्णयति । अपि च "यत्राय पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणा क्रामन्त्याहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समव-नीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृत शेते"(बृ उ ३ २ ११) 'यत्राय पुरुषो म्रियते किमेन न जहातीति" (बृ उ ३ २ १२) इति च वाक्यजातमस्मिन्सन्दर्भेऽनुसन्धेयम् ।

मेधासम्पन्न विदेहाना राजा जनक न्यायकुशलोऽनुमानमार्गेण महर्षिणा याज्ञवल्क्येन बोधित । तत्र यज्ञादिप्रसङ्गे विद्वत्समाजकल्पनया ब्रह्मविदुषा पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहसमाकर्णनकुतूहलीविद्वद्भ्य बहु-द्रविणदातेति सुप्रसिद्ध श्रुतिषु गीतादिषु च । अत एव ब्रह्मवेत्ता काशिराज अजातशत्रु सासूय ब्रूते 'जनको जनक इति जना धावन्ती' ति ईदृशस्य शिष्यलक्षणसम्पन्नस्य जनकस्य राज्ञ सर्वज्ञस्य याज्ञ-वल्क्यस्य च प्रश्नप्रतिवचनपरम्परोपन्यासेनाऽऽत्मन व्यतिरिक्त स्वयज्योतिष्ट्व स्वप्रकाशत्वापर-पर्यायमवस्थात्रयसचारादिनाऽसङ्गत्वमसंसृष्टत्वमविलुप्तचितिस्वरूपत्व निरतिशयानन्दरूपत्वमद्वैतत्व मुक्तस्वरूपञ्चेत्याद्यनेकप्रमेयजात न्यायमार्गेणोपपादित दृश्यते । 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध' इति विनेयाना प्रज्ञाभिवृद्धि तद्विद्संसयोग इति न्यायसूत्रेणोपन्यासेनोपवर्णिता ।

याज्ञवल्क्यमैत्रेयीसंवादस्याभ्यासे प्रयोजनकथनम्—एवं मैत्रेयीब्राह्मणं मधुकाण्डे द्वितीयेऽध्याये याज्ञवल्क्यकाण्डे चतुर्थे चान्ते समथितं विराजते। तात्पर्यनिर्णायकेषु षट्सु लिङ्गेष्वभ्यासनामकमन्यतम लिङ्गम्। तेन प्रतिपिपादयिषितेऽर्थे तात्पर्यमवसीयते। तच्च चतुर्थाध्यायस्थितं ब्राह्मणं मधुकाण्डोक्तस्य सर्वस्यार्थस्य निगमनस्थानीयम्। अयं च न्यायं वाक्यकोविदैः परिगृहीतं हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति। अस्य नोडपत्र विशेषतोऽवलोकनीयम्।

अत्र हेत्वन्तरोपन्यासः—अथवा आगमप्रधानेन मधुकाण्डेन यदमृतसाधनं स संन्यासमात्म-विज्ञानमभिहितं तदेव तर्केणापि अमृतत्वसाधनं स संन्यासमात्मज्ञानमधिगम्यते। आगमोपपत्तिभ्यां हि निश्चितोऽर्थः श्रद्धेयो भवति अव्यभिचारादिति' एवं चागमप्रधानेन मधुकाण्डेन ब्रह्मतत्त्वं निर्धारितम्। पुनः तस्यैवोपपत्तिप्रधानेन याज्ञवल्क्यकाण्डेन पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहं कृत्वा विगृह्य वादेन विचारितम्। 'शिष्याचार्यसंबन्धेन च षष्ठे प्रश्नप्रतिवचनन्यायेन सविस्तरं विचार्योपसंहृतम्। अथेदानीं निगमन-*स्थानीयं मैत्रेयीब्राह्मणमारभ्यते*" इति।

भगवत्पादानां श्रुतिपारवश्यं पारम्पर्यानुसारित्वादिनिरूपणम्—श्रीमन्तः श्रुतिस्मृतिपुराणा-नामालया भगवत्पादाः काण्वशाखीयामुपनिषदं वेदार्थनिर्णयोपयोगिन्यायरत्नपूर्णेन अविच्छिन्नगुरु-सम्प्रदायानुसारिणा ब्रह्मात्मैक्यप्रतिपादनपरेण भूषयन्ति स्म। न केवलमिदं वृत्तिनामकं भाष्यं बृहदारण्य-कोपनिषद एव सर्वज्ञकल्पस्य भगवतो वेदस्य तात्पर्यमवधारयति। किं बहुना समग्रस्यैव मन्त्रब्राह्मणात्म-कस्य शब्दराशेः साक्षात्परम्परया च ब्रह्मात्मैक्यमेवावधारयति। तत्राऽपि काण्डत्रयात्मना वेदस्य तात्पर्यं निरूपयति। अर्थात् 'इषे त्वा' इत्यादेः कर्मकाण्डस्य यागादेः स्वर्गस्य च साध्यसाधनभावसंबन्ध-स्वान्तरतात्पर्यमन्तःकरणशुद्धिद्वारा जीवब्रह्मैक्ये परमतत्त्वञ्चावगमयति। एवं देवताकाण्डस्यापि। उपनिषदां तु साक्षादेव ब्रह्मप्रतिपादनपरत्वमर्थात् सर्वेषां वेदवाक्यानां साक्षात् परम्परया वा ब्रह्म-प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मैक्यप्रतिपादनं इत्यवधेयम्।

इमे भगवन्तः भाष्यकारचरणाः श्रुतीनां पौर्वापर्यालोचनया स्वरसतया श्रुतिप्रतिपाद्यमेवार्थ-मुपपादयन्ति न तु नैयायिकादिभिस्तर्केणोपपादितमर्थं क्लिष्टकल्पनया श्रुत्यर्थत्वेन कदापि नाङ्गीकुर्वन्ति। प्रत्युत अपौरुषेयवेदवाक्यानां विरोधे तार्किकयुक्तीनामेवाभासत्वं मुक्तकण्ठमुद्घोषयन्ति।

वेदान्तानामद्वैते तात्पर्यस्वीकारे शङ्कासमाधाने—ननु ब्रह्मात्मैक्ये साध्यसाधनभावादिभेदमा-श्रित्य प्रवृत्तं पूर्वकाण्डं विधिनिषेधात्मकं प्रत्यक्षादिलौकिकप्रमाणानि च कथमुपपद्येरन्निति नैवाशङ्कनीयम्। 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' इत्यभियुक्तानां वचनानुसारेण मिथ्याज्ञानप्रसूतानां कामानामनर्थरूपत्वेऽपि यो लोकतः यथाप्राप्तकामानुपादाय तत्साधनानि उच्चावचानि काम्यानि कर्माणि भगवती श्रुतिर्विधत्ते। यथाप्राप्तमविद्याप्रत्युपस्थापितं साध्यसाधनेति कर्तव्यताभेदमाश्रित्येष्टप्राप्त्युपायेऽनिष्टपरिहारोपाये च स्वभावतः प्रवृत्तस्य पुंसः तद्विशेषमजानतस्येष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायमुपदिशति कर्मशास्त्रम्।

लोकतो यथाप्राप्तस्य क्रियाकारकफलभेदस्य सत्यतामसत्यतां वा नैवाभिधत्ते श्रुतिरुदास्तेऽत्र विषये। अतः कर्मकाण्डं नाप्रमाणं भवितुमर्हति। एवं च सर्वोऽपि वेदः प्रमाणमिति विवेचयन्ति भगवत्पादाः।

सिद्धेऽर्थे आत्मास्तित्वादौ वेदान्तानामेव प्रामाण्यमिति निरूपणम्—अत एव भगवत्पादाः संबन्ध-ग्रन्थे 'तस्यास्य कर्मकाण्डेन संबन्धोऽभिधीयते" इति प्रतिज्ञां विधाय तदर्थमेव "सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षा-नुमानाभ्यामनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः" (पृ ५) इति वाक्यसन्दर्भेण सिद्धार्थे

प्रामाण्य प्रासीसधत् । तत्र "सर्वपुरुषाणा निसर्गत एव तत्प्राप्तिपरिहारयोरिष्टत्वा"दिति हेतुवाक्येन प्रामाण्यावयोगितया ससारव्याविवृत्सुभ्य इति भाष्येण विद्याधिकारिसोलभ्य वर्णयामासु । तत प्राभाकरमीमासकाभिमते कार्ये वेदान्तप्रामाण्य "दृष्टविषये चेति 'वाक्येण निराकृत्य 'न चासति जन्मान्तरसम्बन्ध्यात्मास्तित्वविज्ञाने जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारेच्छा स्या' दित्यादिवचनसमुदायेन परैरपि वेदस्य सिद्धार्थे प्रामाण्यमङ्गीकर्तुमिति सर्वथाऽप्यस्ति आत्मा कर्मभि शुद्धान्त करणस्य वैराग्यादिसाधनचतुष्टयद्वारा ज्ञानोत्पत्तिसबन्ध कर्मज्ञानकाण्डयो प्रतिज्ञात समर्थित भगवत्पादै ।

अस्मिन्प्रसङ्गे च वेदान्तदर्शनस्य यच्च यावच्चापेक्षित प्रमेयजात सर्वमपि विचारित सगृहीतञ्च । विशेषजिज्ञासुभि सबन्धवार्तिक द्रष्टव्यम् । तत्र श्रुतिस्मृतियुक्तिभि सम्प्रदायगतसिद्धान्तसमर्थन स्वयूथ्याना भर्तृप्रपञ्चादीना मतनिरासादिकञ्च । स्वपक्षप्रतिपक्षभूतानि तार्किकमतानि निरासाञ्चक्रु ।

उक्तार्थस्य स्पष्टीकरणम्—स्वसिद्धान्तपरिशोधनाय "केचित् यथा ब्रह्मेति भावीपुरुष निर्दिश्यते । ब्राह्मण इति व्याचक्षते" (पृ २५५) इति । एव भिन्नाभिन्न ब्रह्म अर्थात् अनेकात्मक ब्रह्म इति भर्तृप्रपञ्चाचार्यस्य मतम । अत्र भाष्य "सैन्धवघनवत प्रज्ञानैकरसघन निरन्तर पूर्वापरबाह्याभ्यान्तभेदवर्जित सबाह्याभ्यन्तरमज नेति नेति अस्थूलमनण्वह्रस्वमजमभयममृतमित्यभिधेयमित्याद्या श्रुतय निश्चितार्थसम्पर्कविपर्यासशङ्कारहिता सर्वा समुद्रे प्रक्षिप्ता स्युरकिञ्चित्करत्वादिति" ।

एव तृतीयेऽध्याये ग्रहातिग्रहार्तभागब्राह्मणे भर्तृप्रपञ्चाचार्य ससारमृत्योरन्तरालावस्थाकल्पना भगवत्पादै वेदबाह्यत्वदूषणेन खण्डिता दृश्यते । यथा—

"केचिद्वर्णयन्ति ग्रहातिग्रहस्य सप्रयोजकस्य विनाशेऽपि किल न मुच्यते । नामावशिष्टोऽविद्योपरस्थानीयया स्वात्मप्रभवया परमात्मन परिच्छिन्नो भोज्याच्च जगतो व्यावृत्त उच्छिन्नकामकर्मान्तराले व्यवतिष्ठते । तस्य परमात्मैकत्वदर्शनेन द्वैतदर्शनमपनेतव्यमित्यत पर परमात्मदर्शनमारब्धव्यमित्येवमपवर्गाख्यामन्तरालावस्था परिकल्प्योत्तरग्रन्थसबन्ध कुर्वन्ति' ।

अनेन सन्दर्भेण भर्तृप्रपञ्चाचार्यस्य कल्पनामुपवर्ण्य 'तत्र वक्तव्य मित्यादि ग्रन्थजातेन त दूषयित्वा "तस्मादत्यन्तनिकृष्टा शास्त्रबाह्येव कल्पना । प्रकृत तु वर्तयिष्याम" इत्यादिना स्वमतमुपस्थापयन्तो भगवत्पादा हि अत्र भर्तृप्रपञ्चकल्पनाया अत्यन्तनिकृष्टत्वे वेदान्तशास्त्रबाह्यत्व हुनूकुर्वन्तीत्यवधेयम् ।

मूर्तामूर्तब्राह्मणे भर्तृप्रपञ्चमतोपन्यासनिरासौ—एवमेव मूर्तामूर्तब्राह्मणे भाष्यकार— 'औपनिषदमन्या अपि केचित्प्रक्रिया रचयन्ति । मूर्तामूर्तराशिरेक परमात्मराशिरुत्तमस्ताभ्यामन्योऽन्य मध्यम किल तृतीय कर्त्रा भोक्त्रा विज्ञानमयेनाजातशत्रुप्रतिबोधितेन सह विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञासमुदाय"। कर्मराशि लिङ्गाश्रित । "तथापि यथा पुष्पाश्रितो गन्ध पुष्पवियोगेऽपि पुटतैलाश्रयो भवति तद्वल्लिङ्गवियोगेऽपि कर्मराशि परमात्मैकदेशमाश्रयति । स परमात्मैकदेश किलान्यत आगतेन गुणेन कर्मणा सगुणो भवति निर्गुणोऽपि स कर्ता भोक्ता बध्यते मुच्यते च विज्ञानात्मेति" । भर्तृप्रपञ्चसमता बदीयाः प्रक्रिया निरूप्य "तत्र च तार्किकै सह सधि कुर्वन्तो"त्यादिना भाष्यसन्दर्भेण क्वचिदशे वैशेषिकाद्यनुसारिणी क्वचिद्देशे साङ्ख्यानुसारिणीति वर्णयामासु भगवत्पादा । अनन्तर वदन्ति—"सर्वमेतत्तार्किकै सह सामञ्जस्यकल्पनारमणीयत्व पश्यन्ति" इत्युक्त्वा "तस्माद्वेदार्थमूढाना स्वचित्तप्रभवा एवमादिकल्पना अक्षरबाह्या । न ह्यक्षरबाह्यो वेदार्थो वेदार्थोपकारी वा । निरपेक्षत्वाद्वेदस्य प्रामाण्य प्रति ।

तस्माद्राशित्रयकल्पनाऽसमञ्जसा" इत्यन्तेन भाष्यसन्दर्भेण तदीया कल्पना निराकुर्वन्तो दूषणमध्ये "तस्माच्छ्रुत्यर्थकल्पनाऽकुशला. सर्व एवोपनिपदर्थमन्यथा कुर्वन्ति । तथाऽपि वेदार्थश्चेत्स्यात्कामं भवतु न मे द्वेष"इति समुद्घोषयन्ति । इय च भाष्यसूक्ति भाष्यकाराणा पारमार्थिकमौपनिषदत्व विशदयतितमाम् ।

पौर्वापर्यपरिशीलनेनाविरोधेनैव वेदार्थवर्णनम्—अपि च श्रुतीना पौर्वापर्यपरिशीलनेन श्रुतिवचोभि. बोधितमर्थ गुरुपरम्परानुसारेण निर्धारयति । यथा उत्पत्तिप्रकरणे'अग्ने· विस्फुलिङ्गा'इति दृष्टान्तवचनेन परमात्मनः अश जीवात्मेति अशवादिना पक्षनिराकरणाय श्रुतेः विज्ञानात्मन एकत्व-प्रतिपादनायेति श्रुतितात्पर्यं समुपवर्णयन्ति । अन्ते च निर्धारयन्ति यत्पूर्वापरालोचनेन परमात्मैक्य प्रत्ययदृढीकरणाय इति । तथाहि—"अग्नेर्हि विस्फुलिङ्गोऽग्निरेवेत्येकत्वप्रत्ययार्हो दृष्टो लोके । तथा चाशो ऽशिनेकत्वप्रत्ययार्ह । तत्रैव सति विज्ञानात्मन. परमात्मविकाराशत्ववाचका शब्दा. परमात्मै-कत्वप्रत्ययाधित्सव. । उपक्रमोपसहाराभ्यां च । सर्वासु ह्युपनिपत्सु पूर्वमेकत्व प्रतिज्ञाय दृष्टान्तैर्हेतु-भिश्च परमात्मनो विकाराशादित्व जगतः प्रतिपाद्य पुनरेकत्वमुपसहरति । तस्मादुपक्रमोपसहारा-भ्यामर्थो निश्चीयते परमात्मैकत्वप्रत्ययद्रढिम्न उत्पत्तिस्थितिलयप्रतिपादकानि वाक्यानीति" । सभव-त्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदस्तु नेष्यत इति । "तद्विध्येकवाक्ययोगे च सभवत्युत्पत्त्यादिवाक्याना वाक्यान्तर-त्वकल्पनाया न प्रमाणमस्ती"ति ।

स्वाभिहितेऽर्थे द्रविडाचार्यसमतिकथनम्—'अत्र च सप्रदायविद आख्यायिका सप्रचक्षते'—इत्यादिना (पृ ४९६) द्रविडाचार्यप्रतिपादितया साप्रदायिकाख्यायिकया व्याधशूलत्वाभिमानिन राज-प्रत्ययस्य आत्मन. ब्रह्मप्रत्ययस्य द्रढीकरणार्थं दृष्टान्तश्रुतीनामुपष्टम्भित दरीदृश्यते ।

विनयेनैवार्थविवेचनसरणि.—किं च विरुद्धत्वेन भासमानानामर्थविशेषनिर्णयाय भगवत्पादाना विनयपूर्विकैव वाक्यार्थविचारप्रवृत्तिः दृश्यते । यथा श्रुतिस्मृतिवाक्यानि शतश उपलभ्यन्ते इतरेतर-विरुद्धानि । आचारश्च तद्विदाम् । विप्रतिपत्तिश्च शास्त्रार्थप्रतिपत्तौना बहुविदामपि । अतो न शक्यते शास्त्रार्थः मन्दबुद्धिभिर्विवेकेन प्रतिपत्तुम् । परिनिष्ठितशास्त्रन्यायबुद्धिभिरेव एषा वाक्याना विषयविभाग· शक्यतेऽवधारयितुम् । तस्मादेषा विषयविभागज्ञापनाय यथा बुद्धिसामर्थ्य विचारयिष्याम इत्यनेनाव-गम्यते । उपनिषदर्थनिर्धारणे सप्रदायक्रमागतेषु गुरुषु तेषा श्रद्धा न युक्तिषु । नैतावतावगन्तव्य सुधीभि । श्रुत्यविरुद्धाना तर्काणा प्रतिपादने महानादरो दृश्यते । यथा चिन्तयसि च त्व न निर्णेष्यसि किं न निर्णेतव्यमिति वेदवचन न । कथ तर्हि बहुप्रतिपक्षत्वात् एकत्वादित्वमेको वेदार्थपरत्वात् । बहवो हि भेदवादिन वेदबाह्यत्वात्प्रतिपक्ष. । अतो ममाशङ्का न निर्णेष्यसीति एतामेव स्वस्तेन यन्मामेकयोगिनमनेकयोगिबहुप्रतिपक्षमात्थ अतो जेष्यामि सर्वानारभे च चिन्तामिति ।

किं च वेदशास्त्रादीना स्वीययुक्तिबलेनैवार्थं साध्यता तार्किकाना यथाभूतशास्त्रार्थावधारण न सम्भवतीति उपपादयन्ति । यथा तार्किकैस्तु परित्यक्तागमबलै· अस्ति नास्ति कर्ता अकर्तेत्यादि बहुविरुद्धतर्कयद्भि. आविष्कृता शास्त्रार्थमर्यादा तेनाथनिश्चयो दुलभ । ये तु वेदशास्त्रानुसारिण. शान्तदर्पा तेषा प्रत्यक्षविषयेष्विव निश्चितश्शास्त्रार्थ देवादिविषय इति । एवमेव यदाऽपि मत किञ्चद्वस्तुपरिकल्प. ये श्रुतिर्व्याचक्षते तद्व्याख्यान सर्वथोपेक्षणीय'मित्युपदिशन्ति भगवत्पादा. । यथा ये तु अतोऽन्यथा आत्मवस्तुपरिकल्पबन्धमोक्षादिशास्त्रमर्थवादमापादयन्ति ते उत्सहन्ते खेऽपि शाकुन पद दृष्ट त्व वा मुष्टिनाऽऽत्रष्टु चमवद्वेष्टितुम् । वयं च तत्कर्तुमशक्ता सर्वदा समभेकरसमद्वितीयमज प्रतिपादयितु प्रवर्तामह इति ।

परमतनिराकरणेऽपि भगवत्पादानां पक्षपातराहित्यम्—भगवत्पादा औपनिषद राद्धान्तं प्रतिपादयन्त तत्प्रतिपक्षभूताना परपक्षाणामपि निरासञ्चक्रु । तन्निराकरणे अयमेव हेतुर्यद्वैदिक-श्रेयोमार्गपरिपन्थित्वम् । अत एव चतुर्थे विविधसौगतमताना प्रदर्शनपूर्वक तेषा निरासोपक्रमे—"सर्वा एता कल्पना बुद्धिविज्ञानावभासकस्य व्यतिरिक्तस्याऽऽत्मज्योतिषोऽपह्नववादस्य श्रेयोमार्गस्य प्रतिपक्ष-भूता वैदिकस्य । तत्र येषा बाह्योऽर्थोऽस्ति तान्प्रत्युच्यते तावत्"—इत्यनेन च समुद्धरणेनेदमवगम्यते यदौपनिषदसिद्धान्तविरोधिना चार्वाकसौगतावान्तरमतविशेषाणामभेदेन तर्कबलेन निरास एवाभिमत इति । एव वेदबाह्यमतनिराकरणे स्वयूथ्याना सन्निकृष्टानामौपनिषदमन्यमानाना पक्षविध्वसनेन च सर्वोपनिषदर्थप्रकाशकत्व बृहदारण्यकोपनिषद साधु सजाघटीति । अपि च भगवत्पादाना परपक्षदूषण-मपि न व्यसनितया परद्वेषपर्यवसायि अपि तु औपनिषदसिद्धान्तावधारणपर्यवसायि । अत एव शारीरक-भाष्ये तर्कपादापरनाम्नि द्वितीयचरणे वभाषिरे यत्परपक्षनिराकरण परद्वेषकर वीतरागाणा मुमुक्षूणा न कर्तव्यमित्याशङ्क्य वेदार्थतत्त्वनिर्णयोपयोगित्वेन तस्य कर्तव्यत्व व्यवस्थापितम् । तथा च भाष्यम्—

"ननु मुमुक्षूणा मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवल कर्तु युक्तम् । कि परपक्षनिराकरणेन परद्वेषकरणेन । बाढमेव । तथापि महाजनपरिगृहीतानि महान्ति सांख्यादि-तन्त्राणि सम्यग्दर्शनोपदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत् केषाञ्चित् मन्दमतीना एतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपा-देयानि इत्यपेक्षा । तथा युक्तिगाढत्वसंभवेन सर्वज्ञभाषितत्वाच्च श्रद्धा सतेषु इत्यत तदासारतोपपा-दनाय प्रयत्यते" इति ।

अस्य च भाष्यसन्दर्भस्य व्याख्यानाय प्रवृत्तो भामतीपतिवाचस्पतिमिश्र कथयति । वीतरागकथाया अपि परपक्षदूषणगर्भता निर्णयफलकत्वेन हेतुना यथा तत्त्वनिर्णयावसाना वीतरागकथा । न च परपक्षदूषणमन्तरेण तत्त्वनिर्णय शक्य कर्तुमिति तत्त्वनिर्णयाय वीतरागेणापि परपक्षो दूष्यते । न तु परपक्षतया इति न वीतरागकथात्वव्याहतिरिति । अपि चैकस्यैवात्मन अशनायाद्यतीतत्व तद्वत्त्व चेति विरुद्धधर्मसबन्ध कथ सगच्छतामिति शङ्कायां परिहारप्रसङ्गे भगवत्पादा प्रतिपादयन्ति । न हि परमार्थावधारणनिष्ठाया वस्त्वन्तरास्तित्व प्रतिपद्यामहे । "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादिश्रुते । नामरूपव्यवहारकाले त्वविवेकिना क्रियाकारकफलादिव्यवहारो नास्तीति न प्रतिषिध्यते । तस्माज्ज्ञा-नाज्ञाने अपेक्ष्य सर्वा अपि व्यवहारा शास्त्रीया लौकिकाश्च न विरुध्यन्ते । अतो न कश्चन विरोध-शङ्कालेशोऽपि । सर्ववादिनामपि अपरिहार्य परमार्थसव्यवहारकृतो व्यवहार इति ।

आत्मज्ञानस्य फलमानन्दरूपत्ववर्णनञ्च परस्परविरुद्धधर्मवत्त्वशङ्कापरिहारो—आगमोपप-त्तिभ्या सिद्धान्त प्रतिपाद्य तदनन्तर शोकमोहादिनिवृत्तिश्च प्रत्यक्ष फल ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानस्येति अवोचामेति वदन्तो विद्वदनुभवमपि प्रमाणयन्ति भाष्यकारा । तत्र तत्र च ज्ञानकर्मसमुच्चयस्य न मुक्तिहेतुत्व किन्तु सन्याससहितात्मज्ञानादिति पक्ष च भुज्युब्राह्मणव्याख्यानावसरेषु बृहदारण्यकभाष्ये तात्पर्येण सोपपत्तिक व्यवस्थापयन्ति । अय च विषय ईशोपनिषद्भाष्योपसहारे मुण्डकोपनिषद्भूमिकाया तैत्तिरीयोपनिषद्विवरणे छान्दोग्योपनिषदारम्भे गीताभाष्ये च तत्र तत्र कञ्चन प्रसङ्गमापाद्य ज्ञानकर्म-समुच्चयवाद पराकुर्वन्ति । जीवब्रह्मैक्यसाक्षात्कार एव साधनमिति च समर्थयन्ति । 'त्यागेनैकेऽमृतत्व-मानशु' रिति श्रुति । अस्यामेवोपनिषदि समुच्चयवादनिरासावसरे "केचित्तु वावदूका श्रुत्युक्तविशेषार्थान-भिज्ञा सन्त पुत्रादिसाधनाना मोक्षार्थता वदन्ति । तेषा मुखापिधान श्रुत्येद कृत जाया मे स्यादित्यादि

पाङ्क्तं काम्यं कर्मेत्युपक्रमेण पुत्रादीनां च साध्यविशेषविनियोगोपसंहारेण च । तस्मादेषश्रुतिरविद्व-द्विषया न परमात्मविद्विषयेति सिद्धम्" (पृ ३८८) ।

"केचित्तु ब्रह्मविदोऽप्येषणासंबन्ध वर्णयन्ति तैर्बृहदारण्यकं न श्रुतम् । व्यासवाक्यं च"........ तैर्न श्रुतम्—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः" ॥ इति ।

पुत्रप्रतिवचनरूपमत्र केचिद्गृहस्थाः भिक्षाटनादिभयात् परिभवाच्च तृष्यमाणाः सूक्ष्मदृष्टिता दर्शयन्ति । भगवत्पादास्तु कर्मणः प्राधान्येन मोक्षहेतुत्व निरस्यन्तः ज्ञानोत्पत्तये यज्ञादीनि कर्माण्यारादुपकारकाणि अवश्यमनुष्ठेयानि । जन्मान्तरकर्मानुष्ठेयत्वमेव ब्रह्मचर्यम् । एवं शुद्धचित्तः तत्रैव आश्रमे स्थितः संन्यासाश्रमं स्वीकुर्यादन्यथा कर्माण्यनुष्ठेयान्येव चित्तशुद्धये इति निरूपयन्ति । तथा च भगवत्पादाः इमे श्रुतियुक्त्यनुभवैः प्रसन्नपदगम्भीरेणारन्तुदेन वाक्यजालेन बृहदारण्यकोपनिषदः परमतात्पर्य-निर्णायक भाष्यमकार्षुः । किं बहुना "तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुः" इति श्रुतिवाक्य-व्याख्यानावसरे तस्मान्मुमुक्षुः देवताराधनपरः श्रद्धाभक्तिपरः विद्याप्राप्ति प्रति ।

"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इत्यस्य मन्त्रस्य व्याख्या—अयं मन्त्रः भगवत्पादैः ज्ञानकर्मसमुच्चयपरतया व्याख्यातः । तथा च भगवत्पादीय भाष्यम् "विद्याञ्चाऽविद्याञ्च देवताकर्म देवताज्ञान कर्म चेत्यर्थः । यस्तदेतदुभय सहैकेन पुरुषेणानुष्ठेय वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण एव, एकपुरुषार्थसंबन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते । अविद्यया कर्मणाऽग्नि-होत्रादिना मृत्यु स्वाभाविक कर्म ज्ञान च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वा अतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञाने-नाऽमृत देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति । तद्ध्यमृत उच्यते यद्देवतात्मभावगमनमिति" । वाचस्पतिमिश्रा-भिमतोऽर्थ इत्थमलानन्दयतिना कल्पतरौ प्रादर्शि । तथाहि—विद्या वृत्तिम्, अविद्याञ्च कार्यकरणभावेन सहिते यो वेद स अविद्योपादानत्वेन सह तन्मय्या वृत्त्या तदुपादानं मृत्युमविद्यां तीर्त्वा स्वरूपभूतविद्यो-पलक्षितममृतमश्नुत इति । अर्थात् अविद्योपादानया ब्रह्माऽस्मिवृत्त्या अविद्यातरणेनाऽमृतत्व प्राप्नोतीति ।

अस्य मन्त्रस्य वार्तिकोक्तोऽर्थः—वार्तिककारैस्तु अयं मन्त्रः इत्थं व्याख्यातस्तथाहि—यः विद्या शास्त्रीयं कर्म अविद्यां स्वाभाविक कर्म चोभयं सह निवर्त्यनिवर्तकभावेन सहित वेद स अविद्यया शास्त्रीयकर्मणा मृत्यु स्वाभाविक कर्म तीर्त्वाऽतिक्रम्य विद्यया अद्वैततत्त्वविद्ययाऽश्नुते इति । एव भगवत्पादैः अभेद्येन तर्कजातेन परपक्षान्निराकृत्य अद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादकाः सर्वे पदार्थाः कणेहत्य विवेचिता बृहदारण्यकभाष्ये इति । भगवत्पादीय भाष्य परिशीलयता करबदरसमान समस्तमपि प्रमेयजातमवगम्यत इति । विदितवेदितव्यानां पुरस्तान्न किञ्चिद्वक्तव्यमवशिष्यत इति ।

वार्तिकान्ता ब्रह्मविद्या—तत्र भवान् वार्तिककारः बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये उक्तानुक्तदुरुक्त-चिन्तनात्मकं वार्तिक प्रणिनाय । तत्र च भगवत्पादीयभाष्यस्य तात्पर्यवर्णनमुखेन दुरुक्तचिन्तनमपि कृतं दृश्यते । तथाहि—यथा द्वितीयब्राह्मणे सृष्टिं प्रतिपादयन्तः भाष्यकारा एवं भाष्यमभाषिषत यत्तेजोबन्नाना सृष्टि वर्णयन्तः शाखान्तरीयवाक्यास्योपसंहारम् । अर्थात् एकवाक्यतामङ्गीकृत्य वर्णनी-

यमित्यभिधाय सृष्टिक्रमस्य ब्रह्मात्मैकत्वप्रतिपादने तात्पर्यं सृष्टिस्तु न विवक्षितेत्युक्तम्। तथा च भाष्यम्—"तस्य प्रजापतेरर्चत पूजयत आपो रसात्मिका पूजाङ्गभूता अजायन्तोत्पन्ना। अत्राऽऽकाशप्रभृतीना त्रयाणामुत्पत्त्यनन्तरमिति वक्तव्य श्रुत्यन्तरसामर्थ्याद्विकल्पासम्भवाच्च सृष्टिक्रमस्य"। अत्र वार्तिककाराविवक्षितमिद भाष्यकारीयमत विज्ञानिष्ठत्वादुपनिषदाम्। तथा च वार्तिके—"विद्योत्पत्तिप्रधानत्वात्सृष्टिर्वा न विवक्ष्यते। तथा च प्रतिवेदान्त सृष्टिर्नानाविधेक्ष्यते" ॥ (वा १ २ १४६) इति।

एवमेव पुत्रेणायं लोक जय्य कर्मणा पितृलोक विद्यया देवलोकेति। अत्र एवकार सर्वत्र वाक्ये सयोज्य भगवत्पादा व्याचक्षते। परन्तु वार्तिककार इद व्याख्यान नानुमेने। अपि त्विद निरस्य प्रकारान्तरेण व्याख्याञ्चकार। यथा—'विद्यया देवलोकाप्ति श्रुतत्वादेव कारणात्। नैवकाराभिसबन्धादेवेत्यत्र न सगति"। (वा १ ५ २५६) इति। 'पुत्रस्यैवावधृतय एवकारो भवेदयम। पितृदेव लोकसप्राप्ति श्रुतेहान्यैश्च साधनै ॥ व्याख्यानमिदमेवात्र विदोष दोषवत्परम। इदमेव ततो ग्राह्य न तु यद्दोषवन्मतमिति" ॥ वा २८० २८१ ॥ प्रकृतसस्करणे ३७७ पृष्ठेऽय विषय क्रोडपत्रकारै सविस्तरमुपपादि। विशेषस्तु तत्रैव द्रष्टव्य।

'एत वै तमात्मान विदित्वा ब्राह्मणा पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति तस्माद्ब्राह्मण पाण्डित्य निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्" (बृ उ ३ ५ १)इत्यत्र ब्राह्मणशब्दश्रवणाद्ब्राह्मणस्यैव सन्यासेऽधिकार इति भाष्यकारा प्रतिपादयामासु। वार्तिककारस्तु 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदि त्यादिसन्यासविधायकश्रुतौ ब्राह्मणादिवर्णत्रयसाधारण्येन प्रवृत्तत्वात् सामान्यश्रुतेश्चात्र ब्राह्मणग्रहणन विशेष सकोचककल्पकत्वात। ब्राह्मण क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहादिति विशेषस्मृत्यगृहीतत्वासभवात। अत्र ब्राह्मणग्रहण क्षत्रियवैश्ययोरुपलक्षणार्थम्। स ब्राह्मण बृहदारण्यकोपनिषदि ३५१ पृ इति उत्तरत्र वक्ष्यमाणफलावस्थब्राह्मणाभिप्रायक वा इति वर्णयन्ति। परन्तु भाष्यानुसारेण व्याख्या विधाय इदमसगतमित्याक्षिप्य समर्थयन्त स्वकीयपक्षमुपस्थापयन्ति यथा—

'त्रयाणामविशेषण सन्यास श्रूयते श्रुतौ।
यदोपलक्षणार्थ स्याद्ब्राह्मणग्रहण तदा ॥
एव चेद्ब्राह्मणोक्ति स्यादध्वस्ताविद्यगृहीतये।

स ब्राह्मण इति स्पष्ट श्रुतिरन्ते च वक्ष्यति' ॥ (वा ३ ५ ७८, ८२)

एव कहोलब्राह्मणेऽपि त्रयाणामपि वर्णाना श्रुतौ सन्यासदर्शनात ब्राह्मणस्यैव सन्यास इति श्रुत्या विरुध्यते इति च प्रतिपादयन्ति। किंच वार्तिककाराणामयमभिप्राय प्रतीयते यत् पूर्वोत्तरपक्षाभ्या सन्यासतद्धर्मविधिनिरूपण निष्फलमिति। यथोक्त वार्तिके—

'सत्सु प्रत्यक्षविधिषु यथोक्तष्वफल श्रम।
भिक्षाचर्य चरन्तीतिविध्यर्थ क्रियते महान ॥
तिष्ठासेदिति चात्रापि प्रत्यक्ष श्रूयते विधि।
तस्मिन्सति वृथा कस्माज्जनोऽय परिखिद्यते" ॥(३ ५ १६५ १६६) इति।

एव 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ उ ३ ९ २६) इत्यादिवाक्य न याज्ञवल्क्यस्य अपितु ततो निर्गत्य भगवत्या स्वतन्त्राया श्रुतेर्वचनमिति भगवत्पादीय व्याख्यानम। वार्तिककारस्तु भाष्यकारीय व्याख्यान यथावदुपपाद्य तदनन्तरमेतद्वाक्य याज्ञवल्क्यस्य प्रश्नान्तर्गतम। तथा वाक्यस्य विच्छेदे इति

शब्दादीनामन्यतमस्याभावात् वाक्यविच्छेदं विनैव पूर्ववाक्येणैकवाक्यतयैव व्याख्यानमुचितमिति।

"स एष नेति नेत्याद्यः प्रश्नो वाऽयं समीक्ष्यताम्।
मध्ये वाक्यच्छिदोऽभावादितिशब्दस्य पूर्ववत्" ॥(वा.३.६.१०४)॥ इति।

एवमेव चतुर्थस्य तृतीयब्राह्मणोपक्रमे "जनकं वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिष्ये" (बृ. उ. ४. ३.१) इति। इदं च भाष्यरीत्या एतेन संवदिष्य इति योजनया जनकेन सह संवादायैव याज्ञवल्क्यो जगामेति व्याख्यानं प्रदर्श्य भाष्योक्तव्याख्याया असाधुत्वमभिधाय स्वीयव्याख्यानस्य साधुत्वं निरूपयन्ति। यथा वार्तिके—

"राजैव पूर्वं पप्रच्छ एतस्माद्गम्यते स्फुटम्।
लिङ्गाद्व्याख्योत्तरा पूर्वा न साध्वीत्यप्रमाणतः" ॥ ४.३.१३ ॥ इति।

एवमेव "य एष विज्ञानमयः पुरुष" इति श्रुतिव्याख्यानावसरे भगवत्पादैः पुरि शयनात्पुरुष इति व्युत्पत्तिः प्रादर्शि। वार्तिककारस्तु पूरयन्पुरुष इति व्युत्पत्तिं वर्णयन्ति। यथा वार्तिके—

"पूरयन्पुरुषः प्रत्यक्सर्पादीन्रशना यथा।
व्युत्पत्तिरियमेवात्र तात्पर्यस्य समीक्षणात्" ॥ २. १. १६२ ॥

एवमेव याज्ञवल्क्यमैत्रेयीसंवादरूपे मैत्रेयीब्राह्मणे "अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः" इति मन्त्रव्याख्यानावसरे भगवत्पादैः इतिहासपुराणादिकं वैदिकमेव ग्राह्यमित्युक्तम्। ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः चतुर्विधं मन्त्रजातम्। इतिहास इति उर्वशीपुरूरवसोः संवादादिः। उर्वशीहाप्सरा इत्यादिब्राह्मणमेव ग्राह्यम्। पुराणम्—असद्वा इदमग्र आसीदित्यादि। अत्र वार्तिककारैः इदं निरस्य प्रसिद्धस्यैव इतिहासपुराणादेः ग्रहणमित्युक्तम्। तत्र भाष्यानुसारेण यदृग्वेदः इत्यादि व्याख्यायार्थान्तरमाह—इतिहासादिशब्दैः अष्टविधब्राह्मणस्य ग्रहणं न बाधकाभावे लोकप्रसिद्धेरपि अनतिक्रमणीयात्। तस्मात्प्रसिद्धानामेव इतिहासपुराणानां ग्रहणमिति। यथा प्रसिद्धमितिहासपुराणादपि गृह्यते। लोकप्रसिद्धिमुल्लङ्घयतीति न्यायोऽन्यथाग्रहः। अत्रत्यो विशेषः क्रोडपत्रतोऽवगन्तव्य.।

वार्तिककारापसिद्धान्तानां संग्रहः—श्रीमद्बादरायणशङ्करसुरेश्वरकृतमर्यादे अद्वैतवेदान्तदर्शने वार्तिककारीयत्वेन प्रसिद्धाः इमे सिद्धान्ताः जिज्ञासूनाम्। अन्तेवसन्ता सुखबोधाय स्थालीपुलाकन्यायेन केचन अधस्तात् प्रदर्श्यन्ते। यथा—

१. श्रवणे परिसंख्याविधिः।

२. शब्दार्थसंबन्धरूपशक्तिग्रहस्याभावेऽपि सुषुप्तस्य शब्दश्रवणात् प्रबोधवत्तत्त्वमसीति महावाक्याद्बोधो भवति। "अगृहीत्वैव संबन्धमभिधानाभिधेययोः। हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्ता बोधिताः परैः"। इति।

३. जीवविषये आभासवादः।

४. आत्मेत्येवोपासीत अभ्युपेत्यवादो नियमविधिरिति भाष्यम्।

५. संन्यासे त्रयाणामधिकारः।

६. भर्तृप्रपञ्चाभिमतस्य परिणामवादस्य विवर्तवादपरतया व्याख्यानम्।

७. सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमिति न सौषुप्तकालीनस्मरणं किन्त्वनुभव इति।

८ प्रतिबिम्बस्य मिथ्यात्वमिति आभासवादिनो वार्तिककार इति विन्दुटीकयोरुल्लेख इति।

एतेषामेव वार्तिककाराभिमताना सिद्धान्ताना सिद्धान्तलेशसंग्रहादौ विस्तरेण तत्तत्स्थलानि चाधस्तादुद्ध्रियन्ते। तथाहि—

'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य श्रोतव्य" इति श्रवणविधि' विचारप्रसङ्गे अप्पयदीक्षितै परिसंख्याविधि वार्तिककाराणामिति शास्त्र सिद्धान्तलेशसंग्रहे प्रस्तावे निरूपयन्ति। प्रतिबिम्बस्य मिथ्यात्वमित्याभासवादिन वार्तिककारा इति सिद्धान्तविन्दौ न्यायरत्नावल्याञ्च प्रथमश्लोकव्याख्याने।

ब्रह्मज्ञानार्थं वेदान्तश्रवण प्रवृत्तस्य चिकित्साज्ञानार्थं चरकसुश्रुतादिश्रवणे प्रवृत्तस्येव मध्ये व्यापारान्तरेऽपि प्रवृत्ति प्रसज्यत इति तन्निवृत्तिफलक "श्रोतव्य' इति परिसंख्याविधिरिति वार्तिकमतमिति सिद्धान्तलेशसंग्रहे दीक्षितेन्द्रा प्रतिपादयन्ति। यथा 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छा २ २३ १) इति छान्दोग्ये अनन्यव्यापारत्वस्य मुक्त्युपायत्वावधारणात् सम्पूर्वस्य तिष्ठते समाप्तिवाचितया ब्रह्मसंस्थाशब्दिताया ब्रह्मणि समाप्तेरनन्यव्यापाररूपत्वात्। "तमेवैक जानथ अन्या वाचो विमुञ्चथ" इत्याथर्वण,कण्ठत एव व्यापारान्तरप्रतिषेधाच्च। "आसुप्तेरामृते काल नयेद्वेदान्तचिन्तया" इत्यादिस्मृतेश्च। न च ब्रह्मज्ञानानुपयोगिनो व्यापारान्तरस्य एकस्मिन् साध्ये श्रवणेन सह समुच्चित्य प्राप्त्यभावान्न तन्निवृत्त्यर्थं परिसंख्याविधिर्युज्यत इति वाच्यम्। 'सहकार्यन्तरविधि' (उ मी ३ ४ १४ ४७) इत्यादिसूत्र 'यस्मात् पक्षे भेददर्शनप्राबल्यान्न प्राप्नोति, तस्मान्नियमविधि' इति तद्भाष्ये च कृतश्रवणस्य शाब्दज्ञानमात्रात कृतकृत्यता मन्वानस्य अविद्यानिवर्तकसाक्षात्कारापयोगिनि निदिध्यासने प्रवृत्तिर्न स्यादिति अतत्साधनपक्षप्राप्तिमात्रेण निदिध्यासने नियमविधेरभ्युपगतया तन्न्यायेनाऽसाधनस्य समुच्चित्य प्राप्तावपि तन्निवृत्तिफलकस्य परिसंख्याविधे सम्भवादिति।

'नियम परिसंख्या वा विध्यर्थोऽत्र भवेद्यत।
अनात्मादर्शनेनैव परात्मानमुपास्महे' ॥ (नै सि १ ८८) इति

वार्तिकवचनानुसारिण केचिदाहु। अस्य वार्तिकस्य अपूर्वविधित्व न सम्भवतीति कृष्णालंकार। चित्सुखीय व्याख्यान द्रष्टव्य जिज्ञासुभि।

सुप्तोत्थितस्य पुरुषस्य सुखमहमस्वाप्स न किञ्चिदवेदिषमिति ज्ञानमनुभवात्मकमिति। उक्त हि अव्याकृतप्रक्रियाया वार्तिके—

'न सुषुप्तगविज्ञान नाज्ञासिषमिति स्मृति।
कालाद्यव्यवधानत्वान्न ह्यात्मस्थमतीतभाक्'' ॥ १ ४ ३०० ॥

इद च वार्तिकमानन्दगिरिणा इत्थ व्याख्यात शास्त्रप्रकाशिकायाम। "उत्थितस्य नावेदिषमिति परामर्श स्वापकालीनाज्ञानविषयकादाचित्कानुभवोपनायको नेत्यत्र हेतुमाह—कालादीति। आत्मनो देशकालव्यवधानाभावात्तद्गताज्ञानस्यापि न तत्सबन्धस्तथा च नाज्ञासिषमित्यज्ञान पूर्वकालश्च साक्षिण्यध्यस्तौ तत्रैव दृश्येते' इति। ब्रह्मानन्दगौडस्तु न्यायरत्नावल्या न किञ्चिदवेदिषमित्याकाराज्ञानस्य जाग्रत्कालीनस्य स्मृतित्व न स्यादिति वाच्य तस्य तन्मतेऽनुभवस्य स्वीकारादिति। शब्दार्थसबन्ध ज्ञान विनापि सुप्तस्य शब्दश्रवणात् प्रबोधवत पदार्थबोधस्सम्भवति। यथोक्त वार्तिके—

"अगृहीत्वैव संबन्धमभिधानाभिधेययोः।
हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्ते बोधिताः परैः॥ १. ४. ८६१॥ इति।

जीवात्मविषये आभासवादः सम्प्रदाये प्रसिद्धः। अपरे तु न प्रतिबिम्बः नाप्यवच्छिन्नो जीवः। किन्तु कौन्तेयस्यैव राधेयत्ववदविकृतस्य ब्रह्मण एव अविद्याजीवभावः। व्याधकुलसंवर्धितराजकुमार-दृष्टान्तेन 'ब्रह्मैव स्वाविद्यया संसरति स्वविद्यया मुच्यते' इति बृहदारण्यकभाष्ये प्रतिपादनात्।

"राजसूनोः स्मृतिप्राप्तौ व्याधभावो निवर्तते।
तथैवमात्मनोऽज्ञस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यतः"॥ इति वार्तिकोक्तेश्च।

संन्यासे त्रयाणां वर्णानामधिकारः—शास्त्रसिद्धान्तलेशसंग्रहे वार्तिकमतं यथा वर्णितं तद्यथा—अत्र केचित् 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा' इत्याद्यविशेषश्रुत्या—

"ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात्।
त्रयाणामपि वर्णानाममी चत्वार आश्रमाः"॥

इति स्मृत्यनुगृहीततया क्षत्रियवैश्ययोरपि सन्यासाधिकारसिद्धेः श्रुत्यन्तरेषु ब्राह्मणग्रहणं त्रयाणामुपलक्षणम्। अत एव वार्तिकेऽपि 'अधिकारिविशेषस्य' इति श्लोकेन भाष्याभिप्रायमुक्त्वा—

"त्रयाणामविशेषेण सन्यासः श्रूयते श्रुतौ।
यदोपलक्षणार्थं स्यात् ब्राह्मणग्रहणं तदा"॥

इत्यनन्तरश्लोकेन स्वमते क्षत्रियवैश्ययोरपि संन्यासाधिकारो दर्शित इति। तयोः श्रवणाद्य-नुष्ठानसिद्धिं समर्थयन्ते।

"अन्ये तु ब्राह्मणस्यैव संन्यासो बहुधा श्रुतेः।
देवादिवदसंन्यासश्रवणं क्षत्रवैश्ययोः"॥

अन्ये तु अनेकेषु संन्यासविधिवाक्येषु ब्राह्मणग्रहणात् उदाहृत्य जाबालश्रुतौ संन्यासविधिवाक्ये ब्राह्मणग्रहणाभावेऽपि श्रुत्यन्तरसिद्धं ब्राह्मणाधिकारमेव सिद्धं कृत्वा 'सन्यासावस्थायामयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणः' इति ब्राह्मणपरामर्शाच्च ब्राह्मणस्यैव सन्यासाधिकारः। विरोधाधिकरणन्यायेन (पूर्व-मीमांसा १. ३. २) श्रुत्यविरुद्धस्यैव स्मृत्यर्थस्य सग्राह्यत्वात्। यत्तु संन्यासस्य सर्वाधिकारित्वेन वार्तिक-वचनं तत् विद्वत्सन्यासविषयं न तु आतुरविविदिषासन्यासे भाष्याभिप्रायविरुद्धसर्वाधिकारप्रतिपादन-परम्।

"सर्वाधिकारविच्छेदि विज्ञानं चेदुपेयते।
कुतोऽधिकारनियमो व्युत्थाने क्रियते बलात्"॥

इत्यनन्तरश्लोकेन ब्रह्मज्ञानोदयानन्तरं जीवन्मुक्तिकाले विद्वत्सन्यास एवाधिकारनियमनिराकर-णात्। एवं च ब्राह्मणानामेव श्रवणाद्यनुष्ठाने सन्यासोऽङ्गक्षत्रियवैश्ययोस्तन्निरपेक्षः श्रवणाद्यधिकार इति तयोः श्रवणाद्यनुष्ठाननिर्वाहः।

अस्यामुपनिषदि प्रतिपादनीयानि रोचकानि बहूनि कथानकानि यैरात्मतत्त्वं बहुकृत्वोऽपि पथ्यं वदितव्यमिति न्यायेन सुविशदमुपवर्णितम्। तेषां निरूपणे भूमिकाकलेवरविवृद्धिभयात् द्वित्राणि कथानकानि संक्षेपेण स्थालीपुलाकन्यायेन प्रदर्श्यन्ते।

मूर्तामूर्तब्राह्मणार्थस्य संक्षेपः—अयमत्र विषयपरिशुद्धिः। "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं चे"ति ब्रह्मणो रूपद्वयं प्रस्तुत्य "तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चेति" वाक्येन पृथिव्यप्तेजोरूप भूतत्रयात्मकं रूपं ब्रह्मणो मूर्तमिति निरूप्य तत्कार्यत्वेनादित्यमण्डलं प्रतिपादितम्। "तस्यैतस्य मूर्तस्य ....एष रसो य एष तपती"ति वाक्यसन्दर्भेण।

अत्रेयमाशङ्का जायते यद्यपि आदित्यमण्डलं पञ्चीकृतपञ्चभूतात्मकं भवति। तथापि त्रयाणामपि भूतानामतिस्पष्टत्वसाम्येन भूतत्रयकार्यत्वमादित्यमण्डलस्य प्रदर्शितमिति ज्ञेयम्। "अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चे"ति भूतत्रयममूर्तत्वेन निरूप्य तत्कार्यत्वेन चादित्यमण्डलदन्तर्वर्ती पुरुषस्समाम्नातः। "तस्यैतस्यामूर्तस्य............एष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष" इति। अत्रेदं बोध्यम्—यद्यपि आदित्यमण्डलान्तर्वर्ती पुरुषः चेतनः न साक्षाद्भूतकार्यं तथापि तच्छरीरस्य भूतकार्यत्वात्तदभेदोपचारेण सोऽपि भूतकार्यत्वेन निरूप्यते। यद्यपि तच्छरीरमपि भूतकार्यं तथाप्यस्पष्टत्वसाम्यात् वाय्वाकाशकार्यत्वमुक्तमिति ध्येयम्। एवमुक्तं मूर्तामूर्तप्रपञ्चमित्यधिदैवतमिति। देवतासम्बन्धित्वेनोपसमाहारि।

"अथाऽध्यात्ममिति" शरीरान्तर्गततया मूर्तामूर्तं प्रस्तुत्य "इदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश" योऽयमन्तरात्मन् शरीरे आकाशः तस्मात् यदन्यत् इति वाक्येन शरीरारम्भकं तेजोऽबन्नात्मकमाध्यात्मिकं निरूप्य तत्कार्यं चक्षुर्गोलकं समाम्नातम्। 'तस्यैतस्य मूर्तस्य.. ... एष रसो यच्चक्षुरि"त्यादिना। पूर्ववदत्रापि गोलकस्य पाञ्चभौतिकत्वेऽपि स्पष्टत्वाभिप्राय भूतत्रयकार्यत्वम्। "अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश" इति शरीरं वायुञ्चाकाशञ्चामूर्तत्वेन निरूप्य तत्कार्यत्वेन लिङ्गशरीरं निरूपितम् अस्पष्टत्वसामान्यात्। "तस्यैतस्यामूर्तस्य·········एष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष" इति लिङ्गशरीरस्य पुरुषपदप्रतिपाद्यत्वं च पुरुषतादात्म्येनेति विज्ञेयम्। यद्यपि तत् सर्वशरीरव्यापी तथापि तदभिमानिनो हिरण्यगर्भस्यादित्यरूपस्य 'इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष" इति वाक्यसन्दर्भेण दक्षिणाक्षिस्थानत्वावगमात् तदभेदोपचारेण लिङ्गशरीरमपि दक्षिणाक्षिस्थानत्वेन निरूपितम्। अनन्तरं च 'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथा सकृद्विद्युत्तमि"ति नानारूपतया लिङ्गं निरूपितम्। महारजनं हरिद्रा कुसुम्भं वा तेन रक्तं वासः माहारजनम्। पाण्डु श्वेतम्। अविलोमविकारभूतं कम्बलादि आविकम्। यो वर्षासु अतिरिक्तवर्णतया आविर्भवति कीटविशेषः स इन्द्रगोप इति प्रसिद्धः। विद्युत्त विद्युत् सकृदुदिता विद्युदित्यर्थः। अत्रेदमवधेयम्—द्वितीयेऽध्यायेऽजातशत्रुब्राह्मणे उपसंहारः—'तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्"। अयमर्थोऽवगम्यते अजातशत्रुब्राह्मणे वक्तव्यत्वेन प्रस्तुतस्य ब्रह्मणो यत् सत्यस्य सत्यत्वमुक्तम्। तत्र प्रथमशब्दोदितप्राणालम्बनमुपासनं प्रसङ्गात् शिशुब्राह्मणे निरूप्य यत् परमसत्यत्वं ब्रह्मणो द्वितीयसत्यपदेनोपन्यस्तम्। तत् प्रपञ्चनिषेधेन प्रदर्शयितुमेव मूर्तामूर्तब्राह्मणप्रवृत्तमिति सपिण्डितोऽर्थोऽवगन्तव्यः। "अथात आदेशो नेति नेती'ति शास्त्रं ब्रह्मणो रूपद्वयं लोकसिद्धं रूपद्वयं परामृशति प्रतिषेध्यत्वाय शुद्धब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनाय। अथवा पूर्वः प्रतिषेधः भूतराशिं द्वितीयो वासनाराशिम्। अथवा वीप्साय सर्वप्रतिषेधाय। तेनाविकारस्य सर्वस्य निषेधेनाविषयो ब्रह्मेति प्रतिपादयति ततो ब्रवीति च भूयः ३.२ २२ सूत्रे एषाऽक्षरयोजनेत्यादिना। तत्र प्रथमयोजनायामेतस्माद्ब्रह्मणोऽतिरिक्तं नास्तीति निषिध्यते। न तु स्वयमेव नास्तीति। द्वितीययोजनायान्तु न ह्येतस्मात् प्रपञ्चनिषेधरूपादादेशनात् अन्यत् परमादेशनं नास्ति। अस्मिन्पक्षे

नामधेयविषय योजनीयम् । अथ नामधेयम "सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्य तेषामेष सत्यमि"ति । तच्च ब्रह्मावसाने प्रतिपर्धेऽवकल्पते न त्वयावसाने । तस्मात ब्रह्मावसानोऽय प्रतिषेध नाभावावसान इति सक्षेप ।

गार्ग्या कथानकम्—महाराजेन जनकेन यज्ञे समवेताना ब्रह्मवेत्,णामुपस्तकहोलादीना पराजये गार्गी नाम ब्रह्मविदुषी काचिद्ब्राह्मणी सदस्यागत्य नमस्कारपूर्वक ब्राह्मणभ्योऽनुज्ञा प्राप्य याज्ञवल्क्यम-प्राक्षीत । उत्तरदाने अवाच्यवदन नाम निग्रहस्थान तददाने अप्रतिभा नाम निग्रहस्थानमित्युभयथा याज्ञवल्क्यस्य पराभव मन्वाना । याज्ञवल्क्य सर्वमिद जगद्भूत भवत् भविष्यच्च यत्राव्याकृताकाशे वर्तते । सोऽव्याकृताकाश कुत्राऽध्यस्त इति ।

याज्ञवल्क्यश्च तस्या अभिप्राय ज्ञात्वा एकदैव दोषद्वय परिहरन्नाह—"एतद्वै तदक्षर गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशम्··· · ···" (बृ० उ० ३-८-८) इत्यादि । अत्र ब्राह्मणा अभिवदन्ति इत्यनेन स्वस्यावाच्यवदनदोष पर्यहारि, स्थौल्यादि-सकलधर्मरहिताक्षरकथनेन चाऽप्रतिभा निराकारि । ततो नेतरसकलनिषेधमात्रत्वात अक्षरसिद्धिरिति शङ्काया सकलनिषेधावधित्वेन तत्सत्त्वमभिप्रेत्य "एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत" इत्यादिना द्यावापृथिव्यौ निमेषादिकालानद्यस्समुद्रा देव पितरश्चाक्षरस्य प्रशासने वर्तन्त इति सकलमर्यादाविधायकत्वेन अक्षरसत्त्वमभिधाय "यो वा एतदक्षर गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोती"त्यादिना यदज्ञानात्ससारकार्पण्य यज्ज्ञानाच्च तन्निवृत्तिरिति । तत्सर्वमुक्त्वा कुतस्तर्हि तन्नोपलभ्यत इत्याशङ्काया रूपचाद्यविषयत्वेऽपि सर्वसाध्यकत्वेन स्वय भासमान तदस्तीति द्रष्टृन्तर निषेधात् "अदृष्ट द्रष्टृ · ·· नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" इत्यक्षरसद्भाव प्रसाधयामास गार्गी प्रति इत्यक्षर-ब्राह्मणस्य सक्षेप । अत्र न्यायनिर्णये क्रोडपत्रे च वार्तिकोक्तानामनुमानाना स्वरूपवर्णनादिक विस्तरेणो-पपादित जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्यम् ।

अत्रेदमवधेयम्—यदस्ति तत्सविशेषणमेव भवतीति लोकप्रसिद्धि । नास्ति अक्षर पर ब्रह्मेति शङ्का न कर्तुमुचिता । अन्तर्यामिणि जगत्कारणे प्रशासनेऽनुमानसिद्धे निरुपाध्यक्षर सेत्स्यति । जग-त्कारणत्वस्योपलक्षणतया "जन्माद्यस्य यत" (ब्र सू १।२।२) इति सूत्रे सिद्धान्तितत्वात उपलक्षणद्वारा ब्रह्मणि स्वरूपलक्षणप्रवृत्ते प्रकृतेऽन्तर्यामिणि अनुमानमुपपद्यत इति ।

याज्ञवल्क्यमैत्रेयीब्राह्मणार्थस्य सक्षेप—महर्षियाज्ञवल्क्यो गृहस्थाश्रमात् सन्यासाश्रम जिगमिषु मैत्रेयीमुवाच सपत्न्या कात्यायन्या तव वित्त सभाग करिष्यामीति । सा तु अमृतत्वार्थिनी मुमुक्षुणा पत्या सह चिरवासेन तत्परिचरणादिलब्धान्त करणशुद्ध्या सजातमुमुक्षायापृच्छत् मैत्रेय्या वित्तसभागेन लब्धेन वित्तेनामृता स्यामिति । स तु प्रत्युवाच ताम् 'अमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेनेति" । यथैवोप-करणवतामशनवासनादिवता जीवित तथैव भवत्या अपि स्यात् । वित्तेनामृतत्वस्याशा नास्तीति । ज्ञानसाध्यत्वादमृतत्वस्य न तु कर्मसाध्यत्वम् । किञ्च कर्मणा तत्त्वविज्ञानविरोधिना तत्सहभावानुपपत्ते । ततो मैत्रेयी न वित्तेन प्रयोजनम् । यदेव भगवानमृतत्वसाधन वेद तदेव मे ब्रूहीति । ततो याज्ञवल्क्य उवाच एह्यास्स्व प्रिय भाषसे इति ता प्रशस्यतममृतत्वसाधनमात्मज्ञानमुपदिदेश । लोके पत्यादयो जायादीना प्रिया भवन्ति कस्मै प्रयोजनाय विचारे क्रियमाणे न पत्यादीना प्रयोजनाय प्रिया भवन्ति । अपितु आत्मन कामायैव प्रिया भवन्ति । अत एव तेषु स्वाऽभिमतसपादकत्व दशायामिव स्वानिष्ट सपादकत्वदशाया न प्रीतिरस्ति । अतस्तेषा प्रियत्व सोपाधिकमेव । आत्मनस्तु निरुपाधिकं प्रियत्वम् ।

तस्मादनात्मभ्यो वैराग्यं प्राप्य यत्र निरुपाधिकं प्रियत्वम् । तस्यैवाचार्योपदेशमनुश्रवणादिद्वारा तस्यैव साक्षात्कार इति ।

ततो "ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद" इत्यादिना । 'ल्यप्' प्रत्ययः प्रथमार्थे । आत्मान्यत्वेन दृष्टा ब्राह्मणत्वजातिरमृतत्वपदात् निराकर्तव्या । अर्थात् सर्वस्यापि जगतः आत्मैव तत्त्वम् रज्जुरिव सर्पस्य । अत्रानेकदृष्टान्तोपादानं सामान्यबहुत्वव्यापनाय । तदेव विशदयति चिन्मात्रानुगमात् सर्वत्र चिद्रूपतैवेत्याह—दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैर्यस्मिन्गृहीते यद्गृह्यते यस्मिन्न गृहीते न गृह्यते तत्तेष्वनुगतं भवतीति न्यायेन जगतो चिदात्ममात्रत्वं निरूपयति श्रुतिर्भगवती ।

एवमुत्पत्तिकालेऽपि प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मैवेति ज्ञातुं शक्यमित्याह । एवमार्द्रैधाग्नेः धूमविस्फुलिङ्गादयो व्युच्चरन्ति तथैव महतो भूतस्य व्युच्चरत् नामरूपात्मकं जगत् तत्त्वान्यत्वाभ्यां निरूपयितुं न शक्यते ।

एवमेकायनप्रक्रियायां प्रलयसमयेऽपि तस्मिंश्चैवात्मनि जगतोऽनुप्रवेशः । अतः आत्मैव जगत् । तस्मादिदं सर्वमयमात्मेति निरूपयति श्रुतिः । एवं सर्वात्मत्वादिना ब्रह्मणस्सप्रपञ्चत्वेन विकारित्वे निष्प्रपञ्चब्रह्मप्रतिपादकागमविरोधे प्रसक्ते सप्रपञ्चत्वस्यारोपितत्वप्रतिपादनार्थम् । "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवे"त्यादिनाभिधाय अन्ते "स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते" इत्यादिना सर्वप्रपञ्चनिषेधः । तस्माद् मैत्रेयीब्राह्मणसन्दर्भेऽध्यारोपापवादाभ्या जीवत्वेश्वरत्वोपलक्षितशुद्धचैतन्यरूपब्रह्मस्वरूपमात्रप्रतिपादनपरमिति तत्त्वम् ।

शाकल्यब्राह्मणार्थस्य संक्षेपः—शाकल्ययाज्ञवल्क्यसंवादे देवतास्वरूप विचार्य निर्णीतम् । तत्र शाकल्यः प्रष्टा याज्ञवल्क्यश्च वक्ता । देवताविस्तारसंक्षेपौ स्वरूप च प्रष्टव्योऽर्थः । तथाहि तत्रैषा श्रुतिः—"अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवता याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति" । अस्याः श्रुतेरयमर्थः शाकल्येन देवाना सख्यादिविस्तारे पृष्टः याज्ञवल्क्यो विजिगीषु: कथाया प्रवृत्तत्वात् परेषां बुद्धिव्यामोहनाय निविदा प्रत्युत्तर ददौ । निविच्छब्दो वैश्वदेवनामके शास्त्रविशेषे स्थिताना संख्यावाचिना पदाना समुदायमाचष्टे इति वैदिकयाज्ञिकानां प्रसिद्धिः । अतो यावन्तो देवा वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते तावन्त उपास्या इत्युक्त भवति । तानि पदानि त्रयश्च त्री चेत्यादिपदानि । शतत्रय सहस्रत्रय षट् च देवाना विस्तारः । कत्येवेत्येवकारेण तत्र तत्र देवतान्तरशङ्का व्यावर्त्यते । य एव देवाः पूर्वं विस्तृताः त एव संक्षेपेण क्रियन्त इति तत्र तत्र प्रश्नार्थः । तत्रेदमवधेयम्—कतीति सख्याप्रश्नः । कतमे इति स्वरूपप्रश्नः । तत्र तत्र शतसहस्रसख्या ये देवा उक्ताः ते सर्वे प्रधान न भवन्ति । किं तर्हि ? प्राधान्येन हविर्भुजा त्रयस्त्रिंशद्देवानां योगमहिम्ना स्वीकृतैच्छिकविग्रहा एव । अतस्तेषा स्वरूपविशेषः पृथक् न निरूपणार्थः । त्रयस्त्रिंशद्देवेषु श्रुता वस्वादय. पुराणादिप्रसिद्धेभ्यः अन्ये । तेषु शब्दप्रवृत्तिर्यौगिकी । तत्रत्याना पदानामर्थाः प्राणाः बाह्येन्द्रियाणि । आत्मा अन्तःकरणम् । इन्द्रप्रजापतिशब्दौ लक्षणया स्तनयित्नुयज्ञयोर्वर्तेते । लक्षितलक्षणयाऽशनिपश्वोः । अध्यर्धशब्दो रूढ्या सख्यावाची । योगेन समृद्ध वायुं वक्तीति वायुः सूत्रात्मा । "वायुर्वै गौतम सूत्रमि"ति श्रुतेः । अन्ते प्राणशब्दः परमात्मवाची । तदेव स्पष्टयितु स ब्रह्मे त्युक्तम् । तच्छब्दः परोक्षवाची । अकृतब्रह्मविचारं पुरुषं प्रति ब्रह्मणश्शास्त्रैकसमधिगम्यत्वात् परोक्षत्वमिति । तेन प्राणशब्दवाच्यः परमात्मैवैको देव इति । तत्रैवाग्रे ननु इन्द्रमित्र-

वरुणशब्दा भिन्नदेवतावाचिनो न त्वेक देवमभिदधति । अन्ययैन्द्रयागे वारुणो मन्त्र प्रयुज्येत । नाय दोष, देवस्यैकत्वेऽपि मूर्तिभेदेन मन्त्रव्यवस्थोपपत्ते । किञ्च देवस्यैकत्वेऽपि कर्मानुष्ठानदशायामौपाधिका भेदोऽङ्गीक्रियत एव । अत एवास्यामुपनिषदि प्रथमाध्यायस्य 'तद्यदिदमाहुरमु यजामु यजेत्येकैक देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्य व सर्वे देवा" (बृ० उ० १-४ ६) "मूर्धा ते व्यपतिष्यदिति याज्ञवल्क्य । त त्वौपनिषद पुरुष न वेद तस्य मूर्धा निपतित । ब्रह्मविद्द्वेषे न केवलमिहलोकहति अपितु परलोकविरोधोऽपीति। अतो ब्रह्मविदि विनीतेन भवितव्यम् । तेन शप्त पराबभूव शाकल्य । तस्मिन्प्रसगे ब्रह्मज्ञानिना विरोध ज्ञातयोऽस्थीन्यपि न लभन्त इति निन्दया आत्मज्ञानिनो विद्वेषो न कार्य इति। न हि निन्दान्यायेनात्मज्ञानस्य प्रशसा। महतीय ब्रह्मविद्या यत् तन्निष्ठावशायामैहिकामुष्मिकविरोधस्त्यादिति विद्यास्तुतिरिति शाकल्यब्राह्मणार्थसक्षेप ॥

अत पर पडध्याया प्रतिपाद्योऽर्थ सिंहावलोकनन्यायेन सक्षेपेणोपवर्ण्यते। इष्ट हि विदुषा लोके समासव्यासधारणाभियुक्तोक्ते । अश्वमेधसबन्धिनोऽश्वस्याङ्गेषु कालदृष्टिर्विधीयते । तत्रैव तैत्तिरीयसहितायास्सप्तमकाण्डस्यान्तिमेऽनुवाके उक्तस्यार्थस्य सक्षेपश्च तत्रत्यभाष्योपहित. प्रादर्शि। तत्र बृहदारण्यकोपनिषदि अश्वाङ्गेषु कालादिदृष्टिविधानम् । तैत्तिरीयके तु अय विशेष । अन्योत्कर्षेण उपनिषदादौ योजनीय । सर्वजगदात्मकत्वेनाऽश्वस्स्तूयते । विराड्रूपेण वाऽश्वोपासनविधिरिति वेदभाष्यकारो बभाषिरे।

छात्राणा जिज्ञासूना च सुखबोधाय ब्राह्मणार्थ संक्षेपेणाधस्तान्निर्दिश्यन्ते—अस्यामुपनिषदि पडध्याया सन्ति इति प्रागवोचाम । तत्र प्रथमाध्याये पड ब्राह्मणानि सन्ति। तत्र प्रथमे ब्राह्मणे कण्डिकाद्वयमश्वमेधयागाङ्गभूतस्य अश्वमेधे सन्ति त्रय पशव प्राजापत्य अश्व तूबरगोमृगश्चेति। तत्र अश्व एव प्रधानमश्वमेधस्य । क्षत्रियकर्तृकत्वेन ब्राह्मणवैश्ययोरनधिकारात । अश्वमेधाङ्गस्य अश्वस्यावयवेषूपासन विहितम् । तेनैवाश्वमेधफलप्राप्ति तयो । अश्वविषयकोपासन यथा अस्यामुपनिषदि समाम्नायते। एव तैत्तिरीयसहिताया सप्तमकाण्ड पञ्चमे प्रपाठके यो वाऽश्वस्य मेध्यस्य शिरो वेद शीर्षण्वान् मेध्या भवति। 'उषा वाऽश्वस्य मेध्यस्य शिर" इत्यादिना विहितमुपासन तत्प्रतिपादक ब्राह्मण तैत्तिरीयसहितासप्तमकाण्डान्तिमानुवाक अधो निवेशित । यथा—

बृहदारण्यकोपनिषत्	तैत्तिरीयसहितायां सप्तमकाण्डे पञ्चमप्रपाठक.
ॐ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर । सूर्यश्चक्षुर्वात प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानर सवत्सर आत्माऽश्वस्य मेध्यस्य। द्यौ पृष्ठमन्तरिक्षमुदर पृथिवी पाजस्य दिश पार्श्वे अवान्तरदिश पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि। ऊवध्य सिकता सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओपधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन्पूर्वार्धो निम्लोचन्जघनार्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ॥१॥	यो वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरो वेद शीर्षण्वान् मेध्यो भवति। उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर सूर्यश्चक्षु वात प्राण चन्द्रमा श्रोत्रम्। दिश पादा अवान्तरदिश । पर्शवोऽहोरात्रे निमेषा अर्धमासा पर्वाणि, मासा सन्धानि ऋतवोऽङ्गानि, सवत्सर आत्मा, रश्मय. केशा नक्षत्राणि रूप तारका अस्थीनि नभो मांसान्योपधयो लोमानि वनस्पतयो वाला अग्निर्मुख वैश्वानरो व्यात्तम् ॥ १ ॥ समुद्र उदरमन्तरिक्ष पायुर्द्यावापृथिवी आण्डौ ग्रावा शेफ सोमो रेतो यज्जञ्जभ्यते तद्विद्योतते

अहर्वा अश्व पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेन पश्चान्महिमाऽन्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्व महिमानावभित सबभूवतु । हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान्समुद्र एवास्य बन्धु समुद्रो योनि ॥२॥

यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वागहर्वा अश्वस्य जायमानस्य महिमा पुरस्ताज्जायते रात्रिरेन महिमा पश्चादनुजायत एतौ वै महिमानावश्वमभित सबभूवतुर्हयो देवानवहदर्वाऽसुरान्वाजी गन्धर्वानश्वो मनुष्यान्समुद्रो वा अश्वस्य योनि समुद्र ॥ २ ॥

तदर्थावगमाय तदीय भाष्य च जिज्ञासूनां सुखबोधाय अत्र सन्निवेशितमस्ति ।

अथान्तिमेऽनुवाके सर्वजगदात्मत्वेनाश्व स्तूयते । अथवा विराड्रूपेणाश्वोपासनप्रतिपादकोऽयमनुवाक प्रकरणादुत्कृष्योपनिषदादौ द्रष्टव्य । अत एव वाजसनेयिन एतदर्थप्रतिपादक ब्राह्मणमुपनिषदादावामनन्ति । अस्यायमर्थ.—य पुमान्मेध्यस्य यागयोग्याश्वस्य शिरो वेद शिर प्रभृतीनवयवान्विराडवयवभूतमुष कालादिरूपेणोपास्ते, सोऽय शीर्षण्वानुष कालादिरूपै शिर प्रभृतिभिर्विराडवयवैर्युक्तो मेध्यो यागफलभोगयोग्यो भवति । ऋत्वनुष्ठानस्य चोपासनस्य च समान फलम् । तथा च पञ्चमकाण्डे समाम्नातम्—' सर्व पाप्मान तरति तरति ब्रह्महत्या योऽश्वमेधेन यजते । य उ चैनमेव वेद" इति ।

तत्र कस्मिन्नश्वावयवे को विराडवयवो ध्यातव्य इति तत्सर्वमुच्यते—मेध्यस्याश्वस्य यच्छिरस्तदुषा उष कालरूपम् । यदश्वस्य चक्षु तत्सूर्य । यस्तदीय प्राण सोऽय बाह्यो वायु । यत्तदीय श्रोत्र सोऽय चन्द्रमा । ये तदीया पादा ता प्राच्या दिश । ये पर्शव पार्श्वास्थिविशेषा ता इमा आग्नेय्याद्यवान्तरदिश । यस्तदीयो निमेषोन्मेषसहितस्ते उभे अहोरात्रे । यानि तदीयहस्तपादगतपर्वाणि ते शुक्लकृष्ण पक्षरूपा अर्धमासा । यानि च पर्वणा सधानानि ते चैत्राद्या मासा । यानि चानुक्तविशेषाणि खुराद्यङ्गानि ते वसन्ताद्या ऋतव । य आत्मा मध्यदेह स सवत्सरकाल । ये तदीया केशा ते सूर्यरश्मय । यदश्वस्य भास्वररूप तानि कृत्तिकादिनक्षत्राणि । यान्यनुक्तान्यस्थीनि तानि बृहस्पतिशुक्रध्रुवाद्या प्रौढतारका । यानि तत्र तत्र स्थितानि मासखण्डानि तदेतन्नभ । यानि क्षुद्रलोमानि ता ओषधय । ये वाला पुच्छगता दीर्घकेशास्ते वनस्पतय । यदेतन्मुख सप्रश्नतेऽय लोकप्रसिद्धोऽग्नि । यद्व्यात्त मुखविदारण सोऽय वैश्वानरनामको देवताविशेष । यदुदर सोऽय समुद्र । य पायु तदन्तरिक्षम् । यावाण्डौ ते द्यावापृथिव्यौ । यः शेफ सोऽयमभिषवार्थो ग्रावा । यद्रेत स सोमरस । यज्जृम्भते गात्राणि विनामयति सेय विद्युत । यद्विधूनुते सशब्द शरीर कम्पयति तदेतद्गर्जनम् । यदेतन्मेहन सेय वृष्टि । अस्य ह्रेषाशब्दरूपा या वाक्सेय वेदरूपा वागेव । जायमानस्य क्रतौ प्रयुज्यमानस्याश्वस्य य सज्ञपनात्पुरस्तान्महिमाख्यो राजतग्रहस्तदिदमहरेव । एन पश्चादेतस्याश्वस्य सज्ञपनादूर्ध्व यो महिमाख्य सौवर्णग्रह सेय रात्रि । एतावेवोभौ महिमानौ ग्रहावश्वमभित सबभूवतुरश्वस्य सज्ञपनात्पूर्व पश्चाच्च व्यवस्थितौ । हयार्ववाज्यश्च अवान्तरजातिविशेषास्तत्तद्रूपेण देवादीन्वहन्ति । एवविधस्य विराड्रूपस्याश्वस्य समुद्र एव योनि कारणम् । सम्यगुद्द्रवत्युत्पद्यते जगदस्मादिति समुद्र परमात्मा । न ह्यन्यस्मादय विराडुत्पत्तुमर्हति । स एवास्य बन्धु स्तम्भ स्थितिहेतुरित्यर्थ । एवमुपासिता पापक्षयद्वारा विराड्रूप प्राप्नोति । "त यथा यथोपास्ते तथैव भवति" इति श्रुत्यन्तरात् । विराट्प्राप्तिश्च क्रममुक्तिहेतु । तत्र ज्ञानोत्पत्तौ सत्या तेन विराजा सह मुच्यमानत्वात् । तथा च स्मृति —

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे सप्राप्ते प्रतिसचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मान प्रविशन्ति पर पदम " ॥ इति ।

प्रियतमत्वस्य प्रतिपादनम् । 'ब्रह्म वा इदमग्र आसी दित्यादिवाक्यस्य वृत्तिकारभाष्यकारमतयो तात्पर्यवर्णनम । प्रसङ्गादत्र वाक्ये ब्रह्मभावी पुरुष इति भर्तृप्रपञ्चव्याख्यानस्य निराकरणम "तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते" इति अप्राप्तनिषेधशङ्कापरिहारश्च । एकादशकण्डिकाया चातुर्वर्ण्यसृष्टिकथनम् । 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' इति वाक्यस्यार्थवर्णनम् । भर्तृप्रपञ्चसम्मतस्य समुच्चयद्वयस्य निरास देहद्वयनाशस्य अन्तरालावस्थस्य निरासश्च । षोडशकण्डिकायामविदुष देवाद्युपकारनिरूपणम । "तद्वा एतद्विदितं मीमाꣳसितम्" इति वाक्यार्थनिरूपणमुखेन "जायमानो वै ब्राह्मण" इत्यादिश्रुत्यर्थवर्णनञ्च ।

पञ्चमे ब्राह्मण सप्तान्नसृष्टि एकमस्य साधारण द्वे देवानामन्ने त्रीणि आत्मने पशुभ्य एव तत्पय इत्यत्र सप्तमतया मन्त्रोक्तस्य पश्वन्नस्य तुरीयत्वेन ब्राह्मणे व्याख्यानस्य तात्पर्यवर्णनम् । वाङ्मन प्राणानाम् आधिभौतिक विस्तार, आधिदैविको विस्तार अन्नत्रयान्त पातिन प्राणस्य निरूपणम् । "त्रयो वाव" इत्यादिश्रुतौ एवत्र श्रुतस्यवकारस्य अन्यत्रानुषङ्गेन भगवत्पादीय व्याख्यानम् । 'अथात सम्प्रत्ति" इत्याद्यर्थवर्णनम् । तत्रैव भर्तृप्रपञ्चमतस्य सम्प्रत्ति कृत्वापि यावज्जीव अग्निहोत्र कर्तव्यमेव इत्यस्य निराकरणम । "स यदा एववित्" इति श्रुत्यर्थनिरूपणम ।

षष्ठे ब्राह्मण "तदेतत्त्रय" इत्यादे व्याख्यानमित्यादिरूपेण प्रथमाध्यायार्थो निरूपित ।

द्वितीयोऽध्याय — द्वितीयेऽध्याये षड्ब्राह्मणानि सन्ति । तत्र प्रथम ब्राह्मण गार्ग्याजातशत्रुसवादमुखेन ब्रह्मतत्त्व निरूपयितुमुपक्रान्तम "सत्यस्य सत्यमिति" । तस्यैव द्वितीये शिशुब्राह्मणे प्राणविषयोपासन विहितम् । तृतीयञ्च मूर्तामूर्तब्राह्मणम । तत्र मूर्तामूर्तयो ब्रह्मणि प्रसङ्गमापाद्य तन्निषेधन ब्रह्मतत्त्व परिशेषितम् । "अथ नामधेयꣳ सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्य तेषामेव सत्य' मिति । अत्रत्यो विशेष अस्माभि पूर्वमेव कथानकप्रसङ्गे सगृहीत इति । नात्र लेखनी व्यापार्यते ।

चतुर्थञ्च ब्राह्मण मैत्रेयीब्राह्मणम । इदमव कर्म मैत्रेयीसवादमुखेन अन्येषामात्मन परमप्रेमास्पदत्व प्रवतते । अनस्य कथानकमत्यन्तरुचिकरमिति नात्र किञ्चिद्वक्तव्यमवशिष्यते । अत्र आत्मन परमप्रेमास्पदत्व प्रतिपादितम । तत "इद सर्वं यदयमात्मा" इति वाक्येनात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रदर्शिते स्थितिकाले सर्वस्यात्मा गृहीतु शक्यमिति प्रतिपादनाय दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तत्रयोपादानेन पूर्वोक्तप्रतिज्ञैव समर्थिता । उत्पत्ते प्रागपि सर्वस्य प्रपञ्चस्य आत्ममात्रत्वमिति प्रतिपादनाय 'यथार्द्रैधाग्नेरि'ति दृष्टान्तोपादानेनायमर्थस्समर्थित । तत्रैवाष्टविध ब्राह्मण वेदानामपौरुषयत्व तदितरग्रन्थाना पौरुषयकृतकत्वेन पौरुषयत्व तथा नाम प्रपञ्चसृष्ट्या रूपप्रपञ्चसृष्टेरपि सग्रह न्यूनतादोषपरिहाराय इत्यादिक सर्वं विशेषत षोडपत्रे द्रष्टव्यम् । एव एकायनप्रक्रियया‍पि एकमेव ब्रह्म अवगन्तव्यम् । तत्रैव 'यथा सर्वासामपाꣳसमुद्र एकायनमि' ति । तत्र विषयस्य प्रलयाभिधानेन विषयसमानजातीयाना करणानामपि लय मन्यते श्रुति विषयस्यव स्वात्मग्राहकत्वेन सस्थानान्तर करण नाम यथा रूपविशेषस्यव सस्थान प्रदीप करण सर्वरूपप्रकाशने इति । तस्मादुत्पत्तिस्थितिलयप्रलयकालेषु प्रज्ञानव्यतिरेकेणाभावात् प्रज्ञान ब्रह्मैव । आत्मैवेद सर्वमिति यत् प्रज्ञात तत्साधितम ।

तत पञ्चम मधुब्राह्मणम । तत्र मधु परस्परमुपकार्योपकारकभाव । तत् फल सृष्टि । तथा च पृथिव्यादि सर्वं जगत् परस्परोपकार्योपकारकभूत तदेककारणपूर्वकमेकसामान्यात्मकमेकप्रलय च दृष्टम । तस्मादिदमपि पृथिव्यादिलक्षण जगत्परस्परोपकार्योपकारकत्वात्तथाभूत भवितुमर्हति । अयमेवा-

योऽस्मिन्ब्राह्मणे प्रतिपाद्यते । अथत्राऽऽत्मैवेदं सर्वमिति प्रतिज्ञातस्याऽऽत्मोत्पत्तिस्थितिलयत्व हेतुमुक्त्वा पुनरागमप्रधानेन मधुब्राह्मणेन प्रतिज्ञातस्यार्थस्य निगमनं क्रियते । यथोक्त प्रामाणिकैः तत्र मधुविद्यायाः प्रकाशकेन मन्त्रेण तदुपबृंहणन ब्राह्मणेन च पञ्चमं ब्राह्मणं समर्थितम् ।

षष्ठे ब्राह्मणे "अथ वꣳ शः" इत्यारभ्य ब्रह्मविद्यार्थम्य मधुकाण्डस्य वंशः ब्रह्मविद्यायाः मन्त्रश्चार्यं स्वाध्यायार्थः जपार्थश्च । तेन महाजनपरिगृहीतोऽयं ब्रह्मविद्या महाभागधेया इति ब्रह्मविद्यायाः स्तुतिः । स्वाध्यायशब्दार्थस्तु स्वाधीनोच्चारणक्षमत्वे सति अध्यापनम् । जपस्तु प्रत्यहमावृत्तिरित्भेदः । विशेषस्तु क्रोडपत्रे द्रष्टव्यः ।

तृतीयस्य प्रतिपाद्यः—तृतीयेऽध्याये नवब्राह्मणानि सन्ति । यत्र यज्ञप्रङ्गेन समवेतानां ब्रह्मविदुषां परीक्षापूर्वकागमार्थ निर्धारणायोपपत्तिप्रधाने याज्ञवल्क्यकाण्डे एतेषां मध्येऽनूचानतमः क इति जिज्ञासया जनककृतः गोष्ठे गोसहस्रं गोसहस्रावरोधः । ब्रह्मिष्ठेन ग्राह्यमिति जनकेनाभिहितेऽपि ब्राह्मणानां मध्ये गोसहस्रग्रहणासामर्थ्यं दृष्ट्वा स्वगृहं प्रति गोसहस्रं नयेति याज्ञवल्क्यः स्वशिष्यमाज्ञापयामास । ततः ब्राह्मणेषु क्रुद्धेषु प्रथमब्राह्मणे याज्ञवल्क्यं प्रति ब्रह्मिष्ठाभिमानिनः अश्वलस्य सवादरूपं प्रथमं ब्राह्मणम् । द्वितीयं च याज्ञवल्क्यार्तभागसवादरूपेण प्रवृत्तम् । तृतीयं ब्राह्मणं च याज्ञवल्क्यभुज्युसंवादरूपेण प्रवृत्तम् । चतुर्थं च ब्राह्मणं याज्ञवल्क्योषस्तसवादरूपम् । पञ्चमं च ब्राह्मण याज्ञवल्क्यकहोलसवादमुखेन प्रवृत्तम् । उपस्तकहोलब्राह्मणयोः प्रश्नप्रतिवचनयोरेकरूपत्वेनार्थभेदो नास्ति । उपस्तब्राह्मणे शरीरातिरेकं कहोलब्राह्मणे अशनायाद्यतीतत्वं प्रतिपाद्यत इति विशेषः । तत्र चतुर्थब्राह्मणे पृष्टस्यैवात्मस्वरूपस्य सोपाधिकत्वनिरुपाधिकत्वाभ्यां भेदः इति प्रतिपादनम् तदङ्गत्वेन च संन्यासविधानम् । षष्ठ च ब्राह्मणं याज्ञवल्क्यगार्गीसवादमुखेन प्रवृत्तम् । यदिदं सर्वमप्सु ओतं च प्रोतं चेत्यादिनाऽन्तर्यामिसूत्रविषयम् । सप्तम च ब्राह्मणमन्तर्यामिब्राह्मणमित्युच्यते । यत्रान्तर्यामिस्वरूपमुपवर्णितम् । इदमेव औद्दालकब्राह्मणमित्यपि व्यपदिश्यते । अष्टमं च गार्गीब्राह्मणम् अथवा अक्षरब्राह्मणमिति व्यवह्रियते यत्र अशनायादिविनिर्मुक्तं निरुपाधिकं साक्षादपरोक्ष सर्वान्तर ब्रह्म । नवमं शाकल्यब्राह्मणम् । अत्र याज्ञवल्क्यशापात् शाकल्यस्य मूर्धपातः । शाकल्यमूर्धपातभयात् तूष्णीभूतेषु *ब्राह्मणेषु ब्रह्मविद्वरिष्ठः याज्ञवल्क्यः* उपस्थितान् ब्राह्मणान् सबोध्य युष्माकं मध्ये यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो व कामयते त व. पृच्छामि सर्वान्वा वः पृच्छामि । *याज्ञवल्क्योक्त्यनन्तरं* प्रत्युत्तरदानासामर्थ्यात् अप्रकल्पभूतेषु ब्राह्मणेषु याज्ञवल्क्यकृतप्रश्नप्रतिपादका "यथा वृक्षो वनस्पति"रित्यादिसप्तमन्त्रा पठिता. । अत्र प्रसङ्गे भगवत्पादाः परमतनिराकरणपूर्वकं मोक्षस्यानन्दरूपत्वं श्रुत्यनुसारेण प्रतिपादयन्ति स्म ।

चतुर्थस्य विषयः—चतुर्थेऽध्याये नवब्राह्मणानि सन्ति । तत्र प्रथमं षडाचार्यब्राह्मण द्वितीयं कूर्चब्राह्मणं तृतीयं ज्योतिर्ब्राह्मणम् । चतुर्थे ब्राह्मणे संसारोपवर्णनं प्रस्तुतम् । तत्रायं पुरुषः येभ्यो अङ्गेभ्य सप्रमुच्येत्युक्तम् । कस्मिन्काले कदा इति प्रतिपाद्यते समागतं याज्ञवल्क्यं प्रति किमर्थमागमन पशुकामनया वा सूक्ष्मवस्तुनिर्णयार्थप्रश्नश्रवणं च भवति जनको अपृच्छत् । तदा याज्ञवल्क्यः उभयार्थमित्युत्तरं ददौ । ज्ञानसाधनानि वागाद्युपाधिकब्रह्मोपासनानि जाग्रदादिद्वारा तत्त्वनिर्धारणं च । याज्ञवल्क्यस्य वदिष्यतो तस्य भङ्गे कामप्रश्नाख्यस्य वरस्य याज्ञवल्क्येन राज्ञे इति दत्तत्वात् हेतुकथन "किंज्योतिरय पुरुषः" इत्यादि जनकेन कृतानां प्रश्नानामादित्यज्योतिरित्यादीनि याज्ञवल्क्येन दत्तान्युत्तराणि । जनककृतस्य "कतम आत्मे"ति प्रश्नस्य "योऽयं विज्ञानमय" इत्यादि याज्ञवल्क्यस्योत्तरम् । जाग्रद्व-

स्यायां आत्मज्योतिः मुञ्जेषिकावत् निष्कृष्य दर्शयितुमशक्यत्वात् स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वादिप्रतिपादनम् । अत विमोक्षाय ब्रूहि इत्येवं जनकेन अनुयुक्तः याज्ञवल्क्यः सुषुप्ते आत्मनः मोदमासादिराहित्यप्रतिपादनपूर्वकमसंगत्वं स्वप्ने कर्तृत्वाभावादसंगत्वं स्वतः वर्तृत्वाभावाज्जाग्रतेऽपि प्रतिपादनं महामत्स्यदृष्टान्तेन श्येनवाक्येनात्मनः सौपुप्तरूपप्रतिपादनं जीवस्य परमात्मना एकत्वाद्विशेषज्ञानाभावे प्रिया स्त्रियः इत्यादि प्रतिपादनम् । अकामस्य मोक्षप्रतिपादनम् । मोक्षसाधनप्रतिपादकानां श्लोकाना समाम्नायते आत्मकामस्य ब्रह्मविदः मोक्ष इत्यस्मिन्नर्थे मन्त्राणामुपन्यासः । आत्मज्ञानस्तुत्यर्थं तन्निष्ठस्य कायक्लेशराहित्यप्रतिपादनेन मार्गान्तरनिन्दा । परमार्थज्ञानसंस्कृतमनसैव ब्रह्मदर्शनं ब्रह्मात्मनि सर्ववेदविनियोगवर्णनञ्च । ब्रह्मविद्याफलकथनपूर्वकं याज्ञवल्क्याय गुरवे कृतकृत्यजनककृतात्मनिवेदनं प्रतिपादनं समस्तारण्यकार्थस्य संक्षेपेण निर्देशः । उक्तस्य सर्वार्थस्य मैत्रेयीब्राह्मणेन निगमनमृषिकाण्डस्य वंशवर्णनञ्च ।

पञ्चमषष्ठविषयः—पञ्चमेऽध्याये सर्वोपनिषत्प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणः "पूर्णमद"इत्यादिना निर्देशः । सर्वोपास्तिशेषत्वेन दमादिसाधनत्रयविधान हृदयं ब्रह्म सत्यं ब्रह्म मनो ब्रह्म इत्याद्युपासनम् । उक्थदृष्ट्या यजुर्दृष्ट्या सामदृष्ट्या प्राणोपासनम् । गायत्र्युपाधिविशिष्टस्य ब्रह्मण उपासनम् । गायत्र्युपस्थानं गायत्र्या मुखविधानायार्थवादः मुखविधानं च । ज्ञानकर्मसमुच्चयकारिण आदित्यप्रार्थनाऽग्निदेवताप्रार्थना च ।

षष्ठेऽध्याये ज्येष्ठश्रेष्ठगुणत्वेन प्राणोपासनं वागादिप्राणैः प्रजापतिसमीपं गत्वा कोऽस्माकं मध्ये वरिष्ठः इति प्रश्नस्य प्रजापतेरुत्तरम् । प्राणस्याम्नवस्त्रप्रतिपादनं च । पञ्चाग्निविद्याविधानमुखेन मानुषवराः ममापि सन्ति इति देववरप्रदानेन स्वप्रतिज्ञा रक्षणीया इति गौतमवचनान्तरं वाचैव पूर्वे ब्राह्मणाः आपत्काले क्षत्रियान् शिष्यवृत्त्योपगच्छन्ति नोपनयनेन शुश्रूषादिभिः । तस्मै पञ्चाग्निविद्योपदेशः । तत्रैव षष्ठस्यान्ते: विधान पञ्चाग्निविदः अचिरादिमार्गेण गतिवर्णनम् । पञ्चाग्निविद्यारहितानां केवलकर्मिणां दक्षिणमार्गोपदेशः । महत्त्वप्राप्तये मन्थाख्यस्य कर्मणः उपदेशः श्रीमन्थपूर्वकपुत्रमन्थविधानं च । अविदुषामतिगर्हितमिदं कर्मेतीत्यत्र आचार्यपरम्परासम्मतिकथनम् । विशिष्टपुत्रेच्छायां पण्डितत्वादिविशिष्टपुत्रेच्छाया चोपायस्य कथनम् । ओदनपाकादिकरणकालादिकथनम् । जातकर्मनामकर्णमात्राभिमन्त्रणमन्त्राणां वचनम् । यथोक्त शिशुसम्पन्नपितुः पुत्रस्य च स्तुतिः खिलकाण्डस्य च विद्यावंशश्चेति इत्यादयः पदार्थाः सङ्ग्रहेणात्र उपवर्णिताः जिज्ञासूनामुपकाराय । अन्ये च बहवो विषयाः विशिष्टोपपादनं च ।

क्रोडपत्रविषये वक्तव्यम्— अस्या उपनिषदस्तात्पर्यार्थनिर्णयाय भगवत्पादीय भाष्य गुरुमुखादध्येतव्यमित्युक्तम् । तदर्थश्च आनन्दज्ञानविवरणटीकयैव (न्यायनिर्णयेन) संक्षेपेण ज्ञातु शक्यते । तस्यापि मूल वार्तिककारोक्त महावार्तिकम् । यथोक्तमानन्दगिरिणा उपोद्घाते —

'बृहदारण्यके भाष्ये शिष्योपकृतिसिद्धये ।
सुरेश्वरोक्तिमाश्रित्य क्रियते न्यायनिर्णय." ।। इति ।

तस्य तच्च षस्य भाष्यस्य कियद्वार्तिकमित्यज्ञातप्रायमेवासीत् । तदध्ययनपरम्परायाः प्रणीतत्वात् महर्षिकल्पैः विद्यावाचस्पतिभिः महामण्डलेश्वरः हृषीकेशस्थकैलासाश्रमपीठाध्यक्षैः महता प्रणिधानेन तादृश क्रोडपत्रं निर्मायि महता परिश्रमेण । अस्य भाष्यस्य अर्थोपबृंहणमिदं वार्तिक इद वार्तिकद्वयमित्यभिधाय वार्तिकद्वयमुद्धृत्य तदर्थविवरण स्वय चक्रुः । एव प्रतिपद प्रतिभाष्यञ्च

वार्तिकेण यथा व्याख्यातं तथा करतलामलकवत् प्रकाशितमेतैः महनीयचरणैः । एवमेव समग्रस्यापि बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यस्य अर्थविवरणात्मकं वार्तिकमर्थविवरणेन सह तु खगाहेऽस्मिन् क्रोडपत्रे विद्वदनुभवैकगम्ये विस्तरेण वर्णयामासु । अहो धन्या इमे ब्रह्मविद्वरिष्ठाः । अत समस्त विद्वत्कुलमेतेषाम धमर्णमित्यत्र नास्ति सन्देहलेश । किं वर्णयामि सुललितपदसन्दर्भं भाष्यवार्तिकयोः आक्षेपसमाधानार्थ-प्रतिपादनशैलीम् । एतेषा कृते यच्च यावच्च उच्यते तत्सर्वमल्पीय एव । ईदृशस्य महानिधिमिव पुस्तकागारे निगूढितस्य क्रोडपत्ररत्नस्य भाष्यवार्तिकयोजनेन महान्तमुपकारमकारसु । ब्रह्मनिष्ठा इममेव पीठमधितिष्ठन्त वेदान्तविद्याविनोदरसिका ,प्राचीनग्रन्थपरिक्षणप्रकाशनप्रचारणैकतानमानसा. सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा श्रीमन्त श्रीस्वामिविद्यानन्दगिरिपादा धन्यवादभाजनमित्यत्र को वा प्रेक्षावान् विप्रतिपद्येत ।

अस्मिन्संस्करणे क्रोडपत्रविभूषिते द्रष्टव्या पदार्था अधस्तनया तालिकया जिज्ञासूना परमोकृतये अधस्तान्निर्दिश्यन्ते—

पृ० १. वश । पृ० २ पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान् । पृ० ३. भाष्यलक्षणम् । पृ० ४. प्रामाण्यविचार, वेदस्य त्रेधा व्याख्यानम् । पृ० ६ औत्पत्तिकसूत्रव्याख्यानम् । नवमत्रिंशपृष्ठयोष्टिप्पणी द्रष्टव्या ।

पृ० ३० श्रुते प्रामाण्यादिति आनन्दगिरिटीका टिप्पणी च । पृ० ३१. कारणस्य सत्त्वेऽनुमानमाहेति नाय पुस्तकान्तरे पाठ अनुपयुक्तोऽपि । पृ० ३३ 'प्रत्यभिज्ञेति क्षणिकार्थं बोधयल्लिङ्गमित्येव पाठो युक्त । पृ० ३८ स्वाश्रमेति पाठान्तरम् । पृ० ४०. इत्थ चात्र प्रक्रिया द्रष्टव्या । पृ० ४४ अनुमानरचना चात्रैवम् । पृ० ५८. ऋगादिशब्दार्था विचार्या ।

पृ० ७७ देवताधिकरणन्यायेन परिहरति । पृ० ९०-९१ वार्तिकोद्धरण तद्व्याख्यानञ्च । पृ० १२४ इन्द्रियसौष्ठव फलम् । पृ० १२७ सदिग्धे तु वाक्यशेषात् । पृ० १४४. मन्त्रार्थ पदार्थ वाक्यार्थ फल तात्पर्यार्थं वार्तिकमादाय तत्समर्थनम् ।

पृ० १६३ विरोधे त्वनपेक्ष स्यात् । पृ० १७६-१७७ केवलयाज्ञिका इति भाष्यपदस्य क्रोडपत्रम् । पृ० १८० अर्थैवमित्याद्युपपद्यत इत्यन्तभाष्य पञ्चवार्तिकानि द्रष्टव्यानि । पृ० १८५ भाव इति । पृ० १९० चतुर्विधरूपातीनामन्यतमत्व वारयति । पृ० १९१-१९२ देहष्विह प्रविष्ट इत्यत्राष्टौ वार्तिकानि द्रष्टव्यानि । पृ० २०५ आत्मनि प्रकृतसख्यापूरण इत्यत्र पञ्चवार्तिकानि । पृ० २१७ यत्साक्षादित्यादि प्राप्तत्वादित्यन्तस्य भाष्यस्य तात्पर्य द्वाभ्यामाह । पृ० २२१ विष्णुदृशत्वनैवोपयोग । पृ० २३० निश्चितफलवद्विज्ञानोत्पादकत्वमिति भाष्यसन्दर्भस्य विशेषणकृत्यम् । पृ० २३८-२३९ कथ पुनरित्यादीत्यर्थं इत्यन्तस्य पञ्चदशवार्तिकानि । पृ० २६८ नार्धजरतीयमुचितम् । पृ० २७३ अन्यश्चेतन अचेतनो वा । पृ० २७४ एकजीववादस्य श्रौतत्वमिति । पृ० २७५ अपित्वादि । पृ० २७६. नानाजीववादस्य नावकाश. । पृ० २७७ व्यावृत्तेति बाह्योत्सुक्य इति टीकानुसारेण व्यावृत्तबाह्योत्सुक इत्येव रहस्यम् । पृ० २८० कालकर्ममन्त्रौषधितपसामेषा सपत्तिविपत्तिहेतुत्व शास्त्र लोके च प्रसिद्ध टिप्पणम् । पृ० २८४ उक्तञ्चेतत्प्रतिवचनदशायामित्यर्थं इत्यस्य टिप्पणम् । पृ० २९३ अथेत्यादि अत्र चत्वारि वार्तिकानि सन्तीति क्रोडपत्रम् । पृ० २९७. 'तदाहुर्ब्रह्मविद्यया' इत्यादिना सम्बन्धप्रयोजनेऽभिहिते इत्यस्य टिप्पणम् पृ० २९८ अयञ्चेन्द्रादिसर्गस्तत्रैव द्रष्टव्यस्तच्छेषत्वात् । पृ० ३०२ जप्येनैव सवि-

ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशय' इति ब्राह्मणशब्दार्थनिष्कर्षः । पृ० ३१५ परेण च मैत्रलविद्याविषयेण इति भाष्यानन्दज्ञानयो टिप्पणम् । पृ० ३१८ यजतिचोदनाद्रव्यदेवताक्रियासमुदाये इति टिप्पणम् ।

पृ० ३३८. निर्वपेदिति टिप्पणम् । पृ० ३३९-३४०. अनेना अभिरासति इति पदत्रयस्य व्याख्यानम् । पृ० ३४१ सर्वप्राणनस्य साधारणत्वप्रतिपादनेन भर्तृप्रपञ्चमतस्य निराकरणम् । पृ० ३४३ द्वे देवानित्यत्र दर्शपूर्णमासयोर्ग्रहणम् 'अग्निरिद हविरजुषते'त्यस्य टिप्पणम् । पृ० ३४६. पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान । पृ० ३४७ ३४८ सर्वस्य जगत पयःपरिणामित्वे शङ्कासमाधाने क्रोडपत्रम् । पृ० ३५३ चतुर्थत्व च बृहदारण्यकापेक्षया उपनिषदपेक्षया तु द्वितीयत्वमिति । पृ० ३५४ मनसा ह्येवेति श्रुतिव्याख्यानम । पृ० ३५७-३५८ मनस असाधारणकारणत्वम् । पृ० ३७३ रात्रिशब्दस्याहोरात्ररूपत्वम् । पृ० ३७७ एवकारस्यान्ययोगव्यवच्छेद उत्तरवाक्ययो खण्डनम् । पृ० ३७९ सम्प्रत्तिकर्मवाक्यस्य द्वेधा व्याख्यान वार्तिके । पृ० ३८३-३८७. अथेत्यादि चनमित्यन्तभाष्यार्थसग्राहकाणि दश वार्तिकानि प्रदर्श्यन्ते । पृ० ३८८. ऋणवाञ्जायते इति पाठ । पृ० ३९८ अनुमान सूचितमित्यस्य टिप्पणम् । पृ० ४०० यथा तापत्य इति टिप्पणम् । पृ० ४०२ प्राणाद्वा एष इति ब्राह्मणवाक्यमुक्तत्वेनाभ्युपगम्य यतश्चोदेतीत्यादिमन्त्रस्य पूर्वार्ध प्रश्नत्वेन व्याख्यानम् ।

पृ० ४१६ वार्तिकसारे अध्यायार्थनिरूपणम् । पृ० ४२०-४२१ ब्रह्म ते ब्रवाणीत्यत्र सप्तवार्तिकानि । पृ० ४२१ जनको दित्सुरित्यस्य टिप्पणम् । पृ० ४२२ मा मा इत्यत्र 'आबाधे चेति' सूत्रम् । पृ० ४२५ द्विगुण चन्द्रमण्डलमित्यस्य व्याख्यानम् । पृ० ४३७ पाणिनाऽऽपेष... . स होत्तस्थावित्यस्य टिप्पणम् । एषा प्राणाना विज्ञानेन विज्ञानमादायेत्यादिभाष्यस्यार्थान्तरवर्णनम क्रोडपत्रे । पृ० ४५९ अश्वकर्णादिनाम्न इत्यस्य सालवृक्षवाचिन इति टिप्पणम । पृ० ४६५-४६८ यदा न कस्यचन वेदेति भाष्यार्थाविष्करणपराणि वार्तिकानि । पृ० ४७५ ववेष तदाऽभूदित्यादेष्टिप्पणम । पृ० ४७७ नन्वस्ति प्राणात्मव्यतिरिक्त वस्त्वन्तरमित्यादि भाष्यार्थाविष्करणपराणि नववार्तिकानि । पृ० ४८३ जगद्वाचित्वाधिकरणपूर्वपक्षन्यायेन द्रष्टव्यमिति टिप्पणम । पृ० ५११-५१२ अर्थैकत्वादध्येकवाक्यता टिप्पणम् । पृ० ५१३ अग्निरुष्ण इति भाष्यस्य टिप्पणम । पृ० ५२२-५२५. जन्मादीना प्रति नियमादिलिङ्गवशादात्मभेद इत्यत्र क्रोडपत्रम् । पृ० ५२५-५२६. अनुमानस्यैवाविषयत्वात्कुतोऽनुमानविरोध इत्यत्र क्रोडपत्रम् ।

पृ० ५३०. सत्यत्व टिप्पणम् । पृ० ५३१ भ्रातरो हि सहजक्षत्रव । पृ० ५३७ चमसपदस्य टिप्पणम् ।

पृ० ५४०-५४१. मूर्तामूर्तब्राह्मणस्य सबन्धकथनम् । पृ० ५६८-५६९ नकारद्वय वीप्साया. टिप्पणम् । पृ० ५७०-५७१ अथ नामधेय सत्यस्य सत्यमित्यस्य एकादश वार्तिकानि ।

पृ० ५७२. ब्रह्मास्मीत्यर्थः । पृ० ५७३-५७६ अस्या ब्रह्मविद्याया अङ्गत्वेन सन्यासो विविदिषत इत्यादिभाष्यस्य व्याख्यानम् । पृ० ५८७-५८९ श्रवणमनननिदिध्यासनाना स्वरूपकथनम् । पृ० ६००-६०६ अनादिनिधना नित्येत्यादेश्च सदातनत्व तस्य निश्चीयत इत्यस्य टिप्पणम । पृ० ६०७-६०९ चक्षुस्तैजसमित्याद्यनुमानानि शास्त्रप्रकाशिकायाम् । पृ० ६०९-६१० सैन्धवखिल्य इत्यादिभाष्यस्य व्याख्यानम् । पृ० ६१३ अनन्तमित्याद्यपारमित्यन्तभाष्यस्य व्याख्यानम् । पृ० ६१४-६१५ एतेभ्यो भूतेभ्य इत्यादेरर्थान्तरवर्णनम् । पृ० ६१९-६२१. यत्र हि द्वैतमिव भवतीत्यादेस्तात्पर्यम् । पृ० ६२४. येनेद सर्वं विजानातीत्यादिभाष्यस्य तात्पर्यवर्णनम् ।

पृ० ६२६. इद सर्वं यदयमात्मेति वाक्यस्य व्याख्यानम् । पृ० ६२८. हेत्वपदेशादिति गौतमसूत्रस्य टिप्पणम् । पृ० ६२९. अयमेव स इत्यादेर्भाष्यार्थवर्णनम् । पृ० ६३६. धर्मशब्दस्त्रेधा वर्णित. । पृ० ६४२-६४५. तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चारा सर्वे समर्पिता इति व्याख्यानम् । पृ० ६५०. परिसमाप्ता ब्रह्मविद्याऽमृतत्वसाधनभूतेति व्याख्यानम् । पृ० ६५२. तद्वामित्यादि मन्त्रयोजना । पृ० ६६२. सर्वानुभूरित्यस्य व्याख्यानम् ।

पृ० ६६६. महाजना. परमर्षय । पर्व: ग्रन्थिद्वयमध्यवर्ति भाग: । महाभागधेयेत्यस्य टिप्पणम् । (पृ० ६६६) स्वाध्याय: स्वाधीनोच्चारणक्षमत्वे सत्यध्यापन तस्य परिष्कार: टिप्पणे । स्वाधीनोच्चारणक्षमत्वविशिष्ट यदन्योच्चारणानुकूलोच्चारण कर्तृत्व तत्स्वाध्याय: । शिष्योच्चारणाधीनतटस्थोच्चारणमादाय शिष्येऽतिव्याप्तिवारणाय विशेषणम् । उदासीनावस्थाया गुरौ स्वाध्यायव्यवहारवारणाय विशेष्यमिति निरवद्य लक्षणम् ।

एव प्रातस्स्मरणीयनामधेयैर्विद्यावाचस्पतिमहाभागैस्समग्रस्य भगवत्पादीयभाष्यस्य वार्तिकानाञ्च योजनेन तदुपबृहणेन स्वोपज्ञेन क्रोडपत्रेण च भूषणयामासु: । अवशिष्टप्रकाशन सोपस्कर सपरिष्कारञ्च वर्तमानपीठाधीश्वरा शान्ता दान्ता: महान्ता: विविधानवद्यविद्याविद्योतितान्त.करणा श्री० विभूषिता श्रीयतीन्द्रचक्रचूडामणय. श्रीविद्यानन्दगिरिन्द्रा शोभनरमणीयाक्षरैस्सम्मुद्रच प्रकाशमकार्षुरिति परम प्रमोदस्थानम् । एतेषा शरीरे स्वास्थ्य दीर्घजीवित्व समुत्साहञ्च प्रयच्छत्वीश । करालेऽस्मिन् कलिहतके काले ईदृशमत्युत्तम साधु कृत्य सञ्चालयन् सर्वान्तर्यामी भारतीयजनतामानसे सस्कृति राष्ट्रीयैक्यञ्च संपादयन प्राचीनभारतगौरव प्रतिष्ठाञ्च यथापूर्व प्रतिष्ठापयेदिति ।

अस्मिन् संस्करणे वक्तव्यम्—इदञ्च सस्करणमस्मात्प्राक्प्रकाशितानि सस्त्रीणि सस्करणान्यतिशेते । तानि च प्रायशो मक्षिकास्थाने मक्षिकापातमनुसरन्ति अशुद्धिबहुलानि त्रुटितानि । किं बहुना सुपरिष्कृतमिद सस्करण प्रेक्षावता विमर्शकवराणा परम प्रमोदावहमिति । अत्र सस्करणे भाष्याक्षराणा वार्तिकवचनैस्सबन्धवर्णनमपूर्वक्रोडपत्रकारै: समयोजीति प्रागवादिष्म । मन्ये तेनाध्यापकमहाभागानामधीतिना जिज्ञासूनाञ्च महानुपकारो भवेदिति । अपूर्वश्च भाष्यवार्तिकयोर्योजनप्रकारो नवीना जागृतिमुत्पादयिष्यति । आस्तिकजनताजनार्दनस्योपकाराय सुखबोधाय श्रीस्वामिवर्यै बृहदारण्यकोपनिषन्मन्त्राणा राष्ट्रभाषयाऽनुवाद पूर्वमेव कृत आसीत् । तेन सह डॉ० स्वामिश्रीयुतोमेशानन्दशास्त्रिवर्यैश्चाय कृत. शाङ्करभाष्यानुवादश्च योजितोऽस्मिन सस्करणे । एतेन सर्वेषामेव महानुपकारस्स्यादित्याशास्यते ।

विदुषां सार्वेऽभ्यर्थना—तत्र तत्र पाठभेद, *शुद्धाशुद्धनिर्देशनम्*, *अर्थसगतिश्च शब्दशुद्धिर्वलोदय* समशोधि । तथापि मनुष्यमात्रसुलभा बिन्दुविसर्ग - इकार - उकार - एकार - एकार - ओकार-औकारादीनाञ्चाक्षराणा सयोजने ये दोषास्समुपलभ्यन्ते, तान् सशोध्य पठितु पाठयितुञ्च प्रियपाठकवरा सानुरोध सानुनयञ्च प्रार्थयन्ते । एतत्प्रबन्धक्षीरसागररसास्वादनञ्च कुर्वन्त्विति साञ्जलिबन्ध गुणैकपक्षपातिनो विबुधवरान्प्रार्थयते ।

विदुषामाश्रव
मीमासारत्नम् म. सुब्रह्मण्यशास्त्री
भू. पू. प्राचार्य: अध्यक्षश्च
धर्मपौरोहित्यकर्मकाण्डधर्मशास्त्रमीमासादर्शनविभागस्य
काशीहिन्दूविश्वविद्यालये
सम्मानितदर्शनप्राध्यापकश्च 'साधुवेला' वाराणस्याम् ।

नृसिंहजयन्ती
वै. शु. चतुर्दशी स. २०३६
१०-५-१९७९ ।

पण्डितराजशास्त्ररत्नाकरादिपदभाजां महेशानुसंधानसंस्थाननिदेशकानां

श्री एस० सुब्रह्मण्यशास्त्रिमहोदयानां

सम्मतिः

तत्रभवन्त श्रीविष्णुदेवानन्दमहाराजा सिद्धिक्षेत्रे हृषीकेशे विराजमान कैलासाश्रममधितिष्ठन्त बहून् छात्रान् श्रीशङ्करभगवत्पादीयान् भाष्यग्रन्थान् अन्यांश्च प्रौढान् अद्वैतसिद्ध्यादीन् अध्यापयन्त अध्यापनकाल एव अध्यापनोपयोगितया तत्र ग्रन्थेषु विस्तृता टिप्पणी व्यरचयन । इमा टिप्पण्य आलोच्यमाने श्रीमद्भाष्यस्य श्रीआनन्दगिर्याचार्यकृतटीकायाश्च व्याख्यानरूपा भवन्ति । निखिलशास्त्रेषु नदीष्णा एते तत्र शास्त्ररहस्य भाष्यादिषु निगूढतया गर्भीभूत सरलसरलया स्वीयया अमृतवाण्या प्राचीकशन् ।

बृहदारण्यक भाष्यटिप्पण्यामयमन्यो विशेष यत् श्रीसुरेश्वराचार्यकृतवार्तिक तट्टीका च तत्र तत्रोद्धृत्य स्वीयटिप्पणी समभूषयन् । जैमिनिसूत्राणि श्रीशबरस्वामिकृत तद्भाष्य, श्रीकुमारिलभट्टकृत तद्वार्तिक च पदे पदेऽनुवर्तन्ति भाष्यार्थस्पष्टीकरणाय । बृहदारण्यकभाष्यटिप्पण्या महिमाऽत्र प्रकाशते ।

ननु नामभाष्येण "ससारव्यावृत्सुभ्य" इत्यनेन प्रयोजनमुक्त तेनैव च तत्फलकामस्याधिकारित्वनिर्णयसभवात् व्यर्थमधिकारिभाष्यमित्याशङ्क्य तस्य तात्पर्यमाहु वार्तिकाचार्या —

"मिथो विरोधसिध्यर्थं कर्मज्ञानाधिकारिणो ।
ससारव्याविवृत्सुभ्य इत्युक्ति भाष्यकृज्जगौ" ॥

इति वार्तिकमत्यन्तावश्यक भाष्याभिप्रायपरिज्ञाने इति विभावयन्त अत्र वार्तिक योजयन्ति । बृहदारण्यकप्रतिपाद्यार्थं विविच्य प्रदर्शयितु श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितवार्तिकसाराख्यात् ग्रन्थात् नव श्लोकान् पठन्ति—"अरण्याध्ययनादेतत् आरण्यकमुदीर्यते"—इत्यादिना (पृ० ५)। कर्माधिकारिण्यपेक्षित गुणजात स्वाराज्यसिद्धिकृदभिहितश्लोकोक्तरीत्यति प्रत्यपादयन । स च "अर्थी दक्षो द्विजोऽक्ष बुध इति मतिमान '—इत्यादि अध्ययनफल वेदार्थज्ञानमिति मीमासका अक्षरावाप्तिरिति विवरणकारादयो वेदान्तिन । अस्मिन पक्षे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्य" इति श्रवणविधिरेव ब्रह्मजिज्ञासारूपश्रवणे प्रवर्तिका। मतद्वयमप्यङ्गीकृत्य टिप्पणीकारा उभयो काण्डयो एकपुरुषार्थावसायितया एकराशित्वकरण भाष्यकृत 'सर्वोऽप्यय वेद" इति समञ्जस वदन्ति (पृ० ६) । मोक्षसुख न सर्वाभिलषित विषयसुखमेव खलु प्राकृता जना वाञ्छन्ति इति आक्षेपमुद्भाव्य टिप्पणीकारा मोक्षसुखस्य सर्वाभिलापविषयत्व समर्थयन्त—मोक्षसुख अनावृत आत्मस्वरूपानन्द स एव विषयसम्पर्कजन्यमनोवृत्तिभि तत्र तत्र परिच्छिन्नरूपेण प्रकाशते 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती' ति श्रुते इत्याहु । (पृ० ७) वेदप्रामाण्य औत्पत्तिकसूत्रे स्थापितमिति टीका—तत्र टिप्पणी 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सबन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाण बादरायणस्यानपेक्षत्वात्"—

इति जैमिनिसूत्रम्—इत्यादिना । (पृ० ६) जैमिनिसूत्रमुदाहृत्य तस्य सम्प्रदायसिद्ध कुमारिलप्रोक्तमर्थं स्पष्टमाह।

टिप्पण्या योगसूत्राणि बहून्युदाहृतानि । तथाहि (पृ० १२) "अनित्याशुचिदु खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या । दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता । सुखानुशयी राग । दु खानुशयी द्वेष" इत्यादीनि सूत्राणि रागद्वेषादिशब्दप्रतिपाद्यतया विवृण्वन्ति।

मीमासका: असकृत् विध्युद्देशे—इति पद प्रयुञ्जते । तस्यायमर्थ विधि. उद्दिश्यते निर्दिश्यते अस्मिन् इति व्युत्पत्त्या लिङादिघटित विधिवाक्यमित्यर्थ इति। तमेवार्थं टिप्पण्यामाहु (पृ० १८)। विध्युद्देशे विधायकवाक्ये—इत्यादिना (पृ० १६)—भाष्ये समार क्रियाकारकफलात्मकतया आत्मन्यारोपित. इत्युक्तं तस्य विविच्यार्थमाह टिप्पण्या ससारो हि क्वचित् क्रियारूप निष्क्रिये न सभवति क्वचित्कारकरूपः तस्याद्वितीये न सभव क्वचित् फलरूप फलस्य कार्यरूपतया फलेऽसभवात् इति। (पृ० ५६) भाष्ये तमेव कुमार जातमग्नि प्रथमशरीरिण अशनायावत्त्वान्मृत्यु अत्तु मुखविदारण कृतवानिति भाष्यम् । टिप्पण्यामाहु—पुत्रमत्तु प्रवृत्तस्य स्रष्टुर्मर्यादाभंग स्यादत आह—क्षुधेति। अशनायाद्युपद्रुतो मर्यादां भिन्दानोऽपि अज्ञाने प्रवर्तते विवेकिनामपि क्षुत्पीडितानां तद्दर्शनात् यथा विश्वामित्र श्वजाघनीमित्यादि।

आत्मैवेदमग्र आसीदित्यादि ब्राह्मणे 'द्वितीयाद्वै भय भवति" इति द्वैतभावनाया भयहेतुत्वमुक्त्वा स वै नैव रेमे स द्वितीयमैक्षत मत इत्यादिना एकाकित्वरूपाद्वैतज्ञानमपि निन्दितम। एव चोभयोरपि दुष्टत्वात क परिग्राह्य इत्याक्षेपे मति टिप्पणीकारः परिजह्रु—अकामस्य विदुष अद्वैतज्ञान नारतिहेतु. भीतिमपि निवर्तयति कामिनस्तु द्वितीयाद्भय एकाकित्वे अरतिश्च भवत इति एतत्सर्व वार्तिकतट्टीकोदाहरणेन टिप्पणीकारा प्रदर्शयन्ति (पृ० ५६) "एकाकिनो विराजो वाऽविद्यासवीतचेतस । पूर्वजन्मोत्यसस्कारात भयमाविरभूदिह" ।। इत्यादि।

एव (पृ० १७६-१७७) तद्यदिदमाहुरमु यजामु यजेत्यादि मूलभाष्यटिप्पणी रचयन्त वार्तिकानि उदाहृत्य केवलकर्मिणामेवेय निन्दा न तु ज्ञानिना अकर्मिणा देवानामप्यात्मभूतानाम् तदुक्त "यजेति लिङ्गान्निन्देषा कर्मिणामेव गम्यते । न तु विध्वस्तमोहाना प्रत्यङ्मात्रैकशायिनाम्"—इत्यादि। "एव मिथो भिन्न यदाहुस्त एकैक देवमध्वरे । तदसत्प्रतिपत्तव्य यतोऽभिन्नैव देवता। भेदग्राहि न नो मान घटादावपि विद्यते" इत्यादिना। १६२ पृ०—विराट्पुरुषहिरण्यगर्भयो स्वरूप वार्तिकानुसारेण विवेचयति—व्यतिकीर्णक्षीरनीरवन्मायोपाधिकारण नानारूप तस्य सर्वकार्यात्मकत्वात्तस्मात् सूत्रमुत्पन्न अपञ्चीकृतपञ्चभूतात्मक क्रियाप्रधानज्ञानोपसर्जनशक्तियुक्तमित्यर्थ। विराट्स्वरूप तु—परात्मैव सूत्रादिहेतुमायावी सूक्ष्म. पृथिव्यादिपञ्चकाद्देशविभागवान्वैराज स्थूलप्रपञ्चात्मक स्थान प्राप्य विराडुच्यते स चाग्निसूर्याद्यवयवानित्यर्थ ।

पृ० २१७—आत्मेत्येवोपासीतेत्यत्र नापूर्वविधि प्राप्तत्वात् इति भाष्यटिप्पण्या वार्तिकमव प्रदर्शयन्त —

"नित्यप्राप्तिमिहाऽऽचष्टे विध्यर्थापनुनुत्सयः ।
अप्राप्ताशानुपात्यैव सर्व एव विधिर्यत ।।
पाक्षिक्युपासनप्राप्तिर्नित्या वेति च लिङ्गत. ।
विवक्षिता भाष्यकृतो नित्यप्राप्तिरितीर्यते" ।।

इत्यनेन परिसङ्ख्याविधिश्च प्रतिपाद्यत इत्याह—(पृ० २७६)। नानाजीववादस्य नावकाश इति श्रीआनन्दगिरिटीका समर्थयन्त ब्रह्म वा इदमग्र आसीदित्येकात्मवादोपक्रमादेक एव जीव । बहुवचन शरीरभेदाभिप्रायमिति समाधानमाहु । (पृ० ३७९) सप्रतिकर्म कस्येत्याशङ्काया कोऽधिकारीति प्रश्ने य क्रमसन्यास चिकीर्षति पुत्रवाश्च स एव अधिकारी ब्रह्मचारि-सन्यसने तु नास्य कर्मण प्राप्ति नाप्यपुत्रस्य इति वार्तिकानुसारेण निर्णय कुर्वन्ति । विद्या कस्मै केन वा उपदेष्टव्येति प्रश्ने टिप्पणीकार भर्तृप्रपञ्चाना वचनमुदाहरेति युक्त सयोगोऽधिकारित्वेन हेतुना नष्टाश्वदग्धरथवदिति इमे टिप्पणीकार मूलस्य भगवत्पादकृतव्याख्यामुपपाद्य यत्र यत्र वार्तिककारा व्याख्यान्तर भाष्यविरुद्ध स्वय लिखन्ति । तत्तद्व्याख्यान्तरमपि । विस्तरेण प्रतिपादयन्ति (पृ० ४५६-४५७) 'तदेषा प्राणाना विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते" इति मूलस्य भगवत्पादा जीवश्चिदाभासेन करणेन इन्द्रियाण्यमर्थग्रहणसामर्थ्यं सहृत्य अज्ञाते ब्रह्मणि शेते सुषुप्तौ इत्यर्थापयन्ति । अर्थान्तर तु विज्ञान—अर्थग्रहणशक्तिमन्ति इन्द्रियाणि तानि अज्ञातचैतन्यात्मना सुषुप्तौ जीवाभिन्न पर आकाशे शुद्धे स्वरूपे शेत इत्यथ । बहुषु स्थलेषु एवमेव वार्तिकतात्पर्याणि भाष्ये योजयन्त अश्रुतवार्तिकाना भाष्य पठितुमिच्छता वार्तिकश्रवणोत्सुक्य जनयन्ति । विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत इति वाक्य मूलीकृत्य प्रसङ्ख्यान तत्त्वज्ञानार्थं कर्तव्यमिति वदता मत निराकृत्य ये उक्तवाक्यस्य सन्निधानार्थान प्रदर्शयन्ति टिप्पण्या च स्पष्टीकुर्वन्ति टिप्पणकारा । मीमासाशास्त्रत उद्धृतान्य-धिकरणानि मीमासाग्रन्थपरिशीलनपूर्वक प्रकृते योजयन्ति । यथा अर्थैकत्वादेक वाक्य (पृ० ५११)। साङ्ख्याभिमत पुरुषबहुत्व टिप्पणकारा शतश खण्डयन्ति (पृ० ५२३)। वार्तिकोक्तानि जीवभेदानु-मानखण्डनपराण्यनुमानानि स्वय विवृणोति "ऐकात्म्यवन्तो देहा स्युर्विवादो येषु वर्तते । शरीरत्वा-विशेषत्वात्प्रतिवादिशरीरवत्' ॥ इत्यादिना ।

कि बहुना भाष्यतट्टीकोपेत विस्तृतटिप्पणीव्याजेन भाष्यटीकयोर्व्याख्यानरूपया वार्तिकार्थ-सयोजनेन बृहदारण्यकभाष्यटीकावार्तिकादीना समेषा ग्रन्थानामभिप्रायावगमहेतुभूतया सवलितमिद सस्करण छात्राणामध्यापकाना मुमुक्षूणा चात्यन्तोपकारकमित्यत्र न कोऽपि सशय । हिन्दीभाषया भाष्यविवरण सस्कृतानभिज्ञान् बोधयितु महदुपकारकमिति स्पष्टमेव ।

अस्या च श्रीकैलासाश्रमग्रन्थमालाया ईशाद्युपनिषदा श्रीआनन्दगिरिटीकासहित श्रीशाङ्कर-भाष्य महामण्डलेश्वरश्रीविष्णुदेवानन्दगिरिस्वामिना विस्तृतटिप्पण्या श्रीकैलासाश्रमस्थापनशताब्दी-महोत्सवे श्रीमहामण्डलेश्वरविद्यानन्दगिरिमहाभागाना आध्यक्ष्येण सम्पत्स्यमाने प्रकाश्यमान समेषा विदुषा वेदान्तश्रद्धावता च महते प्रमोदाय भवति । सटिप्पणबृहदारण्यकभाष्यटीकात्मकेऽस्मिन् विभागे सयोजितम् । श्रीविष्णुदेवानन्दगिरिस्वामिविरचित क्रोडपत्र इम विभाग परमोत्कर्ष प्रापयतीति ।

संन्यासाश्रमहरिद्वारवास्तव्यवेदान्तज्योतिषाचार्यस्वामियोगेन्द्रानन्दगिरिमहाभागानां

सम्मतिः

इह खलु नैसर्गिकरूपेण चक्रवदावर्तमाने सत्त्वाऽसत्त्वाभ्याञ्चाऽनिर्वचनीयतयाऽऽविद्यकत्वेनाऽऽपातरमणीयेऽनादिसंसारे सकलो हि जीवलोकः सुखाभीप्सया दुःखजिहासया च निरन्तरं प्रवर्तमानो रागद्वेषमदमोहमात्सर्यादिनैर्गुण्यविकारैः प्रतिक्षणं स्वान्तःकरणं विकुर्वन् स्वस्य च कल्पनयैवेष्टाऽनिष्टे परिकल्प्याऽनुकूलवेदनीये वस्तुनि समासक्तिं बध्नन् प्रतिकूलवेदनीये च द्विषन् प्रचण्डाऽऽध्यात्मिकादितापत्रयसीमानमुल्लङ्घयितुमसमर्थो वर्तत इति सर्वैरनुभूयत एव । तत्रैव महान्तः पारिणामिकमविद्यास्वभावं निरीक्ष्य काम्य-निषिद्धकर्मवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकादिनिष्कामकर्माऽनुष्ठानपरतया निर्गलितनिखिलकल्मषत्वेन नितान्तनिर्मलस्वान्तःकरणस्य साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य च जिज्ञासोर्दुःखनिवृत्तेर्लौकिकोपायाऽसाध्यतां समालोच्य तदात्यन्तिकनिवृत्तिमार्गतो निरतिशयानन्दावाप्त्यर्थं तदुपायतया पराविद्यायां प्रवृत्तिर्भवति । अत्र च "परा यया तदक्षरमधिगम्यते" इति श्रुत्याऽऽक्षराधिगमहेतुर्विद्या पराशब्देन व्यवह्रियते; अक्षरञ्च त्रिकालाऽबाध्यं देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं सच्चिदानन्दघनं स्वयंज्योतिर्ब्रह्मैव परम्, "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इत्यादिश्रुतेः । तस्मात् सकलसंसारदुःखनिबर्हणेयं विद्या—अक्षरविद्या ब्रह्मविद्या, उपनिषदित्यादिशब्दैः समानार्थकतया कथ्यते । अत एव श्रीमद्भगवत्पादाचार्या अपि भाष्यमाभाषमाणाः—"य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति, परं ब्रह्म वा गमयति अविद्यादिसंसारकारणञ्चाऽत्यन्तमवसादयति विनाशयतीत्युपनिषदि"त्यवोचन् ।

एवम्भूतगुणविशिष्टोपनिषदामुपर्याचार्यकृतभाष्येषु मध्ये बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यमतिगम्भीरं वर्तते । इदं बृहदारण्यकमपि माध्यन्दिनकाण्वशाखाभेदेन क्वचित् स्वल्पपाठान्तरत्वात् द्विविधं दृश्यते । तत्र श्रीमद्भगवत्पादाचार्या अपि काण्वशाखीयब्राह्मणकुलेऽवतीर्णत्वात् स्वशाखीयशतपथब्राह्मणान्तर्गतं बृहदारण्यकोपनिषदमवलम्ब्यैव सुललितप्रासादगुणविशिष्टभाषया सर्ववेदान्तसंग्रहात्मकं विस्तीर्णं भाष्यं सुस्पष्टं कृतवन्तः । आनन्दगिरिकृतटीकासहितस्यैवम्भूतभाष्यस्य ऋषिकेशस्थकैलासाश्रमेऽतिप्राचीनकालतः परम्परया प्रचलितस्वाध्यायप्रवचनावसरे ब्रह्मलीनैः श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यैः ब्रह्मनिष्ठस्वामिगोविन्दानन्दमहाराजैर्लिखिता विस्तीर्णटिप्पणी अमुद्रितरूपेण साम्प्रतमपि वर्तते । तदनन्तरमपि पदवाक्य-प्रमाणपारावारैः प्रातःस्मरणीयैर्ब्रह्मलीनैः श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठैः श्रीमत्परमपूज्यपादमहामण्डलेश्वरैर्यतिकुलशिरोभूषणैर्विद्यावाचस्पतिभिः स्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिमहाराजैः कृता संक्षिप्ताऽपि सारगर्भिता टिप्पण्युपलभ्यते । तया संक्षिप्तटिप्पण्या सह राष्ट्रभाषानुवादसमलङ्कृतमिदं बृहदारण्यकभाष्यमानन्दगिरिटीकासहितमधुना वर्तमानश्रीकैलासाश्रमपीठाधीश्वरैरनन्तश्रीविभूषितैरैहिकामुष्मिकफलभोगविरक्तैः श्रद्धालुजिज्ञासुजनानां मानसकैरवं विकासयद्भिर्मोहान्धकारहारिभिः स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां निरन्तरं लोककल्याणकारिभिर्ज्ञानामृतपानमदविस्मृतवितथव्यवहारैरपि केवलमहैतुकया दयया लोकोपकाराय कृतपुरुषार्थैर्विद्वत्प्रवरैर्महामण्डलेश्वरैः स्वनामधन्यैश्च श्रीस्वामिविद्यानन्दगिरिमहोदयैः खण्डशः प्रकाशितुमारब्धम् । तत्राऽऽद्यखण्डरूपेण प्रथममध्यायद्वयात्मकमिदममूल्यग्रन्थरत्नं निर्विघ्नं प्रकाशितं सञ्जायते । एतदर्थं श्रीस्वामिपादाः कोटिशो धन्यवादार्हाः । आशासेऽग्रेऽप्येवं प्रशंसनीयपुरुषार्थमवलम्ब्य श्रीस्वामिपादाः शेषभागमप्यतिशीघ्रं प्रकाशयिष्यन्तीति ॥

विषयानुक्रमणिका

★ किञ्चित्प्रास्ताविकम् ★

इह जगति प्राणभृन्मात्रस्याऽऽध्यात्मिकाऽऽधिभौतिकाऽऽधिदैविकतापं नितरां ताताप्यमानस्य तस्याऽऽत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिपूर्वकं नित्यनिरतिशयपरमानन्दावाप्त्यर्थं यथाशक्तिप्रयतमानस्यापि मनोरथपूर्तिर्न जायते। यत्तत्प्रकारस्याज्ञानादनुपाये उपायभ्रमाद्वा जानतोऽपि प्रमादवशाद्मन्दप्रयत्नान्मुधैवातिदुर्लभस्य मानुषदेहस्यापव्ययं करोति। समस्तदुःखनिवृत्तेः परमानन्दावाप्तेश्च साधनञ्चाबाधितप्रामाण्याद्वेदादेव प्रसिद्ध्यति। तत्रापि परमप्रमाणस्य वेदान्तस्यैव सामर्थ्यमिति सर्वासामुपनिषदां बृहदारण्यकस्यवेति प्रसिद्धमेव। ग्रन्थतोऽर्थतश्च बृहत्त्वादरण्येऽनूच्यमानत्वाच्च बृहदारण्यकमिति नाम्ना प्रथितस्य तैत्तिरीयारण्याद्यारण्यकान्तरापेक्षया बृहत्त्वाच्च शुक्लयजुर्वेदीयशतपथब्राह्मणान्तर्गतस्यास्य प्रवर्ग्यमधुमुनिखिलकाण्डचतुष्टयात्मकस्य प्रवर्ग्यकाण्डं विहाय काण्डत्रयात्मकस्योपनिषद्भागस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यकैलासाश्रमाध्यक्षमहामण्डलेश्वरस्वामिगोविन्दानन्दगिरीति ख्यातस्य स्वोपज्ञटिप्पणसमन्वितस्यानन्तश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिकैलासाश्रमाध्यक्षमहामण्डलेश्वरस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिसगृहीतस्यानन्दगिरिव्याख्यान्वितशाङ्करभाष्योपेतस्य यतीन्द्रकुलतिलकश्रीकैलासविद्यापीठाधीश्वरमहामण्डलेश्वरानन्तश्रीस्वामिविद्यानन्दगिरिमहानुभावकृपापात्रडाक्टरोमेशानन्दशास्त्रिनिर्मितनृगिरानूदितस्यापूर्वं संस्करणं सर्वेषामुपकारकं भूयादित्याशासानो

हृषीकेशकैलासाश्रमे
गुरुपूर्णिमायां सवत् २०३६।

विद्वद्विधेय
हरिहरतीर्थः
श्रीकैलासाश्रमब्रह्मविद्यापीठस्य सञ्चालक सचिवश्च कैलासाश्रमन्यासस्य।

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

बृहदारण्यकोपनिषत्

सटिप्पणटीकाद्वयसंवलितशांकरभाष्यसमेता ।

(अथ श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितं भाष्यम् ।)

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो नमो गुरुभ्यः ।

(अथाऽऽनन्दगिरिकृता बृहदारण्यकभाष्यटीका)

यदविद्यावशाद्विश्वं दृश्यते रशनाहिवत् । यद्विद्यया च तद्धानिस्तं वन्दे पुरुषोत्तमम् ॥१॥
नमस्त्रय्यन्तसंदोहसरसीरुहभानवे । गुरवे परपक्षौघध्वान्तध्वंसपटीयसे ॥२॥
भगवत्पादपादाब्जद्वन्द्वं द्वंद्वनिबर्हणम् । सुरेश्वरादिसद्भृङ्गैरवलम्बितमाभजे ॥३॥
बृहदारण्यके भाष्ये शिष्योपकृतिसिद्धये । सुरेश्वरोक्तिमाश्रित्य क्रियते न्यायनिर्णयः ॥४॥

अथ डा० उमेशानन्दशास्त्री कृत 'कुमुदतोषिणी' टीका

यो भूर्भुव स्वरभित परिपूर्णभूमा कालात्मना प्रतिपद स्वयमस्ति भाति ।
देव स विष्णुपदवृत्तिमपेक्ष्य दक्षिणामूर्तिरेव ददता मधुरामृत न ॥१॥
छन्दोऽपवर्गसार भुवि विद्यानन्दमन्तत स्तौमि । कैलासे मुनिवृन्दे महोमदीय परिस्फुटति ॥२॥
श्रवणान्तसरस्वन्त तरीतु घृतमेधसाम् । हृदय ह्लादयन्तीय टीका कुमुदतोषिणी ॥३॥

ॐ ब्रह्म विद्या सम्प्रदाय के कर्त्ता आचार्य परम्परा के (पौतिमाष्यादि) ऋषियो, हिरण्यगर्भादि एव गुरुदेव को नमस्कार है ।

अथविद्यावाचस्पतिस्वामिविष्णुदेवानन्दरचितटिप्पणम्

यद्ब्रह्मविष्णुशिवरूपतया प्रतीतम्, सृष्टिस्थितिप्रलयकारणतामुपैति ।
तद्ब्रह्म नित्यनिगमान्तपदैकवेद्य स्वत स्फुरतु वस्तु निरन्तर व ॥१॥
नास्मात्किञ्चिदुदेति नास्तमयते नास्मिन्पुनर्लीयते, चिन्मात्र परमार्थतस्तु सकले ज्योतिर्मय भासते ।
जातिव्यक्तिविवर्जित बहुमत सर्वप्रपञ्चातिगम्, स्वान्तध्वान्तमतीत्य यत्र शमिन शाम्यन्ति तस्मै नम ॥२॥
रजस्तम —सत्त्वगुणावभासिनी स्वत प्रदीप्ता चितिरेव शान्तिदा ।
सदा भवद्भूतभविष्यभास्वती, स्तवीमि शक्ति चितिमेव केवलाम् ॥३॥

१ सम्प्रदाय —शिष्येभ्य सम्प्रदानम्—सम्यक्प्रदानम् । २ वश आचार्यपरम्परयोपदेश इति यावत् । ३ रशना कटिसूत्रम् मेखलापरपर्य्याया । ४ सन्दोह समूह । ५ परपक्षौघ भेदवादिसमूह । ६ आ समन्तात् श्रद्धाभक्त्युद्रेकेणेत्यर्थ । ७ उपकृति असम्भावनाविपरीतभावनाराहित्येन वाक्यार्थबोधरूपा ग्राह्या । ८ न्यायनिर्णय इति न्यायानाम्—श्रुत्यर्थोन्नीतलक्षतया भाष्योक्ताना युक्तीनाम्, निर्णयो वादिशङ्कितामासनानिराकरणपुर सरमभिलषितार्थसाधकत्वव्यवस्थापनेत्यर्थ ।

"उषा वा अश्वस्य" इत्येवमाद्या वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषत् । तस्या इयमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते संसारव्याविवृत्सुभ्यः संसारहेतुनिवृत्तिसाधनब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये ।

'काण्वोपनिषद्विवरणव्याजेनाशेषामेवोपनिषदं 'शोधयितुकामो भगवान्भाष्यकारो विघ्नोपशमादिसमर्थं शिष्टाचारप्रमाणकं परापरगुरुनमस्काररूप मङ्गलमाचरति—ॐ नमो ब्रह्मादिभ्य इति । वेदो हिरण्यगर्भो वा ब्रह्म तन्नमस्कारेण सर्वा देवता नमस्कृता भवन्ति 'तदर्थत्वात्तदात्मकत्वाच्च "एष उ ह्येव सर्वे देवाः' इति 'श्रुतेः । 'आदिपदेन 'परमेष्ठिप्रभृतयो गृह्यन्ते । यद्यपि तेषामुक्तो ब्रह्मान्तर्भावस्तथाऽपि तेष्वनादरनिरासार्थं पृथग्ग्रहणम् । चतुर्थी नमोयोगे । नमःशब्दस्त्रिविधप्रह्वीभावविषयः । ननु ब्रह्मविद्यां वक्तुकामेन किमित्येते नमस्क्रियन्ते सत्य हि वक्तव्येत्यत आह— "ब्रह्म विद्येति । एतेषां तत्संप्रदायकर्तृत्वे "वंशब्राह्मणं प्रमाणयति—वंशऋषिभ्य इति । यद्यपि तत्र पौतिमाष्यादयो ब्रह्मान्ताः संप्रदायकर्तारः श्रूयन्ते ।"तथाऽपि गुरुशिष्यक्रमेण ब्रह्मणः "प्राथम्यमिति" "तदादित्वमिति भावः । संप्रत्यपरगुरुन्नमस्करोति—नमो गुरुभ्य इति । यद्यपि ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्त्रन्तर्भावादेते प्रागेव नमस्कृतास्तथाऽपि शिष्याणां गुरुविषयाद"रातिरेकार्थं पृथग्गुरुनमस्करणम् ! 'यस्य देवे परा भक्तिः' इत्यादिश्रुतेरिति" ।

"यदुद्दिश्य मङ्गलमाचरितं तत्प्रतिज्ञातुं प्रतीकमादत्ते—उषा वा इति । "एतेन चिकीर्षिताया वृत्तेर्भर्तृप्रपञ्चभाष्येणागतार्थत्वमुक्तम् । तद्धि "द्वया "हेत्यादिमाध्यंदिनश्रुतिमधिकृत्य प्रवृत्तम् । इयं पुनः 'उषा वा अश्वस्य' इत्यादिकाण्वश्रुतिमाश्रित्येति । अथोद्देश्यं निर्दिशति—तस्या इति । भर्तृप्रपञ्चभाष्याद्विशेषान्तरमाह—अल्पग्रन्थेति । अस्या ग्रन्थतोऽल्पत्वेऽपि नार्थतस्तथात्वमिति "ग्रन्थस्य ग्रहणम् । वृत्तिशब्दो भाष्यविषयः । सूत्रानुकारिभिर्वाक्यैः सूत्रार्थस्य स्वपदानां चोपदर्शनस्य "भाष्य-

"उषा वा अश्वस्य" इस मन्त्र से प्रारम्भ होने वाली (काण्वश्रुति) वाजसनेयी ब्राह्मणोपनिषद् है । ससार से विरक्ति के इच्छुक प्राणियो के लिए, ससार के कारण अविद्या निवृत्ति के साधन ब्रह्मात्मैकत्वविद्या की प्राप्ति के लिए उसकी यह अल्प परिमाण ग्रन्थ वाली वृत्ति प्रारम्भ की जाती है ।

१. प्रतिज्ञाभाष्यम् । २ अधिकारिभाष्यम् । ३ फलभाष्यम् । ४ काण्वशाखीयोपनिषदित्यर्थ, भाष्यकारीया हीयम् शाखा । ५ जातावेकत्वम् । ६ निर्णीततात्पर्यविषया वर्तुमना इत्यर्थ । ७ तदर्थत्वादिति वेदप्रतिपाद्यत्वादित्यर्थ. । एष उ इत्यादिवाक्यतोऽव्यवहितपूर्वम् एतस्यैव सा विसृष्टिरिति वाक्यम् तथा च या विसृष्टि विविधा अग्न्यादिरूपेण देवाना सृष्टि सा एतस्य प्रजापतेरेव भेद । हि यस्मात्, उ तस्मात् सर्वे देवा एष एव प्रजापतिरेव तद्भेदत्वात् तदन्तर्गतत्वेन तदभिन्ना एवेति समुदायार्थ । ८ बृह० उ० १ ४ ६ । ६ विराड् । १० वक्तव्या ब्रह्मविद्या येषामनुग्रहात्प्राप्ता ते गुरव सदैव वन्द्या इति शिष्टाचारपरिपालनाय ते नमस्क्रियन्ते इति बोध्यमिति । ११. बृ. उ. २ ६-२ । १२. तथापीति अर्थक्रममाश्रित्येति शेष । पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानिति न्यायादिति भाव । १३ इति अर्थक्रमाश्रयणादित्यर्थ । १४. न तु ब्रह्मादय इति शेष । १५ तदादित्वमिति तेषु सम्प्रदायकर्तृषु ब्रह्मणं आदित्वमुक्तमिति शेष । १६. शिष्या गुरुष्वादरातिशय कुर्वन्त्विति बोधयितुमित्यर्थ । १७ मङ्गलभाष्यव्याख्यासमाप्त्यर्थ इति । १८. यदिति भाष्यप्रणयनमित्यर्थ । १६ उषा वेत्यादि प्रतीकोपादानेन । २०, द्वयाह प्राजापत्यादेवाश्चासुराश्चेत्यादीत्यर्थ । २१ बृह० उ० १-३-१ । २२ अन्यथाऽल्पावृत्तिरित्येवोच्येति बोध्यम् । २३ 'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यै सूत्रानुकारिभि । स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्य भाष्यविदो विदु' रिति तल्लक्षणम् । सूत्रानुकारिभिरिति सूत्रसदृशै. सग्रहवाक्यैरित्यर्थ. । स्वपदानि च तान्येव सग्रहवाक्यानि ।

सेयं ब्रह्मविद्योप[1]निषच्छब्दवाच्या तत्पराणां सहेतोः संसारस्यात्यन्तावसादनात्। उपनिपूर्वस्य सदेस्तदर्थत्वात्। तादर्थ्याद्ग्रन्थोऽप्युपनिषदुच्यते।

लक्षणस्यात्र [2]भावादिति। ननु कर्मकाण्डाधिकारिणो [3]विलक्षणोऽधिकारी न ज्ञानकाण्डे संभवति [4]अर्थित्वादेः साधारणत्वाद्वै[5]राग्यादेश्च [6]दुर्वचनत्वात्। नच निरधिकारं शास्त्रमारम्भमर्हतीत्यत आह—संसारेति। कर्मकाण्डे हि [7]स्वर्गादिकामः [8]संसारपरवशो [9]नरपशुरधिकारी। इह तु संसाराद्व्यावृत्तिमिच्छवो [10]विरक्ताः। नच वैराग्यं दुर्वचं शुद्धबुद्धेर्विवेकिनो [11]ब्रह्मलोकान्ते [12]संसारे तत्संभवात्।

उक्तं हि—

"शोध्यमानं तु तच्चित्तमी[13]श्वरार्पितकर्मभिः।
वैराग्यं ब्रह्मलोकादौ व्यनक्त्याशु [14]सुनिर्मलम्" इति॥

[15]अतो यथोक्त[16]विशिष्टाधिकारिभ्यो वृत्तेरारम्भः संभवतीत्यर्थः। तथाऽपि विषयप्रयोजनसंबन्धानामभावे कथं वृत्तिरारभ्यते तत्राऽऽह—संसारहेत्विति। प्रमातृताप्रमुखः कर्तृत्वादिरनर्थः संसारस्तस्य हेतुरात्माविद्या तन्निवृत्तेः साधनं ब्रह्मात्मैकत्वविद्या तस्याः प्रतिपत्तिरप्रतिबद्धायाः प्राप्तिस्तदर्थं वृत्तिरारभ्यत इति योजना। [17]एतदुक्तं भवति—सनिदानानर्थनिवृत्तिः शास्त्रस्य प्रयोजनम्। ब्रह्मात्मैक्यविद्या तदुपायः। तदैक्यं विषयः। संबन्धो ज्ञानफलयोरुपायोपेयत्वम्। शास्त्रतद्विषययोर्विषयविषयित्वं तदारभ्यं [18]शास्त्रमिति।

वह यह ब्रह्मविद्या, उपनिषद् शब्द की वाचिका, अपने में तत्पर मनुष्यों के संसार का, कारणसहित नाश करती है। 'उप' 'नि' पूर्वक षद्लृ (विशरणगत्यवसादनेषु) धातु का यही अर्थ है। ग्रन्थ के ब्रह्मविद्या में जनक एवं उपकारक होने के कारण इसे भी उपनिषद् कहा जाता है।

---

१. नामभाष्यम्। २. प्रतिज्ञाभाष्यव्याख्या समाप्त्यर्थ इति। ३. सकाशात्। ४. अर्थित्वादेरिति—अर्थी दक्षो द्विजोऽहं बुध इतिमतिमान् कर्मसूक्तोधिकारी इत्यादि स्वाराज्यसिद्धयुक्तपद्यप्रतिपाद्यस्यार्थित्वादेरित्यर्थः। अत्रार्थित्वं द्रव्यवत्त्व स्वर्गाद्यभ्युदयार्थित्व च बोध्यम्। दक्षत्व क्रियाकुशलत्वम्। बुधत्वं चाधीतजैमिनीयशास्त्रत्वम् इत्यादिकं बोद्धव्यम्। ५. ननु अर्थित्वाद्यतिरिक्तं वैराग्यादिकमेव ब्रह्मविद्याधिकारिविशेषणम् तदुक्त शान्तो दान्तः परिव्राडित्यादीत्यत आह वैराग्यादेश्चेति। ६. दुःसम्पाद्यत्वात्। ७. अहमित्यस्य च वर्णाश्रमादिषु दृढाभिमानवानित्यर्थः। तत्रैव च शान्तो दान्त परिव्राडुपरमपरमो ब्रह्मविद्याधिकारीत्युक्तम् स्वर्गपदेन पारलौकिककामत्वं सूचितम्। ८. कर्तृत्वाद्यभिमानाधीन। ९. हिताहितविवेकशून्य.।

१०. "त्यक्ताशेषक्रियस्यैव संसारं प्रजिहासतः। जिज्ञासोरेव चैकात्म्य मध्यन्तेष्वधिकारिता॥१॥
एतमेवेति च तथा प्रत्यग्यायात्म्यवित्तये। सर्वकर्मत्यजं प्राह श्रुतिर्विद्याधिकारिणम्॥२॥
प्रत्यग्विविदिषासिद्धयै वेदानुवचनादयः। ब्रह्मप्राप्त्यै तु तत्याग ईप्सन्तीति श्रुतेर्बलात्॥३॥"

इति वार्तिककृतोक्तत्वादित्यर्थ। इप्सन्तीत्यनेन एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्त इति माध्यन्दिनश्रुतेरेव पाठान्तरेण ग्रहणं वेदितव्यम्॥ ११. ब्रह्मलोकपर्यन्ते। १२. संसारमण्डले इत्यर्थः। १३. निष्कामकर्मभिरित्यर्थ। १४. मन्दमध्यमतारूपमलापकरणायोक्तं सु इति तीव्रतरवैराग्यमित्यर्थः। १५ वैराग्यादेः सुवचत्वादित्यर्थः। १६ कर्मकाण्डाधिकारितो विलक्षणेत्यर्थः। १७. एतदुक्तं भवतीति अधिकारिभाष्यफलभाष्याभ्यामित्यादिः। १८. फलभाष्यसमाप्त्यर्थ इति शब्दः।

प्रयोजनादिषु 'प्रवृत्त्यङ्गतयोक्तेष्वपि सर्वव्यापाराणां प्रयोजनार्थत्वात्तस्य प्राधान्यम् ।
उक्तं हि—

"सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वाऽपि कस्यचित् ।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते" इति ॥

'तथाच शास्त्रारम्भोप'यिकं प्रयोजनमेव नामव्युत्पादन'द्वारा व्युत्पाद'यति—सेयमिति । अध्यात्मशास्त्रेषु प्रसिद्धा संनिहिता चात्र ब्रह्मात्मैक्यविद्या तन्निष्ठानां सर्वकर्मसंन्यासिनां सनिदानस्य संसारस्यात्यन्तनाशकत्वाद्भवत्युपनिषच्छब्दवाच्या । 'उपनिषदं भो ब्रूहि' इत्याद्या च 'श्रुतिः । 'तस्मादुपनिषच्छब्दवाच्यत्वेऽप्ये'तावानर्थो लभ्यते तत्राऽऽह—उपनिपूर्वस्येति । अस्यार्थः—'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' इति स्मर्यते । सदेर्धातोरुपनिपूर्वस्य क्विबन्तस्य सहेतुसंसारनिवर्तकब्रह्मविद्यार्थत्वादुपनिषच्छब्दवाच्या सा भवत्युक्तफलवती । 'उपशब्दो हि सामीप्यमाह । "तच्चासति संकोचके "प्रतीचि "पर्यवस्यति । निशब्दश्च निश्चयार्थः"तस्मादैकात्म्यं निश्चिन्वतां तद्विद्या सहेतुं संसारं सादयतीत्युपनिषदुच्यते । उक्तं हि—"'अवसादनार्थस्य चावसादात्' इति । ब्रह्मविद्यैव चेदुपनिषदिष्यते कथं तर्हि ग्रन्थे वृद्धास्तच्छब्दं प्रयुञ्जते न खल्वेकस्य शब्दस्यानेकार्थत्वं "न्याय्यमित्याशङ्क्याऽऽह— तादर्थ्यादिति । ग्रन्थस्य ब्रह्मविद्याजनकत्वादुप"चारात्तत्रोपनिषत्पदमित्यर्थः ।

यथोक्तविद्याजनकत्वे ग्रन्थस्य किमिति तदध्येतॄणां सर्वेषां विद्या न भवतीत्याशङ्क्य "श्रवणादिपराणामेवारण्या"नुवचनादिनियमाधीताक्षरेभ्यस्तज्जन्मेति बृहदारण्यकनामनिर्वचनपूर्वकमाह—सेयमिति । अथारण्यानुवचनादिनियमाधीतवेदान्तानामपि केषांचिद्विद्यानुपलम्भात्कुतो यथोक्ताक्षरेभ्यस्तदुत्पत्तिरित्यत आह—बृहत्त्वादिति । उपनिषदन्तरेभ्यो ग्रन्थपरिमाणातिरेकादस्य बृहत्त्वं प्रसिद्धमर्थतोऽपि तस्य तदस्ति ब्रह्मणोऽखण्डैकरसस्यात्र प्रतिपाद्यत्वात्तज्ज्ञानहेतूनां चान्तरङ्गबहिरङ्गाणां भूयसामिह प्रतिपादनात् । अतो बृहत्त्वादारण्यकत्वाच्च बृहदारण्यकम् । नचैतदशुद्ध-

१ प्रवृत्तिप्रयोजकतयेत्यर्थः । २ प्रयोजनस्य प्राधान्ये निश्चिते सतीत्यर्थः । ३ प्रयोजकम् । ४ नामकथनद्वारा कथयतीत्यर्थः । ५ ननु नामभाष्येण प्रयोजनमुक्तं चेत् तत्कामोऽधिकारी अर्थात्सिद्धोऽतो व्यर्थमधिकारिभाष्यमित्याशङ्क्य तस्य तात्पर्यमाहुर्वार्तिककाचार्याः—

'मिथोविरोधसिद्ध्यर्थं कर्मज्ञानाधिकारिणोः । समाख्याविवृत्तमुष्य इत्युक्तिं भाष्यकृज्जगाविति ।।"

६ यत्.उपनिषदं भो ब्रूहीत्याद्याश्रुतिः । ७ तस्मात्—उपनिषन्नाम व्युत्पत्तेः श्रुतेश्चेत्यर्थः । श्रुतौ हि ब्रह्मविद्यार्थक एवोपनिषच्छब्दः । ८ एतावानिति—सहेतुसंसारनिवर्तकत्वपरिमाणक इत्यर्थः । उपनिषच्छब्दस्याम्नायविशेषे रूढेस्तामतिलङ्घ्य अवयवार्थेन कुतोऽर्थान्तरे वृत्तिर्योगाद्रूढिर्बलीयसीति न्यायादिति भावः । ९ नामाभिधावृत्ति समुदायशक्तेरसत्त्वात् प्रसिद्धेस्तु गतिर्वक्ष्यते अतो नेह स न्यायोऽवतरति योगारूढ्युभयसंभवस्थल एव तन्न्यायावतारादिति । अभिधावृत्तेस्तात्पर्यवृत्तिर्बलीयसीति न्यायं चाभिप्रेत्य भाष्यं व्याकुर्वन्नुपोपसर्गस्य वाच्यार्थमाह—उपशब्द इति । १० तच्चेति अव्यवहितस्वरूपसामीप्यं चेत्यर्थः । ११ अन्तर्बहिर्विभागहीन आत्मनीत्यर्थः । १२ पर्यवस्यतीति तात्पर्यवद्भवतीत्यर्थः । तथा च सर्वतो व्यवधानाभावोपलक्षितचैतन्यं उपोपसर्गलक्ष्यमिति ध्येयम् । १३ तस्मादिति अवयवार्थस्य तस्याः पौष्कल्यादित्यर्थः । १४ अवसादनार्थस्य सदिधातोः अवसादरूपार्थस्य ब्रह्मविद्यायां समन्वयादिति सूत्रार्थः । १५ गौरवादिति भावः । १६ जन्यजनकयोरभेदारोपादित्यर्थः । १७ श्रवणाद्यावृत्यव्यापारवताम् । १८ अनुवचनमध्ययनम् ।

[१]सेयं षडध्याय्यरण्येऽनूच्यमानत्वादारण्यकम्। बृहत्त्वात्परिमाणतो [२]बृहदारण्यकम्। [३]तस्या[४]स्य कर्मकाण्डेन संबन्धो[५]ऽभिधीयते।

सर्वोऽप्ययं[६] वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः सर्वपुरुषाणां निसर्ग[७] एव तत्प्राप्तिपरिहारयोरिष्टत्वात्।

बुद्धेरधीतमपि विद्यामादधाति। "कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानम्" इति स्मृतेरित्यर्थः। ज्ञानकाण्डस्य "विशिष्टाधिकार्यादिवैशिष्ट्येऽपि कर्मकाण्डेन नियतपूर्वापरभावानुपपत्तिरनयोः संबन्धो वक्तव्यः। स च परीक्षकविप्रतिपत्तेरशक्यो "विशेषतो ज्ञातुमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्येति।

प्रतिज्ञातं संबन्धं "प्रकटयितुमसिद्धप्रमाणभावानां वेदान्तानां संबन्धाभिधाना"वसराभावा-

---

वह यह षडध्यायी, अरण्य में कही जाने के कारण आरण्यक है। परिमाण में बड़ी होने के कारण बृहदारण्यक है। अब इसके इस ज्ञानकाण्ड का कर्मकाण्ड से सम्बन्ध बतलाया जाता है।

यह सारा ही काण्डद्वयात्मक वेद, प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों से अनधिगत, इष्ट-प्राप्ति और अनिष्टनिवृत्ति के उपायों को प्रकाशित करने वाला है, क्योंकि "मुझे सुख मिले, दुःख न मिले" ऐसा सब मनुष्यों को स्वाभाविक रूप से ही इष्ट है।

---

१ सेयं षडध्यायीति।

"अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमुदीर्यते। बृहत्त्वाद्ग्रन्थतोऽर्थाच्च बृहदारण्यकं मतम् ॥१॥
बृहदारण्यके काण्डत्रयमाद्यं मधुस्मृतम्। द्वितीयं याज्ञवल्क्याख्यं तृतीयं खिलसंज्ञकम् ॥२॥
उपदेशोपपत्ती द्वे उपास्तिश्चेति ते त्रयः। अर्था क्रमेण काण्डानां प्राधान्येन निरूपिताः ॥३॥
मधुकाण्डे तु चत्वारोऽध्यायास्तत्राद्ययोर्द्वयोः। प्रवर्ग्यसंज्ञकं कर्म प्रोक्तं नोपनिषत्ततः ॥४॥
विद्यासंनिधिपाठेऽपि विद्याशेषं न कर्मणः। अरण्याध्ययनायैव विद्यासंनिधिरिष्यते ॥५॥
गुणोपसंहृतावेतत्सूत्रकारेण वर्णितम्। अतस्तृतीयमारभ्य व्याख्यानं न तु पूर्वयोः ॥६॥
अध्यारोपापवादाभ्यां मधुकाण्डं प्रवर्तते। अध्यारोप्य तृतीयेन चतुर्थेन त्वपोद्यते ॥७॥
षड्ब्राह्मणानि ज्ञेयानि तृतीये ब्राह्मणत्रयम्। आद्यं संसारसीमान्तसाधनप्रतिपादकम् ॥८॥
चतुर्थे तत्फलं प्रोच्य विद्याविद्ये च सूत्रिते। विस्तरात्सङ्ग्रहाद्वृत्तिरविद्याया अथोभयोः ॥९॥"

इत्युक्तं वार्तिकसारे। मधुकाण्डं बृ० २-५-१ द्रष्टव्यम्। उभयोरिति पञ्चमषष्ठयोरित्यर्थः। २ अधीयमानत्वात्। ३ इति नामभाष्यम्। ४ तस्येति—उपस्थितस्येत्यर्थः बुद्ध्यारूढस्येति यावत्। ५ ज्ञानकाण्डस्य। ६ ननु मिथो विरुद्धयोः काण्डयोः सम्बन्ध एव न सम्भवति विविदिषारूपे ज्ञानरूपे च कार्ये प्रत्येकमुभयोः काण्डयोः उभयत्र वा प्रत्येककाण्डस्य अपर्यवसानात् इत्याशङ्क्य समादधुर्वार्तिकाचार्याः—'वेदो हि सर्व एवायमात्मैक्यज्ञानसिद्धये। अतो नान्योऽभिसम्बन्धः कर्मविज्ञानकाण्डयोः'॥ इति। तथा च ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानसिद्धिहेतुत्वादुभयोरैक्यज्ञानहेतुत्वरूपधर्मवत्त्वमेव परस्परमुभयोः सम्बन्धसम्भवत्येव ऐक्यधीहेतुत्वादत्योन्ययोः सम्बन्ध इत्यर्थः। ७ प्रमाणभाष्यम्। ८ उपदेशमनपेक्ष्येत्यर्थः। ९ कर्माणि कषायान् पाचयन्तीत्यर्थः प्रथमपादस्य कषायेत्यादि—कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिरित्यादि। ततो ज्ञानं प्रवर्तते इति वाक्यशेषश्च। १० तस्मादनेकजन्मसुकृतक्षालितचेतसो नियमाधीतस्वाध्यायस्यापादितश्रवणादेराचार्योपदिष्टो वेदान्तो विद्याहेतुर्गाशुद्धबुद्धेरिति भावः। ११ विलक्षण इति। १२ उपायोपेयभावाद्यसाधारणस्वरूपेणेत्यर्थः। १३ सर्वथापीत्यादिवक्ष्यमाणग्रन्थेनेति ध्येयम। १४ नन्वेवं तदभिधानावसराभावश्चेत् तर्हि प्रथमं तत्प्रामाण्यं प्रतिपाद्य सम्बन्धापेक्षायां सम्बन्धप्रतिज्ञाभाष्यं प्रणेतव्यम् इति चेत्सत्यम् उपोद्घातप्रक्रियया भाष्यकारस्तस्येत्यादिना सम्बन्ध

तत्प्रामाण्यं प्रतिपाद्य पश्चात्तेषां कर्मकाण्डेन संबन्धविशेषवचनमुचितमिति मन्वानस्तत्प्रामाण्यं साधयति—सर्वोऽपीति । 'प्रत्यक्षानुमानाभ्यामित्या'गमातिरिक्तप्रमाणोपलक्षणार्थम् । 'एषोऽर्थो'ऽध्ययनविध्युपात्तः सर्वोऽपि काण्डद्वयात्मको वेदो मानान्तरानधिगतं यदिष्टो'पायादि तज्ज्ञापनपरस्त'थाचाज्ञातज्ञापकत्वाविशेषात्तुल्यं प्रामाण्यं काण्डयोरिति । अथ वा वेदनं वेदोऽनुभवः । स च शब्देतरमानायोग्यो रूपादिहीनत्वात् । 'एतदप्रमेयम्' इति हि श्रुतिः । स चेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायस्तस्यैव तत्तदात्मनाऽवस्थानात् । 'सच्च त्यच्चाभवत्' इत्यादिश्रुतेः । स च प्रकाशनः सर्वप्रकाशकत्वात् । 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इति श्रुतेः । स च परोऽविद्यातत्कार्यातीतत्वात् । 'विरजः पर "आकाशात्' इत्यादिश्रुते' । एवंरूपो वेदपदवेदनीयश्चिदेकरसः प्रत्यग्धातुरेव सर्वोऽपि कार्यकारणात्मकः प्रपञ्चः । 'आत्मैवेदं सर्वम्' इति श्रुतेः । 'तथाच यथोक्तं वस्तु प्रकाशयन्तो वेदान्ता विधिवाक्यवत्प्रमाणमिति । अथवा प्रत्यक्षादिनाऽनवगतो योऽसाविष्टप्राप्त्याद्युपायो ब्रह्मात्मा तस्य प्रकाशनपरः सर्वोऽप्ययं वेदः । तस्यैवाज्ञातत्वात्तत्र' कर्मकाण्डं कर्मानुष्ठानप्रयुक्तबुद्धिशुद्धिद्वारा ब्रह्माधिगतावारादुप'कारकम् । 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इति श्रुतेः । ज्ञानकाण्डं तु साक्षादेव तत्रोपयुक्तम् । परमपुरुषस्यौपनिषदत्वश्रवणात् । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति च श्रुतेः । तद्युक्तं कर्मकाण्डवज्ज्ञानकाण्डस्यापि प्रामाण्यमिति । अधिकारिसौलभ्यप्रतिपादनद्वारा ज्ञानकाण्डप्रामाण्यमेव स्फुटयति—सर्वपुरुषाणामिति । अयमर्थः—सुखं मे स्याद्दुःखं मा भूदिति स्वभावतः शास्त्रं विना सर्वेषां पुरुषाणामनवच्छिन्नसुखा"दिमात्रेऽभिलाषोपलम्भात्तन्मात्रस्य च मोक्षत्वा"त्तत्कामिनो ज्ञानकाण्डाधिकारिणः सुलभत्वा"त्तस्मिन्प्रमां "स्वार्थविषयामाद"धत्कथं "तदप्रमाणमिति ।

प्रत्यज्ञासीत् ततो न सम्बन्धप्रतिज्ञा साध्वी वेदान्तानामप्रामाण्यादिति चोदिते तत्प्रामाण्योक्त्या उक्तचोद्य प्रत्याख्याय विविदिषा श्रुतिसिद्धकर्मणा विविदिषाहेतुत्व नाम सबन्धविशेषमाह स्म अतो नात्र भाष्ये किञ्चिद्दूषणम् । उपोद्घातलक्षण चोक्त 'चिन्ता प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घात प्रचक्षत' इति । विविदिषाश्रुतिश्च 'तमेत विविदिषन्ति ब्राह्मणा यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनेति' बोध्या । सम्बन्धविशेषश्च भाष्यकृदुक्त उपायोपेयभावरूपो वेदितव्य । १ ननु सर्वोपीत्यादिवदद्भिर्भगवत्पादै सर्ववेदस्य ब्रह्मात्मनि प्रामाण्य यद्यप्युक्त तथापि प्रत्यक्षादिविशेषणेन उपमानादिविषयत्वाद्ब्रह्मण तत्र वेदस्य तत्सवादविसवादाभ्याममानतेत्याशङ्क्य आह—प्रत्यक्षेति । २ आगमविषयत्वोक्तिरैकात्म्यस्य व्याहता मा भूदित्यागमातिरिक्तेतिप्रमाणविशेषम् ।३ मिथो विलक्षणार्थककर्मज्ञानकाण्डयो सर्वोप्यय वेद इत्यैकराश्येनोपदेशो न युक्त इत्यत आह एषोऽर्थ इति । अध्ययनविधेरक्षरावाप्तिद्वारा अर्थावगमद्वारा वा फलान्तत्वात् तेनैकेनैवोपात्तकाण्डयोरेकपुरुषार्थविसाधितया प्रयाजदर्शादिवाक्यवदेकवाक्यता तथा च काण्डयोरेकराशित्ववर्णन युक्तमिति भाव' । ४ सर्वोपीत्यादिभाष्योक्तरूपोऽर्थ इत्यर्थ ५ इष्टोपायादीति—प्रत्यगभिन्न ब्रह्मेति शेष । ६ तथाचेति—वेदमात्रस्याज्ञातज्ञापनतात्पर्यवत्त्वे चेत्यर्थं । ७ अव्याकृतात् । ८ उक्तानुभवरूपब्रह्मणो निखिलाधिष्ठानत्वे च । ९ काण्डद्वयमध्ये । १० परम्परया सहकारि । ११ अव्यवहितनिरतिशयपूर्णसुखादावेवेत्यर्थं । १२ तत्कामिन इति—एव प्राणिमात्रस्य मुमुक्षासद्भावे किमु वक्तव्य निरस्तनिखिलचित्तमलस्य तीव्रतरवैराग्यादिसम्पन्नस्य तत्सद्भाव इतिभाव । ननु लौकिकसुख एव सर्वेषामभिलाषदर्शनान्मोक्षसुखस्य चालौकिकत्वात कथ मुमुक्षासद्भाव इति चेन्न मोक्षरूपसुखस्यैव तत्तद्विषयसम्बन्धेन लौकिकैरिष्यमाणत्वात् लौकिकसुखविलक्षण तदिति न भ्रमितव्यम् । १३ उक्ताधिकारिणि । १४ प्रत्यगभिन्नब्रह्म । १५ उत्पादयत । १६ ज्ञानकाण्डम् । ननु मुमुक्षोरेवान्तराले ग्रामकामस्य भोजनादाविव स्वर्गादावभिलाषसभवात् तत्परवशस्य च विद्यानधिकारात् कथमत्राधिकारिसौलभ्यमिति चेन्न य स्वर्गादि काङ्क्षति स कथञ्चिन्मोक्षमपि काङ्क्षेत तस्य निरतिशयफलत्वात्, यस्तु मुक्ति कामयते नासौ स्वर्गादि कथमपि कामयते तस्यात्यल्पफलत्वात्, अतो यो मुमुक्षु भूत्वा पुन स्वर्गाद्यभिलषति स पशूना काम इवापसदो मुमुक्षूणामिति

दृष्टविषये चेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायज्ञानस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव सिद्धत्वान्नाऽऽगमान्वेषणा[1]। न चासति जन्मान्तरसवन्ध्यात्मास्तित्वविज्ञाने जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारेच्छा स्यात्। स्वभाववादिदर्शनात्।

ननु वेदस्य कार्यपरतया प्रामाण्यात्कर्मकाण्डवत्काण्डान्तरस्यापि कार्यपरतया प्रामाण्यमेष्टव्यमिति नेत्याह—दृष्टविषय इति। क्रियाकारकफलेतिकर्तव्यतानामन्यतमेतस्मिन्का (मे का)र्ये समीहितप्राप्त्याद्युपायमृते व्युत्पत्तिकाले प्रत्यक्षादिसिद्धे तथाविधकार्यधियोऽन्यथालब्धत्वात्तत्र नाऽऽगमोऽनुसवेय। न हि लोकवेदयोस्त[2]ज्झियते[3]। अलौकिके तस्मिन्नव्युत्परिप्रसङ्गात्। नचा व्युत्पन्नानि पदानि बोधकान्यतिप्रसङ्गात्। नच ब्रह्मण्यपि तुल्या व्युत्पत्त्यनुपपत्ति[4]। तस्मिन्ब्रह्मत्वेनाऽऽत्मत्वेन च प्रसिद्धे तत्तत्सामान्योपाधौ विज्ञानादिपदाना व्युत्पत्ते[5] सुकरत्वात्। तानि चालौकिकमखण्ड प्रत्यग्ब्रह्म नि[6]र्लुठितसामान्यविशेष लक्षणया बोधयन्ति। [7]तस्माद्ब्रह्मैव वेदप्रमाणक न कार्यमिति भाव.। किंच तिष्ठतु वेदान्तप्रामाण्य कर्मकाण्डेऽपि व्यतिरिक्तात्मास्तित्वादौ सिद्धेऽर्थे प्रामाण्यमावश्यकम्। तदभावे तत्प्रामाण्यायोगात्। न हि भविष्यद्देहसबन्ध्यात्मसद्भावानधिगमे पारलौकिकप्रवृत्तिविश्रम्भ। तस्मात्कर्मकाण्डप्रामाण्यमिच्छता सिद्धेऽर्थे भविष्यद्देहसबन्धिन्यात्मनि स्वर्गादौ च तत्प्रामाण्यस्याभ्युपेयत्वात्कार्ये वेदप्रामाण्यनियमाद्वेदान्तानामपि स्वार्थे मानत्व सिध्यतीत्याह—न चेति। ननु देहान्तरसबन्ध्यात्मज्ञान विनाऽपि विधिवशाद[8]ष्टार्थक्रियासु प्रवृत्ति स्यादिति नेत्याह—स्वभावेति। यदाऽऽत्मा देहान्तरसबन्धी शास्त्रान्मानान्तराच्च न प्रमितस्तदा भोक्तुरनवगमान्न प्रेक्षापूर्वकारी यागाद्यनुतिष्ठेत्। [9]लोकायतस्य व्यतिरिक्तात्मास्तित्वमजानतो जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिहानीच्छया वैदिकक्रियास्वप्रवृत्तेर्दर्शनात्। अतो नातिरिक्तात्मज्ञान विना [10]सांपरायिके प्रवृत्तिरित्यर्थ.।

इष्ट कार्यों मे तो इष्ट प्राप्ति और अनिष्टनिवृत्ति के उपायो के ज्ञान प्रमाण से सिद्ध हो जाने से *कारण आगम प्रमाण के अनुसन्धान की कोई आवश्यकता नहीं।* भविष्यद्देह सम्बन्धी आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान न होने पर देहान्तसम्बन्धी इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्ति की इच्छा भी नही होगी। ऐसा देहात्मवादी चार्वाक दर्शन का मत है।

—न च नामभाष्येण परोक्तिद्वारा तत्कामाधिकारिण उत्तरवादनर्थकमिद भाष्यमिति वाच्यम अर्थश्रुतिभ्यामुभयत्राप्यधिकारिनिर्देशादर्थ भेदसिद्धे। यद्यपि ससारविवृत्सुभ्य इत्यत्र मुखतोऽधिकारी प्रदर्शितस्तथाप्यत्र तत्सौलभ्यस्पष्टत्वाभ्यारम्भ वैयर्थ्यम् न चैव शास्त्रस्य सर्वाधिकारत्व स्यादिति वाच्यम्, साधनचतुष्टयविशिष्टानामेव विद्याधिकारिणा सौलभ्योक्तिरिति द्रष्टव्यम्। १ आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानामिति त्यादि जैमिनिसूत्रमिति भाव। २ शक्तिग्रहसमय। ३ आगमानुसधान विनैव। ४ कार्यम्। ५ अवगहादिशब्दानामप्यप्रत्यायकत्वप्रसङ्गात्। ६ व्यापकत्वेन। ७ प्रत्यक्त्वेन। ८ ब्रह्मत्वाद्युपहित इत्यर्थ। ब्रह्मत्वादिसामान्यम् उपाधिविशेषण यस्य तस्मिन्। ९ वेदान्तवाक्यानि। १० निर्गतेत्यर्थ। ११ कार्यत्वाद्यसस्पृष्टे ब्रह्मण्येव वेदाना प्रामाण्यात्। १२ अदृष्टफलककर्मसु। १३ देहात्मवादिचार्वाकस्येत्यर्थ। १४ सम्यक् पर—देहपातादनन्तरमीयते गम्यतेऽसौ सम्पराय परलोक तत्प्राप्तिहेतुकर्मोपासनादिशास्त्रीयसाधनविशेष साम्परायिक तस्मिन्। परलोकफलककर्मणीति यावत्।

तस्माज्जन्मान्तरसंबन्ध्यात्मास्तित्वे जन्मान्तरेष्टप्राप्तिपरिहारोपायविशेषे च शास्त्रं प्रवर्तते । "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके" इत्युपक्रम्यास्तीत्येवोपलब्धव्य इत्येवमादिनिर्णयदर्शनात् "यथा च मरणं प्राप्य" इत्युपक्रम्य—

" योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ "

इति च " स्वयं ज्योतिः " इत्युपक्रम्य " तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते " " पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन " इति च " ज्ञपयिष्यामि " इत्युपक्रम्य " विज्ञानमयः " इति च व्यतिरिक्तात्मास्तित्वम् ।

ननु विधयः साधनविशेषं बोधयन्तो नातिरिक्तात्मास्तित्वादौ मानं वाक्यभेदप्रसङ्गादित्यत आह— तस्मादिति । अतिरिक्तात्मधियं विना पारलौकिकप्रवृत्त्यनुपपत्त्या कर्मकाण्डप्रामाण्यायोगादिति यावत् । विधीनां श्रुत्यर्थाभ्यामुभयार्थत्वमविरुद्धमित्यर्थः । न केवलं विधिभिरेवार्थादाक्षिप्तमतिरिक्तात्मास्तित्वं किंतु श्रुत्याऽपि स्वमुखेनोक्तमित्याह—येयमिति । निर्णयदर्शनाद्व्यतिरिक्तात्मास्तित्वमिति संबन्धः । तत्रैव प्रकृतोपयोगित्वेनोपक्रमोपसंहारान्तरे दर्शयति—यथा चेति । पूर्ववदेव संबन्धद्योतनार्थं चकारः । उपक्रमोपसंहारैकरूप्यात्कठवल्लीनामतिरिक्तात्मास्तित्वे तात्पर्यमुक्त्वा बृहदारण्यकवाक्यस्यापि तत्र तात्पर्यमाह—स्वयमिति । न हि प्रसिद्धजडत्वस्य देहादेः स्वयंज्योतिष्ट्वमिति "ज्योतिर्ब्राह्मणगतोपक्रमस्तद्"विषयो देहादिव्यतिरिक्तात्मानम"धिकरोति । तं प्रेतं" विद्याकर्मणी पूर्वोपार्जिते फलदानायानुगच्छतः । स च गत्वा ज्ञानकर्मानुगुणं फलमनुभवतीति "शारीरकब्राह्मणगतोपसंहारोऽपि जन्मान्तरसंबन्धविषयः ।

इसलिये देहान्तरसम्बन्धी आत्मा के अस्तित्व एव देहान्तर इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्ति रूप उपायविशेष के निरूपण करने मे शास्त्र प्रवृत्त होता है—"जाने वाले मृत मनुष्य के विषय मे कुछ रहता है, कुछ नही रहता, ऐसी शका करते है" इस उपक्रम से "आत्मा निश्चित है—ऐसा ही जानना चाहिये" यह निर्णय (शास्त्रकार) लेते हैं।

"मृत्यु के बाद जैसा होता है" इसी प्रकार उपक्रम करके "(अज्ञानी देहाभिमानी) अपने कर्म और चिन्तन के अनुरूप कितने शरीर धारण करने के लिए किसी योनि में चले जाते हैं और कुछ मनुष्य स्थावर भाव को प्राप्त होते है" ऐसा कहते है। "वह स्वयज्योति है" ऐसा उपक्रम करके "उस समय इसके साथ साथ ज्ञान कर्म (और पूर्वानुभवजन्य सस्कार) जाता है", तथा "पुण्यकर्मों से पुण्यवान् एव कुत्सित कर्मों से पापी होता है" ऐसा भी कहते है। "बतलाऊंगा" इस प्रकार प्रारम्भ करके "आत्मा विज्ञानमय है" ऐसा देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व बतलाया है।

---

१ श्रुतौ—एवमादिनिर्धारणोपलम्भादित्यर्थः । २ बृ० ४-३-९ । ३ बृ० ४-४-२ । ४ बृ० ४-४-५ । ५ बृ० २-१-१५ । ६ बृ० २-१-१६ । ७ प्रमितिजनकत्वरूपधर्मैक्यान्मानमिति बहुविशेषणस्याप्यैक्यमुन्नेयम् । ८ वचनार्थापत्तिभ्यामित्यर्थः शब्दतोऽर्थापत्तितश्चेति यावत् । ९. सिद्धे वस्तुनि वेदस्य प्रामाण्यमिति प्रकृतम् । १०. स्वय ज्योति पुरुषविषय इत्यर्थः । ११ बृ० चतुर्थाध्यायस्थतृतीयब्राह्मणे । १२ अधिकरोतीति—बोधयतीत्यर्थः । १३ परलोकाय गच्छन्तम् । १४ बृ० उ० अ० ४ ।

तत्प्रत्यक्षविषयमेवेति चेत्। न वादिविप्रतिपत्तिदर्शनात्। न हि देहान्तरसंबन्धिन आत्मनः प्रत्यक्षेणास्तित्वविज्ञाने लोकायतिका बौद्धाश्च नः प्रतिकूलाः स्युर्नास्त्यात्मेति वदन्तः। न हि घटादौ प्रत्यक्षविषये कश्चिद्विप्रतिपद्यते नास्ति घट इति।

स्थाण्वादौ पुरुषादिदर्शनान्नेति चेत्। न। निरूपितेऽभावात्। न हि प्रत्यक्षेण

नचात्रैव भस्मीभवतो देहादेर्जन्मान्तरसंबन्धो युक्तः। तेनाऽऽत्मा देहादिव्यतिरिक्तो जन्मान्तरसंबन्धी सिद्धो ब्राह्मणाभ्यामित्यर्थः। 'अजातशत्रुब्राह्मणे च व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीत्युपक्रमो व्यतिरिक्तात्मास्तित्वविषयः। न हि प्रत्यक्षे देहादौ जिज्ञासाऽस्ति। तत्रैवोपसंहारे "य एष 'विज्ञानमयः पुरुषः" इति विज्ञानमयविशेषणादतिरिक्तात्मास्तित्वं दर्शितं न हि देहादेर्विज्ञानमयत्वमस्ति तस्मात्तदप्युपक्रमोपसंहाराभ्यां व्यतिरिक्तात्मास्तित्वं गमयतीत्याह—ज्ञपयिष्यामीत्युपक्रम्येति। नचोदाहृतानां वाक्यानामप्रामाण्यम्। तत्प्रामाण्यस्यौत्पत्तिकसूत्रे 'हेत्वविशेषादभ्युपेयत्वादिति भावः।

यथोक्तात्मन्यहंप्रत्ययो मानं तत्र देहाकारास्फुरणादतिरिक्तात्मास्तित्वस्य तेनैव स्फूर्त्यनुपपत्तेरतो न तत्र श्रुतिप्रामाण्यमिति शङ्कते—तत्प्रत्यक्षेति। प्रत्यक्षस्य विषयोऽवकाशो यस्मिन्नित्यतिरिक्तात्मास्तित्वमुच्यते। यद्यपि व्यतिरिक्तात्मास्तित्वं त्वदभिप्रायेणाहंधीगोचरस्तथाऽपि न सा व्यतिरेकमात्मनो गोचरयति 'युक्त्यागमविवेकशून्यानामहंप्रत्ययभाजां व्यतिरेकाप्रत्ययप्राप्तौ विपश्चितां विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गादिति परिहरति—न वादीति। वेदप्रतिकूला वादिनो नास्तिकां नैव विवादं मुञ्चन्तीत्याह—न हीति। तेषु प्रातिकूल्यसंभावनार्थं विशेषणं नेत्यादि। इति वदन्तः सन्तो नोऽस्माकं प्रतिकूला न हि स्युरेवं वदनस्यैवासंभवादध्यक्षविरोधादिति योजना। प्रत्यक्षे विषये विप्रतिपत्त्यभावे दृष्टान्तमाह—न हीति।

"तत्र व्यभिचारं शङ्कते—स्थाण्वादाविति। प्रत्यक्षे धर्मिणि स्थाणुर्वा पुरुषो वेति विप्रतिपत्ते-

---

यदि कहो आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष प्रमाण का ही विषय है, तो उचित नही, क्योकि इस सम्बन्ध में वादियों में मतभेद देखा जाता है। यदि जन्मान्तरसम्बन्धी आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष होता तो चार्वाक एवं बौद्ध दर्शन के प्रतिपादन करने वाले "आत्मा नहीं है" ऐसा कहते हुए हमारे प्रतिकूल नही होते। चक्षु इन्द्रिय से साक्षात् दीखने वाले घटादि मे "घट नही है" ऐसा संशय किसी को भी नही होता।

स्थाणु आदि मे पुरुष आदि का भ्रम देखा जाने के कारण प्रत्यक्ष वस्तु में संशय हो जाता है—

---

१. बृ० अ० २। २ विज्ञपयिष्याम्येवेति भिन्नक्रमेण सम्बन्ध.। ३. विज्ञान बुद्धिः तन्मय. तदुपाधिकस्तदुपहित इति यावत्। ४. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वादिति प्रथमाध्यायप्रथमपादपञ्चमे जैमिनीयसूत्रे। औत्पत्तिक इत्यादि। औत्पत्तिक स्वाभाविकोऽपौरुषेय इत्यर्थ.। अतस्तस्य धर्मस्य ज्ञानं ज्ञानकरणं वैदिकशब्द.। प्रत्यक्षाद्यनुपलब्धे चार्थे उपदेशः शब्दोऽव्यतिरेकोऽव्यभिचारिमानमित्यर्थ.। तद् वेदवाक्यं प्रमाणं धर्मे बादरायणस्याप्यभिमतं तस्य स्वार्थे मानान्तरानपेक्षत्वादिति सूत्राक्षराणामर्थ। ५. अज्ञातज्ञापकस्वरूपहेतोरुभयत्र तुल्यत्वादित्यर्थः। उभयत्रेति—ज्ञानकर्मकाण्डयोरित्यर्थः। ६. मच्छरीरघ्यज्ञानमहं कृशमहं वा जान इत्येवमादिरूपः। ७. मानसम्भवात्। ८. प्रत्यक्षासिद्धत्वात्। ९. आत्मानात्मनो. प्रत्यक्त्वपराक्त्वज्ञानं युक्ति। आगमश्चास्थूलमनण्वित्यादिजन्यमात्मनि तत्त्वज्ञानम्। देहादिभेदावगमश्च विवेक। १०. प्रत्यक्षविरोधादित्यर्थः। ११. यत्र प्रत्यक्षविषयत्वं तत्र विप्रतिपत्त्यभाव इति व्याप्तौ।

-निरूपिते स्थाण्वादौ विप्रतिपत्तिर्भवति । वैनाशिकास्त्वहमितिप्रत्यये जायमानेऽपि देहान्तरव्यतिरिक्तस्य नास्तित्वमेव प्रतिजानते ।

तस्मात्प्रत्यक्षविषयवैलक्षण्यात्प्रत्यक्षाग्राह्याऽऽत्मास्तित्वसिद्धिः । तथाऽनुमानादपि । श्रुत्याऽऽत्मास्तित्वे लिङ्गस्य दर्शितत्वाल्लिङ्गस्य च प्रत्यक्षविषयत्वान्नेति चेत् । न । जन्मान्तरसंबन्धस्याग्रहणात् । आगमेन त्वात्मास्तित्वेऽवगते वेदप्रदर्शित लौकिकलिङ्ग-

---

रुपलम्भात्र प्रत्यक्षे विप्रतिपत्त्यभावो व्यभिचारादिति शङ्कार्थः । आदिपदेन पाषाणादौ गजादिविप्रतिपत्तिः संगृह्यते । किं प्रत्यक्षमात्रे विप्रतिपत्तिः किं वा तेन विविक्ते प्रतिपन्ने । नाऽऽद्योऽङ्गीकारात् । नचैवमात्मनि प्रत्यक्षे विप्रतिपत्तावपि नाऽऽगमान्वेषणा । तेनैव तन्निरासेन तन्निर्णयादिति मन्वानो द्वितीयं दूषयति—नेत्यादिना । प्रत्यक्षतो विविक्तेऽर्थे विप्रतिपत्त्यभावं प्रपञ्चयति—न हीति । आत्मनः स्थूलदेहव्यतिरिक्तत्वं न प्रत्यक्षमिति प्रतिपाद्य सूक्ष्मदेहव्यतिरिक्तत्वमपि नाहंप्रत्ययग्राह्यमित्याह—वैनाशिकास्त्विति । ते खल्वहमिति धियमनुभवन्ति । तथाऽपि देहान्तरं स्थूलदेहातिरिक्तं सूक्ष्मं तत्र प्रधानभूताया बुद्धेरतिरिक्तस्याऽऽत्मनो नास्तित्वमेव पश्यन्ति तन्नाहंधिया सूक्ष्मदेहातिरिक्तात्मसिद्धिरित्यर्थः ।

किञ्च प्रत्यक्षस्य विषयो रूपादिस्तद्राहित्यं तद्वैलक्षण्यं तदात्मनोऽस्ति । "अशब्दमस्पर्शमरूपम्" इत्यादिश्रुते । न हि रूपादि तदाधारं वा विना प्रत्यक्षं क्रमते । अतो न देहाद्यतिरिक्तात्मास्तित्वस्य प्रत्यक्षात्प्रसिद्धिरित्याह—तस्मादिति । प्रत्यक्षतो विविक्ते विप्रतिपत्त्ययोगात् । प्रकृते च तद्दर्शनादिति यावत् । अथेच्छादयः क्वचिदाश्रिता गुणत्वाद्रूपादिवदित्यनुमानादतिरिक्तात्मसिद्धिरिति नेत्याह—तथेति । नाऽऽत्मास्तित्वप्रसिद्धिरितिसंबन्धार्थस्तथाशब्दः । अयं भावः—इच्छादीनां स्वातन्त्र्ये स्वरूपासिद्धिः

ऐसा कहना उचित नहीं है । भली-भाँति देखने पर वहा सशय का अभाव हो जाता है । स्थाणु आदि को भली-भाति देख लेने पर उसमे सन्देह नही होता है । विज्ञानवादी तो "अहम्" ऐसी प्रत्ययविषय बुद्धि के उदित होने पर भी देह मे भिन्न आत्मा के न होने का निर्णय करते हैं ।

इसलिए प्रत्यक्ष के विषय रूपादि से विलक्षण होने के कारण आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि प्रत्यक्ष द्वारा नही हो सकती । इसी प्रकार (आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि) अनुमान के द्वारा भी नही हो सकती । यदि कहो ("य प्राणेन प्राणिति") श्रुति ने आत्मा के अस्तित्व मे लिङ्ग दिखाया है । और लिङ्ग प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होता है—तो ठीक नही । क्योंकि आत्मा के जन्मान्तर सम्बन्ध का

---

१ मानसप्रत्यक्षनिश्चितात्मविषयत्वादित्यर्थः । २ आत्मनो जन्मान्तरेण य सम्बन्धस्तस्य ग्रहणात् आगमेतरप्रमाणेनाज्ञानादित्यर्थः । ३ लोकप्रसिद्धेत्यर्थः । ४ प्रत्यक्षेणेतरभिन्नत्वेन ज्ञात इति यावत् । ५ एवमिति स्थाण्वादाविवेत्यर्थः । ६ अपीति अविप्रतिपन्नघटादाविवेत्यर्थः । ७ आगमविप्रतिपत्तिविविक्तात्मानस्तादात्म्यमाथा । ८ विज्ञानवादिन । ९ अहमितिप्रत्ययविषयतया धिय जानत इत्यर्थः । १० तन्मते धियोऽह प्रत्ययविषयत्वात् । ११ रूपादिरित्यादिपदेन रसादयो गुणा रूपादिमन्तो गुणिनश्च ग्राह्या । १२ तद्राहित्यमिति तत्पदेनापि तदुभय ग्राह्यमेव च तदा गुणग्रहे राहित्यमत्यन्ताभाववत्त्वम् गुणिग्रहे तु भेदवत्त्वमवगमनीयम् । १३ प्रवर्तते । १४ आत्मनि प्रत्यक्षप्रवृत्तिप्रयोजनाभावादित्यर्थः । १५ शङ्कायामथशब्दोऽयं न्वर्थक । १६ आश्रयानपेक्षत्वे ।

विशेषैश्च तदनुसारिणो मीमांसकास्तार्किकाश्चाहंप्रत्ययं लिङ्गानि च वैदिकान्येव स्वमतिप्रभवानीति कल्पयन्तो वदन्ति प्रत्यक्षश्चानुमेयश्चाऽऽत्मेति ।

'सर्वथाऽप्यस्त्यात्मा देहान्तरसंबन्धीत्येवं प्रतिपत्तुर्देहान्तरगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरि-

पारतन्त्ये परस्पराश्रयत्वमाधारस्येदानीमेव साध्यमानत्वात् । क्वचिच्छब्देन चाऽऽश्रयमात्र²वचने सिद्धसाधनत्वं मनसस्तदाश्रयस्य सिद्धत्वादात्मोक्तौ च दृष्टान्तस्य साध्यविकलतेति । ³"यः प्राणेन प्राणिति" ⁴इत्यादिश्रुत्या प्राणनादिव्यापाराख्यस्य लिङ्गस्याऽऽत्मास्तित्वे प्रदर्शितत्वात्तस्य च व्याप्तिसापेक्षस्य प्रत्यक्षादिसिद्धात्म⁵विषयत्वाच्च तस्य शब्दैकगम्यतेति शङ्कते—श्रुत्येति । आत्मनः ⁶स्वातन्त्र्येण ⁷लिङ्गगम्यत्वाभिप्रायेण श्रुत्या लिङ्गं नोपन्यस्तमिति परिहरति—नेति । योऽचेतनव्यापारः स चेतनाधिष्ठानपूर्वको यथा रथादिव्यापारः । ⁸प्राणनादिव्यापारस्याप्यचेतनव्यापारत्वाच्चेतनाधिष्ठानपूर्वकत्वमिति ⁹संभावनामात्रेण लिङ्गोपन्यासः । न हि निश्चायकत्वेन तदुपन्यस्यते । आत्मनो जन्मान्तरसंबन्धस्य प्रमाणान्तरेणाग्रहणात्तद्व्याप्तलिङ्गायोगादित्याह—जन्मान्तरेति । ननु व्यतिरिक्तात्मास्तित्वमागमैकगम्यं चेत्कथं तत्प्रत्यक्षमनुमेयं चेति वादिनो वदन्तीति तत्राऽऽह—आगमेन त्विति । येयं प्रेते विचिकित्सेत्याद्यागमेन "को ह्येवान्यात्" इत्यादिवेदोक्तैश्च प्राणनादिभिर्लौकिकैर्लिङ्गविशेषैरात्मास्तित्वे सिद्धे यथोक्तात्मसिद्धिमनुसरन्तो वादिनो वैदिकमेवाहंप्रत्ययं प्रतिलभमाना वैदिकान्येव च लिङ्गानि पश्यन्तः स्वोत्प्रेक्षानिर्मितानि तानीति कल्पयन्तो द्विधाऽऽत्मानं वदन्ति । वस्तुतस्त्वात्मा यथोक्तश्रुत्यैकसमधिगम्य इत्यर्थः ।

तस्यास्येत्यादिना काण्डयोः संबन्धं प्रतिज्ञाय तादर्थ्येन सिद्धेऽर्थे वेदान्तप्रामाण्यं सर्वोऽपीत्यादिना

आगमेतर प्रमाण से ज्ञान नहीं होता । आगमप्रमाण एवं वेदोक्त और लोकप्रसिद्ध लिङ्गविशेषों के द्वारा आत्मा के अस्तित्व का बोध होने पर उसी का अनुसरण करने वाले मीमांसक और तार्किक वैदिक अहं-प्रत्यय और लिङ्गों को ही "ये हमारी बुद्धि की उपज हैं" ऐसी कल्पना करते हुए कहते हैं कि "आत्मा प्रत्यक्ष और अनुमान का भी विषय है ।"

सर्वथा ही देहान्तर से सम्बन्ध रखने वाला आत्मा है—ऐसा जानने वाले तथा जन्मान्तर में

१. तस्येत्यादिभाष्येण काण्डयोर्नियतपौर्वापर्यानुपपत्तिलभ्य सम्बन्ध प्रतिज्ञाय तदर्थमेव सिद्धेऽर्थे वेदान्तप्रामाण्य सर्वोऽपीत्यादिना प्रसाध्य विद्याधिकारिसौलभ्य च प्रामाण्योपयोगित्वेन सर्वपुरुषाणामित्यादिनोक्त्वा परकीयकार्ये च वेदप्रामाण्य दृष्टविषयेत्यादिना निराकृत्य । न चासतीत्यादिना परैरपि सिद्धेऽर्थे वेदप्रामाण्यस्यैष्टव्यतया युक्त वेदान्ताना स्वार्थनिष्ठत्वमिति प्रतिष्ठाप्य पूर्वश्च कः सम्बन्ध काण्डयोरिति योऽन्तर्गर्भित प्रश्न तस्य कर्मभि शुद्धबुद्धेर्वैराग्यादिद्वारा ज्ञानोत्पत्तिसम्बन्ध इति निर्णय कर्तव्य तदर्थं सर्वथेत्यादिभाष्यम् । पूर्वश्चेति—कर्मकाण्डोक्ति य प्रश्न इत्यन्वय । क सम्बन्ध इति किं शब्दस्य आक्षेपार्थकत्वेन सम्बन्धो नास्तीत्यर्थकत्वेऽपि प्रश्नस्य शब्दस्वाभाव्यात्तद्गर्भस्थत्वमिति ध्येयम् इति टिप्पणटिप्पणम् । २ आश्रयसामान्यवचने । ३ बृ० ३–४–१ । ४ स त आत्मा सर्वान्तर इत्यादि श्रुतिशेष । य आत्मा प्राणेन प्राणिति मुखाद्वायुनिर्गमात्मकप्राणनक्रियावान् भवतीत्यक्षरार्थ. । येनात्मना प्राणो वायु प्रणीयते तादृक्क्रियो भवतीत्युक्तश्रुतिभाव । ५ शक्यग्रहा हि सिद्धयोरेव व्याप्तिरध्यक्षेण हेतुसाध्ययो इत्यभ्युपगमनीयमात्मनो व्याप्ति लिङ्गस्य ग्रहीतुमध्यक्षत्व श्रुतिर्दर्शितस्येति भावः । ६. शब्दानपेक्षतया । ७ लिङ्गमनुमानम् । ८. मुखाद्वायुनिर्गम प्राणन प्रवेशोऽपाननम् । ९ अनुमित्यात्मकापातज्ञानमात्रजननार्थमिति निमित्तार्थिका तृतीया ।

हारोपायविशेषार्थिनस्तद्विशेषज्ञापनाय कर्मकाण्डमारब्धम् । न त्वात्मन इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारेच्छाकारणमात्मविषयमज्ञानं कर्तृभोक्तृस्वरूपाभिमानलक्षणं तद्विपरीतब्रह्मात्मस्वरूपविज्ञानेनापनीतम् । यावद्धि तन्नापनीयते तावदयं कर्मफलरागद्वेषादिस्वाभाविकदोषप्रयुक्तः शास्त्रविहितप्रतिषिद्धातिक्रमेणापि प्रवर्तमानो मनोवाक्कायैर्दृष्टादृष्टानिष्टसाधनान्यधर्मसंज्ञकानि कर्माण्युपचिनोति बाहुल्येन स्वाभाविकदोषबलीयस्त्वात् । ततः स्थावरान्ताधोगतिः ।

प्रसाध्याधुना कर्मभिः शुद्धबुद्धेर्वैराग्यादिद्वारा ज्ञानोत्पत्तिरिति तयो. संबन्धं कथयति—सर्वथाऽपीति ।
आगमान्मानान्तराद्वा व्यतिरिक्तात्मास्तित्वप्रतिपत्त्यावपीत्यर्थ. । पुरुषार्थोपायविशेषार्थिनस्तज्ज्ञापनार्थं
कर्मकाण्डमारब्धं चेत्तर्हि तत्रोक्तकर्मभिरेव विवक्षितपुमर्थसिद्धेर्वेदान्तारम्भवैयर्थ्यान्न संबन्धोक्ति
सावकाशेत्याशङ्क्याऽऽह—नत्विति । आत्माज्ञानं खल्वनर्थकारणमन्वयव्यतिरेकशास्त्रगम्यं मिथ्या-
ज्ञानकार्यलिङ्गक च । तच्चाकर्तृभोक्तृब्रह्मात्मज्ञानादपनेयम् । न हि तत्कर्मकाण्डोक्तैरेव कर्मभि
शक्यमपनेतुं विरोधाभावात् । तस्मात्तद्बाधनार्थं ज्ञानसिद्धये वेदान्तारम्भसंभवादुक्तसंबन्धसिद्धि-
रित्यर्थः। यदि कर्मभिरज्ञानं न निवर्तते । मा निवर्तिष्ट । सत्येव तस्मिन्कर्मवशान्मोक्ष. स्यादित्या-
शङ्क्याऽऽह—यावद्धीति । सम्यग्ज्ञानमेव साक्षान्मोक्षहेतुर्न कर्म । तत्तु प्रनाड्या तदुपयोगि। न हि
सत्येवाज्ञाने मुक्ति । तस्मिन्सति संसारस्य दुर्वारत्वात् । तस्मात्कर्मकाण्डस्य वैराग्यद्वारा प्रवेशो
मुक्ताविति भाव. । अयमित्यज्ञो निर्दिश्यते । रागद्वेषादीत्यादिशब्देनाविद्यास्मिताभिनिवेशा गृह्यन्ते ।
दोषाणा स्वाभाविकत्वं शास्त्रानपेक्षत्वम् । अपिकारः संभावनार्थः। दृष्टत्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वम् ।

होने वाले इष्ट प्राप्ति और अनिष्टपरिहार के उपाय विशेष को समझने की इच्छा वाले पुरुष को, उस विशेष उपाय का ज्ञान कराने के लिए कर्मकाण्ड का प्रारम्भ किया जाता है। आत्मा की इष्ट प्राप्ति और अनिष्टपरिहार की इच्छा के कारण कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वरूप अभिमानलक्षण आत्मविषयक अज्ञान को उससे विपरीत ब्रह्मात्मस्वरूप विज्ञान के द्वारा नहीं हटाया गया। जब तक उसे नहीं हटाया जाता है, तब तक यह अज्ञानी जीव कर्मफल के राग, द्वेषादि (अविद्या, अस्मिता, अभिनिवेश रूप) स्वाभाविक दोषो से प्रेरित हुआ, शास्त्रोक्त विहित और निषिद्ध कर्मो का अतिक्रमण करके वर्तता हुआ मन वाणी और शरीर से अधर्मसंज्ञक दृष्ट और अनिष्ट साधन भूत अदृष्ट कर्मों का सम्पादन करता है,

१ प्रेरित ।, २ सम्पादयति । ३ अधर्मानुष्ठानात् । ४ अर्थद्वारोपायोपेयभावरूपसम्बन्धमित्यर्थ ।
५ अपिरेवार्थव । ६ अन्वयव्यतिरेको शास्त्र च 'यत्र हि द्वैतमिव भवती'त्यादि। ७ कर्तृत्वादिभ्रम
सोपादानक कार्यत्वात् घटादिवत् देवदत्तोऽज्ञानवान् कर्तृत्वादिभ्रमवत्त्वात्—अन्वये रजतादिभ्रमवद्यज्ञदत्तादिवत्
व्यतिरेके वामदेवादिवदित्येवमाद्यनुमानमिह बोध्यम्। ८ उपायोपेयभावरूपसम्बन्धेत्यर्थ । ९ कथ तर्हि
तत्र प्रवृत्तिरित्यत्राह—तत्त्विति । १० परम्परया । ११ कर्मकाण्डस्य साक्षान्मुक्तावनुपयोगित्वात् ।
१२ अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या । दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता । सुखानुशयी
राग । दुःखानुशयी द्वेष । स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेश । द्वितीयसाधनपादीयसूत्राणि ५-९॥
स्वस्य रस सस्कार तद्वाही तज्ज इति यावत् । तथा अविद्वद्वत्। अभिनिवेश मा नाभूवमिति मरणत्रास ।
रूढ प्रसिद्ध । दाढर्यंगत इति वार्थं । १३ शास्त्रजन्येष्टानिष्टसाधनताज्ञानाजन्यत्वम् । १४ प्रायस्त्वद्योतनार्थ-। १५ निषिद्धशास्त्रातिक्रमे राजदण्डाद्यनिष्टसत्त्व तदभावे तदभाव ।

कदाचिच्छास्त्रकृतसंस्कारबलीयस्त्वम् । ततो मनआदिभिरिष्टसाधनं बाहुल्येनोपचिनोति धर्माख्यम् । तद्द्विविधम्–ज्ञानपूर्वकं केवलं च । तत्र केवलं पितृलोकादिप्राप्तिफलम् । ज्ञानपूर्वकं देवलोकादिब्रह्मलोकान्तप्राप्तिफलम् । तथाच शास्त्रम् "आत्मयाजी श्रेयान्देव-

---

अदृष्टत्वं शास्त्रमात्रगम्यत्वम् । अधर्मोपचयप्राचुर्ये हेतुमाह—स्वाभाविकेति । अथ वैराग्यार्थं कर्मफलं प्रपञ्चयन्नधर्मफलमाह—तत इति ।

उक्तं हि—

"शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः" इति।

तत्किं पुण्योपचयाभावादनवकाशं स्वर्गादिफलमिति नेत्याह—कदाचिदिति । शास्त्रीय-संस्कारस्य बलीयस्त्वे फलितमाह—तत इति । आदिशब्दो वाग्देहविषयः । फलविभागं वक्तुं कर्म भिनत्ति—तद्द्विविधमिति । तस्य मुक्तिफलत्वं निरसितुं फलं विभजते—तत्रेति । केवलमिष्टादि-कर्मेति शेषः । "कर्मणा पितृलोकः" इति हि वक्ष्यति । तस्मिन्फले नानात्वमभिप्रेत्या-ऽऽदिशब्दः । "विद्यया देवलोकः" इति श्रुतिमाश्रित्याऽऽह—ज्ञानेति । देवलोको यस्याऽऽदिर्ब्रह्मलोको यस्यान्तस्तस्या यस्य प्राप्तिरेव फलमस्येति विग्रहः उक्तेऽर्थे शातपथीं श्रुतिं प्रमाणयति—तथाचेति । सर्वत्र परमात्मभावनापुरःसरं नित्यं कर्मानुतिष्ठन्नात्मयाजी । कामनापुरःसरं देवान्यजमानो देवयाजी । तयोर्मध्ये कतरः श्रेयानिति विचारे सत्यात्मयाजी श्रेयानिति निर्णयः कृतः । अतो ज्ञानपूर्वकं कर्म देवलोकस्य कामनापूर्वं तु पितृलोकस्य प्रापकमित्यर्थः ।

'प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ।
इह वाऽमुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ॥
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमभिधीयते'

क्योंकि स्वभावजनित दोष बलवान् होता है। अधर्म अनुष्ठान से उसे स्थावर पर्यन्त नीच योनियों की प्राप्ति होती है।

कभी-कभी शास्त्रजन्य (ज्ञान से होने वाले) संस्कार बलवान् होते हैं। तब मन, वाणी, देह से प्रायः धर्माख्य इष्टसाधनों को करता रहता है। कर्म दो प्रकार के हैं—सोपासन और केवल । उनमें केवल कर्म (कामना द्वारा अनुष्ठित) पितृलोकादि की प्राप्तिरूप फलवाले होते हैं। सोपासन कर्म देवलोक स्वर्लोक, सत्यलोक, ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराते हैं। इस सम्बन्ध में शास्त्रवचन भी है– "देवयाजी से

---

१ शास्त्रजज्ञानजसंस्कारेत्यर्थः । २ कर्म । ३ उपासनासमुच्चितम् सोपासनमिति यावत् । ४ कामनयाऽनुष्ठीयमानमिति शेषः । ५ कर्मकाण्डस्यान्तःशुद्धिपुरःसरं वैराग्यजननद्वारा मोक्षे प्रवेशप्रतिपादनान्तरमित्यर्थः । ६ शारीरकर्मजपापैरित्यर्थः । ७ वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातितामिति स्मृतिशेषः । ८ मानवीय स्मृति । ९ तस्मात्—अधर्मोपचयादित्यर्थः । १० कर्मणः । ११ बृ० १-५-१६ । १२ कस्यचिद्भोगे कस्यचिद्भोगा-पेक्षमाधिक्य तरतमभाव तरतमभावेनानेकविधत्वमित्यर्थः । १३ बृ० १-५-१६ । १४ स्वर्लोकादिसत्यलो-कान्तरूपस्य । १५ आत्मा अन्तःकरणम् तद्यजनशील । यजनम् पूजनम् अन्तःकरणपूजनं च तच्छोधनरूपम् शोधितं हि तत्पूजितं भवति । १६ कारीर्या यजेत वृष्टिकामः । चित्रया यजेत पशुकामः इत्यादिनोक्तमैहिक काम्यम् । ज्योतिष्टोमादि चामुष्मिकं वेदितव्यम् । १७ सांसारिकप्रवृत्तिप्रयोजकत्वात्प्रवृत्तमित्युच्यते । १८ संसारनिवृत्तिप्रयोजकत्वान्निवृत्तमुच्यते ।

याजिन:" इत्यादि । स्मृतिश्च "द्विविधं कर्म वैदिकम्" इत्याद्या । साम्ये च धर्माधर्मयो-र्मनुष्यत्वप्राप्तिः । एवं ब्रह्माद्या स्थावरान्ता स्वाभाविकाविद्यादिदोषवतो धर्माधर्मसाधनकृता संसारगतिर्नामरूपकर्माश्रया ।

'तदेवेदं' व्याकृतं साध्यसाधनरूपं जगत्प्रागुत्पत्तेरव्याकृतमासीत् । 'स एष बीजाङ्कुरादिवदविद्याकृतः संसार आत्मनि क्रियाकारकफलाध्यारोपलक्षणोऽनादिर-

---

इत्यादिमनुस्मृतिं चात्र'चोदाहरति—स्मृतिश्चेति । धर्माधर्मयोरेकैकस्य फलमुक्त्वा मिश्रयोः फलमाह—साम्ये चेति । उक्तं हि—

'उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः' इति ।

त्रिविधमपि कर्मफलं वैराग्यार्थं संक्षिप्योपसंहरति—एवमिति । सा' चाविद्याकृतत्वादनर्थरूपेत्याह—स्वाभाविकेति । विचित्रकर्मजन्यतया तस्या वैचित्र्यमाह—धर्माधर्मेति । तर्हि धर्माधर्माभ्यामेव तन्निर्माणसंभवात्कृतमविद्ययेत्यत आह—नामेति । 'तेषां सूक्ष्मावस्थाऽविद्या तदालम्बनेति यावत् । धर्मादेरविद्यायाश्च निमित्तत्वोपादानत्वाभ्यामुपयोग'इति भाव. ।

ननु संसारगतेराविद्यकत्वमयुक्तं 'प्रत्यक्षादिप्रतिपन्नत्वात्तन्नामरूपाभ्यामेव" व्याक्रियतेति श्रुतौ च नामरूपात्मनो जगतोऽभिव्यक्तिश्रवणाच्च च प्रामाणिकस्याविद्याकृतत्वमत आह—तदेवेदमिति । जगतः "स्वरूपमात्मा तत्राध्यस्तत्वात्तस्मा"दात्मतत्त्वेऽनभिव्यक्ते प्रत्यक्षादिना श्रुत्या चाभिव्यक्तमिव दृश्यमानमपि जगदनभिव्यक्त"मेवेति" न तस्याविद्याकृतत्वक्षतिरिति भावः । अविद्याकृतां संसारगतिमनुभाषते"—स एष इति । नन्वविद्याकृतत्वे "कथमनादित्वमित्याशङ्क्य तस्य "प्रवाहरूपेणेत्याह—बीजाङ्कुरादिवदिति । "तर्हि कादाचित्कया साधनापेक्षामन्तरेण नाशो "भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आत्मयाजी श्रेष्ठ है ।" स्मृति भी कहती है– (प्रवृत्त और निवृत्त भेद से) वैदिक कर्म दो प्रकार के हैं। पुण्य और पाप के समान होने पर मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त, धर्म और अधर्म साधन से होने वाली, स्वाभाविक अविद्यादि दोष वाली, नाम रूप एव कर्म के आश्रित ससार की गति है।

(ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त) यही प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा प्रतिपन्न साध्य-साधन रूप व्याकृत जगत् उत्पत्ति से पूर्व अव्याकृत था। (परोक्षप्रत्यक्षात्मक) यह ससार आत्मा मे क्रिया, कारक

---

१ नामादीनामाश्रय एवाश्रयो यस्या इति विग्रह । २ ब्रह्मादिस्थावरान्त यथोक्तमेव। ३ प्रत्यक्षादिना प्रतिपन्नम् । ४ स एष स्वर्गमर्त्यादि परोक्षप्रत्यक्षात्मक ससार इत्यन्वय । ५ कर्मद्वैविध्ये एवेत्यर्थ । ६ ससारगति । ७ नामदीनामित्यर्थ । ८ ससारगताविति शेष । ९ यथाहि प्रत्यक्षादिप्रतिपन्न घटादि अविद्यातिरिक्तमृदुपादान तद्वदिति भाव । १० न तु प्रत्यगात्मनापीत्येवकारार्थं । ११ वास्तव रूपमित्यर्थ । १२ जगत आत्मस्वरूपत्वात्। १३ तथाच वार्तिकमपि—'अविद्यातिमिरोच्छित्तौ नानाविष्कृतमण्वपि । कार्यकारणवद्वस्तु नानपास्त तमोऽप्यत ॥' इति आत्मनि विदिते सर्वं विदितमिति पादत्रयार्थ फलित । नाविद्यातिरिक्त तम इति तुर्यं समाहितम् । अत आत्मज्ञानात्। १४ अन्यथाभासमानत्वाद्वैतो । १५ अनुवदति। १६ कथ तस्येति सम्बन्ध । १७ न स्वरूपेण । १८ ससारस्याविद्याजन्यत्वे । १९ अविद्याजन्य हि गन्धर्वनगरादिनिवर्तकमनपेक्ष्य स्वयमेव नश्यति तद्वदसावपि ।

नन्तोऽनर्थ 'इत्येत'स्माद्विरक्तस्याविद्यानिवृत्तये 'तद्विपरीतब्रह्मविद्याप्रतिपत्त्यर्थोपनिषदारभ्यते।

अस्य त्वश्वमेधकर्मसंबन्धिनो विज्ञानस्य प्रयोजनं येषामश्वमेधे नाधिकारस्ते-

अनादिरिति। चैतन्यवदात्मनि तस्याविद्याकृतत्वानुपपत्तिमाशङ्क्य नानारूपत्वेन 'ततो विलक्षणत्वादेकरूपे युक्त तस्य कल्पितत्वमित्याह—त्रियेति। अनादेरपि संसारस्य प्रागभाववन्निवृत्तिः स्यादिति चेत्तया'ऽपि ब्रह्मविद्यामन्तरेण नाशो नास्तीत्याह—अनन्त' इति। प्रयत्नतो हेयत्वं द्योतयितुमनर्थं इति विशेषणम्। नैसर्गिक इति पाठे तु कारणरूपेण 'तत्त्वमुन्नेयम्। यस्मात्कर्म संसारफलं न मोक्षं "फलयति तस्मात्सनिदानसंसारनियर्तकात्मज्ञानार्थत्वेन साधनचतुष्टयसंपन्नमधिकारिणमधिकृत्य" वेदान्तारम्भः संभवतीत्युपसंहरति—इत्येतस्मादिति।

"यथोक्तज्ञाना"र्थत्वेनोपनिष"दारम्भे "'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' "इत्यारब्धव्यं तस्मादारभ्य ज्ञानोपदेशात्। 'उषा वा अश्वस्य' "इत्यारम्भस्तु न युक्तः साक्षादत्र" तदनुक्तेरित्याशङ्क्यास्मादारभ्योपनिषदारम्भेऽभीष्टं फलमभिधित्समानः प्रथममश्वमेधोपासनफलमाह—अस्य त्विति। राजयज्ञत्वादश्वमेधस्य तदनधिकारिणामपि ब्राह्मणादीनां तत्फलार्थिनाम"स्मादेवोपासनात्तदाप्तिरिति मत्वा श्रुतौ तदुपासनोक्तिरित्यर्थः। किमत्र" नियामकमित्याशङ्क्य विकल्पश्रवणं केवलस्यापि" ज्ञानस्य साधनत्वं सूचयतीत्यर्थतो" विकल्पश्रुतिमुदाहरति—विद्ययेति। तत्फलप्राप्तिरितिपूर्वेण संबन्धः। "तत्रैव श्रुत्यन्तरमाह—तद्धेति। "तदेतत्प्राणदर्शनं लोकप्राप्तिसाधनं प्रसिद्धमिति यावत्। आदिशब्देन केवलोपास्त्या ब्रह्मलोकाप्तिवादिन्यः श्रुतयो गृह्यन्ते।

और फल का अध्यास रूप होने से अविद्याकृत है, बीजाङ्कुरादि के समान (प्रवाह रूप से, न कि स्वरूप से) अनादि और अनन्त अनर्थ का कारण है। इसलिए इससे विरक्त की अविद्या निवृत्ति के लिए इससे विपरीत ब्रह्मविद्या प्राप्ति रूप प्रयोजन वाली यह उपनिषद् प्रारम्भ की जाती है।

(उषा वा अश्वस्य) इस अश्वमेधसम्बन्धी विज्ञान का प्रयोजन यही है कि जिनका (राजयज्ञत्व होने से) अश्वमेध यज्ञ करने में अधिकार नहीं है, ऐसे फलार्थी को (उषा वा अश्वस्य) इसी उपासना के

१ इतीति संसारस्यानर्थरूपत्वाद्धेतोरित्यर्थः। २ एतस्मात् संसारात्। ३. तद्विपरीतेति अविद्याविरुद्धेत्यर्थः। ४ असम्भवम्। ५ संसारस्येत्यादि। ६ चैतन्यत। ७ अनादित्वस्य निवृत्त्यभावाप्रयोजकत्वेऽपीत्यर्थः। ८ ज्ञानेतरानिवर्त्यः। ९. तत्त्व नैसर्गिकत्वम् स्वरूपेणानादित्वमिति यावत्। १० निष्पादयति। ११. अधिकृत्यति उद्दिश्येत्यर्थः तदुपकारायेति यावत्। १२ यथोक्तज्ञानेति सनिदानसंसारनिवर्तकब्रह्मात्मैक्यज्ञानेत्यर्थः। १३ तदर्थत्वेन तज्जनकत्वेन तज्जननार्थमिति यावत्। १४ उपनिषदारम्भे तत्प्रतिपादकग्रन्थारम्भे। सिद्धे सतीत्यर्थः। १५ बृ० उ० १-४-१०। १६ इति वाक्याद्ग्रन्थ प्रणेतव्यमित्यर्थः इत्यत आरभ्योपनिषच्छब्द प्रयोक्तव्य इति वार्थः। १७ इत्यारम्भ इति इत्यत आरभ्य उपनिषदारम्भ इत्यर्थः। १८. अत्र—अश्वमेधब्राह्मणे। १९ अस्मादिति उषा वेत्यादि ब्राह्मणनिरूपितादित्यर्थः। २० अत्रेति उक्तानधिकारिणा तेन तदाप्तौ। २१ अपीति उपासनाऽसमुच्चितकर्मवदित्यर्थः। अपेर्दृष्टान्तार्थकत्वादत्र। २२ अर्थत इति विकल्पश्रुत्यर्थनिदर्शनत इत्यर्थः। २३ केवलोपास्त्यापि कर्मफलावाप्तौ। २४ तत्पूर्वोक्तम् एतत् फलकथनसमये उपस्थितम्।

पामस्मादेव विज्ञानात्तत्फलप्राप्तिः । "विद्यया वा कर्मणा वा" "तद्धैतल्लोकजिदेव" इत्येवमादिश्रुतिभ्यः ।

कर्मविषयत्वमेव विज्ञानस्येति चेत् । न । "योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद" इति विकल्पश्रुतेः । विद्याप्रकरणे चाऽऽम्नानात् । कर्मान्तरे च संपादनदर्शनाद्विज्ञानात्तत्फलप्राप्तिरस्तीत्यवगम्यते । सर्वेषां च कर्मणां परं कर्माश्वमेधः । समष्टिव्यष्टिप्राप्तिफलत्वात् ।

"अश्वमेधे यदुपासनं तस्याप्यश्वादिवत्तच्छेषत्वेन फलवत्त्वान्न स्वातन्त्र्येण तद्वत्त्वमङ्गेषु स्वतन्त्रफलाभावादिति शङ्कते—कर्मविषयत्वमिति । ज्ञानस्य क्रत्वर्थत्वं दूषयति—नेति । पूर्वत्रार्थतो" दर्शितां विकल्पश्रुतिमत्र" हेतुतया स्वरूपोऽनुक्रामति—योऽश्वमेधेनेति । स सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यामिति संबन्धः । ज्ञानकर्मणोस्तुल्यफलत्वस्य "न्याय्यत्वादिति शेषः" । उपास्तिफलश्रुतेरर्थवादत्व"माशङ्क्याश्वमेधवदुपास्तेरपि "कर्मत्वाद्विहितत्वात्कर्मप्रकरणाद्व्युत्थितत्वान्न मेवमित्याह—विद्येति । फलश्रुतेरर्थवादत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—कर्मान्तरे चेति । अश्वमेधातिरिक्ते कर्मण्ययं वाव लोकोऽग्निरित्यादौ" "चित्याग्न्यावायेतल्लोकादिसंपादनस्य "स्वतन्त्रफलोपासनस्य दर्शनान्न "फलश्रुते-

---

द्वारा फल की प्राप्ति हो जाय। श्रुतियो मे कहा भी है—"उसके फल की प्राप्ति उपासना अथवा कर्म से होती है", "वह यह (प्राण उपासना) सम्पूर्ण लोक प्राप्ति का साधन है।"

यदि कहो अश्वमेधविज्ञान कर्मशेषत्व ही है, तो ऐसा कहना उचित नही । क्योंकि "जो अश्वमेध से यज्ञ करता है अथवा जो इसे इस प्रकार जानता है (वह मृत्यु को जीत लेता है)"। इस प्रकार कर्मका अनुष्ठान एव ज्ञान का विकल्प बतलाने वाली श्रुति है। विद्या प्रकरण मे भी इसका वर्णन है। अश्वमेध से भिन्न कर्म मे भी इसका सम्पादन मिलने से विज्ञान से भी अश्वमेध का ही फल मिलता है, ऐसा जाना जाता है। अश्वमेध सब कर्मों से श्रेष्ठ कर्म है। क्योंकि इससे समष्टिव्यष्टयात्मक हिरण्यगर्भपद की प्राप्ति होती है।

---

१. कर्मविषयत्वम्—कर्मशेषत्वम् । २. एव । ३ एनम् अश्वमेधम् । ४ एवमिति कर्मानुष्ठानप्रभवदित्यर्थ । ५ श्रेष्ठम् । ६ समष्टिव्यष्टिप्राप्तिफलत्वादिति—समष्टित्वम् अनुवृत्तरूपत्वम् तच्च सकलसूक्ष्मवर्गानुगतत्वम् । व्यष्टित्वम् व्यावृत्तरूपत्वम् तच्च हिरण्यगर्भलोकवृत्तित्वम् । तथा च समष्टिव्यष्ट्यात्मकहिरण्यगर्भपदप्राप्तिफलकत्वादित्यर्थः. ७ अश्वमेधक्रतुविषयम् । ८. उपासनस्य । ९. क्रतुशेषत्वम् । १०. अर्थप्रदर्शनेनोपस्थापिताम् । ११. अत्रेति नेति प्रतिज्ञायामित्यर्थ । १२ आवश्यकत्वात् । १३. अन्यथाविकल्पश्रुतेरनुपपत्तेरिति भाव. । १४. अश्वमेधोपासन प्रशस्तमित्यर्थः । १५ ननु कर्मत्वं न फलजनकत्वनियतम् अलयाभूतस्यापि जलताडनादे. कर्मत्वदर्शनादित्यत आह—विहितत्वादिति । विहितत्वे सति कर्मत्वं फलजनकत्वे हेतु । ननु विहितकर्मरूपत्वेऽपि उक्तोपासनस्य प्रयाजादिवदश्वमेधं कर्मशेषत्व किं न स्यादत आह कर्मेति । वैपरीत्येन कर्मप्रातिकूल्येन स्थितत्वम् व्युत्थितत्वम् तस्मात् विद्याप्रकरणपठितत्वात्र कर्मणा सह शेषशेषिभावं इत्यर्थ. । १६ वाक्ये । १७ कर्माङ्गभूतचयनाख्यकर्मणा संस्कृतोऽग्नि चित्याग्नि. । १८. अत्र बहुव्रीहिः । १९. न फलश्रुतेरिति कर्मान्तरेऽङ्गविषयकोपासनस्य स्वतन्त्रफलकस्य दर्शनात् तथाविधे च प्रकृतोपासने स्वतन्त्रफलत्वमेवोचित बाधकाभावादिति भाव ।

तस्य चेह ब्रह्मविद्याप्रारम्भ आम्नानं सर्वकर्मणां संसारविषयत्वप्रदर्शनार्थम् । तथाच दर्शयिष्यति फलमशनाया मृत्युभावम् ।

न नित्यानां संसारविषयफलत्वमिति चेत् । न । सर्वकर्मफलोपसंहारश्रुतेः । सर्वं हि पत्नीसंबद्धं कर्म । "जाया मे स्यादेतावान्वै कामः" इति निसर्गत एव सर्वकर्मणां

रर्थवादतेत्यर्थः । अश्वमेधोपासनं न क्रत्वर्थं किं तु पुरुषार्थं तत्र चाधिकारोऽश्वमेधक्रत्वनधिकारिणामपीत्येतावदेवेष्टं "चेदुपासने कर्मप्रकरणस्थेऽपि तल्लाभाद्विद्याप्रकरणे नास्याध्ययनमर्थवदित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेषां चेति । परत्वे हेतुः—समष्टीति । अनुवृत्तव्यावृत्तरूपहिरण्यगर्भप्राप्तिहेतुत्वात्तस्य श्रेष्ठतेत्यर्थः ।

"तस्य पुण्य"श्रेष्ठत्वेऽपि "प्रकृते किमायातं तदाह—तस्य चेति । यदा क्रतुप्रधानस्याश्वमेधस्योपास्तिसहितस्यापि संसारफलत्वं तदाऽल्पीयसामग्निहोत्रादीनां संसारफलत्वं किं वाच्यमि"त्यस्मिन्कर्मराशौ बन्धहेतौ विरक्ताः साधनचतुष्टयविशिष्टा ज्ञानमपेक्षमाणास्तदुपाये श्रवणादावेव सर्वकर्मसंन्यासपूर्वके कथं न प्रवर्तेरन्नित्याशयवती श्रुतिरुपासनां विद्यारम्भेऽभिदधाति । "तेनोपा वा अश्वस्येत्याराभ्योपनिषदारम्भो युक्तोऽ"स्य विशिष्टाधिकारिसमर्पकत्वादित्यर्थः । "उपासनफलस्य संसार"-गोचरत्वमेव कुतः सिद्धमत आह—तथा चेति । "अशनाया हि "मृत्युः । "स वै नैव रेमे । सोऽबिभेदिति" । भयारत्यादिश्रवणादुपास्तियुक्तक्रतुफलस्य सूत्रस्य बन्धमध्यपातित्वाद्विशिष्टोऽपि क्रतुर्न "मुक्तये पर्याप्नोतीत्यर्थः ।

अश्वमेधक्रतु और उसकी उपासना का, यहा ब्रह्मविद्या के प्रारम्भ मे व्याख्यान, सब कर्मों का ससारविषयत्व प्रदर्शन करने के लिए है । हिरण्यगर्भ क्षुधादिवाला होने से उसकी मृत्युभावता फल को आगे श्रुति दिखलाएगी ।

यदि कहो नित्यकर्म ससार अन्तर्गत फलवाले नही हैं, तो ऐसा कहना नही बनता । क्योकि ("एतावान्वै काम.") श्रुति समस्त कर्मफलो का उपसहार ससार मे ही करती है । सब कर्म पत्नी से सम्बद्ध हैं ।

---

१ अश्वमेधक्रतोस्तदुपासनस्य च । २ बृ० उ०१-२-१ । ३ अशनायालक्षणया अशनायादिमान् हिरण्यगर्भं तस्या मृत्युभावमिति समस्त पदम् । ४ विषयेति अन्तर्गतेत्यर्थ । ५ सामान्येन सर्वकर्मफलसग्राहकश्रुतौ कर्मफलान्तर्गतत्वे न मोक्षस्याश्रवणादित्यर्थ । यद्वा श्रुतौ ससारस्यैव कर्मफलत्वेन श्रवणादित्यर्थ । ६ बृ० उ० १-४-१७ । ७ वाक्येन । ८ क्रतुशेषम् । ९ पुरुष प्रति स्वातन्त्र्येण फलप्रदम् । १० तर्हीति शेष । ११ तस्य अश्वमेधस्य । १२ पुण्यश्रेष्ठत्वे सकलपुण्यकर्मणां मध्ये ज्यायस्त्वे । १३ प्रकृते अश्वमेधोपासनाध्ययनस्य ब्रह्मविद्याप्रकरणेऽर्थवत्त्वरूपे । "ब्रह्म वा इदमग्र आसीदि"त्यत आरब्धव्ये इत आरम्भस्य किं फलत्वरूपे च परमप्रकृते इत्यर्थ ।१४ इतीति इत्यभिप्रेत्यत्यर्थं । १५ तेनेति विद्याप्रकरणे तदुपन्यासस्य वैराग्यप्रयोजकत्वेनेत्यर्थ । १६ अस्येति उषा वेत्यत आरम्भस्येत्यर्थ । १७ उपासनाफलस्य हिरण्यगर्भरूपस्य । १८ ससारगोचरत्वम् ससारान्तर्गतत्वम् । १९ अशनायालक्षणया तद्वान् हिरण्यगर्भ । २० मृत्यु मारक अशनायावान् हि इतर मारयति । २१ स हिरण्यगर्भ विनोद न प्राप । २२ इति रत्यभावकथनात्तस्य जीवत्वम् तथा च ससारान्तर्गतत्वमेव तस्य । २३ मुक्तये नालमित्यर्थ । ननूपास्तियुक्तस्याशेषक्रतुराजोऽश्वमेधस्य महत्त्वेन मोक्षहेतुत्वम् अन्यथामहत्त्वानुपपत्तेरिति चेन्न क्रत्वन्तरापेक्षया फलातिरेकत एव महत्त्वस्य सुस्थत्वात् ।

'काम्यत्वं दर्शयित्वा पुत्रकर्मापरविद्यानां च "अयं लोकः पितृलोको देवलोकः" इति फलं दर्शयित्वा 'त्र्यन्नात्मकतां चान्ते उपसंहरिष्यति "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म" इति । सर्वकर्मणां फलं 'व्याकृतं संसार एवेति ।

इदमेव त्रयं प्रागुत्पत्तेस्तर्ह्यव्याकृतमासीत् । तदेव पुनः सर्वप्राणिकर्मवशाद्व्या-

उक्ते सर्वकर्मणां बन्धफलत्वे नित्यनैमित्तकानां न तत्फलत्वं तेषां विध्युद्देशे फलाश्रुतेर्न- ष्टाश्वदग्ध"रथन्यायेन मुक्तिफलत्वलाभादिति शङ्कते—न नित्यानामिति । "एतावान्वै काम इति" सर्वकर्मणामविशेषेण फलसम्बन्धश्रवणात्पश्वादेश्च काम्य"फलत्वस्य तद्विध्युद्देशवशात्सिद्धत्वात्कर्मणा पितृलोक इति वाक्यस्य नित्यादिकर्मफलविषय"त्वान्न मोक्षफलत्वाशङ्केति परिहरति—नेति । "उक्तमेव स्फुटयति—सर्वं हीति । पत्नीसंबन्धे मानमाह—जायेति । तयाऽपि कथं कर्मणः सर्वस्य "कामोपायत्वं तत्राऽऽह—एतावान्वै काम इति । कथं "तर्हि तेषां फलभेदो लभ्यते तत्राऽऽह—पुत्रेति । "अथैवं फलविभागे कथं समष्टिव्यष्टिप्राप्तिफलत्वमश्वमेधस्योक्तमत आह—त्र्यन्नात्मकता चेति । अस्याध्यायस्यावसाने कर्मफलस्य हिरण्यगर्भरूपता त्रयमित्याद्या श्रुतिरुप"संहरिष्यतीत्यर्थः । उपसंहारस्य तेस्तात्पर्यमाह—सर्वकर्मणामिति ।

कर्मफलं संसारश्चेत्"प्राक्तदनुष्ठानात्तद"भावान्मुक्तानां पुनर्बन्ध"" स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—इदमेवेति । तर्हि तस्यामवस्थायामिति यावत् । तस्य पुनर्व्याकरणे कारणमाह—तदेवेति । व्याकृता-

"मुझे पत्नी प्राप्त हो—यही कामना है" यह श्रुति सब कर्मों को स्वभावतः काममूलक दिखाकर, फिर पुत्र, कर्म और अपरा विद्या (उपासना) के "मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक" इस प्रकार फल दिखलाकर अध्याय के अवसान में त्र्यन्नात्मकता से श्रुति उपसंहार करेगी—"यह संसार नाम, रूप और कर्म इन तीनों से युक्त है।" सब कर्मों का फल व्याकृत संसार ही है, यह आशय है।

यही नामरूपकर्मात्मकत्रय उत्पत्ति से पूर्व अनभिव्यक्त रूप से स्थित था। वही फिर वृक्ष

१ काम्यमानफलसाधनत्वम् । २ अपरविद्या उपासना । ३ पूर्वोक्तसप्तान्नानां नामादित्रये संक्षेपकरणादाह- त्र्यन्नेति । ४ प्रथमाध्यायावसाने । ५ बृ० उ० १ ६ १ । ६ नामरूपात्मनाऽभिव्यक्तम् तथा च काममेव वस्तु कर्मफलं न सिद्धरूपम् । ७ अव्याकृतमासीत्—अनभिव्यक्तनामरूपात्मना स्थितमासीदित्यर्थः । तथा च न कस्यापि संसारस्य प्राथमिकत्वं वक्तुं शक्यते विद्योत्पत्तेः प्राक् तस्य सर्वदैव सत्त्वात् इयांस्तु विशेषः यत् कदाचिद्व्यक्ततया कदाचिच्चाव्यक्ततयेति । ८ तेषाम् नित्यनैमित्तिककर्मणाम् । ९ विध्युद्देशे विधायक- वाक्ये अहरहः सन्ध्यामुपासीत 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादि त्यवमादाविति यावत् । १० फलानुक्तेः नित्यनैमित्तिकं फलसापेक्षम्—साधनानुक्तेश्च मुक्तिः साधनसापेक्षेति भावः ।११ एतावान्वै जायापुत्रवित्तक- र्माण्येव । काम कामयितव्यो विषय इति श्रुत्यर्थः । १२ इतीति इत्यलद्वाक्येनेत्यर्थः । १३ काम्यफल- त्वस्येति—काम्यकर्मफलत्वस्येत्यर्थः । १४ बोधकत्वात् । १५ उक्तमेवेति मोक्षस्य कर्मफलत्वाभावमेव यद्वा कर्मणां संसारफलत्वमेवेत्यर्थः । १६ कामोपायत्वम् काम्यमानफलसाधनत्वमित्यर्थः । १७ तर्हि—निखिल- कर्मणां काम्यमानफलसाधनत्वे । १८ अथो ननो एवमिति त्रिधेत्यर्थः । १९ उपसंहरिष्यति बोधयिष्य- तीत्यर्थः । २० तदनुष्ठानात् कर्मानुष्ठानात् प्राक् पूर्वम् । २१ तदभावात् कर्माभावात् । २२ मुक्तानां पुनर्बन्ध इति—यथा प्राक्कर्माभावेऽपि प्राथमिकसंसारागमः तथैव ज्ञानाग्निदग्धकर्मणां मुक्तानामपि पुनरागमः स्यादिनैव कर्मभिरित्यर्थः ।

क्रियते बीजादिव वृक्षः । सोऽयं व्याकृताव्याकृतरूपः संसारोऽविद्याविषयः क्रियाकारकफलात्मकतयाऽऽत्मरूपत्वेनाध्यारोपितोऽविद्ययैव मूर्तामूर्ततद्वासनात्मको ऽतो विलक्षणोऽनामरूपकर्मात्मकोऽद्वयो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि क्रियाकारकफलभेदादि विपर्ययेणावभासते । अतोऽस्मात्क्रियाकारकफलभेदस्वरूपादेतावदिदमितिसाध्यसाधनरूपाद्विरक्तस्य कामादिदोषकर्मबीजभूताविद्यानिवृत्तये रज्ज्वामिव सर्पविज्ञानापनयाय ब्रह्मविद्याऽऽरभ्यते ।

व्याकृतात्मनः संसारस्य प्रामाणिकत्वेन सत्यत्वमाशङ्क्याविद्याकृतत्वेन तन्मिथ्यात्वमुक्तं स्मारयति—सोऽयमिति । स एव हि भ्रान्तिविषयो न प्रामाणिकस्तस्कुतोऽस्य सत्यतेत्यर्थः । कथमस्याऽऽत्मन्यद्वये कूटस्थे प्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—क्रियेति । समारोपे मूलकारणमाह—अविद्ययेति । आत्मन्यविद्यारोपितं द्वैतमित्यत्र द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं चेत्यादिवाक्यं प्रमाणयति—मूर्तेति । नन्वात्मन्यारोपो नोपपद्यते तस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य द्वैतविलक्षणत्वादसति सादृश्येऽध्यासासिद्धेरत आह—अत इति । संसाराद्वैलक्षण्यमेव प्रकटयति—अनामेति । आदिपदेनान्येऽपि विपर्ययभेदाः सगृह्यन्ते । आरोपे प्रमिणोमि करोमि भुञ्जे चेत्यनुभवं प्रमाणयति—अवभासत इति । आत्मन्यध्यासः सादृश्याद्यभावेऽपि नभसि मलिनत्वादिवद्यतोऽनुभूयतेऽतः सविलासाविद्यानिवर्तकब्रह्मविद्यार्थत्वेनोपनिषदारम्भः संभवतीत्युपसंहरति—अत इति । एतावदित्यनर्थात्मत्वोक्तिः । तत्त्वज्ञानादज्ञाननिवृत्तौ दृष्टान्तमाह—रज्ज्वामिवेति ।

मे बीजरूप हेतु के समान सब प्राणियो के कर्मवश अभिव्यक्त होता है। यह संसार व्याकृत-अव्याकृत रूप है, अविद्या का विषय है। क्रिया, कारक और फलात्मक होने से आत्मतादात्म्य सम्बन्ध से अविद्या द्वारा ही अध्यस्त है। स्थूल, सूक्ष्म और तत्संस्कारात्मक है। इससे विलक्षण आत्मा नाम-रूप कर्म से रहित है, अद्वितीय, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव होने पर भी क्रिया कारक फल विशेषादि तद्रूप विपर्यय से प्रतीत होता है। संसार के अध्यस्तत्व होने से इस साध्यसाधनरूप, क्रिया-कारक और फल-विशेषादि रूप संसार से "यह इतना है" इस प्रकार विरक्त हुए पुरुष की कामादि दोष से होने वाले तत्तद् निषिद्ध कर्मो की जनयित्री अविद्या की निवृत्ति के लिए, रस्सी मे सर्पभ्रम के समान बाध के लिए, ब्रह्मविद्या का आरम्भ किया जाता है।

---

१ अविद्याकृत इत्यर्थ । २ निष्क्रियाद्वयसिद्धस्वरूपात्मनि भासमानस्य संसारस्याध्यारोपितत्व हेतुमाह—क्रियेति । संसारो हि क्वचित् क्रियारूप स च न निष्क्रिय आत्मनि वस्तुत संभवति विरोधात् । क्वचिच्च कारकरूप तस्य च सद्वयस्य अद्वये विरोधात् । क्वचिच्च फलात्मक फलस्य च कार्यरूपतया सिद्धे वस्तुनि वस्तुत्वविरोधादध्यारोपित एव सति संसार इति । ३ आत्मतादात्म्येनेत्यर्थ । आविद्यकतादात्म्यसम्बन्धेनेति यावत् । ४ अध्यस्त । ५ स्थूलसूक्ष्मतत्संस्कारात्मक । ६ उक्तसंसारादित्यर्थ । ७ विशेषेत्यर्थ । ८ तद्रूपविपर्ययेणेत्यर्थ । ९ संसारस्याध्यस्तत्वसंभवात् । १० संसारात् । ११ इद जगत् एतावत् अनर्थात्मकम् । इति हेतौ संसारस्यानर्थात्मकत्वादिति समुदायार्थ । १२ तत्तद्दोषप्रयुक्तनिषिद्धादिकर्मेत्यर्थ । १३ श्रुतिबोध्यत्वादिति भाव । १४ संसारगतिर्नामरूपकर्माश्रयेति वाक्येनोक्तमित्यर्थ । १५ भ्रान्तिप्रयुक्त इत्यर्थ । १६. तत्—तस्मात् भ्रान्तिमूलकत्वादित्यर्थ । १७ भ्रान्तिमूलत्वसंसारस्य । १८ सम्बन्ध । १९ देवतिर्यङ्मनुष्या । २० प्रमाश्रयो भवामि प्रमाताहमिति यावत् । प्रमातृत्वानन्तर कर्तृत्व ततो भोक्तृत्वमिति क्रमो दर्शित । २१ सादृश्यादेरध्यासाप्रयोजकत्वादित्यर्थ ।

ॐ । उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः । सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माऽश्वस्य मेध्यस्य । द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा

ॐ यज्ञ सम्बन्धी अश्व का शिरोभाग ब्रह्ममुहूर्त है (नेत्रों का अभिमानी देव) सूर्य उसका नेत्र है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि उसका खुला हुआ मुख है (क्योंकि मुखका अधिष्ठातृदेव अग्नि ही है) और यज्ञीय अश्वका आत्मा संवत्सर है, (अश्वस्य मेधस्य, इसकी पुनरुक्ति सबके साथ सम्बन्ध बतलाने के लिये है) ऊँचाई मे समानता होने के कारण द्युलोक उसका पृष्ठ है। छिद्ररूपता मे समानता होने के कारण अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी पैर रखने का स्थान है, चारो दिशाएं पार्श्व भाग हैं, आग्नेय आदि अवान्तर दिशाएं पार्श्वभाग की अस्थियाँ हैं, संवत्सर के अवयव होने से ऋतुएं अङ्ग हैं, मास और अर्धमास संधियाँ हैं, दिन और रात्रि पाद हैं; शुक्लत्व मे समानता होने के कारण नक्षत्र अस्थियाँ हैं,

तत्र [1]तावदश्वमेधवि[2]ज्ञानाय "उषा वा अश्वस्य" इत्यादि । तत्राश्व[3]विषयमेव दर्शनमुच्यते प्राधान्यादश्वस्य । प्राधान्यं च तन्नामाङ्कि[4]त[5]त्वात्क्रतोः प्राजापत्यत्वाच्च ।

उषा इति [6]ब्राह्मो मुहूर्त उषाः । वैशब्दः स्मारणार्थः प्रसिद्धं कालं स्मारयति । शिरः प्राधान्यात् । शिरश्च प्रधानं शरीरावयवानाम् । अश्वस्य मेध्यस्य मेधार्हस्य [7]यज्ञियस्योषाः शिर इति संबन्धः ।

एवमुपनिषदारम्भे स्थिते प्राथमिकब्राह्मणयोरवान्तर[8]तात्पर्यमाह—तत्र तावदिति । आद्यस्य पुनरवान्तरतात्पर्यं दर्शयति—तत्रेति । नन्वश्वमेधस्याङ्गबाहुल्ये कस्मादश्वाख्याङ्गविषयमेवोपासनमुच्यते तत्राऽऽह—प्राधान्यादिति । तदेव कथमिति तदाह—प्राधान्य चेति । प्रजा[9]पतिदेवताकत्वा-

उसमे भी प्रथम अश्वमेध उपासना के लिए "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर" इत्यादि मन्त्र कहा है। अश्वमेध याग मे अश्व की प्रधानता होने के कारण अश्वाङ्ग विषयक ही दर्शन कहा जाता है। इस याग मे अश्व नाम अङ्कित होने के कारण, विराड् देवता होने के कारण अश्व की प्रधानता है।

'उषा वा अश्वस्य' इस मन्त्र मे उषा का अर्थ है ब्राह्म मुहूर्त। "वै" शब्द स्मरण दिलाने के अर्थ मे है, जो (शास्त्रीय एव लौकिक व्यवहार मे) प्रसिद्ध ब्रह्ममुहूर्त काल का स्मरण कराता है।

१ यज्ञार्हस्य। २ टीकोक्तार्थम्। ३ तावदिति—आदौ ब्राह्मणाभ्यामश्वमेधोपासनमुच्यते तत्राप्याद्येना-श्वविषयम् ग्रहविषय च दर्शनम् द्वितीयेनाग्निविषयमिति भेद। ४ उपासनाय। ५ अश्वाङ्गविषयमिति यावत्। ६ अश्वनामघटितनामवत्त्वादित्यर्थः। ७ 'रात्रे पश्चिमयामस्य मुहूर्तो यस्तृतीयक। स ब्राह्म इति विज्ञेयो विहित स प्रबोधने। ८ स्नपनीयस्येति यावत्। ९ महातात्पर्यं तु समस्तोपनिषदा ब्रह्मविद्याया-मेवेति बोध्यम्। १० विराड।

नक्षत्राण्यस्थीनि नभो माꣳसानि । ऊवध्यꣳ सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च [1]लोमान्युद्यन्पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद्वि[2]जृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति [3]वागेवास्य वाक् ॥ १ ॥

आकाश मे स्थित मेघ मांस है, सिकता उदरस्थ अर्धपक्व अन्न है, नदियाँ नाड़ियाँ है, पर्वत जिगर और हृदयगत माँसखण्ड है, ओषधि और वनस्पतियाँ लोम तथा केश है, मध्याह्नकाल पर्यन्त ऊपर की ओर जाता हुआ सूर्य नाभि से ऊपर का भाग और मध्याह्नकाल से नीचे की ओर जाता हुआ सूर्य कमर से नीचे का भाग है, उसकी जमुहाई लेना बिजली चमकना है और जो शरीर का विधूनन है वह मेघ का गर्जन है, वह अश्व जो मूत्र त्याग करता है वही वर्षा है और वाणी ही उस अश्व की वाणी है ॥ १ ॥]

कर्माङ्गस्य पशोः संस्कर्तव्यत्वात्कालादिदृष्टयः शिरआदिषु [4]क्षिप्यन्ते । [5]प्राजापत्यत्वं च प्रजापतिदृष्टयध्यारोपणात् । काललोकदेवतात्वाध्यारोपणं च प्रजापतित्वकरणं पशोः । एवंरूपो हि प्रजापतिः । विष्णुत्वादिकरणमिव प्रतिमादौ ।

अश्वस्य प्राधान्यमित्याह—प्राजापत्यत्वाच्चेति । प्रतीकमादाय व्याचष्टे—उषा इत्यादिना । स्मारणार्थत्वमेव निपातस्य स्फुटयति—प्रसिद्धमिति । [6]शास्त्रीये लौकिके च व्यवहारे प्रसिद्धो ब्राह्मो मुहूर्तस्तं कालमिति यावत् । उषसि शिरःशब्दप्रयोगे दिनावयवेषु तस्य प्राधान्यं हेतुमाह—प्राधान्यादिति । तथाऽपि कथं तत्र तच्छब्दप्रयोगस्तत्राऽऽह—शिरश्चेति । आश्वमेधिकाश्वशिरस्युषसो दृष्टिः कर्तव्येत्याह—अश्वस्येति ।

कालादिदृष्टिरश्वाङ्गेषु किमिति क्षिप्यतेऽश्वाङ्गदृष्टिरेव तेषु किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—कर्माङ्गस्येति । अङ्गेष्वनङ्गमति[7]क्षेपे हेत्वन्तरमाह—प्राजापत्यत्व चेति । अश्वस्य सेत्स्यतीति शेषः । तत्र हेतु—प्रजापतीति । ननु कालादिदृष्टयोऽश्वावयवेष्वारोप्यन्ते न तस्य प्रजापतित्वं क्रियते तत्राऽऽह—कालेति । कालाद्यात्मको हि प्रजापतिः । तथा च यथा प्रतिमायां विष्णुत्वकरणं तद्वद्दृष्टिस्तथा कालादिदृष्टिरश्वा-

उषाकाल प्रसिद्ध होने के कारण शिर है। शरीर के अवयवो मे जैसे शिर श्रेष्ठ है इसी प्रकार दिन रूपी अवयवो मे उषा प्रधान है। आश्वमेधिक अश्व का उषा शिर है—ऐसी दृष्टि कर लेनी चाहिये।

कर्माङ्गभूत पशु का सस्कार होने के कारण उसके शिर आदि मे कालादि दृष्टिया आरोपित की जाती हैं। प्रजापतिदृष्टि के आरोप करने से यह प्रजापतिरूपत्व है। काल, लोक और देवतात्व का आरोप ही पशु मे प्रजापतित्व की भावना करना है। जिस प्रकार प्रतिमादि में विष्णुत्वादि की भावना की जाती है, उसी प्रकार प्रजापति की भावना की जानी चाहिए।

१. केशानामप्येतदुपलक्षणम् । २ गात्रविनामनपूर्वकं मुखविदारणं विजृम्भणं तत्र विद्योतनदृष्टिः । ३. हेषाशब्द. । ४. आरोप्यन्ते । ५ प्रजापतिरूपत्वमित्यर्थः । ६ "ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थावनुचिन्तयेत् । कायक्लेशाश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च" इत्येवमादिरूपे इत्यर्थः । ७ उष आदि दृष्ट्यारोपे इत्यर्थः ।

सूर्यश्चक्षुः शिरसोऽनन्तरत्वात्सूर्याधिदैवतत्वाच्च । वातः प्राणो वायुस्वाभाव्यात् । व्यात्तं विवृतं मुखमग्निर्वैश्वानरः । वैश्वानर इत्यग्नेर्विशेषणम् । वैश्वानरो नामाग्निर्विवृतं मुखमित्यर्थो मुखस्याग्निदैवतत्वात् । संवत्सर आत्मा संवत्सरो द्वादशमासस्त्रयोदशमासो वा । आत्मा शरीरम् । [1]कालावयवानां च संवत्सरः शरीरं । शरीरं चाऽऽत्मा "मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा" इति श्रुतेः । अश्वस्य मेध्यस्येति सर्वत्रानुषङ्गार्थं पुनर्वचनम् ।

द्यौः पृष्ठम् । ऊर्ध्वत्वसामान्यात् । अन्तरिक्षमुदरं सुषिरत्वसामान्यात् । पृथिवी पाजस्यं पादस्यमिति वर्णव्यत्ययेन पादासन[2]स्थानमित्यर्थः । दिशश्चतस्रोऽपि पार्श्वे पार्श्वेन दिशां संबन्धात् । पार्श्वयोर्दिशां च संख्यावैषम्याद[3]युक्तमिति चेत् । न । सर्वमुख-

---

वयवेषु तस्य प्रजापतित्वकरणम् । अश्वमेधा[4]धिकारी हि सत्यश्वे कर्मणो [5]वीर्यवत्तरत्वार्थं कालादि-दृष्टीरश्वावयवेषु कुर्यात् । तदनधिकारी त्वश्वाभावे [6]स्वात्मानमश्वं कल्पयित्वा स्वशिरःप्रभृतिषु कालादिदृष्टिकरणेन प्रजापतित्वं संपाद्य प्रजापतिरस्मीति ज्ञानात्तद्भावं प्रतिपद्येतेति भावः ।

चक्षुषि सूर्यदृष्टौ हेतुमाह—शिरस इति । उषसोऽनन्तरत्वं सूर्ये दृष्टं चक्षुषि च शिरसोऽनन्त-रत्वं दृश्यते [7]*तस्मात्तत्र तद्दृष्टिर्युक्तेत्यर्थः । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—सूर्येति ।* "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्" इति श्रुतेश्चक्षुषि सूर्योऽधिष्ठात्री देवता तेन सामीप्यात्तत्र तद्दृष्टिरित्यर्थः । अश्वप्राणे वायुदृष्टौ चलनस्वाभाव्यं हेतुः । अश्वस्य विदारिते मुखे भवत्वग्निदृष्टिस्तथाऽपि पर्यायोपादानं व्यर्थ-मित्याशङ्क्य [8]क्रव्यादादिव्यावृत्त्यर्थं विशेषणमित्याह—वैश्वानर इत्यग्नेरिति । "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं

शिर के अनन्तर होने के कारण एव सूर्य के अभिमानी देवता होने के कारण सूर्य ही उपा शिर वाले अश्व के नेत्र है । वायु स्वभाव वाला होने के कारण वायु उसके प्राण हैं । अश्व के खुले हुए मुख वैश्वानर अग्नि हैं । वैश्वानर यह अग्नि का विशेषण है । अग्नि के खुले हुए मुख को वैश्वानर कहते है क्योकि मुख का अभिमानी देव अग्नि है । द्वादश मासात्मक एव (अधिक मास को लेकर) त्रयोदश मासात्मक सवत्सर अश्व की आत्मा है । उसका आत्मा अर्थात् शरीर है । सवत्सरात्मक काल के अवयवो का सवत्सर ही शरीर है । श्रुति भी कहती है—"इन सभी अगो के मध्य आत्मा है ।" इसलिए शरीर आत्मा है । 'अश्वस्य मेध्यस्य' यह पुनरुक्ति सब के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए है ।

दोनो मे ऊर्ध्वत्व सामान्य होने के कारण पृष्ठभाग मे द्युलोक की दृष्टि करे । अवकाश सामान्य दोनो मे होने के कारण अतरिक्ष लोक की दृष्टि उदर मे करे । पृथिवी पाजस्य अथवा वर्णव्य-त्यास से पादस्य है अर्थात् पाद आधारत्व का स्थान अथवा खुर हैं । पार्श्व से दिशाओ का सम्बन्ध होने के कारण चारो दिशाए अश्व के दो पार्श्वभाग हैं, यदि कहो कि पार्श्व और दिशा मे सख्या का वैषम्य होने के कारण सम्बन्ध ठीक नही बनता, तो ऐसा कहना उचित नही । अश्व का मुख सभी

---

१ कालेति सवत्सरात्मककालेत्यर्थ । २ खुरमिति यावत् । ३ पार्श्वयोर्दिक्चतुष्टयदृष्टिकरणमयुक्तमित्यर्थं । ४ ननु येषामश्वमेधेनाधिकारस्तेषामस्मादेव विज्ञानात्तत्फलप्राप्तिरित्युक्तत्वादश्वमेधानधिकृतानामेव प्रकृतोपास्तिरित्याशङ्क्याह—अश्वमेधाधिकारीति । ५ अविघ्नेन शीघ्रफलप्रदत्वार्थम् । ६. स्वशरीरम् । ७ उभयोरानन्तर्यसाम्यात् । ८ श्मशानिकाद्यमेध्यानलनिवृत्त्यर्थमित्यर्थं । इदमप्यधिकस्याधिक फलमिति न्यायादेव न तु वैश्वानरश्च दण्डाकन्या शुद्धाग्नि बोधयतीति ध्येयम् ।

त्वोपपत्तेरश्वस्य पार्श्वाभ्यामेव सर्वदिशां संबन्धाददोषः। अवान्तरदिश आग्नेय्याद्याः पर्शवः पार्श्वास्थीनि।

ऋतवोऽङ्गानि संवत्सरावयवत्वादङ्गसाधर्म्यात्। मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाणि संधयः संधिसामान्यात्। अहोरात्राणि प्रतिष्ठाः। बहुवचनात्प्राजापत्यदैवपित्र्यमानुषाणि प्रतिष्ठाः पादाः प्रतितिष्ठत्येतैरिति। अहोरात्रैर्हि कालात्मा प्रतितिष्ठत्यश्वश्च पादैः। नक्षत्राण्यस्थीनि शुक्लत्वसामान्यात्। नभो नभस्था मेघा अन्तरिक्षस्योदरत्वोक्तेर्मांसान्युदकरुधिरसेचनसामान्यात्।

प्राविशत्" इति श्रुतिमाश्रित्य मुखे तद्दृष्टौ हेतुमाह—मुखस्येति। अधिकमासमनुसृत्य त्रयोदशमासो वेत्युक्तम्। शरीरे संवत्सरदृष्टिरियमात्मत्वं हेतुमाह—कालेति। आत्मा हस्तादीनामङ्गानामिति शेषः। कालावयवानां संवत्सरस्याऽऽत्मत्ववदङ्गानां शरीरस्याऽऽत्मत्वे प्रमाणमाह—मध्य हीति। पुनरुक्तेरर्थवत्त्वमाह—अश्वस्येति।

पृष्ठे द्युलोकदृष्टौ हेतुमाह—ऊर्ध्वत्वेति। उदरेऽन्तरिक्षदृष्टौ निमित्तमाह—सुषिरत्वेति। पादा अद्यन्ते यस्मिन्निति व्युत्पत्तिमाश्रित्य विवक्षितमाह—पादेति। अश्वस्य हि खुरे पादा सनत्वसामान्यात्पृथिवीदृष्टिरित्यर्थः। पार्श्वयोर्दिक्चतुष्टयदृष्टौ हेतुमाह—पार्श्वेनेति। द्वे पार्श्वे चतस्रश्च दिशस्तत्र कथं तयोस्तदारोपण द्वाभ्यामेव द्वयोः संबन्धादिति शङ्कते—पार्श्वयोरिति। यद्यपि द्वे दिशौ द्वाभ्यां पार्श्वाभ्यां संबध्येते तथाऽप्यश्वस्य प्राङ्मुखत्वे प्रत्यङ्मुखत्वे च दक्षिणोत्तरयोस्तन्मुखत्वे च प्राक्प्रतीच्योर्दिशोस्ताभ्यां संबन्धसंभवात्तत्र तद्दृष्टिरविरुद्धेति परिहरति—नेत्यादिना। तदुपपत्तौ चाश्वस्य चरिष्णुत्वं हेतूकर्तव्यम्। पार्श्वास्थिष्ववान्तरदिशामारोपे पार्श्वविषसंबन्धो हेतुः।

ऋतवः संवत्सरस्याङ्गानि हस्तादीनि च देहस्यावयवास्तस्मात्तद्दृष्टिरङ्गेषु कर्तव्येत्याह—ऋतव इति। अस्ति मासादीनां संवत्सरसंधित्वमस्ति च शरीरसंधित्वं पर्वणामतस्तेषु मासादिदृष्टिरित्याह—संधीति। युगसहस्राभ्यां प्राजापत्यमेकमहोरात्रम्। अयनाभ्यां दैवम्। पक्षाभ्यां

दिशाओं की ओर होने एवं उसके पार्श्वभागों का भी सभी दिशाओं से सम्बन्ध होने के कारण, इसमें कोई दोष नहीं है। आग्नेय आदि अवान्तर दिशाएं पसलियां हैं, पार्श्वभाग की अस्थियां है।

संवत्सर के अवयव एवं अङ्गों से उनकी समानता होने के कारण ऋतुएं अङ्ग हैं। चैत्रादि मास और शुक्लादिपक्ष, संधि से समानता होने के कारण पर्व सन्धियां हैं। दिन और रात प्रतिष्ठा है। बहुवचन प्रयोग के कारण प्रजापति, देव, पितृ और मनुष्य सभी के दिन-रात प्रतिष्ठा है, मानो पाद हैं, क्योंकि इनसे ही सदा प्रतिष्ठित होता है। संवत्सररूप कालात्मा दिन और रात के द्वारा प्रतिष्ठित होता है और अश्व पैरों के द्वारा प्रतिष्ठित होता है। शुक्लत्व सामान्य होने से नक्षत्र अस्थियां हैं। आकाश अथवा आकाशस्थित मेघ, आकाश के उदर रूप कहे के जाने कारण, मांस है। क्योंकि जल रूप रुधिर बरसाने में उनकी मांस से समानता है।

१ क्रमेणेति शेषः। २ अनुक्तानीति बोध्यम्। ३ चैत्रादयः। ४ शुक्लादिपक्षाः। ५ संवत्सर। ६ स्वरूपत्वम् आधारत्वं वा। ७ स्थाप्यन्ते। ८ पादाधारत्वेत्यर्थः। ९ आधाराधिष्ठेययोर्विषमसंख्यावत्त्वे। १० सर्वमुखत्वोपपत्तावित्यर्थः। ११. उभयोः शरीरसंवत्सराङ्गत्वसाम्यात्।

: ऊवध्यमुदरस्यमर्धजीर्णमशनं सिकता विश्लिष्टावयवत्वसामान्यात् । सिन्धवः स्यन्दनसामान्यान्नद्यो गुदा नाड्यो बहुवचनाच्च । यकृच्च क्लोमानश्च हृदयस्याधस्ताद्दक्षिणोत्तरौ मांसखण्डौ । क्लोमान इति नित्यं बहुवचनमेकस्मिन्नेव । पर्वताः काठिन्यादुच्छ्रितत्वाच्च । ओषधयश्च क्षुद्राः स्थावरा वनस्पतयो महान्तो लोमानि केशाश्च यथासंभवम् । उद्यन्नुद्गच्छन्भवति सविताऽऽमध्याह्नादश्वस्य पूर्वार्धो नाभेरूर्ध्वमित्यर्थः । निम्लोचन्नस्तं यन्नामध्याह्नाज्जघनार्धोऽपरार्धः पूर्वापरत्वसाधर्म्यात् । यद्विजृम्भते गात्राणि विनामयति विक्षिपति तद्विद्योतते विद्योतनं मुखघनयोर्विदारणसामान्यात् । यद्विधूनुते गात्राणि कम्पयति तत्स्तनयति गर्जनशब्दसामान्यात् । यन्मेहति मूत्रं करोत्यश्वस्तद्वर्षति वर्षणं तत्सेचनसामान्यात् । वागेव शब्द एवास्याश्वस्य वागिति नात्र कल्पनेत्यर्थः ॥१॥

पिण्यम् । षष्टिघटिकाभिर्मानुषमिति भेदः । प्रतिष्ठाशब्दस्य पादविषयत्वं व्युत्पादयति—प्रतितिष्ठतीति । पादेऽहोरात्रदृष्टिसिद्धयर्थमुक्तमुपपादयति—अहोरात्रैरिति । अस्थिषु नक्षत्रदृष्टौ हेतुमाह—शुक्लत्वेति । नभःशब्देनान्तरिक्षं किमिति न गृह्यते मुख्ये सत्युपचारायोगादित्याशङ्क्य पुनरुक्तिं परिहर्तुमित्याह—अन्तरिक्षस्येति । उदकं सिञ्चन्ति मेघा मांसानि रुधिरमतः सेककर्तृत्वसामान्यान्मांसेषु मेघदृष्टिरित्याह—उदकेति ।

अश्वजठरविपरिवर्तिन्यर्धजीर्णे सिकतादृष्टौ हेतुमाह—विश्लिष्टेति । किमिति गुदशब्देन पायुरेव न गृह्यते शिराग्रहणे हि मुख्यार्थातिक्रमः स्यात्तत्राऽऽह—बहुवचनाच्चेति । चकारोऽवधारणार्थः । यद्यपि बहुत्वया शिराभ्योऽर्थान्तरमपि गुदशब्दमर्हति तथापि स्यन्दनसादृश्यात्तास्वेव सिन्धुदृष्टिरिति तासामिह ग्रहणमिति भावः । कुतो मांसखण्डयोर्द्वित्वमेकत्र बहुवचनाद्बहुत्वप्रतीतेरित्याशङ्क्य दारा

ऊवध्य उदर मे रहने वाला अर्धजीर्ण अन्न सिकता है, क्योकि अवयवो के अलग-अलग रहने मे समानता है। समुद्र वहने मे सामान्य धर्मवाले होने के कारण नदियां गुदा-नाडियां है, क्योकि यहां सिन्धु और गुदा शब्द बहुवचन मे प्रयुक्त है। यकृत् और क्लोमा हृदय के नीचे भाग मे दायें और बायी ओर दो मास खण्ड है। "क्लोमान." यह नित्य बहुवचनान्त एकवचन के ही अर्थ मे होता है। (यकृत् और क्लोमा की तरह) पर्वत भी कठिन और ऊंचे उठे हुए हैं। क्षुद्र स्थावर सामान्य धर्म वाली ओषधियां लोम हैं, एव महान् स्थावर सामान्य धर्म वाली वनस्पतियां केश हैं।

उगता हुआ एव मध्याह्नकाल तक ऊपर की ओर जाता हुआ सूर्य अश्व का 'पूर्वार्द्ध' अर्थात् नाभि से ऊपर का भाग है। मध्याह्न काल से अस्ताचल की ओर जाता हुआ सूर्य 'जघनार्ध' अर्थात् नीचे का भाग है क्योकि पूर्वत्व और अपरत्व उदित और अस्त होने वाले सूर्य के समान धर्म वाले है। यह जो अश्व जमुहाई लेता है, अङ्गो को फैलाता और पटकता है, वह विद्योतन (बिजली का चमकना) है क्योकि विजृम्भण और विद्योतन मे मुख और मेघ के विदारकत्व रूप समान धर्म है। यह जो अश्व शरीर को हिलाता व कम्पित करता है, वह मेघ का स्तनित है क्योकि दोनो मे गर्जन समान धर्म है। यह जो अश्व सीचता है मूत्र करता है वह वर्षण है क्योकि दोनो मे भूसेचन रूप समान धर्म है। वाणी ही अर्थात् शब्द ही अश्व की वाक् इन्द्रिय है, इसमे कोई आरोप नही है, यह भाव है ॥१॥

१ अर्थे । २ आमध्याह्नादितिच्छेदः । ३ भूसेचनेत्यर्थ । ४ अवयवदार्ढ्यता वक्तीत्यर्थ ।
५ उत्तमिति प्रतिष्ठाहेतुत्वमित्यर्थ । ६. लक्षणाया अयुक्तत्वादित्यर्थ । ७ दन्तादिरूपमित्यर्थ ।

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः संबभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान्समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः ॥२॥

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥१॥

इस अश्व के सामने महिमा रूप से दिन प्रकट हुआ। उस ग्रह की योनि पूर्व समुद्र है, तत्पश्चात् महिमा रूप से रात्रि प्रकट हुई, उसकी योनि पश्चिम समुद्र है, ये दोनो ही इस अश्व के पीछे दोनों ओर महिमा सज्ञक ग्रह हुए, (जो कि इस अश्व के आगे पीछे स्वर्ण और रजत के पात्र विशेष रक्खे जाते है) इसने हय होकर देवताओ को वहन किया, वाजी होकर गन्धर्वों को, अर्वा होकर असुरो को और अश्व होकर मनुष्यो को वहन किया। समुद्र (परमात्मा ही) इसका बन्धन है और परमात्मा ही उसकी उत्पत्ति का कारण है ॥२॥

अहर्वा इति सौवर्णराजतौ महिमाख्यौ ग्रहावश्वस्याग्रतः पृष्ठतश्च स्थाप्येते तद्विषयमिदं दर्शनम्। अहः सौवर्णो ग्रहो दीप्तिसामान्याद्‍। अहरश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायतेति कथम्। अश्वस्य प्रजापतित्वात्। प्रजापतिर्ह्यादित्यादिलक्षणोऽह्ना लक्ष्यते।

इतिवद्वह्वृक्तेर्गनि'माह—क्लोमान इति। तयो. पर्वतदृष्टौ हेतुद्वयमाह—काठिन्यादित्यादिना। क्षुद्रत्वसाधर्म्यादोषधिदृष्टिर्लोमसु महत्त्वसामान्याद्वनस्पतिदृष्टिश्चाश्वकेशेषु कर्तव्येत्याह—यथासभवमिति। पूर्वत्वसामान्यान्मध्याह्नात्प्रागवस्थादित्यदृष्टिरश्वस्य नाभेरूर्ध्वभागे कर्तव्येत्याह—उद्यन्नित्यादिना। अपरत्वसादृश्यादश्वस्य नाभेरपरार्धे मध्याह्नादनन्तरभाव्यादित्यदृष्टि. कार्येत्याह—निम्लोचन्नित्यादिना। विजृम्भत इत्यादौ प्रत्ययार्थो न विवक्षितः। विजृम्भण मुखविदारयति विद्योतनं पुनर्मेघमतो' विद्योतनदृष्टिर्जृम्भणे कर्तव्येत्याह—मुखेति। स्तनयतीति स्तनितमुच्यते तद्दृष्टिर्गात्रकम्पे कर्तव्येत्यत्र हेतुमाह—गर्जनेति। मूत्रकरणे वर्षणदृष्टौ कारणमाह—सेचनेति। अश्वस्य हेषितशब्दे नास्त्यारोपणमित्यतो न सादृश्यं वक्तव्यमित्याह—नात्रेति ॥१॥

अश्वावयवेषु कालादिदृष्टीर्विधायाश्व प्रजापतिरूपं विवक्षित्वा कण्डिकान्तर गृहीत्वा तात्पर्यमाह—अहरित्यादिना। ग्रहौ हवनीयद्रव्याधारौ पात्रविशेषावग्रत' पृष्ठतश्चेति संज्ञपनात्प्रागूर्ध्वं चेति

"अहर्वा अश्व" इत्यादि मन्त्र मे अश्व के आगे और पीछे महिमा नाम के सुवर्ण और रजत के दो ग्रह स्थापित किये जाते है उसी सम्बन्ध मे यह दृष्टि है। दीप्ति रूप समान धर्म होने के कारण दिन ही सुवर्ण ग्रह है। दिन, अश्व के समक्ष महिमा रूप से किस प्रकार प्रकट हुआ? इसे बताते है—क्योंकि अश्व प्रजापति है आदित्यादि रूप प्रजापति ही दिन वाची है। अश्व को लक्षित कराकर

---

१ प्रावर्तताम्। २ प्रकृतस्थितिस्थानविषयमित्यर्थ। ३ एकस्मिन्नर्थ उपपत्तिमित्यर्थ। ४ विजृम्भणविद्योतनयोर्मुखमेघविदारकत्वसाधर्म्यादित्यर्थ।

श्रश्वं लक्षयित्वाऽजायत सौवर्णो महिमा ग्रहो वृक्षमनु विद्योतते विद्युदिति यद्वत् । तस्य ग्रहस्य पूर्वे पूर्वः समुद्रे समुद्रो योनिर्विभक्तिव्यत्ययेन । योनिरित्यासादनस्थानम् । तथा रात्री राजतो ग्रहो वर्णसामान्याज्जघन्यत्वसामान्याद्वा । एनमश्वं पश्चात्पृष्ठतो महिमाऽन्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिः । महिमा महत्त्वात् । श्रश्वस्य हि 'विभूतिरेषा यत्सौवर्णो राजतश्च ग्रहावुभयतः स्थाप्येते' । तावेतौ वै महिमानौ महिमाख्यौ ग्रहावश्वमभितः पुरतः पृष्ठतः संबभूवतुरुक्तलक्षणावेव संभूतौ । इत्यमसावश्वो महत्त्वयुक्त इति पुनर्वचनं स्तुत्यर्थम् ।

यावत् । प्रसिद्धा तावदह्नि दीप्तिः सौवर्णे च ग्रहे साऽस्त्यतस्तस्मिन्नहर्दृष्टिरिति 'दर्शनं विभजते—श्रहर्गिति । अश्वसंज्ञपनात्पूर्वं यो महिमाख्यो ग्रह. स्थाप्यते स चेदहर्दृष्ट्योपास्यते कथं सोऽश्वमन्वजायतेति । पश्चादश्वस्य तज्जन्मवाचोयुक्तिरिति शङ्कते—श्रहरश्वमिति । नायं पश्चादर्थोऽनुशब्दः किंतु लक्षणार्थः । तथा चाश्वस्य प्रजापतिरूपत्वात्त 'लक्षयित्वा ग्रहस्य यथोक्तस्य 'प्रवृत्तेरुपदेशादश्वमन्व'जायतेत्यविरुद्धमिति परिहरति—श्रश्वस्येति । 'तदेव स्फुटयति—प्रजापतिरिति । काललोकदेवात्मा प्रजापतिरश्वा"त्मना दृश्यमानोऽत्राहर्दृष्ट्या "दृष्टेन ग्रहेण लक्ष्यते । "तयाचाश्वमन्वजायतेति श्रुतिरविरुद्धेत्यर्थः अनुशब्दो न पश्चाद्वाचीत्यत्र दृष्टान्तमाह—वृक्षमिति । "यदा वृक्षं लक्षयि"त्वा तस्याग्रे विद्युद्विद्योतते तदा वृक्षमनु विद्योतते सेति प्रयुज्यते । तथाऽत्राप्यनुशब्दो न पश्चादर्थ इत्यर्थः । यत्र च स्थाने गह स्थाप्यते तत्पूर्वसमुद्रदृष्ट्या ध्येयमित्याह—तस्येति । पूर्वत्वमत्र सादृश्यम् । कथं सप्तमी प्रथमार्थे योज्यते छन्दस्यर्थानुसारेण व्यत्ययसंभवादित्याह—विभक्तीति । यथा सौवर्णे ग्रहेऽहर्दृष्टिरुपदिष्टा तथा राजते ग्रहे रात्रिदृष्टि कर्तव्येत्याह—तथेति । अस्ति हि चन्द्रातपवत्त्वाद्रात्रे शौक्लयमस्ति च राजतस्य ग्रहस्य तद्युक्त तत्र रात्रिदर्शनमित्याह वर्णेति । रजत सुवर्णाज्जघन्यमह्नश्च रात्रिरतो वा सादृश्यात्तत्र रात्रिदृष्टिरित्याह—जघन्येति । प्रजापतिरूपं प्रकृतमश्वं लक्षयित्वा तत्संज्ञपनात्पश्चादस्य "प्रवृत्ति दर्शयति—एनमिति । तदासादनस्थाने पश्चिमसमुद्रदृष्टिर्विधेयेत्याह—तस्येति । कथमेतौ ग्रहौ महिमाख्यावुक्तौ महत्त्वोपेतत्वादित्याह—महिमेति । "अथाश्वविषयं दर्शनमादिश्य ग्रहविषयं तदादिशतो

महिमा नाम का सुवर्णमय ग्रह प्रकट हुआ, जिस प्रकार वृक्ष को लक्षित कर विजली चमकती है । उस ग्रह का "पूर्वे समुद्रे" अर्थात् पूर्व समुद्र उत्पत्ति स्थान है । यहाँ सप्तमी विभक्ति का विभक्तिव्यत्यय से प्रथम विभक्ति परक अर्थ है । योनि इसका अवसादनस्थान अर्थ है । इसी प्रकार वर्ण और निकृष्टता मे समान धर्म वाली होने के कारण रात्रि रजत का ग्रह है । यह इस अश्व की पीठ की ओर महिमा रूप से प्रकट हुई है, उसका पश्चिम समुद्र उत्पत्ति स्थान है । महत्ता के कारण उत्कर्ष अथवा प्राशस्त्य के कारण महिमा नाम पडा । यह अश्व का उत्कर्ष है, जो दोनो ओर सुवर्ण और रजत के ग्रह रखे जाते है । ये महिमाएं अर्थात् महिमा सज्ञक दोनो ग्रह, उक्त सुवर्ण और रजत लक्षण वाले प्रगट हुए है । इस प्रकार "यह अश्व महत्वयुक्त है"—यह पुनरुक्ति स्तुति के लिए है ।

---

१ उत्कर्ष, प्राशस्त्यमिति यावत् । २ तथा चार्थवादवाक्यमेवैतदिति न स्वतन्त्रफलकविभिन्नोपासनविषयमिति भाव । ३ दीप्त्यधिकरणत्वसामान्यात् । ४. उपासनम् । ५ तज्जन्मवाचकशब्दप्रयोग । ६ बोधयित्वा । ७ स्थापनस्य विधानादित्यर्थ. । ८ प्रातिष्ठत । ९ अविरोधम् । १० अश्वाभेदेनोपास्यमान इत्यर्थ । ११ उपासितेन । १२ यथोक्तप्रजापत्यात्मनोऽश्वस्य लक्ष्यत्वम् यथोक्तग्रहस्य लक्षणत्वमित्यनुशब्दस्य तदीयलक्ष्यलक्षणभाव द्योतकत्वे चेत्यर्थ । १३ यथा । १४ बोधयित्वा । १५ स्थापनम् । १६ ननु ।

तथा च हयो भूत्वेत्यादि स्तुत्यर्थमेव। हयो हिनोतेर्गति कर्मणो विशिष्टगतिरित्यर्थः। जातिविशेषो वा। देवानवहद्देवत्वमगमयत्प्रजापतित्वाद्देवानां वा वोढाऽभवत्। ननु निन्दैव वाहनत्वम्। नैष दोषः। वाहनत्वं स्वाभाविकमश्वस्य स्वाभाविकत्वादुच्छ्रायप्राप्तिर्देवादिसंबन्धोऽश्वस्येति स्तुतिरेवैषा। तथा वाज्यादयो जातिविशेषाः। वाजी भूत्वा गन्धर्वानवहदित्यनुषङ्गः। तथाऽर्वा भूत्वाऽसुरान्। अश्वो भूत्वा मनुष्यान्। समुद्र एवेति परमात्मा बन्धुर्बन्धनं बध्यतेऽस्मिन्निति। समुद्रो योनिः कारणमुत्पत्तिं प्रति। एवमसौ शुद्धयोनिः शुद्धस्थितिरिति स्तूयते "अप्सुयोनिर्वा अश्वः" इति श्रुतेः। प्रसिद्ध एव वा समुद्रो योनिः ॥२॥

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

वाक्यभेद स्यान्नेत्याह—अश्वस्येति। किमत्र नियामकमित्याशङ्क्य पुनरुक्तिरिति मत्वाऽऽह—तावित्यादिना। वंशब्दार्थकथनम्—एवेति।

वाक्यशेषोऽप्यत्रानुगुणो भवतीत्याह—तथा चेति। हयशब्दनिष्पत्तिपुरःसरं तदर्थमाह—हयइति। वाज्यादिशब्दानां जातिविशेषवाचित्वादत्रापि तदेव ग्राह्यमिति पक्षान्तरमाह—जातीति।

उसी प्रकार "हयो भूत्वा" इत्यादि वचन भी स्तुति के लिए ही है। हय नाम क्यों पड़ा—क्योंकि यह जाता है, गति कर्म वाला है, विशिष्ट गतिवाला है। अथवा हय इसलिए है, क्योंकि यह अश्व जाति विशेषवाचक है। अश्व होकर उसने देवताओं का वहन किया, अर्थात् प्रजापतिरूप होने के कारण देवत्व को प्राप्त कराया अथवा वह देवताओं की सवारी हुआ। यदि ऐसा कहो कि वाहन होना तो निन्दापरक है, स्तुतिपरक कैसे हुआ ? तो ऐसा कहना उचित नहीं। अश्व का वाहनत्व होना दोष नहीं, यह तो स्वाभाविक है। स्वाभाविकत्व होने के कारण, देवादि से सम्बन्ध होने के कारण, उत्कृष्ट पद की प्राप्ति ही है, इसलिए यह अश्व की स्तुति ही है। इसी प्रकार वाजी आदि भी जातिविशेष है। वाजी होकर गन्धर्वों की सवारी बना, अर्वा होकर असुरों को, एवं अश्व होकर मनुष्यों को वहन किया, यह सम्बन्ध है। "समुद्र" अर्थात् परमात्मा ही इसका 'बन्धु' यानी बन्धन है। बन्धन नाम क्यों पड़ा ? क्योंकि इसमे बाँधा जाता है। समुद्र ही 'योनि' अर्थात् उत्पत्ति मे कारण है। इस प्रकार 'यह शुद्ध योनि वाला, शुद्ध स्थिति वाला, (शुद्ध लय वाला) है" ऐसे इसकी स्तुति की जाती है। श्रुति भी कहती है—"अश्व की जलमय योनि है" अथवा समुद्र ही इसकी योनि है यह तो प्रसिद्ध ही है ॥२॥

इस प्रकार प्रथम अध्याय का प्रथम ब्राह्मण पूर्ण हुआ।

---

१ तथैवेत्यर्थ। २ गतिक्रियकस्येत्यर्थ। ३ विराड्रूपत्वात्। ४ नैष दोष। दोष इत्युक्ते हेतुमाह स्वाभाविकत्वादिति। हेतु विवृणोति वाहनत्वमित्यादिना। ५ यद्वा वाहनत्व न श्रुतितात्पर्यविषय इति दोषस्तस्यानूद्यमानत्वादिति भाव। ६ इतीति—देवादिसम्बन्धरूपोत्कर्षप्राप्तिबोधकत्वादित्यर्थ। ७ स्थाप्यत इति स्थित्यास्पदम्। ८ शुद्धलयश्चेत्यपि बोध्यम्। ९ स्वतन्त्रफलदोपासनद्वयबोधकतयाऽनयोरङ्गाङ्गिभावो न स्यादिति भाव। १० इदमप्यधिकमधिकार्थमितिन्यायादेवेति ध्येयम्। ११ अश्वस्तुतौ। १२ सिद्धिपुरःसरमित्यर्थ। १३ हयशब्देऽपि जातिविशेषवाचकत्वमित्यर्थौ।

(अथ प्रथमाध्यायस्य 'द्वितीय ब्राह्मणम् ।)

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत् । अशनाययाऽशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति । सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं क७ ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ॥१॥

(इस समारमण्डल मे मन आदि की उत्पत्ति से) पहले यहाँ नामरूप मे विभक्त कुछ भी नही था, यह सब क्षुधारूप मृत्यु से आवृत था, क्योकि क्षुधा ही मृत्यु है। उसने मन को इसलिए बनाया त्रि मैं मन से युक्त होऊँ। उसने अर्चन करते हुए आचरण किया। अत उसके अर्चन करने से पूजा का अङ्गभूत रसात्मक जल उत्पन्न हुआ। पूजा करते हुए मुझे जल प्राप्त हुआ है। अत यही अर्क का अर्कत्व है। जो इस प्रकार अर्क के इस अर्कत्व को जानता है, निश्चय ही उसे सुख प्राप्त होता है । (सुख की हेतुभूता पूजा करने से तथा जल का सम्बन्ध होने से अग्नि को ही गौण दृष्टि से अर्क कह दिया गया है, यही अश्वमेध याग मे उपयोगी अग्नि के अर्कत्व मे कारण बतलाया गया है) ॥१॥

– अथाग्नेरश्वमेधोपयोगिकस्योत्पत्तिरुच्यते । तद्विषयदर्शनविवक्षयैवोत्पत्तिः स्तुत्यर्था । नैवेह किंचनाग्र आसीत् । इह संसारमण्डले किंचन किंचिदपि नामरूप-

देवाना देवत्वप्रापकत्वं कथमस्येत्याशङ्क्याऽऽह—प्रजापतित्वादिति। अश्व स्तोतुमारभ्य 'कल्पान्तरोक्त्या तन्निन्दावचनमनु'चितमिति शङ्कते—नन्विति । उपक्रमविरोधो नास्तीति परिहरति—नेत्यादिना । समुत्पद्य भूतानि द्रव'न्त्यस्मिन्निति व्युत्पत्त्या परमगम्भीरस्येश्वरस्य समुद्रशब्दतामाह—परमात्मेति । 'तत्र योनित्वमुत्पादकत्वं बन्धुत्व स्थापकत्वं समुद्रत्व विलापकत्वमिति भेदः । अथ परमात्मयोनित्वादिवचनमुपास्याश्वस्य'ववोपयुज्यते तत्राऽऽह—एवमिति'। श्रुत्यन्तरानुरोधेन समुद्रो योनिरित्यत्र समुद्रशब्दस्य रूढिमनुजानाति—अप्सुयोनिरिति ॥२॥

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

अश्वादिदर्शनोक्त्यनन्तरमग्निदर्शनं वक्तु ब्राह्मणान्तरमवतारयति—अथेति । नैवेहेत्यादौ 'तद्दृष्टिर्नास्तीति चेत्सत्यं तत्राग्नेर्जन्म वक्तु भूमिका क्रियत इत्याह—अग्नेरिति। वायोरग्निरि'"यादौ प्रसिद्ध तज्जन्मेति चेत्सत्यं तद्वि"शेषस्यात्र जन्मोक्तिरित्याह—अश्वमेधेति । दर्शने विधित्सिते-

१ द्वितीयब्राह्मणे वह्नेरश्वमेधोपयोगिन । उपासन विराड्बुद्ध्या कार्यत्वेन विधीयते ॥१॥
अश्वोपास्तिरिय ज्ञेया प्रथमब्राह्मणोदिता । द्वितीय ब्राह्मणे सम्यक् फलमस्या प्रचक्ष्यते ॥२॥
पृथक्फलस्याकथनाद्ब्राह्मणद्वयवर्णितम् । एकोपासनमेवेति विज्ञातव्यमुपासकैः ॥३॥

२ विधित्सयेत्यर्थ । ३ पक्षान्तरकथनेन । ४ उपक्रमविरुद्धमित्यर्थ । ५ लीयन्ते । ६. परात्मनि प्रकृतवाक्य इति वार्थ । ७ अश्वसबन्धिनि कस्मिन्फले प्रयोजक भवतीत्यर्थ । ८ तथा चाश्वस्तुतावुपयुक्त तत् । ९ अग्न्युपासनम् । १० तैत्तिरीयवाक्ये । ११ अश्वमेधोपयोगिनोऽग्ने ।

प्रविभक्तविशेषं नैवाऽऽसीन्न बभूव। अग्रे प्रागुत्पत्तेर्मनआदेः। किं शून्यमेव बभूव शून्यमेव स्यात् "नैवेह किंचन" इति श्रुतेः। न कार्यं कारणं वाऽऽसीदुत्पत्तेश्च। उत्पद्यते हि घटः। अतः प्रागुत्पत्तेर्घटस्य नास्तित्वम्।

ननु कारणस्य न नास्तित्वं मृत्पिण्डादिदर्शनात्। यन्नोपलभ्यते तस्यैव नास्तिताऽस्तु कार्यस्य न तु कारणस्योपलभ्यमानत्वात्। न। प्रागुत्पत्तेः सर्वानुपलम्भात्।

किं जन्मोक्त्येति चेत्तत्राऽऽह—तद्विषयेति। अग्निदर्शनस्य[3] विधातुमिष्टस्य सिद्धयर्थमुपास्याग्निस्तुतिफला तदुत्पत्तिरिष्टा[1] 'शुद्धजन्मत्वादुत्कृष्टत्वेनायमुपास्यो राजादिवदित्यर्थः। तात्पर्यमुक्त्वा वाक्यमादायाक्षराणि व्याचष्टे—नैवेत्यादिना। 'नामरूपाभ्यां विभक्तो विशेषो यस्मिन्निति बहुव्रीहिः। 'अत्र शून्यवादी लब्धावकाशोऽवि'मृश्य 'परेष्टश्रुत्यवष्टम्भेन स्वपक्षमाह—किमित्यादिना। कार्यस्य प्रागसत्त्वे हेत्वन्तरमाह—उत्पत्तेश्चेति। विमतं' प्रागसदुत्पद्यमानत्वाद्यन्नेवं तदेवं यथा परेष्टं ब्रह्मेत्यर्थः। हेत्वसिद्धिं शङ्कित्वोत्तरमाह—उत्पद्यते हीति। घटग्रहणं कार्यमात्रस्योपलक्षणार्थम्। उक्तमनुमानं "निगमयति—अत "इति।

"तत्र तार्किको ब्रूते—नन्विति। "यदुक्तं न कार्यं कारणं वाऽऽसीदिति "तत्र भागे "बाधो "भागे

अश्वादिदृष्टिकथन के अनन्तर अश्वमेध याग मे उपयोगी अग्नि की उत्पत्ति के विषय मे बताया जाता है। अग्नि विषयक दृष्टि विधान की इच्छा, जो उसकी उत्पत्ति कही जाती है—वह स्तुति के लिए है। पहले यहाँ कुछ भी नही था। इस ससार मण्डल मे 'किंचन' अर्थात् नामात्मक, रूपात्मक विभाग वाला कार्यकारणरूप वस्तु मे कुछ भी विशेष नही था। 'अग्रे' अर्थात् आगे यानी मनादि की उत्पत्ति के पूर्व (इस पर शून्यवादी शङ्का करता है—) तो क्या (मनादि उत्पत्ति के पूर्व) उस समय शून्य ही था क्योकि श्रुति कहती है—"यहाँ कुछ भी नही था"। उत्पत्ति के पूर्व कार्य अथवा कारण कुछ भी नही था। कार्य रूप घट उत्पन्न होता है इसलिए उत्पत्ति से पूर्व घट की सत्ता नही होती।

(इस पर कहते है)—किन्तु कारण का अस्तित्व तो सदा रहता है क्योकि (घट रूपकार्य के उत्पत्ति के पूर्व भी) मृत् पिण्डादि देखे जाते है। अभाव उसी वस्तु का होता है, जो वस्तु कभी उपलब्ध नही होती, कार्य का अभाव भले ही हो, कारण का अभाव तो नही होता क्योकि उसकी उपलब्धि होती है। (शून्यवादी कहता है) ऐसा कहना ठीक नही। उत्पत्ति से पूर्व तो सभी वस्तुओं की अनुपलब्धि रहती है। यदि अनुपलब्धि अभाव मे हेतु है, तो उत्पत्ति से पूर्व सारे जगत् का कारण

१ यत्त्वयोक्त कारणस्य प्राक्सत्त्व तन्नेत्यर्थ। २ उपादानस्य। ३ इष्टेति निर्विषयदर्शनस्यासभवादिति भाव। ४ शुद्धात्परमात्मनो जन्म यस्य तत्वात्। ५ नामात्मना रूपात्मना विभाग गत स्वरूप कार्यकारणरूपवस्तुजात यद्वा विभक्तो व्यवस्थित। विशेष कार्यकारणरूपम्। यस्मिन् कार्यकारणसमुदायवस्तुनि इद घटनामेद तद्रूपमित्येव व्यवस्था गत इत्यर्थ। ६ सृष्टे प्राक्कार्यकारणनिषेधोक्तौ। ७ श्रुतितात्पर्यमपर्यालोच्यैव। ८. सिद्धान्त्यभीष्टेत्यर्थ। तस्य तु नास्तिकत्वात्। ९ कार्यम्। १० उपसहरति ११ घटस्योत्पत्तिमत्वादित्यर्थ। १२ कार्यकारणयोरुभयोरप्यसत्त्व उक्ते। १३ कार्यकारणयोरसत्त्वोक्तौ। १४ कारणाश इत्यर्थ। १५ असत्त्वाभाव। १६ कार्यांशे असत्त्वस्वीकृति।

अनुपलब्धिश्चेदभावहेतुः सर्वस्य जगतः [1]प्रागुत्पत्तेर्न कारणं कार्यं वोपलभ्यते । [2]तस्मात्सर्वस्यैवाभावोऽस्तु । न "मृत्युनैवेदमावृतमासीत्" इति श्रुतेः । यदि हि [3]किंचिदपि नाऽऽसीद्येनाऽऽव्रियते यच्चाऽऽव्रियते तदा नावक्ष्यन्मृत्युनैवेदमावृतमिति । न हि भवति गगनकुसुमच्छन्नो वन्ध्यापुत्र इति[5] । ब्रवीति च मृत्युनैवेदमावृतमासीदिति ।

तस्मा[6]द्येनाऽऽवृतं कारणेन यच्चाऽऽवृतं कार्यं प्रागुत्पत्तेस्तदुभयमासीच्छ्रुतेः प्रामाण्यादनुमेयत्वाच्च । अनुमीयते च प्रागुत्पत्तेः कार्यकारणयोरस्तित्वम् । कार्यस्य हि

चानुमतिरित्यर्थः । कार्यस्यापि कथं प्रागसत्त्वोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह–यत्रेति । [7]एतेनानुमानस्य सिद्धसाध्यतोक्ता । कार्यवत्कारणस्यापि प्रागसत्त्वं किं न स्यादित्याशङ्क्योक्तहेत्व[8]भावान्नैवमित्याह—नत्विति । शून्यवाद्याह–न प्रागुत्पत्तेरिति । 'विमतं प्रागसद्योग्यत्वे सति तदाऽनुपलब्धत्वात्संमतवत्' । न चासिद्धो हेतु श्रुतेरनतिश[11]ङ्क्यत्वात् । तद्विरोधे[12] सत्यु[13]पलब्धेराभास[14]त्वादित्यर्थः । [15]तदेव प्रपञ्चयति–अनुपलब्धिश्चेदिति । कार्यवत्कारणस्यापि प्रागसत्त्वे प्राप्ते सिद्धान्तयति—नेत्यादिना । नैवेत्यादिश्रुतिरव्यक्तनामरूपार्थविषया न प्रागसत्त्वं कार्यकारणयोराह । अन्यथा वाक्यशेषविरोधादित्यर्थः । श्रुतिं विवृणोति—यदि हीति । द्वयोरसत्त्वेऽपि का[16]वाचोयुक्तेरनुपपत्तिस्तत्राऽऽह—न हीति । मा [17]तर्हि वाक्यमेव भूदित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रवीति चेति ।

मृत्युनेत्यादिवाक्यार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । श्रुते प्रामाण्यादिति । [18]तस्प्र[19]माण्यस्य प्रमाण[20]लक्षणे स्थितत्वादिति यावत्[21] । परकीयेऽनुमाने श्रुतिविरोधमभिधायानुमानविरोधमाह—अनुमेय-

या कार्य उपलब्ध होने का प्रश्न ही नही उठता । इसलिए सबकी अनुपलब्धि होने से सभी का अभाव होना चाहिये । (उत्पत्ति से पूर्व कार्य के समान कारण का भी अभाव है—ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहता है)—ऐसा कहना ठीक नहीं । श्रुति भी कहती है—"यह मृत्यु से ही आवृत था" । यदि उस समय, जिससे आवृत होता है, और जिसका आवरण होता है– यह कुछ भी न होता, तो श्रुति यह न कहती कि "यह मृत्यु से ही आवृत था" । वन्ध्यापुत्र गगनकुसुम से आवृत है, ऐसा प्रयोग कभी नही होता । श्रुति तो ऐसा कहती है–'यह मृत्यु से ही आवृत था' ।

अत (कार्य और कारण दोनो के श्रुत्युक्त होने से) जिस कारण से आवृत था तथा जो कार्य आवृत था, उत्पत्ति से पूर्व वे दोनो ही थे, इसमे श्रुति और अनुमान प्रमाण हेतु हैं । उत्पत्ति से पूर्व

१ कार्यं कारण वा प्रागुत्पत्तेरसन्नेत्यर्थ । २ सर्वानुपलम्भात् । ३ मृत्युरिह मायाशबलित मूलकारणम्-ईश्वर इति यावत् स च मारकत्वान्मृत्युरप्यपास्पदम् । ४ आवृतमावारक वेत्यर्थ । ५ प्रयोग इति शेप ।

६ कार्यकारणयोरुभयोरपि श्रुत्युक्तत्वात्सत्त्वस्य आवार्यावारकत्वेन । ७ एतेनेति—उत्पत्ते प्राक् कार्यमत्त्वानुपलम्भप्रदर्शनेनेत्यर्थ । ८ अनुपलम्भरूपहेत्वित्यर्थ । ९ कारणम् । १० घटादिकार्यवत् । ११ श्रुतिविरुद्धतर्कस्यानर्हत्वात् । १२ ननु प्रत्यक्षविरोध स्यादिति चेदत्राह तद्विरोध इति । १३ उपलब्धे प्रत्यक्षस्य । १४ आभासत्वाद भ्रमत्वात् । १५ सग्रहवाक्यमेवेत्यर्थ । १६ कस्य श्रुतिवाक्यस्येति यावत् । १७ कार्यकारणयोरसत्त्वे । १८ ननु श्रुतिप्रामाण्येपि किं प्रमाणमित्यत्राह तदिति । १९ प्रथमाध्यायेऽप्यौत्पत्तिकसूत्रे इति बोध्य तच्च सूत्रमत्रैव नवमपृष्ठे समुट्टङ्कितम् । २० प्रमाणनिरूपक लक्षणमध्याय इति व्युत्पत्ते । प्रमाणनिरूपकप्रथमाध्याये जैमिनीयदर्शनीये । तत्र हि समस्तवेदप्रामाण्य स्थापितम् । २१ भाव ।

सतो जायमानस्य कारणे सत्युत्पत्तिदर्शनात् । असति चादर्शनात् । जगतोऽपि प्रागुत्पत्तेः कारणास्तित्वमनुमीयते घटादिकारणास्तित्ववत् ।

घटादिकारणस्याप्यसत्त्वमेवानुपमृद्य मृत्पिण्डादिकं घटाद्यनुत्पत्तेरिति चेन्न । [1]मृदादेः कारणत्वात् । मृत्सुवर्णादि हि तत्र कारणं घटरुचकादेर्न पिण्डाद्याकारविशेषः । तदभावे भावात् । असत्यपि पिण्डाकारविशेषे मृत्सुवर्णादिकारणद्रव्यमात्रादेव घटरुचकादि-

---

त्वाच्चेति । कार्यकारणयोः सत्त्वस्यानुमेयतया तदसत्त्वमनुमातुमशक्यम् । उपजीव्यविषयतयासत्त्वानुमानस्य बलीय[2]स्त्वादित्यर्थः । कार्यकारणयो. सत्त्वानुमानं प्रतिज्ञाय प्रथमं कारणसत्त्वमनुमिनोति—अनुमीयते चेत्यादिना । [3]"कारणस्य सत्त्वेऽनुमानमाह"—कार्यस्य हीति । [4]विमत [5]सत्पूर्वं कार्यत्वात्कुम्भवदित्यर्थः ।

नानुपमृद्य [6]प्रादुर्भावादिति न्यायेन दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं चोदयति—घटादीति । न तावदसिद्धो घटः स्वकारणमुपमृद्नात्यसतोऽकारकत्वात्सिद्धस्य तूपमर्दकत्वे[7] नासत्पूर्वकत्वमिति[8] कुतः साध्यविकलतेत्याह—नेति । किंचान्वयि [9]द्रव्यमेव सर्वत्र कारणं न पिण्डादिविशेषोऽनन्वयादनव[10]स्थानाच्चेति कुत. साध्यवैकल्यमित्याह—मृदादेरिति । [11]तदेव स्फुटयति—मृत्सुवर्णादीति । तत्रेति दृष्टान्तोक्तिः ।

कार्य और कारण की सत्ता की अनुमिति की जाती है। क्योंकि उत्पन्न होने वाले विद्यमान कार्य की ही विद्यमान कारण मे उत्पत्ति देखी जाती है, अविद्यमान मे नही देखी जाती है। घटादिकारण की सत्ता के समान उत्पत्ति से पूर्व जगत् के कारण की सत्ता का भी अनुमान किया जा सकता है।

(शून्यवादी पुन अपना मत प्रस्तुत करता है) किन्तु घटादि कारण की भी सत्ता नही है, क्योकि ('कारण का नाश किये बिना कार्य की उत्पत्ति असम्भव है' इस न्याय के अनुसार) मृत्पिण्डादि का नाश किए बिना घट रूप कार्य की उत्पत्ति असभव है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है)-ऐसा कहना उचित नही। क्योकि (घटादि रूपो मे) कारण तो मृत्तिकादि हैं। (इसे अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध करते है) घट और रुचकादि के कारण तो मृत्तिका और सुवर्णादि हैं, पिण्डाद्याकार विशेष उनका कारण नही है। क्योकि पिण्डाभाव होने पर भी घटाद्युद्भव की उपलब्धि तो रहती है। पिण्डाकारविशेष के विद्यमान न रहने पर भी मृत्तिका और सुवर्णादि कारण-द्रव्य मात्र से ही घट और रुचकादि कार्य की

---

१ "यदेव कारण मानैरिह साक्षाद्विनिश्चितम् । यदेवोत्तरकार्येषु न कार्यं कारण मिते ॥"
इति वार्तिकमप्यत्रानुसन्धेयम् । अस्यार्थ इह पिण्डादिरूपप्राथमिककार्ये । यदेव मृदादिरूप कारण मानै प्रत्यक्षेतरै साक्षादध्यक्षेण च विनिश्चितम् तदेवोत्तरकार्येषु घटादिरूपेषु । मिते मानात् कार्यं तु पिण्डादिरूप न कारणम् । कस्यचिदघटादेरन्यथाघटादेरपि कस्यचिदन्वयिकारणत्वापत्तेरिति भाव इति ॥ अन्यदपि अन्त्यात्कार्यात्त देव स्यादाद्य प्रति कारणमिति । अन्त्यात्कार्यादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी तदभिव्याप्यत्यर्थ । २ असत्त्वानुमानस्य हि प्रतियोगिविषया सत्त्वमुपजीव्यमतस्तत साधकमनुमानतो बलीय । ३ 'कारणस्य सत्त्वेऽनुमानमाहेति' नाय पुस्तकान्तरे पाठ—अनुपयुक्तोऽपि । ४. जगत । ५ विद्यमानपूर्वम् । ६. कारणनाशमकृत्वा कार्यस्योत्पत्त्य—सभवादित्यर्थं । तथा च तन्नाशस्यैव कार्याव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्व न तु कारणस्येति भाव । अभावस्य चासत्त्वान्न सत्पूर्वत्व प्रसिद्धम् इति । ७ सत्पूर्वकत्वाद्धेतो । ८ कार्यतादात्म्येन प्रतीयमानम् । ९ कार्यतादात्म्येनाप्रतीयमानत्वात् । १० अनवस्थानादिति—घटस्य मृदतिरिक्तकारणकत्वे तत्कारणस्यापि कार्यत्वेन तदतिरिक्तकारणत्वे । ११ मृदादे कारणत्वमेव।

कार्योत्पत्तिर्दृश्यते। तस्मान्न पिण्डाकारविशेषो घटरुचकादिकारणम्। असति तु मृत्सुवर्णादिद्रव्ये घटरुचकादिर्न जायत इति मृत्सुवर्णादिद्रव्यमेव कारणं न तु पिण्डाकारविशेषः। सर्वं हि कारणं कार्यमुत्पादयत्पूर्वोत्पन्नस्याऽऽत्मकार्यस्य तिरोधानं कुर्वत्कार्यान्तरमुत्पादयति। एकस्मिन्कारणे युगपदनेककार्यविरोधात्। न च पूर्वकार्योपमर्दे कारणस्य स्वात्मोपमर्दो भवति। तस्मात्पिण्डाद्युपमर्दे कार्योत्पत्तिदर्शनमहेतुः प्रागुत्पत्तेः कारणासत्त्वे।—

पिण्डादिव्यतिरेकेण मृदादेरसत्त्वादयुक्तमिति चेत्। पिण्डादिपूर्वकार्योपमर्दे मृदादिकारणं नोपमृद्यते घटादिकार्यान्तरेऽप्यनुवर्तत इत्येतदयुक्तम्। पिण्डघटादिव्यति-

किवान्वयव्यतिरेकाभ्या कारणमवधेयम्[1]। नच पिण्डाभावे घटो न भवतीति व्यतिरेकोऽस्ति। पिण्डाभावेऽपिशकलादिभ्योऽपि घटाद्युद्भवोपलम्भादित्याह—तदभाव इति। तदेव स्फुटयति—असत्यपीति। त्वन्मतेऽपि व्यतिरेकराहित्यं तुल्यमित्याशङ्क्याऽऽह—असतीति। मृदाद्येव घटादिकारणं चेत्किमिति पिण्डादौ सत्येव ततो घटाद्यनुत्पत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वमिति। ब्रह्मणि त्वविद्यावशादुपपत्तिरिति भाव। अन्वयिद्रव्यं पूर्वोत्पन्नस्वकार्यतिरोधानेन कार्यान्तरं जनयति चेत्कार्यतादात्म्येन स्वयमपि नश्येत्तत्रो तत्कार्योत्पत्तिहेत्वभावादित्याशङ्क्याऽऽह—नचेति। कार्यान्तरेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात्कार्यान्तरात्मना भावाच्चेत्यर्थः। अन्वयिद्रव्यस्यैव कारणत्वे फलितमाह—तस्मादिति।

अन्वयिनो मृदादेर्नाशाभावेनाभावान्न कारणतेति शङ्कते—पिण्डादीति। तदेव चोद्य

उत्पत्ति होती देखी जाती है। इसलिए पिण्डाकार विशेष घटरुचकादि मे कारण नही है। मृत्तिका और सुवर्णादि के विद्यमान न रहने पर घटरुचकादि की उत्पत्ति नही होती, अत मृत्तिका और सुवर्णादि द्रव्य ही उनके कारण है, पिण्डाकार विशेष कारण नही है। कार्य की उत्पत्ति के लिए सभी कारण अपने से पूर्व उत्पन्न कार्य का तिरोभाव करके दूसरे कार्य को उत्पन्न करते हैं। एक ही कारण मे एक साथ समष्टि रूप से अनेक कार्य नही हो सकते। पूर्वकार्य के तिरोधान होने से ही कारण के स्वरूप का तिरोधान नही होता। इसलिए पिण्डादि के तिरोधान होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होना, उत्पत्ति से पूर्व कारण के विद्यमान न होने मे हेतु नही है।

(शून्यवादी शङ्का करता है) पिण्डादि से भिन्न मृदादि की अनुपलब्धि होने से, कारणत्व मानना उचित नही है। पिण्डादि पूर्व कार्य का लय होने पर मृदादि कारण का लय नही होता, वह घटादि दूसरे काय मे भी अनुवृत्त रहता है—ऐसा कहना ठीक नही। क्योंकि पिण्ड और घटादि से पृथक्

१ व्यतिरेकसहचारसत्त्वाद्धेतोरित्यर्थ.। २ मेय तत्कारणस्यापि तथेत्यवमनवस्थानादित्यर्थ।। ३ अन्वयिद्रव्यस्य मृदादेरेव घटादिकारणत्वात् पिण्डादेरकारणत्वादिति भार्थ। ४ सत्यव। ५ अनुपलब्धे। ६ कारणत्वमयुक्तमित्यर्थ। ७ हेतूक्तिरियम् अनुवर्तनादित्यर्थ। ८ व्यतिरेकाभावप्रयुक्तपिण्डादिनिष्ठघटादिकारणत्वाभावमेव। ९ सत्यपि। १० मृदादे। ११ कथ तर्ह्याकाशाद्यनुपमर्द्यैव ब्रह्मणो वाय्वाद्युत्पत्तिरित्यत आह ब्रह्मणि त्विति—एकस्मिन्नपि ब्रह्मण्यविद्यावशाद्युगपदनेककार्योत्पत्तिरित्यर्थ। १२ कार्यतादात्म्यापन्नत्वादित्यर्थ। १३ तत्रेति प्रथमकार्यनाशावसर इत्यर्थ। १४ न कार्यान्तरमुत्पत्तुमर्हतीति शेष। १५ प्रतिज्ञायां हेतु पूरयति कार्येत्यादिना। कार्यान्तरे घटादिरूप द्वितीयादिकार्ये। अनुवृत्तिदर्शनादिति सादात्म्येन सत्त्वानुभवादित्यर्थ। १६ कार्यतादात्म्यापन्नस्य। १७ पिण्डादीत्यादिनोक्तमेव सङ्गृहीतमेवेति भार्थ।

रेकेण मृदादिकारणस्यानुपलम्भादिति चेन्न । मृदादिकारणानां घटाद्युत्पत्तौ पिण्डादिनिवृत्तौ चानु[१]वृत्तिदर्शनात् । सादृश्यादन्वयदर्शनं न कारणानु[२]वृत्तेरिति चेन्न । पिण्डादिगतानां मृदाद्यवयवानामेव घटादौ प्रत्यक्षत्वेऽनुमाना[३]भासात्सादृश्यादिकल्पनानुपपत्तेः ।

न च प्रत्यक्षानुमानयोर्विरुद्धा[४]ऽव्यभिचारिता । प्रत्यक्षपूर्वक[५]त्वादनुमानस्य [६]सर्वत्रै-

---

विवृणोति—पिण्डादीत्यादिना । मृद्घटः सुवर्णं कुण्डलमित्यादितादात्म्यप्रत्ययस्य पिण्डाद्यतिरिक्तमृदाद्यभावेऽनुपपत्तेरनु[७]गतं मृदाद्युपेयमिति परिहरति—नेति । किंच या पिण्डात्मना पूर्वेद्युर्भूदासीत्सैव घटाद्यभूदिति प्रत्यभिज्ञया मृदोऽन्वयिन्या[८] सिद्धेस्त[९]त्कारणत्वं दुर[१०]पह्नवमित्याह—मृदादीति । [११]यत्सत्तत्क्षणिकं यथा दीप[१२] सन्तश्चेमे भावा इत्यनुमानात्सर्वार्थिना क्षणिकत्वसिद्धेरन्वय[१३]दृष्टिः सादृश्याद्भ्रान्तिरिति शङ्कते—सादृ[१४]श्यादिति । [१५]प्रत्यभिज्ञासिद्ध[१६]स्याप्यर्थविरुद्धं क्षणिकार्यबोधिलिङ्गमनु[१७]ष्णतानुमानवन्न मानमिति दूषयति—नेत्यादिना । सादृश्यादीत्यादिशब्देन प्रत्यभिज्ञा[१८] भ्रान्तित्वादि[१९] गृह्यते ।

[२०]प्रत्यक्षात्कार[२१]णैक्यं गम्यते । अनुमानात्तद्भेदः । [२२]अतो द्वयोर्विरुद्धत्वस्याव्यभि[२३]चारित्वाद्या

मृत्तिकादि कारण की उपलब्धि नही होती । (क्षणिक विज्ञानवादी की शङ्का का समाधान कर सिद्धान्ती कहता है) ऐसा कहना ठीक नही । घटादि की उत्पत्ति होने पर और पिण्डादि के तिरोधान होने पर मृत्तिकादि कारणो की (घटादि तादात्म्य से) उपस्थिति देखी जाती है । यदि कहो, सादृश्य प्रयोग के कारण एक वस्तु की अनेक काल मे सम्बन्ध होने से प्रतीति-रूपा प्रत्यभिज्ञा देखी जाती है, कारण की अनुवृत्ति होने से नही—तो ऐसा कहना ठीक नही । क्योकि पिण्डादिगत मृदादि अवयवो का ही घटादि मे प्रत्यक्ष देखा जाता है इसलिए ('वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्' अर्थात् वह्नि द्रव्यत्व होने के कारण उष्ण नही है) अनुमानाभास से सादृश्यादि की कल्पना करना उचित नही है ।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणो की अव्यभिचारिता मे (भाव प्रधान) विरोध भी नही होता । क्योकि अनुमान के प्रत्यक्षपूर्वक होने से सर्वत्र (क्षणिकत्वादि मे भी)

---

१ अनुवृत्ति घटादितादात्म्येन सत्त्वानुभव । २ कारणस्यानेककालसम्बन्धप्रयुक्तमित्यर्थ । ३ प्रत्यभिज्ञाबाधितादित्यर्थ । ४ विरुद्धेति भावप्रधानो निर्देश । ५ यथा प्रत्यक्षमनुमानानपेक्ष न तथाऽनुमान प्रत्यक्षानापेक्ष तत्सिद्धव्याप्त्याद्युपजीवित्वादत प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वाद्बलवत्तेत्यर्थ । ६ क्षणिकत्वादावपि त्वदभिमते । ७ कार्यतादात्म्यापन्नमित्यर्थं । ८ कार्यतादात्म्यापन्नाया । ९ तस्या मृद कारणत्वम् । १० निराकर्तुमशक्यम् । ११ अय विज्ञानवादीत्यादि । १२ अय हि क्षणिकविज्ञानवादी न पञ्चावयवमनुमानमभ्युपगच्छति किन्तु दृष्टान्तमुपनय चेति सर्वं क्षणिक सत्त्वादित्याकार न वर्त्तीति ध्येयम् । १३ एवस्य वस्तुनोऽनेककालसम्बन्धित्वेन प्रतीतिरूपा प्रत्यभिज्ञा । १४ सादृश्यप्रयुक्तमित्यर्थ । १५ प्रत्यभिज्ञेति वस्तुतस्त्वत्र 'प्रत्यभिज्ञासिद्धस्याप्यर्थविरुद्ध क्षणिकार्थं बोधयल्लिङ्गमि'त्यय पाठोऽवगन्तव्य । १६ स्याप्यर्थसाधकप्रत्यभिज्ञाबाधितम् । १७ वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादित्यवमनुमानेत्यर्थ । १८ निष्ठेति भाव । १९ आदिना प्रत्यभिज्ञाया भ्रान्तित्वसम्पादक विषयक्षणिकत्व ग्रहीतव्यम् । २० प्रत्यक्षादिति प्रत्यभिज्ञात्मकप्रत्यक्षादित्यर्थ । २१ कारणस्य मृदादे, ऐक्यम् अनेककालसम्बन्धित्वम् । २२ उक्तप्रत्यक्षानुमानयो परस्परम् विरुद्धविषयत्वादित्यर्थ । २३ नियतत्वात् ।

वानाश्वासप्रसङ्गात् । [1]यदि [2]च क्षणिकं सर्वं तदेवेद[3]मिति गम्यमानं [4]तद्बुद्धेरप्यन्यतद्[5]बुद्ध्यपेक्षत्वे तस्या अप्यन्यतद्बुद्ध्यपेक्षत्वमित्यनवस्थायां तत्सदृशमिदमित्यस्या [6]अपि बुद्धेर्मृषा[7]त्वात्सर्वत्रानाश्वासतैव । तदिदंबुद्ध्योरपि [8]कर्त्रभावे संबन्धानुपपत्तिः । सादृश्यात्त[9]त्संबन्ध इति चेन्न । तदिदंबुद्ध्योरितरेतरविषयत्वानुपपत्तेः । असति चेतरेतरविषयत्वे सादृश्यग्रहणानु[10]पपत्तिः ।

[11]ध्यक्षेणा[12]नुमानबाधो वैपरी[13]त्यसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह—नचेति । प्रत्य[14]भिज्ञामुपजीव्यक्षणिकत्वानुमानाप्रवृत्तावप्युपजीव्य[15]जातीयत्वात्तत्प्राबल्यादुपजीवकजातीयकमुक्तानुमानं दुर्बलं तद्वा[16]ध्यमित्यर्थः[17] । प्रत्य[18]भिज्ञा [19]स्वार्थे [20]स्वतो न मानं बुद्ध्यन्तरसंवादादेव बुद्धीनां मानत्वस्य बौद्धैरिष्टत्वात् । न च बुद्ध्यन्तरं स्थायित्वसाधकमस्तीति[21] प्रत्यभिज्ञायमानस्यापि क्षणिकत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वत्रेति । प्रसङ्गमेव प्रकटयति—यदि चेति । क्षणिक[22]त्वादिबुद्धेरपि स्वार्थे स्वतोमानत्वाभावात्तादृग्बुद्ध्यन्तरापेक्षायां तस्यापि तथात्वेनानवस्थानाद्बुद्धेः स्वतः प्रामाण्यमुपेयम् । तथाच प्रत्यभिज्ञानं सर्वं तथैवाबाधादित्यर्थः । किंच प्रत्यभिज्ञाया भ्रान्तित्वं वदता[23] [24]स्वरूपानपह्नवात्तदिदं[25]बुद्ध्योः

अविश्वास का प्रसङ्ग हो जायगा । और यदि "यह वही है" इस प्रकार ज्ञात होने वाला सब कुछ क्षणिक है, तो उस अनुमानजन्य क्षणिकत्व बुद्धि को प्रमाणित करने के लिए (स्वभिन्नस्वसमानविषयक) बुद्ध्यन्तर की अपेक्षा होने से, और उसके लिए अन्यतद्बुद्धि की अपेक्षा होने से अनवस्था दोष होने पर "यह उसके समान है" इस प्रकार यह बुद्धि भी मिथ्या होने के कारण सर्वत्र अविश्वास प्रसंग रह ही जायगा । तथा "यह" और "वह" इन बुद्धियो मे कर्ता के आश्रय का अभाव होने के कारण परस्पर सम्बन्ध सिद्ध नही होगा । यदि कहो, सादृश्य होने के कारण उन बुद्धियो मे सम्बन्ध हो सकता है, तो ऐसा कहना ठीक नही । क्योकि "यह" और "वह" इन बुद्धियों का पृथक-पृथक् विषयत्व सिद्ध नही होता । इतरेतर विषयत्व के विद्यमान न रहने पर सादृश्यग्रहण भी सिद्ध नही होता ।

१. चेत् । २. वाक्यालङ्कारे च । ३. प्रत्यभिज्ञाप्रमाणक सर्वं क्षणिक चेदिति सम्बन्ध स्थायित्वसाधकबुद्ध्यन्तराभावादित्यभिप्राय । ४ अनुमानजन्यक्षणिकत्वबुद्धे । ५. स्वभिन्नस्वसमानविषयकबुद्ध्यन्तरेत्यर्थ । ६. अपिरत्वर्थे. भिन्नक्रमश्च मृषात्वादित्यनन्तर योज्य । ७ मृषात्वादिति सादृश्यबुद्धेः स्वसमानविषयकबुद्ध्यन्तराभावेनाप्रमाणतया स्वार्थबोधकत्वाभावादित्यर्थ । ८ कर्त्रभाव इति कर्तुराश्रयस्यैकस्याभावे सतीत्यर्थ । ९. तत्सम्बन्ध तयो बुद्धयो सम्बन्ध सम्बन्धधीरित्यर्थ । १०. अन्यस्य तद्ग्राहकस्याभावादिति भाव । सोपि विज्ञानातिरिक्तस्यानभ्युपगमादिति ध्येयम् । ११. उभयो प्रमाणत्वे तुल्येऽध्यक्षस्यैव बाधकत्वे विनिगमकाभावादिति भाव. । १२. अनुमानस्यैव बाधकत्वमसंभवादित्यर्थ । १३. नन्वनुमानस्याभिज्ञात्मकप्रत्यक्षापेक्षत्वेऽपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षानपेक्षत्वान्न तदपेक्षया दुर्बलत्वम्, तथा च विनिगमकाभावेनानुमानस्यापि प्राबल्य सभवतीत्यत आह—प्रत्यभिज्ञामिति । १४. उपजीव्यजातीयत्वादिति अनुमानोपजीव्य प्रत्यक्षम् प्रत्यक्षत्वेन तज्जातीय प्रत्यभिज्ञानम् तस्य भाव तत्त्व तस्मात् । १५. तद्बाध्यमिति—तेनोपजीव्यजातीयेन प्रत्यभिज्ञानेन बाध्यमित्यर्थः । १६. इत्यर्थ इति अभिप्रेतार्थ इत्यर्थ., तथा च भाष्ये प्रत्यक्षपद प्रत्यभिज्ञायामुपजीव्यजातीयत्वबाधनार्थमिति भाव. । १७· बौद्धानुसार्याह प्रत्यभिज्ञेति । १८. स्वार्थे अनेककालसम्बन्धिमृदि । १९. स्वतः बुद्ध्यन्तरनिरपेक्षतया बुद्ध्यन्तरेति स्वसमानविषयकबुद्ध्यन्तरेत्यर्थः । २०. बुद्ध्यन्तरसंवादाभावाद् । २१. सादृश्यधीरादिग्राह्या । २२. त्वया । २३ स्वरूपानपह्नवादिति प्रत्यभिज्ञास्वरूपानपलपनादित्यर्थः । २४. बुद्ध्योरित्युक्त्या प्रत्यभिज्ञास्थले बुद्धेर्बुद्धिद्वयमुरीक्रियते इत्यवधेयम् ।

असत्येव सादृश्ये तद्बुद्धिरिति चेन्न । तदिदंबुद्ध्योरपि सादृश्यबुद्धिवदसद्विषयत्वप्रसङ्गात् । असद्विषयत्वमेव सर्वबुद्धीनामस्त्विति चेन्न । बुद्धिबुद्धेरप्यसद्विषयत्वप्रसङ्गात् । तदप्यस्त्विति चेन्न । सर्वबुद्धीनां मृषात्वेऽसत्यबुद्ध्यनुपपत्तेः । तस्मादसदेतत्सादृश्यात्तद्बुद्धिरिति । अतः सिद्धः प्राक्कार्योत्पत्तेः कारणसद्भावः । कार्यस्य चाभिव्यक्तिलिङ्गत्वात् । कार्यस्य च सद्भावः प्रागुत्पत्तेः सिद्धः ।

सामानाधिकरण्येन संबन्धो वाच्यः, स च वक्तुं न शक्यते क्षणद्वयसंबन्धिनो द्रष्टुरभावादित्याह—तदिदमिति । असति संबन्धे बुद्ध्योः सादृश्यात्तद्बुद्धिरिति शङ्कते—सादृश्यादिति । तयोः स्वसंवेद्यत्वाद्ग्राहकान्तरस्य चाभावान्न सादृश्यसिद्धिरिति दूषयति—न तदिदबुद्ध्योरिति । तथाऽपि किमिति सादृश्यासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—असति चेति ।

सादृश्यासिद्धिमभ्युपेत्य शङ्कते—असत्येवेति । यत्र सत्येवार्थे धीस्तत्रैव साधकापेक्षा नान्यत्रेति भावः । तत्र बाह्यार्थवादिनं प्रत्याह—न तदिदबुद्ध्योरिति । विज्ञानवाद्याह—असदिति । तथा सत्यनालम्बनं क्षणिकविज्ञानमित्यस्यापि ज्ञानस्यासद्विषयतया विज्ञानवादासिद्धिरित्याह—नेति । शून्यवाद्याह—तदपीति । सर्वा धीरसद्विषयेत्येषा धीरसद्विषया स्यात्ततश्च सर्वबुद्धेरसद्विषयत्वासिद्धिरिति दूषयति—नेत्यादिना । परपक्षासंभवात्प्रत्यभिज्ञया स्थायिहेतुसिद्धौ दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं परिहृत्यावान्तरप्रकृतमुपसंहरति—तस्मादिति । संप्रति कारणसत्त्वानुमानं निगमयति—

यदि कहो सादृश्य के विद्यमान न रहने पर भी तद्बुद्धि (यह वही है, ऐसी बुद्धि) होती है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि ऐसे मे सादृश्य-बुद्धि के समान 'तद्' और 'इदम्' बुद्धियाँ भी (बुद्धित्व लिङ्ग से) असद्विषयक सद्ध होगी । तो सभी बुद्धियों को असद्विषयक ही बनने दो—ऐसा कहना ठीक नहीं, ऐसे मे बुद्धि-बुद्धि के भी असद्विषयकत्व होने का प्रसङ्ग आ जाएगा । (तो क्या बात है ?) वह भी हो जाने दो । ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि जब सब बुद्धियाँ ही मिथ्या होगी तो असत्य बुद्धि का होना कैसे सम्भव होगा ? अतः सादृश्य से 'यह वही है' ऐसी तद्बुद्धि (घटादि कार्यों मे अन्वयबुद्धि) होती है—यह कहना ठीक नहीं है । इसलिए (घटादि रूप) कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कारण की विद्यमानता सिद्ध ही है । और कार्य की भी सत्ता है क्योंकि (कार्यास्तित्वानुमान) अभिव्यक्ति रूप लिङ्ग वाला है । उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अस्तित्व भी प्रसिद्ध है ।

१ बुद्धित्वेन लिङ्गेनेति ध्येयम् । २ तद्बुद्धिरिति मृदादिकारणानां मृद्घट इत्येव घटादिकार्येष्वन्वयबुद्धिरित्यर्थः । ३ अभेदस्तृतीयार्थः । ४ विज्ञानातिरिक्तपदार्थस्याभावेन मृदादेरपि विज्ञानस्वरूपत्वात् अपोहरूपमृत्त्वादिना तयोः सादृश्यात्तत्प्रयुक्तसामानाधिकरण्यबुद्धिरित्यर्थः । मृदतिरिक्तस्याभावोऽत्र अपोहशब्दार्थः । ५. सम्बन्धधी । ६. न तावदन्यो धियोरन्यो ग्राहको यस्तयोः सादृश्यं पश्येदनभ्युपगमात् अन्योन्यविषयत्वं तु स्वसंवेद्यत्वपराहतम्, अतः सादृश्यधीरयुक्ता धियोस्तत्सादृश्यस्य च ग्राहकाभावादित्यभिप्रायेणाह—तयोरिति । ७. बौद्धः । ८. सप्तमीत्रयमिदं समानाधिकरणम् यस्मिन्नर्थे सत्येवेत्यन्वयः । ९. प्रमाधीरिति यावत् । १०. ग्राहकापेक्षा । ११ तत्रेति असत्सादृश्यविषयकधीस्वीकारे इत्यर्थः । १२ बाह्यार्थवादिनं सौत्रान्तिकवैभाषिकौ । १३. निर्विषयम् । १४. परेति तार्किकबौद्धेत्यर्थः । १५. तदिति पूर्वोक्तेरर्थः । १६ अवान्तरप्रकृतमिति—प्रत्यभिज्ञानिष्ठसादृश्यनिबन्धनभ्रान्तित्वनिराकरणमित्यर्थः । महाप्रकृतं तु कार्यसत्पूर्वकत्वसाधनरूपमवगमनीयम् । १७ तस्मादिति—परवादे सादृश्यानुपपत्त्या प्रत्यभिज्ञायाः सादृश्यविषयत्वानुपपत्तेरित्यर्थः ।

कथमभिव्यक्तिलिङ्गत्वादभिव्यक्तिलिङ्गमस्येति । अभिव्यक्तिः साक्षाद्विज्ञानालम्बनत्वप्राप्तिः । यद्धि लोके प्रावृतं तमआदिना घटादि वस्तु तदालोकादिना प्रावरणतिरस्कारेण विज्ञातविषयत्वं प्राप्नुवत्प्राक्सद्भावं न व्यभिचरति । तथेदमपि जगत्प्रागुत्पत्तेरित्यवगच्छामः । न ह्यविद्यमानो घट उदितेऽप्यादित्य उपलभ्यते ।

न । तेऽविद्यमानत्वाभावादुपलभ्येतैवेति चेत् । न हि तव घटादिकार्यं कदाचिदप्यविद्यमानमित्युदित आदित्य उपलभ्येतैव । मृत्पिण्डेऽसंनिहिते तमआद्यावरणे चासति

अत' इति । कार्यकारणयोर्द्वयोरपि प्रागुत्पत्तेः सत्त्वमनुमेयमिति प्रतिज्ञाय कारणास्तित्वं प्रपञ्चितमिदानीं कार्यास्तित्वानुमानं दर्शयति—कार्यस्य चेति । प्रागुत्पत्तेः सद्भावः प्रसिद्ध इति चकारार्थः । प्रतिज्ञाभागं विभजते—कार्यस्येति ।

हेतुभागमाक्षिपति—कथमिति । अभिव्यक्तिलिङ्गमस्येति व्युत्पत्त्या कथमभिव्यक्तिलिङ्गत्वादिति कार्यसत्त्वे हेतुरुच्यते 'सिद्धे' हि सत्त्वेऽभिव्यक्तिलिङ्गमस्येति सिध्यति तद्बलाच्च 'सत्त्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयादित्यर्थः । संप्रतिपन्नयाऽभिव्यक्त्या विप्रतिपन्नं सत्त्वं साध्यते 'तस्मान्योन्याश्रयत्वमिति परिहरति—अभिव्यक्तिरिति । कथं "तर्हीहा"नुमानं प्रयोक्तव्यमित्याशङ्क्य प्रथमं व्याप्तिमाह—यद्धीति । यद्यभिव्यज्यमानं तत्प्रागभिव्यक्तेरस्ति यथा तमोन्तस्थं घटादीत्यर्थः । संप्रत्यनुमिनोति—तथेति । "विमतं प्रागभिव्यक्तेः सदभिव्यक्तिविषयत्वाद्यद्यदभिव्यज्यते तत्प्राक्सत्सप्रतिपन्नवदित्यर्थः । ननु तमोन्तस्थो घटोऽभि"व्यञ्जकसामीप्यादभिव्यज्यते न तत्र प्राक्कालीनं सत्त्वं प्रयोजकमित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति ।

उक्तेऽनुमाने कार्यस्य सदोपलब्धिप्रसङ्गं पक्ष"बाधकमाशङ्कते—नेत्यादिना । उक्तानुमाननिषेधो

अभिव्यक्ति रूप लिङ्ग वाला ऐसे व्युत्पत्ति करने पर "अभिव्यक्तिलिङ्गत्वात्" यह हेतु कैसे सिद्ध हुआ ? अभिव्यक्ति का अर्थ है—अपरोक्षज्ञानविषयत्व की प्राप्ति । जैसे कि ससार मे घटादि वस्तु तमादि से ढकी होती है, तब आलोकादि से उस आवरण का निराकरण होने पर विज्ञान विषयत्व को प्राप्त होकर (वही घट) अपने पूर्व अस्तित्व का त्याग नही करता । उसी तरह यह निर्णय हो जाता है, कि उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् भी था, क्योकि जिस घट का अस्तित्व ही न हो, सूर्य के उदय होने पर भी उसकी उपलब्धि नही हो सकती ।

ऐसा कहना ठीक नही है । तुम्हारे मत मे घटादिकार्य के अविद्यमान नही होने से भी उनकी उपलब्धि होनी चाहिये । तुम्हारे मत मे घटादि कार्य अविद्यमान तो कभी है ही नही, आदित्य के उदय होने पर भी उसकी उपलब्धि होनी ही चाहिये । मृत्पिण्ड के सान्निध्य के विना, तम आदि आवरण के न होने पर भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिए, क्योकि वह तो विद्यमान है । (सिद्धान्ती

१ साक्षादित्यादि—अपरोक्षज्ञानविषयत्वसम्बन्ध इत्यर्थः । २ निश्चिनुम । ३ 'मृदित्यादि चेदित्यन्त' पाठ प्रक्षिप्तस्तट्टीकापि तथैवेति प्रतिभाति । ४ ननूत्पत्ते प्राक् पिण्डस्यैवावरकत्वान्नोपलभ्यत इत्यत आह—मृत्पिण्ड इति । ५ अत इति व्याप्तस्य कार्यत्वहेतो पक्षवृत्तित्वादित्यर्थः । ६ ज्ञाते । ७ ज्ञायते । ८ अभिव्यक्तिरूपलिङ्गज्ञानात् । ९ तदिति अभिव्यक्तिसिद्धे सत्त्वसिद्ध्यनपेक्षत्वादित्यर्थः । १० तर्हीति अभिव्यक्तेर्लिङ्गत्वसमवे इत्यर्थः । ११ इहेति उत्पत्ते प्राक्कार्यसत्त्व इत्यर्थ १२ विमतमिति शुक्तिरूप्यादीनामप्यधिष्ठानात्मना प्राक्सत्त्वमभिधेयम् लौकिकप्रमात्मिका वाऽभिव्यक्तिर्विवक्षणीयेत्यव्यभिचार । १३ आलोकादिसामग्रीसामीप्यादित्यर्थः । १४ पक्षबाधकमिति—अनुमानविषयीभूतस्य पक्षस्य सिद्धान्त्यभिमतस्य कार्यसार्वदिकत्वस्य, बाधकम् अभावसम्पादकमित्यर्थः ।

विद्यमानत्वादिति चेत् । न । द्विविधत्वादावरणस्य । घटादिकार्यस्य द्विविधं ह्यावरणं मृदादेरभिव्यक्तस्य तमः कुड्यादि प्राङ्मृदोऽभिव्यक्तेर्मृदाद्यवयवानां पिण्डादिकार्यान्तररूपेण संस्थानम् । तस्मात्प्रागुत्पत्तेर्विद्यमानस्यैव घटादिकार्यस्याऽऽवृतत्वादनुपलब्धिः । नष्टोत्पन्नभावाभावशब्दप्रत्ययभेदस्त्वभिव्यक्तितिरोभावयोर्द्विविधत्वापेक्षः ।

नत्वर्थः । अविद्यमानत्वाभावादिति च्छेदः । अनुमाने बाधकोपन्यासं विवृणोति—न हीति । वर्तमानवदतीतमागामि च घटादि सदेव चेदुपलब्धिसामग्र्या सत्या तद्वत्प्रागजनेर्नाशाच्चोर्ध्वमुपलभ्येत न चैवमुपलभ्यते तस्मादयुक्तं कार्यस्य सदा सत्त्वमित्यर्थः । मृत्पिण्डग्रहणं विरोधिकार्यान्तरोपलक्षणार्थम् । असंनिहिते सतीति च्छेदः "न तावद्विद्यमानत्वमात्रं कार्यस्य सदोपलम्भापादकं सतोऽपि घटादेरभिव्यक्त्यनभिव्यक्त्योरुपलब्धत्वादिति समाधत्ते—नेति । अभिव्यक्तिसामग्रीसत्त्व त्वभिव्यक्तिसाधकं न तु सततसामग्रीनियमोऽस्तीत्यभिप्रेत्याऽऽह—द्विविधत्वादिति । उत्पन्नस्य कुड्याद्यावरणमनुत्पन्नस्य विशिष्टं कारणमिति द्वैविध्यमेव प्रतिज्ञापूर्वकं साधयति—घटादीति । यदोपलभ्यमानकारणावयवाना कार्यान्तराकारेण स्थितिस्तदा नेदं कार्यमुपलभ्यते तत्रान्यथा चोपलभ्यत इत्यन्वयव्यतिरेकसिद्धं कारणस्य कार्यान्तररूपेण स्थितस्य कार्यावरकत्वमिति द्रष्टव्यम् । विशिष्टस्य कारणस्याऽऽवरकत्वसिद्धौ सिद्धमर्थमाह—तस्मादिति । प्रागकार्यास्तित्वे सिद्धे सदा तदुपलब्धिप्रसङ्गबाधकं निराकृत्य "नष्टो घटो नास्तीत्यादिप्रयोगप्रत्ययभेदानुपपत्ति बाधकान्तरमाशङ्क्याऽऽह—नष्टेति ।

इसका समाधान करता है—) ऐसा कहना ठीक नही है । क्योकि आवरण द्विविध है । घटादिरूप कार्य मे आवरण दो प्रकार का है— उत्पन्न मृदादि के साथ अन्धकार और भित्ति आदि, एव मृतिका से घट रूप कार्य की उत्पत्ति के पूर्व मृदादि अवयवो का पिण्डादि कार्यरूप में स्थित रहना । इसलिए (विशिष्ट कारण के आवरक होने से) उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान घटादि कार्य की भी आवृत होने के कारण उपलब्धि नही होती । नष्ट होना और उत्पन्न होना, होना और न होना इत्यादि शब्द और प्रत्यय भेद तो अभिव्यक्ति और तिरोभाव (अस्ति व्यवहार और नास्ति व्यवहार) इनकी द्विविधता की अपेक्षा से हुआ करता है ।

---

१ सकाशात् । २ उत्पन्नस्य । ३ विशिष्टकारणस्य आवरकत्वात् । ४ बाधकवाक्यम् । ५ उत्पत्त्यनन्तरविद्यमानघटादिवत् । ६ अतीतेति नाशप्रतियोगीत्यर्थ । ७ आगामीति प्रागभावप्रतियोगीत्यर्थ । ८ प्रतिबन्धकाभावे च सतीत्यपि बोध्यम् । ९ वर्तमानवत् । १० वर्तमानवत् । ११ उपलभ्यत इति न च सर्वदा कार्योपलब्धिसामग्रीराहित्यमिति वाच्यम्, तत्कारणस्यैव तत्सामग्रीत्वात् कारणस्य च प्रागुत्पत्तेरपि सत्त्वस्य साधितत्वादिति । १२ अतीतानागतावस्थायामनुपलब्धत्वात् । १३ पिण्डवदावरकत्वेनाभिमतकपालादिकार्यं यर्थं । १४ विद्यमानत्वे सत्यभिव्यक्तत्वमुपलम्भप्रयोजकमित्याशयवानाह नेत्यादि । १५ अस्तीति वर्तमानघटादावदृष्टेरिति शेष, अनेन कारणसत्त्वमेव तत्सत्त्वमिति प्रत्युक्तम् वर्तमानघटे तत्सत्त्वेऽपि व्यञ्जकसत्त्वानियमात् अत सतोऽप्यव्यज्यमानत्वम् । स्थायिवादिभिरेष्टव्यमिति भाव । १६ विशिष्टमिति—पिण्डाद्यवस्थान्तरविशिष्टमित्यर्थं पिण्डाद्यवस्थापन्नमिति यावत् । १७ तत्रान्यथेति तत्र तेषु कारणावयवेषु अन्यथा सत्सु कार्यान्तराकारेण स्थित्यभाववत्सु चेत्यर्थ । १८ घटो नष्टो, घटो नास्ति, उत्पन्नो घटो, घटोऽस्तीति चत्वार प्रयोगा बोध्या अत्र च घटोऽस्तीति प्रयोगस्य सदास्तित्वबाधकत्वाभावेऽपि इदानी घटोऽस्तीत्यस्य तद्बोध्यम् । सदास्तित्वे इदानीमिति विशेषणस्यानुपयोगादिति ध्येयम् ।

पिण्डकपालादेरावरणवैलक्षण्याद'युक्तमिति चेत् । तमः कुड्यादि हि घटाद्यावरणं घटादिभिन्नदेशं दृष्टं न तथा घटादिभिन्नदेशे दृष्टे पिण्डकपाले । 'तस्मात्पिण्डकपाल-संस्थान'योर्विद्यमानस्यैव घटस्याऽऽवृतत्वादनुपलब्धिरित्ययुक्तमावरण'धर्मवैलक्षण्यादिति चेत् । न । क्षीरो'दकादिः क्षीराद्यावरणेनैक'देशत्वदर्शनात् । घटादि'कार्ये कपालचूर्णा-द्यवयवानामन्तर्भावादनावरणत्वमिति चेत् । न । विभ'क्तानां कार्यान्तरत्वादावरण-त्वोपपत्तेः ।

आवरणाभाव एव यत्नः कर्तव्य इति चेत्पिण्डकपालावस्थयोर्विद्यमानमेव

कपालादिना तिरोभावे नष्टव्यवहार' पिण्डाद्यावरणभङ्गेनाभिव्यक्तावुत्पन्नव्यहारो दीपादिना तमो-निरासेनाभिव्यक्तो भाव'व्यवहारः पिण्डादिना तिरोभावे''ऽभावव्यवहारः । तदेवं कार्यस्य सदा सत्त्वेऽपि प्रयोगप्रत्ययभेदसिद्धिरित्यर्थः ।

पिण्डादि न घटाद्यावरणं तेन समानदेशत्वात् । यद्यस्याऽऽवरणं न तत्तेन समानदेशं यथा कुड्यादीति शङ्कते—पिण्डेति । व्यतिरेक्यनुमानं विवृणोति—तमइत्यादिना । अनुमान''फलं निगमयति तस्मादिति । किमिदं समानदेशत्वं किमेकाश्रयत्वं किंवैककारणत्वमिति विकल्प्याऽऽद्यं विरुद्ध''त्वेन दूषयति—नेत्यादिना । क्षीरेण संकीर्णस्योदकादेराव्रियमाणस्येति यावत् । द्वितीयमुत्थापयति—घटादीति । यस्येद'' कार्यं तस्मिन्मृदात्मनि ''तेषाम''वस्थानात्तद्वत्तेषामनावरणत्वमित्यर्थः । घटावस्थ-मृन्मात्रवृत्तिकपालादेर्घटानावरणत्वमिष्टमेवेति सिद्धसाध्यताऽव्यक्तघटावस्थमृद्वृत्तिकपालादेरनावरण-त्वसाधने हेत्वसिद्धिर्घटस्य कपालादेश्चा''ऽऽश्रयमृदवयवभेदादिति दूषयति—न विभक्तानामिति ।

(इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है) पिण्डकपालादिको के आवरण से विलक्षण होने के कारण (घटादिको का पिण्डादिको से आवृतत्व कहा जाना) ठीक नही है। अन्धकार और दीवार आदि घटादि के आवरण तो घटादि से भिन्न देश मे देखे जाते है, इस प्रकार पिण्ड और कपाल घटादि से भिन्न देश मे नही देखे जाते। इसलिए (समान देश मे आवरकत्व असभव होने के कारण) पिण्ड और कपाल के सस्थान मे विद्यमान ही घटादि की, आवत होने के कारण उपलब्धि नही होती—यह कहना अयुक्त है क्योकि आवरण धर्मो (कुडयादि) से उनमे विलक्षणता है। (सिद्धान्ती इसका खण्डन करता है—)ऐसी बात नही है—दूध, जल (तेल, घृत) आदि की अपने आवरण दूध आदि के साथ समानदेशीयता देखी जाती है। घटादि कार्य हैं जिसके, ऐसी मृत्तिका मे कपाल और चर्णादि अवयवो का अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए उनको अनावरणत्व कहो—तो ठीक नही। क्योकि परस्पर भिन्न-भिन्न का विभिन्न कारणकत्व होने से उन्हें आवरण मानना सिद्ध हो जाता है।

(इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) आवरणाभाव के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

१ घटादेः पिण्डादिनावृतत्वकथनमयुक्तमित्यर्थः । २ समानदेशत्वेनावरकत्वासभवात् । ३ सति सप्तमी । ४ आवरण धर्मो यस्य तस्मात्कुड्यादितो वैलक्षण्यादित्यर्थः । ५ आदिना तैलघृतादि । ६ सह । ७ घटादीनि कार्याणि यस्य तस्मिन्मृदात्मनीति विग्रह । ८ विभक्तानां परस्पर भिन्नानाम् कार्यान्तरत्वात् भिन्नकारणत्वादिति यावत् । ९ अस्तिव्यवहार । १० नास्तिव्यवहारः । ११ पिण्डादेरावरकत्वाभावरूपम् । १२ साध्यविरुद्धत्वेनेत्यर्थ हेतो साध्याभाववद्वृत्तित्वमिति यावत् । १३ इद घटादिकार्यम् । १४ तेषां घटकपालादीनाम् । १५ अवस्थानात्—तुल्यदेशत्वात् एककारणत्वादिति यावत् । १६ स्वाश्रयेति पाठान्तरम् ।

घटादिकार्यमावृतत्वान्नोपलभ्यत इति चेत् । घटादिकार्यार्थिना तदावरणविनाश एव यत्नः कर्त्तव्यो न घटाद्युत्पत्तौ । न चैतदस्ति तस्मादयुक्तं, विद्यमानस्यैवाऽऽवृतत्वादनुपलब्धिरिति चेत् । न । अनियमात् । न हि विनाशमात्रप्रयत्नादेव घटाद्यभिव्यक्तिर्नियता । तमआद्यावृते घटादौ प्रदीपाद्युत्पत्तौ प्रयत्नदर्शनात् । सोऽपि तमोनाशायैवेति चेत् । दीपाद्युत्पत्तावपि यः प्रयत्नः सोऽपि तमस्तिरस्करणाय तस्मिन्नष्टे घटः स्वयमेवोपलभ्यते । न हि घटे किंचिदाधीयत इति चेत् । न । प्रकाशवतो घटस्योपलभ्यमानत्वात् । यथा प्रकाशविशिष्टो घट उपलभ्यते प्रदीपकरणेन न तथा प्राक्प्रदीपकरणात् । तस्मान्न तमस्तिरस्कारायैव प्रदीपकरणं किं तर्हि प्रकाशवत्त्वाय । प्रकाशवत्त्वेनैवोपलभ्यमान-

विद्यमानस्यैवाऽऽवृतत्वादनुपलब्धिश्चेदावरणतिरस्कारे यत्नः स्यान्न घटादेरुत्पत्तावतोऽनुभवविरोध सत्कार्यवादिन स्यादिति शङ्कते—आवरणेति । तदेव प्रपञ्चयति—पिण्डेति । "यत्राऽऽवृत वस्तु व्यज्यते तत्राऽऽवरणभङ्ग एव यत्न इति व्याप्त्यभावान्नानुभवविरोधोऽस्तीति दूषयति—नानियमादिति । अनियम साधयति—न हीति । तमसाऽऽवृते घटादौ दीपोत्पत्तौ यत्नोऽस्तीत्यत्र चोदयति—सोऽपीति । अनुभवविरोधमाशङ्क्योक्तमेव व्यनक्ति—दीपादीति । दीपस्तमस्तिरयति चेत्कथं

पिण्ड और कपाल की अवस्थाओ मे, विद्यमान ही घटादि काय की, आवृत होने के कारण उपलब्धि नही होती । तब तो जिसे घटादि कार्य की इच्छा हो, उसे उसके आवरण के नाश का यत्न करना चाहिये, घटादि उत्पत्ति के लिए यत्न करने की क्या आवश्यकता है ? किन्तु ऐसा होता नही है । इसलिए (अनुभवविरोधी होने से) यह कहना ठीक नही है कि विद्यमान घटादि की ही आवृत होने के कारण उपलब्धि नही होती ।

(सिद्धान्ती खण्डन करता है—) ऐसा कहना ठीक नही, क्योकि यह नियम नही है । आवरणविनाश के लिए प्रयत्न करने मात्र से ही घटादि की उत्पत्ति हो जाए, ऐसा नियत नही है । क्योकि तम आदि से आवृत घटादि प्राप्ति के लिए, प्रदीपादि की उत्पत्ति मे प्रयत्न देखा जाता है ।

(पुन शङ्का होती है) वह यत्न भी तो अन्धकार के नाश के लिए किया जाता है । दीपादि की उत्पत्ति के लिए भी जो प्रयत्न किया जाता है, वह भी अन्धकार के नाश के लिए ही है । अन्धकार के नष्ट होने पर घट स्वय ही उपलब्ध हो जाता है । यदि कहो, (दीप के उत्पत्ति के अनुकूल प्रयत्न के द्वारा घट के उपलब्धि रूप प्रयोजन वाली) कोई वस्तु घट मे उत्पन्न नही करायी जाती । (इस पर सिद्धान्ती कहता है)—ऐसा कहना ठीक नही । क्योकि प्रकाशवान् घट की ही उपलब्धि होती है । जैसे दीपक होने पर प्रकाशविशिष्ट घट की उपलब्धि होती है, वैसे दीपक तैयार करने से पहले नही होती । इसलिए अन्धकार विनाश के लिए प्रदीप जलाया नही जाता, बल्कि प्रकाश के लिए दीप जलाया जाता है । इससे स्पष्ट होता है, कि घटादि वस्तु की उपलब्धि

१ अनुभवविरोधात् । २ आवरणविनाशेत्यर्थ । ३ आदिशब्दग्रहणेण क्रमाद् दधिनवनीतमध्यादिक ग्राह्यम् । ४ अपिना पूर्वमादिशब्दग्रयोक्त समुच्चिनोति । ५ आधीयत इति दीपात्परमनुकूलप्रयत्नेन घटोपलब्धिप्रयोजक किमपि वस्तु घटेनोत्पाद्यत इत्यर्थ । ६ वक्ष्यमाणहेतो नस्मादित्युक्तम् । ७ व्यनक्ति प्रकाशेति । ८ पिण्डादिनेत्यादि । ९ उत्पत्ताविति तदुत्पत्तौ च घटाद्यर्थीय तत इति शेष । १० अत घटार्थिनो घटाद्युत्पत्तौ यत्नदर्शनात् । ११ शङ्कितमेव । १२ विवृणोति । १३ गृहादौ । १४ उपपादयति । १५ सोपीत्यादिसग्रहवाक्योक्तमर्थमित्यर्थ ।

त्वात् । क्वचिदावरणविनाशेऽपि यत्नः स्यात् । यथा कुड्यादिविनाशे । तस्मान्न नियमो-ऽस्त्यभिव्यक्त्यर्थिनाऽऽवरणविनाश एव यत्नः कार्य इति ।

नियमार्थवत्त्वाच्च । कारणे वर्तमानं कार्यं कार्यान्तराणामावरणमित्यवोचाम । तत्र यदि पूर्वाभिव्यक्तस्य कार्यस्य पिण्डस्य व्यवहितस्य वा कपालस्य विनाश एव यत्नः क्रियेत । तदा विदलचूर्णाद्यपि कार्यं जायेत । तेनाप्यावृतो घटो नोपलभ्यत इति पुनः प्रयत्नान्तरापेक्षैव । तस्माद्घटाद्यभिव्यक्त्यर्थिनो नियत एव कारकव्यापारोऽर्थवान् ।

कुम्भोपलब्धिरत आह—तस्मिन्निति । तत्र हेतुमाह—न हीति । अनुभवमनुसृत्य परिहरति—नेत्यादिना । किमिदानीमावरणभङ्गे प्रयत्नो नेत्येव नियमोऽस्तु नेत्याह—क्वचिदिति । अनियमं निगमयन्ननुभवविरोधाभावमुपसंहरति—तस्मादिति ।

किंचाभिव्यञ्जकव्यापारे सति नियमेन घटो व्यज्यते तदभावे नेत्यन्वयव्यतिरेकावधारितो घटार्थ. कुलालादिव्यापारस्तस्यार्थवत्त्वार्थमभिव्यक्त्यर्थं एव प्रयत्नो वक्तव्य आवरणभङ्गस्त्वार्थिक इत्याह—नियमेति । उक्तं स्मारयन्नेतदेव विवृणोति—कारण इत्यादिना । आवृत्तिभङ्गार्थे यत्ने

प्रकाशयुक्त होने पर ही होती है । दीवारादि के विनाश के समान कही-कही आवरणविनाश के लिए प्रयत्न भी हुआ करता है । इसलिए (आवरणविनाश और अर्थाभिव्यक्ति मे प्रयत्न दिखाई देने पर) पदार्थ की अभिव्यक्ति के इच्छुक को आवरणविनाश के लिए ही यत्न करना चाहिए—ऐसा कोई नियम नही है ।

इसके अतिरिक्त कुलालादि व्यापाररूप नियम की सफलता के लिए भी प्रयत्न करना चाहिए । मृदादि कारण मे विद्यमान पिण्डादि कार्य घटादि रूप अन्य कार्यों का आवरण होता है—ऐसे पहले कह आए है । पूर्वोक्त कथन मे यदि पूर्वाभिव्यक्त पिण्डकार्य की अथवा व्यवधानयुक्त कपाल की अविद्यमानता के लिए ही यत्न किया जायगा, तो उससे शकल और चूर्णादि कार्य भी सभव हो जायगा । (शकलचूर्णादि घट के आवरण मे कार्यान्तर सभव होने पर) तब तो आवृत घट की उपलब्धि नही होती—ऐसे पुन प्रयत्नान्तर की आवश्यकता बनी ही रहेगी । अत घटादि अभिव्यक्ति के

---

१ आवरणतिरस्कृतावर्थाभिव्यक्तौ च यत्नदर्शनात् । २ नियमस्य कुलालादिव्यापारस्यार्थवत्त्वात्सफलत्वादित्यर्थ । ३ मृदादौ । ४ पिण्डादि । ५ घटादीनाम् । ६ पूर्वोक्ते स्थित सतीत्यर्थ । ७ तर्हि । ८ तदेति—पिण्डाद्यावरणविनाशदशायाम् । ९ विदल शकलम् । १० समवेत् । ११ तेनेति—विदलचूर्णादिघटावरणकार्यान्तरसमवादित्यादि । १२ विदलादेरपि भङ्गे तद्व्यक्तिरिति चेन्नेत्याह पुनरिति यद्भङ्गावस्थाया विदलादे सकाशादयदपि तत्सजातीय विजातीय वा व्यवधानमापतेत्तस्मादावरणभङ्गे प्रयत्नश्चेत्तदा यावच्छून्य तत्सभवात्तद्भङ्गापेक्षायां घटाव्यक्तिरेव न स्यादिति भाव । १३ अन्वयव्यतिरेकावधारित । १४ स्वयमुपलब्धो । १५ नियमाभावमुपसहरन् । १६ अभिव्यञ्जकस्य कुलालादेर्व्यापारे । १७ घटाभिव्यक्त्यर्थं । १८ आवरणभङ्गस्त्वार्थिक इति—यत्र हि प्रकाशव्याप्त घटादिक तत्रैव तमोनिवृत्तिदर्शनात् प्रकाशस्य प्राथम्य तमोहानेस्तु पाश्चात्यमिति भाव । इदमेव भङ्ग्यन्तरेण—प्रकाशव्याप्त घटमृते तदावरकतमोनिवृत्त्यदर्शनात्तत्र प्रकाशस्य प्राथम्य तमोहानेश्च पाश्चात्य दृष्टमिति । इत्थ चात्र प्रक्रिया द्रष्टव्या—घटस्तावत्पूर्वमज्ञातो बाह्येन्द्रियद्वारा बुद्धिव्यावृत्त्या व्याप्यते, तद्व्याप्तश्चस्वगततमो ध्वस्तिविशिष्टो भवति, तत प्राकट्यभागी भवति ततश्चादानादिव्यवहार इति । १९ द्विविधत्वादावरणस्येत्यादिग्रन्थोक्तम् । २० नियमार्थवत्त्वमेव ।

तस्मात्प्रागुत्पत्तेरपि सदेव कार्यम् ।

अतीतानागतप्रत्ययभेदाच्च । अतीतो घटोऽनागतो घट इत्येतयोश्च प्रत्यययोर्वर्तमानघटप्रत्ययवन्न निर्विषयत्वं युक्तम् । अनागतार्थिप्रवृत्तेश्च । न ह्यसदर्थितया प्रवृत्तिर्लोके दृष्टा । योगिनां चातीतानागतज्ञानस्य सत्यत्वात् । असंश्चेद्भविष्यद्घट ऐश्वरं भविष्यद्घटविषयं प्रत्यक्षज्ञानं मिथ्या स्यात् । न च प्रत्यक्षमुपचर्यते । घटसद्भावे ह्यनुमानमवोचाम ।

यतो घटानुपलब्धिरतस्तदुपलब्ध्यर्थत्वेन नियतः सन्यत्नः सफलः स्यादिति फलितमाह—तस्मादिति । प्रकृतमभिव्यक्तिलिङ्गकमनुमानं निर्दोषत्वादादेयं मन्वानस्तत्फलमुपसंहरति—तस्मात्प्रागिति ।

कार्यस्य सत्त्वे युक्त्यन्तरमाह—अतीतेति । विमतं सदर्थं प्रमाणत्वात्संप्रतिपन्नवदित्यर्थः । तदेवानुमानं विशदयति—अतीत इति । अत्रैवोपपत्त्यन्तरमाह—अनागतेति । आगामिनि घटे तदर्थित्वेन लोके प्रवृत्तिर्दृष्टा न चात्यन्तासति सा युक्ता तेन तस्यासद्विलक्षणतेत्यर्थः । किं च योगिनामीशस्य चातीतादिविषयं प्रत्यक्षज्ञानमिष्टं तच्च विद्यमानोपलम्भनमतो घटस्य सदा सत्त्वमित्याह—योगिनां चेति । ईश्वरसमुच्चयार्थश्चकारः । भविष्यद्ग्रहणमतीतोपलक्षणार्थम् । ऐश्वरं यौगिकं चेति द्रष्टव्यम् । प्रसङ्गस्येष्टत्वमाशङ्क्याऽऽह—न चेति । अधिकबलं हि बाधकं न चानतिशयादेशादिज्ञानादधिकबलं ज्ञानं दृष्टमतो बाधकाभावान्न तन्मिथ्येत्यर्थः । तस्य सत्यत्वेऽपि पूर्वोत्तरकालयोरसद्घटविषयत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—घटेति । पूर्वोत्तरकालयोरिति शेषः ।

इच्छुक का (अन्वयव्यतिरेक रूप) नियत कारक व्यापार ही सफल होता है। इसलिए उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य विद्यमान ही है।

कार्य की विद्यमानता मे भूत-भविष्यत् प्रतीतियो का भेद भी हेतु है। भूत घट और भावी घट, इन प्रतीतियो का भी घट प्रतीति की तरह निर्विषय होना उचित नही है, क्योकि भावी घट के चाहने वाले की प्रवृत्ति देखी जाती है। अत्यन्त अविद्यमान पदार्थ की इच्छा से ससार मे किसी की प्रवृत्ति नही देखी जाती। इसके अलावा योगियो का भी भूत और भावी ज्ञान तो सदर्थविषयक ही हुआ करता है। (विपक्षबाधक तर्क कहते है—) यदि आगामी घट असत् माना जायगा, तो आगामी घटविषयक ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान भी अप्रामाणिक होगा। (ईश्वरसम्बन्धी, यौगिक और) प्रत्यक्ष ज्ञान कभी बाधित नही होता। घट की सत्ता मे पूर्वोक्त युक्तियाँ और अनुमान कह चुके है।

---

१ सत्यत्वादिति—सदर्थविषयत्वादित्यर्थः । २ विपक्षबाधकतर्कमाह—असंश्चेदित्यादिना । ३ मिथ्येति—अप्रमाणमित्यर्थः । ४ "प्रत्यक्षं नापि चेशस्य केनचित्प्रतिहन्यते । अपविद्धातिशीत्येव तज्ज्ञानं केन हन्यते ।" इति वार्तिकमप्यत्रानुसन्धेयम् । अपविद्धातिशीति निरतिशयमित्यर्थः । प्रत्यक्षम् ऐशं यौगिकं च ज्ञानम् । ५ उपचर्यते बाध्यते केनचिन्नेत्यर्थः । ६ हिना पूर्वोक्तयुक्त्यन्तराणि सूचयति । ७ प्रदर्शितेतिशेषः । ८ नियत —अन्वयव्यतिरेकावधारित । ९ अतीतभविष्यद्घटज्ञानम् । १० सद्घटालम्बनम् । ११ घटज्ञानत्वात् । १२ वर्तमानघटज्ञानवत् । १३. कार्यसत्त्व एव । १४ आगामिनि प्रवृत्तिदर्शनेन अत्यन्तासति प्रवृत्त्ययुक्तत्वेन चेत्यर्थः । १५ घटोत्पत्तितद्ध्वंसापेक्षया पूर्वोत्तरकालयोरित्यर्थः ।

विप्रतिषेधाच्च । यदि घटो भविष्यतीति कुलालादिषु व्याप्रियमाणेषु घटार्थं प्रमाणेन निश्चितम् । येन च कालेन घटस्य संबन्धो 'भविष्यतीत्युच्यते तस्मिन्नेव काले घटोऽसन्निति विप्रतिषिद्धमभिधीयते । भविष्यन्घटोऽसन्निति न 'भविष्यतीत्यर्थः । अयं घटो न वर्तत इति यद्वत् ।

अथ प्रागुत्पत्तेर्घटोऽसन्नित्युच्यते घटार्थं प्रवृत्तेषु कुलालादिषु तत्र यथा व्यापार-

---

घटस्य प्रागसत्त्वाभावे हेत्वन्तरमाह—विप्रतिषेधादिति । स हि कारकव्यापारदशायामसन्निवि कोऽयं कि तस्य भविष्यत्वादि तदा नास्ति कि वाऽर्थक्रियासामर्थ्यमाद्ये व्याहति साधयति— यदीति । घटार्थं कुलालादिषु व्याप्रियमाणेषु सत्सु घटो भविष्यतीति प्रमाणेन निश्चितं चेत्कथं तद्विरुद्ध प्रागसत्त्वमुच्यते । कारकव्यापारावच्छिन्नेन हि कालेन घटस्य भविष्यत्वेनातीतत्वेन वा भविष्यत्यभूदिति वा सबन्धो विवक्ष्यते । तथाच तस्मिन्नेव काले घटस्य तथाविधसत्त्वनिषेधे व्याहतिरतिव्यक्तेत्यर्थं । तामेवाभिनयति—भविष्यन्निति । यो हि कारकव्यापारदशाया भविष्यत्वादिरूपेणास्ति स तदा नास्तीत्युक्ते तस्य तस्यामवस्थाया तेनाऽऽकारेणासत्त्वमर्थो भवति। तथाच घटो यदा येनाऽऽकारेणास्ति स तदा तेनाऽऽकारेण नास्तीति व्याहतिरित्यर्थं ।

द्वितीयमुत्थापयति—अथेति । प्रागुत्पत्तेर्घटार्थं कुलालादिषु प्रवृत्तेषु सोऽसन्नित्यसच्छब्दार्थं

तथा भूत और भावी घट, निषेध होने पर विरोध भी आता है । यदि घट के लिए प्रवृत्त कुम्हार आदि को, प्रमाण के द्वारा घट की भविष्यत्व रूप सत्ता का निश्चय हो गया है, कि 'घट होगा' तो जिस वर्तमान काल से घट का सम्बन्ध होगा—ऐसा कहा जाता है, उसी समय में 'घट नहीं है', ऐसा विरुद्ध कथन होता है । "आगामी घट असत् है" इसका अर्थ है, कि घट उत्पन्न नहीं होगा । जैसे यह कहा जाय, कि यह घट नहीं है ।

और यदि ऐसा कहो, कि उत्पत्ति से पूर्व घट असत् है तो कुम्हार आदि के घट के लिए प्रवृत्त होने पर जिस प्रकार वहाँ व्यापार विशिष्टत्व रूप से कुम्हारादि विद्यमान हैं, उस प्रकार घट

---

१ अतीतानागतघटनिषेधे विप्रतिषेध प्रसज्येतेत्यर्थं । विप्रतिषेधो विरोध व्याहतिरिति यावत् । २ भविष्यतीति—प्रमाणेनेत्यन्वय । प्रमाणेन प्रमाणवाक्येनेत्यर्थं । ३ घटार्थं कुलालादिषु व्याप्रियमाणेषु सत्सु घटो भविष्यतीति प्रमाणवाक्येन घटस्य सत्त्व निश्चितं यदि तर्हि कथं येन च कालेन वर्तमानरूपेण सह भविष्यतीति वाक्येन घटस्य सम्बन्धोऽभिधीयते तस्मिन्नेव काले घटोऽसन्निति घटस्यासत्त्वमिति विरुद्धमुच्यत इति साध्याहार योजनीयम् पङ्क्ति । ४ घटस्य भविष्यत्वरूप सत्त्वमिति शेष । ५ कालेन वर्तमानेन । ६ इति वाक्येनेत्यर्थ । ७ व्याहतिरिति शेष । ८ असच्छब्दार्थमाह नेति । ९ घटोत्पत्ते प्राक् । १० तस्य अतीतानागतघटस्य । ११ भविष्यत्वादीति भविष्यत्वादिरूप सत्त्वमित्यर्थं । १२ वर्तमान काले । १३ विरोधमुपपादयति । १४ निश्चित भविष्यत्वादिरूपं सत्त्वम् । १५ तद्विरुद्धम् निरुक्तसत्त्वविरुद्धम् । १६ व्याहत्यन्तरमाह कारकेति । १७ कालेनेति सम्बन्धो विवक्ष्यत इत्यन्वय । १८ केन रूपेण च वाक्येनेत्यत्राह—भविष्यत्वेनातीतत्वेन वेति तेन तेन रूपेणेत्यर्थं । १९ भविष्यत्यभूदितीति- तेन वाक्येनेत्यर्थं । २० तथाचेति—उक्तविधया सबन्धस्य विवक्षितत्वे चेत्यर्थं । २१ तथाविधेति—भविष्यत्वादिरूपेत्यर्थं ।

रूपेण वर्तमानास्तावत्कुलालादयस्तथा घटो न वर्तत इत्यसच्छब्दस्यार्थश्चेन्न विरुध्यते। कस्मात्। स्वेन हि भविष्यद्रूपेण घटो वर्तते। न हि पिण्डस्य वर्तमानता कपालस्य वा घटस्य भवति। न च तयोर्भविष्यत्ता घटस्य। तस्मात्कुलालादिव्यापारवर्तमानतायां प्रागुत्पत्तेर्घटोऽसन्निति न विरुध्यते। यदि घटस्य यत्स्वं भविष्यत्ता कार्यरूपं तत्प्रतिषिध्येत। तत्प्रतिषेधे विरोधः स्यात्। न तु तद्भवान्प्रतिषेधति। न च सर्वेषां क्रियावतामेकैव वर्तमानता भविष्यत्त्वं वा।

अपि च चतुर्विधानामभावानां घटस्येतरेतराभावो घटादन्यो दृष्टो यथा घटाभावः

स्वयमेव विवेचयति—तत्रेत्यादिना। तत्र सिद्धान्ती ब्रूते—न विरुध्यत इति। कथं पुनः सत्कार्यवादिनस्तदसत्त्वमविरुद्धमित्याह—कस्मादिति। प्रागुत्पत्तेस्तुच्छव्यावृत्तिरूपं सत्त्वं घटस्य सिषाधयिषितं तच्चेद्भवानपि तस्य सदातनमर्थक्रियासामर्थ्यं निषेधन्ननुमन्यते नाऽऽवयोर्विप्रतिपत्तिरित्यभिप्रेत्याऽऽह—स्वेन हीति। ननु त्वन्मते सर्वस्य मृन्मात्रत्वाविशेषात्पिण्डादेर्वर्तमानता घटस्य स्यात्तस्य चातीतता भविष्यत्ता च पिण्डकपालयोः स्यादिति साङ्कर्यमाशङ्क्याऽऽह—न हीति। व्यवहारदशायां यथाप्रतिभासमनिर्वाच्यसंस्थानभेदाश्रयणादित्यर्थः। प्रागवस्थायां घटस्यार्थक्रियासामर्थ्यलक्षणसत्त्वनिषेधे विरोधाभावमुपपादितमुपसंहरति—तस्मादिति। उक्तमेव व्यतिरेकद्वारा विवृणोति—यदीत्यादिना। यदा कारकाणि व्याप्रियन्ते तदा घटोऽसन्निति तस्य भविष्यत्त्वादिरूपं तत्काले निषिध्यते चेदुक्तविधया व्याघातः स्यात्। न च तस्य तस्मिन्काले भविष्यत्त्वादिरूपं सत्त्वं निषिध्यते। अर्थक्रियासामर्थ्यस्यैव निषेधान्न तद्विरोधावकाशोऽस्तीत्यर्थः। न हि पिण्डस्येत्यादिना साङ्कर्यसमाधिरुक्तस्तमिदानीं सर्वतन्त्रसिद्धान्ततया स्फुटयति—न चेति। भविष्यत्त्वमतीतत्वं चेति शेषः।

कार्यस्य प्रागुत्पत्तेर्नाशाच्चोर्ध्वमसत्त्वाभावे हेत्वन्तरमाह—अपि चेति। तदेवानुमानतया

नहीं है—यह असत् शब्द का अर्थ करने पर (अर्थ क्रिया सामर्थ्य रूप सत्त्व निषेध से तुच्छ व्यावृत्ति रूप सत्त्व का) विरोध नहीं होता। ऐसा क्यों कहते हो? क्योंकि अपने भावी रूप से घट तो विद्यमान ही है। पिण्ड और कपाल की विद्यमानता हो, तो घट की विद्यमानता नहीं हो सकती, घट की भविष्यत्ता हो, तो पिण्ड और कपाल की नहीं हो सकती। इसलिए (निर्व्यापार घट की विद्यमानता सम्भव होने से) कुम्हार आदि के व्यापार की विद्यमानता में "उत्पत्ति से पूर्व घट असत है" ऐसा कहने में कोई विरोध नहीं आता। यदि घट का, जो भविष्यत् कार्यात्मक रूप स्वरूप है, उसका प्रतिषेध किया जाय, तो उसके प्रतिषेध करने पर विरोध होगा। आप तो उसका निषेध करते नहीं है। सभी क्रियावान कारकों की एक ही वर्तमानता या भविष्यता होती हो—ऐसा कहना भी ठीक नहीं।

इसके अतिरिक्त चार प्रकार के अभावों में, घट का अन्योन्याभाव, घट से अन्य वस्तु में भी

---

१ व्यापारविशिष्टस्वरूपेणेत्यर्थः। २ अर्थक्रियासामर्थ्यरूपसत्त्वनिषेधेन तुच्छव्यावृत्तिरूपसत्त्वं न विरुध्यत इत्यर्थः। ३ घटस्य स्वीयभविष्यच्च रूपेण वर्तमानत्वादित्यर्थः। ४ निर्व्यापारघटस्य सत्त्वसम्भवात्। ५ स्वीयम्। ६ भविष्यत् कार्यात्मकं रूपमित्यर्थः। ७ कारकाणाम्। ८ पूर्वपक्षीत्यर्थः। ९ पूर्वपक्षिणैवमभिहिते। १० कार्यासत्त्वम्। ११ पृच्छति। १२ प्रतीत्यनुरोधादित्यर्थः। १३ संस्थानमवयवसम्बन्धः। १४ विरोधाभावम्। १५ वाक्येनेत्यर्थः। १६ तेन-उक्तनिषेधेन, विरोधः—तुच्छव्यावृत्तिरूपसत्त्वस्य विरोधो नेत्यर्थः।

पटादिरेव न घटस्वरूपमेव । न च घटाभावः सन्पटोऽभावात्मकः किं तर्हि भावरूप एव[1]। एवं घटस्य प्रागप्रध्वंसात्यन्ताभावानामपि घटादन्यत्वं स्यात् । घटेन[2] व्यपदिश्यमानत्वाद्घटस्येतरेतराभाववत् । [3]तथैव भावात्मकताऽभावानाम् । एवं च सति घटस्य प्रागभाव इति[4] । न घटस्वरूपमेव प्रागुत्पत्तेर्नास्ति ।

स्पष्टयितुं दृष्टान्त साधयति—चतुर्विधानामिति । षष्ठी निर्धारणे । घटान्योन्याभावस्य घटादन्यत्वे तत्राप्यन्योन्याभावान्तराङ्गीकारादनवस्थेत्याशङ्क्याऽऽह—दृष्ट इति । न यौक्तिकमन्यत्वं किंतु घटो न भवति पट इति [5]प्रातीतिकं[6]तथा च घटाभाव[7] पटादिरेवेति पटादेस्ततोऽन्यत्वाद्घटान्योन्याभावस्यापि घटादन्यत्वसिद्धिरित्यर्थः । ननु घटाभाव पटादिरित्ययुक्तं विशेषण[8]त्वेन घटस्यापि पटाद्यन्तर्भावप्रसङ्गादिति चेन्मैवं दृष्टपदेन निराकृतत्वात् । घटाभावस्य पटादित्वाभावे[9]ऽपि न स्वात[10]न्त्र्यम- भावत्वविरोधात् । नापि तदन्योन्याभाव पटादेर्धर्मः संसर्गाभावान्त[11]र्भावापातात् । न च स घटस्यैव धर्मं स्वरूपं वा घटो घटो न भवतीतिप्रतीत्यभावादित्यभिप्रेत्याऽऽह—न घटस्वरूपमेवेति । यदि प्रतीतिमाश्रित्य घटान्योन्याभाव पटादिरिष्यते तदा पटादेर्भावस्याभावत्वविधा[12]नाद्व्या[13]घात इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । स्वरूप[14]पररूपाभ्यां सर्वं सद[15]सदात्मकमिति हि वृद्धाः । [16]तथा च पटादे. [17]स्वेनाऽऽत्मना भावत्वं घटतादात्म्याभावात्तदभावत्वं चेत्यव्याहतिरित्यर्थः । सिद्धे प्रतीत्यनुसारिणि

देखा जाता है । जिस प्रकार घटाभाव पटादि ही है, घट स्वरूप नही है । घटाभाव होने से पटाभाव-स्वरूप नही हो जाता । तो क्या होता है ? (अभावरूप के साथ साथ) भाव रूप भी होता है । इस प्रकार प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव भी घट से भिन्न है । घट के अन्योन्याभाव की तरह घट से इसका उपदेश किया जाता है । उसी प्रकार ('अभावा सन्त. घटाभिन्नत्वात पटवत्' अर्थात् अभाव है, घटाभिन्न होने के कारण, पट के सदृश) अभावो को भी भावरूपता है । ऐसा होने पर 'घट का प्रागभाव है' इस उक्ति से, "उत्पत्ति से पूर्व घटस्वरूप नही है" ऐसा सिद्ध नही होता ।

१ अयमेव शब्दोऽप्यर्थक , तथा च भावरूपोऽपीत्यभावत्वमपि समुच्चितम् । २ घटप्रागभावो घटध्वंस इत्येव घटविशेषणत्वेन व्यवह्रियमाणत्वादित्यर्थः । अनुमानरचना चात्रैव प्रागभावादयो घटाद्भिद्यन्ते घटविशेषणकत्वात् घटान्योन्याभाववत् । न च दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यम् घटान्योऽन्याभावस्य पटाद्यात्मनो घटान्यत्वाभावे घटस्य पटाद्यात्मत्वप्रसङ्गात् । न चान्योऽन्याभावस्यान्यत्वेऽनवस्थास्वरूपभेदाङ्गीकारेण परिहृतत्वादिति । ३ तथैवेत्यादिना—अभावा सन्त घटाद्भिन्नत्वात्पटवदित्यनुमान सूचित बोध्यम् । ४ उक्तयेत्यर्थः । ५ प्रतीतिप्रमाणकम् नहि दृष्टेऽनुपपन्न नामेति भाव । ६ प्रातीतिकत्वे च । ७ अभावविशेषणत्वेनेत्यर्थः । ८ नहि दृष्टेऽनुपपन्न नामेति भाव । दृष्टे-प्रत्यक्षे । ९ पटादित्वाभावेऽपीति, पटाद्यधिकरणरूपताऽनभ्युपगमेऽपीत्यर्थः । १० न स्वातन्त्र्यमिति—प्रतियोग्यनुयोगिनिरपेक्षत्व प्रतीतो नेत्यर्थ । सति स्वातन्त्र्येऽभावत्वमेव न स्यादभावस्य प्रतीतौ प्रतियोग्यादिनिरपेक्षत्वाभावात् स हि प्रतियोग्यादिविशिष्ट एव प्रतीयते घटाभाव पटाभाव इत्येव न स्वैरमिति । ११ संसर्गाभावस्वरूपत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । अनुयोगिस्वरूपत्वाभावत्वमन्योऽन्याभावत्वम् अनुयोगिसंसृष्टाभावत्व संसर्गाभावत्वमित्यभ्युपेत्येद द्रष्टव्यम् । १२ विधानादिति—अभिधानादित्यर्थः । १३ व्याघातो विरोध । १४ स्वरूपपररूपाभ्यामिति—निरपेक्षसापेक्षरूपाभ्यामित्यर्थः । पटादिनिरपेक्ष तु रूप घटस्य स्वीय पटादिप्रतियोगिसापेक्ष यत्तत्तस्य परकीय तथा च पटाद्यपेक्षया घटोऽभावरूपस्तन्निरपेक्षस्तु स भावरूप । १५ सदसदात्मकमिति—भावाभावोभयात्मकमित्यर्थः । १६ तथा चेति—सर्वस्योभयात्मकत्वे चेत्यर्थः । १७ स्वेनात्मनेति—स्वीयनिरपेक्षरूपेणेत्यर्थः ।

[1]अथ घटस्य [2]प्रागभाव इति घटस्य यत्स्वरूपं [3]तदेवोच्येत। [4]घटस्येतिव्यपदेशानुपपत्तिः। अथ कल्पयित्वा व्यपदिश्येत शिलापुत्र[5]कस्य शरीरमिति यद्वत्। [6]तथाऽपि घटस्य प्राग[7]भाव इति कल्पितस्यैवाभावस्य घटेन[8][9] व्यपदेशो न घट[10]स्वरूपस्यैव।

दृष्टान्ते विवक्षितमनुमानमाह—एवमिति। किं च तेषामभावानां घटाद्भिन्नत्वात्पटवदेव सत्त्व[11]मेष्टव्यमित्यनुमानान्तरमाह—तथेति। [12]अनुमानफलं कथयति—एवं [13]चेति। तेषां घटादन्यत्वे तस्यानाद्यनन्तत्वमद्वयत्वं सर्वात्मत्वं च प्राप्नोति। [14]सत्त्वे च [15]तेषामभावाभावाच्च भावाभावयोर्मिथः[16] संगतिरित्यर्थः।

ननु प्रसिद्धोऽभावो भाववदशक्योऽपह्नोतुमिति चेत्स तर्हि[17] घटस्य स्वरूपमर्थान्तरं वेति विकल्प्याऽऽद्यमनूद्य दूषयति—अथेत्यादिना। प्रागभावादेर्घटत्वेऽपि संबन्धं कल्पयित्वा घटस्येत्युक्तिरिति [18]शङ्कते—अथेति। संबन्धस्य कल्पितत्वे संबन्धिनोऽप्यभावस्य तथात्वं स्यादिति दूषयति—तथाऽपीति। [19]यत्र संबन्धं कल्पयित्वा व्यपदेशस्तत्र[20] न वास्तवो भेदो यथा राहुशिरसोस्तथाऽत्रापि कल्पिते संबन्धे भेदस्य तथात्वाद्वास्तवत्वं संबन्धिनोरन्यतरस्य स्यात्। न चाभावस्तथा सापेक्षत्वादतो घटस्तथेत्यर्थः।

पक्षान्तर में "घट का प्रागभाव", ऐसा घट का जो स्वरूप है, वही यदि कहा जाय; तो ("घटस्य") घट का, ऐसा व्यवहार ही नहीं बनता। यदि "शिलापुत्रक का शरीर" ऐसी कल्पना करके कहा जाय; तो भी "घट का प्रागभाव", इस कथन से कल्पित अभाव का ही घट सम्बन्धी व्यपदेश होगा, केवल घटस्वरूप का ही नहीं होगा। और यदि घट से घट के अभाव को भिन्न माना

१ पक्षान्तरे। २. प्रागभाव इति अभावान्तरोपलक्षणमेतत्। ३ उक्तया। ४. घटस्येत्यादि—भेदनिमित्तसम्बन्धार्थषष्ठ्यनुपपत्तिरित्यर्थः। ५ शिलानिर्मितपुत्रप्रतिकृतेः शरीरमात्ररूपत्वेऽपि सम्बन्धमारोप्य यथा व्यपदेश इत्यर्थः ६ उक्तरीत्या व्यपदेशोपपत्तावपि। ७. अभावान्तरोपलक्षणम्। अभावस्य घटरूपत्वे च घटस्याभाव इत्यस्य घटस्य घट इत्यर्थं स्यादित्यपि बोध्यम् ८. व्यपदेशान्वयीतिः। ९. घटसम्बन्धितया। १०. केवलस्यैव घटस्य। ११. सत्त्वमेष्टव्यमिति—भावरूपताऽभ्युपगन्तव्येत्यर्थः। १२. पूर्वोक्तसत्त्वभिन्नत्वसाध्यकोभयानुमानफलमिति बोध्यम्। १३. तेषां घटान्यत्वे सत्त्वे चानुमानेन साधिते सतीत्यर्थः। १४. घटादन्यत्वेऽपि तेषां घटसम्बन्धात् कुतोऽस्योक्तरूपतेत्याशङ्क्य सत्त्वानुमानफलमाह सत्त्वे चेति। घटसम्बन्धस्तु तेषां घटप्रागभावो घटध्वंस इत्येव घटविशेषणत्वेन प्रतीतिगोचरत्वादिति ध्येयम्। १५ तेषामित्यादि—अभावानां सत्त्वे भावरूपत्वेऽनुमानसिद्धे सति जगतीतलेऽभावानां दत्तजलाञ्जलित्वात् भावस्य घटादेरभावेन ध्वंसादिनाऽन्तत्वादिविघातकसम्बन्धाभावात्तस्य तत्त्वं निरुपसर्गमित्यर्थः। तेषामभाव. भावादिति वान्वयः अभावत्वाभावादित्यभावप्रधानत्वात्। १६. न मिथः सङ्गतिरिति—प्रागभावस्य घटादन्यत्वेन सत्त्वेन च घटस्य प्रागभावेन सम्बन्धाभावादनादित्वम्। प्रागभावेन सम्बन्धाभावादित्यस्याभावरूपत्वेनपराभिमतप्रागभावसम्बन्धाभावादित्यर्थः एवमुत्तरत्रापि। एवं ध्वंसस्यापि तथाविधत्वेन घटस्य ध्वंसाभावेन सम्बन्धाभावादनन्तत्वम् तथात्यन्ताभावस्यापि तथात्वेन घटस्यात्यन्ताभावेन सम्बन्धाभावादनुगततयाऽधिष्ठानत्वादद्वयत्वम्, एवं भेदस्याप्युक्तरूपत्वे न घटस्यान्योन्याभावासम्बन्धितया सर्वात्मत्वं च सिद्धम् अन्योन्याभावसम्बन्धिन एवासर्वात्मकस्य वादिभिरभ्युपगमादिति भावः। १७. परोक्तमभ्युपेत्य न तर्हीत्यादि। १८ शङ्कत इति—पुरुषस्य चैतन्यमितिवद्व्यपदेशोपपत्तिं समर्थयत इत्यर्थः। १९. ययो पदार्थयोः। २०. तयोः पदार्थयोः।

अथार्थान्तरं घटाद्घटस्याभाव इत्युक्तोत्तरमेतत् । किंचान्यत्प्रागुत्पत्तेः शशविषाणवदभावभूतस्य घटस्य स्वकारणसत्तासंबन्धानुपपत्तिः । द्विनिष्ठत्वात्संबन्धस्य । अयुतसिद्धानामदोष इति चेत् । न । भावाभावयोरयुतसिद्धत्वानुपपत्तेः । भावभूतयोर्हि युतसिद्धताऽयुतसिद्धता वा स्यान्न तु भावाभावयोरभावयोर्वा तस्मात्सदेव कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति सिद्धम् ।

किंलक्षणेन मृत्युनाऽऽवृतमित्यत आह—अशनाययाऽशितुमिच्छाऽशनाया सैव

कल्पान्तरमनुवदति—अथेति । अनुमानफलं यद्बुद्धिर्घटस्य कारणात्मना ध्रुवत्ववचनेन समाहितमेतदित्याह—उक्तोत्तरमिति । असत्कार्यवादे दोषान्तरमाह—किं चेति । स्वहेतुसंबन्धः सत्तासंबन्धो वा जन्मेति तार्किकाः । न च प्रागुत्पत्तेरसतः संबन्धस्तस्य सतोर्वृत्तेरित्यर्थः । युतसिद्धयो रज्जुघटयोर्मिथः संयोगे पृथक्सिद्धिरपेक्ष्यतेऽयुतसिद्धानां परस्परपरिहारेण प्रतीत्यनर्हाणां कार्यकारणादीनां मिथोयोगे पृथक्सिद्ध्यभावो न दोषमावहतीति शङ्कते—अयुतेति । परिहरति—नेति । उक्तमेव स्फोरयति—भावेति । व्यवहारदृष्ट्या कार्यकारणयोः साधितां तुच्छव्यावृत्तिमुपसहरति—तस्मादिति ।

नैवेहेत्यत्र सर्वस्य प्रागुत्पत्तेरसत्त्वशङ्का मृत्युनेत्यादिवाक्यव्याख्यानेन निरस्ता । सप्रति मृत्युशब्दस्यार्थान्तरे रूढत्वान्न तेनाऽऽवरणं जगतः संभवतीत्याक्षिपति—किंलक्षणेनेति । अनभिव्यक्तनामरूपमध्यक्षाद्ययोग्यमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतावस्थातिरिक्तं मायारूपं साभासं मृत्युरित्युच्यते । न हि सर्वं कार्यमवान्तरकारणादुत्पत्तुमर्हतीत्यभिप्रेत्याऽऽह—अत आहेति । कथं यथोक्तो मृत्युरश-

---

जाय तो (अभावों की सत्ता कथन से अभावत्व का ही अभाव प्रतिपादनरूप) इसका उत्तर कह चुके हैं । इसके अतिरिक्त खरगोश के सींग के समान अभावरूप घट का अपने कारण की सत्ता से सम्बन्ध होना, उत्पत्ति से पूर्व सिद्ध नहीं होता । क्योंकि सम्बन्ध तो दो में ही हो सकता है । अयुतसिद्ध पदार्थों में

---

१ उक्तोत्तरमेतदिति—अत्र-"प्रागभावस्तथाध्वंस इत्याद्यावाद्युदीरिता । अभावा ब्रह्मकार्यत्वात् मद्रूपास्युर्घटादिवत् ॥१॥ भावत्वस्याविशेषेऽपि यथा जलभुवोर्भिदा । भावावान्तरभेदा स्यु प्रागभावादयस्तथा ॥२॥ लोकप्रसिद्धिमुल्लङ्घ्य किं भावत्वदुराग्रहात् । कार्यं तवेति चेत्तेवा किं कार्यं वेदलङ्घने ॥३॥ अभावव्यवहारस्तु भावत्वेऽप्युपपद्यते । भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया ॥४॥" इति वार्तिकसारोक्ति—अत्र कयाचिद्व्यपेक्षयति प्रतियोग्याद्यपेक्षयेत्यर्थ । २ प्रागुत्पत्तेर्हि घटस्त्वन्मते शशविषाणवदभावभूत । ३ सतोरेवायुतसिद्धत्वन । ४ समदर्शनादितिभाव । ५ तस्मादिति कार्यसत्त्वे साधकसत्त्वात् असत्त्वे दोषस्योक्तत्वाच्च । ६. ध्वमानन्तर्यस्योपलक्षणम् । ७ किंलक्षणेनेति तत् किं स्वरूपमस्ति मृत्योर्यद् आवरण भवेदपितु नास्त्येव तादृश रूपमित्याक्षेपार्थ । ८ ब्रह्मात्मनेत्यर्थ । ९ कार्यस्य स्वहेतुना मृदादिना सग स्वस्मिन्सत्ताया वा स जनिरित्यर्थ । १० न च कार्यस्यात्यन्तासत्त्वाभावान्न शशशृङ्गसाम्यम् तस्य प्रागसतोऽत्यन्तासतो विशेषासिद्धेरिति भाव । ११ युतसिद्धि परस्परनिरपेक्षसिद्धिकत्वम् । १२ आदिना गुणगुणिजातिव्यक्त्यंशांश्यादिग्रह । १३ अनुपपत्तिमेव । १४ व्यावहारिकसत्त्वम् । १५ मृतौ यमे चेत्यर्थ । १६ मायारूपम्—मूलकारणम् । १७ सामासमिति—चिदधिष्ठानमित्यर्थ । अज्ञात ब्रह्मेति द्वयोर्निष्कृष्टार्थ । १८ ननु श्रुतौ भाष्ये च सूत्रकर्तृत्वो गृहीत्वेति प्रतीयते मृत्यो स्पष्टमशनायादिमत्त्वोक्तेरतोऽत्र मूल मृत्युशब्दितमित्याशङ्क्याह नहीति । १९ अवान्तरकारणादिति—हिरण्यगर्भरूपादित्यर्थ । २० अर्हतीति—अतो मूलकारणमेवात्र मृत्युशब्दितमिति शेष ।

मृत्योर्लक्षणं तया लक्षितेन मृत्युनाऽशनायया । कथमशनाया मृत्युरिति । उच्यते—अशनाया हि मृत्युः । हिशब्देन प्रसिद्धं हेतुमवद्योतयति । यो ह्यशितुमिच्छति सोऽशनायानन्तरमेव हन्ति जन्तून् । तेनासावशनायया लक्ष्यते मृत्युरित्यशनाया हीत्याह । बुद्ध्यात्मनोऽशनाया धर्म इति स एष बुद्ध्यवस्थो हिरण्यगर्भो मृत्युरित्युच्यते । तेन मृत्युनेदं कार्यमावृतमासीत् । यथा पिण्डावस्थया मृदा घटादय आवृताः स्युरिति तद्वत् । तन्मनोऽकुरुत । तदिति मनसो निर्देशः । स प्रकृतो मृत्युर्वक्ष्यमाणकार्यसिसृक्षया तत्कार्या-

नायया लक्ष्यते । न हि मूलकारणस्याशनायादिमत्त्वम् । अशनायापिपासे प्राणस्येति स्थितेरिति शङ्कते—कथमिति । मूलकारणस्यैव सूत्रत्वं प्राप्तस्य सर्वसंहर्तृत्वान्मृत्युत्वे सति वाक्यशेषोपपत्तिरिति परिहरति—उच्यत इति । प्रसिद्धमेव प्रकटयति—यो हीति । तथाऽपि प्रसिद्धं मृत्युं हित्वा कथं हिरण्यगर्भोपादानमत आह—बुद्ध्यात्मन इति । उक्तं हेतुं कृत्वा फलितमाह—इति स इति । ननु न तेन जगदाव्रियते मूलकारणेनैव तदावरणात्तत्कथं वाक्योपक्रमोपपत्तिरत आह—तेनेति । ननु हिरण्यगर्भे प्रकृते कथं श्रुतिर्नपुंसकप्रयोगस्तत्राऽऽह—तदिति मनस इति । वाक्यार्थमधुना कथयति—

कोई दोष नही आता—ऐसा कहना उचित नही । भाव और अभाव का अयुतसिद्ध होना सिद्ध नही होता । भाव पदार्थ ही युतसिद्ध अथवा अयुतसिद्ध होते है, भाव और अभाव अथवा पारस्परिक दो या अभाव नही होते । निष्कर्ष यह है, कि उत्पत्ति से पूर्व घट कार्य, सत् ही है ।

यह किस स्वरूप वाली मृत्यु से आवृत था ? इस पर श्रुति कहती है—अशनाया रूप से । *अशनाया नाम क्यों पड़ा—खाने की इच्छा का नाम अशनाया है, वही लक्षणा के द्वारा मृत्यु का बोधक* है, उससे लक्षित मृत्यु से अर्थात् अशनाया से (यह आवृत था) । अशनाया मृत्यु है—ऐसे कैसे कहते हो ? इस पर बतलाते है—क्योंकि अशनाया मृत्यु है । "हि" शब्द से श्रुति प्रसिद्ध हेतु को प्रकट करती है । जो भी भोजन की इच्छा करता है, वह अशनाया के अनन्तर ही जीव हत्या करता है । इस (प्रसिद्ध हेतु) से 'अशनाया" शब्द से मृत्यु लक्षित होती है, इसी से अशनाया हि" ऐसा श्रुति कहती है ।

अशनाया समष्टि बुद्धि तादात्म्यापन्न सूत्रात्मा का धर्म है, अत बुद्धि मे स्थित वह सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ ही मृत्यु कहा गया है । इसलिए मृत्यु से यह सब कार्य आवृत था । जिस प्रकार पिण्डावस्था-रूप मृत्तिका से घटादि आवृत है, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ रूप मृत्यु से जगत् व्याप्त था । (इस प्रकार कार्य की प्रागवस्था बतलाकर उसकी उत्पत्ति प्रक्रिया कहते है—) वह मन बनाया । 'तत यह शब्द

१ लक्षणम्—लक्षणया बोधकम् । २ तेनेत्यादि—तेन प्रसिद्धेन हेतुना अशनायया असौ अशनायावान् मृत्युर्लक्ष्यते इति युक्तमाह अशनाया हीति । ३ बुद्ध्यात्मन इति समष्टिबुद्धितादात्म्यापन्नस्य सूत्रात्मन इत्यर्थ । ४ इतीति यथोक्तसूत्रात्मनोऽशनाया धर्मवत्त्वादित्यर्थ । ५ एवं कार्यस्य प्रागवस्थामभिधाय तदुत्पत्तिप्रकारमाह तन्मन इति । ६ कार्यमिति विराडादीत्यर्थ । ७ यथोक्त मूलकारणाख्य । ८ प्राणस्येति—हिरण्यगर्भस्य समष्टिप्राणात्मतया ते समवेत इति भाव । ९ स्थितेरिति—सिद्धान्तादित्यर्थ । १० सर्वसंहर्तृत्वादिति अध्यात्मं वागादीनामधिदैवं चाग्न्यादीनां सर्वेषां संवर्गविद्योक्तानां संहर्तृत्वादित्यर्थ । ११ वाक्यशेष—अशनायया इति । १२ तथापीति—एवं हिरण्यगर्भस्य मृत्युत्वे सत्यपीत्यर्थ । १३ वाक्योपक्रमे मृत्युनैवेदमावृतमासीदित्युपक्रमवाक्यत्यर्थ ।

लोचनक्षमं मन:शब्दवाच्यं संकल्पादिलक्षणमन्त:करणमकुरुत कृतवान्। केनाभिप्रायेण मनोऽकरोदिति। उच्यते—आत्मन्व्यात्मवान्स्यां भवेयम्। अहमनेनाऽऽत्मना मनसा मनस्वी स्यामित्यभिप्रायः।

स प्रजापतिरभिव्यक्तेन मनसा समनस्कः सन्नर्चन्नर्चयन्पूजयन्नात्मानमेव कृतार्थोऽस्मीत्यचरच्चरणमकरोत्। तस्य प्रजापतेरर्चतः पूजयत आपो रसात्मिका पूजाङ्गभूता अजायन्तोत्पन्ना:। अत्राऽऽकाशप्रभृतीनां त्रयाणामुत्पत्त्यनन्तरमिति वक्तव्यं श्रुत्यन्तरसामर्थ्याद्विकल्पासंभवाच्च सृष्टिक्रमस्य। अर्चते पूजा कुर्वते वै मे मह्यं कमुदकमभूदि-

स प्रकृत इति। भूतसृष्टयतिरेकेण भौतिकस्य मनसः सृष्टिरयुक्तेति मत्वा पृच्छति—केनेति। अपञ्चीकृतानां भूतानां हिरण्यगर्भदेहभूतानां प्रागेव लब्धात्मकत्वात्तेभ्यो मनोव्यक्तिरविरुद्धेति मन्वानो ब्रूते—उच्यत इति। स्वात्मवत्त्वस्य स्वाभाविकत्वान्न तदाशंसनीयमित्याशङ्क्य वाक्यार्थमाह—अहमिति।

मनसो व्यक्तस्योपयोगमाह—स प्रजापतिरिति। ननु तैत्तिरीयकाणामाकाशादिसृष्टिरुच्यते तत्कथमिहापामादौ सृष्टिवचनं तत्राऽऽह—अत्रेति। सप्तम्या हिरण्यगर्भकर्तृकसर्गोक्तिः। त्रयाणां पञ्चीकृतानामिति यावत्। नन्वाकाशाद्या तैत्तिरीये सृष्टिरिह त्वबाद्येत्युदितानुदितहोमवद्विकल्पो भविष्यति नेत्याह—विकल्पेति। पुरुषतन्त्रत्वात्क्रियाया युक्तो विकल्पः सिद्धेऽर्थे तु पुरुषानधीने नासौ संभवत्यतः 'सृष्टिर्विवक्षिता चेदाकाशाद्यैव सा युक्ता 'विद्याप्रधानत्वात्तु नाऽऽदरः "सृष्टाविति भावः। अपामादौ सृष्टिवचनमनुपयुक्तं न सष्टुस्ताभिरेव पूजा सिध्यतीत्याशङ्क्या"ऽऽश्वमेधिकाग्नेरर्कनामसिद्धयर्थं

मन का निर्देश करता है। इस प्रकृत मृत्यु ने आगे कहे जाने वाले विराडादि कार्य की सृष्टि करने की इच्छा से उस कार्य की आलोचना मे समर्थ मनशब्दवाची सकल्पादि लक्षणो वाला अन्त करण बनाया। मन किसलिये बनाया? इस पर कहते है—मैं आत्मन्वी या आत्मवान् होऊं। अर्थात् मैं इस आत्मा से यानी मन से मनस्वी होऊं, इसलिए मन बनाया—यह अभिप्राय है।

उस प्रजापति ने अभिव्यक्त हुए मन से मनोयुक्त होकर अर्चन अर्थात् पूजा करते हुए अपने प्रति ही "मैं कृतार्थ हू इस प्रकार आचरण किया। उस प्रजापति की अर्चा अर्थात् पूजा करते हुए पूजा के अङ्गभूत द्रवात्मक जल उत्पन्न हुए। यहाँ (जल की उत्पत्ति) आकाशादि तीन महाभूतो की उत्पत्ति के पश्चात् हुई, ऐसा कहना चाहिए था क्योकि दूसरी श्रुतियो मे अन्यथा असिद्ध होता है एव सृष्टि का विकल्प करना भी सभव नही है। मृत्यु ने ऐसा माना था—'अर्चन यानी पूजा करते हुए

१ इत्यभिप्रायेण त मनोऽकुरुतेत्यर्थ। २ अभिप्रायवतोऽपि नाशकस्य सष्टृतेत्याशङ्क्य मोऽचमित्यस्यार्थमाह—स प्रजापतिरिति। ३ अत्र सूत्रात्मन सृष्टिविषये शक्तोऽस्मीति स्वसामर्थ्यालोचनमेवाचनमित्याह—आत्मानमेवेति। ४ चरणमकरोदिति—इत्याकारक सृष्टौ स्वसामर्थ्यालोचनाभिन्नमाचरणमकरोदित्यर्थ। ५ रसात्मिका द्रवात्मिका इत्यर्थ। ६ सामर्थ्यादिति—अन्यथानुपपत्तेरित्यर्थ। ७ इह वाजसनेयके। ८ अत इति—सिद्धस्य सृष्टिक्रमस्य पुरुषातन्त्रत्वादित्यर्थ। ९ समनन्तर विराज सर्गस्य निर्देक्ष्यमाणत्वात् सृष्टेर्विवक्षितत्वमुपेत्य अपां ग्रहणमुपलक्षणमित्युक्तम्। सम्प्रति सैवाविवक्षिता विद्यानिष्ठत्वादुपनिषदामित्याह—विद्याप्रधानत्वादिति। १० सृष्टाविति—तथा च प्रतिवेदान्त सृष्टिर्नानाविधेक्ष्यते, इति वार्तिकवचनमत्रानुसधेयम्। ११ आश्वमेधिकेति—अश्वमेधाङ्गभूतत्यर्थ।

आपो वा अर्कस्तद्यदपाᳪ शर आसीत्तत्समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्तताग्निः ॥२॥

जल ही अर्क है, (क्योंकि अर्क नामक अग्नि का वह हेतु है) उन जलो का जो (घृतपिण्ड के समान) स्थूलभाग था, वह एकत्रित हो गया और वही पृथिवी हो गया, अर्थात् जल से ब्रह्माण्ड निष्पन्न हुआ। उसके उत्पन्न होने पर वह प्रजापति रूप मृत्यु थक गया, उस थके हुए प्रजापति के शरीर से उसका सारभूत तेजोरस अग्नि निकल आया ॥२॥

येवममन्यत यस्मान्मृत्युस्तदेव[1] हेतोरर्कस्या[2]ग्नेरश्वमेधक्रतूपयोगिकस्यार्कत्व[3]मर्कत्वे हेतुरित्यर्थः। अग्नेरर्कनामनिर्वचनमेतत्। अर्चनात्सु[4]खहेतुपूजाकरणादप्संबन्धाच्चाग्नेरेत-द्गौणं नामार्क इति। य एवं यथोक्त[5]कर्मस्यार्कत्वं वेद [6]जानाति। कमुदकं वा नामसामान्यात्। ह वा इत्यवधारणार्थौ भवत्येवेति। अस्मा एवंविद[8] एवंविदर्थं भवति ॥१॥

[9]आपो वा अर्कः। कः पुनरसावर्क इति। उच्यते—आपो वै या अर्चनाङ्गभूतास्ता

तदुपयोगमुपन्यस्यति—अर्चत इति। कोऽसौ हेतुरित्यपेक्षायामर्चतिपदावयवस्या[10]कंशब्देन संगतिरिति मन्वानः सन्नाह—अर्कत्वमिति। एवं मृत्योरर्कत्वेऽपि कथमग्नेरर्कत्वमित्याशङ्क्य मृत्युसंबन्धादित्याह—अग्नेरिति। किमर्थमग्नेरर्कनामनिर्वचनमित्याशङ्क्यापूर्वसंज्ञा[11]योगस्य फलान्तराभावादुपासनार्थमित्याह—अग्नेरिति। निर्वचनमेव स्फोरयति—अर्चनादिति। फलवत्त्वाच्च यथोक्तनामवतोऽग्नेरुपास्तिरत्र विवक्षितेत्याह—य एवमिति ॥१॥

अपामर्कत्वश्च[12]श्रणाद्याग्नेरर्कत्वमिति शङ्कते—क पुनरिति। प्रकरण[13]माश्रित्य तासामर्कत्वमो-

---

मेरे लिए क अर्थात् जल हुआ है—इस हेतु से अर्क अर्थात् अश्वमेध याग मे उपयोगी विराड् अग्नि का अर्कत्व है अर्थात् यही उसके अर्कत्व मे हेतु है।' यह अग्नि के अर्क नाम का निर्वचन है। अर्चन से अर्थात् सुख की मूलभूता पूजा करने से तथा जल का सम्बन्ध होने से अग्नि का यह अर्क नाम गौण है। जो इस प्रकार उपर्युक्त अर्क के अर्कत्व की उपासना करता है उसे "क" उदक अथवा सुख होता है। "क" यह जल और सुख का समानार्थक है। 'ह' 'वा' यह अवधारणार्थक अव्यय हैं अर्थात् निश्चय ही उसके लिए जल या सुख होता है। उसे "एव विद" यानी इस प्रकार जानने वाले (अर्कत्वगुण विशिष्ट रूप से उपासना करने वाले) के लिए (जल या सुख) होता है ॥१॥

---

१ तदेवेति—तस्मादेव यथोक्तमननादेवेत्यर्थ। २ अग्नेरिति—वक्ष्यमाणविराड्रूपस्याग्नेरित्यर्थ। ३ अर्चनात् सुखहेरवम्भ सम्बन्धाच्चार्कनामा प्रजापतिरित्यर्थं। ४ सुखहेतुपूजाकरणादिति—अर्चनादित्यस्य विवरणमिदम् तथा चार्चनान्मृत्योरर्कत्व अब्द्वारकतरसम्बन्धतस्त्वग्नेस्तद्गौणमिति बोध्यम्। ५ बृ० १।२।१। ६ उपास्ते। ७ सुखम्। ८ एवविद इति-अर्कत्वगुणविशिष्टत्वेनोपासितुरित्यर्थ। ९ अथाद्भ्य-सकाशात्पृथ्वीद्वाराऽग्न्युत्पत्तिमाह-आपो वेति। १० अर्चतिपदावयवस्य अरित्यस्य अर्कशब्देन सङ्गति सम्बन्ध घटयतयत्यर्थं। ११ सम्बन्धस्य। १२ आपो वाऽर्क इति प्रकृतश्रुतौ श्रवणादित्यर्थ। १३ अग्ने-रेवास्मिन्प्रकरणे प्राधान्यादिति भाव। तथा चाभेर्मुख्य तद्धेतुत्वात्त्वपां गौणमर्कत्वम्।

एवार्कोऽग्नेरर्कस्य हेतुत्वात् । अप्सु 'ह्यग्निः प्रतिष्ठित इति । न पुनः साक्षादेवार्कस्ताः । तासामप्रकरणात् । अग्नेश्च' प्रकरणम् । वक्ष्यति 'चायमग्निरर्क इति'। तत्तत्र यदपां शर इव शरो' दध्न इव 'मण्डभूतमासीत्तत्समहन्यत 'संघातमापद्यत तेजसा बाह्यान्तःपच्यमानं लिङ्गव्यत्ययेन वा योऽपां शरः स समहन्यतेति सा पृथिव्यभवत्स संघातो येयं' पृथिवी साऽभवत् । ताभ्योऽद्भ्योऽण्ड'मभिनिर्वृत्तमित्यर्थः । तस्यां पृथिव्यामुत्पादितायां स मृत्युः प्रजापतिरश्राम्यच्छ्रमयुक्तो बभूव सर्वो हि लोकः' कार्यं कृत्वा श्राम्यति । प्रजापतेश्च

पचारिकमित्युत्तरमाह—उच्यत इति । 'तास्वन्तर्हिरण्मयमण्डं सबभूवेति श्रुतिमनुसरन्नुपचारे हेत्वन्तरमाह—अप्सु चेति" । मुख्यमर्कत्वमपां वारयति—न पुनरिति । ननु 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इतिन्यायात्प्रकरणादापो वा अर्क इति वाक्यं बलवदित्याशङ्क्य वाक्यसहकृतं प्रकरणमेव केवलवाक्याद्बलवदित्याशयवानाह— वक्ष्यति चेति । भूतान्तरसहितास्वप्सु कारणभूतासु पृथिवीद्वारा पार्थिवोऽग्निः प्रतिष्ठित इत्युक्तमिदानीं पृथिवीरूपं ताभ्यो दर्शयति—तदित्यादिना । अप्सु भूतान्तरसंहितासूत्पन्नासु सतीष्विति सप्तम्यर्थः । शर इव शर इत्युक्तमेव व्याचष्टे—दध्न इवेति । संघाते सहकारिकारणमाह—तेजसेति । यत्तदिति पदे नपुंसकत्वेन श्रुते कथं तयोः शरशब्देन कारणस्योच्छूनत्ववाचिना पुंल्लिङ्गेनान्वयस्तत्राऽऽह—लिङ्गव्यत्ययेनेति । उक्तानुपपत्तिद्योतनार्थो वाशब्दः । व्यत्ययेनान्वयमेवाभिनयति—योऽपामिति । वाक्यतात्पर्यमाह—ताभ्य इति । स्थूलप्रपञ्चात्मकविराजः सूक्ष्मप्रपञ्चात्मकसूत्रादुत्पत्ति यवतु "पातनिकामाह—तस्यामिति । उक्तेऽर्थे लोकप्रसिद्धि-

(जल और पृथ्वी से अग्नि की उत्पत्ति होने कारण) जल ही अर्क है । वह अर्क क्या है ? इस पर कहते है—अग्नि मे अर्क के हेतु होने से, पूजा का अङ्गभूत जल ही अर्क है । विराड जल मे अग्नि प्रतिष्ठित है । किन्तु उसका प्रकरण नही होने से, वह साक्षात् अर्क नही है। अग्नि के प्राकरणिकत्व होने से "पार्थिव अग्नि ही अर्क है' ऐसा आगे बतलायेंगे । वह उस जल का फेनरूपसारभूत के समान शर अर्थात् दही के सारभूत (घृतपिण्ड) के समान स्थूल भाग था, वह इकट्ठा हो गया । बाहर और भीतर के तेज से परिपक्व होकर कठिन हो गया । अथवा ("योऽपां शर") जो जल का शर है, इसमे लिङ्गव्यत्यय से, जो जल का स्थूल भाग था, वह एकत्रित हो गया ऐसा अर्थ होता है । वह पृथिवी हो गयी, सघात रूप प्रत्यक्षगोचर पृथिवी हो गयी । उस जल से विराड् शरीर उत्पन्न हुआ । उस पृथिवी के उत्पन्न होने पर वह मृत्यु रूप प्रजापति "अश्राम्यत्" अर्थात् श्रमयुक्त हो गया । सभी लोग कार्य करके थक जाते हैं । प्रजापति का यह महान् कार्य है जो उसने पृथिवी की सृष्टि की।

१ अग्निरिति—पार्थिवो विराड्रूपोऽग्निरित्यर्थः स च पृथिवीद्वाराप्सु प्रतिष्ठित इत्ययं टीकोक्तश्रुतेरेवार्थत सङ्ग्रह इति बोध्यम् । २ अग्नेश्चेति – अग्नेश्च प्राकरणिकत्वादित्यर्थः । ३ बृ०उ० १२७ । ४ शर.-सार उच्छूनेति यावत् । ५ मण्डभूतमिति – फेनरूपम् – सारभूतमिति यावत् । ६ सघातमापद्यतेति-कठिनमभूदित्यर्थः । ७ येयम्—प्रत्यक्षगोचरा । ८ अण्डमभिनिर्वर्तमिति – विराट् शरीरमभिनिष्पन्नमित्यर्थः । नानारस सूत्रात्मा स्वस्य स्थूलदेहमुक्तरीत्या सृष्टवानिति रहस्यम् यत स एव स्थूलाभिमानी विराड्व्यपदेशी, नानारस —अनेकरूप । ९ तास्वन्तरित्यादि तासु भूतान्तरसहितासु कारणभूतास्वप्सु अन्तर्हिरण्मयं ज्योतिर्मयम् अण्ड विराट् शरीरम् अग्न्याख्य सबभूवेत्यर्थ । १० तथा चार्काग्न्याश्रयत्वादपामर्कत्वमिति भाव । ११ विराट्—शरीरम् । १२ भूमिकायाम् ।

स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुताऽऽदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयँ स एष प्राणस्त्रेधा विहितः। तस्य प्राची दिक्शिरोऽसौ चासौ चेमौ। अथास्य प्रतीची दिक्पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ दक्षिणा चोदीची च

उस प्रजापति ने अपने को तीन प्रकार से विभक्त किया, उसने (अग्नि और वायु की अपेक्षा) आदित्य को तीन सख्याओ का पूरक बनाया। ऐसे ही वायु को तीसरा बनाया (और अग्नि को भी तीसरा बनाया) इस प्रकार यह प्राण (अग्नि वायु और आदित्य इन) तीन भागो मे विभक्त हो गया। उसकी पूर्वदिशा शिर है तथा ईशान्य और आग्नेयी विदिशाएं भुजाएं है। वैसे ही पश्चिमदिशा इसकी पुच्छ है और वायव्य तथा नैर्ऋत्य विदिशाएं जघाएं है। दक्षिण और उत्तर दिशाएं उसके पार्श्व भाग है,

तन्महत्कार्यं यत्पृथिवीसर्गः किं तस्य श्रान्तस्येत्युच्यते—तस्य श्रान्तस्य[1] तप्तस्य खिन्नस्य तेजोरसस्तेज एव रसस्तेजोरसो रसः सारो निरवर्तत प्रजापतिशरीरान्निष्क्रान्त इत्यर्थः। कोऽसौ निष्क्रान्तोऽग्निः सोऽण्डस्यान्तर्विरा[2]ट्प्रजापतिः प्रथमजः कार्यकरण[3]संघातवाञ्जातः। "स वै शरीरी प्रथमः"[4] इति स्मरणात् ॥२॥

स च जातः [5]प्रजापतिस्त्रेधा त्रिप्रकारमात्मानं [6]स्वयमेव कार्यकरणसंघातं व्यकुरुत व्यभजदित्येतत्। कथं त्रेधेत्याह—आदित्यं तृतीयमग्निवाय्वपेक्षया त्रयाणां पूरणम-

मनुकूनयति—सर्वो हीति। इदानीं [7]विराडुत्पत्तिमुपदिशति—किं तस्येत्यादिना। अग्निशब्दार्थं स्फुटयति—सोऽण्डस्येति। तस्य प्रथमशरीरित्वे मानमाह—स वा इति ॥२॥

विराजो ध्यानार्थम[8]वच्छेदभेदमाह—स चेति। कोऽस्य त्रेधाभावस्य कर्तेति वीक्षायामाह—स्वयमेवेति। कथमेकस्य त्रिधात्वमन्यथा[9] वा कथमेकत्वमित्याह—कथमिति। मृदो घटशरावाद्यनेकरूपत्व-

थकने पर प्रजापति को क्या हुआ? इस पर कहते हैं—। श्रान्त होने के कारण 'तप्तस्य' अर्थात् खिन्न हुए प्रजापति का 'तेजोरस' यानी तेज ही जो रस है वह तेजोरस, रस सार का भी नाम है, वह सार 'निरवर्तत' अर्थात् प्रजापति के शरीर से बाहर निकल गया। बाहर क्या निकल गया? अग्नि बाहर निकला। वह जो इस अण्डे के भीतर 'प्रथमज' यानी सबसे पहले उत्पन्न कार्यकारणसघाताभिमानी विराड्शब्दित अण्डाभिमानी आत्मा प्रजापति (चतुर्मुख ब्रह्मा नाम वाला) उत्पन्न हुआ। "वही विराड्भावापन्न शरीरी प्रथम हुआ" ऐसा स्मृति भी कहती है।

१. श्रान्तस्येति-हेतुगर्भमिदं विशेषणम् श्रान्तत्वात्तप्तस्येत्यर्थं। २ विराडित्यादि-विराट्छब्दिताण्डाभिमान्यात्मेत्यर्थं स च प्रजापतिप्रथमजचतुर्मुखब्रह्मेत्येवमादिनामक इत्यर्थं। ३ सङ्घातवानिति-सङ्घाताभिमानीत्यर्थं। ४ स वा इत्यादि स्मृते स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्ततेति ॥ शेषचरणानि अत्र तच्छब्दत्रयेण सूत्रात्मा परामृश्यते-स एव विराड्भावापन्न शरीरीत्युच्यते भूतानाम्-व्यष्टिकार्याणाम् अग्रे-व्यष्टिसृष्टे। ५ प्रजापति-विराड्रूपेणोत्पन्नो हिरण्यगर्भः। ६ स्वयमेव-हिरण्यगर्भ एवेत्यर्थ.। ७ विराड्देहाभिमान्युत्पत्तिमित्यर्थ। ८ अवच्छेदभेदम् उपाधिविशेषम् यत्रासावुपास्यस्तम्। ९. अन्यथेति-त्रिविधत्वाभ्युपगम इत्यथ।

पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्वचैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥३॥

द्युलोक पृष्ठ भाग है, अन्तरिक्ष उदर है और (अधोभाग में समानता होने के कारण) यह पृथिवी हृदय है। यह लोकादि स्वरूप प्रजापति अग्नि जल में स्थित है, इसे इस प्रकार अग्नि का जल में स्थित होना जानने वाला पुरुष जहाँ कहीं जाता है, वहाँ ही प्रतिष्ठित होता है ॥३॥

कुरुतेत्यनुवर्तते । तथाऽग्न्यादित्यापेक्षया वायुं तृतीयम् । तथा वाय्वादित्यापेक्षयाऽग्नि तृतीयमिति द्रष्टव्यम् । [1]सामर्थ्यस्य तुल्यत्वात्त्रयाणां संख्यापूरणत्वे । [2]स एष प्राणः सर्वभूतानामात्माऽप्यग्निवाय्वादित्यरूपेण विशेषतः स्वेनैव मृत्य्वात्मना त्रेधा विहितो विभक्तो न विराट्स्वरूपोपमर्दनेन । तस्यास्य प्रथमजस्याग्नेरश्वमेधोपयोगिकस्यार्कस्य[3]चित्यात्मकस्याश्वस्येव दर्शनमुच्यते । सर्वा हि पूर्वोक्तोत्पत्तिरस्य स्तुत्यर्थेत्य-विराजश्चित्यात्मकस्याश्वस्येव दर्शनमुच्यते । तस्य प्राची दिक्शिरो विशिष्ट[4]त्वसामान्यात् । असौ वोचाम—इत्थमसौ शुद्धजन्मेति ।

वद्विराजो बहुरूपत्वं साधयति—आहेत्यादिना । कथमग्नि तृतीयमित्यश्रुतं कल्प्यते तत्राऽऽह—सामर्थ्य-स्येति । वाय्वादित्ययोरिवाग्नेरपि संख्यापूरणत्वशक्तेरविशिष्टत्वादग्निं तृतीयमकुरुतेत्यु[6]पसंख्यायते स त्रेधाऽऽत्मानमिति चोपक्रमादित्यर्थः । ननु किमयं त्रेधाभावो विराट्स्वरूपोपमर्दनं क्रियते न हि स[7] तस्मिन्[8]सत्येव युक्तो विरोधादत आह—स एष इति । यथा तन्त्ववयवस्यानुपमर्दनेन मूलकारणात्पटो जायते तथा सर्वेषां भूतानां प्राणतया साधारणोऽप्ययं स्वेनैव स्वतन्त्रेणानुगतेन मृत्युरूपेण त्रेधाविभागस्य कर्ता । न चैकस्य बहुरूपत्वविरोधो मायादिवदुपपत्तेरित्यर्थः । तस्य प्राचीत्यादेस्तात्पर्यमाह—तस्येति । उक्ता-नि विशेषणानि [9]प्रकरणाविच्छेदार्थमनूद्यन्ते । [10]अग्निविषयं दर्शनमिदानीमुच्यते चेन्नैवेहेत्यादि [11]पूर्वोक्त-

(विराड् रूप से उत्पन्न) हिरण्यगर्भ ने अपने को कार्यकरण संघात रूप से 'त्रेधा' यानी तीन प्रकार से 'व्यकुरुत' यानी विभक्त किया। कैसे तीन प्रकार से किया? इस पर कहते हैं—उसने अग्नि और वायु की अपेक्षा आदित्य को तीसरा बनाया। तीन का पूरक किया; ऐसी अनुवृत्ति होती है। इसी प्रकार अग्नि और आदित्य की अपेक्षा वायु तृतीय है। तथा वायु और आदित्य की अपेक्षा अग्नि तृतीय है-ऐसा समझ लेना चाहिए। क्योंकि संख्या के पूरक के रूप में तीनों की सामर्थ्य समान है। (उपासक प्रत्यक्षता रूप से) वह यह प्राण सब प्राणियों का आत्मा होता हुआ भी, अग्नि, वायु और आदित्य रूप से, विशेषतः अपने मृत्युस्वरूप से, न कि विराट्स्वरूप का लय करके, तीन प्रकार का

१ सामर्थ्यस्येति - सत्यपि सामर्थ्ये पदार्थान्तरेष्वन्यत्रैतत्त्रितय एवैतदुपासनस्य दृष्टत्वादिहापि तथेति ध्येयम् ।
२ स एष इति - अपञ्चीकृतशरीरित्वेनाध्यक्षायोग्यतया स इति उपासकप्रत्यक्षतया चैष इति निर्देशः ।
३. चित्यात्मकस्येति - उपास्यस्येत्यर्थः । ४. विशिष्टत्वसामान्यादिति - अङ्गेषु मूर्ध्नः दिशां च प्राच्या उत्कृष्ट-तुल्यत्वादित्यर्थः । ५. विराज इति-विराड्भावमापन्नस्य हिरण्यगर्भस्येत्यर्थः । ६. उपसंख्यायत इति कल्प्यत इत्यर्थः । ७. स त्रेधाभावः । ८. तस्मिन्-विराट्स्वरूपे । ९. प्रकरणविच्छेदार्थमिति-एकमेव प्रकरणमिदं तत आरभ्य नतु भिन्नमिति बोधयितुमित्यर्थः । १०. अग्निविषयम् विराड्विषयमित्यर्थः । ११. पूर्वोक्तमिति-"मृत्युनैवेदमावृतमासीदित्यादीत्यर्थः" ।

चासौ चैशान्याग्नेय्यावीर्मौ बाहू। ईरयतेर्गतिकर्मणः। अथास्याग्नेः प्रतीची दिक्पुच्छं जघन्यो भागः। प्राङ्मुखस्य प्रत्यग्दिक्संबन्धात्। असौ चासौ च वायव्यनैर्ऋत्यौ सक्थ्यौ सक्थिनी पृष्ठकोणत्वसामान्यात्। दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे उभयदिक्संबन्धसामान्यात्। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमिति पूर्ववत्। इयमुरः। अधोभागत्वसामान्यात्। स एषोऽग्निः प्रजापतिरूपो लोकाद्यात्मकोऽग्निरप्सु प्रतिष्ठितः। "एवमिमे लोका अप्स्वन्तः" इति श्रुतेः। यत्र क्वच यस्मिन्कस्मिंश्चिदेति गच्छति तदेव तत्रैव प्रतितिष्ठति स्थितिं लभते।

ºमनर्थकमित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वा हीति। स्तुतिमेवाभिनयति—इत्थमिति। कर्माङ्गस्याग्नेः संस्कर्तव्यत्वाच्चित्याग्निशिरसि प्राचीदृष्टिः कर्तव्येत्याह—तस्येति। आरोपे साहश्यमाह—विशिष्टत्वेति। शिरसोऽनन्तरभावित्वात्तद्बाह्वोरैशान्यादिदृष्टिमाह—असौ चेति। कथमीर्मशब्दो बाहुवाचीत्याशङ्क्य तदुपपत्तिमाह—ईरयतेरिति। गत्यर्थयोगादीर्मशब्दो बाहुमधिकरोतीत्यर्थः। तत्पुच्छादिषु प्रतीच्यादिदृष्टीरध्यस्यति—अथेत्यादिना। चित्यस्याग्नेः शिरसि बाह्वोः प्राच्यादिदृष्टिकरणानन्तरमित्यर्थः। सक्थिपदं पृष्ठनिष्ठोन्नतास्थिद्वयविषयम्। उभयशब्देन प्राचीप्रतीचीद्वयं गृह्यते। उरसि पृथिवीदृष्टिमाह—इयमिति। उपास्यमग्निमुक्तमनुवदति—स एष इति। तस्योपासनार्थमेवाप्सु प्रतिष्ठितत्वं गुणमुपदिशति—अग्निरिति। भूतान्तरसहितानामपां सर्वलोककारणत्वादशेषलोकात्मकोऽग्निस्तत्र प्रतिष्ठितः संभवतीत्यत्र श्रुत्यन्तरं संवादयति—एवमिति। यथैतेषु लोकेषु सर्वं कार्यं प्रतिष्ठितं तथेति

हो गया। उस प्रथम उत्पन्न इस अग्नि की, अश्वमेधयाग उपयोगी अर्क की, चित्यात्मक उपास्य विराड् की, अश्व के समान दृष्टि कही जाती है। इसकी उत्पत्ति जो पूर्व मे कही गयी वह सब स्तुति के लिए है—यह कह चुके है। इस प्रकार यह शुद्ध जन्मा है—ऐसी स्तुति करते है। उत्कृष्टता रूप विशिष्टता मे समान होने के कारण पूर्व दिशा उसका शिर है। 'असौ चासौ' अर्थात् ईशान और आग्नेय विदिशाएँ 'ईर्मौ' अर्थात् भुजाएँ है। (ईर्म नाम क्यो पडा ?) 'ईरयते' जाती है। गत्यर्थक ईरधातु से ईर्म सिद्ध हुआ। और पश्चिम दिशा इस अग्नि की पुच्छ है, अर्थात् निम्न भाग है, क्योकि पूर्व दिशा की ओर मुख करने से पश्चिम दिशा मे पुच्छ का सम्बन्ध है। पृष्ठ भाग के कोण से समानधर्मी होने के कारण 'असौ चासौ' अर्थात् वायव्य और नैर्ऋत्य उसकी जङ्घाएँ है। दोनो दिशाओ मे पार्श्व भाग की समानता होने के कारण दक्षिण और उत्तर दिशाएं उसके पार्श्व है। उन्नतत्व साम्य से द्युलोक पीठ है एव सुषिरत्व साम्य से अन्तरिक्ष उदर है-ऐसा पहले कह चुके हैं। अधोभागत्व मे समानता होने के कारण यह पृथिवी उसका हृदय है। प्रजापति देवतास्वरूप लोकादिस्वरूप वह यह अग्नि जल

१ बाहू इति अत्र पार्श्वादिकसम्बन्धसामान्यादिति हेतुवाक्यं पूरणीयम्। अनयोर्बाह्वोः पार्श्वसम्बन्धो यथा तथाऽनयोरपि दिशोः पार्श्वत्वेन गम्यमानदक्षिणोत्तरदिक्सम्बन्धः समान इति तदर्थः। २ प्रत्यगित्यादि-प्रत्यग्दिक्संबन्धाश्रयत्वसामान्यादित्यर्थः सम्बन्धस्य दृष्टत्वादिति। ३ उन्नतत्वसामान्यात्। ४ अन्तरिक्षं पूर्ववदिति-सुषिरत्वसामान्यादित्यर्थः। ५ प्रजेत्यादि-प्रजापतिरत्र देवतारूपः। लोकरूप। आदिना कालरूपश्च बोध्यः। ६ अप्सु प्रतिष्ठित इति-अप्सु भूतान्तरसहितासु कारणभूतासु सूत्ररूपास्विति बोध्यम्। "यस्मात्कारणमुल्लङ्घ्य कार्यं नान्यत्र वर्तते। अप्सु कारणभूतासु तस्मादग्निः प्रतिष्ठित" इति वार्तिकोक्तेः। ७ अनर्थकमिति-उपासनाबोधकवाक्यशून्यत्वादिति भावः प्रकरणस्य चैतस्योपासनतिष्ठत्वादिति ध्येयम्। ८. जघन्याङ्गेषु। ९ भूतेत्यादिसूत्ररूपाणामित्यपि बोद्धव्यम्।

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनꣳ समभवदशनाया मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत् । न ह पुरा ततः संवत्सर आस

उस मृत्यु ने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो (जिसमे मैं शरीर धारी हो जाऊँ), इसीलिये उस क्षुधा से उपलक्षित मृत्यु ने मन के द्वारा वेदत्रयी की आलोचना की अर्थात् वेदविहित सृष्टिक्रम का मन से विचार किया। उससे जो वीर्य हुआ, वह सम्वत्सर बन गया, इससे पूर्व संवत्सर नही था। उस संवत्सर काल निर्माता गर्भस्थ प्रजापति को मृत्युरूप प्रजापति उतने समय तक गर्भ मे

कोऽसावेवं यथोक्तमप्सु प्रतिष्ठितत्वमग्नेर्विद्वान्विजानन्गुणफलमेतत् ॥३॥

सोऽकामयत योऽसौ मृत्युः सोऽबादिक्रमेणाऽऽत्मनाऽऽत्मानमण्डस्यान्तः कार्यकरण-संघातवन्तं विराजमग्निमसृजत त्रेधा चाऽऽत्मानमकुरुतेत्युक्तम् । स किंव्यापारः सन्न-

---

यावत्। लोकशब्देन स्थूलाना भूताना संनिवेशविशेषा गृह्यन्ते। अप्सु भूतान्तरसहितासु कारणभूतास्विति यावत्। फलश्रुतिं व्याचष्टे—यत्रेति। अथोपास्तिफलमप पुनर्मृत्युं जयतीत्यादिना वक्ष्यते। किमिदमस्थाने फलसकीर्तनमत आह—गुणेति ॥३॥

उत्तरग्रन्थमवतार्य तस्य पूर्वग्रन्थेन 'सबन्धं वक्तुं वृत्त कीर्तयति—सोऽकामयतेत्यादिना। प्रथा-न्तरव्यापारमन्तरेण कर्तृत्वानुपपत्तिरिति मत्वा पृच्छति—स किं व्यापार इति। कामनादिरूपमवान्तर-व्यापारमुत्तरवाक्यावष्टम्भेन दर्शयति—उच्यत इति। कामनाकार्यं मन.संयोगमुपन्यस्यति—स एवमिति।

मे प्रतिष्ठित है। श्रुति कहती है—"यह सब लोक जल के अन्तर्गत हैं—" वह जहाँ कही जिस किसी जगह 'एति' अर्थात् जाता है 'तदेव प्रतितिष्ठति' अर्थात् स्थिति लाभ करता है। वह कौन है? जो इस प्रकार उपर्युक्त अग्नि की जल मे प्रतिष्ठितत्व गुण से उपासना करता है। यह गुण मात्र की उपासना का फल है (गुणी की उपासना का फल नही है) ॥३॥

उसने कामना की। यह जो मृत्यु था उसने अपने से अपने आप को ही ब्रह्माण्ड के अन्दर कार्यकरण संघातात्मक विराड् अग्नि को रचा और अपने को तीन भागो मे विभक्त किया—ऐसा कहा जा चुका। उसने किस क्रिया से इसकी सृष्टि की? इस पर कहते है—उस मृत्यु ने 'अकामयत'

---

१ गुणमित्यर्थ। २ उपासीन। ३ गुणेति-गुणमात्रोपास्तिफल न तु गुण्युपास्तेरित्यर्थ। ४ बृ १२७

५ सम्बन्धमिति—उत्थाप्योत्थापकभावरूप सम्बन्धमित्यर्थ, तत्र पूर्वोक्तग्रन्थ उत्थापक उत्तरश्चोत्थाप्य इति ध्येयम् ॥ ६ सम्बन्धमिति—अन्योऽप्यत्र सम्बन्धान्तरमपि वार्तिक उक्तम् तथाहि 'अत्तृसर्गोऽयवोक्त प्रागन्नसर्गोऽधुनोच्यते। अशनायावतो यस्मान्नास्त्यन्नविरहात्स्थिति ॥' अस्यार्थ—तेजोरसो निरवर्ततानिरित्यत्रात्तु सर्ग उक्त अग्ने सर्वभक्षकत्वात् सम्प्रत्यन्नसर्गं उच्यत इति भाष्यीयसी सङ्गतिरित्यर्थ। किमर्थमन्नसर्गवचनमित्याशङ्क्याह—अशनायावत इति। अन्न हि विराज सृष्टि स्पष्टीक्रियते, 'अन्न विराडिति' च श्रुत वनीयोऽन्न करिष्य' इति च वक्ष्यत ततोऽप्यय सम्बन्धो युक्त इति भाव। वार्तिकान्तरम्—'त्रेधा व्यभजदात्मानमित्यतद्वा प्रदर्श्यते। अग्निप्राणौ पुरोक्तावथ सवत्सरोद्भव ॥" सम्बन्धान्तरमाह त्रेधेति। ननु आदित्य तृतीयमित्यादिना प्रागेव प्रजापतेस्त्रेधात्मत्वमुक्त तत्कथ तदुक्तमर्थमुत्तरवाक्य तत्राह - अग्निप्राणाविति। निरवर्ततााग्निरित्यग्निरुक्तो वायु तृतीयमिति वायु। यद्यप्यादित्य तृतीयमित्यादित्योऽप्युक्तस्तथापि तस्य सवत्सरात्मनो जन्मोक्त्यर्थमुत्तरा श्रुतिरित्यर्थं। अत्राग्निप्राणाविति प्राणशब्देन वायुर्विवक्ष्यत इति बोध्यम्।

तमेतावन्तं कालमबिभः । यावान्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत । तं जातमभिव्याददात्स भाणकरोत्सैव वागभवत् ॥४॥

धारण किये रहा जितना संवत्सर का परिमाण होता है। इतने समय के बाद उससे उसकी सृष्टि की अर्थात् उस अण्ड को फोड दिया। उस उत्पन्न हुए प्रथम शरीरी कुमार अग्नि के प्रति भक्षण के लिये मुख फाडा, स्वाभाविक अविद्या से युक्त होने के कारण उसने डरकर 'भाण' ऐसा शब्द किया, वही वाक् (शब्द) हुआ ॥४॥

सृजतेति । उच्यते—स मृत्युरकामयत कामितवान् । किम् । द्वितीयो मे ममाऽऽत्मा शरीरं येनाहं शरीरी स्यां स जायेतोत्पद्येतेत्येवमेतदकामयत । स एवं कामयित्वा मनसा पूर्वोत्पन्नेन वाचं त्रयीलक्षणां मिथुनं द्वंद्वभावं समभवत्संभवनं कृतवान्मनसा त्रयीमालोचितवांस्त्रयीविहितं सृष्टिक्रमं मनसाऽन्वालोचयदित्यर्थः । कोऽसावशनायया लक्षितो मृत्युः । अशनाया मृत्युरित्युक्तम् । तमेव परामृशत्यन्यत्र प्रसङ्गो मा भूदिति । तत्तत्र रेत आसीत् । तत्तत्र मिथुने यद्रेत आसीत्प्रथमशरीरिणः प्रजापतेरुत्पत्तौ कारणं रेतो बीजं ज्ञानकर्मरूपं त्रय्यालोचनायां यद्दृष्टवानासीज्जन्मान्तरकृतम् । तद्भावभावि-

---

कोऽस्य मनसा सह वाचो द्वंद्वभावस्तत्राऽऽह—मनसेति । वाक्यार्थमेव स्फुटयति—त्रयीविहितमिति । वेदोक्तसृष्टिक्रमालोचनं प्रजापतेर्नेदं प्रथमं संसारस्यानादित्वादिति वक्तुमनुशब्दः । 'सोऽकामयत' इत्यादौ सर्वनाम्नोऽव्यवहितविराड्विषयत्वमाशङ्क्य परिहरति—कोऽसावित्यादिना । कथं तया मृत्युर्लक्ष्यते तत्राऽऽह—अशनायेति । किमिति तर्हि पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—तमेवेति । अन्यत्रानन्तरप्रकृते विराडात्मनीति यावत् । अवान्तरव्यापारान्तरमाह—तदित्यादिना । प्रसिद्धं रेतो व्यावर्तयति—ज्ञानेति । ननु प्रजापतेर्न ज्ञानं कर्म वा संभवति तत्रानधिकारादित्याशङ्क्याऽऽसीदित्यस्यार्थमाह—जन्मान्तरेति । वाक्यस्यापेक्षितं पूरयित्वा वाक्यान्तरमादाय व्याकरोति—तद्भावेत्यादिना ।

अर्थात् चाहा। क्या चाहा ? मेरा दूसरा 'आत्मा' यानी शरीर होवे, जिससे मैं देहधारी होऊं। वह 'जायेत' अर्थात् पैदा होवे, ऐसा उसने चाहा। ऐसी इच्छा करके उसने पूर्वोत्पन्न मन से (वेदोक्त सृष्टिक्रम में) आलोच्य-आलोचक भाव रूप 'मिथुनम्' यानी द्वन्द्व भाव से त्रयीलक्षणा रूपा वाणी की 'समभवत्' यानी संभावना अर्थात् मन से वेदत्रयी की आलोचना की, वेदत्रयी-प्रतिपाद्य सृष्टिक्रम की मन से आलोचना की—ऐसा तात्पर्य है। वह कौन था ? अशनाया के द्वारा लक्षित मृत्यु। अशनाया मृत्यु है, ऐसा कह चुके है। उसी को यहाँ कहते हैं, ताकि अन्यत्र प्रसंग न हो जाय। 'तद्रेत आसीत्'

---

१ सूत्रम् । २ वेदोक्तसृष्टिक्रममिति यावत् । ३ द्वन्द्वभावमिति-द्वन्द्वभावश्चात्राऽध्यात्मप्रकरणे आलोच्यालोचकयोः सम्बन्धो विषयविषयित्वाख्यो न तु स्त्रीपुंसयोर्व्यतिकरोऽप्रस्तुतत्वात् तत्रालोच्यो वेदोक्तः सृष्टिक्रमः आलोचकं तु मनःशब्दितमन्तःकरणमिति ध्येयम् । ४ प्रतिपाद्यम् । ५ मिथुने इति-मनसा त्रय्यालोचने कृते सतीत्यर्थः । ६ ज्ञानकर्मरूपमिति-ज्ञानमुपासनं कर्म-उपासनसमुच्चितम् तयोर्भावना संतन्नितमात्मकमित्यर्थः । ७ जन्मान्तरकृतमिति-पूर्वकल्पे यजमानावस्थनार्जितम् अनन्तरकल्पादौ च फलायमानस्य तस्याविर्भूतं ज्ञानादित्रयमित्यर्थः । ८ तद्भावभावित इति-आविर्भूतज्ञानादिगन्धृत इत्यर्थः ।

तोऽपः[1] सृष्ट्वा तेन रेतसा - बीजेना[2]प्स्वनुप्रविश्याण्डरूपेण गर्भीभूतः स संवत्सरोऽभव-
त्संवत्सरकालनिर्माता संवत्सरः [3]प्रजापतिरभवत्।

[4]न ह पुरा पूर्वं ततस्तस्मात्संवत्सरकालनिर्मातुः प्रजापतेः संवत्सरः कालो नाम
नाऽऽस न [4]बभूव ह। तं संवत्सरकालनिर्मातारमन्तर्गर्भं प्रजापतिं यावानिह प्रसिद्धः काल
एतावन्तमेतावत्संवत्सरपरिमाणं कालमबिभर्भृतवान्मृत्युः[5]। यावान्संवत्सर इह प्रसिद्ध-
स्ततः परस्तात्किं कृतवान्। [6]तमेतावतः कालस्य संवत्सरमात्रस्य परस्तादूर्ध्वमसृजत
सृष्टवानण्डमभिनदित्यर्थः। तमेवं कुमारं जातमग्निं प्रथमशरीरिणमश[7]नायावत्त्वान्मृत्युर-

ननु संवत्सरस्य प्रागेव सिद्धत्वाद्य प्रजापतेस्तन्निर्माणेन तदात्मत्वमित्याशङ्क्योत्तरं वाक्यमुपा-
दत्ते—न ह पुरेति। तद्व्याचष्टे—पूर्वमिति। प्रजापतेरादित्यात्मकत्वात्तदधीनत्वाच्च संवत्सरव्यवहारस्-
याऽऽदित्यात्पूर्वं तद्व्यवहारो नाऽऽसीदेवेत्यर्थः। कियन्तं कालमण्डरूपेण गर्भो बभूवेत्यपेक्षायामाह—तमि-
त्यादिना। अवान्तरव्यापारमनेकविधमभिधाय विराडुत्पत्तिमाकाङ्क्षाद्वारोपसंहरति—यावानित्या-
दिना। कियं पूर्वमेव गर्भतया विद्यमानस्य विराजः सृष्टिस्तत्राऽऽह—अण्डमिति। विराडुत्पत्तिमुक्त्वा
[8]शब्दमात्रस्य सृष्टिं विवक्षुर्भूमिकां करोति—तमेवमिति। अयोग्येऽपि पुत्रभक्षणे प्रवर्तकं दर्शयति—अश-

अर्थात् उस मन से (त्रयी आलोचन रूप) मिथुन मे वह जो रेतस् हुआ, प्रथम शरीरी प्रजापति से
उत्पत्ति मे हेतुभूत जो बीज रूप रेतस हुआ अर्थात् वेदत्रयी की आलोचना करने पर उसने जो
जन्मान्तरकृत उपासना कर्म रूप बीज देखा। उस बीज रूप से आविर्भूत ज्ञानादि मे सहकृत (पञ्ची-
कृतभूत) जल की सृष्टि कर, उस रेतस् रूप बीज के द्वारा जल मे प्रविष्ट होकर, ब्रह्माण्ड रूप से
गर्भस्थ हो, वह सवत्सर हुआ। अर्थात् वह सवत्सर रूप काल का निर्माता आदित्यात्मक सवत्सर
प्रजापति हुआ।

उस सवत्सर रूप काल के निर्माता प्रजापति से पूर्व आदित्यात्मक सवत्सर नाम
(आदित्य के उदय के आधीन होने के कारण) काल नहीं था। उस सवत्सर काल के निर्माता अन्तर्गर्भ

१ अप सृष्ट्वेति पञ्चीकृतभूतान्युत्पाद्येत्यर्थ। २ अप्स्विति-सृष्टेषु भूतेष्वित्यर्थ। ३ प्रजापतिरिति-आदित्यात्मक सवत्सरोऽभवदित्यर्थ। आदित्यसवत्सरयो प्रयोज्यप्रयोजकभावादभेद इति बोध्यम्। ४ बभूव हेति हेति प्रसिद्धो न हि तत पूर्वं सवत्सरो नाम आदित्योदयाधीनत्वात्तन्निश्चयस्येतिभाव। ५ भृतवान्मृत्युरिति-मृत्युरेव स्वय गर्भीभूत आसीदित्यर्थ। ६ तमिति विराजमादित्यमित्यर्थ। ७ अशनायावत्त्वादिति-तथा च वार्त्तिकम्— "अशनायादिमत्त्वात्स स्वभावबलचोदित। सृष्ट्वाद्य घस्मरः पुत्र तमभिव्याददात्क्षुधा॥" इति मृत्युर्हि ग्रसनशीलस्तेनैव हिंसास्वभावेन चोदित क्षुत्पिपासायुक्त-भिनत्ति सर्वमर्यादा नान्वयाद्यप्यपेक्षते।" इति मृत्युर्हि ... ज्येष्ठ पुत्र सृष्ट्वा तमत्तुमभिमुखत्वेन मुख विदारितवानित्यर्थ। पुत्रमत्तु प्रवृत्तस्य स्रष्टुर्मर्यादाभङ्ग स्यादित्याशङ्क्याह क्षुधेति। अशनायाद्युपद्रुतो मर्यादा भिन्दानोऽपि स्व पर च दृष्ट्वेवाशने प्रवर्तत इत्याशङ्क्याह नान्वयेति आदिनाऽभोज्यादिगृह्यते मर्यादाभेतृत्वबदित्यपेरर्थ। न चाविवेकिनामेव प्रवृत्तावपि न विवेकिमूढाभिपिक्तस्य प्राणस्येदृशी प्रवृत्तिर्युक्तेति वाच्यम् व्यवहारदशाया विवेकिनामपि पश्वादिभिरविशेषात्। "अस्य दग्धोदरस्यार्थे को न कुर्यादसाम्प्रतम्" इति तैरेवोक्ते क्षुत्पिपासापीडित पुत्रमपि भक्ष्यति किं पुनरन्यत्र करोतीति न्याय प्रदर्शयितु प्राणस्य मृत्यो स्वपुत्रभक्षणे प्रवृत्तिरिति भाव। ८. सिद्धान्ते सत्कार्यवादाभ्युपगमात्पृच्छति नेयमिति।
९ शब्दमात्रस्येति - यावदभिधानस्येत्यर्थ।

स ऐक्षत यदि वा इममभिमꣳस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति स तया वाचा तेनाऽऽत्मनेदꣳसर्वमसृजत यदिदं किंचर्चो यजूꣳषि सामानि छन्दाꣳसि यज्ञान्प्रजाः

उस मृत्यु ने विचार किया, यदि मैं इस कुमार को मार डालूगा तो मैं यह बहुत ही थोडा भोजन करूंगा । अत उसने उस वाणी और उस मन के द्वारा इन सबकी सृष्टि की जो कुछ भी ये ऋक यजु, साम, छन्द, यज्ञ, प्रजा तथा पशु है—(इन सभी को बनाया) । उसने जिस-जिस वस्तु की

भिव्यादददान्मुखविदारणं कृतवानत्तुम् । स च कुमारो भीतः स्वाभाविक्याऽविद्यया युक्तो भाणित्येवं शब्दमकरोत् । सैव वागभवद्वाक्शब्दोऽभवत् ॥४॥

'स ऐक्षत स एवं भीतं कृतरवं कुमारं दृष्ट्वा मृत्युरैक्षतेक्षितवान् । 'अशनायावानपि यदि कदाचिद्वा 'इमं कुमारमभिमंस्ये । अभिपूर्वो मन्यतिर्हिसार्थः । हिंसिष्य इत्यर्थः ।

नायावत्त्वादिति । विराजो भयकारणमाह—स्वाभाविक्येति । इन्द्रिय देवता च व्यावर्तयति—वाक्शब्द इति ॥४॥

इदानीमृगादिसृष्टिमुपदेष्टु पातनिका करोति—स इत्यादिना । ईक्षणप्रतिबन्धकसद्भाव दर्शयति—अशनायावानपीति । अभिपूर्वो मन्यतिरिति । रुद्रोऽस्य पशूनभिमन्येत नास्य रुद्र पशूनभिमन्यत

प्रजापति को एक सवत्सर व्यापी काल तक, जो कि प्रसिद्ध है, मृत्यु ने धारण किया । 'अर्थात् मृत्यु स्वय गर्भीभूत हुई ।) सवत्सर पर्यन्त जितना कि प्रसिद्ध है, रखा, तब बाद मे क्या किया ? विराड् आदित्य को सवत्सरमात्र काल के पश्चात् उसने ऊपर सृजन किया अर्थात् अण्डे को विदारण कर दिया । उससे प्रथम शरीरी अग्नि बालक हुआ, भूखी मृत्यु ने उसे खाने के लिए मुँह फाडा । स्वाभाविकी अविद्या से युक्त डरे हुए उस बालक ने "भाण्" ऐसे शब्द किया । वही वाक् हुआ, वाक् अर्थात् शब्द हुआ ॥४॥

(शिशु क शब्द करते हुए क्षण मे) उसस सोचा—इस प्रकार डरे हुए शब्द करने वाले उस शिशु को देखकर मृत्यु ने 'ऐक्षत' अर्थात् विचार किया । क्षुधायुक्त होने पर भी यदि मैं (स्रष्टव्य अन्न मे हेतुभूत) इस शिशु को 'अभिमस्ये' अर्थात् मार डालगा । अभिपूर्वक मन् धातु हिंसार्थ म होता है ।

---

१ स भाणकरोदित्यस्य सहेतुकमर्थमाह—स चेति मृत्युना मुखविदारणे कृते सति स चोत्पन्न कुमारो भीत सन् भाणित्येव शब्दमात्रमकरोदिति सम्बन्ध । २ अविद्ययेति—उपलक्षणमेतत्कर्मादीनामपि-तदुक्तम् 'जन्मान्तरसमभ्यस्ताविद्याकर्मादिहेतुत । जन्यकर्मप्रयुक्त सन् शिशुर्भाणत्यथाकरोत् ॥ अत्र जन्येत्यादे जनिष्यमाणप्राणिकर्मप्रयुक्त इत्यर्थ ।' यथोक्तहेतुवशाग स्वभावप्रहितोऽप्यसु । कुमारोत्यरवत्रस्त स्वभाव चिच्छिदे भयात् ॥ अत्यन्तमपि शूराणां स्वस्वभावैकहेतुन । तित्तिरादिसमुत्पाते वेपथुर्जायते भयात् ॥ इत्यर्थ । ३ स इति शिशुसरावसलक्ष्यालोचनलक्षण इत्यर्थ । ४ ननु तस्य सर्वज्ञत्वादीक्षण स्वत एव सम्भवति किंनिमित्तविशेषोक्त्येत्याशङ्क्याह अशनायेति । अशनायावत्त्वेऽपि तस्यातिनिपुणत्वादुक्तनिमित्तवशादीक्षण समुत्पन्नमेवेत्यर्थ । ५ इममिति स्रष्टव्यान्नहेतुभूतमित्यर्थ ।

पशून् । स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वꣳ सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥५॥

रचना की उन सभी का खाने का विचार किया, वह सबको खाता है, यही उस अदिति या अदितित्व है। जो इस प्रकार इसके अदितिपन को जानता है, वह इस सभी का भोक्ता हो जाता है और य सब उसके अन्न हो जाते हैं ॥५॥

कनीयोऽन्न करिष्ये कनीयोऽल्पमन्न करिष्य इत्येवमीक्षित्वा तद्भक्षणादुपरराम । वहु ह्यन्न कर्तव्य दीर्घकालभक्षणाय न कनीय । तद्भक्षणे हि कनीयोऽन्न स्याद्बीजभक्षण इव सस्याभाव । स एव प्रयोजनमन्नबाहुल्यमालोच्य तयैव वाचा पूर्वोक्तया तेनैव चाऽऽत्मना मनसा मिथुनीभावमालोचनमुपगम्येद सर्वं स्थावर जङ्गम चासृजत यदिद किंच यत्किंचेदम् । किं तत् । ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांसि च सप्त गायत्र्यादीनि

इत्यादि शास्त्रमत्र प्रमाणयितव्यम् । अन्नस्य कनीयस्त्वे का हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—वहु हीति । तथा तस्यान्नात्मकत्वात्तदुत्पादकत्वाच्चेति शेष । ऽपि विराजो भक्षणे का क्षतिस्तत्राऽऽह—तद्भक्षणे हीति । यथोक्तेक्षणानन्तर मिथुनभावद्वारा त्रयीसृष्टि कारणनिवृत्तौ कार्यनिवृत्तिरित्यत्र दृष्टान्तमाह—बीजेति । जगत सृष्टेरुक्तत्वात्किं पुनरुक्त्येत्या प्रस्तौति—स एवमिति । ननु विराज सृष्ट्या स्थावरजङ्गमात्मनो गायत्र्यादीनीत्यादिपदेनोष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगती शयेन पृष्ट्वा परिहरति—किं तदिति ।

तो 'कनीयोऽन्न करिष्ये' अर्थात् कम अन्न कर लूंगा, इस प्रकार विचार कर उसने उसे नही खाया। वहुत समय तक खाते रहने के लिए अधिक अन्न करना चाहिए कम से काय नही होगा। बीजभक्षण से अन्ना भाव हो जाने के समान इसे खा लेने पर थोडा ही अन्न होगा। इस प्रकार भक्षण से उपराम हो अ की बाहुल्यता के लिए विचार कर उस पूर्वोक्त भाणात्मिका वाक तथा उसी कुमारभावापन्न आत्मना

१ बीजभक्षण इवेत्यादि ननु कुलालाभावे घटवत् विराडभावेऽपि स्यादन्नमिति चेत्सत्यम् यद्यपि समुत्पन्नो घट कुलालाभावेऽपि तिष्ठति तथापि तदभावेन जायते न चोपादानाभावे भावकार्यस्य सभवो न हि बीजमङ्कु रोपादान भक्षितवता तत्कारणोऽङ्कुरो लभ्यतऽतो विराडभाव जन्माभावादन्नस्य समृद्धिदूरनिरस्तेत्यर्थ । २ प्रयोजनमिति—भक्षणोपरते फलमित्यर्थ । ३ पूर्वोक्तयेति—भाणात्मिकया कुमारवदननिर्गतयेत्यर्थ । ४ आत्मनेति–आत्मीयकुमारेण तद्भावापन्नेन स्वेनेति वार्थ । ५ मिथुनीत्यादि मिथुनीभावाख्य त्रय्यालोचन वृत्त्वेत्यर्थ ६ असृजतेति—एव वाच्यवाचकरूप जगद्विराजा तन्मुखोत्थया वाचा च उत्पादितवान् प्रजापतिरित्यर्थ तथा च वार्तिकम् कुमारवदनोद्गतया वाचर्गादीन् ससर्ज स । पश्वादीश्च कुमारेण ह्यात्मनाऽजीजनज्जगत् । इति न हि तनुभूनयोक्तत्रय्यैव त्रय्या सृष्टि न चाव्यक्ता त्रयी तद्व्यक्तिहेतुस्तयेयनन्तरप्रकृतकुमारमुखनिर्गतवाग्ग्रहण सभवे विनष्टकल्पनाऽनवकाशादिति भाव । ७ किंचेत्यादि—किंच यदिदमिति योज्यम् । ८ ऋच —नियता क्षरपादबद्धमन्त्रा । ९ यजूंषि—अविवक्षितछन्दस्कास्ते । १० सामानि—स्तोभविशिष्टा मन्त्रा स्तोभान्च हुफडाद्यनर्थकशब्दा । ११ मिथुनीभावद्वारेति सृष्टिक्रमालोचनद्वारेत्यर्थं ।

स्तोत्रशस्त्रादिकर्माङ्गभूतांस्त्रिविधान्मन्त्रान्गायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टान्यज्ञांश्च तत्साध्यान्प्रजास्तत्कर्त्रीः पशूंश्च ग्राम्यानारण्यान्कर्मसाधनभूतान् । ननु त्रय्या मिथुनीभूतयाऽसृजतेत्युक्तमृगादीनीह कथमसृजतेति, नैष दोषः । मनसस्त्वव्यक्तोऽयं मिथुनीभावस्त्रय्या बाह्यस्तु ऋगादीनां विद्यमानानामेव कर्मसु विनियोगभावेन व्यक्तीभावः सर्ग इति ॥

स प्रजापतिरेवमन्नवृद्धिं बुद्ध्वा यद्यदेव क्रियां क्रियासाधनं फलं वा किंचिदसृजत तत्तदत्तुं भक्षयितुमध्रियत धृतवान्मनः सर्वं कृत्स्नं वै यस्मादत्तीति तत्तस्माददितेरदितिनाम्नो मृत्योरदितित्वं प्रसिद्धम् । तथाच मन्त्रः "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता

छन्दांस्युक्तानि । केवलानां छन्दसां सर्गासंभवात्तदारूढानामृग्यजुःसामात्मनां मन्त्राणां सृष्टिरत्र विवक्षितेत्याह—स्तोत्रेति । उद्गात्रादिना गीयमानमृग्जातं स्तोत्रं तदेव होत्रादिना शस्यमानं शस्त्रम् । स्तुतमनुशंसतीति हि श्रुतिः । यन्न गीयते न च शस्यतेऽध्वर्युप्रभृतिभिश्च प्रयुज्यते तदप्यत्र ग्राह्यमित्यभिप्रेत्याऽऽदिपदम् । अत एव त्रिविधानित्युक्तम् । अजादयो ग्राम्याः पशवो गवयादयस्त्वारण्या इति भेदः । कर्मसाधनभूतानसृजतेति संबन्धः । स मनसा वाचं मिथुनं समभवदित्युक्तत्वात्प्रागेव त्रय्याः सिद्धत्वान्न तस्याः सृष्टिः श्लिष्टेति शङ्कते—नन्विति । व्यक्ताव्यक्तविभागेन परिहरति—नेत्यादिना । इति मिथुनीभावसर्गयोरुपपत्तिरिति शेषः । 'अत्तृसर्गश्चाद्यसर्गश्चे'ति द्वयमुक्तम् ।

इदानीमुपास्यस्य प्रजापतेर्गुणान्तरं निर्दिशति—स प्रजापतिरित्यादिना । कथं मृत्योरदिति-

यानी मन से वेदत्रयी का आलोचन रूप मिथुन भाव को प्राप्त होकर इस जड़-चेतन संसार की रचना की । 'यदिदं किंच' अर्थात् जो भी कुछ यह है । यह क्या है ? ऋक्, यजु, साम, गायत्री आदि सात छन्द अर्थात् गायत्री आदि छन्द विशिष्ट स्तोत्र-शस्त्रादि कर्मों के अङ्गभूत तीनों प्रकार के मन्त्र और यज्ञ, उसकी साध्य प्रजा और उस कर्म के साधनभूत ग्राम्य और वन्य पशुओं की रचना की, यदि कहो, मन द्वारा मिथुनीभूत वेदत्रयी से आदित्यात्मक संवत्सर की रचना की, पहले यह कहा था—तो फिर ऋगादि की सृष्टि कैसे हुई ? ऐसा कहना ठीक नहीं है । मनका जो वेदत्रयी से मिथुनीभाव है, वह अव्यक्त है । विद्यमान उन ऋगादि का ही कर्मों में विनियोग रूप से जो बाह्य व्यक्तीभाव है यही उसकी सृष्टि है ।

१. त्रय्यामिथुनीभूतयाऽसृजतेति—मनसा मिथुनीभूतया त्रय्याऽऽदित्य संवत्सरमसृजतेत्यर्थः तदात्मना स्वयमेवाऽजायतेति यावत् । २. विद्यमानानाम्—अव्यक्ततया पूर्वं सिद्धानामेवेत्यर्थः नत्वपूर्वसताम् । ३. यस्मादिति—मूलस्थेति शब्दार्थोऽयम् व्याख्येय चेति शब्दम—अत्तीत्यत्र धृतवानित्यवगमनीयमिह । ४ मृत्योरदितित्वमिति—ननु प्रजापतेः स्रष्टृत्वमेव नात्तृत्वमन्यथाऽन्नवृद्ध्यसिद्धेस्तत्कुतोऽस्यादितित्वमित्याशक्य समादधुर्वात्तिकाचार्याः तथाहि—"स्रष्टुर्नो कार्यभक्ष्याभ्यामन्योऽन्याव्यतिरेकतः । स्रष्टृत्वात्स सृजत्येव खादतेऽन्नं सदाऽद्यतः ॥" इति अस्यार्थः—स्रष्टा कार्यम् तच्च तमपेक्षत अत्ता भक्ष्य तच्च तमपेक्षते अत स्रष्टा कार्यं सृजत्येव स्रष्टृत्वात् अन्यथा तदसिद्धेः अत्रा चान्नं सदैवात्ति तस्याद्यत्वेनैव स्थितेरित्यर्थः । ५ उद्गात्रादिनेत्यादिना प्रतिप्रस्थात्रादयो ग्राह्याः । ६. होत्रादिनेत्यादिना ब्रह्मादयो ग्राह्याः । ७. अध्वर्युप्रभृतिभिरिति प्रतिहर्त्रादय प्रभृतिग्राह्याः । ८. तेजोरसो निरवर्त्ततामग्निरित्यत्रात्तृसर्ग उक्तः "सोऽकामयत । द्वितीयो म आत्मा जायेते"त्यत्र विराजः सृष्टिः स्पष्टीकृता अन्नं च विराडिति श्रुतेः 'कनीयोऽन्नं करिष्य' इति च । अतस्तत्सृष्ट्याऽद्यसर्ग उक्त इत्यभिप्रेत्याह-अत्तृसर्गश्चाद्यसर्गश्चेति । ९. उत्तरसम्बन्ध्येतद्वाक्यम् । १०. गुणान्तरमिति पूर्वोक्तात्प्रतिष्ठितत्वापेक्षया गुणान्तरमित्यर्थः ।

पशून्। स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वꣳ सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥५॥

रचना की, उन सभी को खाने का विचार किया, वह सबको खाता है, यही उस अदिति का अदितित्व है। जो इस प्रकार इसके अदितिपन को जानता है, वह इस सभी का भोक्ता हो जाता है और ये सब उसके अन्न हो जाते हैं ॥५॥

कनीयोऽन्नं करिष्ये कनीयोऽल्पमन्नं करिष्य इत्येवमीक्षित्वा तद्भक्षणादुपरराम। बहु ह्यन्नं कर्तव्यं दीर्घकालभक्षणाय न कनीयः। तद्भक्षणे हि कनीयोऽन्नं स्याद्बीजभक्षण इव सस्याभावः। स एवं प्रयोजनमन्नबाहुल्यमालोच्य तयैव वाचा पूर्वोक्तया तेनैव चाऽऽत्मना मनसा मिथुनीभावमालोचनमुपगम्येदं सर्वं स्थावरं जङ्गमं चासृजत यदिदं किंच यत्किंचेदम्। किं तत्। ऋचो यजूंषि सामानि च्छन्दांसि च सप्त गायत्र्यादीनि

इत्यादि शास्त्रमत्र प्रमाणयितव्यम्। अन्नस्य कनीयस्त्वे का हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—बहु हीति। तथाऽपि विराजो भक्षणे का क्षतिस्तत्राऽऽह—तद्भक्षणे हीति। तस्यान्नात्मकत्वात्तदुत्पादकत्वाच्चेति शेषः। कारणनिवृत्तौ कार्यनिवृत्तिरित्यत्र दृष्टान्तमाह—बीजेति। यथोक्तेक्षणानन्तरं "मिथुनभावद्वारा त्रयीसृष्टिं प्रस्तौति—स एवमिति। ननु विराजः सृष्टया स्थावरजङ्गमात्मनो जगतः सृष्टेरुक्तत्वात्किं पुनरुक्त्येत्याशयेन पृष्ट्वा परिहरति—किं तदिति। गायत्र्यादीनीत्यादिपदेनोष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगती-

---

तो 'कनीयोऽन्नं करिष्ये' अर्थात् कम अन्न कर लूंगा, इस प्रकार विचार कर उसने उसे नहीं खाया। बहुत समय तक खाते रहने के लिए अधिक अन्न करना चाहिए, कम से कार्य नहीं होगा। बीजभक्षण से अन्नाभाव हो जाने के समान, इसे खा लेने पर थोड़ा ही अन्न होगा। इस प्रकार भक्षण से उपराम हो अन्न की बाहुल्यता के लिए विचार कर उस पूर्वोक्त भाणात्मिका वाक् तथा उसी कुमारभावापन्न 'आत्मना'

---

१ बीजभक्षण इवेत्यादि ननु कुलालाभावे घटवत् विराडभावेऽपि स्यादन्नमिति चेत्सत्यम् यद्यपि समुत्पन्नो घटः कुलालाभावेऽपि तिष्ठति तथापि तदभावेन जायते न चोपादानाभावे भावकार्यस्य संभवो न हि बीजमङ्कुरोपादानं भक्षितवता तत्कारणोऽङ्कुरो लभ्यतऽतो विराडभावे जन्माभावादन्नस्य समृद्धिर्दूरनिरस्तेत्यर्थः। २ प्रयोजनमिति—भक्षणोपरते फलमित्यर्थः। ३ पूर्वोक्तयेति—भाणात्मिकया कुमारवदननिर्गतयेत्यर्थः। ४ आत्मनेति—आत्मीयकुमारेण तद्भावापन्नेन स्वेनेति वार्थः। ५ मिथुनीत्यादि मिथुनीभावाख्यं त्रय्यालोचनं कृत्वेत्यर्थः ६ असृजतेति—एवं वाच्यवाचकरूपं जगद्विराजा तन्मुखोत्थया वाचा च उत्पादितवान् प्रजापतिरित्यर्थः तथा च वार्त्तिकम् कुमारवदनोद्गतया वाचर्गादीन् ससर्ज सः। पश्वादींश्च कुमारेण ह्यात्मनाऽजीजनज्जगत। इति न हि हेतुभूतयोरनयोरेव वय्या सृष्टिः न चाव्यक्ता त्रयी तदभिव्यक्तिहेतुस्तयेत्यनन्तरप्रकृतकुमारमुखनिर्गतवाग्रूपे संभवे विराड्रूपेणान्नत्वात्तादिति भावः। ७ किंचेत्यादि—किंच यदिदमिति योज्यम्। ८ ऋचः—नियताक्षरपादावसानमन्त्राः। ९ यजूंषि—अनियताक्षरच्छन्दस्कास्ते। १० सामानि—स्तोभविशिष्टा मन्त्राः ... हुंफडाद्यर्थकशब्दाः। ११ मिथुनीभावद्वारेति-सृष्टित्रयालोचनद्वारेत्यर्थः।

स्तोत्रशस्त्रादिकर्माङ्गभूतांस्त्रिविधान्मन्त्रान्गायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टान्यज्ञांश्च तत्साध्यान्प्रजास्तत्कर्त्रीः पशूंश्च ग्राम्यानारण्यान्कर्मसाधनभूतान् । ननु 'त्रय्या मिथुनीभूतयाऽसृजतेत्युक्त-मृगादीनीह कथमसृजतेति, नैष दोषः । मनसस्त्वव्यक्तोऽयं मिथुनीभावस्त्रय्या बाह्यस्तु ऋगादीनां 'विद्यमानानामेव कर्मसु विनियोगभावेन व्यक्तीभावः सर्ग इति ॥

स प्रजापतिरेवमन्नवृद्धिं बुद्ध्वा यद्यदेव क्रियां क्रियासाधनं फलं वा किंचिदसृजत तत्तदत्तुं भक्षयितुमध्रियत धृतवान्मनः सर्वं कृत्स्नं वै 'यस्मादत्तीति तत्तस्माददितेरदितिनाम्नो 'मृत्योरदितित्वं प्रसिद्धम् । तथाच मन्त्रः "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता

छन्दांस्युक्तानि । केवलानां छन्दसां सर्गासंभवात्तदारूढानामृग्यजुःसामात्मनां मन्त्राणां सृष्टिरत्र विवक्षितेत्याह—स्तोत्रेति । 'उद्गात्रादिना गीयमानमृग्जातं स्तोत्रं तदेव 'होत्रादिना शस्यमानं शस्त्रम् । स्तुतमनुशंसतीति हि श्रुतिः । यन्न गीयते न च शस्यते 'ऽध्वर्युप्रभृतिभिश्च प्रयुज्यते तदप्यत्र ग्राह्यमित्यभिप्रेत्याऽऽदिपदम् । अत एव त्रिविधानित्युक्तम् । अजादयो ग्राम्याः पशवो गवयादयस्त्वारण्या इति भेदः । कर्मसाधनभूतानसृजतेति संबन्धः । स मनसा वाचं मिथुनं समभवदित्युक्तत्वात्प्रागेव त्रय्याः सिद्धत्वान्न तस्याः सृष्टिः श्लिष्टेति शङ्कते—नन्विति । व्यक्ताव्यक्तविभागेन परिहरति—नेत्यादिना । इति मिथुनीभावसर्गयोरुपपत्तिरिति शेषः । 'अत्तृसर्गश्चान्नसर्गश्चे' ति 'द्वयमुक्तम् ।

इदानीमुपास्यस्य प्रजापतेर्गुणान्तरं[10] निर्दिशति—स प्रजापतिरित्यादिना । कथं मृत्योरदिति-

यानी मन से वेदत्रयी का आलोचन रूप मिथुन भाव को प्राप्त होकर इस जड-चेतन संसार की रचना की । 'यदिदं किंच' अर्थात् जो भी कुछ यह है । वह क्या है ? ऋक्, यजु, साम, गायत्री आदि सात छन्द अर्थात् *गायत्री आदि छन्द विशिष्ट स्तोत्र-शस्त्रादि कर्मों के अङ्गभूत तीनों प्रकार के मन्त्र और यज्ञ,* उसकी साध्य प्रजा और उस कर्म के साधनभूत ग्राम्य और वन्य पशुओं की रचना की, यदि कहो, मन द्वारा मिथुनीभूत वेदत्रयी से आदित्यात्मक संवत्सर की रचना की, पहले यह कहा था—तो फिर ऋगादि की सृष्टि कैसे हुई ? ऐसा कहना ठीक नहीं है । मनका जो वेदत्रयी से मिथुनीभाव है, वह अव्यक्त है । विद्यमान उन ऋगादि का ही कर्मों में विनियोग रूप से जो बाह्य व्यक्तीभाव है यही उसकी सृष्टि है ।

१ त्रय्यामिथुनीभूतयाऽसृजतेति—मनसा मिथुनीभूतया त्रय्याऽऽदित्यं संवत्सरमसृजतेत्यर्थः तदात्मना स्वयमेवाऽजायतेति यावत् । २ विद्यमानानाम्—अव्यक्ततया पूर्वं सिद्धानामेवेत्यर्थः नत्वपूर्वसताम् । ३ यस्मादिति—मूलस्येति शब्दार्थोऽयम् व्याख्येय चेति शब्दम्—अत्तीत्यत्र धृतवानित्यवगमनीयमिह । ४ मृत्योरदितित्वमिति—ननु प्रजापतेः स्रष्टृत्वमेव नात्तृत्वमन्यथाऽनवृद्धयसिद्धेस्तत्कुतोऽस्यादितित्वमित्याशङ्क्य समादधुवार्त्तिकाचार्याः तथाहि—'स्रष्टृत्वो कार्यभक्ष्याभ्यामन्योऽन्याव्यतिरेकतः । स्रष्टृत्वात्स सृजत्येव खाद्यतेऽन्नं सदाऽऽद्यतः ॥ इति अस्यार्थः—स्रष्टा कार्यम् तच्च तमपेक्षते अत्ता भक्ष्यं तच्च तमपेक्षते अतः स्रष्टा कार्यं सृजत्येव स्रष्टृत्वात् अन्यथा तदसिद्धेः अन्नं चान्नं सदैवाद्यते तस्याद्यत्वेनैव स्थितेरित्यर्थः । ५ उद्गात्रादिनेत्यादिना प्रतिप्रस्थात्रादयो ग्राह्याः । ६ होत्रादिनेत्यादिना ब्रह्मादयो ग्राह्याः । ७ अध्वर्युप्रमृतिभिरिति प्रतिहर्त्रादयः प्रभृतिग्राह्याः । ८ तजोरसो निरवर्त्ताग्निरित्यत्रात्तृसर्गं उक्तः 'सोऽकामयत । द्वितीयो म आत्मा जायेत' त्यत्र विराजः सृष्टिः स्पष्टीकृता अन्नं च विराडिति श्रुतेः 'कनीयोऽन्नं करिष्य' इति च । अतस्तत्सृष्ट्याऽन्नसर्ग उक्त इत्यभिप्रेत्याह-अत्तृसर्गश्चान्नसर्गश्चेति । ९ उत्तरसम्बन्ध्येतद्वाक्यम् । १० गुणान्तरमिति पूर्वोक्तापेक्षु प्रतिष्ठितत्वापेक्षया गुणान्तरमित्यर्थः ।

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति। सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्य-

उस प्रजापति ने ऐसी कामना की कि मैं पुनः बड़े भारी अश्वमेधादि यज्ञ के द्वारा यजन करूँ, इसी से वह थक गया। उसने तप किया, उस श्रान्त तथा खिन्न हुए का यश और वीर्य निकल गया।

स पिता" इत्यादिः। सर्वस्यैतस्य जगतोऽन्नभूतस्यात्ता सर्वात्मनैव भवत्यन्यथा विरोधात्। न हि कश्चित्सर्वस्यैकोऽत्ता दृश्यते तस्मात्सर्वात्मा भवतीत्यर्थः। सर्वमस्यान्नं भवत्यत एव। सर्वात्मनो ह्यत्तुः सर्वमन्नं भवतीत्युपपद्यते। य एवमेतद्यथोक्तमदितेर्मृत्योः प्रजापतेः सर्वस्यादनाददितित्वं वेद तस्यैतत्फलम् ॥५॥

सोऽकामयतेत्यश्वाश्वमेधयोर्निर्वचनार्थमिदमाह। भूयसा महता यज्ञेन भूयः

नामत्वं सिद्धवदुच्यते तत्राऽऽह—तथा चेति। अदितेः सर्वात्मत्वं वदता मन्त्रेण सर्वकारणस्य मृत्योरदितिनामत्वं सूचितमिति भावः। मृत्योरदितित्वविज्ञानवतोऽवान्तरफलमाह—सर्वस्येति। सर्वात्मनेति कुतो विशिष्यते तत्राऽऽह—अन्यथेति। सर्वरूपेणावस्थानाभावे सर्वान्नभक्षणस्याशक्यत्वादित्यर्थः। विरोधमेव साधयति—न हीति। फलस्योपासनाधीनत्वात्प्रजापतिमदितिनामानमात्मत्वेन ध्यायन्ध्येयात्मा भूत्वा तत्तद्रूपत्वमापन्नः सर्वस्यान्नस्यात्ता स्यादित्यर्थः। अन्नमन्नमेवास्य सदा न कदाचित्तदस्यात्तृ भवतीति वक्तुमनन्तरवाक्यमादत्ते—सर्वमिति। अत एवेत्युक्तं व्यक्तीकरोति—सर्वात्मनो हीति ॥५॥

उपास्तिविधौ सफले सति समाप्तिरेव ब्राह्मणस्योचिता किमुत्तरग्रन्थेनेत्याशङ्क्य प्रतीकमा-

---

उस प्रजापति ने 'इस प्रकार अन्नवृद्धि होगी'—ऐसा जानकर जिस किसी भी क्रिया या क्रिया के साधन स्वरूप फल की रचना की, उस उसका 'अत्तुम्' अर्थात् भक्षण करने के लिए 'अध्रियत' यानी मन मे धारणा की। उस 'अदितेः' अर्थात् अदिति नामक मृत्यु का अदितित्व प्रसिद्ध है, क्योंकि "कृत्स्नमत्ति" अर्थात् सभी खाता है। यजुर्वेद संहिता मे मन्त्र है—'अदिति द्युलोक, अदिति अन्तरिक्ष, अदिति माता और अदिति पिता है"—इत्यादि। इस अन्नमय सारे संसार का वह सर्वात्मभाव से ही भोक्ता है, क्योंकि बिना सर्वात्मभाव के सबका भोक्ता संभव नही है; इसलिए सर्वभोक्ता होने से वह सर्वात्मा हो जाता है। अन्न उसके लिए सब कुछ हो जाता है। अतः जो सर्वात्मभाव से भोक्ता है, उसी का सभी कुछ अन्न होना संभव है। जो 'एवम्' अर्थात् इस पूर्व कथित अदिति संज्ञक मृत्यु प्रजापति को, सबका भोक्ता होने से अदितित्व रूप से उपासना करता है—उसे यह फल मिलता है ॥५॥

---

१ तस्मादिति—सर्वात्तृत्वोक्तेरित्यर्थः। २. निर्वचनार्थमिदमिति—प्रजापतेरश्वाश्वमेधनाम्नो प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्तन्निर्वचनार्थमिदमुत्तरं वाक्यमित्यर्थः तन्निर्वचनार्थत्वेन चास्य ग्रन्थस्य स्वार्थेऽप्रामाण्यादर्थवादतया स्तुत्यर्थत्वमिति समसूचीति समवगमनीयम् ॥ ३ महतेति—महत्त्वं च यज्ञे सर्वस्वदक्षिणावत्त्वं तच्चाश्वमेधस्यैव भवति तथा च महता यज्ञेनेति अश्वमेधाभिधेन यागेनेति यावत्। ४ तत्तद्रूपत्वमिति-तत्तदत्तृरूपत्वमित्यर्थः। ५. अन्नमन्नमेवास्येति सर्वमत्तीत्यनेनैव सर्वस्यान्नत्वसिद्धेः सर्वमस्यान्नमिति पुनरुक्तिरित्याशङ्कायामित्यादि। ६ अत एव-अत्तुः सर्वात्मत्वादित्यर्थः। ७ अभिहिते सतीत्यर्थः।

—मुदक्रामत् । प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरꣳ श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत् ॥६॥

चक्षुरादि प्राण ही यश और वीर्य है। तत्पश्चात् प्राणो के निकल जाने पर शरीर फूलने लग गया, इतने पर भी उसका मन शरीर मे ही रहा ॥६॥

पुनरपि यजेयेति । जन्मान्तरकरणापेक्षया भूयःशब्दः । स प्रजापतिर्जन्मान्तरेऽश्वमेधेनायजत । स [1]तद्भावभावित एव कल्पादौ [2]व्यावर्तत । योऽश्वमेधक्रियाकारक फलात्मत्वेन [3]निर्वृत्तः सन्नकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेत्येव महत्कार्यं कामयित्वा लोकवदश्राम्यत् ।

दाय तात्पर्यमाह—सोऽकामयतेत्यादिना । तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वमित्येतदन्त वाक्यमिदमा निर्दिश्यते । भूयोदक्षिणाकत्वादश्वमेधस्य भूयस्त्वम् । इतिशब्दोऽकामयतेत्यनेन संबध्यते । कथं पुनस्तेन यक्ष्यमाणस्य प्रजापतेर्भूय शब्दोक्तिः । न हि स पूर्वमश्वमेधमन्वतिष्ठत्कर्मानधिकारत्वादत्तआऽऽह—जन्मान्तरेति । [4]तदेव स्पष्टयति—स प्रजापतिरिति । अथातीते जन्मनि यजमानोऽश्वमेधस्य कर्ताऽभूत् । अधुना हिरण्यगर्भो भूयो यजेयेत्याह । [5]तथाच कर्तृभेदाद्भूयःशब्दा[6]सामञ्जस्यमत आह—स तद्भावेति । स प्रजापतिरश्वमेधवासनाविशिष्टो ज्ञानकर्मफलत्वेन कल्पादौ निवृत्तो भूयो यजेयेत्याह कर्तृभोक्त्रो[7]रैक्येन साधकफलावस्थयोर्यजमानसूत्रयोर्भेदाभावादित्यर्थः । प्रजापतिरीश्वरो न तस्य दुःखात्मकक्रत्वनुष्ठानेच्छा[8] युक्तेत्याशङ्क्य [9]प्रकृतिवशात्तदुपपत्तिमभिप्रेत्याऽऽह—सोऽश्वमेधेति । कथ[10]मेतावता [11]विवक्षिता स्तुतिः सिद्धेत्याशङ्क्या-

---

'उसने कामना की' इत्यादि श्रुतिवाक्य से अश्व और अश्वमेध का (प्रवृत्तिनिमित्तक होने से स्वार्थ मे अप्रामाण्य होने से अर्थवाद द्वारा स्तुति के लिए) निर्वचन करने के लिए श्रुति यह कहती है—(सर्वस्व दक्षिणा वाले) महान् (अश्वमेध) याग से मैं पुन यजन करूँ। जन्मान्तर मे करने की अपेक्षा से यहाँ महान् शब्द का प्रयोग किया है। उस प्रजापति ने दूसरे जन्म मे अश्वमेध याग द्वारा यजन किया था। अश्वमेध याग के सस्कारो से सस्कृत ही वह कल्प के आदि मे आविर्भूत हुआ। अश्वमेध याग के क्रिया कारक और फलात्मक रूप से प्रादुर्भूत होकर उसने कामना की, कि मैं महान् याग से महान् अनुष्ठान करूँ। इस प्रकार महान् कार्य की कामना करके वह सासारिक लोगो के समान श्रम कार्य मे प्रवृत्त हुआ। उसने तप किया। उसके थके हुए होने से खिन्न हुए (प्रजापति के)

---

१ अश्वमेधसस्कारसस्कृत । २ आविरभवत् । ३ प्रादुर्भूत । ४ तदेवेति जन्मान्तरकरणापेक्षत्वमेवेत्यर्थं । ५ तथाचेति साधकफलावस्थापन्नयोर्यजमानसूत्रयोर्भिन्नत्वे चेत्यर्थ । ६ असामञ्जस्यम् अस्वारस्यम् । ७ ऐक्येनेति-कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्वैयधिकरण्यादर्शनादिति भाव । ८ इच्छेति-नहि सुखी दुःख भोक्तुमर्थयत इति दृष्ट लोक इति भाव । ९ प्रकृतिवशादिति-सर्वमपि कार्यं व्यवहारभूमौ प्रकृतितन्त्र दृष्ट तथा च सूत्रस्यापि प्रकृतिवशात् क्रत्वनुष्ठानेच्छा कर्ता हि भोक्तु फलावस्थस्य प्रकृति स च क्रतुमन्वतिष्ठत् तद्वशात्फलभूतस्यापि प्रजापते तदनुष्ठानेच्छेत्यर्थ । १० एतावतेति-यथोक्तकामनामात्रेणेत्यर्थ । ११ विवक्षिता-वक्ष्यमाणतया विवक्षितेत्यर्थं ।

स तपोऽतप्यत । तस्य [1]श्रान्तस्य तप्तस्येति पूर्ववत् । [2]यशो वीर्यमुदक्रामदिति स्वयमेव पदार्थमाह । प्राणाश्चक्षुरादयो वै यशो यशोहेतुत्वात्तेषु हि सत्सु ख्यातिर्भवति । तथा वीर्यं बलमस्मिञ्शरीरे । न ह्युत्क्रान्तप्राणो यशस्वी बलवान्वा भवति । तस्मात्प्राणा एव यशो वीर्यं चास्मिञ्शरीरे । [3]तदेवं [4]प्राणलक्षणं यशो वीर्यमुदक्रामदुत्क्रान्तवत् । [5]तदेवं यशोवीर्यभूतेषु प्राणेषूत्क्रान्तेषु [6]शरीरान्निष्क्रान्तेषु तच्छरीरं प्रजापतेः श्वयितुमुच्छूनभावं गन्तुमध्रियता[7]मेध्यं चाभवत् । तस्य प्रजापतेः शरीरान्निर्गतस्यापि तस्मिन्नेव शरीरे [8]मन आसीत् । [9]यथा कस्यचित्प्रिये [10]विषये दूरं गतस्यापि मनो भवति तद्वत् ॥६॥

ऽऽह—एवमिति । [11]श्रमकार्यमाह—स तप इति । चक्षुरादीनां यशस्त्वे हेतुमाह—यशोहेतुत्वादिति । सत्सु हि तेषु शरीरे बलं भवतीति पूर्ववदेव तदेव साधयति—तेषुहीति । प्राणा एवेति तथाशब्दार्थः । सत्सु हि तेषु शरीरे बलं भवतीति पूर्ववदेव हेतुरुन्नेय । उक्तमर्थं व्यतिरेकद्वारा स्फोरयति—न हीति । प्राणानां यशस्त्वं वीर्यत्वं चोपसंहृत्य वाक्यार्थं निगमयति—तदेवमिति । तत्प्राणेष्वित्यादि व्याचष्टे—तदेवमित्यादिना । शरीरान्निर्गतस्य प्रजापतेर्मुक्तत्वमाशङ्क्याऽऽह—तस्येति ॥६॥

ऐसा पूर्ववत मन्त्रार्थ समझना चाहिए । प्रजापति के शरीर से यश और वीर्य—यह दो पदार्थ निकल गये । श्रुति यश और वीर्य पदो का स्वय अर्थ करती है—यश मे कारण होने से चक्षुरादि प्राण ही यश है; क्योकि उनके होने से विश्रुति होती है । इसी प्रकार प्राण ही इस शरीर मे वीर्य या बल है। प्राणो के उत्क्रमण होने पर कोई भी यशस्वी या बलवान नही होता । इसलिए प्राण ही इस शरीर मे यश और वीर्य है । वे इस प्रकार प्राणलक्षणरूप लिङ्ग शरीर के यश और वीर्य निकल गए । इस प्रकार यश और वीर्यभूत प्राणो के 'उत्क्रान्तेषु' यानी शरीर से निकल जाने पर प्रजापति शरीर मे 'अश्वयितुम्' अर्थात् फूलना रूप विकार होना 'अध्रियत' यानी आरम्भ हुआ और वह अपवित्र हो गया । उस प्रजापति के शरीर से निकल जाने पर भी मन उसका उसी शरीर मे अभिषक्त रहा । (क्योकि बिना एकात्मबोध के आसक्ति का त्याग असभव है) जैसे किसी प्रिय वस्तु के दूर चले जाने पर मन वही चला जाता है ॥६॥

१. श्रान्तत्वात् खिन्नस्य । २. यशोवीर्यमुदक्रामदिति—प्रजापते शरीरादेतद्द्वयमुत्क्रान्तवदित्यर्थ । ३ तदेवमिति—कथ बहूना प्राणानां यशोवीर्यत्व न हि तेषा प्रत्येक यशोवीर्यत्वम् कस्यचिद्भावेपीतरेषामभावे देहे ख्यातिबलयोरनुपलम्भात् नापि मिलिताना तथात्वम् एकस्याप्यभावे तदभावप्रसङ्गादित्याशङ्क्य समादधुर्वार्त्तिकाचार्या तथाहि— "लिङ्गात्मेह यशोवीर्यमुभय हि तदुद्भवमिति ।" इह स्थूलदेहेलिङ्गात्मनि यशोवीर्यशब्दयोर्वृद्धप्रयोगाभावान्नैवमित्याशङ्क्याह उभय हीति । यशश्च वीर्यं चेत्युभय लिङ्गात्मन सकाशादुद्भवति तदभावे तदयोगात्तस्मादुक्त लिङ्गात्मनस्तथात्वमित्यर्थ । ४. प्राणलक्षणमिति—लिङ्गशरीरमिति यावत् । ५ तदेवमिति—मूलस्थतच्छब्दस्यार्थ एवमिति । ६ आरभत । ७ अपवित्रम् । ८. अभिषङ्ग । ९. ननु देहान्निर्गतस्यापि प्रजापते किमिति तस्मिन्नेवासक्तिरासीत्, नहि बुद्धिपूर्वकारी दुःखायतनाय देहाय स्पृहयति तत्राह यथेति । तथा चोक्त वार्तिके—"सङ्गत्यागो ह्यसभाव्यो विनैकात्म्यावबोधनादिति ।" 'रसवर्जं'मि'त्याद्या स्मृतिरत्रानुगुणेति द्योतयितु हि शब्द । १० स्त्र्यादौ । ११ श्रमकार्यम्—तापरूप श्रमकार्यमित्यर्थ ।

सोऽकामयत मेध्यं म इदꣳ स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति । ततोऽश्वः समभवद्यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम् । एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद । तमनवरुध्यैवामन्यत । तꣳ संवत्स-

उसने कामना की कि यह मेरा शरीर यज्ञ के योग्य हो जावे, मैं इस शरीर से शरीर वाला होऊँ, क्योंकि वह शरीर (यश और वीर्य से हीन होकर) फूल गया था । अत उससे वह अश्व हो गया और वह यज्ञीय हुआ । इसीलिये यही अश्वमेधत्व है—अर्थात् उसे अश्वमेध नाम प्राप्त हुआ । जो इसे इस प्रकार जानता है, वही अश्वमेध को जानता है । उसने उसे *बन्धनशून्य ही चिन्तन किया,* फिर पूरे एक

स तस्मिन्नेव शरीरे गतमनाः सन्किमकरोदिति । उच्यते—[1]सोऽकामयत कथं मेध्यं मेधार्हं यज्ञियं मे ममेदं शरीरं स्यात् । किंचाऽऽत्मन्व्यात्मवांश्चानेन शरीरेण शरीरवान्स्यामिति प्रविवेश । [2]यस्मात्तच्छरीरं मद्वियोगाद्गतयशोवीर्यं सदश्वद[3]श्वयत्ततस्तस्मादश्वः[4] समभवत् । [5]ततोऽश्वनामा प्रजापतिरेव साक्षादिति [6]स्तूयते । यस्माच्च पुनस्त-

---

सम्यग्ज्ञानाभावादासङ्गे सत्यपि न पुनस्तस्मिन्प्रवेशो युक्तः परित्यक्तपरिग्रहायोगादिति शङ्कते—स तस्मिन्निति । अज्ञानवशात्परित्यक्तपरिग्रहोऽपि संभवतीत्याह—उच्यत इति । वीतदेहस्य कामनाऽयुक्तेति शङ्कते—कथमिति । सामर्थ्यातिशयादशरीरस्यापि प्रजापतेस्तदुपपत्तिरिति मन्वानो ब्रूते—मेध्यमिति । कामनाफलमाह—इति प्रविवेशेति । [7]तथाऽपि कथं [8]प्रकृतनिरुक्तिसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—यस्मादिति । यच्छब्दो यस्मादिति व्याख्यातः । देहस्याश्वत्वेऽपि कथं प्रजापतेस्तथात्वमित्याशङ्क्य तत्तादात्म्यादित्याह—तत इति । अश्वस्य प्रजापतित्वेन स्तुतत्वात्तस्यो[9]पास्यत्व फलतीति भावः । [10]तथाऽपि कथमश्वमेधनामनिर्वचनमित्याशङ्क्याऽऽह—यस्माच्चेति । क्रतोस्तदात्मकस्य प्रजा-

---

उसी शरीर मे लगे हुए मन वाले उस प्रजापति ने क्या किया ? इस पर श्रुति कहती है—(देहासक्ति से छूट कर तादात्म्य बोध के लिए) उस प्रजापति ने कामना की कि मेरा यह शरीर 'मेध्य' यानी यज्ञ के उपयुक्त या यज्ञीय कैसे हो जाय ? तथा मैं 'आत्मन्वी' यानी आत्मानुरागी अर्थात् इस शरीर से शरीरवान् कैसे हो जाऊं ? उसने ऐसा सोच कर उसमें प्रवेश किया । अश्व इसलिए हुआ, क्योंकि वह शरीर मेरे वियोग से यशवीर्यहीन होकर 'अश्वयत्' अर्थात् फूल गया था । उसी शरीर

---

१ सोऽकामयतेति—"जातदेहाभिषङ्गः सस्तादात्म्यप्रतिपित्सया । मेध्यमित्यादिकं काम सोऽकामयत कामुकः । इति वार्तिके तद्देहासक्तिरेवोक्तकामनाया हेतुरिति वक्तु कामुक इत्युक्तम् । २ यस्मादितिमूलस्य यच्छब्दस्यैवार्थोऽयम् । ३ अश्वयत्-उच्छूनतामगात् । ४ अश्व समभवदिति—तस्मिन्प्रविष्टः प्रजापतिरेवाश्वरूपोऽभवदित्यर्थः । ५ तत—शरीरतद्वतोरभेदविवक्षात इत्यर्थः । ६ स्तूयत इति—अयमश्व साक्षात्प्रजापतिरेवेत्यश्व स्तूयत इत्यर्थः । ७ तथापीति—प्रजापतेर्विराज शरीरे प्रवेशेऽपीत्यर्थः । ८ प्रकृतेति—अश्वमेधनामेत्यर्थः । ९ उपास्यत्व फलतीति तथा च "तस्योषा वे"त्यादिप्राक्तनग्रन्थेनोपास्तिरभिहितेति । १० तथापि—एवमश्वनामनिर्वचने सिद्धेऽपि ।

रस्य परस्तादात्मन आलभत । पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत् । तस्मात्सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्त एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्माऽयमग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावे-

संवत्सर के बाद अपने लिए ही आलभन किया अर्थात् प्रजापति देवता सम्बन्धी पशुरूप उसका आलभन किया और अन्य पशुओं को भी अन्यान्य देवताओं के प्रति पहुँचाया । इसलिए आज भी याज्ञिक लोग सभी देवताओं के लिये मन्त्रों द्वारा संस्कृत प्रजापति सम्बन्धी पशु का आलभन करते हैं। यह जो सूर्य तपता है, यही अश्वमेध है, इस सूर्य का संवत्सर शरीर है, यह पार्थिव अग्नि अर्क है, तथा उसके ये

त्प्रवेशाद्गतयशोवीर्यत्वादमेध्यं सन्[१]मेध्यमभूत्तदेव , तस्मादेवाश्वमेधस्याश्वमेधनाम्नः [२]क्रतोरश्वमेधत्वमश्वमेधनामलाभः । [३]क्रियाकारकफलात्मको हि क्रतुः । स च प्रजापतिरेवेति [४]स्तूयते ।

क्रतुनिर्वर्तकस्याश्वस्य प्रजापतित्वमुक्तमुषा वा अश्वस्य मेध्यस्येत्यादिना । [५]तस्यैवाश्वस्य मेध्यस्य प्रजापतिस्वरूपस्याग्नेश्च [६]यथोक्तस्य क्रतुफलात्मरूपतया [७]समस्योपा-

पत्तेरिति यावत् । देहो हि प्राणवियोगादश्वयत्पुनस्तत्प्रवेशाच्च [८]मेधार्होऽभूदतः सोऽश्वमेधस्तत्तादात्म्यात्प्रजापतिरपि तथेत्यर्थः । ननु प्रजापतित्वेनाश्वमेधस्य स्तुतिर्नोपयोगिनी[९], अग्नेरुपास्यत्वेन प्रस्तुतत्वात्क्रतूपासना[१०]भावादत आह—क्रियेति ।

ननु क्रत्वङ्गस्याश्वस्याश्वमेधक्रत्वात्मनश्चाग्नेरुक्तरीत्या स्तुतत्वात्तदुपास्तेश्च प्रागेवोक्तत्वादेष ह वा अश्वमेधमित्यादिवाक्यं नोपयुज्यते तत्राऽऽह—क्रतुनिर्वर्तकस्येति । उक्तं च चित्यस्याग्नेस्तस्य प्राची दिगित्यादिना प्रजापतित्वमिति शेषः । [११]अश्वोपासनमग्न्युपासनं चैकमेवेति वक्तुमुत्तरं वाक्यमित्याह—

में (अभेदविवक्षा) से 'यह अश्व साक्षात् प्रजापति ही है' ऐसे उसकी स्तुति की जाती है । क्योंकि यश और वीर्य के चले जाने पर अपवित्र होने पर भी उसके पुनः प्रवेश से वह यज्ञार्ह हुआ । इसी से 'अश्वमेधस्य' अर्थात् अश्वमेध नामक याग का 'अश्वमेधत्वम्' अर्थात् अश्वमेध नाम हुआ । क्योंकि (विराडात्मकप्रजापति शरीररूप) क्रतु, क्रिया, कारक और फल रूप होता है । और उसी की ही प्रजापति रूप से स्तुति की जाती है ।

१ पुनस्तत्प्रवेशान्मेध्यमभूदित्यन्वयः । २ क्रतोरिति—अत्र क्रतुशब्देन वपुषो विवक्षितत्वात् । प्रजापतिशरीरस्येत्यर्थः । ३ तत्साध्यतया तत्साधकतया च तत्तदात्मकत्वोक्तिरिति ध्येयम् । ४ स्तूयत इति—तथा च क्रतो विराडात्मप्रजापतिरूपत्वेनोपास्यत्वं सिध्यतीति भावः । ५ उक्तस्यैव । ६ प्राजापत्यात्मकस्य । ७ समस्योपासनमिति—अग्न्यश्वोपासनयो पूर्वमुक्तयोरैक्यं कृत्स्येत्यर्थः । ८ मेधार्होऽभूदिति—अश्वमेधसंज्ञायोग्योऽभूदित्यर्थः । ९ न शुश्राप्युपकारिणी । १० अभावादिति—इहानुक्तत्वादित्यर्थः । ११ अश्वोपासनमित्यादि—अश्वोपासनमुषा वेत्यादिनोक्तम् उक्तं चाग्न्युपासनं नैवेह किञ्चनेत्यादिना तदुभयं न मिथो भिन्नं किन्त्वेकमेवेति विशिष्टोपासनं विधातुं प्रधानविधिमाहेत्यर्थः ।

तावर्काश्वमेधौ । सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्याऽऽत्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति ॥७॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥२॥

आदित्यादि लोक आत्मा है, ये अग्नि और आदित्य अर्क एव अश्वमेध हैं, किन्तु वे मृत्युरूप देवता एक ही है। जो इस प्रकार (इस अश्वमेध को मृत्युरूप एक देवता) जानता है, वह पुनर्मृत्यु को जीत लेता है। इसे मृत्यु प्राप्त नही करता, मृत्यु तो उसकी आत्मा हो जाता है, तथा वह इन देवताओ मे से ही कोई एक हो जाता है (उस उपासक को यही फल प्राप्त हो जाता है) ॥७॥

॥ इति द्वितीय ब्राह्मणम् ॥

सनं विधातव्यमित्यारभ्यते। पूर्वत्र क्रियापदस्य विधायकस्याश्रुतत्वात्क्रियापदापेक्षत्वाच्च प्रकरणस्याऽयमर्थोऽवगम्यते[1]। एष ह वा अश्वमेधं क्रतुं वेद यः कश्चिदेनमश्वमग्निरूपमर्कं च यथोक्तमेवं वक्ष्यमाणेन समासेन प्रदर्श्यमानेन विशेषणेन विशिष्टं वेद स एषोऽश्वमेधं वेद नान्यः। [2]तस्मादेवं वेदितव्य इत्यर्थः ।

तस्यैवेति। य एवमेतददितेरदितित्व [3]वेदेत्यादौ प्रागेव विहितमुपासनं किं पुनरा[4]रम्भेणेत्याशङ्क्याऽऽह—पूर्वत्रेति। यद्यपि विधिरदितित्वं वेदेति श्रुतस्तथाऽपि सगुणोपास्तिविधिर्न प्रधानविधिः। अत्र तु प्रधानविधिरुपास्तिप्रकरणत्वादपेक्ष्यते। अतोऽश्वमेधं वेदेति प्रधानविधिरिति भावः। तात्पर्यमुक्त्वा वाक्यमादायाक्षराणि व्याकरोति—एष इति। यथोक्तमित्युभयत्र[5] प्रजापतित्वमनुकृष्यते। तमनवरुध्येत्यादि[6] प्रदर्श्यमानविशेषणम्। विधिरत्र स्पष्टो न भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति। अश्वमेधो विशेष्यत्वेन [7]संबध्यते।

"उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर" इत्यादि श्रुतिवाक्य से यागनिर्वर्तक उस अश्व का प्रजापतित्व कहा गया। प्रजापति स्वरूप मेध्य उक्त अश्व की ही, और यज्ञफलात्मकरूप से यथोक्त प्रजापत्यात्मक रूप अग्नि की (अश्व, अग्नि की) एकीभाव से उपासना करनी चाहिए—इससे आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है। पूर्व श्रुति मे विधिबोधक क्रियापद का श्रवण नही हुआ है, और क्योंकि (उपासनापरक श्रुति मे) क्रिया पद की आवश्यकता होती है, इससे प्रकरण मे (अग्नि अश्व की एकीकृत उपासना करनी चाहिये) यह अर्थ किया जाता है। वही इस अश्वमेध याग को जानता है, जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है। जो कोई इस अश्व तथा पूर्वोक्त अग्नि रूप अर्क को आगे बतलाये जाने वाले एकीकृत रूप से प्रदर्शित विशेषण से विशिष्ट जानता है, वह इस अश्वमेध को जानता है, दूसरा नही। इसलिए इस अश्वमेध की इसी प्रकार उपासना करनी चाहिए, यह अर्थ है।

---

१ अयमर्थ इति—गमस्योपासन विधातव्यमित्ययमर्थ इत्यर्थ । २ तस्मादिति—तस्यैवाऽश्वमेधवदित्वादित्यर्थ । ३ आदिना प्रथमकण्डिकोक्तार्कस्यार्कत्व वेदेत्यपि तृतीयकण्डिकोक्त य एव विद्वानिति ग्राह्यम् । ४ आरम्भेण एकत्वफलकेनारम्भेणेत्यर्थ । ५ उभयत्रेति—अग्नावश्वे चेत्यर्थ । ६ इत्यादिना प्रदर्श्यमानेत्यर्थ । ७ तथा चैवविधमश्वमेध प्रजापतित्वकाम उपासीतेति विशिष्टविधिवाक्यार्थ इति बोध्यम् ।

कथं, तत्र पशुविषयमेव तावद्दर्शनमाह। तत्र प्रजापतिर्भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति कामयित्वाऽऽत्मानमेव 'पशुं 'मेध्यं कल्पयित्वा तं पशुमनवरुध्यैवोत्सृष्टं पशुमवरोधमकृत्वेव मुक्तप्रग्रहममन्यताचिन्तयत्। तं संवत्सरस्य पूर्णस्य परस्तादूर्ध्वमात्मन आत्मार्थमालभत। प्रजापतिदेवताकत्वेनेत्येतदालभताऽऽलम्भनं कृतवान्। पशूनन्यान्ग्राम्यानारण्यांश्च 'देवताभ्यो 'यथादेवतं प्रत्यौहत्प्रतिगमितवान्। यस्माच्चैवं प्रजापतिर'मन्यत तस्मादेवमन्योऽप्युक्तेन विधिनाऽऽत्मानं पशुमश्वं मेध्यं कल्पयित्वा 'सर्वदेवत्यो'ऽहं 'प्रोक्ष्यमाण आलभ्यमानस्त्वहं मद्देवत्य एव स्याम्। अन्य इतरे पशवो ग्राम्यारण्या यथादेवतमन्याभ्यो देवताभ्य आलभ्यन्ते मदवयवभूताभ्य एवेति "विद्यात्। "अत एवेदानीं "सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते याज्ञिकाः।

एवशब्दादप्रसिद्धार्थत्व भाति कुतो विधिरित्याह—कथमिति। एष ह वा अश्वमेध वेदेत्यादौ विवक्षितस्य "विधेर्भूमिका करोति—तत्रेत्यादिना। उपास्तिविधि"प्रस्ताव सप्तम्यर्थः। "कथ नु पशुविषय दर्शनं "तद्दर्शयति—तत्रेति। "एवम"नन्तरवाक्ये प्रवृत्ते सतीति यावत्। "अथ विवक्षितविधिमभिदधाति—यस्माच्चेति। प्रजापतिरित्थं फलावस्थायाममन्यतेत्यत्र कि प्रमाणमित्याशङ्क्य संप्रति तत्कार्यभूतासु "प्रजासु तथाविधचेष्टादृष्टिरित्याह—अत एवेति। प्रोक्षितं मन्त्रसंस्कृतं पशुमिति यावत्।

किस प्रकार उपासना करनी चाहिए ? इस सन्दर्भ मे श्रुति पहले पशु विषयक दर्शन का ही प्रतिपादन करती है। "मैं महान् अश्वमेध याग से पुन यजन करूं" इस प्रकार प्रजापति ने कामना करके अपने शरीर मे ही यज्ञीय पशु की कल्पना करके उस पशु को 'अनवरुध्यैव' यानी उसे छूटा हुआ माना अथवा उसे बिना अवरुद्ध किये हुए बिना बन्धन के है—ऐसे 'अमन्यत्' अर्थात् चिन्तन किया। पूरे एक सवत्सर के बाद उसका अपने लिए ही वध किया अर्थात् प्रजापति देवता रूप से उसका आलम्भन किया। स्व अवयव भूत अग्नि आदि देवताओ के लिए भी, जिस देवता के लिए जो जो शास्त्र मे विधान है, उसी के अनुसार अन्यान्य ग्राम्य और वन्य पशु प्राप्त कराये। क्योकि प्रजापति ने इस प्रकार उपासना की, इसलिए दूसरे को भी उक्त विधि से अपने को यज्ञार्ह पशु अश्व मानकर "वेदमन्त्रो द्वारा अभिषिक्त मेरा शरीर सभी देवताओ के लिए हो" किन्तु वध किये जाने पर "केवल अपने ही देवता के लिए होऊं।" ऐसा जाने। तथा दूसरे ग्राम्य और वन्य पशु, जिस देवता के लिए जिस-जिस का शास्त्र मे विधान है—उसी के अनुसार मेरे ही अवयवभूत अन्यान्य देवताओ के लिए—आलम्भन किये जाते है—ऐसी उपासना करे। प्रजापति के द्वारा ऐसे करने से ही, सब देवो के उद्देश्य से अभिषिक्त किये हुए प्रजापति सम्बन्धी का याज्ञिक लोग आलम्भन करते हैं।

१ स्वशरीरम्। २ अश्वम्। ३ यज्ञियम्। ४ देवताभ्य इति—स्वावयवभूताभ्योऽग्न्यादिदेवताभ्य इत्यर्थं। ५ यथादेवतमितिशास्त्रे यद्यद्देवताकत्वेन यद्यदुक्त तदनतिक्रमेणेत्यर्थं। ६ उपास्त। ७ सर्वदेवत्य -सर्वदेवतार्थं। ८ अह मच्छरीरम्। ९ प्रोक्ष्यमाण इति—प्रोक्ष्यमाणेतरद्रव्यस्यापि प्रजापतिरूपत्वादभेदोक्ति। १० उपासीत। ११ अत एव प्रजापतिना तथाकरणादेव। १२ सर्वदेवताद्देश्यम्। १३ विधे—विशिष्टस्य विधेरित्यर्थ। १४ प्रस्ताव प्रकरणम्। १५ किंस्वरूपम्। १६ तदिति—विशिष्टविधिरूपमित्यर्थं पशुविषय विशिष्टविधिरूप दर्शन कथमित्यन्वय। १७ एव विशिष्टविधिपरत्वेन १८ अनन्तर वाक्ये—एष ह वेत्यादिवाक्ये। १९ अथेति -भूमिका कृतेत्यर्थ २० कारणानुविधायित्वात्कार्यस्येति भाव।

'एवमेष ह वा अश्वमेधो य एष तपति यस्त्वेवं पशुसाधनकः क्रतुः स एष साक्षात्फलभूतो निर्दिश्यत एष ह वा अश्वमेधः । कोऽसौ । य एष सविता तपति जगदवभासयति तेजसा । तस्यास्य क्रतुफलात्मनः संवत्सरः कालविशेष आत्मा शरीरं तन्निर्वर्त्यत्वात्संवत्सरस्य । तस्यैव क्रत्वात्मनोऽग्निसाध्यत्वाच्च फलस्य क्रतुरूपेणैव निर्देशः । अयं पार्थिवोऽग्निरर्कः साधनभूतः । तस्य चार्कस्य क्रतौ चित्यस्येमे लोकास्त्रयोऽप्यात्मानः शरीरावयवाः । तथाच व्याख्यातं तस्य प्राची दिगित्यादिना । तावग्न्यादित्यावेतौ

'फलावस्थप्रजापतिवदित्येवंशब्दार्थः । "उपासनविधिरुक्तः संप्रति प्रतीकमादाय "तात्पर्यमाह—एष इति । द्विविधो हि क्रतुः "कल्पितपशुहेतुको बाह्यतद्धेतुकश्च, स च द्विप्रकारोऽपि फलरूपेण स्थितः सवितैवेत्युपास्तिफलं वक्तुमेतद्वाक्यमित्यर्थः । विशेषोक्तिं विना नास्ति बुभुत्सोपशान्तिरित्याह—कोऽसाविति । क्रतुफलात्मकः सविता मण्डलं देवता वेति संदेहे द्वितीयं गृहीत्वा तस्येत्यादि व्याचष्टे—तस्यास्येति । "आदित्योदयास्तमयाभ्यामहोरात्राद्विद्वारा संवत्सरव्यवस्थानात्तन्निर्मातुस्तस्य युक्तं तत्तादात्म्यमित्यर्थः । क्रतोरादित्यत्वमुक्त्वा तदङ्गस्याग्नेस्तद्वक्तुमयमग्निरर्क इति वाक्यं तस्यार्थमाह—तस्यैवेति । ननु पूर्वोक्तस्यैवाग्नेरादित्यत्वं कुतो नियम्यतेऽन्यश्चियोऽ"ग्निरन्यश्चाग्निरादित्यः किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तस्य चेति । "तथाऽपि कथं तस्यैवाऽऽदित्यत्वं तत्राऽऽह—तथा चेति । तस्य प्राचीत्यादिना लोका-

"पूर्वान्वयी यह वही अश्वमेध है, जो तपता है" । जो इस प्रकार पशुसाध्य याग है, वही "यह वही अश्वमेध है" इस वाक्य से साक्षात् फलस्वरूप बतलाया जाता है । वह कौन है ? जो यह (सबको दीखने वाला) सूर्य तपता है अर्थात् अपने प्रकाश से जगत् को प्रकाशित करता है । उस इस सविताविशेष्यक ऋतुफलरूप सूर्य का संवत्सर—कालविशेष आत्मा स्वरूप है; क्योंकि वही सवत्सर का निर्वाहक होता है । उस सविता फलरूप यज्ञात्मा का यज्ञफल अग्निसाध्यत्व होने से उसका यज्ञरूप से निर्देश किया गया है । यह पार्थिव अग्नि, देवतात्वस्वरूप से ऋतु के अङ्गभूत होने से अर्क है । यज्ञ मे चयन किए जाने वाले उस अर्क के भू , भुवः, स्व. तीनों लोक 'आत्मान'-यानी शरीर के अवयव है ।

१. पूर्वान्वयी । २. सर्वप्रत्यक्षः । ३ तेजसेति-एष एवोभयविधोऽश्वमेध. फलात्मनावस्थितो दृश्यत इति शेष । ४. सविताविशेष्यः । ५. स्वरूपम् । ६. तस्यैवेत्यादि-तस्यैव-सवितुरेव फलस्य फलरूपस्य फलरूपत्वादिति यावत् ऋतुत्वरूपेणैव-क्रतुरूपत्वेनैव साध्यसाधनयोरभेदारोपात् ऋत्वात्मनस्य सतस्तस्याग्निसाध्यत्वात् अयं पार्थिवोऽग्निरर्कः सूर्य इति निर्देश इत्यन्वयः । ७ देवतात्वेन ऋत्वङ्गभूत । ८. लोका - भूरादय । ९. पूर्वान्वयि वाक्यमिदम् । १०. नन्वश्वमेधोपासनमत्र विधित्सितम् तस्य च विधिरतिक्रान्त. तत्किमुत्तरेण वाक्येनेत्यभिप्रेत्याह-उपासनविधिरिति । ११. तात्पर्यमिति अश्वमेधोपासनफल वक्तुमुत्तर वाक्यमिति तात्पर्यमित्यर्थ. । उपायोपदेशानन्तरमुपेयोपदेशस्यावसरत्वात् फलोपदेशमन्तरेणाकाङ्क्षानुपशमादिति यावत् । १२ कल्पितपशुहेतुक इति—यो मनसा सम्पादितः पूर्वोक्ताश्वाग्निसाधनोऽश्वमेध. स आद्यः यश्च कायेन निष्पादितो बाह्याश्वादिहेतुक. स द्वितीय इत्यर्थः । ननु कथमादित्यस्य उभयविधाश्वमेधत्वम् न हि तस्य मनोदेहनिर्वर्त्यक्रियात्वम्, मैवम् उभयी तावदश्वमेधक्रिया मानसी कायिकी च तदनुष्ठानात् योऽपूर्वात्मपरिणामस्तद्द्वारा सवितैव मानसोऽश्वमेधो य. पूर्वमुषा वेत्यादिनाऽनुक्रान्तः कायिकोऽपि स एव यं साक्षादश्वादिभिर्निर्वर्तयति "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते" इति स्मृतेः । १३. कथमादित्यस्यात्मा सवत्सर. स हि कालेन परिच्छिन्नो न तदभिन्नो भवति तत्राह—तन्निर्वर्त्यत्वादिति । १४. आदित्यरूपोऽग्निरादित्याग्नेर्भिन्न इति । १५. तथापीति—अत्राग्नेर्लोकात्मकत्वकथनेऽपीत्यर्थः ।

यथाविशेषितावर्काश्वमेधौ [१]क्रतुफले । [२]अर्को यः पार्थिवोऽग्निः स साक्षात्क्रतुरूपः क्रियात्मकः क्रतोरग्निसाध्यत्वात्तद्रूपेणैव निर्देशः। क्रतुसाध्यत्वाच्च फलस्य क्रतुरूपेणैव निर्देश आदित्योऽश्वमेध इति।

तौ साध्यसाधनौ क्रतुफलभूतावग्न्यादित्यौ सा उ पुनर्भूय एकैव देवता भवति। का सा, मृत्युरेव । पूर्वमप्येकैवाऽऽसी [३]त्क्रियासाधनफलभेदाय विभक्ता। तथा चोक्तम् "स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुत" इति। सा पुनरपि [५]क्रियानिर्वृत्त्युत्तरकालमेकैव देवता भवति

त्मकत्वं चित्याग्नेरुक्तं तदिहाप्युच्यते [६]'तस्मात्तस्यैवात्राऽऽदित्यत्वमिष्टमित्यर्थः। [७]अग्न्यादित्यभेदस्य लोकवेदसिद्धत्वात्र तयोरेकेन क्रतुना तादात्म्यमित्याशङ्क्या[८]ऽऽह—ताविति। यथाविशेषितत्वमादित्य-क्रतुरूपत्वम्। कुतस्तस्य [९]चार्कस्य क्रतुरूपत्व साधनत्वेन भेदादित्याशङ्क्यो[१०]पचारादित्याह—क्रियात्मक इति। [११]"तथाऽपि कथमादित्यस्य क्रतुतादात्म्योक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—क्रतुसाध्यत्वादिति।

नन्वादित्यस्य क्रतुफलत्वेन क्रतुत्वे सत्यपि तद्धेतोरग्नेरादित्येन सहतादात्म्यायोगादयुक्तमग्नेरादित्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—ताविति। क्रतुफलत्वात्तदात्मा सविता तद्धेतुश्चित्यो[१२]ऽग्निस्तावु[१३]क्त[१४]विभागाद्व्युत्पादितोपासनादि[१५]व्यापारौ सन्तावेकैव प्राणाख्या देवतेति[१६] तयोरैक्योक्तिरित्यर्थः। एकैवेत्युक्ते प्रकृतयोरग्न्यादित्ययो[१७]रन्यतरपरिशेषं शङ्कते—का सेति। कथं द्वयोरेकत्वमेकत्वे वा कथं द्वित्वं तत्राऽऽह—पूर्वमपीति। उक्तेऽर्थे वाक्योपक्रममनुकूलयति—तथा चेति। सा पुनरित्यत्र पुनरित्यादेरर्थं निगमयति

इसीमे "पूर्व दिशा उसका शिर है" इत्यादि वाक्यो से पहले व्याख्या की जा चुकी है। वे ये अग्नि और आदित्य, यथोक्त विशेषणो से अर्क और अश्वमेध क्रमश यज्ञ और फल हैं। अर्क जो पार्थिव अग्नि है, वह साक्षात् यज्ञ स्वरूप है। याग अग्निसाध्य है, इसलिए उसी रूप से उसका निर्देश किया जाता है। फल के यज्ञसाध्य होने से आदित्य अश्वमेध रूप है, ऐसा यज्ञ रूप से उसका निर्देश किया जाता है।

वे यज्ञरूप अग्नि और फलभूत आदित्य साध्य और साधन हैं। अग्नि और आदित्य तादात्म्य से वह एक ही देवता है। वह देवता कौन है? मृत्यु ही है। उस एक मृत्यु देवता का ही अश्वमेध क्रिया अश्वादि साधन एव मृत्यु फल भेद से विभाग हो गया। जैसे कहा भी है—"उस मृत्यु ने तीन प्रकार

---

१ क्रतुफले इति-एक क्रतुरूपोऽग्निरपरश्च फलभूतोऽर्क इत्यर्थः। २ तावानीत्यादिमग्रहवाक्य व्याचष्टे अर्को य इत्यादिना। ३ क्रियेत्यादि क्रिया-अश्वमेध, साधनम्-अश्वादि। फलं-मृत्युरेव। तेषा परस्पर भेदाय भिन्नत्वेन व्यवहाराय या कारकफलभेदाय विभक्ता इति। ४ स त्रेधेति इत्थ मृत्योर्विभागे सत्येव सर्वोऽपि भेदव्यवहार इति भाव। ५ क्रियादीति पाठान्तरम् आदिना कारकादि। ६ तस्मादिति—उपक्रमानुरोधात् उपक्रमोपसहारयोरेकवाक्यत्वाद्वेत्यर्थः। ७ नन्वादित्य क्रतुरुक्त तद्धेतुश्चाग्निस्तत्कथ तयो साध्यसाधनयोरैक्यमित्यभिप्रेत्याह—अग्न्यादित्येति। ८ आहेति—आदित्यचित्याग्न्योरुभयोरेकत्वमनूद्यमृत्युना मन सूत्रेण सह एकत्वमाहेत्यर्थः। ९ अग्नेरित्यर्थः। १० साध्यसाधनयोरभेदारोपादित्यर्थः। ११ चित्याग्नेरारोपात्क्रतुरूपत्वेऽपि। १२ अग्निरिति—तदात्मेत्यनुषङ्गः। १३ स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुतेत्युक्तविभागादित्यर्थः। १४ विभागाद्व्युत्पादितेति पाठान्तरम् अर्थस्त्वविशिष्ट उभयत्रापि। १५ व्यापाराविति कृतकर्तव्यावित्यर्थ। १६ इति—एतदर्थम्। १७ अन्यतरपरिशेषमिति—एकस्य अपरस्मिन्नन्तर्भावनैव उभयोरेकदेवतात्व भवितुमर्हतीति कस्य कस्मिन्नन्तर्भावेन मुख्यत्वेन परिशेष इत्याशयेन शङ्कन इत्यर्थः।

[१]मृत्युरेव फलरूपः। यः पुनरेवमेनमश्वमेधं मृत्युमेका देवतां वेदाहमेव मृत्युरस्म्यश्वमेध एका देवता मद्रूपाश्वाग्निसाधनसाध्येति। सोऽपजयति पुनर्मृत्युं पुनर्मरणं सकृन्मृत्वा पुनर्मरणाय न जायत इत्यर्थः। अपजितोऽपि मृत्युरेनं पुनराप्नुयादि[२]त्याशङ्क्याऽऽह—नैनं मृत्युराप्नोति। कस्मात्। मृत्युरस्यैवंविद [३]आत्मा [४]भवति। [५]किंच मृत्युरेव फलरूपः सन्नेतासां देवतानामेको भवति तस्यैतत्फलम् ॥७॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥२॥

अथ प्रथमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम्।

द्वया हेत्यादस्य[६] कः संबन्धः। कर्मणां ज्ञानसहितानां [७]परा [८]गतिरुक्ता [९]मृत्वा-

—सा पुनरिति। ननु फलकथनार्थमुपक्रम्य प्राणात्मनाऽन्यादित्ययोरेकत्वं वदता प्रक्रान्तं विस्मृतमिति नेत्याह—स पुनरिति। एकत्वमभिन्नत्वम् ॥७॥

से अपना विभाग किया"—। पुन वह ही क्रियाकारकादि निष्पत्ति के लिए, उत्तरकाल मे एक ही देवता मृत्युलक्षण प्राणाख्य फलरूप हो जाता है। जो इस अश्वमेध को इस प्रकार मृत्युरूप एक देवता जानता है, अर्थात् 'मैं ही अश्वमेध रूप मृत्यु हू, अश्व और अग्नि रूप साधन से सिद्ध होने वाला एक मृत्युरूप देवता मेरा स्वरूप है' इस प्रकार जो उपासना करता है, वह पुनर्मृत्यु को जीत लेता है अर्थात् एक बार मर कर पुन मरने के लिए उत्पन्न नही होता। पराजित होने पर भी इसे मृत्यु पुन ग्रहण कर लेगी—ऐसी शका होने पर कहते है—इसे मृत्यु पुन प्राप्त नही करती। ऐसा क्यो? क्योकि इस प्रकार उपासना करनेवाले का मृत्यु आत्मा हो जाता हे। फलान्तर भी है कि उपासक मृत्यु ही फलरूप होकर इन देवताओ मे एक हो जाता है—यही फल उपासक को मिलता है ॥७॥

इस प्रकार प्रथम अध्याय का द्वितीय ब्राह्मण पूर्ण हुआ।

१ मृत्युरेवेति मृत्युलक्षणप्राणाख्यैवेत्यर्थं। २ गत्रुवत्। ३ आत्मा भवतीति-ननु अशनाया हि मृत्युरित्यशनायापिपासावती सवस्थूलप्रपञ्चसहर्त्री या मृत्युशब्दिता प्राणाख्योपास्या देवतोक्ता सैव देवता तत्कर्तुत्यायादुपासितुरात्मा चेत्तर्हि क्षुत्पिपासादित सुदुखी स्यात् तस्यार्थोऽनर्थकरेणोपासनेनेति चेन्न मृत्योर्हि साक्षादात्मा निरुपाधिको जरादिवर्जित स चेदुपासितुरात्मा कथ सर्वोपद्रवरहितो न स्यात् अशनायादिना चोपलक्षणेन तस्य सर्वसहर्तृत्वमेवेष्टमिति भाव। तदुक्त वार्तिके— 'अशनायावती योक्ता मृत्यु सर्वान्नघस्मरा। सैवात्मा विदुष साक्षादात्मा स्यादजरोऽमर ॥" इति यद्यपि विदुषो मृत्युरात्मा तथापि तस्य देहसबन्धादाध्यात्मिक मृत्युसबन्ध स्यादिति चोद्य तु 'नैन'मिति वाक्येन दत्तोत्तरम् तर्हि विदुष शरीरमविनाशि तिष्ठेत् ततस्तस्य शरीरत्वव्याहतिरित्यपि चोद्य 'मृत्युरस्य'ति वाक्येन दत्तसमाधान प्राणात्मना स्थितो विद्वान् वर्तमानदेहमारब्धकर्मान्ते जहाति ततश्च तस्य सर्वसम्बन्धविनिर्मोको भवति न पुनर्मरणार्थं देह गृह्णाति इति भाव। तदुक्त वार्तिके— 'नैनमाध्यात्मिको मृत्युस्तन्मृत्युत्वादवाप्नुयात्। सकृन्मृत्वाऽमुदेहेन मुच्यते सर्वबन्धनादिति" ॥ अत्र तन्मृत्युत्वादिति-अजरामरात्मना स्थितस्योपासितुर्मृत्योरपि मृत्युत्वादित्यर्थ। अमुदेहेनेति प्राणात्मना स्थित इत्यर्थ। ४ ननु विदुष सर्वसम्बन्धविनिर्मोको न युक्तोऽन्यादि प्रेष्यत्वादित्याशङ्क्यानन्तरवाक्यार्थकथनेन परिहरति किं चेति-फलान्तरमाह-किंचेति। उपासक इति शेष। ५ "तृतीयब्राह्मणे प्राण क्षुद्धादिगुणसयुत। हिरण्यगर्भप्राप्त्यर्थमुपास्य प्रतिपादित ॥' इति वार्तिककारै। ६ पर। ७ फलम्। ८ मृत्स्वात्मभाव इति। तस्याभाणस्याभाविकामङ्गलक्षणपाप्मस्वरूपमृत्युव्यावृत्त्यर्थमत्रत्यमृत्युशब्दार्थमाहुर्वार्तिककाचार्या तथाहि—"आध्यात्मिकपरिच्छेदव्यावृत्तियत्नमाश्रयात्। स मृत्युर्मृत्युशब्देन फलभूतोऽत्र भण्यत" इति यस्य सूत्रस्यात्मत्वेन गताश्रयाम्। परिच्छेदव्यावृत्ति देहपरिच्छेदाभिमाननिवृत्तिरित्यर्थ।

त्ममावोऽश्वमेध[1]गत्युक्त्या । अथेदानीं मृत्य्वात्ममावसाधनभूतयोः कर्मज्ञानयोर्यत[2] उद्भवस्तत्प्रकाशनार्थमुद्गीथब्राह्मणमारभ्यते । ननु मृत्य्वात्मभावः पूर्वत्र ज्ञानकर्मणोः फलमुक्तम् । [3]उद्गीथज्ञानकर्मणोस्तु मृत्य्वात्मभावातिक्रमणं फलं [4]वक्ष्यति । [5]अतो [6]भिन्नविषयत्वात्फलस्य न पूर्वकर्मज्ञानो[7]द्भवप्रकाशनार्थमिति चेत् । नायं दोषः । [8]अग्न्यादित्यात्ममावत्वादु-

ब्राह्मणान्तरमवतार्य तस्य पूर्वेण संबन्धाप्रतीतेर्न सोऽस्तीत्याक्षिपति—द्वया हेत्यादस्येति । विवक्षितं संबन्धं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—कर्मणामिति । सा काष्ठा सा परा गतिरिति श्रुतेरुक्ता परा गतिर्मुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—मृत्य्वात्मभाव इति । अश्वमेधोपासनस्य साश्वमेधस्य केवलस्य वा फलमुक्तं नोपास्त्यन्तराणां कर्मान्तराणां चेत्याशङ्क्याश्वमेधफलोक्त्योपास्त्यन्तराणां केवलानां समुच्चितानां च फलमु[9]पलक्षितमित्याह—अश्वमेधेति । वृत्तमनूद्योत्तरब्राह्मणस्य तात्पर्यमाह—अथेति । ज्ञानयुक्तानां कर्मणां संसारफलत्वप्रदर्शनानन्तरमिति यावत् । ज्ञानकर्मणो[10]द्भावकस्य प्राणस्य स्वरूपं निरूपयितुं ब्राह्मणमित्यु[11]त्थाप्योत्थापकत्वं संबन्धमुक्तमाक्षिपति—नन्विति । मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यत[12] इति मृत्योरतिक्रमस्य वक्ष्यमाणज्ञानकर्मफलत्वात्पूर्वत्र च तद्भावस्य तत्फलस्योक्तत्वादुभयस्यापि फलस्य भेदात्पूर्वो-

प्रथम अध्याय तृतीय ब्राह्मण

"द्वया ह प्राजापत्या" इस मन्त्र से प्रारम्भ होने वाले इस ब्राह्मण का पूर्वब्राह्मण से क्या सम्बन्ध है? अश्व के फल द्वारा ज्ञानसहित कर्मों की मृत्युरूपता की प्राप्तिरूप चरम फल बतलाया गया है। अब यहां मृत्युस्वरूपता के साधनभूत कर्म और ज्ञान का जिस वक्ष्यमाण पाप्मस्वरूप से उदय होता है, उसी को स्पष्ट करने के लिए उद्गीथ ब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है। (उत्थाप्य उत्थापक भाव से) अब शंका होती है—पहले तो ज्ञान और कर्म का फल मृत्य्वात्मभाव है—ऐसा कहा। किन्तु उद्गीथ ब्राह्मणोक्त ज्ञान और कर्म का मृत्य्वात्मभाव का अतिक्रमण फल बतलाया जायगा। अत ज्ञान कर्म के भेद से फल के भिन्न-उद्देश्यक होने के कारण पूर्व कर्मज्ञान के उद्भावक होने से प्रकाशन के लिए

१ गति —फलम् । २ यत उद्भव इति - यस्मात्कारणात वक्ष्यमाणपाप्मभिरनभिभव इत्यर्थं । ३ उद्गीथज्ञानकर्मणो - उद्गीथब्राह्मणोक्तयोस्तयोरित्यर्थ । ४ बृ०उ० १ ३ १२ । ५ अत इत्यादि - अत इति भेदादित्यर्थ । ज्ञानकर्मणोरिति शेष । ६ भिन्नविषयत्वादिति - भिन्नोद्देश्यकत्वादित्यर्थं । तथा च पूर्वोत्तरब्राह्मणज्ञानकर्मणोर्भिन्नविषयत्वात् फलस्य भेदादित्येवमन्वय । ७ उद्भावकेत्यर्थं । ८ अग्न्यादीति पाठान्तरम् । ९ उपलक्षितमिति—उपलक्षणतयोक्तमित्यर्थं नत्वश्वमेधफलोक्तिस्तन्मात्रफलप्रहार्या सर्वस्मात्फलवदुपायराशेर्वैराग्यस्येष्टत्वादिति शेष, अश्वमेधफलोक्तेरपि ततो वैराग्यार्थत्वात् । ननु ज्ञानयुक्ताना कर्मणां सूत्राप्तिफलत्वे कथ पितृलोकाद्याप्ति, न ह्येकमेव साधन ब्रह्मलोक पितृलोकादि च प्रापयति तत्कर्मणा पितृलोक इत्यादिवाक्यविरुद्धमित्याशक्य समाहित वार्तिके तथाहि—"अल्पीय फलप्राप्तिरल्पीयोज्ञानकर्मत । अल्पत्वमभिभूते स्यात्तयोरासुरपाप्मभिरिति ।" महत्तराभ्या ज्ञानकर्मभ्या समुच्चिताभ्या केवलाद्वा तथाविधज्ञानात ब्रह्मलोक । ताभ्यामेवाल्पीयोभ्या पितृलोकादीति व्यवस्थाया न श्रुतिविरोधोऽस्तीत्यर्थं । ननु ज्ञानकर्मणोरल्पत्व नाम न्यूनफलत्व परिच्छिन्नफलत्व वा । नाद्य परस्पराश्रयात् । नेतर सूत्राद्युपासनस्यापि तथात्वेन पितृलोकादिफलत्वप्रसङ्गात् । अत आह-अल्पत्वमिति । तयोर्ज्ञानकर्मणोरल्पत्वम् आसुरपाप्मभिरभिभूत स्यात् तथा च तदभिभूतत्वमेव तदल्पत्वमित्यर्थं । १० अनभिभूतत्वकारणस्य पाप्मभिर्वक्ष्यमाणे । ११ उत्थाप्यत्यादि—पूर्वोक्तज्ञानकर्मणी अनभिभूत एव मति ब्रह्मलोकायाल नायथेत्यवगतवत इयमुत्तिष्ठत आकाक्षा तयोर्यदाश्रयादनभिभवस्तत्कि स्वरूपमित्युत्थापकत्वोत्थाप्यत्वभाव । १२ बृ०उ० १ ३ १२ ।

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति॥१॥

प्रजापति के देव और असुर—ऐसे दो प्रकार के पुत्र थे। उनमे देवगण थोडे ही थे और असुरगण अधिक थे (क्योकि स्वाभाविक कर्म-जन्य प्रवृत्ति अधिक होती है और शास्त्र जन्य प्रवृत्ति अल्प होती है), इन लोको मे वे दोनो ज्ञानसाध्य लोक के निमित्त परस्पर ईर्ष्या करने लगे, उनमे से देवो ने कहा—कि यज्ञ मे उद्गीथ के द्वारा हम असुरो को जीतेंगे॥१॥

[1]द्गीथफलस्य पूर्वत्राप्येतदेव फलमुक्तमेतासां देवतानामेको भवतीति। [2]ननु मृत्युमतिक्रान्त इत्यादि विरुद्धम्। न। स्वाभाविकपाप्मासङ्गविषयत्वाद[3]तिक्रमणस्य।

[4]कोऽसौ स्वाभाविकः पाप्मासङ्गो मृत्युः। कुतो वा तस्योद्भवः। केन वा तस्यातिक्रमणम्। कथं वेत्येतस्यार्थस्य प्रकाशनायाऽऽख्यायिकाऽऽरभ्यते। कथम्—

त्तरयोर्ज्ञानकर्मणोर्विषयशब्दितोद्देश्यभेदान्न पूर्वोक्तयोस्तयोरुद्भवकारणप्रकाशनार्थं ब्राह्मणमित्यर्थः। पूर्वोत्तरज्ञानकर्मफलभेदाभावादेक[6]विषयत्वात्तदुद्भावकप्रकाशनार्थं ब्राह्मणं युक्तमिति परिहरति—नाय-मिति। वाक्यशेषविरोधं शङ्कित्वा दूषयति—नन्वित्यादिना। स्वाभाविकः शास्त्रानाधेयो योऽयं पाप्मा विषयासङ्गरूप स मृत्युस्तस्यातिक्रमण वाक्यशेषे कथ्यते नहि हिरण्यगर्भाख्यमृत्योरत पूर्वोक्तज्ञानकर्मभ्यां [8]तुल्यविषयत्वमेवोत्तरज्ञानकर्मणोरि[7]त्यर्थः।

ज्ञानकर्मणोरुद्भावक वक्तु ब्राह्मणमारभ्यतामाख्यायिका तु किमर्थेत्याशङ्क्य तस्यास्तात्पर्य-माह—कोऽसावितिं। कथं यथोक्तो ब्राह्मणाख्यायिकयोरर्थः शक्यो ज्ञातुमित्याकाङ्क्षा [9]निक्षिप्याक्षराणि

नही हो सकते। (शका का परिहार करते हैं—) यह दोष नही है। क्योकि उद्गीथ ब्राह्मणोक्त ज्ञान कर्म फल का प्रयोजन है—अग्नि एव आदित्य आत्मभाव। पहले भी "वह उपासक इन देवताओ मे से कोई एक देवता हो जाता है" —इस वाक्य से यही फल बतलाया है। (पूर्वोत्तरज्ञानकर्म की अग्न्यादिदेवतात्मभाव फलरूपता होने से) यदि कहो 'मृत्यु को अतिक्रमण कर लेता है'—यह कथन विरुद्ध है। ऐसा कहना ठीक नही। अतिक्रमण वाक्य का "स्वाभाविक पाप्मासङ्गरूप मृत्यु का अतिक्रमण"—यह अर्थ है।

वह शास्त्र अनाधेय पाप्मासङ्ग मृत्यु क्या है? उसकी उत्पत्ति कैसे होती है? किससे उसका अतिक्रमण होता है? किस प्रकार इस अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए आख्यायिका का प्रारम्भ किया जाता है? किस प्रकार?—'द्वया'—अर्थात् दो प्रकार के थे। 'ह' यह निपात पूर्व प्रसङ्ग का द्योतक है।

१ उद्गीथब्राह्मणोक्तज्ञानकर्मफलस्य। २ नन्विति - पूर्वोत्तरज्ञानकर्मणोरग्न्यादिदेवतात्मभावफलत्व इति दोष। ३ अतिक्रमणस्य - अतिक्रमणवाक्यस्य। ४ कोऽसावित्यादि-प्रथम स्वरूपप्रश्न। द्वितीय कारण-प्रश्न। तृतीय अतिक्रमकरणप्रश्न। चतुर्थं इतिकर्तव्यतापरपर्यायसामग्र्यभिन्नोपकरणप्रश्न। ५ अनभिभूतत्वकारणेत्यर्थं। ६ उद्देश्यकत्वात्। ७ एकोद्देश्यकत्वम्। ८. एव च हिरण्यगर्भान्वाप्तिर्महाफलम-वान्तरफल तु पाप्ममृत्य्वतिक्रम इति विवेक। ९ उत्थाप्य।

[1]द्वया द्विप्रकाराः। हेति पूर्ववृत्तावद्योतको निपातः। वर्तमानप्रजापतेः पूर्वजन्मनि यद्वृत्तं तदवद्योतयति हशब्देन। प्राजापत्याः [2]प्रजापतेर्वृत्तजन्मावस्थस्यापत्यानि प्राजापत्याः। के ते। देवाश्चासुराश्च। तस्यैव प्रजापतेः प्राणा वागादयः। कथं पुनस्तेषां देवासुरत्वम्। उच्यते—शास्त्रजनितज्ञानकर्म[3]भाविता द्योतनाद्[4]देवा भवन्ति। त एव स्वाभाविकप्रत्यक्षानुमानजनितदृष्टप्रयोजनकर्मज्ञानभाविता असुराः। स्वेष्वेवासुषु [5]रमणात्सुरेभ्यो वा देवेभ्योऽन्यत्वात्।

व्याकरोति—द्वयमित्यादिना। निपातार्थमेव स्फुटयति—वर्तमानेति। प्रजापतिशब्दो भविष्यद्वृत्त्या यजमानं गोचरयतीत्याह—वृत्तेति। इन्द्रादयो देवा विरोचनादयश्चासुरा इत्याशङ्क्य वारयति—तस्यैवेति। याजमानेषु [6]प्राणेषु देवत्वमसुरत्वं च विरुद्धं न सिध्यतीति शङ्कते—कथमिति। तेषु तदुभयमौ[7]पाधिकं साध्यति—उच्यत इति। शास्त्रानपेक्षयोर्ज्ञानकर्मणोरु[7]त्पादकमाह—प्रत्यक्षेति। [8]संनिधानासंनिधानाभ्यां प्रमाणद्वयोक्तिः। स्वेष्वेवासुषु रमणं नामाऽऽत्मंभरित्वम्।

वर्तमान प्रजापति के पूर्वजन्म में जो कुछ हुआ उसी को "ह" शब्द से प्रदर्शित करते हैं। (प्रजापति शब्द से हिरण्यगर्भ का उपादान करने में क्या क्षति है?—इस पर कहते हैं) "प्राजापत्या." अर्थात् जिस जन्म में प्रजापति का जो कुछ पूर्व वृत्त घटित हुआ था, उसमें होने वाले प्रजापति के पुत्र प्राजापत्य कहलाये। वे कौन थे? उसी प्रजापति के वागादि प्राण थे—देवता और असुर। उनका देवासुरत्व कैसे सिद्ध हुआ? —इस पर कहते हैं—शास्त्र से होने वाले ज्ञान और कर्म से संस्कृत प्राण, द्योतनशील अर्थात् प्रकाशमय होने से देवता कहे जाते हैं। तथा स्वाभाविक प्रत्यक्ष और अनुमान से होने वाले, दृष्ट प्रयो-

---

१ इयं हि द्वया हेत्याद्या श्रुतिराख्यायिकारूपा यथाक्रतुमुत्सितस्वाभाविकपाप्मस्वरूपादिचतुष्टयज्ञानद्वारा प्राणयाथात्म्यं निरूपयितुं प्रक्रान्तेत्यभिप्रेत्याकाङ्क्षितमेव प्रदर्शयति द्वयेत्यादिना। तथा च वार्तिकम्— "यथोक्तार्थप्रसिद्ध्यर्थं श्रुतिराख्यायिकात्मिका। द्वया हेत्येवमाद्यं प्रचक्राम परीक्षितुम्॥" इति किं तन्निरूपणमुद्गीथोपास्तेरुपकरोति किंवा सर्वप्राणोपास्तीनामिति वीक्षायाम् द्वितीयमाश्रित्याहुर्वार्तिकाचार्या "प्राजापत्यं पदं यो यो ह्यधिकारी परीप्सति। तन्निर्धारितया श्रुत्या पदमाप्नोत्युपासनात्" इति॥ यो य सोत्र स्थानमाप्तुमिच्छति स स तदुपायमन्वेषमाणोऽनया श्रुत्या शुद्ध्यादिगुणवं प्राणं निश्चित्य तत्र तत्रोक्ततत्तद्गुणकस्य तस्योपासनात् तत्पदमाप्नोति अतोऽयं विचार- सर्वप्राणोपास्त्युपकारीत्यर्थः। अत्र चानधिकारिपर्युदासार्थमधिकारीत्युक्तम्। २. प्रजापतेर्वृत्तेत्यादि। ननु प्रजापतिशब्देन हिरण्यगर्भस्यैवोपादाने का क्षति। उच्यते। अत्र हि प्राजापत्यानां देवासुराणां सग्रामोक्तिद्वारा प्रजापतेर्ज्ञानकर्मणी कर्तव्ये बध्येते ज्ञानाद्युपदेशश्च सर्वो गुणप्रधानत्वेन समप्रधानत्वेन वा सर्वप्रकारोऽपि श्रौतः स्मार्तो मानुष्याद्यभिमानवन्तं प्रत्येव युक्तः शास्त्रस्य तदधिकारत्वात् तस्माद्यजमानोऽत्र प्रजापतिरिति। तदुक्तम्— "ज्ञानकर्मो देवो हि नरः प्रत्येव सर्वथा। सर्वं श्रौतो यतस्तस्माद् स एवेहाभिधीयते" इति॥ ३. संस्कृता। ४ स्वीयप्राणमात्रैकसंरक्षणपरायणत्वादित्यर्थः। ५ यत्रैव प्राणेषु सुरत्वं तत्रैवासुरत्वं विरुद्धमित्यर्थः। ६ औपाधिकमिति—तथा च वार्तिकम्—"शास्त्रस्वभावजज्ञानकर्मसंस्कारहेतुतः। देवासुरत्वं प्राणानां निरूढोपाधिकारणात्॥" शास्त्रजे स्वभावजे च ये ज्ञानकर्मणी तयोः संस्कारैर्वागादीनां संस्कृतत्वाद्देवो शास्त्रीयज्ञानादिसंस्कृतत्वमितरं—ज्ञानादिसंस्कृतत्वञ्चेति निरूढोपाधिसम्बन्धरूपकारणात् यजमानप्राणानां देवत्वमसुरत्वं चेत्यर्थः। ७ उत्पादकम्—आपादकम्। ८ संनिधानेत्यादि—संनिधानं विषयसन्निकर्षः प्रत्यक्षस्य। असंनिधानं तद्विप्रकर्षोऽनुमानस्य—अनेन च विप्रकृष्टविषयाण्यन्यान्यप्युपलक्षणीयानीति भावः।

यस्माच्च दृष्टप्रयोजनज्ञानकर्मभाविता असुराः, ततस्तस्मात्कानीयसा. कनीयांस एव कानीयसाः स्वार्थेऽणि वृद्धिः कनीयांसोऽल्पा एव देवाः । ज्यायसा असुरा ज्यायांसोऽसुराः । स्वाभाविकी हि कर्मज्ञानप्रवृत्तिर्महत्तरा प्राणाना शास्त्रजनितायाः कर्मज्ञानप्रवृत्तेः । दृष्टप्रयोजनत्वात् । अत एव कनीयस्त्व देवानां, शास्त्रजनितप्रवृत्तेरल्पत्वात् । अत्यन्तयत्नसाध्या हि सा ।

ते देवाश्चासुराश्च प्रजापतिशरीरस्था एषु लोकेषु निमित्तभूतेषु स्वाभाविकेतरकर्मज्ञानसाध्येष्वस्पर्धन्त स्पर्धा कृतवन्तः । देवाना चासुराणा च वृत्त्युद्भवाभिभवौ स्पर्धा कदाचिच्छास्त्रजनितकर्मज्ञानभावनारूपा वृत्तिः प्राणानामुद्भवति । यदा चोद्भवति

तत इत्यादिवाक्यद्वयं व्याचष्टे—यस्माच्चेति । देवानामल्पत्व प्रपञ्चयति—स्वाभाविकी हीति । महत्तरत्वे हेतुर्दृष्टप्रयोजनत्वादिति । असुराणा बहुत्व प्रपञ्चयति—शास्त्रजनितेति । असुराणा बाहुल्यमिति शेष । तदेव साधयति—अत्यन्तेति ।

उभयेषा देवासुराणा मिथ संघर्षं दर्शयति—ते देवाश्चेति । कथं ब्रह्मादीना स्थावरान्ताना भोगस्थानाना स्पर्धानिमित्तत्वमित्याशङ्क्य तेषा शास्त्रीयेतरज्ञानकर्मसाध्यत्वात्तयोश्च देवासुरजयाधीनत्वात्तस्य च स्पर्धापूर्वकत्वात्परम्परया लोकाना तन्निमित्तत्वमित्यभिप्रेत्य विशिनष्टि—स्वाभाविकेति।

जन वाले कर्म और उपासना से सस्कृत, वे प्राण ही असुर है । अथवा केवल अपने ही प्राणो के सरक्षण मे तत्पर रहने के कारण सुर यानी देवताओ से भिन्न होने से वे असुर कहलाते है।

क्योकि असुर दृष्टप्रयोजन वाले ज्ञान और कम से सस्कृत है इसलिए देवता अल्प है । कनीयान् शब्द मे ही स्वार्थ मे अणप्रत्यय होकर आदिवृद्धि करके 'कानीयस' सिद्ध हुआ । 'कनीयास' अर्थात् देवता अल्प ही है । असुर ज्येष्ठ है, अथवा अपेक्षाकृत अधिक महान् है । क्योकि (हिंसा-अनृतादि रूप स्वाभाविक अज्ञान जनित कर्मों मे प्रवृत्त होने के कारण) दृष्टप्रयोजन वाली प्राणो की शास्त्रजनित कर्म-ज्ञान प्रवृत्ति की अपेक्षा उनमे स्वाभाविकी कर्मज्ञान प्रवृत्ति ही अधिक होती है । इसलिए देवताओ की अल्पता है, क्योकि शास्त्रजनित प्रवृत्ति की अल्पता है, अत्यन्त प्रयत्न करने पर (शास्त्रजनित प्रवृत्ति) सिद्ध होती है ।

वे देवता और असुर प्रजापति के शरीर मे रहते हैं । स्वाभाविक एव शास्त्रजनित कर्म और ज्ञान से साध्य इन लोको के लिए वे परस्पर सघर्ष करने लगे । दैवी और आसुरी चित्तवृत्तियो का उठना और दबना ही इन देवताओ और असुरो की स्पर्धा है । कभी तो प्राणो की शास्त्रजनित कर्म-ज्ञान भावनास्वरूपा शमादिवृत्ति होती है । और जब यह उठती है तो दृष्टप्रयोजन वालो प्रत्यक्ष

१ दृष्टप्रयोजनत्वादिति—हिंसाऽनृतादिरूपाया स्वाभाविक्याज्ञानकर्मप्रवृत्तेरिति शेष । २ स्पर्धां कृतवन्त इति । स्पर्धां कुर्वता देवानामयमभिप्राय वार्तिके—'आसुरेभ्योऽधिकारेभ्यो व्युत्थाप्यह प्रजापतिम् । दैवीर्भूमी-र्नयामैनमिति देवचिकीर्षितम् ॥" असुराणामयमभिप्राय —"दैवस्य एनमाच्छिद्य कामक्रोधादिसाधना । आनयामासुरीर्भूमीरिति दैतयनिश्चिति ॥' इह—व्यवहारमार्गे स्थित प्रजापतिं—यजमानम् आसुराधिकारा कामादय । व्युत्थाप्य विमुखीकृत्य । दैवभूमी—दैवसम्पद इत्यर्थ । ३ वृत्ति शमादिरूपा । ४. भोगभूमिशरीराणामित्यर्थ । ५ तयो—शास्त्रीयतदितरज्ञानकर्मणो ।

तदा दृष्टप्रयोजना प्रत्यक्षानुमानजनितकर्मज्ञानभावनारूपा तेषामेव प्राणानां वृत्तिरासुर्यभिभूयते। स देवानां जयोऽसुराणां पराजयः। कदाचित्तद्विपर्ययेण देवानां वृत्तिरभिभूयत आसुर्या उद्भवः। सोऽसुराणां जयो देवानां पराजयः। एवं देवानां जये धर्मभूयस्त्वादुत्कर्ष आ प्रजापतित्वप्राप्तेः। असुरजयेऽधर्मभूयस्त्वादपकर्ष आ स्थावरत्वप्राप्तेः। उभयसाम्ये मनुष्यत्वप्राप्तिः। त एवं कनीयस्त्वादभिभूयमाना असुरैर्देवा बाहुल्यादसुराणां किं कृतवन्त इत्युच्यते—ते देवा असुरैरभिभूयमाना ह किलोचुरुक्तवन्तः। कथम्। हन्तेदानीमस्मिन्यज्ञे ज्योतिष्टोम उद्गीथेनोद्गीथकर्मपदार्थकर्तृस्वरूपाश्रयणेनात्ययामातिगच्छामः। असुरानभिभूय स्वं देवभावं शास्त्रप्रकाशितं प्रतिपद्यामह इत्युक्तवन्तोऽन्योन्यम्। उद्गीथकर्मपदार्थकर्तृस्वरूपाश्रयणं च ज्ञानकर्मभ्याम्। कर्म वक्ष्यमाणं मन्त्रजपलक्षणं विधित्स्यमानं तदेतानि जपेदिति। ज्ञानं त्विदमेव निरूप्यमाणम्।

का पुनरेषां स्पर्धा नामेत्याशङ्क्याऽऽह—देवाना चेति। तामेव सफला विवृणोति—कदाचिदित्यादिना। अधिकृतैरसुरपराजये देवजये च प्रयतितव्यमित्यनुग्रहबुद्ध्या जयफलमाह—एवमिति। आकाङ्क्षापूर्वकमनन्तरवाक्यमादाय व्याकरोति—त एवमित्यादिना। योऽयमुद्गीथो नाम कर्माङ्गभूत. पदार्थस्तत्कर्तुः प्राणस्य स्वरूपाश्रयणमेव कथं सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—उद्गीथेति। किं तत्कर्म किं वा ज्ञानं तदाह—कर्मेति। तदेतान्य"सतो मा सद्गमयेत्यादीनि यजूंषि जपेदिति विधित्स्यमानमिति योजना।

अनुमान जनित कर्मज्ञानभावनारूपा, उन प्राणो की कामादि रूपा आसुरीवृत्ति दब जाती है। यह देवताओ की जीत है, और असुरो की हार है। कभी उल्टा हो जाता है, देवताओ की कामादिवृत्ति दब जाती है, एव राक्षसो की कामादिवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। यह असुरो की जीत है और देवताओ की हार है। इस प्रकार देवताओ की जीत होने पर धर्म की अधिकता से प्रजापतित्व प्राप्ति पर्यन्त (वागाद्युपहित यजमान का) उत्कर्ष होता है। असुरो की जीत से अधर्म के बाहुल्य से स्थावरत्व प्राप्ति पर्यन्त अपकर्ष होता है। धर्म और अधर्म के समान होने से मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है। असुरो के प्राबल्य से एव निराश्रय होने से उनके द्वारा पीडित करने से उन देवताओ ने क्या किया? इस पर कहते हैं—असुरो द्वारा पीडा पहुँचाए जाने पर वे देवता इस प्रकार बोले। किस प्रकार बोले? "अरे! अब इस ज्योतिष्टोम यज्ञ में कर्म के अङ्गभूत उद्गीथ पदार्थ के उद्गाता स्वरूप प्राण के आश्रय से हम असुरो का अतिक्रमण करेंगे। असुरो का पराभव कर शास्त्रप्रतिपादित अपने देवभाव को प्राप्त करेंगे" —इस प्रकार एक दूसरे से बोले। उद्गीथ कर्माङ्गभूत पदार्थ के उद्गाता स्वरूप प्राण का आश्रय

---

१ वृत्ति कामादिरूपा। २ उत्कर्ष इति—वागाद्युपहितस्य यजमानस्येति शेष। ३ कनीयस्त्वादिति—निराश्रयत्वाच्चेति शेष। ४ अभिभूयमाना—पीड्यमाना। ५ बाहुल्यादिति प्राबल्याच्चेति शेष। ६ उद्गीथकर्मेत्यादि—उद्गीथनामको य कर्माङ्गभूत पदार्थ। यद्वा उद्गीथरूपो य कर्मपदार्थ क्रियात्मक। ७. तस्य कर्ता प्राण तस्यैव प्राणे सामगानात्मकोद्गीथस्य साध्यत्वात्। तत्स्वरूपाश्रयणेनेत्यर्थ। यद्वा कर्ता उद्गाता तस्य स्वरूपम् आत्मा प्राण एव तदाश्रयणेनेत्यर्थ.। ८ प्राणविषयकोपासनकर्मसमुच्चयानुष्ठानादित्यर्थ। ९. ज्ञान त्विदमेवेति—अशुद्धवागादिपरित्यागपूर्वकशुद्धप्राणोपासनमेवेत्यर्थ। १० निरूप्यमाणम्—परीक्ष्यमाण विचार्यमाणमिति यावत्। ११ बृ०उ० १।३।२८।

नन्विदमभ्यारोहजपविधिशेषोऽर्थवादो न ज्ञाननिरूपणपरम् । न । 'य एवं वेदेति 'वचनात् । उद्गीथप्रस्तावे पुराकल्पश्रवणादुद्गीथविधिपरमिति चेत् । न । अप्रकरणात् । उद्गीथस्य चान्यत्र विहितत्वात् । विद्याप्रकरणत्वाच्चास्य ।

अभ्यारोहजपस्य चानित्यत्वात् । 'एवंवित्प्रयोज्यत्वात् । विज्ञानस्य च 'नित्यवच्छ्-

'द्वया हेत्यादि न ज्ञाननिरूपणपर जपविधिशेषत्वेनार्थवादत्वात्तत्कुतोऽत्र ज्ञानस्य निरूप्यमाणत्वमित्याक्षिपति—नन्विति । आभिमुख्येनाऽऽरोहति देवभावमनेनेत्यभ्यारोहो मन्त्रजपस्तद्विधिशेषोऽर्थवादो द्वया हेत्यादिवाक्यमित्यर्थः । उपास्तिविधिश्रवणात्तत्परं वाक्यं न जपविधिशेष इति दूषयति—नेति । यद्यपि जपविधिशेषस्तथाऽप्युद्गायेत्यौद्गात्रस्य कर्मणः सनिधाने 'पुरातनकल्पनाप्रकारस्य द्वया हेत्यादिना श्रवणात्तद्विधिशेषोऽर्थवादोऽयमिति शङ्कते—उद्गीथेति । नेदं वाक्यं 'ज्ञानं चोद्गीथविधिशेषस्तत्प्रकरणपठितत्वाभावेन संनिध्यभावादिति दूषयति—नाप्रकरणादिति । "उद्गीथस्तर्हि क्व विधीयते न खल्वविहितमङ्गं भवति तत्राऽऽह—उद्गीथस्य चेति । अन्यत्रेति कर्मकाण्डोक्तिः । अथोद्गायेत्युद्गीथविधिरपीह प्रतीयते तत्कथं संनिधिरपोद्यते तत्राऽऽह—विद्येति । उद्गीथविधिरिह प्रतीयमान 'प्राणस्योद्गातृदृष्ट्योपासनविधिरन्यथा प्रकरणविरोधादित्यर्थः ।

जपविधिशेषत्वमुद्गीथविधिशेषत्वं वा ज्ञानस्य नास्तीत्युक्तम् । इदानीं जपविधिशेषत्वाभावे युक्त्यन्तरमाह—अभ्यारोहेति । अनित्यत्वं साधयति—एवमिति । प्राणविज्ञानवताऽनुष्ठेयो जपो न तद्विज्ञानात्प्रागस्ति 'तत्रासौ पश्चाद्भावी प्रागेव सिद्धं विज्ञानं "प्रयोजयतीत्यर्थः । "तस्यापि प्राचीनत्वं कथमित्याशङ्क्याऽऽह—विज्ञानस्य चेति । य एवं विद्वान्पौर्णमासीं यजत इतिवद्य एवं वेदेति विज्ञानं श्रुतम् । न

प्राणविषयक कर्म के समुच्चय रूप अनुष्ठान से हो सकता है । आगे कहा जाने वाला वह कर्म मन्त्र जप लक्षण वाला है । "तदेतानि जपेत्' इस वाक्य से उसका विधान किया जाता है । यही (मधुद्रवागादि का परित्याग कर शुद्ध प्राणो की उपासना ही) वह ज्ञान है, जिसका विचार किया जायगा ।

यदि शङ्का करो, कि यह तो अभ्यारोह मन्त्रजप विधि का शेषरूप अर्थवाद है, ज्ञानपरीक्षण परक नही है—तो ऐसा कहना ठीक नही । इसमे "जो ऐसा जानता है" यह श्रुति प्रमाण है । यदि कहो उद्गीथप्रकरण मे आख्यायिकारूपा पुरातन कल्पनासम्बन्धी श्रुति होने से उद्गीथ विधिपरक है, तो ठीक नही, क्योकि यह तो उद्गीथ का प्रकरण नही है । सामोद्गान रूप उद्गाता के कर्म का अन्यत्र विधान किया गया है । यहाँ तो विद्या का प्रकरण है ।

इसमे दूसरा भी हेतु बतलाते है, कि अभ्यारोह जप अनित्य है । वह प्राण विज्ञानी द्वारा ही

१. बृ०उ० १३७ । २ उद्गीथस्य—सामोद्गानरूपस्योद्गातु कर्मण । ३ एवंवित्प्रयोज्यत्वादिति—प्राणविज्ञानवताऽनुष्ठेयत्वादित्यर्थः । जपस्येति शेष । जपस्य प्राणविज्ञानवत्पुरुषानुष्ठेयत्वेन विज्ञानात् प्रागसत्त्वात् कादाचित्कत्वम् । तदेव च तस्यानित्यत्वमिति ध्येयम् । ४ नित्यवच्छ्रवणादिति—सिद्धवच्छ्रवणादित्यर्थ । एव वेदेति तस्य सिद्धवच्छ्रवण न तु एव विद्यादिति साध्यवदित्यर्थ । ५ पुरातनकल्पनाप्रकारस्येति—आख्यायिकारूपस्येत्यर्थ । ६ प्राणोपासनम् । ७ अथोद्गीथविध्यनभ्युपगमे । ८ प्राणस्येति—उद्गीथानुवादेन वागादिनिन्दाद्वारा मुख्येत्यादि । ९. तत्रासावित्यादि । असौ जप पश्चाद्भावी प्रागेव सिद्ध विज्ञान न प्रयोजयति विज्ञानप्रयोजको न भवतीति योजना तथा च जपस्य प्रागसिद्धत्वेनाप्रयोजकतया विज्ञान प्रति शेषित्व न घटते शेषिणा हि प्राक् सिद्धेनभवितव्यम् शेष प्रति प्रयोजकत्वादिति भाव । १०. अनुष्ठापयतीत्यर्थ । ११ विज्ञानस्यापि ।

वणात् । "तद्वैतल्लोकजिदेव" इति[1] च श्रुतेः । प्राणस्य वागादीनां च [2]शुद्ध्यशुद्धि-
वचनात् । [4]न ह्यनुपास्यत्वे प्राणस्य शुद्धिवचनं वागादीनां च सहोपन्यस्तानामशुद्धिवचनं
वागादिनिन्दया मुख्यप्राणस्तुतिश्चाभिप्रेतोपपद्यते [5]। मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यत[5] इत्यादि
फलवचनं च । प्राणस्वरूपापत्तेर्हि फलं तद्वद्वागादीनाम[6]ग्न्यादिभावः ।

भवतु नाम प्राणस्योपासनं [7]न तु विशुद्ध्यादिगुणवत्तेति । [8]ननु स्याच्छ्रुतत्वात् ।

हि प्रयाजादि पौर्णमासी[9]प्रयोजकम् । तस्या एव तत्प्रयोजकत्वात् । तथा प्राणवित्प्रयोज्यो जपो न
विज्ञानप्रयोजकः । तस्य स्वप्रयोजकत्वेन प्रागेव सिद्धेरा[10]वश्यकत्वादित्यर्थः । [11]"फलवत्त्वाच्च प्राणविज्ञानं
[12]"स्वतन्त्रं विधित्सितमित्याह—तद्वेति । प्राणोपास्तेर्विवक्षितत्वे हेत्वन्तरमाह—प्राणस्येति । 'यद्धि स्तूयते
तद्विधीयते' इति न्यायमाश्रित्योक्तमेव प्रपञ्चयति—न हीति । इतश्च प्राणोपास्तिरत्र विधित्सितेत्याह
—मृत्युमिति । फलवचनं प्राणस्यानुपास्यत्वे नोपपद्यत इति संबन्धः । [13]"उक्तमेव [14]"व्यनक्ति—प्राणेति ।
मृत्युमोक्षणानन्तरं वागादीनां यदग्न्यादित्वं फलं तदध्यात्मपरिच्छेदं हित्वोपासितुराधिदैविकप्राणस्वरू-
पापत्तेरुपपद्यते । [15]"तस्माद्विधित्सितैवात्र प्राणोपास्तिरित्यर्थः ।

[16]"उक्तन्यायेन प्राणोपास्तिमुपेत्य प्राणदेवतां शुद्ध्यादिगुणवतीमाक्षिपति—भवत्विति । यथा

अनुष्ठेय है। प्राण विज्ञान सिद्धवत सुना गया है । श्रुति भी कहती है—' कर्म से असहकृत केवल
प्राणविज्ञान, लोको की प्राप्ति कराने वाला ही है।" प्राणोपासना मे प्राण और वागादि की शुद्धि और
अशुद्धि का वर्णन होने से भी यह विद्या वा प्रकरण सिद्ध होता है । प्राणोपास्ति न होने पर प्राणो की
शुद्धि का वर्णन करना, उसी के साथ प्रतिपादित वागादि को अशुद्ध कहना, नही बनता । इससे

१ तद्वैतदित्यादि–ह शब्दोऽत्र कैवल्य ब्रूते सर्वनाम्नी चोपासन तथा च केवल (कर्मासहकृतम्) प्राणोपासन
सूत्रात्मत्वसाधनमेव भवतीति वाक्यार्थं । २ बृ०उ० १ २ २८ । ३ शुद्धीत्यादि–प्राणस्य शुद्धिरशुद्धिश्च
वागादीनामित्युक्तिवशादस्मिन्प्रकरणे प्राणोपास्तिरभिप्रेता अन्यथा तच्छुद्ध्यादिवचनमनर्थक स्यादित्यर्थ । ४
न हीत्याद्युपपद्यत इत्यन्तस्य भाष्यस्यायमर्थ । वागादीनामशुद्धत्वेन निन्दा प्राणस्य शुद्धत्वेन स्तुतिरित्यर्थवादा-
ल्लिङ्गात् प्राणोपासने विधि कल्प्यत इति । अर्थवादलिङ्गक विधिकल्पनमन्यत्रापि प्रसिद्धमिति वक्तुमभिप्रेते-
त्युक्तम् । ५ बृ०उ० १ ३ १२ । ६ अग्न्यादिभाव इति—"तद्वैतल्लोकजिदेव"त्यत्र प्राणोपास्ते सूत्रात्मत्व
फलमुक्तम् इह च मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यत इति वाक्ये तत्कृतम् (सूत्रात्मभावप्रयुक्तम्) वागाद्युपास्तेरग्न्याद्यात्म-
त्वमुपासितुर्वागादीनामुच्यत इति विशेष । एव प्राणोपास्ते विधित्सितत्वाद्विधिशेषो द्वया हेत्यादिरिति भाव ।
७ नन्वित्यादि–शुद्ध्यादिगुणवती प्राणदेवता नास्ति प्रमाणाभावात् । उपास्तिविधिपरत्वेन श्रुतेरुक्तदेवताया-
मतात्पर्यादित्यर्थ । ८ नन्वित्यादि–ननुरत्रावधारणे–श्रुतत्वादगुणवत्तापि स्यादेवेत्यर्थ । ९. अनुष्ठापकम् ।
१० आवश्यकत्वादित्यर्थ इति यद्वा–अनावश्यको हि जप प्राणविदा तस्याननुष्ठेयत्वसभवात् असत्यपि जपे विदुषो
विद्यया फलसिद्धे । उपासन त्वावश्यकम् तद्विना जपमात्रेणोत्कृष्टफलासिद्धे ततोऽनित्यस्य जपस्य नित्यवच्छ्रुतो-
पासनाऽप्रयोजकत्वात्–नित्यानित्ययोश्च सयोगायोगाच्च तत्परवाक्यस्य जपविधिशेषतेत्यर्थ । एवं चानयोरावश्यक-
त्वानावश्यकत्वे एव नित्यत्वानित्यत्वे इति ध्येयम् । ११ किं चेह प्रकरण तद्वैतदिति वाक्यादुत्कृष्टफलविशिष्ट
प्राणविज्ञान यत श्रुत तत फलवत्त्वादपि तद्विषय विज्ञान विधातुमिष्टमिति द्वया हेत्यादिवाक्य तत्परमेव न विध्य-
न्तरपरमित्याह–फलवत्त्वाच्चेति । १२ स्वतन्त्रमिति न कस्यचिच्छेषभूतमित्यर्थ । १३ उक्तम्–अनुपपन्नत्वमेवे-
त्यर्थ । १४ व्यनक्ति–विधिमुखेन स्पष्टयतीत्यर्थ । १५. तस्मादिति–यथोक्तफलस्य प्राणस्वरूपापत्तिनिमित्तत्व-
त्वादित्यर्थ । १६ उपदिष्टादुक्तोपपत्तिन्यायेनेत्यर्थ ।

न स्यादुपास्यत्वे स्तुत्यर्थत्वोपपत्तेः । न । अविपरीतार्थप्रतिपत्तेः श्रेयःप्राप्त्युपपत्तेर्लोकवत् । यो ह्यविपरीतमर्थं प्रतिपद्यते लोके स इष्टं प्राप्नोत्यनिष्टाद्वा निवर्तते न विपरीतार्थप्रतिपत्त्या । तथेहापि श्रौतशब्दजनितार्थप्रतिपत्तौ श्रेयःप्राप्तिरुपपन्ना न विपर्यये ।

न चोपासनार्थश्रुतशब्दोत्थविज्ञानविषयस्यायथार्थत्वे प्रमाणमस्ति । न च तद्विज्ञा-

प्राणस्योऽस्ति शास्त्रदृष्टत्वादिष्टा तथाऽस्य गुणसम्बन्धः श्रुतत्वादिष्टव्य उपास्तावुपास्ये च गुणवति प्राणे प्रामाणिकप्राप्तेरविशेषादिति सिद्धान्ती ब्रूते—नन्विति । प्राणस्योपास्यत्वेऽपि शुद्धयादिगुणवादस्य स्तुत्यर्थत्वेनार्थवादत्वसम्भवान्न 'यथोक्ता देवता स्यादिति पूर्ववाद्याह—न स्यादिति । विशुद्धयादिगुणवादस्यार्थवादत्वेऽपि नाभूतार्थवादत्वमिति परिहरति—नेति । विशुद्धयादिगुणविशिष्टप्राणदृष्टेरत्र फलप्राप्तिः श्रुता न सा ज्ञानस्य मिथ्यार्थत्वे युक्ता सम्यग्ज्ञानादेव पुमर्थाप्तेः सम्भवादतः स्तुतिरपि यथार्थेत्यर्थः । लोकदृष्टान्तं व्याचष्टे—यो हीति । इहेति वेदाख्यदार्ष्टान्तिकोक्तिः ।

ननु विशुद्धयादिगुणवतीं देवतां वदन्ति वाक्यान्युपासनाविध्यर्थत्वान्न स्वार्थे प्रामाण्यं प्रतिपद्यन्ते तत्राऽऽह—न चेति । अन्यपराणामपि वाक्यानां मानान्तरसंवादविसंवादयोरसतोः स्वार्थे प्रामाण्यमनुभवानुसारिभिरेष्टव्यमित्यर्थः । ननु प्राणस्य विशुद्धयादिवादो न स्वार्थे मानमन्यपरत्वादादित्ययूपादिवाक्यवदत आह—न चेति । आदित्ययूपादिवाक्यार्थज्ञानस्य प्रत्यक्षादिनाऽपवादवद्विशुद्धयादिगुणविज्ञानस्य नापवादः श्रुतस्तस्माद्विशुद्धयादिवादस्य स्वार्थे मानत्वमप्रत्यूहमित्यर्थः । विशुद्धयादिगु-

वागादि की निन्दा द्वारा मुख्य प्राण की स्तुति अभीष्ट है ऐसा सिद्ध होता है । 'मृत्यु का अतिक्रमण करके प्रकाशित होता है'—ऐसा फल वाक्य भी मिलता है। वागादि को जो अग्न्यादिभाव होता है, वह उनकी प्राणस्वरूपावाप्ति का ही फल है।

(इस पर शंका होती है –) भले ही प्राण की उपासना हो किन्तु (प्रमाण के अभाव के कारण) प्राण देवता का विशुद्धयादि गुण वाला होना सिद्ध नहीं होता। यदि कहो श्रुति विहित होने से प्राणों की गुणवत्ता है ही,—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि श्रुति तो उपासित विधि परक होने से (बिना प्राणदेवता में तात्पर्य के) उसकी स्तुति के लिए हो सकती है। शंका परिहार करते हैं—ऐसी बात नहीं। लोक में भी देखा जाता है, कि अविपरीत अर्थ के ज्ञान से ही श्रेयप्राप्ति संभव है। क्योंकि जो पुरुष यथाभूत अर्थ का जानता है उसे संसार में इष्ट प्राप्ति होती है भयकम्पादि रूप अनिष्ट की निवृत्ति होती है अयथाभूत अर्थ के ज्ञान से ऐसा नहीं होता। उसी प्रकार यहां भी श्रुति वचन से होने वाले ज्ञान से ही श्रेय प्राप्ति संभव है उसके बिना संभव नहीं।

१ यथाभूतम् । २ भयकम्पादेः । ३ श्रौतेत्यादि—शास्त्रीयविशुद्धयादिगुणविशिष्टप्राणोपास्ताविति प्रकृतेऽर्थः । ४ तदित्यादि—विशुद्धयादिगुणविज्ञानस्येत्यर्थः । ५ ब्रूत इति—देवताधिकरणन्यायेन परिहरणीयमर्थः । मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकप्रसिद्धिभ्यो विग्रहादिपञ्चकविशिष्टदेवतादृष्टेन प्रत्याख्यानं संभवति विशुद्धयादि श्रुतेः प्राणोपासनविध्यर्थवादत्वेऽपि संवादविसंवादयोरभावे द्वारार्थे मानत्वविरोधादित्यभिप्रायः । विग्रहादिपञ्चकं चोक्तम्— विग्रहो हविषां भोगः ऐश्वर्यञ्च प्रसन्नता । फलप्रदानमित्येतत् पञ्चकं विग्रहादिकम् ॥' ६ विशुद्धयादिगुणवतीत्यर्थः । ७ अभूतेत्यादि अविद्यमानार्थबोधकत्वमित्यर्थः । ८ यथोक्तोपासनस्य । ९ अबाधितार्थविषयकज्ञानात् । १० यथोक्तफलावाप्तेः । ११ अत इति सम्यग्ज्ञानस्यैवाभीष्टफलप्राप्तिप्रयोजकत्वादित्यर्थः । १२ अन्यपराणामिति—विधेयप्राणस्यपराणामित्यर्थः । १३ यूपादीति—आदिना यजमानः प्रस्तर इत्यादिग्रहः ।१४ अनुमानेऽपवादश्रवणत्वमुपाधिरित्यभिप्रायेणाह—आदित्येत्यादि । १५ तस्मादिति—मानान्तरविसंवादाभावादित्यर्थः ।

नस्यापवादः श्रूयते । [1]ततः श्रेयःप्राप्ति[2]दर्शनाद्यथार्थतां प्रतिपद्यामहे । विपर्यये चानर्थप्राप्तिदर्शनात् । यो हि विपर्ययेणार्थं प्रतिपद्यते लोके पुरुषं स्थाणुरित्यमित्रं मित्रमिति वा सोऽनर्थं प्राप्नुवन्दृश्यते ।

आत्मेश्वरदेवतादीनाम[3]प्ययथार्थानामेव चेद्ग्रहणं [4]श्रुतितो[5]ऽनर्थप्राप्त्यर्थं शास्त्रमिति ध्रुवं प्राप्नुयाल्लोकवदेव, न चैतदिष्टम् । [6]तस्माद्यथाभूतानेवात्मेश्वरदेवतादीन्[7]ग्राहयत्युपासनार्थं शास्त्रम् । [8]नामादौ ब्रह्मदृष्टिदर्शनादयुक्तमिति चेत्स्फुटं नामादेरब्रह्मत्वं

णकप्राणविज्ञानात्फलश्रवणात्तद्वादस्य यथार्थत्वमेवेत्युपसंहरति—तत इति । लोकवद्वेदेऽपि सम्यग्ज्ञानादिष्टप्राप्तिरनिष्टपरिहारश्चेत्यन्वयमुखेनोक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेना(णा)पि समर्थयते—विपर्यये चेत्यादिना ।

शास्त्रस्यानर्थार्थत्वमिष्टमिति शङ्कां निराचष्टे—न चेति । अपौरुषेयस्यासंभावितसर्वदोषस्याशेषपुरुषार्थहेतोः शास्त्रस्यानर्थार्थत्वमेष्टुमशक्यमित्यर्थः । शास्त्रस्य यथाभूतार्थत्वं निगमयति—तस्मादिति । उपासनार्थं ज्ञानार्थं चेति शेषः । शास्त्राद्ययार्थप्रतिपत्ते श्रेयःप्राप्तिरित्यत्र व्यभिचारं चोदयति—नामादाविति । तदेव स्फुटयति—स्फुटमिति । 'अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्टिरतस्मिंस्तद्बुद्धिस्तन्मिथ्या धीः सा च [9]'यावन्नाम्नो [10]गतमित्यादिश्रुत्या फलवती ततः शास्त्राद्ययार्थप्रतिपत्तेरेव फलमित्ययुक्तमित्यर्थः भेदा-

इसके अतिरिक्त उपासना प्रतिपादक श्रुतिवचनों से होने वाले विज्ञान के विषय में, अयथार्थ होने में कोई प्रमाण नहीं है । विशुद्धचादिगुणविज्ञान का अपवाद तो कहीं सुनने को भी नहीं मिलता । यथोक्त प्राणोपासना से श्रेय प्राप्ति श्रवण होने से हम उसकी यथार्थता स्वीकार करते हैं । इससे विपरीत मानने में अनर्थ प्राप्ति होगी, ऐसा सुना जाता है । जो पुरुष संसार में वस्तु को अयथाभूत देखता है अर्थात् पुरुष को स्थाणु और शत्रु को मित्र की तरह समझता है, वह अनर्थ की प्राप्ति करता है—यह देखा जाता है ।

(लोकदृष्टान्त समुच्चय होने से) यदि श्रुति से आत्मा, ईश्वर, देवतादि का भी अयथार्थ रूप से ग्रहण होता, तब तो लोक की तरह शास्त्र भी अनिष्ट प्राप्ति के प्रयोजन वाला है, ऐसी आपत्ति अवश्य हो जाती । परन्तु यह स्वीकार्य नहीं है । (शास्त्र के अनर्थ-प्रयोजक होने से तुम्हारा भी अनिष्ट होगा) इसलिए उपासना के लिए यथार्थ आत्मा ईश्वर देवतादि को शास्त्र ग्रहण करता है ।

१ तत—यथोक्तप्राणोपासनात् । २ श्रवणात् । ३ अपिर्लोकदृष्टान्तसमुच्चयार्थः । ४ श्रुतित इति तर्हीति शेषः । ५ अनर्थेत्यादि—अनिष्टप्राप्तिप्रयोजकं शास्त्रमित्येतदवश्यमापतेदित्यर्थः । ६ तस्मादिति—शास्त्रानर्थार्थत्वस्य तवाप्यनिष्टत्वादित्यर्थः । ७ ग्राहयतीति—तथा च वार्त्तिकम्—"यावत्किञ्चिन्मिते प्राप्त न तन्मिथ्या मितत्त्वतः । मिथ्येति ग्राहयच्छास्त्रमनर्थार्थं यतो भवेदिति ॥' अस्यार्थः—शास्त्रसिद्धं प्राणस्य विशुद्धयादि न तन्मिथ्याहेत्वभावादित्यर्थः । प्राणस्य सत्यमेव शुद्धयादीत्यत्र हेत्वन्तरमाह—मिथ्येति—यदि मिथ्येति निश्चितं शुद्धयादिप्राणस्य शास्त्रं बोधयेत्तदा वस्तुतोऽविद्यमानतद्विशिष्टतत्प्रतिपत्तेरनर्थः स्यात् लोके विपरीतार्थधियोऽनर्थदर्शनात् अत शास्त्रं मिथ्याशुद्धयादिबोधकमनर्थार्थं स्यान्न चैतदिष्टम् अपौरुषेयस्यासंभावितसर्वदोषस्याशेषपुरुषार्थहेतो तस्यानर्थार्थत्वमेष्टुमशक्यत्वेन शास्त्रीयं शुद्धयादिसत्यमेव । न च योषाग्निवदिदमपि मिथ्येति युक्तम् तद्वदत्र द्वारार्थे विरोधाभावस्योक्तत्वादित्यर्थः । द्वारार्थे—वाक्यार्थे योषाग्निरव च छा० पञ्चाग्निविद्यायाम् ॥ ८ नाम ब्रह्मेत्युपासीत । छा० उ० अ० ७ ख० १ । ९ नामादौ । १०. यावन्नाम्नो गतमित्यादि-यावन्नाम्नो विषयभूत तत्र यथाकामचारोऽस्य तत्तच्छब्दानां यथेच्छ श्रवणं भवतीत्यर्थः । ११. छा० उ० ७-१ । गतमिति तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो नामब्रह्मोपास्त इति वाक्यशेषः ।

तत्र ब्रह्मदृष्टि स्थाण्वादाविव पुरुषदृष्टि विपरीतां ग्राहयच्छास्त्रं दृश्यते । तस्माद्यथार्थमेव शास्त्रतः प्रतिपत्तेः,श्रेय,इत्ययुक्तमिति चेत् । न । प्रतिमावद्भेदप्रतिपत्तेः । नामादावब्रह्मणि ब्रह्मदृष्टि विपरीतां ग्राहयति शास्त्रं स्थाण्वादाविव पुरुषदृष्टिमिति नैतत्साध्ववोचः । कस्मात् । भेदेन हि ब्रह्मणो नामादिवस्तुप्रतिपन्नस्य नामादौ विधीयते ब्रह्मदृष्टिः प्रतिमादाविव विष्णुदृष्टिः ।

आलम्बनत्वेन हि नामादिप्रतिपत्तिः प्रतिमादिवदेव न तु नामाद्येव ब्रह्मेति । यथा स्थाणावनिर्ज्ञाते न स्थाणुरिति पुरुष एवायमिति प्रतिपद्यते विपरीतम्, न तु

ग्रहपूर्वकोऽन्यस्यान्यात्मतावभासो 'मिथ्याज्ञानमत्र' तु भेदे भासमाने''ऽन्यत्रान्यदृष्टिर्विधीयते । यथा विष्णोर्भेदे प्रतिमाया गृह्यमाणे तत्र विष्णुदृष्टिः क्रियते तन्नेदं मिथ्याज्ञानमित्याह—नेति । नञर्थं स्पष्टयति—नामादाविति । प्रश्नपूर्वकं हेतुं व्याचष्टे—कस्मादिति ।

प्रतिमायां विष्णुदृष्टि ''प्रत्यालम्बनत्वमेव न विष्णुतादात्म्यं नामादेस्तु ब्रह्मतादात्म्यं श्रुतमिति ''वैषम्यमाशङ्क्याऽऽह—आलम्बनत्वेनेति । ''उक्तमर्थं ''वैधर्म्यदृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेति । कर्ममीमांसको ब्रह्मविद्वेष ''प्रकटयन्प्रत्यवतिष्ठते—ब्रह्मेति । केवला तद्दृष्टिरेव नाम्नि ''चोद्यते चोदनावशाच्च फल सेत्स्यति ब्रह्म तु नास्ति मानाभावादित्यर्थ. । अथ यथा देवानां प्रतिमादिषूपास्यमानानामन्यत्र सत्त्वं यथा च वस्वाद्यात्मना पितॄणां ब्राह्मणादिदेहे तर्प्यमाणानामन्यत्र सत्त्व तथा ब्रह्मणोऽपि नामादावुपास्यत्वादन्यत्र सत्त्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—एतेनेति । नामादौ ब्रह्मदर्शनेनेति यावत् । दृष्टान्तासिद्धेर्न क्वापि ब्रह्मास्तीति भावः । सत्यज्ञानादिलक्षणं ब्रह्म नास्तीत्ययुक्तम् 'सदेव सोम्येदम्'

'नाम की ब्रह्म भावना से उपासना करे' इत्यादि छान्दोग्य श्रुति मे ब्रह्मदृष्टि का श्रवण होने के कारण तुम्हारा कथन ठीक नही है। नामादि मे अब्रह्मत्व स्पष्ट ही है। शास्त्र अनात्मनामादि मे, स्थाणु मे पुरुष की तरह विपरीत ब्रह्मदर्शन करता हुआ देखा जाता है, अतः (उक्त व्यभिचार से) शास्त्र से यथार्थ ज्ञान होने के कारण ही श्रेय प्राप्ति होती है, ऐसा कहना ठीक नही। (उक्त शङ्का का परिहार करते हैं—) ऐसी बात नही है। (ब्रह्म और नाम मे) भेदज्ञान पुरसर, प्रतिमा मे विष्णुत्व दृष्टि के समान नाम मे ब्रह्मत्व बुद्धि रहती है। स्थाणु आदि मे पुरुषदृष्टि के समान शास्त्र अनात्मनामादि मे विपरीत ब्रह्मदृष्टि का ग्रहण कराता है-यह तुमने सही नही कहा। ऐसा क्यो, क्योकि ब्रह्म का नामादि मे ब्रह्मदृष्टि का विधान उसी प्रकार किया जाता है, जैसे प्रतिमादि मे विष्णुदृष्टि का विधान किया जाता है।

१. नामादावनात्मनि। २ उक्तव्यभिचारात् । ३ अब्रह्मण्यपि नाम्नि ब्रह्मेतिज्ञानस्य मिथ्यात्व नत्यर्थ । ४ ब्रह्मनाम्नोर्भेदज्ञानपुरःसर नाम्नि ब्रह्मत्वबुद्धिरित्यर्थ । ५ द्वितीयान्तमेतत् । ६ पुरुषस्यत्यर्थं । ७ विष्णुदृष्टिरिति—तथा चाविवेकपूर्वकाभेदधियो मिथ्याज्ञानत्वादात्मनि च ब्रह्मदृष्टेर्विवेकपूर्वकत्वात्तन्मिथ्यात्वोक्तिरयुक्तेति भाव. । ८ ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणत्वेनैव नामादिप्रतीतिरित्यर्थ । ९ मिथ्याज्ञानमिति यथा यो हि रज्जु रज्जुतया न जानाति तस्य तत्र सर्पत्वप्रतीतिर्मिथ्याज्ञानमित्यर्थं । १० नामब्रह्मणो । ११ नाम्नि ब्रह्मदृष्टि । १२ अधिकरणत्वमेव । १३ दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैलक्षण्यमित्यर्थ । १४ वैषम्याभावरूपम् । १५ व्यतिरेकिदृष्टान्तेनेत्यर्थं । १६ प्रकटयन्निति । विवेकस्य धर्मिप्रतियोगिनौ वाच्यौ न चात्मनस्तथात्व न च ब्रह्मास्ति। यस्य धर्मित्वादिक स्यात्मानाभावात् उपनिषदां तु वेदोपवर्ण्यनामात्वात् अतो विवेकपूर्वकत्वायोगान्नामादौ ब्रह्मदृष्टे रज्जुसर्पादिदृष्टेरिव मिथ्यात्वं-नि मत्वान कश्चिदिति शेष । वेदोपरावेदान्ता इति मीमासकमत । ऊपग, ऊपरभूतन्निरर्थका इत्यर्थ । १७ उपदिश्यते ।

तथा नामादौ ब्रह्मदृष्टिर्विपरीता [१]। [२]ब्रह्मदृष्टिरेव केवला नास्ति ब्रह्मेति चेत्। एतेन प्रतिमाब्राह्मणादिषु विष्ण्वादिदेवपित्रादिदृष्टीनां [३]तुल्यता। न। ऋगादिषु पृथिव्यादिदृष्टिदर्शनात्। विद्यमानपृथिव्यादिवस्तुदृष्टीनामेवर्गादिविषये प्रक्षेपदर्शनात्। तस्मात्सामान्यान्नामादिषु ब्रह्मादिदृष्टीनां विद्यमानब्रह्मादिविषयत्वसिद्धिः।

एतेन प्रतिमाब्राह्मणादिषु विष्ण्वादिदेवपित्रादिबुद्धीनां च सत्यवस्तुविषयत्वसिद्धिः। मुख्यापेक्षत्वाच्च गौणत्वस्य। पञ्चाग्न्यादिषु चाग्नित्वादेर्गौणत्वान्मुख्याग्न्यादिसद्भाववन्नामादिषु ब्रह्मत्वस्य गौणत्वान्मुख्यब्रह्मसद्भावोपपत्तिः। क्रियार्थैश्चाविशेषाद्वि-

इत्यादिश्रुतेरित्याह—नेति। किंच ब्रह्मदृष्टिः [१]सत्यार्था शास्त्रीयदृष्टित्वादि[२]यमेवर्गग्निः सामेतिदृष्टिवदित्याह—ऋगादिष्विति। [३]तदेव स्पष्टयति—विद्यमानेति। ताभिर्दृष्टिभिः सामान्यं दृष्टित्वं तस्म दिति यावत्।

यत्तु दृष्टान्तासिद्धिरिति तत्राऽऽह—एतेनेति। ब्रह्मदृष्टेः सत्यार्थत्वकथनेनेति यावत्। ब्रह्मास्तित्वे हेत्वन्तरमाह—मुख्यापेक्षत्वादिति। [४]उक्तमेव विवृणोति—पञ्चेति। पञ्चाग्नयो द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषितः। आदिपदं याग्धेन्वादिग्रहार्थम्। ननु वेदान्तवेद्यं ब्रह्मोच्यते न च तेभ्यस्तद्धीः सिध्यति [५]तेषां [६]विधिवैधुर्येणाप्रामाण्यात्तत्कुतो ब्रह्मसिद्धिरत आह—क्रियार्थैश्चेति। [७]विमतं स्वार्थे प्रमाणमज्ञातज्ञा-

ब्रह्मदृष्टि के अधिकरणत्व होने से ही प्रतिमा मे विष्णुदृष्टि के समान नामादि की प्रतीति होती है, नामादि ही ब्रह्म है—ऐसी प्रतीति नही होती। जिस प्रकार स्थाणु का ज्ञान न होने पर 'यह पुरुष ही है, स्थाणु नही है'—ऐसा विपरीत ज्ञान होता है। नामादि मे वैसी अयथार्थ ब्रह्मदृष्टि नही होती। यदि कहो, ब्रह्मदृष्टि मात्र ही है, वस्तुत ब्रह्म नही है। इससे तो प्रतिमा और ब्राह्मणादि मे विष्णु और पितृ आदि दृष्टियाँ समान रूप से सिद्ध होती हैं। (शङ्कापरिहार किया जाता है—) ऐसी बात नही—क्योकि ऋगादि मे पृथिवी आदि दृष्टि सुनी जाती है। ऋगादि विषय मे विद्यमान वस्तुविषयक पृथिवी आदि दृष्टिया का ही आरोप देखा गया है। अतः उनसे समानता होने के कारण नामादि मे जो ब्रह्मदृष्टि है, उनकी मद्ब्रह्मादि विषयता सिद्ध हो जाती है।

इससे प्रतिमा और ब्राह्मणादि मे विष्णु आदि देवदृष्टि और पितृ आदि दृष्टियो का भी सत्

१ ब्रह्मदृष्टिमात्रम्। २ तुल्यतेति—तथा च विष्ण्वादीनामप्यन्यत्र सत्त्व नास्तीति भाव। ३. सिद्धिरिति ऋगादिषु सत्सु सता पृथिव्यादीनामारोपदर्शनान्नामादावपि सत्येव सतो ब्रह्मणो दृष्टिरारोपणीयेत्यर्थ। ४ गौणत्वादिति—दाहकत्वाद्यभावाद्गौणत्वम्। ५ मुख्येति—वाक्योपस्थापनीयत्वम्मुख्यत्वम्। ६ उपपत्तिरिति—किं च विमता बुद्धि सालम्बना बुद्धित्वात् घटादिबुद्धिवत् इत्यनुमानाच्च ब्रह्मास्तीत्याहुर्वार्तिकाचार्या —"न चासद्विषया काचिद्बुद्धिर्जगति वीक्ष्यते" इति। किंच सर्वस्य भावाद्यर्थस्य व्यभिचारेऽपि भावाभावसाधक चिद्वस्त्वव्यभिचार्यस्ति तच्च कूटस्थ मविदेकरस ब्रह्म नास्ति तदुक्तम्—"सर्वार्थव्यभिचारेऽपि संविदव्यभिचारिणीति"। ७ सत्यविषयिका। ८. इयमेवेत्यादि—इयम् पृथिवी—तथा च ऋचि पृथिवीदृष्टि कर्तव्येत्यर्थ.। ९. तदेवेति ऋगादिषु पृथिव्यादिदृष्टिदर्शनमेवेत्यर्थ.। १०. उक्तमेव—गौणत्वनिष्ठ मुख्यापेक्षत्वमेव। ११. सिद्धार्थबोधिना वेदान्तानाम्। १२ विधिवैधुर्येणेति-विधायकक्रियापदाघटितत्वादित्यर्थ। तथा च वेदान्तानाम् क्रियापदशून्यत्वेन वाक्यार्थबोधाजनकत्वादप्रामाण्यमित्याशय। १३ वेदान्तवाक्यम्।

द्यार्थानाम् । यथा च दर्शपौर्णमासादि[1]क्रियैवंफला [2]विशिष्टेतिकर्तव्यताकैवंक्रमप्रयुक्ताङ्गा चेत्येतदलौकिकं वस्तु प्रत्यक्षाद्यविषयं तथाभूतं च वेदवाक्यैरेव ज्ञाप्यते । तथा परमात्मेश्वरदेवतादिवस्त्वस्थूलादिधर्मकमशनायाद्यतीतं चेत्येवमादिविशिष्टमिति वेदवाक्यैरेव ज्ञाप्यत इत्यलौकिकत्वात्तथाभूतमेव भवितुमर्हतीति । न च क्रियार्थैर्वाक्यैर्ज्ञानवाक्यानां बुद्ध्युत्पादकत्वे विशेषोऽस्ति । न चा[3]निश्चिता विपर्यस्ता वा परमात्मादिवस्तुविषया [4]बुद्धिरुत्पद्यते ।

पकत्वात्[5]संमतवत् । [6]अतो वेदान्तशास्त्रादेव ब्रह्मसिद्धिरित्यर्थः । [7]सिद्ध[8]साध्यार्थभेदेन वैषम्यादविशिष्टत्वमनिष्टमित्याशङ्क्यो[9]क्तं विवृणोति—यथा चेति । विशिष्टत्व [10]स्वरूपोपकारित्वं [11]फलोपकारित्व च । [12]पञ्चमोक्त प्रकारं पराम्रष्टुमेवमित्यादिष्टम् । अलौकिकत्वं साधयति—प्रत्यक्षादीति । किंच वेदान्तानामप्रामाण्य [13]बुद्ध्यनुत्पत्तेर्वा [14]संशयाद्युत्पत्तेर्वा नाऽऽद्य इत्याह—न चेति । न द्वितीय इत्याह—न चानिश्चितेति । [15]कोटिद्वयास्पर्शित्वाद[16]बाधाच्चेत्यर्थः ।

वस्तु विषयक होना सिद्ध हो जाता है । (ब्रह्म के सत् होने मे दूसरा हेतु कहते हैं–) क्योंकि गौणत्व तो मुख्यत्व की अपेक्षा से होता है । पञ्चाग्नियो मे दाहकत्वादि-अभाव होने से अग्नित्व आदि का गौणत्व है, इससे शब्दोपस्थापनीयत्वरूप मुख्य अग्नि आदि का सद्भाव सिद्ध हो जाता है । उसी प्रकार नामादिको मे ब्रह्मत्व की गौणता होने से मुख्य ब्रह्म मे सद्भाव सिद्ध हो जाता है । उपासनापरक और कर्मपरक वाक्यो की भी समानता होने के कारण यही सिद्ध होता है । जैसे दर्श-पौर्णमासादि क्रिया इस फल वाली है, विलक्षण इतिकर्तव्यता वाली है और इसी क्रम से उसके अङ्ग प्रयुक्त है—ये सब अलौकिक बातें प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय नही है, किन्तु सत् हैं—ऐसा वेदवाक्यो से सिद्ध होता है । इस प्रकार परमात्मा, ईश्वर और देवतादि-वस्तु स्थूलत्वादि-धर्मो से रहित एव क्षुधादि से अतीत है–तथा इस प्रकार के गुणो से विलक्षण हैं—यह सब वेद--वाक्यो से प्रमाणित होता है—इसलिए अलौकिक होने के कारण वह सत् ही हो सकता है । इसके सिवा कर्मपरक वाक्यो से उपासनापरक वाक्यो का बुद्धि अर्थात् दृष्टि उत्पन्न करने मे कोई भेद नही है । उनसे परमात्मादि वस्तु विषयक संशयरूप

---

१ क्रियैवफलेति—अत्र क्रियापद तज्जन्य अपूर्वपरम् तस्यैव साक्षात्फलजनकत्वादिति । विध्युद्देशतो विश्वजिन्न्यायादिना च सिद्धमधिकारं परामृशत्येव फलेति । अत्र विध्युद्देशत इति विधिवाक्यादित्यर्थ विश्वजिन्न्यायश्च यस्य कर्मण फलविशेषो नोक्तस्तस्य स्वर्ग एव फल विश्वजिति तथा व्यवस्थापनादिति । अधिकारमिति--फलसम्बन्धमित्यर्थ । २ विलक्षणेत्यर्थ । ३ संशयरूपेत्यर्थ । ४ बुद्धिरिति—अधिकारिणामिति शेष । उत्पद्यत इति वेदान्तवाक्यैरिति शेष । ५ उत्पद्यत इति--किंतु तेषा यथाभूतार्थबोधनस्तत्त्वमादिवाक्यादेकरूपाऽबाधिता च वस्तुविषया बुद्धिरुत्पद्यतेऽत प्रामाण्यमेव स्वार्थे वेदान्तानामिति ध्येयम् । ६ कर्मकाण्डवत् । ७ वेदान्ताना स्वार्थे मानत्वात् । ८ सिद्ध-ब्रह्म, सिद्धार्थविषयत्व वेदान्तानाम् । ९ साध्यार्थविषयत्व च कर्मकाण्डस्येतिवैलक्षण्यम् । १० सग्रहवाक्यम् । ११ इद चेति कर्तव्यतारूपमेवेति बोध्यम् । १२ स्वरूपोपकारित्वम्--सन्निपत्योपकारकत्व प्रोक्षणावघातादीनाम् । फलोपकारित्व चारादुपकारकत्व प्रयाजादीनाम् । १३ जैमिनीय अ ५ पा १ । १४ बुद्धीत्यादि—बुद्ध्यनुत्पादकत्वादित्यर्थ । १५ तथा च बुद्ध्यनुत्पादकत्वमेवाप्रामाण्यम् एवमग्रेऽपि बोध्यम् । १६ वेदान्तवाक्यजधियोऽनिश्चितत्वे हेतुमाह—कोटीत्यादि—विरुद्धकोटिद्वयानवगाहित्वादित्यर्थ । तथा एवाविपर्ययरूपत्वे हेतु । १७ अबाधादिति—अबाधितविषयत्वादित्यर्थ ।

अनुष्ठेयाभावादयुक्तमिति चेत् । क्रियार्थैर्वाक्यैस्त्र्यंशा [1]भावनाऽनुष्ठेया ज्ञाप्यते-[2]ऽलौकिक्यपि । न तथा परमात्मेश्वरादिविज्ञानेऽनुष्ठेयं किंचिदस्ति । अतः क्रियार्थैः साधर्म्यमित्ययुक्तमिति चेत् । न । [3]ज्ञानस्य तथाभूतार्थविषयत्वात् । न ह्यनुष्ठेयस्य त्र्यंशस्य भावनाख्यस्यानुष्ठेयत्वा[4]त्तथात्वं किं तर्हि [5]प्रमाणसमधिगतत्वात् । न च [6]तद्विषयाया बुद्धेरनुष्ठेयविषयत्वात्तथात्वं किं तर्हि [7]वेदवाक्यजनितत्वादेव ।

क्रियार्थैर्वाक्यैर्विद्यार्थानां वाक्यानां [8]साधर्म्यमुक्तमाक्षिपति—अनुष्ठेयेति । साधर्म्यस्यायुक्तत्वमेव व्यनक्ति—क्रियार्थैरिति । [9]वाक्योत्थबुद्धेर्यथार्थत्वाद्विषयाभावेऽपि वाक्यप्रामाण्यमज्ञातज्ञापकत्वेना[10]विरुद्धमिति परिहरति—न ज्ञानस्येति । अनुष्ठेयनिष्ठत्वमन्तरेण कुतो [11]वस्तुनि [12]प्रयोगप्रत्ययोस्[13]तथार्थत्वमित्याशङ्क्य [14]तयोर्विषये [15]तथात्वार्थं [16]तदपेक्षास्वप्रामाण्यार्थं वेति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—न हीति । [17]तदुभयविषयस्य [18]कर्त्तव्यार्थस्य तथात्वं न [19]कर्तव्यत्वापेक्षं किंतु मानगम्यत्वादन्यथा विप्रलम्भकविधिवाक्येऽपि तथात्वापत्तेरित्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—न चेति । बुद्धिग्रहणं प्रयोगोपलक्षणार्थम् । कर्तव्यार्थविषयप्रयोगादेर्नानुष्ठेयविषयत्वान्मानत्वं किंतु प्रमाकरणत्वात्तज्जन्यत्वाच्चान्यथोपतातिप्रसक्तितादवस्थ्याद[20]तोऽनुष्ठेयनिष्ठत्वं मानत्वेऽनुपयुक्तमित्यर्थः ।

अनिश्चित या विपरीत बुद्धि उत्पन्न नही होती । अर्थात् वेदान्त का स्वार्थ मे ही प्रामाण्य है ।

(इस पर शङ्का होती है) उपासनापरक वाक्यो को कर्मपरक वाक्यो के तुल्यप्रमाण रूप (समानधर्मो) कहना अनुचित है, क्योकि वहाँ अनुष्ठेय कर्म नही होता। क्रियार्थक वाक्यो से प्रत्यक्षादि के अविषय होने से भी तीन अंशवाली शाब्दी भावना अनुष्ठेया है। परमात्मा और ईश्वरादि विज्ञान मे ऐसी कोई अनुष्ठेया क्रिया नही होती, अत विज्ञान वाक्यो की कर्मपरक वाक्यो से जो तुल्यप्रामाण्यरूपता बतलायी है, वह ठीक नही है। (शङ्का का परिहार करते हैं)—ऐसा कहना ठीक नही है। क्योकि (तत्त्वमादिवाक्यो से उत्पन्न) ज्ञान अनधिगतार्थ और अबाधितार्थ विषयक होता है। त्र्यश-शाब्दी भावना संज्ञक अनुष्ठेयार्थनिष्ठ होने से प्रामाण्य नही है, क्योकि वह अनुष्ठेय है। तो कैसे है? प्रमाणगम्य होने के कारण है। इसी तरह अनुष्ठेयविषया बुद्धि की अनधिगताबाधितार्थता

१ भावनाऽत्रशाब्दयेत्र ग्राह्या अनुष्ठेयार्थनिष्ठत्वादनुष्ठेयेत्युक्तम् । २ अलौकिकीति—प्रत्यक्षाद्यविषया तथा च तस्या अज्ञातत्वात् तद्बोधिकर्मकाण्डीयवाक्यानाम् प्रामाण्यमिति भाव । ३ ज्ञानस्येत्यादि—तत्त्वमादिवाक्योत्थज्ञानस्य अनधिगताबाधितार्थविषयकत्वादित्यर्थः । ४. प्रामाण्यम् । ५ मानगम्यत्वात् । ६ तदिति—अनुष्ठेयवस्त्विति । ७ वेदवाक्यजनितत्वादेवेति—किंच कार्यनिष्ठत्वेन प्रामाण्ये तन्निष्ठत्वे प्रामाण्य तत्र सति तन्निष्ठत्वमित्यन्योन्याश्रयादज्ञातज्ञापकत्वमेव तत् । अतो यागादेर्विधिगोचरत्वस्य मानान्तरायोग्यत्वात् तदेव विधिकाण्डमेयम् इति मत्वा वार्तिकेऽभिहितम्—'अन्योऽन्याश्रयतादोष कार्यप्रामाण्यवादिन' इति । ८ साधर्म्यम्—तुल्यप्रामाण्यरूपम् । ९ तत्त्वमादिवाक्येत्यर्थः । १० अविरुद्धमिति—न ह्यनुष्ठेयनिष्ठत्व प्रामाण्यप्रयोजकम् स्वर्गकाम सिकता भक्षयेदित्यादौ व्यभिचारात् किन्त्वज्ञातज्ञापकत्वम् तस्य चोभयत्राप्यव्यभिचारादिति भाव । उभयत्रेति कर्मज्ञानकाण्डोक्ति । ११ वस्तुनि—सिद्धे वस्तुनि ब्रह्मणीत्यर्थः । १२ प्रयोगप्रत्ययोरिति—शब्दतज्जन्यज्ञानयोरित्यर्थ । १३ प्रामाण्यम् । १४. तयो प्रयोगप्रत्यययो । १५ तथात्वार्थं—प्रामाण्यार्थम् । १६ तदपेक्षा—अनुष्ठेयवस्त्वपेक्षा । १७ तदुभयेति—प्रयोगप्रत्ययेत्यर्थ । १८ अनुष्ठेयार्थस्येत्यर्थ । १९ स्वनिष्ठानुष्ठेयत्वप्रयुक्तम् । २० अनुष्ठेयनिष्ठत्वस्यातिप्रसक्तत्वात् ।

वेदवाक्याधिगतस्य वस्तुन स्तथात्वे सत्यनुष्ठेयत्वविशिष्टं चेदनुतिष्ठति नो चेदनुष्ठेयत्वविशिष्टं नानुतिष्ठति। 'श्रननुष्ठेयत्वे वाक्यप्रमाणत्वानुपपत्तिरिति चेत्। न ह्य'नुष्ठेये'ऽसति पदाना संहतिरुपपद्यते । श्रनुष्ठेये तु सति 'तादर्थ्येन पदानि 'संहन्यन्ते । 'तत्रा'नुष्ठेयनिष्ठं वाक्यं· प्रमाणं 'भवतीदमनेनैवं कर्तव्यमिति । न त्विदमनेनैवमित्येवंप्रकाराणां पदशतानामपि वाक्यत्वमस्ति । 'कुर्यात्क्रियेत कर्तव्यं "भवेत्स्यादिति 'पञ्चमम्'

"कुतस्तर्हि कार्याकार्यधियावित्याशङ्कयाऽऽह—वेदेति । "वैदिकस्यार्थस्यावाधेन "यथार्थत्वे सिद्धे समीहितसाधनत्वविशिष्ट चेद्वस्तु तदा कर्तव्यमिति धियाऽनुतिष्ठति । तच्चेदनिष्टसाधनत्वविशिष्ट तदा न कार्यमिति धिया नानुतिष्ठति । "श्रतो मानात्तस्यानुष्ठानाननुष्ठानहेतू "कार्याकार्यधियावित्यर्थः । "तथाऽपि ब्रह्मणो वाक्यार्थत्व पदार्थत्वं वा नाऽऽद्य इत्याह—अननुष्ठेयत्व इति । "तस्याकार्यत्वेऽपि वाक्यार्थत्वं कि न स्यादित्याशङ्कयाऽऽह—न हीति । उभयत्रासतीति च्छेद । द्वितीय दूपयति—

अनुष्ठेयवस्तुविषयक होने से नही है । तो फिर क्यो है ? वेदवाक्यजनित होने से ही उसकी यथार्थता है।

वेद वाक्य द्वारा ज्ञात वस्तु के प्रामाण्य सिद्ध होने पर, यदि वह अनुष्ठेयत्वविशिष्ट होती है, तो पुरुष उसका अनुष्ठान करता है, और यदि अनुष्ठेयत्व विशिष्ट नही होती, तो पुरुष उसका अनुष्ठान नही करता। (इस पर शङ्का होती है—) फिर (ब्रह्म के अकार्यत्व होने से) तो वाक्यगम्यता ही न होगी, क्योकि कार्य की ही वाक्यगम्यता होती है। ब्रह्मरूप वस्तु के अनुष्ठेय न होने पर (क्रिया पदाभाव से) पदो की सहति सिद्ध नही होती है। कार्यपरत्व होने से तदुपकारक रूप से पदो की सहति होती है। लोक और वेद मे "इसे इससे इस प्रकार ही करना चाहिये" इस प्रकार अनुष्ठेयार्थनिष्ठ वाक्य हो प्रमाण होता है। 'इसे, इससे, इस प्रकार' ऐसे सैकडो पद मिलने पर भी उसमे

---

१ प्रामाण्ये। २ अननुष्ठेयत्व इत्यादि—ब्रह्मण इत्यादि तथा च ब्रह्मणोऽकार्यत्वान्न वाक्यगम्यतेति भाव कार्यस्यैव वाक्यगम्यत्वमित्यभिमान । ३ अनुष्ठेय इत्यादि ब्रह्मणश्चेदकार्यत्व तदा तद्विषयवेदान्तेषु क्रियापदाभावात्पदसहत्ययोगाद्वाक्यासिद्धेर्न तस्य तदर्था इति भाव । ४ ब्रह्मरूपवस्तुनीति शेष । ५ तदुपकारकतयेत्यर्थं । ६ एतावता वेदान्तस्य वाक्यत्वाभाव उक्त । ७ उक्तान्वयव्यतिरेके मति लोकवेदयोर्वार्थ । ८ तत्रानुष्ठेयनिष्ठमित्यादि—लोकवेदयो न क्रियापदमन्तरेण यस्मात्पदाना मिथ सहतिर्दृष्टाऽतो वेदान्तेषु क्रियापदशून्येषु नास्ति वाक्यत्वमितिभाव । ९ इदमनुष्ठेय वस्त्वनेन वाक्येनैव कर्तव्यमित्यनुष्ठेयनिष्ठ वाक्य प्रमाण भवतीत्यन्वय । १० "एतत् स्यात् सर्ववेदेषु नियत विधिलक्षणम्"। ११ कुतस्तर्हीति—तर्हि अनुष्ठेयनिष्ठत्वस्य प्रामाण्यानुपयुक्तत्वे कार्याकार्यधियाविति—कर्तव्याकर्तव्यबुद्धी इत्यर्थं । यथा हि कर्मकाण्डीयमन्त्रार्थवाक्यश्रवणात् कर्तव्यधीर्जायते इद यागादि मया कर्तव्यमिति । सत्य ज्ञानमित्यादि ज्ञानवाक्याच्च न कर्तव्यधीरिति तथा च अनुष्ठानाननुष्ठानहेतुकार्याकार्यबुद्धी कस्माद्धेतोर्जायेयातामिति वाक्यार्थं । १२ वैदिकस्य—वेदबोधितस्य । १३. प्रामाण्ये । १४ अतो मानात्तस्येति—यथोक्तमेयानुरोधादित्यर्थं । तस्य—अनुष्ठेयादिवस्तुन । १५ कार्याकार्यधियाविति—तथा चानुष्ठेयानुष्ठानाननुष्ठानहेतुकर्तव्याकर्तव्यबुद्धी मेयानुरोधादेव भवत इत्यर्थ. । तथा च वार्त्तिकम्—"प्रमाणाधिगतो सत्यां पुसो मेयानुरोधत । अनुष्ठेयोऽननुष्ठेय इति पश्चान्मतिर्भवेदिति ॥" १६ तथापीत्यादि—वेदान्ताना प्रामाण्येपि ब्रह्म कि कस्यचिद्वाक्यस्यार्थ पदस्य वा । १७ ब्रह्मण' ।

इत्येवमादीनामन्यतमे'ऽसत्यतः परमात्मेश्वरादीनामवाक्यप्रमाणत्वम् । पदार्थत्वे च प्रमाणान्तरविषयत्वम् । 'अतोऽसदेतदिति चेत् । न । अस्ति मेरुर्वर्णचतुष्टयोपेत इत्येवमादावननुष्ठेयेऽपि वाक्यदर्शनात् । न च मेरुर्वर्णचतुष्टयोपेत इत्येवमादिवाक्यश्रवणे मेर्वादावनुष्ठेयत्वबुद्धिरुत्पद्यते । 'तथाऽस्तिपदसहितानां परमात्मेश्वरादिप्रतिपादकवाक्यपदानां विशेषणविशेष्यभावेन संहतिः केन वार्यते ।

मेर्वादिज्ञानवत्परमात्मज्ञाने प्रयोजनाभावाद'युक्तमिति चेत् । न । "ब्रह्मविदाप्नोति

पदार्थत्वे चेति । ब्रह्मणः 'शास्त्रार्थत्वमेतदित्युच्यते । 'कार्यास्पृष्टेऽर्थे वाक्यप्रामाण्यं दृष्टान्तेन साधयति—नेत्यादिना । शुक्लकृष्णलोहित'मिश्रलक्षणं 'वर्णचतुष्टयं तद्विशिष्टो "मेरुरस्तीत्यादिप्रयोगे मेर्वादा"कार्येऽपि "मम्याधीदर्शनात्तत्त्वमसिवाक्यादपि कार्यास्पृष्टे ब्रह्मणि सम्यग्ज्ञानसिद्धिरित्यर्थः । दृष्टान्तेऽपि कार्यधीरेव वाक्यादुदेतीत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । ननु तत्र क्रियापदाधीना पदसंहतिर्युक्ता वेदान्तेषु पुनस्तदभावात्पदसंहत्ययोगात्कुतो वाक्यप्रमाणकत्वं ब्रह्मण' संभवति तत्राऽऽह—तथेति ।

"विमतमफलं सिद्धार्थज्ञानत्वात्"संमतवदित्यनुमानात्तत्त्वमादेः सिद्धार्थस्यायुक्तं मानत्वमिति शङ्कते—मेर्वादीति । श्रुतिविरोधेनानुमानं "धुनोते—नेत्यादिना । "विद्वदनुभवविरोधाच्च नैवमित्याह—

वाक्यत्व नही आ मकता । 'कुर्यात्, क्रियेत्, कर्त्तव्यम्, भवेत. स्यात्' ये पाँचो विधिलक्षण क्रियापद सब वेदो मे नियत हैं। अत' परमात्मा और ईश्वरादि वाक्य प्रामाण्यत्व के विषय नही हैं। क्रियापदाभाव होने एव वेदान्त के अवाक्यत्व होने से ऐसा होता है। (ब्रह्म प्रमाणान्तरविषय पदार्थत्वात् घटवत्) पदार्थत्व होने से (वह ब्रह्म) आगमातिरिक्त प्रमाण का विषय होगा। (वाक्यार्थत्व और पदार्थत्व से ब्रह्म का निरूपण न हो सकने के कारण) अत' यह असत् है ऐसे कहना चाहिए ? (शङ्का का परिहार करते है–) ऐसा कहना ठीक नही "मेरु चार वर्णो वाला है" इत्यादि वाक्य मे अननुष्ठेयत्व होने पर भी वाक्य देखा जाता है। "मेरु चार वर्ण वाला है" इत्यादि वाक्य सुनने पर मेरु आदि मे अनुष्ठेय बुद्धि

---

१ क्रियापदाभावेन वेदान्तानामवाक्यत्वात् । २ प्रमाणान्तरविषयत्वमिति—अत्रेदमनुमान सूचित ब्रह्मप्रमाणान्तरविषय पदार्थत्वात् घटवदिति । प्रमाणान्तरेति--आगमातिरिक्तप्रमाणेत्यर्थ । अत्रोक्त वार्तिके— "पदार्थत्वे च तत्सिद्धिलिङ्गप्रत्यक्षमश्रयादिति ।" किञ्च पदार्थत्वे ब्रह्मणो ब्रुवत सिद्धान्तहानिरित्यभिप्रेत्योक्तं वार्तिके— "आगमैकप्रमाणत्वान्न पदार्थत्वमिष्यत" इति । ब्रह्म वाक्यीयमित्यङ्गीकारात्पदार्थत्वकृतदोषाभावः । न च क्रियापदाभावात् पदासंहति वेदान्तेष्वपि प्रतिपाद्यनुगुणा क्रियापदोपगमात् इत्यभिप्रेत्य तत्रोक्तम्—"अस्यस्मीत्यभ्युपेतत्वान्नैवमप्युपपद्यत इति" । यद्वा वाक्यार्थत्वमङ्गीकृत्य पदार्थत्वमनङ्गीकारपरास्तमित्यभिप्रेत्योक्तम् आगमेति । क्रियापदमन्तरेण पदसंहत्यभावाद्वाक्यासिद्धेस्तद्गम्यत्वमपि निरस्तमित्याशङ्क्योक्तम् अस्यस्मीति । ३ ब्रह्मणो वाक्यार्थत्वपदार्थत्वाभ्यां निरूपयितुमशक्यत्वात् । ४ दृष्टान्तवत् । ५ अयुक्तमिति—सिद्धार्थबोधस्य तत्त्वमस्यादि वाक्यस्य प्रामाण्यमयुक्तमित्यर्थं । ६ शास्त्रप्रतिपाद्यत्वम् । ७. कार्यास्पृष्ट इति कार्यम्—अनुष्ठेयम्, तदस्पृष्टे-अननुष्ठेय इति यावत् । ८. मिश्रम्—चित्रम् । ९ वर्णचतुष्टयमिति—तच्च मेरावेतस्मिन् दिग्विभागेन द्रष्टव्यम् । १०. मेरुरस्तीत्यादीति—आदिना-यथा सौवर्णराजतपक्षाभ्यां सुपर्णगतिविहङ्गमोऽत्यद्भुतदर्शनो द्वीपान्तरेऽस्तीति प्रयोगे विशिष्टे पतत्रिण्यकार्येऽप्यस्ति पक्षीति शब्दादुत्पद्यते सम्यग्ज्ञानमित्येवमादि ग्राह्यम् । ११. अननुष्ठेये । १२. अस्ति मेरुरिति शब्दादिति शेष । १३. ब्रह्मज्ञानम् । १४. मेर्वादिज्ञानवत् । १५ निरस्यति । १६ अनुमाने श्रुतिबाधमवतार्य तत्रैव प्रत्यक्षबाधमप्यवतारयति विद्वदनुभवेति ।

परम्" "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" इति फलश्रवणात् । संसारबीजा[1]विद्यादिदोषनिवृत्ति-[2]दर्शनाच्च । अनन्यशेषत्वाच्च तज्ज्ञानस्य जुह्वामिव फलश्रुतेरर्थवादत्वानुपपत्तिः ।

ससारेति । फलश्रुतेरर्थवादत्वेना[3]मानत्वादनुमानाबाधकतेत्याशङ्क्याऽऽह—अनन्येति । [4]पर्णमयीत्वाधिकरणन्यायेन जुह्वां फलश्रुतेरर्थवादत्वं युक्तम् । ब्रह्मधियोऽन्यशेषत्वप्रापकाभावात्तत्फलश्रुतेरर्थवादत्वासिद्धिरिति । [5]अन्यथा [6]शारीरकानारम्भः स्यादित्यर्थः । श्रुत्यनुभवाभ्यां वाक्योत्थज्ञानस्य फलवत्त्वदृष्टेर्युक्ता कार्यास्पृष्टे स्वार्थे तत्त्वमस्यादेर्मानतेत्युक्तं संप्रति शास्त्रस्य कार्यपरत्वानियमे [7]हेत्व-

---

नही उत्पन्न होती । इसी दृष्टान्त के समान परमात्मा और ईश्वरादि का प्रतिपादन करने वाले "अस्ति" पद वाले वाक्यो के पदो की विशेषण–विशेष्यभावरूप सङ्गति का कौन वारण कर सकता है ?

(इस पर शङ्का होती है—) मेरु आदि के ज्ञान की तरह परमात्मज्ञान, प्रयोजन के अभाव होने से (सिद्धार्थबोधक 'तत्त्वमस्यादि' वाक्य का प्रामाण्य) अयुक्त है । (इस पर शङ्कापरिहार करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नही । "ब्रह्म के जानने वाला परमपद प्राप्त कर लेता है", "उसके हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है" इत्यादि श्रुतियो मे परमात्मज्ञान का फल सुना गया है । तथा ससार के बीज रूप

---

१ अविद्यादीति—आदिनाऽविद्याकार्यं शोकमोहादिग्राह्यम् । २ दर्शनाच्चेति—वाक्यीयज्ञानोदयानन्तरमेव तत्फलस्य शोकादिविमोक्षस्य प्रत्यक्षत्वात् तद्विरुद्धमनुमान नोदयतीत्यर्थः । ३ अमानत्वादिति—अर्थवादस्य स्वार्थे तात्पर्याभावात्तत्राप्रमाणत्वादित्यर्थः । ४ पर्णमयीत्वाधिकरणन्यायेन जुह्वा फलश्रुतेरर्थवादत्व युक्तमिति—द्रव्यसस्कारकर्मणा क्रत्वर्थत्वाधिकरणापरपर्याये पर्णमयीत्वाधिकरणे उक्तेन परार्थत्वादिहेतुना पापश्लोकश्रवणराहित्यस्यार्थवादत्व क्रतुप्राशस्त्यबोधकत्व युक्तमित्यर्थः । "द्रव्यसस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यादि"ति तदधिकरणसूत्रम् । "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पाप श्लोक शृणोति" । यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते । यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद् यज्ञस्य क्रियते वर्म्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्यै इत्येतानि प्रकृतसूत्रस्य विषयवाक्यानि—अत्र यज्जुहूप्रकृतिभूत द्रव्य पर्णात्मक यश्चाञ्जनेन चक्षुष सस्कार यच्च प्रयाजानुयाजरूप कर्म किमेते पुरुषार्थफलमुद्दिश्य विधीयन्त उत क्रत्वर्थवादा इति सशये पापश्लोकश्रवणराहित्यादे (स्वनिन्दाश्रवणाभावादे) पुरुषसम्बन्धिफलस्य प्रतिभानात् पुरुषार्थत्वेन विधीयन्त इति प्राप्ते सिद्धान्तयति-द्रव्यसस्कारकर्मविधिषु क्रमेण उदाहृतवाक्येषु फलश्रवणमर्थवाद स्यात् परार्थत्वात् पर्णमयीत्वादीना क्रत्वर्थत्वादित्यर्थः । फल हि साध्य भवति न चात्र साध्यता प्रतीयते न शृणोति, वृङ्क्ते, वर्म क्रियत इति वर्तमानत्वनिर्देशात् । अत क्रत्वर्था एव विषय तत्र पर्णमयीत्वस्यानारम्याधीतस्यापि वाक्येन क्रतुसम्बन्ध (समभिव्याहारो वाक्यम्) तथा चोक्त सेय पर्णताऽनारभ्याधीतापि सर्वप्रकृतिष्वेवान्वेति न विकृतिषु तत्र चोदकेनापि तत्प्राप्तिसभवात्पौनरुक्त्यापत्तेरिति । चोदकम् प्रकृतिवदित्याद्यतिदेशवाक्यम् ॥ पौनरुक्त्येति प्रकृतौ वा द्विरुक्तत्वादिति न्यायविरोधेन पौनरुक्त्यरूपदोषापत्तेरित्यर्थः । प्रकृतौ वा प्रकृतावेव पर्णता कस्मात् द्विरुक्तत्वात् चोदकप्राप्तत्वेन पौनरुक्त्यादिति सूत्रार्थः । एव च पौनरुक्त्योद्भावनान्यथानुपपत्त्या पर्णताया वाक्येन क्रतुसम्बन्ध तया च पर्णमयीवाक्य क्रतुसमभिव्याहारेण पठनीयम् । क्रतुश्चात्र दर्शपौर्णमासाख्य । सस्कारकर्मणोस्तु प्रकरणेन क्रतुसम्बन्ध क्रत्वर्थता तु क्रतुनिष्पादनव्यतिरेकेण फलाकाङ्क्षाया अभावात् वर्तमाननिर्देशस्य विपरिणाम कृत्वापि फल कल्पयितुमशक्यमिति भाव । उभयाकाङ्क्षाप्रकरणम् । ५ तत्फलश्रुतेरर्थवादत्वाङ्गीकारे । ६ ब्रह्मविद्याफलप्रयोजनवत्त्वादारम्भस्येति भाव । ७ अस्ति मेर्वादित्याद्युक्तहेत्वपेक्षयाऽन्य हेतुमित्यर्थः ।

[1]प्रतिषिद्धानिष्टफलसंबन्धश्च वेदादेव विज्ञायते । न चानुष्ठेयः सः । न च प्रतिषिद्धविषये प्रवृत्तक्रियस्याकरणादन्यदनुष्ठेयमस्ति । [2]अकर्तव्यताज्ञाननिष्ठत्वमेव हि [3]परमार्थतः प्रतिषेधविधीनां स्यात् ।

क्षुधार्तस्य [4]प्रतिषेधज्ञानसंस्कृतस्या[5]भक्ष्ये[6]ऽभोज्ये वा प्रत्युपस्थिते कलञ्जानिशरता-

न्तरमाह—प्रतिषिद्धेति । यद्यपि कलञ्जभक्षणादेरधःपातस्य च [7]संबन्धो न कलञ्जं भक्षयेदित्यादिवाक्यात्प्रतीयते [8]तथाऽपि तस्यानुष्ठेयत्वाद्वाक्यस्यानुष्ठेयनिष्ठत्वसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । संबन्धस्या[9]भावार्थत्वान्नानुष्ठेयतेत्यर्थः । अभक्षणादि कार्यमिति विधिपरत्वमेव निषेधवाक्यस्य किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । [10]तस्यापि [11]कार्यार्थत्वे विधिनिषेधभेदभङ्गाप्रसङ्गश्च स्वसंबन्ध्यभावबोधने [12]मुख्यस्या[13]र्थान्तरे वृत्तौ लक्षणापातान्निषिद्धविषये रागादिना प्रवृत्तक्रियावतो [14]निषेधशास्त्रार्थधीसंस्कृतस्य [15]निषेधश्रुतेरकरणात्प्रसक्तक्रिया[16]निवृत्त्युपलक्षितादौदासीन्यादन्यदनुष्ठेयं न प्रतिभातीत्यर्थः । [17]भावविषयं कर्तव्यत्वं विधीनामर्थो[18]ऽभावविषयं तु निषेधानामिति [19]विशेषमाशङ्क्याऽऽह—अकर्तव्यतेति । अभावस्य [20]भावार्थत्वाभावात्कर्तव्यताविषयत्वासिद्धिरिति हिशब्दार्थः ।

[21]प्रतिषेधज्ञानवतोऽपि [22]कलञ्जभक्षणादिज्ञानदर्शनात्तन्निवृत्ते[23]र्नियोगाधीनत्वात्तन्निष्ठमेव वाक्यमेष्टव्यमिति चेन्नेत्याह—क्षुधार्तस्येति । विषलिप्तबाणहतस्य पशोर्मांसं कलञ्जं ब्रह्मवधाद्य-

अविद्यादि दोष की निवृत्ति भी ब्रह्मात्म–ज्ञान से होती देखी गयी है । ब्रह्मात्मज्ञान किसी अन्य कर्म का शेष भी नहीं है, जिस प्रकार जुहू विषयक फलश्रुति अर्थवाद है, उसी प्रकार उसके अर्थवाद होने की कल्पना नहीं कर सकते । इसी प्रकार ("किसी की हिंसा न करे" इत्यादि) प्रतिषिद्ध कर्मानुष्ठान से

१ प्रतिषिद्धेत्यादि—प्रतिषिद्धस्य यदनिष्टं फलं तत्सम्बन्ध इत्यर्थः । हननादेरनिष्टफलसम्बन्धो न हन्यादिति वेदादेव ज्ञायते न च तस्य कार्यता शङ्कितुमपि शक्यते न हि निषेधगम्य निषिद्धानिष्टसम्बन्धः तत्संस्कृतोऽनुतिष्ठति अतो निषेधवाक्यानां कार्यानपेक्षाणामपि मानत्वात् कार्यपरत्वनियमः शास्त्रस्येति भावः । अत्र तत्संस्कृत इत्यस्य निषेधशास्त्रसंस्कारविशिष्ट इत्यर्थः । २ अकर्तव्यताज्ञाननिष्ठत्वेति—भक्षणादिकर्तव्यत्वाभावबोधतात्पर्यवत्त्वेत्यर्थः । ३ फलतः । ४ निषेधशास्त्रार्थज्ञानीयसंस्कारयुतस्य । ५. अभक्ष्य—कलञ्जे । ६. अभोज्य—अभिशस्तान्न इति यथाक्रमम् । ७ भक्षणादेरधःपातस्य च जन्यजनकभावाख्यः सम्बन्धः पुरुषेण सह त्वधःपातस्य स्वस्वामिभावाख्य स इति ज्ञेयम् । ८ सम्बन्धस्य वेदगम्यत्वेऽपि । ९. भावार्थत्वाभावादित्यर्थः धात्वर्थत्वाभावादिति यावत् सर्वत्र धात्वर्थस्यैवानुष्ठेयत्वादिति भावः । १०. निषेधवाक्यस्यापि । ११ अनुष्ठेयनिष्ठत्वे । १२ शक्तस्य । १३ स्वसम्बन्धि यदाख्यातान्त तद्विशेषणीभूतधात्वर्थाभावे वृत्तावित्यर्थः । १४ निषेधशास्त्रश्रवणजन्यतदर्थज्ञानीयसंस्कारविशिष्टस्य पुंसः । १५. प्रतिषेधवाक्यश्रवणादित्यर्थः । १६ निवृत्त्यपरपर्यायस्याकरणस्याभावरूपत्वेनाननुष्ठेयत्वमभिप्रेत्याह—निवृत्तीत्यादि—प्रसक्तक्रियानिवृत्तिपदेन लक्षणया मनोऽवस्थाविशेषरूपादौदासीन्यादित्यर्थः । १७ प्रतियोगिप्रतीतिनिरपेक्षप्रतीतिविषयविषयकमित्यर्थः । १८ प्रतियोगिप्रतीतिसापेक्षप्रतीतिविषयविषयकमित्यर्थः । १९. विधिनिषेधयोर्भेदोपपत्तिमिति यावत् । २०. धात्वर्थत्वाभावादित्यर्थः । २१ प्रतिषेधशास्त्रार्थज्ञानसंस्कृतस्य पुंसः । २२ कलञ्जादेर्भक्ष्यत्वादिरूपेण ज्ञानस्य प्रतीयमानत्वादित्यर्थः । २३ अपूर्वापरपर्यायकार्याधीनत्वादित्यर्थः । तथाहि 'न कलञ्जं भक्षयेदि'त्यस्य कलञ्जभक्षणमनिष्टसाधनमित्यर्थकत्वेनानिष्टस्य च दुरदृष्टतया तदधीना ततो निवृत्तिरित्यागतं निषेधस्य कार्यनिष्ठत्वमिति भावः ।

आदाविदं भक्ष्यमदो भोज्यमिति वा [1]ज्ञानमुत्पन्नं [2]तद्विषयया प्रतिषेधज्ञानस्मृत्या [3]बाध्यते। मृगतृष्णिकायामिव पेयज्ञानं [4]तद्विषययाथात्म्यविज्ञानेन तस्मिन्बाधिते [5]स्वाभाविकविपरीतज्ञाने[6]ऽनर्थकरी तद्भक्षणभोजनप्रवृत्तिर्न भवति। विपरीतज्ञाननिमित्तायाः प्रवृत्ते[7]र्निवृत्तिरेव न पुनर्यत्नः कार्यस्तदभावे। [8]तस्मात्प्रतिषेधविधीनां [9]वस्तुयाथात्म्यज्ञाननिष्ठतैव न पुरुषव्यापारनिष्ठतागन्धोऽप्यस्ति। [10]तथेहापि [11]परमात्मादियाथात्म्यज्ञान-

---

[12]भिशापयुक्तस्यान्नपानाद्यभोज्यं तस्मिन्नभक्ष्येऽभोज्ये च प्राप्ते [13]यद्भ्रमज्ञानं क्षुत्क्षामस्योत्पन्नं तन्निषेधधीसंस्कृतस्य तद्धीस्मृत्या बाध्यमित्यत्र लौकिकदृष्टान्तमाह—मृगतृष्णिकायामिति। [14]तथाऽपि प्रवृत्त्यभावसिद्धये [15]विधिरर्थ्यतामिति चेन्नेत्याह—तस्मिन्निति। तदभावः प्रवृत्त्यभावो न विधिजन्यप्रयत्नसाध्यो [16]निमित्ताभावेनैव सिद्धेरित्यर्थः। दृष्टान्तमुपसंहरति—तस्मादिति। दार्ष्टान्तिकमाहृट-

---

उसका फल भी अनिष्ट है—ऐसा वेदों से ही जाना जाता है। उसका अनुष्ठान नहीं होता। जो मनुष्य कर्मों में प्रवृत्त है; उसके लिए प्रतिषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान न करने मात्र से ही, दूसरे कर्मों की अनुष्ठेयनिष्ठता नहीं हो जाती। क्योंकि प्रतिषेधसम्बन्धी विधियाँ फलतः भक्षणादि कर्तव्यत्व के अभावबोधक तात्पर्य वाली है।

यदि निषेध-शास्त्रार्थ-ज्ञान-संस्कार से युक्त किसी क्षुधार्त पुरुष के सामने अभक्ष्य कलञ्ज अथवा अभोज्य अभिशस्त अन्न आ जाए; तो उसे "यह भक्ष्य है यह भोज्य है" ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न होगा। कलञ्ज और अभिशस्त अन्न विषयक प्रतिषेधज्ञान स्मृति से उसका बाध हो जाएगा। जिस प्रकार मरु-मरीचिका के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने पर उसमें पेयजल-बुद्धि का बाध हो जाता है। उस शास्त्रानाधेय विपरीत ज्ञान के बाधित हो जाने पर उसके भक्षण अथवा भोज्य में अनिष्ट सम्पादिका प्रवृत्ति नहीं रहती। विपरीत ज्ञान जन्य प्रवृत्ति की तो निवृत्ति हो जाती है। उसके अभाव के लिए उसे फिर कोई यत्न नहीं करना चाहिए। अत (प्रतिषेध विधि-वाक्यों का विधेयार्थनिष्ठत्व

---

१. भ्रमात्मकम्। २ कलञ्जाभिशस्तान्नविषयया। ३ बाध्यत इति—तथा च प्रवृत्तिबीजस्य भक्ष्यत्वादिप्रकारकभ्रमस्य न कलञ्जमित्यादिनिषेधज्ञानीयस्मृत्याबाधात् प्रयोजकाभावादेव निवृत्त्युपपत्तेर्न तस्यानियोगाधीनत्वमित्यर्थ.। ४. तद्विषयेत्यादि—जलज्ञानविषये मरुभूमिप्रतिफलितमरीच्युदके यद् याथात्म्यज्ञानं—मरुभूरियं न तु जलमित्येव रूपं तेनेत्यर्थः। ५. शास्त्रानाधेयेत्यर्थ। ६. अनिष्टसम्पादिका। ७ निवृत्तिरेवेति-भवतीति शेष। ८. तस्मात्—प्रतिषेधविधीना (वाक्यानाम्) विधेयार्थनिष्ठत्वासम्भवात्। ९. वस्तुयाथात्म्यज्ञाननिष्ठतैवेति—वस्तुन.—कलञ्जभक्षणादेः याथात्म्यम्—अनिष्टसम्पादकत्वम्। तद्बोधतात्पर्यवत्तैवेत्यर्थ.। १०. तथेहापीति—प्रतिषेधवाक्यवत् वेदान्तवाक्येऽपीत्यर्थः। ११. परमात्मादीत्यादि—परमात्मा-तत्पदार्थ आदिना त्वंपदार्थ आत्मा तयोर्याथात्म्य निरुपाधिकं स्वरूपम्। तद्विषयकज्ञानोत्पादकविधीनाम्—तत्त्वमादिमहावाक्यानामवान्तरवाक्याना चेत्यर्थः। वेदान्तेषु विध्यभावाद्विधिशब्दो वाक्यपरत्वेनैव व्याख्यात इति ध्येयम्। १२. मिथ्याकलङ्कोऽभिशापः। अनेन ब्राह्मणो हत इत्येवमादिस्तमहृतवतोऽपि पुंसः। १३. इद भक्ष्यमदोभोज्यमित्याद्याकारम्। १४. तथापीति—प्रतिषेधज्ञानस्मृत्या प्राप्ताऽभक्ष्याभोज्यविषयके विपरीतज्ञाने बाधितेऽपीत्यर्थः। १५. अर्थ्यतामिति—स्वीक्रियताम्। प्रवृत्त्यभावस्य विधिजन्यप्रयत्नसाध्यत्वादितिभावः। १६. निमित्तेति—भक्ष्यत्वादिप्रकारकविपरीतज्ञानरूपप्रयोजकेत्यर्थ.।

विधीनां [1]तावन्मात्रपर्यवमानत्वं स्यात् । [2]तथा तद्विज्ञानसंस्कृतस्य तद्विपरीतार्थज्ञान-निमित्तानां प्रवृत्तीनामनर्थार्थत्वेन ज्ञायमानत्वात् । परमात्मादियाथात्म्यज्ञानस्मृत्या [3]स्वाभाविके [4]तन्निमित्तविज्ञाने बाधितेऽभावः स्यात् ।

ननु कलञ्जादिभक्षणादेरनर्थार्थत्ववस्तुयाथात्म्यज्ञानस्मृत्या [5]स्वाभाविके तद्भक्ष्यत्वादि[6]विपरीतज्ञाने निवर्तिते तद्भक्षणाद्यनर्थप्रवृत्त्यभाववदप्रतिषेधविषयत्वाच्छास्त्रविहित-प्रवृत्त्यभावो [7]न युक्त इति चेत् । न । विपरीतज्ञाननिमित्तत्वानर्थार्थत्वाभ्यां [8]तुल्यत्वात् ।

तथेति । न केवलं तत्त्वमस्यादिवाक्यानां सिद्धवस्तुमात्रपर्यवसानता किन्तु [9]सर्वकर्म[10]निवर्तकत्वमपि सिध्यतीत्याह—तथेति । अकर्ब्रभोक्तृब्रह्माहमितिज्ञानसंस्कृतस्य[11] [12]प्रवृत्तीनामभाव स्यादिति संबन्धः । तस्माद्ब्रह्मभावाद्विपरीतो[13]ऽर्थो यस्य कर्तृत्वादिज्ञानस्य तन्निमित्तानाम[14]नर्थार्थत्वेन [15]ज्ञायमानत्वादिति [16]हेतु । कदा पुनस्तासामभावः स्यादत आह—परमात्मादीति । भ्रान्तिप्राप्त-भक्षणादिनिरासेन निवृत्तिनिष्ठतया निषेधवाक्यस्य मानत्ववत्तत्त्वमादेरपि प्रत्यगज्ञानोत्थकर्तृत्वादि-निवर्तकत्वेन मानत्वोपपत्तिरिति समुदायार्थः ।

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमाशङ्कते—नन्विति । तस्य निषिद्धत्वाद[17]नर्थार्थत्वमेव यद्वस्तु-याथात्म्यं तज्ज्ञानेन निषेधे कृते तत्संस्कारद्वारा संपादितस्मृत्या शास्त्रीयज्ञानेन विपरीतज्ञाने बाधिते तत्कार्यप्रवृत्त्यभावो निमित्ताभावे नैमित्तिकाभावन्यायेन युक्तो न तथाऽग्निहोत्रादिप्रवृत्त्यभावो युक्त ।

असम्भव होने से) प्रतिषेध विधियों का कलञ्ज-भक्षणादि वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान कराने में तात्पर्य है, उनमें पुरुष के व्यापारनिष्ठता की गन्ध भी नहीं है। प्रतिषेध वाक्य के समान वेदान्त-वाक्य में भी ब्रह्मात्मैक्य स्वरूप का ज्ञान कराने वाली विधियाँ सिद्धवस्तु-मात्र तात्पर्य वाली हो जाएँगी। सिद्धवस्तु पर्यवसान के समान परमात्मादि ज्ञान से संस्कृत पुरुष की उससे विपरीत पदार्थ-ज्ञान निमित्त प्रवृत्तियाँ अनर्थ प्रयोजन वाली लगने लगेंगी। ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान की स्मृति से स्वाभाविक आविद्यक प्रवृत्ति प्रयोजक कर्तृत्वादि ज्ञान के बाधित हो जाने से प्रवृत्ति का अभाव हो जायगा।

(दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति में विषमता से शङ्का होती है।) परन्तु कलञ्ज भक्षणादि अनर्थार्थक

---

१ सिद्धवस्तुमात्रतात्पर्यवत्त्वेवेत्यर्थ । २ सिद्धवस्तुपर्यवसानवत् । ३ स्वाभाविके—आविद्यके । ४ तन्निमित्तेत्यादि—प्रवृत्तिप्रयोजककर्तृत्वादिज्ञान इत्यर्थ । ५ शास्त्रानाधेये । ६ भ्रान्तिरूपज्ञाने । ७ न युक्त इति—यथाकलञ्जभक्षणादेरज्ञानकृतत्वादनर्थफलत्वाच्च न कलञ्ज भक्षयेदित्यादिनिषेधवाक्यानामनिष्टोपायताधीद्वारा निवृत्तिनिष्ठत्वेन प्राामाण्यमयुक्तम् तथा श्रौतकर्मणो माज्ञानकृतत्वमनर्थार्थत्व वा, तद्धि शास्त्रप्रयुक्तमतस्तत्त्वमस्यादेस्तत्त्वज्ञान जनयतोऽपि श्रौतकर्मानिवर्तकत्वान्न निवर्तकत्वेन प्रामाण्यमिति तदाशय । ८ तुल्यत्वादिति यथा कलञ्जभक्षणादि—अज्ञानकृतम् अनर्थफलक च तथा श्रौतमपि कर्म । प्रत्यगज्ञानकृतकर्तृत्वादिजन्यत्वात् तज्जन्यदेहग्रहस्य चानर्थत्वादतो वाक्योत्थज्ञानादज्ञानध्वस्तौ तज्जन्यकर्मध्वस्तेर्निवर्तकत्वेन निषेधवत् तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य मानत्वोपपत्तिरिति सिद्धान्तिनो भाव । ९ विहितनिषिद्धसकलकर्मेत्यर्थं । १० इदमार्थिकमिति ध्येयम् । ११ पुंस । १२ प्रवृत्तीनाम्—विहितनिषिद्धकर्ममात्रविषयिकाणामित्यर्थं । १३ अर्थ—कर्तृत्वादिरूपो विषय । १४ अनिष्टप्रयोजकत्वेन । १५ निश्चितत्वात । १६ हेतुरिति—यथोक्तप्रवृत्त्यभावे इति शेष । १७ अनिष्टसाधनत्वमेव ।

कलञ्जभक्षणादिप्रवृत्तेर्मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वमनर्थार्थत्वं च यथा तथा शास्त्रविहितप्रवृत्तीनामपि। तस्मात्परमात्मयाथात्म्यविज्ञानवतः शास्त्रविहितप्रवृत्तीनामपि मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वेनानर्थार्थत्वेन च तुल्यत्वात्परमात्मज्ञानेन विपरीतज्ञाने निवर्तिते युक्त एवाभावः।

ननु तत्र युक्तो नित्यानां तु केवलशास्त्रनिमित्तत्वादनर्थार्थत्वाभावाच्चाभावो न युक्त इति चेत्। न। अविद्यारागद्वेषादिदोषवतो विहितत्वात्। यथा स्वर्गकामादिदोषवतो दर्शपौर्णमासादीनि काम्यानि कर्माणि विहितानि तथा सर्वानर्थबीजाविद्यादिदोषवतस्तज्जनितेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहाररागद्वेषदोषवतश्च तत्प्रेरिताविशेषप्रवृत्तेरिष्टा-

ब्रह्मविदाऽग्निहोत्रादि न कर्तव्यमिति निषेधानुपलम्भादित्यर्थः। तत्त्वमस्यादिवाक्येनार्थान्निषिद्धमग्निहोत्रादीति मन्वानः साम्यमाह—नेत्यादिना। शास्त्रीयप्रवृत्तीनां गर्भवासादिहेतुत्वादनर्थार्थत्वमहं कर्तेत्याद्यभिमानकृतत्वेन विपरीतज्ञाननिमित्तत्वम्। एतदेव दृष्टान्तावष्टम्भेन स्पष्टयति—कलञ्जेति।

काम्यानामज्ञानहेतुत्वानर्थार्थत्वाभ्यां विदुषस्तेषु प्रवृत्त्यभावो युक्तो नित्यानां तु शास्त्रमात्रप्रयुक्तानुष्ठानत्वाच्चाज्ञानकृतत्वं प्रत्यवायाख्यानर्थध्वंसित्वाच्च नानर्थकरत्वमतस्तेषु प्रवृत्त्यभावो युक्तो न भवतीति शङ्कते—नन्विति। नित्यानां शास्त्रमात्रकृतानुष्ठानत्वमसिद्धमिति परिहरति—नेत्यादिना। तदेव प्रपञ्चयति—यथेति। अविद्यादीत्यादिशब्देनास्मितादिक्लेशचतुष्टयोक्तिः। तैरविद्यादिभिर्जनितेष्टप्राप्तौ तादृगनिष्टप्राप्तौ च क्रमेण रागद्वेषवतः पुरुषस्येष्टप्राप्तिमनिष्टपरिहारं च वाञ्छतस्ताभ्यामेव रागद्वेषाभ्यामिष्टं मे भूयादनिष्टं मा भूदित्यविशेषकामनाभिप्रेरिताविशेषप्रवृत्तियुक्तस्य

वस्तुओं के यथार्थस्वरूप ज्ञान की स्मृति से उनके भक्ष्यत्व आदि शास्त्रानाधेय भ्रान्ति रूप ज्ञान के निवृत्त हो जाने पर, जैसे कलञ्ज-भक्षणादि अज्ञानवृत और अनर्थफल वाले हैं, 'कलञ्ज भक्षण न करे', इत्यादि निषेध वाक्यों का अनिष्ट-उपाय बुद्धि द्वारा प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता। उसी प्रकार श्रौत कर्म अज्ञानकृत अथवा अर्थार्थत्व नहीं है, तत्त्वज्ञान होने पर भी श्रौतकर्म निवर्तकत्व रूप से प्रामाण्य नहीं है। (शंका का परिहार करते हैं) ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि विपरीत ज्ञान के निमित्त होने से और अनर्थ के लिए होने से ये दोनों समान ही हैं। जैसे कलञ्ज भक्षण की प्रवृत्ति विपरीत ज्ञान निमित्तक और अनर्थफलक है, उसी प्रकार शास्त्र विहित प्रवृत्तियां भी हैं। इसलिए परमात्मा के निरुपाधिक स्वरूप के ज्ञाता की दृष्टि में शास्त्रविहित प्रवृत्तियां भी मिथ्याज्ञान निमित्तक अनर्थ फलक होने से समानधर्मी हैं। निरुपाधिकस्वरूप परमात्मा के ज्ञान हो जाने से विपरीत ज्ञान के निवर्तित होने पर उनका अभाव हो जाता है, यही ठीक है।

वैसे "अभाव हो जाता है" ऐसा काम्य कर्मों में कह सकते हो, किन्तु नित्य कर्मों का

१ अनर्थफलकत्वम्। २ निरुपाधिस्वरूपेत्यर्थः। ३ काम्यकर्मस्वित्यर्थः। ४ प्रयुक्तत्वात्। ५ विहितत्वादिति—नित्यकर्मणामिति शेषः। ६ प्राप्तीत्यादि—प्राप्तिपरिहारयोः प्रयोजकौ रागद्वेषाविति विग्रहः। ७ तदित्यादि—रागादिजनितप्रवृत्तिसामान्यस्येत्यर्थः। कर्तुरेव विशेषणमिदम्। ८ अर्थादिति—फलत इत्यर्थः—प्रवृत्तिप्रयोजककर्तृत्वादिविषयकविपरीतज्ञानाभावसम्पादनान्नेति यावत्। ९ तुल्यत्वमेव। १० शास्त्रमात्रेति मात्रपदम् अविद्याऽस्मितादिदोषान् व्यावर्तयति। ११ नित्यानाम्— अहरहः सन्ध्यामुपासीत इत्यादिविहितानाम्। १२ मगृहीतमेव। १३ इत्यविशेषेत्यादि—इत्याकारककामनासामान्यजनितप्रवृत्तिसामान्ययुक्तस्य पुंस इत्यर्थः।

निष्टप्राप्तिपरिहारार्थिनो नित्यानि कर्माणि विधीयन्ते न केवलं शास्त्रनिमित्तान्येव ।

न चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यपशुबन्धसोमानां कर्मणां स्वतः काम्यत्व-नित्यत्वविवेकोऽस्ति । कर्तृगतेन हि स्वर्गादिकामदोषेण 'कामार्थता' । तथाऽविद्यादि-दोषवतः 'स्वभावप्राप्तेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थिनस्तदर्थान्येव नित्यानीति युक्तं तं प्रति विहितत्वात् । न 'परमात्मयाथात्म्यविज्ञानवतः 'शमोपायव्यतिरेकेण किंचित्कर्म विहित-

---

नित्यानि विधीयन्ते । स्वर्गकाम पशुकाम इति विशेषार्थिनः काम्यानि । तुल्यं तूभयेषां केवलशास्त्रा-निमित्तत्वमित्यर्थः ।

किंच काम्याना 'दुष्टत्वं ब्रुवता नित्यानामपि 'तदिष्टमुत्पत्तिविनियोगप्रयोगाधिकारविधिरूपे 'विशेषाभावादित्याह—न चेति । कथं तर्हि काम्यनित्यविभागस्तत्राऽऽह—कर्तृगतेनेति । स्वर्गकामः पशुकाम इतिविशेषार्थिनः काम्यविधिरिष्टं मे स्यादनिष्टं मा भूदित्यविशेष''कामप्रेरिताविशेषित-प्रवृत्तिमतो नित्यविधिरिति''युक्तमित्यर्थः । ''नन्वविद्यादिदोषवतो नित्यानि कर्माणीत्ययुक्तं परमात्म-ज्ञानवतोऽपि यावज्जीवश्रुतेस्तेषामनुष्ठेयत्वादित्याशङ्क्य ''श्रुतेरविरक्तविषयत्वान्मैवमित्याह—न परमा-त्मेति ।

अभाव तो उचित नही है, क्योकि वे केवल शास्त्र प्रयुक्त हैं, एव अनर्थों की प्राप्ति नही कराते। (शका का परिहार करते है—) ऐसा कहना ठीक नही है। क्योकि नित्यकर्म अविद्या, राग, द्वेषादि दोष से विहित है। जैसे दर्शपौर्णमासादि काम्यकर्मो का स्वर्गकामादि दोषवान् पुरुषो के लिए विधान किया जाता है, उसी प्रकार सब अनर्थों की जनयित्रीरूपा अविद्यादि-दोषवान्, तथा उससे होने वाले इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहार के प्रयोजक रागद्वेषरूप दोष से युक्त, तथा उस राग-द्वेष से प्रेरित प्रवृत्ति सामान्य इष्टप्राप्ति अनिष्टपरिहार इच्छा वाले कर्त्ता के लिए नित्य कर्मो का व्यपदेश किया जाता है—वे केवल शास्त्र निमित्तक ही नही हैं।

---

१ विभाग । २ काम्यता । ३ स्वभाव—कर्तृत्वाद्यभिमान तत्प्रयोजकादृष्ट वा तेन प्राप्तेत्यर्थ । ४ निखिलानर्थबीजाविद्यादिदोषवन्त पुमासम् । ५ परमात्मनोस्तत्त्वमर्थयोर्याथात्म्य निरुपाधिरूपम् । ६ कर्मो-परमात्मकसाधन विनेत्यर्थ । ७ दोषप्रयुक्तत्वम् ८ यथा एषो विधीना काम्यविधायकत्व तथैव नित्य-विधायकत्वमपीति भाव । ९ विधित्वस्य तुल्यत्वादित्यर्थ तथा चोभयेषामपि दुष्टत्वमवश्य वाच्य विहितत्वा-विशेषात् । १० कामसामान्यजनितेत्यर्थ । ११ युक्तमिति उक्तविधया काम्यनित्यविभागो युक्त इत्यर्थ । प्रकारान्तरेण स विभागो न सिध्यति तुल्य हि नित्यस्यापि कामनाधीनत्व ''यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टित''मिति स्मृतेरिति न कामाधीनत्वमपि काम्यत्वमिति भाव । १२ कामनाप्रयुक्त काम्य जीवनप्रयुक्त नित्यमिति विभागे शङ्कते नन्विति । १३ श्रुतेरविरक्तेति—यावज्जीवश्रुते कामादिदोषापहृतमानसपुंविषय-त्वादित्यर्थ । ननु रागादिदुष्टस्य कर्माधिकारे तथाविधस्यैव मुमुक्षोर्ज्ञानाधिकारोपीति न विशेषो ज्ञानकर्मणो मुमुक्षोरपि मोक्षे रागादित्याशङ्क्य समादधुर्वार्तिकाचार्या तथाहि—''आविरिञ्चाद्विरक्तस्य तद्विविक्तात्मकामिन । मोक्षे पुंसोऽधिकार स्यान्न कामापहृतात्मन ॥१॥ पराच कामानित्यैव कामानित्यपर तथा । सोऽकाम इति-तद्वच्च श्रुति कामनिषेधिनी ॥२॥ अविद्याया न चोच्छित्तौ ज्ञानादन्यदपेक्ष्यते । ज्ञानोत्पत्तौ न चैवान्यच्छ-मादिभ्यो ह्यपेक्ष्यते ॥३॥ शमाद्युत्सये नान्यद्बुद्धिशुद्धेरपेक्ष्यते । बुद्धिशुद्धौ च नित्यादिकर्मभ्यो नान्यदिष्यते ॥४॥ आत्माज्ञानैकहेतुत्वाद्वाङ्मन कायकर्मणाम् । आत्मज्ञानेन तद्बाधात् कर्मापेक्षा कुतो भवेत् ॥५॥ यदज्ञाना-

मुपलभ्यते । कर्मनिमित्तदेवतादिसर्वसाधनविज्ञानोपमर्देन ह्यात्मज्ञानं विधीयते । न चोपमर्दितक्रियाकारकादिविज्ञानस्य कर्मप्रवृत्तिरुपपद्यते । विशिष्टक्रिया-

"योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते"

इति स्मृतेर्ज्ञानपरिपाके कारणं कर्मोपशम एव प्रतीयते न तथा कर्मविधिरित्यर्थः । न केवलं विहितं नोपलभ्यते न संभवति चेत्याह—कर्मनिमित्तेति । यदा नासि त्वं संसारी किंत्वकर्त्रभोक्तृ ब्रह्मासीति श्रुत्या ज्ञाप्यते तदा देवतायाः संप्रदानत्वं करणत्वं व्रीह्यादेरित्येतत्सर्वमुपमृदितं भवति । तत्कथमकर्त्रात्मज्ञानवतः संभवति कर्मविधिरित्यर्थः ।

उपमृदितमपि वासनावशादुद्भविष्यति ततश्च विदुषोऽपि कर्मविधिः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । वासनावशादुद्भूतस्याऽऽभासत्वादात्मस्मृत्या पुनः पुनर्बाधाच्च विदुषो न कर्मप्रवृत्ति-

इसके अतिरिक्त, अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध और सोमादि कर्मों का, स्वतः कोई काम्यत्व अथवा नित्यत्वरूप विभाग नहीं होता । स्वर्गविषयक कामना के दोष से कर्ता की काम्यता सिद्ध होती है । इसी प्रकार कर्तृत्वादि-अभिमान से प्राप्त, इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहार के इच्छुक अविद्यादि-दोषवान् कर्त्ता के लिए ही नित्यकर्मों का व्यपदेश किया गया है—ऐसा मानना उचित है । क्योंकि उसी (निखिल अनर्थ के बीजरूपा अविद्यादि दोषवान्) पुरुष के लिए उनका प्रयोग किया गया है । परमात्मा के निरुपाधिकस्वरूप विज्ञाता के लिए कर्मोपशमरूप साधन से भिन्न

त्प्रवृत्तिर्या तज्ज्ञानात्सा कुतो भवेत् । प्रत्यग्ज्ञानोद्भवे तस्मात् समाप्तिः सर्वकर्मणामिति ॥६॥" एतेषां व्याख्यानम्—आविरिञ्चादिति-आ च स्थाणोः संसारादिति शेषः । अनित्यसंसारविषयस्तच्छब्दः । मोक्षशब्दस्तदुपायज्ञानविषयः । साधनचतुष्टयविशिष्टो हि मोक्षोपायज्ञानेऽधिकारी न रागादिमान् अथ शब्दोपात्तन्यायविरोधादित्यर्थः । अत्राथ शब्दः आदिमब्रह्मसूत्रघटको बोध्यः तस्य साधनसम्पत्त्यानन्तर्यार्थत्वात् न्यायश्च तत्रोक्तयुक्तिकलापः ॥१॥ विरक्तस्य ज्ञानाधिकारे मानमाह--पराच इति । पराचः कामाननुयन्ति बाला इत्येव प्रकारकं वाक्यम् । कामान्यः कामयते मन्यमान इत्यपरमपि वाक्यं पूर्ववन्निन्दाद्वारा कामनिषेधकम् । उक्तवाक्यवद् योऽकाम इति च श्रुतिः साक्षादेव तन्निषेधेन कामाद्यनुपद्रुतस्य श्रेयोमार्गे सम्यग्ज्ञानेऽधिकारं सूचयतीत्यर्थः ॥२॥ कथं कर्मफलाद्विरक्तस्य मोक्षाधिकारः तस्यापि तत्फलत्वादन्यथा कर्मणामुत्तमफलानन्वयः स्यादित्याशङ्क्य क्रममुपन्यस्यति-अविद्याया इति । शमादीनां ज्ञानोत्पत्त्युपकरणत्वं श्रुतिप्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः ॥३॥ ॥४॥ परम्परयापि कर्मणां मोक्षोपयोगश्चेत् किमिति साक्षादेव नेष्यते तत्राह—आत्मेति त्रिविधस्यापि कर्मणोऽज्ञानजन्यत्वात् ज्ञानादज्ञाननिवृत्तौ तदंशस्य कर्मणोऽपि निवृत्तेर्ज्ञानिनो मोक्षे तदपेक्षा न युक्तेत्यर्थः ॥५॥ ज्ञानिनो ध्वस्ताज्ञानस्यापि कर्मदर्शनान्मोक्षे तदपेक्षेत्याशङ्क्य तस्य बाधितानुवृत्त्या तद्दृष्टिरित्याशयेनाह—तदज्ञानादिति ऊर्ध्वमिति शेषः । योगारूढस्य तस्यैवेति वचनात् कर्मोपशमो ज्ञानपरिपाके हेतुर्न कर्मेति मत्वा फलितमाह—प्रत्यगिति— ज्ञानादूर्ध्वं कर्मासंभवस्तच्छब्दार्थः ॥६॥ इति १ कर्मनिमित्त यस्येति विज्ञानान्वयि । २ उपमर्दो बाधः प्रयोजकत्वं तृतीयार्थः तद्बाधप्रयोजकं तद्बाधफलकमिति यावत् । ३ उपदिश्यते । ४ विदुषः । ५. संभवति । ६ विशिष्टत्वम्-अबाधितत्वम् । ७ ज्ञानपदारूढस्य । ८ न च जीवनप्रयुक्तं नित्यमिति युक्तं सत्यपि जीवने कदाचित्तदभावात् तस्मिन्सत्येव तत्सत्त्वं तु काम्येऽपि तुल्यमिति भावः । ९. इति स्वरूपमित्यर्थः । १० एतत्सर्वं ज्ञानमित्यर्थः । ११ बाधितम् । १२ तत् तस्मात्—कर्मप्रवृत्तिप्रयोजकक्रियाकारकादिविज्ञानाभावादित्यर्थः । १३ बाधितमपि यथोक्तविज्ञानम् । १४. उद्भूतात्तस्मात् । १५ आभासत्वात्--भ्रमरूपत्वात् भ्रमस्य चाप्रवर्तकत्वादित्यर्थः । १६ नन्वाभासादपि शुक्तिरजतादाविव प्रवृत्तिः स्यादत आह—आत्मस्मृत्येति ।

साधनादिज्ञानपूर्वकत्वात्क्रियाप्रवृत्तेः न हि देशकालाद्यनवच्छिन्नास्थूलाद्वयादिब्रह्मप्रत्यय-[1]धारिणः कर्मावसरोऽस्ति । भोजनादिप्रवृत्त्यवसरवत्स्यादिति चेत् । न । अविद्यादि-[2]केवलदोषनिमित्तत्वाद्भोजनादिप्रवृत्तेरा[3]वश्यकत्वानुपपत्तेः ।

न तु [4]तथाऽनियतं कदाचित्क्रियते कदाचिन्न क्रियते चेति नित्यं कर्मोपपद्यते । केवलदोषनिमित्तत्वात्तु भोजनादिकर्मणोऽनियतत्वं स्यात् । दोषोद्भवाभिभवयोरनियतत्वा-[5]त्कामानामिव काम्येषु । [6]शास्त्र[7]निमित्तकालाद्यपेक्षत्वाच्च नित्यानामनियतत्वानुपपत्तिः ।

रित्यर्थं । किंवानवच्छिन्न ब्रह्मास्मीति स्मरतस्तदात्मकस्य देशादिसापेक्षं कर्म निरवकाशमित्याह—नहीति । विदुषो भिक्षाटनादिवत्कर्मावसरः स्यादिति शङ्कते—भोजनादीति । अपरोक्षज्ञानवतो वा परोक्षज्ञानवतो वा भोजनादिप्रवृत्ति । [8]नाऽऽद्य । [9]अनभ्युपगमा[10]त्तत्प्रतीतेर्बाधितानुवृत्तिमात्रत्वाद-[11]ग्निहोत्रादेरबाधिताभिमाननिमित्तस्य [12]तथात्वानुपपत्तेरित्यभिप्रेत्याऽऽह—नेति । न द्वितीयः । परोक्षज्ञानिन [13]शास्त्रानपेक्षक्षुत्पिपासादिदोषकृतत्वा[14]त्तत्प्रवृत्तेरिष्टत्वादित्याह—अविद्यादीति ।

अग्निहोत्राद्यपि [15]तथा स्यादिति चेन्नेत्याह—नत्विति । भोजनादिप्रवृत्तेरा[16]वश्यकत्वानुपपत्ति विवृणोति—केवलेति । न तु तथेत्यादि प्रपञ्चयति—शास्त्रनिमित्तेति । [17]तर्हि शास्त्रविहितकाला-

कोई भी कर्म विहित नही है । क्योकि आत्मज्ञान का उपदेश तो इसलिए किया जाता है, ताकि कर्मनिमित्तक विज्ञानान्वयी देवतादिरूप सब प्रकार के साधनो के विज्ञान का बाध हो ।

और जिसके क्रियाकारकादि-विज्ञान का बाध हो गया है, ऐसे विद्वान को भी कर्म मे प्रवृत्ति समव नही है । कर्म मे प्रवृत्ति तो अबाधित-क्रियासाधनादि ज्ञानपूर्वक होती हैं । देशकालादि से अनवच्छिन्न, अस्थूल और अद्वयादि स्वरूप ब्रह्मप्रत्यय की धारणा करने वाले विद्वान को तो कर्म करने का कोई अवकाश ही नही होता । (शका होती है) भोजनादि प्रवृत्ति के अवसर के समान विद्वान् को भी कर्म का अवसर हो सकता है, ऐसा कहा जाय तो ? (शका परिहार करते हैं)—ऐसा कहना ठीक

१ उत्पन्नब्रह्मप्रत्ययस्यापि तन्नाशादूर्ध्वं कर्म भविष्यतीत्याशङ्क्याह—धारिण इति । तथा चोक्तम्— 'न चोच्छिन्नात्ममोहस्य सदैवात्मधिय स्थिते । प्रतीत्यवसरोऽस्तीह वाङ्मन कायकर्मणामिति ।।" स्थितेरिति प्रवाहरूपेणेति शेष । २ शास्त्रानपेक्षत्व केवलत्वम् । ३ नियतत्वाभावादित्यर्थ । ४ तथेति—भोजनादिवदित्यर्थ । ५ कामवता पुसामिति केचित् । ६ शास्त्रविहितेति यावत् । ७ शास्त्रनिमित्तेत्यादि—यथा काम्याग्निहोत्रस्य दोषनिमित्तत्वे सत्यपि शास्त्रविहितत्वात् सायप्रात कालाद्यपेक्षत्वम् एव नित्यानामपि दोषनिमित्तत्वे सत्यपि शास्त्रनिमित्तकालाद्यपेक्षत्वात् अनियतत्वानुपपत्तिरित्यन्वय । ८ दृष्टान्तासमत्या परिहरतिनाद्य इति । ९ प्रवाहात्मना सदा सम्यग्बुद्धिस्थितेरात्मवस्तप्रयुक्तत्वादित्यभिप्रेत्याह—अनभ्युपगमादिति । १० ननु तदनभ्युपगमे देहधारणदर्शन देहाधीनजीवन्मुक्तिशास्त्र च विरुध्येतेत्याशङ्क्याह—तदिति । यद्यपि सत्यामेवाकर्तृभोक्तृब्रह्मात्मविद्याया भोजनादिप्रवृत्त्यनवकाशस्तथापि दग्धपटवद्बाधितानुवृत्त्या तद्भानाज्जीवन्मुक्तिरविरुद्धेतिभाव । ११ नन्वग्निहोत्राद्यपि बाधितानुवृत्त्या स्यादित्याशङ्क्याह—अग्निहोत्रेति । १२ तथात्वम्—बाधितानुवृत्तिमात्रत्वम् । १३ शास्त्रानपेक्षेत्यादि—भिक्षादिप्रवृत्ते केवलदोषप्रयुक्तत्वात् अग्निहोत्रादेस्च शास्त्रप्रयुक्तत्वान्न भिक्षादिदृष्टान्तेन अग्निहोत्राद्यापादयितु शक्यम्—दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो शास्त्रकृतत्वतदकृतत्वाभ्या वैषम्यादिति भाव । १४ भिक्षाटनादिप्रवृत्ते । १५ तथेति—अविद्यादिदोषमात्रप्रयुक्तमित्यर्थ । १६ अविद्येत्यादिमग्रहवाक्योक्तनियतत्वाभाव व्याचष्ट इत्यर्थ । १७ नियतत्वे सतीत्यर्थ ।

'दोषनिमित्तत्वे सत्यपि यथा काम्याग्निहोत्रस्य शास्त्रविहितत्वात्सायंप्रात कालाद्यपेक्षत्वमेवम्।

।तद्भोजनादिप्रवृत्तौ 'नियमवत्स्यादिति चेत्। न नियमस्याक्रियात्वा'त्क्रियायाश्चाप्रयोजकत्वा'न्नासौ' ज्ञानस्या'पवादकरः।

द्यपेक्षत्वान्नित्यानाम'दोषप्रभवत्वं भवेदित्याशङ्क्याऽऽह—दोषेति। एव दोषकृतत्वेऽपि नित्याना शास्त्रसापेक्षत्वात्कालाद्यपेक्षत्वमविरुद्धमित्याह—एवमिति।

भोजनादेर्दोषकृतत्वेऽपि—

'चातुर्वर्ण्यं 'चरेद्भैक्षम्।' 'यतीना तु 'चतुर्गुणम्'

"इत्यादि"नियमवद्विदुषोऽग्निहोत्रादिनियमोऽपि स्यादिति शङ्कते—तद्भोजनादीति। "विदुषो नास्ति भोजनादिनियमो"ऽतिक्रान्तविधित्वात्। न च"तावता यथेष्टचेष्टापत्तिरधर्माधीनाऽविवेककृता हि सा। न च तौ विदुषो विद्येते। अतो"ऽविद्यावस्थायामप्यसती यथेष्टचेष्टा विद्यादशाया "कुत "स्यात्। सस्कारस्याप्यभावात्। "बाधितानुवृत्तेश्च। अग्निहोत्रादेस्त्व"नाभासत्वान्न बाधितानुवृत्तिरित्याह—नेति। किंचाविदुषा विविदिषूणामेव "नियमः। तेषा विधिनिषेधगोचरत्वात्। न च तेषामप्येष"

नही। भोजनादि मे प्रवृत्ति नियतत्वाभाव के कारण अथवा शास्त्रानपेक्षत्व केवल अविद्यादिदोषजनित होने के कारण होती हो—ऐसा सिद्ध नही होता।

इसके अतिरिक्त भोजनादि के समान नित्य कर्म का—'कभी करलो, कभी न करो'—ऐसा अनियत होना सभव नही है। भोजनादि कर्म केवल क्षुधादि दोष के कारण होते है, उनका अनियतत्व सभव है, काम्य कर्मो मे कामना अथवा कामवान् पुरुषो की तरह उन दोषो की उत्पत्ति और निवृत्ति अनियत हैं। अग्निहोत्ररूप काम्यकर्म के दोषनिमित्तक होने पर शास्त्रविहित होने से साय-प्रात-कालादि अपेक्ष्य है, ऐसे ही नित्य कर्म भी दोषमय होने पर शास्त्रनिमित्तक कालाद्यपेक्ष्य है, अत उनमे अनियत होना नही बनता।

१ दोषेत्यादि--इद पूर्वोत्तरोभयान्वयि दोषनिमित्तत्वे सत्यपि नित्यानामनियतत्वानुपपत्तिरिति पूर्वान्वय। २ विदुषोऽग्निहोत्रादिनियमोऽपि स्यादित्यर्थं। ३ भिक्षादेरितरविद्याविरोधिक्रियाऽनाक्षेपकत्वादित्यर्थ। ४ ननु विविदिषूणा परिसख्यायते चेत्तदर्थानुष्ठाननिष्ठाना तेषा विद्यार्थप्रवृत्त्यनुपपत्ते सा नोपपद्यतेत्याशङ्क्याह—नासाविति। यस्मादन्य निवृत्तिफलो नियमो न विरुद्धक्रियाप्रयोजक तस्मादात्मधियो न बाधकोऽपित्वनुग्राहक एव भिक्षादिहीनस्य यथेष्टचेष्टारसिकस्य वा ब्रह्मविद्यानुपपत्तेरिति भाव। ५ परिसख्यानियम। ६ बाधक। ७ अदोषप्रभवत्व भवेदिति—तथा च शास्त्रमात्रप्रयुक्तानुष्ठानत्वादनर्थकरत्वाभावात्तेषु प्रवृत्त्यभावो विदुषोऽपि न युक्त इत्याकूतम्। ८ इमौ भिक्षपर्यायपादौ। ९ इद चातुर्गुण्य शौचेऽभिहितम्—मनु० ५-१३६। १० आदिना एककाल चरेद्भैक्षमित्यादिग्राह्यम्। ११ वर्णसख्या कालनियमेत्यर्थं। १२ विदुषो भिक्षाटनाद्येवासिद्ध तन्नियमवदग्निहोत्रादिनियतिस्तु दूरनिरस्तेत्यभिप्रेत्याह—विदुष इति। अत्र असिद्धमित्यस्य शास्त्रानपेक्षमित्यर्थं। १३ विध्यकिङ्करत्वादित्यर्थं। १४ अतिक्रान्तविधित्वमात्रेण। १५ साधनावस्थायामिति यावत्। १६ कारणात्। १७ अपितु न स्यात् कारणाभावात्। १८ उपक्रान्त दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्य स्फुटयति—बाधितेति। भोजनादौ प्रवृत्तिसभव इति शेष। भोजनादेर्दोषमात्रजन्यत्वनाभासतया बाधितानुवृत्तिसभवादिति भाव। १९ अबाधिताभिमाननिमित्तत्वादनाभासत्वम्। २० नियम—चातुर्वर्ण्यमित्यादिवर्णितो नियम। २१ नियम।

'तस्मात्परमात्मयाथात्म्य'ज्ञानविधेरपि तद्विपरीतस्थूलद्वैतादिज्ञाननिवर्तकत्वा'त्सामर्थ्यात्सर्वकर्मप्रतिषेध'विध्यर्थत्वं संपद्यते। कर्मप्रवृत्त्यभावस्य तुल्यत्वाद्यथा 'प्रतिषेधविषये। 'तस्मात्प्रतिषेधविधिवच्च वस्तुप्रतिपादनं तत्परत्वं च सिद्धं शास्त्रस्य ॥१॥

ज्ञानोदय'परिपन्थी। 'तस्यान्यनिवृत्तिरूपस्य स्वयमक्रियात्वाभावात्। नापि 'स क्रियामाक्षिपन्ब्रह्मविद्यां "प्रतिक्षिपति। "अन्यनिवृत्त्या"स्मन"स्तदाक्षेपकत्वासिद्धेरित्याह—नियमस्येति।

कर्मसु रागादिमतोऽधिकाराद्विरक्तस्य ज्ञानाधिकारज्ज्ञानिनो हेत्वभावादेव कर्माभावा"त्तस्य "भोजनाद्यतुल्यत्वात्तत्त्वमादेः सर्वव्यापारोपरमात्मकज्ञानहेतोर्निवर्तकत्वेन प्रामाण्यं प्रतिपादितमुपसंहरति—तस्मादिति। तस्य" विधिरुत्पादकं वाक्यम्। तस्य निषेधवाक्यवत्तत्त्वज्ञानहेतोस्तद्विरोधिमिथ्याज्ञानध्वंसित्वादशेषव्यापारनिवर्तकत्वेन "कूटस्थवस्तुनिष्ठस्य युक्तं प्रामाण्यम्। मिथ्याज्ञानध्वंसे हेत्वभावे फलाभावन्यायेन सर्वकर्मनिवृत्तेरित्यर्थः। 'तत्पदोपात्तं हेतुमेव स्पष्टयति—कर्मप्रवृत्तीति। यथा प्रतिषेध्ये भक्षणादौ प्रतिषेधशास्त्रवशात्प्रवृत्त्यभावस्तथा तत्त्वमस्यादिवाक्य"सामर्थ्यात्कर्मस्वपि प्रवृत्त्यभावस्य तुल्यत्वात्प्रामाण्यमपि तुल्यमित्यर्थः। प्रतिषेधशास्त्रसाम्ये तत्त्वमस्यादिशास्त्रस्योच्यमाने "तथैव निवृत्तिनिष्ठत्वं स्यान्न वस्तुप्रतिपादकत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति। प्रतिषेधो हि प्रसक्तक्रियां निवर्तयंस्त"दुपलक्षितौदासीन्यात्मके वस्तुनि "पर्यवस्यति"। तथा तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापि वस्तुप्रतिपादकत्वमविरुद्धमित्यर्थः। वेदान्तानां "सिद्धे प्रामाण्यवद"र्थवादादीनामन्यपराणामपि संवादविसंवादयोरभावे स्वार्थे मानत्वसिद्धौ सिद्धा विशुद्धभाविगुणवती "प्राणदेवतेति चकारार्थः।

(इस पर शंका होती है)—उस भोजनादि प्रवृत्ति में (भिक्षाटन) नियम की तरह विद्वान् का अग्निहोत्रादि नियम भी हो सकता है, ऐसा कहना ठीक नहीं। नियम की क्रियारूपता नहीं है, और क्रिया प्रयोजक नहीं होती—यह परिसंख्या नियम ज्ञान का विरोधी नहीं है।

---

१ वक्ष्यमाणहेतौ। २ ज्ञानोत्पादकवाक्यस्य। ३ निवर्तकत्वान्यथाऽनुपपत्त्येत्यर्थः। ४ बोधनार्थत्वम्। ५ कलञ्जभक्षणादौ। ६ तस्मादिति- निषेधवाक्ये तत्त्वमादौ च भ्रान्तप्रवृत्तिनिरासेन अकार्यशेषवस्तुमात्रपर्यवमानत्वाविशेषाद् इत्यर्थः। ७ प्रतिबन्धक। ८ नियमस्य परिसंख्यात्मकस्य। तेषामपि चातुर्वर्ण्यमित्यादिनापि नियमविधि प्रसिद्धपरिसंख्याविधित्वोपगमादित्यभिप्रेत्याह—तस्येत्यादि। ९ स परिसंख्याख्यो नियमविधि क्रियाम् निवृत्त्यनुकूलव्यापारम्। आक्षिपन्निति—ता विना स्वस्य विधित्वानुपपत्तेरिति भाव। १० प्रतिबध्नाति। न प्रतिक्षिपतीति—अन्यथा तथैवाग्निहोत्रादिक्रियापि तस्य स्यात्। ज्ञानस्य वादिना क्रियात्वाभ्युपगमेन तत्प्रतिबन्धकत्वाभावे विधौ क्रियात्वसामान्येन अग्निहोत्रादेरप्यप्रतिबन्धात्तदपि प्रसज्येतेति भाव। ११ अन्यनिवृत्तीत्यादि—स खल्वन्यनिवृत्तिप्रयोजक सन्न प्रयोजयति क्रियाम्—इति कुतो विद्याविरोधकृतश्च तस्याग्निहोत्रादिप्रसक्तिरिति भाव। १२ निवृत्तिबोधकस्य। १३ ननु विधेर्भावार्थविषयत्वनियमादस्तिक्रियाऽऽक्षेपकत्वमित्याशङ्क्य विद्याविरुद्धतदाक्षेपकत्वासंभवमभिप्रेत्याह—तदिति। भिक्षादेः शुद्धदोषकृतत्वात्कर्मणोऽतथात्वात् वैषम्यमिति भाव। १४ कर्मण। १५ शास्त्रानपेक्षक्षुधादिदोषमात्रकृतत्वाद्भिक्षादेः। १६ परमात्मयाथात्म्यज्ञानस्य। १७ अक्रिये वस्तुन्यपर्यवस। १८ तस्मादिति—पदेत्यर्थ। १९ सामर्थ्यादिति अशेषप्रवृत्तीनामात्मा ज्ञानहेतुकत्वात् परमात्मयाथात्म्यज्ञानहेतोस्तत्त्वमस्यादेस्तद्ध्वंसित्वेन हेत्वभावे फलाभाव इति न्यायेन विदुषः कर्मसु प्रवृत्त्यभावो युक्त एवेति तत्त्वम्। २० तथैव-निषेधशास्त्रवदेवेत्यर्थ। २१ तदुपलक्षितेत्यादि—निवृत्त्युपलक्षितप्रवृत्त्यनुकूलप्रयत्नाभावविशिष्टमनोऽवस्थाविशेषात्मके वस्तुनीत्यर्थ। २२ तात्पर्यवद्भवति। २३ यथेति शेष। २४ अन्यार्थशेषे शुद्धे ब्रह्मणि। २५ विधेयप्राशस्त्यपराणाम्। २६ प्राणदेवतेति—तदुपास्तेश्च सिद्धत्वात् तत्परमेव इत्याद्यादिवाक्यमितिशेष।

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत्। यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं वदति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥२॥

उन देवताओं ने ऐसा निश्चय कर वाक् के अभिमानी देव से कहा—'तुम हमारे लिए उद्गाता का कर्म करो'। वाणी ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उन देवताओं के लिए गान किया। उसने वाणी मे जो भोग था, उसे देवताओं के लिए गान किया और जो कल्याणकारक भाषण करती थी, उसे अपने लिए गाया। तब असुरों ने जाना कि इस उद्गाता के द्वारा ही देवगण हमे जीतेंगे। अत असुरों ने वाणी के पास जाकर उसे पाप से वेध डाला। यह जो वाणी निषिद्ध भाषण करती है, वही वह पाप है, वही वह पाप है ॥२॥

---

[1]ते देवा हैवं [2]विनिश्चित्य वाचं वागभिमानिनीं देवतामूचुरुक्तवन्तः। त्वं नोऽस्मभ्यमुद्गायौद्गात्रं कर्म कुरुष्व वाग्देवतानिर्वर्त्यमौद्गात्रं कर्म [3]दृष्टवन्तः। तामेव च

---

[4]ज्ञानमिह परीक्ष्यमाणमित्येतत्प्रसङ्गागतं विचार परिसमाप्य ते ह वाचमित्यादि व्याचष्टे—ते देवा इति। [5]अचेतनाया वाचो नियोज्यत्वं वारयति—वागभिमानिनीमिति। नियोक्तॄणा देवानामभिप्रायमाह—वाग्देवतेति। नन्वौद्गात्रं कर्म जपमन्त्रप्रकाश्या देवता निर्वर्तयिष्यति नतु वाग्देवतेति

इस वक्ष्यमाण हेतु से परमात्मनिरुपाधिक ज्ञानोत्पादकवाक्य भी, उससे विपरीत स्थूल एव द्वैतादि ज्ञाननिवर्तक-अन्यथानुपपत्ति से, सब प्रकार के कर्मों के प्रतिषेध-बोधन के लिए तत्पर होता है। उसमे कर्मप्रवृत्ति का अभाव (कलञ्जभक्षणादि) प्रतिषेधविषयक वाक्यो के समान है। अत प्रतिषेधवाक्यो के समान ही 'तत्त्वमसि' आदि मे भ्रान्त-प्रवृत्ति निरास द्वारा (अकार्य शेष) वस्तु-प्रतिपादक और कर्मनिषेधपरक होना शास्त्र का सिद्ध होता है ॥१॥

उन (प्राजापत्य करणाधिष्ठाता) देवताओं ने ऐसा निश्चय कर "वाचम्" अर्थात् वाक् के

---

१ ते प्राजापत्या देवा करणाधिष्ठातार। २ उद्गीथेन ज्योतिष्टोमयज्ञे असुरानतीत्य स्व देवभाव प्रतिपद्येमहीत्येव निश्चित्येति ह शब्दार्थं। ३ औद्गात्र कर्मवाग्देवतयैव निर्वर्तयितु शक्यमिति निश्चितवन्त सन्त ऊचुरित्यन्वय। ४ ७४ पृष्ठे भाष्ये 'ज्ञान त्विदमेवनिरूप्यमाण'मित्युक्ततत्प्रसङ्गादागतमित्यर्थं। ५ ननु चेतनस्यैव भृत्यादे चेतनेन राजादिना नियोगदर्शनात् अचेतनेन चक्षुरादिना कथमचेतनाया वाचो नियोग इत्याशङ्क्याह—अचेतनाया इति। तथा च वार्तिकम्—"वागभिमानिनी चेह वाक्शब्देनाग्निरुच्यत" इति। अथ ह प्राणमूचुरित्यादिपर्यायेष्वपि प्राणादिशब्दाना देवतावाचित्व च शब्देन समुच्चीयते। तामेव विशिनष्टि-अग्निरिति। "अग्निर्वाग्भूत्वा मुख प्राविशद्" इति श्रुतेरग्निरेव वागभिमानिनी देवता सैवात्र ग्राह्या उपास्यत्वात्। "ते ह देवा वाचमुद्गीथमुपासाचक्रिरे" इति श्रुते। अध्येषणाविषयत्वाच्च—लोके अध्येषणाविषयश्चेतनश्चैत्रो दृष्टो वाक् च त्व न उद्गायेत्यध्येषणाविषय। न च रूढिवशाद्वागादिशब्दैरिन्द्रियाणामेव ग्रहण तेषा पारार्थ्यात्। अचेतनत्वात्। मर्त्यत्वात्। अनीश्वरत्वाच्चेत्यन्यत्र विस्तर.।

वाचं देवतां जपमन्त्राभिधेयामसतो मा सद्गमयेति । [1]अत्र चोपासनायाः कर्मणश्च कर्तृत्वेन वागादय एव विवक्ष्यन्ते । कस्मात् । यस्मात्परमार्थतस्तत्कर्तृकस्तद्विषय एव च सर्वो ज्ञानकर्मसंव्यवहारः । वक्ष्यति हि "ध्यायतीव लेलायतीव" इत्यात्मकर्तृत्वाभावं विस्तरतः षष्ठे । इहापि चाध्यायान्त उपसंहरिष्यत्य व्याकृतादिक्रियाकारकफलजातम् "अयं वा इदं नाम रूपं कर्म" इत्य"विद्याविषयम् । अव्याकृतात्तु 'यत्परं परमात्माख्यं विद्याविषयम-

तत्राऽऽह—तामेवेति । असतो मा सद्गमयेतिजपमन्त्राभिधेया दृष्टवन्त इति पूर्वेण संबन्ध । वागाद्याश्रयं कर्तृत्वादि दर्शयतोऽर्थवादस्य "प्रासङ्गिकं तात्पर्यमाह—अत्र चेति । आत्माश्रये कर्तृत्वादावभासमाने तस्य वागाद्याश्रयत्वमयुक्तमित्याह—कस्मादिति,। परस्य जीवस्य या कर्तृत्वादि विवक्षितमिति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—यस्मादिति । विचारदशायां वागादिसंघातस्य क्रिया"दिशक्तिमत्त्वात्कर्तृत्वादिस्तदाश्रयो यस्मात्प्रतीतस्तस्मात्परस्याऽऽत्मन.. "स्वतस्तच्छक्तिशून्यस्य न तदाश्रयत्वमित्यर्थ । किं चा"विद्याश्रय· सर्वो व्यवहारो न तद्धीने परस्मिन्नवतरतीत्याह—तद्विषय इति । ""कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्"" इति न्यायेन कर्तृत्वमात्मनोऽङ्गीकर्तव्यमित्याशङ्क्य ""यथा च तक्षोभयथा"" इति न्यायादौपाधिकं तस्मिन्कर्तृत्वमित्यभिप्रेत्याऽऽह—वक्ष्यति हीति । यदुक्तम"विद्याविषयः सर्वो व्यवहार इति "तत्र "वाक्यशेषमनुकूलयति—इहापीति । इतश्च परस्मिन्नात्मनि कर्तृत्वादिव्यवहारो नास्तीत्याह—अव्याकृतात्त्विति । अनामरूपकर्मात्मकमित्यस्मादुपरिष्टात्तत्पदमध्याहर्तव्यं पृथग"विद्याविषया-

अभिमानी देवता से कहा—तुम हमारे लिए 'उद्गाय' अर्थात् उद्गाता का कर्म करो—औद्गात्र कर्म वाग्देवता द्वारा उपपन्न होना शक्य है—ऐसा निश्चय किया । उसी वाक् देवता को "मुझे असत् से सत् के प्रति अग्रसरित करो" इस जप मन्त्र का अभिधेय देखा । यहा अर्थवाद वाक्य में उपासना और कर्म के *कर्त्तारूप से वागादि ही विवक्षित है (आत्मा नहीं)। ऐसा क्यो कहते हो? क्योंकि उपासना* और कर्मसम्बन्धी सारा व्यवहार वस्तुत वागादिसङ्घातकर्तृक है, एव अविद्या का आश्रय है । आत्मकर्तृकविषयता का अभाव विस्तार से बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय मे बताया जायगा । जैसे "बुद्धि से ध्यान करता हुआ आत्मा भी ध्यान करता हुआ सा प्रतीत होता है। उसके चलने पर आत्मा भी चलता हुआ सा प्रतीत होता है।" एव अव्याकृत और व्याकृत क्रिया-कारक-फलजात,

१ अर्थवादवाक्ये । २ नत्वात्मा । ३ तत्कर्तृक वागादिसङ्घातकर्तृक । ४ अविद्याश्रय । ५ ध्यायतीत्यादि–बुद्धौ ध्यायन्त्यां सत्यामात्मापि ध्यायतीव लक्ष्यते । चलन्त्या च तस्या चलतीव सोऽपीति वाक्यार्थं । ६ बृ०उ० ४-३-७ । ७ संक्षेपेणोपदेक्ष्यति । ८ अव्याकृतव्याकृतात्मकम् । ९ बृ० उ०—१ ६ १ । १० अविद्याश्रयम् । ११ अवान्तरम् । १२ आदिना ज्ञानशक्ति । १३ स्वत इति सघातरूपोपाधिमन्तरेणेत्यर्थ । १४ अविद्याश्रय इति–अविद्याऽन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्तज्जन्यत्वात्तदाश्रित इत्यर्थ । १५ कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादिति–आत्मैव कर्ता न बुद्धि कर्तुरपेक्षितोपायबोधकविधिशास्त्रस्य अर्थवत्त्वात् आत्मन कर्तृत्वे हि विधिशास्त्रमर्थवद्भवति अन्यथाबुद्धि कर्त्री फलभोक्ता चात्मेति कर्तुरपेक्षितोपायबोधक शास्त्रमनर्थक स्यात् । तस्माद्ध केवलबुद्धे कर्तृत्व किन्त्वात्मन इति सूत्रार्थ । १६ ब्र०सू० २ ३ ३३ । १७ ब्र० सू० २ ३ ४० । १८ यथा च तक्षोभयथेति–यथा तक्षा उभयथा वास्यादिकरणान्यपेक्ष्य कर्ता दु खी भवति अनपेक्ष्य तु स्वरूपेणाऽकर्ता सुखी भवति । तथाऽऽत्मापि बुद्ध्यादीनि करणान्यपेक्ष्य कर्ता संसरति अनपेक्ष्य तु स्वाभावतोऽकर्ता परमानन्द । चशब्दस्त्वयं स्वाभाविककर्तृत्वाभाव गृह्णाति । १९ अविद्याश्रय । २० उक्तेऽर्थे । २१ उपसंहारवाक्य सवादयति । २२ अविद्याश्रयात् ।

नामरूपकर्मात्मकं नेति नेतीतीतरप्रत्याख्यानेनोपसंहरिष्यति पृथक् । यस्तु वागादिसमाहारोपाधिपरिकल्पितः संसार्यात्मा तं च वागादिसमाहारपक्षपातिनमेव दर्शयिष्यत्येतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यतीति । तस्माद्युक्ता वागादीनामेव ज्ञानकर्मकर्तृत्वफलप्राप्तिविवक्षा ।

तथेति तथाऽस्त्विति देवैरुक्ता वाक्तेभ्योऽर्थिभ्योऽर्थायोदगायदुद्गानं कृतवती । कः पुनरसौ देवेभ्योऽर्थायोद्गानकर्मणा वाचा निर्वर्तितः कार्यविशेष इति । उच्यते—यो वाचि निमित्तभूतायां वागादिसमुदायस्य य उपकारो निष्पद्यते वदनादिव्यापारेण स एव । सर्वेषां ह्यसौ वाग्वदनाभिनिर्वृत्तो भोगः फलम् । तं भोगं सा त्रिषु पवमानेषु

ऽक्रियाकारकफलजातादिति शेषः । मा भूत्परमात्मा कर्तृत्वाद्याश्रयो जीवस्तु स्यादिति द्वितीयमाशङ्क्याऽऽह—यस्त्विति । जीवशब्दवाच्यस्य विशिष्टस्य कल्पितत्वान्न तात्त्विकं कर्तृत्वादिकं किं तु तद्द्वारा स्वरूपे समारोपितमिति भावः । आत्मनि तात्त्विककर्तृत्वाद्यभावे फलितमर्थवादतात्पर्यमुपसंहरति—तस्मादिति ।

तात्पर्यमर्थवादस्योक्त्वा नियुक्तया वाग्देवतया यत्कृतं तदुपन्यस्यति—तथेत्यादिना । उद्गातृत्वं जपमन्त्रप्रकाश्यत्वं चाऽऽत्मनोऽङ्गीकृत्य वागुद्गाने प्रवृत्ता चेत्तया कश्चिदुपकारो देवानामुद्गानेन निर्वर्तनीयः स च नास्तीति शङ्कते—क पुनरिति । वदनादिव्यापारे सति यः सुखविशेषः संघातस्य निष्पद्यते स एव कार्यविशेष इत्याह—उच्यत इति । यो वाचीति प्रतीकमादाय व्याख्यायते । कथं पुनर्वाचो वचनं चक्षुषो दर्शनमित्यादिना निष्पन्नं फलं सर्वसाधारणमित्याशङ्क्यानुभवमनुसृत्याऽऽह—सर्वेषामिति । किं च देवार्थमुद्गायन्त्या वाचः स्वार्थमपि किंचिदुद्गानमस्ति । तथा च ज्योतिष्टोमे द्वादश स्तोत्राणि तत्र त्रिषु पवमानाख्येषु स्तोत्रेषु याजमानं फलमुद्गानेन कृत्वा शिष्टेषु नवसु स्तोत्रेषु यत्क-

---

अविद्या का आश्रय है । इसमें "यह नाम, रूप और कर्म से वह अनात्मा ही त्रिविध है" ऐसा श्रुतिवाक्य है, *जिसका इस अध्याय के अन्त में संक्षेप से उपदेश किया जायगा । अव्याकृत से* परे जो नाम, रूप और कर्म से रहित परमात्मसंज्ञक विद्या का विषय है, "नेति नेति" इस श्रुति से आत्मभिन्न-अनात्मनिषेध द्वारा उसका पृथक् उपसंहार किया जायगा । और जो वागादि संघातरूप-उपाधि विशिष्ट से कल्पित संसारी आत्मा है वह "इन भूतों से उत्पन्न होकर, इनके नष्ट होने से, इन्हीं के साथ नष्ट हो जाता है" इस श्रुतिवचन से वागादिसंघात के अन्तर्गत ही है, ऐसा बतलाएंगे । इसलिए वाक् आदि ही उपासना और कर्म के कर्ता हैं, तथा उन्हें ही फल प्राप्ति होती है,—ऐसा मानना ही उचित है ।

---

१ आत्मभिन्नानात्मनिषेधेन । २ बृ० उ २ ३ ६ । ३ वागादिसंघातरूपोपाधिविशिष्टत्वेन कल्पित । ४. संघातान्तर्गतमेवेत्यर्थ । ५ बृ० उ० २ ४ १२ । ६ उपकाराय । ७ सर्वदेवसाधारण फलविशेष । ८. सुखविशेष । ९ उद्गीथदेवताधीन संघातस्य सदा जीवनं प्रत्यक्षसिद्धमिति हिना द्योतयति । उद्गीथशब्दश्चात्र वागाद्युद्गानकर्तृपर । १० परस्मिन्नेव प्रतीचि विशेष्यांशे । ११. उच्यत इत्यस्यायमर्थ । १२. आदिनाऽनुक्तज्ञानकर्मेन्द्रियव्यापारग्रहणम् । १३ सुखविशेषात्मकम् । १४. ज्योतिष्टोमप्रकरणे । १५ यजमानगामि । १६ शुद्धोच्चारणसामर्थ्यम् ।

'कृत्वाऽवशिष्टेषु नवसु स्तोत्रेषु 'याचनिकमार्त्विजयं फलं यत्कल्याणं शोभनं वदति वर्णान-'मितिर्वर्तयति तदात्मने' मह्यमेव । तद्धयसाधारणं वाग्देवतायाः कर्म यत्सम्यग्वर्णाना-मुच्चारणम्' तत्' तदेव विशेष्यते यत्कल्याणं वदतीति । यत्तु वदनकार्यं सर्वसंघातोपकारा-त्मकं तद्याजमानमेव ।

तत्र कल्याणवदनात्मसंबन्धासङ्गावसरं देवताया रन्ध्रं प्रतिलभ्य ते 'विदुरसुराः कथमनेनोद्गात्रा नोऽस्मा''न्स्वाभाविकं ज्ञानं कर्म चा''मिभूयातीत्य शास्त्रजनितकर्मज्ञान-

---

ल्याणवदनसामर्थ्यं तदात्मने स्वार्थमेवाऽऽगायदित्याह—त भोगमिति । ऋत्विजा क्रोतत्वान्न फलसबन्धः संभवतीत्याशङ्कयाऽऽह—याचनिकमिति । ''अथाऽऽत्मनेऽन्नाद्यमा''गायेत्' इति श्रुतमित्यर्थः । कल्याण-वदनसामर्थ्यस्य स्वार्थत्व समर्थयते—तद्धीति । कल्याणवदनं वाचोऽसाधारणं चेत्कस्तर्हि यो वाचो-त्यादेर्विषयस्तत्राऽऽह—यत्त्विति ।

वाग्देवतायामसुराणामवकाशं दर्शयति—तत्रेति । स्वार्थे परार्थे चोद्गाने सतीति यावत् । कल्याणवदनस्याऽऽत्मना वाचैव संबन्धे योऽयमासङ्गोऽभिनिवेशः स एवावसरो देवतायास्तमवसरं प्राप्येत्यर्थः । अवसरमेव व्याकरोति—रन्ध्रमिति । अस्मा''नतीत्येति संबन्धः । कोऽसावसुरात्ययस्तं व्याचष्टे—स्वाभाविकमिति । तत्रोपायमुपन्यस्यति—शास्त्रेति । असुरानभिभूय केनाऽऽत्मना देवा.

'तथेति' अर्थात् 'ऐसा ही हो'—देवताओं द्वारा कही गयी इस वाणी ने देवताओं के उपकार के लिए उद्गान किया। देवताओं के हित के लिए उद्गान कर्म से वाणी द्वारा कौनसा ऐसा सर्वदेव-साधारण फलविशेष सम्पन्न हुआ ? इस पर कहते हैं—निमित्तभूता वाणी में उसके भाषणादि व्यापार द्वारा वाक् आदि समुदाय का जो (सुख विशेष) उपकार होता है—वही उनका फलविशेष है, क्योंकि सबको वाणी के भाषण से होने वाला, भोगरूप फल प्राप्त होता है।

उस भोग को पवमानाख्य तीन स्तोत्रों में यजमानगामी उद्गान करके, शेष नौ स्तोत्रों में जो ऋत्विक् सम्बन्धी वेदवचन-प्रमाणित फल था, या वह जो कल्याणमय सुन्दर भाषण-रूप वर्णों का उच्चारण था, "मेरे लिए ही हो"—इस प्रकार उसने अपने लिए उद्गान किया। वाक् देवता का वो इतर व्यावृत्त कर्म है, जो वर्णों का ठीक उच्चारण है। अतः (यथोक्त उच्चारण वाणी का असाधारण धर्म होने से) "जो कल्याणमय बोलता है" उक्त सामर्थ्य को ही विशेष रूप से बतलाया है। बोलना रूप जो कार्य है, वह समस्त सङ्घात का हितकारी है, वह यजमान सम्बन्धी ही है।

(स्वार्थ और परार्थ उद्गान होने पर) वहाँ कल्याणवदन का मेरी वाणी से सम्बन्ध है—ऐसा

---

१ याजमानफलमुद्गानं कृत्वा । २ वेदवचनप्रमाणकम् । ३ उच्चारयति । ४ कृतवतीतिशेषः । ५ इतरव्यावृत्तम् । ६ सम्यगित्यादि—तदुक्तं वार्तिके—''यथाशास्त्रं यथायोगं वर्णदोषविवर्जितम् । वर्णोच्चार-णसामर्थ्यं ममैवास्तु तदीदृशमिति ॥'' अस्यायमर्थः—व्याकरणादिलक्षणशास्त्रोक्तक्रमेण ताल्वादिस्थानसम्बन्धा-नुरोधेन च अनिद्रुतत्वादिदोषहीनं यथा भवति तथा वर्णानामुच्चारणे सामर्थ्यं तदार्त्विजयमेवेति । ७ अत इति—यथोक्तोच्चारणस्य वाचोऽसाधारणधर्मत्वादित्यर्थः । ८ तदेवेति—उक्तसामर्थ्यमेवेत्यर्थः । ९ विदुरिति—देवाभिप्रायं ज्ञातवन्त इत्यर्थः । १० शास्त्रानाधेयम् । ११ अभिभूयेति—अत्येष्यन्तीति मौलिकपदघटका-तिशब्दार्थोऽयम् । १२ बृ० उ० १ ३ २८ । १३ आगानेन सम्पादयेत् । १४ तिरस्कृत्येत्यर्थः ।

'रूपेण 'ज्योतिषोद्गात्रात्मनाऽत्ये'ष्यन्त्यतिगमिष्यतीत्येवं विज्ञाय तमुद्गातारमभिद्रुत्याभिगम्य स्वेनाऽऽसङ्गलक्षणेन' पाप्मनाऽविध्यंस्ताडितवन्तः संयोजितवन्त 'इत्यर्थः। स यः स पाप्मा यः प्रजापतेः पूर्वजन्मावस्थस्य वाचि क्षिप्तः स एष 'प्रत्यक्षीक्रियते। कोऽसौ। यदेवेदमप्रतिरूपमननुरूप 'शास्त्रप्रतिषिद्ध वदति 'येन प्रयुक्तोऽसभ्यबीभत्सानृताद्यनिच्छन्नपि वदति। अनेन कार्येणाप्रतिरूपवदनेना''नुगम्यमानः प्रजापतेः कार्यभूतासु ''प्रजासु वाचि वर्तते। एवाप्रतिरूपवदनेनानुमितः स प्रजापतेर्वाचि गतः पाप्मा कारणानुविधायि हि कार्यमिति ॥२॥

स्थास्यन्तीति विवक्षायामाह—ज्योतिषेति। प्रजापतेर्वाचि पाप्मा क्षिप्तोऽसुरैरिति ''कुतोऽवगम्यते तत्राऽऽह—स य स पाप्मेति। प्रतिषिद्धवदनमेव पाप्मेत्ययुक्तमदृष्टस्य क्रियातिरिक्तत्वाङ्गीकारादित्याशङ्क्याऽऽह—येनेति। असभ्यं सभानर्हं स्त्रीवर्णनादि। बीभत्स भयानकं प्रेतादिवर्णनम्। अनृतमयथादृष्टवचनम्। आदिशब्दात्पिशुनत्व गृह्यते। किमत्र प्रजापतेर्वाचि पाप्मसत्त्वे मानमुक्त भवतीत्याशङ्क्य स एव स पाप्मेति व्याकरोति—अनेनेति। प्राजापत्यासु प्रजासु ''प्रतिपन्नेनासत्यवदनादिना लिङ्गेन तद्वाचि पाप्माऽनुमीयते। विमत पाप्मपूर्वकं प्रतिकूलधीविषयत्वाद्दुःखवद्य. स पाप्मा प्रजावाच्यनुमित स एव प्रजापतिवाचि पाप्मान ''गमयति। विमत ''कारणपूर्वकं कार्यत्वाद्घटवत्। ''न च प्रजागत दुरित प्राजापत्यं तद्विना हेत्वन्तरादेव स्यात्कारणानुविधायित्वात्कार्यस्य। न च तत्कारणेऽपि ''परस्मिन्प्रसङ्ग 'अपापविद्धम्' इति श्रुते। न च न ह वै देवान्पाप गच्छति''' इति श्रुतेर्न सूत्रेऽपि पापवेधस्तस्य फलावस्थस्यापापत्वेऽपि यजमानावस्थस्य तद्भावादित्यर्थ। आद्यसकाराभ्या कारणस्थ पाप्मानमनूद्य तस्यैव कार्यस्थत्वमुच्यते। उत्तराभ्या तु कार्यस्थ पाप्मानमनूद्य तस्यैव कारणस्थत्वमिति विभाग ॥२॥

अभिनिवेश का अवसर-रूप, वाक् देवता का कमजोर स्थल देखकर असुरो ने (देवताओ का अभिप्राय) जाना। कैसे इसे जाना? इस उद्गान कर्म से ये हमारा शास्त्रानाधेय ज्ञान, कर्म दबा कर, उद्गाता रूप शास्त्रजनित कर्मज्ञान रूप उपाय से, ज्योति द्वारा हमारा अतिगमन करेंगे ज्योतिपात्मा से युक्त हो जाएंगे, इस प्रकार जानकर उस उद्गाता के समीप 'अभिद्रुत्य' अर्थात् जाकर अपने आसङ्ग—

---

१ रूपेणेति—उपायनेति शेष। २ ज्योतिषेत्यादि उद्गात्रा वाचा अत्येष्यन्तीति सम्बन्ध। ज्योतिषात्मना आग्न्यादिदेवात्मरूपेण च स्थास्यन्तीत्यर्थ। ३ एष्यन्तीत्यस्य च गमिष्यन्तीति। तस्य च स्थास्यन्तीत्यर्थं ज्योतिषात्मनान्वयीतिबोध्यम्। ४ पापरूपशरेणेत्यथ। ५ पापफलेनेत्याशिवम्। ६ सम्बद्ध। ७ प्रत्यक्षीक्रियत इति—अनुमानेन प्रकटीक्रियत इत्यर्थं। प्रजास्विति शेष। ८ शास्त्रप्रतिषिद्ध वक्तीति—नानृत वदेदित्यादिशास्त्रनिषिद्धानृतादिवदनमित्यर्थ। प्रत्ययार्थस्याविवक्षणात्। ९ यनेत्यादि—यनादृष्टरूपेण पाप्मना प्रेरित तथा चादृष्टमेवात्र पाप्मशब्दितमिति सूचितमिति ध्ययम्। १० अनुमीयमान। ११ प्रजानामिति शेष। १२ मानादित्यर्थ। १३ प्रतीयमानेनेत्यर्थ। १४ अनुमापयति। १५ कारणमिहापादान विवक्षितम्। १६ न च प्रजागतमित्यादि—यत् प्रजागत दुरित प्राजापत्य तत् तदेव प्रजापतिनिष्ठमित्यर्थं। तच्च विना हेत्वन्तरादेव स्यादिति न च वाच्यम्। कारणानुविधायित्वात्कार्यस्य—कार्यस्य कारणपूर्वकत्वादिति साध्याहार योजयन्ति। एकस्यैव दुरितस्य कारणस्थदुरितत्वेन कारणत्वम् कार्यस्थदुरितत्वेन च कार्यत्वमिति भाव। १७ पाप्मप्रसक्तिरित्यर्थ। १८ बृ० उ० १ ५ २०।

[1]अथ [2]ह [3]प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः प्राण उदगायद्यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य [4]आगायद्यत्कल्याणं जिघ्रति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा [5]तदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा ॥३॥

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायत् । यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ॥४॥

फिर देवताओं ने घ्राण से कहा—"तू हमारे लिए उद्गान कर"। तब घ्राण ने "तथास्तु" कह कर उन देवताओं के लिये उद्गान किया। घ्राण में जो भोग है, उसे उसने देवताओं के लिए गान किया और जो कुछ अच्छी गन्ध सूंघता है, उसे उसने अपने लिए गाया। असुरों को इस बात का ज्यों ही पता लगा कि इस उद्गाता के द्वारा देवता हमें जीतेंगे। त्यों ही असुरों ने उस घ्राण के समीप जाकर उसे पाप से वेध डाला। अतएव जो अननुरूप सूंघता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है ॥३॥

फिर देवताओं ने चक्षु से कहा—"तू हमारे लिए उद्गान कर"। तब चक्षु ने "तथास्तु" कह कर उनके लिए उद्गान किया—अर्थात् चक्षु में जो भोग है, उसे चक्षु ने देवताओं के लिए गाया और जो शुभ दर्शन करता है, उसे उसने अपने लिए गाया। असुरों को ज्यों ही यह मालूम हुआ कि इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमें जीतेंगे, त्यों ही असुरों ने चक्षु के पास जाकर उसे वेध डाला। यह जो निषिद्धरूप को देखता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है ॥४॥

---

[6]तथैव घ्राणादिदेवता [6]उद्गीथनिर्वर्तकत्वाज्जपमन्त्रप्रकाश्या उपास्याश्चेति क्रमेण

वाग्देवताया जपमन्त्रप्रकाश्यत्वमुपास्यत्वं च नेति [7]निर्धार्यविशिष्टपर्यायचतुष्टयस्य तात्पर्यमाह

लक्षण पाप रूप शर से 'विध्यन्' अर्थात् ताडित या पापफल से संयुक्त कर दिया। वह यह जो पाप प्रजापति की पूर्वजन्मस्थित वाणी में सम्बद्ध था, उसी को अनुमान के द्वारा प्रकट किया जाता है। वह कौन-सा है ? जो यह 'अप्रतिरूपम्' यानी अननुरूप या शास्त्रनिषिद्ध (अनृत) बोलता है, जिस अदृष्टरूप पाप से प्रेरित हुआ न चाहते हुए भी अशिष्ट, बीभत्स, अनृतादि बोलता है। इस अप्रतिरूप

---

१ अथेति—वाचिनैराश्यानन्तरमित्यर्थः । २ हेति—उद्गीथेनासुरानत्ययामेति निश्चित्येत्यर्थः । ३ प्राणमिति—घ्राणाभिमानिनी देवता पृथ्वीम् अश्विनौ वेत्यर्थः । ४ आगायदिति—आगानेन प्रार्थितवानित्यर्थः । ५ वाग्वदेव । ६ उद्गानसम्पादकत्वात् । ७ निर्धार्येत्यनन्तरो मूलस्थार्थशब्दार्थोऽयमिति ज्ञेयम् ।

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुदगायद्यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणꣳ शृणोति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ शृणोति स एव स पाप्मा ॥५॥

अथ ह मन ऊचुस्त्व न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उदगायद्यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणꣳ सकल्पयति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ संकल्पयति स एव स पाप्मैवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मनाऽविध्यन् ॥६॥

फिर देवताओ ने श्रोत्र से कहा "तू हमारे लिए उद्गान कर।" तब श्रोत्र ने 'तथास्तु" कहकर उन देवताओ के लिए उद्गान किया । श्रोत्र मे जो भोग है, उसे उस श्रोत्र ने देवताओ के लिए घोषणा की और जो शुभ श्रवण करता है, उसे अपने लिए गाया । असुरो ने जब जाना कि इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमे जीतेंगे, तब उस श्रोत्र के पास जाकर असुरो ने उसे पाप से वेध डाला । यह जो निषिद्ध शब्द का श्रवण करता है यही वह पाप है, यही वह पाप है ॥५॥

फिर देवताओ ने मन से कहा—"तू हमार लिए उद्गान कर । तब मन ने तथास्तु' कह कर उन देवताओ के लिए उद्गान किया । मन मे जो भोग है, उसे मन ने देवताओ के लिए घोषित किया और वह जो शुभ सङ्कल्प करता है, उसे अपने लिए गाया । असुरो को ज्यो ही मालूम हुआ कि इस उद्गाता के द्वारा हमे जीतेंग, त्यो ही मन के पास जाकर असुरो ने उसे पाप से वेध डाला । यह जो निषिद्ध सङ्कल्प करता है, यही वह पाप है । इस प्रकार नि सदेह ही इन देवताओ का पाप का ससर्ग हुआ और ऐसे ही असुरो ने इसे पाप स वेध डाला ॥६॥

परीक्षितवन्त. । देवाना चैतन्निश्चितमासीत् । वागादिदेवता. क्रमेण परीक्ष्यमाणा. 'कल्याणविषयविशेषात्मसबन्धासङ्गहेतोरासुरपाप्मससर्गादुद्गीथनिर्वर्तनासमर्थ' । अतो-

---

—तथैवेति । परीक्षाफलनिर्णयमाह—देवाना चेति । अनुपास्यत्वे हेत्वन्तरमाह—इतरति । इतर कार्यकरणसघातस्तस्मिन्नव्यापकत्व 'परिच्छिन्नत्वमतश्चानुपास्यत्व जपमन्त्राप्रकाश्यत्व चेत्यर्थ । उक्तं-

---

भाषणरूप-कार्य से अनुमीयमान वह पाप प्रजापति की कार्यभूता प्रजाओ की वाणी मे रहता है। प्रजापति की वाणी को प्राप्त हुआ, वही पाप अननुरूप भाषण से अनुमित होता है, क्योंकि कार्य

---

१ कल्याणनि—यथाशास्त्रवदनादिरूपेत्यर्थ । २ वक्ष्यमाणहेतो । ३ परिच्छिन्नाभिमानत्वम् ।

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य [१]एष प्राण उदगायत्ते विदुरनेन वै न उद्गात्रा-

इसके बाद मुख के छिद्र में रहने वाले प्राण से देवताओं ने कहा—"तू हमारे लिए उद्गान कर", तब "तथास्तु" कह कर इस प्राण ने शरणागत देवताओं के लिए उद्गान किया, असुरों ने जब

ऽनभिधेया असतो मा सद्गमयेत्यनुपास्याश्चाशुद्धत्वादितराव्यापकत्वाच्चेति । [२]एवमु खल्व-नुक्ता अप्येतास्त्वगादिदेवताः [३]कल्याणाकल्याणकार्यदर्शनादेवं वागादिवदेवैनाः पाप्मना-ऽविध्यन्पाप्मना विद्धवन्त [४]इति यदुक्तं [५]तत्पाप्मभिरुपासृजन्पाप्मभिः संसर्गं कृतवन्त [६]इत्येतत् ॥३॥४॥५॥६॥

रिन्द्रियैरनुक्तेन्द्रियाण्युपलक्षणीयानीति विवक्षित्वोपसंहरति—एवमिति । वागादिवत्त्वगादिषु [७]कल्पका-भावान्न पाप्मवेधोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—कल्याणेति । पाप्मभिरुपासृजन्पाप्मनाऽविध्यन्नित्यनयोरस्ति

कारण के पीछे चलने वाला होता है ॥२॥

वाणी की तरह ही घ्राणादि देवता उद्गान कर्म के सम्पादक होने से जपमन्त्र से प्रकाश्य और उपास्य है, ऐसा जानकर क्रम से देवताओं ने उनकी परीक्षा ली । देवताओं को यह निश्चय था, कि वागादि देवता क्रमश परीक्षा लिए जाने पर यथाशास्त्र वदनादि रूप का अपने से सम्बन्ध होने के कारण आसङ्गसज्ञक आसुर पाप के ससर्ग हो जाने से उद्गीथ सम्पादन मे समर्थ नही हैं । वक्ष्यमाण हेतु से अनभिधेय "असत् से मुझे सत् की ओर ले जाओ", इस श्रुतिवाक्य से (घ्राणादि देवता) अशुद्ध और इतर अव्यापक होने के कारण अनुपास्य हैं । इस प्रकार वागादि के समान ही शास्त्रोक्त-

१ एष प्राण उदगायदिति—ननु पूर्वत्र यो वाचि भोगस्त देवेभ्य आगायत् यत्कल्याण वदति तदात्मन इत्यादिवद-त्रापि य प्राणे भोग इति वाच्य प्रकरणवशादित्याशङ्क्य समाहित वार्तिके—"यः प्राणे भोग इति न पूर्ववद्गृण्यतेऽत्र किम् । वागादीनामिव यतो नासौभोगो विशिष्यते । अकृत्स्नभोगतो युक्त वागादिषु विशेषणम् । सर्वस्यैवासुभो-गत्वात् किं कुतोऽत्र विशिष्यत" इति । लिङ्गेन प्रकरणभङ्गं मन्वान समाधत्ते—वागादीनामिति । न हि प्राण-स्य विशिष्टो भोगोऽस्ति तन तस्य विशेषणानुपपत्ते सदपि प्रकरणमनुपपत्त्या बाधितमकिंचित्करमित्यर्थ. । तर्हि तेषामपि प्राणवद्विशेषणानुपपत्तिरित्याशक्य दृष्टान्त स्पष्टयति-अकृत्स्न इति । वाचो हि वचनमेव भोगो न दर्श-नादि । चक्षुषो दर्शनमेव न वदनादि । इत्येवमशेषस्य वागादिभोगत्वाभावात् प्रातिस्विक भोगमादाय यो वाची-त्यादिवचनमित्यर्थ । अस्तु तर्हि वागादिवत्प्राणेऽपि विशेषणमकृत्स्नभोगत्वाविशेषादित्याशक्य दार्ष्टान्तिक स्फुटयति—सर्वस्येति । दर्शनश्रवणादेरिति यावत् । किंशब्देन कार्यं कुत शब्देन हेतुश्चाक्षिप्यत । अत्र-प्राणे । २ इतरत्सर्वं पूर्ववदित्युपेक्ष्य षष्ठकण्डिकोपान्त्यादिभाग व्याकरोत्येवमु इत्यादिना एवमेव-वागादिवदेवेत्यर्थ । ३ कल्याणाकल्याणेत्यादि—त्वगादिष्वपि वागादिवत् कल्याणस्य-यथाशास्त्र स्पर्शनादे । अकल्याणस्यासङ्गाख्यपा-प्मकार्यस्य च दर्शनादनुक्तोऽप्यासुरपाप्मवेधोऽनुमीयत इत्यर्थ । तथाहि—विमत पाप्मानुविद्धम् तत्कार्यवत्वात् वागा-दिवदिति भाव । ४ इति यदुक्तमिति—इति यद्वाक्यमुक्तमित्यर्थ । ५ तदिति—तस्येत्यर्थ । ६ इत्येतदिति —आम्नातमिति शेष । नन्वेव मत्येता देवता इति व्यर्थम् एवमु खल्वेता इत्यनेनैव गतत्वादित्याशङ्क्य समादधु. वार्त्तिके—"या विद्धा देवतास्तासा प्रक्रियामहृति पृथगिति" । या वागादिदेवता दर्शितन्यायेन पाप्मना विद्धा-स्तासा प्राणप्रकरणात् पृथगेव प्रक्रियाया प्रकरणस्योपसहृतिरेवमित्यादिना क्रियते तन्नास्य वैयर्थ्यम् इति तदर्थ. । प्राणप्रकरणाद्वागादिप्रकरणविच्छेदाय तत्समाप्तिसूचनार्थं पुनरुक्तिरिति भाव । उपसहृतप्रकरणस्य तात्पर्यमपि दर्शित तत्रैव—"आसङ्गपाप्मभिर्विद्धा यस्माद्वागादयोऽसुरं । वर्जनीयास्ततस्ता स्युर्नोपास्या श्रेय इप्सुभिरिति ॥" वागादीना स्वप्राधान्येन नोपास्यता प्राणशेषत्वेनोपास्यत्वमस्तीतिभाव । ७ अनृतवदनादिवत् । ज्ञापकाभावा-दित्यर्थ ।

ऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य 'पाप्मनाऽविव्यत्सन्स यथा-ऽश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वꣳसेतैवꣳ हैव विध्वꣳ-समाना विष्वञ्चो विनेशुस्ततो देवा अभवन्पराऽसुरा-भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥७॥

जाना कि, इस उद्‌गाता के द्वारा देवगण हमें जीत लेंगे। तब उन्होंने मुख्य प्राण के पास जाकर उसे पाप मे वेधना चाहा—किन्तु जैसे पत्थर से टकराने पर मिट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता है, वैसे ही वे असुर लोग भी प्राण से टकराने पर विध्वस्त होकर अनेक प्रकार से नष्ट हो गये। तब से देवगण स्वस्थ हो गये और असुरों का पराभव हुआ। जो इस प्रकार जानता है, वह प्रजापति स्वरूप अपने रूप से स्थित होता है और उसमें द्वेष करने वाला सौतेला भाई पराभव (हार) को प्राप्त करता है ॥७॥

वागादिदेवता उपासीना अपि मृत्य्वतिगमनायाशरणाः सन्तो देवाः क्रमेण। अथानन्तरं हेममित्यभिनयप्रदर्शनम्। आसन्यमास्ये भवमासन्यं मुखान्तर्बिलस्थं प्राण-मूचुस्त्वं न उद्गायेति। तथेत्येवं शरणमुपगतेभ्यः स एष प्राणो मुख्य उदगायदित्यादि पूर्ववत्। पाप्मनाऽविव्यत्सन्वेधनं कर्तुमिष्टवन्तस्ते च दोषासंसर्गिणं सन्तं मुख्यं प्राणम्। स्वेनाऽऽसङ्गदोषेण वागादिषु लब्धप्रसरास्तदभ्यासानुवृत्त्या संश्लिष्यमाणा विनेशुर्विनष्टा विध्वस्ताः।

पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्य व्याख्यानव्याख्येयभावान्नैवमित्याह—इति यदुक्तमिति ॥३॥४॥५॥६॥

सम्प्रति मुख्यप्राणस्य मन्त्रप्रकाश्यत्वमुपास्यत्वं च वक्तुमुत्तरवाक्यमुपादाय व्याकरोति—वागादीति। क्रमेणोपासीना इति सम्बन्धः। वागादिषु नैराश्यानन्तर्यमथशब्दार्थः। विवक्षितार्थज्ञाप-कोऽसाधारणो देहतदवयवव्यापारोऽभिनयः। दोषासंसर्गिणं दोषेण संसृष्टं कर्तुमिच्छा कुतो जातेत्या-शङ्क्याऽऽह—स्वेनेति। तदभ्यासानुवृत्त्या तस्य पाप्मसंसर्गकरणस्याभ्यासवशादिति यावत्।

स्पर्शनादि कल्याणमय कर्म, आसङ्ग पापमय अकल्याणमय कर्म देखे जाने पर अन्य त्वगादि देवता है—अनुक्त होने पर भी इन्हें पाप में विद्ध कर दिया। पाप से वेध दिया" इस वाक्य से जो कहा, उसका "पाप से लिप्त कर दिया, अर्थात् पाप से युक्त कर दिया' यह व्याख्यान है। ॥३-६॥

वागादि देवताओं की उपासना करने पर मृत्यु को जीतने में उन्हें अपना शरण न पाकर

---

१ आसङ्गलक्षणशरेणेत्यर्थः। २ प्राणात्मना भवतीत्यर्थः प्राणस्वरूप एव भवतीति यावत्। ३ अभिन-येति—ननु प्राणान्तरेष्वभिनयाभावात् इहापि तद्वैयर्थ्यमिति चेन्न। नहि देहे प्राणस्य करणग्रामवत् आयतनविशेष-प्रसिद्धिः अतस्तदभिनयसार्थक्यमित्यभिप्रायः। ४ इष्टवन्त इति—तेन सह प्राणं संस्रष्टुं संश्लेष्टुं संयोजयितु-मेषामिच्छा जातेति यावत्। ५ नष्टावयवाः। ६ संश्लेषयितुमिच्छावन्त इत्यर्थः अन्तर्भावितणिच्समर्थ-त्वादिति ध्येयम्। ७ प्राणमिति शेषः।

कथमिवेति चेद्दृष्टान्त [1]उच्यते—स यथा स दृष्टान्तो यथा लोकेऽश्मानं पाषाणमृत्वा गत्वा प्राप्य लोष्टः पांसुपिण्डः पाषाणचूर्णनायाश्मनि निक्षिप्तः स्वयं विध्वंसेत विस्रंसेत विचूर्णीभवेत्, एवं हैव यथाऽयं दृष्टान्त एवमेव विध्वंसमाना विशेषेण ध्वंसमाना विष्वञ्चो [2]नानागतयो विनेशुर्विनष्टा यतस्ततस्तस्मादसुरविनाशाद्देवत्वप्रतिबन्धभूतेभ्यः स्वाभाविकासङ्गजनितपाप्मभ्यो वियोगादसंसर्गधर्मिमुख्यप्राणाश्रयबलाद्देवा वागादयः प्रकृता अभवन्। किमभवन्। स्वं देवतारूपमग्न्याद्यात्मकं [3]वक्ष्यमाणम्। [4]पूर्वमप्यग्न्याद्यात्मान एव सन्तः स्वाभाविकेन पाप्मना [5]तिरस्कृतविज्ञानाः पिण्डमात्राभिमाना आसन्। ते [6]तत्पाप्मवियोगादुज्झित्वा पिण्डमात्राभिमानं [7]शास्त्रसमर्पितवागाद्यग्न्याद्यात्माभिमाना

'उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—कथमित्यादिना। असुरनाशेनाऽऽसङ्गजनितपाप्मवियोगे हेतुमाह—असंसर्गेति। वक्ष्यमाणं 'सोऽग्निरभवदित्यादिनेति शेषः। वागादीनां "स्थितानां नष्टानां च कुतोऽग्न्यादिरूपत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—पूर्वमपीति। न "तर्हि तेषां परिच्छेदाभिमानः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—स्वाभाविकेनेति। परिच्छेदाभिमानादग्न्याद्यात्माभिमानस्य बलवत्त्वं सूचयति—शास्त्रेति। न केव-

देवताओं ने क्रमश (प्राणादि की शरण ली)। इसके अनन्तर "ह, इमम्" यह पदद्वय अभिनय-सार्थक्य प्रदर्शन के लिए है। 'आमन्यम्' अर्थात् मुख मे होने वाले मुखान्तर्वर्ती छिद्र मे स्थित प्राण से कहा, तुम हमारे लिए उद्गान करो'। इस प्रकार अपनी शरण मे आए हुए देवताओ के प्रति उस मुख्य प्राण ने उद्गान किया—इत्यादि प्रसङ्ग पूर्ववत् समझना चाहिये। असुरो ने पापरूप-दोष से अलिप्त उस मुख्य प्राण को पाप मे सश्लिष्ट अथवा युक्त करना चाहा। अभिनिवेशरूप अपने दोष के कारण वागादिको मे उन्हे अवसर प्राप्त हो गया। उसी अभ्यास की अनुवृत्ति मे सश्लेष की इच्छा करने वाले वे 'विनेशु.' अर्थात् विध्वस्त हो गये।

यदि कहो—किस प्रकार नष्ट हो गये ? तो इसे जानने के लिए दृष्टान्त कहते है—। 'स यथा' अर्थात् वह दृष्टान्त इस प्रकार है, जैसे लोक मे 'अश्मनि" अर्थात् पाषाण के पास 'गत्वा' यानी जाकर 'लोष्ट' अर्थात् मृत्तिका चूर्णीभाव, के लिए पत्थर पर फेका हुआ, स्वय 'विध्वसेत' नष्ट हो जाए, चूर्णीभूत हो जाए—उसी प्रकार, अर्थात् जैसे यह दृष्टान्त है, इसी प्रकार 'विध्वसमाना' अर्थात् विशेष रूप से ध्वस हुआ 'विष्वञ्च' अर्थात् मनुष्यत्वदेवत्व स्थावरत्वरूप, प्रतिबन्धक नानागतियो को प्राप्त हुए 'विनेशु' अर्थात् नष्ट हो गये। क्योकि ऐसा हुआ, इसलिए आसुरत्वविनाश हो जाने से देवत्व प्राप्ति के प्रतिबन्धकभूत शास्त्र-अनाधेय अभिनिवेशजनित पाप से वियोग हो जाने पर, असंसर्गधर्मी

१ उच्यत इति—प्राणताडनच्छोदयमात्रेण प्राणोऽसुराणां हन्ता इत्यर्थप्रतिपत्त्यर्थं वक्ष्यमाणप्रकारो दृष्टान्त कथ्यत इत्यर्थ। २ नानागतय इति—प्राणस्याप्रधृष्यत्वादेव तत्ताडनेच्छामात्रेणैवासुरा नानागतय-मनुष्यत्व-स्थावरत्वादेहेनैव देवत्वप्रतिबन्धकाश्च सर्वेऽपि युगपन्नष्टा दुर्मेधशिलाक्षिप्तपांसुपिण्डवदिति दार्ष्टान्तिकभावार्थः। ३ बृ०उ० १ ३ १२। ४ पूर्वमपीति—यथोक्तपाप्मवियोगात् प्रागपीत्यर्थ। ५ तिरस्कृतेत्यादि—आच्छादिताग्न्यादिस्वरूपविज्ञाना इत्यर्थ। ६ आसङ्गलक्षणपाप्मेत्यर्थं। ७ शास्त्रेति—अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशदित्यादिशास्त्रेत्यर्थं। ८ उक्तेच्छावत्त्वादिनानाप्राप्तिरूपमर्थमित्यर्थ। ९ बृ० उ० १ ३ १२। १० स्थितानामित्यादि—यदि तेऽध्यात्मभावे एव स्थिता तदा नोपपद्यते तेषां देवत्व, यदि तु ततोऽपि नष्टास्तदा पुनरपि तदनुत्पत्ति स्वरूपत एवोच्छेदादिति शङ्काशय। ११ तर्हीति—वागादीनां सदाग्न्यादिरूपत्व इत्यर्थ।

[1]बभूवुरित्यर्थः । किंच ते प्रतिपक्षभूता असुराः पराऽभवन्नित्यनुवर्तते । [2]पराभूता विनष्टा इत्यर्थः ।

यथा पुराकल्पेन वर्णितः पूर्वयजमानोऽतिक्रान्तकालिक एतामेवाऽऽख्यायिकारूपां श्रुतिं दृष्ट्वा तेनैव क्रमेण वागादिदेवताः परीक्ष्य ताश्चापोह्याऽऽसङ्गपाप्मा[3]स्पददोषवत्त्वेनादोषास्पदं मुख्यं प्राणमात्मत्वेनोपगम्य वागाद्याध्यात्मिकपिण्डमात्रपरिच्छिन्नात्माभिमानं हित्वा वैराजपिण्डाभिमानं [4]वागाद्यग्न्याद्यात्मविषयं वर्तमानप्रजापतित्वं शास्त्रप्रकाशितं प्रतिपन्नस्तथैवायं यजमानस्तेनैव विधिना भवति प्रजापतिस्वरूपेणाऽऽत्मना [5]परा चास्य प्रजापतित्वप्रतिपक्षभूतः पाप्मा [6]द्विषन्[7]भ्रातृव्यो भवति । यतोऽद्वेष्टाऽपि भवति कश्चिद्भ्रा-

लम[8]त्रोक्तानामेवासुराणामसंसर्गधर्मिप्राणाश्रयाद्विनाशः किंतु [9]तत्तुल्यजातीयानामपीत्यभिप्रेत्याऽऽह—किंचेति ।

वागादीनामग्न्यादिभावापत्तिवचनेन [10]तत्सहितस्य यजमानस्य देवताप्राप्तिरासुरपाप्मध्वंसश्च फलमित्युक्तं [11]तत्र [12]पूर्वकल्पीययजमानस्यातिशयशालित्वाद्यथोक्तफलवत्त्वेऽपि [13]नेदानींतनस्यैवमित्याशङ्क्य भवतीत्यादिश्रुतिमवतारयति—यथेति । पूर्वकल्पनाप्रकारेण पूर्वजन्मस्थो यजमानः शास्त्रप्रकाशितं वर्तमानप्रजापतित्वं प्रतिपन्नो यथेति संबन्धः । पूर्वयजमान इत्यस्य व्याख्याऽतिक्रान्तकालिक इति । पुराकल्पमेव दर्शयति—एतामिति । तेनेति श्रुत्युक्तेनेत्येतत् । तेनैव विधिना श्रुतिप्रकाशितेन क्रमेण मुख्यं प्राणमात्मत्वेनोपगम्येति शेषः । सपत्नो भ्रातृव्यस्तस्य द्विषन्निति [14]कुतो विशेषणमर्थ[15]सिद्ध-

मुख्यप्राण के आश्रय के बल से वागादि देवता अपने स्वरूप में स्थित हो गये । वह क्या हो गये ? आगे बतलाये जाने वाले अपने अग्न्यादिरूप देवत्वभाव को प्राप्त हो गये । पापवियोग के पूर्व भी अग्न्यादिस्वरूप ही थे । शास्त्र-अनाधेय अग्न्यादिस्वरूप से आच्छादित-विज्ञान वाले होने से पिण्डमात्र में अभिमान से युक्त हो गये । ("अग्नि ही वाक होकर मुख में प्रवेश कर गया") इस प्रकार शास्त्रसमर्पित होने से वागादि उस आसङ्गलक्षणपापवियोग से पिण्डमात्र में अभिमान को त्यागकर अग्न्यादिरूप अभिमान से उपहित हो गये । इसके अतिरिक्त उनके प्रतिद्वन्द्वी असुर उनसे पराजित हो गये । इसकी अनुवृत्ति होती है । पराजित होकर विनष्ट हो गये, यह इसका भाव है ।

जैसे पूर्वकल्प में वर्णित पूर्व अथवा भूतकालिक यजमान इस आख्यायिकारूपा श्रुति का निरूपण कर, उसी प्रकार वागादि देवताओं का परीक्षण कर, उन्हें आसङ्गपाप के आस्पदरूप दोष का

१ बभूवुरिति—वागाद्युपहितस्य यजमानस्य प्राणेऽहंग्रहोपासनात् तत्स्वरूपप्राप्तौ सर्वस्य परिच्छेदाभिमानरूपस्य पाप्मनो नाशात् प्राणवद्वागादयः सदा देवतात्मानः सन्तोऽध्यात्मपरिच्छेदाभिमानप्रतिबन्धनिवृत्तावग्न्यादिदेवतात्वं भजन्तीति परमार्थः । २ असुरा पराभूता अभवन्नित्यनुषङ्गः न पुनः प्रारोहन्निति यावत् इत्यभिप्रेत्याह--पराभूता इति । ३ आस्पदतया दोषवत्त्वेन । ४ वागाद्यभिन्नाग्न्यादीत्यर्थः । ५ परा भवती—लोष्ठवच्चूर्णीभवति । ६ नित्यद्वेष्टा । ७ शत्रुः । ८ अत्रोक्तानाम्—उद्गीथब्राह्मणोक्तानामित्यर्थः । ९ तत्तुल्यजातीयानामिति-शाखान्तरोक्तानामपीत्यर्थः । १० तदुपहितस्य । ११ तत्रेति-सामान्येन यजमानस्योक्तरूपवत्त्वोक्तावपीत्यर्थः । १२ यजमानावस्थप्रजापतेः । १३ नेदानींतनस्येति—अतिशयशालित्वाभावादिति शेषः । १४ व्यावर्त्याभावाद्व्यर्थं विशेषणमित्याक्षेपार्थः । १५ शत्रुत्वेनैव सिद्धत्वात् ।

ते होचुः क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्ये-ऽन्तरिति सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाꣳ हि रसः ॥८॥

जब देवताओं ने कहा—जिसने हमें इस प्रकार देवभाव को प्राप्त कराया है वह कहाँ है ? ऐसा विचार कर उन्होंने निश्चय किया कि यह मुख के ही भीतर है। अत यह अयास्य (किसी का आश्रय न लेने के कारण) आङ्गिरस है, क्योंकि यही भूत और इन्द्रियादि अङ्गों का रस है ॥८॥

तृव्यो 'भरतादितुल्यो यस्त्विन्द्रियविषयासङ्गजनितः' पाप्मा भ्रातृव्यो द्वेष्टा च। पारमार्थिकात्मस्वरूपतिरस्करणहेतुत्वात्। स च पराभवति विशीर्यते लोष्टवत्प्राणपरिष्वङ्गात्। कस्यैतत्फलमित्याह—य एवं वेद। यथोक्तं 'प्राणमात्मत्वेन 'प्रतिपद्यते पूर्वयजमानवदित्यर्थः ॥७॥

फलमुपसंहृत्याधुनाऽऽख्यायिकारूपमेवाऽऽश्रित्याऽऽह। कस्माच्च हेतोर्वागादीन्मुक्त्वा

त्वाद्द्वेषस्येत्याशङ्क्याऽऽह—यत इति। तस्य द्वेष्टृत्वनियमे हेतुमाह—पारमार्थिकेति। अपरिच्छिन्नदेवतात्वमत्र पारमार्थिकमात्मस्वरूप विवक्षित तत्तिरस्करणकारणत्वादुक्तपाप्मनो विशेषणमर्थवदिति शेष। यदाग्नेयोऽष्टाकपाल 'इतिवद्य एव वेदेति 'प्रसिद्धार्थोपबन्धेऽपि 'विधिपर वाक्यमतश्चैवं 'विद्यादिति विवक्षितमित्यभिप्रेत्याऽऽह—यथोक्तमिति ॥७॥

फलवत्प्रधानोपास्तेरुक्तत्वात्ते होचुरित्याद्युत्तरवाक्य गुणोपास्तिपरमित्याशङ्क्याह—'फलमिति।

त्याग कर, दोषास्पदरहित उस मुख्य प्राण को आत्मभाव से उपलब्ध कर, आध्यात्मिक पिण्डमात्र से अवच्छिन्न वागादि में आत्मत्व का अभिमान त्याग कर, वागादि की वागाद्यभिन्न-अग्न्यादिरूपता-विषयक शास्त्रनिरूपित विराट् पिण्डाभिमानी वर्तमान प्रजापति को प्राप्त हुआ, इसी प्रकार यह यजमान भी प्रजापति रूप से स्थित होता है। पापरूप, नित्यद्वेष्टा शत्रु सौतेला भाई प्रजापति का प्रतिद्वन्द्वी लोष्ट के समान पिस जाता है, चूर्णीभूत हो जाता है। राम के छोटे भाई भरत

---

१ भरतो—रामानुज। २ स इति शेष। ३ सूत्रात्मानम्। ४ उपास्त। ५ भवतीति पदशेष। ६ प्रसिद्धार्थोपबन्धेऽपीति -प्रसिद्धार्थकपदसम्बन्धेऽपीत्यर्थ। अनुष्ठेयार्थबोधकलिङादिपदाभावेऽपीति यावत्। ७ विधिपर वाक्यमिति—तदुक्त वार्तिके—'य एव वेदेति विधि फलोक्तेरर्थवादत। आनुषङ्गिफलोक्त्या वा तदुपासाविमुक्तय ॥१॥ आत्मविद्याधिकारेऽस्मिस्तदुपास्ताविधानत। आत्मविद्योपकारित्व तस्माद्वाक्याच्च गम्यत इति ॥२॥ अत्र टीका—उक्तार्थवादात् फलस्योच्यमानत्वात् तद्वचनस्य च स्तुतित्वात् विधि विना च तदयोगात् अत्र सूत्राप्तिफलत्वेन तदुपास्तिर्विधीयते इत्यर्थ। यद्वा मोक्षफलत्वेन तदुपास्तिरत्र विधीयते। सूत्रभावस्तु फलार्थे बीजावापे छायागन्धादिवदानुषङ्गिक फलमित्याह—आनुषङ्गीति। सूत्रोपास्तिस्तत्प्राप्तिद्वारा क्रममुक्तिफलेत्यत्र मानमाह—आत्मेति। आत्मविद्याप्रकरण सूत्रोपास्तिविधेस्तस्या मुक्तिफल चेदात्मविद्यैव मुक्तिहेतुरिति नियमासिद्धिरित्याशङ्क्याह—आत्मविद्येति। सैव मुक्तिहेतुस्तदुत्पत्त्युपकारित्वमुपासनस्य प्रकरणादित्यर्थ। उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमान क्व गमिष्यसीति वाक्याच्च क्रममुक्तिफलत्व सूत्रोपास्तेर्गम्यते। अतो ब्रह्मविद्याद्वारा मोक्षे पर्यवसिता प्रकृतोपास्तिरित्याह—वाक्याच्चेति। उक्तोपनिषत्क इत्यादिनिरुक्तवाक्य जनक प्रति याज्ञवल्क्यस्य। उक्तोपनिषत्क इत्यस्य बहुभिराचार्यैरुपदिष्टोपासन इत्यर्थ। ८ उपासीत। ९ आहेति—न होचुरित्यादेरुत्तरवाक्यस्य तात्पर्यमाहेत्यर्थ।

मुख्य एव प्राण आत्मत्वेनाऽऽश्रयितव्य इति तदुपपत्तिनिरूपणाय यस्मादयं वागादीनां पिण्डादीनां च साधारण आत्मेत्येतमर्थमाख्यायिकया दर्शयन्त्याह [1]श्रुतिः।

ते प्रजापतिप्राणा मुख्येन[2] प्राणेन परिप्रापितदेवस्वरूपा होचुरुक्तवन्तः [7]फलावस्थाः। किमित्याह। क्व न्विति वितर्के। क्व नु कस्मिन्नु सोऽभूत्। कः। यो नोऽस्मानित्थमेवमसक्त सञ्जितवान्देवभावमात्मत्वेनोपगमितवान्। स्मरन्ति हि लोके केनचिदुपकृता उपकारिणं लोकवदेव स्मरन्तो विचारयमाणाः कार्यकरणसंघात [3]आत्मन्येवोपलब्धवन्तः।

कथम्, अयमास्येऽन्तरिति, आस्ये मुखे य आकाशस्तस्मिन्न[4]न्तरयं प्रत्यक्षो वर्तत

फलवन्तं प्रधानविधिमुक्त्वा संप्रत्याख्यायिकामेवाऽऽश्रित्य गुणविशिष्टं प्राणोपासनमाहानन्तरश्रुतिरित्यर्थः। शङ्कोत्तरत्वेन चोत्तरग्रन्थमवतारयति—कस्माच्चेति। विशुद्धत्वस्योक्तत्वाद्धेत्वन्तरं जिज्ञास्यमिति द्योतयितुं चशब्दः। करणानां कार्यस्य तदवयवानां च प्राणो यस्मादात्मा व्यापकस्तस्मात्स एवाऽऽश्रयितव्य [5]इत्युपपत्तिनिरूपणार्थं तस्य व्यापकत्वमित्येतमर्थमाख्यायिकया दर्शयन्ती श्रुतिर्हेत्वन्तरमाहेति योजना। तच्छब्ददस्तस्मादर्थे। प्राणस्या[6]ऽऽत्मत्वादि व्यक्तीकर्तुमाख्यायिकाश्रुतिं विभजते—ते प्रजापतीति। वागादयश्चेत्प्राणमाश्रित्य [7]फलावस्थास्तर्हि किमिति प्राणं स्मरन्ति प्राप्तफलत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—स्मरन्ति हीति। विचारफलमुपलब्धिं कथयति—लोकवदिति।

तामेवोपलब्धिमाकाङ्क्षाद्वारेण विवृणोति—कथमिति। दृष्टान्तं स्पष्टयति—सर्वो हीति। तथा

के समान कोई-कोई सौतेला भाई द्वेष नहीं करने वाला भी होता है, किन्तु जो इन्द्रिय की विषयासक्ति से होने वाला पाप रूप सौतेला भाई है, वह तो शत्रु ही होता है। क्योंकि वह आत्मा के यथार्थस्वरूप के तिरस्करण में कारण है। प्राण में सश्लेष होने पर उसका ऐसे ही नाश हो जाता है, जैसे मिट्टी का टुकड़ा चूर्णीभूत हो जाता है। किसको यह फल मिलता है ? इस पर उत्तर देते है—"य एव वेद" अर्थात् जो यथोक्त सूत्रात्मा प्राण की पूर्वयजमान की तरह आत्मभाव से उपासना करता है ॥७॥

फल का उपसहार कर अब आख्यायिका के ही रूप का आश्रयण कर श्रुति कहती है—वागादि अन्य सब प्राणों को छोड़ कर मुख्य प्राण का ही आत्मस्वरूप से क्यों आश्रय लेना चाहिये ? उसकी सिद्धि प्रदर्शित करने के लिए। क्योंकि यह (मुख्य प्राण) वागादि और पिण्डादि का साधारण

१ ते होचुरित्यारभ्य आत्मनऽन्नाद्यमागायदित्यत प्राक्तनी श्रुतिरित्यर्थ। २ अग्न्यादिदेवभावापन्ना इत्यर्थ। ३ आत्मीये। ४ अन्तरिति—अन्तरिति प्राणविशेषणम् त्वगादिव्यावृत्त्यर्थम्। आस्य प्राण इति सामान्येनोक्तौ त्वगादीनामप्यास्यान्त सत्वात्तत्र स्यादतिप्रसक्ति मध्यवाचिनाऽन्त शब्देन तु तद्व्यावृति क्रियते। तदुक्त वार्तिके—"आस्यपर्यन्तशायीनि त्वगादीनि न मध्यत। प्राणस्तु मध्य आस्यस्य तस्मादन्तर्विशेषणमिति॥' त्वचस्तावदनुभवसिद्धमास्यपर्यन्तत्वम् वाग्जिह्वयोस्तदन्तस्थत्वेऽपि न व्याप्त्या मध्यस्थतेति भाव। प्राणस्तु मुखनासिकाऽऽकाशमध्ये वर्तते नैव त्वगादयोऽतोऽन्तर्विशेषण त तेभ्यो व्यावर्तयतीत्यर्थ। ५ इत्युपपत्तिनिरूपणार्थमिति—उक्तस्यार्थस्योपपत्तिभिर्निरूपणार्थमित्यर्थ। ६ आत्मत्वादीत्यादिनाऽयास्यत्वादिवक्ष्यमाणगुणग्रहणम्। ७ फलावस्था—अग्न्यादिदेवभावापन्ना इत्यर्थ।

इति । सर्वो हि लोको विचार्याध्यवस्यति । तथा देवाः । [2]यस्मादयमन्तराकाशे वागाद्यात्मत्वेन [3]विशेषमनाश्रित्य वर्तमान उपलब्धो देवैः, तस्मात्स प्राणोऽयास्यो विशेषानाश्रयत्वात्त्वासक्त सञ्जितवान्वागादीन् । अत एवाऽऽङ्गिरस [4]आत्मा कार्यकरणानाम् । कथमाङ्गिरसः । प्रसिद्धं ह्येतदङ्गानां कार्यकरणलक्षणानां रसः सार [5]आत्मेत्यर्थः । कथं पुनरङ्गरसत्वं तदपाये शोषप्राप्तेरिति [6] [7]वक्ष्यामः । यस्माच्चायमङ्गरसत्वाद्विशेषानाश्रयत्वाच्च कार्य-

देश विचार्य प्राणमास्यान्तराकाशस्थं निर्धारितवन्त इत्याह—तथेति । किमनया कथया सिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—यस्मादिति । [8]उपलब्धिसिद्धेऽर्थे युक्तिं समुच्चिनोति—विशेषेति । सर्वानेव वागादीनविशेषेणाग्न्यादिभावेन प्राण सञ्जितवान् । न चामध्यस्थः साधारणं कार्यं निर्वर्तयति । अतो युक्तितोऽप्ययमास्यान्तराकाशे वर्तमान सिद्ध इत्यर्थः । अयास्यत्ववदाङ्गिरसत्व गुणान्तरं दर्शयति—अत एवेति । सर्वसाधारणत्वादेवेति यावत् । तथाऽपि कुतोऽस्याऽऽङ्गिरसत्वं साधारणेऽपि नभसि तदनुपलब्धेरित्याशङ्क्य [9]परिहरति—कथमित्यादिना । अङ्गेषु चरमधातो. सारत्वप्रसिद्धेर्न प्राणस्य तथात्वमिति शङ्कि-

आत्मा है,—इस आख्यायिका से दिखलाते हुए ("ते होचु" यहाँ से लेकर "आत्मनेऽन्नाद्यमागायत्" बृ० उ० १-३-१७ इस मन्त्र पर्यन्त) श्रुति कहती है।

मुख्य प्राण के द्वारा अग्न्यादिदेवभाव को प्राप्त कराये हुए वे प्रजापति के फलावस्थित प्राण "होचु" अर्थात् कहने लगे । क्या कहने लगे ? वह बतलाते हैं । "क्व" "नु" यह वितर्क अर्थ मे निपात है । "क्व नु" अर्थात् अच्छा किसमे वो रहा ? कौन किसमे रहा ? जिसने हमें 'असक्त' अर्थात् सञ्जित कर आत्मस्वरूप देवभाव की प्राप्ति करायी । ससार मे भी तो किसी के द्वारा कृतकृत्य होने वाले (कृतज्ञ) मनुष्य उस उपकारीजन का स्मरण किया करते हैं । लोकमर्यादा के समान ही स्मरण तथा विचार करते हुए कार्यकरण के समुदायरूप उसका अपने मे साक्षात्कार किया ।

किस प्रकार साक्षात्कार किया ? जो आस्य के भीतर है—'आस्ये' अर्थात् मुख मे जो आकाश है, उसमे इसका साक्षात्कार होता है । सभी लोग निश्चय करने से पूर्व विचार करते है । उसी प्रकार देवताओ ने किया । क्योकि देवताओ ने इसे वागादिभाव से (वागादिको मे अन्यतम) किसी विशेष का आश्रय लिए बिना अन्तराकाश मे ही साक्षात्कार किया था, इसलिए उस प्राण ने 'अयास्य' अर्थात विशेष का अनाश्रय करके वागादि इन्द्रियो को अग्न्यादिभाव से 'असक्त'

१ निर्धारणात । २ यस्मादिति—यत एव वागादय प्राणमास्येऽन्तरुपलभ्यायमास्येऽन्तरिति व्याजह्रुस्तत सोऽयास्य इत्यर्थ । मध्यस्थ इति यावत् ३ विशेषमिति—वागादीनामन्यतममित्यर्थ । ४ आत्मेति—स्वरूपभूत इत्यर्थं । हेतुगर्भविशेषणमिद प्राणस्य । ५ स्वरूपभूत । ६ बृ०उ० १ ३ १९ । ७ वक्ष्याम इति—ननु प्राणस्याङ्गिरसत्वमादावुक्तम् अनन्तर च सा वा एषा देवता दूर्नामेति दूगुणत्वमुक्तम् । तत्र प्रथमश्रुतमुपरिष्टात्प्रतिपादयिष्यति चरमश्रुत तु दूर हीत्यादिश्रुतिरादावेव प्रतिपादयति, तत्र क्रमभङ्गे किं कारणमित्याशङ्क्य समाहित वार्तिके—तथाहि—'उपास्तिक्रमसिद्ध्यर्थं क्रमभङ्गो यमिष्यते । यतो'तोऽङ्गिरस इत्युक्त्वा दूरित्येवाभिधीयत" इति ॥ आदौ दूर्गुणो ध्येयोऽनन्तरमाङ्गिरसत्वमित्युपास्तिक्रमसिद्ध्यर्थं पाठक्रमभङ्गोऽङ्गीकृतस्तस्य ततो बलवत्त्वाद्ध्यनुक्ते दूर्गुणे प्राणस्य शुद्धिसिद्धि न चाशुद्धस्योपास्यत्वमतोऽग्निहोत्रहोमयवागूपाकक्रमवत्पाठक्रमातिक्रम इत्यर्थं । श्रौतक्रमभङ्गेनार्थक्रमोपादाने फलितमाह—यत इति । ८ उपलब्धिसिद्ध इति—प्रत्यक्षसिद्धे प्राणस्यास्यान्तरावस्थानस्वरूप इत्यर्थं । ९ परिहरतीति—अन्वयव्यतिरेकवत सर्वसाधारणस्य आङ्गिरसत्वकथनेनेति शेष ॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरꣳ ह्यस्या मृत्युर्दूरꣳ ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥९॥

वह यह देवता "दूर" नामवाली है, क्योंकि इस प्राण देवता से आसक्तिरूप मृत्यु दूर है। जो ऐसा जानता है उससे मृत्यु दूर रहता है ॥९॥

करणानां साधारण आत्मा विशुद्धश्च तस्माद्वागादीनपास्य प्राण एवाऽऽत्मत्वेनाऽऽश्रयितव्य इति वाक्यार्थः। आत्मा ह्यात्मत्वेनोपगन्तव्योऽविपरीतबोधाच्छ्रेयःप्राप्तेर्विपर्यये चानिष्टप्राप्तिदर्शनात् ॥८॥

स्यान्मतं प्राणस्य विशुद्धिरसिद्धेति। ननु परिहृतमेतद्वागादीनां कल्याणवदनाद्यासङ्गवत्प्राणस्याऽऽसङ्गास्पदत्वाभावेन। बाढम्। किं त्वाङ्गिरसत्वेन वागादीनामा-

---

त्वा समाधत्ते—कथं पुनरित्यादिना। कस्माच्च हेतोरित्यादिचोद्यपरिहारमुपसंहरति—यस्माच्चेति। वाक्यार्थं प्रपञ्चयति—आत्मा हीति ॥८॥

प्राणस्य शुद्धत्वाद्व्यापकत्वाच्चोपास्यत्वमुक्तं तस्य शुद्धत्वं वागादिवदसिद्धमित्याशङ्कते—स्यान्मतमिति। शङ्कामाक्षिप्य समाधत्ते—नन्वित्यादिना। शवेन स्पृष्टिर्यस्यास्ति तेन स्पृष्टोऽपरस्तस्याशुद्धतावदशुद्धवागादिसंबन्धादशुद्धत्वाशङ्का प्राणस्योन्निपततीत्यर्थः। तात्पर्यं दर्शयन्नुत्तरवाक्यमुत्तर-

---

अर्थात् संश्लिष्ट किया। इसी से वह अङ्गिरस कार्यभूत और करण इन्द्रियों का स्वरूपभूत आत्मा है। वह आङ्गिरस क्यों है? क्योंकि वह कार्यकरणसंघातरूप अङ्गों का रस या सार है अर्थात् स्वरूपभूत आत्मा है—यह प्रसिद्ध है। किन्तु इसका अङ्गरसत्व क्यों है? क्योंकि उसके चले जाने पर वह सूख जाता है—इसे आगे (बृ० उ० १-३-१९ मन्त्र में) कहेंगे। क्योंकि यह अङ्ग-रस होने से किसी विशेष का आश्रित होने से कार्य-करण का साधारण आत्मा है और विशुद्ध है। अतः वाक् आदि का परित्याग कर प्राण का ही आत्मभाव से आश्रय करना चाहिए—यह इस वाक्य का तात्पर्य है। यथार्थज्ञान से ही श्रेय प्राप्ति होती है, अयथार्थ ज्ञान से अनिष्ट प्राप्ति देखी गयी है। इसलिए आत्मस्वरूप से ही आत्मा का दर्शन करना चाहिए ॥८॥

यह (विशुद्धत्व और व्यापकत्व सिद्ध होने पर प्राणों का उपास्यत्व) अभिमत है; किन्तु वहाँ प्राणों की विशुद्धि सिद्ध नहीं होती। (इस पर कहते हैं—) इसका समाधान तो हम पूर्व ही कर चुके हैं, क्योंकि वागादि शुद्धभाषणादिविषयक आसङ्ग के समान, प्राण में आसक्ति की आस्पदरूपता का अभाव है। यह सत्य ही है। किन्तु आङ्गिरसरूप से वागादि का आत्मा बतलाया जाने से, शुद्ध होने पर अशुद्धवाक् के सम्पर्क से वह अशुद्ध हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे शव का स्पर्श हो जाने से उसे

---

१ दूर्गुणविशिष्टत्वेन प्राणं वेदेत्यर्थः। २. यथार्थज्ञानात्। ३ स्यान्मतमिति—विशुद्धत्वव्यापकत्वयोः सिद्धौ प्राणस्योपास्यत्वमभिमतं स्यादित्यर्थः। ४ प्राणस्येति पूर्वोत्तरान्वयि—तत्रेति वा शेषः। ५ ननुरवधारणे। ६. सत्यम्। ७ सत्यं स्वतस्तस्य शुद्धत्वेऽप्यशुद्धवागादिसंबन्धादशुद्धत्वमित्याह—किं त्विति। ८ तत्र। ९. शङ्कामाक्षिप्य समाधत्त इति प्राणस्य विशुद्धत्वाभावशङ्काम्। आक्षिप्य—निरस्य, शङ्काया असंभाव्यत्वमुद्भाव्येति यावत्। समाधत्ते—उत्तरशङ्कामुपपादयति पूर्ववादीत्यर्थः। १०. उत्तरवाक्यमित्यादि—नवमकण्डिकारूपमुत्तरवाक्यमुक्तशङ्कासमाधानत्वेन दर्शयतीत्यर्थः।

त्मत्वोक्त्या वागादिद्वारेण शवस्पृष्टिलत्स्पृष्टेरिवाशुद्धता शङ्क्यत इत्याह—शुद्ध एव प्राणः। कुतः, सा वा एषा देवता दूर्नाम यं प्राणं प्राप्याश्मानमिव लोष्टो विध्वस्ता असुरास्तं परामृशति सेति। सैवेषा येयं वर्तमानयजमानशरीरस्था देवैर्निर्धारिताऽयमास्येऽन्तरिति। देवता च सा स्यात्। उपासनक्रियायाः कर्मभावेन गुणभूतत्वात्। 'यस्मात्सा दूर्नाम दूरित्येवं ख्याता। नामशब्दः ख्यापनपर्यायः। तस्मात्प्रसिद्धाऽस्या विशुद्धिर्दूर्नामत्वात्। कुतः पुनर्दूर्नामत्वमित्याह—दूरं दूरे हि यस्मादस्याः प्राणदेवताया' मृत्युरासङ्गलक्षणः पाप्माऽसंश्लेषधर्मित्वात्'प्राणस्य समीपस्थस्यापि दूरता मृत्योस्तस्माद्दूरित्येवं

त्वेनावतारयति—आहेति। नन्वत्र' प्राणो नोच्यते स्त्रीलिङ्गेनार्थान्तरोक्तिप्रतीतेरित्याशङ्क्याऽऽह—य प्राणमिति। 'तस्या'मूर्तस्य परोक्षत्वादपरोक्षवाची च कथमेतच्छब्दो 'युज्यते तत्राऽऽह—सैवेति। कथं प्राणे देवताशब्दो न हि तस्य तच्छब्दत्वं प्रसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—देवता चेति। 'यागे हि देवता कारकत्वेन 'गुणभूता प्रसिद्धा। तथा प्राणोऽपि द्रव्याद्यन्यत्वे सति विहित''क्रियागुणत्वाद्देवतेत्यर्थः'। ''प्राणोपास्तेर्द्विविधं फलं पापहानिर्देवताभावश्च तत्र पापहानेरेव प्रधानफलस्यात्र श्रवणाद्दूर्गुणविशिष्टप्राणोपास्तिरिह विवक्षितेति वाक्यार्थमाह—यस्मादिति। न तावत्प्राणदेवताया दूर्नामत्वं ''निरूढं तत्र तच्छब्दप्रसिद्धेरदर्शनान्नापि यौगिकं प्राणस्य ''प्रत्यग्वृत्तेर्दूरत्वाभावादित्याक्षिपति—कुतः पुनरिति। परिहरति—आहेति। कथं पाप्मसंनिधौ ''वर्तमानस्य ततो दूरत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—असश्लेषेति।

स्पर्श करने वाला अशुद्ध हो जाता है। ऐसी शङ्का होने पर श्रुति कहती है—प्राण शुद्ध ही है। क्यो शुद्ध है? वह यह देवता 'दूर्' नाम वाला है। जिस प्राण को प्राप्त होकर असुर ऐसे ही नष्ट हो गये, जैसे अश्मरूप-मृत्पिण्ड। उसे ही श्रुति "सा" अर्थात् वह कह कर सम्पादित करती है। यह वही है, जिसे देवताओ ने 'यह मुख के भीतर है'—ऐसा कह कर वर्तमान शरीर मे स्थित निर्धारित किया है। उपासना क्रिया के कर्मभाव से गुणयुक्त होने के कारण वह देवता भी है। जिस कारण से वह प्राण देवता "दूर् नाम" अर्थात दूर् इस प्रकार से विख्यात है। नाम शब्द ख्याति का पर्यायवाची है, अत 'दूर्' नाम होने से इसकी ख्याति भी प्रसिद्ध है। "दूर्" नाम क्यो पडा? इस पर कहते हैं—क्योकि इस प्राणदेवता से मृत्यु दूर ही रहती है—प्राण आसङ्गलक्षणात्मक पाप है (जल मे पद्म के समान) असंसर्गधर्मी है, पास होने भी इससे मृत्यु की दूरता है, इस कारण से 'दूर्' इस प्रकार की ख्याति ही प्राणो की विशुद्धि की ज्ञापिका है। दुर्गुणविशिष्ट प्राणो के जानने वाले का फल बतलाते हैं—इससे

---

१ प्राणदेवता। २ सकाशात। ३ जलपद्मवत्। ४ प्रकृतवाक्ये। ५ प्राणस्य। ६. अतिसूक्ष्मस्य। ७ प्राणे प्रयुज्यते। ८ याग हि देवतेत्यादिपङ्क्तिस्थले वार्तिकटीकायामित्थं पङक्ति तथाहि—यागादौ कर्तृनिरेकेण चेतनो गुणोऽग्न्यादिर्देवताप्रसिद्धा तथा प्राणस्याप्युपास्तिक्रियाया गुणत्वाद्देवतात्व न च तस्योक्तक्रियाया कर्मत्वान्न गुणतेति युक्तमिति वाच्यम् गुणशब्देन कारकस्य विवक्षितत्वात् तथा च प्राणस्य कर्तृनिरिक्तचेतनत्वे सति क्रियाया कारकत्वाद्देवतात्व युक्तमिति। अत्र न च तस्योक्तक्रियाया कर्मत्वान्न गुणतेत्यस्य मीमांसकै कर्मणो गुणत्वानभ्युपगमादित्याशय इत्यवधेयम्। ९ क्रियाया प्राधान्यात् देवताया गुणभूतत्व गौणत्वमित्यर्थः। १० कारकत्वात्। ११. ननु दध्यादिवत् फलविशेषसम्बन्धात् गुणविधिरेवाय न तु विशिष्टविधिरित्याशङ्कयाह—प्राणोपास्तिरित्यादि। १२ प्रसिद्धम्—अनादितात्पर्यवदिति यावत्। १३ शरीराभ्यन्तरवर्तमानादित्यर्थः। १४ पाप्मवति वागादौ वर्तमानस्य।

ख्यातिरेव प्राणस्य विशुद्धिज्ञापिका । 'विदुषः फलमुच्यते—दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति । "अस्मादेवंविदो' य एवं वेद तस्मादेवमिति प्रकृतं विशुद्धिगुणोपेतं प्राणमुपास्त इत्यर्थः । उपासनं नामो'पस्यार्थवादे यथा देवतादिस्वरूपं श्रुत्या ज्ञाप्यते तथा मनसोपगम्याऽऽसनं चिन्तनं लौकिक'प्रत्ययाव्यवधानेन, यावत्तद्देवतादिस्वरूपात्माभिमानाभिव्यक्तिरिति 'लौकिकात्माभिमानवत् । "देवो भूत्वा देवानप्येति" "किंदेवतो'ऽस्यां प्राच्यां दिश्यसि" इत्येवमादिश्रुतिभ्यः ॥९॥

सा वा एषा देवता दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवतीत्युक्तम् । कथ पुनरेवंविदो दूरं मृत्युर्भवतीति । उच्यते । "एवंवित्त्वविरोधात् । इन्द्रियविषयसंसर्गासङ्गजो हि पाप्मा

उपास्ते सदा भावयतीति यावत् । "ब्रह्मज्ञानादिव प्राणतत्त्वज्ञानात्फलसिद्धिसंभवे किं सदा तद्भावनयेत्याशङ्क्य भावनापर्यायोपासनशब्दार्थमाह—उपासन नामेति । "दीर्घकालादरनैरन्तर्यरूपविशेषणत्रयं विवक्षित्वाऽऽह—लौकिकेति । "तस्य मर्यादां "दर्शयति—यावदिति । मनुष्योऽहमितिवद्देवोऽहमिति यस्य जीवत एवाभिमानाभिव्यक्तिस्तस्यैव देहपाताद्ध्र्वं तद्भावः फलतीत्यत्र प्रमाणमाह—देवो भूत्वेति । का देवता रूपं तवेति किंदेवतोऽसीति तद्भावो" भातीत्यर्थ " ॥९॥

कण्डिकान्तरमवतार्य सूत्तं कोर्तयति—सा वा इति । नित्यानुष्ठानात्पापहानिर्धर्मात्पापक्षयश्रुतेः । न चेदमुपासनं "नित्यं "नैमित्तिकं वा देवतात्मत्वकामिनो विधानात्तत्कथं पापमेवविदो दूरे भवतीत्याक्षिपति—कथ पुनरिति । "विरोधिसंनिपाते पूर्वध्वंसमावश्यकं मन्वान. समाधत्ते—उच्यत इति । "उक्तमेव व्यनक्ति—इन्द्रियेति । इन्द्रियाणां विषयेषु ससर्गे योऽभिनिवेशस्तेन जनित पाप्मा परिच्छेदा-

मृत्यु दूर ही रहता है । 'अस्मात्' अर्थात् इस प्रकार जानने वाले के पास से यानी जो इसे इस प्रकार जानता है, उसके पास से, इस प्रकार जो विशुद्धिगुणविशिष्ट प्रकृतप्राण की उपासना करता है—यह निष्कर्ष हुआ । उपास्य-स्तावक वाक्यो मे श्रुति द्वारा देवता का जैसा जैसा स्वरूप बताया जाता है, वैसा वैसा मन मे निश्चय करके आसन अर्थात् लौकिक विजातीय-प्रत्यय के व्यवधान न आने देकर, जब तक उस देवतादि के स्वरूप मे वर्णादिविशिष्टदेहात्म-अभिमान की तरह आत्माभिमान उत्पन्न न हो, तब तक उसी का चिन्तन करना उपासना है । श्रुतियाँ भी इसी का दिग्दर्शन कराती है—"देवता होकर देवता मे समा जाता है", "इस पूर्व दिशा मे तुम किस (अधिष्ठातृ) देवता से युक्त होकर स्थित हो?" इत्यादि ॥९॥

१ दुर्गुणविशिष्टप्राणविद । २ सकाशात् । ३ उपास्यस्तावकवाक्य । ४ निश्चित्य । ५ विजातीयप्रत्ययेत्यर्थ । ६ वर्णादिविशिष्टदेहात्माभिमानवदित्यर्थ । ७ बृ० उ० ४ १ २ । ८ कयाधिष्ठातृदेवतया त्व प्राचीदिग्रूपेण सम्पन्नोऽसीति फलितार्थ । ९ बृ० उ० ३ ९ २० याज्ञवल्क्य प्रति शाकल्यस्येतिरियम् । १० अस्या का देवतेति प्रष्टव्येऽप्येव प्रश्नकरण तु मुनेर्दिगुपासनात्तत्तादात्म्यसम्पत्तिरिहैव जातेति बोधयितुम् । इहैव—इहजन्मनीत्यर्थ । ११ एवंवित्त्वविरोधादिति न हि नित्याद्यनुष्ठानादेव पापक्षयो नियतस्तीर्थस्नानादेरपि तत्प्रसिद्धेस्तस्मादेवंवित्त्वेन पाप्मनो विरोधित्वादेवंविद सकाशाद्दूरे भवत्यवासावित्यथ । १२ उपासनशब्दार्थं ज्ञान मत्वा शङ्कते ब्रह्मेत्यादिना । १३ दीर्घकालेत्यादि—दीर्घकालत्व फलपर्यन्तत्वम् आदर श्रद्धाभक्ती । नैरन्तर्यम्—अव्यवहितत्वम् । १४ चिन्तनस्य । १५ अवधिम् । १६ दिग्भाव । १७ उपासकस्येति शेष । १८ नित्य सन्ध्यावन्दनादि । १९ नैमित्तिक च श्राद्धजातकर्मादि । २० विरोधिसंनिपात इति—जलाग्न्यादिवद्विरोधिनो पदार्थयो सामानाधिकरण्य सति पूर्वस्थित ध्वंसित्वैवापरमवतिष्ठत इत्यर्थ । २१ विरोधमेव ।

प्राणात्माभिमानिनो हि विरुध्यते । वागादिविशेषात्माभिमानहेतुत्वात्स्वाभाविकाज्ञानहेतुत्वाच्च । शास्त्रजनितो हि प्राणात्माभिमानस्तस्मादेवंविदः पाप्मा दूरं भवतीति युक्तं विरोधात्तदेतत्प्रदर्शयति—

भिमानोऽपरिच्छिन्ने प्राणात्मन्यात्माभिमानवतो विरुध्यते परिच्छेदापरिच्छेदयोर्विरोधस्य प्रसिद्धत्वादित्यर्थः । विरोधं साधयति—वागादीति । पाप्मनो वागादिविशेषवत्यात्मनि विशिष्टेऽभिमानहेतुत्वाद्वाधिदैविकापरिच्छिन्नाभिमाने ध्वंसो युज्यते । दृश्यते हि चण्डालभाण्डायतस्थितो जलस्य गङ्गाद्यविशेषभावापत्तावपेयत्वनिवृत्तिः ।

"अशुच्यपि पयः प्राप्य गङ्गां याति पवित्रताम्"

इति न्यायादित्यर्थः । यन्नैसर्गिकाज्ञानजन्यं तदागन्तुकप्रमाणज्ञानेन निवर्तते यथा रज्जुसर्पादिज्ञानं नैसर्गिकाज्ञानजन्यश्च पाप्मा तेन प्रामाणिकप्राणविज्ञानेन तद्ध्वस्तिरित्याह—स्वाभाविकेति । नन्वभिमानयोर्विरोधाविशेषाद्बाध्यबाधकत्वव्यवस्थायोगाद्द्वयोरपि मिथो बाधः स्यात्तत्राऽऽह—शास्त्रजनितो हीति । उक्तमेव पापध्वंसरूपं विद्याफलं प्रपञ्चयितुमुत्तरवाक्यमित्याह—तदेतदिति ।

"वह यह देवता है, मृत्यु उसके पास नहीं जाती" यह कहा । इस प्रकार जानने वाले के पास से मृत्यु क्यों दूर रहती है ? इस पर कहते हैं । क्योंकि इस प्रकार जानने वाले से पाप का विरोध होने के कारण मृत्यु दूर ही रहती है । इन्द्रियों के विषयों के संसर्ग से होने वाली आसक्ति ही पाप है, उस पापरूपा मृत्यु के कारण मृत्यु से प्राणात्माभिमानी का विरोध है, क्योंकि वह वागादि से उपहित आत्माभिमान का हेतु है, और शास्त्रानाधय अज्ञान में कारण है । प्राणात्माभिमान शास्त्रजनित है । इसलिए ऐसे ज्ञाता से पाप का विरोध होने के कारण इस प्रकार जानने वाले के पास में पाप दूर ही रहता है । यह कहना ठीक है । इसी (पापध्वंसरूपा विद्या के फल) को श्रुति दिखाती है—

१ पाप्मन इति शेषः । २ विरोधादिति—एवंवित्त्वे सह पाप्मनो विरोधादित्यर्थः । अपरिच्छेदस्य शास्त्रसमर्पितत्वेन बलवत्त्वाद्बाधकत्वं परिच्छेदस्य तु स्वाभाविकत्वेन दुर्बलत्वाद्बाध्यत्वमिति युक्तैव व्यवस्था । ३ एतदिति—यथोक्तं पापध्वंसरूपं विद्याफलमित्यर्थः । ४ विदुषः । ५ उपपादयति । ६ वागादीत्यादि—वागादिरूपं आध्यात्मिकं परिच्छिन्नं पदार्थो विशेषः तत्तादात्म्याभिमानवति पुरुष इत्यर्थः । ७ विशिष्टाभिमानेति पाठान्तरम् । ८ जाते सतीति शेषः । ९ संभवति । १० अभेदभावापत्तावित्यर्थः । ११ अपेयत्वनिवृत्तिरिति—चाण्डालभाण्डस्थजलस्थानीयस्य देहस्योपासकस्य गङ्गास्थानीयदेवभावापत्तावपेयत्वस्थानीयस्य पाप्मनो निवृत्तिर्भवतीति दार्ष्टान्तिके योज्यम् । १२ अनाद्यज्ञानजन्यं रजतादिज्ञानम् । १३ आगन्तुकम्—जन्यम् । १४. सुप्तोपमुप्तन्यायेनेति भावः ।

ॐ श्रीकैलासविद्याप्रकाशकक्रोडपत्राणि ।

*एवंविद पाप्मा दूरं भवतीति युक्तमिति—ननु प्राणस्य पाप्मा सम्बन्धे तदभिमानिनस्तदात्मत्वादपि पाप्मा दूरं भवतीति युक्तमुक्तं स्यात्तदापि प्राणस्य पाप्मा सम्बन्धः सिद्धः प्राणत्वादितरप्राणवत्तत्सम्बन्धानुमानादित्याशङ्क्य समादधुर्वार्त्तिकाचार्याः —"परिस्पन्दात्मिका वृत्तिः श्रोत्रादिष्वपि विद्यते । प्राणस्याथेन्द्रियाणां तु शब्दाद्यर्थावलेहिनी ॥ शब्दादिग्राहिणी वृत्तिः स्वैरासङ्गात्मपाप्मभिः । दूषिता न परिस्पन्दो दूरं मृत्युरसौ ततः इति" ॥२१६-१७॥ प्राणस्य चलनरूपा वृत्तिरपरिच्छिन्ना सर्वदेहव्यापिनीति न दूषितेत्यर्थः । प्राणान्तरवृत्तिरपि तथैवेत्याशङ्कते—अथेति । तुशब्देन शङ्कां व्यावर्तयन्नाह—इन्द्रियाणां त्विति । वागादीनां शब्दादिग्राहिणी वृत्तिस्तन्मात्रं गोचरयति । न हि वाचा दर्शनं चक्षुषा वा वदनं तथा च परिच्छिन्नैव तद्वृत्तिरित्यर्थः । तथापि पाप्मस्पर्शास्पर्शयोरभयत्र

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहृत्य यत्राऽऽसां दिशामन्तस्तद्गमयांचकार तदासां पाप्मनो विन्यदधात्तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ॥१०॥

उस इस प्राण देवता ने इन वागादि देवताओ के पापरूप मृत्यु (स्वाभाविक अज्ञान से प्रेरित विषयससर्गजनित ममता) को हटा कर जहाँ इन दिशाओ का अन्त हो जाता है, वहाँ पहुचा दिया । वहाँ इन देवताओ के पाप को मुख्य प्राण ने तिरस्कारपूर्वक निहित कर दिया । अत "मैं पापरूप मृत्यु से युक्त न होऊँ" इस भय से अन्य जना के ससर्ग मे न जाय और अन्त दिशा मे भी न जावे । (श्रौत विज्ञानवान् पुरुषो की सीमापर्यन्त ही दिशाओ की कल्पना की है, उनसे विरुद्ध आचरण वाले लोगो से बसा हुआ देश ही दिशाओ का अन्त है) ॥१०॥

¹सा वा एषा देवतेत्युक्तार्थम् । एतासा वागादीना देवताना पाप्मानं मृत्यु स्वाभाविकाज्ञानप्रयुक्तेन्द्रियविषयसंसर्गासङ्गजनितेन हि पाप्मना सर्वो म्रियते ²स ह्यतो³ मृत्युस्तं ⁴प्राणात्माभिमानरूपाभ्यो देवताभ्यो⁵ऽपच्छिद्यापहृत्य ⁶प्राणात्माभिमानमात्रतयैव प्राणोऽ-

मृत्युम॑पहृत्य यत्राऽऽसां दिशामन्तस्तद्गमयाचकारेति सबन्ध । कथ पाप्मा मृत्युरुच्यते तत्राऽऽह—स्वाभाविकेति । अपहृत्येत्यत्र पूर्ववदन्वय । प्राणदेवता चेत्पाप्मान हन्ति सदव किं न हन्यादित्याशङ्क्याऽऽह—प्राणात्मेति । भवतु प्राणो वागादीनां पाप्मनोऽपहन्ता ⁸विद्रुषस्तु किमायातमित्या-

"सा वा एषा देवता" इस मन्त्र का अर्थ कह चुके हैं। इन वाक् आदि देवताओ के 'पाप्मान मृत्युम्' अर्थात् शास्त्रानाधेय अज्ञान से प्रयुक्त इन्द्रियो के विषय के ससर्गरूप अभिनिवेश से होने वाले पाप से ही सारे प्राणी मरते है। इसलिए (मृत्युप्रयोजक होने से) वही मृत्यु है। प्राण मे आत्माभिमान है जिनका, ऐसे रूप वाले देवताओ क पास से 'अपहृत्य' अर्थात अलग करके, प्राण मे अपनी आत्म-

१ सा—या प्राप्यासुरालोष्टवद्विनेशु । एषा-अयमास्यऽन्तरिति देवैरुपलब्धा देवतैवेत्युक्तोऽर्थ । २ पाप्मा । ३ मृत्युप्रयोजकत्वात् । ४ प्राणात्माभिमानरूपाभ्य इति प्राणे आत्माभिमानो यासां तद्रूपाभ्य इति बहुव्रीहि । ५ सकाशात् । ६ प्राणात्माभिमानमात्रतयैवेति-अभिमान एवेत्यभिमानमात्र प्राणे आत्माभिमानमात्र यस्य तत्सम्बन्धीति यावत् स प्राणात्माभिमानमात्र प्राण तस्य भावस्तत्ता तयैव स्वस्मिन्नात्मत्वाभिमानविषयतयैवेत्यर्थ । न तूक्ताभिमानाविषयतयेत्येवकारार्थ । ७ अपसार्य । ८ विदुष इत्यादि उपासकस्योपासनया किं फल लब्धमित्यर्थ ।

तुल्यतेत्याशङ्क्य परिच्छेदस्य पाप्मफलत्वात्तद्दूषिता परिच्छिन्ना वागादिवृत्तिरित्याह—स्वैरिति । धर्मफलत्वादपरिच्छेदस्य प्राणवृत्तिरपरिच्छिन्ना न पाप्मदूषितेत्याह-नेति । एवमनुमानासभवे प्राणस्य पाप्मसबन्धाभाव फलितमाह—दूरमिति । पापासम्बन्ध प्राणस्योक्त्वा तद्विदोऽपि तन्निगमयति—'मृत्युर्दूर यथा प्राणात् तदात्मत्वात्तथाऽसुर । तद्विदश्च भवेन्मृत्युर्दूरमित्युपदिश्यत इति' ॥२१८॥ पूर्वोक्तन्यायाद्यथा प्राणादासङ्गरूपो मृत्युर्दूरे भवति तथा तद्विदोऽप्यसौ दूरे स्याद्विदुषस्सदा तद्भावनया तदात्मत्वादतो दूरमित्यादिफलोक्तिरविरुद्धेत्यथ । तदेतत्सवमभिप्रेत्याहुर्भगवत्पादा विरोधादिति—एवंवित्त्वेन मह पाप्मनो विरोधादित्यथ ।

पहन्तेत्युच्यते ।[1]विरोधादेव तु पाप्मैवंविदो दूरंगमो भवति । किं पुनश्चकार देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्येति, उच्यते—यत्र यस्मिन्नासां प्राच्यादीनां दिशामन्तोऽवसानं तत्तत्र गमयांचकार गमनं कृतवानित्येतत् ।

ननु नास्ति दिशामन्तः कथमन्तं गमितवानिति । उच्यते—श्रौतविज्ञानवज्जनावधिनिमित्तकल्पितत्वाद्दिशां तद्विरोधिजनाध्युषित एव देशो दिशामन्तो देशान्तोऽरण्यमिति[2]यद्वदित्यदोषः । तत्तत्र[3] गमयित्वाऽऽसां देवतानां पाप्मन इति द्वितीयाबहुवचनं विन्यदधा-

शङ्कमाऽऽह—विरोधादेवेति ।

[4]अनन्ताकाशदेशत्वाद्दिशामन्ताभावाद्यत्राऽऽसामित्याद्ययुक्तमिति शङ्कते—नन्विति । [5]शास्त्रीयज्ञानकर्मसंस्कृतो जनो मध्यदेश. [6]प्रसिद्धस्यापि [7]तदधिष्ठितत्वेन मध्यदेशत्वा[8]त्तत्राप्यन्त्यजाधिष्ठितदेशस्य पापीयस्त्वस्वीकाराद[9]तस्त जन तदधिष्ठित च [10]देशमवधिं कृत्वा [11]तेनैव [12]निमित्तेन दिशां कल्पितत्वादानन्त्यशाभावात्पूर्वोक्तजनातिरिक्तजनस्य तदधिष्ठितदेशस्य चान्तत्वोक्तेर्मध्यदेशादन्यो देशो दिशामन्त इत्युक्ते न काचिदनुपपत्तिरिति परिहरति—उच्यत इति । किमित्यन्त्यजनेष्वित्य-

स्वाभिमानविषयता से यहाँ प्राण को अपहन्ता कहा है । इस प्रकार जानने वाले से पाप का विरोध होने के कारण ही पाप दूर भाग जाता है । देवताओं की पापरूप मृत्यु को उनसे अलग करके (प्राणदेवता ने) पुन क्या किया ? इस पर कहते हैं—'यत्र' अर्थात् जहाँ "आसाम्" अर्थात् पूर्वादि दिशाओं का "अन्त" अर्थात् अवसान है, "तत्" अर्थात् वहाँ "गमयाचकार" अर्थात् गमन करा दिया ।

यहाँ शङ्का होती है, जब दिशाओं का अन्त ही नहीं है, तो दिशाओं के अन्त में कैसे पहुँचा दिया ? इसका समाधान देते हैं—दिशाओं की कल्पना शास्त्रीय ज्ञान कर्म से संस्कृत पुरुष की अवधि-पर्यन्त की गयी है, तथा उनसे विरुद्ध असंस्कृत लोगों से बसा हुआ देश ही दिशाओं का अन्त है। जैसे 'नगर का अन्त अरण्य है', यह प्रयोग होता है—ऐसे ही यहाँ मानने में कोई दोष नहीं है । वहाँ यथोक्तदिशा के अन्त में (वहाँ के निवासी जनों में) देवताओं के पापों को पहुँचा कर 'विन्यदधात्' यानी विविध प्रकार से रख दिया । "पाप्मन" यह पद द्वितीया बहुवचनान्त है । अन्यथा-अनुपपत्ति

१ विरोधादेवेति-एवंवित्त्वेन पाप्मनो विरोधादेवेत्यर्थः । २ यद्वदिति-यथा देशान्तोऽरण्यमिति प्रयोग वृक्षसमुदायविशेषशून्यो भूभागो देशशब्देनोच्यते तथा दिशामन्त इति प्रयोगे शास्त्रीयज्ञानकर्मसंस्कृतजनलक्षणजनशून्यो देशो दिक्शब्दार्थः । इत्यदोष इति उक्तविवक्षया दिशामन्तस्यानुपपत्तिलक्षणो दोषो नेत्यर्थः । ३ तत्रेति—यथोक्तदिशामन्ते तत्स्यजने चेत्यर्थः । ४ अनन्त आकाशो देशोऽधिष्ठानमाश्रयो यासां तथात्वात् अनन्ताकाशदेशत्वादिति यावत् । ५ शास्त्रप्रसिद्धानिन्दिताचारसंस्कृतमना पुरुषः । ६ अनु आपातत पुण्यभूमि मध्य विन्ध्यहिमागयोरिति-प्रसिद्धमध्यदेशं विहायाप्रसिद्धस्य तस्य ग्रहे किं नियामकमित्याशङ्क्याह—प्रसिद्धस्यापीति । ७ प्रसिद्धस्यापि मध्यदेशस्य तादृशजनाधिष्ठितत्वेनैव मध्यदेशत्वात् इत्यर्थः । तथा चाक्तविशिष्टो जनो मध्यदेश तदधिष्ठितदेशस्तूपचारात्तथेति न मध्यदेशशब्दस्यानेकार्थताऽपीति भाव । ८ तत्रापीति—प्रसिद्धमध्यदेशेऽपीत्यर्थः । ९ अत —उक्तजनस्य तदधिष्ठितदेशस्य च मध्यदेशत्वादित्यर्थः । १० मर्यादीकृत्य । ११ तादृगवधिरूपेणैव । १२ तेनैव निमित्तेन दिशां कल्पितत्वादिति तृतीयाया अभेदार्थकत्वात् उक्तजनादिरूपमध्यदेशात्मवादभ्यभिन्नरूपाणामेव दिशां स्वीकारादिति यावत् ।

द्विविधं स्वाभावेनादधात्स्थापितवती [1]प्राणदेवता प्राणात्माभिमानशून्येष्वन्त्यजनेष्विति [2]सामर्थ्यादिन्द्रियसंसर्गजो हि स इति प्राण्याश्रयताऽवगम्यते । [3]तस्मात्तमन्त्यं जनं नेयान्न गच्छेत्संभाषणदर्शनादिभिर्न संसृजेत् । तत्संसर्गे पाप्मना संसर्गः कृतः स्यात्पाप्माश्रयो हि सः । तज्जननिवासं चान्तं दिगन्तशब्दवाच्यं नेयाज्जनशून्यमपि जनमपि तद्देशवियुक्तमित्यभिप्रायः । नेदिति [4]परिभयार्थे निपातः । इत्थं जनसंसर्गे पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति । अनु अव अयानीत्यनुगच्छेयमित्येवं भीतो न जनमन्तं चेयादिति पूर्वेण संबन्धः ॥१०॥

[5]धिकावापः क्रियते तत्राऽऽह—इति सामर्थ्यादिति । [6]देशमात्रे पाप्मावस्थानानुपपत्तेरित्यर्थः । तामेवानुपपत्तिं साधयति—इन्द्रियेति । भवतु यथोक्तो दिशामन्त[7]स्तथा [8]च पाप्मसंसर्गोऽस्तु तथाऽपि किमायातमित्याशङ्क्य तस्य शिष्टैस्त्याज्यत्वमित्याह—तस्मादिति । निषेधद्वयस्य तात्पर्यमाह—जनशून्यमपीति । प्राणोपास्तिप्रकरणे निषेधश्रुतेस्तदुपासकेनैवायं निषेधोऽनुष्ठेयो न सर्वैरित्याशङ्क्याऽऽह—नेदित्यादिना । [9]इत्थं श्रुत्युक्तं निषेधं न चेदहं कुर्यां ततः पाप्मानमनुगच्छेयं निषेधातिक्रमादिति सर्वस्य भयं जायते न प्राणोपासकस्यैव । [10]अत सर्वोऽपि पापाद्भीतो नोभयं गच्छेद्वाक्यं हि प्रकरणाद्बलवदित्यर्थः ॥१०॥

से यह भय प्रतीत होता है, कि उसे प्राणात्माभिमान-शून्य पापीजनो मे स्थापित कर दिया। वह पाप इन्द्रियो के संसर्ग से होता है, इसलिए उसकी प्राण्याश्रयता सिद्ध होती है। इसलिए उस पापी के पास न जाय, अर्थात् सम्भाषण और दर्शनादि से उनका सम्पर्क न करें। उनके संग करने से उसे पाप का संसर्ग हो जायगा, क्योकि वह पाप का आश्रय है। उन (पापियो) के निवास 'अन्तम्' अर्थात् दिगन्त शब्दवाची देश मे जनशून्य होने पर भी न जाय। पापी जनों के देश से अलग रहे, यह अभिप्राय है। "नेत्" यह अत्यन्त भय के अर्थ मे निपात है। इस प्रकार इन पापी जनो से सम्पर्क होने पर मृत्यु को प्राप्त होऊंगा। "अन्ववायानि" में 'अनु, अव, अयानि' इस प्रकार पदच्छेद है। इस प्रकार भयापन्न होने पर पापी के दिशान्त देशो मे न जाय। "इयात्" इस पूर्वस्थ क्रियापद से इसका सम्बन्ध है ॥१०॥

"सा वा एषा देवता" इस श्रुति से प्राण का आत्मत्वरूप से जो उपासनाभूत ज्ञान है तदात्मक जो कर्म, उसके फल रूप से वागादि देवता की अग्न्यादिरूपता का वर्णन किया जाता है। पापविमोक्ष के बाद कर्मभूत वागादि देवता ने पापरूप मृत्यु से पार कर दिया (अर्थात् स्वरूपबोध करा दिया)। वागादिदेवताप्रयोजक-पापरूप मृत्यु प्राणात्मज्ञान द्वारा नष्ट हो गया। इसीलिए वह प्राण पापरूप

१ पामरजनेषु । २ इति सामर्थ्यादिति—अयमर्थोऽन्यथानुपपत्त्याऽवगम्यत इत्यन्यथानुपपत्त्यर्थः । ३ तस्मादिति—यस्मात्तत्र वागादीनां पाप्मानं प्राणो व्यदधात्तस्मादित्यर्थः । ४ अत्यन्तभये । ५ अधिकस्यावापः प्रक्षेपः अध्याहार इति यावत् । ६ देशमात्र इत्यादिदेशस्य जडात्मत्वात् पापस्य च जडानाश्रितत्वाच्च देशमात्रस्थत्वसंभव इत्यनुपपत्तिसामर्थ्यादित्येवमधिकावाप इत्यर्थः । ७ तथैव । ८ तत्रेतिशेषः । ९ इत्थमित्यादि—श्रुत्युक्तं निषेधमित्थं श्रुत्युक्तानुसारेण यद्यहं न पालयेयमित्यर्थः । १० अत इति—निषेधस्य सामान्यविषयकत्वादित्यर्थः । तथा च वार्तिकम्—"सामान्यविषयश्चायं निषेधो नानविद्गतः । बलवत्प्रक्रियातो हि वाक्यं सामान्यमात्रगम् ॥" प्रकरणात् प्राणविद्विषये निषेधेऽवगम्यमाने कथं तस्मान्न जनमित्यादिवाक्यात्तस्य सामान्यविषयतेत्याशङ्क्य श्रुतिलिङ्गादिसूत्रे प्रकरणाद्वाक्यस्य बलवत्त्वनिश्चयादित्याह—बलवदिति ।

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमप-
हत्याथैना मृत्युमत्यवहत् ॥११॥
स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत
सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो
दीप्यते ॥१२॥

उस इस प्राण देवता ने इन वागादि देवताओं के पापरूप मृत्यु को नष्टकर पुनः इन्हें आध्यात्मिक परिच्छेदरूप मृत्यु के पार अपरिच्छिन्न आधिदैविक अग्न्यादि देवात्मभाव को प्राप्त करा दिया ॥११॥

उस प्रसिद्ध प्राण ने वाक् देवता को (आध्यात्मिक परिच्छेदरूप मृत्यु के) पार पहुँचा दिया। जब वाणी मृत्यु से पार हुई तब वह अग्नि हो गयी। वह यह अग्नि परिच्छिन्न मृत्यु से परे देदीप्यमान है ॥१२॥

सा वा एषा देवता, [१]तदेतत्[२]प्राणात्मज्ञानकर्मफलं वागादीनामग्न्याद्यात्मत्वमुच्यते। [३]अथैना मृत्युमत्यवहत्। यस्मादा[४]ध्यात्मिकपरिच्छेदकरः पाप्मा मृत्युः प्राणात्मविज्ञानेनापहतस्[५]तस्मात्स प्राणोऽपहन्ता पाप्मनो मृत्योः। तस्मात्स एव प्राण एना वागादिदेवताः प्रकृतं पाप्मानं मृत्युमतीत्यावहत्प्रापयत्स्वं स्वमपरिच्छिन्नमग्न्यादिदेवतात्मरूपम् ॥११॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्। स प्राणो वाचमेव प्रथमां प्रधानामित्येतत्।

द्विविधमुपास्तिफलं पापहानिर्देवताभावश्च। तत्र पापहानिमुपदिशता [६]प्रासङ्गिकः [७]साधारणो निषेधो दर्शितः। संप्रति देवताभावं वक्तुमुत्तरवाक्यमिति प्रतीकोपादानपूर्वकमाह—सा वा एषेति। अथशब्दावद्योतितमर्थं कथयति—यस्मादिति। पाप्मापहन्तृत्वमनूद्यावशिष्टं भागं व्याचष्टे—तस्मात्स एवेति ॥११॥

[८]सामान्योक्तमर्थं विशेषेण प्रपञ्चयति—स वै वाचमित्यादिना। कथं वाचः प्राथम्यं तदाह—

मृत्यु का नाश करने वाला है। इस कारण से उस प्राण ने ही वागादि देवताओं को प्रकृत पापरूप मृत्यु से पार कर इनके अपरिच्छिन्न अग्न्यादि देवतात्मस्वरूप को प्राप्त करा दिया ॥११॥

---

१ नन्वस्तु प्राणोपास्ते पापक्षयफलत्वम् अग्न्यादिदेवताप्राप्तिफलं तु न संभवति स्थितेषु नष्टेषु च वागादिषु तेषां देवत्वप्रापणे प्राणस्याशक्यत्वात् इत्याशङ्क्याह—तदेतदिति। २ प्राणेत्यादि—प्राणस्यात्मत्वेन यज्ज्ञानम् उपासनम् तदात्मकं यत्कर्म तस्य फलं स्थितेष्वेव तेषु वस्तुतो देवतात्मसु परिच्छेदाभिमानप्रतिबन्धध्वस्तिमात्रेण देवत्वप्रापणं प्राणस्य संभवतीत्येतदनन्तरग्रन्थेनोच्यते। ३ अथेत्यादि—पापविमोकानन्तरम्। एना—वागादिदेवता कर्मभूताः। मृत्युम्- पूर्वोक्तपाप्मरूपम्। अति—अतीत्य अवहत्—स्वरूपं प्रापितवती प्राणदेवतेत्यर्थः। ४ आध्यात्मिकेत्यादि आध्यात्मिका वागादिदेवता तासां परिच्छेदप्रयोजक इत्यर्थः। ५ तस्मात्—प्राणस्यैव यथोक्तमृत्य्वपहन्तृत्वादुपासितस्य सतः स्वात्मविज्ञानेन। ६ प्रासङ्गिक इति—प्रसङ्गादागत इत्यर्थः। प्रसङ्गश्च स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वम्। ७ उपासकानुपासकसाधारण। ८. पूर्ववाक्येनैव वागादीनामग्न्यादिभावस्योक्तत्वात् उत्तरवाक्यवैयर्थ्यमित्याशङ्क्यार्थभेदान्मैवमित्याह-सामान्येति। वागादिदेवता मृत्यु पाप्मानमतीत्य अग्न्यादिभाव प्राण. प्रापयति स्म इति सामान्येन तासां देवभावस्योक्तत्वात् वाचोऽग्नित्वं प्राणस्य वायुत्वमित्यादिविशेषणविशिष्टदेवतारूपता अनन्तरग्रन्थेन विव्रियत इत्यर्थः।

'अथ 'प्राणमत्यवहत्स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स
वायुरभवत्सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥१३॥

इसी प्रकार प्राण ने घ्राण को मृत्यु के पार पहुंचाया। वह जिस समय मृत्यु से पार हुआ, उस समय वायु हो गया। अतः वह अतिक्रान्त-वायु मृत्यु से पार होकर बहता है ॥१३॥

'उद्गीथकर्मणीतरकरणापेक्षया 'साधकतमत्वं प्राधान्यं तस्याः। तां प्रथमामत्यवहद्वहनं कृतवान्। तस्याः पुनर्मृत्युमतीत्योढायाः किं रूपमित्युच्यते—सा वाग्यदा यस्मिन्काले पाप्मानं मृत्युमत्यमुच्यतातीत्यामुच्यत 'मोचिता स्वयमेव तदा सोऽग्निरभवत्सा वाक्पूर्वमप्यग्निरेव सती मृत्युवियोगेऽप्यग्निरेवाभवत्। एतावांस्तु विशेषो मृत्युवियोगे। सोऽयमतिक्रान्तोऽग्निः परेण मृत्युं परस्तान्मृत्योर्दीप्यते। 'प्राङ्मोक्षान्मृत्युप्रतिवद्धोऽध्यात्म'वागात्मना' नेदानीमिव दीप्तिमानासीदिदानीं तु मृत्युं परेण दीप्यते मृत्युवियोगात् ॥१२॥

तथा प्राणो घ्राणो वायुरभवत्। स तु पवते मृत्युं परेणातिक्रान्तः। सर्वमन्यदुक्तार्थम् ॥१३॥

उद्गीथेति। वाचो मृत्युमतिक्रान्ताया रूपं प्रश्नपूर्वकं प्रदर्शयति—तस्या इति। अनग्नेरग्नित्वविरोधं धुनोते—सा वागिति। पूर्वमपि वाचोऽग्नित्वेनोपासनालम्यं "तदग्नित्वमित्याशङ्क्याऽऽह—एतावानिति। उक्तं विशेषं विशदयति—प्रागिति ॥१२॥

इस प्रसिद्ध प्राण ने प्रधान वाग्देवता को मृत्यु के पार पहुंचाया। उस प्रसिद्ध प्राण ने *"प्रथमाम्"* अर्थात् प्रधान वाक् को, स्वरूपबोध कराया। साम-उद्गानरूप उद्गीथ कर्म मे करणान्तर की अपेक्षा वाक् की अधिक प्रधानता है, क्योकि साधकतम-रूप से प्राण उद्गाता के अत्यन्त समीप है। उस प्रधान वाक् देवता का उसने अतिवहन किया। किन्तु मृत्यु को पार करके ले जायी जाती हुई (अग्निभाव-प्राप्ता) उस वाणी का क्या स्वरूप है ?—इस पर कहते है।—वह वाणी "यदा" अर्थात् जिस समय में, पापरूप मृत्यु को 'अत्यमुच्यत' अर्थात् लाध कर मुक्त हुई, प्राण द्वारा पापाभाव वाली कर दी गई; उस समय वह-अग्निभाव को प्राप्त हुई। पूर्व मे अग्निस्वरूप होती हुई वाणी मृत्यु के विरह मे भी अग्निस्वरूप हो गयी। "मृत्यु के वियोग होने-पर" इतनी ही यहां अधिकता है। वह यह (पाप का) निष्क्रमण करने वाला अग्नि "परेण मृत्युम्" अर्थात् मृत्यु से परे दीप्तिमान् होता है। मृत्यु के मुख से छूटने से पूर्व अध्यात्म-वाक् इन्द्रिय से तादात्म्य-मृत्यु से प्रतिबद्ध होने के कारण, वह इस समय के समान देदीप्यमान नही था। अब मृत्यु से वियुक्त होने से वह मृत्यु का अतिक्रमण करके प्रकाशित होता है ॥१२॥

---

१. पूर्ववाक्यात् स वै, इत्यनुवर्तनीयमिह। २ सामोद्गानरूपकर्मणीत्यर्थ। ३. साधकेति—औद्गात्रकर्मणि साधकतमत्वेन प्राणस्योद्गातुरत्यन्तसन्निहितत्वात् करणान्तरेभ्यो वाच प्राधान्यमित्यर्थः। ४. अग्निभाव प्राप्ताया इत्यर्थ। ५. मोचितेति—प्राणेन पापाभाववती कृतेत्यर्थ। ६. पापान्निष्क्रान्तः। ७ प्रागित्यादि—मृत्युमुखान्मोक्षणात्प्रागित्यर्थ। ८ वागत्रेन्द्रियम्। ९ तत्तादात्म्येनेत्यर्थः। १०. तदग्नित्वमिति तस्या वाचोऽग्नित्व तदग्नित्वमिति विग्राह्यम्।

अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत्सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति ॥१४॥

अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत दिशोऽभवꣳस्ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः ॥१५॥

अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत्सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भात्येवꣳ ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥१६॥

फिर उस प्राण ने चक्षु को मृत्यु से पार पहुचाया, जब चक्षु मृत्यु से पार हुआ तब वह आदित्य हो गया, क्योंकि वह यह परिच्छेद से अतिक्रान्त आदित्य मृत्यु से पार होकर तपता है ॥१४॥

फिर प्राण ने श्रोत्र को मृत्यु के पार पहुचाया, जब वह मृत्यु से पार हुआ तब वह दिशा हो गया, क्योंकि वे ये अतिक्रान्त दिशाएँ परिच्छेदरूप मृत्यु से परे हैं ॥१५॥

फिर प्राण ने मन को मृत्यु के पार पहुचाया, वह मन जिस समय मृत्यु से पार हुआ उस समय वह चन्द्रमा हो गया। वह यह अतिक्रान्त चन्द्रमा परिच्छेदरूप मृत्यु से परे प्रकाशित होता है। ऐसे ही यह देवता उस उपासक को मृत्यु के पार ले जाता है, जो कोई इसे इस प्रकार जानता है ॥१६॥

तथा चक्षुरादित्योऽभवत्स तु तपति ॥१४॥

तथा श्रोत्रं दिशोऽभवन्। दिशः प्राच्यादिविभागेनावस्थिताः ॥१५॥

मनश्चन्द्रमा भाति। यथा पूर्वयजमानं वागाद्यग्न्यादिभावेन मृत्युमत्यवहत्। एवमेनं वर्तमानयजमानमपि ह वा एषा प्राणदेवता मृत्युमतिवहति वागाद्यग्न्यादिभावे-

---

वागादीनामग्न्यादिदेवतात्वप्राप्तावुपासकस्य किमायातं न हि तदेव तस्य फलमित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति। देवतात्वप्रतिबन्धकान्पाप्मनः सर्वानपोह्योक्तयत्नेन वागादीनामुपासकोपाधिभूतानामग्न्यादिदेवताप्त्यैव सोऽपि सदा प्राणमात्मत्वेन ध्यायन्भावनाबलाद्वैराजं पदं पूर्वयजमानवदाप्नोतीति भावः। कस्येदं फलमित्याकाङ्क्षायामुपासकं विशिनष्टि—यो वागादीति। उक्तोपासनस्य प्रागुक्तं

उसी प्रकार 'प्राण यानी घ्राण वायु हो गया। वह मृत्यु का अतिक्रमण करके वहता है। अन्य सभी पदों का अर्थ कहा जा चुका है ॥१३॥

उसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय आदित्य हो गया, क्योंकि वह तपता है ॥१४॥

---

१ अग्न्याद्यात्मकवागादिविशिष्टं प्राणमात्मत्वेन वद प्राणोऽहमस्मीत्युपास्त इत्यर्थः। २ वागादीत्यादि—वागाद्यग्न्यादिरूपयजमानोपाधीनां देवभावप्रापणद्वारा मृत्युमतिक्रमय्य यजमानं वैराजं पदं प्राणात्म्यं प्रापितवती प्राणदेवतेत्यर्थः। ३ निरस्य। ४ रीत्या। ५ वर्तमानयजमानोऽपि।

अथाऽऽत्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किंचान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥१७॥

फिर उस प्राण ने अपने लिये खाने योग्य भक्ष्य का आगान किया, क्योंकि जो भी कुछ अन्न खाया जाता है, वह प्राण के द्वारा ही खाया जाता है। इसीलिये उस अन्न में प्राण प्रतिष्ठित होता है ॥१७॥

नैवं यो वागादिपञ्चकविशिष्टं प्राणं वेद। "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति श्रुतेः ॥१६॥

अथाऽऽत्मने। यथा वागादिभिरात्मार्थमागानं कृतं तथा मुख्योऽपि प्राणः सर्वप्राणसाधारणं प्राजापत्यफलमागानं कृत्वा त्रिषु पवमानेष्वथानन्तरं शिष्टेषु नवसु स्तोत्रेष्वात्मन आत्मार्थमन्नाद्यमन्नं च तदाद्यं चान्नाद्यमागायत्। कर्तुः कामसंयोगो

फल"मनुगुणमित्यत्र मानमाह—त यथेति ॥१६॥

उपास्यस्य प्राणस्य कार्यकरणसंघातस्य विधारकत्वं नाम गुणान्तरं वक्तुमुत्तरं वाक्यं तदादाय व्याकरोति—अथेत्यादिना। कथमुद्गातुर्विक्रीतस्य फलसंबन्धस्तत्राऽऽह—कर्तुरिति। "अन्नागानमात्वि-

---

इसी प्रकार श्रोत्र, दिशा हो गया। दिशाएँ पूर्वादि विभाग से अवस्थित हैं ॥१५॥

मन चन्द्रमा होकर भासित होता है। जिस प्रकार प्राणदेवता ने वागादिरूप यजमान की उपाधियों को देवभावप्राप्ति द्वारा, अग्न्यादिभाव से मृत्यु का अतिक्रमण किया था, उसी प्रकार यह प्राणदेवता इस वर्तमान यजमान को भी, वागाद्यग्न्यादिभाव द्वारा मृत्यु से पार करा देता है। (वागादिकों का, प्रधानरूप से अनुपास्य होने पर भी प्राणशेषरूप से उपास्यत्व होना कहा है, उनका सर्वथा अनुपास्यत्वरूप सिद्ध नहीं है) जो प्राण को इस प्रकार वागादि-पञ्चदेव विशिष्ट जानता है। उसके लिए श्रुति कहती है—"उसकी जो जिस रूप से उपासना करता है, तद्रूप हो जाता है" ॥१६॥

फिर उसने अपने लिए (अन्नाद्य का आगान) किया। जैसे वागादिकों द्वारा अपने लिए गान किया गया, उसी प्रकार मुख्य प्राण ने भी तीन पवमानों में अविशेष, सर्व प्राणों के उपकारक वागादि-

---

१. प्राणेनैवाद्यते सर्वमन्नमित्यवधारणमयुक्तं वागादीनामप्यन्ननिमित्तोपकारदर्शनादिति चोद्यं दूषयति—इह प्रतितिष्ठतीति। इह—प्राणे अन्नं प्रतितिष्ठतीत्यर्थः। तदुक्तम् वार्त्तिके—"असावन्नं स्थितं यस्मादिह प्राणानवत्यतः। यस्माच्छ्रुतिरतो वक्ति त्विहान्नं प्रतितिष्ठतीति।" असौ ब्रह्मशब्दार्थे प्राणे स्थितं सत् यस्मात् देहम्—स्थूलमन्नमयम् इतरांश्च प्राणानवति पालयति अन्नम्। तस्मादिहेत्याद्या श्रुतिः अन्नप्राणे प्रतिष्ठितमिति तात्पर्येण वक्ति। अतो वागादीनां प्राणसम्बन्ध्यन्नाधीनस्थितिकत्वादवधारणमित्यर्थो वार्त्तिकानुसारी ॥ २ अनेन वागादीनां प्राधान्येनानुपास्यत्वेऽपि प्राणशेषतयोपास्यत्वमुक्तम् न सर्वथानुपास्यत्वं तेषाम्। ३. तस्येदं फलं भवतीति शेषः। ४ तम्—आत्मानम्। ५. अविशेषेण सर्वप्राणोपकारकम्। ६ प्राजापत्येत्यादि—वागाद्युपहितस्य यजमानस्याभ्युदयार्थमित्यर्थः। ७. अन्नं हि सिद्धासिद्धसाधारणम्। आद्यं तु अत्तुमर्हं सिद्धमेवौदनादीति न पौनरुक्त्यमित्यभिप्रेत्य विगृह्यते। ८ आगानेन समपादयदित्यर्थः। ९. कामः फलम् तेन सम्बन्धः। १० अनुरूपम्। ११ न केवलं प्रजापतिशरीरे प्राणस्यान्नस्वीकारे श्रुतिरेव मानम् किन्तु तत्कार्यभूतप्राणिष्वन्नस्वीकारदर्शनात् कारणेऽपि तदनुमेयम् कारणानुसारित्वात्कार्यस्येत्यभिप्रायेण भाष्यमवतारयति—अन्नागानमिति।

'वाचनिक इत्युक्तम् । कथं पुनस्तदन्नाद्यं प्राणेनाऽऽत्मार्थमागीतमिति गम्यत इत्यत्र हेतुमाह । यत्किचेति 'सामान्यान्नमात्रपरामर्शार्थः । हीति हेतौ । यस्माल्लोके प्राणिभिर्यत्किचिदन्नमद्यते भक्ष्यते तदनेनैव प्राणेनैव । अन इति प्राणस्याऽऽख्या प्रसिद्धा । अनःशब्दः सान्तः शकटवाची, यस्त्वन्यः स्वरान्तः स प्राणपर्यायः । प्राणेनैव तदद्यत इत्यर्थः । किंच न केवलं प्राणेनाद्यत एवान्नाद्यं 'तस्मिञ्छरीराकारपरिणतेऽन्नाद्य इह प्रतितिष्ठति प्राणस्तस्मात्प्राणेनाऽऽत्मनः प्रतिष्ठार्थमागीतमन्नाद्यम् । यदपि 'प्राणेनान्नादनं तदपि 'प्राणस्य प्रतिष्ठार्थमेवेति न वागादिष्विव कल्याणासङ्गजपाप्मसंभवः प्राणेऽस्ति ॥१७॥

ज्यमित्यत्र प्रश्नपूर्वकं वाक्यशेषमनुकूलयति—कथमित्यादिना । तमेव हेतुमाह—यस्मादिति । प्राणेनैव तदद्यत इति संबन्धः । यस्मादित्यस्य तस्मादित्यादिभाष्येणान्वयः । अनितेर्धातोरनशब्दश्चेत्प्राणपर्यायस्तर्हि कथं शकटे तच्छब्दप्रयोगस्तत्राऽऽह—अन.शब्द इति । इतश्च प्राणस्य स्वार्थमन्नागानं युक्तमित्याह—किंचेति । प्राणेन वागादिवदात्मार्थमन्नमागीतं चेत्तर्हि तस्यापि पाप्मवेधः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—यदपीति । इहान्ने देहाकारपरिणते प्राणस्तिष्ठति तदनुसारिणश्च वागादयः स्थितिभाजोऽतः स्थित्यर्थं प्राणस्यान्नमिति न पाप्मवेधस्तस्मिन्नस्तीत्यर्थः ॥१७॥

उपहिन यजमान के अभ्युदय के लिए गान कर, इसके बाद अवशिष्ट नो स्तोत्रो मे अपनी आत्मा के लिए अन्नाद्य का गान किया । अन्नाद्य उसे कहते हैं, जो अन्न हो और आद्य यानी भक्षण करने योग्य हो (इससे पुनरुक्ति दोष नही है) । उदगानकर्ता को जो फल से सम्बन्ध है; वह ("आत्मनेऽन्नाद्यमागायेदिति" बृ उ १ ३ २८) यह वक्ष्यमाणवचन कहा । किन्तु यह कैसे समझें, कि प्राण ने उस अन्नाद्य को अपने लिये आगान द्वारा सम्पादित किया । इसमे हेतु कथन के लिए श्रुति को प्रस्तुत करते हैं—"यत् किंच" यह शब्दसमुदाय अद्यमान-वस्तुसामान्य के परामर्श के लिये है । "हि" यह हेतु-अर्थ मे निपात है । क्योकि ससार मे प्राणियो द्वारा सामान्यरूप से जो अन्न सेवन किया जाता है; वह 'अनेनैव' अर्थात् प्राण के द्वारा ही खाया जाता है । "अन" यह प्राण का नाम प्रसिद्ध है । एक दूसरा शब्द 'अनस्' सकारान्त भी है, जो शकटवाची है, और यह जो दूसरा अकारान्त है, वह "अन" शब्द प्राण का पर्यायवाचक है । अर्थात् प्राण से ही खाया जाता है । एक बात और भी है— भोज्य अन्न प्राण से केवल खाया ही नही जाता, अपितु उस अन्नाद्य के शरीराकार परिणत होने पर उसमे ही प्राण विराजित होता है । इसलिए अपने विराजने के लिये प्राण ने अन्नाद्य का गान किया । मुख्य प्राण के द्वारा जिस किसी अन्न का भक्षण होता है, वह गोणमुख्यसाधारण प्राणप्रतिष्ठा के लिए होता है । अत. वागादिको के समान प्राण मे कल्याण आसङ्गजनित पाप होना सम्भव नही है ॥१७॥

'वे देवगण' (बाने) । शका होती है कि यह जो निश्चय किया है कि अन्न प्राण के द्वारा खाया जाता है—यह कहना ठीक नही है । क्योकि वागादिको मे अन्न से होने वाला उपकार देखा जाता है । शका का समाधान करते है— इसमे कोई दोष नही है । क्योकि उस उपकार का श्रीगणेश तो प्राण के

१ बृ०उ० १ ३ २८ । "आत्मनेऽन्नाद्यमागायदिति" वक्ष्यमाणवचनप्रमाणम् । २ आगानेन सम्पादितम् । ३ शब्दसमुदाय । ४. अद्यमानवस्तुसामान्येत्यर्थ । ५. सामान्यतोऽन्नमात्रम् । ६ इहेत्यस्य व्याख्यानमेतत् । ७ मुख्येन । ८. गौणमुख्यसाधारणस्य । ९. सवादयति । १० अत इति अन्नमये देहे वागादिस्थित. प्राणस्थित्यधीनत्वादित्यर्थ । ११. स्थित्यर्थम्—स्वपरस्थित्यर्थम् ।

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इद॰ सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति ते वै माऽभिसंविशतेति तथेति त॰ समन्तं परिण्यविशन्त। तस्मा-

वे वागादि देवगण बोले—यह जो अन्न है, वह सब तो इतना ही है, उसे तूने अपने लिये आगान कर लिया है। इसलिए अब हमे भी इस अन्न मे साझीदार बनाओ। प्राण ने कहा, वे तुम लोग सभी ओर से मुझमे प्रवेश कर जाओ, तब "तथास्तु" कह कर वे वागादि सभी ओर से उस प्राण

ते देवाः। नन्ववधारणमयुक्तं प्राणेनैव तदद्यत इति। वागादीनामप्यन्ननिमित्तोपकारदर्शनात्। नैष दोषः। प्राणद्वारत्वात्तदुपकारस्य। कथं प्राणद्वारकोऽन्नकृतो वागादीनामुपकार इत्येतमर्थं[1] प्रदर्शयन्नाह—ते वागादयो देवाः स्वविषयद्योतनाद्देवा अब्रुवन्नुक्तवन्तो मुख्य प्राणमिदमेतावन्नातोऽधिकमस्ति। वा इति स्मरणार्थः। इदं तत्सर्वमेतावदेव[2], किं, यदन्नं [3]प्राणस्थितिकरमद्यते लोके तत्सर्वमात्मन आत्मार्थमागासीरा-

[4]'भर्ता श्रेष्ठः पुरो गन्ते'त्यादिगुणविधानार्थं वाक्यान्तरमादत्ते—ते देवा इति। तस्य विवक्षितमर्थं वक्तुमादावाक्षिपति—नन्विति। अयुक्तत्वे हेतुमाह—वागादीनामिति। अवधारणानुपपत्तिं दूषयति—नैष दोष इति। यथा प्राणस्योपकारोऽन्नकृतो न वागादिद्वारकस्तथा तेषामपि नासौ प्राणद्वारको [5]विशेषाभावादिति शङ्कते—कथमिति। वाक्येन परिहरति—एतमर्थमिति। आह [6]विशेषमिति शेषः। तेषां देवत्वं साधयति—स्वविषयेति। [7]तत्र प्रसिद्धिं प्रमाणयितुं वैशब्द इत्याह—वा इति स्मरणार्थं इति। [8]तत्प्रसिद्धस्यार्थस्येति शेषः। वाक्यार्थमाह—इदं तदिति। एतावत्त्वमेव व्याचष्टे—तत्सर्वमिति।

द्वारा होता है। अन्न के कारण किया गया वागादिको का उपकार प्राणद्वारक कैसे है? इसी अर्थ को बतलाने के लिए श्रुति कहती है—वे वागादि देवता मुख्यप्राण से बोले, 'यह तो इतना ही अन्न है, इससे अधिक नही है।' देव नाम क्यो पडा? क्योकि वे अपने विषय का द्योतन यानी प्रकाशन करते है इसलिए देवता है। यहा 'वा' यह निपात स्मरणार्थक है। यह जो सब कुछ है, वह इतना ही है। वह क्या? लोक मे देह की स्थिति का द्वार, जो भी अन्न भक्षण किया जाता है उस सबका तुमने 'आत्मन' अर्थात् आत्मा के लिये "आगासी" अर्थात् आगान कर लिया। आगान के द्वारा आत्मसात् कर लिया, यह भाव है। लौकिक न्याय के अनुसार हम अन्न के बिना जी नही सकते। इस कारण 'अनु' अर्थात् बाद मे

१ एतमर्थमिति—वागादीनामन्ननिमित्तोपकारस्य प्राणद्वारकत्वरूपमर्थमित्यर्थः। २ एतावदेवेति वार्तिकम्—"जग्धमन्नं यतो देहलिङ्गभावेन याति न। परिणाम व्रजत्तस्मादेतावदिति भण्यते॥" भुक्तमन्नं कालादिना परिपाकं गच्छद्देहद्वयस्य स्थापकत्वेन तिष्ठति ततो देहद्व॰स्थितिकरमेवान्नं नान्यदस्तीत्यर्थः। ३ देहस्थितिद्वारेति शेषः। ४ ननु विधिप्रभेदस्य प्रागेवोक्तत्वात् किमुत्तरग्रन्थेनेत्याशङ्क्याह—भर्तेति। तथा च वार्तिकम्—'भर्ता श्रेष्ठः पुरोगन्ता ह्यन्नादोऽधिपतिस्तथा। इत्यादिगुणविध्यर्थं परो ग्रन्थोऽवतार्यते" इति॥ अत्र विधिप्रभेदेति—गुणप्रधानविधीत्यर्थः। अथ गुणविधिर्नेम प्रत्येकं तत्फलश्रुतं। एकैकस्मिन् गुणे विध्यनुकूलस्य प्रधानफलातिरिक्तस्य फलस्य दध्यादाविव श्रवणादिति हेत्वर्थः। दध्यादाविति। दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यादाविवेत्यर्थः। ५ नियामकाभावात्। ६ नियामकम्। ७ अन्नाधिक्याभावे। ८ लोकप्रसिद्धस्यार्थस्य स्मरणार्थं।

द्यदनेनान्नमत्ति' तेनैतास्तृप्यन्त्येव७ ह वा एन७ स्वा
अभिसंविशन्ति भर्ता स्वाना७ श्रेष्ठः पुर एता भवत्य-
न्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद य उ हैवंविद७ स्वेषु प्रति

मे प्रवेश कर गये। अतः प्राण के द्वारा यह जीव जो भी अन्न खाता है, उससे ये वागादि प्राण भी तृप्त हो जाते हैं। जो इस प्रकार जानता है, उसका आश्रय सम्बन्धी-जन सभी ओर से ग्रहण करते हैं, वह स्वजनो का भर्ता, उनमे श्रेष्ठ और उनके आगे चलने वाला हो जाता है। तथा अन्न

गीतवानस्यागानेना'ऽऽत्मसात्कृतमित्यर्थः । 'वयं चान्नमन्तरेण स्थातुं 'नोत्सहामहे। 'अतोऽनु पश्चान्नो'ऽस्मानस्मिन्नन्न आत्मार्थे तवान्न आभजस्वा'ऽऽभाजयस्व। णिचोऽश्रवणं छान्दसम्। अस्मांश्चान्नभागिनः कुरु। 'इतर आह—ते यूयं यद्यन्नार्थिनो वै' मा मामभि-संविशत "समन्ततो"मामाभिमुख्येन "निविशतेत्येवमुक्तवति प्राणे तथेत्येवमिति तं प्राणं परिसमन्तं परिसमन्तान्न्यविशन्त निश्चयेनाविशन्त तं प्राणं परिवेष्ट्य निविष्टवन्त

"किमिदं प्राणार्थमन्नागानं नाम तदाह—आगानेनेति। का पुनरे"तावता भवता क्षतिस्तत्राऽऽह—वयं चेति। अन्नमन्तरेण ममापि स्थातुमशक्तेर्मदर्थं तदागीतमिति चेत्तत्राऽऽह—अत इति। आभजस्वेति श्रूयमाणे कथमन्यथा व्याख्यायते तत्राऽऽह—णिच इति। "तत्रवान्नस्वामित्वमस्माकमपि तत्र प्रवेशमात्रं स्थित्यर्थमपेक्षितमिति वाक्यार्थमाह—अस्माश्चेति। वैशब्दो यद्यर्थे प्रयुक्त। प्राणं परिवेष्ट्य तदनुज्ञया

"नो" अर्थात हम भूखा को "अस्मिन्नन्न" यानी अपने इस अन्न मे से 'आभजस्व" अर्थात् हमे भी हिस्सेदार बनाओ। 'आभजस्व" (इसका अर्थ णिचपरक है) छान्दस प्रयोग होने के कारण इसमे णिच् का श्रवण नही होता। अत हमे भी अन्न म भागीदार करो। उनके द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर मुख्यप्राण ने कहा—"ते" अर्थात् आप जो अन्नाभिलाषी हो, "वै" अर्थात् तो 'मा' अर्थात् मुझमे 'अभिसंविशत' सब ओर से तादात्म्य भाव से मेरी आज्ञा द्वारा मुझसे एकता प्राप्त करो। इस प्रकार प्राण के कहे जाने पर "तथेति" अर्थात् ऐसा ही हो, "तम्" अर्थात् प्राण मे 'परिसमन्तम्' अर्थात् चारो ओर से घेर कर प्रविष्ट हो गये। प्राण मे आश्रयभाव मे अवस्थित प्राण की आज्ञा से उन सबके प्राण द्वारा जो कुछ खाया जाता है, वह अन्न प्राण की स्थिति करने के साथ तृप्तिकारक भी है। वागादि का (प्राण की सहायता के बिना) स्वतन्त्ररूप से अन्न के साथ सम्बन्ध नही होता। स्वतन्त्ररूप से अन्न मे

---

१ लोक। २ आत्मसात्कृतमिति। अतस्त्वय्येव तदखिल स्थितिकरम् स्यादस्माक तु स्थितिप्रयोजकान्नाभिद्धि-रिति भाव। ३ वय चेति। स्वामिनि भृत्येन स्वीयापन्निवेद्येति लौकिकन्याय सूचयितु चकार। ४ न शक्नुम। ५ अत इति—अन्नमन्तरेणावस्थानुमशक्यत्वादित्यथ। ६ क्षुधितान्। ७ भागिन कुरु। ८. तैरेवमुक्त प्राण। ९ तर्हीति शेष। १० तादात्म्यन। ११ मदाज्ञया। १२ मय्यकतामापद्यध्वमि-त्यर्थं। १३ कि स्वरूपमित्यर्थं। १४ एतावतेति -आगानेनाखिलान्नस्य स्वाधीनीकरणमात्रेणेत्यर्थं। एतत्प-ङ्क्तिस्थले पाठान्तरमपि तद्यथा—माभूद भवनाभन्नमथ च आत्मवत् स्थितिरित्याशङ्क्याह- वय चेतीति। आत्म-वदित्यस्य मद्वदित्यर्थं। प्राणवदिति यावत्। १५ स्वयमेव भवन्तोऽन्नस्य भाग भजन्तामित्याशङ्क्य स्वामित-न्त्रत्वादस्माक नैव कर्तुमुचितमित्यभिप्रेत्य वाक्यार्थपर भाष्यमवतारयति—तथैवेति।

प्रतिबुभूषति न हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ य एवैत-मनुभवति यो वैतमनु भार्यान्बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥१८॥

भक्षण करने वाला सबका अधिपति हो जाता है। सम्बन्धियो मे से जो भी ऐसे उपासक के प्रति विरुद्ध होना चाहता है, वह अपने आश्रितो का पोषण करने मे समर्थ नही होता और जो कोई भी इनके अनुकूल रहकर अपने शरणागतो का भरण करना चाहता है, वह निश्चय ही अपने शरणागतो के भरण पोषण मे सक्षम हो जाता है ॥१८॥

इत्यर्थः। [1]तथा निविष्टाना प्राणानुज्ञया तेषा प्राणेनैवाद्यमान प्राणस्थितिकर सदन्न तृप्तिकर भवति न स्वातन्त्र्येणान्नसबन्धो वागादीनाम्। [2]तस्माद्युक्तमेवावधारणमनेव तदद्यत इति।

तदेवाऽऽह—तस्माद्यस्मात्प्राणाश्रयतयैव प्राणानुज्ञया[3]ऽभिसंनिविष्टा वागादि-देवतास्तस्माद्यदन्नमनेन प्राणेनात्ति लोकस्तेनान्नेन[4]ता वागाद्यास्तृप्यन्ति वागाद्याश्रयं प्राण यो वेद वागादयश्च पञ्च प्राणाश्रया इति तमप्येनमेव ह [5]वै स्वा ज्ञातय अभिसविशन्ति वागादय इव प्राणम्। [6]ज्ञातीनामाश्रयणीयो भवतीत्यभिप्रायः। [7]अभिसनिविष्टाना च स्वाना प्राणवदेव वागादीना स्वान्नेन [8]भर्ता भवति। [9]तथा [10]श्रेष्ठः [11]पुरोऽग्रत [12]एता गन्ता

वागादीनामन्नार्थिनामवस्थान चेत्तेषामपि प्राणवदन्नसबन्ध स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तथेति। त्यक्तप्राण-स्यान्नबलाद्वागादिस्थित्यनुपलब्धेरित्यर्थं। वागादीनामन्नजन्योपकारस्य प्राणद्वारत्वे सिद्धे फलितमाह—तस्मादिति।

[13]तेषामन्नकृतोपकारस्य प्राणद्वारकत्वे वाक्यशेष सवादयति—तदेवेति। विद्याफल दर्शयन्[14]गुण-जातमुपदिशति—वागादीति। वेदनमेव व्याचष्टे—वागादयश्चेति। स च प्राणोऽहमस्मीति वेदेति

वागादिपोषकता का अभाव होने से यही निश्चय करना उचित है, 'वह अन्न प्राण के द्वारा ही खाया जाता है'।

उसे ही श्रुति भी कहती है। अत जिससे प्राण के आश्रित रह कर ही प्राण की आज्ञा से वागादिदेवता सर्वात्मभाव से प्राण मे निवास किए हुए है, इसीलिए अनेन अर्थात् प्राण के द्वारा जो अन्न मनुष्य खाते हैं, उसी अन्न से ये वागादि तृप्त होते हैं। वागादि के आश्रयस्वरूप प्राण को जो 'वागादि पाँचो ही प्राण के आश्रित है इस प्रकार जानता है, उस उपासक को भी इसी प्रकार

१ तथा निविष्टानामिति—प्राणमाश्रित्यावस्थितानामित्यर्थ। २ तस्मादिति-स्वात यणा नस्य वागादिपोषक-त्वाभावादित्यर्थं। ३ अभिसनिविष्टा—सर्वात्मना प्राणेऽवस्थान कृतवन्त इत्यर्थ। ४ तेनेति—प्राणस्वामि-केनेत्यर्थं। ५ उक्तोपासकमपि। ६ ज्ञातयो यद्यपि प्राणविदमाश्रयिष्यन्ति तथापि नासौ तान् पालयितुमल-मुपायाभावादित्याशङ्क्याह—अभिसनिविष्टानामिति। ७ पोष्टा। ८ भर्तृत्वश्रेष्ठत्वयोरैक्यमाशङ्क्याह—तथेति। श्रेष्ठ पूज्य गुणत इति शेष। क्षत्रिये श्रोत्रिये च तयो (भर्तृत्वश्रेष्ठत्वयो) भेददृष्टिरितिस्पष्टत्वार्थं। ९ पूज्य। १० सति भर्तृत्वादौ पुरोगन्तृत्वमकिञ्चित्करमिति पुर एता भवतीत्यनर्थकमित्याशङ्क्याह—इति। ११ अग्रगण्य इति यावत्। १२ वागादीनाम्। १३ भर्तृत्वश्रेष्ठत्वादिरूपम्।

भवति वागादीनामिव प्राणः । तथाऽन्नादोऽनामयावीत्यर्थः । अधिपतिरधिष्ठाय च पालयिता स्वतन्त्रः प्रतिः प्राणवदेव वागादीनां य एवं प्राणं वेद तस्यैतद्यथोक्तं फलं भवति । किञ्च य उ हैवंविदं प्राणविदं प्रति स्वेषु ज्ञातीनां मध्ये प्रतिः प्रतिकूलो बुभूषति प्रतिस्पर्धीभवितुमिच्छति सोऽसुरा इव प्राणप्रतिस्पर्धिनो न हैवालं न पर्याप्तो भार्येभ्यो भरणीयेभ्यो भवति भर्तुमित्यर्थः । अथ पुनर्य एव ज्ञातीनां मध्य एतमेवंविदं वागादय इव प्राणमन्वनुगतो भवति यो वैतमेवंविदमन्वेवानुवर्तयन्नेवाऽऽत्मीयान्भार्यान्बुभूर्षति भर्तुमिच्छति यथैव वागादयः प्राणानुवृत्त्याऽऽत्मबुभूर्षंव आसन् । स हैवालं पर्याप्तो भार्येभ्यो भरणीयेभ्यो भवति भर्तुं नेतरः स्वतन्त्रः । सर्वमेतत्प्राणगुणविज्ञानफलमुक्तम् ॥१८॥

चकारार्थः । अनामयावी व्याधिरहितो दीप्ताग्निरिति यावत् । संप्रति प्राणविद्यां स्तोतुं तद्विद्यावद्विद्वेषिणो दोषमाह—किंचेति । इदानीं प्राणविदं प्रत्यनुरागे लाभं दर्शयति—अथेत्यादिना । 'ते देवा अब्रुवन्नित्यादौ गुणविधिविवक्षितो न विशिष्टविधिर्गुणफलस्यैवात्र श्रवणादित्याह—सर्वमेतदिति ॥१८॥

ज्ञातिजन अपने आश्रित कर लेते है, जैसे वागादि को प्राण । वह ज्ञातिजनो का आश्रयणीय होता है, यह अभिप्राय है । वागादिको के स्वामी प्राण की तरह वह भी आश्रितजनों का अपने अन्न से पोषण करने वाला होता है तथा वह पूज्य 'पुर" अर्थात् आगे 'एता" जाने वाला होता है अर्थात् अग्रगण्य होता है, जैसे प्राण वागादिको को आगे ले जाते है । तथा वह 'अन्नाद' अर्थात् दीप्ताग्नि वाला होने के कारण निरामय है, "अधिपति" अर्थात् वागादि के अधिपति प्राण के समान ही आश्रितजनो का अधिष्ठाता होकर पालक अर्थात् स्वतन्त्र रक्षक होता है । "जो प्राण को इस प्रकार जानता है, उसे उपर्युक्त फल मिलता है ।" इसके सिवा 'स्वेषु" अर्थात् बन्धुजनो के मध्य जो भी इस प्रकार जानने वाले प्राणवेत्ता से 'प्रति' अर्थात् प्रतिकूल "बुभूषति" अर्थात् प्रतिस्पर्द्धा करने की इच्छा करता है, वह प्राण के प्रतिपक्षी असुरो के समान अपने "भार्येभ्यो" अर्थात् आश्रितो का भरण करने मे "हैवालम्" अर्थात समर्थ नही होता । इस प्रकार ज्ञातिजनो मे से जो भी 'प्राण के अनुयायी वागादि के समान'—इस प्रकार इसे जानने वाले प्राणवेत्ता के 'अनु' अर्थात अनुगत होता है । "यो वैतम्" अर्थात् जो भी इस प्राणवेत्ता का 'अनु' अर्थात् अनुवर्तन करते हुए भी अपने आश्रितो का 'बुभूर्षति' अर्थात् भरण करने की वैसे ही इच्छा करता है, जिस प्रकार कि वागादि प्राण का अनुवर्तन करते हुए आत्मीयजनो का भरण करने के इच्छुक थे । 'स' वह 'भार्येभ्यो' यानी अपने आश्रितो के प्रति भरण करने मे 'अलम्' अर्थात् समर्थ होता है । दूसरा जो स्वतन्त्र है, वह ऐसा करने मे समर्थ नही होता । यह सब प्राण की गुण-उपासना का फल कहा गया है ॥१८॥

१ अनामयावीति—दीप्ताग्नित्वाभावे सदपि भर्तृत्वादि व्यर्थम् । नहि व्याधितो मन्दाग्निरुक्तगुणोऽपि निर्वृणोतीति भाव । २ नहि पुरोगन्तृत्वनाधिपत्यस्य गतार्थत्व पुरोहितस्य पुरोगन्तृत्वेऽपि राजन्येवाधिपत्याधिगमादित्याह—अधिष्ठायति । अधिष्ठाय पालयितृत्वाभावे दीप्ताग्नित्वादेर्वैयर्थ्यं प्रसिद्धमिति च शब्दार्थ. । ३. प्रतिपक्षी । ४ आत्मीयान् भर्तुमिच्छव । ५ उपासनफलम् । ६ ते देवा इत्यादे सोऽयास्य इत्यत प्राक्तनस्य तात्पर्यमाह—ते देवा इति । ७ गुणफलस्येति—एकैकस्मिन् गुणे विध्यनुकूलस्य प्रधानफलातिरिक्तस्य फलस्यैव अत्र दध्यादाविव श्रवणात् इन्द्रियकामस्य दध्ना जुहुयादित्यादौ इन्द्रियसौष्ठव फलम् ।

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाᳪ हि रसः प्राणो वा अङ्गानाᳪ रसः प्राणो हि वा अङ्गानाᳪ रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानाᳪ रसः ॥१६॥

वह प्राण "अयास्य" आङ्गिरस है, क्योंकि वह अङ्गों का सार है, अङ्गों का रस प्राण ही है, निःसन्देह अङ्गों का रस प्राण ही है, क्योंकि जिस किसी अङ्ग से जब प्राण निकल जाता है, तब वह अङ्ग सूख जाता है। अतः प्राण ही सब अङ्गों का रस है ॥१६॥

कार्यकरणानामात्मत्वप्रतिपादनाय प्राणस्याऽऽङ्गिरसत्वमुपन्यस्तं सोऽयास्य [1]आङ्गिरस इति। अस्माद्धेतोरयमाङ्गिरस इत्याङ्गिरसत्वे हेतुर्नोक्तस्तद्धेतुसिद्धयर्थमिदमारभ्यते। तद्धेतुसिद्धयायत्तं हि कार्यकरणात्मत्वं प्राणस्य। अनन्तरं च वागादीनां प्राणाधीनतोक्ता। सा च कथमुपपादनीयेत्याह[2]—

सोऽयास्य आङ्गिरस इत्यादि [3]यथोपन्यस्तमेवो[4]पादीयत उत्तरार्थम्। प्राणो वा अङ्गानां रस [5]इत्येवमन्तं [6]वाक्यं यथाव्याख्यातार्थमेव [7]पुनः [8]स्मारयति। [9]कथं, प्राणो

---

[10]उत्तरग्रन्थस्य [11]व्यवहितेन संबन्धं वक्तुं [12]व्यवहितमनुवदति—कार्यकरणानामिति। अनन्तरग्रन्थमवतारयति—अस्मादिति। किमित्याङ्गिरसत्वसाधको हेतुः साधनीयस्तत्राऽऽह—तद्धेत्विति। [13]संप्रत्यव्यवहितसंबन्धं दर्शयति—अनन्तर चेति। [14]प्रकारान्तरं बुभुत्स्यमानमिति सूचयितुं चशब्दः। तर्हि यदुपपादनीयं तदुच्यतां किमित्युक्तस्य पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—उत्तरार्थमिति। प्रतिज्ञानुवादो [15]वक्ष्यमाणहेतोरुपयोगीत्यर्थः। यथोपन्यस्तमेवेत्यादि [16]प्रपञ्चयति—प्राणो वा इति। [17]उक्तार्थनिर्णयहेतुं

कार्य और करण का आत्मत्व-प्रतिपादन करने के लिए "सोऽयास्य आङ्गिरस" इस अष्टम मन्त्र में प्राण का आङ्गिरसत्व उपपादन किया, किन्तु किस कारण से यह आङ्गिरस है? यह नहीं बताया गया। उस हेतु की सिद्धि के लिए अब (आगे का ग्रन्थ) आरम्भ किया जाता है। क्योंकि प्राण की कार्यकरणस्वरूपता उसके हेतु की सिद्धि के अधीन है, उसके बाद वागादि की प्राणाधीनता कही गयी है। उसका विवेचन किस प्रकार किया जाय? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—

"सोऽयास्य आङ्गिरस." इत्यादि मन्त्र से अष्टम कण्डिका में कहे हुए का ही पुनः प्रतिपादन, उत्तर के लिए है। "प्राणो वा अङ्गानां रस" यहां तक का कर्तृ वाक्य पूर्वोक्त व्याख्या के अनुसार ही है, पुनः कर्मभूत पूर्ववाक्य का स्मरण श्रुति कराती है—प्राण के आङ्गिरसत्व में क्या हेतु है? क्योंकि

---

१. अष्टमकण्डिकायाम्। २ इति जिज्ञासायामाहेत्यर्थ। ३ अष्टमकण्डिकायाम्। ४ अनूद्यत। ५ अत्रातद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि। ६ कर्तृवाक्यम्। ७ पूर्ववाक्य कर्मभूतम्। ८. अनुवदति। ९. कथमिति—केन हेतुनेत्यर्थः। प्राणस्याङ्गिरसत्वे को हेतुरिति यावत्। १०. एकोनविंशकण्डिकात्मकस्य। ११. अष्टमकण्डिकात्मकग्रन्थेन। १२. अव्यवहितपूर्वकण्डिकया सह सम्बन्धाभावादिति बोध्यम्। १३. अष्टादशकण्डिकया सह। १४. प्रकारान्तरेण वागादीनां प्राणाधीनत्वं बोधयितुमिति यावत्। एतस्य प्रकारस्य सर्वोत्तरत्वात्। १५. प्राणनिष्ठाङ्गिरसत्वसाधकहेतो। १६ संग्रहवाक्यम्। १७. प्राणनिष्ठाङ्गिरसत्वरूपोक्तार्थस्य।

वा अङ्गानां रस इति । प्राणो हि । हिशब्दः प्रसिद्धौ । अङ्गानां रसः । प्रसिद्धमेतत्प्राणस्याङ्गरसत्वं न वागादीनाम् । तस्माद्युक्तं प्राणो वा इति स्मारणम् । कथं पुनः प्रसिद्धत्वमित्यत आह । तस्माच्छब्द उपसंहारार्थं उपरिष्टेन संबध्यते । यस्माद्यतोऽवयवात्कस्मादनुक्तविशेषात् । यस्मात्कस्माद्यतः कुतश्चिच्चाङ्गाच्छरीरावयवादविशेषितात्प्राण उत्क्रामत्यपसर्पति तदेव तत्रैव तदङ्गं शुष्यति नीरसं भवति शोषमुपैति । तस्मादेष हि वा अङ्गाना रस इत्युपसंहार । अतः कार्यकरणानामात्मा प्राण इत्येतत्सिद्धम् । आत्मापाये हि शोषो मरणं स्यात्तस्मात्तेन जीवन्ति प्राणिनः सर्वे । तस्मादपास्य वागादीन्प्राण एवोपास्य इति समुदायार्थः ॥१९॥

पृच्छति—कथमिति । तत्र प्रसिद्धि हेतु कुर्वन्परिहरति—प्राणो हीति । प्रसिद्धिमेव प्रकटयति—प्रसिद्धमिति । स्मारणं प्रसिद्धस्याऽऽङ्गिरसत्वस्येति शेष । प्रसिद्धिरसिद्धेति शङ्कते—कथमिति । तामन्वयव्यतिरेकाभ्यां साधयति—अत आहेति । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—यस्मात्कस्मादिति । उक्तेन व्यतिरेकेणानुक्तमन्वयं समुच्चेतुं चशब्द । तस्माच्छब्दस्योपरिभावेन सम्बन्धमुक्तं स्फुटयति—तस्मादिति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यामङ्गरसत्वे प्राणस्य सिद्धे फलितमाह—अत इति । उक्तन्यायादङ्गरसत्वे सिद्धेऽपि कथमात्मत्वं सिध्येदित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मेति । अस्तु प्राण सघातस्याऽऽत्मा तथाऽपि किं स्यात्तदाह—तस्मादिति । भवतु प्राणाधीन सघातस्य जीवन तथाऽपि कथ तस्यैवोपास्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादपास्येति ॥१९॥

प्राण ही अङ्गो का रस है। "प्राणो हि" यहा 'हि' शब्द प्रसिद्धि के अर्थ मे है। "अङ्गाना रस" प्राण का ही यह अङ्गरसत्व होना प्रसिद्ध है—वागादि का नही। इसलिए "प्राणो वा" इस श्रुतिवाक्य की पुन याद दिलाना उचित ही है। किन्तु उसकी प्रसिद्धि क्यो है ? इस पर कहते हैं—'तस्मात्' शब्द उपसहारार्थक है, यह उपरोक्त (अर्थात् मन्त्र मे 'शुष्यति' है उसके बाद) से सम्बन्ध रखता है। 'यस्मात्' यानी जिस अवयव 'कस्मात्' अर्थात् जिसका विशेष नही बताया गया, ऐसे किसी अवयव से 'यस्मात् कस्मात्' जिस किसी भी अनिर्धारित अङ्ग शरीर के अवयव से प्राण उत्क्रामति' अर्थात अपसर्पित हो जाता है, वह अङ्ग प्राण-उत्क्रमण अवस्था मे 'शुष्यति' अर्थात नीरस हो जाता है, यानी सूख जाता है। (प्राण के अधिष्ठाता होने पर ही हस्तादि अङ्ग रस वाले होते है, अन्यथा नीरस हो जाते है इस अन्वय व्यतिरेक से) इसलिए यही अङ्गो का रस है—इस प्रकार निष्कर्ष निकलता है। उक्त न्याय से उसके अङ्गरसत्व होने से कार्य-करण का स्वरूप प्राण है, वह सिद्ध हुआ। प्राणस्वरूप आत्मा के वियुक्त होने मे शोष अर्थात् मरण हो जाता है। इसलिए सभी प्राणी उसी सर्वजीवनत्व प्राण के होने से जीवित रहते हैं। अत वागादिकों को त्याग कर प्राण ही की उपासना करनी चाहिए, यह इसका समुदाय अर्थ है ॥१९॥

---

१ प्रसिद्धयनुवाद । २ उपरिष्टादित्यथ । शुष्यतीत्यस्मादनन्तरमिति यावत् । ३ अनिर्धारितात् । ४ तस्या प्राणोत्क्रमणावस्थायाम् । ५ सति प्राणेऽधिष्ठातरि हस्ताद्यङ्ग रसवत् अन्यथा नीरसमित्यन्वयव्यतिरेकात् । ६ उक्त न्यायात्तस्याङ्गरसत्वात् । ७ स्वरूपम् । ८ तथा च प्राणस्य सर्वजीवनत्वमायातम् । ९ अन्वय-व्यतिरेकरूपात् । १० प्राणस्य किमायातमित्यथ ।

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पति-स्तस्मादु बृहस्पतिः ॥२०॥

यह प्राण ही बृहस्पति है। वाक् ही बृहती है, उस वाक् का यह प्राण, पति है। इसलिए यह बृहस्पति है ॥२०॥

एष उ। न केवलं कार्यकारणयोरेवाऽऽत्मा प्राणो रूपकर्मभूतयोः किं तर्हिऋग्यजुःसाम्नां नामभूतानामात्मेति सर्वात्मकतया प्राण स्तुवन्महीकरोत्युपास्यत्वाय—एष उ प्रकृत आङ्गिरसो बृहस्पतिः। कथं बृहस्पतिरिति। उच्यते—वाग्वै

बृहस्पत्यादिधर्मकं प्राणोपासनं वक्तुं वाक्यान्तरमवतारयति—एष इति। तस्य विधान्तरेण तात्पर्यमाह—न केवलमिति। कार्यं स्थूलशरीरं प्रत्यक्षतो रूप्यमाणं रूपात्मकं करणं च ज्ञानक्रिया-शक्तिमत्कर्मभूतं तयोरात्मा प्राण इत्युक्त्वा नामराशेरपि तथेति वक्तुं कण्डिकाचतुष्टयमित्यर्थः। किमिति प्राणस्याऽऽत्मत्वेन सर्वात्मत्वोक्त्या स्तुतिरित्याशङ्क्याऽऽह—उपास्यत्वायेति। उशब्दोऽप्यर्थो बृहस्पतिशब्दादुपरि संबध्यते। 'बृहस्पतिर्देवाना पुरोहित आसीत्' इति श्रुतेर्देवपुरोहितो बृहस्पतिरुच्यते तत्कथं प्राणस्य बृहस्पतित्वमिति शङ्कते—कथमिति। देवपुरोहित व्यावर्तयितुमुत्तरवाक्येनो(णो)

'एष उ' अर्थात् यह ही (बृहस्पति है)। स्थूल शरीर के रूप मे प्रत्यक्ष दीखने वाले कार्यो एवं ज्ञानबलक्रियायुक्त कर्मभूत इन्द्रियो का आत्मा प्राण नही है। तो किसका है? नामरूप-कर्मात्मक सब जगत् का आत्मा होने से ऋग्यजुसामरूप वेदत्रयी का आत्मा है। इसलिए प्राण की स्तुति करते हुए (श्रुति) ऋगात्मत्व प्राण की तत्त्व से उपासना करने के लिए उसकी प्रशस्ति करती है। यह प्राण ही इस प्रकरण मे आङ्गिरस बृहस्पति है। बृहस्पति किस प्रकार है? इस पर कहते

---

१ इतीति-नामरूपकर्मात्मकस्य सर्वस्य जगत आत्मत्वाद्धेतोरित्यर्थ। २ उपास्यत्वायेति-तत्र तावदृगात्मत्व प्राणस्य तत्त्वेनोपास्यत्वायाहेति शेष। ३ प्राण। ४ प्रसिद्धा। ५ वाक्यान्तरमवतारयतीति--यथा पूर्वं-मयास्यत्वादिभिर्गुणैर्विशिष्ट प्राणकर्मकमुपासनमुक्त तथा बृहस्पत्यादिधर्मक तद्धयान विधातुमिच्छच्छास्त्र गुणवि-शेषमाचष्टे। न चैष गुणविधि तत्फलाश्रुते विशिष्टविधिस्तु स्यादेव अश्नुते साम्न सायुज्यमिति प्रधानफलोक्ते। न च सामोपासकस्य प्रधानफलसम्बन्ध श्रुतो न बृहस्पत्याद्युपासक प्रति किंचिदुक्त--तत्र कथमसौ विशिष्टविधि-रिति वाच्य मध्यमणिन्यायेन तृतीयकण्डिकास्थफलस्योभयत सम्बन्धादित्यभिप्रत्य वाक्यान्तरमवतारयतीत्यथ। ६ इत कण्डिकाचतुष्टयमित्यर्थ। ७ नामरूपकर्मणा स्वरूपत्वेनेत्यर्थ। ८ व्यावर्तयितुमिति—तथा च वार्तिकम्—"यजुर्ब्रह्मेति श्रवणादन्तो साम्नो ग्रहादपि। ऋग्यजुःसामनिर्देश क्रमेणेति प्रतीयत॥" यजुरिति ब्रह्मणस्पतिरित्युत्तरवाक्ये ब्रह्मेति यजु श्रुत तत्र प्राणो यजुष्पतिरित्यवगमात् पूर्वत्रापि बृहस्पतिरिति स एव-र्ग्पतिरुक्त इत्यर्थ। उत्तरवाक्य ब्रह्मशब्दस्य यजुर्विषयत्व सन्दिग्धमित्याशङ्क्य सदिग्धे तु वाक्यशेषादिति न्याय-नाह—अन्त इति। वाक्यशेषे प्राणस्य सामत्वोक्तेरुपक्रमेऽपि तस्य यजुरादिरूपता विवक्षिता। सामान्यवचनेन सह पठितो वाक्यस्योपक्रमो निगमनवशेन। शेषवाक्येन नेय इति मीमांसासूत्रान्वय किं चर्गादिशब्दाना श्रुतिष्वेव क्रमदृष्टेर्बृहस्पतिब्रह्मशब्दाभ्यामृग्यजुषोर्ग्रहणमित्याह—ऋगिति। अतो बृहस्पति ऋक्पति ब्रह्मणस्पति यजुष्पति-रिति भातीत्याह—प्रतीयत इति।

बृहती बृहतीछन्दः षट्त्रिंशदक्षरा। अनुष्टुप्च वाक्। कथम्। "वाग्वा अनुष्टुप्" इति श्रुतेः। सा च वागनुष्टुब्बृहत्यां छन्दस्यन्तर्भवति। अतो युक्तं वागेव बृहतीति प्रसिद्धवद्वक्तुम्। बृहत्यां च सर्वा ऋचोऽन्तर्भवन्ति प्राणसंस्तुतत्वात्। "प्राणो बृहती प्राण ऋच इत्येव विद्यात्" इति श्रुत्यन्तरात्। वागात्मत्वाच्चर्चां प्राणेऽन्तर्भावः। तत्कथमित्याह— तस्या वाचो बृहत्या ऋच एष प्राणः पतिः। तस्या निर्वर्तकत्वात्। कौष्ठ्याग्निप्रेरित-

तरमाह—उच्यत इति। प्रसिद्धवचनं कथमित्याशङ्क्याऽऽह—बृहतीछन्द इति। सप्त हि गायत्र्यादीनि प्रधानानि च्छन्दांसि तेषां मध्यमं छन्दो बृहतीत्युच्यते। सा च बृहती षट्त्रिंशदक्षरा प्रसिद्धेत्यर्थः। भवतु यथोक्ता बृहती तथाऽपि कथम् 'वागेव बृहती' इत्युक्तं तत्राऽऽह—अनुष्टुप्चेति। द्वात्रिंशदक्षरा तावदनुष्टुबिष्टा, सा चाष्टाक्षरैश्चतुर्भिः पादैः षट्त्रिंशदक्षरायां बृहत्यामन्तर्भवत्यवान्तरसंख्याया महासंख्यायामन्तर्भावादित्याह—सा चेति। वागनुष्टुभोरनुष्टुब्बृहत्योश्चोक्तमैक्यमुपजीव्य फलितमाह—अत इति। भवतु वागात्मिका बृहती तथाऽपि तत्पतित्वेन प्राणस्य कथमृक्पतित्वमित्याशङ्क्याऽऽह—बृहत्या चेति। सर्वात्मकप्राणरूपेण बृहत्याः स्तुतत्वात्तत्र सर्वासामृचामन्तर्भावः संभवति, तस्मात्प्राणस्य बृहत्पतित्वे सिद्धमृक्पतित्वमित्यर्थः। प्राणरूपेण स्तुता बृहतीत्यत्र प्रमाणमाह—प्राणो बृहतीति। तथाऽपि प्राणस्य विवक्षितमृगात्मत्वं कथं सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—प्राण इति। तस्य तदात्मत्वे हेत्वन्तरमाह—वागात्मत्वादिति। तासां तदात्मत्वेऽपि कथं प्राणेऽन्तर्भावो न हि घटो मृदात्मा पटेऽन्तर्भवतीति शङ्कते—तत्कथमिति। प्राणस्य वाङ्निष्पादकत्वात्तद्भूतानामृचां कारणे प्राणे युक्तोऽन्तर्भाव इत्याह—आहेत्यादिना। प्राणस्य तन्निर्वर्तकत्वेऽपि न तस्मिन्वाचोऽन्तर्भावो न हि घटस्य कुलालेऽन्तर्भाव इत्याशङ्क्याऽऽह—कौष्ठ्येति। कोष्ठनिष्ठेनाग्निना प्रेरितस्तद्गतो वायुरूर्ध्वं गच्छन्कण्ठादिभिरभिहन्यमानो वर्णतया व्यज्यते तदात्मिका च वाङ्निर्णीता "देवताधिकरणे ऋक्च वागात्मिकोक्ता तद्युक्तं तस्याः

हैं—प्रसिद्ध वाक ही 'बृहती' अर्थात् वहती छन्द है, जिसमें छत्तीस अक्षर होते हैं। वाक् अनुष्टुप् छन्द भी है। यह कैसे कहते हो? "क्योंकि वाक् ही अनुष्टुप् है—" ऐसा श्रुति समर्थन करती है। वह अनुष्टुप् वाक् बृहती छन्द की अन्तर्वर्ती है। इसलिए (पिङ्गल शास्त्र में) प्रसिद्ध के सदृश वाक् ही बृहती है—ऐसा कहना उचित है। "प्राण बृहती है, प्राण ऋक् है, ऐसा जाने" इस दूसरी श्रुति द्वारा प्राणरूप से संस्तुत बृहती में ही सब ऋचाओं का अन्तर्भाव हो जाता है। सब ऋचाएं वाक्स्वरूपा हैं; इसलिए उनका प्राण में अन्तर्भाव हो जाता है। यह कैसे कहते हो? इस पर बतलाते हैं—उस वाक् का यानी बृहती ऋचा का यह प्राण ही उत्पत्ति-स्थिति-हेतुक होने से पति है। क्योंकि वाक् प्राण का निष्पादक भी है। कोष्ठनिष्ठ अग्नि के द्वारा प्रेरित कोष्ठगत वायु से ऋक् निष्पादित होती है। 'पति' इसलिए हुआ, क्योंकि वाणी का पालन करता है, प्राण से ही वाणी का पालन किया जाता है। प्राणरहित मनुष्य में शब्दोच्चारण की शक्ति नहीं रह जाती। (स्थिति और उत्पत्ति का कारण होने

१ उत्पत्तिस्थितिहेतु। २ गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती। ३ पिङ्गलशास्त्रे। ४ ऋचामपि सर्वान्तर्गतत्वादिति भाव। ५ प्राणस्य यथोक्तरीत्या ऋक्पतित्वऽपीत्यर्थं। ६. उपादाने तु संभवत्यप्युपादेयस्यान्तर्भावो न तु निमित्तादाविति भाव। ७ कोष्ठगत। ८. वर्णात्मिका। ९ निर्णीतिर्वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्ष इत्यादिभाष्येणेति द्रष्टव्यम्। १०. देवताधिकरण शारीरकीयप्रथमाध्यायतृतीयपादे।

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्माद् ब्रह्मणस्पतिः ॥२१॥

यह प्राण ही ब्रह्मणस्पति है, वाक् ही (यजुर्वेदरूपवाणी) है। उस ब्रह्म का यह प्राण पति है, अतएव यह ब्रह्मणस्पति है ॥२१॥

मारुतनिर्वर्त्या हि ऋक्। पालनाद्वा वाचः पतिः प्राणेन हि पाल्यते वाक्। अप्राणस्य शब्दोच्चारणसामर्थ्याभावात्। तस्माद् बृहस्पतिऋर्चा प्राण आत्मेत्यर्थः ॥२०॥

तथा यजुषाम्। कथम्, एष उ एव ब्रह्मणस्पतिः। वाग्वै ब्रह्म ब्रह्म यजुस्तच्च वाग्विशेष एव। तस्या वाचो यजुषो ब्रह्मण एष पतिस्तस्माद् ब्रह्मणस्पतिः पूर्ववत्। कथ पुनरेतदवगम्यते बृहतीब्रह्मणोऋर्ग्यजुष्ट्वं न पुनरन्यार्थत्वमिति। उच्यते—वाचोऽन्ते सामसामानाधिकरण्यनिर्देशाद्वाग्वै सामेति। तथा च वाग्वै बृहती वाग्वै ब्रह्मेति च वाक्समानाधिकरणयोऋर्ग्यजुष्ट्वं युक्तम्। परिशेषाच्च। साम्न्यभिहित ऋग्यजुषी एव

प्राणेऽन्तर्भूतत्वमित्यर्थः। ऋगात्मत्व प्राणस्य प्रकारान्तरेण साधयति—पालनाद्वेति। सत्ताप्रदत्वे सति स्थापकत्वं तादात्म्यव्याप्तमित्यभिप्रेत्योपसहरति—तस्मादिति ॥२०॥

यजुषामात्मेति पूर्वेण सबन्ध। नियतपादाक्षराणामृचा प्राणत्वे कुतस्तद्विपरीताना यजुषा तत्त्वमिति शङ्कित्वा परिहरति—कथमिति। तथाऽपि कथ प्राणो यजुषामात्मेत्याशङ्क्याऽऽह—वाग्वै ब्रह्मेति। निर्वर्तकत्व पालयितृत्वं चात्रापि तुल्यमित्याह—पूर्ववदिति। रूढिमाश्रित्य शङ्कते—कथ पुनरिति। वाक्यशेषविरोधान्नात्र रूढि सभवतीति परिहरति—उच्यत इति। वाग्व सामेत्यन्ते वाच सामसामानाधिकरण्येन निर्देशाद्वेदाधिकारोऽयमिति योजना। तथाऽपि कथमृक्त्व यजुष्ट्व वा बृहती-ब्रह्मणोरिति तत्राऽऽह—तथा चेति। परिशेषमेव दर्शयति—साम्नीति। इतश्च वाक्समानाधिकृतयो-

---

से) इसलिए यह बृहस्पति ऋचाओं का प्राण अर्थात् आत्मा है ॥२०॥

इसी प्रकार यजुर्वेद के मन्त्रों का भी आत्मा है। कैसे है? यह ही ब्रह्मणस्पति है। वाक् ही प्रसिद्ध ब्रह्म है, ब्रह्म यजुष् है और वह एक प्रकार से वाक् ही है। उस वाक् यानी यजु स्वरूप का यह निष्पादक है। इसलिए ब्रह्मणस्पति यजुर्मन्त्रों का प्राण आत्मा है, ऐसा अर्थ पूर्वमन्त्र के समान जानना चाहिए। यह किस प्रकार जाना जाता है कि बृहती ऋक्वाचक है, और ब्रह्म यजुष्वाचक है, इसके अतिरिक्त इनका कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता? इस पर कहते हैं—उपसहाररूप-निगमन वाक्य मे ("वाग्वै साम") वाक् ही साम है, इस श्रुति द्वारा वाक् की साम के साथ एकता दिखायी गयी है। ऐसा निश्चय होने पर "वाक् ही बृहती है", "वाक् ही ब्रह्म है"—इन श्रुति-

---

१ स्थित्युत्पत्तिहेतुत्वादेव। २ प्रासङ्गम्। ३ पालको निवर्तकश्चेत्यर्थ। ४ ब्रह्मणस्पतिरिति—तथा च सत्ताप्रदत्वस्थापकत्वयोस्तादात्म्यव्याप्तत्वात् ब्रह्मणस्पति प्राणो यजुषामात्मेति भाव। ५ अन्त—वाक्यशेषे निगमनवाक्य इत्यर्थ। ६ वेदाधिकार निश्चिते च। ७ इत्थ प्राणस्य वागुपादानत्वात्। ८ व्याप्तिश्च मृद्घटादौ दृष्टा। ९ एकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धधर्मद्वयासभवादिति भाव। १० पूर्वकण्डिकायामिव। ११ अयमिति एष उ एव बृहस्पतिरित्यय वेदाधिकार वेदोपक्रम इत्यर्थ।

एष उ एव साम वाग्वै साऽम एष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम् । यद्वेव समः प्लुषिणा समो मश-

यह प्राण ही साम है । उसमें वाक् ही "सा" और यह प्राण "अम" है । "सा" और "अम" ही साम है, वही साम का सामत्व है, क्योंकि यह प्राण मक्खी के समान है, मच्छर के समान है, हस्ती

परिशिष्टे । वाग्विशेषत्वाच्च वाग्विशेषौ हि ऋग्यजुषी । तस्मात्तयोर्वाचा समानाधिकरणता युक्ता अविशेषप्रसङ्गाच्च । सामोद्गीथ इति च स्पष्टं विशेषाभिधानत्वम् । तथा बृहतीब्रह्मशब्दयोरपि विशेषाभिधानत्वं युक्तम् । अन्यथाऽनिर्धारितविशेषयोरानर्थक्यप्रसंगश्च विशेषाभिधानस्य वाङ्मात्रत्वे चोभयत्र पौनरुक्त्यात् । ऋग्यजुःसामोद्गीथशब्दानां च श्रुतिष्वेवंक्रमदर्शनात् ॥२१॥

एष उ एव साम । कथमित्याह—वाग्वै सा यत्किंचित्स्त्रीशब्दाभिधेयं सा वाक् ।

बृहतीब्रह्मणोर्ऋग्यजुष्ट्वमेष्टव्यमित्याह—वाग्विशेषत्वाच्चेति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—अविशेषेति । प्रसङ्गमेव व्यतिरेकमुखेन(ण) विवृणोति—सामेति । द्वितीयश्चकारोऽवधारणार्थः । किंच 'वाग्वै बृहती' 'वाग्वै ब्रह्मेति' वाक्याभ्यां बृहतीब्रह्मणोर्वागात्मत्वं सिद्धं न च तयोर्वाङ्मात्रत्वं वाक्यद्वयेऽपि वाग्वै वागिति' पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्तस्माद्बृहतीब्रह्मणोरेष्टव्यमृग्यजुष्ट्वमित्याह—वाङ्मात्रत्वे चेति । 'तत्रैव 'स्थानमाश्रित्य हेत्वन्तरमाह—ऋगिति ॥२१॥

ऋग्यजुष्ट्वं प्राणस्य प्रतिपाद्य तस्यैव सामत्वं साधयति—एष इत्यादिना । तदेव स्पष्टयति—

मन्त्रो में जो वाक् की एकता बृहती और ब्रह्म से दिखाई गई है, उसका ऋक्स्वरूप और यजु स्वरूप होना उचित ही है । परिशेष रह जाने से भी यह बात सिद्ध होती है । साम के प्रतिपादन कर देने के बाद ऋक् और यजुष् ही अवशेष रहते हैं । बृहती और ब्रह्म के एकतापरक ऋक् और यजुष् वाक्-विशेष ही हैं । इसलिए वाक्विशेषार्थक बृहती और ब्रह्म का वाक्सामान्यार्थक वाक्शब्द के साथ एकाधिकरण होना युक्त ही है, इसके अतिरिक्त अविशेष का प्रसङ्ग होने लगेगा, साम और उद्गीथ शब्द वाक् के उपसर्जन प्राणरूप विशेष अर्थ के वाचक हैं, ऐसा स्पष्ट है । इसी प्रकार बृहती और ब्रह्म का

१ वाग्विशेषार्थकबृहतीब्रह्मणो । २ वाचेति—वाक् सामान्यर्थकवाकशब्देनत्यर्थ । ३ युक्तेति—सामान्यविशेषयो सामानाधिकरण्यस्य नीलो घट इत्यादौ प्रसिद्धत्वादन्यार्थत्वे तथा वाग्वै बृहती वाग्वै ब्रह्मेति" श्रुता समानाधिकरणताऽनुपपन्ना स्यादिति भाव । ४ स्पष्ट विशेषाभिधानत्वम्—सामोद्गीथशब्दयोर्वागुपसर्जनप्राणरूपो यो विशेषोऽर्थस्तद्वाचकत्वमित्यर्थ । ५ तथेति—वाग वै सा अम एष' सा चामश्चेति तत्साम प्राणो वा उत् वागेव गीथा उच्च गीथा चेति स उद्गीथ इति सामोद्गीथयोर्विशेषाभिधानत्व स्पष्टम् । तथा बृहतीब्रह्मशब्दयो-'वाग्वै बृहती' 'वाग्वै ब्रह्मेति' विशेषाभिधानत्वम् तच्च तयोर्वेदत्वे एव सभवति अन्यथा तयोर्वाक्यपर्यायत्वे विशेषाभिधानस्यानर्थक्यप्रसगादितिभाव । ६ दर्शनादिति—बृहतीब्रह्मशब्दाभ्यामृग्यजुषोर्ग्रहणमिति दोष । ७ वत् । ८ तत्रैवेति—बृहतीब्रह्मणो ऋग्यजुर्विषयत्व इत्यर्थ । ९ स्थानमिति—स्थानाख्य मीमासाप्रसिद्धप्रमाणम् । स्थान च पाठक्रम एव । १० वाचोऽखिलस्त्रीलिङ्गशब्दवाच्यवस्तुरूपत्वमेव ।

केन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाश्नुते साम्नः सायुज्यꣳ [2]सलोकतां य एवमेतत्साम वेद ॥२२॥

के समान है। यह त्रिलोकी के समान है। (किंबहुना) यह सभी के समान है, इसलिये तो यह साम है। जो इस साम को इस प्रकार जानता है, वह साम के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है ॥२२॥

सर्वस्त्रीशब्दाभिधेयवस्तुविषयो हि सर्वनामसाशब्दः। तथाऽम एव प्राणः सर्वपुंशब्दाभिधेयवस्तुविषयोऽमःशब्दः। "[3]केन मे पौंस्नानि नामान्याप्नोषीति प्राणेनेति ब्रूयात्केन मे

सर्वेति। साशब्दो हि सर्वनाम तथाच यः स्त्रीलिङ्गः सर्वः शब्दस्तेनाभिधेयं वस्तु वागित्यर्थः। अमः प्राण [4]इत्युक्तमु[5]पपादयति—सर्वपुंशब्देति। पुंलिङ्गेन सर्वेण शब्देनाभिधेयं वस्तु प्राण इत्यर्थः। [6]तत्र श्रुत्यन्तरं

भी विशेष अर्थ का वाचक होना युक्तिसगत ही है, अन्यथा विशेष अर्थ का निर्धारण न होने से उनकी निरर्थकता सिद्ध हो जायगी। यदि उन्हें विशेष अर्थ का वाचक वाक् मात्र ही दिखाया जाय तो ("वाक् ही बृहती है", "वाक् ही ब्रह्म है") इन दोनो स्थानो मे पुनरुक्ति-प्रसङ्ग हो जायगा। तथा ऋक्, यजुष्, साम, उद्गीथ—इन शब्दो का श्रुतियो मे ऐसा क्रम देखा जाने से बृहती और ब्रह्म शब्द से ऋक् और यजुष् का ग्रहण करना चाहिए ॥२१॥

यही साम है। किस प्रकार ? इस पर कहते हैं—वह वाक् ही है। जो कुछ भी स्त्रीशब्द अभिधेय है, वह वाक् है। 'सा' (वह) यह सर्वनामसज्ञक शब्द समस्त स्त्रीशब्द की वाच्य वस्तुओ का विषय है। इस प्रकार 'अम' यह प्राण है। 'अम' शब्द समस्त पुल्लिङ्ग शब्द की अभिधेय वस्तुओ का विषय है। एक दूसरी कौषीतकि श्रुति यही दिखाते हुए कहती है—"मेरे पुल्लिङ्ग नाम उपासक किस करण से प्राप्त करता है, (ऐसा पूछा जाने पर) उपासक कहे—कि पञ्चवृत्त्यात्मकप्राण से प्राप्त करता है। (पुन पूछे जाने पर कि) मेरे स्त्रीलिङ्ग नाम किस करण से प्राप्त करता है ?—उपासक कहे—प्राणनिष्पादिका, वर्णाभिव्यक्ति मे हेतुभूता वाक् से प्राप्त करता है।" यह सामशब्द

---

१ प्राणवाच्यममनशब्द। २ सलोकतामित्यस्य स्थाने सालोक्यमित्येव पाठो भाष्यानुसारी। ३ स्वात्मन सर्वात्मत्व ब्रुवाणमुपासक ब्रह्मा ब्रूत—केनेति। मे मम ब्रह्मण सर्वात्मन पौंस्नानि पुल्लिङ्गनामानि केन करणभूतेन रूपेण वापासक आप्नोषि प्राप्नोषि इति। एवपृष्टे प्राणेन पञ्चवृत्त्यात्मकेन साधिदैविकेन इति ब्रूयादुपासक प्रत्युत्तरयेदित्यर्थ। पुनर्ब्रह्मा पृच्छति केनेत्यादि पूर्ववत्। अत्रोत्तरवाक्ये वाचेति प्राणनिष्पाद्यया वर्णाभिव्यक्तिहेतुभूतयेत्यर्थ। तृतीयप्रश्नोत्तरे मनसेति साधिदैविकान्त करणेनेत्यर्थ। अत्र यद्यपि नाममात्रावाप्तौ करण वाङ् न तु स्त्री नामाप्तावेव प्राणश्च जीवनमन्तरेण न कुत्रापि करण मनश्च सर्वोपलब्धिसाधारण करण न तु नपुसक नामाप्तावेव तथापि स्त्रीपुमव्यक्तिवत्र झटित्येव नपुसकध्वनेर्बाह्यकरणे प्रत्ययोदयो भवति। ततोऽस्ति तदधिगमे मनसोऽधिको व्यापार इत्यभिप्रेत्योक्त मनसा नपुसकानीति प्राणस्य च वाक्सहकारित्वात् नामाप्तौ करणत्वम् पुस्त्वाच्च तस्य पुनामाप्तौ स्त्रीत्वाच्च वाच स्त्रीनामाप्ताविति विभागो न विरुद्ध इत्यन्यत्र विस्तर। अत्र च प्राणाद्यात्मना नामाप्तिर्नाम तत्तन्नामाभिधेयत्वमेव तच्च प्राणादेरभिधेयरूपतायामेवोपपद्यत इति। ४ अमशब्दाभिधेयस्य प्राणत्वम्। ५ स्पष्टयति। ६. तत्रेति—सर्वपुंशब्दाभिधेय प्राण सर्वस्त्रीशब्दाभिधेय च वागित्यत्रेत्यर्थ। तत्रेति—वाक्प्राणवाचकौ सा अमशब्दावित्यत्रेति वार्थ।

स्तीनामानीति 'वाचा" इति श्रुत्यन्तरात्। वाक्प्राणा'भिधानभूतोऽयं सामशब्दः। तथा प्राणनिर्वर्त्यस्वरादिसमुदायमात्रं गीतिः सामशब्देनाभिधीयते। 'अतो न प्राणवाग्व्यतिरेकेण सामनामास्ति किंचित्स्वरवर्णादिश्च प्राणनिर्वर्त्यत्वात्प्राणतन्त्रत्वाच्च। एष उ एव प्राणः साम यस्मात्साम सामेति वाक्प्राणात्मकं सा चामश्चेति तत्तस्मात्साम्नो गीतिरूपस्य स्वरादिसमुदायस्य सामत्वं तत्प्रगीतं भुवि।

यद्वु एव समस्तुल्यः सर्वेण वक्ष्यमाणेन प्रकारेण तस्माद्वा सामेत्यनेन

प्रमाणयति—केनेति। आचार्यस्य शिष्यं प्रत्येतद्वाक्यम्। पौंस्नानि पुंसो वाचकानि। 'तथाऽपि कस्य "सामशब्दवाच्यत्वमित्याशङ्क्य फलितमाह—वागिति। "वागुपसर्जनः प्राणः सामशब्दाभिधेय एकवचननिर्देशादित्यर्थः। ननु "गीतिषु सामाख्येति न्यायाद्विशिष्टा काचिद्"गीतिः सामेत्युच्यते तत्कुतो वागुपसर्जनस्य प्राणस्य सामत्वमत आह—तथेति। प्राणस्य सामत्वे सतीति यावत्। प्रगीते मन्त्रवाक्ये सामशब्दस्य वृद्धैरिष्टत्वादस्ति प्राणादिव्यतिरेकेण सामेत्याशङ्क्याऽऽह—स्वरेति। आदिपदेन पदवाक्यादिग्रहः। "वागुपसर्जने प्राणे मुख्यः सामशब्दस्तत्संबन्धादितरत्र" गौणो "मञ्चादिशब्दवदित्यर्थः। "उक्तेऽर्थे तत्साम्नः सामत्वमिति वाक्यं योजयति—यस्मादिति। इदं सामेदं सामेति यद्व्यवह्रियते तद्वाक्प्राणात्मकमेवोच्यते सा चामश्चेति "व्युत्पत्तेर्यस्मादेव तस्मात्प्रसिद्धस्य साम्नो यत्सामत्वं तन्मुख्यसामनिर्वर्त्यत्वाद्गौणमेव सदध्येतृव्यवहारे प्रसिद्धमिति योजना।

प्रकारान्तरेण प्राणस्य सामत्वमुपासनार्थमुपन्यस्यति—यदित्यादिना। प्रकारान्तरद्योती

वाक् और प्राण उभय का अभिधानभूत है। तथा प्राण से निष्पन्न स्वरादिसमुदाय साम शब्द से कहा जाता है। अत (प्रसिद्ध सामत्व के प्राणाधीन होने से) प्राणरूप वाक से भिन्न साम नाम की कोई वस्तु नही है। स्वर और वर्णादि प्राण से निष्पन्न होते है, एव प्राण के आधीन हैं। इसलिए यह प्राण ही साम है। "सा और अम" इस विग्रहरूप व्युत्पत्ति मे "साम साम"—इस प्रकार कहा जाने वाला शब्द वाक् और प्राणस्वरूप ही है। इस कारण से गीतिरूप-साम-सञ्ज्ञक स्वरादिसमुदाय का सामत्व होना लोकव्यवहार मे प्रसिद्ध है।

अथवा वह वक्ष्यमाण प्रकार से प्राण सबके "सम" अर्थात् तुल्य है। इसलिए "उ" शब्दार्थक "वा" का "साम" इस वाक्य से सम्बन्ध है। प्राण के सामशब्द लाभ के निमित्तवाली प्रकारा-

---

१ केन मे नपुंसकानीति मनसैवेत्येव ब्रूयादिति श्रुतिशेषो द्रष्टव्य। २ उभयेरर्थ। ३ नमस्त। ४. प्रसिद्धसाम्न सामत्वस्य प्राणाधीनत्वादित्यर्थ। ५ व्युत्पत्तौ। ६. व्यवहारभूमौ। ७. प्राण इति शेष। ८. उशब्दार्थोऽत्र वेति। ९ तथापीति—व्यस्तयो सामशब्दयो. वाक्प्राणवाचकत्वेऽपीत्यर्थ.। १०. सामशब्देनि—समस्तसामशब्देत्यर्थ। ११ ननु वाक्प्राणयो सामत्वे कथ सामेत्येकवचनमर्थभेदादित्याशङ्क्य तयार्गुणप्रधानभाव एव एकवचनकरणे कारणमित्यभिप्रेत्याह—वागिति। १२ जै० ३।१।३६। १३. गानम्। १४. ननु तथा प्राणेत्यादिभाष्यण सामशब्दस्य शब्दार्थस्मकार्यद्वयमुक्त न चैकस्य शब्दस्यैकार्थत्वे सभवति अनेकार्थत्व न्याय्यमित्याशङ्क्याह—वागुपसर्जन इति। सामशब्दस्य मुख्यार्थ भेदाभावात् अर्थान्तरस्य गौणत्वात् मञ्चादिशब्देषु गौणमुख्यार्थभेदस्य दृष्टत्वात् नात्र किंचिदवद्यमिति भाव.। १५. मन्त्रादौ। १६. मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ। १७. उक्तेऽर्थ इति—वागुपसर्जने प्राणे शक्त सामशब्दस्तत् सम्बन्धादितरत्र गौण इत्युक्तेऽर्थ इत्यर्थः। १८ एवमिति—वागुपसर्जनप्राणे मुख्य सामशब्द इत्यर्थ.।

संबन्धः। वाशब्द. [1]सामशब्दलाभनिमित्तप्रकारान्तरनिर्देश[2]सामर्थ्यलभ्यः। केन पुनः प्रकारेण प्राणस्य [3]तुल्यत्वमित्युच्यते—समः [4]प्लुषिणा पुत्तिकाशरीरेण समो मशकेन मशकशरीरेण समो नागेन हस्तिशरीरेण सम एभिस्त्रिभिर्लोकैस्त्रैलोक्यशरीरेण [5]प्राजापत्येन समोऽनेन[6] जगद्रूपेण [7]हैरण्यगर्भेण पुत्तिकादिशरीरेषु गोत्वादिव[8]त्कात्स्न्र्येन [9]परिसमाप्त इति[10] समत्व प्राणस्य। न पुनः शरीरमात्रपरिमाणेनैवामूर्तत्वात्सर्वगतत्वाच्च। न च घटप्रासादादिप्रदीपवत्सङ्कोचविकासितया शरीरेषु [11]तावन्मात्र समत्वम्। [12][13]त एते सर्व एव

वाशब्दोऽत्र न श्रूयत इत्याशङ्क्याऽऽह—वाशब्द इति। [14]निमित्तान्तरमेव प्रश्नपूर्वक प्रकटयति—केनेत्यादिना। ननु प्राणस्य तत्तच्छरीरपरिमाणत्वे परिच्छिन्नत्वादा[15]नन्त्यानुपपत्तिस्तत्कथमस्य विरुद्धेषु शरीरेषु समत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—पुत्तिकादीति। समशब्दस्य [16]यथाश्रुतार्थत्व कि न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न पुनरिति। [17]आधिदैविकेन रूपेणामूर्तत्व सर्वगतत्व च द्रष्टव्यम्। ननु प्रदीपो घटे सकुचति प्रासादे च विकसति तथा प्राणोऽपि मशकादिशरीरेषु सकोचमिभादिदेहेषु विकास चाऽऽपद्यतामिति [18]समत्वासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह— न चेति। प्राणस्य सर्वगतत्वे समत्वश्रुतिविरोधमाशङ्क्याऽऽह—

न्तरद्योतक सामर्थ्य से 'वा' शब्द का श्रवण होता है। अच्छा तो प्राणो की तुल्यता अर्थात् उनका सर्व-समत्व किस प्रकार से है ? अब इसका प्रतिपादन करते है—यह प्राण 'प्लुषिणा' अर्थात् अतिसूक्ष्म शरीररूपा पुत्तिका के सदृश, 'मशकेन' अर्थात् मच्छर के शरीर के सदृश, 'नागेन' अर्थात् हाथी के शरीर के सदृश है। इन 'त्रिभिर्लोकै' अर्थात् प्रजापति के त्रैलोक्यात्मक विराट्शरीर के समान है। इस सम्पूर्ण जगत्रूप हिरण्यगर्भ के समान है। जिस प्रकार गोशरीर मे सर्वावयव अवच्छेदरूप से गोत्व व्याप्त है, उसी प्रकार वह पुत्तिकादि शरीरो म व्याप्त है, इस कारण से उनके समान प्राण है। शरीरमात्र-परिमाण के कारण समान नही, क्योकि यह अमूर्त और सर्वगत है। घट म सङ्कोच को प्राप्त होने

१ प्राणस्य सामशब्दलाभेत्यथ। २ उनिपातस्य प्रकारान्तरावद्योतकस्य सत्त्वादिद चाद्यान्तरमसङ्गतमित्यरुचे यद्वेति वाक्यतात्पर्यमाहुर्वार्तिकाचार्या — नि शेषभूतसाम्याद्वा सामप्राणोऽभिधीयत। प्रत्यगज्ञानहेतुत्वात्तज्जस्याऽऽनन्त्यमुच्यते ॥२०४॥ इति। सवसमत्वेन प्राणस्यानन्त्यमयुक्त सत्य ज्ञानमनन्तमित्यादिश्रुतब्रह्मण एवाऽनन्तात्वान्नहि द्वयोरानन्त्य मुख्यमित्याशङ्क्याह—प्रत्यगिति। अज्ञानज यस्य प्राणस्याऽऽनन्त्यमापेक्षिकम् धर्मिवद्धर्मस्यापि तज्जन्यत्वात्तन्नानुपपत्तिरित्यथ। अस्मिन्पक्षे उनिपातो विकल्पाथ सन्नानन्त्यावद्यातीत्यावलनीयम्। ३ सवसमत्वम्। ४ प्लुषिणेति— अतिसूक्ष्मशरीरा हि पुत्तिका प्लुषिरुच्यत। पुत्तिकादिशरीरेण सम प्राणस्तदाश्रयात् ॥२०५॥ इति वार्तिके। तदाश्रयादिति—तत्र तत्र देह समाप्यवृत्तेरित्यर्थ। पुत्तिका चातिसूक्ष्मतमम—मशकभेद। ५ त्रैलोक्यात्मकविराट्शरीरेणत्यर्थ। ६ सर्वेण। ७ हैरण्यगर्भेणति- ननु प्राणो नाम सूत्रात्मा तस्य तेनैव साम्य कथमित्याशङ्क्य समाहित वार्तिके— तथा हैरण्यगर्भेण लिङ्गात्मा सम एव तु इति ॥ २०६॥ क्रियाशक्तिमतो ज्ञानशक्तिमत्ता साम्यमिति भाव। उभयशक्त्यात्मा हि स इति। ८ सर्वावयवावच्छेदेन। ९ व्याप्त। १० हेतो। ११ परिमाणमात्ररूपम्। १२ त एते इति सर्वे वागादय समास्तुल्या केन रूपणेत्याकाङ्क्षायामाह—सर्वेऽनन्ता इति। आधिदैविकरूपणाशेषजगद्व्यापिन इत्यर्थ। १३ प्रकारान्तरमित्यर्थं। १४ एतेन वार्तिकोक्तमानन्त्यमप्यभिमतमित्यमूचि। १५ तत्तच्छरीरपरिमाणत्वरूपम्। १६ नत्वाप्यामितेन जडरूपेणेत्यथ। १७ एकरसत्वासिद्धिरित्यर्थं।

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदँसर्व-मुत्तब्धं वागेव गीथोच्च गीथा चेति स उद्गीथः ॥२३॥

यह प्राण ही उद्गीथ है, प्राण ही "उत्" है, क्योंकि प्राण से ही यह जगत् ऊपर की ओर धारण किया हुआ है। वाक् ही "गीथा" है, वह प्राण "उत्" है और यह गीथा प्राणतन्त्रा वाक् भी है। अतः (दोनों का एक शब्द से कथन होने के कारण) उद्गीथ है ॥२३॥

समाः सर्वेऽनन्ताः[1]" इति श्रुतेः। सर्वगतस्य तु शरीरेषु शरीरपरिमाणवृत्तिलाभो न विरुध्यते। एवं समत्वात्सामाख्यं प्राणं वेद यः श्रुतिप्रकाशितमहत्त्वं तस्यैतत्फलमश्नुते व्याप्नोति साम्नः प्राणस्य सायुज्यं सयुग्भावं समानदेहेन्द्रियाभिमानत्वं सालोक्यं समानलोकतां वा [2]भावनाविशेषतो य एवमेतद्यथोक्तं साम प्राणं वेद। आ प्राणात्माभिमानाभिव्यक्तेरुपास्त इत्यर्थः ॥२२॥

'एष उ वा उद्गीथः। उद्गीथो नाम सामावयवो भक्तिविशेषो नोद्गानम्। सामा-

---

सर्वगतस्येति। 'खण्डादिषु गोत्ववच्छरीरेषु सर्वत्र स्थितस्य प्राणस्य तत्तच्छरीरपरिमाणया [4]वृत्तेर्लाभः संभवति सर्वगतस्यैव नभसस्तत्र तत्र कूपकुम्भाद्यवच्छेदोपलम्भादित्यर्थः। फलश्रुतिमवतार्य व्याकरोति—एवमिति। फलविकल्पे हेतुमाह—भावनेति। वेदनं व्याकरोति—आ प्राणेति। [6]इदं च फलं मध्यप्रदीपन्यायेनोभयतः संबद्धमवधेयम् ॥२२॥

[7]प्रस्तावादिशब्दवदुद्गीथशब्दस्यापि भक्तिविशेषे रूढत्वादुद्गीथेनात्ययामेत्यत्र चौद्गात्रे [8]कर्मणि प्रयुक्तत्वात्कथमुद्गीथः प्राण इत्याशङ्क्याऽऽह—उद्गीथो नामेति। नञ्पदस्योभयतः संबन्धः।

वाले एवं महल में विकास को प्राप्त होने वाले प्रदीप के समान शरीरों में भी उतने परिमाणमात्ररूप वाला होने से इसका समत्व नहीं है। श्रुति से यही अभिलक्षित होता है—"वे ये वागादि सभी तुल्य हैं, क्योंकि आधिदैविकरूप में अशेष-जगद्व्यापी है" सर्वगत प्राण का प्रत्येक शरीरों में शरीर के परिमाणानुसार स्वरूपलाभ करने में कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार समत्व होने से श्रुति द्वारा प्रमाणित महत्व वाले सामनामक प्राण को जो पुरुष जानता है, उसे वह फल मिलता है, वह सामनामक प्राण का 'सायुज्यम्' अर्थात् सम्मिलनभाव या उसके साथ समान देह और इन्द्रियादि का अभिमानत्व प्राप्त करता है, तथा उपास्ति वैलक्षण्य से सालोक्य अर्थात् समानलोकता को प्राप्त करता है, जो इस प्रकार इस यथोक्त सामरूप प्राण को जानता है, अर्थात् प्राणात्म-अभिमान उदय होने पर्यन्त उसकी उपासना करता है ॥२२॥

'यह (प्रकरणस्थ प्राण) ही उद्गीथ है'। साम अवयवरूप भक्तिविशेष का नाम 'उद्गीथ' है, उद्गीथ से उद्गान अर्थ नहीं समझना, क्योंकि यहाँ सामशब्दित प्राण का ही प्रकरण चल रहा है।

---

१. बृ०उ० १.५.१३। २ उपास्तिवैलक्षण्यात्। ३. प्रकृत्. प्राण। ४. व्यक्तिषु। ५ स्वरूपस्य। ६. एतस्य सायुज्यादे प्रधानफलत्वादयमपि विशिष्टविधिरेवेत्यभिप्रेत्याह—इदं चेति। ७. आदिना छान्दोग्योक्ता हिङ्कारादयो ग्राह्याः। ८ उद्गाने।

धिकारात् । कथमुद्गीथः प्राणः । 'प्राणो वा उत्प्राणेन हि यस्मादिदं सर्वं जगदुत्तब्धमूर्ध्वं स्तब्धमुत्तम्भितं विधृतमित्यर्थः । उत्तब्धार्थविद्योतकोऽयमुच्छब्दः प्राणगुणाभिधायकः । तस्मादुत्प्राणो वागेव गीथा शब्दविशेषत्वादुद्गीथभक्तेः । गायतेः शब्दार्थत्वात्सा वागेव । न ह्युद्गीथभक्तेः शब्दव्यतिरेकेण किञ्चिद्रूपमुपलभ्यते तस्माद्युक्तमवधारण वागेव गीथेति । उच्च प्राणो गीथा च प्राणतन्त्रा वागित्युभयमेकेन शब्देनाभिधीयते स उद्गीथः ॥२३॥ उक्तार्थदार्ढ्यायाऽऽख्यायिकाऽऽरभ्यते—

सामशब्दितस्य प्राणस्य प्रकृतत्वादिति हेतुमाह—सामाधिकारादिति । न तावदुद्गीथशब्दस्य प्राणे रूढिस्तस्य तस्मिन्वृद्धप्रयोगादर्शनान्नापि योगोऽवयववृत्तेरदृष्टेरिति शङ्कते—कथमिति । योगवृत्तिमुपेत्य परिहरति—प्राण इति । उच्छब्दो नास्यार्थस्य वाचको निपातत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—उत्तब्धेति । तथाऽपि कथं प्राणो वा उदित्युक्तं तत्राऽऽह—प्राणेति । "वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम्' इत्यादि"श्रुतेरित्यर्थः । "उद्गीथभक्तेः शब्दविशेषत्वेऽपि गीथा वागिति कथमुच्यते तत्राऽऽह—गायतेरिति । अथावधारणं साधयति—न हीति । "तथाऽपि कथं प्राणस्योद्गीथत्वमित्याशङ्क्य वागुपसर्जनस्य तस्य तथात्वं कथयति—उच्चेति ॥२३॥

प्राण उद्गीथ किस प्रकार से है ? 'प्राणो वा उत्' अर्थात् प्राण ही उत् है, प्राण के द्वारा ही यह सम्पूर्ण जगत् विधृत है, ऊपर की ओर निश्चेष्ट है, उत्तम्भित है, धारण किया हुआ है । (निपात के अनेकार्थक होने से) यह 'उत्' शब्द उत्तब्ध अर्थ का द्योतन करता है, 'उत्' शब्द उत्तम्भनरूप प्राण के गुण का बोधक है । (प्राण के सर्वजगत्-विधारक होने से) प्राण उत् है । (प्राण 'उत्' है, वहाँ गीथा शब्द का अभाव है तो उद्गीथ की सिद्धि कैसे हुई ?) वाक् ही गीथा है, क्योंकि उद्गीथभक्ति के शब्दविशेष होने के कारण वह उद्गीथ भक्ति है । 'जिससे गाया जाय' इस व्युत्पत्ति के द्वारा गीथा शब्द का अर्थ वाक् ही है । उद्भक्ति के रूप की शब्द से भिन्न कोई उत्प्रेक्षा प्रस्तुत नहीं की जा सकती । इसलिए वाक् ही गीथा है, ऐसा निश्चय करना ही ठीक है । उत् प्राण है, और गीथा प्राण के आधीन

१ प्राणो वा उदिति । तदुक्तं वार्तिके—"उपसर्ग उदित्येष स चात्यन्तक्रियाश्रितः । संयोज्य क्रिययाऽस्तत्त्व्याचष्टे श्रुतिरञ्जसा"॥३१८॥ अत्यन्तक्रियाश्रित इति—उत्कृष्टक्रियावाचक इत्यर्थः । उत्कर्षवाचक इति यावत् । तत्क्रियया संयोज्य उत्कर्षवाचकत्वं तस्य मनसि कृत्वा सर्वोत्तम्भकत्वं तस्य ब्रूत इत्यर्थः । अञ्जसा साक्षात् ॥ २ सर्वं जगदुत्तब्धमिति । अत्र वार्तिकम्—'उत्तब्धं विधृतं यस्मात् प्राणेन जगदित्वरम् । उत्प्राणोऽत्र प्रसिद्धस्तु गुणादुद्गीथ उच्यते ॥"३१९॥ प्रसिद्ध- सामभक्तिविशेषः । गुणात् आरोपात् । प्राणनिर्वर्त्यत्वादिति भावः । ३ निपातानामनेकार्थत्वात् । ४ उत्तम्भनं प्राणगुणः । ५ तस्मादिति—प्राणस्य सर्वजगद्विधारकत्वादित्यर्थः । ६ प्राणस्योच्छब्दत्वेऽपि गीथशब्दत्वाभावात् कथमुद्गीथत्वमित्याशङ्क्य गीथशब्दार्थमाह—वागिति । ७ उद्गीथभक्तेरिति—उद्गीथभक्तेः शब्दविशेषत्वात् सा उद्गीथभक्तिः गीयतेऽनयेति व्युत्पत्तेः गीथशब्दार्थो वागेवेत्यर्थः । ८ गायतेरिति गीयतेऽनयेति व्युत्पत्तेः गीथा वागित्यर्थः । ९ उपलभ्यत इति—नहि तत्कर्मकोद्गानकरणत्वम् वागतिरिक्ते चोपकल्प्यत इति शेषः । १० तस्मादिति—तत्कर्मकोद्गानकरणत्वस्य वाचैव सत्त्वादित्यर्थः । ११. स उद्गीथ इति—उद्गीथशब्दितप्राणनिर्वर्त्यतयोपचाराद्भक्तेस्तत्त्वसम्भवे न तत्रापि शक्ति कल्प्या गौरवादिति भावः । १२ अप्रतीतः । १३ बृ०उ० ३७२ । १४ इम हि वायो सूत्रत्व ब्रुवाणा सर्वोत्तम्भनं तत्कर्तृकं ब्रूते सूत्रस्योद्ग्रथनसामर्थ्यात् । १५ उक्ताभिप्रायमजानान शङ्कते-उद्गीथभक्तेरिति । १६ तथापीति—प्राणस्योच्छब्दार्थत्वेऽपि वाचश्च गीथाशब्दार्थत्वेऽपीत्यर्थः ।

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयताद्यदितोऽयास्य

उक्त विषय मे यह आख्यायिका भी सुनी जाती है। चिकितान के पुत्र ब्रह्मदत्त ने यज्ञ में सोम का भक्षण करते हुये कहा—"यदि अयास्य और आङ्गिरस नामक प्राण ने वाक्‌संयुक्त-प्राण से भिन्न

तद्धापि तत्रैतस्मिन्नुक्तेऽर्थे ह्यप्याख्यायिकाऽपि श्रूयते ह स्म। ब्रह्मदत्तो नामतः। चिकितानस्यापत्यं चैकितानस्तदपत्यं युवा चैकितानेयो राजानं यज्ञे सोमं भक्षयन्नुवाच किमय चमसस्थो मया भक्ष्यमाणो राजा त्यस्य तस्य ममानृतवादिनो मूर्धानं शिरो विपातयताद्विस्पष्ट पातयतु। तोरयं तातङादेश आशिषि लोड्विपातयतादिति। यद्यहम-

तद्धापीत्यादिवाक्यस्य 'प्रकृतानुपयोगमाशङ्क्याऽऽह—उक्तार्थेति। उद्गीथदेवता प्राणो न 'वागादिरित्युक्तार्थं। 'जीवति तु वश्ये युवा' (पा० सू० ४।१।१६३) इति स्मरणात्पित्रादौ वश्ये जीवति पौत्रप्रभृतेर्यदपत्य तद्युवसज्ञकमिति द्रष्टव्यम्। क्रियापदनिष्पत्तिप्रकार सूचयति—तोरिति। तुप्रत्यय-स्यायमाशिषि विषये तातङादेश 'तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम्' (पा० सू० ७।१।३५) इति स्मरणादि-त्यर्थं। मूर्धपातप्रापक दर्शयति—यदीति। अनृतवादित्वस्य प्रापकाभावादप्राप्तिरिति शङ्कते—कथ पुनरिति। उद्गानस्य 'बुद्ध्यादिसनिधानात्तद्देवता 'प्राजापत्यादिलक्षणा किं तस्मिन्देवता किं वा वर्ण-स्वरा'दिसनिधानात्तद्देवतैव तत्र देवतेति 'विप्रतिपत्तेरनृतवादित्वे शङ्किते ब्रह्मदत्त शपथेन निर्णयं चकारेत्याह—उच्यत इति। प्राणाद्वाक्सयुक्तादन्येनायास्यो यद्युदगायदिति सबन्ध। नन्वयास्याङ्गिर-

वाक् है दोनों का जब एक शब्द से कहा जाता है तो वह "उद्गीथ' शब्द होता है ॥२३॥

उक्त अर्थ की पुष्टि के लिए आख्यायिका का आरम्भ करते है—'तद्धापि'—अर्थात् इस उपर्युक्त विषय म यह आख्यायिका भी सुनी जाती है। 'ब्रह्मदत्त' अर्थात् ब्रह्मदत्त नाम का। चिकितान का अपत्य चैकितान उसकी युवा सन्तान चैकितानेय कहलाती है, यज्ञ म 'राजानम्' अर्थात् सोम को भक्षण करते हुए बोला—मेरे द्वारा भक्षण किया जाता हुआ यह सोम 'त्यस्य' उस मुझ मिथ्यावादी के 'मूर्धानम्' अर्थात् शिर को "विपातयतात्" अर्थात् बिल्कुल गिरा दे। 'विपातयतात्' शब्द कैसे सिद्ध हुआ? आशीर्वाद अर्थ मे लोट लकार म 'तु' प्रत्यय को (तुह्योस्तातङाशिष्यन्तरस्याम् सूत्र से) तानङ् आदेश होकर 'विपातयतात' शब्द की निष्पत्ति हुई। यदि मैं मिथ्यावादी होऊं तो शिर पात हो—यह अर्थ है। परन्तु अनृतवादित्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है?—इस पर कहते है। 'यत्'

१ विश्वसृजामृषीणा सत्र। सत्र नाम यत्र ऋत्विज एव यजमाना स्वयभूत्वा विचारादि कुर्वंत। २ उद्गीथ-देवताया प्राण प्रकृतऽनुपकारकत्वम्। ३ पूर्वं प्राणसवादे उक्त। ४ बुद्ध्यादीति—अबुद्धरुद्गानानुत्पत्तेरुद्गा-नस्य बुद्ध्यादिसनिधानम्। आदिपदन वागादिग्राह्यम् वागादीना चोद्गानसबन्धस्त्व न उद्गायति स्पष्ट एवोक्त। ५ प्राजापत्यादीति—प्रजापतिश्चतुर्मुख तस्यापत्यानि बृहस्पत्यादय प्राजापत्या बुद्धिदेवता बृहस्पति ॥ ६ आदिना पदवाक्यस्थानानि कठादि च स्थानम्। ७ विप्रतिपत्तेरिति—ब्रह्मदत्तोद्गातृके यज्ञे समागतानामृषीणा-मुद्गीथदेवतानिश्चयाभावात्तामुद्दिश्योक्तरीत्या विप्रतिपत्तिरासीत्। तत परस्परस्मिन् अनृतवादित्व तै शङ्किते सति विद्वदग्रणीब्रह्मदत्त उद्गाता सर्वेराप्ततमत्वात् साक्षीकृत स शपथद्वारेष्टदेवतानिर्णय चकारेत्यर्थं।

आङ्गिरसोऽन्येनोदगायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति ॥२४॥

देवता द्वारा उद्गान किया हो, तो (मैं मिथ्यावादी ठहरूंगा, ऐसे विपरीत ज्ञानवाला) मेरा शिर यह सोम देवता गिरा देवें'' । अतः उस ब्रह्मदत्त ने प्राण और वाक् के ही द्वारा उद्गान किया था, यही अर्थ इस शपथ से निश्चित होता है ॥२४॥

नृतवादी स्यामित्यर्थः । कथं पुनरनृतवादित्वप्राप्तिरिति । उच्यते—यद्यदीतोऽस्मात्प्रकृतात्प्राणाद्वाक्संयुक्तादयास्यो मुख्यप्राणाभिधायकेनायास्याङ्गिरसशब्देनाभिधीयते 'विश्वसृजां पूर्वर्षीणां सत्र उद्गाता 'सोऽन्येन देवतान्तरेण वाक्प्राणव्यतिरिक्तेनोदगायदुद्गानं कृतवान् । 'ततोऽहमनृतवादी स्यां तस्य मम देवताविपरीतप्रतिपत्तुर्मूर्धानं विपातयत्विस्येवं शपथं चकारेति विज्ञाने प्रत्ययदार्ढ्यकर्तव्यतां दर्शयति । तमिममाख्यायिकानिर्धारितमर्थं स्वेन वचसोपसंहरति श्रुतिः—वाचा च प्राणप्रधानया प्राणेन च स्वस्याऽऽत्मभूतेन 'सोऽयास्य

सशब्दवाच्यो मुख्यप्राणो देवतात्वान्नोद्गाता भवितुमुत्सहते तत्राऽऽह—मुख्येति । उक्तार्थदाढर्ये'त्युक्तमुपसंहरति—इति विज्ञान इति । उक्तरीत्या शपथक्रियया प्राण एवोद्गीथदेवतेत्यस्मिन्विज्ञाने प्रत्ययो विश्वासस्तस्य यद्दाढ्यं तस्य कर्तव्यतामाख्यायिकया दर्शयति श्रुतिरिति यावत् । आख्यायिकार्थस्यैव वाचेत्यादिनोक्तेः पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तमिममिति । 'शपथस्य स्वातन्त्र्येणाप्रामाण्येऽपि श्रुतिमूलतया प्रामाण्यं सिध्यतीति भावः ॥२४॥

अर्थात् जो 'इत' अर्थात् इस प्रकृत वाक्सयुक्त प्राण से 'अयास्य' अर्थात् मुख्य प्राण का अभिधायक अयास्य आङ्गिरस शब्द से कहा जाता है, इस नाम वाला वह अयास्य-आङ्गिरस विश्वसृज् नामक पूर्व ऋषियो के यज्ञ मे उद्गाता था । उसने 'अन्येन' अर्थात् वाक् प्राण से भिन्न किसी दूसरे देवता द्वारा 'उद्गायत' अर्थात् उद्गान किया हो, तो मैं अनृतवादी होऊं । ऐसे मुझ देवतासम्बन्धी विपरीतज्ञान धारण करने वाले का मस्तक गिरा दे । इस प्रकार जो उस (ब्रह्मदत्त) ने कसम खायी, वह ('प्राण ही उद्गीथ देवता है') इस विज्ञान मे विश्वास दृढ करने के लिए है—यह स्पष्ट होता है । आख्यायिका द्वारा निर्णीत इस अर्थ का (स्वतन्त्ररूप से आख्यायिकागत उक्त शपथ अप्रामाण्य है, परन्तु श्रुतिमूलक होने के कारण प्रामाण्य है, इसलिए) श्रुति अपनी ही वाणी द्वारा उपसहार करती है—उस (विश्व-

---

१ एतन्नामकानाम् । २ य बभूव स । ३ तत इति-उद्गीथदेवतात्वेन मदभिमतप्राणादन्येन देवतान्तरेणा-
यास्यकर्तृकोद्गानादित्यर्थः । ४ वागुपसर्जन प्राण एव देवतोद्गीथस्येतीममर्थम् । ५ सोऽयास्य इति-पूर्वेषा
नैमिषारण्यवासिना विश्वसृजामृषीणा सत्रे (बहुयजमानके कर्मणि) य उद्गाताऽभूत् स वायास्यप्राणस्यात्मत्वेनो-
पासनात् तद्रूपस्तन्नामा सवृत्त स वागुपसर्जन प्राणमुद्गीथदेवतात्वेनोपेत्य प्राणोपसर्जनभूतया वाचोद्गात्र कर्म कृत-
वान् तस्मादौद्गात्रस्य प्राण एव देवतेत्येषोऽर्थो विचार्य निर्धारित इति भाव । ६ इत्युक्तमिति-इति वाक्येन
प्रतिज्ञातमाख्यायिकार्थमित्यर्थ । ७ ननु शपथस्य स्वयमेव मानत्वान्न श्रुतेरपेक्षा न हि मान मानान्तरमपेक्षत
इत्याशङ्क्याह—शपथस्येति । तस्य हि स्मृत्याचारयोरन्यतरस्य वेदमूलत्वादेव मानत्व स्थित पूर्वतन्त्र इति ।
स्मृति—ऋषिवाक्यम् ।

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयताद्यदितोऽयास्य

उक्त विषय में यह आख्यायिका भी सुनी जाती है। चिकितान के पुत्र ब्रह्मदत्त ने यज्ञ में सोम का भक्षण करते हुये कहा—"यदि अयास्य और आङ्गिरस नामक प्राण ने वाक्संयुक्त-प्राण से भिन्न

तद्धापि तत्तत्रैतस्मिन्नुक्तेऽर्थे हाप्याख्यायिकाऽपि श्रूयते ह स्म। ब्रह्मदत्तो नामतः। चिकितानस्यापत्यं चैकितानस्तदपत्यं युवा चैकितानेयो राजानं यज्ञे सोमं भक्षयन्नुवाच किमयं चमसस्थो मया भक्ष्यमाणो राजा त्यस्य तस्य ममानृतवादिनो मूर्धानं शिरो विपातयताद्विस्पष्टं पातयतु। तोरयं तातङादेश आशिषि लोड्विपातयतादिति। यद्यहम-

तद्धापीत्यादिवाक्यस्य 'प्रकृतानुपयोगमाशङ्क्याऽऽह—उक्तार्थेति। उद्गीथदेवता प्राणो न 'वागादिरित्युक्तार्थः। 'जीवति तु वंश्ये युवा' (पा० सू० ४।१।१६३) इति स्मरणात्पित्रादौ वंश्ये जीवति पौत्रप्रभृतेर्यंदपत्य तद्युवसंज्ञकमिति द्रष्टव्यम्। क्रियापदनिष्पत्तिप्रकारं सूचयति—तोरिति। तुप्रत्ययस्यायमाशिषि विषये तातङादेश. 'तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम्' (पा० सू० ७।१।३५) इति स्मरणादित्यर्थ.। मूर्धपातप्रापकं दर्शयति—यदीति। अनृतवादित्वस्य प्रापकाभावादप्राप्तिरिति शङ्कते—कथ पुनरिति। उद्गानस्य 'बुद्ध्यादिसंनिधानात्तद्देवता 'प्राजापत्यादिलक्षणा किं तस्मिन्देवता किं वा वर्णस्वरा'दिसंनिधानात्तद्देवतैव तत्र देवतेति 'विप्रतिपत्तेरनृतवादित्वे शङ्किते ब्रह्मदत्तः शपथेन निर्णयं चकारेत्याह—उच्यत इति। प्राणाद्वाक्संयुक्तादन्येनायास्यो यद्युदगायदिति संबन्धः। नन्वयास्याङ्गिर-

वाक् है, दोनो को जब एक शब्द से कहा जाता है तो वह "उद्गीथ" शब्द होता है ॥२३॥

उक्त अर्थ की पुष्टि के लिए आख्यायिका का आरम्भ करते हैं—'तद्धापि'—अर्थात् इस उपर्युक्त विषय में यह आख्यायिका भी सुनी जाती है। 'ब्रह्मदत्त' अर्थात् ब्रह्मदत्त नाम का। चिकितान का अपत्य चैकितान उसकी युवा सन्तान चैकितानेय कहलाती है, यज्ञ में 'राजानम्' अर्थात् सोम को भक्षण करते हुए बोला—मेरे द्वारा भक्षण किया जाता हुआ यह सोम 'त्यस्य' उस मुझ मिथ्यावादी के 'मूर्धानम्' अर्थात् शिर को "विपातयतात्" अर्थात् बिल्कुल गिरा दे। 'विपातयतात्' शब्द कैसे सिद्ध हुआ? आशीर्वाद अर्थ में लोट् लकार में 'तु' प्रत्यय को ('तुह्योस्तातङाशिष्यन्तरस्याम्' सूत्र से) तातङ् आदेश होकर 'विपातयतात्' शब्द की निष्पत्ति हुई। यदि मैं मिथ्यावादी होऊं तो शिर पात हो—यह अर्थ है। परन्तु अनृतवादित्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है?—इस पर कहते हैं। 'यत्'

१ विश्वसृजामृषीणा सत्रे। सत्र नाम यत्र ऋत्विज एव यजमाना स्वयभूत्वा विचारादि कुर्वत। २ उद्गीथदेवताया प्राणे प्रकृतेऽनुपकारकत्वम्। ३ पूर्वं प्राणसवादे उक्त। ४ बुद्ध्यादीनि—अबुद्धेरुद्गानानुत्पत्तेरुद्गानस्य बुद्ध्यादिसंनिधानम्। आदिपदेन वागादिग्राह्यम् वागादीना चोद्गानसबन्धस्त्व न उद्गायेति स्पष्ट एवोक्त। ५ प्राजापत्यादीति—प्रजापतिश्चतुर्मुख तस्यापत्यानि बृहस्पत्यादय प्राजापत्या बुद्धिदेवता बृहस्पति ॥ ६ आदिना पदवाक्यस्थानानि कण्ठादि च स्थानम्। ७ विप्रतिपत्तेरिति—ब्रह्मदत्तोद्गातृके यज्ञे समागतानामृषीणामुद्गीथदेवतानिश्चयाभावात्तामुद्दिश्योक्तरीत्या विप्रतिपत्तिरासीत। तत परस्परस्मिन् अनृतवादित्वे सं शङ्किते मति विद्वदग्रणीर्ब्रह्मदत उद्गाता सर्वैराप्तनमत्वात् साक्षीकृत स शपथद्वारेष्टदेवतानिर्णय चकारेत्यर्थ.।

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः॥२७॥

जो पुरुष उस इस साम की प्रतिष्ठा को जानता है, वह प्रतिष्ठित होता है। निश्चय ही उस साम की वाणी ही प्रतिष्ठा है, नि सदेह वाक् मे प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण गाया जाता है, अर्थात् गीतिभाव को प्राप्त होता है। कुछ लोग कहते है कि वह प्राण अन्न मे प्रतिष्ठित होकर गाया जाता है। (अत प्राण की प्रतिष्ठा वाक् है, अथवा अन्न है ऐसी दृष्टि करे।) ॥२७॥

यथा यथोपासते" इति श्रुतेस्तद्गुणत्वं युक्तम्। पूर्ववत्फलेन प्रलोभिताय का प्रतिष्ठेति शुश्रूषव आह–तस्य वै साम्नो वागेव। वागिति जिह्वामूलादीना स्थानानामाख्या। सैव प्रतिष्ठा। [1]तदाह—वाचि हि जिह्वामूलादिषु हि यस्मात्प्रतिष्ठितः सन्नेष प्राण [2]एतद्गानं गीयते गीतिभावमापद्यते तस्मात्साम्नः प्रतिष्ठा वाक्। अन्ने प्रतिष्ठितो गीयत इत्यु हैकेऽन्य आहुः। इह प्रतितिष्ठतीत्युक्तम्। अनिन्दितत्वादेकीयपक्षस्य विकल्पेन [3]प्रतिष्ठागुणविज्ञानं कुर्याद्वा[4]ऽथवा प्रतिष्ठाऽन्नं वेति ॥२७॥

शिर.कण्ठदन्तोष्ठनासिकाताल्वूनि गृह्यन्ते। किमित्यष्टौ स्थानानि वागित्युच्यन्ते [5]तत्राऽऽह—वाचि हीति। पक्षान्तरमाह—अन्न इति। [6]अन्नशब्देन तत्परिणामो देहो गृह्यते। एकीयपक्षे [7]युक्तिमाह—इहेति। कथ [8]तर्हि प्रतिष्ठागुणस्य प्राणस्य [9]विज्ञान कर्तव्यमत आह—अनिन्दितत्वादिति ॥२७॥

अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए ॥२६॥

स्व और सुवर्ण के समान दूसरा प्रतिष्ठागुण विधान करने की इच्छा से श्रुति कहती है—'जो उस, इस साम की प्रतिष्ठा को जानता है'। प्रतिष्ठा किसे कहते हैं? क्योंकि इसमे प्रतिष्ठित होता है। कौन होता है? वह वाक्। यही वाक् उसकी प्रतिष्ठा है। जो सामशब्दितप्राण के गुण प्रतिष्ठा को जानता है, वह लोक मे प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। "उसकी जो जिस-जिस रूप से उपासना करता है, (वही हो जाता है)" इस श्रुति के प्रमाण से उसका वैसे गुणो वाला हो जाना युक्तिसगत है। पूर्वप्रतिपादित प्रक्रिया के समान ही तब श्रुति कहती है, जब फल का लोभी तथा श्रोता पूछता है?' 'वह प्रतिष्ठा क्या है 'वागेव' इस पद मे वाक् यह जिह्वामूलीयादि स्थानो का नाम है। उस साम की वही प्रतिष्ठा है। इसी बात को कहते है। क्योंकि 'वाचि' अर्थात् जिह्वामूलीयादि स्थानो मे प्रतिष्ठित हुआ यह प्राण 'एतद् गान गीयते' अर्थात् गीतिभाव को प्राप्त होता है। इसलिए साम की प्रतिष्ठा वाक्

---

१ तदाहेति—वाचा तया ग्रहण हेतुपर वाचि हीत्यादिवाक्यमित्याहत्यर्थ। २ क्रियाविशेषणमेतत्। ३ प्रतिष्ठागुणकस्य प्राणस्य विज्ञानमुपासनम्। ४ विकल्पमेव विशदयति-वाथवेति। ५ तत्राहेति—वाक्शब्देन स्थानानामुपादाने हतुप्रदर्शक वाचीतिप्रभृतिवाक्यमित्याहत्यर्थ। ६ ननु व्रीह्याद्यन्न प्राणस्य न प्रतिष्ठा नहि तत्प्रतिष्ठित स दृश्यते अत आह—अन्नेति। अन्नमशित त्रेधेत्यादिश्रौतक्रमेणान्नविकारो देहस्तत्र स्थित प्राणो गीतित्व यतो गच्छत्यत स प्राणप्रतिष्ठोच्यते पक्षान्तरोक्तिश्रुत्यत्यर्थ। ७ युक्तिमाहेति- उक्तयुक्ति वाक्यमाहत्यर्थ। ८ प्राणस्य प्रतिष्ठाद्वयवत्त्वे। ९ विज्ञानकर्तव्यमिति -कि प्रतिष्ठितस्य प्राणस्य विज्ञान कर्तव्यमिति प्रश्नार्थ।

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥२६॥

जो उस इस साम के सुवर्ण को जानता है, उसे सुवर्ण प्राप्त होता है। उसका स्वर ही सुवर्ण है, जो इस प्रकार साम के सुवर्ण को जानता है उसे लौकिक सुवर्ण या स्वर प्राप्त होता है ॥२६॥

[1]अथान्यो गुणः [2]सुवर्णवत्तालक्षणो विधीयते । असावपि सौस्वर्यमेव । एतावान्विशेषः । [3]पूर्वं कण्ठगतमाधुर्यमिदं[4] तु लाक्षणिकं सुवर्णशब्दवाच्यं, तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य [5]सुवर्णम् । [6]सुवर्णशब्दसामान्यात्स्वरसुवर्णयोः । लौकिकमेव [7]सुवर्णं गुणविज्ञानफलं भवतीत्यर्थः । तस्य वै स्वर एव सुवर्णम् । भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेदेति पूर्ववत्सर्वम् ॥२६॥

[8]तथा [9]प्रतिष्ठागुणं विधित्सन्नाह—तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद । प्रतितिष्ठत्यस्यामिति प्रतिष्ठा वाक्तां प्रतिष्ठां [10]साम्नो गुणं यो वेद स [11]प्रतितिष्ठति ह । [12]तं

साम्नो गुणान्तरमवतारयति—अथेति । तर्हि पुनरुक्तिः स्यात्तत्राऽऽह—एतावानिति । "लाक्षणिकं कण्ठ्योऽयं वर्णो दन्त्योऽयमिति लक्षणज्ञानपूर्वकं सुष्ठु वर्णोच्चारणं ममैव सामशब्दितप्राणभूतस्य धनमिति यावत् । लाक्षणिकसौस्वर्यगुणवत्प्राणविज्ञानवतो यथोक्तफललाभे हेतुमाह—सुवर्णशब्देति । वाक्यार्थमाह—लौकिकमेवेति । फलेन प्रलोभ्याभिमुखीकृत्य किं तत्सुवर्णमिति शुश्रूषवे ब्रूते—तस्येति । गुणविज्ञानफलमुपसंहरति—भवतीति । साम्नस्तच्छब्दवाच्यस्य प्राणस्य "स्वरूपभूतस्येति यावत् ॥२६॥ उपास्यस्य प्रतिष्ठागुणत्वेऽपि कथमुपासकस्य तद्गुणत्वं तत्राऽऽह—तं यथेति । आदिपदादुर-

वाह्य धन से सम्बन्ध प्रदर्शन के अनन्तर दूसरे सुवर्णवत्त्व (आन्तर धनवत्व) लक्षण वाले गुण का प्रतिपादन करते हैं। यह भी स्वर-माधुर्यरूप ही है। इसमें इतनी ही विशिष्टता है, कि पहली स्वशब्दवाच्य सुस्वरता कण्ठगत माधुर्य की द्योतिका थी, वह सौवर्ण्य सुवर्णशब्दवाच्य लाक्षणिक है। जो पूर्ववर्णित इस साम के सुवर्ण को जानता है, उसे लोकप्रसिद्ध स्वर्ण मिलता है। स्वर और सुवर्ण, इन दोनों में सुवर्णशब्द-वाच्यत्व समान रूप से हैं। गुण और उपासना का फल लौकिक स्वर्ण ही होना है—इसका तात्पर्य है। उस साम का स्वर ही सुवर्ण है, यह निर्विवाद सिद्ध है। उसे सुवर्ण प्राप्त होता है, जो इस प्रकार सामशब्दवाच्य स्वरूपभूत प्राण की सुवर्णत्व भाव से उपासना करता है—इस प्रकार शेष

१ बाह्यवित्तेन सम्बन्धानन्तरम् । २ आन्तरधनवत्तालक्षण । ३. स्वशब्दवाच्य सौस्वर्यम् । ४. सौवर्ण्यम् । ५ लोकप्रसिद्ध हाटकम् । ६ सुवर्णशब्दवाच्यत्वसामान्यात् । ७ कनकम् । ८. तथेति-स्वसुवर्णवदित्यर्थ । ९ उक्ताभ्यामप्यान्तरम् । १०. सामशब्दितस्य प्राणस्य । ११. प्रतिष्ठा लभते लोके । १२ कण्ठनिष्ठ माधुर्यं बाह्यधन लाक्षणिक वर्णज्ञानपूर्वक तदुच्चारणमान्तरम् । सौस्वर्यस्य ध्वनिगतत्वात् बाह्यत्वम् सौवर्ण्यस्य वर्णस्थत्वादान्तरत्वमिति तयोर्भेदं मनसि निधायाहेत्यर्थ । अत्र लाक्षणिकत्व लक्षणप्रयुक्तत्व लक्षण च शास्त्रमित्यवधेयम् । १३ तस्य हैतस्येत्यादिनोक्त वेदनमेव स्फुटयति—लाक्षणिकमित्यादिना । १४. अहमहोपासनया प्राणतादात्म्यापन्नस्योपासकस्येत्यर्थं ।

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः ॥२७॥

जो पुरुष उस इस साम की प्रतिष्ठा को जानता है, वह प्रतिष्ठित होता है। निश्चय ही उस साम की वाणी ही प्रतिष्ठा है; नि.सदेह वाक् मे प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण गाया जाता है; अर्थात् गीतिभाव को प्राप्त होता है। कुछ लोग कहते हैं कि वह प्राण अन्न मे प्रतिष्ठित होकर गाया जाता है। (अत. प्राण की प्रतिष्ठा वाक् है, अथवा अन्न है ऐसी दृष्टि करे।) ॥२७॥

यथा यथोपासते" इति श्रुतेस्तद्गुणत्वं युक्तम्। पूर्ववत्फलेन प्रलोभिताय का प्रतिष्ठेति शुश्रूषव आह–तस्य वै साम्नो वागेव। वागिति जिह्वामूलादीनां स्थानानामाख्या। सैव प्रतिष्ठा। 'तदाह––वाचि हि जिह्वामूलादिषु हि यस्मात्प्रतिष्ठितः सन्नेष प्राण 'एतद्गानं गीयते गीतिभावमापद्यते तस्मात्साम्नः प्रतिष्ठा वाक्। अन्ने प्रतिष्ठितो गीयत इत्यु हैकेऽन्य आहुः। इह प्रतितिष्ठतीत्युक्तम्। अनिन्दितत्वादेकीयपक्षस्य विकल्पेन 'प्रतिष्ठागुणविज्ञानं कुर्याद्वा'ग्वा प्रतिष्ठाऽन्नं वेति ॥२७॥

शिरःकण्ठदन्तोष्ठनासिकाताल्वूनि गृह्यन्ते। किमित्यष्टौ स्थानानि वागित्युच्यन्ते,'तत्राऽऽह—वाचि हीति। पक्षान्तरमाह—अन्न इति। 'अन्नशब्देन तत्परिणामो देहो गृह्यते। एकीयपक्षे 'युक्तिमाह—इहेति। कथं 'तर्हि प्रतिष्ठागुणस्य प्राणस्य 'विज्ञानं कर्तव्यमत आह—अनिन्दितत्वादिति ॥२७॥

अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए ॥२६॥

स्व और सुवर्ण के समान दूसरा प्रतिष्ठागुण विधान करने की इच्छा से श्रुति करती है—'जो उस, इस साम की प्रतिष्ठा को जानता है'। प्रतिष्ठा किसे कहते है? क्योंकि इसमे प्रतिष्ठित होता है। कौन होता है? वह वाक्। यही वाक् उसकी प्रतिष्ठा है। जो सामशब्दितप्राण के गुण प्रतिष्ठा को *जानता है; वह लोक मे प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। "उसकी जो जिस-जिस रूप से उपासना करता है,* (वही हो जाता है)" इस श्रुति के प्रमाण से उसका वैसे गुणो वाला हो जाना युक्तिसगत है। पूर्व-प्रतिपादित प्रक्रिया के समान ही तब श्रुति कहती है, जब फल का लोभी तथा श्रोता पूछता है?' 'वह प्रतिष्ठा क्या है 'वागेव' इस पद मे वाक् यह जिह्वामूलीयादि स्थानों का नाम है। उस साम की वही प्रतिष्ठा है। इसी बात को कहते हैं। क्योंकि 'वाचि' अर्थात् जिह्वामूलीयादि स्थानो मे प्रतिष्ठित हुआ यह प्राण 'एतद् गान गीयते' अर्थात् गीतिभाव को प्राप्त होता है। इसलिए साम की प्रतिष्ठा वाक्

---

१ तदाहेति––वाचा तेषा ग्रहण हेतुपर वाचि हीत्यादिवाक्यमित्याहेत्यर्थः। २. क्रियाविशेषणमेतत्। ३ प्रतिष्ठागुणकस्य प्राणस्य विज्ञानमुपासनम्। ४ विकल्पमेव विशदयति-वाग्वेति। ५ तत्राहेति––वाक्शब्देन स्थानानामुपादान हेतुप्रदर्शक वाचीतिप्रभृतिवाक्यमित्याहेत्यर्थं। ६. ननु व्रीह्याद्यन्न प्राणस्य न प्रतिष्ठा नहि तत्प्रतिष्ठित स दृश्यते अत आह––अन्नेति। अन्नमशित त्रेधेत्यादिश्रोतक्रमेणान्नविकारो देहस्तत्र स्थितः प्राणो गीतित्व यतो गच्छत्यत. स प्राणप्रतिष्ठोच्यते पक्षान्तरोक्तिश्रुत्येत्यर्थं। ७ युक्तिमाहेति––उक्तयुक्तिक वाक्यमाहेत्यर्थं। ८. प्राणस्य प्रतिष्ठाद्वयवत्त्वे। ९. विज्ञानकर्तव्यमिति––किं प्रतिष्ठितस्य प्राणस्य विज्ञान कर्तव्यमिति प्रश्नार्थं।

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेत्। असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योति-

इसके पश्चात् (इस प्रकार जानने वाले उपासक से किये जाने वाले जप का विधान किया जाता है) पवमानों का ही अभ्यारोह बतलाया जाता है। वह प्रस्तोता निश्चितरूप से साम को ही आरम्भ करता है। जब वह प्रस्ताव करे तब इनका जप करे। "असतो मा सद्गमय" "तमसो मा ज्योतिर्गमय" "मृत्योर्माऽमृतं गमय" (मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ। मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ। मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले जाओ) वह जो कहता है मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ, यहाँ असत् ही मृत्यु है और अमृत ही सत् है। अतः उसके कहने का भाव यह है कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो अर्थात् मुझे अमर कर दो। जब कहता है—मुझे अंधेरे से प्रकाश

एवं प्राणविज्ञानवतो जपकर्म विधित्स्यते । यद्विज्ञानवतो जपकर्मण्यधिकारस्तद्विज्ञानमुक्तम् । अथानन्तरं यस्माच्चैवं विदुषा प्रयुज्यमानं देवभावाभ्यारोहफलं जपकर्म, अतस्तस्मात्तद्विधीयत इह । तस्य चोद्गीथसंबन्धात्सर्वत्र प्राप्तौ पवमानानामिति वचनात् ।

अथात पवमानानामित्यादिवाक्यमवतारयति—एवमिति । तत्राथशब्दं व्याचष्टे—यद्विज्ञानवत इति । अत इत्यस्यार्थमाह—यस्मादिति । इहेति प्राणविदुक्तिः । यदा "तर्हि जपकर्म कर्तव्यं तत्राऽऽह—

है। यह अन्न परिणामी शरीर में प्रतिष्ठित हुआ पाया जाता है, इस प्रकार भी कुछ अन्य लोग कहते हैं। प्राण इसमें प्रतिष्ठित है, यह स्वीकार्य है। एकीयपक्ष की युक्ति भी स्वीकार्य होने के कारण विकल्प से प्रतिष्ठा-गुण वाले प्राण की उपासना करे। क्योंकि 'वाक् प्रतिष्ठा है अथवा अन्न प्रतिष्ठा है' इस प्रकार प्रतिष्ठाद्वय निर्दोष है ॥२७॥

रमृतं मृत्योर्माऽमृत गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति । अथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्माद् तेषु वरं वृणीत य काम कामयेत तꣳ स एष एवविदुद्गाताऽऽत्मने वा यजमानाय वा यं काम कामयते तमागायति तद्धैतल्लोकजिदेव न हैवालोक्यताया आशाऽस्ति य एवमेतत्साम वेद ॥२८॥

इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥३॥

की ओर ले चलो, तो यहाँ मृत्यु ही अंधेरा है और अमृत ज्योति है। अत उसका यही कहना है कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो—यानी मुझे अमर कर दो। मृत्यु से अमृत की ओर मुझे ले चलो। इसमे छिपी-सी तो कोई बात ही नही है, इसके बाद जो अन्य स्तोत्रो मे उपासक अपने लिये अन्नाद्य का आगान करे। उनके गाये जाने पर यजमान वर माँगे और जिस भोग को वह चाहता है उसे भी माँगे। यह इस प्रकार जानने वाला वह उदगाता अपने अथवा यजमान के लिए जिस भोग को चाहता है, उसी का आगान करता है। वह यह प्राण उपासना सम्पूर्णलोक प्राप्ति का साधन है। जो इस प्रकार इस साम को जानता है, उसे लोक प्राप्ति की अयोग्यता की तो आशा ही नही है अर्थात् वह सम्पूर्ण लोको को प्राप्त करने मे समर्थ है ॥२८॥

॥ इति तृतीय ब्राह्मणम् ॥

पवमानेषु त्रिष्वपि [1]कर्तव्यताया प्राप्ताया पुनः कालसंकोच करोति । स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति। [2]स प्रस्तोता यत्र यस्मिन्काले साम प्रस्तुयात्प्रारभेत् । तस्मिन्काल एतानि [3]जपेत् । अस्य च जपकर्मण आख्याऽभ्यारोह इति । [4]आभिमुख्येनाऽऽरोहत्यनेन जपकर्मणो[5]-

लस्येति । उद्गीथेनात्ययाम त्व न उद्गायेति च प्रकरणादुद्गीथेन सव याज्जपस्य सर्वत्रोद्गानकाले प्राप्तौ पवमानानामेवेति वचनात्कालनियमसिद्धिरित्यर्थं । स वै खल्वित्यादिवाक्यतात्पर्यमाह्—पवमानेष्विति । ननु कर्तव्यत्वेनाभ्यारोह श्रूयते जपकर्म विधित्सितमिति चोच्यते [6]किं केन सगतमित्याशङ्क्याऽऽह—अस्य चेति । अभ्यारोहशब्दस्य न [7]तत्र रूढिर्वृद्धप्रयोगाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—आभिमुख्ये-

इस प्रकार (अब) प्राण उपासक के लिए जपकर्म का विधान किया जाता है। जिस प्राण के उपासक का जपकर्म म अधिकार है वह उपासना कह दी गई। यथोक्त जानने वाले उपासक के द्वारा प्रयुक्त किया हुआ जपकम तादात्म्य रूप से देवभाव की प्राप्ति कराता है, इसलिए

१ जपकर्मण । २ उक्तप्रसिद्धित सिद्ध कालसङ्कोचमव स्पष्टयति-स इति । ३ प्राणविद्यजमानो जपकर्त्तेति ध्येयम् । ४ तादात्म्येन । ५ प्राणवित् । ६ किं केन सगतमिति । किम्—उत्तरवाक्यम् केन—पूर्ववाक्येन सगतम् कथ सम्बद्धमित्यर्थ । ७ जपकर्मणि ।

वंविद्देवंभावमात्मानमित्यभ्यारोहः । एतानीति बहुवचनात्त्रीणि यजूंषि । द्वितीयानिर्देशाद्- 'ब्राह्मणोत्पन्नत्वाच्च यथापठित एव स्वरः प्रयोक्तव्यो न मान्त्रः । 'याजमानं 'जपकर्म ।

एतानि तानि यजूंषि—'असतो मा सद्गमय' 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' 'मृत्योर्मा-ऽमृतं गमय' इति । 'मन्त्राणामर्थस्तिरोहितो भवतीति स्वयमेव व्याचष्टे ब्राह्मणं

नेति । यजुर्मन्त्राणामनियतपादाक्षरत्वादसतो मा सद्गमयेत्यारभ्यैको वा द्वौ वा मन्त्रावित्याशङ्क्याऽह —एतानीति । यद्यमी याजुषा मन्त्रास्तर्हि मान्त्रेण स्वरेण वैभाविकग्रन्थोक्तेन भाव्यमित्याशङ्क्याऽह —द्वितीयेति । यत्र स्वरो विवक्षितस्तत्र तृतीयानिर्देशो दृश्यते । "उच्चैर्ऋचा क्रियत उच्चैः साम्नो-पांशु यजुषा' इति । प्रकृते तु द्वितीयानिर्देशाज्जपकर्ममात्रं प्रतीयते मन्त्रास्तु स्वरो न प्रतिभातीत्यर्थः । केन तर्हि स्वरेण प्रयोगो मन्त्राणामिति चेत्तत्राऽह—ब्राह्मणेति । भवतु शातपथेन स्वरेण मन्त्राणां प्रयो-गस्तथाऽपि किमार्त्विज्यं किं वा याजमानं जपकर्मेति वीक्षायामाह—याजमानमिति ।

व्याचिख्यासितयजुषां स्वरूपं दर्शयति—एतानीति । 'मन्त्रार्थशब्देन पदार्थो वाक्यार्थस्तत्फलं'

इसके अनन्तर, उसका यहाँ विधान किया जाता है । उद्गीथ-सम्बन्ध होने के कारण जपकर्म की सर्वत्र प्राप्ति मे "पवमानानाम्" अर्थात् पवमानाख्य स्तोत्र के उद्गान काल मे ही—यह (नियम) वचन प्रमाण है । तीनो पवमानो में जपकर्म की कर्तव्यता प्राप्ति होने पर 'वह प्रस्तोता साम का ही प्रारम्भ करता हैं' इस वाक्य से श्रुति पुन उसके काल का सकोच करती है । 'स.' अर्थात् वह प्रस्तोता 'यत्र' अर्थात् जिस काल में, साम "प्रस्तुयात्" अर्थात् प्रारम्भ करे, उसी समय मे (प्राणवेत्ता जपकर्ता-यजमान) इनका जप करे । इसी जपकर्म का "अभ्यारोह" यह नाम है । 'तादात्म्यरूप से प्राणवेत्ता इस जपकर्म द्वारा आरोहण करता है, प्राणोपासक देवस्वरूप को प्राप्त हो जाता है'—इसलिए इसका 'अभ्यारोह' नाम पडा । 'एतानि' इस पद में बहुवचन होने के कारण तीनो यजुर्मन्त्र हैं । द्वितीया विभक्ति के निर्देश से शतपथ ब्राह्मणस्थ मन्त्र होने से इनमे यथापठित ही स्वर का प्रयोग करना चाहिए—मन्त्रप्रयुक्त स्वर का नही । (मन्त्रो के देवभावसाधनत्व एव प्रार्थनार्थत्व होने से) यह जप कर्म यजमान का है ।

वे तीनो यजुर्मन्त्र ये हैं—'असत् से सत् की ओर मुझे ले जाओ', 'अन्धकार से प्रकाश की ओर मुझे ले जाओ' एव 'मृत्यु से मुझे अमृतत्व की ओर ले जाओ' । मन्त्रो का अर्थ छिपा हुआ होता है; इसलिए शतपथ ब्राह्मण स्वय ही मन्त्र के अर्थों की व्याख्या करता है । "स यदाह" अर्थात् मन्त्र जो उसने कहा । वह अर्थ क्या है ? इसे कहा जाता है ।—"असतो मा सद्गमय" इस मन्त्र मे मृत्यु ही

१. देवेत्यादि–देवस्वरूप प्राणात्मानमित्यर्थं । २ ब्राह्मणोत्पन्नत्वादिति–शतपथब्राह्मणोत्पन्नत्वात् तदीयो लक्षणग्रन्थोक्तस्वरो मन्त्राणा प्रयोक्तव्यो न मान्त्रो द्वितीयानिर्देशेन तस्याविवक्षितत्वादिति भाव. । ३. यजमान-कर्तृकम् । ४ जपकर्मेति–मन्त्राणा देवभावसाधनत्वादिप्रार्थनार्थत्वादिति शेष । ५. स यदाहेत्यादिब्राह्मण-तात्पर्यमाह–मन्त्राणामिति । ६ एतन्नामकग्रन्थेरर्थः. । ७ उच्चैरित्यादि–ऋग्वेदविहिते कर्मणि मन्त्रप्रयोग उच्चैः कर्तव्य । उपांशु–तूष्णीम् । ८. ब्राह्मणे दृष्टो पुनरुक्ति प्रत्याह–मन्त्रार्थेति । तदुक्त वार्तिके— "पूर्वं पदार्थान्व्याख्याय पश्चाद्वाक्यार्थमब्रवीत् । फल पश्चाद्यथोक्तस्येत्येष व्याख्याक्रम. श्रुते. ॥२५४॥" इति । फलम्–फलितार्थ । तात्पर्यार्थं इति यावत् । ९. फलम्--तात्पर्यार्थ. ।

मन्त्रार्थम्। स मन्त्रो यदाह यदुक्तवान्कोऽस्यार्थ इत्युच्यते। 'असतो मा सद्गमय' इति। मृत्युर्वा असत्स्वाभाविककर्मविज्ञाने मृत्युरित्युच्येते। असदत्यन्ताधोभावहेतुत्वात्। सदमृतं सच्छास्त्रीयकर्मविज्ञाने अमरणहेतुत्वादमृतम्। तस्मादसतो मा मां कर्मणो ज्ञानाच्च सच्छास्त्रीयकर्मविज्ञाने गमय देवभावसाधनात्मभावमापादयेत्यर्थः। तत्र वाक्यार्थमाह—अमृतं मा कुर्वित्येवैतदाहेति। तथा तमसो मा ज्योतिर्गमयेति। मृत्युर्वै तमः सर्वं ह्यज्ञानमावरणात्मकत्वात्तमस्तदेव च मरणहेतुत्वान्मृत्युः। ज्योतिरमृतं पूर्वोक्तविपरीतं दैवं स्वरूपम्। प्रकाशात्मकत्वाज्ज्ञानं ज्योतिस्तदेवामृतम् विनाशात्मकत्वात्तस्मात्तमसो मा ज्योतिर्गमयेति। पूर्ववन्मृत्योर्माऽमृतं गमयेत्यादि। अमृतं मा कुर्वित्येवैतदाह। दैवं

चेति त्रयमुच्यते। लौकिकं तमो व्यावर्तयति—सर्वं हीति। पूर्वोक्तपदेनं व्याख्यातं तमो गृह्यते। वैपरीत्ये हेतुमाह—प्रकाशात्मकत्वादिति। ज्ञानं तेन साध्यमिति यावत्। पदार्थोक्तिसमाप्ताविति शब्दः। उत्तरवाक्याभ्यां वाक्यार्थस्तत्फलं" चेति द्वयं क्रमेणोच्यत इत्याह—पूर्ववदिति। फलवाक्यमादाय "पूर्व-

---

असत है; अशास्त्रीय कर्म और विज्ञान को मृत्यु कहते है। अत्यन्त अधोपात मे हेतु होने के कारण इसकी असत् शब्द-वाच्यता है। सत् अमृत है; शास्त्रीय होते हुए देवत्वप्राप्ति के साधन होने के कारण कर्म और विज्ञान का नाम सत् है। (देवभावापत्ति हेतु से) अमरत्व का हेतु होने के कारण वह अमृत है। (पद का अर्थ कह कर अब वाक्यार्थ कहते है।) इसलिए असत् कर्म और असत् ज्ञान से मुझे सत् देवभाव के साधन और शास्त्रीय कर्म और ज्ञान की प्राप्ति कराओ, अर्थात् देवभाव की साधनरूपता को प्राप्त कराओ। पदार्थादि तीनों मे वाक्यार्थ कहते है—मुझमे अमृतत्व साधन के योग्य स्वभाव का सम्पादन करो—यही श्रुति का आत्यन्तिक अर्थ है। इसी प्रकार 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' इस मन्त्र मे मृत्यु ही तम है; (तमशब्द से अज्ञानमूलक सभी शास्त्रीय और अशास्त्रीय कर्म और ज्ञान का ग्रहण होता है।) आवरणात्मक होने से सारा अज्ञान 'तम' है और मरण का हेतु होने के कारण 'मृत्यु' है। ज्योति अमृत है, वह पूर्वोक्त मृत्यु से विपरीत उपास्यरूप है, प्रकाशात्मक होने से उपासना ही ज्योति है, मरणरहितस्वरूप होने से वही अमृत है। इसलिए कहा है "आवरणात्मक अज्ञानरूप तम से प्रकाशात्म-

---

१. अशास्त्रीये। २. अत्यन्ताध इत्यादि--तयोरत्यन्ताधःपातहेतुत्वादसच्छब्दवाच्यतेत्यर्थः। ३. सच्छास्त्रीयेति--ते शास्त्रीये सतो देवत्वस्य हेतुत्वात् सच्छब्दवाच्ये इति भाव। ४. अमरणहेतुत्वादिति--तयोराध्यात्मिकपरिच्छेदाभिमानत्यागेन देवभावापत्तिहेतुतयाऽमरणहेतुत्वादित्यर्थः। ५ पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह--तस्मादिति। ६. देवभावसाधने। ७. देवभावसाधनरूपताम्। ८ तत्रेति--पदार्थादीनां त्रयाणां मध्ये। वाक्यार्थम् वाक्यतात्पर्यार्थमित्यर्थः। ९. अमृतमित्यादि—अमृताम् अमृतत्वसाधनयोग्यस्वभावम्। कुरु सम्पादय माम्। १०. ननूक्तमन्त्रस्य पुनरुक्तिरनर्थिका इत्याशङ्क्याह--तथेति। अनुवादस्य व्याख्यानार्थत्वान्न वैयर्थ्यमिति भाव.। ११. अस्मिन्मन्त्रे तम शब्देन सर्वं शास्त्रीयाशास्त्रीयज्ञानकर्ममूलमज्ञानमुच्यते सर्वमूलत्वादेव तत्सर्वमित्युच्यते तस्यावरणात्मकत्वात्तमस्त्वमित्यभिप्रेत्याह—सर्वमिति। १२. उपास्यरूपम्। १३. उपासनम्। १४. अमरणहेतुत्वात्। १५. मृत्योर्मेत्यादि--अज्ञानात्मकादासुरभावाद् व्युत्थाप्य। अमृतम्--अमरणात्मकज्ञानसाध्य देवभाव प्रापयेति वाक्यार्थ। १६. तात्पर्यम्। १७. पूर्वोक्ततात्पर्यवाक्यार्थतः।

प्राजापत्यं फलभावमापादयेत्यर्थः । पूर्वो मन्त्रोऽसाधनस्वभावात्साधनभावमापादयति । द्वितीयस्तु साधनभावादप्यज्ञानरूपात्साध्यभावमापादयति । मृत्योर्माऽमृतं गमयेति पूर्वयोरेव मन्त्रयोः समुच्चितोऽर्थस्तृतीयेन मन्त्रेणो᳚च्यत᳚ इति प्रसिद्धार्थतैव । नात्र तृतीये मन्त्रे तिरोहितमन्तर्हितमिवार्थरूपं᳚ पूर्वयोरिव मन्त्रयोरस्ति यथाश्रुत एवार्थः ।

᳚याजमानमुद्गानं कृत्वा पवमानेषु त्रिष्वथानन्तरं यानीतराणि᳚ शिष्टानि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत् । प्राणविदुद्गाता प्राणभूतः प्राणवदेव यस्मात्स एव उद्गातैवं प्राणं ᳚यथोक्तं वेत्त्यतः᳚ प्राणवदेव ᳚तं कामं साधयितुं समर्थस्त᳚स्माद्यजमानस्᳚तेषु स्तोत्रेषु᳚ प्रयु-

स्माद्विशेषं दर्शयति—अमृतमिति । प्रथमद्वितीयमन्त्रयोरर्थभेदाप्रतीतेः पुनरुक्तिमाशङ्क्यावान्तरभेदमाह—पूर्वो मन्त्र इति । तथाऽपि तृतीये मन्त्रे पुनरुक्तिस्तदवस्थेत्याशङ्क्याऽऽह—पूर्वयोरिति ।

वृत्तमनूद्योत्तरवाक्यमवतार्य व्याचष्टे—याजमानमिति । यथा प्राणस्त्रिषु पवमानेषु "साधारणमागानं" कृत्वा शिष्टेषु स्तोत्रेषु स्वार्थमागानमकरोत्तथेत्याह—प्राणविदिति । तद्विदोऽपि तद्वदागाने योग्यतामाह—प्राणभूत इति । "हेतुवाक्यमादौ योजयति—यस्मादिति । "प्रतिज्ञावाक्यं व्याचष्टे—

स्वरूप उपासनारूप ज्योति की ओर ले जाओ" । उपरोक्त (दोनो मन्त्रो के वाक्यार्थ के समान) 'मृत्योर्माऽमृत गमय' इस मन्त्र की व्याख्या करते है—। 'अमरणात्मक-ज्ञानसाध्य देवभाव की प्राप्ति कराओ', यही जप करने वाला मन्त्र मे कहता है। अर्थात् मुझे देवभाव और प्रजापतिभावरूप फल की प्राप्ति कराओ। पहला मन्त्र 'असाधन स्वभाव से साधनभाव की प्राप्ति कराओ" यह कहता है। दूसरा मन्त्र कहता है "अज्ञानात्मक साधनभाव से भी मुझे साध्यभाव की प्राप्ति कराओ"। 'मृत्यो-र्माऽमृत गमय' इस तृतीय मन्त्र द्वारा पूर्वस्थ दोनो यजुर्मन्त्रो का समुच्चित अर्थ ही कहा जाता है। इसलिए (समुच्चितार्थक मन्त्र होने से) उसका अर्थ प्रसिद्ध ही है। यहाँ तृतीय मन्त्र मे पूर्व के दोनो मन्त्रो की तरह 'तिरोहितम्' अर्थात् अन्तर्लीन अर्थ का रूप नहीं है, इसलिए उसका अर्थ यथाश्रुत ही है।

तीनो पवमान स्तोत्रो मे यजमानगामी फल का उद्गान करके इसके बाद 'यानीतराणि' अर्थात् जो अवशिष्ट नौ स्तोत्र है, उनमे प्राणोपासक उद्गाता प्राणभूत होकर प्राण के समान अपने लिए अन्नाद्य का उद्गान करे। क्योंकि वह उद्गाता ही इस प्रकार बृहस्पत्यादि गुणवाले प्राण को

१ उच्यत इति—सक्षेपेणेति शेष । तथा च वार्तिकम्—'पूर्वयोर्मन्त्रयोर्योऽर्थो विस्तरेणोदित पुन । मन्त्रेण स तृतीयेन सक्षेपेणाभिधीयते" ॥३६२॥ इति । अतएव हि सग्रहविवरणरूप ग्रन्थनारचयन्ति शास्त्रकृत । २ समुच्चितार्थत्वात् । ३ पूर्वयोरिवेति—तृतीयमन्त्रस्थ इवशब्दो दृष्टान्तार्थक इतिभाव । ४ यजमानगामिफलकम् । ५ नवसख्याकानि । ६ बृहस्पत्यादिगुणकम् । ७ अत प्राणात्मकत्वात् । ८ तमिति—स्वीय याजमान वा फलमागानेन सपादयितुमित्यर्थ । ९ तस्मादिति—उद्गातु स्वार्थफलसपत्तौ शक्तत्वादित्यर्थ । १० नवसु । ११ उद्गीयमानेषु । १२ अविशेषेण । १३ सर्वप्राणोपकारकम् । १४ हेतुवाक्यमित्यादि—ननु परकर्मस्थस्योद्गातु स्वार्थमागानमयुक्तमित्याशङ्क्य तस्यात्मार्थमागान सभवतीत्यत्र स एव इत्यादि तमागायतीत्यन्तम् हेतुवाक्यमादौ योजयतीत्यर्थ । १५ हेतुमद्वाक्यम् ।

ज्यमानेषु 'वरं वृणीत यं 'काम कामयेत त कामं वरं वृणीत प्रार्थयेत। यस्मात्स एष एवंविदुद्गातेति तस्माच्छब्दात्प्रागेव संबध्यते। आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयत इच्छत्युद्गाता तमागायत्यागानेन साधयति।

एवं तावज्ज्ञानकर्मभ्यां प्राणात्मापत्तिरित्युक्तम्। तत्र नास्त्याशङ्कासंभवः। अतः 'कर्मापाये प्राणापत्तिर्भवति वा न वेत्याशङ्क्यते तदा शङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—तद्धैतल्लोकजिदेवेति। तद्ध तदेतत्प्राणदर्शनं कर्मवियुक्तं केवलमपि लोकजिदेवेति 'लोकसाधनमेव।

तस्मादिति। किमिति व्यत्यासेन वाक्यद्वयव्याख्यानमित्याशङ्क्या"र्थाच्चेति न्यायेन पाठक्रममनादृत्येति परिहरति—यस्मादित्यादिना। स एष एवविदुद्गाताऽऽत्मने यजमानाय वा य काम कामयते तमागानेन साधयति यस्मादिति हेतुग्रन्थस्तस्मादिति प्रतिज्ञाग्रन्थात्प्रागेव सबध्यत इति योजना।

वृत्त कीर्तयति—एव तावदिति। तत्र कर्मसमुच्चिते ज्ञाने' देवताप्तौ शङ्कासंभवो नास्ति मिथ सहकृतयोर्ज्ञानकर्मणोस्तदाप्तिहेतुत्वादित्याह—तत्रेति। समनन्तर वाक्यमवतारयति—अत इति। समुच्चयात्फलाप्ते"र्दृष्टत्वादिति यावत्। न हेत्यादिना पदानि छिन्दन्वाक्यमादाय व्याकरोति—अलोकाह-

---

जानता है, इसलिए (प्राणात्मक होने से) प्राण के समान ही वह उस कामना को सम्पादन करने मे समर्थ है। (उद्गाता के स्वार्थ और परार्थ फल-सपत्ति मे समर्थ होने के कारण) इसलिए उन नौ स्तोत्रो का उद्गान किये जाने पर (उदगाता से) यजमान को वर माँगना चाहिए। उसे जिस फल की इच्छा हो, उसी फल के लिए वर माँगे। क्योकि मन्त्र मे 'स एष एवविदुदगाता' इसका सम्बन्ध 'तस्माद् तेषु वर वृणीत' इस पूर्वभाग से है। अर्थात् वह यह इस प्रकार जानने वाला उदगाता अपने या यजमान के लिए जिस फल की "कामयते" अर्थात् इच्छा करता है, उसी को "आगायति" अर्थात् आगान के द्वारा प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार कर्मसमुच्चित ज्ञान मे प्राणात्मत्व की प्राप्ति बतलायी गयी। इसमें शङ्का के लिए कोई स्थान नही है। इसलिए कर्माभाव अर्थात् केवल उपासना द्वारा प्राणात्मभाव की प्राप्ति होती है अथवा नही। इस शङ्का का समाधान श्रुति इस वाक्य से करती है—"तद्धैतल्लोकजिदेव"। 'तद्ध' अर्थात् वह यह प्राणविज्ञान कर्माभाव वाला अकेला होने पर 'लोकजिदेव' अर्थात् देहभावप्राप्ति का साधन है। 'अलोक्यताया' अर्थात् देवभावप्राप्ति की अयोग्यता की 'आशा' अर्थात् सकल्प या प्रार्थना तो होती नही है। ऐसा कभी लोक म नही होता कि ग्राम मे रहने वाला ही बन में रहने वाले पुरुष

---

१ वर—शुभ परलोकस्पष्य फलमुद्गातु सकाशादवृणीत। २ फलम्। ३ ज्ञानकर्मभ्यामिति—कर्मसमुच्चितज्ञानेनेत्यर्थ। उदगीथोपासनस्य ज्योतिष्टोमप्रकरणपठितत्वादिति ध्येयम्। ४ कर्मापाय इति। कर्माभाव इत्यर्थ। केवलयोपासनयेति भाव। ५ हनिपातस्यार्थोऽयम्। ६ देवभावप्रापकम्। ७ 'अर्थाच्च' ५ १ २ जैमिनीयसूत्रमिदम्। अस्यार्थ क्रमस्य क्वचिदार्थिकत्वाच्चेति। यथा अग्निहोत्र जुहोति यवागू पचतीत्यत्र क्त्वाप्रत्ययादीनामभावादनियमेनानुष्ठानमिति पूर्वपक्षे क्रमप्रापक प्रमाणान्तरमुक्तमुक्तसूत्रेण। यवागूपाकस्याग्निहोत्रहोमफलकत्वात्पूर्वं साधन सम्पाद्य पश्चाद्धोमनिर्वृत्तिरिति भाव। ८ पाठक्रममनादृत्यनि—यवागू पक्त्वाऽग्निहोत्र जुहोतीति वदिति ध्येयम्। ९ सति। १० निश्चितत्वात्।

न ह एवालोक्यताया अलोकार्हत्वायाऽऽशाऽऽशंसनं प्रार्थनं नैवास्ति ह । न हि प्राणात्मन्यु-त्पन्नात्माभिमानस्य तत्प्राप्त्याशंसनं संभवति । न हि ग्रामस्थः कदा ग्रामं प्राप्नुयामित्य-रण्यस्थ इवाऽऽशास्ते । असंनिकृष्टविषये ह्यनात्मन्याशंसनं न तत्स्वात्मनि संभवति । 'तस्मान्नाऽऽशास्ति कदाचित्प्राणात्मभावं न प्रपद्येयमिति ।

कस्यैतत् । य एवमेतत्साम प्राणं यथोक्तं निर्धारितमहिमानं वेदाहस्मि प्राण

त्वायेति । तदेव स्फुटयति—न हीति । तत्र दृष्टान्तमाह—न हीति । 'दृश्यमानमाशंसनं तर्हि कस्मि-न्विषये स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—असंनिकृष्टेति । प्राणात्मना व्यवस्थितस्य विदुषस्तदात्मभावं कदाचिदहं न प्रपद्येयमित्याशंसनं नास्तीति निगमयति—तस्मादिति ।

कर्मसमुच्चितादुपासनात्केवलाच्च प्राणात्मत्वं फलमुक्तं 'तत्र समुच्चितादुद्गातुर्यजमानस्य वा फलं 'केवलाच्चोपासनात्तयोरन्यतरस्यान्यस्य वा कस्यचिदिति जिज्ञासमानः शङ्कते—कस्येति । ॐज्ञान-कर्मणो'रुभयत्र समभावादुभयोरपि 'वचनात्फलसिद्धिः । 'आश्रमान्तरविषयं तु केवलज्ञानस्य लोकजय-

---

के समान कहे कि 'कब मैं ग्राम जा पाऊँगा' । अप्राप्त अनात्मवस्तुओं में ही सकल्प होता है, अपनी आत्मा के लिए उसका होना सभव नहीं है । (प्राणात्मभाव से विद्वान् के व्यवस्थित होने के कारण) इस लिए वह 'कभी मैं प्राणात्मभाव को प्राप्त हो जाऊँ' ऐसा सकल्प नही करता ।

यह फल किसको प्राप्त होता है ? जो इस प्रकार "साम" अर्थात् यथोक्त निर्धारित महिमा वाले

---

१ सकल्पोऽपि । २ नन्वपरिच्छिन्नदेवताभावो वर्तमाने देहेन प्राप्तु शक्यते परिच्छेदाभिमानप्रतिबन्धात्तत्राह—स्वात्मनीति । तदुक्त वार्तिके—'इहैवाऽसुरभावस्य प्राणोऽस्मीत्यभिमानत । प्रध्वस्तत्वात्कुत शङ्का तन्मूलास-भवाद्भवेदिति" ॥३७७॥ आसुरभाव परिच्छेदाभिमान । ३ विदुष प्राणात्मना व्यवस्थित्वात् । ४ लोके प्रतीयमानम् । ५ आदौ समुच्चयफलिनि विचार दर्शयति—तत्रेति । स्वस्वणप्रतिष्ठाज्ञानादुद्गातृगामिफलो-पगमादयास्याङ्गिरसदूरगुणकप्राणज्ञानाद्याजमानफलाङ्गिकारादात्मने वा यजमानाय वेत्यादिश्रुतेश्च समुच्चितात्प्रा-णध्यानात्कस्य फल भवतीति चिन्तावतरतीति भाव ॥ ६ विचारान्तर दर्शयति—केवलाच्चेति । ७ उभय-त्रेति—उद्गातृयजमानयोरित्यर्थं । समभावात्—समत्वात् । तथाहि—पूर्वं यत्प्राणोपासनमुक्त तत्सर्वमुद्गातृकर्तृक-मेवेति स्फुट प्रतिभाति । यथा चोद्गातारमन्तरेण ज्योतिष्टोमादिकर्म न सिध्यति, तथा कर्म विना नोद्गाताऽपि सिध्येत् कर्मारुढस्यैव तद्भावादतो यजमानवदुद्गातुरपि कर्मबल्यम् तथा चोद्गातरि ज्ञानकर्मणो सत्त्वसिद्धि. । एव यजमानेऽपि ज्योतिष्टोमादिकर्मप्रसिद्धमेव उद्गातृकर्तृक यत् पूर्वमुक्त विज्ञान तद्याजमानमिष्टमुद्गातुर्यजमानेन क्रीतत्वात् इत्थ यजमानेऽपि ज्ञानकर्मणो सत्त्वसिद्धम् । तथा चोभयोरपि उद्गातृयजमानयो वचनात्—'य एवमे-तत्साम वेदेति' वचनोपदिष्टसमुच्चयानुष्ठानात्फलसिद्धि देवभावापत्तिरित्यर्थ । ८ श्रुते । ९ ननु समुच्च-यानुष्ठानादुभयोरुद्गातृयजमानयोर्देवभावश्चेत्तर्हि केवलज्ञानाद्देवत्वाप्तिस्तयोरेवान्यस्य वा, नाद्यस्तयो समुच्चयाधि-

---

ॐज्ञानकर्मणोरुभयत्र समभावादुभयोरपि वचनात्फलसिद्धिरिति । अत्राहु — 'न समुच्चय उद्गातु कर्माभावादि-हेष्यते । परकर्मप्रवेशात् स्यादुद्गाता न स्वकर्मणि ॥ क्रियायोगाच्च तद्यास्नो ज्ञानाभ्यासोऽपि दुर्लभ । साक्षा-त्कृतिश्च सन्तत्या सन्ततिश्च न विद्यते ॥ न च धीजन्ममात्रेण परमात्मप्रबोधवत् । सभाव्यो देवभावोऽस्य देवो भूत्वेति च श्रुते ॥ उद्गातुर्विदुषो नापि परकीयेन कर्मणा । समुच्चयप्रसिद्धि स्यात्तयोर्भिन्नाश्रयत्वत ॥ यजमानस्य कर्मास्ति ज्ञानन्तूद्गातृसंश्रयम् । समुच्चयोऽस्तस्यापि भिन्नाधिष्ठानतो न च ॥ मत तद्याजमान स्याज्ज्ञान यत्प्रागुदीरितम् । स्वयमेव कृतार्थत्वात् काऽपेक्षाऽस्यर्त्विज प्रति ॥ कर्मण्युद्गात्रपेक्षावज्ज्ञानेऽपीति मत

इन्द्रियविषयासङ्गजैरासुरैः पाप्मभिरधर्षणीयो विशुद्धो वागादिपञ्चकं च मदाश्रयत्वा-ऽदग्न्याद्यात्मरूपं स्वाभाविकविज्ञानोत्थेन्द्रियविषयासङ्गजनितासुरपाप्मदोषवियुक्तं सर्व-भूतेषु च मदाश्रयान्नाद्योपयोगसंबन्धनमात्मा चाहं सर्वभूतानामाङ्गिरसत्वादृग्यजुःसामो-

हेतुत्वमित्यभिप्रेत्याऽऽह—य एवमिति। एवंशब्दस्य प्रकृतपरामर्शित्वात्पूर्वोक्तं सर्वं वेद्यस्वरूपं संक्षिपति —अहमस्मीत्यादिना। तस्य ²वागादिभ्यो विशेषं दर्शयति—इन्द्रियेति। किमिदानीं प्राणस्यैवोपास्यतया वागादिपञ्चकमुपेक्षितमिति नेत्याह—वागादीति। तस्य प्राणाश्रयत्वेऽपि कुतो देवतात्वमासङ्गपाप्मवि-द्धत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—स्वाभाविकेति। अन्नकृतोपकारं प्राणद्वारा वागादौ स्मारयति—सर्वेति। रूप-कर्मात्मके जगति प्राणस्य स्वरूपमनुसंधत्ते—आत्मा चेति। नामात्मके जगति प्राणस्याऽऽत्मात्वमुक्तं स्मार-

प्राण को जानता है। मैं इन्द्रियों के विषयों की आसक्तिरूप आसुर पापों से अप्रहसनीय विशुद्ध प्राण हूँ। वागादि पाँचों प्राण मेरे आश्रित होने के कारण शास्त्रानाधेय विज्ञान से जन्य, इन्द्रिय और विषयों की आसक्ति से होने वाले, आसुर-पापरूप दोष रहित अग्न्यादि देवतास्वरूप, और (वही वागादि पाँच प्राण) सम्पूर्ण भूतों में मेरे आश्रित होने से अन्नाद्य के उपयोग में हेतु हैं। (रूपकर्मात्मक जगत् में) आङ्गिरस होने के कारण मैं समस्त भूतों का आत्मा हूं। (नामात्मक जगत् में) ऋक्, यजुष्, साम

कारित्वात्। नेतर तस्याप्रस्तुतत्वादित्याशङ्क्याह—आश्रमान्तरविषय त्विति। गृहस्थाश्रमेतरब्रह्मचर्याद्याश्रमस्थ-विषयकमित्यर्थः। कर्मानधिकृतविधुरादिसंग्रहीतु तुशब्द। १ प्राणस्य सर्वदेवमयत्वेन तदाश्रितानां तेषामाधि-दैविकरूपतापन्निर्जाताऽऽध्यात्मिकपरिच्छेदविगमादिति भाव। २. प्राणशब्देन गौणानामग्रहण टीकयति-वागिति।

यदि। उद्गातुरपि तत्तुल्य नोद्गातर्ते क्रिया यत॥ याजमान यथा कर्म ह्याश्रित्य फलवद्भवेत्। अस्याद्यागा-नमुद्गातुस्तज्ज्ञान तद्वदाश्रितम्॥ समुच्चयाच्चेदुभयोरुद्गातृयजमानयो। देवभाव विमर्थ्य तद्धैतदिति हि श्रुति॥ सर्वाश्रमाणा तर्हीद सामान्येनाभिधीयते। तद्धैतदिति सिद्धत्वादुद्गातृयजमानयो॥ देवभावेन विज्ञान सस्करोत्येव तद्विमम्। परार्थमपि मत्करमादनपेक्ष न सिद्धये'॥३७६-८६॥ इति। उद्गातु समुच्चयाद्देवभावपक्ष दूषयति—नेत्यादिना। इहेति उद्गीथप्रकरणस्य फलत्वस्य चोक्ति। ननु कर्मणि प्रविष्टस्य कथ कर्माभाव उपास्त-*इत्यसौ कर्ता तद्युक्तमुद्गातु* समुच्चयात्फलमिति तत्र किं तस्योपास्तिस्तदीयेन कर्मणा समुच्चीयत याजमानेन वा नाद्य इत्याह—परेति॥ उद्गातृज्ञानमुपेत्य कर्माभावमुक्त्वा ज्ञानमपि तस्य नास्तीत्याह-क्रियेति। उद्गानक्रिया-योगादुद्गातृमज्ञस्यर्त्विज स्वकीयक्रियाऽनुपपत्तेस्तत्काले कर्तव्यज्ञानाभ्यासासिद्धेस्तदधीनदेवतासाक्षात्कारो न स्यादित्यर्थ। ननु विनापि ज्ञानाभ्यासेन यथाशास्त्रमुद्गानाद्देवतासाक्षात्कारो भविष्यति नेत्याह-साक्षादिति। कर्मानुष्ठानाद्वस्तुसाक्षात्कारस्यादृष्टत्वादभ्यासाच्चाभ्यस्यमानसाक्षात्कारस्य क्वचिद्दृष्टत्वादित्यर्थ। अस्तु तर्हि ज्ञानसन्तत्या देवतासाक्षात्कृतिरेवमुद्गातु स्वीयकर्माभावात्तत्काले कर्तव्यज्ञानसतत्यनुपपत्तेरुक्तत्वादित्याह—सन्ततिश्चेति॥ ननु ज्ञानमात्रादेव ब्रह्मभाववद्देवभावोऽपि स्यात्किमभ्यासेनेत्याशङ्क्याक्त स्मारयति—न चेति। ज्ञानमात्रादभ्यास विना न देवभावो मानाभावादित्युक्त्वा मानाविरोधाच्च तथेत्याह—देव इति॥ उद्गातुर्ज्ञान-भावाभावयो स्वीयकर्माभावान्न तेन समुच्चयस्तज्ज्ञानस्येत्युक्तम्। अथ द्वितीयमाशङ्क्याह—उद्गातुरिति। यद्यपि विद्वानुद्गाता तथापि तस्य यजमानगामिना कर्मणा न स्वकीयविद्याया समुच्चय सिध्यति कर्मणो याजमानत्वा-द्विद्यायाश्चोद्गातृस्थत्वाद्भिन्नाधारयोस्तयो समुच्चयस्य दुर्वचत्वादित्यर्थ॥ समुच्चयादुद्गातुर्देवाप्तिरिति पक्ष निरस्य यजमानस्य ततस्तद्भावपक्ष निरस्यति—यजमानस्येति। यजमानस्यापि ज्ञानकर्मणो समुच्चयो देवभाव-

द्गीथभूतायाश्च वाच आत्मा तद्व्याप्तेस्तन्निर्वर्तकत्वाच्च मम साम्नो गीतिभावमापद्यमानस्य बाह्यं धनं भूषणं सौस्वर्यं ततोऽप्यान्तरं सौवर्ण्यं लाक्षणिकं सौस्वर्यं गीतिभावमापद्यमानस्य मम कण्ठादिस्थानानि [1]प्रतिष्ठा। एवंगुणोऽहं पुत्तिकादिशरीरेषु [2]कार्त्स्न्येन

यति—ऋगिति। सति सामत्वे गीतिभावावस्थाया प्राणस्योक्तं बाह्यमान्तरं च सौस्वर्यं सौवर्ण्यमिति गुणद्वयमनुवदति—ममेति। तस्यैव संकल्पिकों प्रतिष्ठामुक्तामनुस्मारयति—गीतीति। यद्वेवेत्यादिनोक्त'

और उद्गीथरूपा *वाक्—इनमें व्याप्त और इनका निष्पादक होने के कारण मैं (प्राण) ही आत्म*-स्वरूप हूं। गीतिभाव को प्राप्त हुई अवस्था में मुझ साम का सुस्वरतारूप धन बाह्य भूषण है। उससे भी आन्तर धन सुस्वरतारूप सुवर्णता है, जो लाक्षणिक है। गीतिभाव को प्राप्त हुए मुझ प्राण के कण्ठादि स्थान (और अन्नपरिणामी देह) प्रतिष्ठा है। इस प्रकार गुणों वाला आधिदैविक स्वरूप से अमूर्त एवं सर्वगत होने के कारण मैं पुत्तिकादिशरीरों में सर्वावयव—अवच्छेदरूप से व्याप्त हूँ। इस

१ प्रतिष्ठति—अन्नपरिणामो देहश्चेति शेषः। २ सर्वावयवावच्छेदेन। ३ सर्वसमत्वम्।

प्राप्तिहेतुरनुष्ठेयो नास्तीत्यत्रात शब्दपरामृष्टं पूर्वार्द्धोपदिष्टं हेतुमेव स्पष्टयति—भिन्नेति॥ उभयो समुच्चयाद्देवभाव पूर्ववादिना निरस्ते सिद्धान्ती यजमानस्य ततस्तद्भाव साधयति—मतमिति। मत्पूर्वं प्राणोपासनमुक्त तद्याजमानमिष्टमुदगातुर्यजमानेन क्रीतत्वात् कर्म च यजमानस्योभयसम्मतमत समुच्चयाद्देवत्व तस्य युक्तमित्यर्थ। असमुच्चयवादी शङ्कते—स्वयमिति। कर्मवज्ज्ञानमपि याजमान चेत्तर्हि तस्योभयत्र स्वयमेव शक्तत्वादुद्गातार प्रति नापेक्षा स्याद्दृश्यते च तदपेक्षा तस्मादौद्गात्रमेवोपासनमिति न समुच्चयाद्देवत्व यजमानस्येत्यर्थ॥ सिद्धान्ती समुच्चय साधयति—कर्मणीति। यदि कर्मणि याजमाने निष्पत्त्यर्थमुद्गात्रपेक्षेति मत तर्हि तद्वदेव ज्ञानेऽपि *याजमाने तन्मार्थमितरापेक्षा तथा च समुच्चयाद्यजमानस्य देवत्वमित्यर्थ।* सप्रत्युद्गातुरपि समुच्चयाद्देवत्व साधयति—उद्गातुरिति। यथोद्गातार विना ज्योतिष्टोमादिक्रिया न सिध्यति तथा ता विना नाद्गातापि सिध्यति क्रियारूढस्यैव तद्भावादतो यजमानवदुद्गातुरपि कर्मवत्त्व ज्ञानन्तु तत्य क्रीतत्वऽप्युद्गातुस्तदाश्रयत्वात्तस्मात्तस्यापि समुच्चयाद्देवत्व युक्तमित्यर्थ॥ यत्तु भिन्नाधिष्ठानत्वान्न समुच्चयो ज्ञानकर्मणोरिति तत्राह—याजमानमिति। यथा यजमानस्वामिक कर्माऽऽश्रित्य तत्र समुच्चित सदुद्गातुरन्नाद्यागान फल साधयति तथा तदीयज्ञानमाश्रित्य तेन समुच्चितमितरत्कर्मफल साधयति यजमानकर्माश्रित तेन समुच्चितमितरज्ज्ञानमपि स्वफल साधयदतो भिन्नाधिकरणयोरपि ज्ञानकर्मणो समुच्चयादुभयोर्देवभाव सम्भवतीत्यर्थ। उद्गातृयजमानसव धवत्तदीयज्ञानकर्मणोरपि सब धोपपत्त्यर्थो हिशब्द॥ द्वयो समुच्चयाद्देवभाव सिद्धान्तिना समर्थिता पूर्ववाद्यनुवदति—समुच्चयादिति। केवलज्ञानाद्देवाप्तिरुद्गातृयजमानयोर्नोऽन्यस्य का गाऽऽद्यस्तयो समुच्चयाधिकारित्वान्नेतरस्त स्यासमुद्गात्वादिति मत्वाऽऽह—विमर्येति॥ कमश्रूयाता मर्वेषा त्रैवर्णिकाना केवलज्ञानाद्देवाप्तिरित्युत्तरमाह—सर्वेति। प्रकृतवाक्यप्रामाण्यात्केवलज्ञानात् फलमिष्ट चेत्तर्हि तत्र सर्वाधिकृताना कर्मिणामविशेषणद ज्ञान फलवदुच्यत इत्यर्थ। प्रकृतयोरेव द्वयोरिद ज्ञान कि न स्यादित्याशङ्क्याह—सिद्धत्वादिति। तयो समुच्चयाधिकारित्वस्य स्थितत्वान्न केवलज्ञानेऽधिकारितेत्यर्थ॥ केवलज्ञानस्य देवाप्तिहेतुत्वमयुक्त समुच्चितस्यैव तद्दृष्टेरित्याशङ्क्य संमुनिश्च्याय समाह—देवेति। उद्गीथज्ञानमुद्गातृकर्तृक यजमानस्वामिकमपि कर्तार देवभावेन योजयति विमुखानपेक्ष कर्तृस्वामिकमेव सदुपासन कर्तुर्देवभावमापादयति इत्यतो ज्ञान केवलमपि तस्मात्तद्भावलाभाय *भवेदित्युपपन्न केवलस्यापि मानस्य देवाप्तिहेतुत्वमित्यर्थ॥*

अथ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम्।

आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदा-त्मनोऽपश्यत्सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहंनामाभव-त्तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाऽथा-न्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति स 'यत्पूर्वोऽस्मात्सर्व-

उत्पत्ति से पूर्व यह पुरुष की तरह शिरपादादि वाला विराडात्मा ही था। उस प्रजापति ने आलोचना करने पर भी अपने से भिन्न किसी को नहीं देखा। (सर्वात्मरूप से अपने को ही देखने के कारण इस श्रौत विज्ञानजनित संस्कार से युक्त) उस प्रजापति ने "अहमस्मि" मैं हूं ऐसा कहा, इसीलिए वह 'अहम्' नाम वाला हो गया। अतएव इस समय भी सम्बोधन करने पर पहले प्रत्येक

परिसमाप्तो[1]ऽमूर्तत्वात्सर्वगतत्वाच्चेत्या एवमभिमानाभिव्यक्तेर्वेदोपास्त इत्यर्थः ॥२८॥

इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥३॥

आत्मैवेदमग्र आसीत्। ज्ञानकर्मभ्यां समुच्चिताभ्यां प्रजापतित्वप्राप्तिर्व्याख्याता। केवलप्राणदर्शनेन च तद्वैतल्लोकजिदेवेत्यादिना। प्रजापतेः 'फलभूतस्य सृष्टिस्थितिसंहारेषु जगतः स्वातन्त्र्यादिविभूत्युपवर्णनेन ज्ञानकर्मणोर्वैदिकयोः फलोत्कर्षो वर्णयितव्य इत्येवम-

---

परामृशति—एवगुणोऽहमिति। इत्येवमभिमानाभिव्यक्तिपर्यन्तं यो ध्यायति 'तस्येदं फलमित्युपसंहरति —इतीति ॥२८॥

इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मणान्तरमवतार्य पूर्वेण संबन्ध यवतु वृत्त कीर्तयति—आत्मैवेत्यादिना। केवलप्राणदर्शनेन च प्रजापतित्वप्राप्तिर्व्याख्यातेति सबन्ध। इदानीमात्मेत्यादेस्तद्वैदमित्यत प्राक्तनग्रन्थस्या'ऽपातत-स्तात्पर्यमाह—प्रजापतेरिति। आदिपदेन सर्वात्मत्वादि गृह्यते'। फलोत्कर्षोपवर्णनं कुत्रोपयुज्यते तत्रा-

---

रीति से अभिमान की अभिव्यक्तिपर्यन्त जो प्राणो को जानता है, उसकी उपासना करता है, (कर्म से अनधिकृत होने पर भी) उसको उपरोक्त फल मिलता है, यह अर्थ है ॥२८॥

इस प्रकार प्रथम अध्याय का तृतीय ब्राह्मण पूर्ण हुआ ॥३॥

प्रथम अध्याय चतुर्थ ब्राह्मण

"पहले यह आत्मा ही था'। समुच्चित ज्ञान और कर्म से तथा 'यह प्राणविज्ञान कर्माभाव वाला अकेला होने पर देवभावप्राप्ति का साधन है' इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा केवल प्राणविज्ञान से प्रजापतित्व की प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया। समुच्यादिफल-भूत प्रजापति की जगत् की सृष्टि,

---

१. यजमानावस्थ। २ अमूर्तत्वादिति—आधिदैविकस्वरूपणेति बोध्यम्। ३ समुच्चयादे। ४ कर्मान-धिकृतस्यापीति भाव। ५ तद्वैदमितिसप्तमक मन्त्रम्। ६ आपातत इति—अविचारात इत्यर्थ। स्वानभिमत तात्पर्यमिनि यावत्। ७ आदिना सर्वनियन्तृत्वादि।

संभूतोऽनुवीक्ष्यान्वालोचनं कृत्वा कोऽहं किंलक्षणो वाऽस्मीति नान्यद्वस्त्वन्तरमात्मनः प्राणपिण्डात्मकात्कार्यकरणरूपान्नापश्यन्न ददर्श। केवलं त्वात्मानमेव सर्वात्मानमपश्यत्। तथा पूर्वजन्मश्रौतविज्ञानसंस्कृतः सोऽहं प्रजापतिः सर्वात्माऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरद्व्याहृतवान्।

ततस्तस्माद्यतः पूर्वज्ञानसंस्कारादात्मानमेवाहमित्यभ्यधादग्रे तस्मादहंनामाभवत्तस्योपनिषदहमिति श्रुतिप्रदर्शितमेव नाम वक्ष्यति। तस्माद्यस्मात्कारणे प्रजापतावेवं

एवेति। स्वरूपधर्मविषयौ द्वौ विमर्शौ। नान्यदिति वाक्यमादायाक्षराणि व्याचष्टे—वस्त्वन्तरमिति। दर्शनशक्त्यभावादेव वस्त्वन्तरं प्रजापतिर्न दृष्टवानित्याशङ्क्याऽऽह—केवलं त्विति। सोऽहमित्यादि व्याचष्टे—तथेति। यथा सर्वात्मा प्रजापतिरहमिति पूर्वस्मिञ्जन्मनि श्रौतेन विज्ञानेन संस्कृतो विराडात्मा तथेदानीमपि फलावस्थः सोऽहं प्रजापतिरस्मीति प्रथमं व्याहृतवानिति योजना।

व्याहरणफलमाह—तत इति। किमिति प्रजापतेरहमिति नामोच्यते साधारणं हीदं सर्वेषामित्याशङ्क्योपासनार्थमित्याह—तस्येति। आध्यात्मिकस्य चाक्षुषस्य पुरुषस्याहमिति रहस्यं नामेति यतो वक्ष्यत्यतः श्रुतिसिद्धमेवैतन्नामास्य ध्यानार्थमिहोक्तमित्यर्थः। प्रजापतेरहंनामत्वे लोकप्रसिद्धिं प्रमाणयितुमुत्तरं वाक्यमित्याह—तस्मादिति।

आदि लक्षण वाले मनु आदि का स्रष्टा वह ही विराट् था। पहले उत्पन्न हुए उस प्रजापति ने "अनुवीक्ष्य" अर्थात् (अपने को त्रैलोक्यात्मक विराट्स्वरूप देखने के अभ्यस्त पश्चात् यथोक्तरूप में) अन्वालोचन करके "मेरा क्या स्वरूप है ? मैं किस धर्म वाला हूं ?" इस प्रकार विचार करके अपने प्राणसमुदायात्मक और देहेन्द्रिय-संघात से भिन्न (स्वतन्त्र या परतन्त्र) कोई पदार्थ नहीं देखा। अपने को ही अद्वितीय, सर्वात्मरूप से देखा। (दूसरा कोई पदार्थ न देखकर विराडात्मा ने क्या किया ?)। इस तरह पूर्वजन्म के श्रौतविज्ञानजनित संस्कार से युक्त होने के कारण (प्राचीन अभ्यास के बल से प्रत्यगात्मा में ही मति हुई) 'वह सर्वात्मा प्रजापति मैं हूं', यह पहले "व्याहरत्" अर्थात् कहा।

---

१. अनुशब्द. पाश्चात्यवाची—तथा च त्रैलोक्यात्मकं वैराजरूपमहमस्मीति यद्दर्शनमस्य यजमानावस्थायामभ्यस्तं तादृशादर्शनादनु पश्चाद्यथोक्तदर्शनफलं यथोक्तरूपं वीक्ष्येत्याशयेनाह—अन्विति। २. किंस्वरूप.। ३ किंधर्मकः। ४. तदानीं विराड्देहाद्देहान्तरस्याऽनुत्पत्तेरात्मीयं पिण्डमात्रं स दृष्टवांस्ततोऽन्यत् स्वतन्त्रं परतन्त्रं वा न किंचिदित्यभिप्रेत्याह—नान्यदिति। ५. प्राणसमुदायात्मकात्। ६ अद्वितीयम्। ७ अपरमपश्यन् विराडात्मा किं कृतवानित्यपेक्षायामाह—तथेति। ८. प्राचीनाभ्यासबलात्प्रत्यगात्मन्येवास्य मतिरभूदित्याशयेनाह—सर्वात्मेति। तथा च वार्तिके—"त्रैलोक्यात्मकदेहात्मा नापश्यदपरं पृथक्। भिन्नार्थानभिसम्बन्धात् प्रतीच्येवास्य धीरभूत्॥ सशब्दं दर्शनं यादृक् प्रागभ्यस्तं तथैव स। व्याजहार फलावस्थो ह्यहमित्यात्मवाचकमिति" ॥४१-४२॥ ९. इति—आत्मवाचिना शब्देन। १०. प्रथमम्। ११. इति वक्ष्यतीति सम्बन्ध.। १२. बृ० उ० ५. ७. २। १३. गोप्यम्। १४, ध्यानार्थमिति—एतेन सत्स्वपि नामान्तरेषु किमित्यनेनैवात्मानमुक्तवानित्युक्तमपास्तम् उपासनार्थत्वादस्येत्युक्तत्वादितिध्येयम्। १५. प्रजापतिरहमित्यग्रे व्याजहार ततोऽहंनामाभूदित्यत्र किं मानमिति।

'वृत्तं तस्मात्तत्कार्यभूतेषु प्राणिष्वेतर्ह्यं तस्मिन्नपि काल आमन्त्रितः कस्त्वमित्युक्तः सन्नहमयमित्येवाग्र उक्त्वा कारणात्माभिधानेनाऽऽत्मानमभिधायाग्रे पुनर्विशेषनामजिज्ञासवेऽथानन्तरं विशेषपिण्डाभिधानं देवदत्तो यज्ञदत्तो वेति प्रब्रूते कथयति यन्नामास्य विशेषपिण्डस्य मातापितृकृतं भवति तत्कथयति ।

स च प्रजापतिः पूर्वजन्मनि सम्यक्कर्मज्ञानभावनानुष्ठानैः साधकावस्थायां यद्यस्मात्कर्मज्ञानभावनानुष्ठानैः प्रजापतित्वं प्रतिपित्सूनां पूर्वः प्रथमः सन्नस्मात्प्रजापतित्वप्रतिपित्सुसमुदायात्सर्वस्मादादावौषददहत्किमासङ्गाज्ञानलक्षणान्सर्वान्पाप्मनः प्रजापतित्वप्रतिबन्धकार-

---

'उपासनार्थं प्रजापतेरहंनामोक्त्वा' पुरुषनामनिर्वचनं करोति—स चेत्यादिना । पूर्वस्मिञ्जन्मनि साधकावस्थायां कर्माद्यनुष्ठानैरहमहमिकया प्रजापतित्वप्रेप्सूनां मध्ये पूर्वो यः सम्यक्कर्माद्यनुष्ठानैः सर्वं प्रतिबन्धकं यस्माददहत्तस्मात्स प्रजापतिः पुरुष इति योजना । 'उक्तमेव स्फुटयति—प्रथमः सन्निति । सर्वस्मादस्मात्प्रजापतित्वप्रतिपित्सुसमुदायात्प्रथमः सन्नौषदिति सबन्धः । आकाङ्क्षापूर्वकं दाह्यं

'तत' अर्थात् इसी से, क्योकि पूर्वज्ञान के सस्कारो से अपने को ही उसने प्रारम्भ मे 'अहम्' इस (आत्मवाची शब्द) से कहा, इसलिये वह अहनाम वाला हुआ। श्रुतिप्रतिपादित अहनामा उस आत्मा को उपनिषद् आगे बताएगी। इसलिए किस कारण से प्रजापति 'अह' नामत्व से निष्पन्न हुआ, इसी से 'एतर्हि' अर्थात् इस समय भी उसके कार्यभूत जीवो मे 'तू कौन है', ऐसा किसी को जब पूछा जाता है, तो वह पहले 'यह मैं हू,' इस प्रकार अपने को कारणात्मा विराड अभिधायक शब्द से बतलाता है। फिर जब विशेष नाम को पूछा जाता है, तो वह उसे विशेष पिण्डात्मक शरीर का 'देवदत्त या यज्ञदत्त' इस प्रकार नाम कहता है, अर्थात् वह विशेषनाम जो इसके विशेषपिण्डात्मक शरीर के माता पिता द्वारा रखा जाता है, बतलाता है।

उस प्रजापति ने पूर्वजन्म की साधक अवस्था मे सम्यक कर्म और ज्ञान के अभ्यासरूप अनुष्ठानो द्वारा इन कर्म और ज्ञान के अभ्यासरूप अनुष्ठानो से प्रजापतित्व चाहने वालो मे 'पूर्व' अर्थात् प्रधान होने के कारण, इस प्रजापतित्व प्राप्ति के इच्छुक "सर्वस्मात्' अर्थात् पूरे समुदाय से "औषत्" अर्थात् दग्ध कर दिया। क्या दग्ध कर दिया ? प्रजापतित्व मे प्रतिबन्धक कारणभूत आसक्ति और अज्ञान लक्षण वाले सम्पूर्ण पापो को दग्ध कर दिया। ऐसा होने से पुरुष हुआ अर्थात् पूर्व म दग्ध कर दिया, इसलिए पुरुष हुआ।

जिज्ञासायां प्रत्यक्षं तत्र मानमित्यभिप्रेत्य तस्मादित्यादिभाष्यमवतारयति प्रजापतेरिति । तथा च वार्तिके—"तत्कार्येण लिङ्गेन ज्ञापयन् कारणाभिधाम् । तस्मादपीति वक्त्येता प्रसिद्धिं लोकसाक्षिकीमिति' ॥४५॥ प्रजापतिकार्यभूतप्रजावर्गगतेनाहमिति व्याहरणेन प्रथमप्रवृत्तेन लिङ्गेन कारणेऽपि तस्मिन्नहमित्यभिधानं तस्मादित्यादिना ज्ञापयन् वेदस्तस्याहं नामत्वे लोकप्रसिद्धिं च प्रमाणयतीत्यर्थः । १ अहमिति व्याहरणेनाहं नामत्वं निष्पन्नमित्यर्थः । २ कारणात्मनो विराजोऽभिधायकेन शब्देनेत्यर्थः । ३ भावना—अभ्यासः । ४ प्रधानः । ५ उपासनार्थमिति—विराजः सर्वात्मत्वस्य दर्शितत्वात् पुरुषत्वानियमात् स वै पुरुष इति स्मृतिविरोध इत्याशङ्क्येत्यादौ दोषः । ६ तदर्थमेव । ७ अहमहमिति अस्यामिति व्रीह्यादित्वात् ठन् । ८ उक्तमिति—पूर्वशब्दोक्तं मुख्यत्वमेवेत्यर्थः ।

णभूतान्। यस्मादेवं तस्मात्पुरुषः पूर्वमौषदिति पुरुषः।

यथाऽयं [1]प्रजापतिरोषित्वा प्रतिबन्धकान्पाप्मनः सर्वान्पुरुषः [2]प्रजापतिरभवत्। [3]एवमन्योऽपि ज्ञानकर्मभावनानुष्ठानवह्निना केवलं ज्ञानबलाद्वौषति भस्मी करोति ह वै स तं कं योऽस्माद्विदुषः पूर्वः प्रथमः प्रजापतिर्बुभूषति भवितुमिच्छति तमित्यर्थः। तं दर्शयति—य एवं वेदेति सामर्थ्याज्ज्ञानभावनाप्रकर्षवान्। नन्वनर्थाय प्राजापत्यप्रतिपित्सैवंविदा चेद्दह्यते। नैष दोषः। ज्ञानभावनोत्कर्षाभावात्प्रथमं प्रजापतित्वप्रतिपत्त्यभावमात्रत्वा-

दर्शयति—किमित्यादिना। पूर्वं प्रजापतित्वप्रतिबन्धकप्रध्वंसित्वे सिद्धमर्थमाह—यस्मादिति।

[4]पुरुषगुणोपासकस्य फलमाह—यथेति। अयं प्रजापतिरिति भविष्यद्वृत्त्या साधकोक्तिः, पुरुषः प्रजापतिरिति फलावस्थः स कथ्यते। कोऽसावोषतीत्यपेक्षायामाह—त दर्शयतीति। पुरुषगुणः प्रजापतिरहमस्मीति यो विद्यात्सोऽन्यानोषतीत्यर्थः। विद्यासाम्ये कथमेषा व्यवस्थेत्याशङ्क्याऽऽह—सामर्थ्यादिति। हेतुसाम्ये दाहकत्वानुपपत्तेस्तत्प्रकर्षवानितरान्दहतीत्यर्थः। प्रसिद्धं दाहमादाय चोदयति—नन्विति। [5]तथा च तत्प्रेप्साऽयोगात्तदुपास्त्यसिद्धिरित्यर्थः। विवक्षितं दाहं दर्शयन्नुत्तरमाह—

जिस प्रकार (साधकावस्था वाला) यह प्रजापति सम्पूर्ण प्रतिबन्धक पापों को जला कर (फलावस्था वाला) प्रजापति पुरुष हुआ। इस प्रकार (साधकावस्थासम्पन्न प्रजापति के समान) दूसरा भी, ज्ञान और कर्म के अभ्यास की अनुष्ठानमयी अग्नि द्वारा केवल ज्ञान के बल से उसको "ओषति" अर्थात् भस्मसात् कर देता है। किसे (भस्मसात् करता है)? जो इस विद्वान् से "पूर्व" अर्थात् प्रधान प्रजापति होना चाहता है, उसको भस्मसात् कर देता है ऐसा इसका आशय है। उसे ही श्रुति कहती है 'य एव वेद' अर्थात् "जो इस प्रकार जानता है" (हेतुसाम्य से दाहकत्व-शक्ति असिद्ध होने पर भी) सामर्थ्य से वह ज्ञान भावना से उत्कर्षवान् है। यदि वह इस प्रकार उपासना करने वाले से भस्म हो जाता है, तब तो प्रजापतित्व प्राप्ति की इच्छा ही अनर्थ का कारण है। (शङ्का समाधान करते हैं—) इसमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि ज्ञानभावना के उत्कर्ष का अभाव होने से प्रधान प्रजापतित्व न प्राप्त कर सकना ही उसका दाह है। उत्कृष्टसाधनसम्पन्न (उपासक) प्रधान प्रजापतित्व की प्राप्ति करता है, न्यूनसाधनसम्पन्न (साधक) नहीं प्राप्त कर सकता, इस कारण से वह उसे भस्म कर देता है। यह प्रसिद्ध नहीं है कि उत्कृष्टसाधनसम्पन्न अपने से इतर न्यून-

१ साधकावस्थ। २ फलावस्थ। ३ साधकावस्थप्रजापतिवत्। ४ नामान्तरेषु सत्स्वपि किमिति पुरुषनामनिरुक्तिरित्याशङ्क्य तदाम्नातस्योपास्त्यर्थमिति मत्वा। फलभाष्यमवतारयति—पुरुषगुणोपासकस्येति। ५ ननु वागादौ धेन्वादिधीवत् पुरुषगुणे विराजि धीर्नहि तन ध्यातुस्तादात्म्यम् अन्यस्यान्यत्वायोगादिति चेदत्राह वार्तिके—"पुरुषोऽस्मीत्युपास्त्यर्थं पुरुषार्थोऽयमुच्यते। ओषतीत्युक्तितः साक्षात् गुणोपास्तिफलश्रवात्" ॥५२॥ पुरुषगुणे विराड्यहग्रहोपास्तिरिष्टेत्यत्र पुरुषनिरुक्ति प्रमाणयति—इत्युपास्त्यर्थमिति। फलान्तरादृष्टेर्ध्यानार्थपुरुषनामनिर्वचनेऽपि कथ तद्गुणे विराड्यहग्रहोपास्तिरित्याशङ्क्य आह— ओषतीति। साक्षात्सूत्रभावस्य पुरुषगुणविराडुपास्तिफलस्य यथोक्तवाक्यत श्रुतस्तत्रनुन्यायेन विराड्यहग्रहोपास्तिसिद्धिरित्यर्थः। ६ प्राजापत्यप्रेप्साया अनर्थहेतुत्वे च।

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति स हायमीक्षां चक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद्द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥२॥

वह पुरुषाकार प्रथम शरीरी प्रजापति भयभीत हो गया। इसीलिए आज भी अकेला पुरुष डरता है। पुन उस प्रजापति ने यह विचार किया, यदि मुझसे भिन्न कोई नही तो फिर मैं किससे डरता हूं ? इतना विचार करते ही उसका भय जाता रहा, क्योंकि भय का कोई कारण दीखता नही था। भय तो सदा दूसरे से होता है (आत्मैकत्व दर्शन से प्रजापति का भय मिट गया। अत आज भी आत्मैकत्व दर्शन ही भय से मुक्त कराने वाला है) ॥२॥

द्दाहस्य। उत्कृष्टसाधनः प्रथमं प्रजापतित्व प्राप्नुवन्न्यूनसाधनो न प्राप्नोतीति स त दहतीत्युच्यते न पुनः प्रत्यक्षमुत्कृष्टसाधनेनेतरो दह्यते। यथा लोके आजिसृतां यः प्रथममाजिमुपसर्पति तेनेतरे दग्धा इवापहृतसामर्थ्या भवन्ति तद्वत् ॥१॥

यदिद तुष्टूषितं कर्मकाण्डविहितज्ञानकर्मफलं प्रजापत्यलक्षण नैव तत्संसारविष-

---

नैष दोष इति। तदेव स्पष्टयति—उत्कृष्टेति। प्राप्नुवन्भवतीति शेष। औपचारिक दाह दृष्टान्तेन साधयति—यथेति। आजिर्मर्यादा ता सरन्ति धावन्तीत्याजिसृतस्तेषामिति यावत् ॥१॥

ज्ञानकर्मफलं सौत्रं पदमुत्कृष्टत्वान्मुक्तिस्तदन्यमुक्त्यभावात्तद्धेतुसम्यग्धीसिद्धये प्रवृत्तिरनर्थिकेत्याशङ्क्य सोऽबिभेदित्यस्य तात्पर्यमाह—यदिदमिति। तुष्टूषित स्तोतुमभिप्रेतमिति यावत्। आह

साधन वाले को जला ही डालता हो। लोक मे जिस प्रकार 'आजि' अर्थात बालकादि द्वारा क्रीडा विशेष मे की हुई सीमा को जो 'आजिसृत्' अर्थात् सीमा तक पहुचने के लिए दौडने वाला पहले प्राप्त कर लेता है, उस पुरुष से दूसर पुरुष दग्ध से हो जाते है, अर्थात् अपने को सामर्थ्यहीन सा अनुभव करने लगते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए ॥१॥

यहां जिस प्रजापतित्व लक्षण वाले कर्मकाण्डविहितज्ञान और कर्म के फल की स्तुति करनी

---

१ प्रसद्धम्। २ कर्मप्रधान तृतीयब्राह्मणमपि कर्मकाण्डशब्दितम्। ३ नैवति—ननु ज्ञानकर्मभ्यामाप्तसूत्रत्वादशेषनार्थध्वस्तेर्न सौत्र फल ससारान्तर्गतमित्याशङ्क्य समादधुर्वार्तिके— "प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानविरहादन्यसाधनं। यावत्किञ्चित्फल नाद सर्वानर्थनिवृत्तये ॥ निरस्तातिशय कर्म ज्ञान चाऽप्यापि बालवत्। यतोऽबिभेदविद्यावानतोऽसावस्मदादिवत् ॥ न ह्यविद्यामनादाय वस्तुयाथात्म्यसाश्रयात्। कश्चिदबिभेरयबिभेच्च तेनाविद्यान्प्रजापति ॥ प्रत्यग्याथात्म्यविध्वंस नि शेषपुरुषार्थकृत्। इत्येतत्प्रतिपत्त्यर्थं विराट्स्थानस्य कुत्सनमिति ॥" तस्य च ५४-५७॥ ज्ञानादिफलस्य प्रजापतेर्न भयादि युक्त तद्धेत्वविद्याऽभावादित्याशक्याह—निरस्तेति। विराजो विद्यमानापि विद्याऽऽरब्धकर्मप्रतिबन्धान्न भवारमनाऽविद्या निवर्तयत्यधुनातनजीवन्मुक्तवदितिभाव ॥ कर्मज्ञानफलभूतोऽपि विराडुत्कृष्टत्वेन प्रागुक्तो-भयहेतुरविद्यास्तीत्यन्वयमुखेनोक्त्वा व्यतिरेकमुखेनाह—नहीति ॥ ४ ससाररूप विषमर्यम्। ५ अधुना निन्द्यते तत्कथ पङ्कप्रक्षालनन्यायो नावतरेदित्याशङ्क्याह—प्रत्यगीति। तदेव—दाहस्योत्कृष्टपक्षमेव। ६ आजिर्मर्यादेति—बालादिभि क्रीडाविशेषे कृता सीमेति यावत्।

यमत्यक्रामदितीममर्थं प्रदर्शयिष्यन्नाह—

सोऽबिभेत्स प्रजापतिर्योऽयं प्रथमः शरीरी पुरुषविधो व्याख्यातः सोऽबिभेद्भीतवानस्मदादिवदेवेत्याह । यस्मादयं पुरुषविधः शरीरकरणवानात्मनाशविपरीतदर्शनवत्त्वादबिभेत्तस्मात्तत्सामान्यादद्यत्वेऽप्येकाकी बिभेति । किंचास्मदादिवदेव भयहेतुविपरीतदर्शनापनोदकारणं यथाभूतात्मदर्शनं सोऽयं प्रजापतिरीक्षामीक्षणं चक्रे कृतवान्ह स्म । कथमित्याह—यद्यस्मान्मत्तोऽन्यदात्मव्यतिरेकेण वस्त्वन्तरं प्रतिद्वंद्वीभूतं नास्ति तस्मिन्नात्मविनाशहेत्वभावे कस्मान्नु बिभेमीति ।

विवक्षितार्थसिद्धयर्थं हेतु भयभाक्त्वमिति शेष. । ज्ञानकर्मफलं त्रैलोक्यात्मकसूत्रत्वमुत्कृष्टमपि संसारान्तर्भूतमेव न कैवल्यमिति वक्तुमुत्तरं वाक्यमित्यर्थः । अहमेकाकी कोऽपि मा हनिष्यतीत्यात्मनाशविषयविपरीतज्ञानवत्त्वात्प्रजापतिर्भीतवानित्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्य कार्यगतेन भयलिङ्गेन कारणे प्रजापतौ तदनुमेयमित्याह—यस्मादिति । तत्सामान्यादेकाकित्वाविशेषादिति यावत् । प्रजापते संसारान्तर्भूतत्वे हेत्वन्तरमाह—किंचेति । यथाऽस्मदादिभी रज्जुस्थाण्वादौ सर्पपुरुषादिभ्रमजनितभयनिवृत्तये विचारेण तत्त्वज्ञानं सपाद्यते तथा प्रजापतिरपि भयस्य तद्धेतोश्च विपरीतधियो ध्वस्तिहेतुं तत्त्वज्ञानं विचार्य संपादितवानित्यर्थं । परमार्थदर्शनमेव प्रश्नपूर्वकं विशदयति—कथमित्यादिना । तस्मिन्नित्यत्र तस्मादित्यादौ पठितव्यम् ।

मच्छब्दोपलक्षित प्रत्यक्चैतन्यमद्वितीयब्रह्मरूपेण ज्ञात्वा सहेतु भीतिं प्रजापतिरक्षिपदित्युक्त-

---

अभीष्ट है, वह ससाररूप अर्थ से बाहर नही है । इसी को स्पष्ट करने के लिए श्रुति कहती है—

'सोऽबिभेत्' वह डर गया । 'स' अर्थात् वह प्रजापति, जिसकी पुरुषविध प्रथम शरीरी के रूप म व्याख्या कर चुके है, वह 'अबिभेत्' अर्थात् हम लोगो के समान ही भययुक्त हो गया—ऐसा श्रुति कहती है । यह पुरुषविध शरीर और इन्द्रियो वाला प्रजापति विपरीतज्ञान से अपना नाश देखकर डर गया था, इसीलिए उससे समानता होने के कारण आज भी अपने को अकेला पाकर मनुष्य डरता है । इसके अतिरिक्त हमारे समान ही प्रजापति को भी भय-हेतुक विपरीतज्ञान की निवृत्ति यथार्थ आत्मदर्शन से हुई । उस प्रजापति ने 'ईक्षाचक्र' अर्थात् विचार किया । कैसे विचार सम्पादित किया ? इस पर कहा जाता है—'यत्' अर्थात् यदि मुझसे "अन्यत्" अर्थात् भिन्न अनात्मभूत प्रतिद्वन्द्वी कोई अनात्म वस्तु नही है तो आत्मविनाश का कोई कारण न होने पर (प्रत्यक्, अभिन्न, अद्वितीय, चैतन्य, आनन्द ब्रह्मस्वरूप) मैं किससे भयभीत होता हू ?

---

१ "स वै शरीरी प्रथम' इत्यादिस्मृत्युक्त । २ ईक्षणव्याख्यानमिदम् । ३ विचारेण सपादितवान् । ४ अनात्मभूतम् । ५ यस्मान्न्विति प्रत्यगभिन्नाद्वितीयचैतन्यानन्दब्रह्मस्वरूपोऽहमत यस्मादित्यर्थ । तदुक्त वार्तिके—'प्रत्यक्ता ब्रह्मणो यस्माद्ब्रह्मत्व चाऽऽत्मन स्वत । एव सति कुतो मे भीरिति विद्वांस्त्रपायते"॥६७॥ इति । तस्माद्द्वितीयाभावाद्भयहेतोरभावादिति शेष । ६ श्रुत्यतिरिक्तमित्यर्थ । ७ भयेति—प्रजापतिकार्यभूतात्मजगत भय कारणपूर्वकम् कार्यत्वाद्घटादिवदित्यनुमानेनेत्यर्थ । न च प्रजायते भय प्राजापत्य भय विना हेत्व तदेव स्यात् कारणानुविधायित्वात्कार्यस्येति ।

तत एव यथाभूतात्मदर्शनादेवास्य प्रजापतेर्भयं वीयाय विस्पष्टमपगतवत् । तस्य प्रजापतेर्यद्भयं तत्केवलाविद्यानिमित्तमेव परमार्थदर्शनेऽनुपपन्नमित्याह—कस्माद्ध्यभेष्यदिकिमित्यसौ भीतवान्परमार्थनिरूपणायां भयमनुपपन्नमेवेत्यभिप्रायः । यस्माद्द्वितीयाद्वस्त्वन्तराद्वै भयं भवति । द्वितीयं च वस्त्वन्तरमविद्याप्रत्युपस्थापितमेव । नह्यदृश्यमानं द्वितीयं भयजन्मनो हेतुः "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इति मन्त्रवर्णात् । यच्चैकत्वदर्शनेन भयमपनुनोदापनोदितं तद्युक्तम् । कस्मात् । द्वितीयाद्वस्त्वन्तराद्वै भयं

मिदानीं तत्त्वज्ञानफलमाह[1]—तत इति । कस्माद्धीत्यादेरुत्तरस्य पूर्वेण पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्य विदुषो हेत्वभावान्न भयमित्युक्तसमर्थनार्थत्वादुत्तरस्य नैवमित्याह—तस्येत्यादिना । अनुपपत्तौ हेतुमाह—यस्मादिति । परमार्थदर्शनेऽपि वस्त्वन्तरात्किमिति भयं न भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—द्वितीयं चेति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वैतस्याविद्याप्रत्युपस्थापितत्वेऽपि कुतस्तदुत्थद्वैतदर्शनं भयकारणं न भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । तत्त्वज्ञाने सत्यज्ञानायोगात्तदुत्थं द्वैतं तद्दर्शनं चायुक्तमित्यतो[2] हेत्वभावाद्भयानुपपत्तिरित्यर्थः । अद्वैतज्ञाने भयनिवृत्तिरित्यत्र मन्त्रं संवादयति—तत्रेति । 'विराडैक्यदर्शनेनैव प्रजापतेर्भयमपनीतं नाद्वैतदर्शनेनेत्यस्मिन्नर्थेऽपि यन्मदन्यन्नास्तीत्यादि शक्यं व्याख्यातुमित्याशङ्क्याङ्गीकुर्वन्नाह—

"तत एव" अर्थात् यथार्थ-आत्मज्ञान से ही इस प्रजापति का भय "वीयाय" विस्पष्ट रूप से चला गया । उस प्रजापति का जो भय था, वह केवल अविद्या के कारण से था, परमार्थदृष्टि हो जाने पर उसका होना अनुपपन्न था । इसे श्रुति कहती है—"कस्माद्ध्यभेष्यत्" अर्थात् वह क्या था जिससे उसे भय हुआ ? परमार्थदृष्टि से तो भय होना ठीक नहीं है । क्योंकि 'द्वितीयाद्' अर्थात् दूसरी वस्तु से, ही भय होता है । (आत्मा से व्यतिरिक्त) दूसरी वस्तु तो अविद्या अवस्था में ही प्रतिष्ठापित की हुई है । *"अद्वैतज्ञान हो जाने पर मोह और शोक चला जाता है"* इस श्रुतिवचन से सिद्ध होता है, कि जो वस्तु दिखाई नहीं देती, ऐसी दूसरी वस्तु भय की उत्पत्ति में हेतु नहीं हो सकती । ब्रह्मात्मैक्य-दर्शन से प्रजापति ने जो भय को दूर किया, वह ठीक है । क्यों ठीक है ? क्योंकि "द्वितीयाद्" अर्थात् दूसरी

१ अपनोदनम् । २ आहेति—अस्मान्प्रतिश्रुतिरिति शेषः. तदुक्तम्— 'ब्रह्मविद्यामृते नान्यद्भयहेतुविनाशकृत् । संभाव्यमिति न प्राह तत एवेति च श्रुतिः" ॥६८॥ इति । किं तद्भयकारणमितिचेत् प्रत्यगज्ञानमेव तदुक्तम्—"प्रत्यगज्ञानमेवैकं भीतिहेतुर्भवद्यदि । तत एवेति वचनं तदेव स्यात्समञ्जसमिति" ॥६९॥ ३ अविद्यातत्कार्ययोर्ध्वस्तत्वात् । ४. विराडैक्यदर्शनेनैवेति—त्रैलोक्यात्मा जीवाविष्टो देहो विराट्शब्दार्थः तथा च वार्तिके—"एक एवाहमस्मीह द्वितीयाद्धि भयात्स्थिति । द्वितीयो न मदन्योऽस्ति कस्माद्धेतोर्भयं ममेति" ॥६३॥ प्रतीतिर्हि प्रत्येतव्ये मान न च द्वितीयो भात्यतो हेत्वभावान्न भीतिरिति निगमयति—कस्मादिति ।

अङ्गीकुर्वन्नाहेति । अत्राहुर्वार्तिककाचार्यास्तथाहि—"एकाकिना विराजो वाऽवद्यासवीनचेतस । पूर्वजन्मोत्थसंस्काराद्भयमाविरभूदिह ॥ भयप्रध्वंसिन हेतुमीक्षाचक्रेऽथ जातभी । मत्तो यथान्यदस्तीति ह्यथ कस्माद्बिभेम्यहम् ॥ एक एवाहमस्मीह द्वितीयाद्धि भयोत्थिति । द्वितीयो न मदन्योऽस्ति कस्माद्धेतोर्भयं मम ॥ तत एव विराडैक्यविज्ञानादेव तद्भयम् । वीयाय न परज्ञानादतोऽरतिरपीष्यत ॥ एकावयस्मीतिविज्ञानात्त्रैलोक्यात्मैकगोचरात् । अगाद्भयं यतोऽतोऽभूदरतिस्तस्य कामिनः ॥ सम्यग्विज्ञानविध्वस्तावविद्यायां पुनोऽरनि । ध्वस्तान्धस्यापि सा चेत् स्यादनिर्मोक्ष प्रसज्यत ॥ नाविद्यापानिविज्ञानाद्भयध्वस्तिरभूद्विभो । अरत्युद्भूतिलिङ्गेन

भवति तदेकत्वदर्शनेन द्वितीयदर्शनमपनीतमिति नास्ति[1] यतः ।

[2]अत्र चोदयन्ति—[3]कुतः प्रजापतेरेकत्वदर्शनं जातं को वाऽस्मा उपदिदेश ।

यच्चेति । [4]तदेव प्रश्नद्वारा प्रकटयति—कस्मादित्यादिना ।

[5]प्रथमव्याख्यानानुसारेण चोद्यमुत्थापयति—अत्रेति । प्रजापतेर्ब्रह्मात्मैक्यज्ञानाद्भीतिध्वस्ति-रुक्ता न च तस्य तज्ज्ञानं युक्तं हेत्वभावादित्याह—कुत इति । यस्मादस्माकमैक्यधीस्तस्मादेव तस्यापि

वस्तु से, ही भय होता है, वह द्वितीयदर्शन एकत्वदर्शन से चला जाता है; इस प्रकार वास्तव में भय मुझमें है ही नहीं ।

(ब्रह्मात्मैक्यरूप ज्ञान से प्रजापति का भय चला गया, इस प्रथम पक्ष में) यहाँ शङ्का कहते हैं—(कारण के न होने से) प्रजापति को एकत्वज्ञान किससे हुआ और किसने उसे उपदेश दिया ?

---

१. भय ममेति । २ प्रथमपक्षे । ३. कारणासम्भवात्कुत इत्याक्षेपः गुरुशास्त्रादि हि तत्कारणं न चास्य तदितिभावः । ४ युक्तत्वमेव । ५ प्रजापतेर्ब्रह्मात्मैक्यज्ञानेन भीतिध्वस्तिरिति व्याख्यानम् ।

ह्यपमर्पोऽवसीयते ॥ न चेहावसरोऽस्त्यस्य सम्यग्ज्ञानस्य कश्चन । पिण्डसृष्टौ प्रवृत्ताया नावस्मात्ज्ञानगीः श्रुधा ॥ प्रक्रियानुचितं वस्तु सुसाध्वपि समीरितम् । अकालकुसुमानीव नैव प्रीतिकरं सताम् ॥ मिथुनारतिमोहादेः प्रत्य-ग्याथात्म्यवेदिनः । आगमैस्तु निषिद्धत्वात्कुतस्तस्येह संभवः ॥ आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानिति चाऽऽगमः । तथाऽऽत्ममिथुन इति यस्त्वात्मरतिरित्यपि ॥ कार्यकारणसम्बन्धः साविद्यस्यैव युक्तिमान् । अपूर्वानपरायुक्तेर्नं ध्वस्तान्धस्य युज्यते ॥ अप्युत्पन्नात्मबोधानामधिकारासमाप्तितः । अरस्यादि यथा दृष्टं तथैव स्यात्प्रजापतेः ॥ अप्रविष्टस्वभावस्य सशब्देन परिग्रहात् । स एष इत्यत्र वाक्यं नैयाऽऽकस्मिकशब्दतामिति" ॥६१-१०४॥ वेदान्तना-त्पर्यज्ञानमननिदिध्यासनसाधनात्प्रणिपाताद्यनपेक्षाज्जन्मान्तरीयतदपेक्षादैक्यज्ञानाद्विराजो भयध्वस्तिरुक्ता । इदानीं केवलविराडैक्यज्ञानाद्भीतिध्वस्तिरिति पूर्वपक्षयन्नादौ सोऽबिभेदित्यस्य तात्पर्यमाहैकाकिन इति । वाशब्द सिद्धान्तव्यावृत्त्यर्थं । नन्वेकाकित्वं भयध्वस्तिहेतुर्द्वितीयाद्धि भयोत्पत्तिस्तत्कथमेकाकिनो विराजो भीतिस्तत्राऽऽह—अविद्येति । सापि न केवला भीतिहेतुः सुषुप्तावदृष्टेरित्याशङ्क्याह—पूर्वेति । यजमानकालीनभयजनितवासनासहायानुसारादिति यावत् । इह कलावस्थायाम् ॥ स हायमित्यादे-रर्थमाह—भयेति । ईक्षाकारणं पृच्छति—अथेति । आर्तो जिज्ञासुरिति स्मृतेरार्तिरपि कदाचिदालोचने हेतुरिति मत्वाऽऽह—जातभीरिति । यन्मदन्यदित्यादेरर्थमाह—मत्तो यदिति । यन्मत्तोऽन्यन्मे भयकारणं तदन्यद्य-स्मान्नास्ति तस्मादहं कस्माद्धेतोर्बिभेमीति योजना । इति पदमीक्षासमाप्त्यर्थम् । अथशब्दस्तस्मादर्थे ॥ कस्माद्धी-त्यादिवाक्यं व्याकरोति—एक इति । अहशब्दस्त्रैलोक्यात्मा जीवाविष्टो देहः । इह संसारमण्डले तथापि कथं भीतिराहित्यं तत्राह—द्वितीयादिति । चोरादिदर्शने भयजन्मप्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः । तर्हि तद्धेतुर्द्वितीयोऽपि कल्प्यतां नेत्याह—द्वितीय इति । प्रतीतिर्हि प्रत्येतव्ये मानं न च द्वितीयं प्रतीयतेऽतो हेत्वभावाच्च भीतिरित्यिति नियमयति—कस्मादिति ॥ तत एवेत्यादेरर्थमाह—तत इति । सिद्धान्तः परात्मैक्यज्ञानं तत्पदेन परामृष्टं तन्नि-राचष्टे—नेति । तत्र हेतुमाह—अत इति । भयविगमेऽपि प्रजापतेररतिश्चिच्छेत्यादि दृश्यते परज्ञाने च तदयोगो निमित्ताभावादतो न तस्य तज्ज्ञानाद्भीतिध्वस्तिरित्यर्थः ॥ कथं पुनर्ध्वस्तभीतेस्तस्यारतिरित्याशङ्क्योक्तमनुवदति —एकाकीति । अद्वैतज्ञानं व्यावर्तयति—त्रैलोक्येति । यस्मादेकात्मत्वज्ञानाद्भयमपगतं तस्मादेतस्यारतिरासी-दित्याह—यत इति । ननु भीतिनिवर्तकमैक्यज्ञानमरतिमपि निवर्तयेन्न तु तामुपजनयेदत आह—कामिन इति । असहायमेकात्मत्वज्ञानं भीतिध्वंसि कामसहितमरतिहेतुरिति भावः ॥ परज्ञानाद्भीतिध्वस्तावपि कामुकस्यारतिः स्यादित्याशङ्क्याह—सम्यगिति । ज्ञानिनो ध्वस्ताज्ञानस्य न कामोऽपि युक्तो हेत्वभावात्तत् कथमरतिरित्यर्थः ।

अथानुपदिष्टमेव प्रादुरभूत् । अस्मदादेरपि तथा प्रसङ्गः। अथ जन्मान्तरकृतसंस्कारहेतुकम् । एकत्वदर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः । यथा प्रजापतेरतिक्रान्तजन्मावस्थस्यैकत्वदर्शनं विद्यमानमप्यविद्याबन्धकारणं नापनिन्ये। यतोऽविद्यासंयुक्त एवायं जातोऽबिभेत् । एवं

स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—को वेति। न हि तस्य शास्त्रश्रवणमाचार्याभावान्नापि संन्यासस्तस्य त्रैवर्णिकविषयत्वान्नापि शमाद्यैश्वर्यासक्तत्वादतोऽस्मासु प्रसिद्धश्रवणाविविद्याहेत्वभावान्न प्रजापतेरैक्यधीर्युक्तेत्यर्थः। उपदेशानपेक्षमेव प्रजापतेरैक्यज्ञानं प्रादुर्भूतमिति शङ्कते—अथेति। अतिप्रसक्त्या प्रत्याह—अस्मदादेरिति। प्रजापतेर्जन्मानावस्थायामाचार्यस्य सत्त्वाच्छ्रवणाद्यावृत्तेरैक्यज्ञानोदयात्तत्संस्कारोत्थं तथाविधमेव तज्ज्ञानं फलावस्थायामपि स्यादिति चोदयति—अथेति। दूषयति—एकत्वेति। अज्ञानध्वंसित्वेनार्थवत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति। तत्र [1]गमकमाह—यत इति। दार्ष्टान्तिकमाह—एवमिति।

बिना उपदेश के उसकी उत्पत्ति हुई, तब तो हमारे लिए भी वैसा प्रसङ्ग हो सकता है। यदि पूर्वजन्म के सस्कार से होने वाला माना जाय, तो एकत्वज्ञान की अनर्थता का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। जिस प्रकार अपने पूर्वजन्म मे प्रजापति एकत्वविज्ञान के विद्यमान रहने पर भी अविद्यारूप बन्धन के कारण को दूर न कर पाया, क्योंकि अविद्यासयुक्त पैदा होने के कारण ही यह भय को प्राप्त हुआ

---

१ हेतुम्।

विपक्ष दोषमाह—ध्वस्तेति। निवृत्ताविद्यस्यापि यद्यरतिरस्ति तथा सत्यनर्थत्वात्तस्य मुक्तेरनुपपत्ति स्यादित्यथ ॥ प्रजापतेर्भीतिध्वस्तिर्न परैक्यज्ञानादिति फलित निगमयति—नाविद्येति। उक्तेऽर्थे पूर्वोक्तमेव श्रौत लिङ्ग स्मारयति—अरतीति। परदर्शनराहित्यमरतिमता प्राणभृता प्रसिद्धमिति हिशब्दार्थ । इतश्च न परज्ञानाद्विराजो भीतिध्वस्तिरित्याह—न चेति। विराजो मन्वादिसमाधिकार परज्ञानस्य निरवकाशत्व स्फोरयति—पिण्डेति। पिण्डशब्देन मन्वादिदेहो गृह्यते। अकस्मात्प्रकरणविच्छेद विनेत्यथ ॥ विराट्प्रकरणेऽपि परज्ञान विशिष्टफलत्वादुपदिश्यतामित्याशङ्क्याह—प्रक्रियेति। अथात्र परैक्यज्ञान भीतिध्वसीति भाष्यकृतोक्त तत्कथ भवाननुमन्यते तत्राह—समीरितमिति। भाष्यकारोक्त विशिष्टफलमपि परैक्यज्ञानमनवसरदु स्थ विदुषा न हृदयगममित्यत्र दृष्टान्तमाह—अकालेति ॥ अरत्युद्भूतिलिङ्गाद्विराट्प्रकरणाच्च परधियोऽनवकाशत्वमुक्त तत्रैव लिङ्गान्तरमाह—मिथुनेति। आदिशब्देन द्वितीयेच्छादिग्रह । इह प्रजापतिसृष्टिप्रकरणे। तस्य प्रकृतविदुष ॥ परज्ञानवतो मैथुनादिदुर्व्यापारवारकश्रुतिस्मृतिरूपागमानुदाहरति—आत्मेति। आत्मन्येव क्रीडा यस्य न त्वनात्मनि पुत्रादाविति तथोच्यते आत्मनि रतिरेव क्रिया तद्वानिति क्रियान्तर निरस्यते। किमिच्छन्नस्य कामायत्यादिवाक्य सग्रहीतु चशब्द । तथेति—उक्तागमानुसारेणेति यावत्। आत्मन्येव मिथुन न द्वितीय वस्त्वीति यथात्म् स्मृतेरर्थस्तु वक्ष्यते ॥ विराड्ज्ञानमेवात्र भयध्वसि न परज्ञानमित्यत्र लिङ्गान्तरमाह—कार्येति ॥ एव पूर्वपक्षयित्वा सिद्धान्तमाहापीति। वसिष्ठवामदेवादीनामुत्पन्नसम्यग्ज्ञानानामपि स्वाधिकारसमाप्तिपर्यन्तमविद्यालेशादरत्यादिदर्शनात्प्रजापतेरपि समुत्पन्नसम्यग्बोधस्यैव यावदधिकारमवोधलेशेनारत्यादिमभवात् परज्ञानादेव तस्य भयनिवृत्तिर्यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणामिति न्यायादित्यर्थं ॥ यत्तु प्रक्रियाऽनुचितमित्यादि तत्राऽऽह—अप्रविष्टेति। स एष इह प्रविष्ट इति वाक्य सशब्देनाऽऽत्मैवेदमग्र आसीत्तन्मदन्यन्नास्तीत्यत्रोक्तब्रह्मणोऽप्रविष्टस्वभावस्य परामर्श । न ह्यप्रकृत सर्वनाम्ना शक्य परामष्टु न चान्यत्र ब्रह्म प्रस्तुत तद्वेदमिति च सनिहितमेप-शब्देनानुकृष्यते। न चाव्याकृतवाक्येऽपि तच्छब्देन प्रकृतत्व विना कारणतया ब्रह्मपरामर्शोऽतो यन्मदन्यदित्यादौ न प्रक्रियानुचितस्य परस्योक्ति। न च विराजोऽपि पर परिहृत्य स्रष्टृत्वादिदिलिष्टमिति भाव ॥

[1]सर्वेषामेकत्वदर्शनानर्थक्यं प्राप्नोति । अन्त्यमेव निवर्तकमिति चेत् । न । [2]पूर्ववत्पुनः प्रसङ्गेनानैकान्त्यात् । तस्मादनर्थकमेवैकत्वदर्शनमिति ।

नैष दोषः । उत्कृष्टहेतूद्भवत्वाल्लोकवत् । यथा पुण्यकर्मोद्भवं विविधं कार्य-

---

नन्वस्मिन्नेव जन्मनि प्रजापतेरैक्यधीरनपेक्षा जायते 'ज्ञानमप्रतिघं यस्य' इति स्मृतेः । न च 'तदुत्पत्त्यनन्तरमेव सहेतुं बन्धं निरुणद्धि भयारत्यादिफलेन प्रारब्धकर्मणा [3]प्रतिबन्धादतो मरणकालिकं तदज्ञानध्वंसीति शङ्कते—अन्त्यमेवेति । प्रवृत्तफलस्य कर्मणः स्वोपपादकाज्ञानलेशनाशिज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकत्वेऽपि जन्मान्तरादिसर्वसंसारहेत्वज्ञानध्वंसिज्ञानसामर्थ्यप्रतिबन्धकत्वे मानाभावान्मध्ये जातं ज्ञानमनिवर्तकमित्यशक्यं वक्तुमन्त्यस्य च ज्ञानस्य निवर्तकत्वे नान्त्यत्वं हेतुः । यजमानान्तरस्यान्त्ये ज्ञाने तद्ध्वंसित्वादृष्टेरन्त्यत्वस्याज्ञानध्वंसित्वेनानियमात् । न च यजमानान्तरे प्रजापतौ चान्त्यं ज्ञानं ज्ञानत्वादज्ञानध्वंसि पूर्वज्ञानेषु बन्धहेत्वज्ञानध्वंसित्वादृष्टेर्ज्ञानत्वहेतोरनैकान्त्यात् । न चान्त्यमैक्यज्ञानमैक्यज्ञानत्वादज्ञानध्वंसीति युक्तम् । उपान्त्यतादृग्ज्ञानवदन्त्येऽपि तदयोगादुपान्त्ये हेतोरनैकान्त्यादित्यभिप्रेत्य दूषयति—नेत्यादिना । क्लृप्तकारणाभावात्तदन्तरेण चोत्पत्तावतिप्रसङ्गात्संस्काराधीनत्वेऽपि विशेषाभावादन्त्यस्य च ज्ञानस्याज्ञानध्वंसित्वासिद्धेरयुक्तं प्रजापतेरेकत्वदर्शनमित्युपसंहरति—तस्मादिति ।

प्रजापतेः सुप्तप्रतिबुद्धवत्प्रकृष्टादृष्टोत्थकार्यकरणवत्त्वात्पूर्वकल्पीयपदपदार्थवाक्यस्मरणवत स्मृतिविपरिवर्तिनो वाक्याद्विचार्यमाणादृष्टसहकृतात्तत्त्वज्ञानं स्याल्लोके विशिष्टादृष्टोत्थकार्यकरणानां

था । इसी प्रकार हम सभी के एकत्वदर्शन की व्यर्थता प्राप्त होती है । यदि कहो कि अन्त में होने वाला एकत्वज्ञान अविद्या का नाश करता है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कहने से प्रथमादिज्ञान मे, प्रथमादिज्ञान की उत्पत्ति के बाद भी अज्ञान का प्रसङ्ग सुस्थिर हो जाने के कारण व्यभिचार हो जायगा । इससे एकत्वज्ञान अयुक्त ही है ।

---

१ सर्वेषामिति—अस्मदादीनामिति शेषः । तथा च वार्तिके—"दग्धाशेषान्तरायस्य विराजोऽपि महात्मनः । नाभक्षीदात्मविद्या न काऽऽशाऽविद्यापनुत्तये इति" ॥७४॥ विद्याप्रतिबन्धविधुरस्यैव विराजो जन्मान्तरे सत्यपि विद्या यद्यविद्या संसारहेतुं नादहत् तर्हि बहुप्रतिबन्धवतामस्माकं तद्दाहार्थमाशापि न युक्ता तस्मान्न जन्मान्तरे सत्यैक्यज्ञानजातमित्यर्थः । २ पूर्वेत्यादि । पूर्ववत्—प्रथमादिज्ञानेष्विव । पुनः—प्रथमादिज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमपि । प्रसङ्गेन —*अज्ञानस्य प्रसक्तत्वेनेत्यर्थः सुस्थिरत्वेनेति यावत् ॥ अनैकान्त्यात्*—हेतोर्व्यभिचारित्वादित्यर्थः । प्रथमादिज्ञानेषु सत्स्वपि अज्ञानमचलं चेत् तदा तज्जातीयं सदन्त्यं ज्ञानमपि तन्नाशयितुं कथमुत्सहत इति स्वदभिमतहेतोर्व्यभिचारित्वं सुस्थिरमित्यर्थः । ३ अयुक्तम् । ४ विशुद्धे । ५ साधननिरपेक्षा । ६ ऐक्यज्ञानम् । ७ तस्य प्रतिबद्धत्वात् । ८ ज्ञानम् । ९ स्वस्थापनेत्यर्थः । १० मूलाज्ञानम् । ११ प्राजापत्यमन्त्यमैक्यज्ञानमज्ञाननिवर्तकम् इत्यनुमाने अन्त्यस्य ज्ञानस्य निवर्तकत्वे किमन्त्यत्वं हेतुः किं वा ज्ञानत्वमाहोस्विदैक्यज्ञानत्वमिति विकल्प्याद्यं दोषमाह—अन्त्यस्य चेति । १२ अनेन दृष्टान्तसिद्धिरपि ध्वनिता । १३ व्याप्त्यभावात् । १४ द्वितीयं दूषयति न चेति । १५ तृतीयं प्रत्याह—न चान्त्यमिति । १६ समर्थं । १७ अस्मदादिष्वपि तथात्वस्य तुल्यत्वादित्यर्थः । पूर्वानुभववत्स्मृतेरपि वैचित्र्यादिविशेषादिति परमार्थः । १८ सुप्तप्रतिबुद्धवदिति—यथा सुप्तः पुमान् प्रबोधकस्योच्चैराह्वानादिकारणान्तराभावेऽपि प्राक्तनजागरणसंस्कारसहकृतादृष्टवशादेव प्रबोधमाप्नोति तद्वदित्यर्थः । १९ स्मृतिविषयात् । २० तत्त्वमादिवाक्यात् ।

करणैः संयुक्ते जन्मनि सति प्रज्ञामेधास्मृतिवैशारद्य दृष्टं तथा प्रजापतेर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यविपरीतहेतुसर्वपाप्मदाहाद्विशुद्धैः कार्यकरणैः संयुक्तमुत्कृष्टं जन्म तदुद्भवं चानुपदिष्टमेव युक्तमेकत्वदर्शनं प्रजापतेः । तथाच स्मृतिः—

"ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम्" इति ॥

सहसिद्धत्वे भयानुपपत्तिरिति चेत् । न ह्यादित्येन सह तम उदेति । न, 'अन्या-

---

प्रज्ञाद्यतिशयदर्शनात्तेन च ज्ञानेन जन्मान्तरहेत्वविद्याक्षयेऽप्यारब्धं कर्म तज्जं च भयारत्याद्यविद्यालेशतो भविष्यतीति परिहरति—नैष दोष इति । सगृहीतमर्थं समर्थयते—यथेत्यादिना । धर्मादिचतुष्टयाद्विपरीतमधर्मादिचतुष्टयं तत्र हेतो सर्वस्य पाप्मनो ज्ञानाद्यतिशयेन नाशादिति यावत् । उत्कृष्टत्वं प्रकृष्टज्ञानादिशालित्वम् । उक्तजन्मफलमाह—तदुद्भव चेति । तस्य ज्ञानादिवैशारद्ये पौराणिकीं स्मृतिमुदाहरति—तथा चेति । अप्रतिघमप्रतिबद्धं निरङ्कुशमित्येतत्प्रत्येकं संबध्यते यस्यैतच्चतुष्टयं सहसिद्धं स निरवर्ततेति सबन्धः ।

सहसिद्धत्वस्मृते 'सोऽबिभेत्' इति श्रुतिविरुद्धत्वादप्रामाण्यमिति 'विरोधाधिकरणन्यायेन शङ्कते—सहसिद्धत्व इति । सत्येव सहजे ज्ञाने 'स्वहेतोर्भयमपि स्यादिति चेन्नेत्याह—न हीति । अन्येनाऽऽचार्येणानुपदिष्टमेव प्रजापतेर्ज्ञानमुदेतीत्येवमर्थपरत्वात्सहसिद्धवाक्यस्य तत्त्वज्ञानात्प्राक्तस्य भयमविरुद्धमूर्ध्वं चाज्ञानलेशादतो न विरोध. श्रुतिस्मृत्योरिति समाधत्ते—नेत्यादिना । ज्ञानोत्पत्तेरा-

---

(शङ्का का परिहार करते है) यह कोई दोष नही है । क्योकि लोकव्यवहार के समान प्रजापति का जन्म उत्कृष्टहेतु से हुआ है । जिस प्रकार पुण्यकर्मो से उत्पन्न विशुद्ध-देह और इन्द्रियो से सयुक्त जन्म होने पर भी. बुद्धि, धारणशक्ति, और स्मृति की विशदता देखी जाती है, उसी प्रकार धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से विपरीत होने वाले समस्त पापो के भस्म हो जाने प्रजापति का विशुद्ध-देह और इन्द्रियो से सयुक्त उत्कृष्ट जन्म है । उससे होने वाला प्रजापति का एकत्वदर्शन भी अनुपदिष्ट है—ऐसा मानना ठीक ही है । स्मृति भी इसका समर्थन करती है—

---

१ अन्यानुपदिष्टेत्यादि । विरोधं चाप्रामाण्य परस्परव्याघातात्' इत्याचार्या । न चात्र सर्वावेष्टनस्मृते स्पृष्टोद्गानश्रुतश्च मिथोविरोधवत् विरोधोऽस्तीति भाव । आचार्या जैमिनय । २ आदिना वैराग्यादि । ३ विरोधाधिकरणन्यायेनेति—"औदुम्बरी वेष्टनीया सर्वत्येषा स्मृतिर्मिति । अमितिर्वेति सन्देह मिति स्यादष्टकादिवत् ॥ औदुम्बरी स्पृशन् गायदिति प्रत्यक्षवदत । विरोधान्मूलवेदस्याननुमानादमानता ॥ प्रत्यक्षानुमितश्रुत्योर्यद्वा व्याघातदर्शनात् । अमात्वे शङ्किते बाधोऽनुमानस्यात्र वर्ण्यत ॥ परप्रत्यक्षवदोऽत्र मूल चेद्वेष्टनस्य तत् । अस्त्वेवमप्यनुष्ठान स्वप्रत्यक्षानुरोधत " ॥ इत्यधिकरणमालोक्तन्यायेनेत्यर्थं । मिति प्रमा। अष्टकाकर्मविशेष तस्यास्मृतिसिद्धत्वेऽपि प्रामाणिकत्व यथा तद्वत् ॥ स्मृत्यानुमीयमान स्मृतेर्मूलभूतो वद ॥ अमात्वम्—अप्रमात्वम् ॥ अत्र यथा —औदुम्बरीं स्पृशन् गायदिति प्रत्यक्षश्रुतिविरोधात् औदुम्बरी सर्वावेष्टनीयेति स्मृते तदनुमिततन्मूलभूतश्रुतेरचाप्रामाण्य तद्वदित्यर्थ । विरोधेति—तथा च जै०सू० 'विरोधे त्वनपेक्ष स्यादसति ह्यनुमानम्' । १ ३ २ इति । श्रुतिविरोधे सति स्मृतिप्रामाण्यमनपेक्षितमसति तु तस्मिन् स्मृतिमूलश्रुत्यनुमानमित्यर्थं । ४. स्वस्य भयस्य, हेतोरज्ञानात् । ५ वाक्यस्य यथोक्तपरत्वात् ।

नुपदिष्टार्थत्वात्सहसिद्धवाक्यस्य । 'श्रद्धातात्पर्यप्रणिपातादीनामहेतुत्वमिति चेत् । 'स्यान्मतम्--"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः" "तद्विद्धि प्रणिपातेन" इत्येवमादीनां श्रुतिस्मृतिविहितानां ज्ञानहेतूनामहेतुत्वं 'प्रजापतेरिव जन्मान्तरकृतधर्महेतुत्वे ज्ञानस्येति चेत् । न । निमित्तविकल्पसमुच्चयगुणवदगुणवत्त्वभेदोपपत्तेः ।

लोके हि 'नैमित्तिकाना कार्याणां निमित्तभेदोऽनेकधा 'विकल्प्यते । तथा निमित्तसमुच्चयः' । तेषा च विकल्पिताना समुच्चितानां च पुनर्गुणवदगुणवत्त्वकृतो भेदो भवति ।

चार्याद्यनपेक्षत्वे श्रद्धादिविधानानर्थक्यादनेकश्रुतिस्मृतिविरोध स्यादिति शङ्कते—श्रद्धेति । आदिपदेन शमादिग्रह । 'अस्मदादिषु तेषा हेतुत्वमिति चेन्नेत्याह—प्रजापतेरिवेति । चोदितं विरोधं निराकरोति—नेत्यादिना । "निमित्ताना विकल्प समुच्चयो गुणवत्त्वमगुणवत्त्वमित्यनेन प्रकारेण कार्योत्पत्तौ विशेषसंभवान्न श्रद्धादिविध्यानर्थक्यमित्यर्थ ।

सग्रहवाक्य विवृणोति—लोके हीति । तद्धि सर्व विकल्पादि यथा ज्ञातु शक्यं तथैकस्मिन्नेव

"जिस जगत् के पालक प्रभु के अप्रतिबद्धज्ञान, अप्रतिबद्ध वैराग्य, अप्रतिबद्ध ऐश्वर्य और अप्रतिबद्ध धर्म—ये चारो सहजसिद्ध है (वह निरवर्तित हुआ)" इत्यादि ।

किन्तु इनके सहजसिद्ध होने पर प्रजापति को भय होना अयुक्त है । सूर्य के साथ अन्धकार का उदय कभी नही होता । ऐसी शङ्का करना ठीक नही । क्योकि स्मृतिप्रोक्त इस सहजसिद्धवाक्य के प्रयोजन ज्ञान को आचार्यादि से अनुपदिष्ट बतलाना है । (फिर शङ्का होती है) ऐसा होने पर तो श्रद्धा, तत्परत्व एव नमस्कारादि की (ज्ञानोत्पत्ति मे) अहेतुता हो जायगी । (सगृहीत श्रद्धादि गुणो को स्पष्ट करते हैं —)यदि प्रजापति के समान जन्मान्तरकृत धम ही ज्ञान का हेतु होगा तो "श्रद्धावान तत्पर और जितेन्द्रिय पुरुष को ही ज्ञान प्राप्त होता है", (तत्त्वदर्शियो को) नमस्कार करके उस ज्ञान को जानो" इत्यादि श्रुतिस्मृति-समर्थित वाक्या द्वारा ज्ञान के हेतुओ की अहेतुता-पुष्टि हो जावेगी । (शङ्का परिहार करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नही, क्योकि ज्ञान के साधनो के विकल्प, समुच्चय, गुणवत्त्व और अगुणवत्त्व इस प्रकार से कार्य-उत्पत्ति मे विशेष होने के कारण श्रद्धादि की अयुक्तता का बाध हो जाता है ।

लोक व्यवहार मे सहेतुक कार्यों का निमित्तभेद विकल्प से अनेक प्रकार का होता है । उसी प्रकार निमित्तसमुच्चय भी अनेक प्रकार का होता है । और पुन उन विकल्पित और समुच्चितों का भी गुणवत्त्व और अगुणवत्त्व कृत भेद होता है । उसी को बताते हैं । पहले नैमित्तिकरूप ज्ञान कार्य

---

१ तत्परत्वेत्यर्थ । २ श्रद्धेत्यादिना सगृहीत विवृणोति स्यादिति । ३ मत स्यादिति सम्बन्ध । ४ प्रजापतेरिवेत्यादि—अस्मदादिष्वपि ज्ञानस्य प्रजापतेरिव जन्मान्तरकृतधर्महेतुत्व मति श्रुत्यादिविहिताना ज्ञानहेतूनामहेतुत्व मत स्यादिति सम्बन्ध । तथा च तद्विधानमनर्थक स्यात् । पुरुषभेदेन (अधिकारिभेदेन) अयवत्वे च विशेष-(समुच्चयविधायक) श्रुत्यादिविरुद्धमिति भाव । ५ सहेतुकानाम् । ६ विकल्पेनानेकधाभवतीत्यर्थ । ७ अनेकधाभवतीत्यर्थ । ८ तद्विधायकश्रुतिरित्यर्थ । ९ अस्मदादिनिष्ठज्ञान प्रतीत्यर्थ । १० ज्ञानसाधनानाम् ।

तद्यथा रूपज्ञान एव तावन्नैमित्तिके कार्ये तमसि विनाऽऽलोकेन चक्षूरूपसंनिकर्षो नक्तं-[1] चराणां रूपज्ञाने निमित्तं भवति मन एव केवलं रूपज्ञाननिमित्तं योगिनामस्माकं[2] तु[3] संनिकर्षालोकाभ्यां सह[4]। तथाऽऽदित्यचन्द्राद्यालोकभेदैः समुच्चिता[5] निमित्तभेदा भवन्ति[6]। तथाऽऽलोकविशेषगुणवदगुणवत्त्वेन भेदाः स्युः।

एवमेवाऽऽत्मैकत्वज्ञानेऽपि क्वचिज्जन्मान्तरकृतं[7] कर्म निमित्तं भवति।[8] यथा प्रजापतेः। क्वचित्तपो निमित्तम्। "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" इति श्रुतेः। क्वचित्

नैमित्तिके रूपज्ञानाख्यकार्ये दर्शयामीत्याह—तद्यथेति। तत्र विकल्पमुदाहरति—तमसीत्यादिना। समुच्चयं दर्शयति—अस्माकं त्विति। विकल्पितानां समुच्चितानां च निमित्तानां गुणवदगुणवत्त्वप्रयुक्तं भेदं कथयति—तथेति। आलोकविशेषस्य गुणवत्त्वं बहुलत्वमगुणवत्त्वं मन्दप्रभत्वं चक्षुरादेर्गुणवत्त्वं निर्मलत्वादि [10]तिमिरोपहतत्वादि चागुणवत्त्वमिति भेदः।

दृष्टान्तं प्रतिपाद्य दार्ष्टान्तिकमाह—एवमिति। तथाऽन्यस्यापि प्रजापतितुल्यस्य वामदेवादेर्ज-न्मान्तरीयसाधनवशादीश्वरानुग्रहादस्मिञ्जन्मनि स्मृतवाक्यादैक्यज्ञानमुदेतीति शेषः। भृगुस्तत्तुल्यो वाऽधिकारी क्वचिदित्युच्यते। तपो[11]ऽन्वयव्यतिरेकाख्यमालोचनम्। श्वेतकेतुप्रभृतिषु ज्ञाननिमित्ताना समुच्चयं दर्शयति—क्वचिदित्यादिना। एकान्तं [12]नियतमावश्यकं ज्ञानलाभे निमित्तत्वमिति यावत्।

मे (मार्जारादि) रात्रि मे विचरण करने वालो को बिना प्रकाश के अन्धकार मे होने वाला, चक्षु-रूप सन्निकर्ष रूपज्ञान मे कारण होता है (नही तो मार्जारादि रात्रि को अन्धकार मे रहने वाले मूषकादि को कैसे पकडते ?)। दूसरा विकल्प न होने से योगियो का मन ही रूपज्ञान मे हेतु है। हम अयोगियो को तो चक्षु-सन्निकर्ष और प्रकाश होने पर रूप ज्ञान होता है। इसी प्रकार सूर्य और चन्द्रादि आलोकभेद से विकल्पित और समुच्चित निमित्तो के भेद होते है। तथा आलोकविशेष के गुणत्व और अगुणत्व निमित्त भेद हो जाते है।

१ नक्तञ्चराणामिति—मार्जारादीनामित्यथ। कथमन्यथाऽन्धकारमध्यवर्तिनस्त मूषकादिगृह्णीयुरिति भाव। २. विधान्तरेण विकल्पार्थमाह—मन इति। ३ अयोगिनाम्। ४ मनोरूपज्ञाननिमित्तमित्यन्वय। ५ समुच्चये प्रकारान्तर दर्शयति-तथेति। चन्द्राद्यालोकै सह चक्षुरादि येषाचित्तत्र निमित्तमित्यर्थ। ६ श्रवणादिरूपम्। ७ यथा प्रजापतेरिति। न चात्र नियामकाभाव "यो ब्रह्माण विदधातीति" श्रुतौ प्रजापतिबुद्धावीश्वरानुग्रहाद्धाजन्मनो वेदाविर्भावोक्तेरिति भाव। ८ उदितानुदितहोमवद्व्यवस्थितविकल्पमित्यथ। ९ प्रमात्रादीना धीहेतूना गुणवत्त्वदोषवत्त्वाभ्यामनेकधा निमित्तविकल्पं दर्शयति—चक्षुरादेरिति। आदिना प्रमातृप्रमेययोर्ग्रह। तत्र प्रमाता ज्ञानपरिणामी साभासान्तःकरणाख्य तस्य गुणवत्त्व अदृष्टप्रजत्वादि। वैपरीत्य दोषवत्त्वम्। प्रमेयो घटादि तस्य दोषो दूरत्वादि गुण सन्निकृष्टत्वादि। दार्ष्टान्तिके श्रद्धादिषु गुणवत्त्वम्—उत्कर्ष। दोषवत्त्व निकर्ष इति द्रष्टव्यम्। १० चक्षुर्गतदोषविशेषस्तिमिर। ११ अन्वयेत्यादि- अन्नप्राणादिर्व्यभिचारित्वादनात्मा स्रगा-दिवत् आत्मा तु रज्ज्वादिवदव्यभिचारी यद्वा उत्पत्त्यादिभावत्वाद्भूतानामनात्मत्वम् ब्रह्मणस्तु तद्राहित्यादात्म-त्वमित्येवविधान्वयव्यतिरेकाख्यविचारोऽत्र तप शब्देन विवक्षित इत्यर्थ। तदुक्त वार्तिके— "अन्वयव्यतिरेकादि-चिन्तन वा तपो भवेत्। अह ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधायालमिद मत इति॥" वाक्यतात्पर्यालोचन साधनविशेषानु-सधान फलविशेषचिन्तन चादिशब्देन गृह्यते। १२ नैतैर्विना ज्ञान संभवतीति भाव।

"आचार्यवान्पुरुषो वेद" "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्" "तद्विद्धि प्रणिपातेन" "आचार्याद्धैव" "द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" इतिश्रुतिस्मृतिभ्य एकान्तज्ञानलाभनिमित्तत्वं श्रद्धाप्रभृतीनाम् । [1]अधर्मादिनिमित्तवियोगहेतुत्वात्। वेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनानां च [3]साक्षाज्ज्ञेयविषयत्वात् । पापादिप्रतिबन्धक्षये [4]चाऽऽत्ममनसोर्भूतार्थज्ञाननिमित्तस्वाभाव्यात् । तस्मादहेतुत्वं न जातु ज्ञानस्य [5]श्रद्धाप्रणिपातादीनामिति ॥२॥

अथ प्रणिपातादिव्यतिरेकेण न प्रजापतेरपि ज्ञानं संभवति सामग्र्यभावादत आह—अधर्मादीति । प्रणिपातादेर्ज्ञानोदयप्रतिबन्धकनिवर्तकत्वात्प्रजापतेश्च तन्निवृत्तेर्जन्मान्तरीयसाधनायत्तत्वादाधुनिकप्रणिपातादिना विना स्मृतवाक्यार्थैक्यधीः संभवतीत्यर्थः । [6]तर्हि श्रवणादिव्यतिरेकेणापि प्रजापतेर्ज्ञानं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—वेदान्तेति । न तैर्विना ज्ञानं कस्यचिदपि स्यात्प्रजापतेस्तु जन्मान्तरीयश्रवणवशादिदानीमनुस्मृतवाक्यात्तदुत्पत्तिरिति शेषः । तर्हि श्रद्धादिकमपि प्रतिबन्धकनिवर्तकत्वेन प्रजापतेरादरणीयं तन्निवृत्तिमन्तरेण ज्ञानोत्पत्त्यनुपपत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—पापादीति । आत्ममनसोर्मिथः [7]संयुक्तयोः संबन्धि यत्पापं तत्कार्यं च रागादि तस्याभेदज्ञानोत्पत्तौ प्रतिबन्धस्य पूर्वोक्तेन न्यायेन क्षये सति प्रजापतेरीश्वरानुग्रहात्स्मृतवाक्यस्य परमार्थज्ञानोत्पत्तौ केवलस्य [8]निमित्तत्वात्तस्याऽऽधुनिकश्रद्धाद्यतिरेकेण ज्ञानोदयेऽपि न [9]तद्विधिवैयर्थ्यम् । अस्माकं तद्वशादेव तदुत्पत्तेर्वाक्यतात्पर्यादिज्ञानं सर्वेषामेव [10]"ज्ञानसाधनमाचार्यादिषु पुनर्विकल्पसमुच्चयाविरयर्थः । अधिकारिभेदेन ज्ञानहेतुषु विकल्पेऽपि तेषामस्मासु समुच्चयाच्च श्रुतिस्मृतिविरोधोऽस्तीत्युपसंहरति"—तस्मादिति ।

इसी प्रकार आत्मैकत्वज्ञान मे भी कभी-कभी पूर्वजन्मकृत श्रवणादिरूप कर्म निमित्त होता है। जैसे प्रजापति की बुद्धि मे ईश्वर के अनुग्रह से वेद आविर्भूत हुए । कभी-कभी आत्मैकत्वज्ञान मे तप निमित्त होता है। "उस निर्विकल्पक ब्रह्म को तप से जानने की इच्छा करो" ऐसा श्रुति द्वारा सिद्ध होता है। कही-कही श्रुतियाँ "आचार्यवान् पुरुष को ज्ञान प्राप्त होता है", "श्रद्धावान् पुरुष को ज्ञान प्राप्त होता है", "(तत्त्वदर्शी महात्माओ को) नमस्कार करके उसे जानो", "आचार्य के द्वारा ही (विद्या स्थिर होती है)", एव "इस आत्मा का ही दर्शन करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये" ऐसा कह कर अधर्मादिरूप जो ज्ञान प्रतिबन्धक है, उनके निमित्त का नाश हो जाने से श्रद्धा आदि को अद्वितीय ज्ञानलाभ निमित्त कहा है ।

वेदान्त के श्रवण, मनन और निदिध्यासन तो साक्षात् ज्ञानसाधन होने के कारण ब्रह्म को श्रद्धादि की तरह परम्परा रूप से नही, अपितु साक्षात् विषय करते है । पापादि प्रतिबन्ध के नाश होने पर आत्मा और मन का भी तत्त्वार्थज्ञान मे निमित्तो का स्वाभाविकत्व है । इसलिए ज्ञान की उत्पत्ति मे श्रद्धा, प्रणिपातादिको का अहेतुकत्व कभी नही हो सकता ॥२॥

---

१. पूर्वोत्तरान्वयीदम् । २. अधर्मादिरूपाणि यानि ज्ञानप्रतिबन्धनिमित्तानि तेषाम् । ३. साक्षाज्ज्ञानसाधनत्वादन्तरङ्गसाधनत्वान्नतु श्रद्धादिवत् परम्परया । ४. तत्त्वार्थज्ञाने निमित्ताना स्वाभाविकत्वादित्यर्थ. । ५. उत्पत्ताविति शेष । ६. प्रजापते. श्रवणादिपूर्वकज्ञानाङ्गीकारे । ७ तादात्म्यापन्नयोः । ८. एवं ज्ञानजन्मनिमित्ताना विकल्पसमुच्चयसभवादिति शेष । ९. श्रद्धादिविधिरित्यर्थ. । १०. ज्ञानसाधनीभूतेषु । ११. स्यान्मतमित्यादिनोपक्रान्तस्योपसंहार ।

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् । स हैतावानास यथा स्त्रीपुमाꣳसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माऽऽह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव ताꣳ समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त ॥३॥

उस प्रजापति ने आनन्द का अनुभव नहीं किया, इसीलिये आज भी एकाकी पुरुष रति का अनुभव नही करता (इष्ट वस्तु के सयोग से होने वाली क्रीडा का नाम ही रति है, ऐसी रति के लिये और अरति की निवृत्ति के लिये) उस प्रजापति ने दूसरे की अर्थात् स्त्री, की अभिलाषा की, जैसे परस्पर स्त्री पुरुष आलिङ्गित होते है वैसे ही परिणाम वाला वह सत्य सकल्प प्रजापति भी हो गया । उससे इस अपने शरीर को ही दो भागो मे बाँट दिया । उसी से पति और पत्नी हुये । इसीलिये लौकिक शरीर द्विदल अन्न के एक दल के समान है अर्थात् अकेला पुरुष अर्ध द्विदल के समान है ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा । अत यह पुरुष का अर्ध आकाश स्त्री से पूर्ण होता है, विवाह के पश्चात् वह पुरुष उस स्त्री से सयुक्त हुआ पूर्ण माना जाता है । उसी मैथुन की प्रवृत्ति से मनुष्य उत्पन्न हुये है ॥३॥

इतश्च संसारविषय एव प्रजापतित्वं यतः स प्रजापतिर्वै नैव रेमे रतिं नान्वभवदरत्याविष्टोऽभूदित्यर्थोऽस्मदादिवदेव यत इदानीमपि तस्मादेकाकित्वादिधर्मवत्त्वादेकाकी न रमते रतिं नानुभवति । रतिर्नामेष्टार्थसंयोगजा क्रीडा । तत्प्रसङ्गिन इष्टवियोगान्मनस्याकुलीभावोऽरतिरित्युच्यते । स तस्या अरतेरपनोदाय द्वितीयमरत्यपघातसमर्थं

प्रजापतेर्भयाविष्टत्वेन ससारान्तर्भूतत्वमुक्तमिदानीं तत्रैव हेत्व तरमाह—इतश्चेति । अरत्याविष्टत्वे प्रजापतेरेकाकित्व हेतु करोति—यत इति । कार्यस्यारतिः कारणस्यारतेर्लिङ्गमित्यनुमानं सूचयति—इदानीमपीति । आदिपदेन भयाविष्टत्वादिग्रह । अरतिं प्रतियोगिनिरुक्तिद्वारा निर्वक्ति—रतिर्नामेति । कथं तर्हि यथोक्त रतिनिरसनमित्याशङ्क्य स द्वितीयमैच्छदित्येतद्व्याचष्टे—स तस्या

इसलिए प्रजापति होना भी ससार के अन्तर्गत है, क्योकि "स" अर्थात् उस प्रजापति ने "वै नैव रेमे" अर्थात् आनन्द अनुभव नही किया । (एकाकी होने स) हम लागा के समान ही उदास हो गया, यह भाव है । इसलिए इस समय भी "तस्मात्" अर्थात् एकाकित्वादि धर्मों से युक्त होने के कारण "एकाकी न रमते" अर्थात् आनन्द अनुभव नही करता । इष्टवस्तु के सयोग से होने वाली मानसोल्लासविशेष क्रीडा का नाम ही रति है । उस इष्टवस्तु मे सयुक्त पुरुष के मन, से इष्टवस्तु के वियोग होने पर जो व्याकुलता होती है, उसे अरति कहा जाता है । उस व्याकुलता को दूर करने

---

१ ससारान्तर्गतम् । २ एकाकित्वादिति दोष । ३ मानसोल्लासविशेष । ४ अनुमानमिति—विराडात्माऽरत्याविष्टोऽभूदेकाकित्वादस्मदादिवदित्याकारकमित्यर्थ । निवृत्ताविद्यस्य पुम स्वाधिकारसमाप्तिपर्यन्तमाधिकारिजीवन्मुक्तानामिव प्रारब्धहेतवविद्यालेशानुवृत्त्याऽरत्याद्युपपद्यत इति भाव । ५ अरत्याविष्टत्वे ।

'स्त्रीवस्त्वैच्छद्गृद्धिमकरोत् । तस्य चैवं स्त्रीविषयं गृध्यतः स्त्रिया परिष्वक्तस्येवाऽऽन्तमनो 'भावो बभूव । स तेन 'सत्येप्सुत्वाद्ध तावानेतत्परिमाण ग्रास बभूव ह ।

किं परिमाण इत्याह—यथा लोके स्त्रीपुमांसावरत्यपनोदाय संपरिष्वक्तौ यत्परिमाणौ स्यातां तथा तत्परिमाणो बभूवेत्यर्थः । स 'तया तत्परिमाणमेवेम'मात्मानं द्वेधा द्विप्रकारमपातयत्पातितवान् । इममेवेत्यवधारणं 'मूलकारणाद्विराजो 'विशेषणार्थम् । न क्षीरस्य सर्वोपमर्देन दधिभावापत्तिवद्विराड्भावोपमर्देनैतावानास । किं तर्ह्यात्मना

इति । स हेत्यस्य वाक्यस्य पातनिका करोति—तस्येति । तेन भावेनेति यावत् । कथमभिमानमात्रेण यथोक्तपरिमाणत्वं तत्राऽऽह—सत्येति । निपातोऽवधारणे । तस्यैव पुनरनुवादोऽन्वयार्थः ।

परिमाणमेव प्रश्नपूर्वकं विवृणोति—किमित्यादिना । सप्रति स्त्रीपुंसयोरुत्पत्तिमाह—स तयेति । ननु द्वेधाभावो 'विराजो वा ससक्त'स्त्रीपुंसागतस्य "पिण्डस्य वा नाऽऽद्य सशब्देन विराड्ग्रहायोगात्तस्य कर्मत्वाद्वितीये त्वात्मशब्दानुपपत्तिस्तत्राऽऽह—इममिति । "तथा च सशब्देन कर्तृतया विराड्ग्रहणमविरुद्धमित्यर्थः । "तदेव स्फुटयति—नेत्यादिना । कस्य "तर्हि द्विधाकरणमित्याशङ्क्याऽऽह—किं तर्हीति । तच्च द्विधाकरणकर्मेति शेष । कथं तर्हि तत्राऽऽत्मशब्द. संभवतीत्याशङ्क्याऽऽह—स एव चेति ।

के लिए उसने "द्वितीयम्" अर्थात् अरति को नाश करने म उपयुक्त स्त्रीरूप वस्तु की "ऐच्छत्" अर्थात् लालसा की । इस तरह स्त्री के लिए लालसा होने पर स्त्री से आलिङ्गन करते हुए उसे अपने अन्त - करण का अभिमान उत्पन्न हुआ । सत्यसङ्कल्प होने के कारण उस अभिमान से वह "एतावान्" अर्थात् इस परिमाण वाला "आस" अर्थात् हो गया ।

किस परिणाम वाला हो गया ? इस पर कहते हैं । जिस प्रकार लोक व्यवहार मे स्त्री और पुरुष (एकाकी मे आनन्द अनुभव न करने से) मन की उत्कण्ठा को दूर करने के लिए परस्पर आलिङ्गित होते है, वे दोनो जिस परिणाम वाले हाते हैं, वह उसी परिमाण वाला हो गया—यह आशय है ।

१ स्त्रीवस्त्विति—स द्वितीयमैच्छदिति द्वितीयमात्रस्येष्टत्वश्रुतेस्तस्य कथ स्त्रीत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—अरत्यपघातसमर्थमिति । तथा चोक्त वार्तिके— इच्छामात्रमरत्युत्थ पुस्यतन्धर्यातस्त्रियम् । प्रयुङ्क्त योग्यतस्तस्यास्तदलब्ध्याऽरति प्रभो" ॥१११॥ इति । एकाकित्वादरतिस्तता द्वितीयच्छा तन्मात्र स्त्रीविशेषणादृते द्वितीयमात्रविषय सदरत्यपनोदनासमर्थं पुस्यनवस्थ द्वितीयत्वेन स्त्रियमुपस्थापयति तदलाभाद्धि प्रजापतेररतिस्तस्मादरत्यपघाते स्त्रियो योग्यत्वात्सैव तदिच्छाकम । अतएव दृष्टान्तेऽपि स्त्रीग्रहणमिति वार्तिकार्थं । २ अन्त करणस्य । ३ अभिमान । ४ सत्यसकल्पत्वात् । ५ सपरिष्वक्तस्त्रीपुमप्रकारेण । ६ स्वशरीरम् । ७ मूलकारणादित्यादि—मनुशतरूपोत्पत्तिबीजभूतात् सपरिष्वक्तस्त्रीपुसपरिमाणवाञ्छरीरान्तरादित्यथ । यद्वा विराज इत्यनन्तर द्विधाकरणक्रियाकर्मण पिण्डस्येति शेष । विशेषणार्थमित्यस्य व्यावृत्त्यर्थमित्यर्थ । तथा चेममेवेत्यवधारण जगतो मूलकारणतो विराडात्मन सकाशाद्द्विधाकरणक्रिया कर्मीभूतस्य परिष्वक्तस्त्रीपुसपरिमाणस्य पिण्डस्य व्यावृत्त्यर्थमित्यर्थ । एव च स इममेवात्मान द्वेधाऽपातयदित्यस्यायमर्थ । स जन्ममूलकारणीभूत पुरुषविध प्रथमशरीरी प्रजापतिर्विराडात्मा, इममेव स्वस्माद्व्यावृत्त पुरोवर्तिन परिष्वक्तस्त्रीपुसपरिमाण पिण्डमात्मानमात्मीयत्वेनाभिमत द्वेधाऽपातयत् द्विप्रकार पातितवान् त द्विधाऽकरोत्तस्य भागद्वय कृतवानिति यावत् । ८ व्यावृत्त्यर्थम् । ९ विराट्शरीरस्य । १० स्त्रीपुसमानस्य । स्त्रीपुसात्मकस्य इति पाठान्तरे । ११ तद्रूपेणोत्पन्नदेहान्तरस्य । १२ विराजो द्वेधाभावानभ्युपगमे च । १३ तस्य ततो व्यावर्तनमेव । १४ विराजो द्वेधाभावकर्मत्वानभ्युपगमे ।

व्यवस्थितस्यैव विराजः । सत्यसंकल्पत्वादात्मव्यतिरिक्तं स्त्रीपुंसपरिष्वक्तपरिमाणं शरीरान्तरं बभूव। स एव च विराट् तथाभूतः स हैतावानासेति सामानाधिकरण्यात्।

ततस्तस्मात्पातनात्पतिश्च पत्नी चाभवतामिति दंपत्योर्निर्वचनं लौकिकयोरत एव तस्माद्यस्मादात्मान एवार्धः पृथग्भूतो येयं स्त्री तस्मादिदं शरीरमात्मनोऽर्धबृगलमर्धं च तदर्धबृगलं विदलमर्धविदलमिवेत्यर्थः। प्राक्स्त्र्युद्वहनात्कस्यार्धबृगलमित्युच्यते स्व आत्मन इति। एवमाह स्मोक्तवान्किल याज्ञवल्क्यो यज्ञस्य वल्को वक्ता यज्ञवल्कस्तस्यापत्यं

तथाभूतः संसक्तजायापुंपरिमाणोऽभूदिति यावत्।

न केवलं मनुः शतरूपेत्यनयोरेव दंपत्योरिदं निर्वचनं किंतु लोकप्रसिद्धयोः सर्वयोरेव तयो-रेतद्द्रष्टव्यं सर्वत्रास्य संभवादित्याह—लौकिकयोरिति। उक्ते निर्वचने लोकानुभवमनुकूलयति—तस्मादिति। प्रागिति सहधर्मचारिणीसंबन्धात्पूर्वमित्यर्थः। आकाङ्क्षाद्वारा श्रुतिमादायानुभवमव-लम्ब्य व्याचष्टे—कस्येत्यादिना। बृगलशब्दो विकारार्थः। अनुभवसिद्धेऽर्थे प्रामाणिकसंमतिमाह—

एक दूसरे से आलिङ्गित स्त्री-पुरुष की तरह उसने उस परिणाम वाले अपने इस शरीर को ही "द्वेधा" अर्थात् दो प्रकार से, "पातयत्" अर्थात्—पात कर दिया। मूलकारण से विराट् की व्यावृत्ति के लिए "इमम् एव" अर्थात् 'इस शरीर को ही' यह निश्चयार्थक प्रयोग है। तो क्या अपने स्वरूप का सर्वथा नाश कर दूध से दधिभाव प्राप्ति की तरह पूर्वस्वरूप को सर्वथा विनष्ट कर विराट् ऐसे परिमाण वाला नही हुआ? तो फिर कैसा हुआ? अपने स्वरूप मे अवस्थित रहते हुए ही विराट्, सत्यसङ्कल्प होने के कारण अपने से भिन्न आलिङ्गित-स्त्रीपुरुष के परिमाण वाला दूसरा शरीर हो गया। वही पूर्वरूप मे अवस्थित विराट् था, संयुक्त-स्त्रीपुरुष के भी विराडाकार होने से वह इस प्रकार परिमाण वाला हो गया। एक ही अधिकरण मे रहने से "सः" और "एतावान्" का समानाधिकरण है।

'तत.' अर्थात् उस पातन से, मनु नाम के पति हुए और शतरूपा नाम वाली पत्नी हुई। यह सार्वत्रिक पति-पत्नी का निरूपण है। क्योंकि अपने शरीर से ही आगार्ध मे विभक्त हुई यह स्त्री है। "तस्मादिदम्" अर्थात् इसी से यह शरीर अपनी आत्मा का अर्धबृगल है अर्थात् अर्ध विभाग है। उस विभाग मे से जो अर्द्धविभाग है, उसे अर्धबृगल उसी प्रकार कहते है, जिस प्रकार शुक्ति और बांस को दो भागो मे विभक्त करने पर एक भाग को अर्धविदल कहते हैं। यदि ऐसा है तो विवाह से पूर्व स्त्री किसकी अर्द्धबृगल कही जाती है? इस पर श्रुति कहती है—'अपनी आत्मा की ही अर्धबृगल होती है?' ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा है। (याज्ञवल्क्य नाम क्यों पड़ा?) "याज्ञवल्क्य." अर्थात् यज्ञ का वल्क या वक्ता यज्ञवल्क, उसकी सन्तान याज्ञवल्क्य हुई, उसे देवराति भी कहा है। ब्रह्मा का

१. मनु। २ शतरूपा। ३ निरूपणम्। ४. अतएवेति—अस्य निर्वचनस्य सार्वत्रिकत्वादेवेत्यर्थः। ५ स्वशरीरादेव भागो विभक्त इत्यर्थ.। ६ स्वस्य। ७ विदलमिति शुक्तिवंशाद्यर्धभागवदित्यर्थ। ८. पुरुषस्य। ९. तस्यापि विराडाकारत्वादिति भाव.। १०. व्यभिचारिण. परस्त्रीप्रापणेन न भवति पूर्णतेत्याशयेन स्त्र्युद्वहनादितिभाष्य व्याचष्टे-सहधर्मचारिणीसंबन्धादिति। ११ विभागार्थं।

सो हेयमीक्षांचक्रे कथं नु माऽऽत्मन एव जनयित्वा संभवति हन्त तिरोऽसानीति सा गौरभवदृषभ इतरस्ताᳬ समेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त वडवेतराऽभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्ताᳬ

उस शतरूपा ने (कन्या-गमन निषेध स्मृति वाक्य का) विचार किया कि अपने से उत्पन्न कर मेरे साथ सभोग कैसे करता है ? अच्छा हो ! ऐसी परिस्थिति मे। मैं छिप जाऊं। अत वह गौ हो गयी, इसे देख दूसरा मनुरूप पुरुष वृषभ होकर उससे सभोग करने लगा। इससे गाय और बैल उत्पन्न हुए। फिर वह शतरूपा घोडी हो गयी और मनु अच्छा घोडा बन गया। पुन. वह गर्दभी हो

याज्ञवल्क्यो दैवरातिरित्यर्थः। ब्रह्मणो वाऽपत्यं यस्मादयं पुरुषार्ध आकाशः स्त्र्यर्धशून्यः पुनरुद्वहनात्तस्मात्पूर्यते स्त्र्यर्धेन पुनः संपुटीकरणेनेव विदलार्धः। तां स प्रजापतिर्मन्वाख्यः शतरूपाख्यामात्मनो दुहितरं पत्नीत्वेन कल्पितां समभवन्मैथुनमुपगतवान्। ततस्तस्मात्तदुपगमनान्मनुष्या अजायन्तोत्पन्नाः ॥३॥

सा शतरूपो हेयं सेयं दुहितृगमने स्मार्तं प्रतिषेधमनुस्मरन्तीक्षांचक्रे। कथं न्विद-

एवमिति। द्वेधापतने सत्येको भागः पुरुषोऽपरस्तु स्त्रीत्यत्रैव हेत्वन्तरमाह—यस्मादिति। उद्वहनात्प्रागवस्थायामाकाशः पुरुषार्धः स्त्र्यर्धशून्यो यस्मादसंपूर्णो वर्तते तस्मादुद्वहनेन प्राप्तस्त्र्यर्धेन पुनरितरो भाग. पूर्यते यथा विदलार्धोऽसंपूर्णः संपुटीकरणेन पुन संपूर्णः क्रियते तद्वदिति योजना। पूर्वमपि स्वाभाविकयोग्यतावशेन संसर्गोऽभूदनादित्वात्संसारस्येति सूचयितु पुनरित्युक्तम्। पुरुषार्धस्येतरार्धस्य च मिथः संबन्धान्मनुष्यादिसृष्टिरित्याह—तामित्यादिना।

स्मार्तं प्रतिषेधमिति। न सगोत्रां समानप्रवरां भार्यां विन्देतेत्यादिकमिति यावत्। अकृत्यं हीदं यद्दुहितृगमनं मातृतश्चाऽऽपञ्चमात्पुरुषात्पितृतश्चाऽऽसप्तमादिति स्मृतेरिति मत्वाऽऽह—कथमिति।

पुन याज्ञवल्क्य है—ऐसा भी प्रसिद्ध है। क्योंकि यह पुरुषार्ध शून्यत्वसादृश्य से आकाश स्त्र्यर्ध-शून्य है, इसलिए विवाह करने पर पुन यह स्त्र्यर्ध से पूरित होता है। जैसे (शुक्ति-वेणु आदि के) विदलार्ध पुन सम्पुटित कर देने पर पूर्ण हो जाता है। "ताम्" अर्थात् उस मनुनामक प्रजापति ने पत्नीरूप से कल्पना की हुई अपनी शतरूपानाम की कन्या से "समभवत्" अर्थात् मैथुन किया, "ततः" अर्थात् उस मैथुन धर्म से मनुष्य "अजायन्त" अर्थात् उत्पन्न हुए ॥३॥

स्मृतिप्रोक्त पुत्रीगमन सम्बन्धी प्रतिषेधवाक्य का स्मरण कर वह यह शतरूपा सोचने

१ प्रसिद्धो याज्ञवल्क्य। २ शून्यत्वसादृश्यादाकाश। ३ तामिति—ननु मनुशतरूपाभ्या मनुष्यादिसृष्टिर्वक्ष्यते न च तयो सृष्टिर्मशिष्ट्वा ताभ्यामन्यसृष्टिर्वक्तु युक्तेत्याशङ्कयाऽऽह वार्तिके—'विराजमसृजद्ब्रह्मा सोऽसृजत्पुरुष विराट्। पुरुष त मनु विद्धि यस्येय मानवी प्रजा' ॥११७॥ इति। स्रष्टा हि पुरुषो न सृज्यकोटिमनुप्रविशेदित्याशङ्कयाह–पुरुषमिति। द्वेधाजातयदित्यत्र द्वेधापातनव्याजेन मनुशतरूपयो सृष्टिरुक्तेति भाव इत्यादि। ४ आविवाहयोग्यता। ५ एवंविधकन्या भार्यात्वेन नाङ्गीकुर्यादित्यर्थ।

समेवाभवत्तत एकशफमजायताजेतराऽभवद्वस्त इतरो-ऽविरितरा मेष इतरस्ताᳪ समेवाभवत्ततोऽजावयो-ऽजायन्तैवमेव यदिदं किंच मिथुनमा पिपीलिकाभ्य-स्तत्सर्वमसृजत ॥४॥

गयी, तब मनु गर्दभ हो गया और उससे संभोग करने लग गया। इस मैथुन से एक खुर वाले पशु उत्पन्न हुए। पुन. शतरूपा बकरी हो गयी और मनु बकरा हो गया। जब वह भेड हो गयी, तब मनु भेडा हो गया और उससे संभोग करने लग गया। इसी से भेड़ बकरे उत्पन्न हुए। ऐसे ही चीटी से लेकर जितने स्त्रीपुरुषरूप जोडे हैं, उन सभी की इसी प्रकार उन दोनो ने सृष्टि की ॥४॥

मकृत्यं यन्मा मामात्मन एव जनयित्वोत्पाद्य संभवत्युपगच्छति । यद्यप्ययं 'निर्घृणोऽहं हन्तेदानीं तिरोऽसानि जात्यन्तरेण तिरस्कृता भवानीत्येवमीक्षित्वाऽसौ गौरभवत् । उत्पाद्यप्राणिकर्मभिश्चोद्यमानायाः पुनः पुनः सैव मतिः शतरूपाया मनोश्चाभवत् । ततश्च ऋषभ इतरः । ता समेवाभवदित्यादि पूर्ववत् । ततो गावोऽजायन्त । तथा वडवेतराऽभवदश्ववृष इतरः । तथा गर्दभीतरा गर्दभ इतरः । तत्र 'वडवाश्ववृषादीनां संगमात्तत एकशफमेकखुरमश्वाश्वतरगर्दभाख्यं त्रयमजायत । तथाऽजेतराऽभवद्वस्तश्छाग इतरः । तथाऽविरितरा मेष इतरः । तां समेवाभवत् । तां तामिति वीप्सा । तामजां तामविं चेति

तयोर्जात्यन्तरगमनं कथमित्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीति । शतरूपायां गोभावमापन्नायामृषभादिभावो' मनोर्भवतु तावत् 'यथोक्तदोषपरिहारस्तयोर्वडवादिभावे तु न कारणमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—उत्पाद्येति । ततस्तस्या गोभावादनन्तरमिति यावत् । गवां जन्मार्थं मिथःसंभवनं तत.शब्दार्थः । तत्र तेषामुत्पत्तौ सत्यामिति यावत् । वाक्यद्वये वीप्सा विवक्षितेत्याह—तामिति । तामेवाभिनयति'—तामजामिति । तां

लगी। 'कथ नु' अर्थात् यह अशास्त्रीय कृत्य है, जो अपने से ही उत्पन्न करके मुझसे "संभवति" अर्थात् ग्राम्य धर्म करता है। यद्यपि यह तो निर्लज्ज है, मैं "हन्त" अर्थात् अब "तिरोऽसानि" जात्यन्तर रूप से अपने को छिपाये लेती हूँ—यह सोचकर वह गाय हो गयी। उत्पन्न किये जाने वाले प्राणियो के कर्मों से उदित हुई बुद्धि के समान मनु और शतरूपा की पुन पुन. वैसी बुद्धि होती रही। शतरूपा के गोभाव के अनन्तर मनु बैल हो गया। वह पूर्ववत् गाय के साथ ग्राम्यधर्म करने लगा। गो वृषभ के सम्बन्ध के बाद गाय बैल उत्पन्न हुए। फिर शतरूपा घोडी हो गयी और मनु अश्वश्रेष्ठ हो गया। इसके बाद शतरूपा गर्दभी हो गयी और मनु गर्दभ हुआ। उन घोडी और अश्वश्रेष्ठ के समागम से घोड़ा खच्चर और गर्दभाख्य तीनों एक खुर वाले पशु उत्पन्न हुए। इसी प्रकार शतरूपा बकरी हो गयी और मनु बकरा हो गया, शतरूपा भेड़ हो गयी और मनु भेड़ा हो गया और उस उस शरीर से सङ्गम करने लगा। "ता" शब्द की "ताम्, ताम्" अर्थात् "वह-वह" यह द्विरुक्ति समझ लेनी

---

१. निर्लज्ज.। २ गोवृषभसम्बन्धानन्तरम्। ३. गर्दभाश्वजातीयादश्वतर इति बोध्यम्। ४. आदिशब्द प्रधानवाची। ऋषभोत्तम इति यावत्। ५. यथोक्तदोषेति—स्मार्तप्रतिषेधातिक्रमणप्रयुक्तप्रत्यवायरूपदोषेत्यर्थ। ६ दर्शयति।

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहꣳ हीदꣳ सर्वमसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्याꣳ हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥५॥

इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् की रचना करने के बाद उस प्रजापति ने जाना कि "मैं ही सृष्टि हूँ" मैंने ही इस सम्पूर्ण जगत् की रचना की है। अतएव वह प्रजापति सृष्टि नाम वाला हुआ। जो ऐसा जानता है वह इस प्रजापति की सृष्टि में प्रजापति के समान ही स्रष्टा होता है ॥५॥

सममवदेवेत्यर्थः। ततोऽजाश्चावयश्चाजावयोऽजायन्त। एवमेव यदिदं किंच यत्किंचेदं मिथुनं स्त्रीपुंसलक्षणं द्वंद्वमा पिपीलिकाभ्यः [७]पिपीलिकाभिः सहानेनैव न्यायेन तत्सर्वमसृजत जगत्सृष्टवान् ॥४॥

स प्रजापतिः सर्वमिदं जगत्सृष्ट्वाऽवेत्। कथम्। अहं वावाहमेव सृष्टिः सृज्यत [६]इति सृष्टं जगदुच्यते सृष्टि[२]रिति। यन्मया सृष्टं जगन्मदभेदत्वादहमेवास्मि न मत्तो व्यतिरिच्यते। [६]कुत एतत्। अहं हि यस्मादिदं सर्वं जगदसृक्षि सृष्टवानस्मि तस्मा-

---

वडवां तां गर्दभीं चेत्यपि द्रष्टव्यम्। ततो [७]मिथ संभवनाद्ययोक्तादिति यावत्। विशेषाणामानन्त्यात्प्रत्येकमुपदेशासंभवं मन्वानः मशिष्योपसंहरति—एवमेवेति। [८]तद्विभजते—इद मिथुनमिति। पशुकर्मप्रयोगो [९]न्याय ॥४॥

[१०]यद्यपि मन्वादिसृष्टिरेवोक्ता तथाऽपि सर्वा सृष्टिरुक्तैवेति सिद्धवत्कृत्याऽऽह—स प्रजापतिरिति। अवगतिं प्रश्नपूर्वकं विशदयति—कथमित्यादिना। कथं सृष्टिरस्मीत्यवधार्यते कर्तृक्रिययोरेकत्वायोगादित्याशङ्क्याऽऽह—सृज्यत इतीति। पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—यन्मयेति। जगच्छब्दादुपरि तच्छब्दमध्याहृत्याहमेव तदस्मीति संबन्धः। [११]तत्र हेतुमाह—मदभेदत्वादिति। एवकारार्थमाह—नेति। मदभेदत्वादित्युक्तमाक्षिप्य समाधत्ते—कुत इत्यादिना। न हि सृष्टं स्रष्टुरर्थान्तरं तस्यैव तेन [१२]तेन मायावि-

---

चाहिये अर्थात् बकरारूप मनु और भेड़ारूप मनु उस बकरीरूपा शतरूपा और भेड़रूपा शतरूपा से समागम करने लगा। उससे बकरी और भेड़ों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार जो कुछ भी है, चींटी से लेकर स्त्रीपुरुष-द्वन्द्वात्मक जगत् है, उसने इन सबकी इसी तरह से "असृजत" अर्थात् उत्पत्ति की ॥४॥

उस प्रजापति ने यह सब जगत् उत्पन्न करके समझा। किस प्रकार समझा ?—"अहं वाव" अर्थात् मैं ही, सृष्टि हूँ। "सृजन की जाती है" इस व्युत्पत्ति से सृष्ट जगत् को "सृष्टि" इस शब्द से कहा जाता है। जिस जगत् की मैंने सृष्टि की है, विवर्तरूप से जगत् मुझसे अभिन्न होने के कारण

---

१ आङोऽभिव्याप्त्यर्थकत्व मत्वाक्त पिपीलिकाभि सहेति। २ अवगतवान्। ३ इति व्युत्पत्त्येत्यर्थ। ४ इति शब्देनेत्यर्थ। ५ मदभेदत्वादिति—मद्विवतत्वे न जगतो मदभिन्नत्वादित्यर्थ। ६ कुत एतदिति—जगतस्त्वदभेदत्वेऽपि को हेतुरित्याक्षेपार्थ। ७ मैथुनात्मकादित्यर्थ। ८ उपसहारवाक्य विवृणोतीत्यर्थ। ९ रीति। १० ननु पूर्णां सृष्टिमसृष्ट्वा सृष्टिरस्मीति स्रष्टा कथ सर्वां सृष्टिमवधारयतीत्याऽऽशङ्क्य या वक्ष्यमाणा सोमाग्नीन्द्रादिरूपाऽनुग्राहकसृष्टि साप्युक्तानुग्राह्यमन्वादिसृष्टिवदुक्तेति विराड् मन्यते अतस्तामपेक्ष्य सृष्टिरस्मीत्यवधारितवानित्यभिप्रेत्योत्तरवाक्यमवतारयति—यद्यपीति। ११ तत्रेति—सृष्टिरस्मीत्यवधारण इत्यर्थ। १२ रूपेणेत्यर्थ.।

अथेत्यभ्यमन्थत्स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतः ।[1] तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमे-

इस प्रकार फिर उस प्रजापति ने मन्थन किया। उससे मुखरूप योनि से दोनो हाथो के द्वारा अच्छी प्रकार मन्थन करके अग्नि को उत्पन्न किया। इसीलिए ये दोनो ही हाथ भीतर की ओर से लोमरहित है, क्योकि स्त्रियो की योनि भीतर से लोम शून्य ही होती है (अत' ये हाथ और मुख दोनो ही दाहक अग्नि की योनि माने जाते हैं। याज्ञिक लोग अग्नि, इन्द्रादि को) इसीलिए भिन्न-भिन्न देवता

दित्यर्थः । यस्मात्सृष्टिशब्देनाऽऽत्मानमेवाभ्यधात्प्रजापतिस्ततस्तस्मात्सृष्टिरभवत्सृष्टिनामाभवत्। सृष्टयां जगति हास्य प्रजापतेरेतस्यामेतस्मिञ्जगति स प्रजापतिवत्स्रष्टा भवति स्वात्मनोऽनन्यभूतस्य जगतः। कः। य एवं प्रजापतिवद्यथोक्तं स्वात्मनोऽनन्यभूतं जगत्साध्यात्माधिभूताधिदैवं जगदहमस्मीति वेद ॥५॥

एवं स प्रजापतिर्जगदिदं मिथुनात्मकं सृष्ट्वा ब्राह्मणादिवर्णनियन्त्रीर्देवताः सिसृक्षुरादौ। 'अथेति शब्दद्वयमभिनयप्रदर्शनार्थम्। अनेन प्रकारेण मुखे हस्तौ प्रक्षिप्याभ्यमन्थदा-

---

वदवस्थानादित्यर्थः। ततः सृष्टिरित्यादि व्याचष्टे—यस्मादिति। किमर्थं स्रष्टुरेषा 'विभूतिरुपदिष्टेत्याशङ्क्याऽऽह—सृष्टयामिति। जगति भवतीति सबन्धः। वाक्यार्थमाह—प्रजापतिवदिति ॥५॥

ननु सर्वा सृष्टिरुक्तोक्तं च प्रजापतेर्विभूतिसंकीर्तनफलं किमवशिष्यते यदर्थमुत्तरं वाक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति। आदावभ्यमन्थदिति सबन्धः। अभिनयप्रदर्शनमेव विशदयति—अनेनेति।

"मैं ही हूँ" वह मुझसे भिन्न नही है। ऐसा क्यो है? क्योकि मैंने ही इस सम्पूर्ण जगत् को "असृक्षि" अर्थात् उत्पन्न किया है। इसलिए यह मुझसे अभिन्न है—यह इसका आशय है। क्योकि प्रजापति ने अपने का ही सृष्टि शब्द से कहा था, 'तत'' अर्थात् इसलिए "सृष्टिरभवत्' अर्थात् सृष्टि नाम वाला हुआ। "हास्य' अर्थात् इस प्रजापति की "सृष्टयाम्' अर्थात् सृष्ट जगत् मे "एतस्याम्" अर्थात् इस जगत् मे। वह प्रजापति के समान अपने से अभिन्न जगत् का स्रष्टा होता है। कौन स्रष्टा होता है? जो 'एवम्' अर्थात् प्रजापति के समान पूर्वकथित अपने से अभिन्न जगत् को (प्रजापति के तादात्म्यरूप से) "अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेव के सहित जगत् मैं हू" इस प्रकार जानता है ॥५॥

इस प्रकार मिथुनात्मक सृष्टि की उत्पत्ति कर प्रजापति ने ब्राह्मणादि चार वर्णों को नियमाधीन करने वाली देवताओ की इच्छा से पहले अग्निदेवता को उत्पन्न किया। "अथ" शब्द अनुग्राह्य सृष्टि के अनन्तर का बोधक है। "इति" शब्द मन्थनप्रकारक अभिनय प्रदर्शन के

---

१. तत्-तत्र-कर्मकाण्डे इत्यर्थः। आहुरिति शुद्धकर्मिण देवताभेद पारमार्थिक मन्यमाना आहुरित्यर्थः। देवमिति तद्यादरणीयमिति शेषः। २. स्रष्टा भवतीति–प्रजापतिना तादात्म्यापन्नतया तद्रूपेणैव स्रष्टा भवतीत्यर्थः। ३ अथेति–अत्राथशब्दोऽनुग्राह्यसृष्ट्यानन्तर्यार्थः। इतिशब्दस्तु मन्थप्रकाराभिनयप्रदर्शनार्थ इति विवेकः। ४. सृष्टिरूपा विभूतिः। ५ सम्बन्ध इति–तथा चानुग्राह्यब्राह्मणादिसृष्ट्यनन्तरमनुग्राहकाग्न्यादिसृष्टि वक्तुमुत्तर वाक्यमिति भावः।

तस्यैव सा 'विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः । अथ यत्किंचेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत तदु सोम एतावद्वा इदꣳ सर्वमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः

मानते हुए भी ऐसा कहते देखे जाते है कि इस अग्नि का यजन करो, इस इन्द्र का यजन करो, क्योंकि वह एक ही प्रजापति देव की विसृष्टि है। यह प्रजापति ही निखिल देवस्वरूप है, तत्पश्चात् उस प्रजापति ने वीर्य से उस वस्तु को उत्पन्न किया, जो कुछ भी यह संसार मे गीला दीखता है वही सोम है। यह सब इतना ही है, यही अन्न और अन्नाद है। सोम ही अन्न है और अग्नि ही अन्नाद है। यह

'भिमुख्येन मन्थनमकरोत् । मुखं हस्ताभ्यां मथित्वा स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां च योनिभ्यामग्निं ब्राह्मणजातेरनुग्रहकर्तारमसृजत सृष्टवान् । यस्माद्दाहकस्याग्नेर्योनिरेतदुभयं हस्तौ मुखं च तस्मादुभयमप्येतदलोमकं लोमविवर्जितम् । किं 'सर्वमेव । न अन्तरतोऽभ्यन्तरतः । अस्ति हि योन्या सामान्यमुभयस्यास्य । किम् । अलोमका हि योनिरन्तरतः स्त्रीणाम् । 'तथा ब्राह्मणोऽपि मुखादेव जज्ञे प्रजापतेः । तस्मादेकयोनित्वाज्ज्येष्ठेनेवानुजोऽनुगृह्यतेऽग्निना ब्राह्मणः । 'तस्माद्ब्राह्मणोऽग्निदेवत्यो 'मुखवीर्यश्चेति श्रुतिस्मृतिसिद्धम् ।

मुखादेरग्निं प्रति योनित्वे गमकमाह—यस्मादिति । 'प्रत्यक्षविरोधं शङ्कित्वा दूषयति—किमित्यादिना । हस्तयोर्मुखे च योनिशब्दप्रयोगे निमित्तमाह—अस्ति-हीति । प्रजापतेर्मुखादित्यग्निः सृष्टोऽपि 'कथं ब्राह्मणमनुगृह्णाति तत्राऽऽह—तथेति । 'उक्तेऽर्थे श्रुतिस्मृतिसंवादं दर्शयति—तस्मादिति । 'आग्नेयो वै ब्राह्मण.' इत्याद्या श्रुतिस्तदनुसारिणी च स्मृतिर्द्रष्टव्या ।

लिए है। इस प्रकार मुख मे हाथ डाल कर "अभ्यमन्थत्" अर्थात् पूरे प्रयत्न से मन्थन किया । उसने मुख को हाथो से मथकर मुख और हाथरूप योनियो से "अग्निम्" अर्थात् ब्राह्मण जाति पर अनुग्रह करने वाले अग्नि देवता को "असृजत्" अर्थात् उत्पन्न किया। क्योंकि दो हाथ और मुख यह दोनो दाहकगुण वाले अग्नि की योनि है। इसलिए यह दोनो ही "अलोमकम्" अर्थात् रोमरहित हैं । क्या बाहर और भीतर सब जगह लोमरहित है ? ऐसा नही है। 'अन्तरत' अर्थात् अन्दर से ही लोमरहित हैं। (हस्त द्वय और मुख के लिए 'योनि' शब्द का प्रयोग करने मे हेतु दिखाते हैं।) इन दोनो की योनि से समानता है । क्या समानता है ? स्त्रियो की योनि भी अन्दर से रोमशून्य होती है। अग्नि के समान ब्राह्मण भी प्रजापति के मुख से उत्पन्न हुआ है। इसलिए एक ही योनि से, उत्पन्न होने के कारण अग्नि, ब्राह्मण पर उसी प्रकार अनुग्रह करता है, जिस प्रकार बडा भाई अपने छोटे भाई पर अनुग्रह करता है। ब्राह्मण के अग्नि से अनुग्राह्य होने के कारण अग्नि ही ब्राह्मण का देवता है और वह मुखरूप वीर्य वाला है। इस प्रकार ("आग्नेयो वै ब्राह्मण") श्रुति और स्मृति से सिद्ध होता है।

अग्निदेवता की तरह बल की आश्रयभूता भुजाओ से उसने क्षत्रियजाति के नियन्ता

१ विभूति । २ सर्वप्रयत्नेन । ३ सबाह्याभ्यन्तरमित्यर्थ । ४ अग्निवत् । ५ ब्राह्मणस्यानुग्राह्यत्वात् । ६ तेज सामर्थ्यं च वीर्यम् । ७ प्रत्यक्षेण हि मुखोपरि श्मश्र्वादिलोमानि दृश्यन्ते हस्तपृष्ठभागे चेति प्रत्यक्षविरोध । ८ अग्नेर्ब्राह्मणानुग्राहकत्वस्ये ।

सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः। यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्टचा हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥६॥

प्रजापति की अतिसृष्टि है—अर्थात् अपने से भी बढी हुई सृष्टि है कि जो उसने अपने से उत्कृष्ट देवताओ की रचना की। क्योकि स्वय मरणधर्मा होने पर भी अमरणधर्मा देवताओ की रचना इसने ही की है, अतएव अतिसृष्टि है। जो इस प्रकार इसकी उपासना करता है, वह इस अतिसृष्टि मे इस प्रजापति के समान ही जगत् का स्रष्टा हो जाता है ॥६॥

तथा बलाश्रयाभ्यां बाहुभ्यां बलभिदादिकं क्षत्रियजातिनियन्तारं क्षत्रियं च। [1]'तस्मादैन्द्रं क्षत्रं बाहुवीर्यं चेति श्रुतौ स्मृतौ चावगतम्। तथोरुत ईहाश्रयाद्[2]वस्वादिलक्षणं विशो नियन्तारं विश च। [3]'तस्मात्कृष्यादिपरो वस्वादिदेवत्यश्च वैश्यः। तथा पूषणं पृथ्वीदेवतां शूद्रं च पद्भ्यां परिचरणक्षममसृजतेति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम्। [4]तत्र क्षत्रादिदेवतासर्गमि[5]हानुक्तं वक्ष्यमाणमप्युक्तवदुपसंहरति [6]सृष्टिसाकल्यानुकीर्त्यै। [7]यथेयं श्रुति-

---

'अग्निमसृजत' इत्येतदुपलक्षणार्थमित्यभिप्रेत्य सृष्ट्यन्तरमाह—तथेति। बलभिदिन्द्रः। आदिशब्देन वरुणादिर्गृह्यते। क्षत्रियं चासृजतेत्यनुवर्तते। उक्तमर्थं प्रमाणेन द्रढयति—तस्मादिति। "ऐन्द्रो राजन्य." इत्याद्या श्रुतिस्तदनुसारिणी च स्मृतिरवधेया। विशं चासृजेति पूर्ववत्। ईहाश्रयादूरुतो जातत्वं वस्वादेर्ज्येष्ठत्वं च तच्छब्दार्थं.। 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इत्याद्या श्रुतिस्तथाविधा च स्मृतिरनुसर्तव्या। [8]अग्निसर्गस्य [9]वक्ष्यमाणेन्द्रादिसर्गोपलक्षणत्वे सति [10]सृष्टिसाकल्यादेष उ एव सर्वे देवा इत्युपसंहारसिद्धिरिति फलितमाह—तत्रेति। [12]उक्तेन [13]वक्ष्यमाणोपलक्षणं सर्वशब्दः सूचयतीति भावः। किञ्च सृष्टिरत्र[14]न विवक्षिता किंतु येन प्रकारेण सृष्टिश्रुति. स्थिता तेन प्रकारेण देवतादि सर्वं

इन्द्रादिको और क्षत्रियो को उत्पन्न किया। (इन्द्र और क्षत्रियो के बाहु से उत्पन्न होने से) क्षत्रिय इन्द्र देवता से अनुग्राह्य और बाहुरूप वीर्य वाला होता है।—यही बात ("ऐन्द्रो राजन्य") श्रुति

---

१ तस्मादिति—इन्द्रक्षत्रयोर्बाहुजत्वादित्यर्थ। २ ईहाश्रयोरुजत्वात् वस्वाद्यनुजत्वाच्च। ३ पुष्यतीतिव्यु-
त्पत्त्या पोषणकर्त्री पृथ्व्यभिमानिदेवताम्। ४ तत्र क्षत्रादिदेवतासर्गमिहोक्त-
मग्नेरेव सृष्टिरुक्ता तद्वेतसोऽसृजतेति चन्द्रस्य द्रवात्मन सोमस्य न तु क्रमानुसारेण देवक्षत्रयेन्द्रादे सर्गमिहोक्त-
मिन्द्रादीनामप्यविद्या-
मित्यर्थ। इन्द्रादीना स्रष्टव्यत्वाभावादत्र नोक्ता सृष्टिरित्याशङ्क्याह—वक्ष्यमाणमपीति। इन्द्रादीनामप्यविद्या-
प्रकरणे कर्मसंनिधौ सा वक्ष्यत इत्यर्थ। ननु तत्रेन्द्रादीना सृष्टेरुक्तावत्रानुक्तौ च श्रुत कोऽभिप्राय इति चेदुच्यत।
अविद्याधिकारे कर्माम्नानवत्कर्मसंनिधौ देवसर्गाम्नान तेषामाविद्यककर्मसु सम्प्रदानत्वेनाधिकृतानां तत्रैवाङ्गत न तु
ब्रह्मविद्यायामित्यभिप्रेत श्रुतेरिति। तदुक्त वार्तिके—'अनुग्राहकदेवाना सर्गोऽस्य प्रस्तुतो महान्। तत्राग्नेरुदितो-
त्पत्तिन त्विन्द्रादेरिहोच्यते ॥ अविद्याधिकृतो तेषा सृष्टिरूर्ध्वं प्रवक्ष्यते। कर्माधिकृतसम्बन्धप्रतिपत्त्यर्थमेव त्विति'॥
१२७-१२८॥ अत्र देवसर्गस्य महत्वम् अनवच्छिन्नदेवताविषयत्वात् अनुग्राह्यसृष्ट्यपेक्षयोत्कृष्टत्वाच्च बोध्यम्।
६ सृष्टिपरिपूर्तिकथनाय। ७ यथेयमिति। यथा स्रष्टा प्रजापति सृष्ट जगदित्येव प्रकारेण। इम-प्रकृतसृष्टि-
श्रुति, व्यवस्थिता—प्रतिष्ठिता उक्तार्थकतयाऽचलप्रतिष्ठा गतेति यावत्। ८ इन्द्रनियन्तृकक्षत्रिय। ९. नन्वि-
न्द्रादिसर्गस्य वक्ष्यमाणत्वादेष उ ह्येव सर्वे देवा इत्युपसहारोऽप्युक्तो देवसृष्टे साकल्यनानुक्तत्वादित्याशङ्क्याह—
अग्निसर्गस्येति। १० बृ०उ० १४११। ११ सृष्टिसाकल्यस्य सम्पन्नत्वात्। १२ अग्निसर्गेण। १३
इन्द्रादिसर्गोपलक्षणमवबोधनम्। १४ प्रकरणे।

र्व्यवस्थिता तथा प्रजापतिरेव सर्वे देवा इति [1]निश्चितोऽर्थः। स्रष्टुरनन्यत्वात्सृष्टानाम्। प्रजापतिनैव तु सृष्टत्वाद्देवानाम्।

अथैवं प्रकरणार्थे व्यवस्थिते तत्स्तुत्यभिप्रायेणा[2]विद्वन्मतान्तरनिन्दोपन्यासः। अन्यनिन्दाऽन्यस्तुतये। तत्तत्र कर्मप्रकरणे ❀केवलयाज्ञिका यागकाले यदिदं वच आहुर-

प्रजापतिरेवेति विवक्षितमित्याह—यथेति। [3]तत्र हेतुमाह—स्रष्टुरिति। तथाऽपि कथं देवतादि सर्वं प्रजापतिमात्रमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रजापतिनेति।

तद्यदिदमित्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—अथेति। स्रष्टा प्रजापतिरेव सृष्टं सर्वं कार्यमिति प्रकरणार्थे पूर्वोक्तप्रकारेण व्यवस्थिते सत्यनन्तरं [4]तस्यैव स्तुतिविवक्षया तद्यदिदमित्याद्यविद्वन्मतान्तरस्य निन्दार्थं वचनमित्यर्थः। मतान्तरे निन्दितेऽपि कथं प्रकरणार्थः स्तुतो भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—अन्येति।

और स्मृति से जानी जाती है। इसी प्रकार चेष्टा के आश्रय होने के कारण ऊरुओं से वैश्य जाति के नियन्ता वसु आदि देवता को और वैश्य को उत्पन्न किया। (ईहाश्रय और वसु आदि के अनुज होने के कारण) इसीलिए कृषि आदि कर्मों मे तत्पर वैश्य, वसु आदि देवताओ से अनुगृहीत होता है। इस प्रकार चरणो से पोषणकर्त्री पृथ्व्यभिमानीदेवता एव सेवापरायण शूद्र की सृष्टि की। यही बात ("पद्भ्या शूद्रोऽजायत") श्रुति और स्मृति से सिद्ध होती है।

उनमे (सृष्टिसाकल्य के सम्पन्न होने से) क्षत्रियादि देवताओ की सृष्टि का यद्यपि उपनिषद् मन्त्र मे कथन नही है। तो भी आगे कहे जाने वाले प्रकरण का सृष्टिपरिपूर्ति कथन के लिए कहे हुए के समान वह उपसहार करती है। जिस प्रकार प्रजापति स्रष्टा है, जगत् सृष्ट कार्य है, इस सृष्टि श्रुति की अचल प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार प्रजापति ही सर्वदेवमय है, ऐसा इसका विवक्षित अर्थ है, क्योकि उत्पन्न पदार्थ स्रष्टा से अन्य नही होते, और प्रजापति ही देवताओ की सृष्टि करने मे कारण है।

१ विवक्षित। २ अविद्वन्मतेति। तथा च वार्तिके— 'अविद्वद्देवताभिद्धीप्रतिषेधाय साम्प्रतमिति" ॥१२६॥ अविदुषो परस्यामेकस्यामेव हि देवताया या भेदधीस्तन्निषेधायाधुना तद्यदिदमित्यादिवाक्य प्रवृत्तमिति योजना। ३ प्रदर्शितविवक्षितऽर्थे। ४ प्रकरणार्थस्यैव।

❀केवलयाज्ञिका इति शुद्धकर्मिण इति यावत्। तथा च वार्तिकाचार्या आहु —'यदिद कर्मिण प्राहु कर्मभूमावमेधस। अमुमग्निममु सोम यजेति यजिसश्रयात् ॥ यजेति लिङ्गान्निन्दैषा कर्मिणामेव गम्यते। न तु विध्वस्तमोहाना प्रत्यङ्मात्रैकदायिनाम् ॥ यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानव। आत्मन्येव च सतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ उत्पन्नैकात्म्ययाथात्म्यभास्वद्विज्ञानभास्कर-सप्लुष्टाविद्याबहुलतमसा कर्मनिह्नुतिम् ॥ सर्वकर्माधिकाराणा निषेध प्रत्यपीदत्। पुराण शाश्वतो विष्णु प्रपन्नाय किरीटिने ॥१३१-१३५॥ इति। देवतास्वरूपधीवैधुर्यमेवामेधस्त्वम्। नन्वाहुरिति क्रियापद कर्तृमात्रमपेक्षत तद्विद्याप्रकरणत्वाद्विदुषामेव तत्र कर्तृत्व न कर्मिणामिति नेत्याह—यजीति ॥ नन्वस्मिन्वाक्ये देवताभेदानुवादमात्र गम्यते न कर्मिनिन्दा न च ते निन्दितु शक्यन्ते श्रेयोमार्गे प्रवृत्तत्वात्। यथाऽऽहु —यो यागमनुतिष्ठति त धार्मिकमिति हि समाचक्षत इति। अन्यथा विदुषामपि निन्दा स्यात् तस्माय पूर्वपक्षस्तत्राह—यजेतीति। यद्यपि कर्मिण श्रेयोमार्गे प्रवृत्तान् यो हि पुरुषान्न श्रेयसे न समुनक्ति स धर्मस्तथाऽपि तेषामेषा निन्दैव भेदानुवादव्याजेन सूच्यते। अमुमग्नि यजामुमिन्द्र यजेति हि वदन्तो देवता भिन्दानास्ते दृश्यन्ते। तथा च योऽन्यथा सन्तमात्मानमित्यादिन्यायादन्यथाज्ञानलिङ्गान्निन्दायोग्यास्ते भवन्ती-

मुमग्नि यजामुमिन्द्रं यजेत्यादि ¹नामशस्त्रस्तोत्रकर्मादिभिन्नत्वाद्भिन्नमेवाग्न्यादिदेवमेकैकं

एकैकं देवमित्यस्य तात्पर्यमाह—नामेति। ²काठकं कालापकमितिवन्नामभेदात्क्रतुषु तत्तद्देवता³स्तुति-

अब इस प्रकार प्रकरण का अर्थ प्रतिष्ठित हो जाने के कारण उसकी स्तुति के अभिप्राय से

१ नामेत्यादि। नाम इन्द्रादि, शस्त्रस्तोत्रे स्तुतिविशेषौ तेषां प्रतिदेवं भिन्नत्वाद्देवभेद इत्यर्थः। २ कठप्रोक्तं कर्म। ३ स्तुतिभेदादिति—शस्त्रस्तोत्रादिरूपस्तुतिभेदादित्यर्थः। स्तुतिभेदश्चाऽन्यथाऽनुपपन्नः स्तुत्यान् भिनत्तीति भावः।

त्यर्थः। यत्तु विदुषामपि निन्दा स्यादिति तत्राऽऽह—नत्विति। निन्दायोग्यतेति शेषः। मोहवशे हेतुमाह—प्रत्यगिति॥ 'न हि कश्चित्क्षणमपि' इत्यादिस्मृतेर्ज्ञानिनामपि कर्मित्वान्निन्दा स्यादित्याशङ्क्य तेषामकर्मित्वे भगवद्वाक्यमेव प्रमाणयति—यस्त्विति। उल्लासो मानसो रतिस्तदनन्तरभाविसुखं तृप्तिः सैव प्रकृष्टा सतुष्टिरित्यवान्तरभेदः॥ अथात्र मुक्तस्य कर्माभावो वर्ण्यते विदुषस्तदभावस्तु कथमित्याशङ्क्योक्तवाक्यतात्पर्यमाह—उत्पन्नेति। कर्मनिह्नुतिं प्रत्यपीपददिति सम्बन्धः। तामेव व्याचष्टे—सर्वेति। अधिकारपदेन प्रवृत्त्यादिग्रहः। न च भगवदुक्तवस्तुन्यविश्वासोऽधिकारिलक्षणविशिष्टाय प्रतिपादितत्वादित्याह—प्रपन्नायेति। अनाद्यनन्तो व्यापनशीलश्च भगवानिति वक्तु वैशिष्ट्यमाह—पुराण इति॥ 'मिथो भिन्नं यदाहुस्त एकैकं देवमध्वरे। तदसत्प्रतिपत्तव्य यतोऽभिन्नैव देवता॥ भेदग्राहि न नो मानं घटादावपि विद्यते। किमु निःशेषभिन्नार्थव्यापिन्यात्मन्यसौ मयि॥ नाभावरादिवद्विश्वमध्यात्मादिविभागवत्। ओतप्रोतात्मना तस्थौ विराट्सूत्रादिवस्तुषु॥ विविधाऽस्यैव सा सृष्टिरिति हेतुमुमीरणम्। कारणं न विहायेह कार्यमन्यत्र वर्तते॥ यत एवमतो देवाः सर्वेऽपि स्युः प्रजापतेः। तस्यास्तस्यामधिकृतो तत्तद्रूपं प्रपद्यते॥ एक एव तु विश्वात्मा मायया मोहयञ्जगत्। एकतां बहुतामेति कुम्भवन्मणिसश्रयात्॥ अभिन्न एव भूतात्मा प्रतिभूतसमाश्रितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदिति॥१३६-१४२॥" तद्यदिदमित्यादिना पूर्वपक्षानुवादद्वारा कर्मिणां निन्दा न विदुषामित्युक्तमिदानीं तन्नत्यादिभाष्यं व्याकुर्वन्निन्दाफलं निषेधं दर्शयति—मिथ इति। विश्वं भूतं भुवनं चित्रं बहुधा जातं जायमानं च यत्सर्वो ह्येष रुद्र इतिश्रुतेरात्मैव देवता सर्वा इति स्मृतेरेकं वा सयोगरूपचोदनाख्याविशेषादिति(जै० २४६) न्यायाच्चात्मत्वेन देवतैक्यादितिहेतुमाह—यत इति॥ आत्मन्यपि प्रतिदेहं भेदात् कथं तदभेदेन देवतैक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—भेदेति। हिरण्यगर्भेऽसौ प्राणस्यापि स्वरूपभूते सर्वप्रत्यगात्मनि भेदग्राहि मानं नेति किं वाच्यमित्यर्थः॥ श्रुत्यन्तरावष्टम्भेनापि देवताभेदाभावं साधयति—नाभाविति। यथा रथस्य नाभावराः समर्पितास्तेषु नेमिरर्पितस्तथाऽध्यात्माधिभूताधिदैवभिन्नमशेषमपि जगद्दीर्घतन्तुवत्तिर्यक्तन्तुवच्च विराट्सूत्राव्याकृतात्मसु स्थितम्। भौतिकं हि सर्वं भूतव्यतिरेकेण नास्ति तान्यपि पञ्चीकृतान्यपञ्चीकृतातिरेकेण न सन्ति, तान्यपि नाव्याकृतातिरेकेण विद्यन्ते तदपि न प्रत्यगतिरेकेणास्त्यतो न क्वचिद्भेदसिद्धिरित्यर्थः॥ श्रुतियुक्तिभ्यां देवताभेदं निरस्यैतस्यैव सा विसृष्टिरित्यस्यार्थमाह—विविधेति। या सृष्टिरग्न्याद्या नाना प्रस्तुता सा प्रकृतस्य स्रष्टुरेवेति योजना। एष उ ह्येवेत्युत्तरवाक्यार्थे हेतुरनेनोच्यत इति तात्पर्यमाह—इति हेत्विति। स्रष्टुः सर्वदेवताहेतुत्वमत्र दृष्टं कथमेतत्तस्य सर्वदेवतात्मकत्वे कारणमित्याशङ्क्याह—कारणमिति॥ हेतुवाक्यार्थमुक्त्वा प्रतिज्ञामादत्ते—यत इति। सर्वस्य जगतो देवादिरूपस्य प्रजापतिकार्यत्वात्कारणादन्यत्र च तदयोगात्तन्मात्रं सर्वं जगदित्यर्थः। प्रतिज्ञां विभजते—तस्यामिति॥ एकस्य नानारूपत्वं विरुद्धमित्याशङ्क्याह—एक इति। विश्वात्मा विराडुक्तो विश्वस्याऽऽत्मा तदस्याऽऽत्मेति वा निरुक्तेः स वस्तुतोऽद्वयस्तत्त्वात्माऽपि मायया जगन्मोहयन्समष्टिव्यष्टिता याति। यथा कुम्भो नीललोहितादिमणिसमर्पितस्तद्रूपो दृश्यते तथेत्यर्थः॥ उक्तमर्थं स्मृत्या समर्थयते—अभिन्न इति। भूतानामात्मा वस्तुतस्त्वेकोऽपि सन्नेकधा सर्वेषु भूतेषु खण्डादौ गोत्ववत्समाप्य वर्तमानो बहुधा दृश्यते यथा तत्तज्जलपात्रेष्वेकधैव प्रतिबिम्बितश्चन्द्रो बहुधा गम्यते तथेति स्मृत्यर्थः॥

मन्यमाना आहुरित्यभिप्रायः । [1]तन्न तथा विद्यात् । [2]यस्मादेतस्यैव प्रजापतेः सा [3]विसृष्टि-र्देवभेदः सर्व एष उ ह्येव प्रजापतिरेव प्राणः सर्वे देवाः ।

[4]अत्र विप्रतिपद्यन्ते । [5]पर एव हिरण्यगर्भ इत्येके । संसारीत्यपरे । पर एव तु मन्त्रवर्णात् । [6]"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः" इति । [7]"एष ब्रह्मैव इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवाः" इति च श्रुतेः । स्मृतेश्च—

[8]"एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्" इति,

भेदाद्घटशकटादिवदर्थक्रियाभेदाच्च प्रत्येकं देवानां भिन्नत्वात्कर्मिणामेतद्वचनमित्यर्थः । आदिशब्देन [1]रूपादिभेदात्तद्भिन्नत्वं संगृह्णाति । नन्वत्र कर्मिणां निन्दा च प्रतिभाति तन्मतोपन्यासस्यैव प्रतीतेरि-त्याशङ्क्याऽऽह—तन्नेति । एकस्यैव प्राणस्यानेकविधो देवताप्रभेदः [2]शाकल्यब्राह्मणे वक्ष्यत इति विवक्षित्वा विशिनष्टि—प्राण इति ।

अग्न्यादयो देवाः सर्वे प्रजापतिरेवेत्युक्तं संप्रति तत्स्वरूपनिर्दिधारयिषया [3]तत्र [4]विप्रतिपत्तिं दर्शयति—अत्रेति । हिरण्यगर्भस्य परत्वमाद्ये द्वितीये कल्पे संसारित्वं [5]विधेयमिति विभागः । [6]तत्र [7]पूर्वपक्षं गृह्णाति—पर एव त्विति । नन्वेकस्यानेकात्मकत्वं मन्त्रवर्णादवगम्यते न तु परमात्मत्वं प्रजापतेरित्याशङ्क्य ब्राह्मणवाक्यमुदाहरति—एष इति । ब्रह्मप्रजापती सूत्रविराजौ । एवशब्दः

अज्ञानी के मतान्तर की निन्दा के लिए मत प्रस्तुत करते है—क्योंकि किसी एक की निन्दा दूसरे की स्तुति के लिए होती है। तात्पर्य यह है कि वहाँ कर्म प्रकरण मे केवल याज्ञिक यज्ञ के समय "इस अग्नि देवता का यजन करो, उस इन्द्र देवता का यजन करो" इस प्रकार अग्नि आदि देवताओ के नाम, शस्त्र, स्तोत्र और कर्म भिन्न भिन्न होने के कारण सबको अलग मानते हुए वचन बोलते है। मुमुक्षु कर्ममार्गी के समान देवताभेद न माने। (आत्मस्वरूप से देवता-ऐक्य होने पर) यह समस्त अग्न्यादिरूपा विभूति इस प्रजापति का ही देवभेद है, अत. प्राणरूप प्रजापति ही सर्वदेवमय है।

प्रजापति के स्वरूप मे बहुत से मत प्रस्तुत किये जाते है। कुछ कहते हैं—ब्रह्म ही हिरण्यगर्भ है। दूसरे कहते है कि हिरण्यगर्भ ससारी है। दोनो मे से (ब्रह्म ही हिरण्यगर्भ है, यह) आद्यपक्ष ही मन्त्रों से सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध मे श्रुतियाँ प्रमाण है जैसे—"उस परमात्मा को ही इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि आदि नामो द्वारा पुकारा जाता है", "यह ब्रह्म है, यह इन्द्र है, यह प्रजापति है और

---

१ तन्नेति। तत् देवताभेदम्। तथा कर्मिवत् न विद्यात् मुमुक्षु । २. "विश्व भूत भुवन चित्र बहुधा जात जायमान च यत् सर्वो ह्येष रुद्र" इति श्रुते । "आत्मैव देवता सर्वा" इति स्मृते.। "एक वा सयोगरूपचोदनाऽऽख्याऽविशेषादिति" न्यायाच्चात्मत्वेन देवतैक्यादिति हेतुमाह—यस्मादिति। अत्र सयोग. फलम्, रूपम् इतिकर्तव्यता। चोदना पुरुषप्रयत्न । आख्या नाम एतेषामविशेषादेकमभिन्न कर्मेति (जै० २ ४ ९.) सूत्रार्थ। ३ विसृष्टि—विविधाऽग्न्यादिरूपा विभूतिरित्यर्थ । ४ प्रजापतिस्वरूपे । ५. ब्रह्मैव। ६. इन्द्रमिति—परमात्मानमेवेन्द्रादिनामभिराहुरित्यर्थ । ७. परमात्मानम्। ८ रूप—वज्रहस्तत्वादि। आदिना गुणोत्पत्त्यादिग्रह:। ९ आहेति—निन्दाफलक निषेधमाहेत्यर्थ। १० बृ० उ० ३.९.९.। ११. प्रश्नरूपे। १२ विप्रतिपत्तिमिति—यद्यपि प्रजापते ससारित्वाससारित्वे सिद्धान्तेऽपीष्येते पर विप्रतिपत्तारस्त्वतदिच्छन्तस्तद्वारयन्त्येवेति विशेष. इति ध्येयम्। १३ उपपाद्यम्। १४ द्वयोर्मध्ये। १५ आद्यम्।

"[1]योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ" इति च।

संसार्येव वा स्यात्। "सर्वान्पाप्मन औषत्" इति श्रुतेः। न ह्यसंसारिणः पाप्मदाहप्रसङ्गोऽस्ति। भयारतिसंयोगश्रवणाच्च। "अथ यन्मर्त्यः सन्न[2]मृतानसृजत" इति च। "हिरण्यगर्भं पश्यति[3] जायमानम्" इति च मन्त्रवर्णात्। स्मृतेश्च [4]कर्मविपाकप्रक्रियायाम्—

"ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां [5]सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः" इति।

परमात्मविषयः। स्मृतेश्च पर एव हिरण्यगर्भ इति संबन्धः। तत्रैव वाक्यान्तरं पठति—योऽसाविति। कर्मेन्द्रियाविषयत्वमतीन्द्रियत्वम्। अग्राह्यत्वं ज्ञानेन्द्रियाविषयत्वम्। तत्र हेतुमाह—सूक्ष्मोऽव्यक्त इति। न च तस्यासत्त्वं [6]प्रमात्रादिभावाभावसाक्षित्वेन सदा सत्त्वादित्याह—सनातन इति। इतश्च तस्य नासत्त्वं सर्वेषामात्मत्वादित्याह—सर्वेति। अन्तःकरणाविषयत्वमाह—अचिन्त्य इति। योऽसौ परमात्मा यथोक्तविशेषणः स एव स्वयं विराडात्मना भूतवानित्याह—स एवेति।

मन्त्रब्राह्मणस्मृतिषु परस्य सर्वदेवतात्मत्वदृष्टेरत्र[7] च सूत्रस्य तत्प्रतीतेस्तस्य परत्वमित्युक्तमिदानीं पूर्वपक्षान्तरमाह—संसार्येवेति। सर्वपाप्मदाहश्रवणमात्रेण कथं प्रजापतेः संसारित्वं तत्राऽऽह—न हीति। 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशादित्यत्र'[8] परस्यापि सर्वपाप्मो[9]दयाङ्गीकारान्नेद संसारित्वे लिङ्गमित्याशङ्क्याऽऽह—भयेति। असृजतेति च श्रवणादिति संबन्धः। न केवलं मर्त्यत्वश्रुतेरेव संसारित्वं किंतु [10]कर्मफलदर्शनाजन्मश्रुतेश्चेत्याह—हिरण्यगर्भमिति। यथोक्तहेतूनां संसार्येव स्यादिति प्रतिज्ञयाऽन्वयः। [11]कर्मफलदर्शना- ... विराड्ब्रह्मेत्युच्यते। विश्वसृजो मन्वादयः। धर्मस्तदभिमानिनी देवता यमः। महान्प्रकृतेराद्यो विकारः सूत्रम्। [4]अधिकारे ब्रह्मेत्याद्यायाः स्मृतेश्च "तत्फलभूतस्य प्रजापतेः संसारित्वमेवेत्याह—स्मृतेश्चेति।

"इस परमात्मा को ही कोई अग्नि, कोई मनु और कोई प्रजापति कहते हैं।" "परमात्मा जो यह अतीन्द्रिय, अग्राह्य, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय और अचिन्त्य है, वह ही स्वय अवतरित हुआ" इत्यादि।

यह सब देवता हैं"। स्मृतियो मे भी इसे कहा है जैसे—

अथवा हिरण्यगर्भ ससारी ही है। "उसने सब पापों को भस्म कर दिया" यह श्रुति है। क्योकि परमात्मा तो असंसारी है, अत.उसमे पापदाह का प्रसङ्ग नही है। वह भय अरति वाला भी सुना जाता है। श्रुतियाँ कहती हैं—"उसने स्वय मर्त्य होकर अमर्त्य देवताओ की सृष्टि की"। "परमात्मा उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ को देखता है।" कर्मफलप्रकरण मे स्मृति भी कहती है—"हिरण्यगर्भ, प्रजापतिसमूह, धम, महत्तत्व और अव्यक्त की गति को विद्वान् लोग श्रेष्ठ सत्वपरिणाम ज्ञानकर्मफलयुक्त बतलाते हैं।"

---

१. परमात्मा। २. देवान्। ३. पश्यति परमात्मा। ४. कर्मेत्यादि—कर्मफलप्रकरणे। तथा च तत्रस्था स्मृतिर्न ह्यसंसारिरूपफल वक्तुमर्हतीति भावः। ५. सत्वपरिणामज्ञानकर्मफलभूताम्। ६. प्रमाता—अन्तःकरणम्। ७ तद्यदिदमाहुरितिप्रवृत्तवाक्ये। ८. अन्तरित्यादि। अन्तः शब्दार्थः परमात्मा भवितुमर्हति। अत्र हेतुस्तद्धर्मोपदेशादिति। अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्ण इत्यादि(छा० १।६।७-८) श्रुतिरस्य सूत्रस्य विषयः। ९. बृ० उ० १.१.२०। १०. उदय—असरागः। ११. कर्मफलस्य दर्शनं यत्र तादृशे प्रकरणे। १२ कर्मफलभूतस्येत्यर्थ।

ध्यादि—तस्य परमेश्वरस्य ये सर्वपाप्मराहित्यादिधर्मास्तेषामस्मिन् वाक्य उपदेशादिति हेत्वर्थः।

॥ अथैवं 'विरुद्धार्थानुपपत्तेः 'प्रामाण्यव्याघात इति चेन्न ।
कल्पनान्तरोपपत्तेरविरोधात् । उपाधिविशेषसंबन्धा'द्विशेषकल्पनान्तरमुपपद्यते ।

"आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति"

अव्ययवत प्रकृतिरिति भेद. । 'अस्तु 'तर्हि द्विविधवाक्यवशात्प्रजापतेः ससारित्वमसंसारित्वं चेन्याश-ङ्कयाऽऽह—अथेति । 'तद्द्विविधवाक्यश्रवणानन्तर्यमथशब्दार्थः । एवशब्द. संसारित्वासंसारित्वप्रकार-परामर्शार्थं. । विरोधकृतमप्रामाण्यं निराकरोति—नेत्यादिना । स्वतोऽसंसारित्वं कल्पनया च संसारि-त्वमिति कल्पनान्तरसभवाद्द्विविधश्रुतीनामविरोधात्प्रामाण्यसिद्धिरित्यर्थः । कल्पनया ससारित्वमित्ये-तद्विशदयति—उपाधीति । औपाधिकी परस्य विशेषकल्पनेत्यत्र प्रमाणमाह—आसीन इति । स्वारस्येन कूटस्थोऽप्यात्मा मनस. शीघ्रं दूरगमनदर्शनात्तदुपाधिको दूरं व्रजति । यथा स्वप्ने 'शयानोऽपि मनसो गतिभ्रान्त्या सर्वत्र यातीव भाति तथा जागरेऽपीत्यर्थः । कल्पितेन हर्षादिविकारेण स्वाभाविकेन तद-

इस तरह तो विरुद्ध अर्थ असगत है, इससे श्रुतिप्रामाण्य का उभयविध वाक्यों मे व्याघात होता है । ऐसा कहना ठीक नही, क्याकि अपने असमारित्व-कल्पना से दूसरी समारित्व-कल्पना सभव हो जाने से दोनो प्रकार की श्रुतियो में अविरोध होने से प्रामाण्य की सिद्धि हो जायगी । उपाधिविशेष के सम्बन्ध से अन्य ससारित्व-विशेषकल्पना युक्तिसगत है ।

"वह एक स्थान मे प्रतिष्ठित होने पर भी दूर चला जाता है । सोता हुआ भी सब ओर जाता

१ बहुव्रीहिर्वा । २ उभयविधवाक्य इत्यर्थ । ३ समारित्वकल्पना । ४ एव पूर्वपक्षयित्वा सिद्धान्तयितु प्रसङ्गमाह—अस्त्विति । ५ अन्यतरपक्षे निर्णायकाभावे । ६ तत् तत्र प्रजापतिविषयकेति यावत् । ७ अचल ।

॥अथैवमित्याद्युपपद्यत इत्यन्तभाष्य इमानि पञ्चवार्तिकानि द्रष्टव्यानि तथाहि—"मिथोविरुद्धवादित्वाद्द्वयोरागमयोरपि । अप्रामाण्यप्रसक्तिश्चेन्न क्लृप्त्यन्तरसश्रयात् ॥ प्रत्यगज्ञानजाऽनेकविविधोपाधिसगते । विरुद्धार्थत्वव-चमा स्यादकत्रापि सम्भव ॥ अपास्ताविद्यातज्जत्वादस्थूलाद्युक्तिगोचर । स्वाभासाविद्योपाधि मन्साक्ष्यन्तर्या-मिता व्रजेत् ॥ तथा हिरण्यगर्भत्व बुद्ध्युपाधि स एव तु । तम सत्त्वरजोयोगाद्याति क्षेत्रज्ञतामज ॥ अभिन्न-बुद्ध्याऽभिन्नत्व भिन्नधीभिश्च भिन्नताम् । एति निस्त्वतमात्तोर्न किंचिदपि दु स्थितमिति ॥ १४९-१५३ ॥ एव पूर्वपक्षयित्वा सिद्धान्तयितु प्रसङ्गमाह—मिथ इति । स्वतोऽससारित्वेऽपि सूत्रस्य ससारित्वमौपाधिकमिति विधान्तरसिद्धेर्द्विविधागमाविरोध इति सिद्धान्तमाह—नेति ॥ कथ समारित्वासमारित्वविरुद्धार्थवाक्यानामेकत्रात्मनि प्रामाण्यमित्याशङ्कय सग्रहवाक्य विवृणोति—प्रत्यगिति । ससारितेति शेष । स्वतस्त्वससारितेत्यङ्गीकारे फलित-माह—विरुद्धेति । विरुद्धार्थत्वेन प्रतीयमानोदाहृतवाक्यानामिति यावत् ॥ तथामेकस्मिन्नात्मनि सम्भवमेव साध-यन्नादावससारित्ववाक्यानामुपपत्तिमाह—अपास्तेति । तत्रैव सविशेषवाक्यानामपि सम्भवमाह—स्वाभासेति । चिदाभासविशिष्टाविद्योपाधे साक्षित्व तस्यैव मायान्तःकार्यनियन्तृत्वेनान्तर्यामितेति भेद ॥ तस्यैव मायामयापञ्ची-कृतभूतपञ्चकारब्धसमष्टिबुद्ध्युपाधित्वेन ज्ञानशक्तिमतो हिरण्यगर्भत्वमाह—तथेति । व्रजदिति पूर्वेण सम्बन्ध । तस्यैव समष्टिप्राणोपाधे क्रियाशक्तिमत सूत्रत्व तस्यैव पञ्चीकृतभूतपञ्चकारब्धसमष्ट्युपाधेर्विराटत्व तस्यैव प्राकृतभूतारब्धसात्त्विकराजसतामसव्यष्टिबुद्ध्युपाधिसम्बन्धान्नानाजीवरूपतत्यभिप्रेत्याह—तम इति ॥ विरुद्धार्थ-वचमामेकत्र सभवमुपसहरति—अभिन्नेति ॥

इत्येवमादिश्रुतिभ्यः।

उपाधिवशात्संसारित्वं न परमार्थतः। स्वतोऽसंसार्येव। एवमेकत्वं नानात्वं च हिरण्यगर्भस्य। तथा सर्वजीवानाम्। "तत्त्वमसि" इति श्रुतेः। हिरण्यगर्भस्तूपाधिशुद्धचतिशयापेक्षया प्रायशः पर एवेति श्रुतिस्मृतिवादाः प्रवृत्ताः। संसारित्वं तु क्वचिदेव दर्शयन्ति जीवानां तूपाधिगताशुद्धिबाहुल्यात्संसारित्वमेव। प्रायशोऽभिलप्यते। व्यावृत्तकृत्स्नोपाधिभेदापेक्षया तु सर्वः परत्वेनाभिधीयते श्रुतिस्मृतिवादैः।

तार्किकैस्तु परित्यक्तागमबलैरस्ति नास्ति कर्ताऽकर्तेत्यादि विरुद्धं बहु तर्कयद्भि-

---

भावेन च युक्तमात्मानं न कश्चिदपि निश्चेतुं शक्नोतीत्याह—कस्तमिति। आदिपदेन ध्यायतीवेत्यादिश्रुतयो गृह्यन्ते।

उदाहृतश्रुतीनां तात्पर्यमाह—उपाधीति। किं तर्हि पारमार्थिकं तदाह—स्वत इति। हिरण्यगर्भस्य वास्तवमवास्तवं च रूपं निरूपितमुपसंहरति—एवमिति। तस्याप्यस्मदादिवन्न स्वतो ब्रह्मत्वं किन्तु संसारित्वमेव स्वाभाविकमित्याशङ्क्य दृष्टान्तस्य साध्यविकलतामाह—तथेति। सर्वजीवानामेकत्वं नानात्वं चेति पूर्वेण सबन्धः। तेषां स्वतो ब्रह्मत्वे प्रमाणमाह—तत्त्वमिति। कस्तर्हि हिरण्यगर्भे विशेषो येनासावस्मदादिभिरुपास्यते तत्राऽऽह—हिरण्यगर्भस्त्विति। ननु श्रुतिस्मृतिवादेषु क्वचित्तस्य संसारित्वमपि प्रदर्श्यते सत्यं तत्तु कल्पितमित्यभिप्रेत्याऽऽह—संसारित्व त्विति। अस्मदादिष्वपि तुल्यमेतदित्याशङ्क्याऽऽह—जीवाना त्विति। कथं तर्हि 'तत्त्वमसि' 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्यादिश्रुतिस्मृतिवादाः संगच्छन्ते तत्राऽऽह—व्यावृत्तेति।

स्वमते तत्त्वनिश्चयमुक्त्वा परमते तदभावमाह—तार्किकैस्त्विति। नन्वेकजीववादेऽपि सर्वव्य-

---

है, वह हर्ष से रहित है, उस देव को मेरे अतिरिक्त दूसरा कौन जान सकता है ?" इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है।

उसमें संसारित्व हो जाना परमार्थ दृष्टि से नहीं, उपाधि के कारण ही होता है। पारमार्थिक दृष्टि से वह असंसारी ही है। इस प्रकार हिरण्यगर्भ का एकत्व भी है और नानात्व भी है। इसी प्रकार सब जीवों में एकत्व और नानात्व है। "वह तू है" यही श्रुति बताती है। हिरण्यगर्भ तो उपाधि की शुद्धि की अतिशयता की अपेक्षा (भय-अरति आदि संसार-प्रतीति में स्तुत कभी-कभी सृष्ट्यादि काल में) प्रायशः ईश्वर ही है। इस प्रकार (हिरण्यगर्भ को परमात्मा सिद्ध करने वाली) श्रुति स्मृति-वाद प्रवृत्त हुए हैं। (हिरण्यगर्भ का) संसारित्व तो कहीं-कहीं ही दिखाते हैं। जीवों का तो उपाधिगत अशुद्धिबाहुल्य के कारण प्राय: संसारित्व ही प्रतिपादन किया जाता है। निखिल उपाधिभेद के बाध की आलोचना से श्रुति-स्मृति-वादों द्वारा जीव का भी परमात्मभाव से निरूपण किया जाता है।

जिन्होंने आगम का आश्रय त्याग दिया है ऐसे (निर्मूल उत्प्रेक्षामात्र से तत्त्वनिर्णय में

---

१. भयारत्यादिसंसारप्रतीतिस्तुतस्य कदाचिदेव सृष्ट्यादिकाले इत्युक्तं प्रायश इति। २ हिरण्यगर्भस्यपरत्वबोधका पूर्वोक्ता। ३ अपेक्षा-आलोचना। ४ जीव। ५ तार्किकैः निर्मूलोत्प्रेक्षामात्रेण तत्त्वनिर्णये प्रवृत्तैः।
६. आक्षुल्लीकृत—तर्कप्रयुक्तनिश्चयविषयतामापादित। ७. जीवत्वादिति भावः।

राकुलीकृतः [1]शास्त्रार्थः । [2]तेनायंनिश्चयो [3]दुर्लभः । ये तु [4]केवलशास्त्रानुसारिणः [5]शान्तदर्पास्तेषां [6]प्रत्यक्षविषय इव निश्चितः शास्त्रार्थो [7]देवतादिविषयः ।

[8]तत्र प्रजापतेरेकस्य देवस्या[9]न्नादिलक्षणो भेदो [10]विवक्षित इति । तत्राग्निरुक्तोऽन्नादोऽन्नाद्यः सोम इदानीमुच्यते । अथ यत्किंचेदं लोक आर्द्रं द्रवात्मकं तद्रेतस आत्मनो बीजादसृजत । "रेतस आपः" इति श्रुतेः । द्रवात्मकश्च सोमः ।

वस्त्वनुपपत्तेस्तत्त्वनिश्चयदौर्लभ्यं तुल्यमिति चेन्नेत्याह—ये त्विति । स्वप्रदर्शप्रयोगात्प्रागशेषवस्तुवस्त्वसंभवात्पूर्व्यं च तदभावस्येष्टत्वादेकमेव ब्रह्मानाद्यविद्यावशादशेषव्यवहारास्पदमिति पक्षे न काचन दोषकलेति भावः ।

सर्वदेवतात्मकस्य प्रजापतेः स्वतोऽसंसारित्वं कल्पनया वैपरीत्यमिति स्थिते सत्यमित्याद्युत्तरग्रन्थस्य तात्पर्यमाह—तत्रेति । विवक्षित इत्युत्तरग्रन्थप्रवृत्तिरिति शेषः । "तस्य विषयं "परिशिनष्टि—तत्राग्निरिति । "अन्नाद्ययोर्निर्धारणायां सप्तमी । संप्रति प्रतीकमादायाक्षराणि व्याकरोति—अथेति । अत्र सर्गानन्तर्यमथशब्दार्थः । रेतसः सकाशादपां सर्गेऽपि सोमसर्गं किमायातमित्याशङ्क्याह—द्रवात्मकश्चेति । "श्रद्धाख्याहुतेः सोमोत्पत्तिश्रवणात्तत्र शैत्योपलब्धेश्चेति भाव ।

प्रवृत्त) तार्किक "आत्मा की सत्ता है, आत्मा की सत्ता नहीं है, वह कर्ता है, वह अकर्ता है" इत्यादि बहुत से विरुद्ध तर्क प्रस्तुत करते हैं। इन्होंने परमात्मा को तर्क से प्रयुक्त निश्चय की विषयता वाला बना दिया है। निर्मूल शुष्कतर्क से तात्पर्य का निश्चय होना असम्भव हो जाता है। किन्तु जो केवल शास्त्र का अनुसरण करने वाले दर्परहित पुरुष है, उन्हे शास्त्रमात्रगम्य दवतादिरूप प्रमेय का तात्पर्य (घट) प्रत्यक्ष के समान निश्चय होता है।

इस प्रकार निश्चय हो जाने पर एक प्रजापति देवता के अन्न और अन्नाद्यादिरूप विशेष का प्रतिपादन करना इष्ट है। उसमे 'अत्ता' रूप अग्नि का निरूपण कर दिया, अब 'आद्य' रूप सोम का वर्णन किया जाता है। जो कुछ भी लोक में 'आर्द्रम्' अर्थात् तरल पदार्थ है, 'तद्रेतस' अर्थात् उसने वह अपने बीज से उत्पन्न किया। श्रुति कहती है—"वीर्य से जल हुआ"। सोम भी द्रवात्मक है।

---

१ परमात्मा। २ तेनेति–निर्मूलशुष्कतर्केणेत्यर्थ । ३ यदर्थमुद्योग कृतश्चोऽपि न लब्ध इति समुनभक्षणन्यायमभिप्रेत्याह–तेनेति। ४ केवलेति–शास्त्रप्रतिकूलतर्कराहित्य कैवल्यम्। ५ तर्कोद्भावकविद्यादिप्रयुक्तमदराहित्य शान्तदर्पत्वम्। ६ घटादिवत्। ७ शास्त्रैकगम्यो देवतादिरूपो विषय। प्रमेय इत्यर्थ। ८ टीकोक्तार्थम्। ९ अन्नाद्यादादिरूपो विशेष। १०. विवक्षित इति। अन्नाद्यादरूपेणोपास्यत्वार्थेति शेष। अत्र वार्तिके। इत्य सङ्गतिमाह — "अशनायावदुक्तेस्तत्ता प्राणिनोऽखिला। अत्तारोऽन्नोऽप्रविरहान्नालस्थानाय सहला ॥ तस्मात्सोमान्नसृष्ट्यर्थं परो ग्रन्थोऽवतार्यते" ॥१५४॥ इति। अशनायावत प्रजापतेरत्तृत्वादत्तार स्थानाय–स्यात् जीवितु नालम्। ११ तस्य उत्तरग्रन्थस्य। १२ परिशिनष्टि पूर्वग्रन्थविषयात्पृथक्करोति। १३ अत्ता आद्य च तयो। १४ किमायातमिति–नैतावता प्रश्न तस्सोमोत्पत्तिरुक्ता भवतीत्यर्थ। १५ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा श्रद्धा जुह्वति तस्या आहुत्यं सोमो राजा सम्भवतीति श्रुते। अत्र श्रद्धा जलम् श्रद्धा वा आप इति श्रुते।

'तस्माद्यदार्द्रं प्रजापतिना रेतसः सृष्टं तदु सोम एव । एतावद्वा एतावदेव नातोऽधिकमिदं सर्वम् । 'किं तत् । अन्नं चैव सोमो द्रवात्मकत्वादा'प्यायकम् । अन्नादश्चाग्निरौष्ण्याद्रूक्षत्वाच्च । तत्रैवमवध्रियते । 'सोम एवान्नं यदद्यते तदेव सोम इत्यर्थः । य एवात्ता स एवाग्निः । अर्थबलाद्ध्यवधारणम् । अग्निरपि क्वचिद्धू यमानः' सोमपक्षस्यैव । सोमोऽपीज्यमानोऽग्निरेवात्तृत्वात् । एवमग्नीषोमात्मकं 'जगदात्मत्वेन पश्यन्न केनचिद्दोषेण लिप्यते । प्रजापतिश्च भवति । सैषा ब्रह्मणः प्रजापतेरतिसृष्टिरात्मनोऽप्यतिशया ।

सोमस्य द्रवात्मकत्वे फलितमाह—तस्मादिति । अग्नीषोमयोरन्नान्नादयोः सृष्टावपि जगति स्रष्टव्यान्तरमवशिष्टमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—एतावदिति । आप्यायकः सोमो द्रवात्मकत्वादन्नं चाऽऽप्यायकं प्रसिद्धं तस्मादुपपन्नं सोमस्यान्नत्वमित्याह—द्रवात्मकत्वादिति । सोम एवान्नमग्निरन्नाद इत्यवधारणस्य विवक्षितमर्थमाह—तत्रेति । यथोक्तं वाक्यं सप्तम्यर्थः । यथाश्रुतमवधारणमवधीर्य कुतो विधान्तरेण तद्व्याख्यानमित्याशङ्क्याऽऽह—अर्थबलाद्धीति । अन्नादस्य संहर्तृत्वादग्नित्वमन्नस्य च संहरणीयतया सोमत्वमवधारयितुं युक्तमित्यर्थः । नन्वन्नस्य सोमत्वेन न नियमोऽग्नेरपि जलादिना संहाराच्च चात्तुरग्नित्वेन नियमः 'सोमस्यापि कदाचिदिज्यमानत्वेनात्तृत्वात्तत्कुतोऽर्थबलमित्याशङ्क्याऽऽह—अग्निरपीति । सोऽपि संहार्यश्चेत्सोम एव स च संहर्ता चेदग्निरेवेत्यवधारणसिद्धिरित्यर्थः । प्रजापतेः सर्वात्मत्वमुपक्रम्य जगतो द्वेधाविभक्तत्वाभिधानं 'कुत्रोपयुक्तमित्याशङ्क्य 'तस्य सूत्रे 'पर्यवसाना'त्तस्मिन्नात्मबुद्ध्योपासकस्य सर्वदोषराहित्यं फलमत्र विवक्षितमित्याह—एवमिति । अनुग्राहकदेवसृष्टिमुक्त्वा ''तदुपासकस्य फलोक्त्यर्थमादौ देवसृष्टिं स्तौति—सैषेति ।

(सोम के द्रवात्मक होने से) इसलिए प्रजापति ने जो कुछ भी अपने वीर्य से द्रवात्मक पदार्थ रचा, वह सोम ही है । यह सब 'एतावद्वा' अर्थात् इतना ही है, इससे अधिक नहीं है । 'एतावत्' पद वाच्य वह क्या है ? यही कि तरलरूप होने से सोम तृप्ति-प्रद अन्न है । उष्णस्वभाव और रूक्ष होने के कारण अग्नि अन्नाद है । इससे यहाँ निश्चित होता है कि 'सोम एवान्नम्' अर्थात् जो खाया जाता है, वही सोम है । जो अत्ता है, वही अग्नि है । अर्थ के बल से ही ऐसी धारणा होती है । यजन किया जाने वाला होने से कहीं-कहीं अग्नि भी (लतारसात्मक) सोम पक्षात्मक हो जाता है । कहीं-कहीं सोम भी यजन किया जाने वाला और अत्ता होने के कारण अग्नि मान लिया जाता है । इस प्रकार (अभिन्न सूत्रात्मा) अग्निषोमात्मक जगत् को आत्मस्वरूप देखने वाला पुरुष सर्वदोषरहित हो जाता है और वह प्रजापति हो जाता है । वह यह 'ब्रह्मण' अर्थात् प्रजापति की 'अतिसृष्टि' अर्थात् अपनी अनुग्राह्य और अतिमाध्वी सृष्टि है ।

---

२ एतावत्पदवाच्य किम् । ३. तृप्तिप्रयोजकम् । ४ जगदभिन्नसूत्रात्मानम् ।
१ सोमस्य द्रवात्मकत्वात् । ६. सोमस्य—लतारसात्मकस्य । इज्यमानत्वेन—हूय-
५ अपिनाऽनुग्राह्यसृष्टिसंग्रह । अतिशया—अतिमाध्वी । ७ कुत्रोपयुक्तमिति—कस्मिन् विषये फलवद्भवतीत्यर्थः ।
मानत्वेन अग्निकर्मकसंहारकर्तृत्वमापाद्यमानत्वेनेति यावत् । १०. तस्मिन्निति—द्वेधाविभक्त जगदा-
८. तस्येति द्वेधाविभागाभिधानस्येत्यर्थः । ९ पर्यवसानात्—तात्पर्यात् ।
त्मसूत्रात्मनीत्यर्थः । ११. देवतोपासकस्य तत्स्रष्टृसूत्रोपासकस्य वा ।

का सेत्याह—यच्छ्रेयसः प्रशस्यतरानात्मनः सकाशाद्यस्मादसृजत देवांस्तस्माद्देवसृष्टिरतिसृष्टिः। कथं पुनरात्मनोऽतिशया सृष्टिरित्यत आह—अथ यद्यस्मान्मर्त्यः सन्मरणधर्मा सन्नमृतानमरणधर्मिणो देवान्कर्मज्ञानवह्निना सर्वानात्मनः पाप्मन ओषित्वाऽसृजत, तस्मादियमतिसृष्टिरुत्कृष्टज्ञानस्य फलमित्यर्थः। 'तस्मादेतामतिसृष्टिं प्रजापतेरात्मभूतां यो वेद स एतस्यामतिसृष्ट्यां प्रजापतिरिव भवति प्रजापतिवदेव स्रष्टा भवति ॥६॥

"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" सर्वं वैदिकं साधनं ज्ञानकर्मलक्षणं कर्त्राद्यनेककार-

---

'अग्निर्मूर्धा' इत्यादिश्रुतेरग्न्यादयोऽस्यावयवास्तत्कथं तत्सृष्टिस्ततोऽतिशयवतीत्याशङ्कते—कथमिति। प्रजापतेर्यजमानावस्थापेक्षया देवसृष्टेरुत्कृष्टत्ववचनमविरुद्धमिति परिहरति—अत आहेति। देवसृष्टेरतिसृष्टित्वाभावशङ्कानुवादार्थोऽथशब्दः। ज्ञानस्येत्युपलक्षण कर्मणोऽपीति द्रष्टव्यम्। अतिसृष्ट्यामित्यादि व्याचष्टे—तस्मादिति। देवादिस्रष्टा 'तदात्मा प्रजापतिरहमेवेत्युपासितुस्तद्भावापत्त्या तत्स्रष्टृत्वं फलतीत्यर्थः ॥६॥

पूर्वोत्तरग्रन्थयोः संबन्धं वक्तुं प्रतीकमादाय वृत्तं कीर्तयति—तद्धेत्यादिना। 'तस्याऽऽदेयत्वार्थं 'वैदिकमित्युक्तम्। साधनमित्युक्ते मुक्तिसाधनं 'पुरः स्फुरति तन्निरस्यति—ज्ञानेति। एकरूपस्य मोक्षस्यानेकरूपं न साधनं भवतीति भावः। मुक्तिसाधनं 'मानवस्तुतन्त्रं तत्त्वज्ञानमिदं तु कारकसाध्यमतोऽपि न तद्धेतुरित्याह—कर्त्रादीति। किंचेदं प्रजापतित्वफला'वसानम् 'मृत्युरस्या''ऽऽत्मा भवति' "इति श्रुतेः। न च "तदेव कैवल्यं भधारत्यादिश्रवणादतोऽपि नेद मुक्त्यर्थमित्याह—प्रजापतित्वेति। किंच नित्यसिद्धा

वह कौनसी अतिसृष्टि है ? "यच्छ्रेयस." अर्थात् जिसे अपने से अधिक उत्तम 'देवान्' अर्थात् देवताओ ने रचा है—इसलिए देवसृष्टि अतिसृष्टि है। यह सृष्टि अपने से श्रेष्ठ क्यो है ? इस पर श्रुति कहती है—'अथ यद्' अर्थात् क्योकि इसने "मृत्यु सन्" मरणधर्मा होकर, कर्मज्ञानरूप अग्नि से अपने समस्त पापो को भस्म कर अमरणधर्मा देवताओ की सृष्टि की है। इसलिए यह 'अतिसृष्टि.' अर्थात् उत्कृष्टज्ञान का फल है। (देवसृष्टि के उत्कृष्टज्ञानकर्मफलरूप होने से) इसलिए प्रजापति की आत्मस्वरूप इस अतिसृष्टि को जो जानता है वह इस अतिसृष्टि मे प्रजापति के समान हो जाता है, अर्थात् प्रजापति के समान जगत् का स्रष्टा होता है ॥६॥

"वह यह जगत् उत्पत्ति से पूर्व अव्यक्त था।" कर्ता आदि अनेक कारको की अपेक्षा करने वाला, ज्ञान और कर्मात्मक सम्पूर्ण वैदिक साधनरूप-प्रजापति मे प्रयोजन वाला, साध्यफलक इतना ही

---

१ देवसृष्टेरुत्कृष्टज्ञानकर्मफलत्वात्। २ अविद्यापटलसवीतचक्षुषामिति शेष। अज्ञानाच्छन्नचित्तानामिति तदर्थ। पटलम्—आच्छादकम्। ३ नन्वर्थक इति यावत्। ४ देवादिसृज्याभिन्न। ५ साधनस्य। ६ तस्यापुपादेयत्वकथा कार्यति वैदिकमितीनि पाठान्तरम्। ७ पुर. स्फुरतीति—झटित्युपस्थित भवतीत्यर्थ। तत्प्रकरणत्वादिति भाव। ८ प्रमाणप्रमेयाधीनमित्यर्थं। ९ अवसानम्—अवधि। १०. समुच्चयोपासकस्य, मृत्यु हिरण्यगर्भ। ११ बृ०उ०१२७। १२ हैरण्यगर्भं पदमेव।

कापेक्षं प्रजापतित्वफलावसानं [1]साध्यमेतावदेव यदेतद्व्याकृतं जगत्संसारः । [2]अथैतस्यैव साध्यसाधनलक्षणस्य व्याकृतस्य जगतो व्याकरणात्प्राग्बीजावस्था या तां निर्दिदिक्षत्य-ङ्कुरादिकार्यानुमितामिव वृक्षस्य [3]कर्मबीजोऽविद्याक्षेत्रो [4]ह्यसौ संसारवृक्षः समूल [5]उद्धर्तव्य इति । [6]तदुद्धरणे [7]हि पुरुषार्थपरिसमाप्तिः । तथाचोक्तम्—"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः"

मुक्तिरिद[8] तु [9]साध्यफलमतोऽपि न मुक्तिहेतुरित्याह—साध्यमिति । किंच "मुक्तिर्व्याकृतादर्थान्तरमन्यदेव तद्विदितादित्यादिश्रुते. । "इद तु [11]नामरूपं [12]व्याकृतमतो[13]ऽपि [14]न तद्धेतुरित्याह—एतावदेवेति । संप्रत्य-व्याकृतकण्डिकामवतारयन्प्रवेशवाक्यात्प्राक्तनस्य तद्धेदमित्यादेर्वाक्यस्य तात्पर्यमाह–अथेति । ज्ञानकर्मफ-लोक्त्यानन्तर्यमथशब्दार्थः[15] । बीजावस्था साभासप्रत्यगविद्या[16] तस्या निर्देष्टुमिष्टत्वमेव न साक्षान्निर्देश्य-त्वमनिर्वाच्यत्वादिति वक्तुं निर्दिदिक्षतीत्युक्तम् । वृक्षस्य बीजावस्थां लोको निर्दिदिक्षतीति संबन्धः । यज्ज्ञाने पुमर्थाप्तिस्तदेव वाच्यं किमिति प्रत्यगविद्योच्यते तत्राऽऽह—कर्मेति । उद्धर्तव्य इति तन्मूलनि-रूपणमर्थवदिति शेषः । अथ पुरुषार्थमर्थयमानस्य तदुद्धारोऽपि क्वोपयुज्यते तत्राऽऽह—तदुद्धरणे हीति । ननु संसारस्य मूलमेव नास्ति [17]स्वभाववादात्प्रधानाद्येव वा तन्मूल नाज्ञात ब्रह्मेत्याशङ्क्य श्रुतिस्मृति-भ्या परिहरति–तथा चेति । ऊर्ध्वमुत्कृष्टं कारणं कार्यापेक्षया परमव्याकृत मूलमस्येत्यूर्ध्वमूलो हिरण्य-गर्भादयो मूलापेक्षयाऽ[18]वाच्यः [19]शाखा यस्य इत्यवाक्शाख । एवम् 'ऊर्ध्वमूलमध.शाखम्' इत्यादिगीता अपि नेतव्या. । अस्ति हि संसारस्य मूलम् '[21]नेदममूलं भविष्यति' इति श्रुतेस्तच्चाज्ञातं ब्रह्म वेति श्रुति-स्मृतिप्रसिद्धमिति [22]भावः ।

यह अव्यक्त जगत् है, मानी ससार है। कर्मनिमित्त अविद्या के उपादान इस प्रसिद्ध ससाररूपी वृक्ष को समूल काटना है—इसलिए अकुर आदि कार्य से अनुमित होने वाली वृक्ष की पूर्वबीजावस्था के समान इस (ज्ञानकर्मफलभूत) साध्यसाधनरूप व्यक्त जगत् के व्याकृत होने से पूर्व जो बीजावस्था थी, उसका श्रुति निर्देश करना चाहती है। उस (प्रमातृत्वादिरूप महा-अनर्थरूप ससार वृक्ष) के काटने मे ही पुरुषार्थ की परिसमाप्ति हो जाती है। ऐसा ही कठोपनिषद् मे कहा गया है—"जिस (व्यापक परमात्मा के परमपदरूप) का मूल ऊपर की ओर तथा (देव, नर, तिर्यक् आदि शरीररूप)

१ साध्यमिति करणव्युत्पत्त्या साध्यफलकमित्यर्थ । २ ज्ञानकर्मफलभूतस्यैव । ३ कर्मनिमित्तोऽविद्योपादानक इत्यर्थ । ४ प्रसिद्ध । ५ उच्छेत्तव्य । ६ तदुद्धरणे–तस्य प्रमातृत्वादिरूपमहानर्थरूपससारवृक्षस्य उद्धरणे सति । ७ हिशब्दोऽन्वयव्यतिरेकसूचक । ८ ज्ञानकर्मात्मक साधनम् । ९ उत्पाद्यफलकम् । १० कार्यादित्यर्थ । ११ ज्ञानकर्मरूपम् । १२ नामरूपत्वात् । १३. कार्यम् । १४ अतोऽपीत्यत्र अतो व्याकृतस्यैव हेतुर्न मुक्तेरित्याऽऽहेति पाठान्तरम् अर्थस्त्वभिन्न । १५ न तद्धेतुरिति–तत्त्वज्ञानस्य व्याकृतान्त पातित्वेऽपि तस्य मुक्तिहेतुत्वानुपगमान्न दोष व्यञ्जकमेव हि तत् व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोश्च न व्याकृतत्वादिसाजात्यनियम अती-न्द्रियैरपीन्द्रियै स्थूलार्थव्यञ्जनात् मिथ्याभूतैरपि गुरुशास्त्रादिभि सत्यात्मव्यञ्जनादिति ध्येयम् । १६ अथ-शब्दार्थ इत्यनन्तरम् उक्त फल परामृशत्यतस्यैवेति इति दोषो द्रष्टव्य । १७ प्रत्यगाश्रयविषया । १८ स्व-भाववादाश्रयणात् । १९. निकृष्टा । २० नानादिक्षु प्रसृतत्वाच्छाखा इव । २१ छा०श्रु० । २२ भाव इति–साभासप्रत्यगविद्याख्यबीजावस्थोक्तिद्वारा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव परमात्मैव प्रत्यग्भूतो ज्ञो ज्ञान चेति निश्चितु प्रवेशवाक्यात्प्राचीनवाक्य प्रवृत्तमिति तु परमार्थ ।

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव [१]व्याक्रियतासौनामाऽयमिदꣳरूप इति [२]तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामाऽयमिदꣳरूप इति स एष इह प्रविष्टः। आ नखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये तं न पश्यन्ति। अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम

वह यह (प्रत्यक्षादि प्रमाणो से प्रतीयमान) जगत् उत्पत्ति से पूर्व अव्यक्त था। वही नामरूप के योग से व्याकृत हो गया अर्थात् "यह इस नाम और इस रूप वाला है" इस प्रकार से वह अव्यक्त-तत्व, नाम और रूप के द्वारा व्यक्त हो गया। अत अब इस सृष्टि के समय भी यह अव्याकृत वस्तु "इस नाम और इस रूप वाला है" इसी प्रकार व्यक्त होता है। वह यह व्यावर्ता पुरुष इस वर्तमान देह मे नख से शिख पर्यन्त प्रवेश किये हुए है। जैसे छुरा छुरे के अधिकरण से छिपा रहता है, या विश्व का भर्ता अग्नि अपने आश्रय काष्ठादि मे गुप्त रहता है, इसीलिए लोग उसे देख नही पाते। वह असम्पूर्ण है, प्राणन क्रिया के कारण होने से वह प्राण है, वदन का कारण होने से वाणी है। दर्शन का कारण होने से नेत्र है, श्रवण का कारण होने से श्रोत्र है और मनन का कारण होने से मन है। ये सब

इति काठके। गीतासु च "ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्" इति। पुराणे च—"[३]ब्रह्मवृक्षः सनातन." इति।

तद्धेदं तदिति बीजावस्थ जगत्प्रागुत्पत्तेस्तर्हि तस्मिन्काले परोक्षत्वात्सर्वनाम्नाऽप्रत्यक्षाभिधानेनाभिधीयते। भूतकालसंबन्धित्वादव्याकृतमा[४]सीनो जगतः। सुखग्रहणार्थ-

---

सप्रति प्रतीकमादाय पदानि व्याचष्टे—तद्धेत्यादिना। [५]अप्रत्यक्षाभिधानेन तदिति सर्वनाम्ना [६]बीजावस्थ जगदभिधीयते परोक्षत्वादिति सबन्ध। कथ जगतो बीजावस्थत्वमित्याशङ्क्य तर्हीत्यस्यार्थमाह—प्रागिति। कथं तस्य परोक्षत्वं तत्राऽऽह—भूतेति। निपातार्थमाह—सुखेति। हशब्दार्थ[७]मभिन-

---

शाखाएँ नीचे की ओर हैं।" इसी को श्रीमद्भगवद्गीता मे भी कहा है—"उसका मूल ऊपर की ओर तथा शाखाएँ नीचे की ओर हैं।" पुराण मे भी कहा है—"ब्रह्माधिष्ठानरूप वृक्ष (तत्वज्ञान के बिना काटना असम्भव होने के कारण) सनातन है।"

'तत् ह इदम्' मे "तत्" अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व बीजरूप मे स्थित 'तर्हि' अर्थात् उस समय मे (अव्यक्त था)। यहाँ अव्यक्तरूप वाला जगत् भूतकाल से सम्बद्ध होने के कारण एव परोक्ष होने के

---

१ व्याक्रियतेति—नामरूपावधारणपर्यन्त व्यक्तीभावमापद्यतेत्यर्थः। २ तदिदमिति—सुषुप्तौ प्रसुप्त सदव्याकृत वस्तु। एतर्हि—अस्मिञ्जागरणकाल इत्यर्थः। ३ ब्रह्माधिष्ठानको वृक्षो ब्रह्मवृक्ष। तत्त्वज्ञानमन्तरेणोच्छेत्तुमशक्यत्वात्सनातन इति। ४ रूपस्य। ५ परोक्षार्थवाचकेन। ६ बीज साभासप्रत्यगविद्यातद्रूपम्। ७ दर्शयति।

भवति । वदन्वाक्पश्यꣳश्चक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव । स योऽत एकैक-मुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्या-त्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति । तदेतत्पद-नीयमस्य सर्वस्य यदयमात्माऽनेन ह्येतत्सर्वं वेद । यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिꣳ श्लोकं विन्दते य एवं वेद ॥७॥

इसके कर्मानुसार ही नाम है । अतएव इनमे से एक-एक की उपासना जो करता है वह यह नही जानता, वस्तुतः वह असम्पूर्ण ही है । वैसी परिस्थिति मे वह केवल एक-एक विशेषण से युक्त है । "अतः आत्मा है" इसी प्रकार से उस प्रजापति की उपासना करे, क्योकि इसी आत्मा मे वे सभी एक हो जाते हैं । यह जो सर्वानुभव सिद्ध आत्मा है, वही इन सब जीवो का प्राप्तव्य है । वस्तुत. यह आत्मा है और इस आत्मा के जानने से ही इस सम्पूर्ण जगत् को जानता है । जैसे खोये हुए पशु को पदचिन्हो के द्वारा प्राप्त कर लेते है, वैसे ही जो पुरुष ऐसा जानता है, वह इसके द्वारा कीर्ति और इष्ट पुरुषो का समा-गम प्राप्त करता है ॥७॥

---

[1]ऐतिह्यप्रयोगो हशब्दः । एवं ह तदाऽऽसीदित्युच्यमाने सुखं तां परोक्षामपि जगतो बीजावस्थां प्रतिपद्यते युधिष्ठिरो ह किल राजाऽऽसीदित्युक्ते यद्वत् । इदमिति [2]व्याकृतनाम-रूपात्मकं साध्यसाधनलक्षणं यथावर्णितमभिधीयते । तदिदंशब्दयोः परोक्षप्रत्यक्षावस्थ-जगद्वाचकयोः सामानाधिकरण्यादेकत्वमेव परोक्षप्रत्यक्षावस्थस्य जगतोऽवगम्यते । तदेवे-

---

यति—किलेति । यथावर्णितमित्यनर्थत्वेन संसारेऽसारत्वोक्तिः । पदद्वयसामानाधिकरण्यलब्धमर्थमाह —तदिदमिति । [3]एकत्वमभिनयेनोदाहरति—तदेवेति । एकत्वावगतिफलं कथयति—अथेति । सामाना-

---

कारण सर्वनाम द्वारा परोक्षार्थवाचक ('तत्') पद से कहा गया है । (परोक्ष जगत् की) सुखबुद्धि परम्परागत उपदेश के आधीन होती है इसलिए 'ह' शब्द का प्रयोग उस ग्रथ मे है । "उस समय वह ऐसा था" इस प्रकार कहने पर परोक्ष होने पर भी उस जगत् की बीजावस्था को श्रोता सुगमता से ग्रहण कर लेता है । जैसे लोकव्यवहार मे भी कहा जाता है—"युधिष्ठिर एक राजा था" । नाम और रूपादि से व्यक्त उस साध्य और साधनरूप पूर्ववर्णित जगत् का ही "इदम्" इस शब्द से अभिधान होता है । अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्षरूप मे जगत् के वाचक 'तत्' और 'इदम्' (वह और यह)

---

१ ऐतिह्येति परोक्षस्य जगतः सुखधीरैतिह्याधीना तेनात्र हशब्दप्रयोग ऐतिह्यम् परम्परागतो प्रदेश. तदर्थोऽत्र हशब्दप्रयोग इत्यर्थः । इयमास्माकमिराऽऽचार्यपरम्परया श्रूयत इति यावत् । "पारम्पर्योपदेशे स्यादैतिह्यमिति हाव्ययमित्यमर" । ऐतिह्य हशब्दश्चेति द्वय पारम्पर्योपदेशार्थक तत्र हशब्दोऽव्ययमिति तदर्थं इति । २. नामात्मना विवृतम् । ३. स्वरूपप्रदर्शनेन स्पष्टयति ।

'दमिदमेव च तदव्याकृतमासीदिति । अथैवं सति नासत' उत्पत्तिर्न सतो विनाशः कार्यस्येत्यवधृतं भवति ।

ॐ 'तदे'वंभूतं 'जगदव्याकृतं 'सन्नामरूपाभ्यामेव 'नाम्ना 'रूपेणैव च व्याक्रियत ।

धिकरणवशादेकत्वे निश्चिते सत्यनन्तरम्—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत.'

इति स्मृति'रनुसृता भवतीति भावः ।

''अज्ञात ब्रह्म जगतो मूलमित्युक्त्वा तद्विवर्तो जगदिति ''निरूपयति— तदेवभूतमिति । तृतीया-

---

इन दोनो शब्दो का एक अधिकरण होने से अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष अवस्था वाले जगत् की एकता ज्ञात होती है । वह अव्याकृत ही व्याकृत (कार्यरूप जगत्) था । यही अव्याकृत था । एकस्वरूप होने से 'कार्य अव्याकृत है' ऐसा कहे जाने पर असत् की उत्पत्ति नही हो सकती और सत्कार्य का विनाश नही हो सकता—ऐसा निर्णय हो जाता है ।

''तत्'' अर्थात् प्रकृत अज्ञात जगत् अनभिव्यक्त होकर ''नामरूपाभ्यामेव'' अर्थात् नाम और रूप के द्वारा व्याकृत हुआ । ''व्याक्रियते' अर्थात् इसमे कर्मकर्तृ प्रयोग होने से वह अव्याकृत स्वय

---

१ अव्याकृतमेव, व्याकृत—कार्यम् । २ नासत उत्पत्तिरिति । कार्यमव्याकृतमित्युक्त न तस्य सतो नाश' प्रलयेऽप्यव्याकृतस्य स्थितेर्नापि तस्याऽसतो जनिरव्यक्तव्यक्तेरव जनित्वादिति भाव । ३ तत् प्रकृतम् । ४ एवभूतम्—अज्ञातम् । ५ अनभिव्यक्तनामादि । ६ नामरूपाभ्यामिति—अत्र वाचकसामान्य नामशब्दार्थं । तदुक्त वार्तिके—'अभिधानाकृतिर्नामशब्देनेहाभिधीयते । अभिधेयाकृतिस्तद्वद्रूपमित्युपदिश्यत इति'' ॥ ३६१ ॥ अत्राकृति सामान्यम् । ७ यद्वा नामरूपाभ्या समुच्चिताभ्यामेव व्याकरण नत्वेकैकेनेत्येतदर्थमवधारणमिति केचित् (भर्तृप्र०) तन्नेत्याह—नाम्नेति । ८ रूपेणैवेति—न तु प्रत्यगात्मस्वरूपेणेत्यथ । तथा च नामाद्यात्मना जगद्व्यक्तमपि अधिष्ठानात्मनाऽव्यक्तमेव यथा सर्पाद्यात्मना व्यक्तापि रज्जु स्वरूपेणाव्यक्तैव तद्वदित्यर्थं । ९ अङ्गीकृता । १० अज्ञातात्मविवर्तो जगदिति निरूपयितुमुत्तर वाक्यमित्यभिप्रेत्य तदवमिति भाष्यमवतारयति - अज्ञात ब्रह्म ति । ११ उपपादयति ।

ॐतदेवभूत जगदव्याकृत सन्नामरूपाभ्यामेव नाम्ना रूपेणैव चेति । अत्र भाष्ये चत्वारि वार्तिकानि । तथाहि— 'कार्यकारणभेदेन प्रपञ्चो य पुरोदित । यश्चोर्ध्वं वक्ष्यते तस्मात्परस्तादेतदुच्यते ॥ प्रथते वैश्वरूपेण यतोऽविद्यैव सर्वथा । अविद्यामात्रयाथात्म्यादतस्तद्वदमुच्यते ॥ मा भूद्व्याकृतधी पुसा नामरूपात्मवस्तुनि । ऐकात्म्यव्यक्तितोऽयत्र तस्मादेवेति गीरियम् ॥ सामानाधिकरण्योक्तिव्यक्तस्याव्यक्तसिद्धय । न हि कात्स्न्यमभिव्यक्तेर्व्यक्तस्याकारस्यैदर्शनादिति' ॥२०६-२०९॥ तन्नामरूपाभ्यामित्यादिवाक्यतात्पर्यमाह—कार्येति । कार्यकारणभेदेन तस्मादुक्तवक्ष्यमाणप्रपञ्चादपरिशिष्टात्तमुभयविधप्रपञ्चमाश्रित्य तदित्याद्युच्यते । तत्र नामरूपशब्दाभ्यामाकाशादि गृह्यते, न प्रसिद्धे नामरूपे न च तद्व्याकरणमृते मूलकारणादिति न तद्ग्रहणमत्र युक्तमित्यथ ॥ कार्यकारणयोर्नित्यमभेद इत्युक्त्वा कार्यकारणभेदेन वदतो व्याहतिरित्याशङ्क्याऽऽह—प्रथत इति । वैश्वरूपेण कार्यं कारणमित्यनेकाकारेणेत्यथ । सर्वदा त्रिष्वपि कालेष्विति यावत् । कार्यकारणयोराविद्यकत्वादुक्तसामानाधिकरण्यात्तयोरभेदोपपत्तिर्भेदेन चानुवादस्तद्रूपेणाविद्याया भानादिन्द्रो मायाभिरित्यादिश्रुतेस्तन्न व्याहतिरित्यर्थ ॥ तदित्यादिवाक्यस्यैव शब्द व्याकरोति—मा भूदिति । आत्मव्यक्ति विना जगद्व्यक्तमिति पुसा भ्रान्तिरूपा धीर्मा भूदिति यतो मन्यते श्रुतिस्तस्मान्नामरूपाभ्यामेव जगदभिव्यक्त न स्वरूपेण प्रत्यगात्मनेति वदन्ती नामाद्यात्मना तद्व्यक्तमप्यव्यक्तमेव

व्याक्रियतेति कर्मकर्तृप्रयोगा[1]त्तत्स्वयमेवाऽऽ[2]त्मैव व्याक्रियत वि आ अक्रियत विस्पष्टं नामरूपविशेषावधारण[3]मर्याद व्यक्तीभावमापद्यत। सामर्थ्यादाक्षिप्तनियन्तृकर्तृसाधनक्रिया[4]निमित्तम्। असौनामेति[5] सर्वनाम्नाऽविशेषा[6]भिधानेन [7]नाममात्रं व्यपदिशति। देवदत्तो यज्ञदत्त इति वा नामास्येत्यसौनामाऽयम्। तथेदमिति शुक्लकृष्णादीनामवि

मित्थंभावार्थत्वेन व्याचष्टे—नाम्नेति। क्रियापदप्रयोगाभिप्रायं तदनुवादपूर्वकमाह—व्याक्रियतेति। [8]तत्र पदच्छेदपूर्वकं तद्वाच्यमर्थमाह—व्याक्रियतेत्यादिना। स्वयमेवेति कुतो विशेष्यते कारणमन्तरेण कार्योत्पत्तिरयुक्तेत्याशङ्क्याऽऽह—सामर्थ्यादिति। निर्हेतुकार्यसिद्ध्यनुपपत्त्याऽऽक्षिप्तो नियन्ता [9]जनयिता [10]कर्ता चोत्पत्तौ साधनक्रिया कारकव्यापारस्तन्निमित्तं तदपेक्ष्य व्यक्तीभावमापद्यतेति योजना। नामसामान्यं देवदत्तादिना विशेषनाम्ना संयोज्य सामान्यविशेषवानर्थो नामव्याकरणवाक्ये विवक्षित इत्याह—असावित्यादिना। असौशब्दः थौतोऽव्ययत्वेन नेयः। रूपसामान्यं शुक्लकृष्णादिना विशेषेण संयोज्योच्यते रूपव्याकरणवाक्येनेत्याह—तथेत्यादिना। अव्याकृतमेव व्याकृतात्मना व्यक्तमित्येतत्सुप्त-

अपने द्वारा ही व्याकृत होता है। 'वि आङ् उपसर्गपूर्वक अक्रियत' अर्थात् स्पष्टतः नामरूपविशेष निश्चयपर्यन्त अभिव्यक्त होता है। वह अव्याकृत, सामर्थ्य से आक्षिप्त प्रयोजक और प्रयोज्य की उत्पत्ति में साधनक्रिया की अपेक्षा से जगत्‌रूप में व्यक्त होता है। 'असौनामा' इस वाक्य में 'असौ' इस नामसामान्यवाचक सर्वनाम से वाचकसामान्य को बतलाया गया है। देवदत्त या यज्ञदत्त इत्यादि इनके नाम है इसलिए यह "असौनामा" है। इसी प्रकार 'इद' यह शुक्ल और कृष्णादि का सामान्याकार है। यह शुक्ल अथवा कृष्ण इसका रूप है इसलिए इदरूप है। (सुप्तप्रबुद्ध दृष्टान्त से) "तदिदम्" अर्थात्

१. अव्याकृतम्। २. आत्मनैव। ३ पर्यन्तम्। ४ निमित्तमिति—अव्याकृतशब्दस्य नियन्त्रादियुक्तजगद्वाचकत्वादितिभाव। व्याक्रियतेति कर्मकर्तृप्रयोगाज्जगत् कर्तुरविवक्षितत्व प्रतीयते इति चेत्सत्यम् मुच्यत वत्मः स्वयमेवेतिवत् कर्मकर्तृलकारो व्याकरणसौकर्यापेक्षया सत्यव कर्तरि निर्वहतीति बोध्यम्। ५ इतीति-इतिवाक्ये इत्यर्थः। ६ नामसामान्यवाचकेन। ७ वाचकसामान्यम्। ८ क्रियापदे। ६ प्रयोजक। १०. प्रयोज्य.।

रज्जुरिव सर्परूपेणेत्यभिप्रायेणेवकार प्रयुङ्क्ते इत्यर्थं ॥ इतश्च जगद्व्यक्तमिव न व्यक्तमेवेत्याह—सामानाधिकरण्येति। इद तदिति सामानाधिकरण्यगवधारणाभिप्रायमुपोद्वलयतीत्यथ। अव्यक्तेनेति भावप्रधानोक्तिः। आत्मव्यक्ति विना जगतः साक्षाद्व्यक्तत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—न हीति। व्यक्त जगति व्यक्तेरपूर्णत्वे हेतुमाह—व्यक्तस्येति। आत्मैव वस्तु न जगदिति तदुपलब्धौ नोपलभ्यते। अतो यावद्ब्रह्म प्रत्यङ्न मीयते तावज्जगदव्यक्तमेवेत्यर्थ.॥ नामरूपाभ्या समुच्चिताभ्यामेव व्याकरण न त्वेकैकेनायेतदथमवधारणमिति केचित्तान्प्रत्याहुर्वार्तिककाराचार्यास्तथाहि—"नामरूपाभ्यामेवेति न समुच्चयनिर्दिष्टौ। समस्ताभ्यां व्यस्ताभ्यां लोकेऽपि व्याकृतिर्यत.॥ जानितो बधिरस्येह व्यक्ति. स्याद्रूपमात्रजा। जात्यन्धादेश्च नाम्नैव तथा चोभयथाऽप्यसौ॥ अज्ञातार्थैर्हेतुना भियापेक्षारमना श्रुतौ। नेयत्ताऽस्तीह तत्त्वानामानन्त्यान्न क्रमस्तथेति" ॥३६८-४००॥ अपिशब्द समस्तव्यस्ताभ्यामित्यनेन सबध्यते॥ व्यस्तेन रूपमात्रेण व्याकरणमुदाहरति—जातित इति। इह प्रकृतलोके। नाममात्रेण व्याकरण दर्शयति—जात्यन्धेति। आदिपदेन नैमित्तिकान्धोक्ति समुच्चयमाह—तथेति। उभयथेति नाम्ना रूपेण चेत्यर्थः। असाविति व्यक्तिरत्ता तत्रोदाहरणमस्मदादय॥ समस्ताभ्यां व्यस्ताभ्यां च नामरूपाभ्यां व्याकरणेऽपि व्याक्रियमाणस्याक्रमो वाच्याविरयाशङ्क्याऽऽह—अज्ञातेति। गृह्यमाणाना हेतुभ्रम वन्निवारयमुखा स्वरूपतोऽपि तदाह—भिय इति। तेषा तत्त्वानामानन्त्यादिह श्रुतो नेयत्ताऽस्त्यत एव न क्रमश्चेति योजना॥

'शेषः । इदं शुक्लमिदं कृष्णं वा रूपमस्येतीदंरूपः । 'तदिदमव्याकृतं वस्त्वेतर्ह्यतस्मिन्नपि काले नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामाऽयमिदंरूप इति ।

'यदर्थः 'सर्वशास्त्रारम्भो यस्मिन्नविद्यया 'स्वाभाविक्या कर्तृक्रियाफलाध्यारोपणा कृता यः कारणं सर्वस्य जगतो यदात्मके नामरूपे सलिलादिव स्वच्छान्मलमिव 'फेनम-

---

प्रबुद्धदृष्टान्तेन स्पष्टयति—तदिदमिति ।

तद्धेत्यत्र मूलकारणमुक्त्वा तन्नामरूपाभ्यामित्यादिना तत्कार्यमुक्तमिदानीं प्रवेशवाक्यस्थस-शब्दापेक्षितमर्थमाह—यदर्थ इति । काण्डद्वयात्मनो वेदस्याऽऽरम्भो यस्य परस्य प्रतिपत्त्यर्थो 'विज्ञायते कर्मकाण्डं हि स्वार्थानुष्ठानाहितचित्तशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोपयोगीष्यते ज्ञानकाण्ड तु साक्षादेव तत्रोप-युज्यते 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति च श्रूयते स परोऽत्र प्रविष्टो देहादाविति योजना । सर्वस्याऽऽ-म्नायस्य ब्रह्मात्मनि 'समन्वयमुक्त्वा तत्र विरोधसमाधानार्थमाह—यस्मिन्निति । अध्यासस्य 'चतुर्विधख्यातीनामन्यतमत्वं वारयति—अविद्ययेति । तस्या "मिथ्याज्ञानत्वेन सादित्वादनाद्यध्यास-हेतुत्वासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—स्वाभाविक्येति । "विद्याप्रागभावत्वमविद्याया व्यावर्तयति—कर्त्रिति । "न हि तदुपादानत्वमभावत्वे संभवति नचोपादानान्तरमस्तीति भावः । अन्वयस्तु सर्वत्र यच्छब्दस्य पूर्ववद्द्रष्टव्यः । आत्मनि कर्तृत्वाध्यासस्याविद्याकृतत्वोक्त्या समन्वये विरोधः समाहित. संप्रत्य"ध्या-सकारणस्योक्तत्वेऽपि निमित्तोपादानभेदं "साख्यवादमाशङ्क्योक्तमेव कारणं तद्भेदनिराकरणार्थं कथय-ति—य कारणमिति । "श्रुतिस्मृतिवादेषु परस्य तत्कारणत्वं प्रसिद्धमिति भावः । नामरूपात्मकस्य द्वैतस्याविद्याविद्यमानदेहत्वाद्विद्यापनोद्यत्वं सिध्यतीत्याह—यदात्मके इति । व्याकर्तुरात्मन. स्वभावतः शुद्धत्वे दृष्टान्तमाह—सलिलादिति । व्याक्रियमाणयोर्नामरूपयो. स्वतोऽशुद्धत्वे दृष्टान्तमाह—मल-

---

अव्याकृत वस्तु 'एतर्हि' अर्थात् उस समय भी नाम और रूप के द्वारा ही 'इस नाम वाली है', 'इस रूप वाली है' इस प्रकार व्याकृत होती है ।

जिसके लिए वैदिक-अवैदिक सर्वशास्त्रो का आरम्भ हुआ है, जिसमे अनादिसिद्धा अविद्या के

---

१ सामान्याकार । २ तदिदमिति—वर्तमानकाले सुषुप्तावव्याकृतवस्तुजात जागरादौ व्याक्रियमाण दृष्टमत. सर्गादावपि पूर्वमव्याकृतस्य व्याकरण दृष्टानुसारात्कल्प्यमिति भाव । ३ वैदिकावैदिकसाधारणशास्त्रम् । ४ अनादिसिद्धया । ५ मलिनम् । ६ अविद्यात्मके । ७ निश्चीयते । ८ तात्पर्यम् । ९ चतुर्विधख्या-तीति—असत्ख्यातिर्माध्यमिकानाम् । आत्मख्याति माध्यप्राभाकराणाम् । अन्यथाख्याति तार्किकाणाम् । आत्मख्या-तिर्योगाचाराणाम् । अविद्यायास्त्वनिर्वाच्यतयाऽनिर्वचनीयख्याति सैद्धान्तिकानामिति । १० शुक्तिरजतज्ञानवत् । ११ अविद्याया विद्याप्रागभावत्वादनादित्वेऽपि नाध्यासोपादानत्वमित्यभिप्रेत्याह—विद्येति । १२ उभयविधाध्या-सस्याभावेतरत्वात्तदुपादानाज्ञानस्यापि नाभावत्वम् उपादानान्तराभावादित्यभिप्रेत्याह—न हीति । १३ अज्ञान-स्य । १४. योगमन्तर्भाव्याह—साख्यवादमिति । १५ श्रुतिस्मृतिवादेष्विति । 'आत्मन आकाश सभूत' । 'एतस्माज्जायते प्राण' इत्याद्या श्रुतय । 'अहम् सर्वस्य जगत प्रभव प्रलयस्तथा ।', 'मत्त सर्वं प्रवर्तते" इत्यादि-स्मृतेश्च । परिच्छिन्नस्य कार्यत्वेन मूलकारणत्वायोग इत्यादियुक्तिसग्राहको वादशब्द । अतोऽज्ञात ब्रह्मैव कारण न प्रधानादीनि तत्र तत्रोक्त वक्ष्यते च मधुब्राह्मणादावतो न प्रधानवाद साधु । तथा च वार्तिकम्—"श्रुतितो युक्तितश्चापि स्वयमेव प्रवक्ष्यति । उदर्क इममेवार्थं नातोऽन्यत्कारण तत" ॥५८१॥ इति । उदर्क—अग्रे ।

व्याकृते व्याक्रियेते यश्च ताभ्यां नामरूपाभ्यां विलक्षणः स्वतो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः स एषोऽव्याकृते आत्मभूते नामरूपे व्याकुर्वन्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु देहेष्विह कर्मफलाश्रयेष्वशनायादिमत्सु ‌‌*प्रविष्टः ।

मिवेति । यथा फेनादि जलोत्थं तन्मात्रमेव तथाऽज्ञातब्रह्मोत्थं जगद्ब्रह्ममात्रं तज्ज्ञानबाध्यं चेति भावः । नित्यशुद्धत्वादिलक्षणमपि वस्तु न स्वतोऽज्ञाननिवर्तकं केवलस्य [1]तत्साधकत्वाद्वाक्योत्थबुद्धिवृत्त्यारूढं तु तथेति मन्वानो ब्रूते—यश्चेति । "[2]आकाशो ह वै नाम नामरूपयो[3]र्निर्वहिता ते [4]यदन्तरा तद्ब्रह्म' इति श्रुतिमाश्रित्याऽऽह—ताभ्यामिति । नामरूपात्मकद्वैतासंस्पर्शित्वादेव[5] नित्यशुद्धत्वमशुद्धेद्वैतसंबन्धाधीनत्वात्तत्राविद्या प्रयोजिकेत्यभिप्रेत्य तत्संबन्धं निषेधति—बुद्धेति । तस्मादेव दुःखाद्यनर्थासंस्पर्शित्वमाह—मुक्तेति । विद्यावशाया शुद्धयादिसद्भावेऽपि बन्धावस्थायां नैवमिति चेन्नेत्याह—स्वभाव इति । अव्याकृतवाक्योक्तमज्ञातं परमात्मानं परामृशति—स इति । [6]तमेव कार्यस्थं प्रत्यञ्चं निर्दिशति—एष इति । आत्मा हि स्वतो नित्यशुद्धत्वादिरूपोऽपि स्वाविद्यावष्टम्भान्नामरूपे व्याकरोतीति [7]तत्सर्जनस्याविद्यामयत्वं विवक्षित्वाऽऽह—अव्याकृते इति । तयोरात्मना[8] व्याकृतत्वे तदतिरेकेणाभावः फलतीति मत्वा विशिनष्टि—आत्मेति । जनिमन्मात्रमिहशब्दार्थं कथयति—ब्रह्मादीति । [9]तत्रैव तु खादिसंबन्धो नाऽऽत्मनोति मन्वानो विशिनष्टि—कर्मेति । ब्रह्मात्मैक्ये पदद्वयसामानाधिकरण्याधिगते हेतुमाह—[10]प्रविष्ट इति ।

द्वारा कर्ता, क्रिया और फल का आरोप किया गया है, जो सारे जगत् का कारण है, जिसके स्वरूपभूत नाम और रूप स्वच्छजल से मलिनतारूप फेन के समान अविद्यात्मक रूप में व्याकृत होते हैं । और जो उन नाम और रूप से विलक्षण स्वत नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूप है, वह यह आत्मा अव्याकृत एव आत्मस्वरूप-नामरूपों को व्याकृत करता हुआ ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त कर्मफल के आश्रयभूत अशनाया-

---

१ अज्ञोऽहमित्यादिप्रतीत्यति व्ययम् । २ आकाश इति । आसमन्तात्काशत प्रकाशत इत्याकाश परमात्मा । ३ निर्वहितेति—उत्पत्तिस्थितिहेतुरित्यर्थः । ४ यदन्तरेति—यस्माद्भिन्ने । यस्मिन्कल्पितत्वनाध्यस्ते स्त इति वाय । ५ एवेति—अप्ययके नैवकारेण बोधकरसत्व वार्तिकावित हेत्वन्तर समुच्चीयत । ६ तमेवेत्यादि—परोक्षाभिहित परमात्मानमेव । कार्यम् बुद्धिस्तत्स्थ तदुपहितमिति यावत् । ७ तत्सर्जनस्येति । स्वमव्युत्पत्त्या नामरूपात्मकद्वैतस्येत्यर्थः । ८ स्वरूपेण । ९ उक्तदेहादावव । १० प्रविष्ट इति—स्वाविद्यावष्टम्भात्सूर्यादिवत्प्रतिबिम्बीभूत इत्यर्थः । तथा च वार्तिकम्—"सूत्रादिस्थाणुपर्यन्त जगत्सृष्ट्वा स्वमायया । स्वाभासैवसहायात्मा तदेव प्राविशद्धरिः" ॥५१४॥ इति । आभास प्रतिबिम्बस्तद्द्वारेत्यर्थ ।

---

*प्रविष्ट इति । अत्राष्टौ वार्तिकानि द्रष्टव्यानि । तथाहि—"इत्युक्तप्रतिपत्त्यर्थं हेतुरेषोऽभिधीयते । प्रविष्ट इत्यनन्तात्र स्वाभासैस्तमोऽन्वयात् ॥५०१॥ स्वात्माभासप्रवेशा यः प्रत्यङ्माहनिबन्धन । तज्जेष्वपि स एव स्यान्महदनुबधर्मदिरूपिषु ॥ पयोभावत्सूत्ररूप क्रियाविज्ञानशक्तिमत् । कर्तृत्यभावक स्यात्तु चल कर्मस्थभावकम् ॥ बुद्ध्यात्मतोऽभिनिर्वृत्तिर्व्यवसायात्मनस्तत । हिरण्यगर्भं य प्राहुरुपादान जगद्धियाम् ॥ वैराज स्थानमासाद्य क्ष्मादिदेशविभागवान् । देवतात्मनो देव एष एवाच्यते विराट् ॥ तथा च मन्त्रवर्णोऽत्र ह्यग्निर्मूर्धेति दृश्यते । तदुपादानमात्रा स्युर्देवता स्वाभिमानजाः ॥ आधिभौतिक भूताना तथैवाध्यात्मरूपिणाम् । पूर्वोक्ताना परिच्छेदा ह्यविद्याकामकर्मभि ॥ सूत्रादिस्थाणुपर्यन्त जगत्सृष्ट्वाऽऽत्ममायया । स्वाभासैवसहायात्मा तदेव प्राविशद्धरिरिति" ॥५०८-१४॥ प्रविष्टपदस्यार्थमाह—इत्युक्तानि । इतिना पदद्वयसामानाधिकरण्यात्तिस्तनोक्तमैक्य तन्निश्चयार्थमपेक्षितो हेतु प्रविष्टशब्देनोच्यत इत्यर्थः । परस्य प्रवेशवचन प्रविष्टस्य जीवत्वात्तेन तदैक्य युक्त न तु

नन्वव्याकृतं स्वयमेव व्याक्रियतेत्युक्तं 'कथमिदमिदानीमुच्यते 'पर एव त्वात्माऽव्याकृतं व्याकुर्वन्निह प्रविष्ट इति। नैष दोषः। 'परस्याप्यात्मनोऽव्याकृतजगदात्मत्वेन

परमात्मा स्रष्टा सृष्टे प्रविष्टो जगतीत्यादिष्टमाक्षिपति—नन्विति। 'पूर्वापरविरोधं समाधत्ते—नेत्यादिना। व्याक्रियतेति कर्मकर्तृप्रयोगाज्जगत्कर्तुरविवक्षितत्वमुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—श्राक्षिप्तेति।

दिमान् समस्त शरीरो मे प्रविष्ट हुआ।

यहाँ शङ्का होती है कि 'अव्याकृत स्वय ही व्याकृत होता है' जब ऐसा कह चुके हो तो अब ऐसा क्यो कहने लगे हो कि परमात्मा ही अव्याकृत को व्याकृत करता हुआ इसमे प्रविष्ट है। (इस

---

१. कथमिति—कर्मकर्तृत्वदर्शनाज्जगत. स्वयमेव व्याक्रियेतेत्येव सति द्रष्टुरभावाच्च तस्य प्रवेष्टृत्वमितिभाव। २. पर एवेति। परस्याप्रवेशे हेत्वन्तरम् वार्त्तिकम् "परात्मन प्रवेशोऽपि न्याय सगच्छते न च। नेहासौ प्रकृतो यस्मादतो नासौ प्रवेशभागिति" ॥५१६॥ न्याय युक्ति न सहते। इह-अव्याकृतप्रकरणे। ३. परस्यापि। अव्याकृतवदित्यपि शब्दार्थ। अव्याकृतशब्दस्यनियन्त्रादिविशिष्टजगद्वाचकत्वादितिभाव.। ४. पूर्वेति—परस्य-प्रकृतत्व दर्शयन्नित्यादौ दोष।

परस्य प्रवेशस्तस्यासङ्गत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—अत्रेति। सृष्टे कार्ये प्रत्यगाभास यदखण्ड तमस्तत्सबन्धात्प्रवेश इत्यर्थं ॥ ननु तस्यार्थो नैक्यमर्थान्तरे रूढत्वादित्याशङ्क्याह—स्वात्मेति। यो हि प्रत्यङ्मोहवृत्तस्तस्मिन्मोहे प्रत्यगाभासाख्य प्रवेश स एव प्रत्यगज्ञानजन्येष्वपि सर्वोपाधिषु प्रवेश. प्रवेशान्तरस्यापरिच्छिन्ने परस्मिन्नयोगाच्च चाऽऽभासस्याऽऽभासिनोऽन्यत्र सत्त्वमित्यैक्ये प्रविष्टशब्द पर्यवस्यतीत्यर्थं ॥ महद्बुद्ध्यादिरूपिष्विति प्रवेशाधिकरणान्युक्तानि तेषा स्वरूपमाह—पय इति। व्यतिकीर्णक्षीरनीरवन्मायोपाधिकारण नानारूप तस्य सर्वकार्यात्मकत्वात्तस्मादुत्पन्न सूक्ष्मपञ्चीकृतभूतात्मक क्रियाप्रधानज्ञानापसर्जनशक्तियुक्तमित्यर्थ। कारणस्यावान्तरविशेषमाह—कर्तृस्येति। कर्तृरूपेण जनकत्वेन स्थित यत्स्वरूप सूत्रकारण तदुद्भवनिमित्त स्थास्न्वविचलमनादित्वादित्यर्थं। कार्यस्य सूत्रस्यावान्तरविशेषमाह—चलमिति। कर्मरूपेण जन्यत्वेन स्थितं यत्कार्यरूप सूत्र तच्चलमाद्यन्तवदित्यर्थः ॥ क्रियोपसर्जनज्ञानशक्तिकहिरण्यगर्भस्य परस्मादुत्पत्तिमनुवदन्नवान्तर स्वरूपमाह—बुद्ध्यात्मन इति। तमेव विशिनष्टि—व्यवसायात्मन इति। सूत्र व्यावर्तयति—तत इति। अज्ञातात्परस्मादित्यर्थं। ततो बुद्ध्यात्मोत्पत्तावपि हिरण्यगर्भस्य किमायात तदाह—हिरण्यगर्भमिति। तत्र श्रुतिस्मृती प्रमाणयति—प्राहुरिति। तस्मिन्नेव कार्यलिङ्गकमनुमान सूचयति—उपादानमिति ॥ विराज स्वरूपमाह—वैराजमिति। परात्मैव सूत्रादिहेतुर्मायावी सूक्ष्म पृथिव्यादिपञ्चकाद्देशविभागवान्वैराज स्थूलप्रपञ्चात्मक स्थान प्राप्य विराडुच्यत स चाग्निसूर्याद्यवयववानित्यर्थं ॥ उक्त विराजि पूर्वोक्तमेव मान स्मारयति—तथा चेति। द्यौर्मूर्धानमस्य विप्रा वदन्तीत्याद्या स्मृतिरपि दर्शिते विराजि यथोक्तश्रुतिमूला भवति मानमिति वक्तु हिशब्द। विराजसकाशादुत्पत्तिमनुवदन्निन्द्रादिदेवतास्वरूप सगृह्णाति—तदुपादानेति। इन्द्रोऽहमित्याद्यभिमानित्वेन साधकावस्थाया पुमानवस्थितस्तेन तद्वासनापि देवतासु फलभूतासु हेतुरित्याह—स्वाभिमानेति ॥ भवन्त्वेवविधानि प्रवेशाधिकरणानि तेषु प्रविष्ट चैतन्यमेकमनेक वाऽऽद्ये जीवभेदव्यवहारायोगाद्द्वितीय त्वद्वैतहतिरित्याशङ्क्याऽऽह—आधिभौतिकेति। तथैवेति—आधिदैविकभूतसमुच्चयार्थं। पूर्वोक्ताना प्रत्यङ्मोहमहद्बुद्धीत्यादावुक्तानामिति यावत्। तत्तदुपाधिषु प्रविष्टचैतन्यस्यैक्येऽपि जीवभेदव्यवहारोऽविद्यादिवशादित्यर्थं। अविद्यादेरविद्यमानपरिच्छेदपरिनिर्माणनिपुणताद्योतनार्थो हिशब्द ॥ प्रवेशवाक्यार्थमुपसहरति—सूत्रादीति। एक. स्वाभास सहायोऽस्य स स्वाभासैकसहाय स चासावात्मा च स्वसृष्ट जगत्प्राविशदिति योजना। सृष्टौ प्रवेशे च साधारण हेतुमाह—आत्मेति। प्रविष्टस्य तत्र तत्र पालयितृत्व सूचयति—हरिरिति ॥

विवक्षितत्वात् । आक्षिप्तनियन्तृकर्तृ क्रियानिमित्तं हि जगदव्याकृतं व्याक्रियतेत्यवोचाम। इदंशब्दसामानाधिकरण्याच्चाव्याकृतशब्दस्य ।

यथेदं जगन्नियन्त्राद्यनेककारकनिमित्तादिविशेषवद्व्याकृतं तथाऽपरित्यक्तान्यतमविशेषवदेव तदव्याकृतम् । व्याकृताव्याकृतमात्रं तु विशेषः । दृष्टश्च लोके विवक्षातः शब्दप्रयोगो ग्राम आगतो ग्रामः शून्य इति । कदाचिद्ग्रामशब्देन निवासमात्रविवक्षायां

मुच्यते वत्सः स्वयमेवेतिवत्कर्मकर्तरि लकारो व्याकरणसौकर्यापेक्षया सत्येव कर्तरि निर्वहतीति भाव.। अव्याकृतशब्दस्य नियन्त्रादियुक्तजगद्वाचित्वे हेत्वन्तरमाह—इदंशब्देति ।

कथमुक्तसामानाधिकरण्यमात्रादव्याकृतस्य जगतो नियन्त्रादियुक्तत्वं तत्राऽऽह—यथेति । नियन्त्रादीत्यादिशब्देन कर्तृकरणादिग्रहणम् । निमित्तादीत्यादिपदेनोपादानमुच्यते । विमत नियन्त्रादिसापेक्षं कार्यत्वात्संप्रतिपन्नवदित्यर्थः । कस्तर्हि प्रागवस्थे संप्रतितने च जगति विशेषस्तत्राऽऽह—व्याकृतेति । कथं पुनरव्याकृतशब्देन जगद्वाचिना परो गृह्यत एकस्य शब्दस्यानेकार्थत्वायोगादत आह—दृष्टश्चेति । उक्तमेव स्फुटयति—कदाचिदिति । उभयविवक्षया ग्रामशब्दप्रयोगस्य दार्ष्टान्तिकमाह—

शङ्का का निराकरण करते है—) इसमे कोई दोष नही है, क्योकि यहाँ परमात्मा ही अव्याकृत-नियन्तादिविशिष्ट जगत्रूप से विवक्षित है। आक्षिप्त हुए नियन्ता और कर्ता (प्रयोज्य और प्रयोजक) उत्पत्ति मे साधन क्रिया की अपेक्षा से अव्याकृत जगत् ही व्याकृत होता है—ऐसा हम पहले कह चुके है। इसके अतिरिक्त 'अव्याकृत' शब्द का 'इदम्' शब्द से समानाधिकरण है।

जिस प्रकार यह व्याकृत जगत नियन्ता आदि अनेक कारक-निमित्तादि विशेष से युक्त है, उसी प्रकार श्रुतिस्थ तत्पदवाच्य अव्याकृत भी उनमे से किसी विशेष का बिना त्याग किए उनसे युक्त ही है। (दोनो के नियन्तादि सापेक्ष होने से) उनमे व्याकृत और अव्याकृत होना मात्र ही विशेष है। लोकव्यवहार मे भी देखा जाता है कि शब्द का प्रयोग विवक्षा से होता है। जैसे—'ग्राम आ गया' 'ग्राम शून्य है'। (इन वाक्यो मे) कभी तो ग्रामशब्द से अधिकरणमात्र की विवक्षा होने पर 'ग्राम

१ इदमिति। अव्यक्तजगदभिधानस्याव्याकृतपदस्य व्यक्तजगदभिधाने नेदंशब्देन सामानाधिकरण्यश्रवणात् सर्वेष्वेव जगति नियन्त्रादिसाहित्यमुचितमित्यर्थः। २ यथेदमिति—तथा च वार्तिके— 'इद जगन्नियन्त्रादि विभिन्नानेकरूपवत्। यथाऽधुना निश्चिनुम प्रागप्यतदभूत्तथा ॥ नामरूपाद्यभिव्यक्त प्राग्व्यक्तापह्नवेऽप्यभूत्। अव्याकृताध्यक्ष एकाकी व्यक्त यत्साक्षिक जगत् ॥ जगज्जनिस्थितिध्वसनृत्तसाक्ष्यतिरेकत। शिष्टस्येह प्रवेश्यत्वात्परएवाऽऽविशेदत" ॥५१९-५२१॥ इति। इदमिति-दृष्टानुसारिणी कल्पनेति भाव ॥ अव्याकृत जगति नियन्त्रादियुक्त साधकवैधुर्यमाशङ्क्याऽऽह—नामेति। नामरूपाभ्या व्यक्त जगद्येन साक्षिणा नियन्त्रादियुक्तमनुभूयते स एव तदुत्पत्ते प्राक् तदपह्नवानन्तर च तद्व्यक्ताव्यक्तत्वसाधको न च तस्यान्यसाधकापेक्षा एकाकित्वात् स्वप्रकाशत्वाच्चेत्यर्थ। परस्य प्रकृतत्वोक्त्या तस्यैव प्रवेशमुक्त्वा तत्रैव हेत्वन्तरमाह—जगदिति। साक्षिणो भेदेन श्रुत दृष्ट वा यदवशिष्ट तस्य सर्वस्य प्रवेशविषयान्तर्भावात् परमात्मैव जगति प्रवेष्टा तत्र भेदशङ्कत्यर्थ। ३ श्रुतिस्थतत्पदवाच्यम्। ४ दार्ष्टान्तिकानुरोध दृष्टान्तयितु चशब्द। ५ अधिकरणमात्रविवक्षयामित्यर्थ। ६ मुच्यत इति। ७ अव्याकृतजगद्व्याकरणस्य नियन्त्राद्यतिरेकेणायोगान्नियन्त्रादियुक्त जगद्व्याकृतशब्देनोच्यत इत्यादौ दोष। ८ व्याकृतवत्। ९ उभयोर्नियन्त्रादिसापेक्षत्वे।

ग्रामः शून्य इति शब्दप्रयोगो भवति कदाचिन्निवासिजनविवक्षायां ग्राम आगत इति कदाचिदुभयविवक्षायामपि ग्रामशब्दप्रयोगो भवति 'ग्रामं च न प्रविशेदिति यथा। तद्वदिहापि जगदिदमव्याकृतं व्याकृतं चेत्यभेदविवक्षाया'मात्मानात्मनोर्भवति व्यपदेशः। तथेदं जगदुत्पत्तिविनाशात्मकमिति' 'केवलजगद्व्यपदेशः। तथा महानज आत्माऽस्थूलोऽनणुः स एव नेति नेतीत्यादि 'केवलात्मव्यपदेश.।

ननु परेण व्याकर्त्रा व्याकृतं सर्वतो व्याप्तं सर्वदा जगत्स कथमिह प्रविष्टः परिकल्प्यते। अप्रविष्टो हि देशः परिच्छिन्नेन प्रवेष्टुं शक्यते। यथा पुरुषेण ग्रामादिर्नाऽऽकाशेन किंचिन्नित्यप्रविष्टत्वात्। पाषाणसर्पादिवद्धर्मान्तरेणेति चेत्। अथापि स्यान्न

तद्वदिति। इहेत्यव्याकृतवाक्योक्ति। निवासमात्रविवक्षया ग्रामशब्दप्रयोगस्य दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति। निवासिजनविवक्षया तत्प्रयोगस्यापि दार्ष्टान्तिक कथयति—तथा महानिति।

अव्याकृतवाक्ये परस्य प्रकृतत्वात्तस्य प्रवेशवाक्ये सशब्देन परामृष्टस्य सृष्टे कार्ये प्रवेश 'उक्तस्तं च प्रकारान्तरेणाऽऽक्षिपति—नन्विति। कथमितिसूचितामनुपपत्तिमेव स्फुटयति—अप्रविष्टो हीति। दृष्टान्तावष्टम्भेन 'प्रवेशवादी शङ्कते—पाषाणेति। "तदेव विवृणोति—अथापीत्यादिना। परस्य परिपू-

शून्य है' ऐसे शब्द का प्रयोग होता है और कभी ग्रामवासी लोगो की विवक्षा होने पर 'ग्राम आ गया' ऐसा प्रयोग होता है तथा कभी दोनो की विवक्षा मे भी ग्राम शब्द का प्रयोग होता है, जैसे 'ग्राम (नगर या जनसमूह) मे प्रवेश न करे'। उसी तरह यहाँ भी 'यह जगत् व्याकृत और अव्याकृत है' इस वाक्य मे अभेद की विवक्षा होने पर आत्मा और अनात्मा का निर्देश होता है। तथा 'यह जगत् उत्पत्तिविनाशस्वभाव वाला है' इस वाक्य मे (आत्मोपसर्जन) केवल अनात्मजगत् का निर्देश है। तथा 'यह आत्मा महान् और जन्मरहित है', 'यह अस्थूल और अनणु है', "वह यह आत्मा ऐसा (कारणरूप) नही है, ऐसा (कार्यरूप) नही है' इत्यादि श्रुतिवाक्यो मे केवल आत्मा का निर्देश है।

(पुन शङ्का होती है) किन्तु जब व्याकृत करने वाले परमात्मा द्वारा यह व्याकृत जगत् सर्वदा सब ओर से व्याप्त किया गया है, तो बुद्ध्यादि मे प्रविष्ट हुआ' ऐसी कल्पना क्यो करते हो? क्योकि किसी परिच्छिन्न वस्तु द्वारा उसी जगह प्रवेश किया जा सकता है, जिसमे उसका प्रवेश न हुआ हो। जैसे पुरुष द्वारा ग्रामादि मे प्रवेश होता है। (सब मे) नित्यप्रविष्ट होने के कारण आकाश के द्वारा किसी वस्तु मे प्रवेश नही किया जा सकता। (सिद्धान्त्येकदेशी प्रवेशवादी कहता है-)

१ नगर जनसमूह चन्यथ। २ आत्मानात्मनोरिति। तथा च वार्तिके– अव्यक्त व्याकृत विश्व यत्र चाप्यभिधीयते। आत्मानात्मद्वयार्थैव विवक्षा तत्र गम्यते" ॥५२७॥ इति। ३ वाक्य। ४ केवलेति जगच्छब्देन प्राधान्यनात्मव्यवहारः। तथा च वार्त्तिके—"अस्थूलोऽजोऽमर शुद्धो यत्र चाप्यभिधीयते। प्रत्यगात्मविवक्षैव तत्र ज्ञेयाभिधानत ॥५२६॥ यत्र निषेध्यत्वेन स्थूलादिजगत्कथ्यते तत्र प्रत्यगात्मैव निषेध्यार्पणद्वारा जगच्छब्देन विवक्ष्यते इत्यर्थ। ५ वाक्ये। ६ केवलेति-आत्मोपसर्जनानात्मव्यवहार। ७ बुद्ध्यादौ। ८ उक्त इति—यदि तस्य तत्र प्रकृतत्व नेष्ट तथापि यन्मदन्यन्नास्ति, इत्यत्र प्रकृतत्वात् तस्यात्र सशब्देन परामर्शात् तस्यैव स्रष्टु सृष्टे जगति प्रवेशो युक्त इति शेष। 'यन्मदन्यदिति चोक्ते परस्य प्रकृतत्वत। सशब्दन परामर्श परस्येह भवेदत" ॥५२८॥ इति वार्त्तिकोक्ते। ९ सिद्धान्त्येकदेशी। १० सम्प्रहवाक्यम्।

पर आत्मा स्वेनैव रूपेण प्रविवेश किं तर्हि तत्स्थ एव धर्मान्तरेणोपजायते तेन प्रविष्ट इत्युपचर्यते। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति श्रुतेः। यः स्रष्टा स भावान्तरमनापन्न एव कार्यं सृष्ट्वा पश्चात्प्राविशदिति हि श्रूयते।

यथा भुक्त्वा गच्छतीति भुजिगमिक्रिययोः पूर्वापरकालयोरितरेतरविच्छेदोऽविशिष्टश्च कर्ता तद्वदिहापि स्यान्नतु तत्स्थस्यैव भावान्तरेणोपजनन एतत्संभवति। न च स्थाना-

णंस्य क्वचित्प्रवेशाभावेऽपीति यावत्। तच्छब्दः सृष्टकार्यविषयः। धर्मान्तरं जीवाख्यम्। दृष्टान्तं व्याचष्टे—यथेति। पाषाणाद्यन्तः सर्पादिस्तत्र प्रविष्ट इति शङ्कापोहार्थं सहजविशेषणम्। सर्पादेरश्मादिरूपेण स्थितभूतपञ्चकपरिणामत्वात्तत्र सहजत्वं पाषाणादौ यानि भूतानि स्थितानि तेषां परिणामः सर्पादिस्तद्रूपेण तत्र भूतानामनुप्रवेशवदपरिच्छिन्नस्यापि परस्य जीवाकारेण बुद्ध्यादौ प्रवेशसिद्धिरित्यर्थः। आक्षेप्ता ब्रूते—नेति। तदेव स्पष्टयति—यः स्रष्टेति।

ननु तक्ष्णा निर्मिते वेश्मनि ततोऽन्यस्यापि प्रवेशो दृश्यते तथा परेण सृष्टे जगत्यन्यस्य प्रवेशो भविष्यति नेत्याह—यथेति। पाषाणसर्पन्यायेन कार्यस्थस्यैव परस्य जीवाख्ये परिणामे तत्सृष्ट्वेत्यादिश्रवणमनुपपन्नमिति व्यतिरेकं दर्शयति—नत्विति। अस्तु तर्हि परस्य मार्जारादिवत्पूर्वावस्थानत्यागेनावस्थानान्तरसंयोगात्मा प्रवेशो नेत्याह—न चेति। निरवयवोऽपरिच्छिन्नश्चाऽऽत्मा तस्य स्थानान्तरेण वियोगं प्राप्य स्थानान्तरेण सह संयोगलक्षणो यः प्रवेशः स सावयवे परिच्छिन्ने च मार्जारादौ दृष्टप्रवेश-

किन्तु यदि उसने पाषाण और सर्पादि के सदृश धर्मान्तर से प्रवेश किया हो तो? (भावाशय यह है कि) यह भी हो सकता है कि परमात्मा ने अपने ही रूप से प्रवेश नहीं किया? तो फिर क्या हुआ? वह उसमें स्थित हुआ ही जीवरूप धर्मान्तर में परिणत हो गया। इसलिए (जीवाख्य परिणाम द्वारा) 'प्रविष्ट हो गया' ऐसा कहा जाता है। जिस प्रकार पत्थर में उसके साथ उत्पन्न होने वाला व उसके अन्दर रहने वाला सर्प अथवा नारियल में जल है। (इसपर आक्षेप्ता कहता है–) ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि श्रुति कहती है—"उसे सृजन कर वह परमात्मा उसी में जीवभाव से प्रविष्ट हो गया"। "जो स्रष्टा है, वह बिना कोई भावान्तर प्राप्त किये कार्य का सृजन कर बाद में प्रविष्ट हो गया" ऐसा श्रुति में कहा गया है।

जैसे "भोजन करके जाता है" इस वाक्य में पहले होने वाली भोजन क्रिया और बाद में होनेवाली गमन-क्रिया में परस्पर भेद है, और उनका कर्ता एक ही है, उसी तरह यहां भी हो जायेगा, उस में स्थित का हो भावान्तर को प्राप्त होना (श्रुति द्वारा कथित अविकृत का ही प्रवेश होना) यह संभव नहीं है।

१. जीवरूपेण परिणमते। २ जीवाख्यपरिणामद्वारा। ३ उच्यते। ४. य. स्रष्टेति-यथा देवदत्तोऽन्येन शिल्पसपर्यवदातः (शुद्ध) (निष्णात.) स्वकृत वेश्म प्रविशति तथैव स्रष्टा सृष्ट्वानन्तरं बुद्ध्यादावप्राप्तपरिणामविशेष सन् प्रविष्टोऽस्तीति तत्सृष्ट्वेत्यादिश्रुत्या मत उच्यतेऽतो नोक्तदृष्टान्तवशाच्छङ्का सावकाशेत्यर्थ.। ५. पृथक्-परस्परभेद। ६. एक। ७. अविरेवकारार्थ.—तद्वदेव। ८. श्रुत्युक्तमविकृतस्यैव प्रवेशनम्। ९. पृथक्-परस्परभेद। १०. पाषाणादौ सर्पादि. सहजत्वे हेतुमाह—सर्पादेरिति। ११. तद्भूतत्वम्। १२. कथमश्मादात्मकसिद्धः। १०. पाषाणादौ सर्पादि. इत्याऽऽशङ्क्य मालादिपाकवशात्पृथ्व्यादिपञ्चकस्य सर्पादिपरिणाममनुभूतपञ्च (रूपेण) वस्य सर्पादिपरिणाम भवेन साधयति—पाषाणादाविति। १३. उपादानत्वेन। १४. सग्रहवाक्यमेव। १५. न्यायेन-दृष्टान्तरूपया युक्त्या। १६. स्वीकृते सति। १७. व्यावर्त्यम्। १८. पूर्वोक्तप्रवेशप्रकारासंभवे। १९. अवस्थानमत्र स्थानमेव।

न्तरेण वियुज्य स्थानान्तरसंयोगलक्षणः प्रवेशो निरवयवस्यापरिच्छिन्नस्य दृष्टः ।

सावयव एव प्रवेशश्रवणादिति चेन्न । "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः" "निष्कलं निष्क्रियम्" इत्यादिश्रुतिभ्यः । [1]सर्वव्यपदेश्यधर्मविशेषप्रतिषेधश्रुतिभ्यश्च । प्रतिबिम्बप्रवेशवदिति चेन्न । [2]वस्त्वन्तरेण विप्रकर्षानुपपत्तेः । द्रव्ये गुणप्रवेशवदिति चेत् । न । अनाश्रितत्वात् । नित्यपरतन्त्रस्यैवाऽऽश्रितस्य गुणस्य द्रव्ये प्रवेश [3]उपचर्यते । न तु ब्रह्मणः [4]स्वातन्त्र्यश्रवणात्तथा प्रवेश उपपद्यते ।

फले बीजवदिति चेन्न । सावयवत्ववृद्धिक्षयोत्पत्तिविनाशादिधर्मवत्त्वप्रसङ्गात् । न

सदृशो च भवतीति योजना । वियुज्येति पाठे तु स्फुटैव योजना ।

प्रवेशश्रुत्या निरवयवत्वासिद्धिं शङ्कते—सावयव इति । प्रवेशश्रुतेरन्यथोपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वान्नैवमिति परिहरति—नेत्यादिना । अमूर्तत्वं निरवयवत्वम् । पुरुषत्वं पूर्णत्वम् । प्रकारान्तरेण प्रवेशोपपत्तिं शङ्कते—प्रतिबिम्बेति । आदित्यादौ जलादिना सन्निकर्षादिसंभवात्प्रतिबिम्बाख्यप्रवेशोपपत्तिः । आत्मनि तु परस्मिन्नमङ्गेऽनवच्छिन्ने केनचिदपि [5]तदभावान्न यथोक्तप्रवेशसिद्धिरित्याह—न वस्त्वन्तरेणेति । प्रकारान्तरेण प्रवेशं चोदयति—द्रव्य इति । परस्यापि कार्ये प्रवेश इति शेषः । गुणापेक्षया परस्य वैलक्षण्यं दर्शयन्परिहरति—नेत्यादिना । स्वातन्त्र्यश्रवणमेष सर्वेश्वर इत्यादि ।

पनसादिफले बीजस्य प्रवेशवत्कार्ये परस्य स्यादिति शङ्कित्वा दूषयति—फल इत्यादिना ।

निरवयव और अपरिच्छिन्न पदार्थ का एक स्थान से वियोग प्राप्त कर दूसरे स्थान मे सयोग।लक्षणरूप प्रवेश नहीं देखा जाता है ।

उसका प्रवेश होना तो सुना गया है इसलिये यदि वह अवयव युक्त कहा जाए तो ? ऐसा नही हो सकता । '(वह अक्षरब्रह्म स्वयप्रकाश होने के कारण) निश्चय ही दिव्य, आकाररहित पुरुष है" "जो कला रहित और क्रिया शून्य है (उस देव की मैं शरण हूँ)" इत्यादि श्रुतियाँ और ('नेति-नेति' इस प्रकार) सब व्यपदेश्य धर्म विशेष के प्रतिषेध करने वाली श्रुतियां इसमे प्रमाण हैं । (सिद्धान्त्येकदेशी शका करता है-)यदि प्रतिबिम्ब के प्रवेश के समान उसका प्रवेश मान लें तो ? (इसका परिहार पूर्वपक्षी करता है—) ऐसा कहना ठीक नही है, क्योंकि स्वभिन्न वस्तु द्वारा वियोगादि होना असभव है । (पुन सिद्धान्त्येकदेशी कहता है—) जैसे द्रव्य मे गुण का प्रवेश होता है उसी तरह उसका प्रवेश मान ले तो ? (इस पर पूर्वपक्षी कहता है—)ऐसा यहा मानना ठीक नही क्योंकि वह किसी के आश्रित नही है । नित्य परतन्त्र और आश्रित गुण का ही द्रव्य मे प्रवेश कहा जाता है । ब्रह्म का द्रव्य मे गुण की तरह प्रवेश सभव नही है क्योंकि ईश्वर का स्वतन्त्र होना सुना जाता है ।

(पुन प्रवेशवादी कहता है—)यदि ईश्वर का प्रवेश फल मे बीज के समान मान लिया जाय

१ सर्वेति । नेति नेतीति सर्वव्यवह्रियमाणधर्मविशेषप्रतिषेधश्रुतिमत्रानुकूलयति—सर्वेति । न परस्य सावयवत्वादिसभावनेतिशेष । २ वस्त्वन्तरेणत्यादि । स्वभिन्नवस्तुना वियोगाद्यसभवादित्यर्थः । तदुक्त वार्तिके—'सयोगश्च वियोगश्च यस्य येनेह वीक्ष्यते । प्रतिबिम्बप्रवेशोऽस्य तत्र नत्विह युज्यते ।।५४१।। इति । ३ उच्यते । ४ स्वातन्त्र्येति—नहि कारण कार्यतन्त्र वैपरीत्यादतो द्रव्य गुणवदीश्वरस्य प्रवेशो न कार्ये युक्त स्वतन्त्रतया गुणवैधर्म्यादित्यर्थ । ५ सनिकर्षाद्यभावात् ।

चैवं धर्मवत्त्वं ब्रह्मणः "अजोऽजरः" इत्यादिश्रुतिन्यायविरोधात् । अन्य एव ससारी परिच्छिन्न इह प्रविष्ट इति चेन्न । "सेयं देवतैक्षत" इत्यारभ्य "नामरूपे व्याकरवाणि" इति तस्या एव प्रवेशव्याकरणकर्तृत्वश्रुतेः । तथा तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत । "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" "त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि" "पुरश्चक्रे द्विपदः" "रूपं रूपम्" इति च मन्त्रवर्णान्न परादन्यस्य प्रवेशः ।

विनाशादीत्यादिशब्देनानात्मत्वानीश्वरत्वादि गृह्यते । प्रसङ्गस्येष्टत्वमाशङ्क्य निराचष्टे—न चेति । जन्मादीनां धर्माणा धर्मिणो भिन्नत्वाभिन्नत्वासभवादित्याय । बीजफलयोरवयवावयवित्व पाषाणसर्पयोराधाराधेयतेत्यपुनरुक्ति । परस्य सर्वप्रकारप्रवेशासंभवे प्रवेशश्रुतेरालम्बन वाच्यमित्याशङ्क्य पूर्वपक्षमुपसंहरति—अन्य एवेति । जगतो हि परः स्रष्टेति वेदान्तमर्यादा स्रष्टैव च प्रवेष्टा "प्रविश्य व्याकरवाणीति प्रवेशव्याकरणयोरेककर्तृत्वश्रुतेस्तस्मात्परस्मादन्यस्य प्रवेशो न युक्तिमानिति सिद्धान्तयति—नेत्यादिना । तत्रैव तैत्तिरीयश्रुति सवादयति—तथेति । ऐतरेयश्रुतिरपि यथोक्तमर्थमुपोद्बलयतीत्याह—स एतमेवेति । श्रीनारायणाख्यमन्त्रमप्यत्रानुकूलयति—सर्वाणीति । वाक्यान्तरमुदाहरति—त्व कुमार इति । अत्रैव वाक्यशेषस्याऽऽनुगुण्यं दर्शयति—पुर इति । उदाहृतश्रुतीना तात्पर्यमाह—न परादिति ।

तो ? (पूर्वपक्षी कहता है—) ऐसा मानना भी ठीक नही । ऐसा कहने से ईश्वर मे सावयवत्व, वृद्धि, क्षय, उत्पत्ति और विनाशादि धर्म होने का प्रसङ्ग आ जायगा । परन्तु ब्रह्म इस प्रकार के धर्मो वाला नही है । यह मानने से "वह अजन्मा और अजर है" इत्यादि श्रुति और युक्ति से विरोध होने लगेगा । (लोक व्यवहार मे परिच्छिन्न का ही प्रवेश देखा जाता है) अत यदि ऐसा मानो कि ईश्वर से भिन्न किसी परिच्छिन्न ससारी ने ही इसमे प्रवेश किया है तो ? (पूर्वपक्षी की उपसहार उक्ति का सिद्धान्ती खण्डन करता है—) ऐसा मानना ठीक नही । (इस जगत् का स्रष्टा परमात्मा है और वही प्रवेष्टा है ऐसा वेदान्त का परम सिद्धान्त है इसलिए अन्य का प्रवेश होना सर्वथा अनुपयुक्त है) क्योकि (छान्दोग्य उपनिषद मे) "उस इस (सत् नाम वाली तेज, अप् और अन्न की योनिरूपा) देवता ने ईक्षण किया" यहाँ से लेकर "मैं नाम और रूपो की अभिव्यक्ति करूँ" यहा तक की श्रुति से उसी का प्रवेष्टा और स्रष्टा होना सिद्ध होता है । तथा "उसे सृजन कर बाद मे (स्रष्टा परमेश्वर) उसी मे प्रविष्ट हो गया", वह सृष्टिकर्ता ईश्वर इस मूर्धा को ही विदीर्ण कर इस मार्ग से ही इस सघात मे प्रविष्ट हो गया" "जो धीर है वह समस्त रूपो को रचकर, उनके नाम रखकर उनमे आसीन हुआ बोलता रहता

---

१ अन्य एवेत्यादि इह श्रुतौ या जगत्प्रविशदित्युक्त स परस्मादन्य परिच्छिन्न ससार्येव इति योजना । परिच्छिन्नस्यैव प्रवेशो लोके दृष्ट । न च श्रुतिविरोध परस्यैव जीवभावमापन्नस्य प्रवेशवादित्वादिति भाव । २ छान्दोग्य । ३ विरचय्य । ४ मत्-य धीर । आसीनोऽभिवदतीति यावत् । ५ गच्छसि । ६ बृ०उ० २-५-१८ । ७ बृ०उ० २-५-१९ । ८ भिन्नत्वेत्यादि । अत्यन्तभिन्नत्व न धर्मधर्मिभाव यथा घटपटयो । अभिन्नत्वेपि नाभिन्नत्वाभिन्नत्व चैकत्र विरुद्धत्वादशक्याभ्युपगमम् । ९ फलबीजदृष्टान्तस्य पाषाणसर्पदृष्टान्तेन पुनरुक्तिमाशङ्क्याऽऽह—बीजेति । १० विषय । ११ परमसिद्धान्त । १२ अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि । १३ स्रष्टृप्रवेष्टोरैक्यं । १४ द्रढयति । १५ नारायणोपनिषदीयम् ।

प्रविष्टानामितरेतरभेदात्[१]परानेकत्वमिति चेत्। न। "एको देवो[२]बहुधा संनिविष्टः" "एकः सन्बहुधा विचार" "त्वमेकोऽसि बहूननुप्रविष्टः" "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" [३]इत्यादिश्रुतिभ्यः। प्रवेश उपपद्यते नोपपद्यत इति [४]तिष्ठतु तावत्प्रविष्टानां संसारित्वात्तद[५]नन्यत्वाच्च परस्य संसारित्वमिति चेत्। न। [६]अशनायाद्यत्ययश्रुतेः[७]।

सुखित्वदुःखित्वादिदर्शनान्नेति चेत्। न। "न लिप्यते [८]लोकदुःखेन [९]बाह्यः" इति श्रुतेः। प्रत्यक्षादिविरोधादयुक्तमिति चेत्। न। उपाध्याश्रयजनितविशेषविषयत्वात्

परस्य प्रवेशे प्रविष्टाना मिथो भेदात्तदभिन्नस्य तस्यापि नानात्वप्रसक्तिरिति शङ्कते—प्रविष्टानामिति। न परस्यानेकत्वमेकत्वश्रुतिविरोधादिति परिहरति—नेत्यादिना। विचार विचचारेति यावत्। परस्य प्रवेशे नानात्वप्रसङ्ग प्रत्याख्याय दोषान्तरं चोदयति—प्रवेश इति। तेषा ससारित्वेऽपि परस्य किमायातं तत्राह—तदनन्यत्वादिति। श्रुत्यवष्टम्भेन दूषयति—नेति।

अनुभवमनुसृत्य शङ्कते—सुखित्वेति। नासंसारित्वमिति शेषः। गूढाभिसन्धिरुत्तरमाह—नेति। आगमो हि परस्याससारित्वे मान त्वयोच्यते स चाध्यक्षविरुद्धो न स्वार्थे मानं न च वंपरीत्यं ज्येष्ठत्वेन[१०] बलवत्त्वादिति शङ्कते—प्रत्यक्षादीति। पूर्ववादिनि स्वाशयमाविष्कृतवति सिद्धान्ती स्वाभिसंधिमाह—नोपाधीति। उपाधिरन्त करण तदाश्रयत्वेन जनितो विशेषश्चिदाभासस्तद्गतदु खादिविषय-

है", "तुम ही कुमार या कुमारी हो तू हो बूढा होकर लकडी के सहारे चलता है।" "परमात्मा ने दो पैर वाले शरीर बनाये", "(एक हो सम्पूर्ण भूता का अन्तरात्मा उनके) रूप के अनुरूप हो रहा है" इत्यादि मन्त्रवर्णो से भी परमात्मा से भिन्न सृष्टि मे किसी दूसरे का प्रवेश सिद्ध नही होता।

यदि शका करो कि प्रविष्ट पदार्थों का परस्पर भेद होने से परमात्मा मे नानात्व प्राप्त होने लगेगा तो ऐसा कहना ठीक नही। "एक ही वह परमात्मा बहुरूप से प्रविष्ट हुआ", "एक ही होकर उस परमात्मा ने बहुरूप से विचरण किया", "तुम एक ही हो और अनेको मे प्रविष्ट हो', "समस्त प्राणियो मे सर्वव्यापक सम्पूर्ण भूतो का अन्तरात्मा, एव परमात्म देव ही गुप्त भाव से स्थित है।" इत्यादि श्रुतियाँ इसमे प्रमाण हैं। (पूर्वपक्षी पुन दोषान्तर ढढकर कहता है—) अच्छा, इस कार्यभूत सृष्टि मे परमात्मा का प्रवेश होता है या नही, इस बात को छोडो। प्रविष्ट हुए पदार्थों के ससारी होने से एव परमात्मा उससे अभिन्न होने से श्रुति परमात्मा को अशनाया, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु आदि सासारिक धर्मों से परे बताती है।

यदि कहो परमात्मा का सुखी और दु खी होना देखा जाता है इसलिए परमात्मा

१ परानेकत्वमिति। पर स्वगतभेदवान् अनेकाभिन्नत्वात् अनेकवदिति शङ्कितुराशय ॥ २ बहुरूपेण। ३ इत्यादीति। अनेके तत्त्वत स्वगतभेदहीना एकाभिन्नत्वादेकवदिति प्रत्यनुमान तथा लोकेऽपि नाऽभेदा नानात्वकारी दृष्ट। तस्याऽभेदकत्वादेव तद्विरोधित्वादित्यभिन्नत्वस्य भेदसाधकत्वे लोकविरोधश्चादिशब्दार्थ। तदुक्त वार्तिके— "बहूनामेकयोगित्वादेकत्व किं न चोद्यत इति ॥५५२॥ एकस्य बहुभिरभेदादनेकत्व चेद्बहूनामेकेनाभेदादेकत्व किं न स्यादिति तदथ। पर स्वगततात्त्विकभेदहीनो मेयत्वादाकाशवदिति वास्तविकभेदाभावबोध्यमान च द्रष्टव्यम्। तथा च परभेदसाधन लोकागमानुमानविरुद्धमिति भाव। ४ तिष्ठत्विति-येन केनापि प्रकारेण प्रवेशोऽस्तु श्रुतिवशादित्यर्थ। श्रुत्यवष्टम्भेन सक्षिप्त प्रवेश प्रपञ्चयितव्य पश्चादिति तावच्छब्दार्थ। ५ तदनन्यत्वादिति। पर समारी तदभिन्नत्वात्तद्वदिति भाव। ६ बृ०उ० ३-५-१। ७ योऽशनायापिपासे शोक मोह जरा मृत्युमत्येतीत्यादिश्रुते। ८ जीवदु खेन। ९ अविद्याद्यस्पृष्ट। १० अध्यक्षस्य।

*प्रत्यक्षादेः । "'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्विज्ञातारमरे' केन विजानीयादविज्ञातं विज्ञातृ" 'इत्यादिश्रुतिभ्यो नाऽऽत्मविषयं 'विज्ञानं किं तर्हि बुद्ध्याद्युपाध्यात्मप्रतिच्छायाविषयमेव सुखि-

त्वा'द्प्रत्यक्षादेराभासत्वा'त्तेनाऽऽत्मन्यसंसारित्वागमस्य 'न विरोधोऽस्तीत्यर्थः । किंच प्रत्यक्षादीनामनात्मविषयत्वादात्मविषयत्वाच्चाऽऽगमस्य भिन्नविषयतया नानयोर्मिथो विरोधोऽस्तीत्यभिप्रेत्याऽऽत्मनोऽध्यक्षाद्यविषयत्वे श्रुतीरुदाहरति—न दृष्टेरिति । सुख्यहमित्यादि'प्रतिभासस्य "तर्हि का गतिरित्याशङ्क्य पूर्वोक्तमेव स्मारयति—किं तर्हीति । बुद्ध्यादिरुपाधिस्तत्राऽऽत्मप्रतिच्छाया तत्प्रतिबिम्बस्त-

का सासारिक धर्मो से परे होना नही बनता, तो ऐसा कहना ठीक नही । "(सम्पूर्ण भूतो का अन्तरात्मा) अविद्या से असपृष्ट वह परमात्मा जीव के दु ख से लिप्त नही होता" यह श्रुति इसमे प्रमाण है । यदि कहो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणो से इसका विरोध होने से परमेश्वर का अशनायाद्यतीत मानना उचित नही तो ऐसा कहना भी ठीक नही है क्योकि प्रत्यक्षादि का उपाधि के आश्रय से होने वाले विशेष को विषयत्व करना होता है। "तुम (अन्त करण की वृत्तिरूप) दृष्टि के द्रष्टा को (घटादि के समान) नही देख सकते हो", "(अरी मैत्रेयी !) विज्ञाता को किससे जाने", "(हे गार्गी !) यह अक्षर बुद्धि का अविषय होने से स्वय अविज्ञात होना हुआ भी विज्ञानस्वरूप होने से दूसरो का विज्ञाता है" इत्यादि श्रुतियो से 'मैं सुखी हूँ" आदि विज्ञान आत्मा को विषय नही करता । तो फिर किसको

१ बृ०उ० ३-४-२ । २ बृ०उ० ४ ५-१५ । ३ बृ०उ० ३-८-११ । ४ इत्यादीत्यादिना "पराञ्चि खानि" । "अन्यदेवतद्विदितादि" ग्रहणम् । ५ विज्ञानमिति—सुख्यहमित्यादिविज्ञानमित्यर्थ । स्पष्टमात्मनो दृष्टिविषयत्वप्रतिषेधादिति शेष । ६ प्रत्यक्षादेराभासत्वादिति—मिथ्याज्ञानजनकत्वेन मिथ्यात्वादित्यर्थ । ७ तेनेति--प्रत्यक्षादिना सहेत्यर्थ । ८ न विरोधोऽस्तीति । प्रत्यक्षागमयोर्भिन्नविषयत्वादित्यर्थ । ९ प्रत्यक्षस्य । १० तर्हि का गतिरिति--आत्मविषयत्वाभाव को विषय इत्यर्थ ।

*प्रत्यक्षादेरिति । तथा च साभासा बुद्धिरेव सुखदु खादिमती नात्मा आत्मनि तु तद्द्वारा दु खित्वादिकल्पितमिति भाव । तथा च वार्तिकम्— 'शरीरेन्द्रियसघात आत्मत्वेन गता धियम् । नित्यात्मज्योतिषा दीप्ता विशिषन्ति सुखादय ॥५६३॥ दु खी यदि भवेदात्मा क साक्षी दु खिनो भवेत् । दु खिन साक्षिताऽयुक्ता साक्षिणो दु खिता तथा ॥ नर्ते स्याद्विक्रिया दु खी साक्षिता का विकारिण । धीविक्रियासहस्राणा साक्ष्यतोऽहमविक्रिय ॥ सुखदु खादिसबद्धा यथा दण्डेन दण्डिमम् । राधको वीक्षते बुद्धि साक्षी तद्वदसहत ॥५६०-६२॥" इति, सुखादिमती बुद्धिरेव नाऽऽत्मेत्युपपादयति—शरीरेति । देहादावात्मत्वेन स्थिता साभासा बुद्धि सुखादयो व्यावर्तयन्ति तद्बोद्धसुखादिविषयमध्यक्षमिति न चित ससारितत्यथ । सुखादीना चेतनधर्मत्वप्रसिद्धेर्बुद्धिस्थत्वमयुक्तमिति चेन्नेत्याह —नित्येति । आत्मचैतन्यव्याप्तबुद्धिधर्मत्वादात्मधर्मत्वप्रसिद्धिरित्यर्थ ॥ चिमित्याभासद्वारा चैत ये दु खित्वादि कल्प्यते साक्षादेव तत्र तत्किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—दु खीति । दु ख्येव कश्चिदद्दु खिन साक्षी स्यादित्यत आह —दु खिन इति । तथेति-अयुक्तेति यावत् ॥ दु खित्वसाक्षित्वयोरेकत्रायोगे हेतुमाह—नेति । परिणामित्व विना न दु खितेत्यर्थ । परिणामित्वेऽपि साक्षित्वमाशङ्क्याऽऽह—साक्षितेति । तस्य जाड्यादसाक्षितेत्यर्थ । विकारिणोऽसाक्षित्वे फलितमाह—धीविक्रियेति । प्रत्यगात्मा निर्विकारो बुद्धितद्वृत्तिसाक्षीत्युक्तम् ॥ तदानी तस्य साक्ष्येण योगश्चेदसङ्गत्वक्षतिरयोगश्चेदसाक्षितत्याशङ्क्याऽऽह—सुखेति । राधक साधको द्रष्टेति यावत् । यथा द्रष्टा दण्डेन युक्त मैत्रमीक्षमाणो न स्वम दण्डी भवति तथा सुखादिमतीं बुद्धिमसहत. । सम्पश्यन्साक्षी न सुखादिना युज्यतेऽतो वस्तुतोऽसङ्गस्य कल्पितसबन्धात्साक्षितेत्यर्थ ॥

तोऽहं दुःखितोऽहमित्येवमादि प्रत्यक्षविज्ञानम् । 'अयमहमिति विषयेण विषयिणः सामानाधिकरण्योपचारात्' "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" 'इत्यन्यात्मप्रतिषेधाच्च । देहावयवविशेष्यत्वाच्च सुखदुःखयो विषयधर्मत्वम् ।

"आत्मनस्तु कामाय" इत्यात्मार्थत्वश्रुतेरयुक्तमिति चेन्न । 'यत्र वा अन्यदिव स्यादि'त्यविद्याविषयात्मार्थत्वाभ्युपगमात् । 'तत्केन कं पश्येत्" "नेह नानाऽस्ति किंचन"

द्विषयमेव सुखयहमित्यादि विज्ञानमिति योजना । आत्मनो दुःखित्वाभावे हेत्वन्तरमाह—अयमिति । अयं देहोऽहमिति दृश्येन द्रष्टुस्तादात्म्याध्यासदर्शनाद्दृश्यविशिष्टस्यैव प्रत्यक्षविषयत्वान्न केवलस्याऽऽत्मनो दुःखादिसंसारोऽस्तीत्यर्थः । किंचास्थूलादिविशेषणमक्षरं प्रक्रम्य तस्यैव प्रत्यगात्मत्वं दर्शयन्ती श्रुतिरात्मनः संसारित्वं वारयतीत्याह—नान्यदिति । किंच पादयोर्दुःखं शिरसि दुःखमिति देहावयवावच्छिन्नत्वेन तत्प्रतीतेस्तद्धर्मत्वनिश्चयान्नाऽऽत्मनि संसारित्वं प्रामाणिकमित्याह—देहेति ।

श्रुतिवशादात्मनः संसारित्वं शङ्कते—आत्मनस्त्विति । सुखं तावदात्माश्रयमात्मनस्तु कामायेति" सुखसाधनस्याऽऽत्मार्थत्वश्रुते"स्तस्तदविनाभूतं" दुःखमपि तत्रेत्यात्मन्यसंसारित्वमयुक्तमित्यर्थः । आविद्यकसंसारित्वानुवादेनाऽऽत्मनोऽनतिशयानन्दत्वप्रतिपादकमात्मनस्तु कामायेत्यादिवाक्यमिति मत्वाऽऽह—नेति । तदाविद्यकसंसारानुवादीत्यत्र गमकमाह—यत्रेति । अनेन हि वाक्येनाविद्यावस्थायामेवाऽऽत्मार्थत्वं सुखादेरभ्युपगम्यते । अतो न तस्याऽऽत्मधर्मत्वमित्यर्थं । आत्मनि "संसारित्वस्या-

---

विषय करता है? "मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं" इत्यादि प्रत्यक्षविज्ञान बुद्धि आदि उपाधि में होने वाले आत्मा के प्रतिविम्ब को विषय करता है। क्योंकि "यह मैं हूं" इस वाक्य में विषय के साथ विषयी का सामानाधिकरण्य-दर्शन होने से "इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है" इस श्रुति से असंसारी अक्षर आत्मा से अन्य का प्रतिषेध किया है। ('पैर में पीडा है, सिर में दर्द है' इत्यादि प्रतीति में) देहावयव विशेष्यत्व होने से सुख-दुःख दृश्यधर्मत्व होने से आत्मा में संसारित्व कल्पना प्रामाणिक नहीं है।

यदि कहो कि "आत्मा के लिए ही सभी प्रिय होते हैं" ऐसी आत्मार्थत्व प्रतिपादन करने वाली श्रुति होने से आत्मा में संसारित्व की शंका होती है तो ऐसा मानना उचित नहीं। क्योंकि "जहाँ कोई अन्य सा होता है" इस श्रुति के अनुसार आविद्यक आत्मार्थता मानी जाती है, "(इसके विपरीत जहाँ

---

१ अयमिति इद भाष्य प्रकारान्तरेण व्याकृत वार्तिके । तथाहि— 'तथा दुःख्यहमित्यादौ प्रत्यक्षमुपचारत ॥ सामानाधिकरण्यस्य तथैवेहोपचारत । अय दुःख्यहमस्मीति विषयेण तदीक्षणादिति" ॥५६६-५६७॥ भिन्नविषयत्वादविरोधे हेत्वन्तरमाह-तथेति । हेत्वन्तरमेव स्पष्टयति—दुःखीति । यथा ब्राह्मणोऽहमित्याद्यध्यक्ष कल्पिततादात्म्यविषय तथा दुःख्यहमित्यादौ यत्प्रत्यक्ष तदपि मिथ्याज्ञानमेव उपचारशब्देन विषयस्य मिथ्यात्वोक्तेरित्यर्थ ॥ प्रकृताध्यक्षस्य मिथ्यात्व हेतु साधयति—सामानाधिकरण्यस्येति । ब्राह्मणोऽहमित्यैक्यस्य मिथ्यात्वात्तद्विषयकाध्यक्षस्य मिथ्याज्ञानत्ववद्दुःखिन्यात्मनि च यत्सामानाधिकरण्यमैक्यमध्यक्षविषयस्तस्योपचारतो मिथ्यात्वाद्विषयिणाऽपि तस्य मिथ्याज्ञानतेत्यर्थं । २ दर्शनात् । ३ बृ०उ० ३-८-११ । ४. असंसार्यक्षरादन्येत्यर्थं । ५ दृश्यधर्मत्वम् । ६ बृ० उ० २-४-५ । ७ बृ० उ० ४-३-३१ । ८ इति श्रुतेरित्यर्थ । ९ बृ० उ० २-४-१४ । १० बृ०उ० ४-४-१९ । ११ वाक्ये । १२. सुखस्यात्माश्रयत्वात् । १३ तदविनाभूतमिति —सुखाव्यभिचरितम् । पूर्वापरभावेन सुखसमानाधिकरणमिति यावत् । १४ आत्मनस्तु कामायेतिवाक्येनेति शेष ।

"तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इत्यादिना विद्याविषये तत्प्रतिषेधाच्च नाऽऽत्मधर्मत्वम्।

'तार्किकसमयविरोधादयुक्तमिति चेन्न। युक्त्याऽप्यात्मनो दुःखित्वानुपपत्तेः। न हि दुःखेन प्रत्यक्षविषयेणाऽऽत्मनो विशेष्यत्वं प्रत्यक्षाविषयत्वात्। आकाशस्य शब्दगुण-

प्रतिपाद्यत्वेऽपि गमकमाह—तत्केनेति। आत्मनोऽसंसारित्वे 'विद्वदनुभवमनुकूलयितुं चशब्दः।

तर्कशास्त्रप्रामाण्यादात्मनः संसारित्वमिति शङ्कते—तार्किकेति। बुद्ध्यादिचतुर्दशगुणवानात्मेति तार्किकसमयस्तेन विरोधात्तस्यासंसारित्वमयुक्तं तर्काविरुद्धो हि सिद्धान्तो भवतीत्यर्थः। सर्वतर्काविरोधी वा कतिपयतर्काविरोधी वा सिद्धान्तः। नाऽऽद्य। तार्किकादिसिद्धान्तस्यापि 'मिथो वैदिकतर्कैश्च विरोधादसिद्धिप्रसङ्गात्। द्वितीये तु श्रौततर्काविरोधादात्मासंसारित्वसिद्धान्तोऽपि सिध्येदित्यभिसंधायाऽऽह—न युक्त्याऽपीति। किंच दुःखादिरात्मधर्मो न भवति वेद्यत्वाद्रूपादिवदित्याह—न हीति। प्रत्यक्षाविषयत्वोक्त्या प्रतीचस्तद्विषयदुःखादिविशेष्यत्वमयुक्तं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयोः शब्दाकाशयोरिव दुःखात्मनोरपि गुणगुणित्वसंभवादिति शङ्कते—आकाशस्येति। यत्र धर्मधर्मिभावस्तत्रैकज्ञान-

पर इस विद्वान् की दृष्टि में सब आत्मा ही हो गया) वहाँ पर किससे किसको देखे?", "उस ब्रह्म में नाना कुछ भी नहीं है", "उस आत्मा में एकत्व देखने वाले को, क्या शोक और क्या मोह हो सकता है? अर्थात् नहीं (ये तो आत्मा का यथार्थ स्वरूप न जानने वालों को होते हैं)" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से विद्यावस्था में उनका निषेध होने के कारण आत्मधर्मत्व होना असम्भव है।

(पूर्वपक्षी पुनः शंका करता है–) किन्तु तार्किकों के सिद्धान्त से विरोध होने के कारण (आत्मा का असंसारित्व) यह मानना ठीक नहीं है। (इसके समाधान में कहा जाता है–) ऐसा भी कहना ठीक नहीं। क्योंकि युक्ति से भी आत्मा में दुःखित्व होना असिद्ध है (पूर्व से पश्चिम, शीत से उष्ण का परस्पर विरोध होने से, इनमें जिस प्रकार विशेष्यविशेषणभाव मानना अयुक्त है, उसी प्रकार) प्रत्यक्ष के विषय दुःख से आत्मा विशेष्य नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष का अविषय है। यदि आकाश के गुणवत्त्व के समान आत्मा में भी दुःखित्व माना, तो ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि दुःख

१ तार्किकेत्यादि--इच्छादयः क्वचिदाश्रिता गुणत्वाद्रूपवत्, इच्छादयः पृथिव्याद्यनाश्रिता चेतनत्वसामानाधिकरण्येन प्रतीयमानत्वात् यन्नैवं तन्नैव यथा रूपादि। तेषामेव च बहुलानर्थात्मतया संसारित्वादात्मनोऽसंसारित्वं तन्मतविरोधः स्यात् न च प्रामाणिकसमयविरोधे तत्त्वव्यवस्थेत्यर्थः। २ सिद्धान्तः। ३ न हीत्यादेः–प्राक्प्रतीचो शीतोष्णादिवन्मिथो विरोधाद्विशेष्यविशेषणभावायोगादिति भावः। ४ विद्वदनुभवमिति–तदुक्तं वार्तिके—"मम तावदिदं बुद्धौ भवद्भ्यो यन्न रोचते। प्रत्यक्प्रवणया दृष्ट्या संसारो नाऽऽत्मनीक्ष्यते" ॥५७२॥ यदनर्थात्मकं दुःखादि भवता स्वार्थं नेष्टं तदिदं विदुषा तावत्साभासायां बुद्धावनुभूयते तत्र तदात्मन्यपनुभवविरोधादित्यर्थः। ५ मिथ इति। ननु तर्कशास्त्राणामात्मनः संसारित्वे आत्मस्थत्वेनापि तदनुभवोऽस्तीति चेन्नेत्याह—प्रत्यगिति। तत्संसारित्वसिद्धिस्तथाच तदसंसारित्वं युक्तिभयान्मुमुक्षुभिर्विवादाभावात्तस्मिन्नंशे मानत्वात्तदुक्ताऽव्याधितयुक्त्या तत्संसारित्वसिद्धिस्तथाच तदसंसारित्वं युक्तिभयान्मुमुक्षुभिरभ्युपगन्तुमशक्यमित्याशङ्क्य समाहितं वार्तिके—"न च तार्किकयुक्त्यापि प्रतीचोऽहाऽसुखात्मता। यतोऽवगम्यते तस्माद्बिभीति मुखमास्यतामिति" ॥५७५॥ इच्छादीनां मनोधर्मतया पारिशेष्यासिद्धेस्तदीययुक्त्यापि प्रतीचः संसारित्वानवगमात्तदसंसारित्वं मुमुक्षुभिर्निर्भयैरभ्युपगन्तुं शक्यमित्यर्थः॥

वत्त्ववदात्मनो दुःखित्वमिति चेन्न । एकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः[1] ।

न हि सुखग्राहकेण प्रत्यक्षप्रत्ययेन नित्यानुमेयस्याऽऽत्मनो विषयीकरणमुपपद्यते । तस्य च विषयीकरण आत्मन एकत्वाद्विषय्यभावप्रसङ्गः । एकस्यैव विषयविषयित्वं दीपवदिति चेन्न । युगपदसंभवादात्मन्यंशानुपपत्तेश्च[2] ।

गम्यत्वं दृष्टं यथा शुक्लो घट इति तद्व्यापक व्यावर्तमानं दुःखात्मनोर्धर्मधर्मित्वं व्यावर्तयति शब्दाकाशयोरपि गुणगुणिभावो नास्माकं संमतः शब्दतन्मात्रमाकाशमिति स्थितेरित्याशयेनाऽऽह—नैकेति ।

कथं तदनुपपत्तिस्तत्राऽऽह—न हीति । नित्यानुमेयस्येति जरत्तार्किकमतानुसारेण सांख्यसमयानुसारेण चोक्तम् । आधुनिकं तार्किकं प्रत्याह—तस्य चेति । सुखादिवदात्मनोऽपि प्रत्यक्षेण विषयीकरणे सत्येकस्मिन्देहे तदैक्यसंमतेरात्मान्तरस्य तत्राऽयोगादेकत्र भोक्तृद्वयानिष्टेः '[3]पुरुषान्तरस्यान्यं प्रत्यप्रत्यक्षत्वाद्द्रष्टृभावादात्मदृश्यत्वासिद्धिरित्यर्थः । दीपस्य स्वव्यवहारहेतुत्वेन विषयविषयित्ववदेकस्यैवाऽऽत्मनो द्रष्टृदृश्यत्वसिद्धेर्द्रष्टृभावो नास्तीति शङ्कते—एकस्यैवेति । आत्मनो विषयविषयित्वं कात्स्न्र्येनांशाभ्यां वा । आद्येऽपि युगपत्क्रमेण वा । नाऽऽद्य इत्याह—न युगपदिति । [4]क्रियायां गुणत्वं कर्तृत्वं तत्र प्राधान्यं कर्मत्वमतो युगपदेकक्रियां प्रत्येकस्य साकल्येन गुणप्रधानत्वायोगान्नैवमित्यर्थः । न [5]द्वितीयः । एकभावेऽन्याभावादिति [6]मत्वा [7]कल्पान्तरं प्रत्याह—आत्मनीति । [8]एतेन प्रदीपदृष्टान्तोऽपि प्रतिनीतस्तस्यांशाभ्या [9]तद्भावे प्रकृताननुकूलत्वात् ।

और आत्मा का एक ज्ञान का विषय होना सम्भव नही है।

सुखग्राहक प्रत्यक्षविषयक ज्ञान के द्वारा (प्राचीन नैयायिक एव साख्यमतानुसार) नित्यानुमेय आत्मा को विषय करना असम्भव है। यदि आत्मा मे विषयीकरण मानते है, तो आत्मा के एक होने के कारण उसमे विषयी के अभाव का प्रसङ्ग आ जायगा। यदि कहो कि दीप के समान एक का ही विषय और विषयी होना सम्भव है, तो यह बात भी यहाँ नही घटती। क्योकि एक साथ ही होना असम्भव है और आत्मा मे अश होना असम्भव है, इस कारण प्रदीप दृष्टान्त अननुकूल है।

---

१ दुःखात्मनोरिति शेष । २ आत्मनो द्रव्यरूपेण विषयत्व बोधरूपेण च विषयित्वमिति (उभयरूपात्मवादिभाट्टमत) चकारनिरास्यम् । ३ शरीरान्तर्वर्त्यात्मन । ४. मीमामकसमयोऽय—क्रियाया कर्तुर्गौणतयाऽन्वय कर्मणश्च प्राधान्येन तथाच घट पश्यतीत्यादे एककर्तृकवर्तमानदर्शनकर्म घट इति तन्मतेऽर्थ । ५ आद्ये द्वितीय । ६ मनसैव प्रत्याख्यायेत्यर्थ । ७ कल्पान्तरमिति—अशाभ्यामेकस्याप्यात्मनो विषयविषयित्वपक्षमित्यर्थ । ८ एतनेति—एकस्य विषयविषयित्वनिरसनेन । प्रतीचो निरशत्वकथनेनेति वार्थ । प्रतिनीत इति—विघटितो विषम इति वार्थ । तथा च वार्तिके— "न व्यनक्ति प्रदीपोऽपि स्वतो भास्वररूपत । विषयत्वाच्च पुबुद्धेर्न दीपस्योभयात्मता ॥ प्रतीचश्च निरशत्वान्न दीपेन सधर्मतेति" ॥५८३-८४॥ यथा दृष्टान्त प्रतिपत्तेर्विकल्पाद्यनवकाशमित्याशङ्क्य दृष्टान्त विघटयति—नेति । न हि दीपो दीप प्रकाशयति प्रकाशैकरसत्वादतो न तस्यैकरसस्यैव विषयविषयितेत्यर्थ । अस्तु तर्हि तस्य स्वप्रकाशता त्वदिष्टाऽऽत्मवन्नेत्याह—विषयत्वादिति । पुबुद्धि स्वरूपस्फुरण तद्व्याप्यत्वाद्दीपस्य न स्वप्रकाशतेत्यर्थ । दृष्टान्ताभाव निगमयति—नेति ॥ किंच प्रदीपस्य जडत्वान्न तेनाऽजडप्रकाशस्याऽऽत्मन समतेत्याह—प्रतीचश्चेति । ९ त्वदीत्या विषयविषयित्वेऽभ्युपगम्यमाने सति ।

एतेन विज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकत्वं प्रत्युक्तम् । प्रत्यक्षानुमानविषययोश्च दुःखात्मनोर्गुणगुणित्वे नानुमानम्[१] । दुःखस्य नित्यमेव प्रत्यक्षविषयत्वाद्रूपादिसामानाधिकरण्याच्च[२] ।

मनःसंयोगजत्वेऽप्यात्मनि दुःखस्य सावयवत्वविक्रियावत्त्वानित्यत्वप्रसङ्गात् । न ह्यविकृत्य संयोगि द्रव्यं गुणः[३] कश्चिदुपयन्[४] अपयन्वा[५] दृष्टः क्वचित् । न च निरवयवं विक्रियमाणं दृष्टं क्वचिदनित्यगुणाश्रयं वा नित्यम् ।

ननु विज्ञानवादिनो युगपदेकस्य विज्ञानस्य साकल्येन ग्राह्यग्राहकत्वमुपयन्ति तथा त्वदात्मनोऽपि स्यात्तत्राऽऽह—एतेनेति । एकस्योभयत्वनिरासेनेत्यर्थः । मा भूत्प्रत्यक्षमागमिकं [६]पारिभाषिकं वाऽऽत्मनः संसारित्वम् । आनुमानिकं तु भविष्यति दुःखादि क्वचिदाश्रितं गुणत्वाद्रूपादिवदित्याश्रये सिद्धे परिशेषादात्मनस्तदाश्रयत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यक्षेति । न हि मिथोविरुद्धयोर्गुणगुणित्वमनुमेयं दुःखादेश्च साभासबुद्धिस्थत्वात्पारिशेष्यासिद्धिरित्यर्थः । साभासान्तःकरणनिष्ठं दुःखादीत्यत्र प्रमाणाभावात्कथं सिद्धसाधनत्वमित्याशङ्क्य [७]दुःख्यहमित्यादिप्रत्यक्षस्य तत्र प्रमाणत्वादुक्तानुमानस्य सिद्धसाध्यतया परिशेषासिद्धिरित्याह—दुःखस्येति । [८]यत्र रूपादिमति देहे दाहच्छेदादि दृष्टं तत्रैव तत्कृतदुःखाद्युपलम्भान्नाऽऽत्मनस्तद्वत्त्वमिति हेत्वन्तरमाह—रूपादीति ।

यस्त्वात्ममनःसंयोगादात्मनि बुद्ध्यादयो नव वैशेषिका गुणा भवन्तीति तद्दूषयति—मनःसंयोगजत्वेऽपीति । दुःखस्याऽऽत्मनि मनःसंयोगजत्वेऽभ्युपगतेऽपि मनोवदात्मनः [९]संयोगित्वात्सावयवत्वादिप्रसङ्गादात्मत्वमेव न स्यादित्यर्थः । [१०]तत्र संयोगित्वेन सक्रियत्वं साधयति—न हीति । संप्रति सक्रियत्वेन सावयवत्वं प्रतिपादयति—न चेति । यद्वा दुःखाद्यात्मनो विक्रियेति [११]कैश्चिदिष्टत्वात्तस्य सक्रियत्वमविरुद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । आत्मा न परिणामी निरवयवत्वान्नभोवदिति भावः । किंचाऽऽत्मा न गुणी नित्यत्वात्[१२]सामान्यवदित्याह—अनित्येति । नित्यं [१३]पश्याम इति शेषः । [१४]वाशब्दो नञनुकर्षणार्थः ।

इससे विज्ञानवादियों के युगपद् एक विज्ञान के ग्राह्य-ग्राहक उभयरूप होने का खण्डन हो जाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय दुःख और अनुमान प्रमाण के विषय आत्मा के गुण और गुणित्व में अनुमान प्रमाण भी नहीं हो सकता (विभिन्न ज्ञान विषयों का वैसा होना असंभव है)। क्योंकि दुःख तो नित्य ही प्रत्यक्ष का विषय है और रूपादिसामानाधिकरण्य है (इसलिए रूप के समान वेद्यत्व होने से दुःख आत्मधर्मी नहीं है)।

दुःख को आत्मा में मनःसंयोगजन्य मानने पर आत्मा में सावयवत्व, विकारित्व और अनित्यत्व का प्रसङ्ग होने लगेगा। क्योंकि संयोगी द्रव्य को विकृत किए बिना कोई गुण नहीं उत्पन्न या

---

१ विभिन्नज्ञानविषययोस्तथात्वाऽसंभवादिति भावः । २ दुःखं नात्मधर्मो वेद्यत्वाद्रूपवदिति भावार्थः । ३ न हीति—यत्संयोगि तत्सावयवं सक्रियादि च घटादिदृष्टं आत्मनोऽपि संयोगित्वे तत् स्यातामिति भावः । ४ उद्यन् । ५ विनश्यन् । ६ विज्ञानवादिपरिभाषासिद्धम् । ७ साभासबुद्धेरेवाऽहमर्थत्वादित्यर्थः । ८ प्रयोज्यप्रयोजकयोः सामानाधिकरण्यनियमात् । ९ संयोगित्वादिति—संयोगित्वाद्घटादिवत्सावयवत्वं ततो विक्रियावत्त्वादनित्यत्वानात्मत्वादिप्रसक्तिरित्यर्थः । १० सावयवत्वादिमध्ये । ११. भाट्टैः । १२ सिद्धान्ते सत्तैव सामान्यं सा च ब्रह्मैव । १३ आश्रयशब्दं नियतलिङ्गमनुरुध्याह—पश्याम इति शेष इति । १४ तथा च वाशब्दस्य दृष्टमित्यन्वयार्थत्वानुपपत्तिमभिप्रेत्याह—वाशब्द इति ।

न चाऽऽकाश आगमवादिभिर्नित्यतयाऽवगम्यते । न 'चान्यो दृष्टान्तोऽस्ति । विक्रियमाणमपि तत्प्रत्ययानिवृत्तेर्नित्यमेवेति[1] चेन्न । द्रव्यस्यावयवान्यथात्वव्यतिरेकेण 'विक्रियानुपपत्तेः ।

सावयवत्वेऽपि नित्यत्वमिति चेन्न । सावयवस्यावयवसंयोगपूर्वकत्वे सति[1] विभागो-[11]

आकाशे व्यभिचारमाशङ्क्याऽऽह—न चेति । आकाशस्य नित्यत्वं चेत् 'आत्मन आकाशः संभूतः' इत्यादिश्रुतिविरोधः स्यादिति सूचयितुमागमवादिभिरित्युक्तम् । परमाण्वादौ व्यभिचारमाशङ्क्याऽऽह—न चान्य इति । न तावदणवः सन्ति व्यणुकेतरसत्त्वे मानाभावाद्दिशश्चा'ऽऽकाशेऽन्तर्भवन्ति कालस्तु सर्वे निमेषा जज्ञिर इत्यादिश्रुतेरुत्पत्तिमान्मनोऽप्यन्नमयं श्रुतिप्रसिद्धमतो न क्वचिद्व्यभिचार इति भावः । यस्मिन्विक्रियमाणे तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते 'तदपि 'नित्यमिति न्यायेन परिणामवादी शङ्कते—विक्रियमाणमिति । तत्प्रत्ययस्तदेवेदमिति[1] प्रत्ययः । विक्रियां वदता द्रव्यस्यावयवान्यथात्वं वाच्यं तदेव तस्यानित्यत्व'मत्यन्ताभावस्याप्रामाणिकत्वेन दुर्वचत्वादिति परिहरति—न द्रव्यस्येति ।

आत्मनः सक्रियत्वं सावयवत्वं 'चाऽस्तु तथाऽपि नानित्यत्वमिति 'स्याद्वादी शङ्कते—सावयवत्वेऽपीति । यत्सावयवं तदवयवसंयोगकृतं यथा पटादि तथा सति संयोगस्य 'विभागावसानत्वादवयवविभागे द्रव्यनाशोऽवश्यंभावीति दूषयति—न सावयवस्येति । यत्सावयव तदवयवसयोगपूर्वकमिति न

विनष्ट होते हुए नही देखा जाता। निरवयव वस्तु को विकृत होते और न ही वही नित्य वस्तु को अनित्य गुणो का आश्रय होते देखा जाता है।

आगमवादियो ने आकाश को तो अनित्य माना है। सामान्य के अतिरिक्त कोई दूसरा दृष्टान्त भी नही है। (जिसके विकृत होने पर यह वही है ऐसी बुद्धि विनष्ट नही होती, वह भी नित्य है; इस न्याय से अब परिणामवादी शङ्का करता है) विकृत होने पर भी तद्बुद्धि निवृत्त न होने से वह नित्य ही है, ऐसा मानें तो क्या हानि है? (शङ्का परिहार करते हैं) ऐसा कहना ठीक नही है। क्योकि द्रव्य पदार्थ के अवयवो मे अन्यथारूपत्व (अनित्यत्व) लाये बिना विकार होना असम्भव नही है।

(अब स्याद्वादी शङ्का प्रस्तुत करते हैं) यदि कहो कि वह सावयव भी है और नित्य भी है तो ऐसा भी मानना उचित नही है। क्योकि अवयवसयोगपूर्वक उत्पन्न सावयव द्रव्य के अवयवो का सयोगनाश होना सभव है। यदि कहो वज्रादि मे ऐसा नही देखा जाता तो ऐसा मानना भी ठीक नही, क्योकि

---

१ सामान्यातिरिक्त । २ विक्रियाऽनुपपत्तेरिति । अवयवान्यथात्वरूपमनित्यत्व तु प्रतीचो निरवयवत्वादसभवीति भाव । ३ अनन्ताकाशप्रदेशत्वाद्दिशाम् । ४ सैवेय गङ्गा सैवेय दीपकलिका इत्यादि । ५ परिणामिनित्यम् न तु कूटस्थनित्यम् तत् । ६ एवकारव्यावर्त्यमाह—अत्यन्ताभावस्येति । ननु शून्यवादिभिरवयवाऽन्यथात्वव्यतिरेकेणानित्यत्वशब्दार्थोऽत्यन्ताभाव (अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्) अभ्युपेयत स किमिति त्वया नेष्यत इत्यत आह—अप्रामाणिकत्वेनेति । तथाहि समानसिद्धो न वा आद्ये घटादिवत्सत्त्वापत्त्याऽभावत्वव्याघातो द्वितीये स्वप्रकाशो न वा (साधकमानान्तराभावे तेन स्वयमेव सेध्यम् सिद्धिश्चेदिष्टेति भाव) न चेत् तदसत्त्व सर्वसत्त्वापत्तिरिति सर्वशून्यवादिनामिष्टो योऽभावरूपोऽर्थ सोऽपि सन्नेव स्यात् तस्य स्वप्रकाशत्व तु वक्तुमशक्य सवित्स्वरूपव्यतिरेकेण लौकिक वैदिक वा न किंचिदपि स्वप्रकाश प्रामाणिकैर्दृष्टमतोऽत्यन्ताभावस्य स्वप्रकाशत्वे सविदभेद एव स्यादिति सक्षेप ॥ ७ चार्थको वाकार. । ८ जैन । ९ अवश्यभाविविभागवत्त्वात् ।

पपत्तेः । वज्रादिष्ववदर्शनान्नेति चेन्न । अनुमेयत्वात्संयोगपूर्वत्वस्य [1]तस्मान्नाऽऽत्मनो दुःखाद्यनित्यगुणाश्रयत्वोपपत्तिः ।

परस्यादुःखित्वे[2]ऽन्यस्य [3]च दुःखिनोऽभावे दुःखोपशमनाय शास्त्रारम्भानर्थक्यमिति चेन्न । अविद्याध्यारोपितदुःखित्वभ्रमापोहार्थत्वात्[4] । ❀[5]आत्मनि[6] [7]प्रकृतसंख्या[8]पूरण-

---

व्याप्तिः । सावयवेष्वेव वज्रादिष्ववयवसंयोगपूर्वकत्वे प्रमाणाभावादिति शङ्कते—वज्रादिष्विति । विमतमवयवसंयोगपूर्वकं सावयवत्वा[9]त्पटवदित्यनुमानेन परिहरति—नानुमेयत्वादिति । आत्मनो मनःसंयोगजन्यदुःखादिगुणवत्त्वे सावयवत्वसक्रियत्वानित्यत्वादिप्रसङ्गं प्रतिपाद्य [10]प्रकृतमुपसंहरति—तस्मादिति ।

आत्मनोऽनर्थध्वंसार्थशास्त्रारम्भान्यथानुपपत्त्या संसारितेत्यर्थापत्त्या शङ्कते—परस्येति । [11]अविद्याविद्यमानमात्मस्थमनर्थभ्रमं निराकर्तुं तदारम्भः संभवतीत्यन्यथोपपत्त्या समाधत्ते-नाविद्येति । परस्यैवाविद्याकृतसंसारित्वभ्रान्तिध्वंसार्थं शास्त्रमित्येतद्दृष्टान्तेन स्पष्टयति—आत्मनीति । यत्तु

वहाँ अवयवसंयोग पूर्व में हुआ है—ऐसा अनुमान किया जाता है। इसलिए आत्मा के असंसारित्व होने के कारण उसमे अनित्य गुणो का आश्रय होना असंभव है।

(इस पर शङ्का होती है—) यदि ईश्वर दुःखी नही है, (जीवात्मा की दुःखनिवृत्ति की लिए ही शास्त्र आरम्भ करना चाहिए) और न ही दूसरा कोई दुःखी है, तो दुःख की निवृत्ति के लिए शास्त्र आरम्भ की व्यर्थता सिद्ध होती है। (शङ्का का समाधान किया जाता है—)ऐसा कहना ठीक नही। आत्मा मे दशमत्व संख्या की अपूरणतारूप भ्रमनिवृत्ति के समान शास्त्र का आरम्भ अविद्या

---

१. तस्मादिति—यत सावयवस्यानित्यत्वादिदुर्वारम् अतोऽवयवकल्पनाऽयोगादात्मनो मनःसंयोगोऽनुपपत्तेस्तस्मिन् दुःखाद्युत्पत्तिहेत्वभावादसंसारित्वं तस्मात् आत्मनोऽसंसारित्वादिति यावत् । २ जीवात्मनो दुःखनिवृत्त्यर्थं शास्त्रमारम्यमित्याशङ्क्य नान्यदतोऽस्ति द्रष्टेत्यादिश्रुतिमनुसरन्नाह—अन्यस्यति । ३ बुद्धिगतदुःखनिवृत्त्यर्थशा- स्त्रारम्भोऽयुक्तस्तस्या अचेतन्यादिति चार्थं । ४ शास्त्रारम्भस्येति शेष । ५ दशमे । ६ आत्मनीत्यादि । यथा दशमस्त्वमसीत्याप्तवाक्य दशमेऽदशमत्वभ्रमनिवृत्त्यर्थमेवमसंसारिणि परस्मिन् संसारित्वभ्रमनिवृत्त्यर्थं शास्त्र- मित्यर्थ । ७ दशमत्वसंख्या । ८ अपूरणेतिच्छेद । ९ पटवदिति । ननु सावयवत्वेऽप्यवयवसंयोगपूर्वक- त्वाभावे किं बाधकमिति चेत् सावयवत्वानुपपत्तिरेवेति गृहाण । १० आत्माऽसंसारित्वम् । ११ न क्वचिदपि वास्तवं दुःखमुपेत्य तद्ध्वंसार्थं शास्त्रमिति मत्वाह—अविद्येति । वास्तवस्याऽनिवर्त्यत्वादिति भाव ।

❀आत्मनि प्रकृतसंख्याऽपूरणभ्रमापोहवदित्यादि । अत्र वार्तिकानि पञ्च । तथाहि — 'नवसंख्ययमात्रक्षी दशमो विभ्रमाद्यथा । न वेत्ति दशमोऽस्मीति स्वीक्षमाणोऽपि तान्नव ॥ निःशेषानात्मदृग्दृदनिर्ज्ञातात्मतत्त्वक । न वेत्त्यैकात्म्यमस्मीति वीक्षमाणोऽप्यनात्मन ॥ दशमोऽसीति वाक्योत्थसम्यग्ज्ञानानलार्चिषा । प्लुष्ट्वाऽऽत्म- दशमाज्ञान दशमोऽस्मीति वीक्षते ॥ यथा तत्त्वमसीत्यादिवाक्योत्थज्ञानवह्निना । प्लुष्ट्वेहाऽऽत्मतमस्तज्ज तथै- कात्म्य प्रपद्यते ॥ प्रत्यग्ज्ञानहेतूत्थशास्त्राचार्यादिसाधन । तद्विरुद्धमथैकात्म्य प्रत्यपद्यत मायया" ॥६००-६०४॥ परस्यैवाविद्याकृतसंसारित्वभ्रान्तिध्वंसार्थं शास्त्रमित्येतद्दृष्टान्तेन साधयन्नादौ तस्याविद्यावत्त्वे दृष्टान्तमाह— नवेति । वस्तुतो दशमो माणवको नवसंख्याकानेव माणवकानुपलभमानस्तद्दर्शनापहृतदशमदृष्टिर्नष्टोऽभावेति भ्रान्त्या स्वस्य दशमत्वं न पश्यतीत्यर्थ । दशमत्वधीप्राप्तिमाह—स्वीक्षेति । स्वातिरिक्तान्पश्यन्स्वज्ञान प्राप्तमपि

भ्रमापोहवत्कल्पितदुःख्यात्माभ्युपगमाच्च ।

जलसूर्यादिप्रतिबिम्बवदात्मप्रवेशश्च प्रतिबिम्बवद्व्याकृते कार्ये उपलभ्यत्वम् । *[१]प्रागुत्पत्तेरनुपलब्ध आत्मा पश्चात्कार्ये च सृष्टे व्याकृते बुद्धेरन्तरुपलभ्यमानः सूर्यादि-

---

परस्यादुःखित्वमन्यस्य च दुःखिनोऽसत्त्वं तत्राऽऽह—कल्पितेति । न तावत्परस्मादन्यो दुःखी 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिश्रुतेः । स पुनरनाद्यनिर्वाच्याज्ञानसंबन्धात्तज्जन्यैर्बुद्ध्यादिभिरैक्याध्यासमापन्नः संसरति । [२]तथा च [३]कल्पिताकारद्वारा दुःखिनः परस्याऽऽत्मनोऽङ्गीकारान्नार्थापत्तेरुत्थानमित्यर्थः ।

परस्य प्रवेशे प्राप्ता दोषपरम्परां पराकृत्य तत्प्रवेशस्वरूपं निरूपयति—जलेति । यथा जले सूर्यादेः प्रतिबिम्बलक्षणः प्रवेशो दृश्यते तथाऽऽत्मनोऽपि सृष्टे कार्ये [४]काल्पनिकः प्रवेश इत्यर्थः । अनवच्छिन्नस्याद्वयचिद्धातोर्वस्त्वन्तरेण संनिकर्षासंभवान्न प्रतिबिम्बाख्यप्रवेशः संभवतीत्याशङ्क्य वस्त्वन्तरकल्पनया कल्पितसंनिकर्षाद्यादाय प्रतिबिम्बपक्षं साधयति—आत्मेति । तदेव प्रपञ्चयति—प्रागुत्पत्ते-रित्यादिना ।

से अध्यारोपित दुःखित्वरूप भ्रम की निवृत्ति के लिए है तथा कल्पित (बुद्ध्यादि मे स्वप्रतिबिम्ब चिदाभासाख्य आकार द्वारा) दुःखी आत्मा स्वीकार भी किया गया है ।

जल मे पडे हुए सूर्यादि के प्रतिबिम्ब के समान व्याकृत कार्य मे आत्म-प्रतिबिम्ब के समान उपलब्ध होना आत्मा का उस कार्य मे प्रवेश है । जगत् की उत्पत्ति के पूर्व अनुपलब्ध आत्मा व्याकृत कार्य की सृष्टि के पश्चात् बुद्धि के अन्दर उपलब्ध होने से जलादि मे सूर्यादि के प्रतिबिम्ब के

---

१ जगदुत्पत्तेः पूर्वम् । २ तथाचेति—परस्मादन्यस्य दुःखिनोऽभावे चेत्यर्थः । ३ कल्पिताकारद्वारेति । कल्पितबुद्ध्यादिस्वरूपद्वारा । यद्वा कल्पितेषु बुद्ध्यादिष्वाकारः स्वप्रतिबिम्बश्चिदाभासाख्यस्तद्द्वारा । यद्वा—कल्पितो यः स्वीयाकारश्चिदाभासाख्यस्तद्द्वारेत्यर्थः । ४. काल्पनिक इति—शास्त्रादिवत् प्रवेशस्यापि कल्पितत्वात्तमाश्रित्य काचिदाशङ्केति भावः । तथा च वार्तिके—"शास्त्राचार्यादयो यद्वन्मोहोत्थत्वान्न वस्तुतः । प्रवेशोऽप्यस्य तादृक् स्यादैकात्म्यप्रतिपत्तये ॥ व्याकृताव्याकृतावस्थे जगतोऽस्य स्वभावतः । अनूद्य लोकतो दृष्टे तदैकात्म्य प्रबोध्यते' ॥६०५-६०६॥ ननु प्रकृतश्रुतिषु व्याकृताव्याकृतं जगदुच्यते न त्वैक्यं प्रतिपाद्यते अतस्तत्प्रतिपत्त्यर्थं प्रवेशकल्पनेत्याशङ्क्याह—व्याकृतेति । लोकतः—लोके । ५ सप्रहेणोक्तमुपलभ्यत्वम् ।

न लभतेऽज्ञानसामर्थ्यादित्यर्थः ॥ दार्ष्टान्तिकमाह—निदोषेति । उक्तदृष्टान्तानुसारेणानिर्ज्ञातात्मयाथात्म्यो मुमुक्षुः सर्वानात्मद्रष्टा स्वातिरिक्तानहंकारादीन्साक्षात्पश्यन्नपि ब्रह्मात्मत्वमस्मीत्यनेन प्रकारेण न वेत्तीत्यन्वयः ॥ परस्याविद्यां दृष्टान्तेनोक्त्वा विद्यया तद्ध्वंसे दृष्टान्तमाह—दशम इति । आप्तवाक्योत्थसम्यग्ज्ञानाग्निना स्वकीयदशमत्वाज्ञानं दग्ध्वा दशमोऽस्मीति दशमत्वमात्मनोऽनुभवन्माणवको यथा निर्वृणोतीत्यर्थः ॥ दृष्टान्तस्थमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—तत्त्वमिति । इह जीवदवस्थायामेव ॥ उक्तमर्थं सोपस्कारमुपसंहरति—प्रत्यगीति । आदिपदेन ब्रह्मविद्याहेतवोऽनुक्ता सर्वे गृह्यन्ते । अज्ञानकृतशास्त्राचार्यादिद्वारोत्पन्नया मायया ब्रह्मविद्यया तत्त्वार्थेविरुद्धमैक्यं यदा पुमान्प्रतिपन्नवांस्तदैव तस्य सर्वानर्थध्वस्तिरित्यर्थः ॥

*प्रागुत्पत्तेरनुपलब्ध इत्यादि । अत्र वार्तिकद्वयमस्ति— "निर्धूताशेषमायात्वतद्धेतुरविभागवान् । अनन्यसाक्षिकप्रत्यङ्ङासीन्नामादिजन्मतः ॥ द्रष्ट्रादिरूपतस्तावद्व्यतिरेकोऽभवत्पुरा । नामादिजन्मनि द्रष्टेत्यादिरूपान्वयोऽप्यभूदिति" ॥ ६११-१२ ॥ प्रतिबिम्बस्थानीयाज्जीवाद्ब्रह्मणो बिम्बस्थानीयस्याभेदं साधयति — निर्धूतेति ।

प्रतिबिम्बवज्जलादौ कार्यं सृष्ट्वा प्रविष्ट इव लक्ष्यमाणो [1]निर्दिश्यते "स एव इह प्रविष्टः" "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य" इत्येवमादिभिः ।

न तु सर्वगतस्य निरवयवस्य दिग्देशकालान्तरापक्रमणप्राप्तिलक्षणः प्रवेशः [2]कदाचिदप्युपपद्यते । न च परादात्मनोऽन्यो[3]ऽस्ति "[4]नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" "नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ" इत्यादिश्रुतेरित्यवोचाम । उपलब्ध्यर्थत्वाच्च सृष्टिप्रवेशस्थित्यप्ययवाक्यानाम् । उपलब्धेः पुरुषार्थत्व[5]श्रवणात् । "आत्मानमेवावेत्" "[6]तस्मात्तत्सर्वमभवत्" "[7]ब्रह्मविदाप्नोति

स्वाभिप्रेतं प्रवेशं प्रतिपाद्य परेष्टं पराचष्टे—न त्विति । कुतश्चिद्दिशो देशात्कालाच्चापक्रमणेन दिगन्तरे देशान्तरे कालान्तरे च प्राप्तिलक्षण इति यावत् । यत्तु परस्मादन्यस्य प्रवेष्टृत्वमिति तत्राऽऽह—न चेति । अथेदं प्रवेशादि वस्तुतो विद्यमानमस्तु किमित्याविद्यं कल्प्यते तत्राऽऽह—[8]उपलब्धीति । आत्मज्ञानार्थत्वेन प्रवेशादीना कल्पितत्वात्तद्वाक्यानां न स्वार्थे पर्यवसानमित्यर्थः । फल-

समान कार्य को रचकर उसमे प्रविष्ट हुआ सा लक्षित होता है-) ऐसा निर्देश किया जाता है । "वह व्याकर्ता पुरुष इस वर्तमान देह मे (नख से शिखा पर्यन्त) प्रवेश किए हुए है ।", "उन शरीरो को रचकर वह स्रष्टा उनमे ही प्रविष्टहो गया", "वह सृष्टिकर्ता ईश्वर इस मूर्धा को ही विदीर्ण कर इस मार्ग से ही इस सघात मे प्रविष्ट हो गया ।", "उस इस (सत् नामवाली तेज अप् और योनिरूपा) देवता ने ईक्षण किया । मैं इस जीवात्मरूप से इन तीनो देवताओ मे अनुप्रविष्ट हो नाम और रूपो की अभिव्यक्ति करू ।" इत्यादि श्रुतियाँ इसमे प्रमाण हैं ।

सर्वगत और निरवयव आत्मा का दिशा, देश और काल से अपक्रमण और पुन. प्राप्त होना रूप प्रवेश असम्भव है । (अखिल परिच्छेदशून्य और परिपूर्ण ईश्वर का कार्य मे प्रवेश बिल मे सर्प के समान वास्तविक नही है) । "हे गार्गी ! इस अक्षर से भिन्न कोई द्रष्टा नही, इस अक्षर से भिन्न कोई श्रोता नही" इत्यादि श्रुतिवाक्यो से सिद्ध होता है कि परमात्मा से अन्य कोई नही है जो प्रवेष्टा

१ उपदिश्यते । २ कदाचिदिति—न हि परिपूर्णस्य पराकृताखिलपरिच्छेदस्य बिले सर्पवत् कार्ये प्रवेशो वास्तवोऽस्तीति भाव । ३ अस्तीति य प्रविशेदिति शेष । ४ बृ०उ० ३-८ ११ । ५ श्रवणादिति-सृष्ट्यादिश्रुतीना स्वार्थे विफलत्वेनापर्यवसानात्तत्त्वदृष्टेश्च फलवत्त्वश्रवणात्फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति न्यायेन युक्त तासां तादर्थ्यमिति भाव. । ६ आत्मवदनात् । ७ यत्परः शब्द स शब्दार्थ इति न्यायात् । ८ तात्पर्यम् ।

तस्य नानात्वस्य हतुर्धर्मिग्रहादि । निर्धूत निरस्तमशेष निखिल नानात्व तद्धेतुश्च यत्र स तथा । सहत्ता केवलभेदस्याभावेऽपि अभेदसहितस्य तस्य सत्त्वमाशङ्क्याऽऽह—अविभागवानिति । प्रकाश्यप्रकाशकत्वेन भेदमाशङ्क्याऽऽह—अनन्येति । आत्मनात्मत्वेन भेद शङ्कित्वाऽऽह—प्रत्यङ्ङिति । द्रष्टृदृश्यादिभावेन तमाशङ्क्याऽऽह—नामादीति । जगत्सर्गात्पूर्वं द्रष्ट्रादिरूपतस्तस्य व्यतिरेकोऽसत्त्वमतो निर्विशेष प्रत्यङ्मात्र तावत्प्रागवस्थायामासीदित्यर्थ ॥ द्रष्ट्रादेरर्तह प्रतीचोऽर्थान्तरत्वान्नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्यादिश्रुतिविरोधोऽन्यथाप्रवराणे द्रष्ट्रादिव्यतिरेकासिद्धिरात्मभावे तदभिन्नद्रष्ट्रादेरपि भावादित्याशङ्क्याऽऽह—नामादीति । जगत्सर्गे बुद्धिस्थप्रतिबिम्बद्वारा चक्षुरादिकरणदर्शनादिशब्दितरूपाद्याकारधीवृत्तीरनुभवन्नात्मैव द्रष्टा श्रोतेत्यादिदशामाविशतीत्यर्थ ।

परम्" "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" "आचार्यवान्पुरुषो वेद" "तस्य तावदेव चिरम्" [१]इत्यादिश्रुतिभ्यः । "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" "तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च । भेददर्शनापवादाच्च सृष्ट्यादिवाक्यानामात्मैकत्वदर्शनार्थपरत्वोपपत्तिः । तस्मात्कार्यस्थस्योपलभ्यत्वमेव प्रवेश इत्युपचर्यते ।

आ नखाग्रेभ्यो [२]नखाग्रमर्यादमात्मनश्चैतन्यमुपलभ्यते । तत्र कथमिव प्रविष्ट इत्याह—यथा लोके क्षुरधाने क्षुरो धीयतेऽस्मिन्निति क्षुरधानं तस्मिन्नापितोपस्कराधाने

वत्संनिधावफलं तदङ्गमिति न्यायमाश्रित्योक्तमेव प्रपञ्चयति—उपलब्धेरित्यादिना । तत शब्दो भक्तियोगपरामर्शी । तदित्यात्मज्ञानमुच्यते । तस्याग्र्यत्वं साधयति—प्राप्यते हीति । सृष्ट्यादिवाक्यानामैक्यज्ञानार्थत्वे हेत्वन्तरमाह—भेदेति । [५]कल्पितं प्रवेशं प्रतिपादितमुपसंहरति—तस्मादिति ।

का पुनरस्य प्रवेशस्य मर्यादेत्याशङ्क्याऽऽह—आ नखाग्रेभ्य इति । सम्भवति मर्यादान्तरे निर्मिति प्रवेशस्येयमेव मर्यादेत्याशङ्क्याऽऽह—नखाग्रेति । दृष्टान्तद्वयमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थापयति—तत्रेति । प्रवेशाधारो देहादि मन्तव्यमित्यर्थः । प्रथमोदाहरणप्रतीकोपादानम्—यथेति । तद्व्याचष्टे—लोक इति ।

हुआ हो—ऐसा हम पहले कह आए हैं। एवं सृष्टि, प्रवेश, स्थिति और लय का प्रतिपादन करने वाले श्रुतिवाक्य आत्मज्ञानके लिए हैं, क्योंकि (सृष्टि आदि श्रुतियों का स्वार्थ में पर्यवसान न होने के कारण) आत्मज्ञान ही परम पुरुषार्थ है—ऐसा सुना गया है। "उसने अपने को ही जाना", "(मैं ब्रह्म हूँ) इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया", ब्रह्मज्ञानी परतत्त्व को प्राप्त कर लेता है", "लोक में जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है", "आचार्यवान् पुरुष ही सत्य को जानता है", "उस तत्त्ववेत्ता के लिए विदेहकैवल्य प्राप्त करने में उतनी ही देर है, (जब तक कि वह प्रारब्ध कर्म को भोगकर वर्तमान देह के बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता।) इत्यादि श्रुतियों से यही सिद्ध होता है। और "तब मुझे तत्त्व से जानकर तुरन्त मुझ में ही प्रविष्ट हो जाता है", "वही आत्मज्ञान समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ है, क्योंकि उससे अमृतत्व की प्राप्ति होती है" इत्यादि स्मृतिवचनों से भी यही सिद्ध होता है। इस अतिरिक्त भेदज्ञान की निन्दा होने से भी सृष्टयादि श्रुतियों का आत्मैक्य ज्ञानार्थक होना उचित है। अतः कार्यस्थ आत्मा का ज्ञान होना ही प्रवेश है—ऐसा उपचार होता है।

"आ नखाग्रेभ्य" अर्थात् नखाग्रपर्यन्त ही देह में पुरुष का चैतन्य स्फुरित होता है। वह चैतन्य उसमें किस तरह प्रविष्ट होता है? इस पर श्रुति कहती है—'यथा' अर्थात् लोक व्यवहार में जिस प्रकार 'क्षुरधाने' जिसमें छुरा रखा जाता है, उसका नाम क्षुरधान है—उसमें अर्थात् हजामत बनाने की सामग्री वाले नापित की सन्दूक के एकदेश में रखा छुरा 'अवहित' उपलब्ध होता है या

१ तत्त्वज्ञानस्य फलवत्त्वे श्रुतेस्तात्पर्यलिङ्गमभ्यासं सूचयति—इत्यादिश्रुतिभ्य इति । २ चैतन्यं हि देहे पुरुषस्य नखाग्रपर्यन्तं स्फुरतीति । ३ तदेकदेशे । ४ प्रवेशादीनामात्मज्ञानार्थत्वम् । ५ कल्पितमिति तथा च वार्तिके—"तमसैव यथा सर्पं स्रक्प्रविष्टा न तु स्वतः । प्रत्यगज्ञानहेतूत्थमात्मैव मायया जगत्" ॥६२३॥ इति । स्वाज्ञानादेव स्रजो भुजगप्रवेशो न वस्तुतोऽस्तीति सङ्गतिः स्रक्सर्पासत्त्ववत् प्रतीचोऽपि स्वज्ञानोत्थे जगति तद्वशादेव प्रवेशो न परमार्थत इति प्रत्यगात्मैव वस्तु न तु जगदिति स्थितमित्यर्थः ।

क्षुरोऽन्तःस्थ उपलभ्यतेऽवहितः प्रवेशितः स्याद्यथा वा विश्वंभरोऽग्निर्विश्वस्य भरणाद्विश्वंभरकुलाये नीडेऽग्निः काष्ठादाववहितः स्यादित्यनुवर्तते । तत्र हि स मथ्यमान उपलभ्यते । यथा च क्षुरः क्षुरधानैकदेशेऽवस्थितो यथा चाग्निः काष्ठादौ सर्वतो व्याप्यावस्थित एव सामान्यतो विशेषतश्च देहं संव्याप्यावस्थित आत्मा । तत्र हि स प्राणनादिक्रियावान्दर्शनादिक्रियावांश्चोपलभ्यते । तस्मात्तत्रैवं प्रविष्टः तमात्मानं प्राणनादिक्रियाविशिष्टं न पश्यन्ति नोपलभन्ते ।

नन्वप्राप्तप्रतिषेधोऽयं तं न पश्यन्तीति दर्शनस्याप्रकृतत्वात् । नैष दोषः । सृष्ट्यादि-

तत्र प्रवेशितत्वं क्षुरस्य कथं सिद्धमत आह—अन्तःस्थ उपलभ्यत इति । विश्वंभरशब्दस्याग्निविषयत्वं व्युत्पादयति—विश्वस्येति । तस्य तद्भर्तृत्वं महाभूतत्वाज्जाठरत्वाद्वा द्रष्टव्यम् । काष्ठादावग्नेरवहितत्वे युक्तिमाह—तत्रेति । दृष्टान्तद्वये विवक्षितमंशमनूद्य दार्ष्टान्तिकमाह—यथेत्यादिना । आत्मनो जाग्रत्स्वप्नयोर्देहे द्वयी वृत्तिः स्वापे तु सामान्यवृत्तिरेवेत्यवान्तरविभागमाह—तत्र हीति । अवस्थाद्वयं सप्तम्यर्थः । न केवलं विशेषवृत्तिरेव तदोपलब्धा किंतु सामान्यवृत्तिश्चेति चकारार्थः । अवस्थान्तरे संवेत्यपि तस्यैवार्थः । वाक्यान्तरमवतारयितुं भूमिकामाह—तस्मादिति । यस्मादुभयी वृत्तिरात्मनः शरीरे दृश्यते तस्मात्तत्रैव जलसूर्यवदविद्यया प्रविष्टोऽयमिति योजना । व्याकृताज्जगतः सकाशादात्मानं पृथक्कर्तुं तं न पश्यन्तीति वाक्यं तद्व्याचष्टे—तमात्मानमिति । विशिष्टं पश्यन्तोऽपि केवलमात्मानं न पश्यन्तीति यावत् । चाक्षुषत्वनिषेधस्येष्टत्वमाशङ्क्य व्याचष्टे—नोपलभन्त इति ।

उक्तनिषेधमाक्षिपति—नन्विति । प्रतिषेध्यस्य प्राप्तिं दर्शयन्परिहरति—नेत्यादिना । तत्राम-

प्रविष्ट होता है। अथवा जिस प्रकार "विश्वम्भर" अर्थात् विश्व का भरण करने वाला अग्नि 'विश्वम्भरकुलाये' अर्थात् विश्वम्भर के नीड मे, काष्ठादि मे स्थित अग्नि के समान व्याप्य होकर स्थित है, इस प्रकार इसकी अनुवृत्ति होती है। वहाँ वह अग्नि मथन करने पर उपलब्ध हो जाती है। जिस प्रकार क्षुरधान के एकदेश मे छुरा रहता है और जिस प्रकार काष्ठादि मे अग्नि सब ओर व्याप्त रहती है, उसी प्रकार आत्मा स्फूर्त्यात्मा द्वारा इस देह को सामान्यरूप से एवं द्रष्टा-श्रोतारूप आत्मा द्वारा विशेष रूप से देह को व्याप्त करके उसके एकदेश चक्षु-श्रोत्रादि नीडो मे स्थित है। वहाँ वह प्राणनादि और दर्शनादि क्रियावान् देखा जाता है। इसलिए उस शरीर मे ही प्रविष्ट 'तम्' अर्थात् उस प्राणनादिक्रियाविशिष्ट आत्मा को लोग 'न पश्यन्ति' अर्थात् नही जानते हैं।

१ व्याप्य स्थित । २ सामान्यतः स्फूर्त्यात्मना देहं सव्याप्य । ३ विशेषत —द्रष्टा श्रोतेत्याद्यात्मना देहमसव्याप्य तदेकदेशे चक्षुःश्रोत्रादिनाडिषु स्थित इत्यर्थः । अत्र वार्तिकम्—'मिथो विभक्ता एवात्र क्षुरधाने यथा क्षुराः । क्षुरधानादभिव्यक्ते तथाऽऽत्मा नाडिभेदत इति ॥' ४ न जानन्ति । ५ विश्वंभरेति-ननु नाय शब्दोऽग्नि गोचरयति तत्र रूढ्यभावादित्याशङ्क्याह । ६ न केवलमित्यादिवार्तिकानुसारात् । ७ सुषुप्ते । ८ सामान्यवृत्तिरेव । ९ चकारस्यैव । १० पूर्णम् । ११ न पश्यन्तीति श्रुत्यनुक्रोश (अनुकम्पामूलकखेद) स च पश्यन्तिशब्दस्य चाक्षुषार्थत्वेनापद्यत इत्यभिप्रेत्याऽऽह—चाक्षुषेति । १२ उक्तनिषेधमिति-व्याकृताज्जगतः सकाशादात्मानं पृथक्कर्तुं निषेधवाक्यमित्युक्तत्वाद्दर्शनस्याप्रकृतत्वाद्दर्शननिषेधमाक्षिपतीत्यर्थः ॥

वाक्यानामात्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्थपरत्वात्प्रकृतमेव तस्य दर्शनम् । "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय" इति मन्त्रवर्णात् ।

तत्र प्राणनादिक्रियाविशिष्टस्य दर्शने हेतुमाह—'अकृत्स्नोऽसमस्तो हि यस्मात्स प्राणनादिक्रियाविशिष्टः । कुतः पुनरकृत्स्नत्वमिति । उच्यते । प्राणन्नेव प्राणनक्रियामेव कुर्वन्प्राणो नाम प्राणसमाख्यः प्राणाभिधानो भवति । प्राणनक्रियाकर्तृत्वाद्धि प्राणः प्राणितीत्युच्यते नान्या क्रियां कुर्वन् । यथा लावकः पाचक इति । तस्मात्क्रियान्तरवि-

रूपाभ्या स एष इत्यादिवाक्यानां ज्ञानार्थत्वे मानमाह—रूपमिति । "प्रतिज्ञावाक्यार्थे स्थिते सतीति यावत् । तस्मात्तद्दर्शनेऽपि पूर्णस्यादर्शनमिति शेष । विशिष्टस्यापि पूर्णत्वमात्मत्वादन्यथा" विशिष्टस्य दर्शनेऽपि पूर्णस्यादर्शने हेतूक्तिरनन्तरवाक्यमित्याह—तत्रेति । प्राणनादिकर्तृत्वायोगादिति शङ्कते—कुत इति । प्राणनादिक्रियाकर्ता प्राणादिभिः संहतत्वात्पूर्णो न भवतीत्युत्तरवाक्यंमुत्तरमाह—उच्यत इति । आत्मनि प्राणशब्दप्रवृत्तिमुपपादयति—प्राणनक्रिया-कर्तृत्वादिति । तत्कर्तृत्वादात्मा प्राण उच्यते प्राणितीति व्युत्पत्तेरिति योजना । सदृष्टान्तमेवकारार्थ-माह—नान्यामिति । एवकारार्थमनूद्य "हेत्वर्थमुपसंहरति—तस्मादिति ।

(इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) "उस आत्मा को नही देखते हैं" इस श्रुति से अप्राप्त का प्रतिषेध होता है क्योंकि इस प्रकरण मे दर्शन की कोई बात नही है । (इस पर समाधान देते हैं—) इसमे कोई दोष नही है । क्योंकि सृष्ट्यादि वाक्यो का आत्मैकत्व-प्रतिपत्तिरूपार्थ तात्पर्य होने के कारण उसका दर्शन प्रकरणानुसारी ही है । "वह परमात्मा रूप के प्रतिरूप हो गया । इसका वह रूप अभिव्यक्त करने के लिए (वह परमेश्वर) माया से अनेक रूप वाला दीखता है ।" इत्यादि श्रुति मन्त्र इसमे प्रमाण है ।

अब श्रुति प्राणनादिक्रियाविशिष्ट के दिखायी देने पर भी निष्प्रपञ्च के न दीखने मे हेतु बताती है—"अकृत्स्नो" अर्थात् असमस्त, 'हि' क्योंकि "स" अर्थात् वह प्राणनादिक्रियाविशिष्ट है । उसकी असमस्तता का क्या कारण है ? इस पर श्रुति बताती है—'प्राणन्नेव' अर्थात् प्राणन क्रिया को (अज्ञानवश) करता हुआ ही वह 'प्राणो नाम' अर्थात् प्राणसमाख्या या प्राणाभिधान वाला होता है । क्योंकि प्राणन क्रिया का कर्ता होने से 'प्राण प्राणनक्रिया करता है' ऐसा कहा जाता है, अन्य दर्शनादि-रूप क्रिया को करने के कारण नही । जैसे लवण क्रिया से लावक कहा जाता है, न कि पक्ति क्रिया से,

१ प्रतिपत्तिरूपार्थतात्पर्यकत्वात् । २ प्रकृतमेवेति—तन्नामरूपाभ्यामिति प्रकृत सग स एष इहेति प्रवेशश्च तस्यात्मज्ञानशेषत्वात्तदपि प्रकृतमेवेति भाव । ३ रूप रूपमिति—प्रत्युपाधिप्रतिबिम्बरूपो बभूव तत्प्रतिबिम्ब-वस्तु अस्य निरुपाधिकस्यात्मन रूप स्वरूप प्रतिचक्षणाय आत्मयाथात्म्यप्रतिख्यापनाय अन्यथाऽनाद्यनिर्वचनीया-विद्यापटावृतस्य बुद्धिवृत्त्युपाधिप्रतिबिम्बाभावे स्वरूपप्रकाशानुपपत्तेरिति । ४ बृ० उ० २-५-१९ । ५ निष्प्रपञ्चस्यादर्शने इत्यर्थः । ६ 'अकृत्स्नोऽसमस्त इति परिच्छिन्नो व्यभिचारी अपूर्ण इति यावत् । द्रष्टा श्रोता मन्तत्यादिविशिष्टस्वरूपाणां परस्पर व्यावृत्ततया व्यभिचारित्वेनापूर्णत्वमकात्स्न्यमित्यर्थ । ७ अज्ञानवशा-दिति बोध्यम् । ८ दर्शनादिरूपाम् । ९ लवनक्रिययैव लावको न तु पक्त्या तथैव च पाचक इति । १० आक्षेपत्वे । ११ न पश्यन्तीति प्रतिज्ञावाक्यार्थे । १२ अनात्मत्वे । १३ अकृत्स्नो हि स इति हेतुवाक्यार्थम् ।

शिष्टस्यानुपसंहारादकृत्स्नो हि सः ।

तथा वदन्वदनक्रियां कुर्वन्वक्तीति वावपश्यंश्चक्षुश्चेष्टे इति चक्षुर्द्रष्टा शृण्वञ्शृणोतीति श्रोत्रम् । प्राणन्नेव प्राणो वदन्वागित्याभ्यां क्रियाशक्त्युद्भवः प्रदर्शितो भवति, पश्यंश्चक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रमित्याभ्यां विज्ञानशक्त्युद्भवः प्रदर्श्यते । नामरूपविषयत्वाद्विज्ञानशक्तेः । श्रोत्रचक्षुषी विज्ञानस्य साधने विज्ञानं तु नामरूपसाधनम् । न हि नामरूप-

"स्वापावस्थायां समस्तकरणोपसंहारेऽपि प्राणस्य व्यापारदर्शनात्प्राधान्यावगमात्प्राणन्नित्यादिवाक्यमादौ व्याख्याय क्रियाशक्तित्वेन प्राणसादृश्याद्वाचो वदन्नित्येतत्पूर्वकमुत्तरवाक्यानि व्याचष्टे—तथेत्यादिना । प्राणनवदनाभ्यामनुक्तकर्मेन्द्रियव्यापारमुपलक्ष्य वाक्यद्वयतात्पर्यमाह—प्राणन्नेवेति । प्राणवागाद्युपाधिद्वारेणाऽऽत्मनीति शेषः । "दृष्टिश्रुतिभ्यामनुक्तज्ञानेन्द्रियव्यापारोपलक्षणं कृत्वाऽनन्तरवाक्ययोस्तात्पर्यमाह—पश्यन्निति । चक्षुराद्युपाधिद्वाराऽऽत्मनीति पूर्ववत् । उक्तबुद्धीन्द्रियव्यापाराभ्यामनुक्तं तद्व्यापारमुपलक्ष्याऽऽत्मन स्प्रष्टृत्वादिपरिच्छेदो न सिध्यति "संबन्धं विनो"पलक्षणायोगादित्याशङ्क्याऽऽह—नामरूपेत्यादिना । "प्रकाश्य"प्रकाशकातिरिक्तज्ञेयाभावा"त्तदुपलम्भे च चक्षुःश्रोत्रयोरिव त्वगादेरपि करणत्वादे"कार्थत्वरूपसंबन्धादुपलक्षणसंभवादात्मनः स्प्रष्टृत्वादिसिद्धिरित्यर्थः ।" तथाऽप्यु-

इसी तरह पक्ति-क्रिया से ही पाचक कहा जाता है। इसलिए क्रियान्तरविशिष्ट का प्राणपद से बोध न होने के कारण प्राणनादिविशिष्ट वह अपूर्ण ही है।

तथा इसी प्रकार 'वदन्' अर्थात् बोलता है, इस व्युत्पत्ति से वदन-क्रिया करता हुआ, वह वक्ता कहा जाता है। 'पश्यश्चक्षु' 'चक्षिङ' अदादिगणीय धातु से (व्यक्त रूप से बोलने और दर्शन अर्थ मे) चष्टे अर्थात् देखता है, इस व्युत्पत्ति के कारण चक्षु नाम पडा यानी द्रष्टा का नाम चक्षु है। "शृण्वन्" अर्थात सुनता है, इस व्युत्पत्ति से जो सुनता है, वह श्रोता है। 'प्राण-क्रिया को करता हुआ प्राणाभिधान वाला है' एव 'वदन-क्रिया को करता हुआ ही वह वक्ता कहलाता है' इन दोनो श्रुतिवाक्यो द्वारा आत्मा मे क्रिया शक्ति का गमनादिव्यापार दिखाया गया है। "देखने के कारण वह द्रष्टा है" एव "सुनने के कारण वह श्रोता है' इन दोनो श्रुतिवाक्यो द्वारा विज्ञान शक्ति का स्पर्शनादि व्यापार दिखाया गया है। क्योकि विज्ञानशक्ति नाम और रूप को विषय करती है। श्रोत्र और नेत्र विज्ञान मे करण है और विज्ञान नामरूप का प्रकाशक है। क्योकि नामरूप से भिन्न कोई विज्ञेय नही

१ प्राणपदेनानवबोधात् । २ अपूर्ण । ३ प्राणनादिविशिष्ट । ४ व्युत्पत्तौ । ५ वक्तेत्युच्यते । ६ श्रोता । ७ गमनादिव्यापार । ८ स्पर्शनादिव्यापार । ९ करणे । १० प्रकाशकम् । ११ ननु श्रोत्रचक्षुःकरणकविज्ञानस्य सर्वविज्ञेयप्रकाशकत्वात् कथं विज्ञानं नामरूपप्रकाशकमित्युच्यते इत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । १२ प्राणनक्रियाविशिष्टस्य श्रुतौ प्रथमोपन्यासे हेतुमाह—स्वापेत्यादिना । १३ दर्शनश्रवणाभ्याम् । १४ उपलक्ष्योपलक्षकयोः । १५ लक्षणायोगात् । १६ रूपस्यय । १७ नामेत्यर्थः । १८ विज्ञेयज्ञाने । १९ एकार्थत्वरूपसम्बन्धादिति—चक्षुरादेस्त्वगादेश्च एकविज्ञेयविज्ञापकत्वरूपसम्बन्धादित्यर्थः । तथा च तद्द्वारक उपलक्ष्योपलक्षकयोः (चक्षुरादिव्यापारत्वगादिव्यापारयोः) तुल्यविज्ञाप्यविज्ञापकत्वरूपसम्बन्धोऽपि सिद्धो द्रष्टव्यः । एतेनोपलक्ष्योपलक्षणयोः सम्बन्धे वक्तव्ये चक्षुरादेस्त्वगादेस्तद्वृत्तिसदिलष्टति निरस्तम् । २० तथापीति—उक्तबुद्धीन्द्रियव्यापाराभ्यामनुक्ततद्व्यापारमुपलक्ष्य आत्मन स्प्रष्टृत्वादिव्यवहारो सिद्धोऽस्त्वित्यर्थः ।

व्यतिरिक्तं विज्ञेयमस्ति तयोश्चोपलम्भे करणं चक्षुःश्रोत्रे । क्रिया च नामरूपसाध्या प्राणसमवायिनी । तस्याः प्राणाश्रयाया अभिव्यक्तौ वाक्करणम् । तथा पाणिपादपायूपस्थानि । सर्वेषामुपलक्षणार्था वाक् । एतदेव हि सर्वं व्याकृतम् "अयं वा इदं नाम रूपं कर्म" इति हि वक्ष्यति । मन्वानो मनो मनुत इति ज्ञानशक्तिविकासानां साधारणं करणं मनो मनुतेऽनेनेति पुरुषस्तु कर्ता सन्मन्वानो ꣵमन इत्युच्यते ।

क्तकर्मेन्द्रियव्यापारेणानुक्तद्व्यापारोपलक्षणादात्मनो न गन्तृत्वादिपरिच्छेद." संगच्छते विना संबन्धमुपलक्षणासिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—क्रिया चेत्यादिना । "सर्वा क्रिया "नामरूपव्यङ्ग्या प्राणाश्रया "च तत्र प्राणाश्रयनामविषयोच्चारणक्रियाव्यञ्जकत्वं वाचो हस्तादीनां तदाश्रयादानादिव्यञ्जकता "तस्मादेकाश्रयक्रियाव्यञ्जकत्वयोगादुपलक्षणसंभवादात्मनो गन्तृत्वादिसिद्धिरित्यर्थः । शक्तिद्वयोद्भूवोक्त्या समस्तससारस्य प्रतीच्यध्यासोऽत्र" विवक्षित इत्याह—एतदेवेति । उद्भूतशक्तिद्वयमेतच्छब्दार्थः । "उक्तेऽर्थे वाक्यशेषमनुकूलयति—अयमिति । आत्मा मन्वानः सन्मन इत्युच्यते मनुत इति व्युत्पत्तेरिति" वाक्यान्तर व्याचष्टे—मन्वान इति । करणे प्रसिद्धस्य मन शब्दस्य कथमात्मनि वृत्तिरित्याशङ्क्य व्युत्पत्तिभेदमाह—ज्ञानशक्तीत्यादिना ।

है । विज्ञेयात्मक नामरूप की उपलब्धि मे नेत्र और श्रोत्र साधन है । और नाम और रूप से साध्या क्रिया प्राण की आश्रया है । उस प्राण की आश्रिता क्रिया की अभिव्यक्ति मे वाक् करण है । इसलिए हाथ, पैर, पायु और उपस्थ नाम की कर्मेन्द्रियां हैं । इन सबके उपलक्षण के लिए वाक् है । यही सब व्याकृत जगत् है ।"व्याकृत अव्याकृत रूप सारा जगत् नाम,रूप, क्रिया सामान्य त्रयरूप है" इसे श्रुति आगे बतलाएगी । 'मन्वानो मन' (अर्थात् रुधादिगणीय अवबोधनार्थक 'मनु' धातु से) अवबोधन करता है, इस व्युत्पत्ति से ज्ञानशक्ति के विकार दर्शनादि का साधारण साधन मन है । क्योंकि इसके द्वारा अवबोधन करता है । पुरुष ही कर्ता होने पर जब अवबोधन करता है तो 'मन' इस नाम से कहा जाता है ।

---

१ विज्ञेयात्मकनामरूपयो । २ तस्मादिति शेष । ३ सर्वं व्याकृतमेतदेव । ४ व्याकृताव्याकृत जगत् । ५ क्रियासामान्यम् । ६ बृ० उ० १-६-१ । ७ ज्ञानशक्तिविकाराणा दर्शनादीनाम् । ८ व्युत्पत्तेरिति शेष । ९ मनुते इति व्युत्पत्ते । १० व्यवहार । ११ वदनादि । १२ नामरूपात्मकवागादिव्यङ्ग्या । १३ वदनादिक्रियाणा मध्ये । १४ तस्मादित्यादे —उपपादितादेकाश्रयक्रियाव्यञ्जकत्वरूपवाग्घस्तादो सम्बन्धात तद्द्वारत्वादुपलक्ष्योपलक्षणयोरेकाश्रयक्रियाव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वरूपसम्बन्धाच्चेत्यर्थ । १५ प्रकृतवाक्य प्रकरणे वा । १६ सवस्य जगत प्रतीच्यध्यस्तत्वरूपेऽर्थे । १७ एवप्रकारेण ।

ꣵमन इत्युच्यत इति । स प्राणन्नवत्यादिमन्वानो मन इत्यन्तश्रुतिभाष्यतात्पर्यग्राहकाणि त्रीणि वार्तिकानि सन्ति । तथाहि— 'वक्तीति वाग्भवेदात्मा ह्युच्यते वाग्भवेद्ध्वनि । तयाच्यतेऽनयेत्यस्मात् करण वागुदाहृता ॥ पश्यंश्चक्षुस्तथा द्रष्टा शृण्वञ्श्रोत्र तथैव च । त्रिधा त्रिधा व्यवच्छिन्न एव सर्वत्र लक्षयेत् ॥ चक्षुरालोचनायैव सशय कुरुते मन । बुद्धिरध्यवसानाय साक्षी क्षत्रज्ञ उच्यत ' ॥६८०-६८२॥ इति । यद्यपि श्रुतौ प्राणनादिकर्तृत्वेनैवाऽऽत्मनो व्यवच्छेद श्रुतस्तथाऽपि प्रतीन्द्रियव्यापार कर्तृत्ववत्कर्मत्वेन करणत्वेन च व्यवच्छेदो द्रष्टव्य इत्याह —वक्तीत्यादिना । ध्वनौ वाक्शब्दस्य रूढिद्योतको हिशब्द । अस्माद्व्युत्पादनादिति यावत् ॥ चदन्वागित्यत्रोक्तन्याय वाक्यान्तरेष्वतिदिशति—पश्यन्निति । तत्र हि पश्ट इति चक्षु शब्देन द्रष्टोच्यते दृश्यत इति कर्म तथा

तान्येतानि प्राणादीन्य[1]स्याऽऽत्मनः [2]कर्मनामानि कर्मजानि नामानि कर्मनामान्येव न तु [3]वस्तुमात्रविषयाणि । अतो न [4]कृत्स्नात्मवस्त्व[5]वद्योतकानि । एवं ह्यसावात्मा [6]प्राणनादिक्रियया [7]तत्तत्क्रियाजनितप्राणादिनामरूपाभ्यां [8]व्याक्रियमाणो[9]ऽवद्योत्यमानोऽपि ।

[10]स [11]योऽतोऽस्मात्प्राणनादि[12]क्रियासमुदायादेकैकं प्राणं चक्षुरिति[13] वा विशिष्ट[14]मनुपसंहृतेतरविशिष्टक्रियात्मकं मनसाऽयमात्मेत्युपास्ते चिन्तयति न स वेद न स जानाति

आत्मादिशब्देभ्यो विशेषमाह—तानीति । कृत्स्नात्मवस्त्ववद्योतकानि न भवन्तीत्येतदेव स्फुटयति—एव हीति । प्राणादीनां कर्मनामत्वे सतीति यावत् । अवद्योत्यमानोऽपि न कृत्स्नो [15]दृष्टः स्यादिति शेषः ।

अकृत्स्नदर्शिनोऽप्यात्मदर्शित्वमाशङ्क्याऽऽह—स य इति । आत्मोपासितुरात्मदर्शनासत्त्वमयुक्त-

---

'तानि, एतानि' अर्थात् वे ये प्राणादि 'अस्य' अर्थात् (अनामरूप) आत्मा के 'कर्मनामानि' अर्थात् (पाचकादि के समान) कर्मजनित नाम है। ये कर्मज नाम ही हैं, चिन्मात्रवस्तुस्वरूप के प्रत्यायक नही है। इसलिए ये अपरिच्छिन्न आत्मवस्तु के (आत्मादि शब्द के समान) अवद्योतक नही है। इस प्रकार यह आत्मा (व्याख्येय) प्राणनादि क्रिया के द्वारा उस उस क्रिया के व्याख्यान से होने वाले प्राणादि नाम और रूपो से विक्रिया को प्राप्त हुआ एव उक्त विकारविशिष्ट रूप से अनुभूत होता हुआ भी पूर्णतया अनुभूत नही होता।

'स यो' अर्थात् वह लौकिक पुरुष जो याथात्म्य द्रष्टा होकर 'अत' अर्थात् इस प्राणनादि-क्रिया निमित्तक समुदाय से 'एकैकम्' अर्थात् (प्राणन आदि अन्यतम क्रिया से) विशिष्ट प्राण या

---

१ अनामरूपकस्य। २ पाचकादिवत्। ३ चिन्मात्रवस्तुस्वरूपप्रत्यायकानि। ४. अपरिच्छिन्नेत्यर्थ। ५. आत्मादिशब्दवत्। ६ व्याख्येयमिदम्। ७ व्याख्यानमिदम्। ८ नामरूपात्मकविक्रिया प्राप्यमाण। ९ उक्तविकारविशिष्टत्वेनानुभूयमानोऽपि। १० स लौकिको जन। ११. य याथात्म्ये वा द्रष्टा सन्। १२ क्रियानिमित्तकसमुदायात्। १३ प्राणनाद्यन्यतमक्रियाविशिष्टमित्यर्थ। १४ अनुपेत्यादि। अविशेष-णीभूतप्राणनाद्यतिरिक्तवदनादिरूपविलक्षणक्रियकमित्यर्थं। १५ अनुभूत।

शृण्वञ्श्रोत्रमित्यत्रापि श्रोत्रशब्देन शृणोतीति श्रोतोक्त श्रूयत इति कर्म श्रूयतेऽनेनेति करणमिति विवेक्तव्यम्। दृश्यतऽनेनेति करणमिति विभाग। त्वगादिष्वपि यथोक्तन्याय योजयति—एवमिति ॥ इन्द्रियादिसबन्धादात्मनोऽनेकधात्वमुक्त्वेन्द्रियादेरसाधारण व्यापारमाह—चक्षुरिति। चक्षु शब्देन दशेन्द्रियाणि गृह्यन्ते। आलोचनशब्देन दर्शनादयो वचनादयश्च दश व्यापारा। सशय सकल्पस्याप्युपलक्षणम्। जीवस्यासाधारण व्यापारमाह—साक्षीति। आत्मनो वस्तुतो न कर्तृत्वादीति भाव ॥ तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येवेति श्रुतिभाष्यतात्पर्यसग्राहक वार्तिकद्वयमस्ति। तथाहि— "अन्योऽन्यापेक्षससिद्धेरन्योन्यव्यभिचारत। अपराधीनससिद्धो भानाविव तमो भवेत्॥ यत एवमविद्योत्थ प्राणाद्यस्मात्तदात्मन। नामरूपमतस्ताभ्यां पश्यन्नपि न पश्यति" ॥ ६८६-६८७ ॥ इति। उक्ताना प्राणादिनामरूपाणां प्राणनादिनिमित्तत्वेऽपि पाचकादिवत्प्रतीचि वस्तुतेति चेन्नेत्याह—अन्योऽन्येति। नाम्नो रूपापेक्षस्य तस्य चान्यापेक्षस्य सिद्धे रूपस्यानामत्वान्नाम्नश्चारूपत्वान्मिथो व्यभिचारादादित्ये तमोवत्प्रतीचि चिदेकरसे नामरूपमसम्भावितत्वात्कल्पितमित्यर्थ ॥ तस्य कल्पितत्वे फलितमाह—यत इति। अतदात्मनो नामरूपहीनस्येति यावत्। इत्थभावे तृतीया। पश्यन्द्रष्टासापेक्षत्वाद्व्यभिचारित्वाच्चेत्येवशब्दार्थं। ऽऽत्मानमिति शेष।

ब्रह्म। कस्मात्। अकृत्स्नोऽसमस्तो हि यस्मादेष आत्माऽस्मात्प्राणनादिसमुदायात्, अतः प्रविभक्त एकैकेन विशेषणेन विशिष्ट इतरधर्मान्तरानुपसंहाराद्भवति। यावदयमेवं वेद पश्यामि शृणोमि स्पृशामीति वा स्वभावप्रवृत्तिविशिष्टं वेद तावदञ्जसा कृत्स्नमात्मानं न वेद।

कथं पुनः पश्यन्वेदेत्याह—आत्मेत्येवाऽऽत्मेति प्राणादीनि विशेषणानि यान्युक्तानि तानि यस्य स आप्नुवंस्तान्यात्मेत्युच्यते। स तथा कृत्स्नविशेषोपसंहारी सन्कृत्स्नो भवति। वस्तुमात्ररूपेण हि प्राणाद्युपाधिविशेषक्रियाजनितानि विशेषणानि व्याप्नोति।

मिति शङ्कित्वा परिहरति—कस्मादित्यादिना। तस्माद्विशिष्टात्मदर्शी "न ब्रह्मात्मत्वदर्शीति शेषः। उपास्तिर्ज्ञानमु"पास्त इति जानाति" न स्वभावादुपासनमित्युक्तत्वात्"। तथा च जानन्न जानातीति व्याहतिरित्याशङ्क्याऽऽह—यावदिति। एवं वेदेत्येतदेव विव्रियते—पश्यामीत्यादिना।

आकाङ्क्षापूर्वकं "विद्यासूत्रमवतारयति—कथमिति। "तत्र व्याख्येयं पदमादत्ते—आत्मेतीति। तद्व्याचष्टे—प्राणादीनीति। तस्मिन्दृष्टे पूर्वोक्तदोषराहित्यं दर्शयति—स तथेति। तत्तद्विशेषणव्याप्तिद्वारेणेति यावत्। कथं तत्तद्विशेषोपसंहारो तेन तेनाऽऽत्मना "तिष्ठन्कृत्स्नः स्यात्तत्राऽऽह—वस्तुमात्रेति।

चक्षु की अन्य विशिष्ट क्रियात्मक मे आत्मा का उपसहार न करके मन के द्वारा यह आत्मा है' इस प्रकार 'उपास्ते अर्थात चिन्तन करता है,' न स वद" अर्थात वह ब्रह्म को नही जानता है। क्यो नही जानता? "अकृत्स्न" अर्थात असमस्त, 'हि" अर्थात् जिस कारण से 'एष' अर्थात् यह आत्मा है, (क्योकि) प्राणनादि समुदाय से विशिष्ट है। इसलिए वह अन्य धर्मो का उपसहार न करने के कारण परिच्छिन्न है अर्थात् एक एक विशेषण से विशिष्ट है। जब तक यह 'मै देखता हूं, मैं सुनता हूं, मैं स्पर्श करता हूं' इस प्रकार आत्मा को शास्त्र अनपेक्ष प्रवृत्ति से विशिष्ट जानता है, तब तक वह तत्त्व से सम्पूर्ण आत्मा को नही जानता।

---

१ परिच्छिन्नः। २ निखिलविशेषणासंबद्धत्वादिति यावत्। ३ यावदयमेवं वेदेति—अयं जनः यावदेव प्रसिद्धप्रकारेण प्राणनादिकर्तारमात्मानं वेद न तावत्तत्त्वतो वेत्ति यत आत्मवस्तु क्रियाकारकशून्यमिति भावः। तदुक्तं वार्तिके— "यावदेवमयं वेद प्राणितीत्यादिकृत्स्नम्। अक्रियाकारकं वस्तु न तावद्वेद तत्त्वतः इति ॥ ७१०॥ ४ शास्त्रानपेक्षत्यर्थः। ५ तत्त्वतः साक्षादिति वार्थः। ६ कथं पश्यन् वेदेत्याकाङ्क्षा। ७ व्याप्नुवन्। ८ प्राणनादिनिखिलोपाध्युपरक्तः तत्तदात्मना तिष्ठन्। ९ वस्तुमात्ररूपेणेति—वाङ्मनसातीतेन अकार्यकारणेन प्रत्यग्भूतेनेत्यर्थः। एतेन यच्चाप्नोतीति व्यासवाक्योक्तात्मशब्दार्थो दर्शितो भवति। आत्मेत्येवोपासीतेत्यत्रात्मशब्दार्थ उक्तः। तस्य शब्दधियोरविषयत्वद्योतक इतिशब्दः। सर्वतोव्यवधानाभावोपलक्षितं प्रत्यक्तत्त्वमुपोपसर्गलक्ष्यम्। आसीतेति स्वरूपावस्थानमुच्यते। तथा च कार्यकारणविलक्षणं वाङ्मनसातीतं कूटस्थं प्रत्यक्तत्त्वमनुभूयाविकृतः समासीत। तदिदं स्वरूपावस्थानमासनं नैवात्मनि काचिद्विक्रियेति वाक्यार्थः। १० विशेषणक्रियानिमित्तानि। ११ नेत्यादि। विशिष्टस्य पूर्णत्वाभावात् ब्रह्मात्मवस्तुनश्च स्वतःपूर्णत्वात् विशिष्टात्मदर्शी न तत्त्वदर्शीति भावः। १२ उपास्त इतीति। उपास्त इत्यस्यार्थमाह—इति जानातीति। उपास्त इत्यनेन स्वभावाज्जानातीत्येतदुच्यते। नहि विहितमुपासनम् उत्तरत्र निन्दादृष्टेरित्यर्थः। निन्दा च न स वेदेत्यादि। १३ वा० १-४ ६८८। १४ वार्तिके। १५ विद्याप्रतिपादकं संग्रहवाक्यम्। १६ विद्यासूत्रस्थम्। १७ तत्तदनुस्यूतः।

तथा च वक्ष्यति—"ध्यायतीव लेलायतीव" इति । 'तस्मादात्मेत्येवोपासीत । एवं कृत्स्नो ह्यसौ स्वेन वस्तुरूपेण गृह्यमाणो भवति । कस्मात्कृत्स्न इत्याशङ्क्याऽऽह—अत्रास्मिन्ना- त्मनि हि यस्मान्निरुपाधिके जलसूर्यप्रतिबिम्बभेदा इवाऽऽदित्ये प्राणाद्युपाधिकृता विशेषाः प्राणादिकर्मजनामाभिधेया यथोक्ता ह्येते एकमभिन्नतां भवन्ति प्रतिपद्यन्ते ।

ॐ आत्मेत्येवोपासीतेति 'नापूर्वविधिः । 'पक्षे प्राप्तत्वात् । "यत्साक्षादपरोक्षा-

---

स्वतोऽस्य प्राणनादिसंबन्धे संभवति किमित्युपाधिसंबन्धेनेत्याशङ्क्याऽऽह—तथा चेति । आत्मनि 'सर्वोपसंहारवति दृष्टे पूर्वोक्तदोषाभावात्तं पश्यन्नेवाऽऽत्मदर्शीत्युपसंहरति—तस्मादिति । 'यथोक्ता- त्मोपासने पूर्वोक्तदोषाभावे 'प्रागुक्तमेव हेतुं स्मारयति—एवमिति । 'तस्यार्थं स्फोरयति—स्वेनेति । वाङ्मनसातीतेनाकार्यकारणेन प्रत्यग्भूतेनेति यावत् । आकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरवाक्यमवतार्य व्याकरोति— कस्मादित्यादिना । "तस्माद्यथोक्तमात्मानमे"वोपासीतेति" शेषः । "अस्यैव द्योतको द्वितीयो हिशब्दः । विद्यासूत्रं "विधिस्पर्शं विना "विवक्षितेऽर्थे व्याख्यायापूर्वविधिरयमिति पक्षं प्रत्याह—आत्मेत्ये-

---

तो फिर किस प्रकार देखने पर जानता है । इस पर श्रुति कहती है—"आत्मेत्येव" अर्थात् आत्मा पद से पूर्व मे प्राणादि विशेपणो द्वारा जिनका वर्णन कर दिया है, वे जिसके हैं, उन्हें व्याप्त करता हुआ होने के कारण आत्मा कहा जाता है । इस प्रकार प्राणनादि समस्त उपाधियों से युक्त तत्तदात्म- रूप मे स्थित रहने से वही आत्मा पूर्ण कहा जाता है । वह वाङ्मनसातीत कार्यकारणरहित प्रत्यक्‌रूप से प्राणादि उपाधि विशेप होने से क्रिया-निमित्त विशेपणो मे व्याप्त है । ऐसा ही "बुद्धिवृत्ति के अनुसार चिन्तन करता हुआ सा और प्राणवृत्ति के अनुसार चेप्टा करता हुआ सा जान पड़ता है" इस श्रुति द्वारा आगे कहा जायगा । अत "वह आत्मा है" इस प्रकार ही उसकी उपासना करे । इस प्रकार

---

१ तस्मादिति—'सर्वादीन् सगिवाखिलाननवशेषेण व्यापनादित्यर्थं । २. नापूर्वेति—"विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियम पाक्षिके सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसङ्ख्येति गीयते" ॥ इति अत्र विधिशब्दोऽपूर्वविधिवचन । इति त्रिविधविधय पूर्वकाण्डेऽभिता । ३ पक्षे प्राप्तत्वादिति । 'अविक्षेपे स्मृति प्राप्ता विक्षेपे तु न सा तत । पाक्षिक्या स्मृतिसम्प्राप्तौ तत्सन्तानो नियम्यते ॥ उपस्थित यदा दुःख तदा तस्योपशान्तये । आनन्दात्मकमद्वैत स्मरेद्ब्रह्म पुन पुन ॥ इत्येव मृदुचित्ताना मत भाष्यकृतस्तथा । अङ्गीकृत्य भरञ्चकरपूर्वविधिवारणे ॥ अद्यैव मृतिरायातु कल्पान्तनिचयेन वा । इत्यादि धीरचित्ताना नित्यप्राप्तिरिहोच्यते ॥ यत्साक्षादितिवाक्योत्थप्रत्यग्याथात्म्यलेहिना । ज्ञानेन तमसो दाहान्नित्यप्राप्तैव तत्स्मृति ॥१ ४ ७७६-७८०॥ देहात्मचिन्ता मूढानां नित्यप्राप्ता यथा तथा । विदुषा ब्रह्मचिन्ताऽपि नातो नैयमिको विधि" रिति वार्तिकसारोक्तम् ॥१.४ ७६६॥ ४. वृत्तिव्यवधानम- न्तरेणैव । ५ अपरोक्षम् । ६ उच्यत इति शेष । ७. सर्वोपसहारवतीति । प्राणादिनिखिलविशेपण- व्याप्तिमतीत्यर्थ । ८. सर्वोपसहारवदात्मानुभवन इत्यर्थ । ९. तस्मादित्युक्तम् । १०. हेतोः । ११. तस्मादिति—'निरुपाधिकात्मनि प्राणादिसर्वोपाध्युपसहारादित्यर्थः । १२. एवोऽनात्मनिवर्तकः । १३. पश्येत् । १४. उक्तदोपस्यैव । १५. विधिसम्पर्कं विनेत्यर्थः । वेदान्तेषु लिङ्गादीनामर्हार्थत्वात् । १६. विवक्षिते—अभिमते कार्यकारणविलक्षणे वाङ्मनसातीते कूटस्थे प्रत्यग्भूतेऽर्थे ।

ॐ आत्मेत्येवोपासीतेति नापूर्वविधिरिति । एतद्व्याप्यतात्पर्यविवरणपराणि पद्यानिकानि सन्ति । तथाहि— "नापूर्वविधिरत्रेप कदाचिदपि गृह्यते । सर्वदैव तु तत्प्राप्तेस्तया नान्योऽपि कश्चन ॥ पुव्यापारानधीनत्वान्नेद सभाव्यते विधि । स्वव्यापारैकविपय सर्व एव यतो विधिः ॥ सत्येऽन्येऽस्यैव धार्यस्य पूर्वपक्षोक्तिपूर्वकः ।

दृब्रह्म" "कतम आत्मेति" "योऽयं विज्ञानमयः" इत्येवमाद्यात्मप्रतिपादनपराभिः श्रुतिभिरात्मविषयं विज्ञानमुत्पादितम् । 'तत्राऽऽत्मस्वरूपविज्ञानेनैव-तद्विषयाऽनात्माभिमान-

वेति । अत्यन्ताप्राप्तार्थो ह्यपूर्वविधिर्यथा 'स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं' जुहुयादिति-नायं तथा पक्षे प्राप्तत्वादात्मोपासनस्य' तस्य' तत्प्राप्तिश्च' 'पुरुषविशेषापेक्षया विचारावसाने' स्पष्टी भविष्यतीत्यर्थः । "इदानीमात्मज्ञानस्याविधेयत्वस्थापनार्थं "वस्तुस्वभावालोचनया नित्यप्राप्तिमाह—यत्साक्षादिति । उत्पाद्यतामुक्तश्रुतिभिरात्मविज्ञानं किं "तावतेत्यत आह—तत्रेति । कारकादीत्यादिपदं तदवान्तरभेदविषयम् ।

अपने वाङ्मनसातीत कार्यकारणरहित प्रत्यक्-रूप में ग्रहण किया जाने से यह पूर्ण है । क्यों पूर्ण है ? इस पर श्रुति कहती है—'अत्र' अर्थात् इस निरुपाधिक आत्मा में, पूर्व बतलाए हुए प्राणादि-कर्मजनित नामों से अभिधेय प्राणादि उपाधियों से होने वाले समस्त विशेष उसी तरह "एकम्" अर्थात् अभिन्नता को "भवन्ति" अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं, जैसे जलगतसूर्य प्रतिबिम्बभेद से सूर्य में एक हो जाता है ।

"वह आत्मा है" इसी प्रकार ही उपासना करनी चाहिए, यह अपूर्वविधि नहीं है (अपूर्वविधि अत्यन्त अप्राप्तार्थक होती है) क्योंकि यह दर्शन पक्ष में स्वयंप्राप्त है "जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है

१ बुद्ध्यादीनां मध्ये । २ विज्ञानं धीस्तत्प्राप्तं तद्भिन्नं इति भावः । ३ ताभिस्तस्मिन्नुत्पादिते । ४ नेदं प्रत्यक्षाद्यधिगतम् । ५ दर्शनस्य । ६ दर्शनस्य । ७ पक्षे प्राप्तिः । ८ पुरुषविशेषेति—विद्वज्जनेत्यर्थः । प्रारब्धकर्मवशात् क्षुत्पिपासादिदोषोद्भवात् आत्मनो विस्मरणमनात्मनः स्मरणं च संभावितं विदुष इति वदन् भाष्यकृत् । ज्ञानस्य पक्षे प्राप्तिं विचारावसाने वक्ष्यतीत्यर्थः । ९ उपसंहारात्मकटीकायां मन्त्रस्य । १० पूर्वमपूर्वविधिनिरासार्थानियमविधिमङ्गीकृत्यार्थः । ११ नित्यापरोक्षात्मस्वरूपविचारणया । १२ ताभिस्तदुत्पादने नात्मज्ञानस्य नित्यप्राप्तौ किमायातमित्यर्थः ।

भाष्यकृद्भिः कृतो यत्नः स आविष्क्रियतेऽधुना ॥ यथा कार्यानपेक्षस्य प्रामाण्यं वचसः स्फुटम् । ऐकात्म्यवस्तुनिष्ठस्य तथा पूर्वमवादिषम् ॥ लिङ्प्रत्ययश्रुतेरत्र भ्रान्तिं समुपजायते । यजेतत्यादिसामान्याद्विध्यर्थोऽत्रो विचार्यते ॥ सिद्धान्तोपक्रमं पूर्वं पूर्वपक्षः प्रदर्श्यते । सम्यग्निर्ज्ञातसिद्धान्तो यतो वत्ति बलाबलमिति ॥७५२-५७॥ श्रीनपि विधीन्निराकरोति—नेत्यादिना । अपूर्वविधिर्वा नियमः परिसंख्या वा कश्चिदपि विधिर्न गृह्यत इति सम्बन्धः । तत्र हेतुमाह—सर्वदेति । आत्मधियः सदाभावात्तत्प्राप्तेर्वक्ष्यमाणत्वान्न तत्र विधित्रयं न हि सिद्धेऽर्थे विधिः साध्ये तन्नियमादित्यर्थः ॥ किंच ब्रह्मणि तज्ज्ञाने वा त्रिविधो विधिरयुक्तो ब्रह्मणः सदाभावात्तज्ज्ञानस्य च मानवस्तुतन्त्रत्वादित्याह—पुंव्यापारेति । प्रयत्नानधीनेऽपि कादाचित्के ज्ञाने कुतो न विधिस्तत्राऽऽह—स्वव्यापारेति । यतो यत्नसाध्यव्यापारमात्रविषयस्त्रिविधोऽपि विधिरतो ज्ञाने मानवस्तुमात्रतन्त्रे न सोऽस्तीत्यर्थः ॥ वस्तुनि तज्ज्ञाने वा विध्यसंभवस्योक्तन्यायेन सिद्धत्वादिनुत्तरेण विधिविचारेणत्याशङ्क्याऽऽह—सस्थेम्न इति । उत्तरो विचाररूपो ग्रन्थो ज्ञानविध्यसंभवं द्रढयितुमित्यर्थः ॥ ननु ब्रह्मणि तज्ज्ञाने च सर्वप्रकारविध्यसंभवस्य सम्बन्धग्रन्थे सिद्धत्वादत्रापि तस्यैवोक्तौ पुनरुक्तिरित्याशङ्क्य सम्बन्धोक्तमनुवदति—पयेति । कार्यासंस्पर्शिना वेदान्तवचसा कार्यगिराभिवाकार्ये शुद्धे सिद्धे वस्तुनि मानत्वमतिस्फुटमस्तीत्येतावन्मात्रं सम्बन्धग्रन्थे समधिगतमित्यर्थः । उत्तरस्यापुनरुक्तमर्थमाह—लिङ्प्रत्ययेति । आत्मेत्येवोपासीतेत्यत्र विधायकपदश्रवणाद्यजेतेत्यादिना सादृश्यात्तत्र यागादौ विधिवदिहापि वस्तुनि तज्ज्ञाने वा विधिरिति भ्रान्तौ प्राप्तायां विधिपदस्यार्थोऽपूर्वो नियमोऽन्यो वेति विचार्य निरस्यतेऽतो भ्रान्तिनिवृत्त्या वाक्यस्य वस्तुपरत्वं निश्चेतव्यमित्यर्थः ॥ ननु पुनरुक्त्यभावेऽपि प्राप्तिपूर्वकत्वान्निषेधस्य पूर्वं पूर्वपक्षं प्रापय्य पश्चादुत्तरपक्षो वाच्यस्तत्र यथोक्तक्रमातिक्रमे भाष्यकारस्य को हेतुरिति पृच्छति

बुद्धिः कारकादिक्रियाफलोध्यारोपणात्मिकाऽविद्या निवर्तिता तस्यां निवर्तितायां कामादिदोषानुपपत्तेरनात्मचिन्तानुपपत्तिः । पारिशेष्यादात्मचिन्तैव, तस्मात्तदुपासनमस्मिन्पक्षे न विधातव्यं प्राप्तत्वात् ।

नन्वविद्यायामपनीतायामपि रागद्वेषादिसद्भावाद्वैधी प्रवृत्तिः स्यान्न हि विद्वदविदुषोर्व्यवहारे कश्चिद्विशेषः पश्वादिभिश्चाविशेषादिति न्यायोदत आह—तस्यामिति । बाधितानुवृत्तिमात्रान्न वैधी प्रवृत्तिरबाधिताभिमानमन्तरेण तदयोगादिति भावः । विदुषः सुषुप्ततुल्यत्वं व्यावर्तयति—पारिशेष्यादिति । श्रौतज्ञानात्पूर्वमपि सर्वासां चित्तवृत्तीनां जन्मनैवाऽऽत्मचैतन्यव्यञ्जकत्वात्प्राप्तमात्मज्ञानं श्रौते तु ज्ञाने नास्त्यनात्मेति स्फुरणमात्मज्ञानमेवेति नित्यप्राप्तिमभिप्रेत्याऽऽह—तस्मादिति । अस्मिन्पक्ष इति नित्यप्राप्तत्वपक्षोक्तिः ।

(उसकी व्याख्या तुम मेरे प्रति करो)", "(जनक ने पूछा—बुद्धि आदि में आत्मा कौन है ?) जो यह विज्ञानमय है" (इत्यादि आत्मप्रतिपादक श्रुतियों से आत्मविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। ऐसा ज्ञान उत्पन्न होने पर वहाँ आत्मस्वरूप के ज्ञान से ही तद्विषया अनात्माभिमानबुद्धि यानी कारकादि क्रिया और फल की अध्यारोपरूपा अविद्या निवृत्त हो जाती है। उस अविद्या की निवृत्ति होने पर कामादि दोषों की कल्पना असम्भव होने से अनात्मचिन्तन की सम्भावना नहीं रहती। (इस प्रकार) आत्मचिन्तन ही परिशेष रह जाता है। इसलिए इस पक्ष में आत्मोपासना का विधान नहीं करना चाहिए क्योंकि वह तो स्वयंप्राप्त है।

१ विदुषा कर्तृत्वादिधीस्तु बाधितानुवृत्त्येति भाव । २ विधिप्रयुक्ता । ३ चिद्व्याप्तत्वात् । ४ भानम् ।

—सिद्धान्तेति । प्रश्नस्या पश्वादिति शेष । पूर्वोत्तरपक्षयाव्यत्यासे भाष्यकृतोऽभिप्रायमाह—सम्यगिति । पुष्यो हि समधिगतसिद्धान्त सन्पूर्वोत्तरपक्षयोर्बलाबलमाकलयितुमल तनाऽऽदौ सिद्धान्तवचनमविरुद्धमित्यर्थं ॥ यत्साक्षादित्यादि प्राप्तत्वादित्यन्तस्य भाष्यस्य तात्पर्यमाद्वाभ्यां वार्त्तिककाचार्यास्तथाहि—' नित्यप्राप्तिमिहाऽऽचष्टे विध्यर्थापनुनुत्सया । अप्राप्ताशानुपात्येव सर्वं एव विधिर्यत ॥ पाक्षिक्युपासनप्राप्तिर्नित्या वेति च लिङ्गत । विवक्षिता भाष्यकृतो नित्यप्राप्तिरितीक्ष्यत" इति ॥७५९-६०॥ ज्ञाने विधिशङ्कानिरासेच्छया तस्य नित्यप्राप्तिमत्र भाष्यकारो ब्रवीतीत्यर्थं । नित्यप्राप्तत्वेऽपि ज्ञानस्य कथं विधित्रयायोगस्तत्राऽऽह—अप्राप्तेति । अपिशब्दपर्याय सर्व एवेत्येवकार । यतो नित्यप्राप्त ज्ञाने न कश्चिदपि विधिरिति शेष ॥ यत्साक्षादित्यादौ भाष्ये ज्ञानस्य नित्यप्राप्तिर्विवक्षितेति कुतोऽवगम्यते तत्राऽऽह—पाक्षिकीति । तिष्ठतु तावदित्यादौ भाष्ये नित्या वेतिप्रयोगसामर्थ्यादिव पूर्वभाष्येण ज्ञानस्य नित्यप्राप्तिर्विवक्षितेति भातीत्यर्थं ॥ इतश्च विदुषो न वैधी प्रवृत्तिरित्याहुस्ते—' यदज्ञानात्प्रवर्तिर्या तज्ज्ञाने सति सा कुत । न हीहापास्तनिद्रोऽपि सुप्तवत्स्वप्नमीक्षते ॥ यद्धि यस्य स्वतो रूप स तत्प्राप्तावपेक्षते । क्रिया मोहनिमित्तत्वादपेक्षा कत्रपह्नव ॥ न च समोहविध्वस्तौ यथावस्त्ववबाधत । समर्थमन्यत्स्याम क्रियाकारकरूपकमिति ॥७६३ ६५॥" प्रत्यगज्ञानात्प्रवृत्ति प्रत्यग्ज्ञाने हेत्वभावादयुक्तेत्यत्र दृष्टान्तमाह—न हीति । यथा लोके सुप्तो जनो निद्रादूषितमना स्वप्नानुच्चावचानुपलभते न तथा जागरिते निद्रारहित स्वस्थचेता स्वप्नान्यथा पश्यति तद्वदज्ञानात्प्रवृत्ति सति ज्ञाने न युक्तेत्यर्थं । ज्ञानार्थत्वेनाशस्य क्रियावज्ज्ञानेऽपि तत्सहायत्वेन सस्वीकाराज्ज्ञाने विध्यभावेऽपि तस्याममौ स्यादित्याशङ्क्य सा हि ब्रह्मप्राप्त्यर्था मोहापोहार्था वेति विकल्प्याऽऽद्य दूषयति—यद्धीति । आत्मस्वरूपत्वाद्ब्रह्मणस्तत्प्राप्तौ क्रियापेक्षाभावाद्य तत्प्राप्तिहेतुक्रियायां विधिरित्यर्थ । आत्मनो ब्रह्म स्वाभाविक रूप चेत्कथ तदप्राप्तिधीस्तत्राऽऽह—मोहेति । अप्राप्तेरिति शेष ।

तिष्ठतु तावत्पाक्षिक्यात्मोपासनप्राप्तिर्नित्या वेति । [1]अपूर्वविधिः स्यात् । [2]ज्ञानोपासनयोरेकत्वे सत्यप्राप्तत्वात् । न स वेदेति विज्ञानं [3]प्रस्तुत्याऽऽत्मेत्येवोपासीतेत्यभिधाना-

अपूर्वविधिवादी शङ्कते—तिष्ठतु तावदिति । सर्वेषां स्वभावतो विषयप्रवणानीन्द्रियाणि नाऽऽत्मज्ञानवार्तामपि मृष्यन्ते [3]तदत्यन्ताप्राप्तत्वादात्मज्ञाने भवत्यपूर्वविधिरिति भावः । [4]विशिष्टस्याधिकारिणः शाब्दज्ञान [5]शब्दादेव सिद्धमिति कथमप्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—ज्ञानेति । न खल्वत्र शाब्दज्ञानं विवक्षितं किंतूपासनमुपासनं नाम मानसं कर्म तदेव [6]ज्ञानावृत्तिरूपत्वाज्ज्ञानमित्येकत्वे सत्यप्राप्तत्वाद्विधेयमित्यर्थः । तयोरेकत्वं विवृणोति—नेत्यादिना । अनेन हीत्यादौ [7]वेदशब्दस्यार्थान्तर-

(अपूर्वविधिवादी शङ्का करता है—) आत्मोपासनप्राप्ति पाक्षिक है अथवा नित्य है—इसकी चर्चा अभी रहने दो । ('आत्मा है इस प्रकार ही उपासना करनी चाहिए' । ऐसी आत्मज्ञान में जो सुनी जाती है, वह) यह तो अपूर्वविधि ही है । क्योंकि यहाँ ज्ञान और उपासना का अभिन्न अर्थ होने से वह स्वत प्राप्त नहीं है । "वह नहीं जानता है" इस श्रुतिवाक्य से (निषेध-प्रतियोगीरूप से) विज्ञान का आरम्भ करके "वह आत्मा है, इस प्रकार ही उपासना करनी चाहिए" ऐसा कहने से ज्ञान और

१ आत्मेत्येवोपासीतेत्यात्मज्ञाने य. श्रूयत स । २ निषेधप्रतियोगितयेति शेषम् । ३ तस्मात् ।
४ विशिष्टस्येति—विधितोऽधीतस्वाध्यायस्याधिगतपदपदार्थसम्बन्धस्येत्यर्थः । ५ यत्साक्षादित्यादिश्रुतेः ।
६ विजातीयानन्तरितप्रत्ययरूपत्वात् । ७ उपासनभिन्नज्ञानरूपार्थान्तरेत्यर्थः ।

कुत्र तर्हि त्वन्मते क्रियापेक्षा तत्राऽऽह—अपेक्षेति । कर्तृत्वादेः सोपादानस्यापह्नवो येन तस्मिञ्ज्ञाने शुद्धिद्वारोत्पत्तौ क्रियापेक्षेत्यर्थः । कल्पान्तरं निराह—न चेति ॥ उत्पन्ने ज्ञाने तेनाज्ञानदाहात्प्रवृत्त्ययोगाच्च विधिर्न चाऽनुत्पन्ने तस्मिन्विधिविषयाभावाच्च च ज्ञानसहायत्वेन क्रियायां विधिस्तत्सहायत्वासंभवादित्युक्तम् । इदानीं तिष्ठतु तावदित्यादि स्यादित्यन्तस्य भाष्यस्य तात्पर्यं वदन् शाब्दे ज्ञाने ज्ञानान्तरे वा विधिरिति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह—"स्वाध्यायाधीतिविधिना ज्योतिष्टोमादिबोधवत् । सदा प्राप्ताऽऽत्मविद्याऽपि नातो विधिरिहेष्यते ॥ देहेन्द्रियमनोबुद्धिसर्वव्यापारभासिनः । लिङ्गतश्चानुमेयत्वाच्च संभाव्यो विधिस्ततः ॥ तथाऽहंप्रत्ययात्साक्षादात्मयाथात्म्यनिश्चिते । असंभवादसंप्राप्ते कुतो विधिरिहेष्यते ॥ नन्विहाऽऽत्माऽसदृशावह प्रत्ययगम्यता । पाक्षिकीति ततोऽप्राप्तेर्भवन्नैयमिको विधिः ॥ पाक्षिकी तावदत्राऽऽस्तामैकात्म्यार्थावलेहिनः । ज्ञानस्य प्राप्तिर्नित्या वेत्यस्त्वपूर्वो विधिः स्फुटः" इति ॥७६६-७०॥ सदा स्वविषयविधिं विनेति यावत् । विधितोऽधीतस्वाध्यायस्याधिगतपदपदार्थसंबन्धस्य शब्दादेव कर्मज्ञानवद्ब्रह्मज्ञानस्य विधिमन्तरेण प्राप्तेन शाब्दे ज्ञाने विधिरित्यर्थः ॥ किं च संसारिणोऽसंसारिणो वाऽऽत्मनो ज्ञाने विधेयत्वादेऽपि स नित्यानुमेयः प्रत्यक्षो वेति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह—देहेति । देहादिचेष्टा प्रयत्नवत्पूर्विका विशिष्टचेष्टात्वाद्रथादिचेष्टावदित्यनुमानाद्देहादिव्यापारलिङ्गेन तदनुपपत्तेश्च संसार्यात्मनिश्चयाच्च तज्ज्ञाने विधिरित्यर्थः । तत तत्रेति यावत् ॥ द्वितीयं दूषयति—तथेति । प्रत्यक्षत्वे सतीत्येतत् । इहेति संसार्यात्मधीग्रह । अहं प्रत्ययेनाऽऽत्मनः संसारिणो याथात्म्यस्य प्रमातृताप्रमुखस्य कर्तृत्वादिरूपस्य तत्प्रत्यक्षत्वपक्षे निश्चितत्वात्तज्ज्ञानस्याप्राप्त्यभावाच्च तत्र विधिरित्यर्थः ॥ असंसार्यात्मधीविधेयेति पक्षमुत्थापयति—नन्विति । अहमिति संसार्यात्मार्थज्ञानस्य सदाप्राप्तत्वेऽप्यहं ब्रह्मेत्यहंप्रत्ययेन प्रत्यक्षतयाऽपहतपाप्मादिगुणकस्यासंसारिणोऽद्वयस्य ब्रह्मणो ग्रहणं पाक्षिकं क्षुधादिदोषोद्भवकालानियमात्तद्विस्मरणसंभवात्तस्मादुपासीतेत्यसंसार्यात्मधीविषयो नियमविधिरित्यर्थः ॥ तादृग्ज्ञानं विधेयमित्येतदङ्गीकृत्यापूर्वविधिमाचाह—पाक्षिकीति । ऐकात्म्यावगाहिनो ज्ञानस्य पाक्षिकी नित्या वा प्राप्तिरित्येतत्तावदास्तामैकात्म्यज्ञाने यः स्फुटो विधिरसावपूर्वोऽस्त्विति संबन्धः ॥

द्वेदोपासनशब्दयोरेकार्थताऽवगम्यते । "अनेन ह्येतत्सर्वं वेद" "आत्मानमेवावेत्" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च विज्ञानमुपासनम् । 'तस्य चाप्राप्तत्वाद्विध्यर्हत्वम् ।

न च 'स्वरूपान्वाख्याने पुरुषप्रवृत्तिरुपपद्यते । तस्मादपूर्वविधिरेवायम् । कर्मविधिसामान्याच्च । यथा "यजेत जुहुयात्" इत्यादयः कर्मविधयो न तैरस्य "आत्मेत्येवोपासीत" "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य." इत्याद्यात्मोपासनविधेर्विशेषोऽवगम्यते । मानसक्रियात्वाच्च विज्ञानस्य । यथा यस्यै देवतायै हविर्गृहीत स्यात्ता मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्नित्याद्या मानसी क्रिया विधीयते, तथा "आत्मेत्येवोपासीत" "मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"

विषयत्ववत्स 'स वेदेत्यत्रापि किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अनेनेति । उक्तश्रुतिभ्यो यद्विज्ञानं श्रुत तदुपासनमेवेति योजना । 'स योऽत एकैकमुपास्ते' इत्युपक्रमात् 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्युपसंहाराच्च न स वेदेत्यत्र तावद्वेदशब्दस्योपासनार्थत्वमेष्टव्यमन्यथोपक्रमो'पसंहारविरोधात् । 'तथा चार्थवंशस-संभवादुपासनमेव 'सर्वत्र वेदन 'तच्च सर्वथैवाप्राप्तमिति तस्मिन्नपूर्वविधि. स्यादिति भावः ।

इतश्च "तस्मिन्नेष्टव्यो विधिरित्याह—न चेति । अत. प्रवर्तको विधिरुपेय इति शेष. । आत्मोपास्तिर्विधेयेत्यत्र स चात्यन्ताप्राप्तविषयत्वान्नियमादिरूपो न भवतीत्याह—तस्मादिति । हेत्वन्तरमाह—कर्मविधीति । कर्मात्मज्ञानविध्यो. शब्दानुसारेणाविशेषमभिदधाति—यथेत्यादिना । यदि क्रिया विधीयते कथ सप्रत्यर्थतोऽप्यविशेषमाह—मानसेति । तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेति ।

उपासना की एकार्थता ज्ञात होती है । "इससे इन सबको जान लेता है", 'आत्मा को जाना" इत्यादि श्रुतियो से भी विज्ञान उपासना ही का नाम है । वह (विज्ञान से अभिन्न) उपासना अप्राप्त होने के कारण विधि की अर्हता रखता है ।

इसके अतिरिक्त स्वरूपमात्र कथन मे पुरुष-प्रवृत्ति असम्भव है । इसलिए यह अपूर्वविधि ही है । कार्यविधि से इसका साम्य होने के कारण यही बात सिद्ध होती है । जिस प्रकार 'यजन करे, हवन करे" इत्यादि कर्मविधियाँ है—उन इन आत्मोपासन विधियो म कोई विशिष्टता नही जान पडती; जैसे "आत्मा है—इस प्रकार उपासना करे", "अरी मैत्रेयी ! नि सन्देह यह आत्मा ही दर्शन के योग्य है" आदि । तथा विज्ञान भी मानसी क्रिया है । जैसे 'जिस देवता के लिए हवि ग्रहण की जाय, उसका 'वषट्' सहित उच्चारण करते हुए मन से ध्यान करे' इत्यादि कर्मकाण्ड म जिस प्रकार मानसी

---

१ विज्ञानाभिन्नोपासनस्य । २ स्वरूपमात्रकथने । ३ स्वरूपान्वाख्यान इति । वेदान्ताना सिद्धार्थस्वरूपावबोधित्वमात्रे शास्त्रत्वमेव न स्यादत — प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा । पुसा येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥" इत्यभियुक्तोक्ति । ४ उपपद्यत इति । सप्तद्वीपा वसुमती राजासौ गच्छतीत्यादिस्वरूपमात्रकथने बुद्धिपूर्वकारिणां न प्रवृत्तिरालक्ष्यत यतोऽत्र प्रवर्तको विधिरुपेय इति शेष । ५ वषट्करिष्यन्निति—ऋग्वेदकर्मकारी ऋत्विक् स हि वषड्उच्चरति । ६ उपसंहारविरोधादिति । उपक्रमादिना मध्यस्थवेदशब्दस्याप्युपासनार्थत्वमेव अन्यथा वाक्यभेदप्रसक्त सति सभवे च न वाक्य भेत्तु युक्तमिति भाव । ७ तथा चेति—वेदोपास्त्योरैकार्थ्ये सति । ८ पूर्वोक्तवाक्येषु ।— ९ तच्चेति—ज्ञानाभिन्नमुपासनमित्यर्थः । ऐक्यज्ञान सर्वथैवाप्राप्त तदभिन्नमुपासनमपि तथा । यत्साक्षादित्यादिवाक्याना तत्त्वमाद्यर्थविषयत्वेऽपि महावाक्यत्वाभावान्न तज्जमखण्डार्थगोचर ज्ञान तस्य महावाक्यैकजन्यत्वात्पूर्वोक्तवाक्यैस्तदप्राप्तमित्याशय । १० आत्मज्ञाने ।

इत्याद्या क्रियैव विधीयते ज्ञानात्मिका । तथाऽवोचाम वेदोपासनशब्दयोरेकार्थत्वमिति ।

[१]भावनांशत्रयोपपत्तेश्च । यथा हि यजेतेत्यस्यां भावनायां किं केन कथमिति [२]भाव्याद्याकाङ्क्षापनयकारणमंशत्रयमवगम्यते, तथोपासीतेत्यस्यामपि भावनायां विधीयमानायां किमुपासीत केनोपासीत कथमुपासीतेत्यस्यामाकाङ्क्षायामा[३]त्मानमुपासीत मनसा त्यागब्रह्मचर्यशमदमोपरमतितिक्षादीतिकर्तव्यतासंयुक्त इत्यादि शास्त्रेणैव समर्थ्यतेंऽशत्रयम् ।

ज्ञानात्मिकेति विशेष्यते तत्राऽऽह—तथेति ।

इतश्चाऽऽत्मोपासने विधिरस्तीत्याह—भावनेति । वेदान्तेषु भावनापेक्षितांशत्रयोपपत्तिं विशदयितुं दृष्टान्तमाह—यथेति । भावनायां विधीयमानत्वे सतीति शेषः । [४]प्रेरणाधर्मकशब्दव्यापारः स्वज्ञानकरणकः स्तुत्यादिज्ञानेतिकर्तव्यताकः पुरुषप्रयत्नभाव्यनिष्ठः शब्दभावनोच्यते । स्वर्गं यागेन प्रयाजादिभिरुपकृत्य[५] साधयेदिति पुरुषप्रवृत्तिरर्थभावनेति विभागः । दृष्टान्तस्थमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—तथेत्यादिना । त्यागो निषिद्धकाम्यवर्जनम् । उपरमो [६]नित्यनैमित्तिकत्यागः । तितिक्षादीत्यादिपदं समाधानादिसंग्रहार्थमित्यंशत्रयमिति संबन्धः । शास्त्रं शान्तो दान्त इत्यादि । उक्तप्रकारमंशत्रयमन्यदपि सुलभमिति, श्रवणमादिपदम् ।

क्रिया का विधान किया जाता है, इसी प्रकार "आत्मा है, इस प्रकार उपासना करे", "(इसे आचार्य तथा शास्त्र द्वारा पहले) श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिए और निदिध्यासन करना चाहिये ।" इत्यादि रूप से ज्ञानात्मिका क्रिया का विधान किया जाता है । तथा 'जानना' और 'उपासना' शब्दों की समानार्थता है, ऐसा पहले ही कह चुके हैं ।

इसके अतिरिक्त वेदान्त में भी भावना के (फल, करण और इतिकर्तव्यतारूप) तीनों अंश सम्भव होने के कारण भी यह विधिवाक्य है । जिस प्रकार "यजन करे" इसमें 'किसलिए, किसके द्वारा और किस प्रकार (यजन करे)' इत्यादि साध्यादिसम्बन्धी आकांक्षाओं की निवृत्ति के कारणभूत भावना के तीन अंश ज्ञात होते हैं, उसी प्रकार 'उपासना करे' इस प्रकार विधान करने वाली भावना में भी किसकी उपासना करे ? किसके द्वारा उपासना करे ? और किस प्रकार उपासना करे ? ऐसी आकांक्षा होने पर 'आत्मा की ही उपासना करे, मन से उपासना करे; त्याग, ब्रह्मचर्य, शम-दम, उपरति तथा तितिक्षारूप इतिकर्तव्यता से युक्त होकर उपासना करे' इत्यादि शास्त्र से ही तीनों अंशों का समर्थन होता है ।

---

१. भावनेति । वेदान्तेष्वपि भावनापेक्षितांशत्रयोपपत्तेश्चात्मोपासने विधिरस्तीत्यर्थः । २. भाव्यादीति—साध्यादीत्यर्थः । साध्यसाधनमितिकर्तव्यतेति यावत् । ३. आत्मनो मुक्तिरूपेण साध्यत्वमुपेत्य किमंशत्वमाह—आत्मानमिति । ४. प्रेरणेत्यादि—प्रेरणाधर्मको यो लिङादिशब्दस्तदीयो व्यापारः प्रेरणाख्यः । स्वेति—स्व लिङादि । स्तुतीति—पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानाप्नोतीत्याद्यर्थवादज्ञानेतिकर्तव्यताक । पुरुषेति—पुरुषप्रवृत्तिरूपोऽर्थभावनाख्यो यः पुरुषप्रयत्नस्तद्भाव्यक स्वर्गमित्यादि । स्वर्गादिभाव्यका यागादिकरणिका प्रयाजादीतिकर्तव्यताका पुरुषप्रवृत्तिरूपाऽर्थभावना तादृशार्थभावनाभाव्यका लिङादिज्ञानकरणिका स्तुत्यादिज्ञानेतिकर्तव्यताका लिङादिधर्मप्रेरणाख्या शाब्दभावनेति ध्येयम् । ५. प्रयाजादिरूपमुपकरणं सपाद्य । ६. नित्यं सन्ध्योपासनाग्निहोत्रादि । नैमित्तिकं श्राद्धादीति ज्ञेयम् ।

यथा च कृत्स्नस्य दर्शपूर्णमासादिप्रकरणस्य[1] दर्शपूर्णमासादिविध्युद्देशत्वेनोपयोगः । एवमौ[2]पनिषदात्मोपासनप्रकरणस्याऽऽत्मोपासनविध्युद्देशत्वेनैवोपयोगः ।[3] नेति नेत्यस्थूलमेकमेवाद्वितीयमशनायाद्यतीत इत्येवमादिवाक्यानामुपास्यात्मस्वरूपविशेषसमर्पणेनो[4]पयोगः । फलं च मोक्षोऽविद्यानिवृत्तिर्वा ।

[5]अपरे वर्णयन्त्युपासनेनाऽऽत्मविषयं [6]विशिष्टं [7]विज्ञानान्तरं भावयेत्तेनाऽऽत्मा ज्ञायतेऽविद्यानिवर्तकं च तदेवं *नाऽऽत्मविषयं वेदवाक्यजनितं विज्ञानमिति । एतस्मिन्नर्थे

विधियुक्तानां वेदान्तानां कार्यपरत्वेऽपि तद्धीनानां तेषां 'वस्तुपरतेत्याशङ्क्याऽऽह—यथा चेति । विध्युद्देशत्वेन तच्छेषत्वेनेति यावत् । अस्थूलादिवाक्यानामारोपितद्वैतनिषेधेनाद्वयं वस्तु समर्पयतां कथमुपास्तिविधिशेषत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—नेत्यादिना । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादीनां फलार्पकत्वेनोपास्ति[1]विध्युपयोगमभिप्रेत्याऽऽह—फल चेति । मोक्षो ब्रह्मप्राप्तिः ।

आत्मोपासनं विधेयमिति [2]पक्षमुक्त्वा पक्षान्तरमाह—अपर इति । [3]तस्यानुपयोगमाशङ्क्याऽऽह—तेनेति । शाब्दस्य [4]ज्ञानस्यासंसृष्टापरोक्षात्मविषयत्वाभावमितिशब्देन हेतूकरोति । ज्ञानान्तरं वेदान्तेषु

जिस प्रकार दर्शपूर्णमासादि सम्पूर्ण प्रकरण का दर्शपूर्णमासादिविषयक प्रधानविधिवाक्यशेषत्वरूप उद्देश्य रूप से ही उपयोग है । उसी प्रकार उपनिषदों के आत्मोपासनसम्बन्धी प्रकरण का भी आत्मोपासन विधि के उद्देश्य से विनियोग है । "यह नहीं, यह भी नहीं", 'वह अक्षर, अस्थूल है" "(सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य) एकमात्र अद्वितीय सत् ही था", "भूखप्यासादि से अतीत वह आत्मा है" इत्यादि श्रुतिवाक्यों का विनियोग उपास्य आत्मा के विशेष स्वरूप को अभिलक्षित करने में है । तथा उसका फल अविद्यानिवृत्ति या मोक्ष है ।

१. दर्शादिविषयकप्रधानविधिवाक्यशेषत्वेन । २ एवमिति । दर्शादिविषयस्य समस्तस्यैव प्रकरणस्य दर्शादिविधिशेषतया विनियोगवदित्यर्थः । ३ औपनिषदेति—उपास्तिविध्यपेक्षितस्य तत्प्रकरणस्थस्य सर्वस्यैव वाक्यस्य उपास्तिविधिशेषत्वेनैव विनियोग इत्यर्थः । विधिहीनमपि सर्वं वेदान्तवाक्यमात्मोपास्तिविधौ शेषत्वेन विनियुज्यत इति भाव । तत्र तदर्थबोधक देवतास्थानीयोपास्यार्पकत्वेन त्वमथपरं च यजमानस्थानीयोपासकार्पकतया । महावाक्यं च स्तावकतयेतिकर्तव्यतात्वेन उपास्तिविधिशेष इत्यभिमानः । ४ विधिशेषत्वेन सम्बन्धः । ५. शाब्दज्ञानविधिवादिभ्योऽन्ये । ६ शाब्दज्ञानाद्विलक्षणम् । ७ विज्ञानान्तरमिति । अन्तरशब्देन तस्य शाब्दज्ञानवैजात्य विवक्ष्यते । तथा च विषयजाततातिरिक्त यन्मोक्षास्य फल नियोगाधीनं तदुपेत मननादिसहितमात्मविषय विज्ञान वेदान्तेषु विधेयमित्यर्थ । नियोगाधीनमित्यस्य नियोज्यज्ञानाधीनमित्यर्थ । ८. सिद्धवस्तु । ९ विधिशेषत्वम् । १० पक्षमिति—मुक्तिफलनाद्यमात्मज्ञानमुपासनाख्य वेदान्तेषु विधीयत इति पक्षम् । ११. विधेयज्ञानान्तरस्याकिञ्चित्करत्वम् । १२ ननु शब्दस्य तथा । शब्दस्य संसृष्टपरोक्षबोधित्वे पतितमाह—ब्रह्मेति । तेन शाब्दज्ञानेनेति यावत् । मानत्वाधर्याविषयमसंसृष्टापरोक्षबोधित्वमेष्टव्यमन्यथाऽमानत्वापत्तेरित्याशङ्क्य समाहित वार्तिके—"शब्दस्वभावमानत्वाधर्याविषयमसंसृष्टापरोक्षबोधित्वमेष्टव्यमन्यथाऽमानत्वापत्तेरित्याशङ्क्य" ... "नावगम्यते" ॥८०५॥ इति । बहिरङ्गार्थानुसारादन्तरङ्गएवैष समृष्टार्थावबोधनम् । ब्रह्मासमृष्टरूपत्वात्तेनातो नावगम्यते ॥ बहिरङ्गार्थो लौकिकार्थः । लोके हि संसृष्टमेवार्थं शब्दो बोधयतीति—वेदेऽपि स्वरूपानुसरणमुचितमिति भावः ।

*नाऽऽत्मविषयं वेदवाक्यजनितं विज्ञानमिमीति । अत्र भाष्ये पञ्चवार्तिकानि सन्ति । तथाहि—"न हि वाक्यामुख्येन ब्रह्मावाक्यार्थरूपकम् । विज्ञानेन परिच्छेत्तुं शक्यते यत्नवत्स्वपि ॥ नानापदार्थसंसृष्टरूप शब्दात्प्रजायते ।

वचनान्यपि—"विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" "द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" इत्यादीनि ।

न, अर्थान्तराभावात् । न च "आत्मेत्येवोपासीत" इत्यपूर्वविधिः । कस्मात् ।

विधेयमित्यत्र मानमाह—एतस्मिन्निति ।

[१]पक्षद्वये प्राप्ते प्रथमपक्षं प्रत्याह—नार्थान्तराभावादिति । [२]तत्र नञर्थमेव स्वयं व्याचष्टे—न चेति । शाब्दज्ञानवतो [३]विषयाभावान्न विधि संभवत्यविद्यातत्कार्यनिवृत्तौ स्वयं [४]फलावस्थत्वाच्चेत्यर्थः । हेतुभागं प्रश्नपूर्वकं विवृणोति—कस्मादित्यादिना । आत्मोपदेशेनानात्मनिषेधद्वारा

अन्य शाब्दज्ञानविधिवादी कहते हैं कि उपासना के द्वारा आत्मविषयक शाब्दज्ञान से विलक्षण विजातीय विज्ञान की भावना करना चाहिए । उससे आत्मज्ञान होता है, वही अविद्या निवृत्ति करने वाला है, आत्मविषयक वेदवाक्यजनित विज्ञान उसकी निवृत्ति करने वाला नहीं है । इस अर्थ का प्रतिपादन करने वाले श्रुतिवाक्य भी हैं—"(बुद्धिमान् ब्राह्मण को) ब्रह्म को जानकर उसी में बुद्धि लगानी चाहिए", "अरी मैत्रेयी ! निःसन्देह यह आत्मा ही दर्शन करने के योग्य है (इसे आचार्य तथा शास्त्र द्वारा पहले) श्रवण करना चाहिये, (तत्पश्चात् तर्क द्वारा) मनन करना चाहिए फिर निदिध्यासन करना चाहिए", "उसका अन्वेषण करना चाहिए और उसे जानने की इच्छा करनी चाहिए" इत्यादि ।

(अपूर्वविधिवादी की शङ्का "शाब्दज्ञान अनुष्ठेय है" इस प्रथम पक्ष का समाधान करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि इस वचन का अर्थान्तर नहीं हो सकता । "आत्मा है—उसकी ही

---

१ विज्ञायेति । एषु वाक्येषु आत्मोपासनं तत्साक्षात्कारमुद्दिश्य विधीयते । तथा च धीरो धीमान् विज्ञाय आत्मविज्ञानाय प्रज्ञामुपासनां कुर्वीतेति वाक्यार्थः । २ शाब्दं ज्ञानं विधयमौपासनिकं वा ज्ञानान्तरमिति पक्षद्वयम् । ३ प्रतिज्ञाहेतुभागयोर्मध्ये । ४ अनुष्ठेयाभावात् । ५ फलावस्थत्वाच्चेति । मुमुक्षोरिष्टं पुमर्थरूपं यत्कैवल्यं ब्रह्म तस्य तत्स्वरूपत्वात् । अज्ञानमात्रव्यवहितत्वात् ज्ञानादेव तन्निवृत्ते तस्य च वाक्यजन्यत्वेन विध्यनधीनत्वादनुष्ठेयाभावात् विध्यसिद्धेर्वेदान्तेषु तदुक्तिरयुक्तेति भावः ।

विज्ञानं तेनावाक्यार्थरूपं नैव च गम्यते ॥ शब्दस्वभाव एवैष संसृष्टार्थावबोधनम् । ब्रह्मासंसृष्टरूपत्वात्तेनातो नावगम्यते ॥ वाक्यं चातीन्द्रियार्थेषु प्रमाणमिति निश्चितम् । तस्याप्यविषयत्वात्तद्विज्ञानान्तरगोचरः ॥ न चेद्वाक्योत्थविज्ञानपरिच्छेद्यं तदिष्यते । नाऽऽम्नायार्थो भवेत्तर्हि नैव वेदार्थ एव हीति" ॥८०३-८०७॥ वाक्यीयज्ञानेनैव ब्रह्मणः सिद्धत्वात्किं वैधज्ञानान्तरेणेत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । तत्र वैधर्म्यदृष्टान्तमाह—कर्मवदिति । क्वचिद्देशे काले पुंसि वेत्यर्थः ॥ वाक्योत्थज्ञानादब्रह्मणोऽपरिच्छेदे हेतुमाह—नानेति ॥ ननु शब्दस्य मानत्वाद्यथाविषयमसंसृष्टापरोक्षबोधित्वमेष्टव्यमन्यथाऽमानत्वापत्तेरिति । तत्राऽऽह—शब्देति । बहिरङ्गार्थानुसारादन्तरङ्गस्वरूपानुसरणमुचितमिति भावः । शब्दस्य संसृष्टपरोक्षबोधित्वे फलितमाह—ब्रह्मेति । तेन शाब्देन ज्ञानेनेति यावत् ॥ ब्रह्म शब्देनानवगम्यमतीन्द्रियत्वाद्धर्मवदित्याशङ्क्याऽऽह—वाक्यं चेति । यद्यप्यतीन्द्रियार्थेषु धर्मादिषु वाक्यं मानं ब्रह्म चातीन्द्रियं तथाऽपि तस्यासंसृष्टापरोक्षस्य वाक्याविषयत्वाज्ज्ञानान्तरगोचरता तेन चाविद्यानिवृत्तिर्न शाब्दज्ञानेनेत्यर्थः । तदित्यसंसृष्टापरोक्षं ब्रह्मोच्यते ॥ ब्रह्मणो वेदागम्यत्वे तदर्थत्वायोगादौपनिषदत्वविशेषणमनवकाशमिति शङ्कते—न चेदिति । वेदविहितोपायजन्यज्ञानगम्यत्वाद्वेदार्थतेत्यौपनिषदत्वमविरुद्धमित्याह—नैवमिति ॥

ग्रात्मस्वरूपकथनानात्मप्रतिषेधवाक्यजनितविज्ञानव्यतिरेकेणार्थान्तरस्य कर्तव्यस्य मानसस्य बाह्यस्य वाऽभावात्। तत्र हि विधेः साफल्यं यत्र विधिवाक्यश्रवणमात्रजनितविज्ञानव्यतिरेकेण पुरुषप्रवृत्तिर्गम्यते। यथा "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इत्येवमादौ।

न हि दर्शपूर्णमासविधिवाक्यजनितविज्ञानमेव दर्शपूर्णमासानुष्ठानम्। तच्चाधिकाराद्यपेक्षानुभावि। न तु "नेति नेति" इत्याद्यात्मप्रतिपादकवाक्यजनितविज्ञानव्यतिरेकेण दर्शपूर्णमासादिवत्पुरुषव्यापारः संभवति। सर्वव्यापारोपशमहेतुत्वात्तद्वाक्यजनितविज्ञानस्य। न ह्युदासीनविज्ञानं प्रवृत्तिजनकमब्रह्मानात्मविज्ञाननिवर्तकत्वाच्च "एकमेवा-

वाक्योत्थज्ञानातिरेकेणेति यावत्। कर्तव्यान्तराभावेऽपि वाक्यजन्यविज्ञानमेव विधेयं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तत्र हीति।

दृष्टान्तेऽपि वाक्योत्थज्ञानातिरेकेण पुरुषप्रवृत्तिरसिद्धेत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। तदनुष्ठानं तर्हि वाक्यार्थज्ञानाधीनमिति व्यर्थो विधिस्तत्राऽऽह—तच्चेति। अधिकारो विधिपुरुषसबन्धस्तत्कृतज्ञानापेक्षमनुष्ठानमित्यर्थवान्विधिरित्यर्थः। तर्हि प्रकृतेऽपि वाक्योत्थज्ञानव्यतिरेकेण पुरुषव्यापारसंभवाद्विधिसाफल्यमित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति। अथ "विमत प्रवर्तक वैदिकज्ञानत्वाद्विधिवाक्योत्थज्ञानवदित्याशङ्क्य "प्रवर्तकविषयत्वमुपाधिरित्याह—न हीति। मिथ्याज्ञानानिवर्तकत्वमुपाध्यन्तर-

उपासना करनी चाहिए" इस वचन मे अपूर्वविधि नही है। किस कारण से नही है ? क्योंकि आत्मस्वरूपकथन और अनात्मप्रतिषेधवचन से होने वाले विज्ञान से भिन्न इसका मानसिक या बाह्य कर्तव्यसम्बन्धी कोई अन्य अर्थ नही हो सकता। विधि की सफलता वही होती है, जहाँ विधिवाक्य के श्रवण (सिद्धार्थबोधकवाक्य के व्यावर्तन) मात्र से होने वाले विज्ञान के अतिरिक्त पुरुष के अनुष्ठान की कोई दूसरी प्रवृत्ति जानी जाए। जैसे "स्वर्ग की कामना वाला दर्शपूर्णमासादि यागो द्वारा यजन करे" इत्यादि वाक्यो मे हुआ करती है।

उक्त वाक्य मे दर्शपूर्णमाससम्बन्धी विधिवाक्यो से जनित विज्ञान ही दर्शपूर्णमास का अनुष्ठान नही है। उक्त अनुष्ठान तो अधिकारी आदि की अपेक्षा के समान पीछे होने वाला है। किन्तु "नेति नेति" इन आत्मप्रतिपादक वाक्यो से होने वाले विज्ञान के अतिरिक्त दर्शपूर्णमासादि के समान पुरुषव्यापार सभव नहीं है। इन वाक्यो से होने वाला विज्ञान समस्त व्यापार की निवृत्ति कर देता है। इसलिए उदासीनविज्ञान प्रवृत्ति का जनक नही हो सकता। इसके अतिरिक्त "वह अद्वितीय सत् एक

१ विधिवादिना सप्रतिपत्त्यर्थो हिशब्द। वाक्योत्थज्ञानातिरिक्तस्यैव यागादे विधेयत्व तैरिष्यते न तस्यैवेति भाव। २ सिद्धार्थबोधिवाक्यव्यावर्तनम्। ३ अनुष्ठानम्। ४ उक्तानुष्ठान च। ५ अपेक्षावदिति यावत्। ६ अब्रह्माणि ब्रह्मज्ञान एवमुत्तरत्र। ७ विधिपुरुषसम्बन्ध—नियोज्यनियोजकभावरूप। तत्कृतज्ञान चाय विधि मा प्रवर्तयतीत्याकार बोध्यम्। ८ तर्हीति—पूर्वकाण्डे निरुक्तरीत्या विधिसाफल्ये सतीत्यर्थं। ९ प्रकृतेऽपीति—वेदान्तवाक्येष्वपि। विद्यावस्थायामपीति यावत्। १०. वेदान्तवाक्योत्थ ज्ञानम्। ११. प्रवर्तक साध्य तद्धि स्वसिद्धयर्थं पुरुषप्रवृत्तो प्रयोजकं भवति। तथा च साध्यविषयकत्वमुपाधिरित्यर्थं। प्रवर्तकविषयत्वमिति। प्रवर्तकं यद्वाक्य तद्विषयात्व तज्जन्यत्वमित्यर्थं इत्याह।

द्वितीयम्" "तत्त्वमसि" इत्येवमादिवाक्यानाम् । न च तन्निवृत्तौ प्रवृत्तिरुपपद्यते । विरोधात् ।

वाक्यजनितविज्ञानमात्रादब्रह्मानात्मविज्ञाननिवृत्तिरिति चेन्न "तत्त्वमसि" "नेति नेति" "आत्मैवेदम्" "एकमेवाद्वितीयम्" "ब्रह्मैवेदममृतम्" "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि" इत्यादिवाक्यानां तद्वादित्वात् । द्रष्टव्यविधेर्विषयसमर्पकाण्येतानीति चेन्न । अर्थान्तराभावादित्युक्तोत्तरत्वात् । आत्मवस्तुस्वरूपसमर्पकैरेव वाक्यैस्तत्त्वमसीत्यादिभि. श्रवणकाल एव तद्दर्शनस्य कृतत्वाद्द्रष्टव्यविधेर्नानुष्ठानान्तरं कर्तव्यमित्युक्तोत्तरमेतत् ।

माह—अब्रह्मेति । वाक्योत्थज्ञानस्य तन्निवर्तकत्वेऽपि प्रवर्तकत्व किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । द्वितीयोपाधे साधनव्याप्ति शङ्कते—वाक्येति । ब्रह्मात्मैक्यधीपरवाक्योत्थविज्ञानस्याज्ञानतत्कार्यध्वंसित्वध्रौव्याश्च साधनव्याप्तिरित्याह—नेत्यादिना । तद्वादित्वाद्वस्तुपरत्वादिति यावत् । उक्ताना वाक्याना विध्यपेक्षितार्थसमर्पकत्वेन तच्छेषत्व शङ्कितमनुभाषते—द्रष्टव्येति । सिद्धान्तोपक्रमेण समाहितमेतदित्याह—नेति । तदेव स्पष्टयति—आत्मेति ।

ही था", 'वही ब्रह्म तू है' इत्यादि श्रुतिवचन अब्रह्म मे ब्रह्मज्ञान और अनात्म मे आत्मविज्ञान सम्पादन करने वाले है। अब्रह्म और अनात्मविषयकविज्ञान की निवृत्ति होने पर प्रवृत्ति असम्भव है, क्योकि अनात्मविज्ञाननिवृत्ति और पुरुषप्रवृत्ति मे विरोध है।

(फिर शङ्का होती है—) वाक्यजनितविज्ञान के विधिव्यावर्तकमात्र से ही अब्रह्म एव अनात्मविज्ञान की निवृत्ति नही हो सकती। (शङ्का परिहार करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नही, क्योकि श्रुतिवाक्य अनात्मविज्ञाननिवृत्ति का ही प्रतिपादन करते हैं—"तू वह है", "यह सब कार्य आत्मा नही है यह कारण भी आत्मा नही है", "यह सब आत्मा ही है", "वह अद्वितीय एक ही सत है', 'वह अमृतस्वरूप ब्रह्म ही (सबके आगे है)", "(हे गार्गि!) इससे भिन्न कोई द्रष्टा नही है', "जिससे वाणी प्रकाशित होती है) उसी को तुम ब्रह्म जानो' इत्यादि। (शङ्का होती है—) ("आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य') ये श्रुतिवचन तो द्रष्टव्यविधिविषय को समर्पण करने वाले हैं। (शङ्का परिहार किया जाता है—) ऐसा कहना उचित नही। क्योकि इनका अर्थान्तर नही हो सकता'—ऐसा उत्तर हम पहले दे चुके हैं। आत्मवस्तु के स्वरूप के समर्पक 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योसे ही उनके श्रवणकाल मे ही विधि के बिना आत्मसाक्षात्कार के सम्पन्न हो जाने के कारण द्रष्टव्यविधि से अनुष्ठानान्तर का कर्तव्य नही है—इस प्रकार उत्तर पहले ही दे चुके हैं।

१ ज्ञानद्वारा वाक्याना ज्ञातारमिति यावत् । २ विरोधादिति—प्रवृत्तिमिथ्याज्ञाननिवृत्त्योर्मिथो विरोधात् । प्रवृत्तिमिथ्याज्ञाननिवर्तकवाक्योत्थज्ञानयोर्वा विरोधात् सहानवस्थानादित्यर्थ । नहि मिथ्याज्ञानमृते प्रवृत्ति । न च तत्सम्यग्ज्ञानेन सहावस्थातुमर्हति तन्निवर्त्यत्वादिति भाव । ३ विधिव्यावर्तको मात्र । ४ निवर्तिरिति । अतो विधिना भाव्यमिति शेष । विधेयमेव ज्ञान तन्निवर्तकमित्याशय । ५ आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य इति । ६ आत्मसाक्षात्कारस्य सम्पन्नत्वात् विधि विनैव । ७ द्वितीयोपाधे साधनाव्यापकत्वेऽपि प्रथमोपाधे साधनव्यापकत्व किं न स्यादित्यर्थ । ८ नापि विध्यपेक्षति भाव । ९ विषयज्ञानापेक्षितविषयोपस्थापकत्वेन । १० उक्तसमाधानमेव ।

आत्मस्वरूपान्वाख्यानमात्रेणाऽऽत्मविज्ञाने विधिमन्तरेण न [1]प्रवर्तत इति चेन्न । आत्मवादिवाक्यश्रवणेनाऽऽत्मविज्ञानस्य जनितत्वात्कि[2] भोः [3]कृतस्य करणम् । [4]तच्छ्रवणेऽपि न प्रवर्तत[5] इति चेन्न । अनवस्थाप्रसङ्गात् । यथाऽऽत्मवादि[6]वाक्यार्थश्रवणे विधिमन्तरेण न प्रवर्तते तथा विधिवाक्यार्थश्रवणेऽपि विधिमन्तरेण न प्रवर्तिष्यत इति विध्यन्तरापेक्षा । तथा तदर्थश्रवणेऽपीत्यनवस्था प्रसज्येत ।

वाक्यजनितात्मज्ञानस्मृतिसततेः [7]श्रवणविज्ञानमात्रादर्थान्तरत्वमिति चेन्नार्थप्राप्त-

परोक्तमुद्भावयति—आत्मस्वरूपेति । कुत्र 'र्तहि विधिरात्मज्ञाने वा वाक्यश्रवणे वा तदर्थज्ञानस्मृतिसंताने वा चित्तवृत्तिनिरोधे वा नाऽऽद्य इत्याह—नाऽऽत्मवादीति । द्वितीय शङ्कते—तच्छ्रवणऽपीति । 'अनिष्टार्थवादिवाक्यस्यासत्यादिलक्षणस्य विधि विना श्रवणात्तस्मादेरपि तस्न इते श्रवणमविरुद्धमित्यभिसधाय" दोषान्तरमाह—नेत्यादिना । तत्त्वमादिश्रवणप्रयोजको "विधिरात्मनोऽपि प्रयुङ्क्ते श्रवणमिति चेन्नैवं स खल्वध्ययनविधिरन्यो वाऽऽद्ये "तदपेक्षया श्रुतस्य तत्त्वमस्यादे. "स्वार्थबोधित्वं कर्मवाक्यवदिति स्वार्थनिष्ठत्वाविशेषो द्वितीये तस्या"प्रमाणत्वात्तदीयस्वपरनिर्वाहकत्व दूरोत्सारितमित्यभिप्रेत्यानवस्था विवृणोति—यथेत्यादिना ।

तृतीयमाशङ्कते—वाक्यजनितेति । तत. सा विधेयेति शेष. । तस्या विधेयत्व दूषयति—नेति ।

(पुन शङ्का होती है—) किन्तु विधि के बिना तो आत्मस्वरूप के अनुवादमात्र स ही आत्मविज्ञान में पुरुष को प्रवृत्ति नही होनी (इसलिए प्रवतक के लिए विधि करनी चाहिए) । (सिद्धान्ती इसका खण्डन करता है—) ऐसा कहना ठीक नही । आत्मविज्ञान तो आत्मप्रतिपादक श्रुतिवाक्यो क श्रवणमात्र से ही हो जाता है । फिर किए हुए को करने मे कौनसा प्रयोजन सिद्ध होना है ? पुरुष उसे श्रवण करने मे भी प्रवृत्त नही होता—ऐसा कहना उचित नही, क्योकि इससे अनवस्था दोष का प्रसङ्ग आ जायगा । जिस प्रकार विधि के बिना आत्मवादी वाक्यरूपार्थ श्रवण मे प्रवृत्त नही होता, उसी प्रकार विधि के बिना विधिवाक्यरूपाथ के श्रवण मे भी प्रवृत्त नहीं होगा, इसलिए एक दूसरी विधि की अपेक्षा होगा । उस विध्यन्तर के अर्थ श्रवण मे फिर अन्य विधि के बिना प्रवृत्ति नही होगी—इस तरह अनवस्था का प्रसङ्ग आ जाएगा ।

(पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) फिर भी वाक्यश्रवणविज्ञान मात्र से वाक्यजनित—आत्मज्ञान की स्मृति का प्रवाह तो इसका अर्थान्तर है (अत उसका विधान करना चाहिए) । (इसका खण्डन

१ प्रवतते इति—पुमानत प्रवतका विधिरुपेय इति शेप । २ कि प्रयोजनम् अकिंचित्करमित्यर्थ ।
३ कृतस्य करणमिति । निरस्तसमस्तप्रतिबन्धस्यानुष्ठितसाधनस्याधिकारिणो ज्ञानजन्मैव विधिफल तच्चेद्वाक्य-
श्रवणत सिद्ध विध्यानथक्य स्पष्टमिति भाव । ४ तच्छ्रवण इत्यादि । यागादावनुष्ठानाय विध्यतिरेकेणा-
प्रवृत्तिवत् वाक्यश्रवणायापि त विना न प्रवर्ततातो यागादाविव वाक्यश्रवणे विधिरित्यथ । ५ पुमान् ।
६ वाक्यरूपाय । ७ श्रवणत्यादि—वाक्यश्रवणमात्रात् । तदुत्थज्ञानमात्राच्च स्मृतिसततेरथान्तरत्वादुक्त-
दोपाभावे न तस्या स्फुट विधयतरयथ । ८ विधयापयत्व । ९ नद्यास्तीरे पञ्चफलानि सन्तीत्यादि-
मिथ्यावाक्यस्य । १० सवस्यापि वाक्यस्य विधे श्रवणमिति पक्ष इति शेप । ११ स्वश्रवण स्वयमेव
विधिरित्यर्थ । १२ तत्प्रयुक्तया । १३ स्वार्थतात्पर्यवत्त्वम् । १४ अप्रमाणत्वादिति—अध्ययनविध्य-
तिरिक्तस्य श्रवणविधेरभावात् द्रष्टव्य इत्यादीनामर्थार्थत्वादिति भाव ।

त्वात् । यदैवाऽऽत्मप्रतिपादकवाक्यश्रवणादात्मविषयं विज्ञानमुत्पद्यते तदैव तदुत्पद्यमानं तद्विषयं मिथ्याज्ञानं निवर्तयदेवोत्पद्यते । आत्मविषयमिथ्याज्ञाननिवृत्तौ च तत्प्रभवाः स्मृतयो न भवन्ति 'स्वाभाविक्योऽनात्मवस्तुभेदविषयाः । अनर्थत्वावगतेश्च । आत्मावगतौ हि सत्यामन्यद्वस्त्वनर्थत्वेनावगम्यते । अनित्यदुःखाशुद्धयादिबहुदोषवत्त्वादात्मवस्तुनश्च तद्विलक्षणत्वात् ।

तस्मादनात्मविज्ञानस्मृतीनामात्मावगतेरभावप्राप्तिः । पारिशेष्यादात्मैकत्वविज्ञानस्मृतिसंततेरर्थत एव भावान्न विधेयत्वम् । शोकमोहभयाशनायापिपासादिदुःखदोषनिवर्तकत्वाच्च तत्स्मृतेः । विपरीतज्ञानप्रभवो हि शोकमोहादिदोषः । तथा च "तत्र को मोहः

अर्थप्राप्तिं विवृणोति—यदैवेति । अनात्मस्मृतिहेत्वज्ञाननिवृत्तौ तत्कार्यस्मृत्यनुपपत्तेः 'स्वभावबलप्राप्तैवाऽऽत्मस्मृतिरित्युक्तमिदानीमनात्मस्मृतेरनर्थत्वस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वाच्चाऽऽत्मस्मृतिः स्वभावप्राप्तेत्याह—अनर्थत्वेति । अनात्मनोऽनर्थत्वनिश्चयाच्च तदीयस्मृत्यनुपपत्तावितरस्मृतिरर्थप्राप्तेत्याह—आत्मावगताविति । आत्मनश्च परमेष्टत्वावगमादर्थप्राप्ता तदीयस्मृतिरित्याह—आत्मवस्तुनश्चेति ।

अर्थप्राप्त्या विधेयत्वाभावमुपसंहरति—तस्मादिति । अनात्मस्मृतिहेत्वज्ञानाभावादिति तच्छब्दार्थः । अर्थतश्चिदेकरसात्मस्वभावबलादिति यावत् । दृष्टफलत्वाच्चाऽऽत्मस्मृतिर्न विधेयेत्याह—शोकेति । मिथ्याज्ञानमेव सा निवर्तयति न शोकादीत्याशङ्क्याऽऽह—विपरीतेति । आत्मस्मृतेः शोकादिनिवर्तकत्वे मानमाह—तथा चेति ।

किया जाता है-) ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि उसकी प्राप्ति तो अर्थतः है ही । जब भी आत्मप्रतिपादक वाक्य के श्रवण से आत्मविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी समय ही वह उत्पन्न होने वाला ज्ञान आत्मविषयक मिथ्याज्ञान की निवृत्ति करते हुए उत्पन्न होता है । तथा आत्मविषयक मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने पर, तज्जनित शास्त्रानपेक्ष, अनात्मवस्तुभेदविषयक स्मृतियाँ भी नहीं होतीं । इसके अतिरिक्त अनात्मवस्तुभेदविषयक स्मृतियाँ अनर्थफलक हैं । ऐसा बोध होने पर उनकी निवृत्ति नहीं होती । आत्मज्ञान हो जाने पर (अनात्मवस्तुओं में अनर्थत्वनिश्चय से) अन्य वस्तुओं में अनर्थत्वबुद्धि होने लगती है, क्योंकि अनात्म वस्तुएँ अनित्य, दुःख और अशुद्धतादिरूप बहुत दोषों से युक्त हैं । आत्मवस्तु तो (निरतिशय-आनन्दस्वरूप, विधि प्रयत्न के बिना सिद्ध) इससे विलक्षण है ।

इसलिए आत्मावबोध हो जाने पर अनात्मविज्ञानजनित स्मृतियों का अभाव हो जाता है । अन्त में आत्मैकत्वविज्ञानसम्बन्धी स्मृति की सन्तति अर्थतः ही प्राप्त होने से विधि का विषय नहीं है; क्योंकि आत्मस्मृति तो शोक मोह भय, भूख-प्यासादि दुःख और दोषों की निवृत्ति करने वाली है । शोकमोहादि दोष तो विपरीतज्ञान से उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार "उस आत्मा में एकत्व देखने वाले को

१. शास्त्रानपेक्षा । २ चिदेकरसात्मस्वरूपसामर्थ्यप्राप्तैव । ३ अनर्थफलकत्वस्य । ४ परिशेषप्राप्तेत्यर्थः । ५ निरतिशयानन्दरूपत्वावगमादित्यर्थः । ६ विधिप्रयत्नमन्तरेण सिद्धा ।

कः शोको विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" इत्यादिश्रुतयः ।

निरोधस्तर्ह्यर्थान्तरमिति चेत् । अथापि स्याच्चित्तवृत्तिनिरोधस्य वेदवाक्यजनितात्मविज्ञानादर्थान्तरत्वात् । तन्त्रान्तरेषु च कर्तव्यतयाऽवगतत्वाद्विधेयत्वमिति चेन्न । मोक्षसाधनत्वेनानवगमात् । न हि वेदान्तेषु ब्रह्मात्मविज्ञानादन्यत्परमपुरुषार्थसाधनत्वेनावगम्यते । "आत्मानमेवावेत्तस्मात्तत्सर्वमभवत्" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" "आचार्यवान्पुरुषो वेद" "तस्य तावदेव चिरम्" "अभयं हि वै ब्रह्म भवति । य एवं वेद" इत्येवमादिश्रुतिशतेभ्यः ।

चतुर्थमुत्थापयति—निरोधस्तर्हीति । यदि वाक्योत्थज्ञानादेरविधेयत्वं तर्हि चित्तवृत्तिनिरोधो मुक्तिसाधनत्वेन विधीयतां तस्योक्तज्ञानादेरर्थान्तरत्वादित्यर्थः । चोद्यमेव विवृणोति—अथापीति । अर्थान्तरत्वात्तस्य विधेयतेति शेषः । तस्य मुक्तिहेतुत्वेन विधेयत्वे योगशास्त्रं संवादयति—तन्त्रान्तरेष्विति । 'अथ योगानुशासनमिति' निःश्रेयसहेतुः समाधिः सूत्रितस्तस्य च लक्षणमुक्तं योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति । तन्निरोधावस्थायां चाऽऽत्मनः स्वरूपप्रतिष्ठत्वं कैवल्यमाख्यातं तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमित्येवं योगशास्त्रे मुक्तिहेतुत्वेनेष्टो निरोधविधिरित्यर्थः । योगशास्त्रादपि बलवतीं श्रुतिमाश्रित्योत्तरमाह—नेत्यादिना ।

शोक मोह नहीं हो सकता", "उस ब्रह्म के आनन्द को न जानने वाला विद्वान् किसी से भयभीत नहीं होता।" "(याज्ञवल्क्य ने कहा—) हे जनक ! तुम निःसन्देह अभय पद को प्राप्त कर चुके हो", "(जो कारणरूप से पर और कार्यरूप से अपर है, उस परावर ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर इस जीव की) आत्मानात्माध्यासरूप हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है" इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

(पुनः चौथी शङ्का होती है—) निरोध भी तो मोक्ष का साधन है अर्थात् वेदवाक्यजनित आत्मविज्ञान से अर्थान्तर होने एवं शास्त्रान्तर में (मोक्ष के लिए) कर्तव्यरूप से अवगत होने के कारण चित्तवृत्तिनिरोध की विधिपरकता तो है ही। (शङ्का का समाधान किया जाता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि निरोध को मोक्ष के साधन के रूप में नहीं जाना जाता है। वेदान्त शास्त्रों में ब्रह्मात्मविज्ञान के अतिरिक्त परम पुरुषार्थ की उपलब्धि के लिए साधनरूप से अन्य किसी को स्वीकृति नहीं दी गई है। "उसने अपने को ही जाना (मैं ब्रह्म हूँ)", "इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया", "ब्रह्मज्ञानी परतत्त्व को प्राप्त कर लेता है", "लोक में जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है", "वैसे ही इस लोक में आचार्यवान् पुरुष ही सत्य को जानता है", "उस तत्त्ववेत्ता के लिए विदेहकैवल्य प्राप्त करने में उतनी देर है, जब तक कि वह (प्रारब्धकर्म को भोग कर वर्तमान देहबन्धन से)

१. आहुरिति शेषः । २. निरोधस्य । ३. आदिना "तमेव विदित्वेत्यादिग्रहः" । ज्ञानमेव केवलं कैवल्यसाधनं न निरोधः श्रुतिविरोधेन योगशास्त्रस्यानवकाशत्वादिति भावः । ४. मनोनिरोधस्य । ५. मारभ्यते । ६. सूत्रेण । ७. अभिमतः ।

'अनन्यसाधनत्वाच्च निरोधस्य न ह्यात्मविज्ञानतत्स्मृतिसंतानव्यतिरेकेण चित्तवृत्तिनिरोधस्य 'साधनमस्ति। अभ्युपगम्येदमुक्तं 'न तु ब्रह्मविज्ञानव्यतिरेकेणान्यन्मोक्षसाधनमवगम्यते।

आकाङ्क्षाभावाच्च भावनाभावः। यदुक्तं यजेतेत्यादौ किं केन कथमिति 'भावनाकाङ्क्षायां फलसाधनेतिकर्तव्यताभिराकाङ्क्षापनयनं यथा' तद्वदिहाप्यात्मविज्ञानविधावुपपद्यत इति। तदसत्। एकमेवाद्वितीयं तत्त्वमसि नेति नेत्य'नन्तरमबाह्य-

चित्तवृत्तिनिरोधस्य मुक्तिहेतुत्वेऽपि न विधेयत्वं विधिं विना 'तत्सिद्धेरित्याह—अनन्यति। न तावद्यया'कथंचिन्निरोधो विधेयः सर्वस्यापि तत्सम्भवाद्विधिवैयर्थ्यान्नापि 'सर्वात्मना तन्निरोधो विधेयो ज्ञानादेव तत्सिद्धेर्विध्यानर्थक्यादित्यर्थः'। नान्यः पन्था विद्यते ज्ञानादेव तु कैवल्यमित्यादि-शास्त्रमनुसरन्नुपेत्यवादं त्यजति—अभ्युपगम्येति। निरोधस्य मुक्तिहेतुत्वमिदमा परामृष्टम्। "योगशास्त्रमपि श्रुतिस्मृतिविरोधे "न प्रमाणम्। "एतेन योग प्रत्युक्त "इति न्यायादिति भाव।

वेदान्तेषु विध्यभावोक्त्या विधिर्निरस्तः सप्रत्यशत्रयवती भावना तेष्वस्तीत्युक्तं दूषयति—आकाङ्क्षेति। "तदेव स्फुटयितुमुक्तमनुवदति—यदुक्तमिति। आगमावष्टम्भेन निराचष्टे—तदसदिति।

मुक्त नही हो जाता', "जो कोई उक्त आत्मा को अभय ब्रह्म समझता है, वह अभय ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है, इसमे किसी प्रकार का सन्देह नहीं" इत्यादि सैकडो श्रुतियाँ इस (ब्रह्मात्मविज्ञानमात्र साधन) मे प्रमाण हैं।

चित्तवृत्तिनिरोध मे भी ज्ञान ही साधन होने के कारण आत्मविज्ञान एव उसकी स्मृति की सतति के अतिरिक्त चित्तवृत्तिनिरोध का विधि आदि रूप दूसरा साधन नही है। यह केवल अभ्युपगमवाद ही है, सिद्धान्त नही है क्योकि वस्तुत (श्रुतियो और स्मृतियो मे) ब्रह्मविज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष का कोई अन्य साधन नही जाना जाता।

(अब अश त्रयवती भावना का खण्डन करते है—) आत्मविज्ञान मे किसी प्रकार की आकांक्षा न होने के कारण उसम भावना का भी अभाव है। जो तुमने कहा कि 'यजन करे' इत्यादि विधि मे 'किसका किसके द्वारा और किस प्रकार (यजन करे)' ऐसी भावना की आकांक्षा होने पर जिस प्रकार फल, साधन और इतिकर्तव्यता द्वारा आकांक्षा निवृत्त हो जाती है, उसी प्रकार यहाँ आत्मविज्ञान-सम्बन्धी विधियो मे भी उसकी सम्भावना की जाती है—ऐसा तुम्हारा मत उचित नही ठहरता, क्योकि "(हे सोम्य!) नामरूपात्मक जगत् (सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदशून्य) एकमात्र अद्वितीय सत् ही था", '(हे श्वेतकेतु!) वही तू है', "ब्रह्म (सर्वोपाधिविशेष निरास द्वारा) नेति नेति है", 'वह यह ब्रह्म जातिव्यक्तिहीन और अबाह्य है", "(सबका अनुभव करनेवाला) यह आत्मा ही ब्रह्म

१ ज्ञानादन्यत्साधनं नास्ति यस्य। २ विध्यादिरूपम। ३ कस्मादभ्युपगमवादोऽयं सिद्धान्त कुतो न स्यादित्यत आह—न त्विति। श्रुतौ स्मृतौ वेति शेष। ४ भावनाया भाव्याद्याकाङ्क्षाया सत्याम्। ५ भवति। ६ जातिव्यक्तिहीनम्। ७ ज्ञानादेव चित्तवृत्तिनिरोधस्य सिद्धत्वादित्यर्थ। ८ कादाचित्क। ९ सार्वदिक। १० ननु निरोधस्य मुक्तिहेतुत्वं तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानमित्यादौ योगशास्त्रे प्रसिद्धमित्यत आह—योगेति। ११ सति। १२ एतेनेति। कपिलमतनिरासेन पातञ्जलमत निरस्त वेदितव्यम्। १३ ब्र सू २-१-३। १४ सङ्ग्रहवाक्यमेव।

मयमात्मा ब्रह्मे[१]त्यादिवाक्यार्थविज्ञानसमकालमेव [१]सर्वाकाङ्क्षाविनिवृत्तेः । न च वाक्यार्थविज्ञाने विधिप्रयुक्तः [२]प्रवर्तते । विध्यन्तरप्रयुक्तौ चानवस्थादोषमवोचाम । न चैकमेवाद्वितीयं ब्रह्मे[३]त्यादिवाक्येषु विधिर[३]वगम्यते । आत्मस्वरूपान्वाख्यानेनैवा-वसितत्वात्[४] ।

'वस्तुस्वरूपान्वाख्यानमात्रत्वादप्रामाण्य'मिति चेत् । अथापि स्याद्यथा सोऽरोदी-द्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमित्येवमादौ [७]वस्तुस्वरूपान्वाख्यानमात्रत्वादप्रामाण्यमेवमात्मार्थ-वाक्यानामपीति चेन्न । विशेषात् । न वाक्यस्य वस्त्वन्वाख्यानं क्रियान्वाख्यानं वा

विधिमन्तरेण वाक्यार्थज्ञाने प्रवृत्त्ययोगाद्वैधमेव ज्ञानं सर्वाकाङ्क्षानिवर्तकमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । यथा कर्मकाण्डे स्वाध्यायविधेरर्थावबोधपर्यन्तत्वेन ज्योतिष्टोमादिविध्यर्थज्ञाने विध्यन्तरं नापेक्षते तथा ज्ञानकाण्डेऽपि स्यादित्यर्थः । तत्रापि वेदः 'कृत्स्नोऽधिगन्तव्य इति विध्यन्तरप्रयुक्तमेव वाक्यार्थज्ञानमित्याशङ्क्याऽऽह—विध्यन्तरेति । 'श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गाच्च न विधिशेषत्वं वेदान्तानामित्याह—न चेति ।

'वेदान्ताः स्वार्थे न मानं सिद्धार्थवाक्यत्वात्सोऽरोदीदित्यादिवदित्यनुमानात्तेषां विधिशेषत्वं प्रामाण्यार्थमेष्टव्यमिति शङ्कते—वस्तुस्वरूपेति । तदेवानुमानं प्रपञ्चयति—अथापीति । विधेरश्रुत-त्वेऽपीति यावत् । फलवन्निश्चितज्ञानाजनकत्वमुपाधिरिति मन्वानः समाधत्ते—न विशेषादिति ।

है।"—इत्यादि श्रुतिवचनों के अर्थ का ज्ञान होने के साथ ही (किं, केन, कथरूपा) सब प्रकार की आकाक्षाएं निवृत्त हो जाती हैं। और एक बात यह भी है कि अधिकारी वाक्यार्थज्ञान में विधि से प्रेरित होकर प्रवृत्त नहीं होता। विध्यन्तर का प्रयोग मानने से अनवस्था दोष होता है—यह पहले ही कह आए है। इसके अतिरिक्त "एकमेवाद्वितीय ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों में विधि का श्रवण नहीं होता, क्योंकि उनकी सफलता तो आत्मस्वरूप मात्र के अनुवाद में ही है।

(पुनः शङ्का होती है—) चित् एकरस आत्मस्वरूप के अनुवाद मात्र होने से वेदान्तवाक्यों की अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। जैसे "वह रोया, जो रोया, वह रुद्र का रुद्रत्व है" इत्यादि वाक्यों में वस्तुस्वरूप का अनुवादमात्र होने से वह अप्रामाण्य है, वैसे ही आत्मविषयक वाक्य भी अप्रामाण्य हैं—ऐसा कहने में क्या हानि है? (इसका परिहार किया जाता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मविषयक वाक्यों की विशेषता है। वस्तु का अनुवाद अथवा क्रिया का अनुवाद ही वाक्य के

१. सर्वेत्यादि—किं केन कथमित्याकाङ्क्षासु निरपेक्षहेतुरज्ञानं तस्य वाक्योत्थप्रत्यग्ज्ञानेन हानात्प्राधान्यवती भावना वेदान्तेषु सभाव्यते अज्ञाने सत्येवाकाङ्क्षाद्वारा तादृश्या भावनाया सभवादतो न तेषु विधिरिति भाव । तदुक्त वार्तिके—"सर्वाकाङ्क्षैकहेतोश्च प्रत्यग्विज्ञानहानत । न भावनेह सभाव्या मोहे सत्येव सा यत" इति ॥८५३॥ २ अधिकारी । ३ श्रूयते । ४. सफलत्वात् । ५. वस्त्विति चिदेकरसात्मस्वरूपा-नुवादमात्रत्वादित्यर्थ. । प्रवर्तकनिवर्तकधीजनकत्वाभावो मात्रशब्दार्थ. । ६. वेदान्तानाम् । ७ सार्थ.। ८. श्रुतस्याविधिशेषत्वरूपस्वातन्त्र्यस्य हानिरश्रुतविधे' कल्पना । ९ वेदान्ता इति । वेदान्तेषु विधिनिरासे—नात्मस्वरूपमात्रावसायित्वमुक्तमेतावता सप्रतीत्यादि ।

प्रामाण्याप्रामाण्यकारणं किं तर्हि [1]निश्चितफलवद्विज्ञानोत्पादकत्वम् । तद्यत्रास्ति तत्प्रमाणं वाक्यं यत्र नास्ति तदप्रमाणम् ।

किंच भोः पृच्छामस्त्वामात्मस्वरूपान्वाख्यानपरेषु वाक्येषु फलवन्निश्चितं च विज्ञानमुत्पद्यते न वा । उत्पद्यते चेत्कथमप्रामाण्यमिति । किंवा न पश्यस्य[2]विद्याशोकमोहभयादिसंसार[3]बीजदोषनिवृत्तिं विज्ञानफलम् । न शृणोषि वा किं "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" । "मन्त्रविदेवास्मि नाऽऽत्मवित्सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु" इत्येवमाद्युपनिषद्वाक्यशतानि । एवं विद्यते किं

नञर्थं स्पष्टयति—न वाक्यस्येति । विशेषं व्याचष्टे—किं तर्हीति । तस्य प्रामाण्यप्रयोजकत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां दर्शयति—तद्यत्रेति ।

सामान्यन्यायं प्रकृते योजयन्पृच्छति—किं चेति । किं तेषु तादृग्ज्ञानमुत्पद्यते न वेति प्रश्नार्थः । द्वितीये[4]ऽनुभवविरोधः स्यादिति मत्वा पक्षान्तरमनूद्य प्रत्याह—उत्पद्यते चेदिति । प्रामाण्ये हेतुसद्भावान्नाप्रामाण्यमित्यर्थः । निश्चितज्ञानजनकत्वेऽपि फलवत्त्वविशेषणमसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—किंवेति । विद्वदनुभवफलश्रुतिसिद्धं विशेषणमिति भावः । [5]दृष्टान्तं विघटयितुं प्रश्नान्तरं प्रस्तौति—एवमिति ।

प्रामाण्य या अप्रामाण्य मे कारण नही है । तो फिर क्या कारण है ? निश्चित फल वाले विज्ञान को उत्पन्न करना कारण है । वह जिसमे है, वह वाक्य प्रामाणिक है, जिसमे नही है, वह वाक्य अप्रामाणिक है ।

अच्छाजी तो हम तुमसे पूछते हैं—आत्मस्वरूप के अनुवादपरक वाक्यो (के श्रवण) से फलयुक्त और निश्चित विज्ञान उत्पन्न होता है अथवा नही । यदि उत्पन्न होता है तो अप्रामाण्य कैसे हो सकता है ? अथवा क्या तुम अविद्या, शोक, मोह और भयादि मूलाज्ञान की निवृत्ति होना विज्ञान का ही फल है—ऐसा नही देखते हो ? और क्या तुमने श्रुतिवाक्य भी श्रवण नहीं किए हैं—"उस समय या उस आत्मा में एकत्व देखने वाले का क्या शोक और मोह हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता (ये तो आत्मा को न जानने वाले को ही हुआ करते है)", "हे भगवन् ! मैं केवल शब्दार्थमात्र ही जानता हूँ, आत्मा को मैं नहीं जानता, (मैने आप जैसे महापुरुषो से सुना है, आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है) और हे भगवन् ! मैं तो शोक करता हूँ, ऐसे मुझ शोकग्रस्त को शोक से पार कर देवें अर्थात् मुझे अभय प्राप्ति करा देवें"—इस प्रकार सैकडो उपनिषद् वाक्य है । (पुन पूर्वपक्षी से

१ निश्चितेति किम् ? 'योषा वा गौतमाग्निरित्यादौ' मा भूत् । तस्य सफलत्वेऽप्युपासनत्वेनानिश्चयात्मकत्वात् । फलवदिति किम् ? सोऽरोदीदित्यत्र' मा भूत् । विज्ञानेति किम् ? हुंफडादिशब्दानां मन्त्राङ्गतया फलवत्त्वेन तत्र मा भूदिति ॥ अत्र "सोऽरोदीदित्यस्य बर्हिषि रजतं न देयमिति" वाक्यशेषताऽवगन्तव्या । स—देवैर्निरुद्धोऽग्निः । २ अविद्याऽत्र कार्याविद्या अनित्यादिषु नित्यादिबुद्धिरूपा ग्राह्या । ३. बीजभूता दोषो मूलाज्ञानम् । ४ विद्वदनुभवविरोधः फलश्रुतिविरोधश्च । ५ "सोऽरोदीदिति" दृष्टान्तं निरसयितुमित्यर्थः । उक्तानुमानाङ्गत्वं तस्य निरसयितुमिति यावत् ।

सोऽरोदीदित्यादिषु, निश्चितं फलवच्च विज्ञानम्। न चेदुत्पद्यतेऽस्त्वप्रामाण्यम्। तदप्रामाण्ये सत्यपि फलवन्निश्चितविज्ञानोत्पादकस्य किमित्यप्रामाण्यं स्यात्। तदप्रामाण्ये च दर्शपूर्णमासादिवाक्येषु को विश्रम्भः।

ननु दर्शपूर्णमासादिवाक्यानां पुरुषप्रवृत्तिविज्ञानोत्पादकत्वात्प्रामाण्यम्। आत्मविज्ञानवाक्येषु तन्नास्तीति। सत्यमेवम्। नैष दोषः। प्रामाण्यकारणोपपत्तेः।

वेदान्तेष्विवेति यावत्। किंवा नेति शेषः। आद्ये साध्यवैकल्यं मत्वा द्वितीयं दूषयति—न चेदिति। तर्हि तद्दृष्टान्तेन तत्त्वमस्यादेरपि स्यादप्रामाण्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तदप्रामाण्य इति। विमतं स्वार्थे मानं यथोक्तज्ञानजनकत्वाद्दर्शादिवाक्यवदिति भावः। विपक्षे दोषमाह—तदप्रामाण्ये चेति।

प्रवर्तकज्ञानजनकत्वमुपाधिरिति शङ्कते—नन्विति। साधनव्याप्तिं धुनीते—आत्मेति। प्रवर्तकधीजनकत्वं धर्मिणि नास्तीत्यङ्गीकरोति—सत्यमिति। तर्हि यथोक्तोपाधिसद्भावादनुमानानुत्थानमित्याशङ्क्याऽऽह—नैष दोष इति। न हि प्रवर्तकधीजनकत्वं प्रामाण्ये कारणं निषेधवाक्येष्वप्रामाण्यप्रसङ्गात्। न च निवर्तकधीजनकत्वमपि तथा विधावप्रामाण्यप्रसङ्गात्। नोभयं प्रत्येकमु-

---

पूछते हैं—) क्या 'वह रोया' इत्यादि वाक्यों में इसी प्रकार निश्चित और फलयुक्त विज्ञान है? (दूसरी बात का खण्डन करते हैं—) यदि (आत्मपरकवाक्यों से सफल और निश्चित विज्ञान) उत्पन्न नहीं होता है तो भले ही उनका अप्रामाण्य रहे। उनके अप्रामाण्य होने से फलयुक्त और निश्चित ज्ञान उत्पन्न करने वाले आत्मवाक्यों की अप्रामाणिकता क्या होगी? और उसे अप्रामाणिक मानने से दर्शपूर्णमासादि वाक्यों में विश्वास ही क्या होगा?

(पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) दर्शपूर्णमासादि वाक्यों की प्रामाणिकता तो पुरुषप्रवृत्ति के प्रयोजक विज्ञान के उत्पादक होने में है, आत्मविज्ञान वाक्यों में प्रवृत्ति धीजनकत्व नहीं है।

---

१ अप्रामाण्यमिति। तथा चोक्तोपाधिमत्त्वान्नानुमानोत्थानमिति भावः। २ को विश्रम्भः—का विश्वासः। उक्तज्ञानजनकस्यापि तत्त्वमस्यादेरमानत्वे विधिवाक्यमप्यमानं स्यात्तथा च मानत्वं न क्वापि भवेदिति भावः। ३ प्रवृत्तिविज्ञानेति प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानेत्यर्थः। ४ प्रामाण्यमिति—तथा च न दर्शादिवाक्यानां निश्चितफलवद्धीजनकतया मानत्वं किन्तु प्रवर्तकधीजनकत्वेनेति भावः। ५ प्रवृत्तिधीजनकत्वे। ६ प्रामाण्यकारणोपपत्तेरिति। विमतं मानं तत्कारणवत्त्वात् सम्मतवदित्यर्थः। ७ आद्ये साध्यवैकल्यमिति यथोक्तज्ञानसत्त्वे तत्र स्वार्थे मानत्वस्याभ्युपगन्तव्यत्वध्रौव्यादेव। तत्र स्वार्थे मानत्वाभावाभ्युपगमे साध्यस्याभाव इत्यर्थः। ८ दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्। ९ अप्रामाण्यमिति। यथोक्तज्ञानजनकत्वात्। तथा चोपाधिः साधनव्यापकतेति भावः। १० वेदान्तवाक्यम्। ११ अतिप्रसङ्गरूपम्। १२ पूर्ववाद्युपाधेः साधनव्यापकत्वं निरस्यति। १३ पक्षे। १४ तर्हीति—धर्मिणि प्रवर्तकधीजनकत्वानङ्गीकारे। दृष्टान्ते च तत्सत्त्वाभ्युपगम इत्यर्थः। १५ किं च विमतमनुमानम् बाधकत्वं मतिं प्रवर्तकज्ञानजनकत्वात् जरद्गवादिवाक्यवदित्यभीष्ट (पूर्वपक्ष्यभिमत) व्यतिरेक (सत्प्रतिपक्षत्व) निराचष्टे—नैष इति। १६ न हि प्रवर्तकेत्यादि—तथा च प्रवर्तकधीजनकत्वादीनां प्रामाण्यकारणत्वासंभवान्निरस्यं चाभावात् फलवन्निश्चितज्ञानजनकत्वस्यैव तथात्वाद्वेदान्तवाक्यस्य साध्यवत्त्वनिश्चयात्तत्र च प्रवर्तकज्ञानजनकत्वस्याभावात् साध्याव्यापकतया तस्योपाधित्वमेव न घट इति भावः।

प्रामाण्यकारणं च यथोक्तमेव नान्यत् । [1]अलंकारश्चायं यत्सर्वप्रवृत्तिबीज[2]निरोधफलवद्विज्ञानोत्पादकत्वमात्मप्रतिपादकवाक्यानां नाप्रामाण्यकारणम् ।

यत्तूक्तं विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीतेत्यादिवचनानां [3]वाक्यार्थविज्ञानव्यतिरेकेणोपासनार्थत्वमिति । सत्यमेतत् । किंतु नापूर्वविध्यर्थता पक्षे प्राप्तस्य नियमार्थतैव ।

भयकारणत्वाभावेना[4]प्रामाण्याविति भावः । वेदान्तेषु प्रवर्तकयोजनकत्वाभावो न केवलमदोष. किंतु गुण इत्याह—अलंकारश्चेति । आत्मानं चेदित्यादिश्रुतेर[5]तद्बुद्ध्वेत्यादिस्मृतेश्चाऽऽत्मज्ञानं कृतकृत्यतानिदानम् । न च ज्ञानस्य प्रवर्तकत्वे तद्युक्तं प्रवृत्तीनां [6]क्लेशाक्षेपकत्वादतो[7] यथोक्तज्ञानजनकत्वं वाक्यानां भूषणमेवेत्यर्थः ।

शब्दोत्थं ज्ञानं विधेयमिति [8]प्रतिक्षिप्य पूर्वोक्त[9]पक्षान्तरमनुवदति—यत्तूक्तमिति । उपासनार्थत्वमित्यात्मोपासनेन तत्साक्षात्कारं भावयेदित्येवमर्थत्वमित्यर्थः । [10]अभ्युपगमवादेन परिहरति—सत्यमिति । यथोक्तेषु वाक्येष्वात्मोपासनं तत्साक्षात्कारमुद्दिश्य विधीयते चेत्प्रकृतेऽपि वाक्ये तत्संभवान्नापूर्वविधिरिति प्रक्रमो [11]भज्येतेत्याशङ्क्याऽऽह—किंत्विति । कथं तर्हि विध्यङ्गीकारवाचोयुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—पक्षेति । यथा पक्षे प्राप्तस्यावघातस्य व्रीहीनवहन्तीति नियमरूपो [12]विधिरङ्गीकृतस्तथाऽऽत्मोपासनस्यापि पक्षे प्राप्तस्य तदेव कर्तव्यं नानात्मोपासनमिति यो नियमस्तदर्थता प्रकृतवाक्यस्येति न प्रक्रमविरोधोऽस्तीत्यर्थः ।

(सिद्धान्ती समाधान करता है—) यह सत्य है, हमे अङ्गीकार है, किन्तु इसमे कोई दोष नहीं है । *क्योंकि (आत्मविषयक वाक्यों में भी) प्रामाण्य का कारण सिद्ध ही है । प्रामाण्य का कारण* उपरोक्त ही है, अन्य नही । और यह तो शोभा की बात है कि समस्त प्रवृत्ति के बीज का निवृत्तिफलक विज्ञान आत्मप्रतिपादक वाक्यो से उत्पन्न होता है, यह उसकी अप्रामाणिकता का कारण नही है ।

इसके अतिरिक्त जो यह कहा गया है कि "बुद्धिमान् ब्राह्मण को उस ब्रह्म को ही जानकर उसी मे बुद्धि लगानी चाहिये" इत्यादि श्रुतिवचन ज्ञान से भिन्न होने से उपासना के लिए है। यह कहना ठीक है । किन्तु यह अपूर्वविधि के लिए नही हो सकते । बल्कि विकल्प से प्राप्त उपासना का

१ अत्रासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—प्रामाण्यति । २ अलङ्कारश्चायमिति । ये वेदान्ताना मानत्वमुपयान्ति तेषामेषोऽलङ्कारो यदशेषप्रवृत्तीना कारणीभूतमिथ्याज्ञानरागादिनिवृत्तिफलकविज्ञानजनकत्व वेदान्तानाम् अन्यथा विधिशेषत्वेन वस्तुनि प्रामाण्यासिद्धिरित्यर्थ । ३ निवृत्तिफलकेत्यर्थः । ४. शब्दोत्यज्ञानभिन्नत्वेन । ५ अप्रामाण्यादिति । न च विधौ प्रवृत्तिजनकत्व निषधे च निवृत्तिजनकत्व प्रामाण्यप्रयोजक स्यादिति वाच्य प्रयोजकाननुगमे प्रयोज्यस्य प्रामाण्यस्याननुगमापातात् । अन्यतरत्वमपि निरूप्यमाण न प्रत्येकातिरिक्तमिति ध्येयम् । तद्धि भेदद्वयावच्छिन्नप्रतियोगिकभेदवत्त्वरूप प्रत्यवगेव पयवस्यतीति भावः । ६ 'बुद्धिमान् स्यात्—।" गी० । ७ क्लेशप्रयोजकत्वात् । ८ अत इति—प्रवर्तक ज्ञानस्य कृतार्थताऽप्रयोजकत्वादित्यर्थ । ९. पक्षं निरस्य । १० उपासनाऽभिन्न ज्ञानान्तर विधेयमिति पक्षम् । ११. अभ्युपगमवादेनेति—साक्षादेव भाष्यकृता विवक्षितो नियमविधिरिति किं नेष्यत इत्याशङ्क्य समाहित वार्तिके—"न कश्चिदपि सभाव्यो यथोक्तन्यायगौरवात् । विधिर्यतोऽभ्युपगमान्नियमोक्तिरिय तत" ॥१२२॥ इति । आत्मधियो नित्यप्राप्तत्वप्रापकन्यायस्य बलीयस्त्वादित्याह—यथोक्तन्यायगौरवादिति । अभ्युपगमादिति—विधिमभ्युपेत्यापि वेदान्तानां वस्तुपरत्व वक्ष्यामीत्येव विवक्षित्वा पक्षे प्राप्तस्य नियमार्थतैवेतीय नियमवाच्योक्तिरित्यर्थ. । १२. विरुध्येत । १३. अवघातेनैव तुषविमोक. कर्तव्यो न नखविदलनादिनेत्याकारो विधिर्नियम. ।

कथं पुनरुपासनस्य पक्षप्राप्तिर्यावता' पारिशेष्यादात्मविज्ञानस्मृतिसंततिर्नित्यै-
वेत्यभिहितम् । 'बाढम् । यद्यप्येवं शरीरारम्भकस्य कर्मणो नियतफलत्वात्सम्यग्ज्ञान-
प्राप्तावप्यवश्यंभाविनी प्रवृत्तिर्वाङ्मनःकायानाम् । लब्धवृत्तेः कर्मणो' बलीयस्त्वान्मु-
क्ते'ष्वादिप्रवृत्तिवत् । 'तेन पक्षेप्राप्तं ज्ञानप्रवृत्तेर्दौर्बल्यम् ।
तस्मात्त्यागवैराग्यादिसाधनबलावलम्बिनाऽऽत्मविज्ञानस्मृतिसंततिर्नियन्तव्या भवति

पाक्षिकीं प्राप्तिमुक्तामाक्षिपति—कथमिति । का पुनर'नुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—यावतेति ।
आत्मनि वाक्योत्थे विज्ञाने सत्यनात्मस्मृतिहेतूनां मिथ्याज्ञाना"दीनामपनीतत्वाद्धेत्वभावे फलाभाव
इतिन्यायेन 'तासामसंभवादात्मस्मृतिसंततिरेव पुन. सदा स्यात्प्रकारान्तरायोगादिति सिद्धान्तिनो-
क्तत्वान्नाऽऽत्मोपासनस्य पक्षे प्राप्तिरित्यर्थः । तस्य नित्यप्राप्तिमुक्तामङ्गी करोति—बाढमिति । "तर्हि
नियमविधि"वाचोयुक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीति । आत्मनि नित्यापरोक्षसंविदेकताने स्मरणं
विस्मरणं वा यद्यपि "नोपपद्यते तथाऽपि तयोस्तस्मिन्ननुभवसिद्धत्वान्नियमविधेः सावकाशत्वमित्या-
शयेनाऽऽह—शरीरेति । अथाऽऽरब्धफलस्यापि" कर्मणः सम्यग्ज्ञानान्निवृत्तेर्न विदुषो वागादीनां
प्रवृत्तिरत आह—लब्धेति । यथा मुक्तस्येषुपाषाणादेर"प्रतिबन्धे यावद्वेग प्रवृत्तिरवश्यंभाविनी तथा
प्रवृत्तफलस्य कर्मणो ज्ञानेनो"पजीव्यतया ततो बलवत्त्वात्तद्वशाद्विदुषोऽपि यावद्भोगं वागादिप्रवृत्ति-
ध्रौव्यमित्यर्थः । आरब्धकर्मप्राबल्ये फलितमाह—तेनेति । आरब्धस्य कर्मणो यथोक्तेन न्यायेन
प्राबल्ये तद्वशात्क्षुधादिदोषो यदोद्भवति तदाऽऽत्मनि विस्मरणादिसंभवात्तज्ज्ञानप्राप्तेः पाक्षिकत्वा-
दवश्यंभाविकर्मापेक्षया तद्दौर्बल्यं स्यादित्यर्थः ।
"तथाऽपि नियमविध्यङ्गीकारस्य "किमायातं तदाह—तस्मादिति । ज्ञानस्य पक्षे प्राप्तत्वं

नियम करने के लिए ही हैं ।
(पुनः पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) परन्तु फिर एक पक्ष मे उपासना की प्राप्ति कैसे हो सकती
है ? क्योंकि परिशेषत आत्मविज्ञानविषयक स्मृतिसन्तति नित्य ही है—यह कहा जा चुका है।
(सिद्धान्ती समाधान करता है—)यह सत्य है । यद्यपि ऐसा है, फिर भी शरीरारम्भक कर्म
नियतफलक होने से सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होने पर वाक्, मन और देहादि की प्रवृत्ति तो
अवश्यम्भावी है । लब्धस्वरूप वाले कर्म का ज्ञान की अपेक्षा बलवान् होना छूटे हुए बाण आदि की
प्रवृत्ति के समान है । इसलिए एक पक्ष मे ज्ञान प्रवृत्ति की दुर्बलता प्राप्त ही जाती है ।
अत त्याग, वैराग्य आदि साधनो के बल के आश्रय मे आत्मविज्ञान स्मृति की सतति नियम

१ यत । २ सत्यम् । ३ लब्धस्वरूपस्य । ४. ज्ञानापेक्षया । ५ इषु—बाण । ६ प्रारब्धस्य
बलित्वेन । ७ प्राप्ते । ८ नियमेन कर्तव्या । ९ पक्षप्राप्तौ । १० आदिना रागद्वेषादि ।
११. आत्मोपास्तेर्नित्यप्राप्तिस्वीकारे । १२ स्वीकारवचनम् । १३ नोपपद्यत इति । तथा च वार्तिकम्—
"न स्मृतिर्विस्मृतिर्वेह संभाव्येतापि केनचित् । सकृद्विभातो ह्येवैष रवौ रात्र्यहनी यथा" ॥८४६॥ इति ।
इह—आत्मनि । केनचित्—कर्त्रा । संभावनाभावे निश्चयो दूरादिति वक्तुमपिशब्द. । तत्र हेतुमाह—
सकृदिति । प्रत्यगात्मा सदैवापरोक्षो यस्मादित्यर्थं । यथोक्तात्मनि तयो संभावनाभावे दृष्टान्तमाह—रवाविति ।
नोदेता नास्तमेतेत्यादिश्रुतेर्दृष्टान्तसिद्धि । सूर्यो नोदयमस्त च गच्छतीति न तत्र रात्र्यहकल्पनेति तदर्थं ।
१४. संचितादिदृष्टान्तार्थकोऽपिशब्द । १५ कुड्यादिप्रतिबन्धाभावे । १६ उपजीव्यतयेति—शरीरद्वारा-
ऽऽश्रयणीयतयेत्यर्थ. । कर्मणा शरीरम्—ततो ज्ञानमिति । १७. प्रारब्धतो ज्ञानदौर्बल्येऽपि । १८. किं फल
प्राप्तम् ।

न त्वपूर्वा कर्तव्या प्राप्तत्वादित्यवोचाम। तस्मात्प्राप्तविज्ञानस्मृतिसंतान नियमविध्यर्थानि विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीतेत्यादिवाक्यान्यन्यार्थासंभवात्।

अनात्मोपासनमिदमितिशब्दप्रयोगात्। यथा 'प्रियमित्येतदुपासीतेत्यादौ न प्रियादिगुण एवोपास्य किं तर्हि प्रियादिगुणवत्प्राणाद्येवोपास्यम्। तथेहापीतिपरात्मशब्दप्रयोगादात्मगुणवदनात्मवस्तूपास्यमिति 'गम्यते। 'आत्मोपास्यत्ववाक्यवैलक्षण्याच्च। 'परेण च वक्ष्यत्यात्मानमेव 'लोकमुपासीतेति। तत्र च वाक्य आत्मैवोपास्यत्वेनाभिप्रेतो 'द्वितीयाश्रवणादात्मानमेवेति। इह तु न द्वितीया श्रूयत इतिपर आऽऽत्मशब्द आत्मेत्येवोपासी-

तच्छब्दार्थः। आदिपदं ब्रह्मचर्यशमदमादिसंग्रहार्थम्। विज्ञायेत्यादिवाक्यानां नियमविध्यर्थत्वमुपसंहरति—तस्मादिति। आदिपदेन प्रकृतमपि 'वाक्यं संगृह्यते। तच्छब्दार्थमेव स्पष्टयति—अन्यार्थेति।

"शाब्दज्ञानादेव पुमर्थसिद्धेस्तस्य" "तदावृत्तेर्"तृतीयज्ञानस्य वा विधेयत्वाभावाद्वेदान्ताः शुद्धे सिद्धेऽर्थे मानमित्युक्तमिदानीमितिशब्दप्रयुक्तं चोद्यमुत्थापयति—अनात्मेति। आत्मशब्दादूर्ध्वमितिशब्दप्रयोगादात्मशब्दार्थस्योपास्यत्वेनाविवक्षितत्वादात्मगुणकस्यानात्मनोऽव्याकृतशब्दितस्य प्रधानस्योपासनमस्मिन्वाक्ये विवक्षितमित्यर्थः। उक्तमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेत्यादिना। अनात्मोपासनमेवात्र विधित्सितमित्यत्र हेत्वन्तरमाह—आत्मेति। तदेव" प्रपञ्चयति—परेणेति। ततो वैलक्षण्यं

से करनी पडती है, अपूर्वरूप से नही करनी पडती, क्योकि आत्मज्ञान होने पर वह प्राप्त ही है, ऐसा हम कह चुके हैं। इसलिए "बुद्धिमान ब्राह्मण को उस ब्रह्म को जानकर उसी मे बुद्धि लगानी चाहिये" इत्यादि श्रुतिवाक्य, प्राप्तविज्ञान की स्मृति सन्तति की नियमविधि के लिए हैं क्योकि उनका दूसरा कोई अर्थ होना सम्भव नही है।

(शङ्का होती है—) ("आत्मा इत्येवोपासीत" मन्त्र मे) इतिशब्द का प्रयोग होने से यह तो अनात्मोपासना है। जिस प्रकार "प्रियम इति एतद् उपासीत" इत्यादि श्रुतिवाक्यो मे प्रियादि गुण उपास्य नही हैं। तो क्या उपास्य हैं? प्रियादिगुणयुक्त प्राणादि ही उपास्य है। इसी प्रकार यहाँ भी "आत्मा" शब्द के बाद 'इति' का प्रयोग होने से आत्मा के समान गुण वाली अनात्मवस्तु ही उपास्य है। इसके अतिरिक्त आत्मोपासना सम्बन्धी वाक्यो से प्रकृत वाक्य की विलक्षणता है। वाक्यशेष मे कहेगे—"आत्मा की ही प्रकाशरूप से उपासना करे"। वहाँ उस वाक्य मे आत्माशब्द मे द्वितीया-विभक्ति का प्रयोग होने के कारण उपास्यरूप से आत्मा ही अभिप्रेत है। यहाँ द्वितीया का प्रयोग नहीं

१ बृ उ ४।१३। २ गम्यत इति। आत्मगुणकमात्मवस्त्वेवोपास्य किं न स्यादित्याशङ्कय समाहितं वार्त्तिके—"आत्मैकगुणवत्त्वेन न त्वत्राऽऽत्मैव चिन्त्यते" ॥१३४॥ इति। एकत्र गुणगुणिभावासम्भवात् आत्मगुणकमनात्मवस्त्वेवोपास्यमित्यर्थः। ३ प्रकृतवाक्यस्येत्यादि। ४ वाक्यशेषेण। ५. बृ. उ १-४-१५। ६ प्रकाशरूपम्। ७ विभक्ति। ८ तत्र पश्यन्नीति वाक्यादात्मोपास्तेर्निषेधात् पूर्वापरविरोधेनानात्मोपास्तिरेवात्रेति हेत्वन्तरसमुच्चयार्थश्चकार। ९ "आत्मेत्येवोपासीतेति"वाक्यम्। १०. शाब्देति। शब्दस्य असृष्टपरोक्षबोधित्वानियमात् (यथावस्तुप्रकाशकत्वात्) असृष्टापरोक्षधिय शाब्दत्वोपपत्तेरित्यादि। ११. तस्य—शाब्दज्ञानस्य। १२ तदावृत्ते—तदाऽऽवर्तनस्य तत्र स्मृतिसन्तानस्येति यावत्। १३. तृतीय ज्ञानम्—उपासनाऽभिधज्ञानान्तरम्। १४. वैलक्षण्यमेवोपपादयति।

तेति । 'अतो नाऽऽत्मोपास्यः आत्मगुणश्चान्य इति त्ववगम्यते । न । वाक्यशेष आत्मन
उपास्यत्वेनावगमात् । अस्यैव वाक्यस्य शेष आत्मैवोपास्यत्वेनावगम्यते । तदेतत्पदनी-
यमस्य सर्वस्य यदयमात्माऽन्तरतरं[1] यदयमात्माऽऽत्मानमेवावेदिति[1] ।

प्रविष्टस्य दर्शनप्रतिषेधादनुपास्यत्वमिति चेत् । यस्याऽऽत्मनः प्रवेश उक्तस्तस्यैव
दर्शनं वार्यते तं न पश्यन्तीति । प्रकृतोपादानात् । तस्मादात्मनोऽनुपास्यत्वमेवेति चेन्न ।
'अकृत्स्नत्वदोषात् । दर्शनप्रतिषेधोऽकृत्स्नत्वदोषाभिप्रायेण नाऽऽत्मोपास्यत्वप्रतिषेधाभि-
प्रायेण । प्राणनादिक्रियाविशिष्टत्वेन 'विशेषणात् । आत्मनश्चेदुपास्यत्वमनभिप्रेतं प्राण-

दर्शयति—इह त्विति । वैलक्षण्यान्तरमाह—इतिपरश्चेति । वैलक्षण्यफलमाह—अत इति । 'नात्राना-
त्मोपासनं विवक्षितमिति परिहरति—नेत्यादिना । हेत्वर्थं स्फुटयति—अस्यैवेति ।
आत्मनश्चेदुपास्यत्वं तदा प्रक्रमविरोधः स्यादिति शङ्कते—प्रविष्टस्येति । आत्मनो दर्शन-
प्रतिषेधं प्रकटयति—यस्येति । तस्यैवेति नियमे हेतुमाह—प्रकृतेति । तच्छब्दस्य प्रकृतपरामर्शि-
त्वात्प्रविष्टस्य च प्रकृतत्वात्तस्य तेनोपादानादिति हेत्वर्थः । पूर्वपक्षं निगमयति—'तस्मादिति ।
प्राणनादिविशिष्टस्य परिच्छिन्नत्वात्तस्य दृष्टत्वेऽपि पूर्णस्य न दृष्टतेति निषेधश्रुतिपर्यवसानान्नोप-
क्रमविरोधोऽस्तीति परिहरति—नेत्यादिना । 'तदेव विशदयति—दर्शनेति । कथमयमभिप्रायभेदः
श्रुतेरवगम्यते तत्राऽऽह—प्राणनादीति । प्राणन्नेवेत्यादिना क्रियाविशेषविशिष्टत्वेनाऽऽत्मनो विशेष-
णात्तस्य दृष्टत्वेऽपि नासौ परिपूर्णो दृष्टः "स्यादिति श्रुतेराशयो लक्ष्यते केवलस्य तु तस्योपास्य-
त्वमभिसहितमकृत्स्नत्वदोषाभावादित्यर्थः । उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन साधयति—आत्मनश्चेदिति ।

है, और "आत्मा इति एव उपासीत" इस प्रकार "आत्मा" शब्द के बाद "इति" शब्द भी है।
उपपादित विलक्षणता से सिद्ध होता है कि यहाँ आत्मा उपास्य नहीं है; अपितु आत्मा के समान गुण
वाला अन्य ही उपास्य है। (इसका समाधान करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि वाक्यशेष
से आत्मा ही उपास्यरूप से जाना जाता है। इसी वाक्य के अन्त में आत्मा ही उपास्यरूप से अवगत
होता है। "वस्तुतः यह आत्मा है और इस आत्मा के जानने से ही इस सम्पूर्ण जगत् को जानता है",
"क्योंकि यह आत्मा उन धनपुत्रादि की अपेक्षा अत्यन्त समीपवर्ती है", "उसने अपने को ही जाना"
इत्यादि।

(प्रक्रमविरोध होने से शङ्का होती है) किन्तु शरीर के भीतर प्रविष्ट आत्मा के दिखाई न
देने से उसका अनुपास्यत्व सिद्ध होता है। जिस आत्मा का प्रवेश कहा गया है उसका दर्शन निषेध
किया जाता है, जैसे ("त न पश्यन्ति") "उसे नहीं देखते हैं" इस श्रुति में 'त' पद के ग्रहण से दर्शन
प्रतिषेध किया है। अत. आत्मा का अनुपास्यत्व ही स्वीकार करो। (शङ्का समाधान सिद्धान्ती करता
है--) ऐसा कहना ठीक नहीं। वह तो अकृत्स्नरूप दोष से है। अर्थात् आत्मा का न देख पाना तो
उसमें अकृत्स्नता दोष के अभिप्राय से है, आत्मा के उपास्यत्व प्रतिषेध के अभिप्राय से नहीं है। क्योंकि

१. उपपादितवैलक्षण्यात् । २. बृ उ. १.४.८ । ३ बृ. उ. १.४.१० । ४. इतीति । 'आत्मानमेव
प्रियमुपासीत'इत्युपासनवाक्यं "स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्यति"फलवाक्यं च संगृहीतुमितिशब्दः ।
५. अकृत्स्नत्वदोषादिति—अकृत्स्नत्वदोषदुष्टस्यात्मनो दर्शनप्रतिषेधान्नोपक्रमविरोध इत्यर्थः । ६. पूर्णात्मना
व्यावर्तनात् । ७. उपक्रमोपसंहारालोचनयाऽनात्मोपास्त्यत्र विवक्षितेति मतं निरस्यति—नात्रेति ।
८. प्रविष्टस्य दर्शनप्रतिषेधात् । ९. उक्ततात्पर्यमेव । १०. स्यादितीति । न स उपास्य इतीति शेषः ।

नाद्येकैकक्रियाविशिष्टस्याऽऽत्मनोऽकृत्स्नत्ववचनमनर्थकं स्यादकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवतीति। अतोऽनेकैकविशिष्टस्त्वात्मा कृत्स्नत्वादुपास्य एवेति सिद्धम्।

यस्त्वात्मशब्दस्येतिपरः प्रयोग आत्मशब्दप्रत्यययोरात्मतत्त्वस्य परमार्थतोऽविषयत्वज्ञापनार्थम्। अन्यथाऽऽत्मानमुपासीतेत्येवमवक्ष्यत्। तथा चार्थादात्मनि शब्दप्रत्ययावनुज्ञातौ स्याताम्। तच्चानिष्टम् "नेति नेति" "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" "अविज्ञातं विज्ञातृ" "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह", इत्यादिश्रुतिभ्यः। यत्त्वात्मानमेव लोकमुपासीतेति। तदनात्मोपासनप्रसङ्गनिवृत्तिपरत्वान्न वाक्यान्तरम्।

'तस्यानुपास्यत्वार्थं तद्वचनमर्थवदित्याशङ्क्य तदुपास्यत्वनिषेधस्याऽऽत्मोपास्यत्वे पर्यवसानमभिप्रेत्याऽऽह—'अतोऽनेकैकेति।

उपक्रमोपसंहाराभ्यामुपास्यत्वमात्मनो दर्शितमिदानीमितिशब्दप्रयोगादनात्मोपासनमिदमित्युक्तं प्रत्याह—यस्त्विति। प्रयोगशब्दादुपरिष्टात्सशब्दो द्रष्टव्यः। इतिशब्दस्य यथोक्तार्थत्वाभावे दोषमाह—अन्यथेति। न चाऽऽत्मनः स्वातन्त्र्येणानुपास्यत्वार्थमितिशब्दोऽर्थवान् पूर्वापरवाक्यविरोधादिति द्रष्टव्यम्। इतिशब्दमन्तरेण वाक्यप्रयोगे दोषमाह—तथेति। तस्य शब्दप्रत्ययविषयत्वमिष्टमेवेति चेत्तत्राऽऽह—तच्चेति। आत्मोपास्यत्ववाक्यवैलक्षण्यादनात्मोपासनमेतदित्युक्तं तद्दूषयति—यत्त्विति।

यहाँ प्राणनादि क्रिया-विशिष्टत्व से पूर्ण आत्मा का व्यावर्तन किया है। आत्मा का उपास्यत्व यदि अवाञ्छनीय होता, तो "अतएव इनमें से एक-एक की उपासना जो करता है, वह नहीं जानता, वस्तुत वह असम्पूर्ण ही है।" इस वाक्य से प्राणनादि एक-एक क्रिया से विशिष्ट आत्मा को 'असम्पूर्ण" बताना व्यर्थ हो जाता। इसलिए यह सिद्ध होता है कि निखिलक्रियाध्यास का अधिष्ठान आत्मा कृत्स्नरूप होने से उपास्य है।

और जो आत्मा' शब्द के आगे "इति" शब्द का प्रयोग है, वह तो आत्मतत्त्व को परमार्थत आत्मशब्द और आत्मप्रत्यय से अविषय ज्ञापन करने के लिए है। नहीं तो "आत्मा की उपासना करे" ऐसा श्रुति न कहा होता। ऐसे शब्द और शब्दाघटितस्वरूप आत्मा में शब्दधीगम्यत्व सम्भव होने के कारण आत्मशब्द और आत्मप्रत्यय की प्रतीति हो जाती। जो कि "यह नहीं है, यह नहीं है", "अरी मैत्रेयी! विज्ञाता को किसके द्वारा जाने', "बुद्धि का अविषय होने से स्वयं अविज्ञात होता हुआ भी विज्ञानस्वरूप होने से विज्ञाता है", "जहाँ से मन सहित वाणी उसे प्राप्त न कर लौट आती है", इत्यादि श्रुतियों के द्वारा अनभिमत सिद्ध होता है। और 'आत्म लोक की ही उपासना करे" ऐसी जो

---

१ निखिलक्रियाध्यासाऽधिष्ठानम्। २ ज्ञापनार्थं इति साधीयान् पाठ। ३ तथा चेति। उक्तशब्दस्येति शब्दाघटितत्व चेत्यर्थ। ४ अर्थादिति—आत्मनि शब्दधीगम्यत्वसम्भवादित्यर्थं। ५ अभ्युपगतौ। ६ अनभिमतम्। ७ न वाक्यान्तरमिति। आत्मानमेवेत्यादिवाक्यस्यानात्मोपास्तिनिवृत्त्यर्थतया पूर्ववाक्येनैकवाक्यत्वमेव तस्य प्रकृतवाक्यान्न वाक्यान्तरत्व प्रकृतवाक्यार्थानुवादित्वादिति भाव। ८ विशिष्टस्य। ९ प्राणनाद्यन्यतमक्रियाविशिष्टस्यात्मनोऽकृत्स्नत्ववचनात्। १० स्वातन्त्र्येणेति—गुणगुणिभावशून्यत्वेनेत्यर्थ। गुणत्वेनैवोपास्यत्वायति भाव। ११ पूर्वापरेति—आत्मेत्येवोपासीत तदेतत्पदनीयमित्यनयो पूर्वापरवाक्ययोर्विरोधस्योक्तत्वादित्यर्थं।

अनिर्ज्ञातत्वसामान्यादात्मा ज्ञातव्योऽनात्मा च । तत्र कस्मादात्मोपासन एव 'यत्न
आस्थीयत आत्मेत्येवोपासीतेति' नेतरविज्ञान इति । अत्रोच्यते--तदेतदेव 'प्रकृतं पदनीयं
गमनीयं नान्यदस्य सर्वस्येति निर्धारणार्था षष्ठी । 'अस्मिन्सर्वस्मिन्नित्यर्थः । यदयमात्मा
यदेतदात्मतत्त्वं किं न विज्ञातव्यमेवान्यत्न किं' तर्हि ज्ञातव्यत्वेपि न पृथग्ज्ञानान्तरमपेक्षत
आत्मज्ञानात् । कस्मात् । 'अनेनाऽऽत्मना ज्ञातेन हि यस्मादेतत्सर्वमनात्मजातमन्यद्यत्तत्सर्वं

'आत्मैव ज्ञातव्यो नानात्मेति 'प्रतिज्ञायामत्र हीत्यादिना हेतुरुक्तः सम्प्रति तदेतत्पदनीयमित्या-
दिवाक्यापोह्यं चोद्यमुत्थापयति—अनिर्ज्ञातत्वेति । उत्तरमाह—अत्रेति । निर्धारणमेव स्फोरयति—
अस्मिन्निति । नान्यदित्युक्तत्वादनात्मनो विज्ञातव्यत्वाभावश्चेदनेन हीत्यादि'शेषविरोधः स्यादिति शङ्कते
—किं नेति । तस्याज्ञेयत्वं निषेधति—नेति । तस्यापि ज्ञातव्यत्वे नान्यदिति वचनमनवकाशमित्याऽऽह—
किं तर्हीति । तस्य सावकाशत्वं दर्शयति—ज्ञातव्यत्वेऽपीति । आत्मनः सकाशादनात्मनोऽर्थान्तरत्वा-
त्तस्याऽऽत्मज्ञानाज्ज्ञातव्यत्वायोगाज्ज्ञातव्यत्वे ज्ञानान्तरमपेक्षितव्यमेवेति शङ्कते—कस्मादिति । उत्तर-
वाक्येनोत्तरमाह—अनेनेति । आत्मन्यनात्मजातस्य कल्पितत्वात्तस्य तदतिरिक्तस्वरूपाभावात्तज्ज्ञानेनैव

श्रुति है, यह अनात्मोपासना प्रसङ्ग की निवृत्ति करने वाली होने से (पूर्ववाक्य से एकवाक्यता होने के
कारण) वाक्यान्तर नहीं है (प्रकृत वाक्यार्थ का अनुवाद मात्र है) ।

किन्तु अनिर्ज्ञातत्व-सामान्य होने के कारण जिस प्रकार आत्मा ज्ञातव्य है, उसी प्रकार
अनात्मा भी ज्ञातव्य है । फिर इनमे से "आत्मा इत्येव उपासीत" इस श्रुति के अनुसार आत्मोपासना मे
ही (प्रतिज्ञातात्मज्ञान की हेतु द्वारा सिद्धिरूप) पुन. पुन यत्न करना क्यो रह जाता है ? अनात्मो-
पासना मे क्या नही ? (सिद्धान्ती उक्त शका का परिहार करता है—) इस प्रकार हमारा कहना
यह है कि इन सबमे वह प्रकृत आत्मतत्त्व ही 'पदनीयम्' यानी ज्ञातव्य है, अन्य (अनात्म) नही ।
'अस्य सर्वस्य' इन पदो मे निर्धारणार्थक षष्ठी है । इसका अर्थ—('अस्मिन् सर्वस्मिन्') 'इन सबमे'
ऐसा है । 'यदयमात्मा' अर्थात् यह जो आत्म तत्त्व है । तो क्या अन्य ज्ञातव्य कुछ भी नही है ? ऐसा

शक्याशक्ययो शक्योपादानस्य न्याय्यत्वा-
१ यत्न इति । यत्नत्व नामात्र प्रतिज्ञातात्मज्ञानस्य हेतुना साधनम् । २. श्रुत्या । ३ आत्मतत्त्वम् ।
दनायासलभ्य कर्म यावज्जीवादि श्रुत्युक्तमत्याज्यमिति भाव पूर्ववादिन । ४ गमनीयमिति—यस्मादनात्मना ज्ञातत्वाज्ञानत्वयोरभावात् (अज्ञानस्य चिदेवाश्रितत्वात्) तेभ्य सकाशादि-
दमेवात्मतत्त्व पर पदमज्ञात ज्ञातव्य तज्ज्ञाने सर्वेषा ज्ञेयाना पुरुषार्थाना च समाप्ति तस्मान्निरतिशयसुखात्म-
केतरवस्त्वभावेन यथोक्तकर्म त्यक्त्वा तदेवावर्तव्यमित्यथ । अत एवायासलभ्येऽप्यात्मज्ञाने यत्नातिरेक श्रुतरिति
शेष । ५ अस्मिन्निति । सर्वस्मिन् जगति प्रत्यङ्मात्रमेव ज्ञेय नान्यदित्यर्थनिर्धारणायुक्ता तदर्था षष्ठीत्यर्थ,
सम्बन्धसामान्ये षष्ठीतिमते अस्य प्रत्यक्षादि सन्निधापितस्य सर्वस्य जगत सम्बन्ध्यात्मतत्त्व पदनीयमित्यर्थो
द्रष्टव्य । ६ अनात्मनाऽपि ज्ञेयत्वेनान्यदिति वचनमनवकाश किमित्यर्थ । ७ अनेन हि सर्वं वेदेति
वाक्येऽनेनेति तृतीया इत्थभूतलक्षणे । तथा च वार्त्तिकम् "अनेनेति तृतीययमित्थभूतार्थलक्षणा । इदधीशब्द-
गम्यस्य प्रत्यङ्मात्रसतत्त्वत." ॥६८३॥ इति । इत्थभूतमर्थम् इदशब्दप्रत्ययविषयमखिल दृश्यजात प्रत्यङ्मात्रम्
इममर्थं लक्षयति गमयतीति तथोच्यत । तत्र हेतुमाह—इदमिति । इदमथस्य सर्वस्यानुभवात्मकप्रत्यङ्मात्र-
स्वभावत्वात् इत्थभूतलक्षणे युक्ता तृतीयेत्यर्थ । तथा च अनेन सर्वाभिन्नतया ज्ञातेनात्मनेत्यर्थमभिप्रेत्याह—
अनेनेति ॥ ८ शब्दप्रत्ययागम्य प्रत्यक्तत्त्वमेवानुसन्धेयम् । ९. आत्मेत्येवोपासीतेति वाक्यङ्गतायामिति
बोध्यम् । १०. वाक्यशेष ।

समस्तं वेद जानाति। नन्वन्यज्ञानेनान्यन्न ज्ञायत इति। अस्य परिहारं [1]दुन्दुभ्यादिग्रन्थेन वक्ष्यामः।

*[2]कथं पुनरेतत्पदनीयमिति। उच्यते—यथा ह वै लोके पदेन [3]गवादिखुराङ्कितो

ज्ञातत्वसिद्धेर्नास्ति ज्ञानान्तरापेक्षेत्यर्थः। [4]लोकदृष्टिमाश्रित्यानेनेत्यादिवाक्यार्थमाक्षिपति—नन्विति। आत्मकार्यत्वादनात्मनस्तस्मिन्नन्तर्भावात्तज्ज्ञानेन ज्ञानमुचितमिति परिहरति—अस्येति।

सत्योपायाभावादात्मतत्त्वस्य पदनीयत्वासिद्धिरिति शङ्कते—कथमिति। असत्यस्यापि श्रुत्या-द्यर्थदि[5]र्थक्रियाकारित्व[6]संभवादात्मतत्त्वस्य पदनीयत्वोपपत्तिरित्याह—उच्यत इति। विवित्सितं

कहना ठीक नहीं ? तो अन्य अनात्मा भी क्या ज्ञातव्य है ?—ज्ञातव्यरूप होने पर भी उसे आत्मतत्त्वज्ञान से भिन्न किसी ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं है। क्यों अपेक्षा नहीं है ? 'अनेन' अर्थात् आत्मज्ञान होने पर 'हि' अर्थात् क्योंकि, यह 'सर्वम्' अर्थात् अन्य जो कुछ भी अनात्मजात है, उस सभी को, पुरुष 'वेद' अर्थात् जान लेता है। किन्तु अन्य पदार्थ के ज्ञान से अन्य का ज्ञान तो हुआ नहीं करता ? इसका निराकरण (बृहदारण्यक उपनिषत् के द्वितीय अध्याय चतुर्थ ब्राह्मण के सातवें मन्त्र मे) दुन्दुभ्यादि ग्रन्थ से आगे करेंगे।

यह आत्मा पदनीय (ज्ञातव्य) किस प्रकार है ? इस पर कहा जाता है। जिस प्रकार लोक

१. बृ. उ २-४-७। २ कथमिति। आत्माऽज्ञानजनितत्वात्कल्पितस्तावदाचार्यादिरुपायस्तेनाज्ञानतत्कार्यासंसृष्टं सत्यं ब्रह्म न ज्ञातुं शक्यं मिथोविरोधादिति भावः। ३ गवादीति। यथाऽज्ञातखुराङ्कितदेशहेतुकः खुराङ्कितदेशज्ञानहेतुको वा नष्टे (अदृश्ये) विवक्षिते (अभिमते) गवादौ बोधो जायते स च ताभ्यामसंसृष्टगवादिमात्रविषयः तथा नामरूपादि प्रपञ्चोपायहेतुकोऽप्रपञ्चात्मके भूम्नि प्रतीचि बोधः प्रजायते तथा च कार्यकारणासंबन्धिप्रत्यगर्थप्रज्ञप्त्यर्थं यथा हेत्यादिदृष्टान्त इति द्रष्टव्यम्। यद्वा अवस्थाद्वये न वस्तुधीः अज्ञानतत्कार्यविरोधात् स्वापेऽपि न तद्धी अज्ञानप्रतिबन्धात्ततो मेयत्वासिद्धिरिति चोद्यापनुत्तये दृष्टान्तोऽयम्। अत्र पक्षेऽप्यमर्थः यथा गवादिखुराङ्कितं देशं दृष्ट्वा तदनुरोधेन गतो गवादिकमन्वेषमाणो गवाद्यात्मना साक्षाद्गवादिकं लभते तथा त्वमर्थस्य प्रतीचः शोधनेन मुमुक्षुः प्रत्यगात्मना ब्रह्म जानातीत्यर्थः। ४. अज्ञप्रसिद्धिम्। ५ अर्थक्रियेति—उपायानामर्थक्रियाकारित्वरूपं सत्यत्वं त्यक्त्वा परमार्थसत्यता नोपेयबोधनोपयोगिनी सत्सूपायेष्वर्थक्रियाकारिषु। ६ कार्यजनकत्वसंभवादित्यर्थः।

*कथं पुनरित्यादीत्यर्थं एतदन्तभाष्यगतगूढार्थाविष्करणपराणि पञ्चदशवार्तिकानि सन्ति। तथाहि—"कथं पुनरबोधोत्थक्लृप्तोपायेन तत्परम्। गम्यते सत्यमित्यस्य परिहृत्यै परं वचः॥ परमार्थात्मनाऽसत्यं पदं तदपि बोधकम्। स्वार्थस्यैवमुपायत्वमसत्यस्याऽऽत्मनीक्ष्यताम्॥ उपायसत्यतां मुक्त्वा नान्यादृश्युपयुज्यते। सत्यताऽत्र ह्युपायानामुपेये किं तयेष्यते॥ गवादिखुरबिम्बो वा पदमित्युपदिश्यते। अनन्वितार्थसिद्ध्यर्थं दृष्टान्तोऽस्य तथा सति॥ गवादिबोधनिर्वृत्ति पदज्ञानहेतुतः। अनन्वितपदज्ञानगोपिण्डैकावसायिनी॥ यथैवं नामरूपादिप्रपञ्चोपायहेतुतः। अप्रपञ्चात्मके भूम्नि प्रत्यग्बोधः प्रजायते॥ प्रमाणभूमावैकात्म्यं विरोधान्न प्रतीयते। तमोऽन्वयाप्रमेयत्वात्तदभावेऽपि नेक्ष्यते॥ न हि वस्त्वात्मनैवाऽऽत्ममोहायुच्छित्तये क्वचित्। प्रमाणनिरपेक्षं सद्वस्त्वलं स्वप्रसिद्धये॥ संसारानवतारः स्यान्मानवैफल्यमेव च। इत्येतस्येह चोद्यस्य परिहाराय चोत्तरम्॥ यथा गवात्मना साक्षाद्गां विन्देद्गोपदानुगः। प्रत्यक्चैतन्यसूत्येव विन्देत्तत्परमं पदम्॥ प्रत्यक्तया यदाभाति ह्यागमापायिसाक्षितः। देहेन्द्रियमनोधीषु चैतन्याभासरूपकम्॥ जडप्वकमनेकेषु कूटस्थं क्षणभङ्गिषु। अनात्मसु तथा चाऽऽत्मा सहतेष्वप्यसंहतः॥ तस्यावाक्यार्थरूपस्य पदमेतत्प्रचक्षते। पद्यतेऽनेन तद्यस्मात्तेनेदं पदमुच्यते॥ स्वमहिम्नैव चेत्सिध्येदुपायः परमार्थवत्। स्वतःसिद्धेन मिथ्यात्वं तस्य स्यात्परमार्थवत्॥ परमार्थादभिन्नत्वेऽपि-

देशः पदमित्युच्यते तेन पदेन नष्टं विवित्सितं पशुं पदेनान्वेषमाणोऽनुविन्देल्लभेत । एवमात्मनि लब्धे सर्वमनुलभत इत्यर्थः । नन्वात्मनि ज्ञाते सर्वमन्यज्ज्ञायत इति ज्ञाने प्रकृते

लब्धुमिष्टम् । 'अन्वेषणोपायत्वं दर्शयितुं पदेनेति पुनरुक्तिः । अनेनेत्यत्र वेदेति ज्ञानेनोपक्रम्यानुविन्देदिति लाभमुक्त्वा कीर्तिमित्यादिश्रुतौ पुनर्ज्ञानार्थेन विदिनोपसंहारादनुविन्देदिति श्रुतेरुपक्रमोपसंहारविरोध' स्यादिति शङ्कते—नन्विति । 'शङ्कितं विरोधं निराकरोति—नेति । कथं तयोरैकार्थ्यं

व्यवहार मे गो आदि के खुर से अंकित देश को "पद" ऐसा कहा जाता है। अदृश्य एवं जिसको प्राप्त करना अभीष्ट है; ऐसे पशु को 'पदेन' अर्थात् पद से ढूंढता हुआ' अनुविन्देत्' अर्थात् प्राप्त कर लेता है, इसी प्रकार (कल्पित श्रुत्यादि के द्वारा) आत्मप्राप्ति से सबकी प्राप्ति हो जाती है (यानी पुरुष सब कुछ जान लेता है) यह इसका अर्थ है। (यह शका होती है—) क्योकि 'आत्मज्ञान होने पर अन्य सबका ज्ञान हो जाता है' इस प्रकार यहाँ ज्ञान का प्रकरण होने से ('वेद' श्रुतिवाक्य कहकर फिर

१ अदृश्यम् । २ कल्पितश्रुत्यादिना । ३. जानाति । ४ अन्वेषणमेवोपायोऽस्येति दर्शयितुम् ।
५. आभ्या सह विरोध ।

तराममृपात्मता । इत्यादिपूर्वमुक्त यदनुसधेयमत्र तदिति" ॥६६१-१००५॥ व्यावर्त्यं चोद्यमनूद्य यथा हेत्यादिवाक्यमवतारयति—कथमिति । आत्माज्ञानजनितत्वात्कल्पितस्तावदाचार्यादिरुपायस्तेनाविद्यातदुत्थासस्पृष्ट सत्य ब्रह्म न जातु शक्य मिथो विरोधादिति चोद्य परिहर्तुं यथा हेत्यादिवाक्यमित्यर्थ ॥ तद्व्याकरोति—परमार्थेति । गवाश्वादिवर्णात्मक पद दैवगत्या कल्पितमपि स्वार्थस्य गोत्वादेर्बोधक नहि तदकल्पित क्रमवता वर्णानां तद्भावात्क्रमस्य च तेष्वारोप विनाऽयोगाच्च हि नित्या विभवश्च वर्णा स्वारस्येन क्रमवन्तास्तथाऽऽत्मन्याविद्यश्रुत्याचार्यादेस्तद्वाधोपायत्व द्रष्टव्यमित्यर्थ ॥ किं चोपायानामर्थक्रियाकारित्व सत्यत्व त्यक्त्वा परमार्थसत्यता नार्पेयबोधनोपयोगिनी तच्च तेषा तादृशी सत्यतेत्याह—उपायेति । अत्र उपेयबोधने । सत्सूपायेष्वर्थक्रियाकारिषु तदीयपरमार्थसत्यत्वाभावापराधेनानुपायत्वानुपलम्भादिति हिशब्दार्थ । कार्योत्पत्तावनुपयोगित्व परमार्थसत्यताया व्यनक्ति—उपेय इति ॥ ननु गवादिपद स्वार्थं बोधयदध्यस्तमित्यसिद्ध तस्य त बोधयतस्तेनास्ति सगतिस्तथा श्रुत्यादेरपि ब्रह्मबोधकत्वेन सगति स्यादतस्तदसङ्गत्वहानिरित्याशङ्क्य पदशब्दस्यार्थान्तरमाह—गवादीति । तदीयखुरबिम्बशब्देन तदङ्कितो देशो गृह्यते । तथाऽपि कथमुपायेन श्रुत्यादिना गम्यमान ब्रह्मासङ्गमङ्गीकर्तुं शक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—अनन्वितेति । गवादिखुराङ्किते देशे पदशब्दिते सति कार्यकारणासबन्धिप्रत्यगर्थज्ञप्त्यर्थं यथा हत्यादिदृष्टान्त इत्यर्थ ॥ विवक्षितार्थसिद्धये दृष्टान्त विवृणोति—गवादीति । यथा ज्ञातखुराङ्कितदेशहेतुकस्तद्धीहेतुको वा नष्टे विवक्षिते गवादौ बोधो जायत स च ताभ्यामस्पृष्टगवादिमात्रविषय इत्यर्थ । नान्विते पदतज्ज्ञाने येन गोपिण्डेन तस्मिन्पर्यवसितेति यावत् ॥ दार्ष्टान्तिकमाह—एवमिति । आदिपद क्रियार्थम् । प्रत्यक्प्रतीचीति यावत् । प्रत्यगाकारत्वाद्वा प्रत्यगिति बोधो विशेष्यते ॥ कल्पितस्य ज्ञानसाधनत्वमाधनाय ब्रह्मणो द्वैतासबन्धाय च यथा हेत्यादि व्याख्यातमिदानीमात्मेत्येवोपासीतेतिसूत्रावतितारयिषया प्रसञ्जितचोद्योत्तरत्वेन व्याकर्तुं चोद्यमनुद्रवति—प्रमाणेति । अवस्थाद्वये न वस्तुधीरज्ञानतत्कार्यविरोधात्तदभावो मानाभाव स्वापस्तत्रापि न तदीरज्ञानप्रतिबन्धात्तन्मेयत्वासिद्धेरित्यर्थ. ॥ मा भूदात्मधी स तु स्वयमेव स्वाज्ञानतज्जे निवर्तयिष्यति बोधात्मत्वात्तस्मादप्रतिबन्धात्तस्मिन्प्रमाऽपि सदा स्यादित्याशङ्क्य सामान्यन्यायमाह—न हीति । शुक्त्यादिवस्तुस्वरूपेणैव प्रमाणानपेक्ष सत्स्वाविद्यातज्जापनुत्तये स्वज्ञप्तये वा न क्वचिदपि देशादौ यावत दृष्टम् । किन्तु प्रमाणमपेक्ष्यैव यथोक्तकार्याय पर्याप्तमित्यर्थ ॥ शुक्त्यादौ जडे मानापेक्षायामप्यात्मनि स्वप्रकाशे तदपेक्षा विना स्वरूपबोधादबोधादिध्वस्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—सदारेति । यथेत्याद्यु-

'कथं लाभोऽप्रकृत उच्यत इति । न । 'ज्ञानलाभयोरेकार्थत्वस्य विवक्षितत्वात् । 'आत्मनो ह्यलाभोऽज्ञानमेव । 'तस्माज्ज्ञानमेवाऽऽत्मनो लाभो नानात्मलाभवदप्राप्तप्राप्तिलक्षण आत्मलाभो 'लब्धृलब्धव्ययोर्भेदाभावात् ।

ग्रामादौ तदेकत्वाप्रसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मन इति । ग्रामादावप्राप्ते प्राप्तिरेव लाभो न ज्ञानमात्रं तथाऽत्रापि किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—नेत्यादिना ।

लाभार्थक 'अनुविन्देत्' इस श्रुतिवाक्य का) जिसका प्रकरण नहीं है, उस लाभ की बात क्यों कही जाती है? ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि (वेद) ज्ञान और (अनुविन्देत्) लाभ शब्द एकार्थत्व की विवक्षा करते हैं। (आत्मा में लाभ का ज्ञानमात्ररूप होना दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं—) आत्मा का अज्ञान ही अलाभ है। उक्त दृष्टान्त से (नित्यलब्धैकस्वरूप) आत्मा का ज्ञान ही (अपने कण्ठाभरण की तरह) लाभ है, अनात्मलाभ के समान अप्राप्त की प्राप्ति होना आत्मलाभ नहीं है। (प्रत्यक्ब्रह्म में अभेद होने पर) प्रापक और प्राप्य वस्तु में भेदाभाव होने के कारण ज्ञान से भिन्न कोई लाभ नहीं होता है।

१ कथमिति । वेदेति ज्ञानार्थे शब्दे प्रकृते सति मध्ये विन्देदिति लाभार्थे न शब्दनात्वा पुनश्च एव वदति ज्ञानार्थेन शब्देन कथमुपसंह्रियत इति शङ्कितुराशयः । २ ज्ञानलाभार्थकशब्दयोः । ३ नास्ति विरोध इति शेषः । ४ आत्मनि लाभस्य ज्ञानमात्रत्वं दृष्टान्तेन साधयति—आत्मन इति । ५ उक्तदृष्टान्तात् । ६ नित्यलब्धैकस्वरूपस्य स्वकण्ठाभरणवत् । ७ प्रत्यग्ब्रह्मणोः । ८ नहि प्रत्यग्ब्रह्मणोरभेदे ज्ञानादन्यो लाभस्तत्रास्तीत्यर्थः । ९ एकार्थत्वानुपलम्भात् ।

तत्त्वेनाऽऽदत्ते—इत्येतस्येति । पूर्वोक्तस्य सोपस्कारमनूदितस्य चोद्यस्यात्र परिहारायानन्तरवाक्यमित्यर्थः । तस्योक्तार्थेन वक्ष्यमाणार्थस्य समुच्चयार्थश्चकारः ॥ परिहारं स्फुटयितुं वाक्यं व्याचष्टे—यथेति । गवादिखुराङ्कितं देशं दृष्ट्वा तदनुरोधेन गतो गामन्विष्यमाणस्तद्रूपेणाध्यक्षतो लभते तथा प्रत्यक्चैतन्यस्य त्वमर्थस्य सृत्या शोधनया तद्रूपेण मुमुक्षुर्ब्रह्म जानातीत्यर्थः ॥ त्वमर्थं विविच्याऽऽह—प्रत्यक्त्वेति । देहादिषु बाह्येष्वागमापायवत्सु यत्प्रत्यक्त्वेन तत्साक्षित्वेन चान्वयव्यतिरेकाभ्यां भाति तदेतत्पदमिति सम्बन्धः । साक्षित्वे चिदाभासस्य द्वारत्वद्योतनार्थं विशिनष्टि—चैतन्येति ॥ साक्ष्यार्थलक्षणे कथं साक्षित्वं तत्राऽऽह—जडेष्विति । अजडमित्यध्याहारः । तथाऽपि भिन्नत्वे देहादिवदसाक्षित्वमित्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति । सन्निधत्वेनासाक्षित्वमाशङ्क्याऽऽह—कूटस्थमिति । प्रत्यक्तया यदाभातीत्युक्तं प्रत्यक्त्वं व्यनक्ति—अनात्मस्विति । सावयवत्वाद्देहादिवदप्रत्यक्त्वमाशङ्क्याऽऽह—सहतेष्विति ॥ शोधितं त्वमर्थमुक्त्वा तस्य ब्रह्मत्वं प्रति पदत्वं प्रतिजानीते—तस्येति । ब्रह्मणस्तदर्थस्याखण्डस्य प्रत्यक्त्वेन शोधितं प्रत्यक्चैतन्यं हेतुरित्यर्थः । कथं त्वमर्थस्तदर्थस्य पदमित्याशङ्क्य करणव्युत्पत्त्याऽऽह—पद्यत इति । शोधितेन हि त्वमर्थेन तदर्थः स्वरूपतया ज्ञायते पदार्थज्ञानाधीनत्वाद्वाक्यार्थज्ञानस्येत्यर्थः ॥ प्रत्यक्चितो ब्रह्मधीहेतुत्वं यथाऽध्यवदाचार्यादेरपि तद्धीहेतोस्तद्भावात्तन्मिथ्यात्वमुक्तमित्याशङ्क्याऽऽचार्यादि स्वतोऽन्यतो वा सिध्यतीति विकल्प्याऽऽद्यमनुवदति—स्वमहिम्नेति । तदा स्वतःसिद्धेः स चैतन्यवन्न जडं स्यादिति दूषयति—परमार्थवदिति । परतः सिद्धौ तस्य मिथ्यात्वं स्यादाद्याऽसिद्धसबाधादते दृशा तदसिद्धेरिति द्वितीयं प्रत्याह—मिथ्यात्वमिति । किं चोपायः परमार्थादभिन्नो भिन्नो वा नाऽऽद्य इत्याह—परमार्थवदिति । स्वरूपेणोपायस्य त्वया सत्यत्वेष्टेस्तदभिन्नोपगमाच्चेदतिशयस्तमुपार्थीभावाद्वस्तवन्तराभावाच्च तद्द्वयमिति भावः ॥ न द्वितीयो भेदस्याप्रामाणिकत्वान्न च कुर्वतोऽकुर्वतश्चोपायत्वमतः सर्वस्योपायस्याद्वये चिदात्मनि कल्पितत्वमध्याहृतविचारादावुक्तमत्रोपायासत्यत्वं हेतुत्वेन ज्ञेयमित्याह—इत्यादीति ॥

यत्र ह्यात्मनाऽनात्मा लब्धव्यो भवति तत्राऽऽत्मा लब्धा लब्धव्योऽनात्मा । स चाप्राप्त उत्पाद्यादिक्रियाव्यवहितः कारकविशेषोपादानेन क्रियाविशेषमुत्पाद्य लब्धव्यः। स त्वप्राप्तप्राप्तिलक्षणोऽनित्यो मिथ्याज्ञानजनितकामक्रियाप्रभवत्वात्स्वप्ने पुत्रादिलाभवत्। अयं तु तद्विपरीतः आत्मा । आत्मत्वादेव नोत्पाद्यादिक्रियाव्यवहितः।

नित्यलब्धस्वरूपत्वेऽपि सत्यविद्यामात्रं व्यवधानम्। यथा स्वरूपेण गृह्यमाणाया अपि शुक्तिकाया विपर्ययेण रजताभासाया अग्रहणं विपरीतज्ञानव्यवधानमात्रं तथा ग्रहणं

ज्ञानलाभशब्दयोरर्थभेदस्तर्हि कुत्रेत्याशङ्क्याऽऽह—यत्र हीति । अनात्मनि लब्धृलब्धव्ययो-
र्ज्ञातृज्ञेययोश्च भेदे क्रियाभेदात्फलभेदसिद्धिरित्यर्थः । नन्वात्मलाभोऽपि ज्ञानाद्भिद्यते लाभत्वादनात्म-
लाभवदित्याशङ्क्य ज्ञानहेतुमात्रानधीनत्वमुपाधिरित्याह—स चेति । अप्राप्तत्वं व्यक्ती करोति—
उत्पाद्येति । तद्व्यवधानमेव साधयति—कारकेति । किंचानात्मलाभोऽविद्याकल्पितः कादाचित्कत्वात्सं-
मतवदित्याह—स त्विति । किंचासावविद्याकल्पितोऽप्रामाणिकत्वात्संप्रतिपन्नवदित्याह—मिथ्येति ।
प्रकृते विशेषं दर्शयति—अयं त्विति । वैपरीत्यमेव स्फोरयति—आत्मत्वादिति ।
आत्मनस्तर्हि नित्यलब्धत्वान्न तत्रालब्धत्वबुद्धिः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—नित्येति । आत्मन्य-
लाभोऽज्ञानं लाभस्तु ज्ञानमित्येतद्दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेत्यादिना । शुक्तिकायाः स्वरूपेण गृह्यमा-
णाया अपीति योजना । आत्मलाभोऽविद्यानिवृत्तिरेवेत्यत्रोक्तं वक्ष्यमाणं च गमकं दर्शयति—

(अनात्मवर्ग मे) जहाँ अनात्मा आत्मा का लब्धव्य होता है; वहाँ आत्मा प्राप्त करने वाला और अनात्मा प्राप्त करने योग्य होता है । वह (अनात्मभूत ग्रामादिलाभ, गमनादिक्रिया के बिना) अप्राप्त उत्पाद्यादिक्रियाओं से व्यवहित होता है तथा कारकविशेष के उपादान से क्रियाविशेष उत्पन्न करके उसे प्राप्त करना होता है । वह अनात्मलाभ तो मिथ्याज्ञानजनित काम व क्रिया से होने के कारण स्वप्न मे पुत्रप्राप्ति के समान अप्राप्तप्राप्ति लक्षण वाला एवं अनित्य है। यह आत्मलाभ तो उससे विपरीत स्वभाव वाला स्वतः सदातन है । आत्मा ही होने के कारण यह उत्पाद्यादि क्रिया से व्यवहित नही है ।

नित्यलब्धस्वरूप होने पर भी अविद्या मात्र ही उसमें बाधा है । जिस प्रकार विपरीत ज्ञान से रजताकार भासने वाली ग्रहण करने योग्य शुक्ति का अग्रहण विपरीतज्ञानरूप बाधा वाला ही है; उसी प्रकार ज्ञानमात्र ही उसका ग्रहण है, क्योंकि वह ज्ञान विपरीतज्ञानरूप बाधा की निवृत्ति करने वाला है। इसी प्रकार यहाँ भी आत्मा का अलाभ अविद्यामात्र व्यवधान वाला है। (आत्मलाभ के अज्ञान

१. अनात्मवर्गे । २. स चेति—अनात्मभूतग्रामादिलाभो गमनादिक्रिया विनाऽप्राप्त इत्यर्थः । ३. आत्मलाभः ।
४. आत्मेति—स्वतः सदातन इत्यर्थः । तथा चोक्तानुमाने जडत्वं कादाचित्कत्वं चोपाधिरिति भावः ।
५. इदत्वेनेत्यर्थः । ६. रजताकारायाः । ७. अनात्मनीति । यत्र भेत्ता लब्धा ग्रामादि च लभ्यं स एव
च ज्ञाता घटादि च ज्ञेयं तत्र ज्ञानलाभार्थाश्रययोर्भेदात् ज्ञानलाभयोः फलयोर्भेदोऽस्तोऽविद्योत्थाऽनात्मसु
तच्छब्दयोर्भिन्नार्थतेत्यर्थः । ८. ज्ञानहेत्वित्यादि । ज्ञानरूपो यो हेतुस्तन्मात्रानधीनत्वमित्यर्थः । क्रियाव्या-
वर्तको मात्रशब्दः । ९. शुक्तिरजतादिवत् । १०. प्रकृत इति । आत्मलाभोऽप्यविद्याकल्पितो लाभत्वाद-
नात्मलाभवदित्याशङ्क्येत्यादिः । ११. उत्पाद्यादिक्रियाव्यवधानाभावे । १२. इदंत्वेन । १३. शुक्तिक-
लापरूपम् ।

ज्ञानमात्रमेव विपरीतज्ञानव्यवधानापोहार्थत्वाज्ज्ञानस्य । एवमिहाप्यात्मनोऽलाभोऽविद्यामात्रव्यवधानम् । 'तस्माद्विद्यया तदपोहनमात्रमेव लाभो नान्यः कदाचिदप्युपपद्यते । 'तस्मादात्मलाभे 'ज्ञानादर्थान्तरसाधनस्याऽऽनर्थक्यं वक्ष्यामः । तस्मान्निराशङ्कमेव ज्ञानलाभयोरेकार्थत्वं विवक्षन्नाह—'ज्ञानं प्रकृत्यानुविन्देदिति । विन्दतेर्लाभार्थत्वात् ।

'गुणविज्ञानफलमिदमुच्यते—यथाऽयमात्मा नामरूपानुप्रवेशेन 'ख्यातिं गत आत्मेत्यादिनामरूपाभ्यां प्राणादिसंहतिं च श्लोकं प्राप्तवानित्येवं यो वेद स कीर्तिं ख्यातिं श्लोकं च संघातमिष्टैः सह विन्दते लभते । 'यद्वा यथोक्तं वस्तु यो वेद मुमुक्षूणामपेक्षितं कीर्तिशब्दितमैक्यज्ञानं तत्फलं श्लोकशब्दितां मुक्तिमाप्नोतीति मुख्यमेव फलम् ॥७॥

तस्मादिति । अविरोधमुपसंहरति—तस्मादित्यादिना । तयोरेकार्थत्वेऽपि कथमनुविन्देदिति मध्ये प्रयुज्यते तत्राऽऽह—विन्दतेरिति ।

आदिमध्यावसानानामविरोध'मुक्त्वा कीर्तिमित्यादिवाक्यमवतार्य व्याकरोति—गुणेत्यादिना । इतिशब्दादुपरिष्टाद्यथेत्यस्य संबन्धः । 'ज्ञानस्तुति'रत्र विवक्षिता ''ज्ञानिनामीदृक्फलस्यानभिलषितत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥७॥

से अतिरेक होने से) इसलिए विद्या से उस (अविद्या) को दूर कर देना ही आत्मलाभ है, इसके अतिरिक्त और किसी का लाभ होना कदापि सम्भव नहीं है। इसलिए आत्मलाभ में ज्ञान से भिन्न दूसरे साधन की अनर्थकता हम बतलाएंगे। (प्रदर्शित रीति से लाभ और ज्ञान में एकता होने से) इसलिए 'ज्ञान' और 'लाभ' इन दोनों शब्दों की एकार्थता में कुछ भी शङ्का नहीं है—इसी को बतलाने की इच्छा से श्रुति ने ज्ञान का उपक्रम करके ''अनुविन्दत्' (प्राप्त करे) यह कहा, क्योंकि 'विद्' धातु लाभार्थक है।

इस गौण विज्ञान का यह फल बतलाया जाता है। जिस प्रकार यह आत्मा नाम और रूप के अनुप्रवेश द्वारा ख्याति को प्राप्त हुआ है, एवं आत्मा इत्यादि नाम और रूपों के कारण प्राणादिसंहति-

१. आत्मलाभस्याज्ञानानतिरेकात् । २ प्रदर्शितरीत्या ज्ञानलाभयोरैक्यात् । ३ शब्दयोः । ४ ज्ञानप्रकृत्येति । अनेन हीति ज्ञानार्थेन विदिनोपक्रम्य अनुविन्देदिति लाभार्थेन विदिना मध्ये लाभमुक्त्वा भूयोफलवाक्ये ज्ञानार्थेन विदिनोपसंहृतिमाहेति योज्यम् । ५ इदं गौणविज्ञानस्य फलम् । ६ ख्यातिं गत इति । तदुक्तं वार्तिके—"अप्रख्यातो यथैवाऽऽत्मा व्याकृतं ख्यातिमेयिवान् । एवं तदवबोधात्मा ख्यातिमेत्यनिदंवरीम् ॥ यथाऽऽत्मा संहतिं प्रापद्व्याकृतं करणादिभिः । एवं विद्वानवाप्नोति पुत्रामात्यादिसंहतिम्" ॥१०२०-१०२२॥ इति । अव्याकृते नामरूपाभ्यामप्रख्यातोऽपि व्याकृते जगति ताभ्यामाख्यातस्तथा यथोक्तात्मज्ञानादधिकृतो नरोऽत्यसिद्धो ख्यातिमेतीत्यर्थः । ७ न हि संभवत्या मुख्यफलोक्तौ स्तुतिकल्पना युक्तेत्यभिप्रेत्याऽऽह—यद्वेति । ८ उपपाद्य । ९ ननु गौणं फलमात्मज्ञानानुकूलं तस्य निरतिशयफलोपायत्वादित्यत आह—ज्ञानस्तुतिरिति । तदुक्तं वार्तिके—'उक्तज्ञानप्रवृत्त्यर्थमर्थवादोऽयमिष्यते" ॥१०२२॥ इति । १०. फलवाक्ये । ११ ननु ब्रह्म वेदेत्यादिवत् फलविवक्षयैवायं वादः किं न स्यादत आह—ज्ञानिनामिति । तदुक्तम्—'निरेषणानां नेदृग्धि संसारं प्रजिहासताम् । फलं युक्तं प्रवृत्त्यङ्गमर्थवादो भवेदतः" ॥१०२३॥ इति । एषणात्रयविनिर्मुक्तानां सदन्तस्थं संसारं त्यक्तुमिच्छतां तदन्तर्भूतं ख्यात्यादिफलं नोचितमित्यर्थः । फलविवक्षाऽयोगे वाक्यस्य ज्ञानस्तुत्यर्थत्वं फलतीत्याह—प्रवृत्तीति ॥

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा । स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात्प्रियꣳ रोत्स्यतीतीश्वरो ह

वह यह आत्मतत्त्व (लोकप्रसिद्ध प्रिय) पुत्र से अधिक प्रिय है। सुवर्णादिरूप से अधिक प्रिय है और लोक में प्रियरूप से प्रसिद्ध अन्य सभी वस्तु से भी प्रियतर है, क्योंकि यह आत्मा उनकी अपेक्षा अत्यन्त समीपवर्ती है। वह जो आत्मा को प्रिय देखने वाला है, यदि आत्मा से भिन्न अनात्मा को प्रिय कहने वाले पुरुष से कहे कि 'तेरा प्रिय नष्ट हो जाएगा" तो वैसा ही हो जाएगा, क्योंकि वह ऐसा कहने

---

*कुतश्चाऽऽत्मतत्त्वमेव ज्ञेयमनादृत्यान्यदित्याह—तदेतदात्मतत्त्वं प्रेयः प्रियतरं

आत्मनः पदनीयत्वे [1]तस्यैवाज्ञातत्वसंभवो हेतुरुक्तोऽधुना तत्रैव हेत्वन्तरत्वेनोत्तरवाक्यमवतारयति—कुतश्चेति। 'अन्यदनात्मेति यावत्। [4]विरक्तस्य पुत्रे प्रीत्यभावात्कथमात्मनस्तस्मात्प्रिय-

---

रूप श्लोक को प्राप्त हुआ है, इस प्रकार जो ऐसा जानता है, वह 'कीर्तिम्' अर्थात् ख्याति 'श्लोकम्' अर्थात् इष्टजनों से मिलन को 'विन्दते' अर्थात् प्राप्त करता है। अथवा जो उपर्युक्त वस्तु को जानता है, वह मोक्षकामी अपेक्षित कीर्तिरूप से कथित ऐक्यज्ञान तथा उसके फल श्लोकशब्द से कथित मुक्ति

---

१ हेत्वन्तरात्। २ अनात्मनामज्ञानरूपत्वेनावरणैकरूपतयाऽज्ञानाऽनाश्रयत्वादज्ञातत्वासंभवात्। ३ अनात्मानमिति युक्तम्। ४ विरक्तस्यैवात्राधिकारादुपदेश्यत्वम्।

---

*कुतश्चेत्याद्याहेत्यन्तं भाष्यं तदेतत्प्रेय इत्यादिवाक्यस्य तात्पर्योद्घाटनपरम्। तथा च वार्तिकम्—'हेत्वन्तरोपदेशो या पदनीयत्वमात्मनः। तदेतदिति शास्त्रेण भण्यते तदवुमुत्मव ॥१०२७॥ "अव्याकृतव्याकरणप्रत्यग्दर्शनं ध्ये। तदन्तरायस्तत्सक्तिस्तन्निवृत्तौ परा श्रुतिः ॥ शब्दादिबहिराकृष्टचेतसः प्रत्यगीक्षणं। न सामर्थ्यं ... ॥१०२५-२६॥ साख्यमुक्तिनिवृत्त्यर्थमथवाऽस्तूत्तरा श्रुतिः। प्रेयोगिराऽऽत्मनो यतस्तभ्यो व्यावृत्त्यर्थं परा श्रुति' ॥१०२८॥ इति। आत्मनः पदनीयत्वे तस्यैवाज्ञातत्वसंभवो हेतुरुक्तोऽधुना यस्मान्निष्ठाऽऽनन्दस्य भण्यते ॥१०२८॥ इति। आत्मनः हेत्वन्तरमिति भाष्योक्तं तात्पर्यमाह—हेत्वन्तरेति। तदवुमुत्सवे हेत्वन्तरमात्मानं निरतिशयप्रियत्वं हेत्वन्तरमनेनोच्यत इति भाष्योक्तं तात्पर्यान्तरमाहाव्याकृतेति। आत्मज्ञानार्थं सृष्टिरुच्यते तदस्य वा जिज्ञासमानायेत्यर्थः ॥ भर्तृप्रपञ्चोक्तं तात्पर्यान्तरमाहाव्याकृतेति। आत्मज्ञानार्थं सृष्टिरुच्यते तदस्य रूपमित्यादिश्रुतस्तस्यात्मदर्शनस्यान्तराय प्रतिबन्धस्तत्र सृष्टे जगत्यासक्तिस्तन्निवृत्त्यर्थमुत्तरं वाक्यमित्यर्थः ॥ ननु न तदासक्तिरात्मधीप्रतिबन्ध राह संभवादित्यत आह—शब्दादीति। शब्दादयो हि दृश्यमानाश्चित्त-स्याऽऽवर्तत्वाद्बहिश्चदाक्ष्यन्त तत्प्रवणचेतसो न प्रत्यगर्थधीयुक्ता परावप्रत्यग्दृष्टयाविरोधात्तस्माद्विषयेभ्यो मनो व्यावर्त्य प्रतीचि प्रवेशयितुमुत्तरा श्रुतिरित्यर्थः ॥ प्रकृतिपुरुषाविवेकृतबन्धध्वस्तिमात्रं मुक्तिर्नातिशयसुख-व्यक्तिरिति साख्या। यथाऽऽहु "वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्ति प्रधानस्य" इति ॥ 'प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात्प्रधानविनिवृत्तौ। ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभय कैवल्यमाप्नोति' इति च ॥ तन्निवृत्त्यर्थमिदमिति स्वाभिमतं तात्पर्यान्तरमाह—साख्येति। यथमनया श्रुत्या सर्वस्मात्प्रियतमत्वमात्मनो वदन्त्या साख्यमुक्तिनिवृत्तिस्तत्राऽऽह—प्रेयामिरेति। आत्मनः प्रियतमत्वोक्त्या तस्मिन्नानन्दस्यावसानं यतोऽन्यया श्रुत्योच्यतेऽतो दुःखत्रयध्वस्तिमात्रं साख्यीयं मोक्षं न मृष्यते श्रुतिरित्यर्थः ॥

तथैव—स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥ ८ ॥

मे समर्थ है। अतः (सम्पूर्ण अनात्मवस्तु का परित्याग कर) आत्मरूप प्रिय की ही उपासना करे। जो पुरुष आत्मरूप प्रिय की उपासना करता है अर्थात् आत्मा ही प्रिय है, अन्य लौकिक पदार्थ प्रिय होने पर भी अप्रिय ही हैं। ऐसा निश्चय करके चिन्तन करता है, उसका अत्यन्त प्रिय मरणशील नहीं हो सकता ॥८॥

पुत्रात्। [1]पुत्रो हि लोके प्रियः प्रसिद्धस्तस्मादपि [*]प्रियतरमिति निरतिशयप्रियत्वं दर्शयति। तथा वित्ताद्धिरण्यरत्नादेस्तथाऽन्यस्माद्यद्यल्लोके प्रियत्वेन प्रसिद्धं तस्मात्[*] सर्व-

तरत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—पुत्रो हीति। प्रियतरमात्मतत्त्वमिति शेषः। लोकदृष्टिमेवावष्टभ्याऽऽह—तथेति। वित्तपदेन मानुषवित्तवद्दैवं वित्तमपि [2]गृह्यते। विशेषाणामानन्त्यात्प्रत्येकं प्रदर्शनमशक्य-

को प्राप्त करता है। अर्थात् उसे मुख्यफल प्राप्त हो जाता है ॥७॥

और हेत्वन्तर से अन्य सबका अनादर करके आत्मतत्त्व ही ज्ञेय है, इस पर श्रुति कहती है—'तदेतत्' अर्थात् वह यह आत्मतत्त्व, पुत्र से 'प्रेय' अर्थात् प्रियतर है। क्योंकि लोकदृष्टि में पुत्र

१ पुत्रो हि लोके प्रिय इति तथा च लोकदृष्ट्याऽऽत्मानस्तस्मात् प्रियतरत्वमुक्तं न तु वीतरागमुमुक्षुदृष्ट्येत्यर्थः।
२ गृह्यत इति। ननु मानुषं वित्तं धनादि बन्धफलकमत्रवित्तशब्देन गृह्यतां दैवं वित्तं ध्यानाख्यं मुक्तिफलकं न तेन ग्राह्यमिति चेन्न। यथा पुत्रकर्मणोर्मनुष्यलोकः पितृलोकश्च फलमेव देवलोकोऽपरविद्याख्यदैववित्तस्यापि फलं विद्यया देवलोक इतिश्रुतेर्न मुक्तिस्तत्फलं प्रतिषेधश्रुतेस्ततस्तदपि ग्राह्यम्। तदुक्तं वार्तिके—'देवलोकः फलं यस्माद्दैवस्यापि न तत्परमिति" ॥१०३२॥ इति।

[*]प्रियतरमितीति। वार्तिकाचार्यास्त्वीयसुप्रत्ययस्य तमबर्थकत्वमाहुस्तथाहि—'ईयसुस्तमबर्थः स्यात्पुत्रादीनां बहुत्वतः। छान्दसत्वात्प्रियतमस्तथाऽऽत्मा सम्भवत्यपीति' ॥१०३०॥ बहूनामेकस्य निर्धारणे तमपो विधानादात्मनश्च प्रियत्वे पुत्रादिभ्यो बहुभ्योऽतिशयस्य विवक्षितत्वादिति हेतुमाह—पुत्रादीनामिति। ननु द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनाविति स्मरणात्तमबर्थत्वं तस्यायुक्तं तत्राऽऽह—छान्दसत्वादिति। ईयसुनस्तरपा समानार्थत्वस्मृतावप्यस्य छान्दोगत्वात्स्वार्थमविवक्षित्वा तमबर्थत्वमेष्टव्यमित्यर्थः। छान्दसत्वेऽपि किमित्यस्यातिशयमात्रमादाय तमबर्थतेष्टा मुख्यसम्भवे लक्षणायोगादित्याशङ्क्य प्रियतमत्वस्यैवाऽऽत्मनि सम्भवादन्यस्य तादृशोऽभावात्तस्मिन्नीयसुनस्तमबर्थत्वमेवेत्याह—प्रियतम इति। अपिरवधारणे। आत्मैव प्रियतमो नान्योऽनात्मा तस्मिन्प्रियतमत्वमेव सम्भवति पुत्राद्यनात्मापेक्षया प्रियत्वादिति योजना ॥
[*]सर्वस्मादिति। नन्वात्मनि प्राणादौ च प्रीतेः समत्वात् कथमात्मनः प्रियतमत्वं तत्राहुर्वार्तिकाचार्याः—"प्रीतिसाधनहेतुत्वात्प्राणादौ प्रीतिरिष्यते। बन्धकीप्रीतिवन्मुख्या नैवानात्मसु युज्यते ॥ व्याध्याद्युपप्लुतो यस्मादाह निर्विण्णमानसः। अद्यैव मरणं श्रेयो मम दुःखार्दितात्मनः ॥ प्रतीचि निर्निमित्तैव सर्वावस्थास्वपीष्यते। प्रीतिरग्र्युपणस्तस्मादात्मा प्रेयाननात्मनः" ॥१०३३-१०३५॥ इति। उल्लासो मानसः प्रीतिस्तस्याः साधनमुत्पादनं तत्र हेतुत्वादिति यावत्। बन्धकी वारवनिता। धर्षकीति पाठे तु धर्षकी असती

स्मादित्यर्थः । तत्कस्मादात्मतत्त्वमेव सर्वस्मात्प्रियतरं न प्राणादीति । उच्यते—अन्तर-
तरं बाह्यात्पुत्रवित्तादेः प्राणपिण्डसमुदायो ह्यन्तरोऽभ्यन्तरः सन्निकृष्ट आत्मनः । तस्माद-
प्यन्तरादन्तरतरं यदयमात्मा यदेतदात्मतत्त्वम् । यो हि लोके निरतिशयप्रियः स सर्व-
प्रयत्नेन लब्धव्यो भवति । तथाऽयमात्मा सर्वलौकिकप्रियेभ्यः प्रियतमः । तस्मात्तल्लाभे
महान्यत्न आस्थेय इत्यर्थः । कर्तव्यताप्राप्तमप्यन्यप्रियलाभे यत्नमुज्झित्वा ।
कस्मात्पुनरात्मानात्मप्रिययोरन्यतरप्रियहानेनेतरप्रियोपादानप्राप्तावात्मप्रियोपादा-

मित्याशयेनाऽऽह—तथाऽन्यस्मादिति । पुत्रादौ प्रीतिव्यभिचारेऽपि प्राणादौ तदव्यभिचारादात्मनो न
प्रियतमत्वमिति शङ्कते—तत्कस्मादिति । पदान्तरमादाय व्याकुर्वन्परिहरति—उच्यत इत्यादिना ।
'अन्तरतरत्वे प्रियतमत्वसाधने हेतुरात्मत्वमित्यभिप्रेत्य विशेष्य व्यपदिशति—यदयमिति । आत्मनो
निरतिशयप्रेमास्पदत्वेऽपि कुतस्तस्यैव पदनीयत्वमित्याशङ्क्य वाक्यार्थमाह—यो हीत्यादिना । पुत्रादिलाभे
दारादीनां कर्तव्यत्वेन प्राप्तप्रयत्नविरोधादात्मलाभे प्रयत्नः 'सुकरो न भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—
कर्तव्यतेति ।
आत्मनो निरतिशयप्रेमास्पदत्वे युक्तिं पृच्छति—कस्मादिति । आत्मप्रियस्योपादानमनुसंधान-
मितरस्यानात्मप्रियस्य हानमननुसंधानम् । विपर्ययोऽनात्मनि पुत्रादावभिनिवेशेनाऽऽत्मप्रियस्याननु-

प्रियरूप से प्रसिद्ध है । आत्मा उससे भी ज्यादा प्रिय है । इस प्रकार श्रुति आत्मा की निरतिशय
प्रियरूपता बताती है । उसी प्रकार 'वित्तात' अर्थात् सुवर्णरत्नादिरूप से जो कुछ भी लोकदृष्टि में
प्रियत्वरूप से प्रसिद्ध है, उन सबसे यह ज्यादा प्रिय है । तो किस कारण से आत्मतत्त्व ही प्रियतर है,
प्राणादि नहीं है ? इस पर कहते हैं—'अन्तरतरम्' अर्थात पुत्र-वित्त आदि बाह्य पदार्थों की तुलना में
कार्यकरणसंघातरूप प्राण और पिण्ड समुदाय 'अन्तर' यानी अभ्यन्तर है, आत्मा का निकटवर्ती है ।
उस निकटवर्ती से ज्यादा निकट जो है वह आत्मतत्त्व है । लोकव्यवहार में जो अत्यधिक प्रिय होता
है उसकी प्राप्ति के लिए सारे उपाय किए जाते हैं, उसी प्रकार लोकदृष्टि में सभी प्रिय वस्तुओं में
यह आत्मा सर्वाधिक प्रिय है । भाव यह है कि अन्य अनात्मपदार्थों की प्राप्ति के लिए अवश्यकर्तव्यता-
रूप प्रयत्न करना त्याग कर आत्मप्राप्ति के लिए महान् यत्न करना चाहिए ।
तो ऐसा क्यों है कि आत्मा और अनात्मरूप प्रिय पदार्थों में से किसी एक प्रिय पदार्थ के त्याग

१ हेतौ । २ प्राणपिण्डेति । प्राणाः करणानि पिण्डः स्थूलं शरीरं कार्यरूपम् तथा च कार्यकरणसंघात इत्यर्थः । तदुक्तं वार्तिके—"वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम् । इन्द्रियेभ्यः प्रियः प्राण आत्मा प्रियतमस्ततः" ॥१०३६॥ इति । ३ अनात्मप्रियलाभे । ४ आत्मानात्मरूपप्रियपदार्थयोरित्यर्थः ।
५ प्रातिकूल्ये सतीति बोध्यम् । ६ प्रियतरत्वहेतावन्तरतरत्वे इत्यन्वयः । ७ लाभार्थम् । ८ सुकर इति । स्वल्पोऽपीति यावत् । स्वल्पं हि सुकरं भवतीति । ९ प्रेम्णा ।

प्रसिद्धैव ॥ प्राणादिषु प्रीतेरमुख्यत्वे लोकप्रसिद्धिमाह—व्याध्यादीति । आदिना दरिद्रताराजपीडादि गृह्यते ।
तस्मात्प्राणादावमुख्या प्रीतिरिति शेषः ॥ तथैव प्रतीच्यपि प्रीतिरमुख्या स्यादित्याशङ्क्यानुभवविरोधमाह—
प्रतीचीति । तत्र स्वाभाविकी प्रीतिरित्यत्र दृष्टान्तमाह—अग्नीति । प्राणादावात्मनि च प्रीतेरेकरूपत्वाभावे
फलितमाह—तस्मादिति ॥

नेनैवेतरहानं क्रियते न विपर्यय इति। उच्यते—स यः [१]कश्चिदन्यमनात्मविशेषं पुत्रादिकं प्रियतरमात्मनः सकाशाद्ब्रुवाणं ब्रूयादात्मप्रियवादी। किम्। प्रियं तवाभिमतं पुत्रादिलक्षणं रोत्स्यत्यावरणं प्राणसंरोधं प्राप्स्यति [२]विनङ्क्ष्यतीति। [३]स कस्मादेवं ब्रवीति। यस्मादीश्वरः समर्थः पर्याप्तोऽसावेवं वक्तुं ह यस्मात्तस्मात्तथैव स्याद्यत्तेनोक्तं प्राणसंरोधं प्राप्स्यति। यथाभूतवादी हि सः। तस्मात्स ईश्वरो वक्तुम्। ईश्वरशब्दः [४]क्षिप्रवाचीति केचित्। भवेद्यदि प्रसिद्धिः स्यात्। [५]तस्मादुज्झित्वाऽन्यत्प्रियमात्मानमेव प्रियमुपासीत।

संधानमिति विभागः। [६]युक्तिलेशं दर्शयितुमनन्तरवाक्यमवतारयति—उच्यत इति। यः कश्चिदात्मप्रियवादी स [७]तस्मादन्यं प्रियं ब्रुवाणं प्रति ब्रूयादिति संबन्धः। वक्तव्यं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति—किमित्यादिना। आत्मप्रियवादिन्येवं वदत्यपि पुत्रादिनाशस्तद्वाक्यार्थो नियतो न सिध्यतीत्याशङ्क्य परिहरति—स कस्मादित्यादिना। हशब्दोऽवधारणार्थः समर्थपदादुपरि संबध्यते। तस्मादेवं वक्तीति शेषः। उक्तं सामर्थ्यमनूद्य फलितमाह—यस्मादिति। अथाऽऽत्मप्रियवादिना यथोक्त सामर्थ्यमेव कथं लब्धमित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति। अतोऽन्यदार्तमित्यनात्मनो विनाशित्वाद्विनाशिनश्च दुःखात्मकत्वात्तत्प्रियत्वस्य भ्रान्तिमात्रत्वादात्मनस्तद्वैपरीत्यान्मुख्या प्रीतिस्तत्रैवानात्मन्यमुख्येति भावः। [८]पक्षान्तरमनूद्य वृद्धप्रयोगाभावेन दूषयति—ईश्वरशब्द इति। अनात्मन्यमुख्या प्रीतिरिति स्थिते फलितमाह—

से अन्य प्रिय पदार्थों की उपलब्धि होने पर आत्मरूप प्रिय पदार्थ को प्राप्त करके अनात्मपदार्थ का त्याग किया जाता है इसके विपरीत नहीं होता। इस पर श्रुति कहती है—वह यह आत्मप्रियवादी (आत्मप्रियवादित्व की दुर्लभता प्रदर्शन के लिए) अन्यम्' अर्थात् किसी दूसरे पुत्रादि-अनात्मविशेष को आत्मा की अपेक्षा प्रियतर बतलाने वाले से कहे। क्या कहे ? 'प्रियम्' अर्थात् पुत्रादिरूप तुम्हारा अभीष्ट पदार्थ 'रोत्स्यति' अर्थात् आवरण या प्राणसरोध को प्राप्त हो जाएगा अथवा विनाश को प्राप्त हो जाएगा। वह किस सामर्थ्य से ऐसा कहता है ? क्योंकि वह ऐसा कहने मे 'ईश्वर.' अर्थात् समर्थ यानी पर्याप्त है। क्योकि वह ऐसा है, इसलिए वैसा ही होगा जैसा उसने कहा है, वह प्राणसरोध को प्राप्त हो जाएगा, क्योकि वह यथाभूतवादी है, इसलिए वह ऐसा कह सकता है। किन्ही के मत मे ईश्वर शब्द शीघ्रतावाचा है (यानी शीघ्र विनाश हो जाएगा)। किन्तु यदि इस अर्थ की प्रसिद्धि होती तो ऐसा अर्थ हो सकता था। इसलिए (अनात्मप्रीति के गौण होने से) अन्य प्रिय पदार्थों को छोडकर

१ आत्मप्रियवादित्वस्य दौर्लभ्यद्योतनायदम्। २ विनङ्क्ष्यतीति। स चात्मनोऽन्य. प्रियतयाऽभीष्टो विनश्यन् सन् त दुःखकृद्भवेदिति शेष। ३ कस्मात्सामर्थ्यात्। ४ क्षिप्रवाचीति। तत्पक्षे ईश्वरो रोत्स्यतीति क्षिप्र विनङ्क्ष्यतीत्यर्थ। तदुक्तम् वार्तिके— यस्ते प्रियतयाऽभीष्ट सोऽचिराद्दुःखकृद्भवेत्। यतो नङ्क्ष्यति स क्षिप्र नश्यश्चासुखकृत्प्रिय" ॥१०४८॥ इति। प्रियस्य नश्यतो दुःखकरत्व प्रसिद्धमिति वक्तु चशब्द। ५ अनात्मप्रीतगौणत्वात्। ६ युक्तिलेशमिति—आत्मत्वस्याऽऽत्मनाऽन्यानपेक्षत्वादनात्मनश्चाऽऽत्मापेक्षत्वात् सोऽन्तरतम इति महती युक्तिरपि द्रष्टव्या तथा चोक्त वार्तिके—'प्रत्यक्त्वाऽन्यानपेक्षा हि तदन्यत्तदपेक्षया। यतोऽन्तरतम प्रत्यङ्ङतस्तस्मादेवावगम्यत" ॥१०४२॥ इति। अपेक्षणीयत्वस्वभावो हिशब्दार्थ। अनात्मनोऽनात्मत्वादेव स्वातन्त्र्यायोग। प्रत्यक्त्वस्याऽऽत्मनि स्वाभाविकत्वे फलितमाह—यत इति। ७ आत्मन। ८ श्रुत्या। ९ ईश्वरशब्दार्थत्वे पक्षान्तरम्।

स य आत्मानमेव. प्रियमुपास्त आत्मैव प्रियो नान्योऽस्तीति 'प्रतिपद्यतेऽन्यल्लौकिकं प्रियमप्यप्रियमेवेति निश्चित्योपास्ते चिन्तयति न हास्यैवंविदः 'प्रियं प्रमायुकं प्रमरणशीलं भवति । 'नित्यानुवादमात्रमेतदात्मविदोऽन्यस्य प्रियस्याप्रियस्य चाभावात् । आत्मप्रियग्रहणस्तुत्यर्थं वा प्रियगुणफलविधानार्थं वा 'मन्दात्मदर्शिनस्ताच्छील्यप्रत्ययोपादानात् ॥८॥

तस्मादिति । उपास्तिमनूद्य तत्फलं कथयति—स य इति । अनुवादद्योतको हशब्दः । प्रियमात्मसुखं तस्यापि लौकिकसुखवन्नाशः सुखत्वादित्याशङ्किते तन्निरासार्थमनुवादमात्रमत्र' विवक्षितमित्याह—नित्येति । फलश्रुते'र्गत्यन्तरमाह—आत्मप्रियेति । महद्धीदमा'त्मप्रियग्रहणं यत्तन्निष्ठस्य' 'प्रियं न प्रणश्यति तस्मात्तदनुसंधानं कर्तव्यमिति स्तुत्यर्थं फलकीर्तनमित्यर्थः । पक्षान्तरमाह—प्रियगुणेति । यो मन्दः सन्नात्मदर्शी तस्य प्रियगुणविशिष्टात्मोपासने प्रियं प्राणादि न नश्यतीति फलं विधातुं फलवचनमित्यर्थः । नन्वात्मानं प्रियमुपासीनस्य प्रियं प्राणादि विद्यासामर्थ्यान्न नश्यति "तथा च मन्दविशेषणं "मन्दमित्याशङ्क्याऽऽह—ताच्छील्येति । ताच्छील्येऽर्थे विहितस्योकञ्प्रत्ययस्य "श्रुत्योपादानात्स्वभावहानायोगाच्च प्रमरणशीलत्वाभावेऽपि प्राणादेरात्यन्तिकमप्रमरणम्"विवक्षितमित्यर्थः ।

आत्मरूप प्रियपदार्थ की ही उपासना करनी चाहिए। जो पुरुष आत्मरूप प्रियपदार्थ की ही उपासना करता है—अर्थात् 'आत्मा ही प्रिय है; दूसरे लौकिक पदार्थ प्रिय होने पर भी अप्रिय ही हैं'—ऐसा निश्चय करके 'उपास्ते' अर्थात् चिंतन करता है, 'हास्य' अर्थात् इस प्रकार जानने वाले का आत्मसुख 'प्रमायुकम्' अर्थात् प्रकृष्टतया मरणशील नहीं होता। आत्मज्ञानी के लिए तो न तो कोई प्रिय है, न अप्रिय ही है। इसलिए (आत्मसुख के स्वरूपतः अविनाशी होने के कारण) यह नित्यवस्तु का अनुवाद मात्र है। अथवा यह आत्मप्रियग्रहण की स्तुति के लिए है या प्रियगुणविशिष्ट (सुखमात्र) फलविधान के लिए है अथवा मन्द आत्मदर्शी के लिए है, क्योंकि ('प्रमायुक' पद में) ताच्छील्यप्रत्यय का ग्रहण किया गया है'॥८॥

---

१. निश्चिनोति । २. आत्मसुखम् । ३ आत्मसुखस्य स्वरूपत एवाविनाशित्व न सूपास्त्या तदित्यनुवाद एवायम् । ४. मन्दात्मदर्शिन इति । एवं चात्र पक्षत्रयप्रदर्शनमधिकारित्रैविध्याभिप्रायेणेति ध्येयम् । प्रथमपक्ष उत्तमाधिकारिणि द्वितीयो मध्यमाधिकारिणि तृतीयो मन्दे तथा च मादात्मैव सुख-सुखमात्र-पुत्रादिसुखप्रियकत्वादिति, ध्येयम् । ५ अत्र विवक्षितमिति । अत्र वाक्ये फलीवत्त्या, अनुवादमात्रमभिमतम् । तथा चोक्तानुमाने जन्यत्वमुपाधिर्नि भाव । ६. तात्पर्यान्तरम् । ७ आत्मरूपस्य प्रियवस्तुनो ग्रहण ज्ञानम् । ८. आत्मनिष्ठस्य । ९. सुखम् । १०. तन्नाशाभावे च । ११. मन्दमिति— न युक्तमित्यर्थः । प्राणाद्यनाशस्य विद्याफलस्य विदुषः सम्भवादिति तदाशयः । १२ श्रुत्योपादानादिति—तथा च तत्प्रत्ययोक्तमरणशीलस्यामरणशीलत्व विरुद्धम् । प्रत्ययोपात्तमरणशीलत्वाभावेऽपि (प्रत्ययस्य ताच्छील्यार्थकत्वानभ्युपगमेऽपि) प्रत्यक्षत एव मरणशीलत्वेन प्रतीयमानप्राणादेर्मरणरूपस्वभावत्यागायोगादमरणशीलत्वमसम्भवीत्यर्थः । १३. अविवक्षितमिति—"प्रमायुकत्व मर्त्यत्वात्प्राणादेर्न वादमात्रं मन्दाधिकारिणो रुच्युत्पादनायेत्यर्थः । न हि विरक्तस्य ज्ञानिनो ज्ञानफल प्राणाद्यनाशित्वमनेनोच्यते । तु वार्यते" इति वार्तिकात् ॥१०५१॥ न च नाशिनोऽनाशित्वोक्तिर्ज्ञानफलम् मिथ्याज्ञानमूलत्वात् । अतोऽन्यदार्तमितिश्रुत्या प्राणादेर्विनाशित्वावगमात् अतो मन्दात्मदर्शिन एवेदं फलमिति भावः ।

तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते । 'किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति ॥ ९ ॥

(उसके विषय मे ब्रह्म की जिज्ञासा करने वाले ब्राह्मणो ने) यह कहा है कि ब्रह्मविद्या के द्वारा मनुष्य "हम सवरूप हो जायेंगे ऐसा मानते है। उसके विषय मे यह प्रश्न होता है कि उस ब्रह्म ने क्या जाना, जिस विज्ञान से वह ब्रह्म सवरूप हो गया ? ॥९॥

---

* सूत्रिता ब्रह्मविद्याऽऽत्मेत्येवोपासीतेति' 'यदर्थोपनिषत्कृत्स्नाऽपि तस्यैतस्य सूत्रस्य व्याचिख्यासु' प्रयोजनाभिधित्सयोपोद्जिघासति-तदिति वक्ष्यमाणमनन्तरवाक्य-

---

तदाहुरित्यादेर्गतेन ग्रन्थेन सबन्ध वक्तु वृत्त कीर्तयति—सूत्रितेति । तस्या प्रमाणमाह—यदर्थेति । 'तर्हि सूत्रव्याख्यानेनैव सर्वोपनिषदर्थसिद्धेस्तदाहुरित्यादि वृथेत्याशङ्क्याऽऽह—तस्येति । विद्यासूत्र व्याख्यातुमिच्छन्तो श्रुति सूत्रितविद्या'विवक्षितप्रयोजनाभिधानायोपोद्घात चिकीर्षति । प्रतिपाद्यमर्थं बुद्धौ सगृह्य तादर्थ्येनार्थान्तरोपवर्णनस्य 'तथात्वाच्चिन्ता प्रकृतसिद्धयर्थामुपोद्घात प्रचक्षत इति 'न्यायादित्यर्थ । यद्ब्रह्मविद्ययेत्यादिवाक्यप्रकाश्य चोद्य तच्छब्देनोच्यते 'प्रकृतसबन्धासभवा-

---

जिसको शेषीभूत समस्त उपनिषद है उस ब्रह्मविद्या का श्रुति ने वह आत्मा है—इस प्रकार "उपासना करे" इस वाक्य से सूत्ररूप से व्याख्यान किया है। उस इस सूत्र का व्याख्यान करने की इच्छुक श्रुति उसका तात्पर्य बतलाने की इच्छा से उपक्रम करना चाहती है। (मूल मन्त्र मे) 'तत्' इस

---

१ किम्विति— श्रुतौ किशब्दमावर्त्य चोद्यद्वयमुदीरयेत् । कि तद्ब्रह्मेत्येवमेक किमवेदिति चापरम्' इति वार्तिकसारे ॥ २ इति वाक्येनेत्यर्थ । ३ यदर्थेति । यच्छेषीभूतत्यर्थ । सूत्रितब्रह्मविद्याजनकत्वेनोपनिषदस्तच्छेषत्वमिति ज्ञेयम् । ४ तर्हीति—सवस्या उपनिषद सूत्रितविद्याशेषत्वाभ्युपगम इत्यर्थ । ५ अभिमतत्यर्थ । ६ उपोद्घातत्वात् । ७ स्मृते । ८ पूर्वोपक्रान्तेन सह सम्बन्धस्यार्थ ।

---

*सूत्रितेत्याद्युपोद्जिघासतीत्यन्तभाष्याभिप्रायाविष्करणपराणि षड्वार्तिकानि सन्ति । तथाहि— आत्मेत्यनेन वाक्येन ब्रह्मविद्याप्यसूत्रिता । यदर्थोपनिषत्कृत्स्ना वृत्तिस्तस्या भविष्यति ॥ आत्मेत्येकमिद सूत्र कण्डिकाद्वयमेव वा । अध्यायो वा समस्तो यमध्यायद्वयमेव वा ॥ अव्याकृतव्याकरणप्रभृतीन्यपरे विदु । पञ्चैव किल सूत्राणि तथाऽपीष्ट न बाध्यते ॥ अव्याकृत स एषेह तथाऽऽत्मैवेति चापर । पदनीय तथा प्रेम पदाया पञ्च सूत्रिता ॥ यथोक्तानां च सूत्राणामा शास्त्रस्य समापनात् । वृत्ति स्यादुत्तरो ग्रन्थस्तत्र तथा समन्वयात् ॥ व्याचिख्यासुरथदानी सूत्रार्थाञ्श्रुतिरञ्जसा । प्रयोजनाभिधित्साया उपोद्घात प्रवर्तते ॥१०६३ १०६८॥ इति । उपसूत्रितेति । विद्यासूत्रस्य सामान्यादुपात्त सूत्रिताविद्याजनकत्वेनोपनिषदस्तच्छेषत्वमाह—यदर्थेति । तर्हि सूत्रव्याख्यानेनैव सर्वोपनिषदर्थसिद्धस्तदाहुरित्यादिवृथेत्याशङ्क्याऽऽह—वृत्तिरिति । तदाहुरित्यादिर्यो ग्रन्थो भविष्यत्यसौ सूत्रिताया विद्याया वृत्तिरिति योजना ॥ आत्मेत्येवोपासीतेत्येतदेव सूत्रमुत्तर सर्वं तद्विवरणमित्युक्तमनुवदति—आत्मेत्येकमिति । तद्वदयका कण्डिका तदर्थादियपरा तदुभय सूत्रमपरमस्य विवरणमित्याह—कण्डिकेति । तृतीयाध्याय सर्वोऽपि सूत्रमुत्तर प्रपञ्चस्तस्येत्याह—अध्यायो वेति । तृतीयाध्यायश्चतुर्थाध्यायश्च सूत्रमुत्तर विवरणमित्याह—अध्यायेति ॥ स्वाभीष्टा सूत्रक्लृप्ति विकल्पद्वाराक्त्वा भर्तृप्रपञ्चेष्ट तद्विभागमाह

वद्योत्यं' वस्त्वाहुर्ब्राह्मणा' ब्रह्म विविदिषवो जन्मजरामरणप्रबन्धचक्रभ्रमणकृतायास-
दुःखोदकापारमहोदधिप्लवभूतं गुरुमासाद्य तत्तीरमु'त्तितीर्षवो 'धर्माधर्मसाधनतत्फललक्षणा-
त्साध्यसाधन'रूपान्निर्विण्णास्तद्विलक्षणनित्यनिरतिशयश्रेयः प्रतिपित्सवः। किमाहुरित्याह-

दित्याह—तदितीति। ब्राह्मणमात्रस्य' चोद्यकर्तृत्वं व्यावर्तयति—ब्रह्मेति। 'उत्प्रेक्षया ब्रह्मवेदनेच्छावत्त्वं
व्यावर्तयितुं तदेव विशेषणं 'विभजते—जन्मेति। जन्म च जरा च मरणं च तेषां प्रबन्धे प्रवाहे
चक्रवदनवरत भ्रमणेन कृतं यदायासात्मकं दुःखं तदेवोदकं यस्मिन्नपारे संसाराख्ये महोदधौ तत्र
प्लवभूतं तरणसाधनमिति यावत्। तत्तीरं तस्य संसारसमुद्रस्य तीरं परं ब्रह्मेत्यर्थः। तेषां
विविदिषायाः साफल्यार्थं 'तत्प्रत्यनीके संसारे वैराग्यं दर्शयति—धर्मेति। 'निर्वेदस्य निरङ्कुशत्वं
वारयति—तद्विलक्षणेति। उत्तरवाक्यमवतार्य व्याचष्टे—किमित्यादिना। अथ परा यया तदक्षरम-

पद से वक्ष्यमाण अनन्तरवाक्य प्रकाश्यवस्तु का ग्रहण होता है। ब्रह्मजिज्ञासु ब्रह्म के जानने की इच्छा
वाले हैं, जन्म-वृद्धावस्था-मरणरूप प्रवाह में चक्र की तरह अनवरत भ्रमण से उत्पन्न आयासात्मक-
दुःखरूपी जल है जिसमें, ऐसे अपार संसाररूपी महासमुद्र को तरण के लिए नौकारूप गुरु की शरण
में जाकर उस समुद्र के तीर को पार करने के इच्छुक धर्माधर्म साधन और फल वाले साध्यसाधनरूप
संसार से वैराग्य धारण करने वाले और उससे विलक्षण नित्य निरतिशय श्रेय के जानने वाले उन ब्रह्म-
जिज्ञासुओं ने ऐसा कहा। क्या कहा? इस पर कहते है। "यद्ब्रह्मविद्यया" इस पद में ब्रह्म परमात्मा
का नाम है, वह जिससे जाना जाता है, उसे ब्रह्मविद्या कहते हैं। उस ब्रह्मविद्या के द्वारा, "सर्वम्"
अर्थात निरवशेष मोक्षरूप "भविष्यन्त" अर्थात हो जायंगे, इसप्रकार मनुष्य जिसे मानते हैं। 'मनुष्य'

फलत्वस्योभयत्राविशेषादित्याशङ्क्यत्यादि। निरङ्कुशत्वम्—असङ्कुचितत्वम्।

१ अवद्योत्य वस्त्विति। ब्रह्मधी सर्वात्मत्वे हेतुरित्यत्र मुमुक्षवो विविदिषवा गुरुसंनिधौ यच्चोद्यमाहुस्तदनन्तर-
वाक्यप्रकाश्यमत्र यच्छब्दितमित्यर्थः। २ ब्रह्मजिज्ञासव। ३ गेप्सव। ४ धर्मादिरूपं यत्साधनं तत्फल
स्वर्गादि तद्रूपात्संसारात्। ५ पूर्वस्यैव विवरणमिदम्। ६ जातिमात्रविशिष्टस्य। ७ निर्मूलकल्पनया।
८ विवृणोति। ९ विविदिषाप्रतिद्वन्द्विनि। १० निर्वेदस्यनि—संसारादिव मोक्षादपि वैराग्यं स्यात्

—अव्याकृतेति। उक्तविभ ास्य तदीयसम्प्रदायावगतत्वद्योतनार्थं किन्त्युक्तम्। अस्यामपि कल्पनायामैक्य-
ज्ञानान्मोक्षस्य न क्षतिरित्यङ्गीकार सूत्रविभागस्य सूचयति—तथाऽपीति॥ तान्येव परोक्तसूत्राणि प्रदर्शयति
—अव्याकृतमिति। एषेहेति च्छान्दस्या प्रक्रियया सन्धिरनादृत। अज्ञातमात्मतत्त्वं जगतो निदानं तदेव सृष्टे
जगति प्रविष्टं तदेव चानात्मनो हित्वा ज्ञातव्य तस्यैव ज्ञातव्येन पदनीयत्वं तदेव च प्रियतममिति पदार्थ-
पञ्चकमत्र सूचितमित्यर्थः॥ उत्तरग्रन्थस्योक्तसूत्रवृत्तित्वेन प्रवृत्तिमाह—यथोक्तानामिति। सूत्रिताव्याकृता-
दीनामुत्तरग्रन्थे सम्यगनुगतेरिति हेतुमाह—तत्रेति। उक्तं च—एतेषां यथोपन्यस्तानां वृत्तिस्थानीय उत्तरो
ग्रन्थ आरभ्यत आ परिसमाप्ते शास्त्रस्येति॥ स्वपरपक्षयो सूत्रं विभज्य स्वपक्षे तदाहुरित्यादेस्तात्पर्यमाह
—व्याचिख्यासुरिति। सूत्रप्रवृत्तेरनन्तरमवसरे सत्यात्मेत्यादिसूत्रार्थमात्मज्ञानं तदपेक्षनानपि विवेकादीनु-
पायभेदानञ्जसा व्याख्यातुमिच्छन्ती श्रुति सूत्रितज्ञानफलकथनायोपोद्घात 'चिन्ता प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घात
प्रचक्षते' इत्युक्तलक्षणं करोतीत्यर्थ। अथेति सूत्रविभागव्याख्यानन्तर्योक्ति। आदौ सूत्रं ततो वृत्तिरिति क्रमार्थ-
मिदानीमित्युक्तम्। सूत्रभेदे तदैक्ये च तदर्थज्ञानैक्येऽपि तत्र तत्र तदुक्तिप्रक्रियाभेदं दृष्ट्वा बहूक्तिरिति
द्रष्टव्यम्। इच्छायास्त्वविवक्षित॥

यद्ब्रह्मविद्यया ब्रह्म परमात्मा [१]तद्यया वेद्यते स ब्रह्मविद्या तया ब्रह्मविद्यया [२]सर्वं निरवशेषं भविष्यन्तो भविष्याम इत्येवं मनुष्या यन्मन्यन्ते । मनुष्यग्रहणं [३]विशेषतोऽधिकारज्ञापनार्थम् । मनुष्या एवं [४]हि विशेषतोऽभ्युदयनिःश्रेयससाधनेऽधिकृता इत्यभिप्रायः[५] । यथा [६]कर्मविषये फलप्राप्तिं [७]ध्रुवां कर्मभ्यो मन्यन्ते तथा ब्रह्मविद्यायाः सर्वात्मभावफलप्राप्तिं ध्रुवामेव मन्यन्ते [८]। [९]वेदप्रामाण्यस्योभयत्राविशेषात् ।

धिगम्यत इति श्रुत्यन्तरमाश्रित्याऽऽह—तद्ययेति । मनुष्या यन्मन्यन्ते [१०]तत्र विरुद्धं [११]वस्तु भातीति शेषः । मनुष्यग्रहणस्य कृत्यमाह—मनुष्येति । ननु देवादीनामपि विद्याधिकारो [१२]देवताधिकरणन्यायेन वक्ष्यते तत्कुतो मनुष्याणामेवाधिकारज्ञापनमित्यत आह—मनुष्या इति । विशेषतः सर्वाविसंवादेनेति यावत् । [१३]तथाऽपि किमिति [१४]ते ज्ञानान्मुक्तिं [१५]सिद्धवद्ब्रुवन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—यथेति । उभयत्र कर्मब्रह्मणोरिति यावत् ।

पद का ग्रहण सर्वाविसंवादरूप से ज्ञान और कर्म का अधिकार ज्ञापन करने के लिए है। भावाशय यह है कि अभ्युदय और निःश्रेयससिद्धि के लिए ज्ञान और कर्मरूपसाधनों मे विशेषत मनुष्यो का ही अधिकार है। जिस प्रकार कर्मकाण्ड मे कर्मों से होने वाली फलप्राप्ति को अव्यभिचारी मानते है, उसी प्रकार ब्रह्मविद्या से सर्वात्मभावफलप्राप्ति को भी अव्यभिचारी ही मानते हैं। (दूसरा हेतु यह है कि) वेद के प्रामाण्य मे दोनो ही के विषय मे समानता है।

१. तद्ययेति । यया बुद्ध्या तद्ब्रह्म सच्चिदानन्दाख्य प्रत्यक्त्वेन साक्षात्क्रियते सा वाक्योत्था बुद्धिवृत्ति ब्रह्मविद्या तया ब्रह्मविद्यया सर्वं कृत्स्नं भविष्याम इति यन्मनुष्या मन्यन्ते सभावयन्ति तत्र (सभावितेऽर्थे) विद्याफलमधिकृत्य विरोध चोदयामो इति । अद्वैत वस्तुनि यत्प्रमाण तत्परिशोधनार्थं मुमुक्षुणा चोद्य द्रष्टव्यम् । २ मोक्षरूपम् । ३ विशेषत—सर्वाविसवादेन । अधिकारेति—ज्ञानकर्मणोरिति शेष । ४ तेषामेव वेदार्थेऽधिकृतिरिति पूर्वकाण्डे प्रदर्शितमिति हिशब्दार्थः । ५ ज्ञानकर्माख्ये । ६ अभिप्राय इति—अत्र मनुष्यग्रहणस्य कृत्यान्तरमाहुर्वार्तिके । तथाहि—'दृष्टायतो वा विद्याया मनुष्यग्रहण कृतम् । तावन्मात्रोऽधिकार्यत्र नाग्निहोत्राधिकारवत् ॥ प्रत्यबुध्यत यो यस्तदिति चोध्वं प्रवक्ष्यति । नात कर्माधिकार्यत्र दृष्टार्थत्वादपेक्ष्यत" ॥१०८५-१०८६॥ इति । विद्याया शोकादिनाशाख्यदृष्टफलत्वात्तत्कामी सर्वोऽपि साधारणाधिकारिलक्षणाक्रान्तोऽत्र विद्यायामधिकारी न त्वग्निहोत्राद्यधिकारिनियमवदत्र तन्नियमोऽस्तीति वक्तुमेव मनुष्योक्तिरित्यर्थ ॥ कर्माधिकारिविज्ञाने नापेक्षितो विशिष्टोऽधिकारीत्यत्र मानमाह—प्रत्येति । प्रवक्ष्यतीति—विद्याधिकार्यनियममिति शेष । मनुष्यग्रहण विशेषतोऽधिकारज्ञापनार्थमित्यादिभाष्य तर्हि कथमित्याशङ्क्य वाक्यशेषविरोधाभावाऽऽदेयमित्याह—नात इति । अतो दृष्टार्थत्वादिति सबन्ध । कर्माधिकारी तद्वद्विशिष्टोऽधिकारीत्यर्थ । अत्रेति विद्यायामित्यर्थ ॥ ७ कर्मकाण्डे । ८ अव्यभिचरिताम् । ९ एवेति—उभयत्र साधनत्वशक्त्यविशेषादित्यर्थं । १० हेत्वन्तरमाह—वदति । ११ मनुष्यमते । १२ मोक्षाख्यफलम् । १३. देवताधिकरणम्—तदुपर्यपि बादरायण सभवात् (ब्र सू १।३।२६) इत्येवमादि । देवताधिकरणेति—प्रमाणान्तरसवादविसवादाभावे सति तत्र मन्त्रादौ विग्रहादिरूपोऽर्थ सिध्यति स देवताधिकरणन्याय । यथा 'वज्रहस्त पुरदर' इत्यत्र तात्पर्याविषयीभूतमपि (ऐन्द्राग्नप्राशस्त्यविषयत्वात्तात्पर्यस्य) देवताविग्रहत्व वज्रहस्तत्व च सिध्यति तथा 'यो यो देवानामि'त्यादिश्रुतितात्पर्यस्य ब्रह्मविदस्तद्भावापत्तिविषयत्वेऽपि तदविषयभूतोऽपि देवादीना विद्याधिकार सिध्यतीति । १४ मनुष्यग्रहणस्योक्ततात्पर्यवत्त्वेऽपि । १५ ब्राह्मणा । १६ निश्चिन्वन्त इव ।

तत्र विप्रतिषिद्धं वस्तु लक्ष्यतेऽतः' पृच्छामः—'किमु तद्ब्रह्म यस्य विज्ञानात्सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते 'तत्किम'वेद्यस्माद्विज्ञानात्तद्ब्रह्म सर्वमभवत्। ब्रह्म च 'सर्वमिति श्रूयते। 'तद्यद्यविज्ञाय किंचित्सर्वमभवत्तथाऽन्येषामप्यस्तु किं ब्रह्मविद्यया। अथ विज्ञाय सर्वमभवद्विज्ञानसाध्यत्वात्कर्मफलेन 'तुल्यमेवेत्यनित्यत्वप्रसङ्गः सर्वभावस्य ब्रह्मविद्याफलस्य। अनवस्थादोषश्च 'तदप्यन्यद्विज्ञाय सर्वमभवत्ततः 'पूर्वमप्यन्यद्विज्ञाय

उत्तरवाक्यमुपादत्ते—तत्रेति। मनुष्याणां मतं तच्छब्दार्थः। वस्तुशब्देन 'ज्ञानात्फलमुच्यते। 'आक्षेपगर्भस्य चोद्यस्य प्रवृत्तौ विरोधप्रतिभासो हेतुरित्यतःशब्दार्थः। "तद्ब्रह्म परिच्छिन्नमपरिच्छिन्नं वेति "कुतो ब्रह्मणि चोद्यते तत्राऽऽह—"यस्येति। प्रश्नान्तरं करोति—तत्किमिति। ब्रह्म स्वात्मानमज्ञासीदतिरिक्तं वेति प्रश्नस्य "प्रसङ्गं दर्शयति—यस्मादिति। "सर्वस्य व्यतिरिक्तविषये ज्ञानं प्रसिद्धं तत्किं विचारेणेत्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्म चेति। सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादौ ब्रह्मणः सर्वात्मत्वश्रवणादतिरिक्तविषयाभावादात्मानमेवावेदिति "पक्षस्य सावकाशतेत्यर्थः। किंशब्दस्य प्रश्नार्थत्वमुक्त्वाऽऽक्षेपार्थमाह—तद्यदीति। ब्रह्म हि किंचिदज्ञात्वा सर्वमभवज्ज्ञात्वा वा नाऽऽद्यो ब्रह्मविद्यानर्थक्यादित्युक्त्वा द्वितीयमनुवदति—अथेति। स्वरूपमन्यद्वा ज्ञात्वा ब्रह्मणः सर्वापत्तिरिति विकल्प्योभयत्र साधारणं दूषणमाह—विज्ञानेति। "द्वितीये दोषान्तरमाह—अनवस्थेति। "बहिरेवाऽऽक्षेपं परिहरति—

किंतु (ज्ञान मनुष्य द्वारा संभावित अर्थ मे है, उसमे फलात्मक वस्तु मोक्ष है) यह बात विरुद्ध सी प्रतीत होती है। इसलिये हम पूछते है—वह ब्रह्म क्या है, जिसको जानने से 'सर्वरूप हो जायगे' ऐसा मनुष्य मानते हैं? उसने क्या जाना, जिसके जानने से वह ब्रह्म सर्वरूप हो गया? ब्रह्म का सर्वरूप (तदन्याभाव) होना सुना जाता है। वह ब्रह्म यदि कुछ भी न जानकर सर्वरूप हुआ है, तो फिर दूसरो के लिए भी यही बात होनी चाहिए। ऐसे मे ब्रह्मविद्या से क्या प्रयोजन है? और यदि जानकर वह ब्रह्म सर्वरूप हुआ तो विज्ञानसाध्य होने से उसकी सर्वरूपता कर्मफल के समान ही है, इससे ब्रह्मविद्या के फल की सर्वरूपता मे अनित्यत्व का प्रसंग आता है। वह ब्रह्म अपने से भिन्नपदार्थ को जानकर सर्वरूप हुआ, इससे पहले भी वह ब्रह्म किसी अन्य को जानकर सर्वरूप हुआ था—इस प्रकार अनवस्था

---

१. मनुष्यसंभावितेऽर्थे ज्ञाने फलात्मकं वस्तुविरुद्धं प्रतीयते। अत—विरोधप्रतीते। २ किं तच्चाद्यमित्याशङ्क्य वाक्यं व्याचष्टे—किमिति। यस्य ब्रह्मणो विज्ञानान्मोक्षं यद्यन्मुमुक्षवस्तत् किं परिच्छिन्नमुतापरिच्छिन्नमिति प्रश्नार्थः। ३. तत्किमिति—यज्ज्ञानाद्ब्रह्म सर्वत्वं गच्छति सत् किं स्वरूपमेव विदित्वा सर्वं भवत्युतान्यदित्यर्थः। ४ यदीयात। ५ सर्वमिति—ततश्च तदन्याभाव इति भावः। ६ ब्रह्म। ७. तुल्यमेवेति—विज्ञानफलमिति शेषः। ८. ज्ञानहेतुकफलम्। ९—आक्षेपेत्यादि। तथा च आक्षेपगर्भस्य चोद्यस्य प्रवृत्तौ विरोधप्रतीतेरेव हेतुत्वादाक्षेपगर्भं चोदयाम इत्यर्थः। अन्यथा गुरुम्प्रति शिष्याणामाक्षेपगर्भं चोद्यं प्रसरेदिति भावः। १०. तद्ब्रह्मेति—परिच्छिन्नत्वे ब्रह्मशब्दानर्हत्वम्। अपरिच्छिन्नत्वे तु वेद्यत्वानुपपत्तिरित्याक्षेप्तुरभिप्रायः। ११ कुतो ब्रह्मणीति—ब्रह्मशब्दावयवार्थपर्यालोचनयैव ब्रह्मणोऽपरिच्छिन्नत्वानवद्यत्वचोद्यानुपपत्तिरिति भावः। १२ यस्येतीति—तथा च वेद्यत्वेन परिच्छिन्नत्वशङ्का नावकाशेति भावः। घटादिवत्। १३. अवसरम्। १४. प्राणिजातस्य। १५. अतिरिक्तज्ञानपक्षस्य तु लाभत एवेत्युक्तम्। १६ द्वितीय इति—प्रथमेऽपि स्वेनैव स्वज्ञाने कर्तृकर्मविरोधो दूषणं द्रष्टव्यम्। १७ बहिरेवेति—श्रोताक्षेपपरिहारादबहिरेवेत्यर्थः।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत् । अहं ब्रह्मास्मीति । तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृ-

उत्पत्ति से पहले यह नामरूपात्मक जगत् ब्रह्मस्वरूप ही था। उसने अपने को ही जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ"। इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया। उसे देवताओं में से जिस जिसने जाना, वही तद्रूप हो गया। ऐसे ही ऋषियों और मनुष्यों में से भी (जिस जिसने उस ब्रह्म को उक्त प्रकार से जाना वह ब्रह्मरूप हो गया) ऋषि वामदेव ने उस तत्त्व को आत्मभाव से देखते हुए ही जाना। "मैं ही मनु और सूर्य भी हुआ था", इस प्रकृतब्रह्म को इस समय भी जो इस प्रकार से जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ" तो वह इस

ततः पूर्वतरमप्यन्यद्विज्ञायेति । न तावदविज्ञाय सर्वमभवत् । शास्त्रार्थवैरूप्यदोषात् । फलानित्यत्वदोषस्तर्हि, नैकोऽपि दोषोऽर्थविशेषोपपत्तेः ॥६॥

यदि किमपि विज्ञायैव तद्ब्रह्म सर्वमभवत्पृच्छामः किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वम-

---

न तावदिति । अज्ञात्वैव ब्रह्मणः सर्वभावोऽस्मदादेस्तु ज्ञानादिति 'शास्त्रार्थे वैरूप्यम् । न चास्मदादेरपि तदन्तरेण तद्भावः शास्त्रानर्थक्यात् । ज्ञानाद्ब्रह्मणः सर्वभावपक्षे स्वोक्तं दोषमाक्षेप्ता स्मारयति—फलेति । 'स्वतोऽपरिच्छिन्नं ब्रह्माविद्यातत्कार्यसबन्धात्परिच्छिन्नवद्भाति 'तन्नि'वृत्त्यौपाधिकं सर्वभावस्य साध्यत्वं न चानवस्था ज्ञेयान्तरानङ्गीकाराम्नापि 'क्रियाविरोधो 'विषयत्वमन्तरेण वाक्यीयबुद्धिवृत्तौ स्फुरणादिति परिहरति—नैकोऽपीति । "एतेन विद्यावैयर्थ्यमपि परिहृतमित्याह—अर्थेति । यद्यपि ब्रह्मापरिच्छिन्नं नित्यसिद्धं तथाऽपि तत्राविद्यातत्कार्यध्वंसरूपस्यार्थविशेषस्य ज्ञानादुपपत्तेर्न तद्वैयर्थ्यमित्यर्थः ॥६॥

इदानीं प्रश्नमनूद्य तदुत्तरत्वेन ब्रह्मेत्यादिश्रुतिमवतारयति—यदीत्यादिना । "तत्र मृत्तिकृतां मतानुसारेण ब्रह्मशब्दार्थमाह—ब्रह्मेति । तस्य परिच्छिन्नत्वाज्ज्ञानेन सर्वभावस्य साध्यत्वसंभवादिति

दोष आ जाता है। किंतु वह बिना जाने तो सर्वरूप नहीं हुआ, क्योंकि इससे शास्त्र की अनर्थकता सिद्ध होने लगेगी। तो फिर (ज्ञान से सर्वभावप्राप्तिरूप) फल की अनित्यता का दोष बना रहा? नहीं, ऐसा नहीं कह सकते। विशेषार्थ की सिद्धि होने से एक भी दोष नहीं रहेगा ॥६॥

यदि वह ब्रह्म कुछ जानकर ही सर्वरूप हुआ तो हम पूछते हैं कि उस ब्रह्म ने क्या जाना, जिससे

---

१. तर्हीति। ज्ञानात्सर्वभावाभ्युपगम इत्यर्थः । २. तर्हि । ३ शास्त्रार्थे वैरूप्यमिति—सर्वभावापत्तिरूपशास्त्रार्थः कस्यचिज्ज्ञानजन्यः कस्यचिच्च तदजन्य इति तत्र विरुद्धधर्मवत्त्व वैरूप्यमित्यर्थः । ४. ब्रह्मण इवेत्यपि शब्दार्थः । अज्ञात्वैव किंचिद्ब्रह्मण सर्वभावोऽभ्युपगम्यतामिति भावः । ५. स्वरूपत. । परिच्छिन्नापरिच्छिन्नविषयमाद्य चोद्यमपवदति—स्वत इति । ६. ज्ञात्वा सर्वमभवदिति पक्षोक्तमाक्षेपं प्रतिक्षिपति—तन्निवृत्त्यौपाधिकमिति । ७. कल्पितपरिच्छेदनिवृत्तिप्रयुक्तम् । ८. क्रियाविरोध इति—एकस्या क्रियाया एकस्यैव कर्मत्वकर्तृत्वविरोध इत्यर्थः । ९. फलविषयत्व विना । १०. वक्ष्यमाणेन । ११. श्रुतिघटकमिति यावत् ।

र्षिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवᳪ सूर्यश्चेति । तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदᳪ सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते । आत्मा ह्येषाᳪ स भवति अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति

विज्ञान से सर्वरूप हो जाता है । ऐसे तत्त्ववेत्ता के पराभव करने मे द्योतनशील देवता भी समर्थ नही होते, क्योकि वह तत्त्वज्ञानी इन देवताओ का भी आत्मा हो जाता है । यह आराध्यदेव भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूँ, इस प्रकार जो अपने से भिन्न देवता की उपासना करता है, वह अज्ञानी परमार्थतत्त्व को नही जानता । जैसे लोक मे भारवाही पशु होता है, वैसे ही वह भेदवादी देवताओं का पशु है । जैसे

भवदिति । एवं चोदिते [1]सर्वदोषानाघ्रातं प्रतिवचनमाह—[2]ब्रह्मापरं सर्वभावस्य साध्यत्वोपपत्तेः । न हि परस्य ब्रह्मणः सर्वभावापत्तिर्विज्ञानसाध्या । विज्ञानसाध्यां च सर्वभावापत्तिमाह, तस्मात्तत्सर्वमभवदिति । [3]तस्माद्ब्रह्म वा इदमग्र आसीदित्यपरं ब्रह्मेह भवितुमर्हति । [4]मनुष्याधिकाराद्वा तद्भावी [5]ब्राह्मणः [6]स्यात् । सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या

हेतुमाह—सर्वभावस्येति । [7]सिद्धान्ते यथोक्तहेत्वनुपपत्तिं दोषमाह—न हीति । सा तर्हि विज्ञानसाध्या मा भूदित्यत आह—विज्ञानेति । हिरण्यगर्भस्य नोपदेशजन्यज्ञानाद्ब्रह्मभावः [8]'सहसिद्धं 'चतुष्टयम्' इति स्मृतेः स्वाभाविकज्ञानवत्त्वात्तत्सर्वमभवदिति चोपदेशाधीनधीसाध्योऽसौ श्रुतो न चाऽऽसीदित्यतीतकाला-[9]वच्छेदस्त्रिकाले[10] तस्मिन्युज्यते । [11]समवर्ततेति च जन्ममात्रं श्रूयते । कालात्मके तत्संबन्धस्य [12]स्वाश्रय-पराहतत्वान्मनुष्याणां प्रकृतत्वाच्च नापरं ब्रह्मेह ब्रह्मशब्दमित्यपरितोषाद्वृत्तिकारमतं हित्वा ब्रह्मेति [13]ब्रह्मभावी पुरुषो निर्दिश्यत इति भर्तृप्रपञ्चोक्तिमाश्रित्य [14]तन्मतमाह—मनुष्येति । [15]तदेव प्रपञ्चयति

वह सर्वरूप हो गया ? ऐसा प्रश्न होने पर श्रुति इस प्रकार उत्तर देती है, जिसमें लेशमात्र भी दोष का स्पर्श नही है ।—ब्रह्मशब्द अपरब्रह्म यानी हिरण्यगर्भ का बोधक है, क्योकि (ज्ञान द्वारा) सर्वभाव का साध्यत्व संभव है । परब्रह्म की सर्वभावप्राप्ति विज्ञानसाध्य नही है । 'इसी से वह ब्रह्म सर्वरूप हो गया' इस श्रुतिवाक्य से सर्वभावप्राप्ति विज्ञानसाध्य बतलाई गयी है । (परब्रह्म की सर्वभावप्राप्ति मे विद्या की अपेक्षा न होने से) इसलिए 'वह ब्रह्म ही आदि मे था' इस श्रुतिवाक्य मे 'ब्रह्म'शब्द अपरब्रह्म

१. उपोद्घातोक्तसर्वदोषास्पृष्टम् । २ हिरण्यगर्भः । ३. परब्रह्मणः सर्वभावापत्तेर्विद्यानपेक्षत्वात् । ४. विद्याया मनुष्यस्यैवाधिकारात् । ५. मनुष्य. । ६. ब्रह्मशब्दार्थः । ७. परस्यैव ब्रह्मशब्दार्थत्वपक्षे । ८. ज्ञानादिचतुष्टयम् । ९. सम्बन्धः । १०. त्रिकालस्वरूपे । ११. ननु "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" इति कालसम्बन्धोऽपि तत्र श्रूयत इत्याशङ्क्याऽऽह—हिरण्यगर्भ इति । १२. आत्माश्रयदोषेण निरस्तत्वात् । १३. इदानीमब्रह्मापि भाविवृत्त्या । १४. तन्मतमिति—ज्ञानात्प्रागवस्तुनोऽब्रह्मैव जीवो ज्ञानाद्ब्रह्मभूयं भजतीति तन्मतम् । १५. तन्मतमेव ।

न स वेद यथा पशुरेवꣳ स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ १० ॥

लोक मे बहुत से पशु जीविका प्रदाता का भार वहन करते हुए पालन करते हैं, वैसे ही हविष्यान्न प्रदान कर एक-एक मनुष्य देवताग्रो का पालन करता है। उनमे से एक पशु का भी अपहरण किये जाने पर मनुष्य को अप्रिय जान पडता है, फिर भला बहुतों के अपहरण किये जाने पर तो कहना ही क्या ? । अत: यह देवताग्रो को सर्वथा प्रिय नही है कि मनुष्य ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व को जानें ॥१०॥

मन्यन्त 'इति हि मनुष्याः प्रकृतास्तेषां चाभ्युदयनिःश्रेयससाधने' 'विशेषतोऽधिकार इत्युक्तम्। 'न परस्य ब्रह्मणो नाप्यपरस्य प्रजापतेः। 'अतो द्वैतैकत्वापरब्रह्मविद्या कर्मसहितयाऽपरब्रह्मभावमुपसपन्नो भोज्यादपावृत्तः सर्वप्राप्त्योच्छिन्नकामकर्मबन्धनः परब्रह्मभावी 'ब्रह्मविद्याहेतोर्ब्रह्मेत्यभिधीयते। दृष्टश्च लोके भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य शब्द-

—सर्वमित्यादिना। द्वैतैकत्वं सर्वजगदात्मकमपरं हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्म तस्मिन्विद्यां हिरण्यगर्भोऽहमित्यहंग्रहोपासितस्तया समुच्चितया तद्भावमिहैवोपगतो हिरण्यगर्भपदे मद्भोज्ये ततोऽपि दोषदर्शनाद्विरक्तः 'सर्वकर्मफलप्राप्त्या निवृत्तकामादिनिगडः साध्यान्तराभावाद्विद्यामेवार्थयमानस्तद्वशाद्ब्रह्मभावी जीवोऽस्मिन्वाक्ये ब्रह्मशब्दार्थ इति फलितमाह—अत इति। कथं ब्रह्मभाविनि जीवे ब्रह्मशब्दस्य

का बोधक हो सकता है। अथवा विद्या मे मनुष्य का ही अधिकार होने स ब्रह्मशब्द से ब्रह्मभाव को प्राप्त होने वाला मनुष्य हो सकता है। 'हम सर्वरूप हो जाएगे, ऐसा मनुष्य मानते हैं।' इस वाक्य से यहां मनुष्यो का प्रकरण है क्योकि उन्ही का अभ्युदय नि श्रेयसरूप ज्ञान-कर्म के साधनो में विशेषरूप से अधिकार है—ऐसा पहले कहा गया है। परब्रह्म या अपरब्रह्म हिरण्यगर्भ का नही। परिशेषत कर्मसहित द्वैतैकत्वरूप अपरब्रह्मविद्या द्वारा अपरब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ। भोगो से निवृत्त सर्वकर्मफल की प्राप्ति होने से जिसके काम और कर्मरूप बन्धन क्षीण हो गये है वह परब्रह्म को प्राप्त होने वाला मनुष्य

१ यथा हेति—यथा पशुरित्यनेनैवष्टसिद्धौ किं पथत्यादिवाक्येनेति चेन्नरपशोर्गवादिवैसादृश्य दर्शयितुमिति गृहाण। तदुक्तम् वार्तिके—'एकैकस्वामिको लोके गवादि पशुरिष्यते। ततोऽप्यतिशय पुमान् सर्वलोकोपकारितः' ॥१५७२॥ २ इतिवाक्ये। ३ ज्ञानकर्मणो। ४. सर्वाविसंवादेन। ५. ननु परापरब्रह्मणोरन्यतरग्रहणमिह कुतो न स्यात्तयोरपि मनुष्यशब्दप्रयोगसंभवात् (पुरुषशब्दप्रयोगवत्) अत आह—नेति। परस्य अपरस्य वा ज्ञानानर्थित्वादप्रकृतत्वाच्च नात्र ग्रहणमिति भाव। किंच तयो यो देवानामित्यादिना सर्वेषामविशेषत पुरुषार्थहेतुतया ब्रह्मविद्योक्ता न हि हिरण्यगर्भादिमात्रस्य तथा च वाक्यदोषादेष ब्रह्मशब्दो न तद्वाचीत्यपि द्रष्टव्यम्। ६ पारिशेष्यात्। ७ ब्रह्मविद्यारूपाद्धेतो। ८ द्वैतैकत्वमिति—द्वैतरूपमद्वैतरूप च। नानात्वमित्यर्थं। ९ सूत्रपदप्राप्त्या।

प्रयोगो यथौदनं पचतीति, शास्त्रे च परिव्राजकः सर्वभूताभयदक्षिणामित्यादिस्तथेहेति केचिद्ब्रह्म ब्रह्मभावी पुरुषो ब्राह्मण इति व्याचक्षते ।

तन्न, सर्वभावापत्तेरनित्यत्वदोषात् । न हि सोऽस्ति लोके परमार्थतो यो निमित्तवशाद्भावान्तरमापद्यते नित्यश्चेति । तथा ब्रह्मविज्ञाननिमित्तकृता चेत्सर्वभावापत्तिर्नित्या चेति विरुद्धम् । अनित्यत्वे च कर्मफलतुल्यतेत्युक्तो दोषः । अविद्याकृतासर्वत्वनिवृत्तिं चेत्सर्वभावापत्तिं ब्रह्मविद्याफलं मन्यसे ब्रह्मभाविपुरुषकल्पना व्यर्था स्यात् ।

प्राग्ब्रह्मविज्ञानादपि सर्वो जन्तुर्ब्रह्मत्वान्नित्यमेव सर्वभावापन्नः परमार्थतोऽविद्यया

प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—दृष्टश्चेति । आदिशब्देन 'गृहस्थः 'सदृशीं भार्यां विन्देतेत्यादि गृह्यते । इहेति प्रकृतवाक्यकथनम् ।

भर्तृप्रपञ्चव्याख्यानं दूषयति—तन्नेति । ब्रह्मशब्देन परस्मादर्थान्तरस्य ग्रहे तस्य सर्वभावापत्तेः साध्यत्वादनित्यत्वापत्तेर्न तन्मतमुचितमित्यर्थः । साध्यस्यापि मोक्षस्य 'नित्यत्वमाशङ्क्य "यत्कृतकं तदनित्यमिति न्यायमाश्रित्याऽऽह—न हीति । सामान्यन्यायं प्रकृते योजयति—तथेति । भवतु सर्वभावापत्तेरनित्यत्वं का हानिस्तत्राऽऽह—अनित्यत्वे चेति । किंच जीवस्याब्रह्मत्वं तवाविद्याकृतं पारमार्थिकं वेति विकल्प्याऽऽद्यमनूद्य दूषयति—अविद्याकृतेति ।

ब्रह्मभाविपुरुषकल्पना व्यर्थेत्युक्तं व्यक्ती करोति "तत्रानुवादभागं विभजते—प्रागित्यादिना ।

ब्रह्मविद्यारूप हेतु से "ब्रह्म" इस शब्द से कहा जाता है । भविष्यवृत्ति को आश्रित करके लोकव्यवहार में भी शब्द का प्रयोग देखा जाता है । जैसे "भात पकाता है" इस वाक्य में (पकते हुए चावलों को भात कहा जाता है) तथा शास्त्र में भी 'संन्यासी समस्त प्राणियों को अभयरूप दक्षिणा दे (कर संन्यास ग्रहण करे)' इत्यादि वाक्य में ऐसा ही प्रयोग है । उसी प्रकार यहाँ भी कुछ लोग "ब्रह्मभाव को प्राप्त होने वाला मनुष्य ही ब्रह्म है" ऐसी व्याख्या करते हैं ।

(उक्त भर्तृप्रपञ्च के मत का खण्डन करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि इससे सर्वभावप्राप्तिरूप मोक्ष में अनित्यत्व दोष आ जायगा । लोक या शास्त्र में ऐसा कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है जो किसी कारणवश भावान्तर को प्राप्त हो और नित्य भी हो । ऐसे ही यदि सर्वभावापत्ति भी ब्रह्मज्ञानरूपकारणजन्या हो, तो वह नित्य भी है— ऐसा कहना युक्तिसंगत न होगा । यदि उसे अनित्य कहा जाय तो कर्मफलतुल्यता होती है । यह अपसिद्धान्तरूप दोष पहले बतला चुके हैं । यदि तुम अविद्याकृत असर्वत्वनिवृत्ति को ब्रह्मविद्या का सर्वभावप्राप्तिरूप फल मानते हो तो ब्रह्मीभूत मनुष्य की कल्पना करना वृथा है ।

---

१ तण्डुल पचतीति प्रयोक्तव्ये । पाकानन्तरभावित्वादोदनस्य । २ दक्षिणामिति दद्यादिति शेष । ३ लोके इति शास्त्रस्याप्युपलक्षणम् । ४ प्रथमान्तात्तसि । दक्षिणादानानन्तर हि परिव्रजनमिति भाव । ५ दोष —अपसिद्धान्तरूप । ६ गृहस्थ इत्यादि—गार्हस्थ्यस्य भार्यात्वस्य विवाहानन्तरभावित्वेऽपि प्राग्व्यवहार । ७ सदृशीमिति—सादृश्य प्रति नियतगोत्रत्वकुलीनत्वादिनेति बोध्यम् । ८ मोक्षस्य । ९ ज्ञानातिरिक्तसाध्यस्यानित्यत्वमिति भाव । १० यत्कृतकमिति—न च ज्ञानातिरिक्तसाध्यत्वमुपाधिरिति वाच्यम् । तद्यदि ज्ञानसाध्यभिन्नत्व तदा पक्षेतरत्वमेव । यदि तु ज्ञानातिरिक्ते न साध्यत्वरूप तदाऽत्मादिसान्तेऽविद्यादौ साध्याव्यापकमिति । ११ तत्रेति—अविद्याकृतेत्यादिपूर्वोक्तौ । अनुवादभाग मन्यसेपर्यन्तम् ।

त्वब्रह्मत्वमसर्वत्वं चाध्यारोपितं यथा शुक्तिकायां रजतं व्योम्निवा तलमलवत्त्वादि तथेह ब्रह्मण्यध्यारोपितमविद्ययाऽब्रह्मत्वमसर्वत्वं च ब्रह्मविद्यया निवर्त्यत इति मन्यसे यदि तदा युक्तं यत्परमार्थत आसीत्परं ब्रह्म ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थभूतं 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीदित्य-स्मिन्वाक्य उच्यत इति वक्तुम् । 'यथाभूतार्थवादित्वाद्वेदस्य' । न त्वियं कल्पना युक्ता ब्रह्मशब्दार्थविपरीतो ब्रह्मभावी पुरुषो ब्रह्मेत्युच्यत इति । श्रुतिहान्यश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वात् ।

महत्तरे प्रयोजनान्तरेऽसत्य विद्याकृतव्यतिरेकेणाब्रह्मत्वमसर्वत्वं च विद्यत एवेति

—तदेति । तस्मिन्पक्षे यद्ब्रह्मज्ञानात्पूर्वमपि परमार्थतः परं ब्रह्माऽऽसीत्तदेव प्रकृते वाक्ये ब्रह्मशब्दे-नोच्यत इति युक्तं वक्तुं तद्धि ब्रह्मशब्दस्य मुख्यमालम्बनमिति योजना । 'गौर्बाहीक इतिवदमु-ख्यार्थोऽपि ब्रह्मशब्दो 'निर्वहतीत्याशङ्क्याऽऽह—यथेति । निरतिशयमहत्त्वसंपन्नं वस्तु ब्रह्मशब्देन श्रुतमश्रुतस्तु ब्रह्मभावी पुरुष 'श्रुतहान्यश्रुतकल्पना न 'न्यायवती तस्मात्तत्कल्पना न युक्तेति 'व्यावर्त्यमाह—न त्विति ।

'अग्निरधीते'ऽनुवाकमित्यादौ श्रुतहान्यश्रुतोपादानं दृष्टमित्याशङ्क्याऽऽह—महत्तर इति । तत्राग्निशब्दस्य मुख्यार्थत्वे सत्य'न्विताभिधानानुपपत्त्या वाक्यार्थासिद्धेस्तज्ज्ञाने प्रयोजने श्रुतमपि हित्वाऽश्रुतं गृह्येत प्रकृते त्वसति प्रयोजनविशेषे श्रुतहान्यादिर्न युक्तिमतीत्यर्थः । मनुष्याधिकारं

ब्रह्मविज्ञान होने से पूर्व भी सभी प्राणी ब्रह्मस्वरूप होने के कारण पारमार्थिक दृष्टि से नित्य ही सर्वभाव को प्राप्त है—अब्रह्मत्व और असर्वत्व तो अविद्या के द्वारा अध्यस्त हैं। जिस प्रकार सीप मे चाँदी और आकाश मे तलमलिनतादि दोष आरोपित है उसी प्रकार यहाँ ब्रह्म मे अविद्या से अध्यारोपित अब्रह्मत्व और असर्वत्व की ब्रह्मज्ञान से निवृत्ति हो जाती है। यदि ऐसा तुम मानते हो, तब तो यह कहना ठीक है कि जो परमार्थत ब्रह्मशब्द का मुख्यार्थभूत परब्रह्म है वही "ब्रह्म ही सृष्टि के पूर्व विद्यमान था" इस श्रुतिवाक्य मे कहा गया है। क्योंकि वेद मुख्यार्थवादी है। अत यह कल्पना करनी युक्तिसगत नही है कि ब्रह्मशब्द मे ब्रह्मशब्द के अर्थ से विपरीत ब्रह्म होने वाला मनुष्य कहा गया है। क्योंकि श्रुतार्थ का त्याग करना और अश्रुतार्थ की कल्पना करना युक्तिसगत नही है।

दूसरे किसी महान् प्रयोजन के विना भी यदि कहो कि अनाविद्यक अब्रह्मत्व और असर्वत्व है—तो

---

१ तलम्—इन्द्रनीलकटाहकल्पता । २ ब्रह्मेति—तदित्यादि । ३ मुख्यार्थवादित्वात् । ४ यथाभूतार्थ-वादित्वाद्वेदस्येति । ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थोऽस्ति न वाऽऽद्ये अमुख्य तथापेयम् गौणमुख्ययायात् । न हि क्वचिद्यज्ञ मुख्ये गवि सति बाहीकमालभन्ते । द्वितीये असति मुख्ये नास्ति गौणमित्युक्त वार्तिके—'मुख्य ब्रह्म न चेदस्ति गौण स्यात्तद्विना कुत । मुख्यमग्नि विना गौण न लोकोऽप्यवगच्छतीति' ॥१०९२॥ परीक्षकसमु-च्चयार्थोऽपिशब्द ॥ ५ अनाविद्यकमिति यावत् । ६ अनिपाद्यम् । ७ गौर्बाहीक इति । बहिर्भवो बाहीक जाङ्गलिको जन ग्रामीण इति यावत् । स गौ अनडवान् इति व्यवह्रियते नागरिकैं । ८ स्वार्थसमर्पको भवति । ९ श्रुतहान्येति—श्रुतहानिपूर्विकाऽश्रुतकल्पनेत्यर्थ । १० युक्तिसहिष्णु । ११ व्यावर्त्यमिति—वेदस्य यथाभूतार्थवादित्वोक्तिप्रयोजनमित्यर्थ । यद्वा व्यावर्त्यं —पूर्वोक्तानुवादग्रन्थेन व्यावर्त्यं खण्ड्यमंशमित्यर्थं । १२ गौण्या माणवक । १३ ऋक्समुदायोऽनुवाक । १४ अन्वितेति—मिथोऽन्विता-नामग्न्यादिपदार्थाना कथनानुपपत्त्येत्यर्थ ।

चेन्न । तस्य ब्रह्मविद्ययाऽपोहानुपपत्तेः । न हि क्वचित्साक्षाद्वस्तुधर्मस्यापोढ़ो दृष्टा कर्त्री वा ब्रह्मविद्या । अविद्यायास्तु सर्वत्रैव निवर्तिका दृश्यते । तथेहाप्यब्रह्मत्वमसर्वत्वं चाविद्याकृतमेव निवर्त्यतां ब्रह्मविद्यया । न तु पारमार्थिकं वस्तु कर्तुं निवर्तयितुं वाऽर्हति ब्रह्मविद्या । तस्माद्व्यर्थैव श्रुतहान्यश्रुतकल्पना ।

ब्रह्मण्यविद्यानुपपत्तिरिति चेन्न । ब्रह्मणि विद्याविधानात् । न हि शुक्तिकायां रजताध्यारोपणेऽसति शुक्तिकात्व ज्ञाप्यते चक्षुर्गोचरापन्नायामियं शुक्तिका न रजत-

निर्वोढुं ब्रह्मभाविपुरुषकल्पनेत्याशङ्क्य महत्तरविशेषणम् । यद्ब्रह्मविद्ययेति परस्यापि तुल्यमधिकृतत्व तस्य चाविद्याद्वाराऽधिकारित्वमविरुद्धमित्यग्रे भविष्यतीति भावः । द्वितीय कल्पमुत्थापयति —अविद्येति । ब्रह्मविद्यावैयर्थ्यप्रसङ्गान्मैवमिति दूषयति—न तस्येति । अनुपपत्तिमेव साधयति—न हीति । साक्षादारोपमन्तरेणेति यावत् । वस्तुधमस्य परमार्थभूतस्य पदार्थस्येत्यर्थः । विद्यायास्तर्हि कथमर्थवत्त्व तत्राऽऽह—अविद्यायास्त्विति । सर्वत्र शुक्त्यादाविति यावत् । विमतमविद्यात्मकं विद्यानिवर्त्यत्वाद्रजतादिवदित्यभिप्रेत्य दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति । विमतं न कारकं विद्यात्वाच्छुक्तिविद्यावदित्याशयेनाऽऽह—न त्विति । अब्रह्मत्वादेर्वास्तवत्वायोगादयुक्ता ब्रह्मभाविपुरुषकल्पनेत्युपसहरति —तस्मादिति ।

ब्रह्मण्यविद्यानिवृत्तिविद्याफलासंभवमत्र चोदयति—ब्रह्मणीति । न हि सर्वज्ञे प्रकाशैकरसे ब्रह्मण्यज्ञानमादित्ये तमोवदुपपन्नमिति भावः । तस्या ज्ञातत्वमज्ञत्वं वाऽऽक्षिप्यते नाऽऽद्य इत्याह—न ब्रह्मणीति । न हि तत्त्वमसीति विद्याविधानं विज्ञाते ब्रह्मणि युक्तं पिष्टपिष्टिप्रसङ्गात् । अतस्तद्वज्ञातमेष्टव्यमित्यर्थः । ब्रह्मात्मैक्यमज्ञातं शास्त्रेण ज्ञाप्यते तद्विषयं च श्रवणादि विधीयते तेन

ऐसा कहना ठाक नही क्याकि उसकी ब्रह्मज्ञान द्वारा निवृत्ति असम्भव है। ब्रह्मविद्या के द्वारा आरोप के विना साक्षात् ही किसी परमाथभूत पदार्थ के धर्मों का लोप या प्रादुर्भाव हुआ हो-ऐसा नही देखा जाता। किन्तु वह ब्रह्मविद्या अविद्या की सदा ही निवृत्ति करती हुई देखी जाती है। लोकव्यवहार के समान ब्रह्म मे भी जो अविद्याकृत अब्रह्मत्व और असर्वत्व है, उसकी ब्रह्मविद्या से निवृत्ति कर देनी चाहिये। ब्रह्मविद्या पारमार्थिक वस्तु को उत्पन्न या विनष्ट करने म समर्थ नही है। इसलिये श्रुतार्थ-त्याग और अश्रुतार्थकल्पना अयुक्त ही है।

किन्तु ब्रह्म मे अविद्या का रहना तो युक्तिसगत नही है। ऐसी शङ्का करना उचित नही है। क्याकि ब्रह्म म ब्रह्मविषयक विद्या का उपदश किया गया है। यदि सीप में चाँदी का अध्यास न हो तो उसके चक्षु—इन्द्रिय क विषय होने पर 'यह सीप है, चांदी नही है' इस प्रकार शुक्तित्व का ज्ञान न कराया

१ ब्रह्मविद्येति। अब्रह्मत्वादवस्तुत्व ज्ञानान्न ध्वस्तियतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमित्युक्ते उपायान्तराभावाच्च ब्रह्मविषयविद्यातन्निवृत्तिरत्र न स्यादित्यपि द्रष्टव्यम्। २ लोकवत् ब्रह्मणि। ३. अयुक्तैव। ४. ब्रह्मविषयविद्योपदेशात्। ५. इतिवाक्यावगतमिति शेष। ६. इतिवाक्यावगतमधिकृतत्व तत्परस्यापि तुल्यमित्यन्वय। ७. परस्य। ८. अब्रह्मत्वादिकम्। ९ ब्रह्मज्ञानम्। १० न कारकमिति—काल्पनिकस्य तु नित्यनिवृत्तस्वरूपत्वेन न तन्निवर्तकत्व वस्तुत. कारकत्वमिति भाव। ११ अज्ञानविषयत्वम्। १२ अज्ञानाश्रयत्वम्। १३. विद्यापदस्यान्यथाऽनुपपत्ते.। १४. शास्त्रज्ञाप्याज्ञातब्रह्मविषयकश्रवणादिविधानेन।

मिति। तथा सदेवेदं सर्वं ब्रह्मैवेदं सर्वमात्मैवेद सर्वं नेदं द्वैतमस्त्यब्रह्मेति ब्रह्मण्येकत्वविज्ञान न विधातव्यं ब्रह्मण्यविद्याध्यारोपणायामसत्याम् । न ब्रूमः शुक्तिकायामिव ब्रह्मण्यतद्धर्माध्यारोपणा नास्तीति किं तर्हि न ब्रह्म स्वात्मन्यतद्धर्माध्यारोपनिमित्तमविद्याकर्तृ चेति।

भवत्वेवं नाविद्याकर्तृ भ्रान्तं च ब्रह्म । किंतु नैवाब्रह्माविद्याकर्ता चेतनो भ्रान्तोऽन्य इष्यते । "नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता" "नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ" "तत्त्वमसि" "आत्मानमेवावेत्" "अहं ब्रह्मास्मि" "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" इत्यादिश्रुतिभ्यः।

तस्मिन्नज्ञातत्वमेष्टव्यमित्युक्तमर्थं दृष्टान्तेन साधयति—न हीति । 'मिथ्याज्ञानस्याज्ञानाव्यतिरेकाद्ब्रह्मण्यविद्याध्यारोपणाया शुक्तौ रूप्यारोपणं दृष्टान्तितमिति द्रष्टव्यम् । कल्पान्तरमालम्बते—न ब्रूम इति ।

ब्रह्माविद्याकर्तृ न भवतीत्यस्य यथाश्रुतो वाऽर्थस्तदन्यस्तदाश्रयोऽस्तीति वा तत्राऽऽद्यमङ्गीकरोति—भवत्विति । 'अनादित्वादविद्याया' कर्त्रपेक्षाभावाद्विना च 'द्वार ब्रह्मणि भ्रान्त्यनभ्युपगमादित्यर्थ. । द्वितीयं प्रत्याह—किंत्विति । ब्रह्मणोऽन्यश्चेतनो नास्तीत्यत्र श्रुतिस्मृतीरुदाहरति—

जाता। ऐसे ही यदि ब्रह्म मे अविद्या का अध्यास न होता तो 'यह सब सत् ही है', 'यह सब ब्रह्म ही है' 'यह सब आत्मा ही है', 'यह अब्रह्मरूप द्वैत नही है'—इन श्रुतिवाक्यो के अनुसार ब्रह्म मे एकत्वविज्ञान का उपदेश नही किया जाता। इस पर पुन शङ्का होती है—सीप मे चांदी के समान ब्रह्म मे अज्ञातत्वादि धर्मों का अध्यास नहीं है—ऐसा हमारा मत नही है। तो क्या है ? हमारे मत मे (सर्वज्ञ होने के कारण) ब्रह्म अपने मे अब्रह्मधर्मों के आरोप का निमित्त और अविद्या का कर्ता नही है।

(शङ्का का समाधान दिया जाता है-) ऐसा तो हो सकता है कि ब्रह्म अविद्या का कर्ता और भ्रान्त नहीं हो, किन्तु (अनादि) अविद्या का कर्ता अन्य कोई अब्रह्म भ्रान्त चेतन है-ऐसा मानना इष्ट नही है। जैसा कि "जो विशेषरूप से ज्ञात नही होता, किन्तु विशेषरूप से जानता है", "और न इससे भिन्न कोई विज्ञाता ही है", "वह तू है", "उसने अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ", "वह आराध्यदेव भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूँ, इस प्रकार जो अपने से भिन्न देवता की उपासना करता है, वह अज्ञानी

---

१. उपदेष्टव्यम् । २ अज्ञातत्वमिति यावत् । ३. अतद्धर्मो भ्रान्तत्वम् । तदारोपे च निमित्त भवत्यज्ञत्व तद्ब्रह्मणि न । ब्रह्म न भ्रान्तमिति यावत् । ४ अविद्याकर्तृ चेति—न ब्रह्म स्वात्मन्यन्यत्र वाऽविद्यां करोति सर्वज्ञत्वादित्यर्थं । ननु सर्वकर्तृत्वात्तदविद्यामपि करिष्यत्यन्यथा तदयोगादित्याशङ्क्याऽऽह वार्तिके— "न हि धीपूर्वकारी सन्नविद्यामनर्थदायिनीम् । प्रतीच्यविद्यां विसृजेद्यऽन्यत्रापि न काम्यते" ॥१२१६॥ इति । प्रतीचि—स्वात्मनि । विसृजेत्—कुर्यात् परमात्मेत्यर्थं । ५ ननु दृष्टान्ते शुक्तौ मिथ्याज्ञानमारोप्यते न तु तद्धेत्वज्ञानम् । दार्ष्टान्ते ब्रह्मणि तु अज्ञानारोपणमिष्ट न तु मिथ्याज्ञानमतो विषमोऽयं दृष्टान्त इत्यत आह—मिथ्येति । ६ अनादित्वादिति । तस्या हि कार्यत्वे कारण वाच्य निष्कारणकार्यायोगात् न चात्मा तथा कौटस्थ्यात् न चाविद्यैव तथा एकत्रकार्यकारणत्वायोगात् । तद्भेदस्य चासिद्धत्वादतोऽकार्यत्वात्तस्या ब्रह्म न तां करोतीति । ननु तस्या ब्रह्मातिरेकात् कार्यत्वमिति चेन्न अनिर्वचनीयत्वान्नातिरेकोऽपीति । ७ अज्ञस्वरूप द्वारम् ।

स्मृतिभ्यश्च—"समं सर्वेषु भूतेषु" "अहमात्मा गुडाकेश" "शुनि चैव श्वपाके च," "यस्तु सर्वाणि भूतानि" "यस्मिन्सर्वाणि भूतानि" इति च मन्त्रवर्णात् ।

नन्वेवं शास्त्रोपदेशानर्थक्यमिति । बाढमेवम्, अवगतेऽस्त्वेवाऽऽनर्थक्यम् । अवगमानर्थक्यमपीति चेन्न । अनवगमनिवृत्तेर्दृष्टत्वात् । तन्निवृत्तेरप्यनुपपत्तिरेकत्व इति चेन्न ।

नान्योऽतोऽस्तीत्यादिना । ब्रह्मणोऽन्यश्चेतनोऽपि नास्तीत्यत्र मन्त्रद्वयं पठति—यस्त्विति ।

ब्रह्मणोऽन्यस्याज्ञस्याभावे दोषमाशङ्कते—नन्विति । किमिदमानर्थक्यमवगतेऽनवगते वा चोद्यते तत्राऽऽद्यमङ्गी करोति—बाढमिति । द्वितीये नोपदेशानर्थक्यमवगमार्थत्वादिति द्रष्टव्यम् । उपदेशवदवगमस्यापि स्वप्रकाशे वस्तुनि नोपयोगोऽस्तीति शङ्कते—अवगमेति । अनुभवमनुसृत्य परिहरति—नानवगमेति । सा वस्तुनो भिन्ना चेदद्वैतहानिरभिन्ना चेज्ज्ञानाधीनत्वासिद्धिरिति शङ्कते—तन्निवृत्तेरिति । अनवगमनिवृत्तेर्दृश्यमानतया स्वरूपापलापायोगात्प्रकारान्तरासंभवाच्च "पञ्चमप्रकारत्वमेष्ट-

---

परमार्थतत्त्व को नहीं जानता" इत्यादि श्रुतियों से एवं 'जो सम्पूर्ण प्राणियों में मुझे समभाव से देखता है", "हे अर्जुन ! मैं आत्मा हूँ", "कुत्ते और चाण्डाल में ज्ञानी समदृष्टि वाले होते हैं" "जो समस्त प्राणियों को अपने में देखता है" इत्यादि स्मृतियों से और "जिस काल में अथवा जिस आत्मा में (परमार्थतत्त्व के दर्शन हो जाने से) तत्त्वदर्शी के लिए सम्पूर्ण भूत आत्मा ही हो गये" इत्यादि मन्त्रवर्ण से भी यही सिद्ध होता है ।

फिर तो ऐसे (अनर्थनिवृत्ति प्रयोजन न होने पर) शास्त्र की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती । (सिद्धान्ती इसे स्वीकार करते हुए समाधान करता है—) यह सत्य ही है तत्त्वज्ञान होने पर शास्त्रारंभ की व्यर्थता तो है ही । (शंका होती है—) ऐसे में तो तत्त्वज्ञान की भी अनर्थता सिद्ध होने लगेगी । (समाधान दिया जाता है—) ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि तत्त्वज्ञान का अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रयोजन

---

१ इति च मन्त्रवर्णादिति—'पुरुष एवेदं सर्वम्' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्व'मित्यादिश्रुती समुच्चेतु चकार । एतेन ब्रह्म सर्वज्ञत्वेनाज्ञत्वायोगात्तदन्यदज्ञमिति पक्षो मानविरोधेन निरस्तः । तथा च वार्तिके—'नानुभूतं प्रमाणाद्वा तदन्यद्वस्तु लभ्यते" ॥१२२४॥ इति । न हि ब्रह्मणोऽन्यद्वस्त्वनुभूतेरवगम्यते तथाभूतानुभूतेरप्रसिद्धत्वान्नापि मानान्तरात्तद्धीर्ब्रह्मणोऽन्यत्राज्ञातत्वाभावेन मानप्रवृत्त्ययोगात् (अज्ञाते हि प्रवर्तमानं मानं सफलं मानत्ववच्च) अतो न तदन्यदज्ञमस्तीति तदर्थः । २ आनर्थक्यमिति—न च ब्रह्मण्यनर्थनिवृत्त्यर्थमुपदेशोऽर्थवान् तस्य नित्यमुक्तत्वात् । अन्यस्यासंभवो मानयुक्तिभ्यां सम्पन्नः । अतः शास्त्रारम्भे वैयर्थ्यं फलितमित्याशयः । ३ सत्यमेव । ४ अद्वैतवादे । ५ शास्त्रारम्भानर्थक्यरूपं दोषम् । ६ स्वप्रकाशे ब्रह्मणि । ७ आत्मनः । ८ अद्वैतहानिरिति—सा च न सती ब्रह्मवज्ज्ञानसाध्यत्वायोगात् अद्वैतहानेश्च नाप्यसती खपुष्पवज्ज्ञानसाध्यत्वासंभवात् अनिर्वचनीया ज्ञाने सत्त्वासत्त्वयोरभावेन तत्प्रतियोगिकनिवृत्तौ सत्त्वासत्त्वयोरसंभवाच्च नाप्युभयरूपासदसदात्मकत्वस्यैकत्रविरोधनासंभवादुक्तदोषापरिहाराच्च । नाप्यनिर्वचनीया अज्ञानातिरिक्ता निर्वचनीयस्याज्ञानाधीनसत्ताकतयाऽज्ञानस्थितिमन्तरा तन्निवृत्तेरनिर्वचनीयत्वायोगात् तत्र स्थितौ च तन्निवृत्तिव्याघातादिति भावः । ९ ज्ञानाधीनत्वासिद्धिरिति—वस्तुस्वरूपाया अज्ञाननिवृत्तेर्नित्यसिद्धत्वेन ज्ञानसाध्यत्वानुपपत्तिरित्यर्थः । १० प्रकारान्तरासंभवादिति । प्रदर्शितरीत्योक्तप्रकारचतुष्टयायोगादित्यर्थः । ११ पञ्चमेति—सा हि न भिन्ना नाभिन्ना यथोक्तदोषात् भिन्नाभिन्नत्वं चैवात्र विरुद्धम् भिन्नाभिन्नविलक्षणत्वं चानिर्वचनीयधर्मो न विद्यामन्तरेण निवहत्यतो निरुक्तप्रकारचतुष्टयाद्विलक्षणप्रकारकत्वम् ।

दृष्टविरोधात् । दृश्यते ह्यैकत्वविज्ञानादेवानवगमनिवृत्तिः । दृश्यमानमप्यनुपपन्नमिति ब्रुवतो दृष्टविरोधः स्यात् । न च दृष्टविरोधः केनचिदप्यभ्युपगम्यते । न च दृष्टेऽनुपपन्नं नाम दृष्टत्वादेव । दर्शनानुपपत्तिरिति चेत्तत्राप्येवैव युक्तिः ।

"पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति" "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" "मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" इत्येवमादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यः परस्माद्विलक्षणोऽन्यः संसार्यवगम्यते । तद्विलक्षणश्च परः "स एष नेति नेति" "अशनायाद्यत्येति" "य

च्यमिति मत्वाऽऽह—न दृष्टेति । दृष्टमपि युक्तिविरोधे त्याज्यमित्याशङ्क्याऽऽह—दृश्यमानमिति । दृष्टविरुद्धमपि कुतो नेष्यते तत्राऽऽह—न चेति । अनुपपन्नत्वमङ्गीकृत्योक्त तदेव नास्तीत्याह—न चेति । युक्तिविरोधे दृष्टिराभासी भवतीति शङ्कते—दर्शनेति । दृष्टिविरोधे युक्तेरेवाऽऽभासत्वं स्यादिति परिहरति—तत्रापीति । अनुपपन्नत्वं हि सर्वस्य दृष्टिबलादिष्टं दृष्टस्य त्वनुपपन्नत्वे न किञ्चिन्निमित्तमस्तीत्यर्थः ।

ब्रह्माभाविपुरुषकल्पनां निराकृत्य स्वपक्षे शास्त्रस्यार्थवत्त्वमुक्तं संप्रति प्रकारान्तरेण पूर्वपक्षयति—पुण्य इति । आदिशब्देन 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्याद्या श्रुतिर्गृह्यते । 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' इत्याद्या स्मृति । न्यायो मिथो विरुद्धयोरेकत्वायोगः । विलक्षणत्वमन्यत्वे हेतु । जीवस्य परस्मादन्यत्वेऽपि न तस्य ततोऽन्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तद्विलक्षणश्चेति । परस्य तद्विलक्षणत्वं श्रुतितो दर्शयित्वा

देखा जाता है । (शंका—) किन्तु अद्वैतवाद मे अविद्यानिवृत्ति मानना भी असगत है । (समाधान—) ऐसा कहना उचित नही । अविद्यानिवृत्ति तो देखी जाती है, उसमे विरोध आने लगेगा । लोकव्यवहार मे देखा जाता है, अद्वैतविज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होती है । देखी जाने वाली वस्तु को भी असगत मानने से दृष्टविरोध दोष उपस्थित होगा । दृष्टविरोध को कोई भी नही मानता । कोई भी वस्तु अनुभूत होने पर दृष्ट होने मात्र से असिद्ध नही हो सकती । यदि कहो (युक्तिविरोध होने पर) दर्शन की भी अनुपपत्ति हो सकती है, तो उसमे भी यही युक्ति है ।

(इस पर शका करते हैं—) "पुरुष पुण्यकर्म से धर्मात्मा होता है", "उस समय इसके साथ-साथ ज्ञान, कर्म (और पूर्वानुभवजन्य सस्कार) जाता है", "यही (देखने वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने वाला, सूंघने वाला, चखने वाला,) मनन करने वाला, जानने वाला और कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष है"

---

१ अनुभूते । २ युक्तिविरोधे सतीत्यादि । ३ विद्याकर्मणी—उपासनकर्मणी । पूर्वप्रज्ञा चेति श्रुतिशेष । त मृतम् । समन्वारभेते अनुगच्छत । पूर्वप्रज्ञा वासना । ४ बुद्धिप्रधानो जीव । ५ निषेधाधिष्ठानम् । ६ न दृष्टविरोधादित्यादिना यदुक्त तदज्ञाननिवृत्तेरनुपपन्नत्वाभ्युपगमवादेन । इदानीमनवगमनिवृत्तेरनुपपन्नत्वमेव नास्ति दृष्टिवशादनुपपत्तिनिरासादित्याशयेनाह—अनुपपन्नत्वमिति । ७ अकिञ्चित्करी भवति । ८ सर्वनिष्ठम् । ९ पूर्वपक्षयतीति—ननूक्तरीत्या पूर्वपक्षस्याक्षिप्तत्वात् पुनस्तदुद्भावनमफलमिति चेन्न ब्रह्माभावी जीवो ब्रह्मेतिपक्षनिरासस्य दार्ढ्यार्थं पुनरपि पूर्वपक्षाय यत्न । न च तन्निरासो यथा युक्त्या दृढो भवति सैव वाच्या । निरस्तपक्षोत्थापनं स्वकिंचित्करमिति वाच्यम् । वक्ष्यमाणवाक्यानि जीवपरयोर्भेदपराणीत्युत्पन्नभ्रमनिवृत्तये निरस्तस्यापि तस्योत्थापनं वाक्यीयसम्यगर्थे जिज्ञासूनां बुद्धिस्थैर्ये तात्पर्यादिति भाव ।

आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु" "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने" इत्यादिश्रुतिभ्यः। कणादाक्षपादादितर्कशास्त्रेषु च संसारिविलक्षण ईश्वर उपपत्तितः साध्यते। संसारदुःखापनयार्थित्वप्रवृत्तिदर्शनात्स्फुटमन्यत्वमीश्वरात्संसारिणोऽवगम्यते। "अवाक्यनादरः" "न मे पार्थास्ति" इतिश्रुतिस्मृतिभ्यः। "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" "तं विदित्वा न लिप्यते" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" "एकधैवानुद्रष्टव्यमेतत्" "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा" "तमेव धीरो विज्ञाय" "प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते" इत्यादि कर्मकर्तृनिर्देशाच्च।

तत्रैवोपपत्तिमाह—कणादेति। क्षित्यादिकमुपलब्धिमत्कर्तृकं कार्यत्वाद्घटवदित्याद्योपपत्तिः। तयोर्मिथो भेदे हेत्वन्तरमाह—संसारेति। जीवस्य स्वगतदुःखध्वंसे दुःखं मे मा भूदित्यर्थित्वेन प्रवृत्तिर्दृष्टा नेशस्य साऽस्ति दुःखाभावादतो भेदस्तयोरित्यर्थः। इतश्चेश्वरस्य न प्रवृत्तिर्हेतुफलयोरभावादित्याह—अवाकीति। मिथो भेदे श्रौतं लिङ्गान्तरमाह—सोऽन्वेष्टव्य इति।

इत्यादि श्रुति, स्मृति और न्याय से संसारी जीव परमात्मा से भिन्न जाना जाता है। उससे विलक्षण परमात्मा "वह यह 'नेति नेति' बतलाया गया (आत्मा अग्राह्य है)", "वह आत्मा क्षुधादि से रहित है", "जो आत्मा धर्म अधर्मादिरूप पाप से रहित, वृद्धावस्था से रहित व मृत्यु से रहित है (उसकी खोज करके ज्ञान प्राप्त करना चाहिये)", "(हे गार्गी!) इसी अक्षर के प्रशासनमें (सूर्य चन्द्र विशेषरूप से धारण किये हुए स्थित हैं)", इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है। महर्षि कणाद और महर्षि गौतम आदि के न्याय-वैशेषिक दर्शनों में संसारी जीव ईश्वर से विलक्षण है—ऐसा युक्ति द्वारा सिद्ध किया है। संसारदुःख के ध्वंस के लिये जीव की (स्वाभाविक) प्रवृत्ति देखने से परमात्मा से जीवात्मा की भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है। जैसा कि "(वह ब्रह्म) वाणी-रहित आत्मकाम होने से अभ्रान्त है", "हे अर्जुन! (तीनों लोकों में) मेरा कोई कर्तव्य शेष नहीं है" इत्यादि श्रुति स्मृतियों से सिद्ध होता है। "उसे (शास्त्र और आचार्य के उपदेशों से) खोजकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिये", "उसे जानकर मनुष्य धर्माधर्मरूप कर्म से लिप्त नहीं होता" "ब्रह्म को जानने वाला परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है", "(आचार्य उपदेश के बाद) उस ब्रह्म को (आकाश के समान अन्तर-बाह्य शून्य) एकमात्र विज्ञानघनरूप से ही देखना चाहिये", "पर हे गार्गी! जो इस अक्षर को जानकर (इस लोक से मरकर जाता है, वह संसारबन्धन से मुक्त हुआ पुरुष ब्राह्मण है", "बुद्धिमान् ब्राह्मण को उस ब्रह्म को ही जानकर (उसी में बुद्धि लगानी चाहिये)", "ओंकार धनुष है, सोपाधिक आत्मा बाण है, और अक्षरब्रह्म उसका लक्ष्य कहा गया है" इत्यादि श्रुति-वाक्यों से जीव और ब्रह्म में कर्तृत्व और कर्मत्व बतलाये जाने से भी उनमें भेद सिद्ध होता है।

---

१ अवगम्यत इति—अभेदे क्वचित्प्रवृत्तिरन्यत्र नेति वैधर्म्यायोगादिति भावः। २ अवाकीति—वागुपलक्षितसकलेन्द्रियशून्य अनादर इति। आदरः—सम्भ्रमस्तच्छून्य इत्यर्थः। अभ्रान्त इति यावत्। ३ लिप्यते कर्मणा पापकेनेति शेषः। ४ एतदप्रमयं ध्रुवमिति श्रुतिशेषः। ५ कर्मकर्तृनिर्देशाच्चेति—कर्मकर्तृभेदेन जीवेश्वरयोर्निर्देशादित्यर्थः। निरुक्तश्रुतिस्मृतिवाक्यकदम्बे प्रायो जीवस्य कर्तृत्वेनेश्वरस्य च कर्मत्वेन निर्देशादिति विवेकः। ६ उपलब्धिमत्कर्तृकमिति। ज्ञानवत्कर्तृकमित्यर्थः। न च जीवानामेवादृष्टद्वारा क्षित्यादिकर्तृत्वं तेषां तदुपकरणोपादानादिसाक्षात्कारविरहित्वादतः संसारिभ्यो विलक्षणस्तत्कर्तेति भावः।

मुमुक्षोश्च गतिमार्गविशेषदेशोपदेशात् । असति भेदे कस्य कुतो गतिः स्यात्तदभावे च दक्षिणोत्तरमार्गविशेषानुपपत्तिर्गन्तव्यदेशानुपपत्तिश्चेति । भिन्नस्य तु परस्मादात्मनः सर्वमेतदुपपन्नम् । कर्मज्ञानसाधनोपदेशाच्च । भिन्नश्चेद्ब्रह्मणः संसारी स्याद्युक्तस्तं प्रत्यभ्युदयनिःश्रेयससाधनयोः कर्मज्ञानयोरुपदेशो नेश्वरस्याऽऽप्तकामत्वात् । तस्माद्युक्तं ब्रह्मेति ब्रह्मभावी पुरुष उच्यत इति चेन्न । ब्रह्मोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गात् । संसारी चेद्ब्रह्मभाव्य-ब्रह्म सन्विदित्वाऽऽत्मानमेवाह ब्रह्मास्मीति सर्वमभवत्तस्य संसार्यात्मविज्ञानादेव सर्वात्मभावस्य फलस्य सिद्धत्वात्परब्रह्मोपदेशस्य ध्रुवमानर्थक्यं प्राप्तम् ।

तत्रैव लिङ्गान्तरमाह—मुमुक्षोश्चेति । गतिर्देवयानाद्या । तस्या मार्गविशेषोऽर्चिरादिर्देशो गन्तव्यं ब्रह्म तेषामुपदेशास्तेऽर्चिषमभिसंभवन्तीत्यादयस्तथाऽपि कथं भेदसिद्धिस्तत्राऽऽह—असतीति । मा भूद्गतिरित्याशङ्क्याऽऽह—तदभावे चेति । कथं तर्हि गत्यादिकमुपपद्यते तत्राऽऽह—भिन्नस्येति । जीवेश्वरयोर्मिथो भेदे हेत्वन्तरमाह—कर्मेति । भेदे सत्युपपन्ना भवन्तीति शेषः । तदेव स्फुटयति—भिन्नश्चेदिति । तद्भेदे प्रामाणिकेऽपि कथं ब्रह्मभाविपुरुषकल्पनेत्याशङ्क्योपसंहरति—तस्मादिति । ब्रह्मभाविनो जीवस्य ब्रह्मशब्दवाच्यत्वे ब्रह्मोपदेशस्याऽऽनर्थक्यप्रसङ्गान्नैवमिति दूषयति—नेत्यादिना । प्रसङ्गमेव प्रकटयति—संसारी चेदिति ।

मुमुक्षु के लिए देवयानादि गति एवं अर्चिरादि मार्गविशेष देश का उपदेश होने के कारण भेद सिद्ध होता है। भेद न होने से किसका कहाँ गमन होगा ? और गमन के स्वीकार करने से दक्षिणायन और उत्तरायण मार्गविशेष एवं गन्तव्यदेश की असिद्धि हो जायगी। परमात्मा से भिन्न जीवात्मा में तो यह सब संभव हो सकता है। कर्म और ज्ञानकाण्ड साधनों के उपदेश होने से भी, जीव और ईश्वर में परस्पर भेद है। यदि संसारी जीव का ईश्वर से भेद होगा, तभी उसके लिए अभ्युदय और निःश्रेयस के साधन कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का उपदेश होगा। ईश्वर के आप्तकाम होने के कारण उसके लिए साधनों का उपदेश नहीं किया जा सकता। इसलिए (जीव ब्रह्म का भेद अतिदृढ़तापूर्वक प्रामाणिक होने से) यही मानना उचित है कि 'ब्रह्म' पद से ब्रह्मभावी पुरुष का बोध होता है। (शङ्का का समाधान करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो ब्रह्मोपदेश वृथा सिद्ध होने लग जायगा। यदि ब्रह्मीभाव संसारी ही अब्रह्म होते हुए अपने को 'मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा जानकर सर्वरूप हो गया, तब उसे

---

१ तदभाव इति—गत्यनङ्गीकारे धूमाद्युपलक्षित दक्षिणमार्गस्येष्टादिकारिण प्रत्युक्तिवज्ज्ञानिनं प्रत्यर्चिराद्युपलक्षितोत्तरमार्गस्योक्तिर्विरुध्येतातो गतिदुरपह्नवेति भावः । अस्तु तर्हि गतिः सा च सकर्तृकत्वाद्गन्तारमपेक्षते ततो विलक्षणगन्तव्यलाभस्तु कुतस्तत्राऽऽह—गन्तव्येति । तस्या हि कर्तृकर्मणोरपेक्षा तुल्या तयोर्भेदाभावे नैव सा सिध्येदित्यभिप्रायः । २ अथैतानि परस्यैव विधास्यन्ते तत्कथं भेदस्तत्राऽऽह—नेति । न तावदीश्वरस्याभ्युदयार्थं साधनं विधेयं तस्य बन्धाभावात्स्वर्गाद्यभ्युदयसंबन्धायोगात् नित्यमुक्तत्वात् कैवल्यं तु तस्य नित्यसिद्धं न साधनायत्तमतो न तं प्रति साधनद्वयविधिः जीवं प्रति च सोऽस्ति तद्भेदस्तयोरित्यर्थः । ३ प्रामाणिकजीवब्रह्मभेदस्यातिदृढत्वात् । ४ तर्हीति शेषः । ५ आनर्थक्यमिति—'ब्रह्म वा इदमि'त्यत्र यद्ब्रह्मशब्दितं तज्ज्ञानादेव मुक्तिरिष्टा तदात्मानमेवेत्यादिश्रुतेरतो जीवोऽब्रह्म चेज्जीवज्ञानादेव तत्सिद्धेः सत्यज्ञानादिब्रह्मोपदेशो वृथा स्यादित्यर्थः । ६ इत्यादय इति । अतो गन्तृगन्तव्यभेदसिद्धिरिति शेषः । ७ अभेदेऽनुपपन्नत्वे ।

तद्विज्ञानस्य क्वचित्पुरुषार्थसाधनेऽविनियोगात्संसारिण एवाहं ह्यस्मीति ब्रह्मत्वसंपादनार्थ उपदेश इति चेत्। अनिर्ज्ञाते हि ब्रह्मस्वरूपे किं संपादयेदहं ब्रह्मास्मीति। निर्ज्ञातलक्षणे हि ब्रह्मणि शक्या संपत्कर्तुम्। "नायमात्मा ब्रह्म" "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" "य आत्मा" "तत्सत्यं स आत्मा" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति प्रकृत्य "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः" इति सहस्रशो ब्रह्मात्मशब्दयोः सामानाधिकरण्यादेकार्थत्वमेवेत्यवगम्यते। अन्यस्य ह्यन्यत्वे संपत्क्रियते नैकत्वे। "इदं सर्वं यदयमात्मा" इति च

विधिशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशोऽर्थवानिति चेत्तत्र किं कर्मविधिशेषत्वेनोपास्तिविधिशेषत्वेन वा तदर्थत्वमिति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—तद्विज्ञानस्येति। अविनियोगाद्विनियोजकश्रुत्याद्यभावादिति शेषः। कल्पान्तरमादत्ते—संसारिण इति। उपदेशस्य ज्ञानार्थत्वात्तदनपेक्षत्वाच्च संपत्तेस्तस्य कथं तादर्थ्यमित्याशङ्क्याऽऽह—अनिर्ज्ञाते हीति। व्यतिरेकमुक्त्वाऽन्वयमाचष्टे—निर्ज्ञातेति। पदयोः सामानाधिकरण्येन जीवब्रह्मणोरभेदावगमान्न संपत्पक्षः संभवतीति समाधत्ते—नेत्यादिना। कथमेकत्वे गम्यमानेऽपि संपदोऽनुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—अन्यस्य हीति। एकत्वे हेत्वन्तरमाह—इदमिति।

संसारी जीवात्मा के बोध से ही सर्वात्मभावरूप फलप्राप्ति होने से परब्रह्म के उपदेश की निश्चय हो अनर्थता सिद्ध हुई।

(इस पर शङ्का होती है)— ब्रह्मज्ञान का कहीं वहीं अग्निहोत्रादि में पुरुषार्थरूप स्वर्गसाधन में सम्बन्ध न होने से संसारी जीव को ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ब्रह्मत्वसम्पादन के लिये (सत्य, ज्ञान, अनन्त वह ब्रह्म है) यह उपदेश हो तो? ब्रह्म के स्वरूप के सम्यक्ज्ञान बिना 'मैं ब्रह्म हूँ' इससे जीवात्मा क्या निश्चय कर सकता है? क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान होने पर ही ब्रह्मभाव का सम्पादन किया जाना सभव है। (इस पर सिद्धान्ती समाधान देता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है। "यह आत्मा ही (सब का अनुभव करने वाला) परमात्मा है", "जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है (और जो सबका अन्तरात्मा है, उसकी व्याख्या तुम मेरे प्रति करो)", "जो आत्मा धर्माधर्मादिरूप पाप से रहित है" "(एतद्रूप ही सम्पूर्ण जगत् है) वह सत्य है, वही आत्मा है", "ब्रह्मज्ञानी परतत्त्व को प्राप्त कर लेता है"—यहाँ से प्रकरण आरम्भ कर "उस इस उक्तलक्षण वाले आत्मा से ही (सर्वप्रथम शब्दगुण वाला

१. तत्-ब्रह्म। २. क्वचित् अग्निहोत्रादौ। ३. स्वर्गसाधने। ४. असंबन्धात्। ५ उपदेश इति—जीवे एवाहं ब्रह्मास्मीत्येवं यद्ब्रह्मत्वसम्पादनं तदर्थ एव सत्यज्ञानादिवाक्येन ब्रह्मज्ञानोपदेश इत्यर्थः। ६. स्वरूपे। ७. अथर्व०। ८. यजु०। ९. साम०। १०. तस्माद्वा एतस्मादात्मन इति—ब्राह्मणमन्त्रप्रतिपादितादित्यर्थः। आत्मनः प्रतीचः। अत्र तदेतच्छब्दाभ्यां मन्त्रब्राह्मणोक्तं ब्रह्म परामृश्य आत्मन इति प्रत्यक्सामानाधिकरण्येनाभिहितमिति तयोरभेद इति भावः। ११. नैकत्व इति—अन्यत्वे मनोगगनादावन्यस्य ब्रह्मणः संपद्दृष्टा नत्वद्वये निष्प्रपञ्चे ब्रह्मणि सा युक्तेत्यर्थः। १२. नन्वद्वयमेवासिद्धं सामानाधिकरण्यस्य वेदाः प्रमाणमितिवदन्यथासिद्धेरत आह—इदमिति। १३. इति चेति। दृष्टान्तार्थश्चकारः। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य" इति प्रकृतात्मनो ब्रह्मत्ववदिदं सर्वमिति श्रुतिरद्वयत्वमाह। अतः संपदनवकाशेत्यर्थः। १४ श्रुतिलिङ्गादिप्रमाणाभावात्। १५. संपदुपास्तेः। १६. ब्रह्मज्ञानाभावे ब्रह्मत्वसंपत्तेरभाव इति व्यतिरेकमाहेत्यर्थः। १७. संपदुपास्तेः।

प्रकृतस्यैव द्रष्टव्यस्याऽऽत्मन एकत्वं दर्शयति। तस्मान्नाऽऽत्मनो ब्रह्मत्वसंपदुपपत्तिः।

न चाप्यन्यत्प्रयोजनं ब्रह्मोपदेशस्य गम्यते "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" "अभयं हि वै ब्रह्म भवति" इति च तदापत्तिश्रवणात्। संपत्तिश्चेत्तदापत्तिर्न स्यात्। नह्यन्यस्यान्यभाव उपपद्यते। वचनात्संपत्तेरपि तद्भावापत्तिः स्यादिति चेन्न। संपत्तेः प्रत्ययमात्रत्वात्। विज्ञानस्य च मिथ्याज्ञाननिवर्तकत्वव्यतिरेके णाकारकत्वमित्यवोचाम। न च वचनं वस्तुनः सामर्थ्यजनकम्। ज्ञापकं हि शास्त्रं न कारकमिति

एकत्वे फलितमाह—तस्मादिति।

किंच संपत्तिपक्षे तदापत्तिः फलमन्यद्वेति विकल्प्य द्वितीयं प्रत्याह—न चेति। आद्यं दूषयति—संपत्तिश्चेदिति। स यथा यथेत्यादिवाक्यमाश्रित्य शङ्कते—वचनादिति। संपत्तेरमानत्वान्न तद्बलादन्यस्यान्यत्वमित्याह—नेति। तस्या मानत्वेऽप्येव मानस्याकारकत्वात्। न च सूत्राद्युपासनावत्यन्यस्यान्यभाव "स्थितस्य नष्टस्य वा"ऽनुपपत्ते। श्रुतिश्च न "पूर्वसिद्ध"सूत्रादिभावाभिधायिनी "तत्सादृश्याप्त्या तद्भावोपचारादतो ब्रह्मभाव स्वत सिद्धो न सापादिक इत्याह—विज्ञानस्येति। अथान्यस्यान्यभावे यथोक्त वचनमेव शक्त्याधायकमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। ब्रह्मोपदेशानर्थक्य-

---

आकाश उत्पन्न हुआ)" इत्यादि सहस्रों श्रुतियों में 'ब्रह्म' और 'आत्मा' शब्दों का समानाधिकरण होने से एक ही अर्थ है—यह बात सिद्ध होती है तथा (मन गगनादि) एक पदार्थ के दूसरे पदार्थ से भिन्न होने पर ही (उसकी अद्वितीयता का) सम्पादन किया जाता है, एक होने पर नहीं। "ये सब जो कुछ है, एकमात्र आत्मतत्त्व ही है (क्योंकि आदि, मध्य और अन्त में आत्मा को छोड़कर पृथक् इनकी उपलब्धि नहीं होती है)" यह श्रुतिवाक्य प्रकृत द्रष्टव्य आत्मा का ही एकत्व सिद्ध करता है। इसलिए आत्मा के लिए ब्रह्मत्व सम्पादन युक्तिसंगत नहीं है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मव्याख्यान का दूसरा प्रयोजन भी विवक्षित नहीं होता है। "ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है", 'हे जनक! तू निश्चय ही अभय पद को प्राप्त हो गया है', "(जो कोई उक्त आत्मा को अभय ब्रह्म समझता है) वह अभय ब्रह्मरूप ही हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से ब्रह्म की प्राप्ति सुनी गयी है। यदि आत्मा की संपत्ति पक्ष का आश्रय लिया जायगा तो उसे ब्रह्मत्वप्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि एक वस्तु का अन्यभाव हो जाना सिद्ध नहीं

---

१ संपत्पक्षश्चेदाश्रीयते। २ उपपद्यत इति। अन्यत्र यपदुपास्तश्चित्तशुद्धिमात्रफलकत्वादिति भाव। ३. हिरण्यगर्भभावापत्तिवदिति दृष्टान्तार्थोऽपि। ४ शास्त्राणामादित्यवदर्थज्ञापकत्व सर्वसंप्रतिपन्नमिति हिशब्दार्थ। ५ ब्रह्मात्मनोरेकत्वादित्यर्थ। ६ तयोरभेदेऽपि भेद कल्पयित्वा संपत्प्रवर्ततामित्याशयेन शङ्कते—किंचेति। ७ ब्रह्मत्वापत्ति। ८ ब्रह्मोपदेशस्य फलम्। ९ एवमिति—अन्यस्यान्यत्वाभाव। १०. ज्ञापक हि मान कारकम्। ११ उपासितु। १२ सूत्रत्वानुपपत्ते। १३ 'स यथा यथेति' श्रुति। १४ पूर्वसिद्धसूत्रेति—उपास्यमानवर्तमानसूत्रव्यक्त्यभेदाभिधायिनी नेत्यर्थ। तथाभिधाने हि स्यादन्यस्यान्यत्वम्। १५ सूत्ररूपता। १६ कथ तर्हि तदेव भवतीति तत्राऽऽह—तत्सादृश्येति। तथा च, तत्सदृशो भवतीत्येव तदर्थ। तत्सदृशाकारत्व चास्मिन्नेव कल्पे तल्लोकवासिन कल्पान्तरादौ वा हिरण्यगर्भभाविन इति भावनातारतम्यानुसारेण कल्पनीयमिति भाव। १७ 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'तिवचन 'स यथा यथे'त्यादिकमेव वा युक्तम्।

स्थितिः । स एष इह प्रविष्ट इत्यादिवाक्येषु च परस्यैव प्रवेश इति 'स्थितम् । 'तस्माद्-ब्रह्मेति न ब्रह्मभाविपुरुषकल्पना साध्वी ।

'इष्टार्थबाधनाच्च सैन्धवघनवदनन्तरमबाह्यमेकरसं ब्रह्मेति 'विज्ञानं सर्वस्यामुपनिषदि प्रतिपिपादयिषितोऽर्थः काण्डद्वयेऽप्यन्तेऽवधारणादवगम्यत 'इत्यनुशासन मेतावदरे' 'खल्वमृतत्वमिति । तथा सर्वशाखोपनिषत्सु च ब्रह्मैकत्वविज्ञानं निश्चितोऽर्थः । 'तत्र यदि संसारी ब्रह्मणोऽन्य आत्मानमेवावेदिति कल्प्येत, इष्टस्यार्थस्य बाधनं स्यात् । 'तथा च

प्रसङ्गान्न ब्रह्मभाविपुरुषकल्पनेत्युक्त्वा तत्रैव हेत्वन्तरमाह—स एष इति ।

ब्रह्मोपदेशस्य संपच्छेषत्वे दोषान्तरमाह—इष्टार्थेति । "तदेव विवृणोति अभिष्टमर्थमाचष्टे—सैन्धवेति । यथोक्तं वस्तु "तात्पर्यगम्यमस्यामुपनिषदीत्यत्र हेतुमाह—काण्डद्वयेऽपीति । मधुकाण्डावसानगतमवधारणं दर्शयति—इत्यनुशासनमिति । मुनिकाण्डान्ते व्यवस्थितमुदाहरति—एतावदिति । न केवलमुपदेशस्य संपच्छेषत्वे बृहदारण्यकविरोधः किं तु सर्वोपनिषद्विरोधोऽस्तीत्याह—तथेति । इष्टमर्थमित्यमुक्त्वा तद्बाधनं निगमयति—तत्रेति । ननु बृहदारण्यके "ब्रह्मकण्डिकायां जीवपरयोर्भेदोऽभिप्रेत उपसंहारे त्वभेद इति व्यवस्थाया तद्विरोधः शक्यः समाधातुमित्यत आह—तथा चेति ।

होना । (यहा शङ्का होता है—) श्रुतिवाक्यो से सपत्ति से भी (हिरण्यगर्भभावापत्ति के समान) ब्रह्मरूपता की प्राप्ति हो सकती है—ऐसा मान लिया जाय तो ? (समाधान देते है—) ऐसा कहना उचित नही, क्योकि सपत्ति तो केवल प्रतीतिमात्र की होती है । ज्ञान तो अविद्या की निवृत्ति करने के अतिरिक्त और कुछ नही करता— ऐसा हम पहले बतला चुके हैं । (ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है) श्रुतिवचन किसी वस्तु मे सामर्थ्य उत्पन्न करने वाला नही होता क्योंकि शास्त्रो का (आदित्य के समान) अर्थज्ञापक होना सर्वत्र सिद्ध है, कारक होना नही । "वह यह ब्रह्म इसमे प्रविष्ट हुआ" इत्यादि श्रुतिवाक्यो मे परमात्मा का ही प्रवेश होता है, यह सिद्ध हुआ । इसलिए (उक्त सिद्धान्त के विरोध से) "ब्रह्म" यह शब्द ब्रह्मभावी पुरुष का वाचक है—ऐसी कल्पना करना उचित नही है ।

इसके अतिरिक्त अभिमत अर्थ का बाध होने के कारण भी ब्रह्मभावी पुरुष की कल्पना करना अनुचित है । लवणखण्ड के समान ब्रह्म अविच्छिन्न, अबाह्य और एकरस है—यह विज्ञान ही समस्त उपनिषदो द्वारा प्रतिपादन करना अभिमत है । "यही अनुशासन है', "यही अमृतत्व है, इसमे कोई सन्देह नही है" इन श्रुतिवाक्यो से मधुकाण्ड एव याज्ञवल्क्यकाण्ड के अन्त मे निर्णय करने से भी यही ज्ञात होता है । इसी प्रकार समस्त शाखा के उपनिषदो मे भी ब्रह्मैकत्व-विज्ञान ही निर्णीत अर्थ है । वहाँ यदि 'ब्रह्म से अन्य ससारी जीवात्मा ने अपने को जाना" ऐसी कल्पना की जाए, तो अभिमत अर्थ का बाध होने लग जायगा । इसके अतिरिक्त उपक्रम और उपसहार मे विरोध होने के कारण शास्त्र मे अनिष्ट कल्पना होने लग जायगी । (ब्रह्मविद्या) सज्ञा की अनुपपत्ति होने से भी वैसा नही

---

१. सिद्धान्तितम् । २ उक्तसिद्धान्तविरोधात् । ३. अभिमतार्थबाधापत्तेः । ४. इत्यसर्ववदोपदश. । ५ असन्यासमात्मज्ञानम् । ६. बृ उ. ४–५–१५ । ७ अमृतत्वसाधनम् । ८. तत्रेति—सर्वोपनिषत्सु ब्रह्मैकत्वविज्ञानस्यष्टत्व सतीत्यर्थः । ९. तथा चेति—उपक्रमोपसहारयोस्त्वदिच्छया भिन्नार्थत्वनष्टार्थबाधन चेत्यर्थ. । १०. बाधनमेव । ११. तात्पर्यविषय. । १२. 'ब्रह्म वा इदमग्र' इति ब्रह्मकण्डिकायामित्यर्थः ।

शास्त्रमुपक्रमोपसंहारयोर्विरोधाद[1]समञ्जसं कल्पितं स्यात् । व्यपदेशानुपपत्तेश्च । यदि चाऽऽत्मानमेवावेदिति संसारी कल्प्येत, ब्रह्मविद्येतिव्यपदेशो न स्यात् । आत्मानमेवावेदिति [2]संसारिण एव वेद्यत्वोपपत्तेः ।

आत्मेति वेदितुरन्यदुच्यत इति चेन्न । अहं ब्रह्मास्मीति [3]विशेषणात् । अन्यश्चेद्वेद्यः स्यादयमसाविति वा विशेष्येत नत्वहमस्मीति । अहमस्मीति विशेषणादात्मानमेवावेदिति चावधारणान्निश्चितमात्मैव ब्रह्मेत्यवगम्यते । तथा च सत्युपपन्नो ब्रह्मविद्याव्य-

ब्रह्मभावपुरुषकल्पनायामुपदेशानर्थक्यमिष्टार्थबाधश्चेत्युक्तमिदानीं ब्रह्मेत्यादिवाक्ये ब्रह्मशब्देन परस्याग्रहणे तद्विद्याया ब्रह्मविद्येति संज्ञानुपपत्तिं दोषान्तरमाह—व्यपदेशानुपपत्तेश्चेति ।

[4]यथोक्तब्रह्मशब्दार्थहेतुर्जीवादन्यस्तदात्मानमित्यत्राऽऽत्मशब्देन परो गृह्यते तद्विद्या च ब्रह्मविद्येति संज्ञासिद्धिरिति शङ्कते—आत्मेतीति । वाक्यशेषविरोधान्नैवमित्याह—नाहमिति । तदेव प्रपञ्चयति—अन्यश्चेदिति । [5]यथोक्तावगमे [6]फलितमाह—तथा च सतीति । अत्यन्ताभेदे व्यपदेशा-

हो सकता । "उसने आत्मा को ही जाना" यदि इस श्रुतिवाक्य में जानने वाला, संसारी जीव माना जाय, तो इस विद्या की ब्रह्मविद्या संज्ञा नहीं होगी । क्योंकि 'अपने को ही जाना' इस श्रुतिवाक्य में संसारी जीव का वेद्य होना सिद्ध होता है ।

यदि कहो, 'आत्मा' इस शब्द से प्रतिपादित वेद्य, वेत्ता से भिन्न कहा गया है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि "मैं ब्रह्म हूँ" इस वाक्य में उसे अहंरूप से विशेषित किया गया है । यदि जानने योग्य वस्तु और जानने वाला भिन्न होते, तो उसे 'यह' अथवा 'वह' शब्द से विशेषित किया जाता ? 'मैं (ब्रह्म) हूँ'—ऐसा कह कर नहीं । 'मैं (ब्रह्म) हूँ' इस विशेषण से अपने को ही जाना' ऐसा निर्णय होने से यह निःसन्देह सिद्ध होता है कि स्वयं आत्मा ही ब्रह्म है । ऐसा (परस्पर अत्यन्त अभेद) होने

१ असमञ्जसमिति—अविरुद्धार्थनिष्ठत्वनैकवाक्यत्वस्य संभवति सति विरुद्धार्थनिष्ठतया तद्भेदकल्पनमयुक्तमतश्चोपसंहारवशादुपक्रमेऽप्यद्वयवस्तुप्रतिपाद्यमिति भावः ।। २ संसारिण एवेति—ननु सास्नादिमति गोशब्दवज्जीवज्ञाने ब्रह्मविद्याशब्दस्य रूढिरस्त्वत्याशङ्क्याऽऽह वार्तिके—"नापि रूढिस्तदन्यस्मिन्नश्वकर्णादिवद्भवेदिति' ।।१२६९।। ब्रह्मज्ञानादन्यस्मिञ्जीवज्ञाने ब्रह्मविद्याशब्दस्य न रूढिस्तथाविधवृद्धव्यवहाराभावादित्यर्थः । अश्वकर्णशब्दः शाल्मलिवृक्षे रूढः ।। ३ विशेषणादिति—अत्र वाक्ये प्रतीचो ब्रह्मणा विशेषणादित्यर्थः । ननु ब्रह्माऽऽत्मा भवत्वात्मा ततोऽन्यः सर्पस्य रज्ज्वभेदेऽपि (तत्सर्पस्य रज्जुदृश एव सत्वात्) रज्जोस्तदन्यत्वदृष्टेः (सर्पव्यतिरेकेणापि रज्जोस्सत्वात्) इति चेन्न परस्परविशेषणतात्पर्यात् । तदुक्तं वार्तिके—"प्रतीचो ब्रह्मवत्प्रत्यग्ब्रह्मणोऽपि विशेषणमिति ।।१२७०।। तयोरन्योऽन्यविशेषणत्वनान्योन्यात्मकत्वमुक्तं तत्रैव । "तथाहि— ब्रह्मता न मदन्यत्र कौटस्थ्यं मम नान्यतः । ब्रह्मणो नान्यतः प्रत्यक्साक्षात्त्वाद्ब्रह्मवस्तुनः ।।१२७१।। इति । ब्रह्मधर्मस्यात्मनि दृष्टेः कौटस्थ्यात्मधर्मस्य आत्मा ब्रह्म तद्धर्मस्याऽपरोक्षस्य चत्साक्षादिति ब्रह्मणि श्रुतेर्ब्रह्माऽऽत्मेत्यर्थः ।। अन्योन्याभेदे निःसामान्यविशेषं ब्रह्म सिध्यति तत्सिद्धौ च तद्विद्याया ब्रह्मविद्येत्युक्तिर्मुख्या स्यान्मिथो भेदे तु न ब्रह्मशब्दो मुख्यो नापि व्यपदेशस्तथेति फलितमुक्तं तत्रैवेति द्रष्टव्यम् ।। ४ अत्र प्रकृतकण्डिकायाम् । ५ तयोर्मिथोऽत्यन्ताभेदे निश्चिते । ६ सिद्धमर्थमिति यावत् ।

पदेशो नान्यथा । संसारिविद्या ह्यन्यथा स्यात् । न च ब्रह्मत्वाब्रह्मत्वे ह्येकस्योपपन्ने परमार्थतस्तमःप्रकाशाविव भानोर्विरुद्धत्वात् ।

न चोभयनिमित्तत्वे ब्रह्मविद्येति निश्चितो व्यपदेशो युक्तस्तदा ब्रह्मविद्या संसारिविद्या च स्यात् । न च वस्तुनोऽर्धजरतीयत्वं कल्पयितुं युक्तं तत्त्वज्ञानविवक्षायाम् । श्रोतुः संशयो हि तथा स्यात् । निश्चितं च ज्ञानं पुरुषार्थसाधनमिष्यते यस्य स्याद्द्धा

नुपपत्तिं विशदयति—संसारीति । 'जीवब्रह्मणोर्भेदाभेदोपगमाद्भेदेन' ब्रह्मविद्येति व्यपदेशः सेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति ।

स्यातां वा ब्रह्मात्मनोर्भेदाभेदौ तथाऽपि भिन्नाभिन्नविद्याया ब्रह्मविद्येति नियतो व्यपदेशो न स्यादित्याह—न चेति । निमित्तं विषयः । भिन्नाभिन्नविषया विद्या ब्रह्मविषयाऽपि भवत्येवेति व्यपदेशसिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—तदेति । 'उभयात्मकत्वाद्वस्तुनस्तद्विद्याऽपि तथेति समुच्चयमाशङ्क्याऽऽह—न चेति । अस्तु तर्हि वस्तु ब्रह्म वाऽब्रह्म वा वैकल्पिकमित्याशङ्क्याऽऽह—श्रोतुरिति । संशयितमपि ज्ञानं वाक्यादुत्पद्यते चेत्तावतैव पुरुषार्थं श्रोतुः सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—निश्चितं चेति ।

पर ब्रह्मविद्या का नाम सार्थक सिद्ध होता है, अन्य किसी तरह नहीं । अन्यथा मानने से यह ब्रह्मविद्या न होकर संसारी विद्या कहलाने लग जायगी । जिस प्रकार अन्धकार और प्रकाश परस्पर विरोधी स्वभाव वाले होने के कारण सूर्य के धर्म नहीं हो सकते, उसी प्रकार एक ही आत्मा के ब्रह्मत्व और अब्रह्मत्व ये दोनों धर्म परमार्थतः सिद्ध नहीं हो सकते ।

इसके अतिरिक्त यदि ज्ञान के संसारीविद्या और ब्रह्मविद्या दोनों विषय स्वीकार कर लिए जायें तो फिर 'ब्रह्मविद्या' यह निश्चयपूर्वक व्यपदेश संभव नहीं है । ऐसा मानने से तो (कभी) ब्रह्मविद्या और (कभी) जीवविद्या कहलायेगी । ब्रह्मात्मवस्तु संसारी भी है और असंसारी भी है, ऐसा अर्धजरतीय समुच्चय तत्त्वज्ञान के निरूपण करते समय अभिमत नहीं है । क्योंकि वस्तु के द्वयात्मक होने से सुनने वाले को संशय हो जायगा और पुरुषार्थ का साधन तो निश्चित ज्ञान माना जाता है । (मैं देह से मर कर या गमन करने पर इसी ब्रह्म को प्राप्त होऊँगा—) ऐसा जिसका निश्चय है और जिसे इस विषय में

१ अत्यन्तभिन्नत्वोक्तिवदिति दृष्टान्ते हिशब्दः । २ प्रतीचः । ३ परमार्थत इति । यत्र प्रतीचि परमार्थता धर्ममात्रमेवास्थूलादिश्रुत्याऽस्ति तत्र वृत्तौ विरुद्धभेदभेदधर्मवत्त्वं तथा चाभेदेन संसाराधनमयुक्तमिति भावः । ४ उभयोः—द्वयविषयं ज्ञानं स्वीकृतमपि व्यपदेशो न घटते तयोर्भिन्नाभिन्नत्वेन द्वयोर्विद्याविषयत्वे ब्रह्मविद्येति ब्रह्मणैव विद्याया विशेष्यत्वायोगादित्यर्थः । ५ द्वयोर्विद्याविषयत्वाविशेषात् कदाचिद्ब्रह्मविद्या कदाचिज्जीवविद्येति व्यपदेशो विकल्पितः स्यादित्यर्थः । ६ तत्त्वज्ञानेति । ब्रह्मात्मवस्तु संसारि चासंसारि चेति समुच्चयो न हि युक्तः तत्त्वज्ञानस्य विवक्षितत्वात् विरुद्धस्यातथात्वादित्यर्थः । ७ श्रोतुरिति—निष्कलाद्वस्तुनो द्वयात्मकत्वे तद्वाक्यात् संशयः श्रोतुः स्यात् ब्रह्म वाऽब्रह्म वा उभयात्मकं वा वस्त्विति संशयितार्थस्य वाक्यस्य संशयजनकत्वं प्रसिद्धमिति वक्तुं हिशब्दः । ८ निश्चितज्ञानस्य फलवत्त्वे श्रुतिं प्रमाणयति—यस्येति । अद्धाऽपरोक्ष्य ब्रह्मणः । ९ तयोरत्यन्तभेदे व्यपदेशः यागनीत्यादि । १० अभेदाशमादाय । ११ संसार्यसंसार्युभयत्वम् । १२ उभयरूपता । १३ विरुद्धयोः समुच्चयायुक्तत्वं । १४ प्रत्यक् । १५ कदाचिद्ब्रह्म कदाचिदब्रह्मेत्यर्थः ।

न विचिकित्साऽस्ति" "संशयात्मा विनश्यति" इति श्रुतिस्मृतिभ्याम् । अतो न संशयितो वाक्यार्थो वाच्यः परहितार्थिना ।

ब्रह्मणि 'साधकत्वकल्पनाऽस्मदादिष्विवापेशला' तदात्मानमेवावेत्तस्मात्तत्सर्वमभवदिति चेन्न । शास्त्रोपालम्भात् । न ह्यस्मत्कल्पनेयं शास्त्रकृता तु तस्माच्छास्त्रस्यायमुपालम्भः । न च ब्रह्मण इष्टं चिकीर्षुणा शास्त्रार्थविपरीतकल्पनया स्वार्थपरित्यागः कार्यः ।

श्रोतुर्निश्चितज्ञानस्य फलवत्त्वेऽपि वक्तुः संशयितमर्थं वदतो न काचन हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—अत इति । निश्चितस्यैव ज्ञानस्य पुमर्थसाधनत्वं न संशयितस्येत्यतःशब्दार्थः ।

जीवपरयोरत्यन्तभेदस्य भेदाभेदयोश्चायोगात्परमेव ब्रह्म ब्रह्मशब्दवाच्यं न जीवस्तद्द्वारेत्युक्तं संप्रत्यत्यन्ताभेदपक्षे दोषमाशङ्कते—ब्रह्मणीति । तदात्मानमेवावेदिति ज्ञातृत्वं ब्रह्मण्युच्यते तदयुक्तं तस्य ज्ञानमूर्तित्वादत एव न तत्कर्मत्वमपि । न च स्वकर्तृकर्मकज्ञानान्मुक्तिः परस्य क्रियाकारकफलविलक्षणत्वादतो न परं ब्रह्म ब्रह्मशब्दितमित्यर्थः । शास्त्रं ब्रह्मणि साधकत्वादि दर्शयति तच्चापौरुषेयमदोषं नोपलम्भार्हं तथाच तस्मिन्नाविद्धं साधकत्वाद्यविरुद्धमिति समाधत्ते—न शास्त्रेति । स चायुक्तस्तस्यापौरुषेयत्वेनासंभावितदोषत्वादिति शेषः । ननु ब्रह्मणो नित्यमुक्तत्वपरिरक्षणार्थं शास्त्रमप्युपालभ्यते नेत्याह—न चेति । शास्त्राद्धि ब्रह्मणो नित्यमुक्तत्वं गम्यते साधकत्वादि च तस्य तेनैवोच्यते न "चार्धंजरतीयमुचितं "तथाच वास्तवं नित्यमुक्तत्वं कल्पितमितरदित्यास्थेयम् । यदि तस्य नित्यमुक्तत्वार्थं सर्वथैव साधकत्वादि नेष्यते तदा स्वार्थपरित्यागः स्यात्साधकत्वादिना विनाऽभ्युदयनिःश्रेयसयोरसंभवात् । न च ब्रह्मणोऽन्यश्चेतनोऽचेतनो वाऽस्ति 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' 'ब्रह्म वेद सर्वम्' इत्यादिश्रुतेस्"तस्माद्यथोक्ता व्यवस्थाऽऽस्थेयेत्यर्थः ।

किंचित् भी सन्देह नहीं है (उसे अवश्यमेव ईश्वर की प्राप्ति होती है)", "(हे अर्जुन ! इतना निश्चय जानो) संशयालु जीव विनष्ट हो जाता है" इत्यादि श्रुति-स्मृति वाक्यों से यही सिद्ध होता है। इसलिए श्रोता शिष्य के हित के लिए संशययुक्त वाक्यार्थ नहीं कहना चाहिए।

(अब अत्यन्ताभेद पक्ष में दोष की आशङ्का होती है —) किन्तु "उसने अपने को ही जाना; अतः वह सर्वरूप हो गया" इस श्रुतिवाक्य के अनुसार हम लोगों की तरह ब्रह्म में जिज्ञासुत्व की कल्पना करना अशोभनीय है । (समाधान करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यह उपालम्भ शास्त्र के लिए है। यह कल्पना हमारी नहीं है; बल्कि शास्त्र द्वारा की हुई है। इसलिए (ब्रह्म में साधकत्वादि कल्पना शास्त्रीय होने से) वह उपालम्भ शास्त्र का ही है। अभीष्ट परिपालन

---

१. संशयस्यापि निश्चयवत्फलजनकत्वमाशङ्क्याऽऽह—संशयेति । २ श्रोतृशिष्यहितार्थिना । ३. जिज्ञासुत्वकल्पना । ४. अशोभना । ५. ब्रह्मणि साधकत्वादिकल्पनाया शास्त्रीयत्वात् । ६. ब्रह्मण इष्टमित्यादि—ब्रह्मनिष्ठ नित्यमुक्तत्व परिपालयता । ७ स्वार्थ. अभ्युदयनिःश्रेयसरूप । ८. तत्र ज्ञातृत्वादिकल्पनाऽयोगात् । ९. उपालम्भार्हमित्यर्थं । १०. अर्धंजरतीयमिति—शास्त्रोक्तमर्धं तु मन्तव्य नित्यमुक्तत्वादि, अर्धं च न मन्तव्यं साधकत्वादीत्येवमर्धजरतीय न न्याय्यमित्यर्थ. । ११. नित्यमुक्तत्वसाधकत्वादेः शास्त्रीयत्वे । १२ तस्मादिति—उक्तव्यवस्थाया. सर्वथा निर्दोषत्वादित्यर्थः ।

न चैतावत्येवाक्षमा युक्ता भवतः। सर्वं हि नानात्वं ब्रह्मणि कल्पितमेव "एकधैवानुद्रष्टव्यम्", "नेह नानाऽस्ति किंचन" "यत्र हि द्वैतमिव भवति" "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादिवाक्यशतेभ्यः। सर्वो हि लोकव्यवहारो ब्रह्मण्येव कल्पितो न परमार्थः सन्नित्यल्पमिदमुच्यत इयमेव कल्पनाऽपेशलेति।

तस्माद्यत्प्रविष्टं स्रष्टृ तद्ब्रह्म। वैशब्दोऽवधारणार्थः। इदं शरीरस्थं यद्गृह्यतेऽग्रे प्रावप्रतिबोधादपि ब्रह्मैवाऽऽसीत्सर्वं चेदम्। किंत्वप्रतिबोधादब्रह्मास्म्यसर्वं चेत्यात्मन्य-

---

किंच सर्वस्यापि संसारस्य ब्रह्मण्यविद्ययाऽध्यासात्तदन्तर्भूतं साधकत्वाद्यपि तत्राध्यस्तमित्यभ्युपगमे काऽनुपपत्तिरित्याह—न चेति। तस्य तस्मिन्कल्पितत्वं कुतोऽवगतमित्याशङ्क्याऽऽह—एकधेति। उक्तश्रुतितात्पर्यं संकलयति—सर्वो हीति। सर्वस्य द्वैतव्यवहारस्य ब्रह्मणि कल्पितत्वे प्रकृतचोद्यस्याऽऽभासत्वं फलतीत्याह—इत्यल्पमिति।

"परपक्षं" निराकृत्य "स्वपक्षं दर्शयति—तस्मादिति। "तद्व्यतिरेकेण जगन्नास्तीति सूचयति—वैशब्द इति। तत्पदार्थमुक्त्वा त्वंपदार्थं कथयति—इदमिति। "तयोर्वस्तुतो भेदं शङ्कित्वा पदान्तरं व्याचष्टे—प्रागिति। "तस्यापरिच्छिन्नत्वमाह—सर्वं चेति। कथं तर्हि विपरीतधीरित्याशङ्क्याऽऽह—

करने की इच्छा वाले ब्रह्मनिष्ठ नित्यमुक्त पुरुष को शास्त्र के अर्थ से विपरीत कल्पना करके अभ्युदय-निःश्रेयसरूप स्वार्थ का परित्याग नहीं करना चाहिए।

साधकत्वकल्पनामात्र निमित्ता असहिष्णुता आपके लिए उचित नहीं है। सम्पूर्ण नानात्व ब्रह्म में ही कल्पित है। "आचार्य उपदेश के बाद उस ब्रह्म को (आकाश के समान अन्तर-बाह्य शून्य) एकमात्र विज्ञानघनरूप देखना चाहिये", "उस ब्रह्म में नाना कुछ भी नहीं है (फिर भी जो इसमें नाना के समान देखता है, अज्ञान के कारण उसे बार-बार मरना पड़ता है)", "जिस अविद्या अवस्था में (परमार्थतः अद्वैत ब्रह्म) में द्वैत सा प्रतीत होता है (वहाँ अन्य अन्य को जानता है)", "(उत्पत्ति से पूर्व सजातीय-विजातीय स्वगतभेद शून्य) एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।" इत्यादि शतशः श्रुतिवाक्य इसमें प्रमाण हैं। क्योंकि यह समस्त लोकव्यवहार ब्रह्म में ही कल्पित है, परमार्थतः सत् नहीं है। अतः यह कल्पना अशोभनीय है, यह तो तुम तुच्छ बात कहते हो।

उक्त न्याय से (ब्रह्मभावी जीव के "ब्रह्म" शब्दार्थक न होने से) जो स्रष्टा ब्रह्म प्रविष्ट हुआ था, वही यह ब्रह्म है। "वै" शब्द (अपरिच्छिन्न ब्रह्म का) निश्चयार्थक है। ('प्रमात्रादि-साक्षित्व' पद से लक्ष्य) यह जो शरीर में स्थित (अपरोक्ष) प्रतीत होता है, 'अग्रे' अर्थात् तत्त्वज्ञान उदय होने के पूर्व भी ब्रह्म ही था, तथा यह सर्वरूप था। किन्तु अविद्यावस्था में 'मैं अब्रह्म हूँ, असर्व हूँ' ऐसा आरोप

---

१ एतावतीति—निमित्तसप्तमी। तथा च साधकत्वकल्पनमात्रनिमित्तेत्यर्थः। अक्षमाऽसहिष्णुता। २ एकधैव—अद्वयरूपेणैव। नानात्वस्य कल्पितत्व एवाद्वयरूपेण दर्शनं घटत इति। ३ उक्तन्यायेन ब्रह्मभाविनो जीवस्य ब्रह्मशब्दार्थत्वाभावात्। ४ सर्वं जगद्ब्रह्मैव न तदन्यत् ब्रह्मेति यावत्। ५. अपरिच्छिन्न प्रमात्रादि-साक्षि त्वंपदलक्ष्यम्। ६ अपरोक्ष प्रतीयते। ७ तत्त्वज्ञानोदयात्। ८ निष्कृष्य दर्शयति। ९ अनुपपन्नस्य तुच्छत्वमिति यावत्। १० परेष्टं ब्रह्मभाविपुरुषब्रह्मशब्दार्थम्। ११ भर्तृप्रपञ्चपक्षनिरासेनैव तुल्यदोषतया वृत्तिकारपक्षोऽपि निरस्त एवेत्यभिप्रेत्याह—परपक्षं निराकृत्येति। १२ स्वेष्टं सम्। १३ पूर्वोक्तं ब्रह्म। १४ तत्त्वंपदार्थयोः। १५ त्वमर्थस्य।

ध्यारोपात्कर्ताऽहं क्रियावान्फलानां च भोक्ता सुखी दुःखी संसारीति स्वाध्यारोपयति । परमार्थतस्तु ब्रह्मैव तद्विलक्षणं सर्वं च तत्कथंचिदाचार्येण दयालुना प्रतिबोधितं नासि संसारीत्यात्मानमेवावेत्स्वाभाविकम् । अविद्याध्यारोपितविशेषवर्जितमित्येवशब्दस्यार्थः ।

ब्रूहि कोऽसावात्मा स्वाभाविको यमात्मानं विदितवद्ब्रह्म । ननु न स्मरस्यात्मानं दर्शितो ह्यसौ य इह प्रविश्य प्राणित्यपानिति व्यानित्युदानिति समानितीति । नन्वसौ गौरसावश्व इत्येवमसौ व्यपदिश्यते भवता नाऽऽत्मानं प्रत्यक्षं दर्शयसि । एवं तर्हि द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता स आत्मेति ।

किंत्विति । यथाप्रतिभासं कर्तृत्वादेर्वास्तवत्वमाशङ्क्य शास्त्रविरोधान्मैवमित्याह—परमार्थतस्त्विति । तद्विलक्षणमध्यस्तसमस्तसंसाररहितमिति यावत् । किंमु तद्ब्रह्मेति चोद्यं परिहृत्य किं तदवेदिति चोद्यान्तरं प्रत्याह—तत्कथंचिदिति । पूर्ववाक्योक्तमविद्याविशिष्टमधिकारित्वेन व्यवस्थितं ब्रह्म नासि संसारीत्याचार्येण दयावता कथंचिद्बोधितमात्मानमेवावेदिति संबन्धः । आत्मैव प्रमेयस्तज्ज्ञानमेव प्रमाणमित्येवमयंत्वमेवकारस्य विवक्षन्नाह—अविद्येति ।

प्रकृतमात्मशब्दार्थं विविच्य वक्तुं पृच्छति—ब्रूहीति । स एष इह प्रविष्ट इत्यत्राऽऽत्मनो दर्शितत्वात्प्राणनादिलिङ्गस्य तस्य स्वयमेवानुसंधातुं शक्यत्वान्नास्ति वक्तव्यमित्याह—नन्विति । आत्मानं प्रत्यक्षयितुं पृच्छतस्तत्परोक्षवचनमनुत्तरमिति शङ्कते—नन्वसाविति । आत्मानं चेत्प्रत्यक्षयितुमिच्छसि तर्हि प्रत्यक्षमेव तं दर्शयामीत्याह—एवं तर्हीति ।

आत्मा मे करने से 'मैं कर्ता हूँ, मैं क्रियावान् हूँ, मैं फलो का भोक्ता हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ, संसारी हूँ' ऐसा अध्यास कर लेता है । परमार्थतः वह उससे विलक्षण ब्रह्म और सर्वस्वरूप ही है । तब किसी तरह दूसरे कारुणिक आचार्य द्वारा तत्त्वज्ञान कराये जाने पर "तू संसारी नहीं है" ऐसे पारमार्थिक आत्मतत्त्व को ही जाना । 'आत्मा को ही जाना' इसमें 'एव' शब्द का अर्थ है कि उसने अविद्या द्वारा अध्यस्त कर्तृत्वादिविशेष से रहित आत्मा को जाना ।

(वेद्यस्वरूप से उपस्थित आत्मशब्दार्थ को अनात्मा से पृथक करके शङ्का होती है—) कृपया बतलाइये, वह पारमार्थिक आत्मतत्त्व कौन सा है जिसे ब्रह्म ने जाना ? (उत्तर देते है—) क्या तू उस आत्मा का स्मरण नहीं करता जिसे "जो यह शरीर में प्रविष्ट होकर (जड भी जिसकी सत्ता से) प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान की चेष्टाएं करता है' इस प्रकार दिखाया गया था ? (पुनः शङ्का होती है—) किन्तु 'वह गौ है, वह अश्व है' इस प्रकार तुम उसका व्यपदेश तो करते हो, आत्मा का

---

१ पारमार्थिकम् । २ कर्तृत्वादि । ३ प्राणितीत्यादि—प्राणादयो जडा अपि यत्सत्तया चेष्टन्त इति यावत् । ४. नन्वसाविति—यथा कश्चिद्गामश्वं वा प्रत्यक्षं दर्शयामीत्युक्त्वा यश्चलत्यसौ गौ यो धावत्यसावश्व इति चलनादिलिङ्गैर्व्यपदिशेत् । एवमात्मानं प्रत्यक्षं दर्शयामीत्युक्त्वा प्राणनादिलिङ्गैरसावात्मा व्यपदिश्यत इति प्रतिज्ञाहानिरूपं निग्रहस्थानं त्वं प्राप्तमित्याशयः । ५ प्रतीत्यनुरोधात् । ६ स्वरूपभन्यदा । ७ किन्तु सर्वधर्मशून्यं चिदानन्दैकरसं ब्रह्मैवासि । ८ व्यतिरिक्तकारणाभावेन । ९ आत्मैवेति—आत्माज्ञानमेवानात्माज्ञानम् । आत्मज्ञानमेवानात्मज्ञानम् । अतो नाऽनात्माऽऽत्मव्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः । स्पष्टं चैतद्वार्तिके । १० नाऽनात्मा । ११ वेद्यत्वेनोपस्थितम् । १२. अनात्मना पृथक्कृत्य ।

नन्वत्रापि दर्शनादिक्रियाकर्तुः स्वरूपं न प्रत्यक्षं दर्शयसि। न हि गमिरेव गन्तुः स्वरूपं छिदिर्वा छेत्तुः। एवं तर्हि दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोता मतेर्मन्ता विज्ञातेर्विज्ञाता स आत्मेति।

नन्वत्र को विशेषो द्रष्टरि। यदि दृष्टेर्द्रष्टा यदि वा घटस्य द्रष्टा सर्वथाऽपि द्रष्टैव द्रष्टव्य एव तु भवान्विशेषमाह दृष्टेर्द्रष्टेति। द्रष्टा तु यदि दृष्टेर्यदि वा घटस्य द्रष्टा द्रष्टैव। न, विशेषोपपत्तेः। अस्त्यत्र विशेषो यो दृष्टेर्द्रष्टा स दृष्टिश्चेद्भवति नित्यमेव पश्यति दृष्टिं न कदाचिदपि दृष्टिर्न दृश्यते द्रष्टा तत्र द्रष्टुर्दृष्टया नित्यया भवितव्यम्।

नेदं प्रतिज्ञानुरूपं प्रतिवचनमिति चोदयति—नन्वत्रेति। प्रत्यक्षत्वाद्दर्शनादिक्रियायास्तत्कर्तुः स्वरूपमपि तथेत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। यदि दर्शनादिक्रियाकर्तृस्वरूपोक्तिमात्रेण जिज्ञासा नोपशाम्यति तर्हि दृष्ट्यादिसाक्षित्वेनाऽऽत्मोक्त्या तुष्यतु भवानित्याह—एवं तर्हि दृष्टेरिति।

पूर्वस्मात्प्रतिवचनादस्मिन्प्रतिवचने द्रष्टृविषयो विशेषो नास्तीति शङ्कते—नन्विति। विशेषाभावं विशदयति—यदीत्यादिना। घटस्य द्रष्टा दृष्टेर्द्रष्टेति विशेषे प्रतीयमाने तदभावोक्तिर्व्याहतेत्याशङ्क्याऽऽह—द्रष्टव्य एवेति। तथा द्रष्टर्यपि विशेषो भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—द्रष्टा त्विति। वृत्तिमदन्तःकरणावच्छिन्नः सविकारो घटद्रष्टा कूटस्थचिन्मात्रस्वभावः सन्निधिसत्तामात्रेण बुद्धितद्वृत्तीनां द्रष्टेति विशेषमङ्गीकृत्य परिहरति—नेत्यादिना। एतदेव स्फुटयति—अस्तीति। सप्तमी द्रष्टारमधिकरोति। दृष्टेर्द्रष्टुस्तावदन्वयव्यतिरेकाभ्यां विशेषं विशदयति—यो दृष्टेरिति। भवतु दृष्टिसद्भावे द्रष्टुः सदा तद्द्रष्टृत्वं तथाऽपि कथं कूटस्थदृष्टित्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति।

प्रत्यक्षदर्शन तो कराते नहीं। (इसका समाधान देते हैं—) (प्रत्यक्षदर्शन करना हो) तो ऐसा समझो वह आत्मा द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता है।

किन्तु प्रत्युत्तर में भी तो तुम दर्शनादिक्रिया के कर्ता का स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं दिखाते। गन्ता का गमनक्रिया ही एवं छेत्ता का छेदनक्रिया ही स्वरूप नहीं है। (उत्तर देते हैं—) तो फिर जो दृष्टि का द्रष्टा, श्रुति का श्रोता, मति का मन्ता एवं विज्ञप्ति का विज्ञाता है, उसे ही आत्मा समझो।

(पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) तो इस से द्रष्टा के विषय में क्या विशेषता हुई ? चाहे दृष्टि का द्रष्टा रहे, चाहे घट का द्रष्टा, वह तो सब प्रकार से द्रष्टा ही ठहरा। 'दृष्टि का द्रष्टा' इस प्रकार कहने से तो आप केवल द्रष्टव्य में ही विशेषता बतलाते हो। द्रष्टा चाहे दृष्टि का हो अथवा घट का, द्रष्टा द्रष्टा ही है। (सिद्धान्ती समाधान करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि दोनों में विशेषता सम्भव है। द्रष्टा में एक विशेषता होती है, जो दृष्टि का द्रष्टा है, वह दृष्टि होने पर नित्य ही देखता है। ऐसा नहीं होता कि द्रष्टा को कभी दृष्टि न भी दिखाई पड़े। द्रष्टा के साक्षात् दृष्टि व द्रष्टृत्व होने पर द्रष्टा की दृष्टि नित्य होनी चाहिये। यदि द्रष्टा की दृष्टि अनित्य होगी, तब दृश्या-

---

१ प्रतिवचने। २, द्रष्टरि। ३ नित्यमेवेति—दृष्टिसत्ताकाल इति यावत्। तथाच यदा दृष्टिस्तदा द्रष्टेत्यन्वय उक्तः। अग्रे व्यतिरेकः। ४ द्रष्टुः साक्षाद्दृष्टिद्रष्टृत्वे सति। ५ द्रष्टृत्ववत्। ६ सद्भावेन। ७ घटादिद्रष्टृप्रमातृसकाशाद्विशेषम्। ८ स्वरूपभूतदृष्टेः कौटस्थ्यं कथम्।

अनित्या चेद्द्रष्टुर्दृष्टिस्तत्र 'दृश्या या दृष्टिः सा कदाचिन्न दृश्येतापि यथाऽनित्यया दृष्ट्या घटादि वस्तु । न च 'तद्वद्दृष्टेर्द्रष्टा कदाचिदपि न पश्यति दृष्टिम् ।

किं द्वे दृष्टी द्रष्टु'र्नित्याऽदृश्याऽन्याऽनित्या दृश्येति । बाढम् । प्रसिद्धा तावद'नित्या दृष्टिरन्धानन्धत्वदर्शनात् '। नित्यैव चेत्सर्वोऽनन्ध एव स्यात् । द्रष्टुस्तु नित्या दृष्टिः "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" इति श्रुतेरनुमानाच्च । अन्धस्यापि 'घटाद्यामा-सविषया स्वप्ने दृष्टिरुपलभ्यते । सा 'तर्हीतरदृष्टिनाशे न नश्यति सा द्रष्टुर्दृष्टिस्तया-ऽविपरिलुप्तया नित्यया दृष्ट्या स्वरूपभूतया स्वयंज्योतिःसमाख्ययेतरामनित्यां दृष्टि

नित्यत्वमुपपादयति—अनित्या चेदिति । 'उक्तपक्षपरामर्शार्था सप्तमी । कादाचित्के द्रष्टृदृश्यत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । घटादिवद्दृष्टिरपि कदाचिदेव द्रष्ट्रा दृश्यते न सर्वदेत्यनिष्टापत्त्यभावमा-शङ्क्याऽऽह—न चेति । विकारिणश्चित्तस्याद्रष्टृत्वं 'क्रमद्रष्टृत्वमन्यथा द्रष्टृत्वं च दृष्टं तत्साक्षिणो व्यावर्तमानं तस्य निर्विकारत्वं गमयतीति भावः ।

दृष्टिद्वयं प्रमाणाभावादश्लिष्टमिति शङ्कते—किमिति । तदुभयमङ्गी करोति—बाढमिति । तत्रानित्यां दृष्टिमनुभवेन साधयति—प्रसिद्धेति । उक्तमर्थं युक्त्या व्यक्ती करोति—नित्यैवेति । संप्रति नित्यां दृष्टिं श्रुत्या समर्थयते—द्रष्टुरिति । तत्रैवोपपत्तिमाह—अनुमानाच्चेति । तदेव विवृणोति—अन्धस्यापीति । जागरिते चक्षुरादिहीनस्यापि पुंसः स्वप्ने वासनामयघटादिविषया दृष्टिरुपलब्धा या च सा तस्मिन्काले चक्षुरादिजनितदृष्ट्यभावेऽपि स्वयमविनश्यन्त्यनुभूयते सा द्रष्टुः स्वभावभूता दृष्टिर्नित्यैवेष्टव्या । 'विमतं नित्यमव्यभिचारित्वात्परेष्टात्मवदिति प्रयोगोप-पत्तेरित्यर्थः । नन्वात्मा दृष्टिस्वभावश्चेत्कथं दृष्टेर्द्रष्टेत्युक्तमत आह—तयेति । नित्यत्वे हेतुः—अविपरिलुप्तयेति । नित्यद्वयं परिहर्तुं स्वरूपभूतयेत्युक्तम् । तस्या दृष्ट्यन्तरापेक्षां वारयति—स्वयमिति । उक्तमविपरिलुप्तत्वं व्यनक्ति—इतरामिति । आत्मा दृष्टेर्द्रष्टेति स्थिते फलितमाह—

दृष्टि कभी नही देखी जायगी, जैसे अनित्य दृष्टि से घटादि वस्तु । किन्तु घटादि के समान दृष्टि का द्रष्टा कभी दृष्टि को देखता नही—ऐसा कहना ठीक नही ।

(दृष्टिद्वय मे कोई प्रमाण न होने के कारण पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) तो क्या द्रष्टा को दो दृष्टियाँ प्राप्त है, एक स्वरूपभूता और अदृश्या, दूसरी अनित्या और दृश्या । (सिद्धान्ती इसे स्वीकार करता है—) ऐसा ही है, लोकव्यवहार मे अन्धत्व और अनन्धत्व दोनो देखे जाने से अनित्या दृष्टि प्रसिद्ध ही है । यदि नित्या दृष्टि ही होती तो कोई भी नेत्रविहीन न होता । किंतु "द्रष्टा की दृष्टि का लोप नही होता" इस श्रुतिवाक्य द्वारा एव अनुमान द्वारा 'द्रष्टा की दृष्टि तो नित्य है', यह सिद्ध होता है । अन्धे पुरुष की भी स्वप्न मे घटादिरूप मिथ्यावस्तुविषयक दृष्टि देखी जाती है । वह दृष्टि स्वप्न के समय इतरदृष्टि के विनष्ट होने पर भी नष्ट नही होती । वह द्रष्टा की दृष्टि है, उसे विलुप्त न होने

१. द्रष्टु. दृष्टेरनित्यत्वे । २. घटादिवत् । ३. स्वरूपभूता । ४. अनित्येति—नश्यतीत्यन्धत्वम् । ५. घटादिरूपमिथ्यावस्तुविषया । ६. स्वप्नसमये । ७. द्रष्टृदृष्टेरनित्यत्वपक्षे । ८. घटदर्शनकाले न पटदर्शनमिति क्रमिक तद्दर्शन वृत्त्या । ९. विमतमिति—द्रष्टव्यादीना द्रष्ट्रादिरूपं प्रकृत ब्रह्मात्मतत्त्वम् । नित्यत्व त्रिकालाबाध्यत्वम् । अव्यभिचारित्व सर्वानुगतत्वम् ।

स्वप्नबुद्धान्तयोर्वासनाप्रत्ययरूपां नित्यमेव पश्यन्दृष्टेर्द्रष्टा भवति । एवं च सति दृष्टिरेव स्वरूपमस्याग्न्यौष्ण्यवन्न काणादादीनामिव दृष्टिव्यतिरिक्तोऽन्यश्चेतनो द्रष्टा ।

'तद्ब्रह्माऽऽत्मानमेव नित्यदृग्रूपमध्यारोपितानित्यदृष्ट्यादिवर्जितमेवावेद्विदितवत् । ननु विप्रतिषिद्धम् । "न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः" इति श्रुतेर्विज्ञातुर्विज्ञानम् । न, 'एवं विज्ञानान्न विप्रतिषेधः । 'एवं दृष्टेर्द्रष्टेति विज्ञायत एव । अन्यज्ञानानपेक्षत्वाच्च । न च द्रष्टुर्नित्यैव दृष्टिरित्येवं विज्ञाते द्रष्टृविषयां दृष्टिमन्यामाकाङ्क्षते । निवर्तते हि द्रष्टृविषयदृष्ट्याकाङ्क्षा 'तदसंभवादेव । न ह्यविद्यमाने विषय आकाङ्क्षा

एव चेति । 'अन्यश्चेतनोऽचेतनो वेति शेषः ।

नित्यदृष्टिस्वभावमात्मपदार्थं "परिशोध्य श्रुत्यक्षराणि योजयति—तद्ब्रह्मेति । वाक्यशेषविरोधं चोदयति—नन्विति । किं कर्मत्वेनाऽऽत्मनो ज्ञानं विरुध्यते किं वा साक्षित्वेनेति वाच्यं नाऽऽद्योऽनभ्युपगमादित्याह—नेति । न द्वितीय इत्याह—एवमिति । "तदेव स्पष्टयति—एव दृष्टेरिति । "तर्हि तद्विषयं ज्ञानान्तरमपेक्षितव्यमिति कुतो विरोधो न प्रसरतीत्याशङ्क्याऽऽह—अन्यज्ञानेति । न विप्रतिषेध इति पूर्वेण संबन्धः । संगृहीतमर्थं विवृणोति—न चेति । नित्यैव स्वरूपभूतेति शेषः । विज्ञातत्वं वाक्यीयबुद्धिवृत्तिव्याप्यत्वम् । अन्या दृष्टिं "स्फुरणलक्षणाम् । आत्मविषयस्फुरणाकाङ्क्षाभावं प्रतिपादयति—निवर्तते हीति । आत्मनि स्फुरणरूपे स्फुरणस्यान्यस्यासंभवेऽपि कुतस्तदाकाङ्क्षोपशान्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । किं च द्रष्टरि दृश्याऽदृश्या वा दृष्टिरपेक्ष्यते नाऽऽद्य

वाली स्वयंज्योतिसंज्ञिका स्वरूपभूता नित्यदृष्टि से स्वप्न में प्रतिभासिकी जाग्रत् अवस्था में व्यावहारिकी अनित्यदृष्टि को नित्य ही देखते रहने के कारण वह दृष्टि का द्रष्टा है। ऐसा होने से अग्नि की उष्णता के समान इस आत्मा का स्वरूप है। काणाद मत के समान दृष्टि से व्यतिरिक्त कोई अन्य चेतन (या अचेतन) द्रष्टा नहीं है।

(अधिकारीरूप में स्थित) उस ब्रह्म ने, जो अध्यारोपित अनित्यदृष्टि आदि से परे है उस नित्य स्वरूप आत्मा का ही 'अवेत्' अर्थात् जाना। (पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) "तुम बुद्धिवृत्तिरूप विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते।" इस श्रुतिवाक्य द्वारा विज्ञाता आत्मा का जानना तो विरुद्ध बात जान पड़ती है। (सिद्धान्ती समाधान करता है-) ऐसा कहना ठीक नहीं। इस प्रकार (साक्षीरूप) जानने से कोई विरोध नहीं होता। उक्तविधि से 'वह दृष्टि का द्रष्टा है' ऐसे जाना ही जाता है। इतरज्ञान की अपेक्षा न होने से भी विरोध नहीं है। 'द्रष्टा की दृष्टि नित्य ही है'—इस प्रकार जान लेने पर द्रष्टाविषयिणी अन्यदृष्टि की द्रष्टा को आकाङ्क्षा नहीं रहती, अपितु द्रष्टाविषयिणी दृष्टि की आकाङ्क्षा निवृत्त हो जाती है, क्योंकि उसका होना संभव ही नहीं है। असंभावित विषय के लिए

---

१ वासनेति—स्वप्ने वासनारूपां प्रातिभासिकीम् । बुद्धान्ते जागरिते प्रत्ययरूपां व्यावहारिकीमित्यर्थः ।
२ अधिकारितया स्थितम् । ३ साक्षित्वेन । ४ उक्तविधया । ५ द्रष्टा । ६ तदसंभवादिति—
तस्मिन् स्फुरणरूप आत्मनि स्फुरणान्तरासंभवादित्यर्थः । ७ असंभाविते । ८ भट्टमते चिदचिद्रूपत्वादात्मनः
चेतन इत्युक्तं नैयायिकमते अचेतनतयाऽचेतन इति । ९ स्वमर्थम् । १० निर्णीय । ११ एव ज्ञानम् ।
१२ आत्मनि साक्षित्वेनापि विज्ञानस्वीकारः । १३ फलरूपाम् ।

कस्यचिदुपजायते । न च दृश्या दृष्टिर्द्रष्टारं [1]विषयीकर्तुमुत्सहते । यतस्तामाकाङ्क्षेत । न च स्वरूपविषयाकाङ्क्षा [2]स्वस्यैव । [3]तस्मादज्ञानाध्यारोपणनिवृत्तिरेवाऽऽत्मानमेवावेदित्युक्तं नाऽऽत्मनो विषयीकरणम् ।

तत्कथमवेदित्याह––अहं [3]दृष्टे[4]र्द्रष्टाऽऽत्मा ब्रह्मास्मि अवामीति । ब्रह्मेति यत्साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तर आत्माऽशनायाद्यतीतो नेति नेत्यस्थूलमनण्वित्येवमादिलक्षणं [5]तदेवाहमस्मि नान्यः संसारी यथा भवानाहेति । तस्मादेवं विज्ञानात्तद्ब्रह्म[6] सर्वमभवत् । अब्रह्माध्यारोपणापगमात्तत्कार्यस्यासर्वत्वस्य निवृत्त्या सर्वमभवत् । [7]तस्माद्युक्तमेव

इत्याह–न चेति । आदित्यप्रकाश्यस्य रूपादेस्तत्प्रकाशकत्वाभावादिति भाव. । न द्वितीय इत्याह–न चेति । आत्मनो वृत्तिव्याप्यत्वेऽपि स्फुरणव्याप्यत्वानङ्गीकरणान्न वाक्यशेषविरोधोऽस्तीत्युपसंहरति––तस्मादिति ।

[8]वाक्यान्तरमाकाङ्क्षापूर्वकमादत्ते–तत्कथमिति । तदक्षराणि व्याचष्टे–दृष्टेरिति । इतिपदमवेदित्यनेन सबध्यते । ब्रह्मशब्दं व्याचष्टे–ब्रह्मेतीति । ब्रह्माहंपदार्थयोर्मिथो विशेषणविशेष्यभावमभिप्रेत्य वाक्यार्थमाह–तदेवेति । आचार्योपदिष्टेऽर्थे स्वस्य निश्चयं दर्शयति–यथेति । इतिशब्दो वाक्यार्थज्ञानसमाप्त्यर्थः । इदानीं फलवाक्यं व्याचष्टे–तस्मादिति । सर्वभावमेव व्याकरोति––अब्रह्मेति । [9]ब्रह्म वाविद्यया संसरति विद्यया च मुच्यत इति पक्षस्य निर्दोषत्वमुपसंहरति––

आकाङ्क्षा किसी को नही हुआ करती । इसके अलावा दृश्यभूता दृष्टि द्रष्टा को प्रकाशित करने मे समर्थ नही है, जिससे उसकी आकाङ्क्षा की जाय । और अपने स्वरूप के विषय मे अपने को ही आकाङ्क्षा नही हुआ करती । इसलिए (आत्मा के स्व व इतरज्ञान मे अनपेक्ष होने के कारण) 'आत्मा को ही जाना" इस श्रुतिवाक्य से अज्ञान के अ याम की निवृत्ति ही कही गयी है, आत्मा का विषयीकरण नही बताया गया ।

उस ब्रह्म ने किस प्रकार जाना ? इस पर श्रुति कहती है––"अहम्" अर्थात् चाक्षुषीवृत्ति का साक्षी आत्मा मैं, ब्रह्म हूँ––ऐसा जाना । 'ब्रह्म' अर्थात् जो साक्षात् अपरोक्ष, सर्वान्तर आत्मा क्षुधादि से अतीत, नेति नेति, अस्थूल, अनण् इत्यादि लक्षणो वाला है, वही मैं हूँ, मैं अन्य ससारी नही हूँ जैसा

१ प्रकाशयितुम् । २ आत्मन स्वेतरज्ञानानपेक्षत्वात् । ३ चाक्षुष्या वृत्ते । ४ साक्षी । ५ 'अह ब्रह्मास्मी'त्यत्राऽस्मीतिपदमहब्रह्मपदयो सामानाधिकरण्यार्थम् । तथाहि––अस्मीति वर्तमानापदेशात् ऐक्यस्य सदा सत्त्वमुच्यते नाभूतभवनम् । असभवादता भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ताना शब्दानामेकार्थ्यं सामानाधिकरण्यमिति न्यायेनाहब्रह्मपदयोरैक्यवृत्तितया तत्सिद्ध्यर्थमिदपदमिति । तदेव दर्शयति––तदेवाहमस्मीति । ६ ब्रह्म सर्वमभवदिति । ब्रह्म ब्रह्मैवाभवदित्यर्थ । स्वतो ब्रह्मैवाविद्यातत्कार्याभ्यामब्रह्मवदभिगत विद्यया तन्निवृत्तौ स्वाभाविक ब्रह्मैवाभवदित्यर्थ । सर्वशब्दस्य ब्रह्मपर्यायत्वादब्रह्माभाव एव ज्ञानफलमुच्यते । यथा रज्ज्वविद्याजनितभुजङ्गादीना रज्जुरेव तत्त्व तथा ब्रह्माविद्याप्रसूतप्रपञ्चस्य ब्रह्ममात्रतया प्रपञ्चविषय सर्वशब्दब्रह्मशब्दस्य पर्याय इति । ७. ब्रह्मविद्याया सर्वात्मभावापत्तिफलकत्वात् । ८ 'अह ब्रह्मास्मीति'वाक्यम् । ९ 'ब्रह्म वा इद'मित्यनया श्रुत्या सर्वत्रैक एव जीवो विवक्षित इत्येकजीववादस्यैव श्रौतत्व सूचयन्नाह––ब्रह्म वेति ।

मनुष्या मन्यन्ते यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्याम इति । यत्पृष्टं किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति तन्निर्णीतं ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवदिति ।

तत्तत्र यो यो देवाना मध्ये प्रत्यबुध्यत प्रतिबुद्धवानात्मानं यथोक्तेन विधिना स एव प्रतिबुद्ध आत्मा तद्ब्रह्माभवत्तथर्षीणा तथा मनुष्याणा च मध्ये । देवानामित्यादि [1]लोकदृष्ट्यपेक्षया न [2]ब्रह्मत्वबुद्ध्योच्यते । पुरः पुरुष आविशदिति सर्वत्र ब्रह्मैवानुप्रविष्टमित्यवोचाम । [3]अतः शरीराद्युपाधिजनितलोकदृष्ट्यपेक्षया देवानामित्याद्युच्यते ।

तस्माद्युक्तमिति । वृत्त कीतयति—यत्पृष्टमिति ।

यथाऽग्निहोत्रादि मनुष्यत्वादि[4]जातिमन्तम[5]र्थित्वाविशेषणवन्त चाधिकारिणमपेक्षते न तथा ज्ञानमिति [6]वक्तु तद्यो यो देवानामित्यादिवाक्य तदक्षराणि व्याचष्टे—तत्तत्रेति । यथोक्तेन विधिनाऽन्वयादिकृतपदार्थपरिशोधनादिनेत्यथ । ज्ञानादेव मुक्तिर्न[7] साधनान्तरादित्येवकारार्थ । विवक्षितमधिकार्यनियम प्रकटयति—तथेत्यादिना । यो य प्रत्यबुध्यत स एव तदभवदिति पूर्वेण सबन्ध । ब्रह्मैवाविद्यया ससरति मुच्यते च विद्ययेत्युक्तत्वाद्देवादीना विद्याविद्याभ्या बन्धमोक्षोक्तिरेतद्विरुद्धेत्याशङ्क्याऽऽह—देवानामित्यादीति । तत्त्वदृष्ट्यैव भेदवचने का हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—पुर इति । आविद्यक [8]भेदमनूद्य तत्तदात्मना स्थितब्रह्मचैतन्यस्यैव विद्याविद्याभ्या बन्धमोक्षोक्तेर्न

कि आप कहते है । 'तस्मात' अर्थात ऐसा जानने मे 'तत' अर्थात् वह ब्रह्म सर्वरूप हो गया । अब्रह्मरूप अध्यारोप के बाध से उसके कार्यभूत असर्वत्व की निवृत्ति हो जाने से वह सर्वरूप हो गया । इसलिए (ब्रह्मविद्या के सर्वात्मभावापत्तिरूप फल वाला होने से) मनुष्य ठीक ही मानते है कि ब्रह्मविद्या से हम सर्वरूप हो जायगे । यह जो पूछा था कि 'उस ब्रह्म ने क्या जाना जिससे वह सर्वरूप हो गया ?" उसका निर्णय 'उत्पत्ति से पहले यह नामरूपात्मक जगत ब्रह्मस्वरूप ही था । उसने अपने को ही जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ' इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया ।" इस श्रुतिवाक्य द्वारा कर दिया गया ।

'तत्' अर्थात वहा देवताओ के मध्य मे जिस जिसने 'प्रत्यबुध्यत' अर्थात् यथोक्त प्रकार से आत्मा को जाना, वही प्रतिबुद्ध आत्मा ब्रह्म हो गया । इसी प्रकार ऋषियो और मनुष्यो मे हुआ । 'देवताओ मे' इत्यादि जो कहा गया है, वह अज्ञलोकदृष्टि की अपेक्षा से है, तत्त्वदृष्टि से ऐसा नही कहा जाता । क्योकि 'पुरुष ने पुर मे प्रवेश किया' इस वाक्य मे सर्वत्र ब्रह्म का ही अनुप्रवेश हुआ,

---

१ अज्ञलोकदृष्ट्येति यावत् । २ तत्त्वदृष्ट्या । ३ सर्वत्र ब्रह्मण एव प्रवेशात् । ४ जात्यभिमानवन्तम् । ५ अर्थित्वादीनि । अर्थी दक्षो द्विजोऽहं बुध इति मतिमान् कर्मकृत्कोऽधिकारीति स्वाराज्यसिद्धयुक्तानि विशेषणानि वदितव्यानि । ६ अर्थित्वादिविशेषणस्य साधारणत्वेऽपि मनुष्यत्वादिविशेषणमनियतमिति वक्तुमित्यर्थ । ७ साधनान्तराभावात् ज्ञानादेव मुक्तिरित्याशयेनाह—न साधनेति । कर्मोपासनादिकं सचमाविद्यकमिति न मोक्षसाधनमविद्याकार्यस्याविद्यानिवर्तकत्वासंभवादुपजीव्यत्वात्तस्या इत्येवकारसामर्थ्यान्निश्चितम् । ब्रह्मविद्यायास्त्वाविद्यकत्वेऽपि विषयसामर्थ्यादेवाविद्यानिवर्तकत्वेन मोक्षसाधनत्वं निरणाय्याकरे । ८ एकस्यैव ब्रह्मणो जीवत्व देवादिभेदानुपपत्तिरित्यर्थं । ९ तथा च तात्त्विकभेदे उक्तश्रुतिविरोध एव हानि । अनिष्टमिति यावत् । १० देवादिभेदम् ।

६

परमार्थतस्तु तत्र तत्र ब्रह्मैवाग्र आसीत्प्राक्प्रतिबोधाद्देवादिशरीरेष्वन्यथैव [१]विभाव्यमानम्। तदात्मानमेवावेत्तथैव च सर्वमभवत्।

अस्या ब्रह्मविद्यायाः सर्वभावापत्तिः फलमित्येतस्यार्थस्य [२]द्रढिम्ने मन्त्रानुदाहरति श्रुतिः[३]। कथम्। तद्ब्रह्म तदात्मानमेवाहमस्मीति पश्यन्नेतस्मादेव ब्रह्मणो दर्शनादृषिर्वामदेवाख्यः प्रतिपेदे ह प्रतिपन्नवान्किल। स एतस्मिन्ब्रह्मात्मदर्शनेऽवस्थित एतान्मन्त्रान्ददर्श—अहं मनुरभवं सूर्यश्चेत्यादीन्। तदेतद्ब्रह्म पश्यन्निति ब्रह्मविद्या [४]परामृश्यते।

पूर्वापरविरोधोऽस्तीति फलितमाह—अत इति। अविद्यादृष्टिमनूद्य तत्त्वदृष्टिमन्वाचष्टे—परमार्थतस्त्विति। प्रबोधात्प्रागपि तत्र तत्र देवादिशरीरेषु परमार्थतो ब्रह्मैवाऽऽसीच्चेदीपदेशिकं ज्ञानमनर्थकमित्याशङ्क्याऽऽह—अन्यथैवेति। [६]नानाजीववादस्य तु नावकाशः[७] [८]प्रक्रमविरोधादित्याशयेनाऽऽह—तदिति। तथैवेत्युत्पन्नज्ञानानुसारित्वपरामर्शः।

[९]तद्वैतदित्यादिवाक्यमवतार्य व्याकरोति—[१०]अस्या इति। मन्त्रोदाहरणश्रुतिमेव प्रश्नद्वारा व्याचष्टे—कथमित्यादिना। ज्ञानान्मुक्तिरित्यस्यार्थवादोऽयमिति द्योतयितुं किलेत्युक्तम्। आदिपदं समस्तवामदेवसूक्तग्रहणार्थम्। [११]तत्रावान्तरविभागमाह—तदेतदिति। शतृप्रत्ययप्रयोगप्राप्तमर्थं

ऐसा हम पहले बता चुके हैं। इसलिए शरीरादि-उपाधिजनित अज्ञलोकदृष्टि को लेकर "देवताओं में से" इत्यादि श्रुतिवाक्य कहा गया है। तत्त्वदृष्टि से तो उन उन देवशरीरों में ज्ञान होने से पूर्व अन्यरूप से अध्यस्त किया जाता हुआ ब्रह्म ही था। 'उसने अपने को ही जाना और इसी प्रकार वह सर्वरूप हो गया।'

इस ब्रह्मविद्या का फल सर्वभावापत्ति है। इसी अर्थ की दृढ़ता के लिए श्रुति मन्त्र उद्धृत करती है? 'तत्' अर्थात् उस ब्रह्म को 'एतत्' अर्थात् अपने को ही 'मैं ब्रह्म हूँ' देखने वाले, इसी प्रकार ब्रह्म के दर्शन से वामदेव नामक ऋषि को 'प्रतिपेदे ह' अर्थात् ज्ञान हुआ। वह इसी ब्रह्मात्मदर्शन में प्रतिष्ठित

---

१ विभाव्यमानमिति—अध्यस्तसमस्तानात्मधर्मविशिष्टतयैव प्रतीयमानमित्यर्थः। २ ननु ब्रह्मविद्या सर्वभावापत्तिफलेति श्रुत्यर्थे श्रुतेरेव निश्चायकत्वात्किं मन्त्रैरित्याशङ्क्याऽऽह—द्रढिम्न इति। ज्ञानं देवादीन्नाधिकरोति विहितसाधनत्वात्कर्मादिवदित्याशङ्क्य मन्त्रब्राह्मणविरोधान्मैवमित्यभिप्रेत्याह—मन्त्रानिति। ३ ब्राह्मणवाक्यम्। अतो मन्त्रोदाहृतिरर्थवतीति भावः। तदुक्तं वार्तिके—'श्रुत्युक्तार्थस्य वा स्थेम्ने मन्त्रोदाहृतिरिष्यते। प्रमाणान्तरसंवादात्पुंसा विश्वासधीयते" ॥१४४४॥ इति। ४ प्रदर्श्यते॥ ५ ज्ञानं विनापि ब्रह्मत्वादेव। ६ 'तद्यो यो देवानामिति" जीवानां बहुत्वावगमान्नानाजीववाद एव श्रौतः स्यादित्याशङ्कामपनुदन्नाह—नानाजीवेति। ७ "ब्रह्म वा इदमग्र आसीदि"त्येकत्वेनैवोपक्रमादेक एव जीवः। ८ प्रक्रमविरोधादिति—"तद्यो यो देवानामि"त्यादेस्त्वर्थवादत्वं मन्त्रस्य उपसंहारटीकायां वक्ष्यत इति भावः। ९ तद्वैतदिति। यथाऽग्निहोत्रादिकर्म मनुष्यत्वादिजातिमन्तमधिकारिणमपेक्षते न तथा ज्ञानमिति पूर्वत्र निर्णीतमिदानीं विमतं विशिष्टाधिकार्यपेक्षं विशिष्टपुमर्थहेतुत्वात् कर्मवदित्याशङ्कामपनुदन्नित्यादि। १० अस्या इतीति। जन्मान्तरानुष्ठितान्तरङ्गबहिरङ्गसाधनसंस्कृतबुद्धेर्वामदेवस्य यथोक्तसंस्कारात् ब्रह्मज्ञानं जातमतो न तस्य मनुष्यत्वादिजातिमदधिकार्यपेक्षेति भाव इति शेषः। ११ तत्रेति—प्रकृतवाक्ये। अवान्तरविभागं त्रिविधमवान्तरविभागमित्यर्थः।

अहं मनुरभवं सूर्यश्चेत्यादिना सर्वभावापत्तिं ब्रह्मविद्याफलं परामृशति । पश्यन्सर्वात्मभावं
फलं प्रतिपेद इत्यस्मात्प्रयोगाद्[1]ब्रह्मविद्यासहायसाधनसाध्यं मोक्षं दर्शयति । भुञ्जानस्तृ-
प्यतीति यद्वत् ।

सेयं ब्रह्मविद्यया सर्वभावापत्तिरासीन्महतां देवादीनां वीर्यातिशयान्नेदानीमैदंयु-
गीनानां विशेषतो मनुष्याणामल्पवीर्यत्वादिति स्यात्कस्यचिद्बुद्धिस्तद्व्युत्थापनायाऽऽह—
तदिदं प्रकृतं ब्रह्म यत्सर्वभूतानुप्रविष्टं [2]दृष्टिक्रियादिलिङ्गमेतर्ह्येतस्मिन्नपि वर्तमानकाले
यः कश्चिद्[3]व्यावृत्तबाह्यौत्सुक्य आत्मानमेवैवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति अपोह्यो[4]पाधिजनि-
तभ्रान्तिविज्ञानाध्यारोपिता[5]न्विशेषान्संसारधर्माननागन्धितमनन्तरमबाह्यं ब्रह्मैवाहमस्मि

कथयति—पश्यन्निति । "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" (पा० सू० ३।२।१२६) इति हेतौ शतृप्रत्ययविधा-
नान्नैरन्तर्यं च सति हेतुत्वसंभवात्प्रकृते च प्रत्ययबलाद्ब्रह्मविद्यामोक्षयोर्नैरन्तर्यंप्रतीतेस्तया साधनान्त-
रानपेक्षया लभ्यं मोक्षं दर्शयति श्रुतिरित्यर्थः । [6]अत्रोदाहरणमाह—भुञ्जान इति । भुजिक्रियामा-
त्रसाध्या हि तृप्तिरत्र प्रतीयते तथा पश्यन्नित्यादावपि ब्रह्मविद्यामात्रसाध्या मुक्तिर्भातीत्यर्थः ।
तद्धैतदित्यादि व्याख्याय तदिदमित्याद्यवतारयितुं शङ्कते—सेयमिति । ऐदंयुगीनानां कलिकाल-
वर्तिनामिति यावत् । उत्तरवाक्यमुत्तरत्वेनावतार्य व्याकरोति—तद्व्युत्थापनायेति । तस्य [7]ताटस्थ्यं
वारयति—यत्सर्वभूतेति । प्रविष्टे प्रमाणमुक्तं स्मारयति—दृष्टीति । व्यावृत्तं बाह्येषु विषयेषूत्सुकं
साभिलाषं मनो यस्य स तथोक्तः । एवंशब्दार्थमेवाऽऽह—अहमिति । तदेव ज्ञानं विवृणोति—
अपोह्येति । यद्वा मनुष्योऽहमित्यादिज्ञाने परिपन्थिनि कथं ब्रह्माहमिति ज्ञानमित्याशङ्कयाऽऽह—
अपोह्येति । अहमित्यात्मज्ञानं सदा सिद्धमिति न तदर्थं प्रयतितव्यमित्याशङ्कयाऽऽह—संसारेति ।

होकर इन मन्त्रों का द्रष्टा हुआ—"मैं ही मनु और सूर्य भी हुआ था" इत्यादि । (ऋषि वामदेव ने)
"उस तत्त्व को आत्मभाव से देखते हुए ही जाना" इससे ब्रह्मविद्या प्रदर्शित की गई है । "मैं ही मनु
और सूर्य भी हुआ था" इत्यादि वाक्य से ब्रह्मविद्या का फल सर्वभावापत्ति प्रदर्शित किया गया है ।
'उस तत्त्व को देखने वाले ऋषि को सर्वात्मभाव फल का ज्ञान हुआ' इस वाक्य के प्रयोग मे श्रुति मोक्ष
को ब्रह्मविद्यारूप असहाय साधन से साध्य दिखाती है; जैसे तृप्ति भोजनक्रियामात्र साध्य है ।

विशेषसामर्थ्य वाले महामहिम होने से देवताओं को ब्रह्मविद्या द्वारा वह यह सर्वभावापत्ति
हो गयी थी । किन्तु अब कलियुगी जीवो को और उसमें भी विशेष कर अल्पशक्ति वाले मनुष्यो को
उसकी प्राप्ति नही हो सकती । यदि ऐसा कोई सोचे तो उसका खण्डन करते हुए श्रुति कहती है;
'तदिदम्' अर्थात् इस प्रकृत ब्रह्म को जो सर्व प्राणियों मे अनुप्रविष्ट है, तथा दृष्ट्यादिक्रिया से ज्ञाप्य
है, 'एतर्हि' अर्थात् इस वर्तमान समय में भी "यः" अर्थात् जो कोई भी बाह्य विषयों की उत्सुकता से
मुक्त होकर अपने को ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जानता है, अज्ञानरूप उपाधिजनित मिथ्याज्ञान मे

१. ब्रह्मविद्यारूपं यदसहायसाधनम् इतरानपेक्षं साधनं तत्साध्यम् । २. दृष्टिक्रियेति—'दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोते'त्येवं दृष्ट्यादिक्रियाज्ञाप्यं दृष्ट्यादिसाक्षिणमिति यावत् । ३. व्यावृत्तेति—अत्र टीकानुरोधाद्व्या-वृत्तबाह्योत्सुक इत्येव पाठ्यम् । ४. उपाधिरज्ञानम् । ५. कर्तृत्वादीन् । ६ हेतुफलयोर्व्यवधानाभावे । ७. प्रत्यग्भिन्नत्वम् ।

केवलमिति। सोऽविद्याकृतासर्वत्वनिवृत्तेर्ब्रह्मविज्ञानादिदं सर्वं भवति। न हि महावीर्येषु वामदेवादिषु हीनवीर्येषु वा वार्तमानिकेषु मनुष्येषु ब्रह्मणो विशेषस्तद्विज्ञानस्य वाऽस्ति।

वार्तमानिकेषु पुरुषेषु तु ब्रह्मविद्याफलेऽनैकान्तिकता शङ्क्यत इत्यत आह—तस्य ह ब्रह्मविज्ञातुर्यथोक्तेन विधिना देवा महावीर्या इचनाप्यभूत्या अभवनाय ब्रह्मसर्वभावस्य नेशते न पर्याप्ताः किमुतान्ये।

ब्रह्मविद्याफलप्राप्तौ विघ्नकरणे देवादय ईशत इति का शङ्केति। उच्यते—देवादीन्प्रति ऋणवत्त्वान्मर्त्यानाम्। "ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः" इति हि जायमानमेवर्णवन्तं पुरुषं दर्शयति श्रुतिः। पशुनिदर्शनाच्चाथो अयं

केवलमित्यद्वितीयत्वमुच्यते। ज्ञानमुक्त्वा तत्फलमाह—सोऽविद्येति। यत्तु देवादीनां महावीर्यत्वाद्ब्रह्मविद्यया मुक्तिः सिध्यति नास्मदादीनामल्पवीर्यत्वादिति तत्राऽऽह—न हीति।

श्रेयांसि बहुविघ्नानीति प्रसिद्धिमाश्रित्य शङ्कते—वार्तमानिकेष्विति। शङ्कोत्तरत्वेनोत्तरवाक्यमादाय व्याकरोति—अत आहेत्यादिना। यथोक्तेनान्वयादिना प्रकारेण ब्रह्मविज्ञातुरिति संबन्धः। अपिशब्दार्थं कथयति—किमुतेति। अल्पवीर्यास्तत्र विघ्नकरणे पर्याप्ता नेति किमुत वाच्यमिति योजना।

अप्राप्तप्रतिषेधायोगमभिप्रेत्य चोदयति—ब्रह्मविद्येति। शङ्कानिमित्तं दर्शयन्नुत्तरमाह—उच्यत इति। अधमर्णानिवोत्तमर्णा देवादयो मर्त्यान्प्रति विघ्नं कुर्वन्तीति शेषः। कथं देवादीन्प्रति मर्त्यानामृणित्वं तत्राऽऽह—ब्रह्मचर्येणेति। यथा पशुरेवं स देवानामिति मनुष्याणां पशुसादृश्यश्रवणाच्च तेषां पारतन्त्र्याद्देवादयस्तान्प्रति विघ्नं कुर्वन्तीत्याह—पश्विति। अथो अथ वा "आत्मा सर्वेषां भूतानां लोक" इति च तेषां सर्वप्राणिभोग्यत्वश्रुतेश्च सर्वे तद्विघ्नकरा भवन्तीत्याह—

अध्यारोपित कर्तृत्वादि विशेषों का बाधकर संसारी धर्मों की गन्ध से रहित अन्तरबाह्यशून्य मैं शुद्धब्रह्म ही हूँ—ऐसा अनुभव करता है, वह अविद्याकृत असर्वत्व की निवृत्ति होने से ब्रह्मविद्या के द्वारा सर्वरूप हो जाता है। महामहिम वामदेवादि अथवा अल्पमहिम कलियुगी मनुष्यों में (सर्वत्र एकरूपता से प्रविष्ट) ब्रह्म अथवा उसके विज्ञान का कोई अन्तर नहीं है।

कलियुगवासी मनुष्यों में तो ब्रह्मविद्या-उत्पत्ति में भी उसके फल में व्यभिचार की शङ्का होती है, इस पर श्रुति कहती है। निश्चय ही उस ब्रह्मविज्ञानी को 'अभूत्या' अर्थात् सर्वभाव न होने देने का सामर्थ्य, उक्त प्रकार के महामहिम देवता भी 'नेशते' अर्थात् नहीं रखते, फिर दूसरों की तो बात ही क्या है।

ब्रह्मविद्या के फल की प्राप्ति में विघ्न करने में देवता आदि अपने महत्त्व का उपयोग करते हैं।

---

१ ब्रह्मण इति—ब्रह्मणः सर्वत्रैकरूप्येणैव प्रविष्टत्वादिति। २ विद्योत्पत्तावपि। ३ तत्फलव्यभिचार इत्यर्थः। ४ अवधारणे। ५ चनत्वप्यर्थकमव्ययम्। ६ का शङ्कतीति। विद्याफलप्राप्तौ देवता विघ्नं कुर्वन्तीत्ययुक्ता शङ्का कारणाभावादतोऽप्राप्तप्रतिषेधः श्रुत्या क्रियत इत्यर्थः। ७ ब्रह्मचर्यपूर्वकवेदाध्ययनेनेत्यर्थः। ८ ऋषिभ्य इति—अनृणी भवतीति शेषः। ९ श्रुतिरिति—'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायत इति श्रुतेश्च मनुष्या देवादीन्प्रति ऋणिनो गम्यन्त इति। १० विद्याफलप्राप्तौ। ११ जीव। १२ भोग्य।

वा इत्यादिलोकश्रुतेश्चाऽऽत्मनो 'वृत्तिपरिपिपालयिषयाऽधमर्णानिव' देवाः परतन्त्रान्म-नुष्यान्प्रत्यमृतत्वप्राप्तिं प्रति विघ्नं कुर्युरिति न्याय्यैवैषा शङ्का ।

'स्वपशूनस्वशरीराणीव च रक्षन्ति देवाः । महत्तरा हि वृत्तिं कर्माधीनां दर्शयिष्यति देवादीनां बहुपशुसमतयैकैकस्य पुरुषस्य । "तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुः" इति हि वक्ष्यति । "यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवं हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति" इति च । ब्रह्मवित्त्वे 'पारार्थ्यनिवृत्तेर्न 'स्वलोकत्वं पशुत्वं चेत्यभिप्रायोऽप्रियारिष्टिवचनाभ्यामवगम्यते । 'तस्माद्ब्रह्मविदो ब्रह्मविद्याफलप्राप्तिं प्रति

अयो इति । लोकश्रुत्यभिप्रेतमर्थं प्रकटयति—आत्मन इति । यथाऽधमर्णान्प्रत्युत्तमर्णा विघ्नमाचरन्ति तथा देवादयः स्वस्थितिपरिरक्षणार्थं परतन्त्रान्कर्मिणः प्रत्यमृतत्वप्राप्तिमुद्दिश्य विघ्नं कुर्वन्तीति तेषां तान्प्रति विघ्नकर्तृत्वशङ्का सावकाशैवेत्यर्थः ।

पशुनिदर्शनेन विवक्षितमर्थं विवृणोति—स्वपशूनिति । पशुस्थानीयाना मनुष्याणां देवादिभी रक्ष्यत्वे हेतुमाह—महत्तरामिति । इतश्च देवादीना मनुष्यान्प्रति विघ्नकर्तृत्वममृतत्वप्राप्तौ सभावितमित्याह—तस्मादिति । इतश्च तेषां तान्प्रति विघ्नकर्तृत्वं भातीत्याह—यथेति । स्वलोको देहः । एवंवित्त्वं सर्वभूतभोज्योऽहमिति कल्पनावत्त्वम् । 'क्रियापदानुषङ्गार्थश्चकारः । ब्रह्मवित्त्वेऽपि मनुष्याणां देवादिपारतन्त्र्याविघातात्किमिति ते विघ्नमाचरन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मवित्त्व इति । देवादीना मनुष्यान्प्रति विघ्नकर्तृत्वे शङ्कामुपपादितामुपसंहरति—तस्मादिति ।

(कारणाभाव से) यह शङ्का क्यों होती है ? इस पर कहते है, क्योंकि ससारी जीव देवतादिकों के ऋणी होते है । जैसा कि "ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन से ऋषिऋण से मुक्त हो जाते है, यज्ञ सम्पादन से देवऋण की मुक्ति होती है सन्तानोत्पत्ति से पितृऋण का शोधन होता है" यह श्रुति जन्म-समकाल मे ही पुरुष को ऋणी प्रदर्शित करती है । तथा "यह जो कर्माधिकारी अज्ञानी गृहस्थरूप आत्मा है (वह समस्त जीवो का भोग्य है)" इस श्रुति से मनुष्य को पशुरूप से निदर्शन किया है । जिस प्रकार ऋण देने वाला ऋण लेने वाले को कष्ट देता है, उसी प्रकार देवता भी अपनी स्थितिस्थापना के लिए परतन्त्र मनुष्यो के प्रति अमृतत्वप्राप्ति मे विघ्न करे—यह शङ्का करना उचित ही है ।

देवता इन पशुस्थानीय मनुष्यो की अपने शरीर की भांति रक्षा करते है । एक-एक पुरुष की अनेकों पशुओ से तुलना करके श्रुति उसे देवताओ की महत्तर कर्माधीन स्थिति प्रदर्शित करेगी और "अत यह देवताओ को सर्वथा प्रिय नही है कि मनुष्य ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व को जाने' यह और "जैसे लोक मे सभी अपने शरीर का नाश नही चाहते हैं, वैसे ही ऐसा जानने वाले को सभी जीव अविनाशीरूप से देखना चाहते है" यह श्रुतिवाक्य आगे कहेगे । किन्तु ब्रह्मज्ञान हो जाने पर परतन्त्रतानिवृत्ति होने से स्वनिष्ठ भूतभोग्यत्व और पशुत्व नही रहते, यह तात्पर्य उपरोक्त अप्रिय और अविनाशी-

१ वृत्ति स्थिति । जीविका इति यावत् । २ उत्तमर्णा । ३ पशुस्थानीयान् मनुष्यान् । ४. यथा ह वा इति । स्वाय लोकाय—स्वीयदेहाय । अरिष्टिम्—अविनाशम् । एवंविदे—सर्वभूतभोग्योऽहमिति निश्चयवत इत्यर्थ । ५ पारार्थ्येति—पारतन्त्र्येत्यर्थं । पारतन्त्र्यस्याज्ञानकृतत्वात् ज्ञानादज्ञाननिवृत्तौ तन्निवृत्तेरित्यभिप्राय । ६. स्वनिष्ठ भूतभोग्यत्वम् । ७ उक्तहेतुजातात् । ८. वक्ष्यतीतिक्रियापदेरर्थ ।

कुर्युरेव विघ्नं देवाः । प्रभाववन्तश्च हि ते ।

नन्वेवं सत्य[1]न्यास्वपि कर्मफलप्राप्तिषु देवानां विघ्नकरणं [2]पेयपानसमम् । [3]हन्त तर्ह्य[4]विस्रम्भोऽभ्युदयनिःश्रेयससाधनानुष्ठानेषु । [5]तथेश्वरस्याचिन्त्यशक्तित्वाद्विघ्नकरणे प्रभुत्वम् । तथा [6]कालकर्ममन्त्रौषधितपसामेषां हि फलसंपत्तिविपत्तिहेतुत्वं शास्त्रे लोके च प्रसिद्धम् । अतोऽप्यनाश्वासः [7]शास्त्रार्थानुष्ठाने ।

न केवलमुक्तहेतुबलादेव किं तु सामर्थ्याच्चेत्याह—[8]प्रभाववन्तश्चेति ।

सामर्थ्याच्चेद्विद्याफलप्राप्तौ तेषां विघ्नकरणं तर्हि कर्मफलप्राप्तावपि स्यादित्यतिप्रसङ्गं शङ्कते—नन्विति । भवतु तेषां सर्वत्र विघ्नाचरणमित्यत आह—हन्तेति । अविस्रम्भो विश्वासाभाव । सामर्थ्याद्विघ्नकर्तृत्वेऽतिप्रसक्त्यन्तरमाह—तथेति । अतिप्रसङ्गान्तरमाह—तथा कालेति । विघ्नकरणे प्रभुत्वमिति पूर्वेण संबन्धः । ईश्वरादीनां यथोक्तकार्यकरत्वे प्रमाणमाह—एषा हीति । 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति । 'कर्म हैव [9]'तद्रूचतुरित्यादिवाक्यं शास्त्रशब्दार्थः । देवादीनां विघ्नकर्तृत्व-वदीश्वरादीनामपि तत्संभवाद्वेदार्थानुष्ठाने विश्वासाभावा[10]त्तदप्रामाण्यं प्राप्तमिति फलितमाह—अतोऽपीति ।

निरूपक श्रुतिवाक्यो से ज्ञात होता है । इसी कारण से देवता ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मविद्या-फलप्राप्ति मे विघ्न करेंगे ही, क्योकि वे महिमा से युक्त है ।

(पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) तो फिर विद्याफल से भिन्न कर्मफल प्राप्ति मे विघ्न करना भी देवताओ के लिए जलपान करने की भाँति आसान है । तब तो अभ्युदय और नि.श्रेयसप्राप्ति के साधनों मे अविश्वास होने लग जायगा । इससे तो देवताओ के समान अनन्तशक्तिसम्पन्न परमेश्वर भी विघ्न करने मे समर्थ हो जायँगे । इसी प्रकार शास्त्र एवं लोकव्यवहार मे काल, कर्म, मन्त्र, औषधि और तप की भी फल-प्राप्ति या अप्राप्ति मे हेतुता प्रसिद्ध ही है । इसलिए भी शास्त्रोक्त ज्ञान, कर्म और उपासना के अनुष्ठान मे अविश्वास ही रहेगा ।

---

१ विद्याफलाद्भिन्नासु । २ पयस्य जलादे पानसम सुकरमिति यावत् । ३. हन्तेत्यनुमतौ भवत्वित्यर्थ । ४ देवादिवत् । ५ कालकर्मेत्यादि । कालेति—प्रयागस्नानाद्येकस्मिन्कर्मणि सत्रान्त्यादिकालकृतफल-वैचित्र्यम् । कर्मेति—एकरावयुत्पन्नाना कालसाम्येऽपि कर्मवैचित्र्यात्फलवैचित्र्यम् । मन्त्रेति—इन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति मन्त्रस्य यजमानहिंसकत्व स्वरदोषात् । तथाहि—इन्द्रस्याभिचार त्वष्ट्रा (ऋत्विग्विशेषेण) आरब्ध तत्रेन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति । मन्त्र ऊहित तत्र इन्द्रस्य शातयिता शमयिता भवेति क्रियाशब्दोऽत्र शत्रुशब्द आश्रित. न तु रूढिशब्द तदाश्रयणे बहुव्रीहितत्पुरुषयोरर्थाभेद तत्रेन्द्रामित्रत्वे सिद्धेऽपि इन्द्रस्यशत्रुर्भवेत्यत्रार्थे प्रतिपाद्येऽन्तोदात्तत्वे प्रयोक्तव्य आद्युदात्त । ऋत्विजा प्रयुक्त इत्यर्थान्तराभिधानादिन्द्र एव वृत्रस्य शातयिता सम्पन्न । तदुक्त "मन्त्रो हीन स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात् ॥" इन्द्रशत्रुरिति—इन्द्रशत्रुशब्द इत्यर्थ ॥ औषधीति—यथा गुरोराज्ञयार्कपत्र-भक्षणेनान्धीभूताय कस्मैचिच्छिष्याय अश्विभ्या सद्रसायनभूतमपूप दत्तं राहोर्वाऽमृतपानाच्छिदिक्रियाफलस्य मरणस्य निरोध । तपसामिति—यथा योगादीना तपसा च शतजीवनश्रुत्युक्तायुरादिविपर्ययजनकत्वमित्यादि द्रष्टव्यम् । ६ ज्ञानकर्मोपासनानुष्ठाने । ७ ते हि अकारणमपि तथा कुर्वन्ति । ८. कौषी० उ० ३-९० । ९ बृ० उ० ३-२-१३ । १०. याज्ञवल्क्यार्तभागौ । ११ अननुष्ठानरूपमप्रामाण्यम् ।

न, सर्वपदार्थानां नियतनिमित्तोपादानाज्जगद्वैचित्र्यदर्शनाच्च । स्वभावपक्षे च तदुभयानुपपत्तेः । सुखदुःखादिफलनिमित्तं कर्मेत्येतस्मिन्पक्षे स्थिते वेदस्मृतिन्यायलोकपरिगृहीते देवेश्वरकालास्तावन्न कर्मफलविपर्यासकर्तारः । कर्मणा काङ्क्षितकारकत्वात् । कर्म हि शुभाशुभं पुरुषाणां देवकालेश्वरादिकारकमनपेक्ष्य नाऽऽत्मानं प्रति लभते । लब्धात्मकमपि फलदानेऽसमर्थम् । क्रियाया हि कारकाद्यनेकनिमित्तोपादानस्वाभाव्यात् । तस्मात्क्रियानुगुणा हि देवेश्वरादय इति कर्मसु तावन्न फलप्राप्ति प्रत्यविस्रम्भः ।

किमिदमवैदिकस्य चोद्यं किं वा वैदिकस्येति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—नेत्यादिना । दध्याद्युत्पिपादयिषया दुग्धाद्युपादानदर्शनात्प्राणिनां सुखदुःखादितारतम्यदृष्टेः स्वभाववादे च नियतनिमित्तादानवैचित्र्यदर्शनयोरनुपपत्तेस्तदयोगात्कर्मफलं जगदेष्टव्यमित्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—सुखेति । 'कर्म हैव' इत्याद्या श्रुतिः । 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इत्याद्या स्मृतिः । जगद्वैचित्र्यानुपपत्तिश्च न्यायः । "कथमेतावता देवादीनां कर्मफले विघ्नकर्तृत्वाभावस्तत्राऽऽह—कर्मणेति । कथं हेतुसिद्धिरित्याशङ्क्य कर्मणः स्वोत्पत्तौ देवाद्यपेक्षां व्यतिरेकमुखेन(ण) दर्शयति—कर्म हीति । स्वफलेऽपि तस्य तत्सापेक्षत्वमस्तीत्याह—लब्धेति । निष्पन्नमपि कर्म पूर्वोक्तं कारकमनपेक्ष्य स्वफलदाने शक्तं न भवतीत्यर्थः । कर्मणः स्वोत्पत्तौ स्वफले च कारकसापेक्षत्वे हेतुमाह—क्रियाया हीति । कारकादीनामनेकेषां निमित्तानामुपादानेन स्वभावो निष्पद्यते यस्याः सा तथोक्ता तस्या भावः कारकाद्यनेकनिमित्तोपादानस्वाभाव्यं तस्मादुभयत्र परतन्त्रं कर्मेत्यर्थः । देवादीनां कर्मापेक्षितकारकत्वे फलितमाह—तस्मादिति ।

(सिद्धान्ती उक्त शङ्का का क्रमश खण्डन करता है—) ऐसा कहना ठीक नही, क्योंकि सभी पदार्थों के निश्चितनिमित्तो का उपादान किया जाता है, तथा ससार मे सुखदु खादि-वैचित्र्य देखा जाता है । स्वभाववाद स्वीकार करने पर ये दोनो बाते सभव नही होगी । "कर्म सुखदु खादिफल का कारण है"—वेद, स्मृति, युक्ति और लोकव्यवहार से गृहीत इस पक्ष के निश्चय होन पर यह सिद्ध होता है कि देव, ईश्वर और काल तो कर्मफल का विपर्यास नही कर सकते, क्योंकि देवता कर्मानुष्ठान के लिए अपेक्षित शरीरादि के सम्पादक हैं । मनुष्यो का शुभाशुभ कर्म, देव, काल और ईश्वरादि कारको की, बिना अपेक्षा किए अपने आप निष्पन्न नही हो सकता । यदि निष्पन्न हो भी जाए तो वह फलसम्पादन मे असमथ होगा । क्योंकि क्रिया का स्वभाव है कि वह कारकादि अनेक निमित्तो का उपादान नही करती । इसलिए (देवता आदि विघ्नकारक न होने के कारण) देवता और ईश्वरादि कम के गुण का अनुसरण करने वाले हो हैं; अत. कर्म मे फलप्राप्ति के प्रति अविश्वास नही होता ।

---

१. युक्तिरित्यर्थ. । २. लोकेति । उक्त च कामसूत्रे—"पुरुषकारपूर्वकत्वात्सवप्रवृत्तीनामवश्यभाविनाप्यर्थस्योपायपूर्वकत्वादेव न निष्कर्मिणा भद्रमस्तीति ।" ३. प्रमिते । ४. कर्मणा काङ्क्षितेति—देवानां कर्मणैव स्वसिद्धयर्थं तेषा क्रोडीकृतत्वादिति यावत् । ५. कर्मस्वरूपकर्मापेक्षितशरीरादिसपादकत्वादित्यर्थ. । ६. स्वभावादेव सर्वं जायत इति स्वभाववादिन. । ७. स्वभाववादस्यायुक्तत्वात् । ८. तदूचतु । ९. "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणेति" । १०. जन्तुरिति—"विद्यया च विमुच्यते । तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतय. पारदर्शिन" इति स्मृतिशेष ॥ ११. जगत: कर्मफलत्वस्वीकारमात्रेण । १२. स्वीकारेण । १३. स्वरूपम् । १४. स्वोत्पत्तौ स्वफलदाने च ।

सिद्धिहेतुत्वेन तत्फलप्राप्तावनुकूलत्वेन च देवादीना विघ्नकरत्वाभावात् ।

कर्मणामप्येषां 'वशानुगत्वं क्वचित्स्वसामर्थ्यस्याप्रणोद्यत्वात् । कर्मकालदैवद्रव्यादिस्वभावानां गुणप्रधानभावस्त्वनियतो दुर्विज्ञेयश्चेति तत्कृतो मोहो लोकस्य । कर्मैव कारकं नान्यत्फलप्राप्ताविति केचित् । दैवमेवेत्यपरे । काल इत्येके । द्रव्यादिस्वभाव इति केचित् । सर्व एते संहता एवेत्यपरे । "तत्र कर्मणः प्राधान्यमङ्गीकृत्य वेदस्मृतिवादाः" "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" इत्यादयः । यद्यप्येषां स्वविषये कस्यचित्प्राधान्योद्भव इतरेषां तत्कालीनप्राधान्यशक्तिस्तम्भस्तथाऽपि न कर्मणः

"इतोऽपि कर्मफले नाविस्रम्भोऽस्तीत्याह—कर्मणामिति । एषां देवादीनां क्वचिद्विघ्नलक्षणे कार्ये कर्मणां वशवर्तित्वमेष्टव्यं प्राणिकर्मापेक्षामन्तरेण विघ्नकरणेऽतिप्रसङ्गादतोऽन्यत्रापि "सर्वत्र तेषां तदपेक्षा वाच्येत्यर्थः । तत्र तेषां कर्मवशवर्तित्वे हेत्वन्तरमाह—स्वसामर्थ्यस्येति । विघ्नलक्षणं हि कार्यं दुःखमुत्पादयति । न च दुःखमृते पापादुपपद्यते । दुःखविषये पापसामर्थ्यस्य शास्त्राधिगतस्या-"प्रत्याख्येयत्वात्तस्मात्प्राणिनामदृष्टवशादेव देवादयो विघ्नकारणमित्यर्थः । देवादीनां कर्मपारतन्त्र्ये कर्म तत्परतन्त्रं न स्यात्प्रधानगुणभाववैपरीत्यायोगादित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मेति । 'इतश्च नामीषां नियतो गुणप्रधानभावोऽस्तीत्याह—दुर्विज्ञेयश्चेति । इतिशब्दो हेत्वर्थः । यतो गुणप्रधानकृतो" मतिविभ्रमो लोकस्योपलभ्यते तस्मादसौ दुर्विज्ञेयो न नियतोऽस्तीति योजना । मतिविभ्रमे वादिविप्रतिपत्तिं हेतुमाह—कर्मैवेत्यादिना । कथं "तर्हि निश्चयस्तत्राऽऽह—तत्रेति । वेदवादानुदाहरति—पुण्यो वा इति । आदिपदेन 'धर्मरज्ज्वा व्रजेदूर्ध्वम्' "इत्यादयः स्मृतिवादा गृह्यन्ते । सूर्योदयदाहसेचनादौ "कालज्वलनसलिलादेः प्राधान्यप्रसिद्धेर्न कर्मैव प्रधानमित्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीति । अनैकान्तिकत्वम-

---

इसके अतिरिक्त कभी कभी कर्म की वस्तुगत शक्ति दुर्वार होने के कारण इन देवता आदि का विघ्न करना कर्मों के अधीन है (एक दूसरे की अपेक्षा स्वतन्त्र न होने से विघ्नकर नहीं हैं—यह आशय है)। कर्म, काल, दैव और द्रव्यादि स्वरूपों का गौण और मुख्यभाव अनियत और दुर्विज्ञेय है; इसी से सांसारिक लोकव्यवहार में उनके कारण मोह हो जाता है। किन्हीं (मीमांसकों) के मत में फलप्राप्ति में कर्म ही कारक है, अन्य कोई नहीं। दूसरे (देवताकाण्डीय उपासक) दैव को ही हेतु मानते हैं। कुछ (ज्योतिर्विद) काल को हेतु मानते हैं। कुछ (चार्वाक-एकदेशी स्वभाववादी) द्रव्यादिस्वभाव को ही हेतु मानते हैं। अन्य (वेदान्ती) मानते हैं कि उपरोक्त सब मिलकर कर्मफलप्राप्ति के हेतु हैं। कर्मफलप्राप्ति में कर्म की प्रधानता स्वीकृत करके ही "पुरुष पुण्यकर्म से धर्मात्मा होता है और पाप कर्म से पापात्मा होता है" इत्यादि वेद एवं स्मृतिवाक्य प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि अपने अपने विषय में

---

१ एवमन्योन्यापेक्षतयाऽस्वातन्त्र्यान्नविघ्नकरत्वमिति भाव । २ वस्तुगतशक्तेर्दुर्वारत्वात् । ३. स्वरूपाणाम् । ४. पदार्थानाम् । ५ मीमांसकाः । ६ अपर इति—"दैवमेव परं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकमिति" देवताकाण्डीया उपासका इत्यर्थः । ७ ज्योतिर्विद । ८. चार्वाकैकदेशिस्वभाववादिन. । ९. वेदान्तिन । १०. कर्मफलप्राप्तौ । ११. प्रवृत्ता. । १२ यथा कर्म देवाद्यपेक्षमेवं तदपि कर्मापेक्षमतो न तत्फले तस्य विघ्नकर्तृत्वमिति हेत्वन्तरात् । १३. वरदानादौ । १४. अपरिहार्यत्वात् । १५. विषयक. । १६. तदनियतत्वे । १७ 'पापरज्ज्वा व्रजेदधः' । इत्युत्तरार्धम् ॥ १८ प्रात.कालेति यावत् ।

फलप्राप्तिं प्रत्यनैकान्तिकत्वम् । शास्त्रन्यायनिर्धारितत्वात्कर्मप्राधान्यस्य ।

न, अविद्यापगममात्रत्वाद्ब्रह्मप्राप्तिफलस्य । यदुक्तं ब्रह्मप्राप्तिफलं प्रति देवा विघ्नं कुर्युरिति तत्र न देवानां विघ्नकरणे सामर्थ्यम् । कस्मात् । विद्याकालानन्तरितत्वाद्ब्रह्मप्राप्तिफलस्य । कथम् । यथा लोके द्रष्टुश्चक्षुष आलोकेन संयोगो यत्कालस्तत्काल एव रूपाभिव्यक्तिः । एवमात्मविषयं विज्ञानं यत्कालं तत्काल एव तद्विषयाज्ञानतिरोभावः स्यात् अतो ब्रह्मविद्यायां सत्यामविद्याकार्यानुपपत्तेः प्रदीप इव तमः कार्यस्य । तत्केन

प्रधानत्वम् । तत्र हेतुमाह—शास्त्रेति । श्रुतिस्मृतिलक्षणं शास्त्रमुदाहृतम् । जगद्वैचित्र्यानुपपत्तिर्न्यायः ।

कर्मफले देवादीनां विघ्नकर्तृत्वं प्रसङ्गागतं निराकृत्य विद्याफले तेषां तदाशङ्कितं निराकरोति —नाविद्येति । तत्र नञर्थमुक्तानुवादपूर्वकं विशदयति—यदुक्तमिति । तत्र प्रश्नपूर्वकं पूर्वोक्तं हेतुं स्फुटयति—कस्मादिति । आत्मनो ब्रह्मत्वप्राप्तिरूपाया मुक्तेरज्ञानध्वस्तिमात्रत्वात्तस्याश्च ज्ञानेन तुल्यकालत्वात्तस्मिन्सति तस्य फलस्याऽऽवश्यकत्वाद्देवादीनां विघ्नाचरणे नावकाशोऽस्तीत्यर्थः । उक्तमेवार्थमाकाङ्क्षापूर्वकं दृष्टान्तेन समर्थयते—कथमित्यादिना । ब्रह्मविद्यातत्फलयोः समानकालत्वे फलित-

इनमें से किसी-किसी की प्रधानता का उदय होता है। और उस समय होने वाली अन्य कारकों की प्राधान्यशक्ति का अवरोध हो जाता है, तथापि फलप्राप्ति में कर्म का व्यभिचारित्व नहीं है, क्योंकि शास्त्र और न्याय से कर्म की प्रधानता सिद्ध है।

ब्रह्मविद्या के फल में देवता विघ्नकर्ता नहीं है, क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति का फल केवल अविद्या की निवृत्ति ही है। पूर्वग्रन्थ से जो यह कहा कि ब्रह्मप्राप्तिरूप फल में देवगण विघ्न करेंगे, यह उसमें विघ्न करने की देवताओं में सामर्थ्य नहीं है। क्यों नहीं है ? क्योंकि ब्रह्मप्राप्तिरूपफल तो ज्ञान होते ही हो जाता है। किस प्रकार ? जिस प्रकार लोकव्यवहार में द्रष्टा के नेत्रों का प्रकाश के साथ जिस समय संयोग होता है, उसी समय रूप की अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार जिस समय आत्मविषयक ज्ञान होता है, उसी समय तद्विषयक अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। इसलिये (विद्या और फल के समकाल में होने से) जैसे दीप की उपस्थिति में अन्धकार का कार्य नहीं रहता, उसी प्रकार ब्रह्मविद्या की अवस्था में अविद्या एवं उसका कार्य रहना असम्भव है। इसलिए देवता किस कारण से किसे विघ्न

१ व्यभिचारित्वम् । २ कर्मणः फलसंप्राप्तिरप्राप्तिश्चेह यद्यपि । साद्गुण्यवैगुण्यत्वाभ्यां सा स्यात्कर्मण एव तु ॥१४६१॥ इति वार्तिके । क्वचित्कारीर्यादिफलव्यभिचारशङ्कापनोदनम् । ३ विद्याफलयोस्समकालत्वात् । ४ तत् । ५ तत्केनेति । तत्—तस्मात् अविद्यातत्कार्याभावात् । केन हेतुना । किंच विदुषो विद्याफलप्राप्तौ विघ्नकरणे देवादीनां शक्तिरेव नास्ति । तदुक्तं वार्तिके—"देवाद्यैश्वर्यविषयव्यतिक्रान्तत्वहेतुतः । सम्यग्ज्ञानात्तमोध्वस्तावीशैत्याभूत्या उद्युक्ता ईश्वरा अपि नशत ॥ ईशितव्यमबाध प्रत्यगज्ञानहेतुज । विद्या नान्तरीयकत्वेनाभिनिवेश—(अहमस्मि जीव ईशपामव इश्वराणामपीश्वरः ॥१४६४-१४६५॥ इति । हेतुतमोध्वस्तौ देवाद्यैश्वर्यविषयमतिक्रम्य स्थितत्वाद्विदुषो विरोधाभावाच्च त विघ्नकर्तार इत्याद्यामह—) इति भाव । देवादीनामीश्वरत्वमाश्रित्योक्तं तदेतद्विद्वद्विषयं नास्तीत्याह—ईशेति । न चैतावता तदैश्वर्यं विरुध्यते तस्यान्यत्र सावकाशत्वस्य वक्ष्यमाणत्वादिति भाव ॥ ६ फलप्राप्तौ कर्मप्राधान्य । ७ सङ्घहवाक्यस्थपदसमुदायमध्य । ८ विद्यासमकालाज्ञानध्वस्तिरिति ।

कस्य विघ्नं कुर्युर्देवाः । यत्राऽऽत्मत्वमेव देवानां ब्रह्मविदः ।

तदेतदाह—आत्मा स्वरूपं ध्येयं यत्तत्सर्वशास्त्रैर्विज्ञेयं ब्रह्म हि यस्मादेषां देवानां स ब्रह्मविद्भवति । ब्रह्मविद्यासमकालमेवाविद्यामात्रव्यवधानापगमाच्छुक्तिकाया इव रजतामासायाः शुक्तिकात्वमित्यवोचाम । अतो नाऽऽत्मनः प्रतिकूलत्वे देवानां प्रयत्नः संभवति । यस्य ह्यनात्मभूतं फलं देशकालनिमित्तान्तरितं तत्रानात्मविषये सफलः प्रयत्नो विघ्नाचरणाय देवादीनाम् । न त्विह विद्यासमकाल आत्मभूते देशकालनिमित्तानन्तरितेऽवसरानुपपत्तेः ।

माह—अत इति । देवादीनां ब्रह्मविद्याफले विघ्नकर्तृत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—यत्रेति । यस्यां विद्यायां सत्यां ब्रह्मविदो देवादीनामात्मत्वमेव तस्यां सत्यां कथं ते तस्य विघ्नमाचरेयुः स्वविषये तेषां प्रातिकूल्याचरणानुपपत्तेरित्यर्थः ।

उक्तेऽर्थे समनन्तरवाक्यमुत्थाप्य व्याचष्टे—तदेतदाहेति । कथं ब्रह्मविद्यासमकालमेव ब्रह्मविद्वादीनामात्मा भवति तत्राऽऽह—अविद्यामात्रेति । यथेद रजतमिति रजताकारायाः शुक्तिकायाः शुक्तिकात्वमविद्यामात्रव्यवहितं तथा ब्रह्मविदोऽपि सर्वात्मत्वे तन्मात्रव्यवधानात्तस्याश्च विद्योदये नान्तरीयकत्वेन निवृत्तेर्युक्तं विद्यातत्फलयोः समानकालत्वम् । उक्तं चैतत्प्रतिवचनदशायामित्यर्थः । उक्तस्य हेतोरपेक्षितं वदन्ब्रह्मविदो देवाद्यात्मत्वे फलितमाह—अत इति । कैवल्ये तेषां विघ्नाकर्तृत्वे कुत्र तत्कर्तृतेत्याशङ्क्याऽऽह—यस्य हीति । तेषां निरङ्कुशप्रसक्तत्वं वारयति—न त्विति । सफलः प्रयत्न इति पूर्वेण संबन्धः । तस्य निरवकाशत्वादिति हेतुमाह—अवसरेति ।

करेंगे जबकि ब्रह्मज्ञानी देवताओं के आत्मत्व को ही प्राप्त हो जाता है ?

इसी को ही श्रुति प्रतिपादित करती है—क्योंकि वह ब्रह्मज्ञानी (उपासक द्वारा) ध्येय अर्थात् जो वह समस्त शास्त्रों के द्वारा विज्ञेय ब्रह्म है; वही देवताओं की आत्मा हो जाता है । क्योंकि रजतरूप भासने वाली शुक्ति के शुक्तिकात्व का ज्ञान होने के समय ही जैसे भ्रमजनित रजतत्वबुद्धि की निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान होने के समय ही अविद्यामात्रव्यवधान की निवृत्ति हो जाती है—ऐसा हम पहले ही कह आये हैं । इसलिए (विद्वानों के देवात्मरूप होने से) आत्मा की प्रतिकूलता के लिए देवताओं का प्रयत्न सभव नहीं है । जिस साधन के देश, काल और निमित्त से अन्तरित अनात्मभूतफल होता है, उस अनात्मरूप फलप्राप्ति में विघ्न करने के लिए देवताओं का प्रयत्न सफल हो सकता है । यहाँ (विद्याफल में) देश, काल और निमित्त से अव्यवहित और विद्योत्पत्ति काल में ही

१. उपासकं । २. विद्वद्भिः । ३. विदुषो देवाद्यात्मत्वात् । ४ साधनस्य । ५ कर्मादिजन्यफलयोभिन्नदेशकालत्वात् । ६. अनात्मरूपफलप्राप्तावित्यर्थः । ७ विद्याफले कैवल्ये । ८. विद्याया विदुषः सर्वात्मत्वरूपेऽर्थे । ९. इहैव रजतरूपेण प्रतीयमानाया । १०. समानकालीनत्वेन । ११. उक्तं चैतत्प्रतिवचनदशायामित्यर्थ इति—आत्मनः स्वरूपतया नित्यलब्धत्वान्न तत्रालब्धत्वबुद्धिः स्यादिति चोद्यसमाधानावसरे एतदुक्तम् २४१मितपृष्ठस्थ"नित्यलब्धस्वरूपत्वेऽपीत्यादि"भाष्येणेत्यर्थः । प्रतिवचनदशायामित्यनेनैतस्या भाष्योक्तेः सिद्धान्तरूपत्व सूचितं पूर्वपक्षरूपमपि हि भवति भाष्यमिति । १२ उक्तस्य हेतोरिति—विद्याफले देवादीनां विघ्नकर्तृत्वाभावे उक्तस्य विदुषो देवाद्यात्मस्वरूपहेतोरित्यर्थः । १३. देवादीनाम् । १४ प्रयत्नस्य ।

एवं तर्हि [1]विद्याप्रत्ययसंतत्यभावाद्विपरीतप्रत्ययतत्कार्ययोश्च दर्शनादन्त्य[2] एवाऽऽत्मप्रत्ययोऽविद्यानिवर्तको न तु पूर्व इति । न [3]प्रथमेनानैकान्तिकत्वात् । यदि हि प्रथम आत्मविषयः प्रत्ययोऽविद्यां न निवर्तयति [4]तथाऽन्त्योऽपि तुल्यविषयत्वात् ।

[5]एवं तर्हि संततोऽविद्यानिवर्तको न विच्छिन्न इति । न । जीवनादौ सति संतत्यनुपपत्तेः । न हि जीवनादिहेतुके प्रत्यये सति विद्याप्रत्ययसंततिरुपपद्यतेः विरोधात् । अथ

ज्ञानस्यानन्तरफलत्वात्तत्फले देवादीनां न विघ्नकर्तृतेत्युक्तमुपेत्य [6]स्वयूथ्यः शङ्कते—एव तर्हीति । ज्ञानस्यानन्तरफलत्वे न [8]तदज्ञानं निवर्तयेदज्ञानामिव तत्त्वज्ञानामपि ब्रह्मास्मीति ज्ञानसतत्यभावात् । [9]न चाऽऽद्यमेव ज्ञानमज्ञानध्वंसि प्रागिवोर्ध्वमपि रागादेस्तत्कार्यस्य च दृष्टत्वात् । [10]अतो देहपातकालीनं ज्ञानमज्ञानं निवर्तयतीति कुतो जीवन्मुक्तिरित्यर्थं । अन्त्यज्ञानस्याज्ञाननिवर्तकत्वं [11]तत्संततेर्वा प्रथमे तस्यान्त्यत्वादात्मविषयत्वाद्वा तद्ध्वसितेति विकल्प्योभयत्र[12] [13]दृष्टान्ताभावं मत्वा द्वितीये [14]दोषान्तरमाह—न प्रथमेनेति । तदेवानुमानेन स्फोरयति—यदि हीति ।

[15]कल्पान्तरं शङ्कयति—एव तर्हीति । अविच्छिन्ना ज्ञानसंततिरज्ञानं निवर्तयतीत्येतद्दूषयति—नेत्यादिना । जीवनादिहेतुकः प्रत्ययो बुभुक्षितोऽहं भोक्ष्येऽहमित्यादिलक्षणः । तस्य [16]बुभुक्षाद्युपप्लुतस्य ब्रह्मास्मीत्यविच्छिन्नप्रत्ययसंततेश्च विरुद्धतया यौगपद्यायोगे हेतुमाह—विरोधादिति । प्रत्ययसततिमुप-

---

देवताओ के आत्मत्व को प्राप्त हो जाने वाले ब्रह्मज्ञानी के प्रति (विघ्न करने मे उनका प्रयत्न सफल) नही होता क्योंकि इसके लिए उन्हे अवसर मिलना ही असम्भव है ।

(वेदान्त्येकदेशी शङ्का करता है—) यदि ऐसी बात है तो विद्यावृत्ति के सजातीयप्रवाह का अभाव होने से तथा विपरीतवृत्ति और उसका कार्य देखा जाने से मरणकालीन आत्माकारवृत्ति ही अविद्या की निवृत्ति करने वाली हो सकती है, पूर्व की नही । (सिद्धान्ती समाधान देता है—) ऐसा कहना ठीक नही, क्योकि प्रथम आत्मप्रत्यय की तरह मरणकालीनप्रत्यय भी व्यभिचारी हो सकता है । यदि आत्मविषयक प्रथमप्रत्यय अविद्या की निवृत्ति नही करता, तो अन्तिमप्रत्यय भी नही करेगा, क्योकि दोनो का विषय समान है ।

उक्त रीति से चिराभ्यस्त प्रत्यय ही अविद्या का निवतक हो सकता है, विच्छिन्न नहीं । (इस का समाधान करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नही । क्योकि जीवनादि के रहते हुए आत्माकारवृत्ति का

---

१ सजातीयप्रवाहेत्यर्थ । २ मरणकालीन । ३ प्रथमेनेति—आद्यज्ञानमादाय हेतोरनैकान्तिकत्वादित्यर्थ । अन्त्याया बुद्धेरविद्यानिवर्तकत्वमाद्यायास्तु नेति व्यवस्थायामात्मविषयत्वहेतोराद्यबुद्धावनैकान्तिकतेति यावत् । ४ तथान्त्योऽपीति—ता न निवर्तयतीति शेष । तथाचाय प्रयोग विमतोऽविद्याऽनिवर्तक आत्मविषयत्वाद् आद्यप्रत्ययवदिति । ५ एव तर्हीति—उक्तरीत्याऽन्त्यज्ञानस्याज्ञानानिवर्तकत्वेऽपीत्यथ । सतत चिराभ्यस्त प्रत्यय । ६ वेदान्त्येकदेशी । ७ अनन्तरफलकज्ञानम् । ८ तत् तन्निवर्तयतीत्युक्तवन्त प्रति आद्यमन्त्य वेति विकल्प्याऽन्त्य स्वीकुर्वन्नाऽऽद्य दूषयति—न चेति । ९ प्रवृत्त्यादे । १० पारिशेष्यात् । ११ अन्त्यज्ञानप्रवाहस्य । १२ अन्त्यत्वात्मविषयत्वयो । १३ दृष्टान्ताभावमिति—न चान्त्यज्ञानत्वहेतुकानुमाने रजतभ्रमवतो निधनकालीन शुक्तिज्ञानमुदाहरण तस्य ससारहेत्वज्ञानानिवर्तकत्वात् । न चैव ब्रह्मज्ञानादज्ञाननिवृत्तौ दृष्टान्तासिद्धि आगमात्तत्सिद्धौ क्वचित्तदुपन्यासस्य तु लोकदृष्टयनुसारित्वादिति द्रष्टव्यम् । १४ अज्ञानानिवर्तकत्वाख्य दोषान्तरम् । १५ सन्ततिपक्षम् । १६ बुभुक्षादिगोचरस्य ।

जीवनादिप्रत्ययतिरस्करणेनैवाऽमरणान्ताद्विद्यासंततिरिति चेन्न । प्रत्ययेयत्तासंतानानवधारणाच्छास्त्रार्थानवधारणदोषात् । इयतां प्रत्ययानां संततिरविद्याया निवर्तिकेत्यनवधारणाच्छास्त्रार्थो नावध्रियेत । तच्चानिष्टम् ।

संततिमात्रत्वेऽवधारित एवेति चेत्, न, आद्यन्तयोरविशेषात् । प्रथमा विद्याप्रत्ययसंततिर्मरणकालान्ता वेति विशेषाभावादाद्यन्तयोः प्रत्यययोः पूर्वोक्तो दोषो

पादयन्नाशङ्कते—अथेति । उक्तरीत्या प्रत्ययसंततिमुपेत्य दूषयति—नेत्यादिना । तमेव दोषं विशदयति—इयतामिति । शास्त्रार्थो ज्ञानसंततिरज्ञानं निवर्तयतीत्येवमात्मकः ।

आत्मेत्येवोपासीतेति श्रुतेरात्मज्ञानसंततिमात्रसद्भावे ततो विद्याद्वाराऽविद्याध्वस्तिरिति शास्त्रार्थनिश्चयसिद्धिरित्याह—संततीति । आत्मधीसंततेः सत्त्वेऽपि न साऽऽत्मविषयत्वाद्विद्याद्वाराऽविद्यां निवर्तयति । आद्यद्वित्रिक्षणस्यात्मधीसंततौ व्यभिचारादिति परिहरति—नाऽऽद्यन्तयोरिति । पूर्वस्मिन्प्रत्यये नाविद्यानिवर्तकत्वमन्त्ये तु तथेत्युक्ते तस्यान्त्यत्वात्तथात्वं चेद् दृष्टान्ताभावः । आत्मविषयत्वात्तथात्वे प्रथमप्रत्यये व्यभिचारः स्यादित्युक्तो दोषो । आद्या संततिर्नाविद्याध्वसिनी । अन्त्या तु तथेत्यङ्गीकारेऽपि विशेषाभावादन्त्यत्वात्तस्या निवर्तकत्वे दृष्टान्ताभावः । आत्मविषयत्वात्तद्भावे त्वनैकान्तिकत्वमित्येतावेव दोषौ स्यातामित्युक्तं" विवृणोति—प्रथमेति । अन्त्यप्रत्ययस्य तत्संततेश्चाविद्यानिवर्तकत्वा-

---

प्रवाह सम्भव नही है। जीवनादि की कारणभूता वृत्ति के रहते हुए बोधवृत्ति की अविच्छिन्नता सम्भव नही है, क्योकि उसमे विरोध है। यदि कहो, कि जीवनादि की हेतुभूता वृत्तियो के तिरस्कार करने से ही, मरणपर्यन्त विद्यासन्तति रहेगी—यह कहना ठीक नही है। क्योकि वृत्तियो की सख्या का निश्चय न होने से शास्त्रार्थ-अनिर्णय दोष आ जायगा। अर्थात् इतनी वृत्तियो का प्रवाह अविद्या का निवर्तक है—ऐसा निर्णय न होने के कारण शास्त्रार्थ निश्चित नही होगा और यह अभिमत नही है।

सन्तति मात्र मे शास्त्रार्थ निश्चित ही है—ऐसा माने तो? ऐसा कहना ठीक नही, क्योकि आदिसन्तति और अन्तिमसन्तति मे कोई अन्तर नही है, बोधवृत्ति की प्रथमसन्तति हो अथवा मरणकाल मे उत्पन्न अन्तिमसन्तति हो, इन प्रथम और अन्तिम वृत्तियो मे कोई अन्तर न होने के कारण

---

१. सख्या। २ निश्चियेत। ३ ईदृशी (इयत्सख्याका) सततिर्ज्ञानद्वाराऽज्ञानध्वसिनीति शास्त्रार्थनिश्चये का क्षतिरित्याशङ्क्य शास्त्राऽप्रामाण्यप्रसक्तिरित्याह—तच्चानिष्टमिति। शास्त्रार्थानवधारण च न कस्याप्यभिमतमित्यर्थः। ४ निश्चित एव शास्त्रार्थ इत्यर्थ। ५ मरणकाले जाता या अन्तिमा। ६ अवधारिते सति। ७ द्वित्रिक्षणस्थायिन्यामाद्यायाम्। ८ आद्यद्वित्रिक्षणेत्यत्र आद्यद्वित्रक्षणेत्यव युक्त पठितुम्। ९. दृष्टान्ताभाव इति—न च दृष्टान्ताभावेऽपि व्यतिरेकव्याप्त्या यथोक्तहेतूनामन्यतमेन विवक्षित साध्यमनुमेयमिति वक्तु युक्तमात्मविषयज्ञानत्वस्य तथाविधज्ञानसततित्वस्य च विपक्षवृत्तित्वादन्त्यज्ञानत्वस्य तथाविधसततित्वस्य चासिद्धे। तदुक्तम्—'मरणेऽपि न विश्वासो हिक्किकावशवर्तिन.। ज्ञानसततिनिष्पत्तौ तमोमात्रसमाप्तित" ॥१५२०॥ इति। हिक्किकादिमरणाव्यभिचारचिह्नवतोऽतिनिविडे तमोमात्रे मग्नत्वादवश्यभाविनि मरणेऽपि न निश्चय (मरिष्याम्यहमित्यपि न भवत्यवगम मूर्च्छाग्रस्तत्वात्) आत्मधीतत्सततौ तु का वार्तेति भावः॥ १०. प्रत्ययपक्षोक्तो दोषो सततिपक्षेऽपि तुल्यावित्याशयेनाऽऽह—आद्या सततिरिति। ११. आद्यन्तयोरिति सङ्ग्रहवाक्यमेोक्तमर्थम्।

प्रसज्येयाताम् । एवं तर्ह्यनिवर्तक एवेति चेन्न, "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इति श्रुतेः । "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" "तत्र को मोहः" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च[2] ।

अर्थवाद इति चेन्न । सर्वशाखोपनिषदामर्थवादत्वप्रसङ्गात् । एतावन्मात्रार्थत्वोपक्षीण[3] हि सर्वशाखोपनिषदः । प्रत्यक्षप्रमितात्मविषयत्वादस्त्येवेति चेन्न । उक्तपरिहारत्वात्[4] । अविद्याशोकमोहभयादिदोषनिवृत्तेः[5] प्रत्यक्षत्वादिति[6] चोक्तः परिहारः । तस्मादाद्योऽन्त्यः[7] संततोऽसंततश्चेत्यचोद्यमेतत्[8] । अविद्यादिदोषनिवृत्तिफलावसानत्वा-

संभवे प्रथमस्यापि रागाद्यनुवृत्त्या तद्योगाज्ज्ञानमज्ञानानिवर्तकमेवेति चोदयति—एव तर्हीति । श्रुतिविरोधेन परिहरति—न तस्मादिति ।

तासामर्थवादत्वेनाविवक्षितत्वं[9] शङ्कते—अर्थवाद इति चेदिति । अतिप्रङ्गेन दूषयति—न सर्वेति । यथोक्तश्रुतीनामर्थवादत्वेऽपि कथ सर्वशाखोपनिषदा तत्त्वप्रसक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—एतावदिति । एतावन्मात्रार्थत्वमात्मज्ञानात्तदज्ञाननिवृत्तिरित्येतावन्मात्रस्यार्थस्य सद्भाव । "अहधीगम्ये प्रतीचि तासां प्रवृत्ते संवादविसवादाभ्या मानत्वायोगादस्त्येवार्थवादतेति प्रसङ्गस्येष्टत्व शङ्कते—प्रत्यक्षेति । प्रमातुरहंधीगम्यता नाऽऽत्मन[11]स्तत्साक्षिणस्तस्य वेदान्ता ब्रह्मत्वं बोधयन्तीति न संवादादिशङ्केत्याह—नोक्तेति । विद्वदनुभवमाश्रित्यापि फलश्रुतेरर्थवादत्वं समाहितमित्याह—अविद्येति । आत्मज्ञानस्य तदज्ञाननिवर्तकत्वे स्थिते परमतस्य निरवकाशत्वं फलतीत्याह—तस्मादिति । चोद्यस्यानवकाशत्वमेव विशदयति—अविद्यादीति ।

पूर्वोक्त दोनो दोषो की प्रसक्ति होगी । तब तो आत्माकारवृत्ति अविद्या की निवृत्ति करती ही नही, ऐसा कहे तो । (सिद्धान्ती समाधान करता है—) ऐसा कहना ठीक नही क्योकि "वह सर्वरूप हो गया" इस श्रुति से तथा "हृदयग्रन्थि टूट जाती है", "उस अवस्था मे मोह कहाँ रहा ?" इत्यादि श्रुतियो से (ज्ञान द्वारा अविद्यानिवृत्ति) सिद्ध होती है ।

यदि कहो कि ये श्रुतियाँ अर्थवादपरक हैं—तो ऐसा कहना ठीक नही । क्योकि ऐसे मे तो समस्त शाखाओ की उपनिषदो के अर्थवाद होने का प्रसग हो जाएगा । समस्त शाखाओ की उपनिषदें इतना मात्र बोधन कराने मे तात्पर्य वाली है । प्रत्यक्ष प्रमाण आत्मविषयक होने के कारण उनमे अर्थवादत्व है ही—ऐसा कहना नही बनता, क्योकि इसका परिहार पहले ही किया जा चुका है । अविद्या शोक, मोह-भयादि दोषो की निवृत्ति विद्वानो द्वारा अनुभवसिद्ध है, इससे उसका परिहार यह पूर्व

१ आत्मज्ञानादित्यर्थं । २ श्रुतिभ्यश्चेति—विद्वदनुभवविरोधसमुच्चयार्थश्चकार. । तदुक्तम्—"न चानिवर्तकं ज्ञान प्रत्यङ्मोहस्य युज्यते । स्वानुभूतिविरुद्धत्वादग्निदाहादिबोधवत्" ॥१५२३॥ इति । [illegible] न शीतलमित्यादिप्रयोगे अग्नेर्दाहकत्वमम्भस शीतलत्वमित्यादिस्वानुभवादेव बाधवदात्मधीरपि [illegible] गीविद्वदनुभवविरुद्धेत्यर्थं ॥ ३ एतावन्मात्रार्थबोधकत्वेनैव चरितार्था एतावत्येव तात्पर्यं [illegible] इति यावत् । ४ २७२तमे पृष्ठे उक्तम् । ५ विद्वदनुभवसिद्धत्वात् । ६ २७०तमे पृष्ठे [illegible] । ७ [illegible] पस्याचलत्वात् । ८ चोद्यानवकाश । ९ स्वार्थातात्पर्यकत्वम् । १० [illegible] प्रत्यक्षविषयत्वाज्ज्ञानधिगतत्वम् । ब्रह्मत्वाशे तु तस्यैव विसवाद विरोध । प्रमाणविरोधे [illegible]

११ प्रमातृसाक्षिण ।

द्वितीयाः [?]य एवाविद्यादिदोषनिवृत्तिफलकृत्प्रत्यय आद्योऽन्त्यः संततोऽसंततो वा स एव विद्येत्यभ्युपगमान्न चोद्यस्यावतारगन्धोऽप्यस्ति ।

यत्तूक्तं विपरीतप्रत्ययतत्कार्ययोश्च दर्शनादिति । न, तच्छेषस्थितिहेतुत्वात् । येन कर्मणा शरीरमारब्धं तद्विपरीतप्रत्ययदोषनिमित्तत्वात्तस्य तथाभूतस्यैव 'विपरीतप्रत्ययदोषसंयुक्तस्य फलदाने सामर्थ्यमिति यावच्छरीरपातस्तावत्फलोपभोगाङ्गतया विपरीतप्रत्ययं रागादिदोषं च तावन्मात्रमाक्षिपत्येव । मुक्तेषुवत्प्रवृत्तफलत्वात्तद्धेतुकस्य कर्मणः ।

ज्ञानसततेरन्त्यज्ञानस्य वाऽज्ञानध्वंसित्वासिद्धेराद्यमेव ज्ञानं तथेत्युक्तं, संप्रति परोक्तमनुवदति —यत्तूक्तमिति । दर्शनान्नाऽऽद्यं ज्ञानमज्ञानध्वंसीति शेषः । प्रारब्धकर्मशेषस्य विद्वद्देहस्थितिहेतुत्वाद्विदुषोऽपि यावदारब्धक्षयं रागाद्याभासाविरोधात्तत्क्षये च देहाभासजगदाभासयोरभावान्नाऽऽद्यज्ञानस्याज्ञाननिवर्तकत्वानुपपत्तिरित्युत्तरमाह—न तच्छेषेति । तदेव प्रपञ्चयति—येनेत्यादिना । त[?]ब्धस्याऽऽक्षिपतीत्यनेन सबन्धः । आक्षेपकत्वं नियमं साधयति—विपरीतेति । मिथ्याज्ञानेन रागादिदोषेण च निमित्तेन प्रवृत्तत्वादिति यावत् । तथाभूतस्येत्यस्य विवरणं विपरीतप्रत्ययेत्यादि । कर्मैव षष्ठ्या विशेष्यते । तावन्मात्रं प्रतिभासमात्रशरीरम् । प्रारब्धकर्मणोऽप्यज्ञानजन्यत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वान्न ज्ञानिनस्ततो देहाभासादि संभवतीत्याशङ्क्याऽऽह—मुक्तेषुवदिति । यथा प्रवृत्तवेगस्येष्वा देवेगक्षयादेवाप्रतिबद्धस्य क्षयस्तथा भोगादेवाऽऽरब्धक्षयो 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सपद्यते' इति न्यायान्न ज्ञानादित्यर्थः । तद्धेतुकस्य विपरीतप्रत्ययादिप्रतिभासकार्यजनकस्येति यावत् ।

है । इसलिए (उक्त युक्तिकलाप के सुस्थिर होने से) प्रथम हो, चरम हो, सतत हो अथवा असतत हो, उसके विषय में शङ्का करने का कोई अवकाश ही नहीं है । क्योंकि अविद्यादि दोषों की निवृत्तिरूप फल में ही विद्या का तात्पर्य है । जो भी वृत्ति अविद्यादि दोषों की निवृत्तिरूप फलप्रदाता है, वह प्रथम, चरम, सतत या असतत हो, वही विद्या है—ऐसा मानने से शङ्का करने का प्रसग ही उपस्थित नहीं होता ।

और यह जो कहा गया कि विपरीत-प्रत्यय और उसका कार्य देखे जाने से आत्मज्ञान अविद्याध्वसक है, वह कहना ठीक नहीं । क्योंकि वह तो प्रारब्धशेष के विद्यमान रहने का कारण है । जिस कर्म से प्रेरित होकर शरीर का आरम्भ हुआ है वह विपरीत-प्रत्यय और दोषयुक्त होने के कारण उसके तथाभूत होने से ही विपरीत-प्रत्यय और (जन्मान्तरीय) रागादिसस्काररूप दोष से सयुक्त रहकर ही फलसम्पादन में सामर्थ्य है, इसलिए जब तक मृत्यु नहीं आती तब तक फलोपभोग की प्रयोजकतारूप से उतना मात्र तो विपरीत-प्रत्यय और रागादिदोष हो ही जाता है । क्योंकि (तरकस से) छोड़े गये

१ जन्मान्तरीयरागादिसस्काररूपदोषसहकृतस्य । २ प्रयोजकतया । ३ येन विना यदनुपपन्नमिति न्यायात् । ४ हेतुत्वमेव । ५ नियममिति—आक्षेपत्वयत्वकारगम्य नियममित्यर्थ । ६ फलरूपेण निमित्तेनेत्यर्थ । ७ आदिना कुलालचक्रादि । ८ कुड्यादिप्रतिबन्धशून्यस्य । ९ भोगेन त्वितरे क्षपयित्वेति—सचितकर्मणां ब्रह्मज्ञानेन नाश उक्त । इतर आरब्धकार्ये पुण्यपापे तु भोगेन क्षपयित्वा विद्वान् ब्रह्म सम्पद्यते । अथ सम्पत्स्ये सपत्स्यते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्यादिश्रुतिभ्य इत्यर्थ । १० बृ० उ० ४-१-१६ ।

तेन न तस्य निर्वर्तिका विद्याऽविरोधात् । किं तर्हि स्वाश्रयादेव स्वात्मविरोध्यविद्याकार्यं यदुत्पित्सु तन्निरुणद्ध्यनागतत्वादतीतं हीतरत् ।

किंच नेच विपरीतप्रत्ययो विद्यावत उत्पद्यते । निर्विषयत्वात् । अनवधृतविषयविशेषस्वरूपं हि सामान्यमात्रमाश्रित्य विपरीतप्रत्ययोऽवभासमान उत्पद्यते । यथा

ननु ज्ञानमनारब्धकर्मवदारब्धमपि कर्म कर्मत्वाविशेषान्निवर्तयिष्यति नेत्याह—तेनेति । अविद्यालेशेन सहाऽऽरब्धस्य कर्मणो विद्या निर्वर्तिका न भवतीत्यत्र हेतुमाह—अविरोधादिति । न हि ज्ञानावारब्धं कर्म क्षीयते तदविरोधित्वाद्विद्यालेशाच्च तदवस्थितेरन्यथा जीवन्मुक्तिशास्त्रविरोधादिति भावः । आरब्धस्य कर्मणो ज्ञानानिवर्त्यत्वे ज्ञानं कर्मनिवर्तकमिति कथं प्रसिद्धिरित्याह—किं तर्हीति । प्रसिद्धिविषयमाह—स्वाश्रयादिति । ज्ञानविरोधि यदज्ञानकार्यमनारब्धं कर्म ज्ञानाश्रयप्रमात्राद्याश्रयादज्ञानात्फलात्मना जन्माभिमुखं तन्निवर्तकं ज्ञानमिति प्रसिद्धिरविरुद्धेत्यर्थः । विमतं न ज्ञाननिवर्त्यं कर्मत्वादारब्धकर्मवदित्यनुमानादनारब्धमपि कर्म न ज्ञाननिरस्यमित्याशङ्क्याऽऽह—अनागतत्वादिति । अनारब्धं कर्म फलरूपेणाप्रवृत्तत्वादप्रवृत्तेन ज्ञानेन निवर्त्यम् । आरब्धं तु कर्म फलरूपेण जातत्वात्तद्भोगादृते न निवृत्तिमर्हति । अनुमानं त्वागमापबाधितमप्रमाणमित्यर्थः ।

नन्वनारब्धकर्मनिवृत्तावपि विदुषश्चेदारब्धकर्म न निवर्तते तथाच यथापूर्वं विपरीतप्रत्ययादिप्रवृत्तेर्विद्वदविद्वद्विशेषो न स्यादत आह—किंचेति । हेतुसिद्ध्यर्थं विपरीतप्रत्ययविषयं विशदयति—अनवधृतेति । संप्रति विद्वद्विषये विषयाभावाद्विपरीतप्रत्ययस्यानुत्पत्तिमुपन्यस्यति—स चेति । आशय-

---

बाण के समान शरीर आरम्भककर्म फलप्रदान में प्रवृत्त हो चुका है।

अत आरब्धकर्मस्थापक अविद्यालेश के साथ आरम्भक-कर्म की विद्या-निवर्तिका नहीं है क्योंकि उसके साथ उसका विरोध नहीं है। तो वह किसे निवृत्त करती है, स्वाश्रित होने के कारण जो ज्ञानस्वरूप का विरोधी अविद्या का कार्य उत्पन्न होने वाला होता है, उसे ही वह रोकता है, क्योंकि वह अनागत है और प्रारब्ध तो अतीत है।

इसके अतिरिक्त, विद्वान् को विपरीतप्रत्यय नहीं हो सकता, क्योंकि उसमे विपरीतप्रत्यय के विषय का अभाव रहता है। अनवधारण विषय वाले विशेषस्वरूप का धर्मिस्वरूप मात्र को आश्रित करके उत्पन्न होने वाला विपरीतप्रत्यय ही उत्पन्न होता है, जैसे शुक्ति में रजत। और जिस विषय के ग्रह्यारमैक्यरूप विशेष का निश्चय हो गया है, उसे सम्पूर्ण विपरीतप्रत्यय के, आश्रय का बाध होने के

---

१. तेनेत्यादि। तेन—आरब्धकर्मस्थापकेनाविद्यालेशेन सह, तस्य—आरब्धस्य कर्मणः। २. अविरोधादिति—फलरूपेणाऽऽरब्धकर्मणो जातत्वात्पृथक्तस्य रूपाभावाच्च न तन्निवर्तकं ज्ञानमित्यपि द्रष्टव्यम्। तदुक्तम्—"अतीतत्वाच्च तद्वाक्यं नालमात्मावबोधनम्" ॥१५३०॥ इति। अतीतत्वाद् फलरूपेण परिणततया कर्मत्वविगमादिति यावत्। ३ ज्ञानस्वरूपविरोधि। ४. अनागतत्वादिति—एतेन तस्य ज्ञानकाले पश्चाच्च सम्भवो दर्शित इति बोध्यम्। ज्ञानोत्तरकालीन त्वागामिपुण्यपापात्मकं कर्म न ज्ञानावरोध्यमविरोधात्। फलं तु तदीय विद्वत्स्तावकनिन्दकानां भवतीति बोध्यम्। ५. विदुषि, विपरीतप्रत्ययविषयाभावात्। ६. अनवधारणविषयो विशेषस्वरूपं यस्य। ७ धर्मिस्वरूपमात्रम्। ८. ज्ञानस्य। ९. विशेषाकि-प्रधानात्। १०. संचितम्।

शुक्तिकायां रजतमिति, स च विषयविशेषावधारणवतोऽशेषविपरीतप्रत्ययाशयस्योपमर्दितत्वान्न पूर्ववत्संभवति। शुक्तिकादौ सम्यक्प्रत्ययोत्पत्तौ पुनरदर्शनात्।

क्वचित्तु विद्यायाः पूर्वोत्पन्नविपरीतप्रत्ययजनितसंस्कारेभ्यो विपरीतप्रत्ययावभासाः स्मृतयो जायमाना विपरीतप्रत्ययभ्रान्तिमकस्मात्कुर्वन्ति। यथा विज्ञातदिग्विभागस्याप्यकस्माद्दिग्विपर्ययविभ्रमः।

सम्यग्ज्ञानवतोऽपि चेत्पूर्ववद्विपरीतप्रत्यय उत्पद्यते सम्यग्ज्ञानेऽप्यविस्रम्भाच्छास्त्रार्थविज्ञानादौ प्रवृत्तिरसमञ्जसा स्यात्सर्वं च प्रमाणमप्रमाणं संपद्येत। प्रमाणा-

---

स्यागृहीतविशेषस्य सामान्यमात्रस्याऽऽलम्बनस्येति यावत्। आश्रयस्येति पाठेऽप्ययमेवार्थः। 'विदुषो विपरीतप्रत्ययादिप्रतिभासेऽपि न यथापूर्वं तत्सत्त्वं "यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वमित्यादिन्यायविरोधादिति मत्वोक्तम्—न पूर्ववदिति। "तत्रानुभवं प्रमाणयति—शुक्तिकादाविति।

यथाऽज्ञानवतो विपरीतप्रत्ययभावोऽनुभूयते तथा "तद्वतोऽपि क्वचिद्विपरीतप्रत्ययो दृश्यते "तथा च कथं तवानुभवविरोधो न प्रसरेदित्याशङ्क्य परोक्षज्ञानवति विपरीतप्रत्ययसत्त्वेऽपि नापरोक्षज्ञानवति तद्दाढ्यमित्यभिप्रेत्याऽऽह—क्वचित्त्विति। परोक्षज्ञानाधारः सप्तम्यर्थः। पञ्चमी त्वपरोक्षज्ञानार्था। "अकस्मादित्यज्ञानातिरिक्तक्लृप्तसामग्र्यभावोक्तिः।

विदुषो मिथ्याज्ञानाभावमुक्त्वा विपक्षे दोषमाह—सम्यगिति। तत्पूर्वकमनुष्ठानमादिशब्दार्थः। सम्यग्ज्ञानाविस्रम्भे दोषान्तरमाह—सर्वं चेति। ज्ञानादज्ञानध्वंसे तदुत्थमिथ्याज्ञानस्य सविषयस्य

कारण उसका पूर्ववत् होना सभव नही है। जैसे शुक्तिकादि मे, उनका सम्यक्प्रत्यय हो जाने पर फिर भ्रम-बुद्धि नही होती।

परन्तु कहीं-कहीं (परोक्षज्ञान वाली) विद्या से पूर्वोत्पन्न विपरीतप्रत्ययजनित सस्कारों से विपरीतप्रत्ययाकार की तरह भासने वाली स्मृतियाँ उत्पन्न होकर अचानक विपरीतप्रत्यय की भ्रान्ति पैदा कर देती हैं। जैसे दिशा विभाग जानने वाले को भी अचानक दिशा की भ्रान्ति हो जाती है।

यदि सम्यक्ज्ञान-वाले पुरुष को भी पूर्ववत् विपरीत-प्रत्यय हो जाए तो सम्यक्ज्ञान मे भी अविश्वास हो जाने पर शास्त्रार्थविज्ञान (तत्पूर्वक श्रवणकर्मानुष्ठान) आदि मे प्रवृत्ति होनी असभव हो जाए और तब तो सारी प्रमिति, अप्रमिति हो जाए। क्योंकि (उभयस्थान मे अविश्वास की समानता

---

१. ब्रह्मात्मैक्यं विशेषः। स्वरूपमात्र तु सामान्यम्। २ परोक्षज्ञानवति। ३ प्रत्ययाकाराः। ४ प्रमिति। ५ अप्रमिति। ६ उभयत्राविस्रम्भस्य तुल्यत्वात्। ७ विषयस्य। ८ मन्वस्मदादेरिव विदोऽपि रागादिरनुवर्तते तत्कार्यदोषदर्शनादित्याशङ्क्याऽऽह—विदुष इति। तथाच वार्तिकम्—"आगमाद्वेद चेद्ब्रह्म ब्रह्मैव भवतीति हि। फलावस्थस्य च सतः कुतो रागादिसंप्लुतिः" ॥१५४०॥ इति। ब्रह्माहमस्मीति श्रुतेर्ज्ञानतो ब्रह्मभावस्याऽवश्यकत्वाद्ब्रह्मभूतस्य रागाद्यसंस्पर्शान्न तस्य यथापूर्वं तत्कार्यमस्तीत्यर्थः॥ ९. अनुवर्तमानत्वम्। १० यस्य तु यथापूर्वमिति—उक्तं ह्येतच्चतुःसूत्रीभाष्योपान्ते भगवता भाष्यकृता "तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम्। यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं नासाववगतब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यमिति पञ्चदशतममन्त्रटीकायामस्य ब्राह्मणस्थस्य। ११. विदुषि विपरीतप्रत्ययाद्यनुत्पत्तौ। १२ ज्ञानवतोऽपि। १३. विदुषि विपरीतप्रत्ययसत्त्वे। १४. न कस्मादपि भवतीत्यकस्मात् परोक्षज्ञानिन्यप्यज्ञानं तु नास्ति तदतिरिक्तकारणाभावश्चोक्तोऽकस्मादिति। १५ श्रवणादे।

तस्य [1]कर्तृत्वाद्युपपत्तेः । यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदिति हि वक्ष्यति । 'अनन्यत्सद्वस्त्वात्माख्यं' यत्राविद्यायां सत्यामन्यदिव स्यात्तिमिरकृतद्वितीयचन्द्रवत्तत्राविद्याकृतामेककारकापेक्षं दर्शनादिकर्म' तत्कृतं 'फलं च दर्शयति तत्रान्योऽन्यत्पश्येदित्यादिना । यत्र पुनर्विद्यायां सत्यामविद्याकृतानेकत्वभ्रमप्रहाणं तत्केन कं पश्येदिति कर्मासंभवं दर्शयति । 'तस्मादविद्यावद्विषय एव ऋणित्वं कर्मसंभवान्नेतरत्र ।

'एतच्चोत्तरत्र 'व्याचिख्यासिष्यमाणैरेव वाक्यैर्विस्तरेण प्रदर्शयिष्यामः । तद्यथेहैव

यत्रेति । वक्ष्यमाणवाक्यार्थं प्रकृतोपयोगित्वेन कथयति—अनन्यदिति । ऋणित्वं विदुषो नेत्युक्तं व्यक्तीकर्तुं तस्य नास्ति कर्तृत्वादीत्यत्रापि प्रमाणमाह—यत्र पुनरिति । विद्यायां सत्यामविद्यायास्तत्कृतानेकत्वभ्रमस्य च प्रहाणं यत्र संपद्यते तत्र तस्मादेव "कारणात्तत्केनेत्यादिना कर्मादेरसंभवं दर्शयतीति योजना । प्रमाणसिद्धमर्थं निगमयति—तस्मादिति ।

अविद्याविषयमृणित्वमित्येतत्प्रपञ्चपरविद्यासूत्रमवतारयति—एतच्चेति । तदृणित्वमविद्याविषयं यथा स्फुटं भवति तथाऽथ योऽन्यामित्यादावनन्तरग्रन्थ एव कथ्यते प्रथममित्यर्थः । तदक्षराणि

होता ।", "(मैंने शुभकर्म क्यों नहीं किया और पापकर्म क्यों किया) इस प्रकार की चिन्ता केवल इस विद्वान् को सतप्त नहीं करती " "(उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला) विद्वान् भयभीत नहीं होता ।" इत्यादि श्रुतियों और "ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है" इत्यादि स्मृतियों से भी यही सिद्ध होता है ।

यह जो कहा कि (विद्वान् विद्याफलप्राप्ति में देवादि-) ऋणों से बँधा हुआ है । ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऋण अविद्या की तरह विषय है । ऋणी वही मनुष्य है, जो अविद्यायुक्त है, क्योंकि उसीमे कर्तृत्व (भोक्तृत्व) आदि अभिमान सभव है । "जिस जाग्रत् या स्वप्न अवस्था में आत्मा से भिन्न अन्य सी वस्तु होती है, वहाँ ही अन्य, अन्य को देखता है" ऐसी श्रुति भी है । सर्वाभिन्न, त्रिविधभेदशून्य, सत वस्तु आत्मा है, वह तिमिररोग से भासनेवाले द्वितीय चन्द्र के समान, जहाँ अविद्यावस्था मे अन्य के समान होती है, वहीं, "अन्य अन्य को देखता है" इत्यादि वाक्य से श्रुति अनेक कारको की अपेक्षा वाली दर्शनादिक्रिया और उससे होने वाले कर्तृत्वादिफल को भी दिखाती है । किन्तु जहाँ अविद्यावस्था मे अविद्याजनित नानात्वभ्रम का नाश हो जाता है, वहाँ "किससे किसको देखे" यह श्रुति कर्म की अनुपपत्ति दिखाती है । हमारे द्वारा कहा गया अर्थ प्रामाणिक होने के कारण अविद्वान् ही ऋणित्व है, क्योंकि उसी के द्वारा कर्म सभव है, विद्वान् से नहीं ।

इसी बात को, (ऋणित्व का अविद्यावद्विषयत्व होना) जिन श्रुतिवाक्यों की व्याख्या करने की हमारी इच्छा है, उनसे विस्तारपूर्वक दिखलाएँगे ।

जिस प्रकार यहीं यह बात कही गयी है कि जो ब्रह्मज्ञानविहीन अन्य अपने से भिन्न जिस किसी देवता की उपासना करता है; स्तुति, नमस्कार, याग, बलि, उपहार, भक्ति और ध्यानादि के

१. कर्तृत्वाद्यभिमानोपपत्तेः । २ सर्वाभिन्नम् । ३ त्रिविधभेदशून्यम् । ४ क्रिया । ५ कर्तृत्वादि । ६. अस्मदुक्तार्थस्य प्रामाणिकत्वात् । ७ ऋणित्वस्याविद्यावद्विषयत्वम् । ८ अविदुषि कर्तृत्वादिसाधकत्वेन । ९. काले । १०. अविद्यातत्कार्याभावात् ।

तावत्—*अथ यः कश्चिदब्रह्मविदन्यामात्मनो व्यतिरिक्तां यां कांचिद्देवतामुपास्ते स्तुतिनमस्कारयागबल्युपहारप्रणिधानध्यानादिनोपास्ते तस्या गुणभावमुपगम्याऽऽस्ते। अन्यो-

व्याकरोति—अथेत्यादिना। विद्यासूत्रानन्तर्यमविद्यासूत्रस्या (स्या) थशब्दार्थः। यागो गन्धपुष्पादिना पूजा। बल्युपहारो नैवेद्यसमर्पणम्। प्रणिधानमैकाग्र्यम्। ध्यानं तत्रैवानन्तरितप्रत्ययप्रवाहकरणम्। आदिपदं प्रदक्षिणादिग्रहणार्थम्। भेददर्शनमत्रोपासनं 'न शास्त्रीयमित्यभिप्रेत्यैतदेव' 'विवृणोति—

द्वारा उसकी उपासना करता है अर्थात् उसके दास्यभाव को प्राप्त होकर रहता है, वह उपास्य देवता अन्य अनात्मा मुझसे पृथक् है, तथा उपासना का अधिकारी मैं इससे भिन्न हूँ, मुझे ऋणी के समान इसका प्रत्युपकार करना चाहिए। इस प्रकार भेदबुद्धि से अभिनिविष्ट चित्तवाला वह उपासना करता

१. अथेति—विद्याप्रकरणादविद्याप्रकरणस्य विभागं द्योतयितुमथशब्दः। तदुक्तं वार्तिके—"प्रवृत्तंकात्म्यविद्याया व्युत्थानायाथगीरियम्। न हि सगच्छते विद्याऽविद्यायोगं विरोधतः" ॥१५६६॥ इति। विरोधतो निवर्त्यनिवर्तकभावादित्यर्थः॥ २ दास्यं प्राप्य। ३ न शास्त्रीयमिति—न स वेद इति वाक्यशेषादिति भावः। अपितु लौकिकमेवेति शेषः। न चोपासनशब्दो लौकिकभेददर्शने न प्रयुज्यत इति वाच्यं राजानमुपास्त इत्यादौ दर्शनादिति भावः। ४ उपासनमेव। ५ स्पष्टयति।

*अथ यो॰ इत्यादि। अत्र वार्तिकानि चत्वारि सन्ति। तथाहि—"विद्वांसं प्रति नेशाना यदि देवादयो मताः। कस्मिन्विषय ऐश्वर्यं तेषां स्यात्सोऽधुनोच्यते॥ प्रामाण्यं कर्मकाण्डस्य यस्मिन्विषय इष्यते। अविद्याविषयं साक्षादयं योऽन्यामितीर्यते॥ सम्यग्ज्ञानसमुत्पत्तौ कर्मकार्यसमाप्तितः। नापेक्षा कर्मकाण्डे स्यात्तत्प्रामाण्यकृतार्थतः॥ प्रवृत्तंकात्म्यविद्याया व्युत्थानायाथगीरियम्। न हि सगच्छते विद्याऽविद्यायोगं विरोधतः"॥ १५६३-१५६६॥ इति। मनुष्याणां पशुलोकत्ववचनेऽपि देवादिभिस्तद्विद्याफले मुक्तौ प्रतिबन्धो न शक्यते कर्तुं विद्या चाऽऽद्यैवाविद्याध्वंसिन्यन्त्यायास्तत्संततेश्च तदयोगाद्विदुषो रागादिदृष्टेश्चाऽऽभासत्वात्तत्फलभावश्यकमित्युक्तमिदानीं देवादीनां विदुष्यस्वातन्त्र्ये कुत्र स्वातन्त्र्यमिति पृच्छति—विद्वांसमिति। अथ योऽन्यामित्याद्यवतारयति—सोऽधुनेति। अब्रह्मविदि निग्रहानुग्रहस्वातन्त्र्यं देवादीनां प्रपञ्च्यतेऽनन्तरवाक्येनेत्यर्थः॥ आविद्ये साध्यसाधनत्वादौ कर्मश्रुतेर्मानत्वं चोच्यत तेनैवेत्यर्थान्तरमाह—प्रामाण्यमिति। प्रत्यक्षादेरागमेतरप्रमाणस्याविद्याविषये प्रामाण्यवदिति दृष्टान्तद्योतनार्थं साक्षादित्युक्तम्॥ नन्वाविद्ये कर्मादौ न तत्प्रामाण्यं विदुषोऽपि कर्मापेक्षत्वान्न हि कश्चित्क्षणमपीत्यादिस्मृतेः श्रुतयोऽपि समुच्चितं ज्ञानं मुक्तिहेतुमाहुस्तत्राह—सम्यगिति। ऐक्यज्ञाने स्वर्गादेर्बाधितत्वात्कर्मकाण्डे तदर्थं वा विदुषो नास्त्यपेक्षा कृत्याभावाज्ज्ञानात्प्रागेव तत्प्रामाण्यस्य व्यावहारिकस्य सिद्धत्वादित्यर्थः। अथवा सति ज्ञाने कर्मकार्यस्य बुद्धिशुद्धेस्तद्धेतोरादावेव लब्धत्वात्तत्कर्मकाण्डप्रामाण्यस्य चरितार्थत्वान्न पुनस्तस्मिन्नपेक्षा युक्ता फलमानयोरभावाज्जनकादेस्तु बाधितं कर्म प्रदर्शितं 'न मे किंचन दह्यते' इत्यादिस्मृतेः। त्वदुक्तस्मृतिस्त्वज्ञविषया 'तस्य कार्यं न विद्यते' इति च वक्ष्यति 'कुर्याद्विद्वानिति' चाज्ञं प्रवर्तयितुमेवोक्तं 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' इत्यादिदर्शनात्, समुच्चयवचनानि च क्रमसमुच्चयार्थानि अन्यथा 'नान्यः पन्था' 'न कर्मणे'त्यादिनिषेधश्रुतिविरोधो भवेत्तस्मादाविद्ये कर्मादौ कर्मश्रुतेर्मानतेति भावः। नन्वाविद्यविषयत्वे तस्या रूप्यादिधीवदमानतेत्याशङ्क्य व्यावहारिकमानत्वस्याध्यक्षादिवदुपपत्तेर्नैवमित्याह—तदिति। रूप्यादिधीस्तु न ज्ञानमविद्या वेदैः सह भ्रम इत्युपगमादिति द्रष्टव्यम्॥ अब्रह्मविदि देवादिस्वातन्त्र्यमाविद्ये च कर्मादौ कर्मकाण्डप्रामाण्यमित्यर्थद्वयं वक्तुमुत्तरं वाक्यमिति तात्पर्यमुक्त्वाऽथशब्दार्थमाह—प्रवृत्तेति। प्रकृतादुत्तरस्य विच्छेदकरणे हेतुमाह—न हीति। विरोधत इति निवर्त्यनिवर्तकभावादित्यर्थः॥

ऽसावनात्मा मत्त. पृथगन्योऽहमस्म्यधिकृता मयाऽस्मा ऋणिव'त्प्रतिकर्तव्यमित्येवंप्रत्ययः सन्नुपास्ते 'न स 'इत्थंप्रत्ययो 'वेद विजानाति तत्त्वं न स केवलमेवंभूतोऽविद्वानविद्या-दोषवानेव 'किं तर्हि ,यथा पशुर्गवादिर्वाहनदोहनाद्युपकारैरुपभुज्यत एव स इज्याद्यनेको-पकारैरुपभोक्तव्यत्वादेकैकेन देवादीनाम् । अत. पशुरिव सर्वार्थेषु कर्मस्वधिकृत.इत्यर्थ. ।

एतस्य ह्यविदुषो वर्णाश्रमादिप्रविभागवतोऽधिकृतस्य कर्मणो विद्यासहितस्य केवलस्य च शास्त्रोक्तस्य 'कार्यं मनुष्यत्वादिको ब्रह्मान्त 'उत्कर्षः । शास्त्रोक्तविपरीतस्य च "स्वाभाविकस्य कार्यं मनुष्यत्वादिक एव स्थावरान्तोऽपकर्षः । यथा चैतत्तथाऽस्य त्रयो"

अन्योऽसाविति । "तस्य मूलमाह—न स इति । वाक्यान्तरमवताय व्याचष्टे—न स केवलमिति । सोऽवि-द्वानेवमुक्तदृष्टान्तवशात्पशुरिव देवाना भवति तेषा मध्ये तस्यकैकेन बहुभिरुपकारैर्भोग्यत्वादिति योजना । पशुसाम्ये सिद्धमर्थं कथयति—अत इति ।

अथानेनाविद्यासूत्रेण किं "कृतं भवतीत्यपेक्षायामविद्याया संसारहेतुत्व सूत्रितमिति वक्तुम-विद्याकार्यं कर्मफल सक्षिपति—एतस्येत्यादिना । कर्मसहायभूता विद्या देवताध्यानात्मिका । शास्त्रीय-वत्स्वाभाविककर्मणोऽपि "द्वैविध्य सूचयितु चशब्द । "तत्र तु सहकारिणी विद्या नग्नस्त्रीदर्शनादि-रूपेति भेद. । कथ यथोक्त कर्मफलमविद्यावत स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—यथा चेति । सूत्र'द्वैविध्यसि-

---

है । ऐसी बुद्धिवाला पारमार्थिक तत्त्व को नहीं जानता । वह ऐसा अज्ञानी केवल अविद्या स होन वाल (ब्राह्मणादि) अभिमानरूप दोष से युक्त नहीं है, तो फिर कैसा है ? जिस प्रकार गाय, बैल आदि पशु दोहन और वाहनादि उपकारो से काम म लिए जाते है, उसी प्रकार वह यागादि अनेको उपकारो क कारण एक-एक दवादि का उपभोग्य होने स उनका पशु ही है । देव के उपभोग्य होने क कारण वह पशु के समान सब प्रकार क फल दने वाल कर्मो का अधिकारी है ।

इस वर्णाश्रमादि विभागवान कर्मादि म अधिकृत अज्ञानी की उपासनासहित केवल शास्त्रोक्त कर्मो का फल मनुष्यत्व से लेकर ब्रह्मत्वपर्यन्त उत्कृष्टदह की प्राप्ति होती है । तथा शास्त्रोक्त स विपरीत जो शास्त्रानाश्रय जन्मान्तरीय कर्म है उसका कार्य मनुष्यत्व से लेकर स्थावर योनियो तक अपकृष्टदेह की प्राप्ति होना है । यह जिस प्रकार है उसको हम अग्रिम ब्राह्मण (सोलहवें मन्त्र) म अध्याय के अन्त मे ' मनुष्यलोक, पितृलोक और दवलोक—य ही तीन लोक है ' इत्यादि वाक्य से सम्यक् प्रकार से प्रतिपादन करेंगे । विद्या का फल सर्वात्मभावापत्ति है, यह बात सक्षपत दिखलाई

---

१ उपास्यो देव । २ अदर्शीयोपासने । ३ प्रत्युपकर्तव्यम् । ४ भेदाभिनिविष्टचेता । ५ न स इति—अनुभवसिद्ध निखिलजगज्जनक चिदध्यस्तमनात्मव तन्मूलमिति भाव । ६ इत्थमित्यादि—भेदाभिनि-विष्टमतिर्न जानात्युपास्योपासकयो पारमार्थिक तत्त्वमित्यर्थ । ७ आविद्यब्राह्मण्याद्यभिमानवान् । ८ किं तर्हीति—पशुसदृशोऽपि भवतीति शेष । पशुसादृश्य दर्शयन् वाक्याक्षराणि व्याकरोति—यथेति । ९ देवोपभोग्यत्वात् । १० कर्मादौ । ११ उपासना । १२ फलम् । १३ उत्कृष्टदेह । १४ स्वाभाविकस्येति—स्वभाव शास्त्रानाश्रयो जन्मान्तरीय संस्कार. तत्प्रयुक्तस्येत्यर्थ । १५ बृ० उ० १-५-१६ । १६ भेददर्शनस्य । १७ उक्तम् । १८ केवलत्व विद्यासाहित्यत्व च । १९ स्पर्शनादि-स्वाभाविककर्मणि । २० विद्यासूत्राविद्यासूत्रमिति यावत् ।

वाव लोका इत्यादिना वक्ष्यामः कृत्स्नेनैवाध्यायशेषेण । विद्यायाश्च कार्यं सर्वात्मभावा-पत्तिरित्येतत्संक्षेपतो दर्शितम् । सर्वा ह्ययमुपनिषद्विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेनैवोपक्षीणा । यथा चैषोऽर्थः कृत्स्नस्य शास्त्रस्य तथा प्रदर्शयिष्यामः ।

यस्मादेवं तस्मादविद्यावन्तं पुरुषं प्रति देवा ईशत एव विघ्नं कर्तुमनुग्रहं चेत्येतद्दर्शयति—यथा ह वै लोके बहवो गोश्वादयः पशवो मनुष्यं स्वामिनमात्मनो-ऽधिष्ठातारं भुञ्ज्युः पालयेयुरेवं बहुपशुस्थानीय एकैकोऽविद्वान्पुरुषो देवान्देवानिति पदं पित्राद्युपलक्षणार्थं भुनक्ति पालयतीति । इम इन्द्रादयोऽन्ये मत्तो ममेशितारो भृत्य इवाहमेषां स्तुतिनमस्कारेज्यादिनाऽऽराधनं कृत्वाऽभ्युदयं निःश्रेयसं च तत्प्रत्तं फलं प्राप्स्यामीत्येवमभिसंधिः ।

तत्र लोके बहुपशुमतोऽपि यथैकस्मिन्नेव पशावादीयमाने व्याघ्रादिनाऽपह्रियमाणे महदप्रियं भवति तथा बहुपशुस्थानीय एकस्मिन्पुरुषे पशुभावाद्व्युत्तिष्ठत्यप्रियं भवतीति

द्वयर्थं विद्यासूत्रार्थमनुक्रामति—विद्यायाश्चेति । सूत्रान्तराशङ्कां वारयति—सर्वा हीति । कथमेतदव-गम्यते तत्राऽऽह—यथेति ।

मनुष्याणामविद्यावतां देवपशुत्वे स्थिते फलितमाह—यस्मादिति । तत्र प्रमाणत्वेनोत्तरं वाक्य-मुत्थापयति—एतदिति । किमिदमविद्यावतो देवादिपालनमित्याशङ्क्य वाक्यतात्पर्यमाह—इम इन्द्रा-दय इति । अभिसंधिरविद्यावतः पुरुषस्येति शेषः ।

एकस्मिन्नेवेत्यादिवाक्यमादाय व्याचष्टे—तत्रेति । मनुष्याणां पशुभावाद्व्युत्थानमप्रियं

गई है। सम्पूर्ण उपनिषदों का पर्यवसान विद्या और अविद्या के विभागप्रदर्शन करने में है। समस्त शास्त्र का जिस प्रकार यह अर्थ है, उसे अग्रिम ब्राह्मण में कहेंगे।

जिसप्रकार उक्त विधि से मनुष्यों का पशुत्व होना सिद्ध हुआ, उसी प्रकार श्रुति दिखलाती है कि अविद्वान् पुरुष के प्रति देवता विघ्न अथवा अनुग्रह करने में समर्थ हैं। जिस प्रकार लोकव्यवहार में गौ-अश्वादि बहुत से पशु अपने स्वामी अधिष्ठाता मनुष्य का भरण-पोषण करते हैं, उसी प्रकार अनेक पशुस्थानीय एक-एक अज्ञानी पुरुष देवताओं का भरण-पोषण करता है। "देवान्" यह पद पितृगणादि का भी बोधक है। "मुझ से पृथक् ये इन्द्रादि मेरे शासक हैं, मैं परिचारक के समान स्तुति, नमस्कार एवं यागादि से इनकी आराधना करके इनके दिए हुए भोग और मोक्ष सब फल प्राप्त कर लूँगा"— अज्ञानी पुरुष की ऐसी कल्पना होती है।

वहाँ लोकव्यवहार में जिस प्रकार किसी बहुत से पशुओं के मालिक पुरुष के एक पशु के भी 'आदीयमाने' अर्थात् व्याघ्रादि के द्वारा हरण कर लिये जाने पर उसे बहुत दुःख होता है, उसी प्रकार किसी गृहस्थी के बहुत से पशु चुरा लिये जाने के समान अनेक पशुस्थानीय एक भी पुरुष के पशुभाव से

१. फलम् । २. विद्याऽविद्याविभागप्रदर्शनाख्यः । ३. अग्रिमब्राह्मणे । ४. एवमिति—उक्तविधया मनुष्याणां देवपशुत्वम् । ५. तीव्रदुःखित्वम् । ६. अनुवर्तते । ७. विद्यासूत्राविद्यासूत्राभ्यामन्यत्तृतीयसूत्रम् । ८. अत्रेषु देवानां निग्रहानुग्रहस्वातन्त्र्ये । ९. किं फलकं किमाकारकं च ।

किं चित्रं देवानां बहुपश्वपहरण इव कुटुम्बिनः । तस्मादेषां देवानां तन्न प्रियं किं तद्यदेतद्ब्रह्मात्मतत्त्वं कथंचन मनुष्या विद्युर्विजानीयुः । तथा च स्मरणमनुगीतासु भगवतो व्यासस्य—

"क्रियावद्भिर्हि कौन्तेय देवलोकः समावृतः।
न चैतदिष्टं देवानां मर्त्यैरुपरि-वर्तनम्" ॥इति॥

अतो देवाः पशूनिव व्याघ्रादिभ्यो ब्रह्मविज्ञानाद्विघ्नमाचिकीर्षन्ति । अस्मदुपभोग्यत्वान्ना व्युत्तिष्ठेयुरिति । यं तु मुमोचयिषन्ति तं श्रद्धादिभिर्योक्ष्यन्ति विपरीतमश्रद्धादिभिः । तस्मान्मुमुक्षुर्देवाराधनपरः श्रद्धाभक्तिपरः प्रणेयोऽप्रमादी स्याद्विद्याप्राप्ति

देवानामिति स्थिते । 'तदुपायमपि' तत्त्वज्ञानं तेषां देवा विद्विषन्तीत्याह—तस्मादिति । तत्त्वविद्याया दौर्लभ्यत्वं (भ्यं) कथंचनेत्युक्तम् । मनुष्याणामुत्कर्षं देवा न मृष्यन्तीत्यत्र प्रमाणमाह—तथा चेति । तेषां ब्रह्मविद्यया कैवल्याप्तिः सुतरामनिष्टेति भावः ।

देवादीनां मनुष्येषु ब्रह्मज्ञानस्याप्रियत्वेऽपि किं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अत इति । तेषां विघ्नमाचरतामभिप्रायमाह—अस्मदिति । "तर्हि "देवादिभिरुपहतानां मनुष्याणां मुमुक्षैव न संपद्येतेत्याशङ्क्याऽऽह—य त्विति । उक्तं हि—

"न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यं हि रक्षितुमिच्छन्ति "बुद्धया संयोजयन्ति तम्" इति ।

"तर्हि किमिति सर्वानेव देवा नानुगृह्णन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—विपरीतमिति । देवतापराङ्मुखम-मुमोचयिषितमिति यावत् । संप्रति देवाप्रियवाक्येन(ण) ध्वनितमर्थमाह—तस्मादिति । अविद्वत्सु मनुष्येषु देवादीनां स्वातन्त्र्यं तच्छब्दार्थः । श्रद्धादिप्रधानस्तदाराधनपरः सन्देवादीनां प्रियः स्यात्तद्विपक्षस्य" मुमुक्षावैफल्यादित्यर्थः । तत्प्रीतिविषयश्च तत्प्रसादासादितवैराग्यः सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य विद्याप्रापकश्रवणादिकं प्रत्येकाग्रमनाः स्यादित्याह—अप्रमादीति । श्रवणादिकमनुतिष्ठन्नपि वर्णाश्रमा-

ऊपर की स्थिति पहुँचने पर यदि देवताओं को कष्ट होता है, तो इसमें क्या आश्चर्य ? इसलिए इन देवताओं को इसमें प्रसन्नता नहीं होती । किसमें ? यही कि ये मनुष्य इस ब्रह्मात्मतत्त्व को 'विद्यु' अर्थात् प्राप्त करें । उसी को भगवान् व्यास की अनुगीता में स्मरण किया गया है ।

"हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! स्वर्गलोक कर्ममार्गी पुरुषों से प्रतिष्ठित है । देवताओं को यह प्रिय नहीं कि मनुष्य उनसे ऊपर जाएँ अर्थात् ब्रह्मविद्या द्वारा कैवल्यप्राप्ति करें ।"

अतः देवता, यह सोचकर कि हमारे उपभोग्य अर्थात् पशुभाव हान के कारण मनुष्य हमसे ऊपर न उठ सकें, पशुओं के व्याघ्रादि से दूर रखने के समान मनुष्यों को ब्रह्मविज्ञान से दूर रखने के

१. गृहस्थस्य । २. अस्मदीयपशुभावात् । ३. वशी । ४. श्रवणादिषु मन समाधानवैधुर्यंप्रमाद. । ५. विद्याया. प्राप्तियस्माच्छ्रवणादेस्त प्रति । ६. पशुभावव्युत्थानसाधनम् । ७. मोक्षाख्यफलवदिति-दृष्टान्तार्थोऽपि । ८. पशुभावव्युत्थानम् । ९. मनुष्याणां का क्षतिः स्यात् । १०. देवादीनामुक्ताभिप्रायवत्वे । ११. सर्वात्मना देवाधीनानाम् । १२. श्रद्धादियुक्तया बुद्धया । १३. अनुग्रहस्वातन्त्र्ये । १४. विरोधिन. पराङ्मुखस्य ।

प्रति विद्या प्रतीति या काववँ तत्प्रदर्शित भवति देवाप्रियवाक्येन ॥१०॥

'सूत्रित' शास्त्रार्थं आत्मेत्येवोपासीतेति । तस्य च व्याचिख्यासितस्य सार्थवादेन तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्ययेत्यादिना सबन्धप्रयोजने अभिहिते । अविद्याप्राश्च' ससाराधिकार-कारणत्वमुक्तमथ योऽन्या देवतामुपास्त इत्यादिना । तत्राविद्वानृणी पशुवद्देवादिकर्म-कर्तव्यतया परतन्त्र इत्युक्त किं पुनर्देवादिकर्मकर्तव्यत्वे, निमित्त वर्णा आश्रमाश्च तत्र के

चारपरो भवेद'न्यथा विद्यालक्षणे फले प्रतिबन्धतभयादित्याशयेनाऽऽह—विद्या प्रतीति । भयादिनिमित्ता ध्वनेर्विकृति काकुरुच्यते । यथाऽऽह'—'काकु स्त्रियां विकारो य शोकभीत्यादिभिर्ध्वने ' इति । तया काथवा काण्वश्रुते स्वरकम्पेन(ण) भयमुपलक्ष्य देवादिभजने कल्प्यते तात्पर्यमित्याह—काववति ॥१०॥

ब्रह्मकण्डिकामित्थ व्याख्याय ब्रह्म वा इदमित्यादिवाक्यस्या'तीतेन सबन्ध वक्तु वृत्त कीतर्यति—सूत्रित इति । शास्त्रार्थशब्दो ब्रह्मविद्याविषय । 'तदाहुरित्यादिनोक्तमनुवदति'—तस्य चेति । 'अर्थवाद-स्तद्यो यो देवानामित्यादि । सबन्धो ज्ञानस्य सर्वापत्तिफलेन साध्यसाधनत्वमधिकारिणाऽऽश्रयाश्रयि-त्वमैक्येन विषयविषयित्वमिति विभाग । अविद्यासूत्र वृत्त कथयति—अविद्यायाश्चेति । ससारस्या-धिकार प्रवृत्तिरुत्पत्तिरिति यावत् । यथा पशुरित्यादिनोक्तमनुभाष्यते—'तत्रेति । अविद्याधिकार' समाप्त्यर्थ । "तत्राविद्याकार्य प्रपञ्चयितुमध्यायशेषप्रवृत्तिरिति मन्वानोऽविद्या"विवर्तचातुर्वर्ण्यसृष्टिप्रकट-नार्थं "तदेतद्ब्रह्मेत्यस्मात्प्राक्तन वाक्यमित्याकाङ्क्षापूर्वकमाह—किं पुनरिति । ब्रह्म वा इदमित्यादि-

लिए विघ्न प्रस्तुत करने की इच्छा करते है । जिसे वे भवबन्ध से छुडाना चाहते हैं उसे श्रद्धादि साधनो मे लगाते है जिसे मुक्त कराना नही चाहते उसे अश्रद्धादि मे उलझाये रहते है । देवताओ का अप्रिय बतलाने वाली काकु उक्ति द्वारा सिद्ध होता है कि मुमुक्षु को भगवदर्चापरायण श्रद्धाभक्तिपरायण, देवताओ का प्रियपात्र, विद्याप्राप्ति के साधनो एव ज्ञान के प्रति सावधान रहना चाहिये ॥१०॥

'आत्मा है—ऐसे उसकी उपासना करनी चाहिये इस श्रुतिवाक्य से शास्त्र का तात्पर्य सक्षिप्त रूप मे कहा गया । फिर व्याख्या के लिए अभीष्ट अर्थवाद से तदाहुर्यद् ब्रह्मविद्यया इत्यादि मन्त्र द्वारा उस शास्त्रार्थ के सबन्ध और प्रयोजन बतलाये गये । अथ योऽन्या देवतामुपास्ते (क्योंकि वह तत्त्व ज्ञानी इन देवताओ का भी आत्मा ही हो जाता है) इत्यादि वाक्य से ससार की उत्पत्तिहेतुरूपा होना अविद्या का स्वरूप है । अब्रह्मविद् ऋणी होता है अर्थात् पशु के समान देवकर्मादि की कर्तव्यता से युक्त होने के कारण पराश्रित होता है ऐसा वहाँ कहा गया है । किन्तु क्या बात है कि देवता मनुष्यो से कर्म करवाते है ? वर्ण और आश्रमके कारण ऐसा होता है । वे वर्ण कौनसे है ?—ऐसी विचिकित्सा होनेपर ग्रन्थारम्भ किया जाता है । जिस वर्णरूप निमित्त से सम्बद्ध कर्मों मे इस पराश्रित ससारीजीव का ही अधिकार

१ देवादेर्भजनादिना प्रसादनम् । २ सक्षेपेणोक्त । ३ अविद्यास्वरूपसमुच्चायक च । ४ यथेष्टचेष्टत्वे । ५ आह—अमर इति शेष । ६ अथत्वम्यम यदिति पूर्वोक्तवाक्यन । ७ तदाहुरिति—ननु क सम्बन्धो ब्रह्मविद्याया किं च फल तस्या इत्याशङ्क्यत्यादि । ८ एकजीववादेऽज्ञावधिमोक्षाभ्युपगमासभवमाश्रित्या ऽऽह—अथवादस्तद्यो यो देवानामित्यादिरिति । ९ अविद्याप्रकरण । १० अधिकार. प्रकरणम् । ११ अविद्यातत्कार्ययो सूत्ररूपेण बोधितत्वे सति । १२ परिणामेत्यर्थं । १३ बृ० उ० १ ४।१५ ।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकꣳ सन्न व्यभवत् ।
तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्त्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्त्रा-
णीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान

प्रारम्भ में यह अद्वितीय ब्रह्म ही था। वह अकेला क्षत्रियादि पालनकर्ता के न होने से विभूति-युक्त कर्म करने में समर्थ न हो सका। तब उस ब्रह्म ने (मैं ब्राह्मण हूँ—मेरा यह कर्तव्य है, ऐसी विशेषता से) 'क्षत्र' इस प्रशस्तरूप की रचना की अर्थात् देवताओं में ये जो क्षत्रिय इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र,

---

वर्णा इत्यत इदमारभ्यते । [1]यन्निमित्तसंबद्धेषु कर्मस्वयं परतन्त्र एवाधिकृतः संसरतीत्येतस्यैवार्थस्य प्रदर्शनायाग्निसर्गानन्तरमिन्द्रादिसर्गो नोक्तः । अग्नेस्तु सर्गः प्रजापतेः सृष्टिपरिपूरणाय[2] प्रदर्शितः । अयं चेन्द्रादिसर्गस्तत्रैव[3] द्रष्टव्यस्तच्छेषत्वात् । इह तु स एवाभिधीयतेऽविदुषः कर्माधिकार[4]हेतु[5]प्रदर्शनाय ।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीद्यदग्निं सृष्ट्वाऽग्निरूपापन्नं ब्रह्म ब्राह्मणजात्यभिमानाद्-

---

वाक्यमिदमा परामृश्यते । वर्णानेव विशिनष्टि—यन्निमित्तेति । यैर्निमित्तैर्ब्राह्मण्यादिभिः संबद्धेषु कर्मस्वयमविद्वानधिकृतः पशुरिव संसरतीति पशुनिदर्शनश्रुतौ प्रसिद्धं तानि निमित्तानि दर्शयितुमुत्तरं वाक्यं प्रवृत्तमित्यर्थः । अथेत्यभ्यमन्थदित्यत्रानुग्राहकदेवतासर्गं प्रक्रम्याग्नेरेव सृष्टिरुक्ता नेन्द्रादीनामत्र त्वविद्यां प्रस्तुत्य तेषां सोच्यते तत्र कः श्रुतेरभिप्रायस्तत्राऽऽह—एतस्येति । [a]पूर्वमग्निसर्गानन्तरमिन्द्रादिसर्गो वाच्योऽपि नोक्तः । फलाभावात् । इह त्वविदुष[b]स्तत्कार्यवर्णाद्यभिमानिनः कर्माधिकृतिरित्येतस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं [c]तदाविद्यत्वविवक्षया स व्युत्पाद्यत इत्यर्थः । अग्निसर्गोऽपि [d]तर्हि तद्वदत्रैव वाच्यो विशेषाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—अग्नेस्त्विति । प्रजापतेः सृष्टिपूर्तये चेदग्निसृष्टिस्तत्रोक्ता [e]हन्तेन्द्रादिसर्गोऽपि तत्रैव वाच्योऽन्यथा तदपूर्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—अय चेति । तर्हि तत्रोक्तस्य कस्मादत्रोक्तिः पुनरुक्तेरित्याशङ्क्य तस्यैवार्थस्येत्यत्रोक्तं स्मारयति—इह त्विति ।

[f]संगतिमुक्त्वा वाक्यमादाय व्याचष्टे—ब्रह्मेति । अग्रे क्षत्त्रादिसर्गात्पूर्वमिति यावत् ।

है। इसी अर्थ को प्रदर्शित करने के लिए अग्निसर्ग के अनन्तर इन्द्रादिसर्ग का वर्णन नहीं किया गया। अग्निसर्ग को तो प्रजापति की सृष्टि की परिपूर्णता के लिए वहीं प्रदर्शित किया गया था। प्रजापतिसृष्टि-

---

१. तत्रैव । २. प्रजापतिसृष्टिप्रक्रियायामेव । ३. हेतु—आविद्यब्राह्मण्याद्यभिमानः । ४. प्रदर्शनायेति—न चाविद्याकार्यत्वसिद्ध्यर्थमिन्द्रादिसर्गवदग्निसर्गमपीहैवोक्त्वा तत्र सृष्टिपूर्त्यर्थमुपसह्रियतामिति वाच्यम् (गुणोपसंहारन्यायेन तत्र बाध्यताम्) अग्निसृष्टेरपि तत्रानुक्तौ सङ्ग्राहकाभावादुपसङ्ग्रहासिद्धौ प्रजापतिसृष्टेरपूर्तिप्रसङ्गात् । न चैवमिन्द्रादिसृष्टिं तत्र सृष्ट्वा तत्राग्निसृष्टिरुपलक्ष्यतामिति युक्तम् अग्निप्राधान्यस्य वक्ष्यमाणतया तेनेतरोपलक्षणस्यायुक्तत्वादिति द्रष्टव्यम् । ५. अग्निं सृष्ट्वेति । "आत्मैवेदमग्र आसीदि"त्यत्र यदात्मशब्देनोक्तं स्रष्टृ ब्रह्म तदग्निं सृष्ट्वा तद्रूपापन्नं ब्राह्मणत्वजात्यभिमानवदस्मिन् वाक्ये ब्रह्मशब्देनोच्यते क्षत्त्रादिसर्गात्पूर्वं तावन्मात्रमवृत्तमित्यर्थः । ६ बृ० उ० १।४।६ । ७. अविद्याकार्यत्वर्थ. । ८. इन्द्रादिसर्गस्याविद्याकार्यत्वविवक्षयेति भावः । ९. फलमुद्दिश्य सृष्टेर्वक्तव्यत्वे । १०. हन्तेत्यनुमतौ । ११. अनुग्राह्यानुग्राहकसृष्टिप्रतिपादकग्रन्थयोस्तथैव संगतिम् ।

इति । तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म । तस्माद्यद्यपि राजा

मेघ, यम, मृत्यु तथा ईशानादि है; इन्हीं के लिये उस (देवक्षत्रसृष्टि) को उत्पन्न किया। अतएव क्षत्रिय से बढ़कर कोई नहीं है। इसीलिये राजसूययज्ञ में ब्राह्मणजाति वाले नीचे बैठकर क्षत्रियजाति की उपासना करते हैं। वे क्षत्रिय में ही 'ब्रह्म' इस नामरूप अपने यश को स्थापित करते हैं। वह जो ब्रह्म है;

'ब्रह्म'त्यभिधीयते। वा इदं क्षत्त्रादिजातं ब्रह्म वा भिन्नमासीदेकमेव। नाऽऽसीत्क्षत्त्रादिभेदः। तद्ब्रह्म कं क्षत्त्रादिपरिपालयित्रादिशून्यं सन्न व्यभवन्न विभूतवत्कर्मणे नालमासीदित्यर्थः। 'ततस्तद्ब्रह्म ब्राह्मणोऽस्मि ममेत्यं' कर्तव्यमिति ब्राह्मणजातिनिमित्तं कर्म चिकीर्षितमनः कर्मकर्तृत्वविभूत्यै श्रेयोरूपं प्रशस्तरूपमत्यसृजतातिशयेनासृजत सृष्टवत्। किं पुनस्तद्यत्सृष्टं, क्षत्त्रं क्षत्रियजातिः, तद्व्यक्तिभेदेन प्रदर्शयति—यान्येतानि प्रसिद्धानि लोके 'देवत्रा

वशब्दस्यावधारणार्थत्वं यदन्वाचयार्थोक्तिपूर्वकमेकमित्यस्यार्थमाह—इदमिति। द्वितीयमेवकारं व्याचष्टे—नाऽऽसीदिति। कथं तर्हि तस्य कर्मानुष्ठानसामर्थ्यसिद्धिरित्याशङ्क्य समनन्तरवाक्यं व्याचष्टे—तत इति। तदेव सृष्टमाकाङ्क्षाद्वारा स्पष्टयति—किं पुनरिति। एका चेत्क्षत्त्रजातिः सृष्टा कथं तर्हि यान्येतानीति बहूक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—तद्व्यक्तिभेदेनेति। क्षत्त्रजातेरेकत्वात्कथं क्षत्त्राणीति बहुवचनप्रक्रिया में ही इन्द्रादिसर्ग समझ लेना चाहिये क्योंकि वह उसका शेषभूत है। अब्रह्मविद् के कर्माधिकार में हेतु दिखाने के लिए यहाँ उसी का वर्णन किया जाता है।

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" अर्थात् अग्निसृष्टि कर जो अग्निरूप को प्राप्त हुआ, वह ब्रह्म ही था। ब्राह्मणजाति का अभिमान होने के कारण वह अग्निरूप ब्रह्म कहा जाता है। उस समय यह क्षत्रादि समूह भी ब्रह्म से अभिन्न अर्थात् एकरूप ही था। पहले क्षत्रियादि (वर्ण) भेद नहीं था। वह ब्रह्म 'एकम्' अर्थात् क्षत्रियादि पालनकर्ता से शून्य होने के कारण विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। इसके पश्चात् उस ब्रह्म ने "मैं ब्राह्मणवर्ण वाला हूँ, मेरा यह कर्तव्य है" ऐसा सोचकर ब्राह्मणजाति के कर्म करने की इच्छा से कर्मकर्तृत्वरूप विभूति के लिये 'श्रेयोरूपम्' अर्थात् प्रशस्तरूप की 'अत्यसृजत' अर्थात् प्रशस्तरूप से रचना की। वह कौन सा रूप था, जिसकी रचना की गयी ? वह थी क्षत्रियजाति। उन्हीं को 'यान्येतानि' इत्यादि श्रुति व्यक्तिभेद से दिखाती है, लोक में जो कि क्षत्रियरूप से देवताओं में प्रसिद्ध हैं। जातिवाचक शब्दों में विकल्प से बहुवचन होता है, ऐसे पाणिनीयसूत्र

१. अग्निरूपं ब्रह्म। २. क्षत्त्रादिभेदशून्यम्। ३. न विभूतवत्कर्मण इति—ननु कथं कर्मानेकजातिमद्धेतु बृहस्पतिसवत्वद्ब्राह्मणत्वजातिमन्मात्रसाध्यं किं न स्यादिति चेन्न बृहस्पतिसवोऽपि पालयित्राद्यभावे न शक्यो निर्वर्तयितुमिति क्षत्त्रादिसृष्टिरावश्यकी। तदुक्तम् वार्तिके—"चातुर्वर्ण्यप्रसाध्यं सन्नैकजातिप्रसाधनम्। कर्मालं सिद्धये लोके शिबिकोद्वहनं यथा"॥ १६००॥ इति। ४. अनेकसाध्यं कर्म नैकेन सिध्यतीति विचारानन्तरम्। ५. मर्म। ६. ब्राह्मणजात्यपेक्षयापि श्रेष्ठत्वेन। ७. सहकार्यभावे। ८. ऐकाकिन सृष्टत्वे।

परमतां गच्छति ब्रह्मान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिं य उ एनꣳ हिनस्ति स्वाꣳ स योनिमृच्छति स पापीयान्भवति यथा श्रेयाꣳसꣳ हिꣳसित्वा ॥११॥

क्षत्रिय की योनि है। अतः यद्यपि राजा उत्कृष्टता को प्राप्त होता है, फिर भी राजसूय यज्ञ के अन्त मे वह ब्राह्मण का ही आश्रय लेता है। अतः जो क्षत्रिय इस ब्राह्मण को पीडा पहुँचाता है, वह मानो अपनी योनि का ही नाश करता है। जैसे श्रेष्ठपुरुष की हिंसा करने से वह पापी होता है, वैसे ही वह पुरुष भी पापी होता है॥ ११॥

देवेषु क्षत्त्राणीति।। जात्याख्यायां पक्षे बहुवचनस्मरणाद्व्यक्तिबहुत्वाद्वा भेदोपचारेण बहुवचनम्।

कानि पुनस्तानीत्याह तत्राभिषिक्ता एव विशेषतो निर्दिश्यन्ते। इन्द्रो देवानां राजा। वरुणो यादसाम्। सोमो ब्राह्मणानाम्। रुद्रः पशूनाम्। पर्जन्यो विद्युदादीनाम्। यमः पितृणाम्। मृत्यू रोगादीनाम्। ईशानो भासामित्येवमादीनि देवेषु क्षत्त्राणि। तदन्विन्द्रादिक्षत्त्रदेवताधिष्ठितानि मनुष्यक्षत्त्राणि सोमसूर्यवंश्यानि पुरूरवःप्रभृतीनि सृष्टान्येव द्रष्टव्यानि। तदर्थ एव हि देवक्षत्त्रसर्गः प्रस्तुतः।

मित्याशङ्क्य 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा० सू० १ । २ । ५८) इति स्मृतिमाश्रित्याऽऽह—जातीति। बहूक्तेर्गत्यन्तरमाह—व्यक्तीति। तासां बहुत्वाज्जातेश्च तद्भेदास्तत्रापि भेदमुपचर्य बहूक्तिरित्यर्थः। क्षत्त्राणीति बहुवचनमिति सबन्धः।

तेषां विशेषतो ग्रहणं क्षत्त्रस्योत्तमत्वं ख्यापयितुमिति मन्वानः सन्नाह—कानि पुनरित्यादिना। ननु किमिति देवेषु क्षत्त्रसृष्टिरुच्यते ब्राह्मणस्य कर्मानुष्ठानसामर्थ्यसिद्धयर्थं मनुष्येष्वेव तत्सृष्टिरुपदेष्टव्येत्याशङ्क्याऽऽह—तदन्विति। तथाऽपि विवक्षिता सृष्टिर्मुखतो वक्तव्येत्याशङ्क्योपोद्घातोऽयमित्याह—तदर्थ इति।

से अथवा भेदोपचार से इन्द्रादि व्यक्तियों के अनेक होने के कारण भी यहाँ 'क्षत्त्राणि' यह बहुवचन का प्रयोग है।

वे कौन हैं? इस पर श्रुति बतलाती है। यहाँ पूजनीय देवों का ही विशेषरूप से वर्णन किया गया है। देवताओं का राजा इन्द्र, जलचरों का राजा वरुण, ब्राह्मणों का राजा सोम, पशुओं का राजा रुद्र, विद्युदादि का नियन्ता मेघ, पितरों का ईश यम, रोगादि का अधिष्ठातृ देवता मृत्यु; प्रभा का अधिष्ठाता ईशान इत्यादि देवताओं मे क्षत्रिय हैं। उनके पीछे इन्द्रादि क्षत्रिय देवताओं से अधिष्ठित पुरूरवा आदि सोम और सूर्यवंशी मनुष्य क्षत्रिय रचे गये—ऐसा समझना चाहिये। उन्हीं के लिए (मनुष्यों मे क्षत्रसृष्टि के अभिप्राय से) ही देवक्षत्रसृष्टि को प्रस्तुत किया गया है।

---

१. पूज्या। २ यमदूत। ३ प्रभाणाम्। ४. मनुष्येषु क्षत्त्रसृष्ट्यभिप्रायत एव। ५ इन्द्रादिरूपेण। ६ अर्थत उक्तत्वेऽपि। ७ दाब्दत।

यस्माद्ब्रह्मणाऽतिशयेन सृष्टं क्षत्त्रं तस्मात्क्षत्त्रात्परं नास्ति ब्राह्मणजातेरपि नियन्तृ । तस्माद्ब्राह्मणः कारणभूतोऽपि क्षत्त्रियस्य क्षत्त्रियमधस्तादुव्यवस्थितः सन्नुपरिस्थितमुपास्ते । क्व । राजसूये । क्षत्त्र एव तदात्मीयं यशः ख्यातिरूपं ब्रह्मेति दधाति स्थापयति । राजसूयाभिषिक्तेनाऽऽसन्द्यां स्थितेन राज्ञाऽऽमन्त्रितो ब्रह्मन्निति ऋत्विक्पुनस्तं प्रत्याह त्वं राजन्ब्रह्मासीति । तदेतदभिधीयते क्षत्त्र एव तद्यशो दधातीति ।

सैषा प्रकृता क्षत्त्रस्य योनिरेव यद्ब्रह्म । तस्माद्यद्यपि राजा परमतां राजसूयाभिषेकगुणं गच्छत्याप्नोति ब्रह्मैव ब्राह्मणजातिमेवान्ततोऽन्ते कर्मपरिसमाप्तावुपनिश्रयत्याश्रयति स्वां योनिं पुरोहितं पुरो निधत्त इत्यर्थः । यस्तु पुनर्बलाभिमानात्स्वां योनिं ब्राह्मणजातिं ब्राह्मणं य उ एनं हिनस्ति हिंसति न्यग्भावेन पश्यति स्वामात्मीयामेव स

तस्मादित्यादि व्याचष्टे—यस्मादिति । क्षत्त्रस्य नियन्तृत्ववदुत्कर्षे हेत्वन्तरमाह—तस्मादिति । ब्रह्मेति प्रसिद्धं ब्राह्मण्याख्यमिति यावत् । उक्तमेव प्रपञ्चयति—राजसूयेति । आसन्द्यां मञ्चिकायाम् । क्षत्त्रे स्वकीयं यशः समर्पयतो ब्राह्मणस्य निष्कर्षमाशङ्क्याऽऽह—सैषेति । तयोर्ब्राह्मणत्वस्य तुल्यत्वात्कुतोऽवान्तरभेदः क्षत्त्रमपि क्रतुकाले ब्राह्मण्यं प्राप्नोतीत्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति । क्षत्त्रस्य ब्रह्माभिभवे दोषश्रवणाच्च तस्य तदपेक्षया तद्गुणत्वमित्याह—यस्त्विति । प्रमादादपीति वक्तुमुशब्दः । य उ एनं हिनस्तीति प्रतीकग्रहणं यस्तु पुनरित्यादि व्याख्यानमिति भेदः । ईयसुनस्तरबर्थस्य प्रयोगे

क्योंकि ब्रह्म ने क्षत्रियजाति की अतिशयरूप से सृष्टि की है, इसलिए क्षत्रियजाति के सिवाय ब्राह्मणजातिका नियामक दूसरा कोई नही है । इसलिए (बलमें क्षत्रिय उत्तम होनेके कारण) क्षत्रियजाति का कारणभूत होने पर भी ब्राह्मण पृथिवी मे बैठकर मञ्च में बैठे हुए क्षत्रिय की उपासना करता है । कहाँ ? राजसूय यज्ञ मे । उस समय यह क्षत्रिय मे ही 'तद्' अर्थात् अपने 'ब्राह्मणत्व' इस नामरूप यश को 'दधाति' अर्थात् स्थापित करता है । राजसूय यज्ञ मे अभिषिक्त मञ्चस्थ राजा के द्वारा 'ब्रह्मन्' इस प्रकार पुकारे जाने पर ऋत्विक् उत्तर मे उससे कहता है—"हे राजन् ! तुम ब्रह्म हो" इसी से यह कहा जाता है कि "वह क्षत्रिय मे ही अपना ब्राह्मणत्वरूप यश स्थापित करता है" ।

यह जो है, वह ब्राह्मणजाति प्रकृत क्षत्रिय का उत्पत्तिकारण ही है । इसलिए यद्यपि राजा "परमताम्" अर्थात् राजसूयाभिषकरूप ब्रह्मत्वगुण को 'गच्छति' यानी प्राप्त हो जाता है, अपने उत्पत्ति कारण "ब्रह्मैव" अर्थात् ब्राह्मणजाति को ही 'अन्तत' यानी अन्त में कर्मपरिसमाप्ति के अवसर पर "उपनिश्रयति" अर्थात् आश्रय लेता है, अर्थात् आगे ले जाता है । तथा जो शक्ति के अभिमान से अपने

---

१. अन्यत् । २. क्षत्त्रस्य बलवत्त्वेनोत्तमत्वात् । ३. पृथिव्याम् । ४. मञ्चे । ५. उपासनमाह—क्षत्त्र इति । ६ ब्राह्मणत्वरूपम् । ७. ब्राह्मणोऽसीत्यर्थः । ८. ब्राह्मणजाति. । ९. उत्पत्तिकारणम् । १०. क्षत्त्रस्य पुरोहिताधीनत्वात् । ११. ब्रह्मत्वरूपम् । १२. अन्तत इति—एतेन राजसूयक्रत्वनुष्ठानकालेव तस्य ब्रह्मत्वप्राप्तिर्न तु ततः प्रागूर्ध्वं चेति ध्वनितम् । सापि प्रागुक्तरीत्या ब्राह्मणप्रयुक्तैव न तु स्वत इति ध्येयम् । १३. तिर्यग्दृष्ट्या । १४. तस्मादिति—कथं क्षत्त्रस्योत्तमत्वं ततोऽपि ब्राह्मणस्योत्कर्षादित्याशङ्क्येत्यादि । १५. निकर्षमिति पाठ साधुः । १६. तस्येत्यादि—तस्य क्षत्त्रस्य । तदपेक्षया ब्राह्मणाधीनतया । तद्गुणत्वम् ब्राह्मण्यगुणवत्त्वमित्यर्थः ।

स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि
देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा
आदित्या विश्वे देवा मरुत इति ॥१२॥

(धनोपार्जन करने वाले का अभाव होने के कारण) वह ब्रह्म विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। अतः उसने वैश्यजाति की उत्पत्ति की। जो ये वसु रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत् इत्यादि देवगण एक-एक गणरूप में कहे जाते हैं, इन्हें उत्पन्न किया ॥ १२ ॥

योनिमृच्छति स्वं [1]प्रसवं विच्छिनत्ति विनाशयति। स एतत्कृत्वा पापीयान्पापतरो भवति। पूर्वमपि क्षत्रियः पाप एव क्रूरत्वादात्मप्रसवहिंसया सुतराम्। यथा लोके श्रेयांसं प्रशस्ततरं हिंसित्वा परिभूय पापतरो भवति तद्वत् ॥११॥

क्षत्त्रे सृष्टेऽपि [2]स नैव व्यभव[3]त्कर्मणे ब्रह्म तथा न व्यभवद्वित्तोपार्जयितुरभावात्। स विशमसृजत कर्मसाधनवित्तोपार्जनाय। कः पुनरसौ विट्। यान्येतानि देवजातानि [4]स्वार्थे निष्ठा, य एते देवजातिभेदा इत्यर्थः। गणशो गणं गणमाख्यायन्ते कथ्यन्ते। [5]गणप्राया हि विशः। प्रायेण संहता हि वित्तोपार्जने समर्था नैकैकशः। वसवोऽष्टसंख्यो

हेतुमाह—पूर्वमपीति। ब्राह्मणाभिभवे पापीयस्त्वमित्येतद्दुदाहरणेन बुद्धावारोपयति—यथेति ॥ ११ ॥

[6]कर्तुर्ब्राह्मणस्य नियन्तुश्च क्षत्त्रियस्य सृष्टत्वात्किमु[7]त्तरेणेत्याशङ्क्याऽऽह—क्षत्त्र इति। [8]तद्व्याचष्टे—कर्मण इति। ब्रह्म ब्राह्मणोऽस्मीत्यभिमानी [9]पुरुष। तथा क्षत्त्रसर्गात्पूर्वमिवेति यावत्। कथ [10]तर्हि लौकिक[11]सामर्थ्यसंपादनद्वारा कर्मानुष्ठानमत आह—स विशमिति। देवजातानीत्यत्र तकारो निष्ठा। गणं गणं कृत्वा किमित्याख्यानं विशामित्याशङ्क्याऽऽह—गणेति। विशां समुदायप्रधानत्वमप्यपि प्रत्यक्षमित्याह—प्रायेणेति ॥१२॥

उत्पत्तिकारण ब्राह्मणजाति की "हिनस्ति" अर्थात् हिंसा करता है, उसे हेय दृष्टि से देखता है, वह अपनी ही योनि का नाश करता है अर्थात् अपने ही प्रभव का विच्छेद या विनाश करता है। वह ऐसा करके 'पापीयान्' अर्थात् बड़ा पापी होता है। नृशंस होने के कारण क्षत्रिय पापी तो पहले भी था, अब अपने प्रभव की हिंसा करने से और भी पापी होता है। जिस प्रकार लोकव्यवहार में 'श्रेयांसम्' अर्थात् अधिक प्रशंसनीय का "हिंसित्वा" अर्थात् पराभव करके पुरुष बड़ा पापी होता है; उसी तरह उसे भी पाप लगता है ॥११॥

क्षत्रिय जाति की सृष्टि हो जाने पर भी "स" अर्थात् वह सृष्टिकर्ता परमात्मा "नैव व्यभवत्" अर्थात् अनेक जातियुक्त व्यक्तिसाध्य कर्म करने के लिए धनार्जन-अभाव के कारण समर्थ नहीं हुआ। उस परमात्मा ने कर्म के साधनभूत धन का उपार्जन करने के लिए वैश्यवर्ण की सृष्टि की। वह वैश्य

---

१ प्रभवमित्यर्थः। २ स्रष्टा परमात्मा। ३ अनेकजातिमद्व्यक्तिसाध्यं कर्म कर्तुम्। ४. कालाद्यनपेक्षभावमात्रे। ५ समुदायबहुला। ६. यागादे कर्तुः। ७ वैश्यादिसर्गेण तदग्रन्थेन च। ८. पूर्ववाक्यम्। ९ अग्निपुरुष। १० सामर्थ्याभावे। ११ द्रव्यादि।

स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयꣳ हीदꣳ सर्वं पुष्यति यदिदं किंच ॥१३॥

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदे-

(सेवक के न रहने से फिर भी) वह ब्रह्म विभूतियुक्तकर्म करने मे समर्थ नही हुआ। अत उसने शूद्रवर्ण को रचा। पूषादेव शूद्रवर्ण है, यह पृथिवी ही पूषा है, क्योकि यह जो कुछ है; उस सबका यही पोषण करती है ॥ १३ ॥

(चारो वर्णों को रचकर भी) वह ब्रह्म विभूतियुक्त कर्म करने मे समर्थ नही हुआ। तब उसने

गणस्तथैकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्या विश्वे देवा दश विश्वाया अपत्यानि सर्वे वा देवा मरुतः सप्त सप्त गणाः ॥१२॥

स परिचारकाभावात्पुनरपि नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत शूद्र एव शौद्रः स्वार्थेऽणि वृद्धिः। कः पुनरसौ शूद्रो वर्णो यः सृष्टः। पूषणं पुष्यतीति पूषा। कः पुनरसौ पूषेति विशेषतस्तन्निर्दिशति—इयं पृथिवी पूषा। स्वयमेव निर्वचनमाह—इयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किंच ॥१३॥

स चतुरः सृष्ट्वाऽपि वर्णान्नैव व्यभवद् प्रत्यात्क्षत्रस्यानियताशङ्कया तच्छ्रेयो-

---

कर्तृपालयितृधनार्जयितॄणां सृष्टत्वात्कृत वर्णान्तरसृष्ट्य त्याशङ्क्याऽऽह—स परिचारकेति। शौद्रं वर्णमसृजतेत्यत्रौकारो वृद्धि। पुष्यतीति पूषेत्युक्तत्वात्प्रश्नस्यानवकाशत्वमाशङ्क्याऽऽह—विशेषत इति। पूषशब्दस्यार्थान्तरे प्रसिद्धत्वात्कथ पृथिव्या वृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—स्वयमेवेति ॥१३॥ ननु चातुर्वर्ण्ये सृष्टे तावतैव कर्मानुष्ठानसिद्धेरल धर्मसृष्ट्य त्यत आह—स चतुर इति। अनिय-

---

कौन थे? यह जो देवजात हैं। यहाँ कालाद्यनपेक्ष भावमात्र मे 'वत' प्रत्यय है। यह जो देवजाति के भेद हैं—यह अर्थ हुआ। 'गणश' अर्थात् एक-एक गण से 'आख्यायन्ते' अर्थात् कहे जाते है। क्योकि वैश्यजाति समुदाय-बहुल होती है। प्राय इकट्ठे होकर धन कमाने मे समर्थ होते हैं, एक-एक करके नही। वसु अष्टसख्या का गण है, ऐसे ही रुद्र ग्यारह तथा आदित्य बारह हैं। विश्वेदेव दस हैं, ये सभी विश्वा की सन्तान है, अथवा सम्पूर्ण देवगण भी, विश्वेदेवकथन का अभिप्राय है। मरुद्गण उनचास है ॥१२॥

परिचर्याकर्म करने वाले का अभाव होने से फिर भी वह विभूतियुक्त नही हुआ। उसने शूद्रजाति की रचना की। यहाँ स्वार्थ मे 'अण्' प्रत्यय एव आदिवृद्धि होने के कारण शूद्र ही शौद्र है। किन्तु यह जो उत्पन्न किया, वह शूद्रवर्ण कौन था? "पूषणम्" अर्थात् जो पोषण करता है;

---

१ प्राणिजातम्। २ धर्ममिति—अत्र धर्मशब्देन धर्मोऽहमस्मीत्यभिमानिनी श्रुत्यादिप्रसिद्धा धर्माधिष्ठात्री चेतना देवताऽभिमता न तु प्रसिद्धोऽपूर्वाख्यो अचेतनोऽर्थो विवक्षित तस्या चेतनत्वेन क्षत्रादिनियामकत्वायोगादित्यन्यत्र विस्तर। ३. तम्। ४ चीक्षायाम्। ५ पूषशब्दवाच्य देवशूद्रम्। ६ चतु सख्याकान्। ७ क्षत्रस्य क्रूरतया तदीयनियामकाभावे तदनियत स्यादित्याशङ्केत्यर्थ। ८ पोषणकर्तुरन्यस्यापि सभवात्।

तत्क्षत्त्रस्य क्षत्त्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो
अबलीयान्बलीयाᳪसमाशᳪसते धर्मेण यथा
राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात्सत्यं

विशेषता से कल्याणप्रदरूप धर्म को उत्पन्न किया। यह जो श्रेयोरूप धर्म है, यही क्षत्रिय का भी नियामक है। अतः धर्म से श्रेष्ठ कुछ नहीं है। अतएव जैसे राजा की सहायता से (साधारण कुटुम्बी पुरुष) अपने से अधिक बलवान् को पराभव करना चाहता है, वैसे ही धर्म के द्वारा दुर्बल पुरुष भी बलवान्

रूपमत्यसृजत किं तद्धर्मं तदेतच्छ्रेयोरूपं सृष्टं क्षत्त्रस्य क्षत्त्रं क्षत्त्रस्यापि नियन्तृ। उग्रादप्युग्रम्[1]। यद्धर्मो यो धर्मस्तस्मात्क्षत्त्रस्यापि नियन्तृत्वाद्धर्मात्परं[2] नास्ति। तेन हि नियम्यन्ते सर्वे। तत्कथमिति। उच्यते—अथो अप्यबलीयान्दुर्बलतरोऽपि बलीयांसमात्मनो बलवत्तरमप्याशंसते कामयते जेतुं धर्मेण बलेन। यथा लोके कश्चिद्राज्ञा सर्वबलवत्तमेनापि कुटुम्बिक एवं तस्मात्सिद्धं धर्मस्य सर्वबलवत्तरत्वात्सर्वनियन्तृत्वम्।

ताशङ्कया नियामकाभावे तस्यानियतत्वसंभावनयेति यावत्। तच्छब्दः स्रष्टृब्रह्मविषयः। कुतो धर्मस्य सर्वनियन्तृत्वं क्षत्त्रस्यैव तत्प्रसिद्धेरित्याह—तत्कथमिति। अनुभवमनुसृत्य परिहरति—उच्यत इत्यादिना। तदेवोदाहरति—यथेति। राज्ञा स्पर्धमान इति शेषः। धर्मस्योत्कृष्टत्वेन नियन्तृत्वे सत्यादभिन्नत्वं

वह पूषा है। फिर यह पूषा कौन है? इसे विशेषरूप से श्रुति बतलाती है—यह पृथ्वी पूषा है। फिर उसी की निरुक्ति कर कहती है। क्योंकि यह जो कुछ प्राणिजात है; उन सब का यही पोषण करती है ॥१३॥

वह परमात्मा चारों वर्णों की सृष्टि करके भी इस आशङ्का से विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ कि उग्रस्वभाव वाला क्षत्रियजाति नियन्त्रण में नहीं रह सकती। तब उसने अतिशयता से श्रेयोरूप उत्पन्न किया। वह कौन है? धर्म श्रेयोरूप है। वह इस प्रकार उत्पन्न किया हुआ श्रेयोरूप धर्म 'क्षत्रस्य क्षत्रम्' अर्थात् क्षत्रियजाति का नियमनकर्ता है। उग्र से भी उग्र है; 'यद्धर्मः' अर्थात् जो धर्म है, 'तस्मात्' अर्थात् क्षत्रियजाति का भी नियामक होने के कारण उस धर्म से श्रेष्ठ कोई नहीं है, क्योंकि उसी के द्वारा सब का नियन्त्रण होता है। वह कैसे? इस पर कहते हैं—जो 'अबलीयान्' अर्थात् अधिक निर्बल होता है, वह "बलीयासम्" अर्थात् अपने से बलवान् को धर्मरूपी बल से "आशसते" अर्थात् जीतना चाहता है। जिस प्रकार लोकव्यवहार में सबसे अधिक बलशाली राजा की सहायता से साधारण गृहस्थी भी अपने से बलवान् को जीतना चाहता है। उसी प्रकार वह धर्मबल हेतु है। अतः सर्वाधिक बलशाली होने के कारण धर्म ही सबका नियामक है; यह सिद्ध हुआ। वह जो लौकिक पुरुषों द्वारा अनुष्ठित यागादिव्यवहाररूप धर्म है, 'सत्य वै तत्' अर्थात् वह प्रसिद्ध ही है। शास्त्र द्वारा ज्ञेय अर्थ को ही सत्य कहते हैं। उसी का अनुष्ठान करना धर्म है। शास्त्र के तात्पर्यरूप से उसका ज्ञान होने

१. धर्मस्य प्रशास्तृत्वे हेतुमाह—उग्रादपीति। न हि बलवदपि क्षत्त्रं मर्यादामतिक्रामति धर्मेण नियमितत्वादिति भावः। २. प्रशस्तम्। ३. उक्तानुभवात्। ४. अनुभवनम्। ५. स्पर्धमान इति—धर्मात्मकबलाश्रयात् भूपं जेतुमुत्सहते एव तथाऽन्यत्रापि धर्मस्योत्कर्षसिद्धिरिति शेष।

वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तꣳ सत्यं
वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥१४॥

को जोतना चाहता है। जो धर्म है, वह नि सन्देह सत्य ही है। इसीलिये सत्य बोलने वाले को यह धर्म बोलता है तथा धर्मभाषण करने वाले को कहते हैं कि यह सत्यभाषण करता है, क्योंकि ये दोनो धर्म ही है। (अत ज्ञान और अनुष्ठान के अनुरूप धर्म, शास्त्रज्ञ तथा अशास्त्रज्ञ सबका नियन्ता होने से क्षत्रिय का भी नियामक है) ॥ १४ ॥

यो वै स धर्मो व्यवहारलक्षणो लौकिकैर्व्यवह्रियमाणः सत्यं वै तत्सत्यमिति यथाशास्त्रार्थता स एवानुष्ठीयमानो धर्मनामा भवति। शास्त्रार्थत्वेन ज्ञायमानस्तु सत्य भवति। यस्मादेवं तस्मात्सत्यं यथाशास्त्रं वदन्तं व्यवहारकाल आहुः समीपस्था उभयविवेकज्ञा धर्मं वदतीति प्रसिद्धं लौकिकं न्यायं वदतीति तथा विपर्ययेण धर्मं वा लौकिकं व्यवहारं वदन्तमाहुः सत्यं वदति। शास्त्रादनपेतं वदतीति। एतद्यदुक्तमुभयं ज्ञायमानमनुष्ठीयमानं चैतद्धर्म एव भवति। तस्मात्स धर्मो ज्ञानानुष्ठानलक्षणः शास्त्रज्ञानितराश्च

हेत्वन्तरमाह—य या वा इति। कथं धर्मस्य सत्यत्व 'स हि पुण्यधर्मो वचनधर्मः सत्यत्वमित्यवान्तरभेदादित्याशङ्क्याऽऽह—स एवेति। यथोक्ते विवेके लोकप्रसिद्धिं प्रमाणयति—यस्मादिति। उभयशब्दो धर्मसत्यविषय। धर्मं वदतीत्येतदेव विभजते—प्रसिद्धमिति। यथा शास्त्रानुसारेण वदन्तं धर्मं वदतीति वदन्ति तथा पूर्वोक्तवचनवैपरीत्येन, धर्मं वदन्त सत्यं वदतीत्याहुरिति योजना। धर्ममेव व्याचष्टे—लौकिकमिति। सत्य वदतीत्येतदेव स्फुटयति—शास्त्रादिति। "कार्यकारणभावेना"नयोरेकत्वमुपसहरति—एतदिति। "शास्त्रार्थसशये शिष्टव्यवहाराच्छिश्रयो" यथा यववराहादिशब्देषु। "धर्मसशये तु शास्त्रार्थवशान्निर्णयो यथा "चैत्यवन्दनादिव्युदासेनाग्निहोत्रादौ। "अतो हेतुहेतुमद्भावादुभयोरैक्यमिति भाव।

से वह सत्य है। उक्तरीति से दोनो मे अभेद होने के कारण लोकव्यवहार मे 'सत्यम्' अर्थात् शास्त्रानुसार भाषण करने वाले को धर्म और सत्य के मर्मज्ञ मध्यस्थ लोग "यह धर्मयुक्तवचन बोलता है, लोकानुष्ठेय होने से प्रसिद्ध लौकिक न्याय कहता है" ऐसा कहते है। इसी तरह इससे विपरीत 'धर्मम्' अर्थात् लौकिक व्यवहार बताने वाले को "यह सत्य बोलता है, शास्त्र के अनुकूल बोलता है" ऐसा कहते है। ये जो ज्ञात की जाने वाली दोनो बातें बतायी गयी है। ये दोनो धर्म ही है। अत. ज्ञान और अनुष्ठानपरक धर्म शास्त्रवेत्ता और अशास्त्रवेत्ता सभी का नियन्त्रण करता है। इसलिए वह क्षत्रियजाति

---

१ यागादिरूप। २ प्रसिद्धम्। ३ शास्त्रज्ञतेति यावत्। ४ उक्तरीत्योभयोरभेद। ५ मध्यस्था। ६ लोकानुष्ठानरूप। ७. अविरुद्धमनुकूलम्। ८. यागादिरूपो धर्म। ९ वाङ्मात्रवृत्ति। १० परस्परम्। ११ सत्यधर्मयो। १२. सत्यधर्मयो पूर्वोक्त कार्यकारणभाव. कथमित्याशङ्क्य धर्मस्य सत्य प्रति हेतुत्व तावदुपपादयति—शास्त्रार्थसशय इति। सत्यसशये सतीत्यर्थ। 'यव धान्ये, पृथक्कृतौ। वराहो नाऽऽनके किरौ मेघे मुस्ते गिरौ विष्णाविति" च हैम। किरि. सूकर। १३ भवति। १४ अधुना सत्यस्य धर्मं प्रति हेतुत्वमुपपादयति—धर्मसशय इति। १५. चैत्य जैनमन्दिर तद्वता वा तद्वन्दने धर्मत्वमपाकृत्याग्निहोत्रादौ धर्मत्वनिश्चय शास्त्राद्भवतीति। १६ व्याप्तिपत्ति।

तदेतद्ब्रह्म क्षत्त्रं विट्शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्त्रियेण क्षत्त्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत् ।

वे ये ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं। इनका स्रष्टा ब्रह्म अग्निरूप से देवताओं मे ब्राह्मणजाति हुआ। यही ब्रह्म मनुष्यों ब्राह्मणरूप से ब्राह्मण, क्षत्रियरूप से क्षत्रिय, वैश्यरूप से वैश्य और शूद्ररूप से शूद्र हो गया। इसीलिए अग्नि मे ही देवताओं के बीच म कर्म करते हुए कर्मफल की इच्छा करते है, क्योंकि इन्ही अग्नि तथा ब्राह्मण दोनो रूपों से ब्रह्म प्रकट हुआ था। जो भी कोई पुरुष

सर्वानेव नियमयति । तस्मात्स क्षत्त्रस्यापि क्षत्त्रमतस्तदभिमानोऽविद्वांस्तद्विशेषानुष्ठानाय ब्रह्मक्षत्त्रविट्शूद्रनिमित्तविशेषमभिमन्यते । तानि च निसर्गत एव कर्माधिकारनिमित्तानि ॥१४॥

तदेतच्चातुर्वर्ण्यं सृष्टं ब्रह्म क्षत्त्रं विट्शूद्र इत्युत्तरार्थ उपसंहारः । यत्तत्स्रष्टृ ब्रह्म तदग्निनैव नान्येन रूपेण देवेषु ब्रह्म ब्राह्मणजातिरभवद्ब्राह्मणो ब्राह्मणस्वरूपेण

धर्मस्य सत्यादभेदे फलितमाह—'तस्मादिति । तस्य सर्वनियन्तृत्वेऽपि प्रकृते किमायातं तदाह—"तस्मात्स इति । "तर्हि यथोक्तधर्मवशादेव कर्मानुष्ठानसिद्धेर्वर्णाश्रमाभिमानस्याकिंचित्करत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—"अत इति । धार्मिकत्वाद्यभिमानो ब्राह्मण्याद्यभिमानं पुरोधायानुष्ठापकश्चेत्तदभिमानोऽपि तथैवाभिमानान्तरं पुरस्कृत्यानुष्ठापयेदित्याशङ्क्याऽऽह—"तानि चेति । न खल्वविदुषो धार्मिकस्य ब्राह्मण्यादिषु निमित्तेषु सत्सु कर्मप्रवृत्तौ निमित्तान्तरमपेक्ष्यते प्रमाणाभावादित्यर्थः ॥ १४ ॥

पुनरुक्तिवैयर्थ्यमाशङ्क्योक्तम्—उत्तरार्थ इति । "पूर्वत्र देवेषु दर्शितस्य वर्णविभागस्य मनुष्येषूत्तरग्रन्थेन योजनार्थं इति यावत् । सृष्टवर्णचतुष्टयनिविष्टमवान्तरविभागमभिधातुमारभते—यत्तदिति । नान्येन देवान्तररूपेण क्षत्त्रादिविकारमन्तरेणेति यावत् । विकारान्तरमग्निब्राह्मणलक्षणम् । क्षत्त्रि-

---

का भी नियामक है। अतः उस धार्मिकत्व का अभिमान रखने वाला अब्रह्मवित् पुरुष उसके धर्मविशेष रूप का अनुष्ठान करने के लिए ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अथवा शूद्ररूप निमित्तविशेष मे करने लगता है। ये ब्राह्मणादिवर्ण स्वभावतः ही कर्मप्रवृत्ति मे निमित्त है ॥१४॥

इस प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारो वर्णों की सृष्टि की, यह उपसंहार

---

१ नियमतः प्रवर्तयति । २ धार्मिकत्वाभिमान । ३ बृहस्पतिसंवादिधर्मविशेष । ४ एतन्निमित्तविशेषमित्यर्थः । ५ अभिमन्यत इति—तथा च धार्मिकत्वाभिमानमात्रं न कर्मानुष्ठानप्रयोजकमपितु वर्णाश्रमाद्यभिमानपूर्वकमतो न तस्याकिंचित्करत्वमिति भावः । ६ दैवम् । ७ अग्निरूपेण । ८ तयोरभेदात् । ९ धर्मस्य क्षत्त्रक्षत्त्रत्वे । १० धर्मस्य सर्वनियन्तृत्वात् । ११ तस्य सर्वनियन्तृत्वे । १२ तस्य क्षत्त्रस्यापि नियन्तृत्वात् । १३ ब्राह्मण्यादीनि निमित्तानि । १४ पूर्वत्रेति—अथेत्यभ्यमन्थदित्यग्निसर्गोक्तावप्यग्नेस्तत्र ब्राह्मण्यं नोक्तमिति तद्वचनायायमुपसंहार इत्यपि द्रष्टव्यम् । १५ अग्न्यात्मकं ब्राह्मणलक्षणम् ।

अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति
स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाऽननुक्तो-
ऽन्यद्वा कर्माकृतं यदिह वा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं कर्म
करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवाऽऽत्मानमेव लोक--

आत्मा को जाने बिना ही इस लोक से चला जाता है, वह इस अज्ञात आत्मलोक का शोकादिनिवृत्ति के द्वारा पालन नही करता, जैसे अध्ययन के बिना स्वरूपतः वेद, या अनुष्ठान के बिना स्वरूपतः कोई अन्य कर्म, पुरुष का पालन नही करता वैसे ही आत्मा को न जानने वाला पुरुष यदि इस लोक मे कोई महान् पुण्य करता भी हो तो अन्त मे उसका वह सुकृत नष्ट हो ही जाता है। अतः जो आत्म

मनुष्येषु ब्रह्माभवदितरेषु वर्णेषु 'विकारान्तरं प्राप्य क्षत्त्रियेण क्षत्त्रियोऽभवदिन्द्रादिदेवता-धिष्ठितो' वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रः। 'यस्मात्क्षत्त्रादिषु विकारापन्नमग्नौ ब्राह्मण एव चाविकृतं स्रष्टृ ब्रह्म तस्मादग्नावेव देवेषु देवानां मध्ये लोकः कर्मफलमिच्छन्त्यग्निसबद्धं कर्म कृत्वेत्यर्थः। तदर्थमेव हि तद्ब्रह्म 'कर्माधिकरणत्वेनाग्निरूपेण व्यवस्थितम्। तस्मात्तस्मिन्नग्नौ कर्म कृत्वा तत्फलं प्रार्थयन्त इत्येतदुपपन्नम्।

येणेत्यत्र विवक्षितमर्थमाह—इन्द्रादिदेवताधिष्ठित इति। वैश्येनेति वस्वाद्यधिष्ठितत्वमुच्यते। शूद्रेणेति पूषाधिष्ठितत्वम्। अग्न्यादिभावमापन्नस्य क्षत्त्रादिभावो न तु क्षत्त्रादिभावमापन्नस्याग्न्यादिभाव इत्येतावन्मात्रेण ब्रह्मणो विकृतत्वाविकृतत्वमग्निब्राह्मणस्तुत्यर्थमुक्तमित्यभिप्रेत्य तस्मादित्यादि व्याचष्टे—यस्मादिति। यथोक्तप्रार्थनाया न्याय्यत्वं साधयति—तदर्थमेवेति। कर्मफलदानार्थमिति यावत्।

अग्रिम ग्रन्थ से सम्बन्धद्योतन के लिए है। वह जो सृष्टिकर्ता ब्रह्म था वह अग्निरूप से ही देवताओं मे ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मणजाति हुआ किसी अन्य रूप मे नही। वह ब्रह्म मनुष्यों मे ब्राह्मण' अर्थात् अग्निरूप से ब्राह्मण हुआ। इसी प्रकार अन्य वर्णों मे अग्नि की अपेक्षा विकारान्तर को प्राप्त होकर क्षत्रियरूप मे इन्द्रादि देवताओ से अनुगृहीत क्षत्रिय हुआ तथा वैश्यरूप से वैश्य और शूद्ररूप से शूद्र हुआ। क्योंकि आकाशादिरूप मे अविकृत सृष्टिकर्ता ब्रह्म क्षत्रियादि मे विकार को प्राप्त हो गया है, केवल अग्नि और ब्राह्मण मे स्थित हो वह विकारशून्य है इसलिये लोकव्यवहार मे देवो मे अग्निदेवता मे ही अग्निसम्बन्धी कर्म करके कर्मफल की इच्छा करते है। उसी निमित्त से वह ब्रह्म होमादिकर्म के आधारभूत अग्निरूप से स्थित है। इसलिए उस अग्निनिमित्तक कर्म को करके मनुष्य उसके फल की प्रार्थना करते है यह उचित ही है।

---

१ अग्न्यपेक्षया। २ नियन्त्रितोऽनुगृहीतश्च। ३ यस्मादिति—यस्मादाकाशाद्यात्मना विकृतमपि स्रष्टृ ब्रह्म क्षत्त्रादिरूपेणाविकृतमेव अग्नौ ब्राह्मणे च स्थितमितरत्र तु अग्न्याद्यात्मनाविकृतमेव तस्मादित्यर्थः। ४ होमादि। ५ निमित्त। ६ एतावन्मात्रेणेति—न तु सर्वथैवाविकृतं स्रष्टृ ब्रह्माग्निब्राह्मणभावापन्नमाकाशादिरूपेण तु पूर्वं विकृतत्वादित्यर्थः।

मुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते । [1]अस्माद्ध्येवाऽऽत्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते ॥१५॥

लोक की ही उपासना करता है, उसका कर्म नष्ट नही होता। इस आत्मा से ही पुरुष जिस-जिस को चाहता है, उस-उस को बना लेता है ॥१५॥

ब्राह्मणे मनुष्येषु मनुष्याणां पुनर्मध्ये कर्मफलेच्छायां नाग्न्यादिनिमित्तक्रियापेक्षा किं तर्हि जातिमात्रस्वरूपप्रतिलम्भेनैव पुरुषार्थसिद्धिः । यत्र तु देवाधीना पुरुषार्थसिद्धिस्तत्रैवाग्न्यादिसंबद्धक्रियापेक्षा । स्मृतेश्च—"[2]जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते" इति ॥

मनुष्याणा मध्ये कमपि मनुष्यमवलम्ब्य कर्मफल[3]भोगापेक्षायामधिकरणसप्रदानभावेनावस्थिताग्नीन्द्रादिनिमित्तक्रियापेक्षा नास्ति किंतु ब्राह्मणजातिप्राप्तिमात्रेण तत्संबद्धं जप्यादि कर्म[4]इयं भावीति तन्मात्रेण पुरुषार्थं सिध्यतीति प्रतीकग्रहणपूर्वकमाह—मनुष्याणामिति । कुत्र तर्हि यथोक्तक्रियापेक्षेति तत्राऽऽह—यत्र त्विति । देवाना मध्येऽग्निसबद्धमेव कर्म कृत्वा पुरुषार्थलाभो मनुष्याणा मध्ये तु ब्राह्मण्यप्रयुक्तजप्यादिमात्रेण तत्प्राप्तिरित्यत्र प्रमाणमाह—स्मृतेश्चेति । जप्यग्रहण जातिमात्रप्रयुक्तकर्मोपलक्षणार्थम् । अन्यदग्निसबद्ध कर्म । कोऽय ब्राह्मणो नाम तत्राऽऽह—मैत्र इति । सर्वेषु भूतेष्वभयप्रदो [6]विशिष्टजातिमानिति यावत् । ननु यथोक्तस्मृतेर्ब्राह्मण्यप्रतिलम्भमात्रादभ्युदयलाभेऽपि

'ब्राह्मणे मनुष्येषु' अर्थात् मनुष्यो के मध्य कमफल की इच्छा होने पर अग्न्यादिनिमित्तक कर्म की अपेक्षा नही है, तो क्या है ? वहाँ ब्राह्मणजातिमात्र का स्वरूप उपलब्ध हो जाने से पुरुषार्थ-सिद्धि हो जाती है । जहाँ पुरुषार्थसिद्धि देवाधीन होती है, वही अग्न्यादि से सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओ की अपेक्षा होती है । यही बात स्मृति भी प्रतिपादित करती है—"ब्राह्मण अग्न्यादि अन्य कर्म करे अथवा न करे, सर्वभूतो को अभयप्रदान करने से अशेष सद्गुणा से विशिष्ट 'मैत्र' कहलाता है, जपात्मक मानसकर्म द्वारा वैराग्य, सन्यास व ब्रह्मलोक प्राप्ति के क्रम से नि श्रेयस को प्राप्त कर लेता है, इसमे लेशमात्र भी सन्देह नही है।"

इसके अतिरिक्त कर्मकाण्डी ब्राह्मण के लिए सन्यास का विधान होने से भी मनुष्यलोक मे उसकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है। अत मनुष्यो मे ब्राह्मण होने पर ही 'लोकम्' यानी कमफल की इच्छा

---

१ अस्मादिति—स आत्मोपासक यद्यदिष्ट कामयते, अस्मादेवात्मलोकाज्ज्ञातात्तत्तदिष्ट सृजते उत्पादयते प्राप्नोति न साधनान्तरमपेक्षत इत्यर्थ । तथा च वार्तिके—"यद्यत्कामयते कामी कर्मभूभाववस्थित । अस्मादेवाऽऽत्मविज्ञानात्तत्तत्सुखमुपाश्नुते ॥ १६८६ ॥ इति । २ जप्येनेति—जपात्मकमानसकर्मणा । ससिद्ध्येत्—वैराग्यसन्यासब्रह्मलोकप्राप्तिक्रमेण नि श्रेयस लभेतेत्यर्थ । जप्यस्य नि शेषपापनिबर्हणत्वादित्यर्थ । ३ सपादनेच्छायाम् । ४ जप्यादि विना ब्राह्मण्यासमवात् । ५ मनुष्यसाध्यपुरुषार्थेऽग्न्यादिसाध्यक्रियानपेक्षत्वे । ६ विशिष्टेति—सर्वभूताभयप्रदत्वाद्यशेषसद्गुणविशिष्टा या ब्राह्मणत्वजातिस्तद्वानेव जप्यमात्रसिद्धपर्हो ब्राह्मणो नामेत्यर्थ ।

पारिव्राज्यदर्शनाच्च । 'तस्माद्ब्राह्मणत्व एव मनुष्येषु लोक कर्मफलमिच्छन्ति'। यस्मादेताभ्या हि ब्राह्मणाग्निरूपाभ्या कर्मकर्त्रधिकरणरूपाभ्यां यत्स्रष्टृ ब्रह्म साक्षादभवत् ।

अत्र तु परमात्मलोकमग्नौ ब्राह्मणे चेच्छन्तीति केचित् । तदसत् । अविद्याधिकारे'कर्माधिकारार्थं वर्णविभागस्य प्रस्तुतत्वात्परेण' च विशेषणात् । यदि ह्यत्र लोकशब्देन पर एवाऽऽत्मोच्येत परेण विशेषणमनर्थक 'स्यात्स्वं लोकमदृष्ट्वेति । स्वलोकव्यतिरिक्तश्चे दग्न्यधीनतया प्रार्थ्यमान प्रकृतो लोकस्ततः स्वमिति युक्तं विशेषणं प्रकृत-

---

फलस्ततो निःश्रेयससिद्धिस्तत्राऽऽह—पारिव्राज्येति । 'ब्राह्मणा व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति ब्राह्मणस्य पारिव्राज्य श्रूयते तच्च सन्यासाद्ब्रह्मण स्थानमिति" ब्रह्मलोकसाधन गम्यते । "अतश्च ब्राह्मणजातिनिमित्तं "लोकमिच्छन्तीति युक्तमित्यर्थं । ब्राह्मणे मनुष्येष्वित्यस्यार्थमुपसहरति—तस्मादिति । 'हेतुवाक्यमादाय व्याचष्टे—यस्मादिति । हिशब्दार्थो यस्मादित्युक्त । यत्स्रष्टृ ब्रह्म तदेताभ्या यस्मा"त्साक्षादभवत्तस्मादग्नावेवेत्यादि युक्तमिति योजना ।

अग्नौ हुत्वा "ब्राह्मणे च दत्त्वा परमात्मलक्षण लोकमाप्तुमिच्छन्तीति भर्तृप्रपञ्चव्याख्यानमनुवदति—अत्रेति । सप्तमी तस्मादित्यादिवाक्यविषया । प्रक्रमालोचनाया कर्मफलमिह" लोकशब्दार्थो न परमात्मा प्रक्रमभङ्गप्रसङ्गादिति दूषयति—तदसदिति । कर्माधिकारार्थं कर्मसु प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थमिति यावत् । वाक्यशेषगतविशेषणवशादपि कर्मफलस्यैवात्र लोकशब्दवाच्यत्वमित्याह—परेण चेति । "तदेव प्रपञ्चयति—यदि हीति । परपक्षे स्वमिति विशेषण व्यावर्त्याभावान्न घटते चेत्स्वपक्षेऽपि कथ तदुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—स्वलोकेति । परशब्दोऽनात्मविषय । ननु प्रकृते वाक्ये लोकशब्देन परमात्मा

करते हैं क्योंकि कर्म का कर्ता ब्राह्मण और कर्म का अधिकरण अग्नि है, इन दो रूपो म सृष्टिरचयिता ब्रह्म ही व्यक्त हुआ था।

अग्नि म हवन कर ब्राह्मण को दान देकर परमात्मलोक की प्राप्ति की इच्छा करते है, भर्तृप्रपञ्च के मत के कुछ लोग ऐसा कहते है । ऐसा कहना ठीक नही है। अविद्या के कार्य चातुर्वण्यादिप्रकरण मे कर्माधिकार के लिए वर्णविभाग का वर्णन किया गया है क्योंकि यहाँ श्रुतिवाक्य मे 'लोक' शब्द, परमात्मा का विशेषणरूप से अन्वय करने के लिए है। यदि इस वाक्य मे 'लोक' शब्द से परमात्मा का ग्रहण किया जाय तो "स्व लोकमदृष्ट्वा" यह विशेषण व्यावर्त्याभाव होने से अनुपयोगी सिद्ध हो जायगा। यदि अग्नि के अधीन प्रार्थित प्रकृतलोक आत्मरूपलोक से भिन्न हो तभी 'स्व' यह विशेषण प्रस्तुत अनात्मलोक की निवृत्ति के लिए होने के कारण उपयुक्त होगा। क्योंकि प्रत्यक्रूप से

---

१ ब्राह्मण्यस्य ब्रह्मलोकसाधनत्वात् । २ निमित्ते सति । ३ कर्मणि । ४ रूप्यमवत् । ५ अविद्याकार्ये चातुर्वर्ण्यादिप्रकरणे । ६ परेण चेति—लोकशब्दार्थेत परेण परमात्मना स्वशब्दार्थस्यात्मनो विशेषणात् । ७ वाक्ये । ८ व्यावर्त्याभावात् । ९ आत्मरूपलोक । १० बृ० उ० ३।५।१, ४।४।२२ । ११ स्मृत्या । १२ ब्राह्मण्यस्य सन्यासद्वारा ब्रह्मलोकसाधनत्वात् । १३ कर्मफलम् । १४ अग्निब्राह्मणयो क्षत्राद्यपेक्षप्राधान्ये हेतुभूत वाक्यम् । १५ क्षत्रादिविकारमन्तरेण । १६ ब्राह्मणायेत्यर्थं । १७ अस्मिन् वाक्ये । १८ परेण विशेषणत्वमेव । विशेषणत्वेनान्वयकरणादित्यर्थं ।

परलोकनिवृत्त्यर्थत्वात्[1]। स्वत्वेन[2] चाव्यभिचारात्परमात्मलोकस्य। अविद्याकृतानां च स्वत्वव्यभिचारात्। ब्रवीति च कर्मकृतानां व्यभिचारं क्षीयत एवेति[3]।

ब्रह्मणा सृष्टा वर्णाः[4] कर्मार्थम्। तच्च कर्म धर्माख्यं सर्वानेव कर्तव्यतया नियन्तृ पुरुषार्थसाधनं च। तस्मात्तेनैव चेत्कर्मणा स्वो लोकः परमात्माख्योऽविदितोऽपि प्राप्यते किं तस्यैव पदनीयत्वेन क्रियत इत्यत आह—अथेति पूर्वपक्षविनिवृत्त्यर्थः। य[22] कश्चिद्वा अस्मात्संसारिकात्पिण्डग्रहणलक्षणादविद्याकामकर्महेतुकादग्न्यधीनकर्माभिमानतया वा ब्राह्मणजातिमात्रकर्माभिमानतया वाऽऽगन्तुकादस्वरूपभूतात् लोकात्स्वं लोकमात्मा-

नोच्यते चेदुत्तरवाक्येऽपि तेन नासावुच्येत विशेषाभावादित्याशङ्क्य विशेषणसामर्थ्यान्नैवमित्याह—स्वत्वेन चेति। कर्मफलविषयत्वेनापि विशेषणस्य नेतुं शक्यत्वान्न विशेषसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—अविद्येति। तेषां स्वरूपव्यभिचारे वाक्यशेषं प्रमाणयति—ब्रवीति चेति।

उत्तरवाक्यव्यावर्त्यं पूर्वपक्षमाह—ब्रह्मणेति। तत्पुनरचेतनमकिंचित्करमित्याशङ्क्याऽऽह—तच्चेति। सर्वैरेव वर्णैः स्वस्य कर्तव्यतया तान्प्रति नियन्तृ भूत्वेति योजना। तस्य पुमर्थोपायत्वप्रसिद्धिमादाय फलितमाह—तस्मादिति। अविदितोऽपीति च्छेदः। देवतागुणं कर्म मुक्तिहेतुरिति पक्षं प्रतिक्षेप्तुमुत्तरं वाक्यमुत्थापयति—अत आहेति। ज्ञानादेव मुक्तिर्न कर्मणेत्यागमप्रसिद्धमिति निपातयोरर्थः। तत्र निमित्तमुपादानं चेति द्वयं संक्षिपति—अविद्येति। निमित्तं विवृणोति—अग्न्यधीनेति।

परमात्मलोक अव्यभिचारी नहीं है, केवल अविद्याकृत लोकों का व्यभिचार है। कर्मजनित लोकों का परमात्मलोक से 'क्षीयत एव' इस वाक्य में श्रुति व्यभिचार बतलाती है।

ब्रह्मा ने वर्णाश्रमादि सृष्टि कर्म करने के लिए की थी। वह कर्म धर्मनाम वाला है, जो कर्तव्यरूप से सभी का नियन्ता एवं परमार्थ का साधन है। अतः यदि उसी ही कर्म द्वारा स्वर्लोक या परमात्मलोक अज्ञात होने पर भी प्राप्त हो जाता है, तो उपलब्धरूप से उसी के लिए और क्या करने की आवश्यकता है? इस पर श्रुति कहती है। 'अथ' यह पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए है। 'य' अर्थात् जो कोई भी 'ह वै अस्मात्' इस अविद्या कामकर्मजनित एवं अग्नि के अधीन कर्माभिमान के कारण अथवा ब्राह्मणजातिमात्र के कर्माभिमान के कारण उत्पन्न, आरोपित सांसारिक (अहममाभिमानरूप) पिण्डग्रहण से, आत्मरूप से गृहीतदेह से आत्मसंज्ञक लोक का, जो आत्मस्वरूप होने से

१ स्वत्वेनेति—स्वत्वं प्रत्यक्त्वं तेनाव्यभिचारित्वं परमात्मनोऽस्ति तस्य सर्वप्रत्यक्त्वात्। २ अनात्मनस्तु कर्म कामत्वं परा च तद्व्यभिचारित्वमतिस्फुटमित्याह—अविद्येति। ३ बृ० उ० १।४।१५। ४ आश्रमादिसर्वधर्मोपलक्षणमिदं वर्णादिदेहस्वभावं कर्मानुष्ठानयोग्यम्। ५ चेतनात्मकम्। ६ कर्मणः पुमर्थसाधकत्वात्। ७ ननु तत्रापि कथमवध्रियते ज्ञानस्यापि तत्र हेतुत्वसंभवादित्याशङ्क्य समुच्चयं (ज्ञानकर्मणोः) निरसितुं विशिनष्टि अविदितोऽपीति। "कर्मणैव हि संसिद्धि"मित्यादिस्मृतौ निरपेक्षस्यैव कर्मणः संसिद्धिशब्दिते मोक्षे साधकत्वावगमादित्यर्थः। ८ ज्ञातव्यत्वेन। ९ यदुक्तं तन्नेत्यर्थकोऽथ। १० आरोपितात्। ११ अहममाभिमानरूपात्। १२ उत्पन्नात्। १३ उत्पत्तिविनाशभाक्त्वादेव वस्तुतोऽनात्मनः। १४ आत्मत्वेन गृहीतात्। १५ देहात्। १६ प्रत्यञ्चम्। १७ शब्दे। १८ अनात्मलोकप्रतिपादकत्वेन। १९ कर्म। २० कर्मणः। २१ कर्मणः। २२ देवतात्मको यो गुणः शेषः तच्छेषं कर्म देवताधिष्ठितं वा कर्मेत्यर्थः। २३ पिण्डग्रहणम्।

स्यमात्मत्वेनाव्यभिचारित्वाददृष्ट्वाऽहं ब्रह्मास्मीति प्रैति म्रियते । स यद्यपि स्वो लोकोऽविदितोऽविद्यया व्यवहितोऽस्व इवाज्ञात एनं संख्यापूरण इव लौकिक आत्मानं न भुनक्ति न पालयति शोकमोहभयादिदोषापनयेन ।

यथा च लोके वेदोऽननूक्तोऽनधीतः कर्माद्यवबोधकत्वेन न भुनक्त्यन्यद्वा लौकिकं कृष्यादि कर्माकृतं स्वात्मनाऽनभिव्यञ्जितमात्मीयफलप्रदानेन न भुनक्त्येवमात्मा स्वो लोकः स्वेनैव नित्यात्मस्वरूपेणानभिव्यञ्जितोऽविद्यादिप्रहाणेन न भुनक्त्येव ।

ननु किं स्वलोकदर्शननिमित्तपरिपालनेन कर्मणः फलप्राप्तिध्रौव्याविष्टफलनिमि-

---

आत्माख्यस्य लोकस्य सत्त्वे हेतुमाह—आत्मत्वेनेति । अहं ब्रह्मास्मीत्यदृष्ट्वेति संबन्धः । यः परमात्मानमविदित्वैव म्रियते तमेनं परमात्मा न पालयतीति योजना । परमात्मनः स्वरूपत्वादविदितस्यापि पालयितृत्वं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—स यद्यपीति । लोकशब्दादुपरिष्टात्तथाऽपीति द्रष्टव्यम् । अविदित इत्यस्य व्याख्यानमविद्ययेत्यादि । परमात्माख्यो लोको नाज्ञातो भुनक्तीत्यत्र कर्मफलभूत लोकं वैधर्म्यदृष्टान्ततया दर्शयति—अस्व इवेति । अज्ञातस्यापालयितृत्वे साधर्म्यदृष्टान्तमाह—सख्येति । यथा लौकिको दशमो दशमोऽस्मीत्यज्ञातो न शोकादिनिवर्तनेनाऽऽत्मानं भुनक्ति तथा परमात्माऽपीत्यर्थः ।

तत्रैव श्रुत्युक्तं दृष्टान्तद्वयं व्याचष्टे—यथा चेत्यादिना । अविद्यादीत्यादिशब्देन तदुत्थं सर्वं संगृह्यते ।

यदिहेत्यादिवाक्यापोह्यं चोद्यमुत्थापयति—नन्विति । नन्वनिष्टफलनिमित्तस्यापि कर्मणः फलप्राप्तिध्रौव्यात्कथं कर्मणा मोक्षः सेत्स्यति तत्राऽऽह—इष्टेति । बाहुल्यमश्वमेधादिकर्मणो महत्तरत्वं

"प्रैति" अर्थात् मर जाता है; यद्यपि वह लोक अव्यभिचारी है, "मैं ब्रह्म हूं" इस प्रकार न जानकर प्रत्यग्रूप है तथापि 'अविदित' यानी, अविद्या से व्यवहित अप्रत्यक् के समान अज्ञात रहने पर 'एनम्' लौकिक दृष्टान्त मे दशम सख्यापूर्ति के समान इस आत्मा का 'न भुनक्ति' अर्थात् शोक, मोह एव भय आदि दोषो की निवृत्ति द्वारा पालन नही करता ।

जिस प्रकार लोकव्यवहार मे 'अननुक्त' अर्थ विना अध्ययन किया हुआ वेद, कर्मादि के अवबोधरूप से पालन नही करता, अथवा अन्य कृषि आदि लौकिक कर्मो का 'अकृतम्' अर्थात् स्वरूप से अनुष्ठित न होने से अपने फल प्रदान के द्वारा पालन नही करता, उसी प्रकार प्रत्यग्रूप आत्मा अपने नित्य आत्मस्वरूप से अभिव्यञ्जित न होने के कारण अविद्यादि के विनाश के द्वारा पालन नही करता ।

यहाँ शङ्का उठती है, तो फिर आत्मलोक के ज्ञान के कारण होने वाले परिपालन से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? कर्मफलप्राप्ति के अक्षय होने से मोक्ष के कर्मफलक होने से इष्टफल के हेतुक

---

१ म्रियत इति—ज्ञानादज्ञाननिवृत्तिर्विदुषो मरणम्, स्वाज्ञानात्म संसर्गोऽज्ञस्य मरण सघाताभिमानपरित्याग-पुरःसर (स्थूलदेहत्यागपूर्वकम्) अज्ञानपरवशत्वमिति यावदिति विवेकः । यो हि परमात्मानमात्मत्वेनाविदित्वाऽस्मादात्मत्वेन गृहीतादनात्मभूताद्देहान्म्रियतेऽपक्रामति तदभिमानं परित्यजन्नविद्यापरवशोऽवश्य भवतीति वाक्यार्थ । २ प्रत्यग्रूप । ३ तथापि । ४ दशत्वसंख्यापूरक । ५ कर्मफलप्राप्तेरक्षयत्वात् कर्मफलत्वादेव मोक्षस्येति यावत् । ६ स्वेत्यर्थः । ७. व्यतिरेकिदृष्टान्ततया । ८. अन्वयिदृष्टान्तम् । ९. अज्ञातस्यारक्षकत्वे ।

त्स्यं च कर्मणो बाहुल्यात्तन्निमित्तं पालनमक्षयं भविष्यति । तन्न । कृतकस्य क्षयवत्त्वादित्येतदाह—यदिह वै संसारेऽद्भुतवत्कश्चिन्महात्माऽप्यनेवंवित्स्वं लोकं यथोक्तेन विधिनाऽविद्वान्महद्वह्वश्वमेधादि पुण्यं कर्मेष्टफलमेव नैरन्तर्येण करोत्यनेनैवाऽऽनन्त्यं मम भविष्यतीति । तत्कर्म हास्याविद्यावतोऽविद्याजनितकामहेतुत्वात्स्वप्नदर्शनविभ्रमोद्भूतविभूतिवदन्ततोऽन्ते फलोपभोगस्य क्षीयत एव । तत्कारणयोरविद्याकामयोश्चलत्वात्कृतक्षयध्रौव्योपपत्तेस्तस्मान्न पुण्यकर्मफलपालनानन्त्याशाऽस्त्येव ।

अत आत्मानमेव स्वं लोकमात्मानमिति स्व लोकमित्यस्मिन्नर्थे स्वं लोकमिति

तद्धि दुरितमभिभूय मोक्षमेव संपादयिष्यतीत्यर्थः । यत्कृतकं तदनित्यमिति न्यायमाश्रित्य परिहरति—तन्नेत्यादिना । सप्तम्यर्थं संसार इति निपातार्थं सूचयति—अद्भुतवदिति । अनेवंवित्त्वं व्याकरोति—स्व लोकमिति । यथोक्तो विधिरन्वयव्यतिरेकादि । पुण्यकर्मच्छिद्रेषु दुरितप्रसक्तिं निवारयति—नैरन्तर्येणेति । तथा पुण्यं संचिन्वतोऽभिप्रायमाह—अनेनेति । प्रक्रान्तयच्छब्दापेक्षितं कथयति—तत्कर्मेति । प्रागुक्तन्यायद्योतो हेति निपातः । कारणरूपेण कार्यस्य ध्रुवत्वमाशङ्क्याऽऽह—तत्कारणयोरिति ।

मुक्तेरनित्यत्वदोषसमाधिस्तर्हि केन प्रकारेण स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अत इति । आत्मशब्दार्थमाह—स्व लोकमिति । तदेव स्फुटयति—आत्मानमितीति । आत्मशब्दस्य प्रकृतस्वलोकविषयत्वे

कर्म स्वभावतः अधिक होने से, उसके कारण उसका पालन (मोक्षाख्य) अक्षय हो जायगा । (जो कृतक है, वह अनित्य है, इस न्याय का अनुसरण कर समाधान देते हैं—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि किया हुआ कर्म क्षीण हो जाता है । इसे ही कहते हैं—'यदि ह वै' जो कोई अद्भुततुल्य महात्मा भी इस संसार में 'अनेवंवित्' यानी आत्मलोक को उपर्युक्त विधि से न जानने वाला अब्रह्मवित्, इस धारणा से कि "मुझे अनन्त फल की प्राप्ति होगी", निरन्तर बहुत से इष्टफल देनेवाले

१ मोक्षाख्यम् । २ प्रमादेनापि पापमनाचरतो नैरन्तर्येण च पुण्यमनुतिष्ठतो जगति दुर्लभत्वमभिप्रेत्योक्तम्—अद्भुतवदिति । आश्चर्यतुल्य इत्यर्थः । ३ अव्यवधानेन । ४ अक्षयमोक्षरूपम् । ५ दर्शनरूपो विभ्रमः । ६. क्षीयत एवेति—कर्मसाध्यत्वे मुक्तेरन्तवत्त्वं स्यात्तत्साध्यस्य गृहादेस्तन्नियमात् 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते' इत्यादिश्रुतेरिति भावः । ७ कर्मकारणयोरित्यर्थः । ८ क्षयित्वात् । ९. कर्मफलेत्यर्थः । १० कर्मसाध्यस्यानित्यत्वात् । ११ फलरूपं यत्पालनं रक्षणं तत्र । १२ कृतकस्यानित्यत्वात् । १३ आत्मानमेवेति—प्रत्यगभिन्नं परमात्मानमशेषानात्मदृष्टिपरिहारेणानिशमनुसदधीत । आत्माज्ञाना मोक्षे तन्नित्यता सिध्यति । मोहापिधानहानमात्रस्य ज्ञानाधीनत्वादिति भावः । सर्वस्य कार्यकारणात्मनोऽनर्थस्य तद्दृष्टेश्च निवृत्त्यर्थं प्रत्यङ्मात्रदृष्टिरेष्टव्या तदर्थमेव पदम् । तदुक्तं वार्तिके—' निःशेषानात्मसद्दृष्टिनिराकरणसिद्धये । एवेत्यवधृतिर्ज्ञेया प्रत्यङ्मात्रेक्षणाय तु'' ॥ १६८४ ॥ इति । पराग्दृष्ट्यपेक्षया प्रत्यग्दृष्टौ पुरुषार्थकृतं विशेषं दर्शयितुं तुशब्दः । १४ स्वरूपभूतम् । १५ परमात्मानम् । १६. प्रयुक्तम् । १७ अश्वमेधादिकर्म । १८ अन्वयव्यतिरेकेति—परमात्मलोकस्य स्वत्वेनाव्यभिचारोऽन्वयः । अनात्मलोकस्य तत्त्वेन व्यभिचारो व्यतिरेकः पदार्थशोधनादिरादिशब्दार्थः । १९ संधिषु । २० यत्कृतकं तदनित्यमिति न्यायद्योती । २१ ज्ञानेनापि तु तस्या साध्यत्वे सति । २२ आहेति—स्वपक्षेऽपि मोक्षस्य साध्यत्वादनित्यतेति चोद्योत्तरत्वेन वाक्यमवतारयतीत्यर्थः । २३ सद्ग्रहवाक्यम् ।

प्रकृतत्वादिह च स्वशब्दस्याप्रयोगादुपासीत । स य 'आत्मानमेव लोकमुपास्ते । तस्य 'किमित्युच्यते—न हास्य कर्म क्षीयते । कर्माभावादेवेति 'नित्यानुवादः । यथाऽविदुषः कर्मक्षयलक्षणं संसारदुःखं संततमेव न तथा तदस्य विद्यत इत्यर्थः । मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचनेति यद्वत् ।

स्वात्मलोकोपासकस्य विदुषो विद्यासंयोगात्कर्मैव न क्षीयते इत्यपरे वर्णयन्ति ।

हेत्वन्तरमाह—इह चेति । प्रयोगे तु पुनरुक्तिभयादर्थान्तरविषयत्वमपि स्यादित्यर्थः । विद्याफलमाकाङ्क्षाद्वारा 'निक्षिपति—स य इति । कर्मफलस्य क्षयित्वमुक्त्वा कर्मणोऽक्षयत्वं वदतो व्याहतिमाशङ्क्याऽऽह—कर्मेति । वाक्यस्य विवक्षितमर्थं वैधर्म्यदृष्टान्तेन व्याचष्टे—यथेति । अविदुष इति च्छेदः । "कर्मक्षयेऽपि" वा विदुषो दुःखाभावे दृष्टान्तमाह—मिथिलायामिति ।

आत्मानमित्यादि केवलज्ञानान्मुक्तिरित्येवंपरतया व्याख्यातं संप्रति "तत्र भर्तृप्रपञ्चव्याख्यामुत्थापयति—स्वात्मेति । आत्मलोकोपासकस्य कर्माभावे कथं तदक्षयवाचो" युक्तिरित्याशङ्क्य कर्मा-

---

अश्वमेधादि पुण्यकर्म भी करे; तो भी उस अब्रह्मवित् का अविद्याजनितकामहेतुक वह कर्म स्वप्न में दीखने वाले अमित-ऐश्वर्य के समान फलोपभोग के बाद क्षीण हो ही जाता है; क्योंकि कर्म के कारण अविद्या और काम क्षयस्वभाव वाले हैं; इसलिए उस कर्मफलविनाश की निश्चितता उचित ही है। इसलिए कर्मसाध्यता के अनित्य होने के कारण पुण्यकर्मफल के द्वारा अनन्तकाल तक रक्षण की आशा तो है ही नहीं।

उत्पन्न सभी पदार्थों के अनित्य होने के कारण 'आत्मानमेव' यानी प्रत्यगभिन्न परमात्मा की ही अर्थात् स्वरूपभूत परमात्मा की ही उपासना करे। 'स्व लोकम्' इस अर्थ में 'आत्मानम्' यह पद प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि यह प्रकरण "स्व लोकम्" यहाँ से प्रारम्भ होता है और यहाँ "स्व" शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। वह जो आत्मलोक की उपासना करता है, उसको क्या होता है? इस पर कहते हैं, उसका कर्म क्षीण नहीं होता क्योंकि यह नित्यसिद्ध कर्माभाव का अनुवाद है। भावार्थ यह है कि जिस प्रकार अब्रह्मवित् के लिए कर्मक्षयरूप संसारदुःख निरन्तर ही रहता है, उस प्रकार विद्वान् के लिए नहीं होता। जैसे ब्रह्मवित् विदेह राजा जनक के उद्‌गार है—"मिथिलापुरी के जल जाने पर भी मेरा कुछ भी नहीं जलता" इत्यादि।

(भर्तृप्रपञ्चमतानुयायी आदि) कुछ अन्य दार्शनिकों का विचार है कि स्वात्मलोक के विद्वान् उपासक का कर्म विद्या-साहचर्य होने के कारण क्षीण नहीं होता। वे ज्ञानकर्म के समुच्चय के अनुष्ठान-

---

१. वाक्ये। २. किं फलं भवतीति जिज्ञासायामिदमुच्यत इत्यर्थः। ३. नित्येति—कर्माभावादेवास्य कर्म न क्षीयत इति नित्यसिद्धस्यैव कर्माभावस्यायमनुवाद इत्यर्थः। ४. निरन्तरं भवति। ५ विदुषः। ६. दर्शयति। ७ अभ्युपगतेऽपि वा कर्मक्षये। ८ ननु 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि', 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते' इति विदुषोऽपि कर्मक्षयः प्रमाणसिद्धस्ततो 'न हास्य कर्म क्षीयते' इति विरुद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मक्षयेऽपीत्यादि। ९. वाक्यम्। १० वाक्ये। ११. वचसो युक्तत्वम्।

लोकशब्दार्थं च 'कर्मसमवायिनं द्विधा परिकल्पयन्ति किल, एको व्याकृतावस्थः 'कर्माश्रयो लोको हैरण्यगर्भाख्यस्तं कर्मसमवायिनं लोकं 'व्याकृत परिच्छिन्नं य उपास्ते तस्य किल परिच्छिन्नकर्मात्मदर्शिनः कर्म क्षीयते । 'तमेव कर्मसमवायिन लोकमव्याकृतावस्थ कारणरूप मापाद्य यस्तूपास्ते तस्यापरिच्छिन्नकर्मात्मदर्शित्वात्तस्य कर्म न क्षीयत इति ।

भवतीयं शोभना कल्पना न तु श्रौती । स्वलोकशब्देन प्रकृतस्य परमात्मनोऽभिहितत्वात् । स्वं लोकमिति प्रस्तुत्य स्वशब्दं विहायाऽऽत्मशब्दप्रक्षेपेण पुनस्तस्यैव प्रति-

भावस्यासिद्धिमभिसधाय 'कर्मसाध्य लोक व्याकृताव्याकृतरूपेण भिनत्ति—लोकशब्दार्थं चेति । 'औत्प्रेक्षिकी कल्पना न तु श्रौतीति वक्तु किलेत्युक्तम् । 'तत्राऽऽद्य लोकशब्दार्थमनूद्य तदुपासकस्य दोषमाह—एक इति । परिच्छिन्न कर्मात्मा ''तत्साध्यो व्याकृतावस्थो ''लोकस्तस्मिन्नहग्रहोपासकस्येति यावद् । किलशब्दस्तु पूर्ववत् । द्वितीय लोकशब्दार्थमनूद्य तदुपासकस्य लाभ दर्शयति—तमेवेति । यथा कुण्डलादेरन्तर्बहिरन्वेषणे सुवर्णातिरिक्तरूपानुपलम्भात्तद्रूपेणास्य ''नित्यत्व तथा कर्मसाध्य हिरण्यगर्भादिलोकं कार्यत्वादव्याकृत कारणमेवे यङ्गीकृत्य यस्तस्मिन्नहंबुद्ध्योपास्ते ''तस्यापरिच्छिन्नकर्मसाध्यलोकात्मोपासकत्वाद्ब्रह्मवित्त्व कर्मित्व च घटते ''तस्य खल्वात्मैव कर्म तेन तस्य तन्न क्षीयते । य पुनरद्वैतावस्थामुपास्ते तस्याऽऽत्मैव कर्म भवतीति हि भर्तृप्रपञ्चैरुक्तमित्यर्थः ।

आत्मानमित्यादिसमुच्चयपरमिति प्राप्त पक्ष प्रत्याह—भवतीति । श्रौतत्वाभावे हेतुमाह—स्वलोकेति । स्व लोकमदृष्ट्वेत्यत्र स्वलोकशब्देन ''परस्य प्रकृतस्याऽऽत्मानमेवेत्यत्र प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियापरिहारार्थमुक्तत्वान्नात्र'' लोकद्वैविध्यकल्पना युक्तेत्यर्थः । लोकशब्देनात्र परमात्मपरिग्रहे हेत्व-

रूप फल को कम से सम्बद्ध 'लोक' शब्द का अर्थ दो प्रकार से कल्पना करते हैं । उनमें एक तो कार्यरूप से स्थित ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठान साध्य हैरण्यगर्भाख्यलोक है, उस नामरूपाभिव्यक्त और परिच्छिन्न कमसम्बन्धी लोक की जो उपासना करता है, उस परिच्छिन्न कर्मात्मदर्शी का कम क्षीण हो जाता है । एव जो उस व्याकृतरूप मे स्थित कमसम्बन्धी लोक को अव्याकृतावस्था वाला अर्थात् कारण रूप निश्चय करके उपासना करता है, उस अपरिच्छिन्न कर्मात्मदर्शी का वह कम क्षीण नही होता ।

उनकी यह कल्पना सुन्दर तो है, परन्तु शास्त्रसम्मत नही है । क्योंकि प्रस्तुतप्रकरण मे 'स्वलोक' शब्द के द्वारा श्रुति परमात्मा का ही प्रतिपादन करती है । 'स्व लोकम्' यहाँ से उपक्रम करके

१ कर्मसमवायिन ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानफलम् । २ कार्यावस्थ । ३ ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानसाध्य । ४ नामरूपाभिव्यक्तम् । ५ व्याकृतावस्थमेव । ६ निश्चित्य । ७ कर्मसाध्यम्—सूत्रोपास्तिसहित यज्ञित्यादिकर्म तत्साध्यम् । लोक फलम् । ८ तर्कमूलिका । ९ द्वयोर्मध्ये । १० ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्य । ११ हिरण्यगर्भ । १२ यदा कुण्डलादि उत्पद्यते विनश्यति च तदा कनक तु तथैव तिष्ठतीति तन्नित्यम् । १३ अपरिच्छिन्न कर्म साध्योऽव्याकृतावस्थो लोकस्तस्मिन्नहग्रहोपासकत्वाद्धिरण्यगर्भात्मकब्रह्मवित्त्वम् । १४ ननु कृतकस्य क्षयध्रौव्यात्तस्य कर्म क्षीयत इत्ययुक्तमत आह—तस्येति । कर्मात्मिका द्वैतावस्थामद्वैतात्मना पश्यतस्तस्य कर्म न क्षयमासादयति कर्मणो वस्तुमात्रेण पर्यवसानादित्यर्थ । वस्तुमात्रेणेति स्वरूपमात्रतया । १५ परस्येति—कर्मफलभूतलोकव्यावृत्तये स्वशब्दार्थविशेषणेन लोकशब्दार्थस्य विशेष्यतया सद्भावदर्शनादिति भाव । १६ वाक्ये ।

निर्देशादात्मानमेव लोकमुपासीतेति । तत्र 'कर्मसमवायिलोककल्पनाया अनवसर एव ।
परेण च केवलविद्याविषयेण विशेषणात् 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमा-
त्माऽयं लोक इति । पुत्रकर्मापरविद्याकृतेभ्यो हि लोकेभ्यो विशिनष्टचयमात्मा नो
लोक इति । "न हास्य केनचन 'कर्मणा लोको मीयत एषोऽस्य परमो लोकः" इति
च । तैः "सविशेषणैरस्यैकवाक्यता युक्ता । इहापि स्वं लोकमिति विशेषणदर्शनात् ।
अस्मात्कामयत इत्ययुक्तमिति चेदिह स्वो लोकः परमात्मा तदुपासनात्स एव

न्तरमाह—स्वं लोकमितीति । यथा लोकस्य स्वशब्दार्थो विशेषणं तथाऽऽत्मानमित्यत्र स्वशब्दपर्याया-
त्मशब्दार्थस्तस्य विशेषणं दृश्यते न च कर्मफलस्य" मुख्यमात्मत्वमतो लोकशब्दोऽत्र परमात्मैवेत्यर्थः ।
प्रकरणाद्विशेषणाच्च सिद्धमर्थं दर्शयति—"तत्रेति ।
परस्यैव लोकशब्दार्थत्वे हेत्वन्तरमाह—परेणेति । "उक्तमेव प्रपञ्चयति—पुत्रेति । अथ परेषु
वाक्येषु परमात्मा लोकशब्दार्थः प्रकृते तु कर्मफलमिति व्यवस्थेति चेन्नैवमेकवाक्यत्वसंभवे तद्भेदस्या-
न्याय्यत्वादित्याह—तैरिति । एकवाक्यत्वसंभावनामेव दर्शयति—इहापीति । यथोत्तरत्राऽऽत्मादिशब्देन
लोको विशेषितस्तथाऽऽत्मानमित्यत्राप्यात्मशब्देन विशेष्यते । पूर्ववाक्ये च स्वं लोकमदृष्ट्वेति स्वशब्दे-
नाऽऽत्मवाचिना तस्य विशेषणं दृश्यते । तथा च पूर्वापरालोचनायामेकवाक्यत्वसिद्धिरित्यर्थः ।
प्रकरणेन परस्य लोकशब्दार्थत्वमयुक्तं "लिङ्गविरोधादिति चोदयति—अस्मादिति । "तदेव

फिर स्वशब्द का त्याग कर उसके स्थान मे आत्मशब्द का प्रयोग करके उसी को 'आत्मानमेव लोक-
मुपासीत' इस प्रकार पुनः निर्देश किया है । इसलिये यहाँ कर्मानुष्ठानफलभूत सूत्राख्य लोक की कल्पना
का अवसर ही नहीं है ।

इसके अतिरिक्त "उनका निश्चय था कि हम मोक्षाभिलाषियों को तो यह आत्मलोक प्राप्त
करना ही अभीष्ट है; हमें प्रजा से क्या लेना है ।" इस अग्रिम श्रुति से उसे केवल ज्ञानविषयकवाक्य
से विशिष्ट कहा गया है । 'अयमात्मा नो लोकः' यह कहकर श्रुति उसे पुत्र, कर्म और अपरा विद्या
द्वारा प्राप्त लोकों से पृथक् बतलाती है । तथा यह भी श्रुति बतलाती है कि "इसका यह आत्मलोक
किसी भी पापकर्म से नष्ट नहीं होता; यह इसका परमलोक है" । उन विशेषणघटित वाक्यों से
इस श्रुतिवाक्य की एकवाक्यता होनी चाहिए क्योंकि यहाँ भी 'स्वं लोकम्' ऐसा विशेषण देखा जाता है ।
यदि कहो 'इससे कामना करता है', ऐसा कहना ठीक नहीं है । भावार्थ यह है कि 'यहाँ

२. परेणेति—षष्ठे 'स वा एष महानज' इत्यादिविद्याप्रकरणं
१. कर्मानुष्ठानफलभूतसूत्राख्यलोककल्पनायाः ।
'येषां नोऽयमात्माऽयं लोक' इति केवलविद्याविषयेण परेणात्मना लोकशब्दार्थस्य कर्मफलत्वव्यावृत्त्यर्थं विशेषणा
द्विशेष्यतयाऽन्वयकरणादत्रापि परमात्मैव लोकोऽन्यथा पूर्वापरविरोधादित्यर्थः । संदिग्धस्य वाक्यशेषान्निर्णयं
भवतीति न्यायं द्योतयितुं चशब्दः । ३. बृ० उ० ४।४।२२ । ४. व्यावर्तयति । ५. अपरोक्षः । ६
स्वयंप्रभः । ७. न हास्येति—कौषीतकिब्राह्मणे त्वेवं पाठो दृश्यते । तथाहि—'नास्य केन च कर्मणा लोको
मीयते' ३-१ ॥ इति । ८. पापेन । ९. हिंस्यते नश्यतीति यावत् । १०. बृ० उ० ४।३।३२ । ११
विशेषणघटितैः । १२. सूत्रस्य । १३. हेतुभ्यां परमात्मनि लोकशब्दार्थे स्थिते सतीत्यर्थः । १४. हेत्वन्तर
मेव । १५. प्रकरणापेक्षया लिङ्गस्य बलवत्त्वादर्थप्रकाशनसामर्थ्यं लिङ्गम् । १६. सद्गृहीतमेव ।

भवतीति स्थिते यद्यत्कामयते तत्तदस्मादात्मनः सृजत इति तदात्मप्राप्तिव्यतिरेकेण फल-वचनमयुक्तमिति चेन्न । स्वलोकोपासनस्तुतिपरत्वात् । स्वस्मादेव लोकात्सर्वमिष्टं संपद्यत इत्यर्थो नान्यतः प्रार्थनीयमाप्तकामत्वात् । "आत्मतः प्राण आत्मत आशा" इत्यादि श्रुत्यन्तरे यथा । सर्वात्मभावप्रदर्शनार्थो वा पूर्ववत् ।

'यदि हि पर एवाऽऽत्मा 'संपद्यते तदा युक्तोऽस्माद्ध्येवाऽऽत्मन इत्यात्मशब्दप्रयोगः

विवृणोति—इहेत्यादिना । अर्थवादस्थं लिङ्गं न प्रकरणाद्बलवदिति मत्वा समाधत्ते—नेत्यादिना । स्तुतिमेव स्पष्टयति—स्वस्मादेवेति । लोकाज्ज्ञातादिति शेषः । यथा छान्दोग्ये स्तुत्यर्थमात्मनः स्रष्टृत्वमुच्यते तथाऽत्राप्यात्मलोकं स्तोतुमेतत्फलवचनमित्याह—आत्मत इति । भवतु वा मा वा मूदस्माद्ध्येवेत्यादिरर्थवादस्तथाऽपि 'तस्य सर्वात्मत्वप्रदर्शनार्थत्वाद्युक्तमत्र' लोकशब्देन परमात्मग्रहणमित्याह—सर्वात्मेति । तस्मात्तत्सर्वमभवदिति वाक्यं दृष्टान्तयति—पूर्ववदिति ।

किंचाऽऽत्मशब्दस्य त्रिधापरिच्छेदशून्यार्थवाचिताया यच्चाऽऽप्नोतीत्यादिन्यायेन सिद्धत्वात्तत्समानाधिकरणलोकशब्दस्यापि तदर्थत्वात्परस्यैवात्र लोकत्वमित्याह—यदि हीति । किं च यदि लोकशब्देन परं हित्वा"ऽर्थान्तरमुच्यते तदा "सविशेषणं वाक्यं स्यादन्यथा" स्व लोकमिति प्रकृतपरमात्मलोकस्य त्वत्पक्षेऽनन्तरोक्तव्यक्तब्रह्मलोकस्य च "व्यावृत्त्ययोगात् । न चात्र" सविशेषणं "वाक्यं दृष्टमतः

स्वलोक परमात्मा है, उसकी उपासना करने से पुरुष तद्रूप ही हो जाता है । ऐसा हो जाने पर "उससे जो-जो कामना करता है, उसी-उसी की सृष्टि कर लेता है" । इस प्रकार परमात्मप्राप्ति से भिन्नफल बतलाना उचित नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि यह श्रुतिवाक्य स्वलोक उपासना की स्तुति करने वाला है, तात्पर्यप्रतिपादक नहीं । 'आत्मलोक मे ही सारी इष्टसिद्धि हो सकती है'—यह इसका अर्थ है । इसे छोड़कर कोई दूसरी वस्तु चाहने योग्य नही है क्योंकि आत्मवेत्ता पूर्णकाम होता है । "आत्मा ही से प्राण है, आत्मा हा से आशा है" इत्यादि अन्य श्रुति द्वारा सिद्ध होता है अथवा आत्मवेत्ता का सर्वात्मभाव प्रदर्शित करने के लिए "तस्मात्सर्वमभवत्", यह पूर्ववत् ग्रन्थ है ।

यदि लोकशब्द से परमात्मा ही अभिलक्षित होता है, तभी तो "अस्माद्ध्येवात्मन" इस प्रकार श्रुतिवाक्य मे आत्मशब्द का प्रयोग करना उचित होगा । 'इस स्वरूपभूत प्रकृत आत्मलोक से'

१ परमात्मेत्यर्थः । २ अयुक्तमिति—अत्र लोकशब्देन परस्य ग्रह 'अस्माद्ध्येवे'त्ययुक्तम् । तत्र हि लोकशब्दार्थात्कामिन फलोत्पत्ति श्रुता न च परस्य कारणत्वमपूर्वमनपरमित्यादिश्रुत । न चाविद्यया तत्त्वम् त्वत्पक्षे विद्याप्रकरणे तदयोगात् । अस्य विद्यासूत्रैकवाक्यत्वस्वीकारात् । अतो लिङ्गेन प्रकरण बाध्यमिति भाव । ३. तथा च न तत्र तात्पर्यम् । ४ "सर्वं कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यत' इति भाव । अखिल महत् । ५ ग्रन्थः । ६ परमात्मैव लोकशब्दार्थोऽभ्युपगम्यते विज्ञायत इति वार्थ । ७ लोकशब्दार्थे इति शेष । ८ वाक्यस्य । ९ वाक्ये । १० अर्थान्तरमिति—परापराभ्यामन्तरालावस्थमव्याकृताख्य कर्मानुष्ठानफलभूतमिति यावत् । ११ सविशेषणमिति—अव्याकृतावस्थादस्मादित्येव सविशेषणेन भाव्य वाक्येनेत्यर्थं । १२ सविशेषणत्वानभ्युपगमे । १३ व्यावृत्त्ययोगादिति—न हि त्वया परस्मात्कामसृष्टिरिष्टा (कामत सृष्टि यथेच्छ सृष्टि) तस्या पूर्वादिश्रुतिसिद्धत्वात् । नापि ब्रह्मलोकात् कार्यत्वादस्तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणमवश्य वाच्यमित्यर्थ । १४ बृहदारण्यके । १५ 'अस्माद्ध्येवेति" वाक्यम् ।

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन

यह जो (कर्माधिकारी अज्ञानी गृहस्थरूप) आत्मा है, वह समस्त जीवों की भोग्य है। वह जो होम, यज्ञ करता है, उससे देवताओं का वह भोग्य बन जाता है, जो स्वाध्याय करता है, उससे ऋषियों का, जो पितरों के लिये पिण्ड देता है तथा सन्तान को चाहता है, उससे पितरों का, जो मनुष्यों को

स्वस्मादेव प्रकृतादात्मनो लोकादित्येवमर्थः। 'अन्यथाऽव्याकृतावस्थात्कर्मणो' लोकादिति सविशेषणमवक्ष्यत्प्रकृतपरमात्मलोकव्यावृत्तये व्याकृतावस्थाव्यावृत्तये च। न ह्यस्मिन्प्रकृते विशेषितेऽश्रुतान्तरालावस्था प्रतिपत्तु शक्यते ॥ १५॥

अथो अयं वा आत्मा। अत्राविद्वान्वर्णाश्रमाद्यभिमानी धर्मेण नियम्यमानो 'देवादिकर्मकर्तव्यतया पशुवत्परतन्त्र इत्युक्तम्। कानि पुनस्तानि कर्माणि यत्कर्तव्यतया पशुवत्परतन्त्रो भवति। के वा ते देवादयो येषां कर्मभिः पशुवदुपकरोतीति तदुभयं प्रपञ्चयति—

अथो इत्ययं 'वाक्योपन्यासार्थः। अयं यः 'प्रकृतो गृही कर्माधिकृतोऽविद्वाञ्छरी-

---

स्वं लोकमिति प्रकृत परमात्मैवात्रापि लोक इत्याह—अन्यथेति। विशेषण विनैवास्मादित्यत्र परापरास्यामर्थान्तरं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। स्वं लोकमिति प्रकृते परमात्मन्यात्मानमेवेति विशेषिते' चाव्याकृताख्या परापराभ्यामन्तरालावस्था न प्रतिपत्तु शक्यते तस्याः श्रुतत्वाभावादित्यर्थः॥ १५॥

कण्डिकान्तरमवतार्य वृत्तमनूद्याऽऽकाङ्क्षापूर्वकं तात्पर्यमाह—अथो इत्यादिना। अत्रेत्यविद्यावस्था पूर्वग्रन्थो वा गृह्यते। अविपर्यायस्याथोशब्दस्यासंगतिमाऽऽशङ्क्य व्याकरोति—अथो इतीति। पर-

---

यह इसका अर्थ है। अन्यथा लोकशब्द के अर्थान्तर अभीष्ट होने पर इस प्रकरण में परमात्मलोक और व्याकृतावस्था की व्यावृत्ति के लिए 'अव्याकृतरूप से स्थित कर्मानुष्ठानफलभूत लोक से' इस प्रकार श्रुति विशेषणपूर्वक उल्लेख करती। यहाँ "स्व" यह प्रकरणस्थ विशेषण रहते हुए अश्रुत पर और अपर ब्रह्म के मध्य की अव्याकृताख्या अवस्था को ग्रहण नहीं किया जा सकता ॥१५॥

"यह जो कर्माधिकारी अज्ञानी गृहस्थाभिमानी आत्मा है" इस श्रुतिवाक्य में वर्णाश्रमादि का अभिमानी, धर्म से नियन्त्रित अब्रह्मवित पुरुष देवादि-उद्देश्यक कर्म की कर्तव्यता से पशु के समान परतन्त्र है—ऐसा कहा गया है। जिन कर्मों के करने से मनुष्य पशु के समान परतन्त्र होता है, वह कर्म कौन से हैं, और जिनका वह कर्मों के द्वारा उपकार करता है वे देवादि कौन से हैं? ऐसी विचिकित्सा होने पर श्रुति उन दोनों का निरूपण करती है।

---

१ अन्यथेति—लोकशब्देनार्थान्तरस्याभिप्रेतत्वे। २ कर्मानुष्ठानफलभूतात्। ३ इदं मया कर्तव्यमित्येव देवाद्युद्देश्यककर्मत्यर्थं। ४ अज्ञस्य पशुवत्पारतन्त्र्ये वाक्यप्रदर्शनार्थं। ५ विचारविषय। ६ गृहस्थोऽहमित्यभिमानी। ७ सति। ८. मत्वा।

पितॄणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाꣳस्या पिपीलिकाभ्य

निवासस्थान और भोजन देता है, इससे मनुष्यों का, एव जो पशुओं को तृण-जलादि देता है, उससे पशुओं का भोग्य हो जाता है। अत इस मुमुक्षु के घर मे कुत्ते बिल्ली आदि जो श्वापद पक्षी और चीटीपर्यन्त जीवजन्तु उसके आश्रित होकर जीते है, इसी से यह उनका भोग्य होता है। जैसे लोक मे

'रेन्द्रियसघातविशिष्टः 'पिण्ड आत्मेत्युच्यते। सर्वेषां देवादीनां पिपीलिकान्तानां भूताना लोको भोग्य आत्मेत्यर्थः। सर्वेषा वर्णाश्रमादिविहितैः कर्मभिरुपकारित्वात्।

कैः पुनः कर्मविशेषैरुपकुर्वन्केषां भूतविशेषाणां लोक इत्युच्यते—स गृही यज्जुहोति यद्यजते। यागो देवतामुद्दिश्य स्वत्वपरित्यागः। स एवाऽऽसेचनावधिको होमस्तेन होमयागलक्षणेन कर्मणाऽवश्यकर्तव्यत्वेन देवानां पशुवत्परतन्त्रत्वेन प्रतिबद्ध इति 'लोकोऽस्य यद-

---

स्यापि प्रकृतत्वात्ततो विशिनष्टि—गृहीति। गृहित्वे हेतुरविद्वानित्यादि। 'इतरपर्युदासार्थं कर्माधिकृत इत्युक्तम्। कथमुक्तस्याऽऽत्मन सर्वभोग्यतेत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेषामिति।

तदेव प्रश्नद्वारा प्रकटयति—कै पुनरिति। यजतिजुहोत्योस्त्यागार्थत्वेनाविशेषात्पुनरुक्तिमाशङ्क्य 'यजतिचोदना 'द्रव्यदेवताक्रियासमुदाये कृतार्थत्वादिति' न्यायेनाऽऽह—याग इति। आसेचन प्रक्षेप। 'उक्त च जुहोतिरासेचनावधिक. स्यादिति।

मूल श्रुतिवाक्य मे 'अथ' यह पद अब्रह्मवित् की पशु के समान परतन्त्रता वाक्यप्रदर्शन करने के लिए है। यह जो अब्रह्मवित् कर्माधिकारी गृहस्थरूप शरीरेन्द्रियसघातविशिष्ट प्रकृतपिण्ड है, वह आत्मा कहा जाता है। वह 'सर्वेषाम' अर्थात् देवादिको से लेकर पिपीलिकापर्यन्त सभी प्राणियो का 'लोक' अर्थात् भोग्य आत्मा है, यह अर्थ है क्योकि वर्णाश्रमादिविहित कर्मो के द्वारा वह सबका उपकारक है।

वह किन विशिष्ट कर्मों के द्वारा एव किन विशिष्टभूत प्राणियो का उपकारक होने के कारण उनका भोग्य होता है। इस पर कहा जाता है—वह गृहस्थो जो होम और याग करता है, देवता के प्रीत्यर्थ स्वत्वत्याग करना याग है, उसी मे जब "आहुति देना" कर्म बढ जाता है, तो उस होम कहते

---

१ तत्तादात्म्याध्यासी। २ सघात। ३ इत्येवप्रकारेण। ४ तथा भोग्य। ५ इतर विद्वान्। ६ यजतीत्यादि—(जै० सू० ४।२।२७) यजतिचोदना—यजतिशब्द द्रव्यादिसमुदाय वर्तत तद्वाचीत्यर्थ. कृतार्थत्वात्तत्र नैराकाङ्क्ष्यात्। तावदुक्तयैव चरितार्थत्वादित्यर्थ। यजति ददाति जुहोतीति श्रुतयागादीना भेदोऽस्ति न वेति सशये त्यागात्मकत्वेनाविशेषात् भेदो नेति प्राप्त देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागस्य यागत्वात्तस्यैव प्रक्षेपाधिक्यस्य होमत्वात् परस्वीकारपर्यन्तस्य च दानत्वाद्भेदस्तेषामिति स्थित पूर्वतन्त्रे। ७ द्रव्येति—अत्र द्रव्यदेवताक्रियमिति पूर्वतन्त्रे पाठो दृश्यते। ८ जै० सू० ४।२।२७। ९ 'तदुक्तं श्रवणाज्जुहोतिरासेचनाधिक स्यात्" (जै० सू० ४।२।२८) इतिसूत्रमभिप्रेत्याऽऽह—उक्त चेत्यादि।

उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोका-यारिष्टिमिच्छेदेव हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टि-मिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं मीमाꣳसितम् ॥१६॥

सभी अपने शरीर का नाश नहीं चाहते हैं; वैसे ही ऐसा जानने वाले को सभी जीव अविनाशीरूप से देखना चाहते हैं। उस इस कर्म की नित्य अनुष्ठेयता पंचमहायज्ञ प्रसंग से ज्ञात होती है, तथा अवदान-प्रकरण में इसकी व्याख्या की गयी है ॥ १६ ॥

नुब्रूते स्वाध्यायमधीतेऽहरहस्तेन ऋषीणां लोकोऽस्य यत्पितृभ्यो निपृणाति प्रयच्छति पिण्डो-दकादि। यच्च प्रजामिच्छते प्रजार्थमुद्यमं करोतीच्छा चोत्पत्त्युपलक्षणार्था प्रजां चोत्पाद-यतीत्यर्थः। तेन कर्मणाऽवश्यकर्तव्यत्वेन पितृणां लोकः पितॄणां भोग्यत्वेन परतन्त्रो लोकः। अथ यन्मनुष्यान्वासयते भूम्युदकादिदानेन गृहे यच्च तेभ्यो वसद्भ्योऽवसद्भ्यो वाऽर्थिभ्योऽशनं ददाति येन मनुष्याणाम्। अथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति लम्भयति तेन पशूनाम्। यदस्य गृहेषु श्वापदा वयांसि च पिपीलिकाभिः सह कणबलिभाण्डक्षालना-द्युपजीवन्ति तेन तेषां लोकः।

यस्मादयमेतानि कर्माणि कुर्वन्नुपकरोति देवादिभ्यस्तस्माद्यथा ह वै लोके स्वाय

यथोक्तहोमादिभिर्देवादीन्प्रत्युपकुर्वतो गृहिणो विद्यया प्रतिबन्धसंभवात्तदुपकारित्वव्यावृत्तिरि-त्याशङ्क्याऽऽह—यस्मादिति। पूर्वेषामथशब्दानामभिप्रेतमर्थमनूद्य समनन्तरवाक्यमवतार्य तदर्थमाह—तस्मादिति। देवादीनां कर्माधिकारिणि कर्तृत्वादिपरिपालनमेव परिरक्षणमिति विवक्षित्वा पूर्वोक्तं

है, उस होमयागरूप कर्म की अपरिहार्यता के कारण पुरुष पशु के समान देवताओं के अधीन होने से बँधा हुआ है, इसलिए उनका भोग्य है। 'अथ यदनुब्रूते' अर्थात् तथा जो नित्यप्रति स्वाध्याय करता है, उसके कारण वह ऋषियों का लोक है। जो पितृगण को 'निपृणाति' अर्थात् पिण्डदान तर्पणादि करता है और जो 'प्रजामिच्छति' अर्थात् सन्तति के लिए प्रयत्न करता है, यहाँ 'इच्छा' पद उत्पत्ति का उपलक्षण कराने के लिए है, प्रजा उत्पन्न करता है, यह भाव है, उस कर्म के द्वारा अवश्यकर्तव्यता के कारण वह पितृलोक, पितरों के भोग्यरूप से उनका परतन्त्र लोक होता है। यह जो स्थान और जलपानादि के द्वारा घर में मनुष्यों को ठहराता है, तथा घर में रहने और न रहने वाले भी भोजनार्थी मनुष्यों को भोजन देता है, इससे वह मनुष्यलोक है। तथा जो पशुओं को घास और पानी प्राप्त कराता है, उससे वह पशुओं का लोक है। एवं जो इस कर्मकाण्डी के घरों में मार्जारादि श्वापद, पक्षी एवं चींटीपर्यन्त जन्तु तद्भागरूप कण, बलि तथा पात्रों के धोवन के आश्रित होते हैं; उस जीवन-सम्पादकरूप कर्म से यह उनका लोक है।

---

१ कर्मिण। २ मार्जारादय। ३ तद्भागरूपबलि। ४ आश्रयन्ति। ५ तज्जीवनसम्पादककर्मणा। ६ गृही। ७ उपकरोतीति—कर्मानुष्ठानयोग्यावस्थाया विद्योत्पत्तेरसंभवेन प्रतिबन्धायोगादिति भाव.। ८. तस्मादिति—सर्वदाऽस्य देवाद्युपकारकत्वादित्यर्थं। अयमेव पूर्वेषामथशब्दानामर्थो बोध्य। ६. कर्तरि षष्ठी।

लोकाय स्वस्मै देहायारिष्टिमविनाशं स्वत्वभावाप्रच्युतिमिच्छेत्स्वत्वभावप्रच्युतिभयात्पोषणरक्षणादिभिः सर्वतः परिपालयेदेवं हैवंविदे सर्वभूतभोग्योऽहमनेन प्रकारेण मयाऽवश्यमृणिव'त्प्रतिकर्तव्यमित्येवमात्मानं परिकल्पितवते सर्वाणि भूतानि देवादीनि यथोक्तान्यरिष्टिमविनाशमिच्छन्ति स्वत्वाप्रच्युत्यै सर्वतः संरक्षन्ति कुटुम्बिन इव पशूंस्तस्मादेषां तन्न प्रियमित्युक्तम् । तद्वा एतत्तदेतद्यथोक्तानां कर्मणामृणवदवश्यकर्तव्यत्वं पञ्चमहायज्ञप्रकरणे विदितं कर्तव्यतया मीमांसितं विचारितं चावदानप्रकरणे ॥ १६ ॥

आत्मैवेदमग्र आसीत् । ब्रह्म विद्वांश्च तस्मात्पशुभावात्कर्तव्यताबन्धनरूपात्प्रतिमुच्यते । केनायं कारितः कर्मबन्धनाधिकारेऽवश इव प्रवर्तते न पुनस्तद्विमोक्षणोपाये

स्मारयति—तस्मादिति । यथोक्तं कर्म कुर्वन्यद्यपि देवादीन्प्रत्युपकरोति तथाऽपि न तत्कर्तृत्वमावश्यकं मानाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—तद्वा इति । भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञश्चेत्येवं पञ्च महायज्ञाः । ननु श्रुतमपि विचारं विना नानुष्ठेयं न हि रुद्ररोदनादि श्रुतमित्येवानुष्ठीयते तत्राऽऽह—मीमासितमिति । तदेतद्वदयते यद्यजते स यदग्नौ जुहोतीत्याद्यवदानप्रकरणम् । ऋणं ह वाव जायते जायमानो योऽस्तीत्यादिनाऽर्थवादेनेति शेषः ॥ १६ ॥

वाक्यान्तरमादाय व्याख्यातुं पातनिकां करोति—आत्मैवेत्यादिना । कर्मैव बन्धनं तत्राधिकारोऽनुष्ठानं तस्मिन्निति यावत् । विद्याधिकारस्तदुपाये श्रवणादौ प्रवृत्तिस्तत्रेत्यर्थः । यथोक्ताधिकारिणो

क्योंकि यह गृहस्थी इन कर्मों को करता हुआ देवादिकों का उपकारक है, इसलिए जिस प्रकार लोकव्यवहार में मनुष्य अपनी देह के लिए 'अरिष्टिम्' अर्थात् अविनाश यानी स्वत्वाभाव की अप्रच्युति चाहता है। तथा स्वत्वाभावच्युति के भय से उसका पोषण-रक्षण द्वारा सर्वविध परिपालन करता है। इस प्रकार 'हैवंविदे' अर्थात् "मैं सर्वभूतप्राणियों का भोग्य हूँ, इन यागादिकर्मों का मुझे ऋणी के समान प्रत्युपकार करना चाहिये" इस प्रकार सम्पूर्ण भूतों को अपनी आत्मा मानने वाले का उपर्युक्त देवादि विनाश नहीं चाहते हैं। अपनी स्थिति के लिए वे उसी प्रकार उसकी सब ओर से रक्षा करते हैं, जैसे कोई गृहस्थ अपने पशुधन की रक्षा करता है। इसी से कहा गया है—"अत देवताओं को यह प्रिय नहीं है (कि वे आत्मतत्त्व को जानें)"। 'तद्वा एतत्' अर्थात् पूर्वोक्तकर्मों का ऋण के समान अवश्यकर्तव्यत्व पञ्चमहायज्ञप्रकरण में कर्तव्यरूप से विदित है, एवं अवदानप्रकरण में 'मीमांसितम्' यानी इस पर विचार किया गया है ॥ १६ ॥

१. ममत्वसद्भावस्थितिम् । २. यागादिना । ३. प्रत्युपकर्तव्यम् । ४. अविनाशमिति—तत्त्वं च ब्रह्मविद्याधीनपशुत्वव्यावृत्तिराहित्यम् । कर्तृत्वादिपरिपालनमिति यावत् । ५. संरक्षन्तीति—स्वदेहवदिति शेषः । तथा चोक्तं वार्तिके—"स्वकर्मार्जितसंभोगदायित्वेऽस्ति न कश्चन । देवादीनां विशेषोऽत्र गृहस्थस्वात्मदेहयोरिति" ॥ १८०१ ॥ स्वकर्मार्जितत्वे स्वसंभोगदायित्वे चेति यावत् । देवादिषूभयप्रयुक्तभोगाविशेषादित्यर्थ. ॥ ६. तस्मादिति—देवानां मनुष्यपशुभावव्युत्थानस्याप्रियत्वादित्यर्थ. । ७. स्मार्तं । ८. प्रेरित इति यावत् । ९. भूतबलिः । १०. आतिथ्यादि । ११. श्राद्धादि । १२. वैश्वदेवबलि । १३. स्वाध्यायाध्ययनम् । १४. सोऽरोदीत् । १५ श्रुतत्वमात्रेण । १६ इन्द्रादिभ्यो विभागेन ददातीत्यर्थः । १७. ऋणवानिति यावत् ।

विद्याधिकार इति। ननूक्तं देवा रक्षन्तीति। बाढम्। कर्माधिकारस्वगोचरारूढानेव तेऽपि रक्षन्ति। 'अन्यथाऽकृताभ्यागमकृतनाशप्रसङ्गात्। न तु 'सामान्यं पुरुषमात्रं विशिष्टाधिकारानारूढम्। 'तस्माद्भवितव्यं तेन येन प्रेरितोऽवश एव बहिर्मुखो भवति स्वस्माल्लोकात्। नन्वविद्या साऽविद्यावान्हि बहिर्मुखीभूतः प्रवर्तते। 'साऽपि नैव प्रवर्तिका। 'वस्तुस्वरूपावरणात्मिका हि सा। प्रवर्तकबीजत्वं तु प्रतिपद्यतेऽन्धत्वमिव 'गर्तादिपतन-

देवादिभी रक्षणं प्रवृत्तिमार्गे नियमेन प्रवर्तकमिति शङ्कते—नन्विति। उक्तमङ्गी करोति—बाढमिति। तर्हि प्रवर्तकान्तरं न वक्तव्यं तत्राऽऽह—कर्माधिकारेति। 'कर्मस्वधिकारेण 'स्वगोचरत्वं प्राप्तानेव देवादयोऽपि रक्षन्ति न सर्वाश्रमसाधारणं' ब्रह्मचारिण'मतोऽस्य कर्ममार्गे प्रवृत्तौ देवादिरक्षणस्याहेतुत्वाद्ब्रह्मचारिणो निवृत्तिं त्यक्त्वा प्रवृत्तिपक्षपाते कारणं वाच्यमित्यर्थः। मनुष्यमात्रं कर्मण्येव ते बलात्प्रवर्तयन्ति तेषामचिन्त्यशक्तित्वादित्याशङ्क्याऽऽह—अन्यथेति। स्वगोचरारूढानेवेत्येवकारस्य व्यावर्त्यं कीर्तयति—न त्विति। विशिष्टाधिकारो गृहस्थानुष्ठेयकर्मसु "गृहस्थत्वेन स्वामित्वं तेन देवगोचरतामप्राप्तमित्यर्थः। "देवादिरक्षणस्याकारणत्वे फलितमाह—तस्मादिति। प्रत्यगविद्या यथोक्ताधिकारिणो नियमेन प्रवृत्त्यनुरागे हेतुरिति शङ्कते—नन्विति। तदेव स्फुटयति—अविद्यावानिति। तस्याः स्वरूपेण प्रवर्तकत्व दूषयति—साऽपीति। अविद्याया"स्तर्हि "प्रवृत्त्यन्वयव्यतिरेकौ कथमित्याशङ्क्य कारणकारणत्वेनेत्याह—

(स्त्रीसम्बन्ध होने से पूर्व) पहले यह एक देहेन्द्रियसंघातरूप आत्मा ही था। यदि ब्रह्म को जानने वाला पुरुष कर्तव्यताबन्धनरूप पशुभाव से मुक्ति प्राप्त कर लेता है, तो कर्मबन्धन की अधिकर्तव्यता में किससे प्रेरित होकर विवशतापूर्वक फँसता है, तथा उससे छूटने के उपायरूप ज्ञान की अधिकर्तव्यता में प्रवृत्त नहीं होता? इस पर शङ्का होती है—देवता उसकी रक्षा करते हैं, यह तो पहले ही कह चुके हैं। सिद्धान्ती इसे स्वीकार करते हुए कहता है, कर्मों के अधिष्ठातृ देवता होने के कारण अपने शरणापन्न लोगों की ही वे रक्षा करते हैं, अन्यथा अकृतकर्म की प्राप्ति और कृतकर्म के नाश होने का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। वे गृहस्थानुष्ठेय कर्मों में देवगोचरताको अप्राप्त सामान्य पुरुष यानी नैष्ठिक ब्रह्मचारी आदि की रक्षा नहीं करते। देवादिरक्षण की नियमतः प्रवृत्ति राग में कारण न होने से ऐसा होना चाहिये, जिससे वह विवश होकर आत्मलोक से बहिर्मुख हो जाता है। (पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) अच्छा तो वह अविद्या है क्योंकि अविद्यावस्था में ही पुरुष बहिर्मुख होकर प्रवृत्त होता है। (इस पर कहते हैं—) वह भी प्रवृत्ति का कारण नहीं है क्योंकि वह अविद्या वस्तु में आवरणमात्र यानी मिथ्याज्ञान उत्पन्न करती है। जिसप्रकार अन्धत्व गर्तादिपतनानुकूल अप्रवृत्ति अमार्गगमन का हेतु है,

१ अन्यथेति—मनुष्यमात्रस्य कर्मण्येव नियमनलक्षणायां देवादिरक्षायां कृतनाशादि स्यात्तथा तत्रापि शक्तत्वात्तस्य च कर्मकाण्डे प्रामाण्यवादिनाऽनिष्टत्वादिति भावः। २ नैष्ठिकादिसर्वाश्रमसाधारणम्। ३. देवादिरक्षणस्य नियमेन प्रवृत्तिरागेऽहेतुत्वात्। ४ वस्तुस्वरूपेति—अविद्याया वस्त्वावरणमात्रत्वात् वस्तुनि मिथ्याज्ञानजनकत्वमेव न तु स्वरूपेण प्रवर्तकत्व स्वापादावदृष्टेरिति भावः। ५ गर्तादिपतनेति—गर्तादिपतनानुकूलाप्रवृत्तिरमार्गगमनं तत्र यथाऽन्धत्वं हेतुर्भवति तद्वदित्यर्थः। ६ प्राप्तस्वामित्वेन। ७ स्वत्वं दास्यम्। ८ ब्रह्मचर्यावान्तरनैष्ठिकादिभेदवन्तमित्यर्थः। ९ देवादे सर्वाश्रमस्य साधारणं प्रति रक्षणत्वाभावात्। १०. गृहस्थोऽहमित्यभिमानवत्वेन। ११ देवादीनि—मनुष्यमात्रस्य कर्ममार्गप्रवृत्तावित्यादि। १२ तर्हीति—अविद्याया प्रवर्तकत्वानभ्युपगम इत्यर्थः। १३ सत्यामविद्यायां प्रवृत्तिर्न तदभाव इति।

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्ये- तावान्वै कामो नेच्छꣳश्चनातो भूयो विन्देत्तस्माद-

(स्त्रीसम्बन्ध होने से) पहले यह एक देहेन्द्रियसंघातरूप आत्मा ही था। उसने (अविद्याजनित वासना से युक्त होकर) कामना की, कि कर्माधिकार की हेतुरूपा स्त्री मुझ कर्ता को प्राप्त होवे अर्थात् कर्माधिकार की प्राप्ति के लिये मुझे स्त्री मिले फिर मैं प्रजारूप से स्वयं ही उत्पन्न होऊँ तथा मुझे गवादिरूपधन हो। फिर मैं (अभ्युदय एवं कल्याण का साधनरूप) कर्म करूँ। बस इतना विषय से परिच्छिन्न ही काम है। इच्छा करने पर इससे अधिक कोई नहीं पाता। अतएव अब भी अकेला पुरुष

प्रवृत्तिहेतुः। एवं तर्ह्युच्यतां किं तदन्यत्प्रवृत्तिहेतुरिति। 'तदिहाभिधीयत एषणा कामः सः', "स्वाभाविक्यामविद्यायां वर्तमाना बालाः पराचः कामाननुयन्ति" इति काठकश्रुतौ।

प्रवर्तकेति। 'सत्यन्यस्मिन्कारणेऽकारणाविद्याप्रवृत्तेरिति' चेत्तत्राऽऽह—एवं तर्हीति। उत्तरवाक्यमुत्तरत्वेनावतार्य तस्मिन्विवक्षितं प्रवर्तकं संक्षिपति— तदिहाभिधीयत इति। तत्रार्थे श्रुत्यन्तरं संवादयति

उसी प्रकार यह प्रवर्तकबीजरूपता को प्राप्त होती है। उक्तरीति से अविद्या के प्रवृत्तिप्रयोजक के अभाव होने से तुम्हीं बताओ कि प्रवृत्ति का कारण क्या है? (सिद्धान्ती प्रतिपादन करता है—) वह यहाँ बतलाया जाता है। एषणा काम का पर्याय है, वह कर्म में प्रवर्तक है। "अनादिसिद्ध अविद्या में रहने वाले अनात्मज्ञ, बाह्य अनात्मभूत दृष्ट और अदृष्ट विषयों का सेवन करते हैं" ऐसी कठश्रुति है। श्रीमद्भगवगीता में श्रीमुखवचन है—"यह काम है, यह क्रोध है'। मनुस्मृति में भी निर्णय लिया गया है कि सारी प्रवृत्ति काममूलक है। यहाँ से लेकर प्रथम अध्याय की समाप्तिपर्यन्त इसी का विस्तार से

---

१ चेनोऽप्यर्थक। २ एवं तर्हीति—उक्तरीत्याऽविद्याया प्रवृत्तिप्रयोजकत्वाभाव इत्यर्थ। ३ तदिहेत्यादि—तत् प्रवर्तकम्। इह उत्तरवाक्ये। एषणा काम एषणापरपर्याय काम इत्यर्थ। ४ कर्माणि प्रवर्तक। ५ स्वाभाविक्यामित्यादि—अनादिसिद्धायामविद्याया वर्तमानत्वं नाम तत्कार्यनिरूपिताऽभिमानवत्त्वम्। बाला अनात्मज्ञा। पराच बाह्याननात्मभूतान् दृष्टादृष्टविषयाननुयन्ति भजन्त इत्यर्थ। ६ नन्वविद्याया आवरणमात्रस्वभावत्वे मा प्रवर्तकमपि जनयितुं नालं तथा चाविद्याया अकार्यमेव किंचित्प्रवर्तक स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—सत्यन्यस्मिन्निति। अविद्याया अकार्यभूते कारणेऽभ्युपगते सत्यविद्याप्रवृत्तेरकारणमेव परम्परयाऽपि कारणं न स्यादित्यर्थ। तथा च तस्या प्रवृत्त्यन्वयव्यतिरेकौ विरुध्येयातामिति भाव। ७ तत्राऽऽहेति—इत्थमविद्याया कारणकारणत्वस्यावश्यकत्वे शङ्किते सति चोदयतीत्यर्थ। वस्तुतस्तु सतीत्यादेरयमेवार्थस्तथाहि—अविद्यानिरिक्त तत्कार्यमेव किंचित्प्रवृत्तिं प्रति साक्षात्कारणं न त्वविद्यैवेति चेत्सिद्धान्तिमोच्यते तत्र पृच्छतीति। ८ संक्षेपतोऽभिधत्ते। ९ तत्रेति—आविद्यकामस्य प्रवर्तकत्वे। कामहेतुरविद्यैव प्रवृत्तिं करिष्यति किमान्तरालिकेन कामेनेत्याशङ्क्येत्यादि। तथा च वार्तिके—'अविद्योद्भूतकामः सन्प्रयो खल्विति च श्रुति'॥ १८१५॥ इति। अविद्योद्भूतकामः सन् पुमान् प्रवर्तते कर्मण्येवेति शेष। चकार उक्तशङ्कानिवृत्त्यर्थं। अथो खल्वाहु काममय एवायं पुरुष इत्यादिश्रुतिस्तस्य प्रवृत्तौ प्राधान्यमाहेति वार्तिकार्थं।

प्येतह्येकाकी कामयते, जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते [1]तस्यो कृत्स्नता

पहले यही कामना करता है कि मुझे स्त्री मिले, फिर मैं सतानरूप से उत्पन्न होऊँ और धन हो तो फिर मैं कर्म करूँ। वह जब तक इनमे से एक-एक को प्राप्त नहीं कर लेता; तब तक वह अपने को अधूरा ही मानता है, उसकी पूर्णता इस प्रकार कही गयी है। (बाह्य साधन के अभाव मे) मन ही

स्मृतौ च—"काम एष क्रोध एषः" इत्यादि। मानवे च सर्वा प्रवृत्तिः कामहैतुक्येवेति। स एषोऽर्थः सविस्तरः प्रदर्श्यत इहाऽध्यायपरिसमाप्तेः।

आत्मैवेदमग्र आसीत्। आत्मैव [3]स्वाभाविकोऽविद्वान्कार्यकरणसंघातलक्षणो

—स्वाभाविकयामिति। तत्रैव भगवतः संमतिमाह—स्मृतौ चेति। 'अथ केन प्रयुक्तोऽयम्' इत्यादिप्रश्नस्योत्तरम्—'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः' इत्यादि। 'अकामतः क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कस्यचित्।' 'यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥' इति वाक्यमाश्रित्याऽऽह—मानवे चेति। एवेति दर्शितमिति शेषः। उक्तेऽर्थे 'तृतीयाध्यायशेषमपि प्रमाणयति—स एषोऽर्थ इति।

'एवं तात्पर्यमुक्त्वा प्रतीकमादाय पदानि व्याकरोति—आत्मैवेत्यादिना। वर्णी द्विजत्वद्योतको

व्याख्यान किया गया है।

(स्त्रीसम्बन्ध होने से पूर्व) पहले यह एक देहेन्द्रियसघातरूप आत्मा ही था। अनादि अविद्या से विशिष्ट अविद्वान् देहेन्द्रियसघातलक्षण ब्रह्मचारी ही 'अग्रे' अर्थात् स्त्रीसम्बन्ध होने से पूर्व था। यहाँ (कायकरणसघातरूप) आत्मा कहा गया है। उस आत्मा से पृथक्भूत काम्य स्त्री आदि विषय नही था; वह एक ही था। जायादि एषणा की याजक अविद्या स युक्त वह एकाकी ही था। अपने मे कर्मादिकारक, क्रिया एव फलात्मकता के अध्यास लक्षण वाला अनादिसिद्ध अविद्या क सस्कार से संस्कृत उसने "अकामयत" अर्थात् कामना की।

---

१ तस्यो कृत्स्नतेत्यादिवाक्य व्याख्यातु पातनिकामाहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"आत्मजायाप्रजावित्तविद्याभि पञ्चभि कृतम्। कर्म पाङ्क्त भवेदेव पाङ्क्तेन च्छन्दसा मितम्॥ बाह्यस्य कर्मणस्तावदारमाद्यै पाङ्क्तोदिता। तेष्वसत्स्वथ पाङ्क्तत्वमुच्यतेऽध्यात्मकर्मण.॥ बाह्याध्यात्मिकभेदेन कर्मैतदुभयात्मकम्। पाङ्क्त यथा तद्भवति तथैतदभिधीयते"॥ १८४०-१८४२॥ इति। पञ्चत्वसख्यायोगमुपजीव्योपासनोपयोगित्वेन पञ्चाक्षरा पङ्क्तिरिति श्रुतिमनुसरन्नाह—एवमिति॥ कर्ममात्रस्य पाङ्क्तत्वमुक्त्वा तस्येत्यादिवाक्यस्य विषयपरिशेषार्थं सोऽकामयतेत्यादिना सिद्धमनुवदति—बाह्यस्येति। जायादिष्वसत्स्वाध्यात्मिक ध्यानकर्मण कथ पाङ्क्तत्वमित्यपेक्षाया तस्येत्याद्यादत्ते—तेष्विति। प्रागुक्तशङ्काद्योतनार्थोऽथशब्द॥ तदेव प्रपञ्चयितु कर्मद्वैविध्यमाह—बाह्येति। तद्बाह्य कर्म पञ्चभि कृतत्वाद्यथापाङ्क्त तथैतदाध्यात्मिक ध्यानकर्म पाङ्क्तमुच्यते तस्येत्यादिनेत्याह—पाङ्क्तमिति॥ २ अस्मिन्नेव व्याख्यायमानेऽध्याये। ३ स्वभावोऽनाद्यविद्यातद्विशिष्टः। ४ कर्मभूमौ। ५. अकामत इत्यादिना व्यतिरेकमभिधायान्वयमाह—यद्यदिति। ६ तृतीयश्चायमेव उपनिषदस्य प्राथमिकत्वेऽपि बृ० वार्तिकत्वात्। ७ उक्तरीत्या।

मन एवास्याऽऽत्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवꣳ श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्माऽऽत्मना हि कर्म करोति स

इसका आत्मा है, वाणी स्त्री है, क्योंकि मनरूप स्वामी का अनुकरण वाणीरूप स्त्री ही करती है। प्राण संतान है और नेत्र मानुषवित्त है, क्योंकि वह पुरुष नेत्र से ही गवादि मानुषवित्त को जानता है। श्रोत्र दैववित्त है, क्योंकि श्रोत्र से ही वह पुरुष दैववित्तरूप कर्म को सुनता है। शरीर ही इसका कर्म है,

---

वर्ण्यते प्राग्दारसंबन्धादात्मेत्यभिधीयते। तस्मादात्मनः पृथग्भूतं काम्यमानं जायादिभेदरूपं नाऽऽसीत्स एवैक आसीज्जायाद्येषणाबीजभूताविद्यावानेक एवाऽऽसीत्। स्वाभाविक्या स्वात्मनि कर्त्रादिकारकक्रियाफलात्मकताध्यारोपलक्षणयाऽविद्यावासनया वासितः सोऽकामयत कामितवान्।

कथम्। जाया कर्माधिकारहेतुभूता मे मम कर्तुः स्यात्तया विनाऽहमनधिकृत एव कर्मण्यतः कर्माधिकारसंपत्तये भवेज्जाया। अथाहं प्रजायेय प्रजारूपेणाहमेवोत्पद्येय।

ब्रह्मचारीति यावत्। कथं तर्हि हेत्वभावे तस्य कामित्वमपि स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—जायादीति। सशब्दं व्याकुर्वन्नुत्तरवाक्यमादायावशिष्टं व्याचष्टे—स्वाभाविक्येति।

कामनाप्रकारं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति—कथमिति। कर्माधिकारहेतुत्वं तस्याः साधयति—तयेति। प्रजां प्रति जायाया हेतुत्वद्योतकोऽथशब्दः। प्रजाया मानुषवित्तान्तर्भावमभ्युपेत्य द्वितीयोऽथ-

---

किस प्रकार कामना की? 'जाया' अर्थात् कर्माधिकार में हेतुभूता स्त्री 'मे' अर्थात् मुझ कर्ता को प्राप्त हो, उसके बिना मेरा कर्म करने में अधिकार नहीं बनता। इसलिए कर्म में अधिकारप्राप्ति के लिए मुझे स्त्री की प्राप्ति हो। 'अथ प्रजायेय' अर्थात् फिर मैं प्रजारूप से स्वयं ही जाया में उत्पन्न होऊँ। 'अथ वित्तं मे स्यात्' अर्थात् तथा कर्म में सहायकभूत गवादिरूप धन मेरे पास हो 'अथ कर्म कुर्वीय' यानी फिर मैं अभ्युदय निःश्रेयस का साधनरूप कर्म करूँ, जिससे मैं ऋण से विमुक्ति पाकर

---

१ आत्मेत्यभिधीयत इति—आत्मैवेदमग्र आसीदित्यत्रात्मशब्देन स्वाभाविक्याऽविद्यया युक्तः कार्यकरणसंघातविशिष्टो ब्रह्मचार्युच्यत इत्यर्थः। पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—तस्मादिति। अग्रे प्राग्दारसंबन्धादिदं प्रसिद्धं दारादिजातं ब्रह्मचार्यात्मैवैक आसीन्नासीत्ततः पृथग्भूतं काम्यमानं जायादिभेदजातमित्यर्थः। २ स एवैक इति—एक एवेत्यस्यार्थो लोकप्रसिद्ध्या प्रदर्शितो वार्तिके। तथाहि—'विस्तारितकुटुम्बं तं कस्मैचित्कश्चिदर्शितैकं। व्याचष्टे कामसंभूतं पुत्रपौत्रादिविस्तरम्॥ प्राग्दारोद्वहनात्कृत्स्नं कुटुम्बं यत्प्रपश्यसि। आत्मैवैकः पुमानासीन्नाऽऽसीत्पुत्रादि किंचन॥ आत्मप्रत्ययनिर्ग्राह्यं केवलं प्रागभूदिदम्। पुत्रपौत्रादिसंभिन्नं कुटुम्बं यत्प्रपश्यसि॥ १८१९ १८२१॥ इति। तं ब्रह्मचारिणमुक्तविशेषणं दारसंग्रहात्पूर्वं समीपे दृष्ट्वा कश्चित्कस्मैचिद्व्याकरोतीति योजना॥ ३ अनादिसिद्धया। ४ आविद्यसंस्कारसंस्कृतः। ५ अथेति—पुत्रसाधनीभूतजायासंपत्त्यनन्तरमित्यर्थः। अहमेवेति—स्वकार्यशेषं स्वमृतेरूर्ध्वमपि पुत्रद्वारा कर्तुं तद्रूपेण पितैव जायते स पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठतीति श्रुतेरित्यर्थः। ६ जायायाम्। ७ तर्हीति—प्राग्दारसंबन्धात्तस्याकामित्वे इत्यर्थः।

एष पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पाङ्क्तः पुरुषः पाङ्क्तमिदꣳ सर्वं यदिदं किंच तदिदꣳ सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥१७॥

॥ इति प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

क्योंकि शरीररूप आत्मा से ही यह कर्म करता है । वह यह यज्ञ पाङ्क्त है; मन, वाणी, प्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँचों से सम्पादित कर्म को पाङ्क्त कहते हैं । पशु पाङ्क्त है, पुरुष पाङ्क्त है, विशेष क्या यह कर्म का साधन और फल सभी पाङ्क्त हैं । 'सभी पाङ्क्त हैं' जो कोई ऐसा जानता है, (भावना करता है) वह इस सम्पूर्ण जगत् को आत्मरूप से प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

---

[1]अथ वित्तं मे स्यात्कर्मसाधनं [2]गवादिलक्षणमथाहमभ्युदयनिःश्रेयससाधनं कर्म कुर्वीय । येनाहमनृणी भूत्वा देवादीनां लोकान्प्राप्नुयां तत्कर्म कुर्वीय ।

काम्यानि च पुत्रवित्तस्वर्गादिसाधनान्येतावान्वै [3]'काम एतावद्विषयपरिच्छिन्न इत्यर्थः । [4]एतावानेव हि कामयितव्यो विषयो यदुत जायापुत्रवित्तकर्माणि [5]साधनलक्षणैषणा । [6]लोकाश्च त्रयो मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोको इति फलभूताः साधनैषणा-

---

शब्दः । तृतीयस्तु वित्तस्य कर्मानुष्ठानहेतुत्वविवक्षयेति विभाग । कर्मानुष्ठानफलमाह—येनेति ।

तत्किं नित्यनैमित्तिककर्मणामेवानुष्ठानं नेत्याह—काम्यानि चेति । क्रियापदमनुक्रष्टुं चशब्दः । अस्या साधने-कामशब्दस्य [7]यथाश्रुतमर्थं गृहीत्वैतावानित्यादिवाक्यस्याभिप्रायमाह—साधनलक्षणेति ।

देवादि के लोकों को प्राप्त करूँ, ऐसा कर्म करूँ ।

काम्यकर्म पुत्र, धन और स्वर्गादि के साधन है । "एतावान्वै" अर्थात इतने विषय से परिच्छिन्न ही अभिलाषा है । (भावव्युत्पन्न कामशब्द की अभिलाषा अर्थ में व्याख्या कर अब कर्मव्युत्पन्न अभिलषित अर्थ में उसका विवेचन करते हैं—) ये जो स्त्री, पुत्र, वित्तकर्म है, यही अभिलषित विषय हैं, यह साधनलक्षणा एषणा है । ये तीनों मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक इस साधनैषणा के फलस्वरूप हैं । इन्हीं लोकों के लिए जाया पुत्र वित्तकर्मरूपा साधनैषणा होती है । इसलिये वह लोकैषणारूप एक ही एषणा है । एक होने पर भी वह एषणा साधन की अपेक्षा से दो प्रकार की है । इसलिए श्रुति यह प्रतिपादन करेगी कि "ये दोनों एषणाएं ही हैं" ।

---

१ अथेति—मानुषवित्तान्तभूतपुत्रसपत्त्यनन्तरमित्यर्थ । २ गवादीति—आदिना दैव वित्तम् । अथेति—कर्मानुष्ठानहेतुभयविधवित्तसपत्त्यनन्तरमित्यर्थं । ३ अभिलाप । ४ भावव्युत्पन्नं कामशब्दमभिलापार्थं व्याख्याय कर्मव्युत्पन्नं तमभिलषितार्थे व्याख्यास्येतावानेव हीति । ५ साधनविषया । ६ साधनैषणां प्रदर्श्य साध्यैषणां प्रदर्शयति—लोकाश्चेति । ७ साधनेच्छारूपम् ।

याश्चास्याः । 'तदर्था हि जायापुत्रवित्तकर्मलक्षणा साधनैषणा । 'तस्मात्सैवैकैषणा या लोकैषणा सैकैव सत्यैषणा 'साधनापेक्षेति द्विधाऽतोऽवधारयिष्यत्युभे ह्येते एषणे एवेति ।

फलार्थत्वात्सर्वारम्भस्य लोकैषणाऽर्थप्राप्तोक्तैवेत्येतावान्वा 'एतावानेव काम इत्यवध्रियते । भोजनेऽभिहिते तृप्तिर्न हि पृथगभिधेया । तदर्थत्वाद्भोजनस्य । ते एते एषणे साध्यसाधनलक्षणे कामो येन प्रयुक्तोऽविद्वानवश एव कोशकारवदात्मानं वेष्टयति कर्ममार्ग एवाऽऽत्मानं प्रणिदधद्बहिर्मुखीभूतो न स्वं लोकं प्रतिजानाति । तथा च तैत्तिरीयके—"अग्निमुग्धो हैव धूमतान्तः स्व लोकं न प्रतिजानाति" इति ।

षणायाः फलभूता इति सबन्ध । 'द्वयोरेषणात्वमुक्त्वा लोकैषणा परिशिनष्टि—तदर्था हीति । कथं तर्हि साधनैषणोक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—सैकेति । 'एतेन वाक्यशेषोऽप्यनुगुणो भवतीत्याह—अत इति ।

"साधनवत्फलमपि "काममात्रं चेत्कथं तर्हि श्रुत्या साधनमात्रमभिधायैतावान"वध्रियते तत्राऽऽह—फलार्थत्वादिति । उक्ते 'साधने साध्यमार्थिकमित्यत्र दृष्टान्तमाह—भोजन इति । साधनोक्तौ साध्यस्यार्थादुक्तेरेतावानिति द्वयोरनुवादेऽपि कथमेषणार्थे कामशब्दस्तत्र प्रयुज्यते नहि "तौ पर्यायौ न च "तदवाच्यत्वे तयोर"नर्थतेत्याशङ्क्य पर्यायत्वमेषणाकामशब्दयोरुपेत्याऽऽह—ते एत इति । वेष्टनमेव" स्पष्टयति—कर्ममार्ग इति । अग्निमुग्धोऽग्निरेव होमादिद्वारेण मम श्रेय साधन नाऽऽत्मज्ञानमित्यभिमानवान्धूमतान्तो धूमेन ग्लानिमापन्नो धूमता वा ममान्ते देहावसाने भवतीति मन्यमानस्ते "धूममभिसंभवन्तीति श्रुते । स्व लोकमात्मानम् ।

सभी उद्यम फल के लिए होते हैं, अत. अर्थत प्राप्त फलैषणा का वर्णन कर दिया । "एतावान्वा" इस पद से इतना ही काम है, ऐसा निश्चय किया जाता है । भोजन की चर्चा कर देने पर तृप्ति की पृथक् चर्चा नही की जाती, क्योंकि भोजन तो तृप्ति के लिए ही होता है । वह यह साध्यसाधनलक्षण एषणा ही काम है, जिससे प्रयुक्त हुए अब्रह्मवित्, रेशम के कीट के समान परवश होकर अपने को लपेट लेता है । तथा अपने को कर्ममार्ग मे उलझाये रख, वहिर्मुखी होकर आत्मलोक को नही जान पाता । इसी आशय का प्रतिपादन तैत्तिरीय उपनिषत् मे किया है—"जो पुरुष अग्निहोत्रादिकर्मों मे आसक्त है, उसका पर्यवसान धूममार्ग ही है, वह आत्मलोक को नही जान पाता ।'

अभिलाषाएँ अनन्त हैं, फिर अभिलाषाओं की एतावत्ता कैसे सिद्ध होती है । असीम कामनाएं हैं, इसका कारण श्रुति निरूपण करती है । 'इच्छन्' अर्थात् चाहते हुए भी पुरुष इस फलसाधनलक्षणा

१ तदर्थत्वेन तदात्मिकैव । २ साधनैषणाया फलैषणात्मकत्वात् । ३ साधनापेक्षेति—साध्यात्वादव साधनबद्धत्वेन तदतिरेकेणायोगात् सा तावदाक्षिप्तसाधना साधनैषणापि साध्यबद्धत्वादाक्षिप्तसाध्याऽतोऽभिहिते साधने साध्यमर्थादभिहितमित्येतावानित्युभयमनूद्य तस्य कामशब्देनानर्थत्वमुक्तमिति गूढाभिसंधिरिति ध्येयम् । ४ श्रुति । बृ० उ० ३।५।१, बृ० उ० ४।४।२२ । ५ फलैषणा । ६ प्रवतयन् । ७ अनात्मप्रवण । ८ साध्यसाधनयो । ९ एषणाद्वैविध्येन । १०. साधनैषणावत् फलैषणापि । ११. कामशब्दवाच्यमनर्थात्मकम् । १२ इति । १३ एषणाकामशब्दौ । १४ कामशब्दावाच्यत्वे । १५. अनर्थरूपता दु खात्मकतेति यावत् । १६ एषणयो । १७ बृ० उ० ६।२।१६ ।

कथं पुनरेतावत्त्वमवधार्यते कामानामनन्तत्वादनन्ता हि कामा इत्येतदाशङ्क्य हेतुमाह—'यस्मान्नेच्छन्ननेच्छन्नप्यतोऽस्मात्फलसाधनलक्षणाद्भूयोऽधिकतर न विन्देन्न लभेत । न हि लोके फलसाधनव्यतिरिक्तं दृष्टमदृष्टं वा लब्धव्यमस्ति । लब्धव्यविषयो' हि कामस्तस्य चैतद्व्यतिरेकेणाभावाद्युक्तं वक्तुमेतावान्वै काम इति'। एतदुक्तं भवति—'दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा साध्यसाधनलक्षणं'मविद्यावत्पुरुषाधिकारविषयमेषणाद्वयं कामोऽतोऽस्माद्विदुषा व्युत्थातव्यमिति । -

यस्मादेवमविद्वानात्मा कामी पूर्वः,। कामयामास तथा पूर्वतरोऽप्येषा 'लोकस्थितिः । प्रजापतेश्चैवमेष सर्ग आसीत्सोऽविभेदविद्यया ततः कामप्रयुक्त एकाक्यरममा-

वाक्यान्तरमुत्थाप्य व्याचष्टे—कथमित्यादिना । तस्मादेतावत्त्वमवधार्यते तेषामिति शेष । उक्तमेवार्थं लोकदृष्टिमवष्टभ्य स्पष्टयति—न हीति । लब्धव्यान्तराभावेऽपि कामयितव्यान्तर स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—लब्धव्येति । एतद्व्यतिरेकेण साध्यसाधनातिरेकेणेति यावत् । तयोर्द्वयोरपि 'कामत्वविधायिश्रुतेरभिप्रायमाह—एतदुक्तमिति । कामस्यानर्थत्वात्साध्यसाधनयोश्च" तावन्मात्रत्वात्सर्गादौ पुमर्थताविश्वासं त्यक्त्वा स्वप्नलाभतुल्याभ्यस्तिसृभ्योऽप्ये"षणाभ्यो व्युत्थान सन्यासात्मक कृत्वा काङ्क्षितमोक्षहेतुं ज्ञानमुद्दिश्य श्रवणाद्यावर्तयेदित्यर्थं ।

तस्मादपीत्यादि व्याचष्टे—यस्मादिति । "प्राकृतस्थितिरेषा न बुद्धिपूर्वकारिणामिद वृत्तमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रजापतेश्चेति । "तत्र हेतुत्वेन पूर्वोक्त स्मारयति—सोऽबिभेदित्यादिना । "तत्रैव

कामना से अधिक कुछ भी नही 'विन्देत' यानी पा सकता । लोकव्यहार मे फलसाधन से व्यतिरिक्त कोई भी दृष्ट या अदृष्ट लब्धव्य पदार्थ नही है । "प्राप्त करने योग्य विषय की ही अभिलाषा होती है" और इसके अतिरिक्त वह है भी नही, इसलिए 'एतावान् वै काम ' बस इतना ही काम है—यह कहना उचित ही है । भाव यह है कि दृष्टार्थ या अदृष्टार्थ वाला साध्यसाधनरूप तथा अब्रह्मवित् पुरुषो द्वारा सेवनीय जो एषणाद्वय है, वही काम है । अत एषणाद्वयात्मक काम से विद्वान् को सन्यास लेकर ज्ञान के लिए श्रवणादिसाधनों म प्रवृत्त होना चाहिये ।

क्योकि उक्तविधि से वह अविद्वान कामी पहले इसी प्रकार इच्छा करता था, उससे पूर्व के अविद्वान् ने भी इसी प्रकार कामना की होगी क्योकि लोकप्रवृत्ति कामपूर्विका है । प्रजापति की सृष्टि भी

१ एतावत्त्वावधारणे । २ यस्मादिति—यतोऽस्मात्फलसाधनलक्षणादधिकतरमिच्छन्नपि नास्माद्यदज्ञो लभते साधनाद्व्यतिरिक्तदृष्टादृष्टलाभाभावादतो युक्तमवधारणमित्यर्थ । यस्मात्साधनाद्यन्यकामयितव्याभावस्तस्मादविद्यावस्थायां तत्सपात्तमात्रणाज्ञस्य पूर्णतेति भाव । तदुक्त— तस्मादविद्याभूमिष्ठ कृत्स्न एतावता भवेदिति' ॥ वा० १८३७ ॥ ३ दृष्टार्थ दृष्टार्थरूपमदृष्टार्थफलकम् । ४ अविद्यावत्पुरुषेति—अविद्यावत्पुरुषवृत्तिरधिकार एषणास्वामित्व तद्विषयोऽधिकरण यस्यैषणाद्वयस्य तत्तथा एतादृशाधिकाराधिकरणाधिकरणकमित्यर्थ । अविद्यावत्पुरुषनिष्ठमिति यावत् । काम अखिलक्लेशाधानयहेतु । अत —अनर्थहेतुत्वादित्यर्थ । ५ एषणाद्वयात्मकात्कामात् । ६ उक्तविधया । ७ कामपूर्विका लोकप्रवृत्ति । ८ एवमिति—कामप्रयुक्त इत्यर्थ । ९ कामत्वबोधीत्यर्थं । १० एषणयो । ११ लोकपुत्रवित्तैषणाभ्य । १२ कामपूर्वक पामराचरण न समीक्ष्यकारिणाम् । १३ प्रजापतिसर्गस्य प्रजापतेर्वा कामप्रयुक्तत्वे । १४ उक्तार्थे ।

णोऽरत्युपघाताय स्त्रियमैच्छत्तां समभवत्ततः सर्गोऽयमासीदिति ह्युक्तम् । तस्मात्तत्सृष्टावेतर्ह्यतस्मिन्नपि काल एकाकी सन्प्राग्दारक्रियातः कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्युक्तार्थं वाक्यम् । स एवं कामयमानः संपादयंश्च जायादीन्यावत्समस्तान्स एतेषां यथोक्तानां जायादीनामेकैकमपि न प्राप्नोत्यकृत्स्नोऽसंपूर्णोऽहमित्येव, तावदात्मानं मन्यते । पारिशेष्यात्समस्तानेवैतान्संपादयति यदा तदा तस्य कृत्स्नता ।

यदा तु न शक्नोति कृत्स्नतां संपादयितुं तदाऽस्य [१]कृत्स्नत्वसंपादनायाऽऽह—तस्यो तस्याकृत्स्नत्वाभिमानिनः कृत्स्नतेयमेवं भवति । कथम् । अयं कार्यकरणसंघातः [१]प्रविभज्यते तत्र [२]मनोनुवृत्ति हीतरत्सर्वं कार्यकरणजातमिति मनः प्रधानत्वादात्मेवाऽऽत्मा । यथा जायादीनां कुटुम्बपतिरात्मैव [३]तदनुकारित्वाज्जायादिचतुष्टयस्य । एवमिहापि मन

कार्यलिङ्गकमनुमानं सूचयति—तस्मादिति । स यावदित्यादिवाक्यमादाय व्याचष्टे—स एवमिति । पूर्वः सशब्दो [६]वाक्यप्रदर्शनार्थः । द्वितीयस्तु व्याख्यानमध्यपातीत्यविरोधः । [७]अर्थसिद्धमर्थमाह—पारिशेष्यादिति ।

तस्यो कृत्स्नतेत्येतदवतार्य व्याकरोति—यदेत्यादिना । अकृत्स्नत्वाभिमानिनो विरुद्धं कृत्स्नत्वमित्याह—कथमिति । विरोधमन्तरेण कार्त्स्न्यार्थं विभागं दर्शयति—अयमिति । विभागे प्रस्तुते मनसो यजमानत्वकल्पनाया निमित्तमाह—तत्रेति । [८]उक्तमेव व्यनक्ति—यथेति । तथा मनसो यजमानत्वकल्प-

कामप्रयुक्त है, अविद्या के द्वारा पहले उसे भय हुआ, फिर काम के वश होकर अकेले रमण न कर पाने के कारण रतिसुख अनुभव के लिए उसने स्त्री की इच्छा की, उससे वह मिथुनीभूत हुआ, फिर यह सृष्टि हुई—ऐसा वर्णन किया जा चुका है । इसलिए इस समय भी इस सृष्टि में विवाह से पूर्व एकाकी मनुष्य चाहता है कि मेरी पत्नी हो और सन्तान हो, मेरे पास धन हो और फिर मैं कर्म करूँ । इस प्रकार यह पूर्वोक्त अर्थप्रतिपादक वाक्य है । इस प्रकार इच्छा करके स्त्री आदि विषयों को सम्पादन करने वाला यह पुरुष जब तक पूर्वोक्त समस्त विषयों में एक-एक को भी प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह अपने को 'अकृत्स्न' अर्थात् अपूर्ण मानता है । परिणामस्वरूप जब वह इन सब को जुटा लेता है, तभी उसकी पूर्णता होती है ।

किन्तु जब वह पूर्णता सम्पादन नहीं कर पाता, तब उसकी पूर्णतासम्पादन में श्रुति इस प्रकार कहती है । उस अकृत्स्नत्व के अभिमानी की यह पूर्णता इस प्रकार होती है । किस प्रकार ? उसका यह कार्यकरणसंघात विभाग से प्रदर्शित किया जाता है, उसमें अन्य समस्त कार्यकरणसंघात मन के अधीन है । मन के उसमें आत्मा के समान प्रधान होने के कारण वह आत्मा है । जैसे जाया, पुत्र, धन व कर्म चारों के अनुकूल होने के कारण कुटुम्ब का स्वामी जायादिचतुष्टय का आत्मा होता है । उसी

१. विभागेन प्रदर्श्यते । २ मनोऽधीनम् । ३ तदनुकूलत्वात् । ४ उपासाप्रकरणे । ५ अनुमानमिति—प्रजापतिकार्यभूताज्जनगतो दारविषयस्त्वोऽभिलाषः कारणपूर्वकः कार्यत्वाद्घटादिवदित्याकारकम् । ६ प्रतीकस्यानीय । ७ अर्थसिद्धमिति—अर्थात् प्रदर्शितव्यतिरेकात् सिद्धं निष्पन्नम्, अर्थम् अन्वयरूपमित्यर्थः । ८ मनस आत्मत्वम् ।

आत्मा परिकल्पते कृत्स्नतायै । तथा वाग्जाया मनोनुवृत्तित्वसामान्याद्वाचः । वागिति शब्दश्चोदनादिलक्षणो मनसा श्रोत्रद्वारेण गृह्यतेऽवधार्यते प्रयुज्यते चेति मनसो जायेव वाक् ।

ताभ्यां च वाङ्मनसाभ्यां जायापतिस्थानीयाभ्यां प्रसूयते प्राणः कर्मार्थमिति प्राणः प्रजेव । तत्र प्राणचेष्टादिलक्षणं कर्म चक्षुर्दृष्टवित्तसाध्यं भवतीति चक्षुर्मानुषं वित्तम् । तद्द्विविधं वित्तं मानुषमितरच्चातो विशिनष्टीतरवित्तनिवृत्त्यर्थं मानुषमिति । गवादि हि मनुष्यसंबन्धिवित्तं चक्षुर्ग्राह्यं कर्मसाधनं तस्मात्तत्स्थानीयम् । तेन संबन्धा-

---

नायदित्यर्थ. । वाचि जायात्वकल्पनायां निमित्तमाह—मन इति । वाचो मनोनुवृत्तित्व स्वरूपकथनपुरःसरं स्फोरयति—वागितीति ।

प्राणस्य प्रजात्वकल्पनां साधयति—ताभ्या चेति । कथं पुनश्चक्षुर्मानुष वित्तमित्युच्यते तत्राह—तत्रेति । आत्मादित्रये सिद्धे सतीति यावत् । आदिपदेन कायचेष्टा, पशुहिरण्यादि तथेत्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति । मानुषमिति विशेषणस्यार्थवत्त्वं समर्थयते—तद्द्विविधमिति । सप्रति चक्षुषो मानुषवित्तत्व गृह्यते । मानुषमिति विशेषणस्यार्थवत्त्वं समर्थयते—तद्द्विविधमिति । सप्रति चक्षुषो मानुषवित्तत्व प्रपञ्चयति—गवादीति । तत्पदपरामृष्टमेवार्थं व्याचष्टे—तेन सवन्धादिति । तत्स्थानीय मानुषवित्तस्था-

---

प्रकार उपासनाप्रकरण में यहाँ भी पूर्णता के लिए 'मन आत्मा है'—ऐसा (दृष्टि की) कल्पना की गई है। तथा (जाया के यजमान के अधीन होने के समान वाक् भी मन के अधीन होने के कारण) वाक् जाया है, क्योंकि वाणी मन का अनुवर्तन करती है, इसलिए स्त्री से उसकी तुलना की जाती है। 'वाक्' यह पदार्थ उपदेशात्मकविधिशब्द है, जो श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा मनसे गृहीत, निश्चित एवं प्रयुक्त होता है, इसलिए वाक् मन की जाया के समान है।

उन पत्नी और पतिस्थानीय वाक् और मन से बाह्यकर्मसम्पादन के लिए प्राण की उत्पत्ति होती है, इसलिए प्राण उनको सन्तान के समान है। वहाँ इन्द्रियचेष्टादिरूप कर्म नेत्रग्राह्य वित्तसाध्य है, इसलिए नेत्र दर्शनक्रिया के समान मानुषवित्त है। मानुष और अमानुष भेद से वित्त दो प्रकार का होता है, 'मानुषवित्त' ऐसा विशेषण अमानुषवित्त की निवृत्ति के लिए है। क्योंकि गौ आदि मनुष्यसम्बन्धीवित्त चक्षु इन्द्रिय से साक्षात् करने योग्य एवं कर्म का साधन है इसलिए वह मानुषवित्त स्थानीय है। उससे सम्बद्ध नेत्र मानुषवित्त हैं क्योंकि नेत्र से ही मनुष्य गवादि मानुषवित्त को

---

१ परिकल्पत इति—देहमधिकृत्य यो यज्ञ तत्र मनसि यजमानदृष्टि कार्या यथा जायादीना पञ्चाना मध्ये कुटुम्बपतिरात्मैव प्रधान तदनुकारित्वात् जायादिचतुष्टयस्य तथा वागादीना पञ्चाना मध्ये मनस प्राधान्य मनोऽनुकारित्वाद्वागादिचतुष्टयस्येत्यर्थः ॥ २ तथा वागिति—जायाया यजमानाधीनत्ववद्वाचो मनोऽधीनत्वमभिप्रेत्याऽऽह—मनोऽनुवृत्तित्वेति । 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदतीति' श्रुत । ३ उपदेशात्मकविधिशब्दो वाक्पदार्थ । ४ ताभ्या चेति—प्राण प्रति वाङ्मनसयोर्मातापितृत्वप्रसिद्धि हेतूकर्तु चेत्युक्तम् । ५ प्राण इति—मनसा विषय निश्चित्य तत्र विषये निरुक्तरूपया वाचा तदेव मनोऽतिशयेन चेष्टते सा उभयनिवर्त्या चेष्टाऽत्र प्राणशब्दार्थ इति बोध्यम् । ६ बाह्यक्रियार्थम् । ७ इन्द्रियचेष्टेत्यर्थ । ८ दर्शनक्रियावच्चक्षु । ९ सत् । १० भवति । ११ वक्ष्यमाणहेतो । १२ वाच । १३ हेतुरूपम् ।

श्चक्षुर्मानुषं 'वित्तम् । चक्षुषा हि यस्मात्तन्मानुषं वित्तं विन्दते गवाद्युपलभत इत्यर्थः । किं पुनरितरद्वित्तं श्रोत्रं दैवं देवविषयत्वाद्विज्ञानस्य । विज्ञानं दैवं वित्तं तदिह श्रोत्रमेव 'संपत्तिविषयम् । कस्मात्, श्रोत्रेण हि यस्मात्तद्दैवं वित्तं विज्ञानं शृणोति । 'अतः श्रोत्राधीनत्वाद्विज्ञानस्य श्रोत्रमेव तदिति । किं पुनरेतैरात्मादिवित्तान्तैरिह निर्वर्त्यं कर्मेत्युच्यते—आत्मैवाऽऽत्मेति शरीरमुच्यते । कथं पुनरात्मा कर्मस्थानीयोऽस्य कर्महेतुत्वात् । कथं कर्महेतुत्वम् । आत्मना हि शरीरेण यतः कर्म करोति । तस्याकृत्स्नत्वाभिमानिन एवं कृत्स्नता संपन्ना । यथा बाह्यजायादिलक्षणैवम् । तस्मात्स एष पाङ्क्तः पञ्चभिर्निर्वृत्तः पाङ्क्तो यज्ञो दर्शनमात्रनिर्वृत्तोऽकर्मिणोऽपि ।

नीयं तेन मानुषेण वित्तेनेत्येतत् । संबन्धमेव साधयति—चक्षुषा हीति । तस्माच्चक्षुर्मानुषं वित्तमिति शेषः ।

आकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरवाक्यमुपादत्ते—किं पुनरिति । तद्व्याचष्टे—देवेति । तत्र हेतुमाह—कस्मादित्यादिना । यजमानादिनिर्वर्त्यं कर्म प्रश्नपूर्वकं विशदयति—किं पुनरित्यादिना । इहेति संपत्तिपक्षोक्तिः । शरीरस्य कर्मत्वमप्रसिद्धमिति शङ्कित्वा परिहरति—कथं पुनरिति । अस्येति यजमानोक्तिः हिशब्दार्थो यत इत्यनूद्यते । तस्यो कृत्स्नतेत्युक्तमुपसंहरति—तस्येति । उक्तरीत्या कृत्स्नत्वे सिद्धे फलितमाह—तस्मादिति ।

देखता है ।

तो फिर दूसरा अमानुषवित्त क्या है ? 'श्रोत्र दैवम्' अर्थात् उपासना के देवविषयक होने से श्रोत्र दैववित्त है । उपासना दैववित्त है, यहाँ उस उपासना को सपत्ति का विषय श्रोत्र ही वह दैववित्त है, ऐसा क्यो ? क्योकि उस उपासनारूप दैववित्त को पुरुष श्रोत्र से सुनता है । अत विज्ञान श्रोत्र के अधीन होने के कारण श्रोत्र ही दैववित्त है । किन्तु आत्मा से लेकर वित्तपर्यन्त पांच साधनो से निष्पन्न होने वाला यहाँ कौन सा कर्म है ? इस पर श्रुति कहती है—आत्मा ही इसका कर्म है, 'आत्मा' शब्द से यहाँ शरीर का ग्रहण होता है । आत्मा कर्मस्थानीय क्यो है ? क्योकि यह यजमानशरीर के कर्म का हेतु है, यह कर्म का हेतु किस प्रकार है ? क्योकि शरीर के द्वारा ही वागादिचेष्टा और अन्त.करण चेष्टादि कर्म करता है । जायादिरूपा बाह्य अपूर्णता के समान उस अपूर्णता के अभिमानी की इस प्रकार कृत्स्नता सपन्न होती है । इस प्रकार कृत्स्नत्व के सिद्ध हो जाने पर यह उपासनारूप आध्यात्मिकयज्ञ पाङ्क्त है अर्थात् पांच के द्वारा निष्पन्न होने वाला है । बाह्यकर्मशून्य द्वारा भी यह आध्यात्मिक उपासनामयी दृष्टिमात्र से निष्पन्न होता है ।

---

१ वित्तम् । २ उपासनस्य । ३ तदिहेत्यादि । सत् दैवं वित्तम् । इह उपासनद्वयमध्ये । ४ श्रोत्रमेव सपत्तिविषयमिति—तस्यैवोक्तवित्तसपादनाधिकरणत्वादुक्तवित्तत्वेन चिन्तनीयत्वादित्यथ । ५ अत इति—श्रोत्रस्य श्रवणद्वारा विज्ञानहेतुत्वात्तस्मिन्नध्यात्मविषये दैववित्तदृष्टिरित्यर्थ । ६ पञ्चभि साधनै । ७ यजमानशरीरस्य । ८ शरीरेण यत कर्म करोतीति—वागादिचेष्टा अन्तःकरणचेष्टाश्च शरीरेणैव करोत्यत कर्मदृष्टिस्तत्र युक्तैवेत्यर्थ । ९ एव कृत्स्नत्वस्य सिद्धत्वात् । १० उपासनरूप आध्यात्मिकयज्ञ । ११ निर्वृत्त अध्यात्ममुपासनमात्रेण सिद्ध । १२ अकर्मिण बाह्यकर्मशून्यस्य । १३ तत्र हेतुमाहेति—श्रोत्रस्यैव दैववित्तसपादनविषयत्वे । आकाङ्क्षापूर्वकं हेतु दर्शयतीत्यर्थ । १४. सपदुपासनापक्ष इत्यर्थ ।

(अथ प्रथमाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम्)

'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता । एकमस्य साधारणम् । द्वे देवानभाजयत् । त्रीण्यात्मनेऽकुरुत । पशुभ्य

प्रजापति ने विज्ञान तथा कर्म से जिन सात अन्नों की सृष्टि की है, उनमें से यवादिरूप एक अन्न इसका साधारण है, अर्थात् वह सभी प्राणियों का भाग्य है।-(हुत और प्रहुतरूप)-दो अन्न उसने

कथं पुनरस्य' पाङ्क्तत्वसंपत्तिमात्रेण यज्ञत्वम्, उच्यते—यस्माद्बाह्योऽपि यज्ञः' पशुपुरुषसाध्यः, स च पशुः पुरुषश्च पाङ्क्त एव । यथोक्तमनआदिपञ्चत्वयोगात् । तदाह—पाङ्क्तः पशुर्गवादिः पाङ्क्तः पुरुषः 'पशुत्वेऽप्यधिकृतत्वेनास्य विशेषः पुरुषस्येति पृथग्पुरुषग्रहणम् । किं बहुना पाङ्क्तमिदं सर्वं कर्मसाधनं फलं च यदिदं किंच यत्किंचिदिदं सर्वमेवं पाङ्क्तं यज्ञमात्मानं यः संपादयति स तदिदं सर्वं जगदात्मत्वेनाऽऽप्नोति य एवं वेद ॥ १७ ॥

इति बृहदारण्यकभाष्ये प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

अस्येति दर्शनोक्तिः । पशोः पुरुषस्य च पाङ्क्तत्वं तच्छब्दार्थः । पुरुषस्य 'पशुत्वा'विशेषात्पृथग्ग्रहणमयुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—पशुत्वेऽपीति । न केवलं पशुपुरुषयोरेव पाङ्क्तत्वं किं तु 'सर्वस्येत्याह—किं बहुनेति । तस्मादाध्यात्मिकस्य दर्शनस्य यज्ञत्वं पञ्चत्वयोगादविरुद्धमिति शेषः । संपत्तिफलं व्याकरोति—एवमिति । व्याख्यातार्थं वाक्यमनुवदन्ब्राह्मणमुपसंहरति—य एवं वेदेति । साध्यं साधनं च पाङ्क्तं सूत्रात्मना ज्ञात्वा 'तच्चाऽऽत्मत्वेनानुसंदधानस्य तदाप्तिरेव फलं तत्क्रतुन्यायादित्यर्थः ॥१७॥

इति बृहदारण्यकभाष्यटीकायां प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

किन्तु पञ्चत्व के संपत्तिमात्र से इस उपासना का यज्ञत्व कैसे सिद्ध होता है ? इस पर कहते हैं—क्योंकि अन्तर यज्ञ के पाङ्क्तत्व होने पर बाह्य यज्ञ भी पशु और पुरुष से साध्य है, और वह पशु-और पुरुष भी पूर्वोक्त मन आदि पञ्चत्व के सम्बन्ध से पाङ्क्त ही है। यही बात श्रुतिवाक्य में कही गयी है। गौ आदि पशु पाङ्क्त हैं, पुरुष पाङ्क्त है, पाङ्क्तत्वरूप से पशुत्व विशेषता न होने पर भी पुरुष को अधिकारी होने से विशेषता है, इसलिए इसे पृथक् ग्रहण किया है। अधिक क्या ? यह कर्म-साधन और फल सभी पाङ्क्त है। "यदिदं किञ्च" अर्थात् जो कुछ भी है, सभी पाङ्क्त है। इस प्रकार जो अपने को 'मैं पाङ्क्त यज्ञस्वरूप हूँ' इस प्रकार चिन्तन करता है, साध्यसाधनरूप पाङ्क्त

---

१. "जीवत कर्मकर्तृत्वलक्षणोऽन्नथ ईरित । मृतस्याऽविदुष कर्मफलान्नमिहोच्यते ॥ पूर्वजन्मन्यनुष्ठाय कर्मोपास्ती अनात्मवित् । जगत् सप्तान्नरूपेण सृजत्युत्तरजन्मनि ॥ चतुर्थब्राह्मणप्रोक्त यद्यपि ज्ञानकर्मणो । फल तथापि वैधर्म्यमस्ति जीवेशरूपत ॥ उत्कृष्टज्ञानकर्मभ्या वैराज पदमाप्य यत् । जगत् सृजति तत्प्रोक्त चतुर्थब्राह्मणे पुरा ॥ निकृष्टज्ञानकर्मभ्या मनुष्यादिपद गत । स्वभोग्य सृजत यत्तत्पञ्चमेऽस्मिन्नुदीर्यत ॥ वृ वा सा १-५ ॥ इति ।
२ उपासनस्य । ३ अपिरान्तरयज्ञस्य पाङ्क्तत्वे कैमुतिकत्वद्योतनीत्यवमेयम् । ४ पाङ्क्तत्वेन पशुत्वाविशेषेऽपि । ५ पाङ्क्तयज्ञस्वरूपोऽहमिति चिन्तयति । ६ पाङ्क्तत्वनाविशेषात् । ७ पशुत्वाविशेषादिति—तथा च श्रुति । "पशवो द्विपादश्चतुष्पादश्चेति' वक्ष्यते १।५।२ टीकायाम् । ८' सर्वस्येति—चराचरस्य पाञ्चभौतिकत्वेन पाङ्क्तत्वमित्यर्थ । ९ पाङ्क्त सूत्रम् ।

एकं प्रायच्छत्। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा। यो वैतामक्षितिं वेद। सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन। स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥१॥

देवताओं को विभाग करके दे दिया है। तीन अन्न उसने अपने लिये रक्खे। दुग्धरूप एक अन्न पशुओं को दिया। उस पशु अन्न में वे सभी प्रतिष्ठित हैं, जो प्राणनक्रिया करते हैं और जो नहीं करते हैं। ये अन्न सदा सर्वदा खाये जाने पर भी क्षीण क्यों नहीं होते? जो कोई इस अन्न के अविनश्वरभाव को जानता है, वह मुख्यरूप प्रतीक के द्वारा अन्न खाता है। वह देवताओं को प्राप्त होता है तथा अमृत का जीवनार्थ आश्रय लेता है। इस विषय में ये मन्त्र हैं ॥१॥

यत्सप्तान्नानि मेधया। अविद्या प्रस्तुता। तत्राविद्वानन्या देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति 'सवर्णाश्रमाभिमान कर्मकर्तव्यतया 'नियतो जुहोत्यादिकर्मभि· कामप्रयुक्तो देवादीनामुपकुर्वन्सर्वेषां भूतानां 'लोक इत्युक्तम्। यथा च स्वकर्मभिरेकैकेन सर्वैर्भूतैरसौ 'लोको भोज्यत्वेन सृष्टः। एवमसावपि जुहोत्यादिपाङ्क्तकर्मभिः सर्वाणि भूतानि 'सर्वं

ब्राह्मणान्तरमवतार्य सगति वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—यत्सप्तान्नानीत्यादिना। तत्रेत्यतिक्रान्तब्राह्मणोक्ति। उपास्तिशब्दित भेददर्शनमविद्याकार्यमनेनानूद्य न स वेदेति तद्धेतुरविद्या पूर्वत्र प्रस्तुतेति योजना। अथो अयमित्यत्रोक्तमनुवदति—सवर्णाश्रमाभिमानि इति। आत्मैवेदमग्र आसीदित्यादावुक्तं स्मारयति—कामप्रयुक्त इति। वृत्तमनूद्योत्तरग्रन्थमवतारयितुमपेक्षितं पूरयति—यथा चेति। गृहिणो जगतश्च परस्परं स्वकर्मोपार्जितत्वमेष्टव्यमन्यथाऽन्योन्यमुपकारकत्वायोगादित्यर्थः। ननु सूत्रस्यैव जगत्क-

को आत्मस्वरूप से जानता है, वह इस सम्पूर्ण जगत् को आत्मस्वरूपत्वेन प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यक भाष्य के हिन्दीभाषानुवाद में प्रथमाध्याय का
पुरुषविधनामक चतुर्थ ब्राह्मण पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

"(प्रजापति ने) विज्ञान (तथा कर्म) से जिन सात अन्नों की सृष्टि की है" इत्यादि मन्त्र से सप्तान्नसञ्ज्ञक पञ्चम ब्राह्मण प्रारम्भ किया जाता है। यहाँ अविद्या को प्रस्तुत किया गया है। वहाँ (पिछले ब्राह्मण में) अब्रह्मवित 'यह देवता अन्य है और मैं अन्य हूँ" इस भावना से अन्य देवता की उपासना करता है। अविद्या के कार्य से विशिष्ट वह वर्णाश्रमाभिमानी पुरुष कर्म की कर्तव्यता के अधीन होकर यागादि कर्मों द्वारा देवतादि का उपकार करने के कारण समस्त भूतों का भोग्य है, ऐसा कहा जा चुका है। जिस प्रकार एक एक करके सभी मनुष्यों ने अपने कर्मों द्वारा कर्मानुष्ठाता को भोज्यरूप से उत्पन्न किया है। उसी प्रकार उस कर्मानुष्ठाता ने यागादि पाङ्क्तकर्मों द्वारा समस्त प्राणियों को

१ अविद्वानिति पदेनाविद्यावैशिष्ट्यमभिधाय तत्कार्यवैशिष्ट्यमभिदधाति—सवर्णेति। २ कर्माधीन इति यावत्। ३ भोग्य। ४ कर्मानुष्ठाता। ५ कमक्रमशोऽपि। ६ सर्वं चेति—स्वकर्मानार्जितस्य भोग्यत्वायोगाद्गोक्ता सर्वं भोज्यमर्जितमित्यर्थः।

च जगदात्मभोज्यत्वेनासृजत । एवमेकैकः स्वकर्मविद्यानुरूप्येण सर्वस्य जगतो भोक्ता भोज्यं च सर्वस्य सर्वः कर्ता कार्यं चेत्यर्थः । एतदेव च विद्याप्रकरणे मधुविद्यायां वक्ष्यामः । सर्वं सर्वस्य कार्यं मध्वित्यात्मैकत्वविज्ञानार्थम् । 'यदसौ जुहोतीत्यादिना 'पाङ्क्तेन काम्येन कर्मणाऽऽत्मभोज्यत्वेन जगदसृजत विज्ञानेन च तज्जगत्सर्वं सप्तधा प्रविभज्यमानं कार्यकारणत्वेन सप्तान्नान्युच्यन्ते भोज्यत्वात्तेनासौ पिता तेषामन्नानाम् । एतेषामन्नानां 'सविनियोगानां 'सूत्रभूताः संक्षेपतः प्रकाशकत्वादिमे मन्त्राः ॥ १ ॥

तृं त्व ज्ञानक्रियातिशयवत्त्वान्नेतरेषां तदभावादत आह—एवमिति । पूर्वकल्पीयविहितप्रतिषिद्धज्ञान-कर्मानुष्ठाता सर्वो जन्तुरुत्तरसर्गस्य 'पितृत्वेनात्र' विवक्षितो न तु प्रजापतिरेवेत्युक्तमर्थं संक्षिप्याऽऽह—सर्वस्येति । सर्वस्य मिथोहेतुहेतुमत्त्वे प्रमाणमाह—एतदेवेति । सर्वस्यान्योन्यकार्यकारणत्वोक्त्या 'कल्पितत्वचनं कुत्रोपयुज्यते तत्राऽऽह—आत्मैकत्वेति । एवं भूमिकां कृत्वोत्तरब्राह्मणतात्पर्यमाह—यदसाविति । उच्यन्ते 'ध्यानार्थमिति शेषः । अन्नत्वे हेतुः—भोज्यत्वादिति । तेन ज्ञानकर्मभ्यां जनकत्वेनेति यावत् । ब्राह्मणमवतार्य मन्त्रमवतारयति—एतेषामिति ॥ १ ॥

तथा सारे संसार को अपने भोग्यरूप से उत्पन्न किया । इस प्रकार एक-एक करके सभी मनुष्य कर्म और ज्ञान के अनुरूप समस्त जगत् के भोक्ता और भोज्य हैं अर्थात् सभी सब के कर्ता और कार्य हैं। विद्या के प्रकरण में आत्मैकत्वज्ञान के लिए यही बात (द्वितीय अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण में) मधुविद्या के प्रकरण में कहेंगे—"सभी पृथिवी आदि भूत एवं सभी भूतों का कार्य मधु है" । उस कर्मानुष्ठाता मनुष्य ने जो यागादि आत्मादिपञ्चक निर्मित काम्यकर्म और अपने विज्ञान द्वारा आत्मभोज्यरूप से इस जगत् की उत्पत्ति की, वह सारा कार्यकारणात्मकरूप जगत् सात प्रकार से विभक्त होने पर भोज्य होने से सप्तान्नात्मक कहा जाता है । इसलिए वह उन अन्नों का पिता है । वहाँ-वहाँ देवादिकों के सम्बन्धसहित इन अन्नों के संक्षेपतः प्रकाशक होने के कारण ये मन्त्र इनके सूचकरूप हैं ॥१॥

'यत्सप्तान्नानि' इत्यादि मन्त्र में 'यत्' शब्द 'अजनयत्' क्रिया से सम्बद्ध होने से क्रियाविशेषण है। 'मेधया' अर्थात् प्रज्ञा या विज्ञान से तथा 'तपसा' अर्थात् पाङ्क्तकर्मसे (सृष्टि की) । मेधा और तप शब्दों के वाच्य ज्ञान और कर्म ही हैं। क्योंकि (ज्ञान और कर्म) इन्हीं का यहाँ प्रकरण है, इससे भिन्न

---

१ बृ० उ० २।५।१ । २ कर्मकृन्नर । ३ आत्मादिपञ्चकनिर्मितेन । ४ विनियोगस्तत्र तत्र देवादौ सम्बन्ध तत्सहिता । ५ सूचकरूपा । ६ पितृत्वेनेति—'विज्ञानात्मा पिता तावन्न मनो न प्रजापति । अविशिष्टाधिकारित्वान्न विज्ञानात्मनोऽपर ॥ सिसृक्षितत्वा मनसस्तथा व्यष्टात्मन प्रभो । साधारणात्मन स्रष्टा नात क्षेत्रज्ञतोऽपर" ॥ १५-१६ ॥ इति । मन एव पितेति श्रुतेर्मनसो वा सर्वजगत्स्रष्टृत्वात्प्रजापतेर्वा मन्त्रस्थ-पितृशब्दतत्याशङ्क्याऽऽह—विज्ञानात्मेति । सर्वस्मिञ्जगति जीवस्य कर्मादिद्वारा साधारण्येन कारणत्वादसावेवात्र पितेत्यर्थ । न मन इत्यादि निगमयति—नेति ॥ जीववन्मनसि प्रजापतौ च कारणत्व किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह —सिसृक्षितत्वादिति । द्वयोरपि सृष्टिनिविष्टत्वेन कार्यकोटिनिविष्टत्वान्न कारणत्वमित्यर्थ । सर्वस्य जगत साधारणात्मा क्षेत्रज्ञस्ततोऽपरो न स्रष्टेति सम्बन्ध । ७ प्रकरणे मन्त्रे वा । ८ कार्यस्य विकारतया वाचारम्भणत्वादिति भाव । ९ ध्यानार्थमिति—स्वकर्मादिना सृष्टस्य जगत सप्तधा विभक्तस्य सूत्रात्मकस्य स्वात्मना (स्वात्मत्वेन) ध्यान तद्भावफलक विधातुमुत्तर ब्राह्मणमित्यर्थ ।

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति मेधया हि तपसाऽजनयत्पिता। एकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते। स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रꣳ ह्येतत्। द्वे देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति। तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात्। पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति तत्पयः।

यह बात प्रसिद्ध है कि पिता ने ज्ञान और कर्म के द्वारा ही सप्तान्न की सृष्टि की। उनमें से एक अन्न उसका साधारण है जोकि यह खाया जाता है, यही इसका साधारण अन्न है। जो इस साधारण अन्न की उपासना करता है, वह पाप से दूर नहीं होता क्योंकि यह अन्न समस्त प्राणियों का मिला जुला है। उस परमेश्वर ने हुत और प्रहुतरूप दो अन्न देवताओं का विभाग करके दिये। इसीलिये गृहस्थ पुरुष देवताओं के लिये वहन और बलि भेंट करते हैं। कुछ लोगों ने दर्श और पूर्णमास को देवताओं के दो अन्न कहे हैं। इसलिये सकाम इष्टियों के यजन में प्रवृत्त न हो। वह दुग्ध नामक एक

यत्सप्तान्नानि यदजनयदितिक्रियाविशेषणं मेधया प्रज्ञया [1]विज्ञानेन तपसा च [2]कर्मणा ज्ञानकर्मणी एव हि मेधातपःशब्दवाच्ये तयोः [3]प्रकृतत्वान्नेतरे मेधातपसी अप्रकरणात्। पाङ्क्तं हि कर्म जायादिसाधनं य एवं वेदेति चान्तरमेव ज्ञानं प्रकृतम्। तस्मान्न प्रसिद्धयोर्मेधातपसोराशङ्का कार्या। अतो यानि सप्तान्नानि ज्ञानकर्मभ्यां जनितवान्पिता तानि प्रकाशयिष्याम इति वाक्यशेषः। तत्र मन्त्राणामर्थस्तिरोहितत्वात्प्रायेण

तत्राऽऽद्यमन्त्रभागमादाय व्याचष्टे—यत्सप्तान्नानीति। अजनयदितिक्रियाया विशेषणं यदिति पदम्। तथा च तद्युक्तं पितृत्वादिति शेषः। ग्रन्थार्थधारणशक्तिर्मेधा, कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपः, ते कस्मादत्र न गृह्येते तत्राऽऽह—ज्ञानकर्मणी इति। तयोः प्रकृतत्वं प्रकटयति—पाङ्क्तं हीति। इतरयोरप्रकृतत्वं हेतूकृतमनूद्य फलितमाह—तस्मादिति। ज्ञानकर्मणोः प्रकृतत्वमुक्तं हेतुमादाय वाक्यं पूरयति—अत इति। यत्सप्तान्नानीत्यादिमन्त्रभागं व्याख्याय ब्राह्मणावयवमुदाहर्तुमवतारयति—तत्रेति।

अप्राकरणिक होने से ग्रन्थार्थावधारणशक्ति मेधा और कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप इनके वाच्य नहीं हैं। यहाँ 'जायादिसाधन' वाले पाङ्क्तकर्म का, इसके बाद 'जो इस इस प्रकार जानता है' इस वाक्य से प्रसिद्ध वाचनिक अर्थ मेधा और तप की आशङ्का नहीं करनी चाहिये। इसलिए ज्ञान और कर्म के द्वारा जिन सात अन्नों को ज्ञानकर्माधिकारी क्षेत्रज्ञ पिता ने उत्पन्न किया, उन्हें हम विस्तारपूर्वक कहेंगे, यह तात्पर्य है। वहाँ वेदों में मन्त्रभाग का छिपा हुआ अर्थ होने के कारण प्रायः उसका समझना

---

१ पाङ्क्तोपास्त्या। २ पाङ्क्तेन। ३ प्राकरणिकत्वात्। ४ ज्ञानकर्माधिकारी क्षेत्रज्ञः। ५ जननम्।

पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मा-
त्कुमारं जातं घृतं वैवाग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वाऽनु-
धापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद इति। तस्मिन्सर्वं
प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसि हीदꣳ
सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। तद्यदिदमाहु
संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा
विद्याद्यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं

अन्न पशुओ को दिया। अत मनुष्य और पशु पहले दुग्ध के ही आश्रय जीते है। इसीलिये सद्योजात
बालकको घृत चटाते है या स्तन्यपान कराते है, इसीसे उत्पन्न हुए बछडेको भी तृणभक्षण न करने वाला
कहा करते है। जो प्राणनक्रिया करते है और जो नही करते है, वे सब पश्वन्न दुग्ध मे ही प्रतिष्ठित
है। अत एक वर्ष तक दुग्ध से हवन करने वाला पुरुष अपमृत्यु को जीत लेता है-ऐसा नही समझना
चाहिये, तथ्य तो यह है कि वह जिस दिन दुग्ध से हवन करता है, उसी दिन अपमृत्यु को जीत लेता
है, एक वर्ष तक प्रतीक्षा नही करनी पडती। इस प्रकार की उपासना करने वाला पुरुष देवताओ को

दुर्विज्ञेयो भवतीति तदर्थव्याख्यानाय ब्राह्मणं प्रवर्तते। तत्र यत्सप्तान्नानि मेधया तपसा-
ऽजनयत्पितेत्यस्य कोऽर्थ उच्यत इति हिशब्देनैव व्याचष्टे प्रसिद्धार्थावद्योतकेन। प्रसिद्धो
ह्यस्य मन्त्रस्यार्थ इत्यर्थः। यदजनयदिति चानुवादस्वरूपेण मन्त्रेण प्रसिद्धार्थतैव
प्रकाशिता। अतो ब्राह्मणमविशङ्कयैवाऽऽह—मेधया हि तपसाऽजनयत्पितेति।

मन्त्रब्राह्मणात्मको ग्रन्थ समग्र्यर्थं। मेधया हीत्यादिब्राह्मणमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थापयति—तत्र यदिति।
प्रकृतमन्त्रसमुदाय सप्तम्या परामृश्यते। व्याख्यानमेव संगृह्णाति—प्रसिद्धो हीति। न केवलं हिशब्दा-
न्मन्त्रस्य प्रसिद्धार्थत्व कि तु मन्त्रस्वरूपालोचनायामपि तत्सिध्यतीत्याह—यदिति। मन्त्रार्थस्य प्रसिद्धत्वे
'मन्त्रस्यानुगुणत्व हेतूकृत्य फलितमाह—अत इति।

कठिन होता है, अत उसके अर्थ की व्याख्या के लिए ब्राह्मणभाग प्रवृत होता है। उपरोक्त 'यत्सप्ता-
न्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता' इत्यादि मन्त्र का क्या अर्थ है? प्रसिद्ध अर्थ के द्योतक "हि" इस
शब्द से (ब्राह्मण) व्याख्या करता है। इस मन्त्र का अर्थ प्रसिद्ध ही है—ऐसा इसका भाव है। 'जो उत्पन्न
किया' इस अनुवादस्वरूप मन्त्र से इसके अपने प्रसिद्ध अर्थ का प्रकाश होता है। इसलिए ब्राह्मण संशय-
रहित होकर कहता है—"ज्ञानकर्माधिकारी क्षेत्रज्ञ ने विज्ञान और कर्म से सृष्टि की।

हेतुत्वप्रसिद्धेर्मेधया हीत्याद्या श्रुतिस्तेनैव पितु
१ हिशब्देनेति—ज्ञानकर्मातिरिक्तसृष्टिहेत्वभावात्तस्यैव तत्र हेतुत्वप्रसिद्धेर्मेधया हीत्याद्या श्रुतिस्तेनैव पितु
स्स्रष्टृत्व हिशब्देन साक्षादाहेत्यर्थ। प्रसिद्ध ह्युक्तार्थकमेधातपसोर्जगत्कारणत्वम्। २ स्वस्य। ३ असं-
शयेनैव। ४ मन्त्रस्वरूपस्य।

विद्वान्सर्वं हि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति । कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते । यो वैतामक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह सोऽन्नमत्तिः प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत् । स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रशंसा ॥२॥

सम्पूर्ण भक्ष्य प्रदान करता है। फिर सदा खाये जाने पर भी वे अन्न नष्ट क्या नहीं होते ? इसका एकमात्र यही कारण है कि इसका जनक पुरुष अविनाशी है। अत वही बारम्बार आवश्यकतानुसार उसे उत्पन्न कर देता है। अन्न के इस अविनाशीभाव को जो भी जानता है अर्थात् पुरुष ही अविनाशी है, वही इस अन्न को ज्ञान एवं कर्म से उत्पन्न कर देता है। यदि वह पुरुष इसे उत्पन्न नहीं करता तो वह अन्न भक्षण किये जाने पर नष्ट हो जाता। ऐसा जो जानता है वह मुखरूप प्रतीक के द्वारा अन्न भक्षण करता है। वह देवताओं को प्राप्त होता है और अमृत के आश्रित जाता है। ऐसी फलश्रुति प्रशंसामात्र के लिये है ॥२॥

ननु कथं प्रसिद्धता[१]ऽस्यार्थस्येति, उच्यते—जायादिकर्मान्तानां [२]लोकफलसाधनानां पितृत्वं[३] तावत्प्रत्यक्षमेव, अभिहितं[४] च जाया मे स्यादित्यादिना[५]। तत्र च दैवं वित्तं विद्या कर्म पुत्रश्च फलभूतानां लोकानां साधनं स्रष्टृत्वं प्रतीत्यभिहितम्। वक्ष्यमाणं च प्रसिद्धमेव। तस्माद्युक्तं[६] वक्तुं मेधयेत्यादि।

तत्प्रसिद्धिमुपपादयितुं पृच्छति—नन्विति। साध्यसाधनात्मके जगति पितृत्वमविद्यावतो भावि तत्प्रत्यक्षत्वात्प्रसिद्ध'मनुभूयते' हि जायादि संपादयन्नविद्वानित्याह—उच्यत इति। श्रुत्या च प्रागुक्तत्वात्प्रसिद्धमेतदित्याह—अभिहितं चेति। यच्च मेधातपोभ्यां स्रष्टृत्वं मन्त्रब्राह्मणयोरुक्तं तदपि प्रसिद्धमेव विद्याकर्मपुत्राणामभावे लोकत्रयस्याप्यनुपपत्तेरित्याह—तत्र चेति। पूर्वोत्तरग्रन्थ समन्वयः। 'पुत्रेणैवाय लोको जय्य इत्यादौ वक्ष्यमाणत्वाच्चास्यार्थस्य प्रसिद्धतेत्याह—वक्ष्यमाण चेति। मन्त्रार्थस्यैव प्रसिद्धत्वे मन्त्रस्य प्रसिद्धार्थविषयं ब्राह्मणमुपपन्नमित्युपसंहरति—'तस्मादिति।

अविद्या से युक्त जगत के जनकस्वरूप से मन्त्रप्रतिपाद्य अर्थ की प्रसिद्धार्थता कैसे है ? इसपर कहते हैं—स्त्री से लेकर कर्मान्त लोकरूप फल और साधनों का जनकत्व तो प्रत्यक्ष ही है। यह बात मुझे स्त्री प्राप्त हो इत्यादि श्रुतिवाक्यों से कही गई है। यह भी बतलाया जा चुका है कि दैव वित्त,

---

१ अविद्यावतो जगज्जनकस्वरूपस्य मन्त्रप्रतिपाद्यस्यार्थस्येत्यर्थ। २ लोकरूपफलेति भाव। ३ प्रसिद्धिमेवाभिनयति—अनुभूयत इति। ४ पितृत्वेनेति शेष। ५ बृ० उ० १।४।१७। ६ मन्त्रार्थस्य प्रसिद्धत्वात्।

एषणा हि फलविषया प्रसिद्धैव च लोके। एषणा च जायादी[1]युक्तमेतावान्वै काम इत्यनेन। ब्रह्मविद्याविषये च [2]सर्वैकत्वात्कामानुपपत्तेः। एतेनाशास्त्रीयप्रज्ञातपोभ्यां स्वाभाविकाभ्यां जगत्स्रष्टृत्वमुक्तमेव भवति।

स्थावरान्तस्य चानिष्टफलस्य कर्मविज्ञाननिमित्तत्वात्। विवक्षितस्तु शास्त्रीय एव साध्यसाधनभावो ब्रह्मविद्याविधित्सया तद्वैराग्यस्य विवक्षितत्वात्। सर्वो ह्ययं [3]व्यक्ता-

प्रकारान्तरेण मन्त्रार्थस्य प्रसिद्धत्वमाह—एषणा हीति। फलविषयत्वं तस्याः स्वानुभवसिद्धमिति
द्योतनं हिशब्दः। तस्या लोकप्रसिद्धत्वेऽपि कथं मन्त्रार्थस्य प्रसिद्धत्वमत आह—एषणा चेति। जायाद्या-
त्मकस्य कामस्य संसारारम्भकत्ववन्मोक्षेऽपि कामः संसारमारभेत कामत्वाविशेषादित्यतिप्रसङ्गमाश-
ङ्क्याऽऽह—ब्रह्मविद्येति। तस्या विषयो मोक्षः। तस्मिन्नद्वितीयत्वाद्रागादिपरिपन्थिनि कामापरपर्यायो
रागो नावकल्पते। न हि मिथ्याज्ञाननिदानो रागः सम्यग्ज्ञानाधिगम्ये मोक्षे संभवति। [4]श्रद्धा तु तत्र
भवति [5]तत्त्वबोधाधीनतया संसारविरोधिनी [6]तन्न संसारानुपपत्तिर्मुक्ताविरयर्थः। शास्त्रीयस्य जायादेः
संसारहेतुत्वे कर्मादिरशास्त्रीयस्य कथं तद्धेतुत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—एतेनेति। अविद्योत्थस्य कामस्य
संसारहेतुत्वोपदर्शनेनेति यावत्। स्वाभाविकाभ्यामविद्याधीनकामप्रयुक्ताभ्यामित्यर्थः।

इतश्च [7]तयोर्जगत्सृष्टिप्रयोजकत्वमेष्टव्यमित्याह—स्थावरान्तस्येति। यत्सप्तान्नानीत्यादिमन्त्र-
पदस्य मेधया हीत्यादिब्राह्मणस्य चाक्षरोत्थमर्थमुक्त्वा तात्पर्यमाह—विवक्षितस्त्विति। [8]शास्त्रपरवश-
स्य [9]शास्त्रवशादेव साध्यसाधनभावादशास्त्रीयाद्वैमुख्यसंभवाच्च तस्यात्र विवक्षितत्वमित्यर्थः। शास्त्री-
यस्य साध्यसाधनभावस्य विवक्षितत्वे हेतुमाह—ब्रह्मेति। [10]तदेव प्रपञ्चयति—सर्वो हीति। दुःखयतीति

ज्ञान, कर्म और पुत्र अपने फलभूत लोकों के स्रष्टृत्व में साधन हैं; (पुत्र से यह लोक जय्य है—)
वक्ष्यमाण बात भी प्रसिद्ध ही है। इसलिए "मेधया" इत्यादि कथन ठीक ही है।
एषणा भी किसी फल के लिए ही होती है, यह बात लोकव्यवहार से सिद्ध है। 'एतावान्वै
काम' (इतना मात्र ही काम है—) इस वाक्य से जाया आदि ही एषणा है यह प्रतिपादित किया
गया है। ब्रह्मविद्या का जो विषय है, उसमें सब अद्वैत हो जाने के कारण कामना का होना सम्भव नहीं
है। इससे यह कथन सिद्ध हो जाता है कि अशास्त्रीय एवं स्वाभाविक ज्ञान व कर्मों के द्वारा संसार की
सृष्टि होती है।

१ अद्वैतत्वात्। २ भवतीति—नहि सप्तान्नसृष्टौ शास्त्रीय एव प्रज्ञातपसी निमित्तं भवतो निषिद्धयोरपि
तयोस्तद्धेतुत्वस्येष्टत्वादिति भावः। ३ कार्यकारणरूपः। ४ नन्वेवं मुमुक्षाया अभावेनाधिकार्यभावान्मोक्ष-
साधने ज्ञानेऽधिकारिणः प्रवर्तकस्य तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेदित्यादिशास्त्रस्याऽऽनर्थक्यं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह
—श्रद्धा त्विति। तुशब्दो यथोक्तचोद्यव्यावृत्त्यर्थः। मुमुक्षास्थानीया श्रद्धेत्यर्थः। अस्मिन्मते विवेकादीनि त्रीण्यवा-
न्तरविशेषणानि इति न किञ्चिदवद्यमिति भावः। ननु कामवच्छ्रद्धापि तत्र संसारं जनयेदेव श्रद्धाकामयोर्मनःप-
रिणामत्वाविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह—तत्त्वबोधेति। आविद्यसंसारविरोधितत्त्वज्ञानानुकूलतया संसारविरोधिनीत्यर्थः।
तयोर्मनःपरिणामत्वाविशेषेऽपि यथोक्तश्रद्धाया सात्त्विकपरिणामत्वात्संसारविरोधित्वमिति भावः। ५ तत्त्व-
ज्ञानजनकतया। ६ मोक्षे रागाऽसंभवात्। ७ निषिद्धस्य। ८ अशास्त्रीयमेधातपसोः। ९ शास्त्रेऽ
त्यन्तश्रद्धावतस्तदनुकूलाचरणस्येत्यर्थः। १० पुंसः। ११ विवक्षितवैराग्यमेव।

व्यक्तलक्षणः संसारोऽशुद्धोऽनित्यः साध्यसाधनरूपो दुःखोऽविद्याविषय इत्येतस्माद्विरक्तस्य ब्रह्मविद्याऽऽरब्धव्येति ।

तत्राम्नाना विभागेन विनियोग उच्यते—एकमस्य साधारणमिति, मन्त्रपदं तस्य व्याख्यानमिदमेवास्य तत्साधारणमन्नमित्युक्तमस्य भोक्तृसमुदायस्य, किं-तद्यदिदमद्यते भुज्यते सर्वैः प्राणिभिरहन्यहनि तत्साधारणं सर्वभोक्त्रर्थमकल्पयत्पिता सृष्ट्वाऽन्नम् ।

स य एतत्साधारणं सर्वप्राणभृत्स्थितिकरं भुज्यमानमन्नमुपास्ते तत्परो भवतीत्यर्थः । उपासनं हि नाम तात्पर्यं दृष्टं लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्त इत्यादौ । तस्माच्छरीरस्थित्यर्थान्नोपभोगप्रधानो नादृष्टार्थकर्मप्रधान इत्यर्थः । स एवंभूतो न पाप्मनोऽधर्मान्व्यावर्तते न विमुच्यत इत्येतत् । तथाच मन्त्रवर्णः—"मोघमन्नं विन्दते" इत्यादि. । स्मृतिरपि—"नाऽऽत्मार्थं पाचयेदन्नम्" "अप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव

दुःखस्तद्धेतुरिति यावत् । प्रकृतमन्त्रब्राह्मणव्याख्यासमाप्ताविति शब्दो विवक्षितार्थप्रदर्शनसमाप्तौ वा ।

मन्त्रब्राह्मणयोः श्रुत्यर्थाभ्यामर्थमुक्त्वा समनन्तरग्रन्थमवतारयति—तत्रेति । सप्तविधेऽन्ने सृष्टे सतीति यावत् । व्याख्यानमेव विवृणोति—अस्येत्यादिना ।

साधारणमन्नमसाधारणीकुर्वतो दोषं दर्शयति—स य इति । तत्परो भवतीत्युक्तं विवृणोति—उपासनं हीति । ब्राह्मणोक्तेऽर्थे मन्त्रं प्रमाणयति—तथा चेति । मोघं विफलं देवाद्यनुपभोग्यमन्नं यदि ज्ञानदुर्बलो लभते तदा 'स वध एव तस्येति साधारणान्नस्यासाधारणीकरणं निन्दितमित्यर्थः । तत्रैव स्मृतीरुदाहरति—स्मृतिरपीति । 'न वृथा घातयेत्पशुम् । न चैकं स्वयमश्नीयाद्विधिवर्जं न 'निर्वपेत्'

अशास्त्रीय मेधा और तप के सृष्टिप्रयोजक होने से स्थावरपर्यन्त सभी अनिष्टफल, कर्म और विज्ञान से होने वाला है। किन्तु यहाँ साध्यसाधनभाव ही विवक्षित है क्योंकि ब्रह्मविद्या का विधान करने की इच्छा से उसमे वैराग्य बतलाना इष्ट है। यह सभी कार्यकारणरूप संसार दोषयुक्त, अनित्य, साध्यसाधनरूप, दुःखात्मक और अविद्याजन्य है। अतः इससे विरक्त हुए पुरुष के लिए ब्रह्मविद्या का आरम्भ करना चाहिये।

वहाँ अन्नो का विभागपूर्वक उपकार बतलाया जाता है। 'एकमस्य साधारणम्' यह मन्त्रपद है, जिसका अर्थ है कि 'यही उसका साधारण अन्न है' ऐसा कहा गया है। 'अस्य' अर्थात् इस भोक्तृ-समुदाय का साधारण अन्न है, वह कौन सा है ? 'यदिदमद्यते" अर्थात् यह जो कुछ समस्त प्राणियो द्वारा प्रतिदिन खाया जाता है, उसे ज्ञानकर्माधिकारी क्षेत्रज्ञ ने अन्न की सृष्टि करके, उसे समस्त भोक्ताओ के निमित्त साधारण अन्न कल्पित कर दिया।

'स य एतत्' अर्थात् वह जो समस्त प्राणियो का पालन, पोषण और स्थितिकारक एवं उनसे

१ सदोष । २ अविद्याजन्य । ३ उपयोग उपकार । ४ तन्निष्ठत्वम् । ५ उपासनस्योक्तार्थत्वात् । ६ मोघमिति—'अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्सतस्य नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादीति शेषः । ७ शब्दतात्पर्याभ्यां लब्धमर्थम् । ८ उक्तान्नलाभ । ९ निर्वपेदिति—अध्वर्युः पवित्रवत्यामग्निहोत्रहवण्या (दर्भवेष्टितहवनसाधनीभूतस्रुवादिरूपपात्रविशेषे) मुष्टिमात्रं व्रीह्यादिकं निधाय तथा शूर्पे तन्मुष्टिमात्रं व्रीह्यादिकं प्रक्षिपति इत्येतत्कर्मनिर्वापपदवाच्यम् ।

सः", "ॐ अन्नादे, भ्रूणहा मार्ष्टि" इत्यादिः। ।

इति पादत्रयं द्रष्टव्यम्। 'इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः। तैर्दत्तान्' इति शेषः। 'अनेना अभिशंसति। स्तेनः प्रमुक्तो राजनि यावन्नानृतसंकरः' इत्युत्तरं पादत्रयम्। अत्राऽऽद्यपादस्यार्थो भ्रूणहा श्रेष्ठब्राह्मणघातकः। यथाऽऽहुः—'वरिष्ठब्रह्महा चैव भ्रूणहेत्यभिधीयते' इति। 'स्वस्यान्नभक्षके स्वपापं मार्ष्टि' शोधयतीत्यन्वयातुः पापक्षयोक्ते'रितरस्यासाधारणीकृत्य भुञ्जानस्य पापितेति।

"अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः" ॥

'इत्यादिवाक्यमादिशब्दार्थः।

भोगे जाते हुए इस अन्न की 'उपास्ते' अर्थात् तत्परतापूर्ण निष्ठा करता है। लोकव्यवहार में 'गुरु की उपासना करता है', 'राजा की उपासना करता है' इत्यादि प्रसङ्गों में तन्निष्ठता ही उपासनारूप-से देखी गयी है। इसलिए जो प्रधानरूप से शरीरस्थितिस्थापक अन्न का ही उपभोग करने वाला है यानी अदृष्टार्थकर्मप्रधान नहीं है, "न" अर्थात् इस प्रकार का पुरुष "पाप्मनः" अर्थात् अधर्म से न व्यावर्तते" अर्थात् नहीं छूट पाता। "वह व्यर्थ ही अन्न का उपभोग करता है" इत्यादि श्रुतिवाक्य भी इसमें प्रमाण है। तथा "अपने लिए अन्न न पकाए", "जो इन्हें (बलिवैश्वदेव यज्ञ में) बिना दिए

१ अनेना इत्यादि—अनेना अकृततत्पापं। अभिशसति—अकृततत्पापमभिलक्ष्यीकृत्य मिथ्यातत्पापं शसति तस्मिन् मिथ्यातत्पापं ब्रुवति जने मार्ष्टि स्वपापानि क्षिपतीति यावत्। स्तनश्चौरश्च प्रमुक्ताऽदण्डितो राजनि तस्मिन् मिथ्यातत्पापं ब्रुवति जने मार्ष्टि स्वपापानि क्षिपतीति यावत्। स्तेनश्चौरश्च प्रमुक्ताऽदण्डितो राजनि मार्ष्टीति पूर्ववत्। यावदिति—उक्तष्वपि त्रिषु यावदनृतस्य संकर सम्बन्धो न भवति तावदेव ते स्वपापानि मृजन्ती-मार्ष्टीति पूर्ववत्। यावदिति—उक्तष्वपि त्रिपु यावदनृतस्य संकर सम्बन्धो न भवति तावदेव ते स्वपापानि मृजन्ती-

शब्दार्थ ।

ॐ अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि अनेना अभिशसति। स्तेन प्रमुक्तो राजनि यावन्नानृतसकर ॥ यो भ्रूणहा—वरिष्ठ-ब्राह्मणघातको भवति सोऽन्नादे मार्ष्टि स्वस्यान्नभक्षके स्वपाप शोधयति अन्न भक्षयित्वा निष्पापो भवति। यस्तु प्रथमत एव अनेना निष्पाप सोऽन्नादे अभिशसति—अन्नाद भोजयित्वा पुण्य तत्फल चाभिमुख्येन शसति वाञ्छतीत्यर्थ। पापिकृतमन्नदान तदीयपापनिर्मोकमात्रे चरितार्थं स्वता निष्पापकृत तु तत्पुण्याय तत्फलोत्तम-लोकादिप्राप्तय च भवतीति। उत्तरार्धं तु यथेत्यध्याहृत्य दृष्टान्ततया योज्यते। तथाहि—यथा राजनि प्रमुक्त स्तेन नृपती विसृष्टश्चौर तदधीनीकृत इति यावत्। प्रयुक्त इति पाठेऽप्ययमेवार्थ। स च स्तेन यावदनृतसकरो न भवति अनृतस्य सकर सम्बन्धो यत्रेति स्तेनविशेषण जनैरुच्यमान स्तेनत्व स्वस्मिन्ननृतत्य न भवतीत्यर्थ वस्तुत-श्चौर एव भवतीति यावत्। तावत् स राजनि मार्ष्टि राज्ञे द्रव्यादि दत्त्वा राजकृत दण्डान्तर वाऽनुभूय चौर्यापराध शोधयति। यदा अनृतसकर जनैरुच्यमान चोरत्वं स्वस्मिन्ननृतत्य तदाऽभिशसति राज्ञोऽभिमुखमात्मान विशुद्ध शसति कथयति। यद्वा चौर्यस्याऽऽरोप्यमाणत्वादात्मनिर्मोकमेवाशास्ते मुक्त एव भविष्यामीति—इति दृष्टान्तेऽपि माष्टर्यभिशसत्योरनुषङ्ग। यदा तु दृष्टान्ततया न व्याख्यायते तदेत्थमुत्तरार्धव्याख्यान तथाहि यो गृही राजनि सति देववद्राजवद्वा पूज्यत्वादतिथिरिह राजा। तथाचातिथावागते सति प्रमुक्तो भवति नास्त्यन्न न दास्यामीति

कस्मात्पुनः पाप्मनो न व्यावर्तते । 'मिश्रं ह्येतत्सर्वेषां हि स्वं 'तदप्रविभक्तं' तत्प्राणिभिर्भुज्यते । सर्वभोज्यत्वादेव यो मुखे प्रक्षिप्यमाणोऽपि ग्रासः, परस्य पीडाकरो दृश्यते ममेदं स्यादिति हि सर्वेषां तत्राऽऽशा प्रतिबद्धा । 'तस्मान्न परमपीडयित्वा ग्रसितुमपि शक्यते । "दुष्कृतं हि मनुष्याणामन्नमाश्रित्य तिष्ठते । यो हि यस्यान्नमश्नाति स तस्याश्नाति किल्बिषम्" इत्यादिस्मरणाच्च ।

गृहिणा वैश्वदेवाख्यमन्नं यदहन्यहनि निरुप्यत इति केचित् । तन्न, सर्वभोक्तृसा-

आकाङ्क्षापूर्वकं हेतुमवतार्य व्याकरोति—कस्मादित्यादिना । सर्वभोज्यत्वं साधयति—यो मुख इति । परस्य श्वमार्जारादेरिति यावत् । पीडाकरत्वे हेतुमाह—ममेदमिति । प्रागुक्तदृष्टि'फलमाचष्टे—तस्मादिति । साधारणमन्नमसाधारणीकुर्वाणस्य पापानिवृत्तिरित्यत्र हेत्वन्तरमाह—दुष्कृत हीति । यदा हि मनुष्याणां दुष्कृतमन्नमाश्रित्य तिष्ठति तदा तदसाधारणीकुर्वतो महत्तरं पापं भवतीत्यर्थः ।

एकमस्येत्यादिमन्त्रब्राह्मणयोः स्वपक्षमुक्त्वा भर्तृप्रपञ्चपक्षमाह— गृहिणेति । यदन्नं गृहिणा प्रत्यहमग्नौ वैश्वदेवाख्यं 'निर्वर्त्यते तत्साधारणमिति भर्तृप्रपञ्चैरुक्तमित्यर्थः । साधारणपदानुपपत्तेर्न युक्तमिद व्याख्यानमिति दूषयति—तन्नेति । वैश्वदेवस्य साधारणत्वमप्रामाणिकमित्युक्तमिदानीं

भोजन करता है, वह चोर ही है", "अपनी देह की पुष्टि के लिए अन्न खाने वाले को भ्रूणहत्या करने वाला अपने पाप दे देता है" इत्यादि स्मृतिवाक्य भी इसमें प्रमाण हैं ।

वह पाप से क्यों नहीं छूट पाता ? क्योंकि मनुष्यों द्वारा जो अप्रविभक्त यानी साधारण अन्न खाया जाता है, वह अन्न सर्वप्राणियों के लिए साधारणरूप से है, यानी सभी का धन है । सभी देहधारियों का भोज्य होने के कारण ऐसे अन्न का मुख में दिया हुआ ग्रास दूसरे को कष्टकर होने वाला

१ सर्वप्राणिसाधारणम् । २ साधारणम् । ३ ग्रासमात्रस्यापि परपीडाजनकत्वात् । ४ पीडाकरणदर्शनफलमित्यर्थः । ५ देवादिपञ्चकार्यमग्नौ सम्पाद्यते साध्यत इत्यर्थः ।

वाऽन्नदानाद् मुक्तो भवति विमुखो भवतीति यावत् । प्रयुक्त इति पाठे तु स्वयमेव भोजने प्रकर्षेण युक्तो भवति न त्वतिथये ददाति स स्तेन इत्युच्यते । कियत्पर्यन्त स स्तेन उच्यत इत्यत आह—यावदिति । यावदनृतसंकरो न भवति—शास्त्रवाक्य तदनुसारिलोकवाक्य च ऋत तद्विरुद्धमनृत तस्य संकर प्रचारो यावन्न भवति । तथाच शास्त्ररीतिर्यावदनुस्रियते तावत्स स्तेन एव वक्तुमर्हः । शास्त्रमर्यादाऽनभ्युपगमे तु स श्रेष्ठिवरेण्य एवोच्यतामित्यर्थः । स भ्रूणहा तन्नैनोमार्जनानन्तरमनेनाविनिवृत्तकल्मष सन्नभि अभित उभयत उभावप्याद स्व च शसति धन्योऽयं महाब्रह्मवर्चस्वीयोऽभक्ष्यमपि मदन्न जग्ध्वा पाप्मनाऽसंसृष्टस्तिष्ठति अहमप्येवत्प्रसादमहिम्ना सपूत सन् स्वसमाजान्त प्रविष्टो धन्योऽस्मीति । प्रयुक्तो राजतन्त्र स्तेनश्चोरो यावन्नानृतसङ्कर सत्यवादीत्यर्थः । स्वीकृतस्वनिषिद्धाचरण इति यावत्तावद्राजनि क्षमया हस्तच्छेदादिदण्डदानप्रयुक्तप्रत्यवायभीत्या धनलोभानुरोधादिना वा दण्डार्हमप्यप्रशास्योपेक्षितवति महाऽन्यायकारिणि नृपतौ स्वीयमेनो मार्ष्टि । प्रमुक्त इति पाठे यथोक्तराज्ञोपेक्ष्यमाणोऽशासितवैव परित्यक्त इति यावत् । "अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी । गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम्" ॥म० स्मृ० ८।३१७॥ "अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् । अयशो महदाप्नोति नरक चैव गच्छति" ॥ म० स्मृ०८।१२८ ॥—इत्यादिस्मृतिभ्य स्तेनो राज्ञाऽवश्य दण्डनीय इति भाव । इति स्मृतिपादत्रयस्यापरा व्याख्या स्वमनःसतुष्टये इति ।

धारणत्वं वैश्वदेवाख्यस्यान्नस्य न सर्वप्राणभृद्भुज्यमानान्नवत्प्रत्यक्षम् । नापि यदिद-
मद्यत इति तद्विषयं वचनमनुकूलम् । सर्वप्राणभृद्भुज्यमानान्नान्तःपातित्वाच्च वैश्वदेवा-
ख्यस्य युक्तं श्वचाण्डालाद्याद्यस्यान्नस्य ग्रहणं वैश्वदेवव्यतिरेकेणापि श्वचाण्डालाद्याद्यान्न-
दर्शनात्तत्र युक्तं यदिदमद्यत इति वचनम् ।

तस्याप्रत्यक्षत्वादिदमा परामर्शश्च न युक्तिमानित्याह—नापीति । इतश्च साधारणशब्देन सर्वप्राण्यन्नं ग्राह्यमित्याह—सर्वेति । वैश्वदेवग्रहेऽपीतरग्रहः स्यादिति चेन्नेत्याह—वैश्वदेवेति । यत्तु परपक्षे यदिद-मद्यत इति वचो नानुकूलमिति तन्नास्मत्पक्षेऽस्तीत्याह—तत्रेति । प्रत्यक्षं साधारणान्नं सप्तम्यर्थः ।

देखा जाता है क्योंकि उस पर 'यह मुझे भी प्राप्त हो जाता' इस प्रकार सभी की आशा लगी रहती है।
ग्रासमात्र भी परपीडाजनक होने से दूसरे को बिना पीडा दिए उसे खाया नही जा सकता। "मनुष्य का
पाप उनके अन्न के आश्रित रहता है" इत्यादि स्मृतिवचन भी प्रमाण है।

(भर्तृप्रपञ्चादि) किन्ही-किन्ही (दार्शनिकों) का मत है कि गृहस्थ द्वारा नित्य प्रति जो
वैश्वदेव नामक अन्न निकाला जाता है, वही साधारण अन्न है। ऐसा कहना ठीक नही। क्योंकि सभी
प्राणियो द्वारा खाये जाने वाले अन्न के समान वैश्वदेव नामक अन्न का समस्त भोक्ताओं के लिए
साधारण होना रसनाग्राह्य नही है और न ही 'यह जो खाया जाता है" यह वाक्य उसके विषय मे
अनुकूल है। इसके अतिरिक्त वैश्वदेवान्न का, सभी प्राणियो द्वारा खाये जाने वाले अन्न मे अन्तर्भाव
होने के कारण कुत्ते और चाण्डालादि के द्वारा खाये जाने वाले अन्न का वहाँ परिग्रहण करना उचित
ही है। (जिस प्रकार वैश्वदेवान्न का सर्वान्न मे अन्तर्भाव है, इस प्रकार वैश्वदेवान्न मे कुत्ते और
चाण्डालादि के अन्न का अन्तर्भाव नही है) क्योंकि कुत्ते और चाण्डालादि का खाने योग्य अन्न वैश्व-
देवान्न के अतिरिक्त भी देखा जाता है। इसलिए हमारे पक्ष मे "जो यह अन्न खाया जाता है" यह

---

१ वैश्वदेवाख्यास्यान्नस्याप्रत्यक्षत्व वैधर्म्यं दृष्टान्तेनाह—सर्वेति । सर्वात्तुवकन्नान्त स्यान्नवदित्यर्थ । प्रत्यक्ष च रासन ग्राह्यम् । २ नापीति—इदमिति प्रत्यक्षान्नपरामर्शाद्वैश्वदेवस्य शास्त्रदृष्टत्वेऽप्यप्रत्यक्षस्य तदयोगात्परगते ब्राह्मण दुर्घटमिति भाव । स्वपक्षे तस्य घटमानतामाहुर्वार्तिके । तथाहि—"प्रतिप्राणि ममेद स्यादभिलाषश्च दृश्यते । सर्वप्राण्यशमिश्रत्व ततोऽसमन्नवसीयते" ॥ ३० ॥ इति । स्यादित्यनन्तरमितिशब्दो द्रष्टव्य । अभिलाषोपलब्धि-फलमाह—सर्वेति । सर्वप्राणभदाद्यान्नस्य साधारणशब्देन परिग्रहे तस्य प्रत्यक्षयादिदमा पराम्रष्टु योग्यत्वादनुवादस्य सुघटतेत्यर्थ ॥ किंच साधारणशब्देन श्वशूकरादिसर्वप्राण्यन्नपरिग्रहे साधारणमसाधारणीकुर्वत पाप्मानिवृत्तिवाक्य मोघमन्न विन्दतेऽप्रचेता नात्मार्थं पाचयेदन्नमित्यादिप्रदर्शितश्रुतिस्मृतिवचनानि चोपपद्यन्ते नान्यथाऽतोऽस्मद्व्याख्यैव युक्तेति भाव । ३ अन्त पातित्वाच्चेति—वैश्वदेवान्नस्य सर्वान्नान्तर्भावात् तत्परिग्रहे तद्ग्रहसभवाद्व्यापकस्यैव ग्रहण युक्तमित्यर्थं । ४ दर्शनादिति—यथा सर्वाद्यान्नेऽन्तर्भूत वैश्वदेवान्न न तथा तस्मिन्नन्नान्तरमित्यर्थ । ५ तत्रेति—सर्वसाधारणं प्रत्यक्षेऽन्न इत्यर्थ । युक्तमिति—सर्वसाधारणान्नस्य प्रत्यक्षत्वेनेदमा पराम्रष्टु योग्य-त्वात् अस्मत्पक्षे यदिदमद्यत इति ब्राह्मणवाक्य सुघटमित्यथ । किंच साधारणमन्नमसाधारण कुर्वत पापित्वसाधको मिश्रमितिहेतु सोऽस्य सर्वान्नस्य साधारणशब्देन ग्रह गमयति । तथा च वार्तिके—'सर्वाद्यान्नग्रहीतौ तु हेतुर्गमक इष्यते । असाधारणकारित्व तस्य साधारणात्मन '॥ ३६ ॥ इति । अप्यर्थस्तुशब्दो हेतुशब्दानन्तरनिवेशी । मिश्रशब्देनान्नस्य साधारण्यमुच्यते तस्यासाधारण्यकारी चेदेष पुरुषस्तदा कोऽसौ हेतुस्तत्स्वरूपमाह—असाधारणेति । तदसाधारणकारित्व तस्य पापानिवृत्तौ हेतु स च साधारणपदेन सर्वान्नग्रह सूचयतीत्यर्थ ।

यदि हि 'तन्न गृह्येत साधारणशब्देन पित्राऽसृष्टत्वाविनियुक्तत्वे तस्य प्रसज्येयाताम्। 'इष्यते हि तत्सृष्टत्वं तद्विनियुक्तत्वं च सर्वस्यान्नजातस्य। न च वैश्वदेवाख्यं शास्त्रोक्तं कर्म कुर्वतः पाप्मनोऽविनिवृत्तिर्युक्ता'। न च तस्य प्रतिषेधोऽस्ति। न च मत्स्यबन्धनादिकर्मवत्स्वभावजुगुप्सितमेतच्छिष्टनिर्वर्त्यत्वादकरणे च प्रत्यवायश्रवणादितरत्र' च प्रत्यवायोपपत्तेः। "अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि" इति मन्त्रवर्णात्।

द्वे देवानभाजयदिति मन्त्रपदं ये द्वे अन्ने सृष्ट्वा देवानभाजयत्। के ते द्वे इत्यु-

'विपक्षे दोषमाह—यदि हीति। प्रसङ्गस्येष्टत्वं निराचष्टे—इष्यते हीति। परपक्षे वाक्यशेषविरोधं दोषान्तरमाह—न चेति। 'श्येनादितुल्यत्वं 'तस्य व्यावर्तयति—न च तस्येति। अनिषिद्धस्यापि तस्य स्वभावजुगुप्सितत्वात्तदनुष्ठायिनः पापानिवृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति।

'अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः।'

इत्यकरणे वैश्वदेवस्य प्रत्यवायश्रवणाच्च तदनुष्ठायिनो न पाप्मलेशोऽस्तीत्याह—अकरणे चेति। सर्वसाधारणान्नग्रहे तु 'तत्परस्य निन्दावचनमुपपद्यते 'तेन तदेव ग्राह्यमित्याह—इतरत्रेति। 'तत्रैव श्रुत्यन्तरं संवादयति—अहमिति। अर्थिभ्योऽविभज्यान्नमदत्त्वा स्वयमेव भुञ्जानं नरमहमन्नमेव भक्षयामि तमनर्थभाजं करोमीत्यर्थः।

मन्त्रान्तरमादायाऽऽकाङ्क्षाद्वारा ब्राह्मणमुत्थाप्य व्याचष्टे—द्वे देवानित्यादिना। हुतप्रहुतयोर्दे-

ब्राह्मणवाक्य ठीक ही घट जाता है।

तथा यदि साधारण शब्द से सर्वप्राणिसाधारणान्न का ग्रहण नहीं किया जाता, तो "पिता द्वारा सृष्टि और विनियोग न होने की' उसमें प्रसक्ति हो जायेगी। किन्तु हमें यह अभीष्ट है कि वह समस्त अन्नों की सृष्टि और विनियोग करता है। इसके अतिरिक्त वैश्वदेव नामक शास्त्रविहित कर्म करनेवाले पुरुष का पापी बना रहना युक्तिसङ्गत नहीं है। तथा बलिवैश्वदेव कर्म को करने के लिए शास्त्र में कहीं निषेध भी नहीं है। मछली पकड़ने आदि कर्मों के समान यह स्वाभाविक गर्हित नहीं है क्योंकि यह शिष्ट मनुष्यों द्वारा अनुष्ठेय है इसके न करने पर प्रत्यवाय होता है— "ऐसा भी सुना गया है। तथा "किन्तु स्वयं अन्न भक्षण करने वाले को मैं अन्नरूप से भक्षण करता हूँ।" इस श्रुतिवाक्य के अनुसार वैश्वदेव अन्न से अतिरिक्त अन्नभक्षण करने में ही प्रत्यवाय लगता है।

'द्वे देवानभाजयत्' यह श्रुतिवाक्य का पद है अर्थात् जिन दो अन्नों को सृष्टि कर (ज्ञानकर्मा-

१ सर्वप्राणिसाधारणमन्नम्। २ युक्तेति—साधारणशब्देन वैश्वदेवान्नग्रहे तत्परस्य पाप्मना न व्यावृत्तिरिति वचनविरोधोऽतिस्फुटः शास्त्रीयकर्मानुष्ठानात् पापक्षयस्यैव युक्तत्वादिति हेतुमभिसन्धायोक्तं शास्त्रोक्तमिति। न च वैश्वदेवाख्यं कर्म केवलं किंचिदेव पापं निवर्तयति न सर्वम्। अतः स्तोकपापध्वस्तिपरं वाक्यमिति वाच्यम्। श्रुतहानिरश्रुतिकल्पनाऽयुक्ता स्यात्। तदुक्तं वार्तिके— अल्पीयः पापहानिश्च नापि शब्दात्प्रतीयते। न च पाप्मान इत्यस्मादश्रुता न च गृह्यते ॥ ३५ ॥ इति। ३ शिष्टानुष्ठेयत्वात्। ४ वैश्वदेवातिरिक्त। ५ साधारणशब्देन सर्वप्राणिभिरद्यमानान्नस्यापरिग्रहे। ६ ननु श्येनादिकर्मानुष्ठातृवद्वैश्वदेवकर्मानुष्ठाता पाप्मनो न व्यावर्तते तन्न वाक्यशेषविरोध इत्याशङ्क्याऽऽह—श्येनादीति। ७ वैश्वदेवाख्यकर्मण। ८ स्वशरीरस्थित्यर्थमन्नोपभोगप्रधानस्य। ९ निन्दावाक्यस्वारस्येन। १० साधारणान्नग्रहे।

च्येते—हुतं च प्रहुतं च। हुतमित्यग्नौ हवनम्। प्रहुतं हुत्वा 'बलिहरणम्। यस्माद्द्वे एते अन्ने हुतप्रहुते देवानभाजयत्पिता। तस्मादेतर्ह्यपि गृहिणः काले देवेभ्यो जुह्वति देवेभ्य इदमन्नमस्माभिर्दीयमानमिति मन्वाना जुह्वति प्रजुह्वति हुत्वा बलिहरणं च कुर्वत इत्यर्थः। अथो अप्यन्य आहुर्द्वे अन्ने पित्रा देवेभ्यः प्रत्ते न हुतप्रहुते किं तर्हि दर्शपूर्णमासाविति। द्वित्वश्रवणाविशेषादत्यन्तप्रसिद्धत्वाच्च हुतप्रहुते इति प्रथमः पक्षः।

यद्यपि द्वित्वं हुतप्रहुतयोः संभवति तथाऽपि श्रौतयोरेव तु दर्शपूर्णमासयोर्देवान्नत्वं प्रसिद्धतरं मन्त्रप्रकाशितत्वात्। गुणप्रधानप्राप्तौ च प्रधाने प्रथमतराऽवगतिः। दर्शपूर्ण-

---

वान्नत्वे संप्रतितनमनुष्ठानमनुकूलयति—यस्मादिति। पक्षान्तरमुपन्यस्य व्याकरोति—अथो इति। यदि दर्शपूर्णमासौ देवान्ने कथं तर्हि हुतप्रहुते इति पक्षस्य प्राप्तिस्तत्राऽऽह—द्वित्वेति।

'तर्हि द्वे देवानिति श्रुतद्वित्वस्य हुतप्रहुतयोरपि संभवान्न प्रथमपक्षस्य पूर्वपक्षत्वमत आह—यद्यपीति। प्रसिद्धतरत्वे हेतुमाह—मन्त्रेति। 'अग्नये जुष्टं निर्वपाम्यग्निरिदं हविरजुषत' इत्यादि-मन्त्रेषु दर्शपूर्णमासयोर्देवान्नत्वस्य प्रतिपन्नत्वादिति यावत्। इतश्च दर्शपूर्णमासयोरेव देवान्नत्वमिति वक्तुं सामान्यन्यायमाह—गुणेति। गुणप्रधानयोरेकत्र साधारणशब्दात्प्राप्तौ सत्यां प्रथमतरा प्रधाने भवत्यवगतिर्गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्यय इति न्यायादित्यर्थः। अस्त्वेवं प्रस्तुते किं जातं तदाह—

धिकारी क्षेत्रज्ञ) पिता ने देवताओ को वितरित किया। वे दो कौन से हैं? इस पर कहते हैं— हुत और प्रहुत। अग्नि मे होम करना "हुत" है, होम करके देवताओ को बलि प्रदान करना "प्रहुत" है। क्योकि क्षेत्रज्ञ ने "हुत और प्रहुत" ये दो अन्न देवताओ मे वितरित किए थे, इसलिए इस समय भी गृहस्थी देवताओ के निमित्त अग्नि मे हवन करते है अर्थात् 'यह अन्न हमारे द्वारा देवताओ के उद्देश्य से दिया जाता है" ऐसी धारणा करते हुए हवन करते है। 'प्रजुह्वति च' अर्थात् हवन करके देवताओ के लिए बलि प्रदान करते है। तथा किन्ही दूसरो का ऐसा भी मत है कि पिता के द्वारा देवताओ को वितरित किए हुए दो अन्न "हुत और प्रहुत" नही है, तो कौन से है? दर्श और पूर्णमास। "द्वे देवान्" इस श्रुतिवाक्य मे द्वित्वश्रवण मे समानता होने से एव अत्यन्त प्रसिद्ध होने से वे दो अन्न "हुत और प्रहुत" है—ऐसा प्रथम पक्ष है।

यद्यपि हुत और प्रहुत मे द्वित्व समव है, तो भी इनकी अपेक्षा श्रुतिसम्मत दर्श और पूर्णमास का ही 'देवताओ का दो अन्नरूप मे होना' अधिक प्रसिद्ध है, क्योकि श्रुतिमन्त्रो मे इसी का प्रकाश हुआ है। इसके अतिरिक्त गौण और प्रधान कार्यो की एकत्र उपस्थिति होने पर पहले प्रधान अर्थ की प्राप्ति होगी, हुत और प्रहुत की अपेक्षा दर्श और पूर्णमास की प्रधानता है। अत "द्वे देवानभाजयत्"

---

१ हवनान्तर देवेभ्यो बलिप्रदानम्। २ देवानुद्दिश्याग्नौ हवन कुर्वते। ३ द्वित्वेति—द्वे देवानित्यत्र द्वित्वमात्र श्रुत तच्च हुतप्रहुतयो दर्शपूर्णमासयोश्चाविशिष्टमत पूर्वपक्षप्रसक्ति अत्यन्तप्रसिद्धत्वाच्चेति। साधारणशब्देन सर्वान्निस्य ग्रहात्तस्मिन्नाद्यत्वेन स्मार्तान्निस्यान्तर्भावात् तदनन्तर द्वे देवानिति देवान्नयोरुक्तत्वात् तयो स्मार्तत्व हुतप्रहुतात्मना स्यादिति चकारार्थ। ४ तर्हीति—उक्तरीत्या प्रथमपक्षस्य प्राप्तत्वे सतीत्यर्थ। ५ निर्वपामीति—अग्निमुद्दिश्याग्निस्वामिक द्रव्यविशेषमाग्नेयपात्रविशेषे प्रक्षिपामि स्थापयामीति यावत्। ६ अजुषत जुषतामित्यर्थ। ७ निश्चितत्वात्। ८ कार्ये। ९ देवान्ने।

मासयोश्च प्राधान्यं हुतप्रहुतापेक्षया । तस्मात्तयोरेव ग्रहणं युक्तं द्वे देवानभाजयदिति ।

यस्माद्देवार्थमेते पित्रा प्रक्लृप्ते दर्शपूर्णमासाख्ये अन्ने तस्मात्तयोर्देवार्थत्वाविघाताय नेष्टियाजुक इष्टियजनशीलः । इष्टिशब्देन किल काम्या इष्टयः शातपथीयं प्रसिद्धिस्ताच्छील्यप्रत्ययप्रयोगात्काम्येष्टियजनप्रधानो न स्यादित्यर्थः ।

पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति यत्पशुभ्य एकं प्रायच्छत्पिता किं पुनस्तदन्नं तत्पयः । कथं पुनरवगम्यते पशवोऽस्यान्नस्य स्वामिन इत्यत आह—पयो ह्यग्रे प्रथमं यस्मान्मनु-

---

दर्शपूर्णमासयोश्चेति । तयोर्निरपेक्षश्रुतिदृष्टतया सापेक्षस्मृतिसिद्धहुताद्यपेक्षया प्राधान्यं सिद्धं तथा च प्रधानयोस्तयोरितरयोश्च गुणयोरेकत्र प्राप्तौ प्रधानयोरेव द्वे देवानिति मन्त्रेण ग्रहो युक्तिमानित्यर्थः ।

दर्शपूर्णमासयोर्देवान्नत्वे समनन्तरनिषेधवाक्यमनुकूलयति—यस्मादिति । इष्टियजनशीलो न स्यादिति सबन्धः । ननु तद्यजनशीलत्वाभावे कुतो दर्शपूर्णमासयोर्देवार्थत्वं न हि तावन्निष्पन्नौ तदर्था-वित्याशङ्क्याऽऽह—इष्टिशब्देनेति । किं पुनरस्मिन्वाक्ये काम्येष्टिविषयत्वमिष्टिशब्दस्येत्यत्र नियामकं तत्र किलशब्दसूचितां पाठकप्रसिद्धिमाह—शातपथीति । काम्येष्टीनामनुष्ठाननिषेधे "स्वर्गकामवाक्यविरोधः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—ताच्छील्येति । तत्र विहितस्योकञ्प्रत्ययस्यात्र प्रयोगात्काम्येष्टियजन"प्रधानत्व-मिह निषिध्यते "तत्र "देवप्रधानयोर्दर्शपूर्णमासयोरवश्यानुष्ठेयत्वसिद्ध्यर्थं न तु ताः स्वतो निषिध्यन्ते तत्र स्वर्गकामवाक्यविरोधोऽस्तीत्यर्थः ।

पश्वन्नविषयं मन्त्रपदमादाय प्रश्नपूर्वकं तदर्थं कथयति—पशुभ्य इति । पशूना पयोऽन्नमित्येत-दुपपादयितुं पृच्छति—कथं पुनरिति । पयो हीति प्रतीकमुपादाय व्याकरोति—अग्र इति । 'पशवो द्विपादश्चतुष्पादश्च' इति श्रुतिमाश्रित्य मनुष्याश्चेत्युक्तम् । उचितं हीत्यत्र हिशब्दस्तस्मादर्थे यस्मादि-

---

इस वाक्य से दर्श और पूर्णमास का ग्रहण करना उचित है ।

क्योंकि ये दर्श और पूर्णमाससज्ञक अन्न क्षेत्रज्ञ ने देवताओं के लिए रचे हैं, "तस्मात्" अर्थात् उनकी देवार्थता का विघात न करने के लिए "नेष्टियाजुक" अर्थात् इष्टि यजनशील नहीं होना चाहिये । "इष्टि" शब्द से यहां दर्शपूर्णमासादि काम्य-इष्टियां समझनी चाहिये । ऐसा शतपथब्राह्मण से सिद्ध होता है । "इष्टियाजुक" इस पद में ताच्छील्य अर्थ में 'उकञ्' प्रत्यय के प्रयोग होने से "प्रधानतया सकाम यज्ञों का यजन आत्मार्थत्वेन देवार्थत्व व्याहति से नहीं करना चाहिये" यह इसका भावार्थ है ।

"पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति" यहां ज्ञानकर्माधिकारी क्षेत्रज्ञ ने पशुओं के लिए जो अन्न दिया था, वह अन्न कौनसा है ? वह दुग्ध है । किन्तु पशुओं को इस अन्न का स्वामी कैसे जाना जाता है ? —इस का समाधान करते हैं । क्योंकि 'अग्रे' अर्थात् प्रारम्भ में मनुष्य और पशु दूध पीकर ही जीवन

---

१ दर्शपूर्णमासौ । २ शातपथीति—इष्टिशब्द प्राय काम्येष्टिविषय इतीय शातपथीप्रसिद्धिरित्यर्थ । ३ सकामकृतस्यात्मार्थत्वेन देवार्थत्वव्याहतिरिति दोष । ४ जन्मानन्तरम् । ५ सापेक्षेति—श्रुतिमपेक्षते । स्मृतिस्स्वप्रामाण्ये श्रुतिमपेक्षते न श्रुतिरित्यर्थ । ६ देवान्नत्व । ७ अनिष्पन्न वननुष्ठितौ तौ दर्शपूर्णमासौ । ८ इष्टिशब्दस्य काम्यपरत्व । ९ तत्राध्येतारस्तथैव पाठयन्तीत्यर्थ । १० स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासाभ्या यजेतेति । ११ परत्वम् । १२ निषेधनम् । १३ न तु काम्यप्रधानयो ।

ष्याश्च पशवश्च पय एवोपजीवन्तीति । उचितं हि तेषां तदन्नमन्यथा कथं तदेवाग्रे नियमेनोपजीवेयुः ।

कथमग्रे तदेवोपजीवन्तीति । 'उच्यते--मनुष्याश्च पशवश्च,यस्मात्तेनैवान्नेन वर्तन्तेऽद्यत्वेऽपि यथा पित्राऽऽदौ विनियोगः कृतस्तस्मात्कुमारं बालं जातं घृतं वा त्रैवर्णिका जातकर्मणि 'जातरूपसंयुक्तं प्रतिलेहयन्ति प्राशयन्ति स्तनं वाऽनुधापयन्ति पश्चात्पाययन्ति। यथासंभवमन्येषां स्तनमेवाग्रे धापयन्ति मनुष्येभ्योऽन्येषां पशूनाम्। 'अथ वत्सं जातमाहुः कियत्प्रमाणो वत्स इत्येवं पृष्टाः सन्तोऽतृणाद इति । नाद्यापि तृणमत्यतीव बालः, पयसैवाद्यापि वर्तत इत्यर्थः ।

त्युपक्रमात्। औचित्यं व्यतिरेकद्वारा साधयति--'अन्यथेति ।

नियमेन प्रथमं पशूनां तदुपजीवनमसंप्रतिपन्नमिति शङ्कते--कथमिति । मनुष्यविषये वा प्रश्नस्तदितरपशुविषये वेति पृच्छति--उच्यत इति । तत्राऽऽद्यमनुभवावष्टम्भेन प्रत्याचष्टे--मनुष्याश्चेति । चकारो मनुष्यमात्रसंग्रहार्थः । तेनैव पयसैवेति यावत् । घृतं वेति वाशब्दो वक्ष्यमाणविकल्पद्योतकः । जातरूपं हेम, त्रैवर्णिकेभ्योऽन्येषां जातकर्माभावाद्योग्यतामनतिक्रम्य स्तनमेव जातं कुमारं प्रथमं पाययन्तीत्याह--यथासंभवमिति । यद्वा 'तेषां जातकर्मानधिकृतानां जातं कुमारं घृतं वा स्तनं वा प्रथमं पाययन्तीति यावत् । पशुविषय प्रश्नं पशवश्चेतिसूचितसमाधानं प्रत्याह--स्तनमेवेति । पशूनां जातं वत्समिति संबन्धः । पशूनां पयोऽन्नमित्यत्र लोकप्रसिद्धिं प्रमाणयति--अथेति । द्विपात्पश्व'धिकारविच्छेदार्थोऽथशब्दः । प्रतिवचनं व्याचष्टे--नाद्यापीति ।

अतः 'यह दूध पशुओं का अन्न है' ऐसा कहना ठीक है, अन्यथा वे जन्म के बाद नियमपूर्वक उसी का सेवन कर जीवन धारण कैसे करते ?

जन्म के अनन्तर वे उसी से जीवन कैसे धारण करते हैं ? इस पर विचार किया जाता है। क्षेत्रज्ञ ने आरम्भ में जैसा प्रयोग किया था, उसी के अनुसार आजकल भी मनुष्य और पशुवर्ग उसी अन्न के आश्रित रहते हैं। इसी से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के मनुष्य जातकर्मसंस्कार के अवसर पर नवजात शिशु को सुवर्ण और घी घिस कर चटाते हैं 'स्तनं वाऽनुधापयन्ति' अर्थात् उसके पश्चात् स्तनपान कराते हैं। तथा जातकर्मसंस्कार के अनधिकारी दूसरे मनुष्यों से उत्पन्न बालक का एवं मनुष्यों से भिन्न पशुओं के बछड़ों को यथासंभव पहले स्तनपान ही कराते हैं। इस प्रकार बछड़े के उत्पन्न होने पर जब पूछा जाता है कि बछड़ा कितना बड़ा है ? तो कहा जाता है-- "अभी घास नहीं खाता है"। भावार्थ यह है कि बहुत ही छोटा है, अभी घास नहीं खा पाता अभी तो केवल दूध पीकर ही रहता है।

एवं जो प्रारम्भ में जातकर्मादिसंस्कार में घृत के आश्रित होकर जीवन धारण करते हैं, एवं दूसरे देहधारी दूध से ही जीवित रहते हैं, वे सभी ही घृत और दुग्धरूप से दूध का ही पान करते हैं,

---

१. उच्यत इति--किं मनुष्यविषये पृच्छ्यते पशुविषये वेत्यर्थः । २ स्वर्णयुक्तं सुवर्णं घृतं घर्षयित्वेत्यर्थः । ३ द्विपात्पशूनां पयोऽन्नत्वे लोकप्रसिद्धेः प्रमाणीकरणानन्तरम् । ४ पयोऽन्नत्वाभाव इत्यर्थः । ५ अनिश्चितम् । ६ शूद्राणाम् । ७ अधिकारः प्रकरणम् ।

यच्चाग्रे जातकर्मादौ घृतमुपजीवन्ति यच्चेतरे पय एव 'तत्सर्वथाऽपि पय एवोपजीवन्ति'। घृतस्यापि पयोविकारत्वात्पयस्त्वमेव। कस्मात्पुनः सप्तमं सत्पश्वन्नं चतुर्थत्वेन व्याख्यायते। 'कर्मसाधनत्वात्। कर्म हि पयःसाधनाश्रयमग्निहोत्रादि। तच्च कर्म साधनं 'वित्तसाध्यं वक्ष्यमाणस्यान्नत्रयस्य साध्यस्य। यथा दर्शपूर्णमासौ पूर्वोक्तावन्ने। 'अतः 'कर्मपक्षत्वात्कर्मणा सह 'पिण्डीकृत्योपदेशः।

साधनत्वाविशेषादर्थसबन्धादानन्तर्यमकारणमिति च। व्याख्यानप्रतिपत्तिसौकर्याच्च। सुखं हि नैरन्तर्येण व्याख्यातुं शक्यन्तेऽन्नानि व्याख्यातानि च सुखं प्रतीयन्ते।

ननु "येषामग्रे घृतोपजीवित्वमुपलभ्यते पयस्ते नोपजीवन्ति घृतपयसोर्भेदादतः" पश्वन्नत्वं पयसो भागासिद्धमत आह– यच्चेति। ननु घृतमुपजीवन्तोऽपि पय एवोपजीवन्तीत्ययुक्तं तद्भेदस्योक्तत्वात्तत्राऽऽह– घृतस्यापीति। मन्त्रपाठक्रममतिक्रम्य पश्वन्ने व्याख्याते प्रत्यवतिष्ठते– कस्मादिति। द्वे देवानभाजयदिति व्याख्याते साधने साधनत्वाविशेषात्पयोऽपि बुद्धिस्थमित्यर्थक्रममाश्रित्य परिहरति– कर्मेति। तदेव स्पष्टयति– कर्म हीति। यद्यपि पयोरूपं साधनमाश्रित्य कर्म प्रवृत्तं तथाऽपि दर्शपूर्णमासानन्तर्यं कथं पयसः सिध्यति तत्राऽऽह– तच्चेति। वित्तेन पयसा साध्यं कर्मान्नत्रयस्य साधनमित्यत्र दृष्टान्तमाह– यथेति। पूर्वोक्तौ दर्शपूर्णमासौ द्वे देवान्ने वक्ष्यमाणस्यान्नत्रयस्य यथा साधनं तथा पयसोऽप्यग्निहोत्रादिद्वारा तत्साधनत्वात्कर्मकोटिनिविष्टत्वात्तद्व्याख्यानानन्तर्यं पयोव्याख्यानस्य युक्तमित्यर्थः।

पाठक्रमस्तर्हि कथमित्याशङ्क्यार्थक्रमेण तद्बाधमभिप्रेत्याऽऽह– साधनत्वेति। आनन्तर्यं पाठक्रमः। अकारणत्वमविवक्षितत्वम्। पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात्तेनेतरस्य बाध्यत्वमित्येतत्प्रथमे" तन्त्रे स्थितमित्यभिप्रेत्याऽऽह– इति चेति। पश्वन्नस्य चतुर्थत्वेन व्याख्याने हेत्वन्तरमाह– व्याख्यानेति। व्याख्यानसौकर्यं साधयति– सुखं हीति। प्रतिपत्तिसौकर्यं प्रकटयति– व्याख्यातानीति। चत्वारि साधनानि त्रीणि साध्यानीति विभज्योक्तौ वक्तृश्रोत्रोः सौकर्येण धीर्भवति ततश्च पाठक्रमातिक्रमः श्रेयानित्यर्थः।

क्योंकि दूध का विकार होने से घृत भी दूधरूप ही है। किन्तु पशु अन्न सातवां होने पर भी यहाँ (ब्राह्मणवाक्य में) चतुर्थरूप से क्यों कहा गया है? क्योंकि दुग्धकर्म का साधनभूत है। अग्निहोत्रादिकर्म दुग्धरूप साधन के ही आश्रित है, तथा वह कर्मरूप साधन आगे है कहे जाने वाले साध्यरूप तीन अन्नों का पय साध्य होना सुनिश्चित है, जिस प्रकार दर्श और पूर्णमासरूप पूर्वप्रतिपादित दो अन्न हैं। इसलिए (दूध के अन्नत्रयसाधन होने से) कर्म के अन्त पाती होने से कर्म के साथ मिलाकर उसका उपदेश किया गया है।

---

१. घृतत्वेन पयस्त्वेन च। २ उपभुञ्जते। ३. पयस इति शेष.। ४. रूपम्। ५. पय साध्यम्। ६. अत इति—पयसोऽग्निहोत्रादिकर्मद्वारा वक्ष्यमाणान्नत्रयसाधनत्वादित्यर्थः। ७. कर्मान्त पातित्वात्। ८. मेलयित्वा। ९. साधनात्मकानि। १०. द्विपदाम्। ११ घृतोपजीविषु पय उपजीवित्वाभावात्। १२. प्रथमे तन्त्रे—जैमिनीय "अर्थाच्च" ।५।१।२॥ इति सूत्रे। तत्र श्लोकौ "अग्निहोत्रं जुहोतीति यवागूं पचतीति च। क्रम. पाठादर्थतो वा पाठात्सर्वत्र दर्शनात्॥ होमद्रव्यसमुत्पत्त्यै पूर्वपाकोऽवगम्यते। यवाग्वेति श्रुता होमद्रव्यताऽतोऽर्थत क्रम."॥ इति।

तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेत्यस्य कोऽर्थ इत्युच्यते—तस्मिन्पश्वन्ने पयसि सर्वमध्यात्माधिभूताधिदैवलक्षणं कृत्स्नं जगत्प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति प्राणचेष्टा-वद्यच्च न स्थावरं शैलादि। तत्र हिशब्देनैव प्रसिद्धावद्योतकेन व्याख्यातम्।—

कथं पयोद्रव्यस्य सर्वप्रतिष्ठात्वम्। कारणत्वोपपत्तेः। कारणत्वं चाग्निहोत्रादि-कर्मसमवायित्वम॰ग्निहोत्राद्याहुतिविपरिणामात्मकं च जगत्कृत्स्नमिति श्रुतिस्मृतिवादाः[1]

पश्वन्नस्य सर्वाधिष्ठानत्वविषयं मन्त्रमवतार्य प्रश्नपूर्वकं तदीयं ब्राह्मणं व्याचष्टे—तस्मिन्नित्या-दिना। मन्त्राद्भेदो ब्राह्मणे न प्रतिभातीत्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति। पयसि हीति ब्राह्मणे हिशब्दस्य प्रसिद्धावद्योतकत्वमस्ति। तेन च हेतुना हिशब्देन तस्मिन्नित्यादिकं मन्त्रपदं व्याख्यातमिति योजना।

मन्त्रार्थस्य लोकप्रसिद्ध्यभावान्न प्रसिद्धावद्योतिना हिशब्देन व्याख्यानं युक्तमिति शङ्कते—कथमिति। कार्यं कारणे प्रतिष्ठितमिति न्यायेन वैदिकीं प्रसिद्धिमादाय समाधत्ते—कारणत्वेति। तत्समवायित्वेऽपि पयसो द्रवद्रव्यमात्रस्य कुतः सर्वजगत्कारणत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—कारणत्वं चेति। तत्समवायित्वेऽपि कुतो जगत्कारणतेत्याशङ्क्याऽऽह—अग्निहोत्रादीति। 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतस्ते अन्तरिक्ष-मा॒विशतः'[2] इत्यादयः श्रुतिवादा द्युपर्जन्यव्रीह्या[3]दिक्रमेणाग्निहोत्राहुत्योर्गर्भाकारप्राप्तिं दर्शयन्ति।

"अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः'

साधन मे समानता हाने के कारण इसका उनसे, अर्थ का सम्बन्ध होने के कारण पाठक्रम मे मे आनन्तय हाने से अर्थक्रम मे काई अन्तर नही आ सकता। इस प्रकार का व्याख्यान अर्थावबोध के लिए सरल पडता है। साधनात्मक अन्ना को व्याख्या निरन्तर अनायास की जा सकती है और इस प्रकार व्याख्या होने पर सुगमता से उसके अर्थ की प्रतीनि हो जाती है।

"जो प्राणनक्रिया करता है और जो नही करना है, वह यह सभी उसमे प्रतिष्ठित है" इस श्रुतिवाक्य का क्या अर्थ है? इस पर वतलाया जाता है—'तस्मिन्' अर्थात् पश्वन्नरूप दूध मे 'सर्वम्' अर्थात अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवात्मक समस्त जगत् प्रतिष्ठित है। 'यच्च प्राणिति' अर्थात् जो प्राणचेष्टा से युक्त है, न कि पर्वतादि की तरह जड है। श्रुतिवाक्य मे 'हि' शब्द प्रसिद्धि को लक्षित करता है, उसस इसकी व्याख्या की गई है।

---

१. वचनानि। २. आविशत इत्यनन्तरम्। 'ते अन्तरिक्षमेवाहवनीय कुर्वाते वायु समिध मरीचीरेव शुक्लामा-हुतिं ते अन्तरिक्ष तर्पयतस्ते तत उत्क्रामत इत्याद्येवमेव पूर्ववद्दिव तर्पयतस्तो तत आवर्तेते इमामाविश्य तपयित्वा पुरुषमाविशतस्तत स्त्रियमाविश्य लाक प्रत्युत्थायी भवतीनि विशेष। अर्थस्तु छान्दोग्यभाष्ये (५ ४ १) द्रष्टव्य॥ ३ आदिना पुरुषयोषितौ। ४. अत्राहुतेरेव तत्तदात्मना परिणामो विवक्षितो द्रष्टव्य।

॰अग्निहोत्राद्याहुतिपरिणामात्मक च जगत्कृत्स्नमिति। ननु सर्वस्य जगतोऽग्निहोत्राद्याहुतपरिणामत्वेऽपि पय परि-णामत्वाभावात्कथ पय स सर्वजगत्कारणत्वमिति चेन्नाग्निहोत्राद्याहुतिमात्रस्य पयोरूपत्वात्तथा च वार्तिके—"आहुति पय एव स्यादाज्य वा पय एव वा। पय एवाऽऽहुति सर्वमित्येतच्च श्रुतेर्मतं॥ अर्थपाऽऽज्याहुतिर्यज्ञे यद्यपि सर्वरूपकम्। पशुरप्याज्यमेवैतत्करोतीत्यपि चागम॥ आज्याभिघारसंस्कारात्तथैव पयो हवि। ते वा एते इति तथा परिणामोऽखिल जगत। अग्निहोत्राऽऽहुतेः पयस्येव जगत्कृत्स्नमग्निहोत्रे प्रतिष्ठितम्॥

शतशो व्यवस्थिताः। अतो युक्तमेव हिशब्देन व्याख्यानम्।

यत्तद्ब्राह्मणान्तरेऽविदमाहुः—संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति। संवत्सरेण किल त्रीणि षष्टिशतान्याहुतीनां सप्त च शतानि विंशतिश्चेति 'याजुष्मती-

इत्यादयः स्मृतिवादाः। पयसि हीत्यादि ब्राह्मणमुपसंहरति—अत इति। पयसः सर्वजगदाधारत्वस्य श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धत्वादिति यावत्।

सर्वं पयसि प्रतिष्ठितमिति विधित्सितं 'दर्शनस्तुतये' शाखान्तरीयमतं निन्दितुमुद्भावयति'—यत्तदिति। न केवलेन कर्मणा मृत्युजयः किं तु दर्शनसहितेनेति दर्शयितुमग्निहोत्राहुतिषु संख्यां कथयति—संवत्सरेणेति। उक्ताहुतिसंख्यायां संवत्सरावच्छिन्नायामग्निहोत्रविदां संप्रतिपत्त्यर्थं किलेत्युक्तम्। ननु प्रत्यहं सायं प्रातश्चेत्याहुती द्वे विद्येते तत्कथमाहुतीनां षष्ट्यधिकानि त्रीणि शतानि संवत्सरेण भवन्ति तत्राऽऽह—सप्त चेति। 'प्रत्येकमहोरात्रावच्छिन्नाहुतिप्रयोगाणामेकस्मिन्संवत्सरे पूर्वोक्ता संख्या 'तत्रैव प्रयोगार्धानां विंशत्यधिका सप्तशतरूपा संख्येति सिद्धमित्यर्थः। आहुतीनां संख्यामुक्त्वा तासु याजुष्मतीनामिष्टकानां दृष्टिमाह—याजुष्मतीरिति। तासामपि षष्ट्यधिकानि त्रीणि शतानि संख्यया

किन्तु दूधरूप द्रव्य से सब की प्रतिष्ठा किस प्रकार है? क्योंकि कार्य कारण में प्रतिष्ठित है, ऐसा सर्वत्र सिद्ध है। (दूध के द्रव-द्रव्यमात्र होने से उसका सर्वजगत्कारणत्व कैसे सिद्ध हुआ?) अग्निहोत्रादिकर्म से सम्बन्ध होना ही उसका कारणत्व है, अग्निहोत्रादि की आहुतियों का विपरिणामरूप ही सारा जगत् है, इस विषय में सैकड़ों श्रुति-स्मृतिवचन प्रमाण है। इसलिए 'हि' शब्द से उसकी व्याख्या करना उचित ही है।

दूसरे ब्राह्मणग्रन्थों में जो इसप्रकार कहा गया है कि एक वर्ष पर्यन्त दूध से हवन करने वाला पुरुष अपमृत्यु को जीत लेता है, सो यहाँ संवत्सर से तीन सौ साठ अथवा सात सौ बीस आहुतियाँ इष्ट

१ धनसर्वाचिनी। २ उपासनत्यर्थ। ३ स्तुतये इति—न दर्शनान्तरनिन्दा तन्निषेधार्था किन्तु प्रस्तुतदर्शनस्तुत्यर्था न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुमपितु विधेयस्तुतये इति न्यायादिति भावः। विधेयं स्तोतुम्। ४ अनुवदति। ५ प्रत्येकाहोरात्रमित्यर्थः। ६ तत्रैवेति—संवत्सरावधिकेऽग्निहोत्र इत्यर्थः। अत्र श्रुतिः 'तस्य ह वा एतस्याग्निहोत्रस्य सप्त च शतानि विंशतिश्च संवत्सरे सायमाहुतयः सप्त चैव शतानि विंशतिश्च संवत्सरे प्रातराहुतयः' इति।

साक्षाच्छ्रुतावेव समीरितमिति'॥ ५६-५६॥ यदाज्यं पयो वाऽऽहुतिमयं तत्सर्वं पय एव स्यादिति योजना। सर्वाहुतेः पयस्त्वं श्रुत्या विशदयति—पय एवेति। आहुत्यात्मकमाज्यादि सर्वं पय एवेत्येतद्गम्यते। घृताहुतिं वा पय आहुतिं वा उभयं त्वेतत्पय एवेति श्रुतिमानादित्यर्थः॥ तत्रैव श्रुत्यन्तरमाहाथेति। अथशब्दो यज्ञारम्भार्थः। आज्याहुतेस्तावत्पयस्त्वं तद्विकारत्वात् यच्च यज्ञं सर्वरूपं चरुपुरोडाशाद्यात्मकं हविर्यश्च पशुरेतत्सर्वमाज्यमेवाभिघारसंस्काराल्करोति पुरुषो न हि चर्वाद्याज्यानभिघारितं होम्यं पयश्चाऽऽज्यमिति सर्वस्य पयस्त्वमित्यागमशासनमित्यर्थः। अपि चेति पूर्वश्रुत्या समुच्चयोऽस्या श्रुतेरुच्यते॥ श्रुत्यर्थमुपसंहरति—आज्यमिति। तथाऽपि कथं सर्वस्य पयसि प्रतिष्ठितत्वं तत्राऽऽह—पयसीति॥ अग्निहोत्रे यत्तु पयो हूयते तस्मिन्नपूर्वात्मके सर्वं जगत्प्रतिष्ठितमिति प्रतिज्ञातेऽर्थे प्रमाणमाह—ते वा इति। सर्वमपि जगत्पयसि स्थितमित्यस्यानुसारेण ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतस्ते अन्तरिक्षमाविशत इत्यादिश्रुतावग्निहोत्राहुतेः पयोरूपायाः परिणामोऽशेषं जगदिति साक्षादीरितमिति योजना॥

'रिष्टका अभिसंपद्यमानाः संवत्सरस्य चाहोरात्राणि। संवत्सरमग्निं प्रजापतिमाप्नुवन्ति।

एवं कृत्वा सवत्सरं जुह्वदपजयति पुनर्मृत्युमितः प्रेत्य देवेषु संभूतः पुनर्न म्रियत इत्यर्थः।

इत्येवं ब्राह्मणवादा आहुर्न तथा विद्यान्न तथा द्रष्टव्यम्। 'यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयति न संवत्सराभ्यासमपेक्षत 'एवं विद्वान्सन्। यदुक्तं पयसि हीदं सर्वं प्रतिष्ठितं पयआहुतिविपरिणामात्मकत्वात्सर्वस्येति। तदेकेनैवाह्ना जगदात्मत्वं प्रतिपद्यते।

'भवन्ति तथाच प्रत्यहमाहुतीरभिनिष्पद्यमानाः संख्यासामा येन याजुष्मतीरिष्टकाश्चितयेदित्यर्थः। आहुतिमयीनामिष्टकानां संवत्सरावयवाहोरात्रेषु संख्यासामान्येनैव दृष्टिमन्वाचष्टे—संवत्सरस्येति। तान्यपि षष्ट्यधिकानि त्रीणि शतानि प्रसिद्धानि 'तथाच तेषु यथोक्तेष्विष्टकादृष्टिः श्लिष्टेयर्थः। चित्येऽग्नौ संवत्सरात्मप्रजापतिदृष्टिमाह—सवत्सरमिति। यः संवत्सरः प्रजापतिस्तं चित्यमग्निं विद्वांसः संपादयन्ति। 'अहोरात्रेष्टकाद्वारा तयोः संख्यासामान्यादित्यर्थः।

दृष्टिमनूद्य फलं दर्शयति—एवमिति। उक्तसंख्यासामान्येनाग्निहोत्राहुतीरग्न्यवयवभूतया-जुष्मतीसंज्ञकेष्टकाः संपाद्य तद्रूपेणाऽऽहुतीर्ध्यायन्नाहुतिमयीश्चेष्टकाः संवत्सरावयवाहोरात्राणि तेनैव संपाद्य 'पुरुषनाडीस्थसंख्यासामान्येन तन्नाडीस्तान्येवाहोरात्राण्यापाद्य तद्रूपेणाऽऽहुतीरिष्टका नाडी-आनुसंदधानो नाड्यहोरात्रयाजुष्मतीद्वारा पुरुषसंवत्सरचित्यानां समत्वमापाद्याहमग्निः संवत्सरात्मा प्रजापतिरेवेति 'ध्यायन्नग्निहोत्रं पयसा सवत्सरं जुह्वद्धिया सहितहोमवशात्प्रजापतिं संवत्सरात्मकं प्राप्य मृत्युमपजयतीत्यर्थः।

एकीयमतमुपसंहृत्य तन्निन्दापूर्वकं मतान्तरमाह—इत्येवमित्यादिना। एवं विद्वानित्युक्तं व्यक्ती करोति-यदुक्तमिति। तत्तथैव विद्वानेकाहोरात्रावच्छिन्नाहुतिमात्रेण जगद्रूपं प्रजापतिं प्राप्य मृत्युमपज-

हैं। और वे सवत्सर के दिन-रात यज्ञसम्बन्धी (पक्वमृत्खण्डविशेष) इष्टकारूप होकर स्थित हैं। उस सवत्सररूप चित्याग्नि प्रजापति को वे प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार की भावना करके एक वर्ष पर्यन्त हवन करने वाला पुनर्मृत्यु को जीत लेता है। यहाँ से जाकर देवयोनि मे जन्म लेकर पुन. अमरत्वप्राप्ति करता है, यह भावार्थ है।

इस प्रकार शाखान्तर के ब्राह्मणवाक्य कहते हैं कि 'न तथा विद्यात्' अर्थात् ऐसा नही समझना चाहिये। क्योकि मनुष्य जिस दिन भी दूध से आहुति देकर हवन करता है, उसी दिन से पुनर्मृत्यु को जीत लेता है; इसके लिए एक वर्ष तक अभ्यास करने की अपेक्षा नही है। इस प्रकार जानकर यानी

१. पक्वमृत्खण्डविशेषान्। २. कथ तर्हीत्यत आह—यदहरेवेति। ३ एवमिति—पयसीद सर्वं प्रतिष्ठित-मित्युक्तप्रकारेण पयस्यन्तर्हि त विश्वमिति विद्वान्सन्नित्यर्थ.। ४ भवन्तीति—'तावत्योऽग्नेर्याजुष्मत्य इष्टका' इति श्रुते। ५ इष्टकाहोरात्रयो सख्यासामान्यं च। ६ अहोरात्रेति—सवत्सराहोरात्रवत् चित्याग्नीष्टकयो-रवयवावयविभावादित्यभिप्राय.। ७ देहाभिमानिन साधकस्य पुसो नाडयश्च देहपार्श्वयोरभेदेन तद्विभागे न च पूर्वोक्तसख्यावत्यो भवन्तीत्यभिप्रेत्याह--पुरुषेति। "त्रिणीत षष्टिशतानि त्रिणीतस्तानि सप्तविंशतिशतानि भवन्तीति" श्रुते.। ८. ध्यायन्निति-होमकाले ध्यायन्नित्यर्थः।

तदुच्यतेऽपजयति पुनर्मृत्युं पुनर्मरणं सकृन्मृत्वा विद्वाञ्छरीरेण वियुज्य सर्वात्मा भवति न पुनर्मरणाय परिच्छिन्नं शरीरं गृह्णातीत्यर्थः।

कः पुनर्हेतुः सर्वात्माप्त्या मृत्युमपजयनीति[1]। उच्यते——सर्वं समस्तं हि यस्माद्देवेभ्यः सर्वेभ्योऽन्नाद्यमन्नमेव तदाद्यं च सायंप्रातराहुतिप्रक्षेपेण[2] प्रयच्छति। तद्युक्तं 'सर्वमाहुतिमयमात्मानं कृत्वा सर्वदेवान्नरूपेण सर्वैर्देवैरेकात्मभाव गत्वा सर्वदेवमयो भूत्वा पुनर्न म्रियत इति। अथैतदप्युक्तं ब्राह्मणेन—ब्रह्म वै स्वयंभु तपोऽतप्यत तदैक्षत न वै तपस्यानन्त्यमस्ति हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि भूतानि चाऽऽत्मनीति तत्सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा भूतानि चाऽऽत्मनि सर्वेषां भूताना श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैदिति।

यतीत्याह—तदेकेनेति। उक्तेऽर्थे श्रुतिमवतार्य व्याचष्टे—तदुच्यत इति।

सर्वं हीत्यादिहेतुवाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थाप्य व्याकरोति—क पुनरित्यादिना। यथोक्तदर्शनवशादेकयैवाऽऽहुत्या मृत्युमपजयतीत्यत्र ब्राह्मणान्तर सवादयति—अथेति। यथा सवत्सरमित्याद्युक्तं तथा यदहरेवेत्याद्यपि ब्राह्मणान्तरे सूचितमित्यर्थ। ब्रह्म हिरण्यगर्भभावो जीव स्वयंभु परस्यैव तदात्मनाऽवस्थानात्तपोऽतप्यत कर्मान्वतिष्ठत्। यत्कृत तदनित्यमिति न्यायेन कर्मनिन्दाप्रकारमाह—तदैक्षतेति। कर्मसहायभूतामुपासनामुपदिशति—हन्तेति। उपासनामनूद्य समुच्चयफल कथयति—तत्सर्वेष्विति। श्रेष्ठत्वेऽपि राजकुमारवदस्वातन्त्र्यमाशङ्क्याऽऽह—स्वाराज्यमिति। 'अधिष्ठाय पालयितृत्वमाधिपत्यम्।

जो ऊपर कहा है कि दूध मे ही सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है क्योकि यह सब कुछ दूध की आहुतियो का परिणाम है, विद्वान् पुरुष एक ही दिन आहुति प्रदान करने से जगत् के आत्मा को प्राप्त हो जाता है। इसी बात को श्रुति प्रतिपादित करती है, "पुनर्मृत्युम' यानी दूसरी बार मरना समाप्त कर देता है, मरकर वह विद्वान् तत्काल ही शरीर से वियुक्त हो सर्वात्मस्वरूप हो जाता है, फिर मरने के लिए परिच्छिन्न शरीर को ग्रहण नही करता।

किन्तु किस कारण से वह सर्वात्मभावप्राप्ति के द्वारा मृत्यु को जीत लेता है ? इसका समाधान किया जाता है। हि अर्थात् क्योकि 'अन्नाद्यम्' यानी साय प्रात आहुतिप्रदान के द्वारा सम्पूर्ण अन्न और आद्य 'देवेभ्य' यानी समस्त देवताओ को देता है। इसलिए सर्व जगत् अपने को आहुतिमय करके सम्पूर्ण देवताओ के अन्नरूप मे समस्त देवताओ के साथ एकात्मभाव को प्राप्त होकर वह सर्वदेवमय होकर पुनर्मृत्यु को प्राप्त नही होता, ऐसा कहना ठीक ही है। ब्राह्मणान्तर मे ऐसा भी सवाद है कि स्वयम्भु ब्रह्मा ने तपरूप कर्म का अनुष्ठान किया। उसने विचारा कि निश्चय ही तप करने से नित्यत्वलाभ नही होता। अच्छा हो कि मैं अपने को भूतो मे और भूतो को अपने मे देखूँ। अत उसने समस्त भूतो मे अपने को और अपने मे समस्त भूतो को देखकर समस्तभूतो का श्रेष्ठत्व, स्वाराज्य और आधिपत्य प्राप्त किया।

---

१ प्रतिज्ञायामित्यर्थ। २ प्रक्षेपेणेति—प्रथमो जगदात्मतया दर्शनात्तदाहुत्या अन्नाद्यरूप सर्वं जगद्देवेभ्य प्रयच्छत्यात्मना सह आत्मनोऽपि जगदन्त पातित्वादित्यर्थ। ३ जगत्। ४ भूतात्मनोरैक्य पश्यानीत्यर्थ। ५ भाष्यस्थायशब्दार्थोऽय तथेति। ६ सर्वं स्वाश्रित कृत्वेत्यर्थ।

कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति । यदा पित्राऽन्नानि सृष्ट्वा सप्त पृथक्पृथग्भोक्तृभ्यः प्रत्तानि तदा प्रभृत्येव तैर्भोक्तृभिरद्यमानानि । तन्निमित्तत्वात्तेषां स्थितेः । सर्वदा नैरन्तर्येण । कृतक्षयोपपत्तेश्च युक्तस्तेषां क्षयः । न च तानि क्षीयमाणानि जगतोऽविभ्रष्टरूपेणैवावस्थानदर्शनात् । भवितव्यं चाक्षयकारणेन । तस्मात्कस्मात्पुनस्तानि न क्षीयन्त इति प्रश्नः ।

तस्येदं प्रतिवचनम्—पुरुषो वा अक्षितिर्यथाऽसौ पूर्वमन्नानां स्रष्टाऽऽसीत्पिता मेधया जायादिसंबन्धेन च पाङ्क्तकर्मणा भोक्ता च तथा येभ्यो दत्तान्यन्नानि तेऽपि तेषामन्नानां भोक्तारोऽपि सन्तः पितर एव मेधया तपसा च यतो जनयन्ति तान्यन्नानि ।

पञ्चान्ने व्याख्याते प्रश्नरूपं मन्त्रपदमादत्ते—कस्मादिति । ननु चत्वार्यन्नानि व्याख्यातानि त्रीणि व्याचिख्यासितानि तेष्वव्याख्यातेषु कस्मादित्यादिप्रश्नः कस्मादित्याशङ्क्य साधनेषूक्तेषु साध्यानामपि तेषामर्थादुक्तत्वमस्तीत्यभिप्रेत्य प्रश्नप्रवृत्तिं मन्वानो व्याचष्टे—यदेति । सर्वदेत्यस्य व्याख्या नैरन्तर्येणेति । अन्नानां सदा भोक्तृभिरद्यमानत्वे हेतुमाह—तन्निमित्तत्वादिति । भोक्तृणां स्थितेरन्ननिमित्तत्वात्तैः सदाऽद्यमानानि तानि यदपूर्णकुसूलवद्भवन्ति क्षीणानीत्यर्थः । किंच ज्ञानकर्मफलत्वादन्नानां यत्कृतकं तदनित्यमिति न्यायेन क्षयः संभवतीत्याह—कृतेति । अस्तु तर्हि तेषां क्षयो नेत्याह—न चेति । भवतु तर्हि 'स्वभावादेव सप्तान्नात्मकस्य जगतोऽक्षीणत्वं नेत्याह—भवितव्यं चेति । स्वभाववादस्या'तिप्रसङ्गित्वादित्यर्थः । प्रश्नं निगमयति—तस्मादिति । प्रतिवचनमादाय व्याचष्टे—तस्येत्यादिना । तेषां पितृत्वे हेतुमाह—मेधयेति । भोगकालेऽपि विहितप्रतिषिद्धज्ञानकर्मसंभवात्प्रवाहरूपेणान्नाक्षयः संभवतीत्यर्थः । 'तत्र प्रतिज्ञाभागमुपादायाक्षराणि

"फिर सदा खाये जाने पर भी वे अन्न नष्ट क्यों नहीं होते ? इस श्रुतिवाक्य की व्याख्या की जाती है । जब क्षेत्रज्ञ के द्वारा अन्न की सृष्टि करके सातों अन्न अलग-अलग भोक्ताओं को बाँटे गये थे, तभी से लेकर वे 'सर्वदा' अर्थात् निरन्तर उन भोक्ताओं द्वारा खाये जा रहे हैं, क्योंकि उन अन्नों के कारण ही उनकी सत्ता है । उत्पन्न वस्तु का क्षय होना सिद्ध ही है, अतः उनका भी क्षय होना युक्तिसंगत है । किन्तु वे क्षीयमान नहीं हैं क्योंकि संसार अविनश्वररूप से स्थित दीख पड़ता है । इसलिए उसके विनश्वरस्वभाव वाला होने का कोई न कोई कारणान्तर होना चाहिये । इसलिए वे क्षीण क्यों नहीं होते ? यह प्रश्न है ।

उसका उत्तर इस प्रकार है कि पुरुष अविनश्वरस्वभाव वाला है जिस प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञानकर्माधिकृत यह क्षेत्रज्ञ पिता उपासना और जायादि के सम्बन्ध से होने वाले पाङ्क्तकर्म द्वारा अन्नों का रचयिता एवं भोक्ता था, उसी प्रकार अन्नग्रहीता भी उन अन्नों का भोक्ता होते हुए भी उनके पिता ही हैं, क्योंकि वे भी उपासना और कर्म के द्वारा उन अन्नों को उत्पन्न करते हैं । इसी (भोक्ता के पितृत्व-उपपादन करने) से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष, जो अन्नों का भोक्ता है, वह 'अक्षिति' अर्थात् अविनश्यत्व का हेतु है । उसका अक्षितित्व किसलिए है ? इस पर कहा जाता है,

---

१ अविनश्वररूपेणत्यर्थः । २ क्षेत्रज्ञो ज्ञानकर्माधिकृत । ३ सर्गादौ । ४ उपासनया । ५. कर्मणा ।
६ कारणमन्तरेण । ७ सर्वं सर्वत्र स्यादित्यतिप्रसङ्गः । ८ हेतुप्रतिज्ञाभागयोर्मध्ये ।

'तदेत'दभिधीयते पुरुषो वै योऽन्नानां भोक्ता सोऽक्षितिरक्षयहेतुः । कथमस्याक्षितित्वमित्युच्यते—स हि यस्मादिदं भुज्यमानं सप्तविधं 'कार्यकरणलक्षणं 'क्रियाफलात्मकं पुनः पुनर्भूयो भूयो जनयते उत्पादयति धिया धिया तत्तत्कालभाविन्या तया तया प्रज्ञया कर्मभिश्च वाङ्मनःकाय'चेष्टितैर्यद्यदि ह यद्येतत्सप्तविधमन्नमुक्तं क्षणमात्रमपि' न कुर्यात्प्रज्ञया कर्मभिश्च ततो विच्छिद्येत भुज्यमानत्वात्सातत्येन क्षीयेत 'ह । 'तस्माद्यथैवायं पुरुषो भोक्ताऽन्नानां नैरन्तर्येण यथाप्रज्ञं यथाकर्म च करोत्यपि । तस्मात्पुरुषोऽक्षितिः सातत्येन कर्तृत्वात् । 'तस्माद्भुज्यमानान्यप्यन्नानि न क्षीयन्त इत्यर्थः ।

'अतः प्रज्ञाक्रियालक्षणप्रबन्धारूढः सर्वो लोकः साध्यसाधनलक्षणः क्रियाफलात्मकः

व्याचष्टे—तदेतदिति । हेतुभागमुत्थाप्य विभजते—कथमित्यादिना । "तस्मात्तदक्षयः सभवति "प्रवाहात्मनेति शेषः । उक्तहेतुं व्यतिरेकद्वारोपपादयितुं यद्धैतदित्यादि वाक्यं तद्व्याचष्टे—यदिति । अन्वयव्यतिरेकसिद्धं हेतुं निगमयति—तस्मादिति । तया यथाप्रज्ञमिति पठितव्यम् । साध्यं निगमयति—तस्मादिति । अक्षयहेतौ सिद्धे फलितमाह—तस्माद्भुज्यमानानीति ।

धिया धियेत्यादिश्रुतेः स होदमित्यत्रोक्तं परिहारं प्रपञ्चयन्त्याः सप्तविधान्नस्य कार्यत्वात्प्रतिक्षणध्वंसित्वेऽपि पुन. पुनः क्रियमाणत्वात्प्रवाहात्मना तदचलं मन्दा. पश्यन्तीत्यस्मिन्नर्थे तात्पर्यमाह—अत इति । "प्रज्ञाक्रियाभ्यां हेतुभ्यां लक्ष्यते व्यावर्त्यते निष्पाद्यते यः प्रबन्धः समुदायस्तदारूढस्तदात्मकः सर्वो लोकश्चेतनाचेतनात्मको द्वैतप्रपञ्चः साध्यत्वेन साधनत्वेन च वर्तमानो ज्ञानकर्मफलभूतः क्षणि-

---

क्योंकि वह 'इदम्' अर्थात् खाये जाने वाले स्थूलसूक्ष्म एवं साध्यसाधनरूप सात प्रकार के अन्नों को 'पुन पुन' यानी बार-बार 'जनयते' अर्थात् उत्पन्न करता है 'धिया धिया' अर्थात् तत्तद्काल मे होने वाली तत्तद्बुद्धि द्वारा 'कर्मभि' अर्थात् वाणी, मन और शरीर की चेष्टाओं से उत्पन्न कर देता है। यदि वह उपर्युक्त सप्तविध अन्न को उपासना और कर्म के द्वारा क्षणमात्र भी उत्पन्न न करे, तो निरन्तर खाये जाने के कारण वह 'क्षीयेत ह' नष्ट ही हो जाय। इसलिए (कर्तृत्व और भोक्तृत्व का एक दूसरे से सम्बन्ध होने के कारण) जैसे वह पुरुष अन्नों का निरन्तर भोक्ता है, वैसे ही अपनी प्रज्ञा और कर्म के अनुसार उन्हे उत्पन्न भी करता है। अत सदा-सर्वदा कर्ता होने के कारण पुरुष अविनाशी है। अत (अक्षयहेतुक होने से) निरन्तर उपभोग करने पर भी वह अन्न नष्ट नहीं होते हैं, यह इसका अर्थ है।

---

१ उपपादितम् । २ भोक्तृपितृत्वम् । ३ स्थूलसूक्ष्मरूपम् । ४ साध्यसाधनरूपम् । ५ चेष्टितैरिति—विमतोऽन्नभोक्ता अन्नाक्षयहेतु तद्भोगकालेऽपि सातत्येन तज्जनकत्वात् सम्प्रतिपन्नवदित्यन्वय, यत्र भोक्तृत्वे सति तज्जनकत्वाभाव तत्र तदक्षयाभाव इति व्यतिरेक । ६ एव । ७ कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्मिथो बद्धत्वात् । ८ अक्षयहेतो सत्त्वात् । ९ अन्नानामक्षयत्वात् । १० तस्मादिति--शास्त्रीयाशास्त्रीयज्ञानकर्मसमूहेनाविदुष पुरुषस्य भोगावस्थायामपि सर्वान्नसृष्टृत्वसंभवादित्यर्थ । ११ प्रवाहात्मनेतीति—तथाहि उपार्जितज्ञानकर्मणो सुखादिसाक्षात्काराख्य फल तच्च स्वसजातीयविषयकरागाद्युत्पादक तत्पुन शुभाशुभे कारयति ते च कर्तरि फल जनयत इति प्रवाहरूपेणेत्यर्थ । १२ ज्ञानकर्मभ्याम् ।

संहतानेकप्राणिकर्मवासनासंतानावष्टब्धत्वात्क्षणिको'ऽशुद्धोऽसारो ,'नदीस्रोत.प्रदीपसंतान'-कल्पः कदलीस्तम्भवदसारः फेनमायामरीच्यम्भ.स्वप्नादिसमस्त'दात्मगतदृष्टीना'मविकीर्य-माणो नित्यः सारवानिव लक्ष्यते । 'तदेतद्वैराग्यार्थमुच्यते---'धिया धिया जनयते कर्मनिर्यद्वैतन्न कुर्यात्क्षीयेत हेति । 'विरक्ताना ह्यस्माद्ब्रह्मविद्याऽऽरब्धव्या 'चतुर्थप्रमुखेने-(णे)ति ।

यो वैतामक्षितिं वेदेति 'वक्ष्यमाणान्यपि त्रीण्यन्नान्यस्मिन्नवसरे व्याख्यातान्येवेति कृत्वा तेषां याथात्म्यविज्ञानफल"मुपसंह्रियते---यो वैतामक्षितिमक्षयहेतुं यथोक्तं वेद

कोऽपि नित्य इव लक्ष्यते । तत्र हेतु —सहतेति । सहताना मिथ सहायत्वेन स्थितानामनेकेषां प्राणिना-मनन्तानि कर्माणि वासनाश्च तत्सतानेनावष्टब्धत्वाद्दृढीकृतत्वादिति यावत् । प्रातीतिकमेव ससारस्य स्थैर्यं न तात्त्विकमिति वक्तु विशिनष्टि —नदीति । असारोऽपि सारवद्भातीत्यत्र दृष्टान्तमाह—कदलीति । अशुद्धोऽपि शुद्धवद्भातीत्यत्रोदाहरणमाह—मायेत्यादिना । अनेकोदाहरण ससारस्यानेकरूपत्वद्योत-नार्थम् । केषां पुनरेव समारोऽन्यथा भातीत्यपेक्षाया" ससाराय पराग्दृशामिति न्यायेनाऽऽह—तदात्मेति । किमिति प्रतिक्षणप्रध्वसि जगदिति श्रुत्योच्यते तत्राऽऽह—तदेतदिति । वैराग्यमपि कुत्रोपयुज्यते तत्राऽऽह— विरक्ताना हीति । इति वैराग्यार्थवदिति शेष ।

पुरुषोऽन्नानामक्षयहेतुरित्युपपाद्य "तज्ज्ञानमनूद्य तत्फलमाह—यो वैतामित्यादिना । यथोक्तमनु-

ग्रत. (ग्रन्नो के अक्षय होने के कारण) प्रज्ञा ग्रौर कर्म से लक्षित समुदाय पर ग्रारूढ साध्य-साधनलक्षण एव क्रियाफलात्मक यह समस्त जगत् क्षणिक, ग्रशुद्ध, सारविहीन, नदी के प्रवाह ग्रौर प्रदीप की ज्योति के समान (चचल) कदलीस्तम्भ की तरह ग्रसार, मृगतृष्णा, जल की फेन व स्वप्न की तरह ग्रसत्य होकर भी, जिनकी दृष्टि ससार के स्वरूप मे ग्रासक्त है, उन बहिर्मुखी जीवो को ग्रविशीर्यमाण, नित्य ग्रौर सारयुक्त सा दिखायी पडता है, क्योकि समष्टिरूप से ग्रनेक प्राणियो के ग्रनन्त कर्म ग्रौर उसकी वासना की परम्परा से सम्बद्ध हो सुस्थिर जान पडता है । यथोक्त जगत से वैराग्य के लिए श्रुति ऐसा कहती है—"तत्तद्काल मे होने वाली तत्तदबुद्धि वाणी, मन ग्रौर शरीर की चेष्टाग्रो से उत्पन्न कर देता है । वह उत्पन्न न करे तो नष्ट ही हो जाय" इत्यादि । जो इस जगत् के प्रति रागशून्य हैं, उन्ही के लिए बृहदारण्यक के चौथे ग्रध्याय की (बृहदारण्यकोपनिषद के द्वितीय ग्रध्याय की ब्रह्मविद्या प्रारम्भ करनी है ।

"जो इसे ग्रविनाशी जानता है' इस श्रुतिवाक्य से ग्रागे कहे जाने वाले तीन ग्रन्नो की इस प्रसग मे व्याख्या कर दी गई है ऐसा समझकर उनके याथात्म्यविज्ञान के फल को प्रदर्शित किया

१ कामादिदुष्ट । २ स्रोत इव । ३ प्रदीपसतान इव च । ४ ससारस्वरूपगतदृशाम् । ५ अविशी-र्यमाण । ६ यथोक्त जगत् । ७ विरक्तानामिति–न हि जगति रागवता मोक्षापेक्षा दृष्टेति भाव । ८ चतुर्थाद्यध्यायेनत्यर्थं । चतुर्थत्व च बृहदारण्यापेक्षया उपनिषदपेक्षया तु द्वितीयत्वम् । ९ साधनभूतान्ने व्याख्याते साध्यभूतान्नमप्यर्थाद्व्याख्यातमेवेति कृत्वा मध्ये फलवचनमिति ध्येयम् । १० प्रदर्श्यते । ११ तदुक्त वार्तिके—'अपामार्गलतेवाय विरुद्धफलदो भव । प्रत्यग्दृशा विमोक्षायेत्यादि ' त्रिपादी द्रष्टव्या ।। १४२७।। १२ पुरुष-निष्ठात्राक्षयहेतुत्वज्ञानम् ।

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुता-
न्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति
[1]मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। कामः संकल्पो
विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं

उस पिता ने तीन अन्न अपने लिये बनाया अर्थात् मन, वाणी और प्राण इन्हे प्रजापति ने अपने लिए सुरक्षित रखा। मेरा मन कहीं अन्य था, अतः मैं देख न सका। मेरा मन अन्यत्र था, इसीलिये मैं सुन न सका। मनुष्य की इस उक्ति से यही निश्चय होता है, वह मन से ही देखता है और मन से

पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत हेति। सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेत्यस्यार्थ उच्यते—मुखं मुख्यत्वं प्राधान्यमित्येतत्। [2]प्राधान्येनैवान्नाना पितुः पुरुषस्याक्षितित्वं यो वेद सोऽन्नमत्ति [3]नान्नं प्रति गुणभूतः सन्यथाऽज्ञो न तथा विद्वानन्नानामात्मभूतो भोक्तैव भवति न भोज्यतामापद्यते। स देवानपिगच्छति स ऊर्ज-मुपजीवति देवानपिगच्छति देवात्मभाव प्रतिपद्यत ऊर्जममृत चोपजीवतीति यदुक्तं सा प्रशंसा [7]नापूर्वार्थोऽन्योऽस्ति ॥ २ ॥

वदिति—पुरुष इति। फलविषयं मन्त्रपदमुपादाय तदीय ब्राह्मणमवतार्य व्याकरोति—सोऽन्नमित्यादिना। यथोक्तोपासनवतो यथोक्तं फलम्। प्राधान्येनैव सोऽन्नमत्तीति सबन्ध। विदुषोऽन्नं प्रति गुणत्वाभावे हेतुमाह—अन्नानामिति। उक्तमर्थं सगृह्णाति—भोक्तैवेति। 'प्रशस्तिसिद्धये 'प्रपञ्चयति—स देवानित्या-दिना ॥ २ ॥

जाता है। जो भी इस 'अक्षितिम्' अर्थात् उपरोक्त अक्षय के हेतु को, कि "पुरुष ही अविनाशी है, वही तत्तत्काल मे होने वाली तत्तद्बुद्धि और कर्मों से इस अन्न को उत्पन्न कर देता है, यदि वह उत्पन्न न करे तो बिल्कुल क्षीण ही हो जाय"—ऐसा जानता है (वह प्रतीक के द्वारा अन्न को खाता है) 'सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति' इस श्रुतिवाक्य का अर्थ कहा जाता है। 'मुखम्' मुख्य या प्रधान का नाम है। जो अन्नो के स्रष्टा को अविनाशी जानता है वह मुख्यवृत्ति से अन्न का भक्षण करता है, गौणवृत्ति से नही करता है। जिस प्रकार अनात्मवित अन्नो का अनात्मभूत होता है, वैसे विद्वान् नहीं होता। वह भोक्ता ही रहता है, भोज्यता को प्राप्त नहीं होता। "स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुप-जीवति" इस श्रुतिवाक्य मे 'देवानपिगच्छति' यानी देवात्मभाव को प्राप्त होता है, 'ऊर्जम' अर्थात् अमृत

---

१ मनसा ह्येवेति—अत्र मनस एव ज्ञानमात्र प्रत्यसाधारणकारणत्वेन कारणत्व विवक्षित न तु नैयायिकानामिव साधारणकारणत्वम्। चक्षुरादीन्द्रियाणा तु तत्सहकारित्वमात्रम्। अन्यत्रमना अभूवमित्यादिनैव साधारणकारणत्व-लाभेऽपि पुनर्मनसा ह्येवेत्याद्युक्तिरिति ध्येयम्। २ मुख्यवृत्त्या। ३ नान्न प्रतीति—अन्न प्रति गुणत्व तदर्थं दैन्यानुभव। तद्भोज्यत्व वा अधिकाशने हि अन्नेन भुज्यते पुमान् रोगोत्पादद्वारेति प्रसिद्धम्। ४ मन्त्रेण। ५ फलम्। ६ उपास्ते। ७ नापूर्वेति—सोऽन्नमत्तीत्यत्रैव देवभावादे सिद्धेरपूर्वार्थालाभाद्विद्यास्तुतिरेवेत्यर्थः। ८ उपास्ते। ९. मन्त्रार्थं कथयति।

मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सा[१]। [१]एषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥३॥

ही सुनता है। काम, सकल्प, सशय, आस्तिक्य, बुद्धि, श्रद्धा, तद्विपरीत अश्रद्धा, धारणशक्ति, अधृति, लज्जा, बुद्धि और भय ये सब मन ही है। इसीलिए पृष्ठभाग म स्पर्श किये जाने पर मानव मन से जान लेता है। जो कुछ भी शब्द है, वह वाकरूप ही है, क्योकि वह अपने वाच्य अर्थ के पयवसान मे अनुगत है। इमीलिए वह प्रकाश्य नही है। प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान और अन ये सब प्राण ही हैं अर्थात् प्राण के ही पाच भेद हैं। यह शरीररूप आत्मा वाङमय, मनामय और प्राणमय ही है ॥३॥

पाङ्क्तस्य कर्मण. फलभूतानि यानि त्रीण्यन्नान्यु[२]पक्षिप्तानि तानि कार्यत्वाद्विस्तीर्णविषयत्वाच्च पूर्वेभ्योऽन्नेभ्य [३]पृथगुत्कृष्टानि तेषा व्याख्यानार्थं उत्तरो ग्रन्थ आ ब्राह्मणपरिसमाप्ते. । त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति । कोऽस्यार्थ इत्युच्यते—मनोवाक्प्राणा एतानि त्रीण्यन्नानि तानि मनो वाच प्राण [४]चाऽऽत्मने आत्मार्थमकुरुत कृतवान्सृष्ट्वाऽऽदौ पिता ।

तेषा मनसोऽस्तित्व स्वरूप च प्रति सशय इत्यत आह—अस्ति तावन्मन. श्रोत्रादि-

साधनात्मकमन्नचतुष्टयमन्नाश्रयकारणमक्षितित्वगुण[५]प्रक्षेपेण पुरुषोपासनस्य फल चोक्तमिदानीमा ब्राह्मणसमाप्तेरुत्तरग्रन्थस्य तात्पर्यमाह—पाङ्क्तस्येत्यादिना । ब्राह्मणशेषस्य तात्पर्यमुक्त्वा मन्त्रपदमनूद्याऽऽकाङ्क्षाद्वारा ब्राह्मणमुत्थाप्य व्याचष्टे—त्रीणीत्यादिना । ज्ञानकर्मभ्या सप्तान्नानि सृष्ट्वा चत्वारि भोक्तृभ्यो [६]विभज्य त्रीण्यात्मार्थं कल्पादौ पिता कल्पितवानित्यर्थं ।

अन्यत्रमनाइत्यादि वाक्यमुपादत्ते—तेषामिति । षष्ठी निर्धारणार्था । [७]तत्र मनसोऽस्तित्वमादौ साधयति—अस्ति तावदिति । [८]अस्मेन्द्रियार्थसानिध्ये सत्यपि कदाचिदेवार्थधीर्जायमाना हेत्वन्तर

का उपजोवी होता है ऐसा जा कहा है वह उपासना की प्रशसा है विधि स्तुति क अतिरिक्त कोई अन्य अपूर्व अर्थ नहा है ॥४॥

श्रुतिवाक्य म पाङ क्तकर्म के फलभूत जिन तीन अन्नो का ऊपर कथन किया गया है वे कार्यत्व और विस्तीर्णविषयत्व होने के कारण पूर्वोक्त अन्नो से पृथक किए गए है। उनको व्याख्या के लिए इम पञ्चम ब्राह्मण की समाप्तिपय त अग्रिम ग्रन्थ (का आरम्भ किया जाता) है। त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति

१ एषा हि वाक अन्तमायत्ता अभिधयावसानमनुगता । अर्थनिर्णय प्राप्ता । अर्थप्रकाशिकेति यावत् । एषा हि न स्वय चैषा वाक न वागन्तरप्रकाश्येत्यर्थ । २ मन्त्र कथितानि । ३ पृथक्कृतानि । ४ इतरचतुष्टयविनियोग दृष्टान्तयितु चकार । ५ आरोपेण । ६ विभागेन दत्त्वा तानि तेषु विनियुज्येत्यर्थं । ७ अस्तित्वस्वरूपयोमध्ये । ८ आत्मा प्रमातृ चित ।

बाह्यकरणव्यतिरिक्तम्। यत एवं प्रसिद्धं 'बाह्यकरणविषयात्मसंबन्धे सत्यप्यभिमुखीभूतं विषयं न गृह्णाति किं दृष्टवानसीदं' रूपमित्युक्तो वदत्यन्यत्र मे 'गतं मन आसीत्सोऽहमन्यत्रमना आसं नादर्शम्। तथेदं श्रुतवानसि मदीयं वच इत्युक्तोऽन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषं न श्रुतवानस्मीति। तस्माद्यस्यासंनिधौ रूपादिग्रहणसमर्थस्यापि सतश्चक्षुरादेश्च स्वस्वविषयसंबन्धे रूपशब्दादिज्ञानं न भवति। यस्य च भावे भवति तदन्यदस्ति मनो नामान्तःकरणं सर्वकरणविषययोगीत्यवगम्यते। तस्मात्सर्वो हि लोको मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति तद्व्यग्रत्वे दर्शनाद्यभावात्।

माक्षिपति न चादृष्टादि तदिति पूर्वं तस्य दृष्टमंपादित्वा तस्मादर्थादिसांनिध्ये ज्ञानकादाचित्कत्वानुपपत्तिर्मनःसाधिकेत्यर्थः। लोकप्रसिद्धिरपि तत्र प्रमाणमित्याह—यत इति। अतोऽस्ति बाह्यकरणाद्व्यतिरिक्तं विषयग्राहि करणमिति शेषः। तामेव प्रसिद्धिमुदाहरणनिष्ठतयोदाहरति—किं दृष्टवानित्यादिना। तत्रैवान्वयव्यतिरेकावुपन्यस्यति—तस्मादिति। यथोक्तार्थापत्तिलोकप्रसिद्धिवशादिति यावत्। विमतमात्माद्यतिरिक्तापेक्षं तस्मिन्सत्यपि कादाचित्कत्वाद्घटवदित्यनुमानं च तच्छब्दार्थः। तस्मादनुमानादिमानादन्यदस्ति मनो नामेति संबन्धः। रूपादिग्रहणसमर्थस्यापि सत इति प्रमातोच्यते। अन्तःकरणस्य चक्षुरादिभ्यो वैलक्षण्यमाह—सर्वेति। समनन्तरवाक्यं फलितार्थविषयत्वेनाऽऽदत्ते—तस्मादिति। तच्छब्देनोक्तं हेतुं स्पष्टयति—तद्व्यग्रत्व इति।

इस श्रुतिवाक्य का क्या अर्थ है? इसे बतलाया जाता है। मन, वाक् और प्राण ये तीन अन्न हैं; उन मन, प्राण और वाणी को सृष्टि के प्रारम्भ में पिता ने प्रथम उत्पन्न कर उन्हें 'आत्मने' यानी अपने लिए 'कुरुत' अर्थात् कल्पित किया।

उनमें मन के अस्तित्व और स्वरूप के विषय में सन्देह है, इसलिए श्रुति प्रतिपादन करती है। मन श्रोत्रादि-बाह्येन्द्रियों से भिन्न है, क्योंकि लोकव्यवहार में यह प्रसिद्ध है कि पुरुष बाह्येन्द्रिय, विषय और आत्मा का सम्बन्ध होते हुए भी अपने सामने होने वाले विषयों को ग्रहण नहीं करता। तथा 'क्या तुमने इस रूप को देखा है' ऐसा पूछे जाने पर कह उठता है 'मेरा मन कहीं दूसरी जगह था, अतः अन्यत्रमना होने से मैंने इसे नहीं देख पाया'। एवं यह पूछे जाने पर कि 'क्या तुमने मेरी बात सुनी है' तो कहता है, "मैं अन्यत्र मन वाला था, इसलिए 'नाश्रौषम्' यानी नहीं सुनो।" इसलिए जिसकी सन्निधि के अभाव में, रूपादिग्रहण में समर्थ नेत्रादि के होते हुए भी उन्हें अपने अपने विषय का सम्बन्ध होने पर रूप एवं शब्दादि का ज्ञान नहीं होता। जिसकी सन्निधि होने पर वह होता है; वह उन नेत्रादि-इन्द्रियों से भिन्न, समस्त इन्द्रियों के विषयों से सम्बन्ध रखने वाला मननामक अन्तःकरण है, ऐसा सिद्ध होता है। इसलिए सभी मनुष्य मन से ही देखते हैं और मन से ही सुनते हैं क्योंकि उसके अन्यत्र लगा हुआ होने पर दर्शनस्पर्शनादि क्रिया नहीं होती।

---

१. बाह्येति—विमत (ज्ञान) आत्मादिव्यतिरिक्तासाधारणकारणपूर्वकं सत्यपि तस्मिन्कादाचित्कत्वादिति परिशेषानुमानान्मनोऽस्तित्वमिह बोध्यम्। २. स्वसमीपे गच्छद्राजाद्यात्मक वस्तु। ३. इष्वादौ। ४ व्यापृतम्। ५ सन्निधिसत्त्वे। ६ अन्यत्रव्यापृतत्वे। ७ आदिना स्पर्शनादि। ८. अन्यथासत्यां सामग्र्यां ज्ञानकादाचित्कत्वानुपपत्तिरिति शेषः। ९. अदृष्टं हि सामग्रीरूपद्वारार्थं सम्पादयति न तु साक्षात्कार्यं जनयति। १० पारिशेष्यात्। ११ इषुकारप्रसिद्धिः। १२. मनःसत्त्व एव। १३. तस्मादित्यस्यार्थः।

'अस्तित्वे सिद्धे मनसः स्वरूपार्थमिदमुच्यते—कामः स्त्रीव्यतिकराभिलाषादिः।' 'संकल्पः प्रत्युपस्थितविषयविकल्पनं शुक्लनीलादिभेदेन। विचिकित्सा संशयज्ञानम्। श्रद्धा ऽदृष्टार्थेषु कर्मस्वास्तिक्यबुद्धिर्देवतादिषु च। अश्रद्धा तद्विपरीता बुद्धिः। धृतिर्धारणं देहाद्यवसादे उत्तम्भनम्। अधृतिस्तद्विपर्ययः। ह्रीर्लज्जा। धीः 'प्रज्ञा। भीर्भयमित्येतदेवमादिकं 'सर्वं 'मन एव मनसोऽन्तःकरणस्य 'रूपाण्येतानि। मनोऽस्तित्वं प्रत्यन्यच्च कारणमुच्यते। "तस्मान्मनो नामास्त्यन्तःकरणम्। यस्माच्चक्षुषो ह्यगोचरे पृष्ठतोऽप्युपस्पृष्टः केनचिद्धस्तस्यायं स्पर्शो जानोरयमिति" "विवेकेन प्रतिपद्यते। यदि विवेककृन्मनो नाम

कामादिवाक्यमवतार्य व्याकुर्वन्मनसः स्वरूपं प्रति संशयं निरस्यति—अस्तित्व इति। अश्रद्धाविवर्द"कामादिरपि विवक्षितोऽत्रेति मत्वा "मनोबुद्ध्योरैकत्वमुपेत्योपसंहरति—इत्येतदिति। "द्वैतप्रवृत्त्युन्मुखं मनो भोक्तृकर्मवशान्नानार्थाकारेण "विवर्तत इत्यभिप्रेत्यानन्तरवाक्यमवतारयति—मनोऽस्तित्वमिति। तदेवान्यत्कारणं स्फोरयति—यस्मादिति। तस्मादस्ति विवेककारणमन्तःकरणमिति सम्बन्ध। चक्षुरसंप्रयोगात्तेन "स्पर्शविशेषादर्शनेऽपि "सम्प्रयुक्तया त्वचा विनाऽपि मनोविशेषदर्शनं स्यादि-

इस प्रकार (धर्मी के होने पर ही तद्गतधर्म सम्भव है, इस न्याय से) मन का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर उसके स्वरूप के विषय में कहा जाता है। 'काम' यानी स्त्री-सम्पर्क की अभिलाषादि, 'संकल्प' अर्थात् उपस्थित विषय की शुक्ल-नीलादि भेद से विकल्पना करना, 'विचिकित्सा' अर्थात् संशयज्ञान, 'श्रद्धा' अर्थात् अदृष्ट-स्वर्गादिफलक कर्मों एवं देवतादिकों में आस्तिक्य भावना, 'अश्रद्धा' अर्थात् पूर्वोक्त से विपरीत भावना, 'धृति' अर्थात् धारणा यानी देहादि के क्षीण होने पर स्थिति बनाए रखना, 'अधृति' अर्थात् पूर्ववर्णित से विपरीत होना, 'ह्रीः' अर्थात् लज्जा, 'धी' यानी निश्चयज्ञान, 'भी' यानी भय इत्यादि सभी मन ही हैं। ये सभी 'मनस' अर्थात् अन्तःकरण के रूप हैं। मन के अस्तित्व के विषय में एक और भी कारण बतलाया जाता है। इससे (वक्ष्यमाण हेतु से) भी मननामक अन्तःकरण की सत्ता है क्योंकि नेत्र के सामने न आने पर भी किसी के द्वारा पीठ पर स्पर्श किये जाने पर मनुष्य विभाग से यह जान लेता है कि यह हाथ का, यह जानु का स्पर्श है। यदि विवेक करने वाला मन न हो तो त्वचा मात्र से ऐसा विभागपूर्वक निश्चय किस प्रकार हो सकता है? जो उस विवेकनिश्चय का हेतु है, वही मन है।

कामदयश्च मनसो धर्मा अपि तत्परि-
१ अस्तित्वे सिद्ध इति—सति धर्मिणि धर्माणां चिन्तेति न्यायादिति शेषः। ३ सकल्प इति—सामान्यतो दृष्टस्य
णामतया तत्स्वरूपम्। २ स्त्र्यतिरिक्तविषयाभिलाषग्राहक आदिशब्दः। ५ धारणमिति—"धारणं च धृति-
विशेषतोऽवधारणं काममूलं सकल्प इत्यर्थः। ४ अदृष्टस्वर्गादिफलकेषु। ६ प्रज्ञा—सामा-
ज्ञेया बुद्ध्योपात्तस्य वस्तुनः" ॥१३॥ इति वार्तिके। चकारेण देहाद्युत्तम्भनमपि संगृहीतम्। मनोमात्रत्वाद्द्वैतस्य।
न्यतो निश्चयज्ञानमिति सकल्पतो भेदः। ७ देहेन्द्रियादि प्रपञ्चजातं सर्वमिति विवक्षितं तादात्म्यं तयोर्ग्राह्यम्।
८ मन एवेति। न च निमित्तनैमित्तिकत्वेन सामानाधिकरण्यं कुलालादावदृष्टत्वादिति १२ विभागेन। १३
९ रूपाणि वृत्तयः वृत्तितद्वतोरभेदादिति भावः। १० वक्ष्यमाणहेतो। ११ उक्तविशेषम्। तादात्म्यं कामादे
धृत्याद्यभावोक्त्यैव कामाद्यभावोक्ते तद्विना तदसंभवादिति भावः। १४ ननु बुद्धिं हित्वा मनसा भोक्तृभोगवैष-
किमुच्यते। तत्राह—मनोबुद्ध्योरिति। १५ द्वैतेति—ननु सर्वं मनोमात्रं चेद् देहेन्द्रियावैचित्र्याद्
म्यमपि न स्यादित्याशङ्क्येत्यादि। १६ परिणमते। १७ चक्षुषा। १८ संनिकृष्टया।

नास्ति तर्हि त्वङ्मात्रेण कुतो 'विवेकप्रतिपत्तिः स्यात् । यत्तद्विवेकप्रतिपत्तिकारणं तन्मनः ।

'अस्ति तावन्मनः स्वरूपं च तस्या'धिगतम् । त्रीण्यन्नानीह' फलभूतानि 'कर्मणां मनोवाक्प्राणाख्यान्यध्यात्ममधिभूतमधिदैवं च व्याचिख्यासितानि । तत्राऽऽध्यात्मिकानां वाङ्मनःप्राणानां मनो व्याख्यातम् । अथेदानीं वाग्वक्तव्येत्यारम्भः—यः कश्च लोके शब्दो ध्वनिस्तालवादिव्यङ्ग्यः प्राणिभिर्वर्णादिलक्षण इतरो वा वादित्रमेघादिनिमित्तः सर्वो ध्वनिर्वागेव सा ।

'इदं तावद्वाचः स्वरूपमुक्तम् । अथ तस्याः कार्यमुच्यते—एषा वागिग 'यस्मादन्त-

---

त्याशङ्क्याऽऽह—यदीति । त्वङ्मात्रस्य 'स्पर्शमात्रग्राहित्वेन 'विवेचकत्वायोगादित्यर्थः । विवेचके कारणान्तरे सत्यपि कुतो मन.सिद्धिस्तत्राऽऽह—यत्तदिति ।

''वृत्तं कीर्तयति—अस्ति तावदिति । उत्तरग्रन्थमवतारयितुं भूमिकां करोति—त्रीणीति । एवं भूमिकामारचय्याऽऽध्यात्मिकवाग्व्याख्यानार्थं यः कश्चेत्यादि वाक्यमादाय व्याकरोति—अथेत्यादिना । शब्दपर्यायो ध्वनिर्द्विविधो वर्णात्मकोऽवर्णात्मकश्च । तत्राऽऽद्यो व्यवहर्तृभिस्तालवादिस्थानव्यङ्ग्यो द्वितीयो मेघादिकृतः । स सर्वोऽपि प्रकृता वागेवेत्यर्थः ।

प्रकाशकमात्रं वागित्युक्त्वा ''तत्र प्रमाणमाह—इद तावदिति । तस्मादभिधेयनिर्णायकत्वा''न्ना-

---

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि मन है और उसका स्वरूप भी ज्ञात हो गया । यहाँ कर्मों के फलभूत मन, वाक् और प्राणसंज्ञक अध्यात्म अधिभूत और अधिदैव तीन अन्नों की व्याख्या करनी है । उनमें से आध्यात्मिक वाक्, मन और प्राणों में से मन की व्याख्या तो कर दी । अब इसके बाद वाक् का निरूपण करना है, इसलिए उसका उपक्रम किया जाता है । लोकव्यवहार में जो कुछ भी मनुष्यों द्वारा तालु आदि से व्यक्त होने वाला वर्णादिसंज्ञक शब्द यानी ध्वनि है तथा वादक यन्त्र मेघादि-निमित्तक ध्वनि है, सभी वाक् ही है ।

यह तो वाक का स्वरूप बतलाया गया । अब उसका कार्य बतलाते हैं । यह वाक् ही 'अन्तम्'

---

१ विवेकेन निश्चय । २ अधिगतमिति- विमतमसाधारणकारणकरणजन्य विशेषज्ञानत्वाद्रूपज्ञानवदित्यनुमानेन विज्ञातमित्यर्थ । तदनन्तर च तस्मादित्यादिना देहेन्द्रियादि महतिमनामात्वेनाधिगतेत्यपि द्रष्टव्यम् । ३ अन्नाधिकारे । ४ उपास्त्युपलक्षणम् । ५ य' कश्चशब्द इत्यविशेषेण ध्वनिमात्र त्तो सिद्धमर्थं वदन् वागेव-त्यस्यार्थमाह—तालवादीति । तालवादिना कोष्ठगतवायो सयोगात्समुत्थित प्राणिभिरुच्चार्यमाणोध्वन्यपरपर्यायो य कश्चन शब्द अभिधेयप्रकाशकमात्रमिति यावत् । ६ प्रकाशकमात्र शब्दसामान्यमत्राधिक वार्तिकतोऽव-सेयम । ७ यस्मादिति--यतोऽभिधेयनिश्चयपर्यन्त वाक् प्रवृत्ताऽतोऽभिधेयज्ञान तत्कार्यम् । ८ विशेषणपदा-व्यावर्तको मात्र । ९ विवेचकत्वायोगादिति- यद्यपि चक्षुर्वत् त्वचो द्रव्यग्राहकत्वात्तद्विशेषपरपरास्तया ज्ञातु शक्य-स्तथापि असमाहितस्य हस्तादिना स्पृष्टस्य स्पर्शमात्रमात्रो प्रतिपद्य तद्विशेषमातोच्यात्वलयतो मनसैव तदभिर्गति-रिति भाव । १० अन्यत्रेत्यादिना मन एवेत्यनेनोक्तमनुवदतीत्यर्थ । ११ तदस्तित्वेऽप्यापत्तिप्रमाणमाहेत्यर्थ । १२ नासाविति—तथा चाभिधेयनिश्चयाऽन्यथानुपपत्तिरेव तस्या अस्तित्व मानम् ।

मभिधेयावसानमभिधेयनिर्णयमायत्ताऽनुगता। एषा पुनः स्वयं नाभिधेयवत्प्रकाश्याऽभिधेयप्रकाशिकैव प्रकाशात्मकत्वात्प्रदीपादिवत्। न हि प्रदीपादिप्रकाशः प्रकाशान्तरेण प्रकाश्यते तद्वद्वाक्प्रकाशिकैव स्वयं न प्रकाश्येत्यनवस्थां श्रुतिः परिहरत्येषा हि नेति न प्रकाश्या प्रकाशकत्वमेव वाचः कार्यमित्यर्थः।

अथ प्राण उच्यते—प्राणो मुखनासिकासंचार्या हृदयवृत्तिः प्रणयनात्प्राणः। अपनयनान्मूत्रपुरीषादेरपानोऽधोवृत्तिरानाभिस्थानः। व्यानो व्यायमनकर्मा व्यानः प्राणापानयोः संधिर्वीर्यवत्कर्महेतुश्च। उदान उत्कर्षोर्ध्वगमनादिहेतुरापादतलमस्तकस्थान ऊर्ध्ववृत्तिः।

सावपलापार्हेति शेषः। वाचोऽपि प्रकाश्यत्वात्कथं प्रकाशकमात्रं वागित्युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—एषेति। दृष्टान्तं समर्थयते—न हीति। प्रकाशान्तरेण सजातीयेनेति शेषः। प्रकाशिकाऽपि वाक्प्रकाश्या चेत्तत्रापि प्रकाशकान्तरमेष्टव्यमित्यनवस्था स्यात्तन्निरासार्थमेषा हि नेति श्रुतिः। प्रकाशकमात्रं वागित्याह। स्वपरनिर्वाहकस्तुशब्दः। 'तस्मात्प्रकाशकत्वं कार्यं 'यत्र दृश्यते तत्र वाचः स्वरूपमनुगतमेवेत्याह—तद्वदित्यादिना।

आध्यात्मिकप्राणविषयं वाक्यमवतार्य व्याकरोति—अथेति। मुखादौ संचार्या संचरणार्हा हृदयसंबन्धिनी या वायुवृत्तिः, तत्र प्राणशब्दप्रवृत्तौ निमित्तमाह—प्रणयनादिति। पुरतो निःसरणादिति यावत्। हृदयादधोदेशे वृत्तिरस्येत्यधोवृत्तिरानाभिस्थानो हृदयादारभ्य नाभिपर्यन्तं वर्तमान इति यावत्। व्यायमनं प्राणापानयोर्नियमन कर्मास्येति तयोक्तः। वीर्यवत्कर्माण्यग्न्युत्पादनादि। उत्कर्षो देहे पुष्टिः। आदिपदेनोत्क्रान्तिरुक्ता। प्राणशब्देनानशब्दस्य पुनरुक्तिमाशङ्क्याह—अन इत्ये-

---

अर्थात् अभिधेयावसान या अभिधेय-निर्णय के 'आयत्ता' अर्थात् अधीन है। यह अभिधेय के समान स्वयं प्रकाश्य नहीं है, यह तो अभिधेय को प्रकाशित करने वाली ही है, क्योंकि प्रदीपादि के प्रकाश के समान यह प्रकाशस्वरूपा ही है। प्रदीपादि का प्रकाश प्रकाशान्तर से प्रकाशित नहीं होता है। उसी प्रकार वाक् भी प्रकाशिका ही है, वह स्वयं किसी के द्वारा प्रकाश्या नहीं है, इस प्रकार अनवस्था दोष को श्रुति निवृत्त करती है क्योंकि यह वाक् प्रकाश्या नहीं है। इसका भाव यह है कि प्रकाशकत्व ही वाक् का कार्य है।

अब (वाक् और मन का व्याख्यान कर उनके विधारक) प्राण का प्रतिपादन किया जाता है। "प्राण" अर्थात् मुख और नासिका में सञ्चरित हृदयपर्यन्त जो वायुवृत्ति है, वह सामने निःसरण होने के कारण प्राण कहलाती है। मल मूत्र अधः निःसरण करने के कारण नाभिप्रदेशतक रहने वाली वायु की अधोवृत्ति अपान है। प्राण और अपान के निःसरण का नियमन करने वाला तथा प्राण और अपान का मध्यस्थ वीर्यवान् कर्मों का हेतुक व्यान है। देह की पुष्टि और उत्क्रान्ति आदि का हेतु, तथा जिसकी पादतल से लेकर मस्तकपर्यन्त स्थान एवं ऊर्ध्ववृत्ति है, वह उदान है। खाये एवं पीये गए पदार्थों को सम करने के कारण अन्न को पचाने वाला उदरस्थ वायु समान है। वायुसामान्य 'अन' यह इन विशेष-

---

१ अथेति—वाङ्मनसयोः प्रविभागशः सम्यग्व्याख्यानानन्तरं तयोर्विधारकः प्राणो व्याख्यायत इत्यर्थः। २ प्राणापानयोर्मध्यस्थ। ३ वाचः प्रकाशकमात्रत्वात्। ४ सूर्यादौ। ५ निःसरणे नियमनम्।

समानः समं नयनाद्भुक्तस्य पीतस्य च कोष्ठस्यानोऽन्नपक्ता । [1]अन इत्येषां वृत्तिविशेषाणां [2]सामान्यभूता सामान्यदेहचेष्टाभिसंबन्धिनी वृत्तिः । एवं यथोक्तं प्राणादिवृत्तिजातमेतत्सर्वं प्राण एव ।

[3]प्राण इति वृत्तिमानाध्यात्मिकोऽन उक्तः । कर्म चास्य वृत्तिभेदप्रदर्शनेनैव [4]व्याख्यातम् । व्याख्यातान्याध्यात्मिकानि मनोवाक्प्राणाख्यान्यन्नान्येतन्मय[5] एतद्विकारः प्राजापत्यैरेतैर्वाङ्मनःप्राणैरारब्धः । कोऽसावयं[6] कार्यकरणसंघात आत्मा [7]पिण्ड आत्मस्वरूपत्वेनाभिमतोऽविवेकिभिः । अविशेषेणैतन्मय इत्युक्तस्य विशेषेण [8]वाङ्मयो मनोमयः प्राणमय इति स्फुटीकरणम् ॥३॥

पामिति ॥ ३ ॥

[9]तथाऽपि [10]तृतीयस्य प्राणशब्दस्य [11]ताभ्या पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—प्राण इतीति । [12]साधारणासाधारणवृत्तिमान्प्राण इत्यपौनरुक्त्यमित्यर्थ । मनसो दर्शनादिवद्वाचोऽभिधेयप्रकाशनवच्च प्राणस्यापि कार्यं वक्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—कर्म चेति । एतन्मय इत्यत्र मयटो विकारार्थत्व वृत्तसकीर्तनपूर्वकं कथयति—व्याख्यातानीति । आध्यात्मिकाना वागादीनामारम्भकत्वं वारयति—प्राजापत्यैरिति । आरब्धस्वरूप प्रश्नपूर्वकमनन्तरवाक्येन(ण) निर्धारयति—कोऽसाविति । कार्यकरणसघाते कथमात्मशब्दप्रवृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मस्वरूपत्वेनेति । वाङ्मय इत्यादिवाक्यस्य पूर्वेण पौनरुक्त्यमाशङ्क्याऽऽह—अविशेषेणेति ।

वृत्तियो की सर्वानुगत तथा देह की सामान्य चेष्टा से सम्बन्ध रखने वाली वृत्ति है । इस प्रकार यह उपरोक्त प्राणादि वृत्तिसमुदाय है, यह सब कुछ प्राण ही है ।

'प्राण' इस शब्द से वृत्तिमान् आध्यात्मिक वायुसामान्य कहा गया है । इसके कर्म की व्याख्या तो इसके वृत्तिभेद के प्रदर्शन से ही कर दी गई । इस प्रकार मन, वाक् और प्राणसज्ञक आध्यात्मिक अन्नो का प्रतिपादन किया गया । (अब पूर्वोक्त वागादिसमुच्चित स्वरूप को कहते —हैं) "एतन्मय" अर्थात इनका विकार इन प्राजापत्य वाक्, मन और प्राणों से आरम्भ किया हुआ है । यह (अपरोक्ष) कौन है ? यह जो कार्यकरण का सघात आत्मा यानी नामरूप कर्मों का समूह है, एव अविवेकियो द्वारा

---

१ वायुसामान्यम् । २ सर्वानुगता । ३ यद्वा इत्येतत्सर्वं प्राण एवेत्यत्र प्राणशब्दस्य प्रकृतवृत्तिविशेषपरामर्शित्वात्तस्य सर्वत्वानुपपत्तिरित्याशङ्क्यानन्तरोक्तानविषयत्वमाश्रित्याऽऽह—प्राण इति । तथा चोक्तम्—'प्राण शब्द पुरा प्रोक्तो वृत्तिमात्राभिधायक । अन्ते वृत्तिमदर्थं स्यात्सर्वं प्राण इतीरणादिति' ॥१५१॥ न हि वृत्तिरूपस्य सर्वस्य सर्वत्वमत साधारणस्यानशब्दोक्तस्य प्राणशब्देन परामृश्य सर्वत्वविधिरित्यर्थ ॥ ४ व्याख्यातमिति —वृत्तिविशेषाणां यत्कर्म तदेवास्य कर्मवृत्तितद्वतोरभेदादिति भाव । ५ उक्तानां वागादीना समुच्चित स्वरूपमाह—एतन्मय इति । ६ अपरोक्ष । ७ नामरूपकर्मणा समूह । ८ वाङमय इति—कथमेकस्य देहस्यानेकवागादिविकारत्वमित्याशङ्क्य समादधुर्वार्तिके— 'नामात्र वाङमय सर्वं रूप सर्वं मनोमयम् । तद्वत्प्राणमय कर्म देहस्यास्यैप सग्रह " ॥१५४॥ इति । ९ तथापीति—मनप्राणशब्दयो सामान्यविशेषरूपत्वेनापर्यायत्वेऽपीत्यर्थ । १० तृतीयस्येति -अनप्राणशब्दाभ्या तृतीयस्य । ११ अनप्राणशब्दाभ्याम् । १२ सामान्यविशेषरूपवृत्तिषट्कवान् ।

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्ष-
लोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥४॥
त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः
सामवेदः ॥५॥
देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः
प्राणो मनुष्याः ॥६॥
पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता वाङ्माता प्राणः
प्रजा ॥७॥

भू, भुवः और स्वः नाम के यही तीनों लोक हैं। उनमें वाणी ही यह लोक है, मन अन्तरिक्षलोक है और प्राण वह (स्वर्ग) लोक है ॥४॥

यही तीनों वेद हैं, वाक् ही ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है और प्राण सामवेद है ॥५॥

देवता पितृगण और मनुष्य भी यही हैं। वाक् देवता है, मन पितृगण है और प्राण मनुष्य है ॥६॥

पिता, माता तथा प्रजा भी यही हैं। वाक् माता है मन ही पिता है और प्राण प्रजा है ॥७॥

तेषामेव प्राजापत्यानामन्नानामाधिभौतिको विस्तारोऽभिधीयते—

त्रयो लोका भूर्भुवः स्वरित्याख्या एत एव वाङ्मनःप्राणास्तत्र विशेषो वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥४॥

तथा त्रयो वेदा इत्यादीनि वाक्यानि ऋज्वर्थानि ॥५॥६॥७॥

वागादीनामाध्यात्मिकविभूतिप्रदर्शनानन्तरमाधिभौतिकविभूतिप्रदर्शनार्थमुत्तरग्रन्थमवतारयति —तेषामेवेति। तत्रेत्युक्त[1]सामान्यं परामृशति ॥ ४ ॥

त्रिलोकीवाक्यवदुत्तर[2]वाक्य[3]विज्ञाताविज्ञातवाक्यात्प्राक्तनं नेतव्यमित्याह—तथेति ॥५॥६॥७॥

आत्मस्वरूप से माना गया है। 'सामान्यतया एतन्मय' इस प्रकार कहे हुए का ही विशेषरूप से "वाङ्मय मनोमय एवं प्राणमय" ऐसा कहकर स्पष्ट किया गया है ॥ ३ ॥

उन्हीं प्राजापत्य अन्नों का आधिभौतिक विस्तार प्रतिपादित किया जाता है। भूः भुवः और स्वः नामक ये तीनों लोक—वाक् मन और प्राण ही हैं। उसमें विशिष्टता यह है कि वाक् ही यह लोक है, मन अन्तरिक्षलोक है और प्राण वह स्वर्गलोक है ॥ ४ ॥

इसी प्रकार 'त्रयो वेदा—' इस श्रुतिमन्त्र से सातवें मन्त्र तक सभी श्रुतिवाक्य सरल अर्थ वाले हैं ॥ ५-७ ॥

---

१ विस्तृतिरित्यर्थः। २ लोकत्रयादिरूपम्। ३ वाक्यत्रयम्।

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत्किंच विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति ॥८॥ यत्किंच विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वाऽवति ॥९॥

विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात भी यही हैं। जो कुछ विस्पष्टरूप से ज्ञात है, वह वाक् का रूप है (प्रकाशक होने के कारण) वाक् ही विज्ञाता है। (इस प्रकार वाक् की विशेषता को जानने के लिए फल बतलाया गया है) इस जानने वाले की रक्षा वाक् विज्ञात होकर करती है ॥८॥

जो कुछ विस्पष्टरूप से जानने योग्य अभीष्ट है, वह सब मन का रूप है क्योंकि (मन ही संशय-रूप होने के कारण) विजिज्ञास्य है। मन के इस विभूति का जानने वाले की रक्षा मन ही विजिज्ञास्य होकर करता है ॥९॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव 'तत्र विशेषो यत्किंच विज्ञातं विस्पष्टं ज्ञातं वाचस्तद्रूपम्। तत्र स्वयमेव हेतुमाह—वाग्घि विज्ञाता प्रकाशात्मकत्वात्कथमविज्ञाता भवेद्याऽन्यानपि विज्ञापयति वाचा वै सम्राड्बन्धुः प्रज्ञायत इति हि 'वक्ष्यति। वाग्विशेष-विद इदं फलमुच्यते—वागेवैनं यथोक्तवाग्विभूतिविदं तद्विज्ञातं भूत्वाऽवति पालयति 'विज्ञातरूपेणैवास्यान्नं भोज्यता प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥८॥

तथा यत्किंच विजिज्ञास्यं विस्पष्टं ज्ञातुमिष्टं विजिज्ञास्य तत्सर्वं मनसो रूपं मनो

विज्ञातादिवाक्यमादाय तद्गत विशेष दर्शयति—विज्ञातमिति। विज्ञात सर्वं वाचो रूपमिति प्रतिज्ञातोऽर्थः समन्वयः। प्रकाशकत्वेऽपि कथ वाचो विज्ञातत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—कथमिति। प्रकाशात्मकत्वमेन कुतो वाच सिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—वाचेति। वाग्विशेषस्तद्विभूति ॥ ८ ॥

विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात ये ही हैं। उसमे जो कुछ विशिष्टता है, वह यह है कि जो कुछ 'विज्ञातम्' यानी विस्पष्टरूप से ज्ञान है, वह वाक् का ही रूप है। उसमें श्रुति स्वय ही कारण बतलाती है। प्रकाशात्मक होने से वाक ही विज्ञाता है। जो अन्य लोगो को विज्ञापित करती है, वह स्वय किस प्रकार अविज्ञात हो सकती है। इसे आगे श्रुतिवाक्य से प्रतिपादन किया जाएगा "हे सम्राट्! वाणी से ही बन्धुत्व को जाना जाता है' इत्यादि। वाक् के विशेषज्ञ के लिए यह फल बतलाया जाता है। 'एनम्' अर्थात वाक् की पूर्वोक्त प्रकार से विभूति जानने वाले का वाक् ही उसकी विज्ञाता होकर "अवति" अर्थात् पालन करती है या विज्ञातरूप से वही इसके वाक्रूप अन्न को यानी भोज्यता को प्राप्त होती है ॥ ८ ॥

इसी प्रकार जो कुछ 'विजिज्ञास्यम्' अर्थात् विस्पष्टरूप से जानने के लिए अभीष्ट है, वह सब

---

१ सामान्येनोक्तेषु तेषु। २ बृ०उ० ४।१।२। ३ पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—विज्ञातेति। विज्ञातरूपा या वाचो विभूतिविद नर वाग्देवता तद्रूपेण स्थित्वा भोगैरवतीति यावत्। ४ वाग्रूपमन्नम्।

यत्किंचाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति ॥१०॥

जो कुछ अविज्ञात है वह प्राण का ही रूप है क्योंकि प्राण ही अविज्ञात होकर अपनी विभूति को जानने वाले की रक्षा करता है ॥१०॥

हि यस्मात्संदिह्यमानाकारत्वाद्विजिज्ञास्यम्। पूर्ववन्मनोविभूतिविदः फलं मन एनं तद्विजिज्ञास्यं भूत्वाऽवति विजिज्ञास्यस्वरूपेणैवान्नत्वमापद्यते ॥९॥

तथा यत्किंचाविज्ञातं विज्ञानागोचरं न च 'संदिह्यमानं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातोऽविज्ञातरूपो हि यस्मात्प्राणोऽनिरुक्तश्रुतेः। विज्ञातविजिज्ञास्याविज्ञातभेदेन' वाङ्मनःप्राणविभागे स्थिते त्रयो लोका इत्यादयो' वाचनिका एव। 'सर्वत्र विज्ञातादिरूपदर्शनाद्वचनादेव 'नियमः 'स्मर्तव्यः। प्राण एनं तद्भूत्वाऽवत्यविज्ञातरूपेणैवास्य प्राणोऽन्नं

संदिह्यमानाकारत्वा'त्संकल्पविकल्पात्मकत्वादिति यावत्। तस्मात्सर्वं विजिज्ञास्यं मनोरूपमिति संबन्धः। पूर्ववद्वाग्विभूतिविदो यथा फलमुक्तं तद्वदिति यावत् ॥ ९ ॥

'अनिरुक्तश्रुतेरविज्ञातरूपो यस्मात्प्राणस्तस्मादविज्ञातं सर्वं प्राणस्य रूपमिति योजना। विज्ञानादिरूपातिरेकेण लोकवेदा'द्यभावाद्विज्ञातादिरूपत्वाभिधानेनैव वागादीनां लोकाद्यात्मत्वे सिद्धे किमर्थं त्रयो लोका इत्यादिवाक्यमित्याशङ्क्य तथैव ध्यानार्थमित्याह—विज्ञातेति। भूरादिष्वेकैकत्र विज्ञातादित्रय'दृष्टेर्वागादेश्च व्यवस्थितत्वात्कुतो विज्ञातादेर्वागाद्यात्मकत्वं नियन्तु शक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वत्रेति। प्राणविभूतिविद संप्रति फलं कथयति—प्राण इति। लोके विज्ञातस्यैव "भोज्यत्वोपल-

---

मन का रूप है क्योंकि मन का आकार भी जिज्ञासामय होने से वह विस्पष्टरूप से जानने योग्य है। पूर्वोक्त श्रुतिवाक्य के समान मन की विभूति जानने वाले का फल बतलाया जाता है। मन उसका 'तद्' यानी विजिज्ञास्य होकर उसकी रक्षा करता है अर्थात् वह विजिज्ञास्यरूप से ही अन्नत्व को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

जो कुछ भी 'अविज्ञातम' अर्थात् विज्ञान का अविषय है, जिज्ञास्यमान नहीं है वह प्राण का रूप है। प्राण ही अविज्ञात है क्योंकि (छान्दोग्य उपनिषद के) अव्यक्त श्रुतिवाक्य के अनुसार प्राण अविज्ञातरूप ही है। इस प्रकार विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञातरूप वाक, मन और प्राण के विभाग का निर्णय हो जाने पर भूरादि तीनों लोक केवल नियमार्थ है। भूरादि लोकों में सर्वत्र विज्ञातादि का

---

१ जिज्ञास्यमानम्। २ रूपेण। ३ चत्वार पर्याया वाचनिका भूराद्यात्मना वागादयो ध्येया इति नियमार्था एवेत्यर्थः। ४ भूरादिषु। ५ नियम—भूरादयो वागादय एवेति नियम। वार्तिके यथा— भूर्लोकादिषु सर्वेषु मनोवाक्प्राणलक्षणम्। यथासंभवमायोज्यमेकस्मिन्स्त्रय त्रयम्" ॥१६०॥ इति। अत्राद्य सप्तमीद्वय निर्धारणार्थं तथा च सर्वेषु भूरादिलोकेषु मध्ये एकैकस्मिन्नेव यथासंभवविज्ञातादित्रयमनतिक्रम्य मनोवाक्प्राणलक्षण त्रय त्रयमायोज्यमिति योजना। ६ यथासंभव नेय। ७ निश्चयसंशयात्मकत्वात्। ८ अनिरुक्त अव्यक्त (छा०उ० १-१३-३)। ९ आदिना देवादिः। १० दर्शनात्। ११ उपकारकत्वेत्यर्थ

तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद्या-
वत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥११॥

(प्रजापति के अन्नरूप से प्रस्तुत हुए) उस वाक् का पृथिवी बाह्य आधार और पृथिवी का आधेयस्वरूप यह पार्थिव अग्नि ज्योतिरूप प्रकाशात्मक कारण है उनमें जितने परिणामवाली (अध्यात्म और अधिभूत भेदवाली) वाक् है, उतनी ही उसके आधाररूप से व्यवस्थित पृथिवी है और उतना ही उस पृथिवी मे ज्योतिरूप से अनुप्रविष्ट आधेय एव कारण यह अग्नि है ॥११॥

भवतीत्यर्थः। शिष्यपुत्रादिभिः संदिह्यमानाविज्ञातोपकारका अप्याचार्यपित्रादयो दृश्यन्ते। तथा मन.प्राणयोरपि संदिह्यमानाविज्ञातयोरन्नत्वोपपत्तिः ॥१०॥

व्याख्यातो वाङ्मन.प्राणानामाधिभौतिको विस्तारोऽथायमाधिदैविकार्थ आरम्भः-- तस्यै तस्या वाचः प्रजापतेरन्नत्वेन प्रस्तुतायाः पृथिवी शरीरं बाह्य आधारो ज्योतीरूपं प्रकाशात्मकं करणं पृथिव्या आधेयभूतमयं पार्थिवोऽग्निः। द्विरूपा हि प्रजापतेर्वाक्कार्यमाधारोऽप्रकाशकः करणं चाऽऽधेयं प्रकाशस्तदुभयं पृथिव्यग्नी वागेव प्रजापतेः।

न्भादविज्ञाता दिरूपेण प्राणादेरन्नत्वोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—शिष्येति। शिष्यैरविवेकिभिः संदिह्यमानोपकारा अपि गुरवस्तेषां भोज्यतामापद्यमाना दृश्यन्ते पुत्रादिभिश्चातिबालैरविज्ञातोपकाराः पित्रादयस्तेषां भोज्यत्वमापद्यन्ते तथा प्रकृतेऽपि संभवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

वृत्तमनूद्य तस्यै वाच पृथिवीत्याद्यवतारयति—व्याख्यात इति। आधिदैविकार्थस्तद्विभूतिप्रदर्शनार्थ इति यावत्। समनन्तरसंदर्भस्य तात्पर्यमुक्त्वा वाक्याक्षराणि योजयति—तस्या इति। कथमाधाराधेयभावो वाचो निर्दिश्यते तत्राऽऽह—द्विरूपा हीति। उक्तमर्थं संक्षिप्य निगमयति—तदुभयमिति।

का ही रूप देखा जाता है। ('भूरादि मे वागादि को देखना चाहिये') श्रुतिवचन से यह नियम यथासभव ले लेना चाहिये। "प्राण एन नद भूत्वाऽत्ति" अर्थात् प्राण अविज्ञातरूप से इसका अन्न होता है। अविवेकी शिष्य एव अतिमूर्ख पुत्रादि को, जिनके उपकार के विषय मे सन्देह और अज्ञान रहता है, ऐसे गुरु और पिता भी लोकव्यवहार मे देखे जाते हैं। इसी प्रकार जिज्ञास्यमान और अविज्ञान मन एव प्राण का भी अन्न होना सिद्ध हो जाता है ॥ १० ॥

इस प्रकार वाक्, मन और प्राण के आधिभौतिक विस्तार की व्याख्या तो कर दी गई। अब क्रमप्राप्त आधिदैविक अर्थ के लिये यह ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है। "तस्यै" अर्थात् प्रजापति के

---

१ क्रमप्रतिपत्त्यर्थोऽथशब्द। क्रमप्राप्त इत्यर्थ। २ तस्या इति। तथा च वार्तिके—' अध्यात्ममधिभूत च यस्या रूप पुरोदितम्। अधिदैवविवक्षाया तस्या वाच इद वपु'' ॥१६६॥ इति। ३ आधिदैविकया। ४ बाह्य इति—करणरूपाधेयापक्षया कार्यरूप आधारो बाह्य इत्यर्थ। ५ पार्थिव इति—आधारभूतायां पृथिव्यामाधेयरूपेण वर्तमान पृथिवीसम्बन्धीति यावत्। ६ प्रकाशकम्। ७ कार्यकरणरूप प्रकाश्यप्रकाशकरूपम्। ८. आदिना जिज्ञास्यमिति। ९ आदिना मन इति। १० एवस्या एवेति शेष। ११ उक्तमर्थमिति—आधिदैविकया वाच आधाराधेयभावेन द्वैविध्यरूपमित्यर्थ।

**अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्त-
द्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ* मिथु-
न७ समैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो**

तथा प्राजापत्य अन्नरूप स कहे हुए इस मन का द्युलोक शरीर (आधार) है। ज्योतिरूप वह आदित्य है। वहाँ पर जितना मन है, उतना ही आदित्य है। वे आदित्य और अग्नि परस्पर ससर्ग को

तत्तत्र[1] यावत्येव यावत्परिमाणैवाध्यात्माधिभूतभेदभिन्ना सती [2]वाग्भवति [3]तत्र सर्वत्राऽऽधारत्वेन पृथिवी व्यवस्थिता तावत्येव भवति कार्यभूता तावानयमग्निराधेयः कारणरूपो ज्योतीरूपेण पृथिवीमनुप्रविष्टस्तावानेव भवति समानमुत्तरम् ॥११॥

अथैतस्य [4]प्राजापत्यान्नोक्तस्यैव मनसो द्यौर्द्युलोकः शरीरं कार्यमाधारो ज्योतीरूप

अध्यात्ममधिभूत च या वाक्परिच्छिन्ना तस्यास्[5]तुल्यपरिमाणत्वमाधिदैविकवागशत्वादशशिनोऽग्न्र तादात्म्यात्तया सह दर्शयति—तत्तत्रेति। तावानयमग्निरिति प्रतीकमादाय व्याकरोति—आधेय इति। समानमुत्तरमित्यस्यायमर्थोऽ[6]ध्यात्ममधिभूतं च मन प्राणयोराधिदैविकमन प्राणांशत्वात्तादात्म्याभिप्रायेण तुल्यपरिमाणत्वमुच्यते। [7]तथा च [8]वाचा समानं प्राणादावुत्तरवाक्ये कथ्यमान समानपरिमाणत्वमिति ॥ ११ ॥

आधिदैविकवाग्विभूतिव्याख्यानानन्तर्यमथशब्दार्थः। मनसो द्वैरूप्यमुक्त्वा व्याप्तिमभिधत्ते—

अन्नरूप स प्रस्तुत हुए उस आधिदैविक वाक का पृथिवी 'शरीरम्' यानी बाह्य आधार है, तथा "ज्योतीरूपम" अर्थात पृथिवी का आधेयभूत प्रकाशात्मक करण यह पार्थिव अग्नि है। प्रजापति की वाक् दो प्रकार की है। प्रथम कार्य आधार और अप्रकाशकरूप द्वितीय करण, आधेय और प्रकाशकरूप। ये दोनो कार्यकरणरूप प्रकाश्यप्रकाशकरूप पृथिवी और अग्नि प्रजापति की वाक् ही है। (वाक के आध्यात्मिकादि तीन भेद होने पर) उनमे 'यावत्येव' अर्थात जितने परिणामवाली अध्यात्म और अधिभूत भेदो से विशिष्ट आधिदैविक वाक है उन भेदा मे सर्वत्र आधाररूप से व्यवस्थित कार्यभूता

---

१ तत्रेति -वाचोऽध्यात्मादिभेदन त्रैविध्ये सतीत्यथ। २ आधिदैविकी। ३ तत्रति- अध्यात्माधिभूताधिदैवभेदेष्वित्यथ। ४ प्रजापतरन्नत्वन प्रस्तुतस्य। ५ तादात्म्यन व्याप्तत्वमिति यावत। ६ अध्यात्मादावित्यर्थ। ७ तथा चेति--तुल्यपरिमाणत्वकथनस्य तादात्म्याभिप्रायत्वे चेत्यर्थ। ८ वाचा समानमिति—यथाऽध्यात्मादिपरिच्छिन्ना वागाधिदैविकवागभिन्ना तथेत्यथ। एवोऽग्न पृथ्वीदेवताऽग्निरध्यात्मादौ तत्तद्रूपेण व्यवतिष्ठत इति सर्वप्रकरणाथ।

---

* तौ मिथुन समैतामिति। अत्र वार्तिके—'मनसश्च द्रभावो हि सवत्र श्रूयते स्फुट। तस्याऽऽदित्येन सम्बन्ध कस्मादत्राभिधीयते ॥ विवक्षितत्वादैक्यस्य मनाबुद्ध्योरत श्रुति। आदित्येनैव सधत्त मनश्चन्द्रमसा न तु ॥ प्रसवाधिकृतेश्चात्र सावित्र प्रसवस्तत। रविश्चैवाभिसबन्धो मनसस्तेन शस्यते॥ अनुग्रहव्यपेक्षायां मनसश्च द्रमा भवेत्। अधिदैव तथाऽऽदित्यश्चक्षुषो देवता मता ॥१८० १८३॥ इति। ज्योतीरूपमसावादित्य इत्यादित्यमनसोरैक्यमुक्त्वा तौ मिथुन समैतामित्यग्न्यादित्ययोर्वाङ्मनोरूपयोर्मिथुनवचन श्रुत्यन्तरविरुद्धमिति शङ्कते—मनसोरैक्यमुक्त्वा... उक्त च—सर्वत्र हि मनश्चन्द्रो मनस इति। सर्वत्र चन्द्रमा मनसो जातश्चन्द्रस्तत्राधिदैवतमि त्यादावित्यर्थं।

द्वितीयो वै सपत्नो नास्य [1]सपत्नो भवति य एवं वेद ॥१२॥

प्राप्त हुए। उससे प्राण उत्पन्न हुआ। वह इन्द्र है और शत्रुहीन है क्योंकि अपने से भिन्न ही शत्रु हुआ करता है। जो इस रहस्य को जानता है, उस विद्वान् का कोई प्रतिपक्षी नहीं होता ॥१२॥

करणमाधेयोऽसावादित्यः। तत्तत्र[2] यावत्परिमाणमेवाध्यात्ममधिभूतं वा मनस्तावती तावद्विस्तारा तावत्परिमाणा मनसो ज्योतीरूपस्य करणस्याऽऽधारत्वेन व्यवस्थिता द्यौस्तावानसावादित्यो ज्योतीरूपं करणमाधेयं तावन्यावादित्यौ वाङ्मनसे आधिदैविके मातापितरौ मिथुनं मैथुन्यमितरेतरसंसर्गं समैतां समगच्छेताम्। मनसाऽऽदित्येन प्रसूतं

तत्तत्रेति। मन एवास्याऽऽत्मा 'वाग्जाया प्राण प्रजेत्यध्यात्म मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजेत्यधिभूतं च वाङ्मनसयोः प्राणस्य प्रजात्वमुक्तं तयाऽधिदैवेऽपि तस्य तत्प्रजात्वं वाच्यमित्यभिप्रेत्याऽऽह—ताविति। कथमादित्यस्य मनसः प्राणं प्रति पितृत्वं वाचो वाऽग्नेर्मातृत्वं तत्राऽऽह—मनसेति। सावित्र पाकमाग्नेयं च प्रकाशमृते [4]कार्यसिद्ध्यदर्शनात्तयो सिद्धं जनकत्वमित्यर्थः। कर्मशब्देन [5]कार्यमुच्यते

पृथिवी भी उतनी ही है। तथा "तावानयमग्नि" है अर्थात ज्योतिरूप मे पृथिवी मे अनुप्रविष्ट आधेय और करणरूप अग्नि उतना ही है। वक्ष्यमाण उत्तरवाक्य मे अध्यात्म और अधिभूत मे भी मन और प्राण का समानपरिमाण समझना चाहिये ॥ ११ ॥

"अथैतस्य" अर्थात् प्राजापत्य अन्नरूप स प्रस्तुत किये गये इस मन का "द्यौः" यानी द्युलोक, 'शरीरम्' अर्थात् कार्य या आधार है और वह आदित्य ज्योतिरूप करण यानी आधेय है। (मनके अध्यात्मादि तीन भेद होने के कारण) उनमे जितना परिमाण वाला अध्यात्म और अधिभूत मन है, 'तावती'

१ प्रतिपक्ष प्रतिकूल इति यावत्। २ मनसोऽध्यात्मादिभेदेन त्रैविध्ये सति। ३ चतुर्थब्राह्मणे इदम्। ४ कार्यसिद्ध्यदर्शनादिति—प्रकाशव्याप्त्यतिरेकेण न किंचिद्वस्तु जायते जन्मनाऽभिव्यक्तिरूपत्वात्स च प्रकाशोऽग्निरेव न च जायमानाना विशेषव्यक्ति पाकाद्दृत पाकश्च कालात्मकादित्यकृतस्तस्मादग्न्यादित्यनिमित्ता सर्वोत्पत्तिरिति भाव। तदुक्तम् वार्तिके— अग्निरेव यत सर्वं प्रकाशो जगतीष्यत। रूपाणां प्रविभागश्च त्वष्टृपाकनिबन्धन" ॥१८४॥ इति। ५ जगद्रूपम्।

भवतीति। एतदेव भाष्य विवक्षित्वा हीत्युक्तम्। मनसश्चन्द्रभावस्य वाचनिकत्व वक्तु स्फुट इति विशेषणम्। श्रुत्यन्तरविरुद्ध वचनमिहानुचितमिति फलितमाह—तस्येति ॥ मनोबुद्ध्योरभेदेनाऽऽत्मभूतत्वादिति मतं ग्रन्थभाष्येण परिहरति—विवक्षितत्वादिति। अस्मिन्प्रकरणे मनोबुद्ध्योरैक्य विवक्षित तयोश्च प्रधान बुद्धिनिश्चयात्मत्वादतो बुद्धिदेवतयैवाऽऽदित्येन मन सधत्ते श्रुतिर्न तु चन्द्रमसा तदभेदमभिधत्ते सविता बुद्धिदेवतेति हि गायत्रीविदा मर्यादेति भाव ॥ आदित्येनैवात्र मन सम्बन्धे हेत्वन्तरमाह—प्रसवति। तत प्राणोऽजायतेति प्राणस्य मनसो जन्मोच्यते। तच्च सर्वं सवितृहेतुक सवितुरस्य सर्वप्राणिप्रसवहेतो प्रवृत्तेरजस्तेनैव मनसस्तादात्म्येन सगतिरित्यर्थः ॥ तर्हि चन्द्रमसा मनसश्चक्षुषश्चाऽऽदित्येन सम्ब धवादिवाक्याना का गतिरित्याशङ्क्याऽऽह—अनुग्रहेति। यथाऽऽहु—यत्र हि मनश्च बुद्धिश्च भेदेन विवक्ष्यते। तत्र कामसकल्पादिविषयस्य मनसश्चन्द्रमा देवताऽथ पुनर्यदा क्रियाप्रसवादिषु व्याप्रियत तदा प्रसवकर्म व्याप्नुवन्मन सवितृदैवत भवतीति ॥

पित्रा वाचाऽग्निना मात्रा प्रकाशितं कर्म करिष्यामीत्यन्तरा रोदस्योः । ततस्तयोरेवं संगमनात्प्राणो वायुरजायत परिस्पन्दाय कर्मणे । यो जातः स इन्द्रः परमेश्वरो न केवलमिन्द्र एवासपत्नोऽविद्यमानः सपत्नो यस्य कः पुनः सपत्नो नाम द्वितीयो वै प्रतिपक्षत्वेनोपगतः स द्वितीयः सपत्न इत्युच्यते । तेन द्वितीयत्वेऽपि सति वाङ्मनसे न सपत्नत्वं भजेते प्राणं प्रति गुणभावोपगते एव हि ते अध्यात्ममिव । तत्र प्रासङ्गिकासपत्नविज्ञानफलमिदं—नास्य विदुषः सपत्नः प्रतिपक्षो भवति य एवं यथोक्तं प्राणमसपत्नं वेद ॥१२॥

तत्करिष्यामिति प्रत्येकमभिसंधिपूर्वकमादित्याग्न्योर्द्यावापृथिव्योरन्तराले समागतावासीदित्याह—कर्मेति । संगतिकार्यमभिप्रायानुसारि दर्शयति—तत इति । वायोरिन्द्रत्वासपत्नत्वगुणविशिष्टस्योपासनमभिप्रेत्याऽऽह—यो जात इति । द्वितीयस्य सपत्नत्वे वागादेरपि तथात्वं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—प्रतिपक्षत्वेनेति । यथोक्तसपत्नव्याख्यानफलमाह—तेनेति । असपत्नगुणकप्राणोपासने फलवाक्यं प्रमाणयति—तत्रेति । प्राणस्यासपत्नत्वे सिद्धे सतीति यावत् । प्रासङ्गिकत्वं प्रजोत्पत्तिप्रसङ्गादागतत्वम् ॥ १२ ॥

अर्थात् उतने विस्तार या परिमाण वाला मन के ज्योतिरूप कारण के आधाररूप से द्युलोक व्यवस्थित है। तथा उतने ही परिमाण वाला वह ज्योतिरूप करण या आधेय आदित्य है। 'तौ' अर्थात् वे आधिदैविक वाक् और मनरूप अग्नि और आदित्य माता-पिता हैं, वे दोनों 'मिथुनम्' एक दूसरे के साथ सम्पर्क को 'समैताम्' अर्थात् प्राप्त होते है। 'पितारूप मे विराजमान आदित्यरूप मन से प्रसूत और मातारूप से स्थित अग्निरूप वाणी से प्रकाशित कर्म करूंगा' इस विचार से अभिप्रेत पृथिवी और द्युलोक के बीच उन दोनों का समागम हुआ जिससे अन्तरिक्ष गमन कर्म के लिए प्राणवायु उत्पन्न हुआ। जो उत्पन्न हुआ, वह 'इन्द्र' परमेश्वर था। वह केवल इन्द्र ही नहीं था। 'असपत्न' अर्थात् जिसका कोई सपत्न न हो, ऐसा था। सपत्न का क्या भाव हुआ ? 'द्वितीय' जो प्रतिपक्ष या प्रतिकूलभाव को प्राप्त हो, वह दूसरा व्यक्ति ही सपत्न कहलाता है। अत वाक् और मन के द्वितीय होने पर भी वे उसके सपत्नभाव को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि वे तो अध्यात्म वाक् और मन के समान प्राण के प्रति अनुकूलरूप से उपस्थित है। प्रसङ्गत सपत्नविज्ञान का वहाँ फल यह है कि जो कोई पूर्वोक्त प्राण को इस प्रकार असपत्न जानता है, उस विद्वान् के प्रति कोई प्रतिकूल नहीं होता ॥१२॥

अभी निर्दिष्ट प्रजारूप प्राण का न होकर 'अथैतस्य' अर्थात तथा इस प्रसङ्गप्राप्त निरूप्य प्रजापति के अन्नरूप प्राण का "आप" अर्थात् जल 'शरीरम्' यानी कार्य है, करण का आधार है।

१ एवमिति—अग्न्यादित्याभ्यां सर्वंजन्मेति स्थिते सतीत्यर्थं । अत्र चोच्यमानजन्मा प्राणो वायु प्रजापते प्राणरूपो यथाऽध्यात्म प्राणस्तथा व्यष्ट्यात्मा न त्वण्डान्तर्गत प्राणरूप तस्य समष्ट्यात्मन प्रजापतिरूपतया कारणत्वेनाग्न्यादित्यकार्यत्वासंभवादिति बोध्यम् । २ अन्तरिक्ष गमनाय । ३ इन्द्रत्वमसपत्नत्वेन साधयति—नेति । ४ प्रतिकूलत्वेन सन्निहित । ५ अनुकूलत्वेनोपस्थित । ६ अध्यात्ममिवेति-यथाऽध्यात्मे देहे वाङ्मनसे प्राणाधीने तथाऽधिदैवे देहेऽपि ते तदधीने न तु स्वतन्त्रे प्रतिकूले चेत्यर्थं । प्रजाभूतप्राणस्याधिदैविकप्राणपक्षपातित्वात्तदनुकूलयोर्वाङ्मनसयोस्तदनुकूलतैवेति भाव । तयो प्राणाधीनत्वे 'यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्ति' 'तस्मादेत एतेनैवाऽऽख्यायन्ते प्राणा इति' इत्यादिवाक्य प्रमाणयितव्यम् । तदुक्तम् वार्तिके—'प्राणस्यैव यतो वृत्ति उक्ते वाङ्मनसे अपि । प्राणस्याऽतोऽद्वितीयत्व ततश्चेन्द्रत्वमेव च" ॥१६१॥ इति । ७ प्रजाभूतस्य ।

अथैतस्य प्राणस्याऽऽपः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्त-द्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्त एते

एव इस प्राण का, जल शरीर (आधार) है, यह चन्द्रमा ज्योतिरूप है। वहाँ पर आध्यात्मिक भेद से जितने परिणाम वाला प्राण है, उतना ही परिणामवाला आधेयभूत जल भी है। एव उतना ही

अथैतस्य [१]प्रकृतस्य प्राजापत्यान्नस्य प्राणस्य न प्रजोक्तस्यानन्तरनिर्दिष्टस्याऽऽपः शरीरं कार्यं करणाधारः पूर्ववज्ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्तत्र यावानेव प्राणो यावत्परिमाणोऽध्यात्मादिभेदेषु तावद्व्याप्तिमत्य आपस्तावत्परिमाणास्तावानसौ [२]चन्द्रोऽआधेयस्तास्वप्स्वनुप्रविष्टः करणभूतोऽध्यात्ममधिभूतं च तावद्व्याप्तिमानेव। तान्येतानि पित्रा पाङ्क्तेन कर्मणा सृष्टानि त्रीण्यन्नानि वाङ्मन.प्राणाख्यानि। अध्यात्ममधिभूत च जगत्समस्तमेतै-र्व्याप्तं नैतेभ्योऽन्यदतिरिक्तं किंचिदस्ति कार्यात्मक करणात्मकं वा। समस्तानि त्वेतानि प्रजापतिस्त एते वाङ्मनःप्राणाः सर्व एव समास्तुल्यव्याप्तिमन्तो [३]यावत्प्राणिगोचरं साध्यात्माधिभूतं व्याप्य व्यवस्थिता अत [४]एवानन्ता यावत्ससारभाविनो हि तेन हि कार्य-

---

आधिदैविकयोर्वाङ्मनसयोर्विभूतिनिर्देशानन्तयमथेत्युक्तम्। नन्वेतस्येत्येतच्छब्देन प्रजात्वेनोक्तस्य प्राणस्य किमिति न ग्रहण तत्राऽऽह—न प्रजेति। अन्नत्रयस्य समप्रधानत्वेन प्रकृतत्वादेतच्छब्देन प्रधानपरामर्शोपपत्तौ नाप्रधानं परामृश्यत इत्यर्थ। पूर्ववद्वाचो मनसश्च पृथिवी द्यौश्च शरीरं यथा तथेत्यर्थ.। ह्रूप्ये प्राणस्योक्ते व्याप्तिमवशिष्टा व्याचष्टे—तत्रेति। तावानित्यादि प्रतीकमादाय व्याचष्टे—चन्द्र इति। वाङ्मन प्राणानामाधिदैविकरूपेणोपासन विधातु वृत्त कीर्तयति—तानीति। एतेभ्योऽतिरिक्तमधिष्ठानमस्तीत्याशङ्क्य विशिनष्टि—कार्यात्मकमिति। प्रजापतिरेतेभ्योऽतिरिक्तोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—समस्तानीति। [५]सोपस्कर वृत्तमनूद्य वाक्यमादाय व्याचष्टे—त एत इति। तुल्या व्याप्तिमेव व्यनक्ति—यावदिति। तावदशेष जगद्व्याप्येति योजना। तुल्यव्याप्तिमत्त्वमुपजीव्या[६]ऽऽह—अत एवेति। तेषां

यह चन्द्रमा भी पूर्ववत् ज्योतिस्वरूप है। वहाँ 'यावानेव प्राण' यानी अध्यात्मादि भेदों मे जितने परिणाम वाला प्राण है, 'तावत्य आप' अर्थात् उतनी व्याप्ति वाला यानी परिणाम वाला जल है। 'तावानसौ चन्द्र' अर्थात जल के आधेय उनम प्रविष्ट उसका करणभूत अध्यात्म और अधिभूत चन्द्रमा भी उतनी ही व्याप्ति वाला है। ये ही वे पिता के द्वारा पाङ्क्त कर्म के द्वारा उत्पन्न किये हुए वाक्, मन और प्राणसंज्ञक तीन अन्न है। सम्पूर्ण अध्यात्म और अधिभूत जगत् इनसे व्याप्त है, इनसे भिन्न कार्यात्मक अथवा करणात्मक कोई भी वस्तु विद्यमान नहीं है। ये सभी प्रजापति हैं। जो पूर्व मे अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवरूप से कहे गये हैं, वे ये वाक्, मन और प्राण सभी तुल्यव्याप्ति वाले ही हैं। अध्यात्म और अधिभूत के सहित जितना भी प्राणीगोचर है, ये सब

---

१ निरूप्यमाणस्य। २ य पूर्वमध्यात्ममधिभूतमधिदैव चोक्तास्ते। ३ यत्परिमाणम्। ४ अनेन सापेक्ष नित्यत्वमेतेषामुक्तम्। ५ सोपकरण साङ्गोपाङ्ग चोद्यपरिहारसमलङ्कृतमिति यावत्। ६ हेतुत्वेनाश्रित्य।

सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तꣳ स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तꣳ स लोकं जयति ॥१३॥

यह चन्द्रमा है। वे ये (वाक, मन और प्राण) सभी समान हैं और सभी (संसार की स्थितिपर्यन्त रहने वाले होने से) अनन्त हैं। जो कोई इन्हें परिच्छिन्न समझकर उपासना करता है, वह परिच्छिन्नलोक पर विजय प्राप्त करता है और जो इन्हें अनन्त समझकर उपासना करता है, वह अनन्तलोक पर विजय प्राप्त करता है ॥१३॥

---

[1]करणप्रत्याख्यानेन संसारोऽवगम्यते। कार्यकरणात्मका हि त इत्युक्तम्। स यः कश्चि-[2]द्धैतान्प्रजापतेरात्मभूतानन्तवतः परिच्छिन्नानध्यात्मरूपेण वाऽधिभूतरूपेण वोपास्ते स च तदुपासनानुरूपमेव फलमन्तवन्तं लोकं जयति परिच्छिन्न एव जायते नैतेषामात्मभूतो भवतीत्यर्थः। अथ पुनर्यो हैताननन्तान्सर्वात्मकान्सर्वप्राण्यात्मभूतानपरिच्छिन्नानुपास्ते सोऽनन्तमेव लोकं जयति ॥१३॥

पिता पाङ्क्तेन कर्मणा सप्तान्नानि सृष्ट्वा त्रीण्यन्नान्यात्मार्थमकरोदित्युक्तं तान्येतानि पाङ्क्तकर्मफलभूतानि व्याख्यातानि। [3]तत्र [4]कथं पुनः पाङ्क्तस्य कर्मणः

यावत्संसारभावित्वमभिव्यनक्ति—न हीति। कार्यकरणयोर्यावत्संसारभावित्वेऽपि प्राणानां किमायातमत आह—कार्येति। तेषु परिच्छिन्नत्वेन ध्याने दोषमाह—स य इति। एवं पातनिकां कृत्वा विवक्षितमुपासनमुपदिशति—अथेति ॥ १३ ॥

अन्नत्रये फलवद्ध्यानविषये व्याख्याते वक्तव्यान्तराभावाद्धिकमुत्तरग्रन्थेनेत्याशङ्क्य वृत्तं कीर्तयति—पितेति। तेषां तत्फलत्वे प्रमाणाभावमादाय शङ्कते—तत्रेति। 'प्रकृत व्याख्यान स्तम्भार्थं'। कार्य-

---

उसको व्याप्त करके स्थित हैं इसलिये ये 'अनन्ता' अर्थात संसार की स्थितिपर्यन्त रहने वाले (सापेक्षनित्य) हैं, क्योंकि कार्य और करण के बिना संसार अन्य कुछ भी नहीं जाना जाता। एवं इनके बारे में 'ये कार्यकरणात्मक हैं', यह कहा जा चुका है। अधिकृतजनों में जो कोई 'हैतान्' अर्थात् प्रजापति के स्वरूपभूत इन सबको 'अन्तवत' यानी परिच्छिन्न समझकर अध्यात्म या अधिभूतरूप से उपासना करता है, वह उस उपासना के अनुरूप फल अन्तवान लोक में ही 'जयति' अर्थात आत्मभूत नहीं होता। तथा जो इन्हें 'अनन्तान्' अर्थात् सर्वात्मक या सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मभूत, अपरिच्छिन्नरूप से उपासना करता है, वह अनन्त लोक को जीत लेता है ॥१३॥

पिता ने पाङ्क्तकर्म द्वारा सात अन्नों को उत्पन्न कर, तीन अपने लिए निश्चित किये, यह पूर्व श्रुतिवाक्यों में कहा जा चुका है। पाङ्क्तकर्म के फलभूत उन अन्नों का प्रतिपादन कर दिया गया।

---

१ कार्यकारणे विना। २ अधिकृतानां मध्ये। ३ तत्रेति—अन्नत्रयव्याख्याने तेषां पाङ्क्तकर्मफलभूतत्वं कथमुक्तम्। ४ कथमिति—मानाभावेन तेषु पाङ्क्तत्वानुभवाभावादिति भावः। ५ वाङ्मनःप्राणानामित्यर्थः। ६. अन्नत्रयव्याख्यानम्।

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवाऽऽ च पूर्यतेऽप च क्षीयते सोऽमावास्यां

वह यह तीन अन्नरूप सवत्सर प्रजापति सोलह कलाओं वाला है। उसकी रात्रियाँ ही पन्द्रह कलाएँ हैं। तथा उस प्रजापति की सोलहवी कला कभी भी क्षीण नहीं होने से नित्य ही है। वह सवत्सर प्रजापति रात्रियो से ही शुक्लपक्ष मे बढता है तथा कृष्णपक्ष मे क्षीण होता है। अमावस्या की रात्रि

फलमेतानीति । उच्यते । यस्मात्तेष्वपि त्रिष्वन्नेषु पाङ्क्तताऽवगम्यते । वित्तकर्मणोरपि तत्र संभवात् । तत्र पृथिव्यग्नी माता । दिवादित्यौ पिता । योऽयमनयोरन्तरा प्राणः स प्रजेति व्याख्यातम् । तत्र वित्तकर्मणी संभावयितव्ये इत्यारम्भः—

स एष संवत्सरो योऽयं त्र्यन्नात्मा प्रजापतिः प्रकृतः स एष संवत्सरात्मना विशेषतो निर्दिश्यते । षोडशकलः षोडश कला अवयवा अस्य सोऽयं षोडशकलः संवत्सरः

लिङ्गकमनुमानं प्रमाणयन्नुत्तरमाह—उच्यत इति । अनुमानमेव स्फुटयितुमन्नेषु पाङ्क्तत्वावगतिं दर्शयति—यस्मादिति । तस्मात्तत्कारणमपि तादृशमिति शेषः । कथं पुनस्तत्र पाङ्क्तत्वधीरित्याशङ्क्याऽऽह—वित्तेति । आत्मा जाया प्रजेति त्रयं संग्रहीतुमपिशब्द । उक्तं हेतुं व्यक्तीकुर्वन्नुक्तं स्मारयति —तत्रेति । अन्नत्रय सप्तम्यर्थ । तथाऽपि कथं पाङ्क्तत्वमित्याशङ्क्यानन्तरग्रन्थमवतारयति—तत्र वित्तेति । सप्तमी पूर्ववत् । अवतारितं ग्रन्थं व्याचष्टे—योऽयमित्यादिना । कथं प्रजापतेस्तिथिभिरापूर्य-

---

किन्तु वे पाङ्क्तकर्म के फल किस प्रकार हैं ? इसे कहा जाता है । अन्नत्रय मे वित्त और कर्म की संभावना है क्योकि उन तीनो अन्नो मे भी पाङ्क्तता देखी जाती है। वहाँ पृथिवी (वाक्) और अग्नि माता है, द्युलोक (मन) और आदित्य पिता है। इन दोनो द्युलोक और पृथिवीलोक के बीच अन्तरिक्षगमनशील जो यह प्राण है, वह प्रजा है—इसकी व्याख्या की जा चुकी है। उनमे वित्त और कर्म की संभावना होती है, इसलिए अग्रिम ग्रन्थ का समारम्भ होता है।

'स एष संवत्सर' इस श्रुतिमन्त्र मे अन्नत्रयस्वरूप जिस प्रजापति का प्रसङ्ग है, उसी का विशेषतया सवत्सररूप से प्रतिपादन किया जाता है। 'षोडशकल' अर्थात् षोडशकला या अवयवों वाला कालस्वरूप सवत्सरात्मा प्रजापति षोडशकल है। 'तस्य' अर्थात् कालस्वरूप प्रजापति की 'रात्रय.'

---

१. तेष्वपीति—पूर्वोक्तान्नचतुष्टय दृष्टान्तयितुमपिशब्द । २ अन्नत्रये । ३ संभवादिति—अत्राय प्रयोग विमत पाङ्क्तकर्मफल अन्नत्रय पाङ्क्त पाङ्क्त्वसंभावनाऽऽस्पदत्वात् साधारणान्नचतुष्टयवदिति । ४ वाक् । ५ मन । ६ द्यावापृथिव्यौ । ७ अन्तरिक्षग । ८ आरम्भ इति—कार्यानुरूपत्वात् कारणस्य कार्ये पाङ्क्तत्वाभावे कारणेऽपि तदसिद्धे फलस्य पाङ्क्तत्वार्थं वित्तादिवक्तुमुत्तरो ग्रन्थ आरभ्यत इत्यर्थ । ९ कालात्मना । १० विमतमन्नत्रय स्वसदृशकारणफल कार्यत्वात् शुक्लपटवदित्यनुमानमभिप्रेत्याह —तस्मादिति । त्रिष्वप्यन्नेषु पाङ्क्तत्वावगमात् पाङ्क्तान्नत्रयकारण कर्मापि पाङ्क्तमेवेत्यर्थ । ११ मन । १२ वाक् । १३ प्राण । १४ मातृपितृप्रजाना सत्त्वेऽपि ।

रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मादेताᳬ रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥१४॥

मे वह संवत्सररूप प्रजापति इस सोलहवी कला से इन समस्त प्राणियो मे अनुप्रवेश कर फिर दूसरे दिन प्रात काल द्वितीय कला से संयुक्त होकर उत्पन्न होता है। अत इस रात्रि मे किसी प्राणी के प्राण-विच्छेद न करें। यहां तक कि इस संवत्सररूप देवता की पूजा के लिए इस अमावस्या की रात्रि मे गिरगिट को भी न मारे (अमङ्गलरूपी पापी गिरगिट को स्वभाव से लोग मार डालते है। इसे मारने का भी निषेध इस रात्रि मे किया जाता है) ॥ १४ ॥

संवत्सरात्मा कालरूपः। [1]तस्य च कालात्मनः प्रजापते रात्रय एवाहोरात्राणि [2]तिथय इत्यर्थः। पञ्चदश कलाः। ध्रुवैव नित्यैव व्यवस्थिताऽस्य प्रजापतेः षोडशी षोडशानां पूरणी कला। [3]स रात्रिभिरेव तिथिभिः कलोक्ताभिरापूर्यते चापक्षीयते च। प्रतिपदाद्याभिर्हि चन्द्रमाः प्रजापतिः शुक्लपक्ष आपूर्यते कलाभिरुपचीयमानाभिर्वर्धते यावत्संपूर्णमण्डलः पौर्णमास्याम्। ताभिरेवापचीयमानाभिः कलाभिरपक्षीयते कृष्णपक्षे यावद्ध्रुवैका कला व्यवस्थिताऽमावास्यायाम्।

[4]स प्रजापतिः कालात्माऽमावास्याममावास्यां रात्रिं रात्रौ या व्यवस्थिता ध्रुवा

माणत्वमपक्षीयमाणत्वं च तत्राऽऽह—प्रतिपदाद्याभिरिति। वृद्धेर्मर्यादां दर्शयति—यावदिति। अपक्षयस्य मर्यादामाह—यावद्ध्रुवेति।

अवशिष्टाममावास्यायां निविष्टां कलां प्रपञ्चयन्द्वितीयकलोत्पत्तिं शुक्लप्रतिपदि दर्शयति—स

अर्थात् दिन और रातें यानी तिथियाँ ही पन्द्रह कलाएँ है। 'अस्य' अर्थात् इस प्रजापति की 'षोडशी' अर्थात् सोलहवी संख्या की पूर्ति करने वाली कला 'ध्रुवैव' नित्यव्यवस्थित ही है। वह 'रात्रिभिरेव' यानी कलारूप से उक्त तिथियो से ही पूर्ण और अपक्षीण होता है। क्योकि वह चन्द्रमा प्रजापति शुक्लपक्ष मे प्रतिपदा आदि तिथियो से बढता है, वह पूर्णमासी को पूर्णमण्डलाकार होने तक अपनी बढती हुई कलाओ से बढता रहता है। तथा कृष्णपक्ष मे क्षीण होती हुई उन्ही कलाओ द्वारा तब तक क्षीण होता रहता है, जब तक अमावस्या मे एक ध्रुवा कला ही शेष रह जाय।

'स' वह उपचय अपचय कर्मवान् कालस्वरूप प्रजापति 'अमावास्या रात्रिम्' अर्थात् अमावस्या

१ ता एव षोडशकला आह—तस्य चेति। २ अहोरात्रसंबन्धित्व। ३ एतासां कलानां वित्तरूपत्वं वक्तुं तत्साधर्म्यमाह—स इति। प्रजापतिश्चन्द्रात्मा उक्तकलारूपाभिस्तिथिभिरेवेत्यर्थ। उपचयापचयरूपत्वाच्चन्द्रमसि पञ्चदशतिथ्यात्मककलानां वित्तादित्वमिद्धयथमेव प्रजापतेश्चन्द्रात्मनोक्तिरिति द्रष्टव्यम्। प्रजापतिर्विराडित्युक्तो लोककालदेवतात्मकोऽधिगतस्तस्य लोकानधिकृत्यात्मत्रयात्मकस्तावदात्मोक्तस्तथैव कालमधिकृत्य य आत्मा स चन्द्रात्मना वक्तव्य इति प्रजापतेश्चन्द्रात्मन संवत्सरपदे नोपादानमित्यन्यत्रोक्त द्रष्टव्यम्। ४ एवं कलानां वित्तत्वे सिद्धे तदुपचयापचयौ कर्मेत्यभिप्रायेणाह—स इति।

कलोवर्ततया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृत्प्राणिजातमनुप्रविश्य यदपः पिबति यच्चौपधीरश्नाति तत्सर्वमेवौषध्यात्मना सर्वं व्याप्यामावास्यां रात्रिमवस्थाय ततोऽपरेद्युः प्रातर्जायते [1]द्वितीयया कलया संयुक्तः । [2]एवं पाङ्क्तात्मकोऽसौ प्रजापतिः । दिवादित्यौ मनः पिता । पृथिव्यग्नी वाग्जाया माता । तयोश्च प्राणः प्रजा । [3]चान्द्रमस्यस्तिथयः कला वित्तमुपचयापचयधर्मित्वाद्वित्तवत्तासां च कलानां कालावयवानां [4]जगत्परिणामहेतुत्वं कर्म । एवमेष कृत्स्नः प्रजापतिर्जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येषणानुरूप एव पाङ्क्तस्य कर्मणः फलभूतः [5]संवृत्तः । कारणानुविधायि [6]हि कार्यमिति लोकेऽपि [7]स्थितिः ।

प्रजापतिरिति । प्राणिजातमेव विशिनष्टि—यदप इति । स्थावर जङ्गम चेत्यर्थः । ओषध्यात्मनेत्युपलक्षणं जलात्मनेत्यपि द्रष्टव्यम् । फलभूते प्रजापतौ पाङ्क्तत्व वक्तुमुपक्रान्त तदद्यापि नोक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति । तदेव पाङ्क्तत्व व्यनक्ति—दिवेति । कलाना वित्तवद्वित्तत्वे हेतुमाह—उपचयेति । पाङ्क्तत्वनिर्देशेन लब्धमर्थमाह—एवमेष इति । सप्रति कृत्स्नस्य प्रजापतेरुपक्रमानुसारित्व दर्शयति—जायेति । भवतु प्रजापतेरुक्तरीत्या पाङ्क्तत्व तथाऽपि कथ पाङ्क्तकर्मफलत्व तत्राऽऽह—कारणेति ।

मे रात के समय जो उपरोक्त एक ध्रुवा कला व्यवस्थित रहती है, उस षोडशी कला के द्वारा 'प्राणभृत्' यानी इन समस्त प्राणधारियो मे 'अनुप्रविश्य' अर्थात् जो जल पीता है और जो औषधि खाता है, उन सभी औषधिरूप से व्याप्त होकर अमावस्या की रात्रि मे स्थिर रहकर 'तत.' यानी दूसरे दिन प्रात काल द्वितीया कला से सयुक्त होकर उत्पन्न होता है । इस प्रकार यह प्रजापति पाङ्क्तस्वरूप है । द्युलोक, आदित्य और मन-पिता है । पृथिवी, अग्नि और वाक्, जाया यानी माता है । उन दोनो माता और पिता की प्रजा प्राण है । चन्द्रमा की तिथियाँ या कलाएँ हैं क्योकि वे वित्त के समान वृद्धि और क्षीण स्वभाव वाली है, तथा उन काल के अवयवस्वरूप कलाओ का जगत् के परिणाम मे हेतु होना कर्म है । इस प्रकार वह समग्र प्रजापति 'मेरे यहाँ जाया, हो फिर मैं प्रजारूप से उत्पन्न होऊं, मेरे यहाँ धन हो, फिर मैं कर्म करूँ' इसी एषणा के अनुरूप ही पाङ्क्तकर्म का फलभूत हो जाता है । लोकव्यवहार मे भी ऐसी ही स्थिति है कि कार्य कारण का अनुवर्ती होता है ।

क्योकि इस रात्रि मे यह सोमात्मा प्रजापति अपनी ध्रुवा कला के सहित समस्त प्राणी समुदाय मे अनुप्रविष्ट होकर विद्यमान रहता है, इसलिए अमावस्या के अहोरात्र मे "प्राणभृत" यानी प्राणी के 'प्राण न विच्छिन्द्यात्' प्राण का विच्छेद न करे अर्थात प्राणीहिंसा न करे । यहाँ तक

१ द्वितीयया कलया सयुक्तो जायत इति सम्बन्ध । तथा च प्रतिपदि द्विकलश्चन्द्र कथमन्यथा पौर्णमास्या षोडशकलत्व तस्योपपद्येतेति भाव । २ चन्द्रनिर्वर्त्या । ३ जगदिति—सूत्रात्मको विराडात्मकश्च काल तत्तद्विशेषरूपो भूत्वा जगदाख्यपरिणाममादधन्महाप्रलयपर्यन्त स्थित । तथा च तस्य जगत्परिणामयितृत्व कर्मेत्यर्थ । यद्वा स हि पक्षादिनिष्पादनस्य कर्मणो नैरन्तर्येण कर्ता तेन चन्द्रमसि तन्निर्माणाख्य कर्मेति बोध्यम् । तथा चोक्त वार्तिके—"पक्षमासर्तुवर्षादे स कर्ता कर्मणोऽनिशमिति" ॥ २०८ ॥ ४ कृत्स्न सवृत्त इत्यन्वय । ५. अनुरूपम् । ६ प्रसिद्धि । ७ पूर्वोक्तम् ।

यस्मादेष 'चन्द्र एतां रात्रिं सर्वप्राणिजातमनुप्रविष्टो ध्रुवया कलया वर्तते तस्माद्धेतोरेताममावास्यां 'रात्रिं प्राणभृतः प्राणिनः प्राणं न विच्छिन्द्यात्प्राणिनं न 'प्रमापयेदित्येतदपि कृकलासस्य। कृकलासो हि पापात्मा स्वभावेनैव हिंस्यते प्राणिभिर्दृष्टोऽप्यमङ्गल इति कृत्वा। ननु प्रतिषिद्धैव प्राणिहिंसा न हिंस्यात्सर्वा भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य इति। 'बाढं प्रतिषिद्धा तथाऽपि 'नामावास्याया अन्यत्र 'प्रतिप्रसवार्थं वचनं 'हिंसायाः 'कृकलासविषये वा "किं तर्ह्य"तस्याः" सोमदेवताया अपचित्यै पूजार्थम् ॥ १४ ॥

पाङ्क्तकर्मफलत्वं प्रजापतेरुक्त्वा "प्रासङ्गिकमर्थमाह—यस्मादिति। अपि कृकलासस्येति कुतो विशेषोक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—कृकलासो हीति। कुतस्तस्य पापात्मत्वं तत्राऽऽह—दृष्टोऽपीति। "विशेषनिषेधस्य शेषानुज्ञापरत्वाद्विरोधः सामान्यशास्त्रेण स्यादिति शङ्कते—नन्विति। तीर्थशब्दः शास्त्रविहित"प्रदेशविषयः। "साधारण्येन सर्वत्र निषिद्धाऽपि हिंसा विशेषतोऽमावास्याया निषिध्यमाना सोमदेवतापूजार्था ततः शेषानुज्ञाभावान्न "सामान्योक्तिविरोधोऽस्तीति परिहरति—बाढमिति ॥१४॥

कि उस काल में गिरगिट के भी प्राण न ले क्योंकि गिरगिट पापात्मा है, देखने में भी अमङ्गलरूप है—ऐसा सोचकर प्राणी स्वभाव से इसे मार डालते हैं। यहाँ शङ्का होती है—परन्तु "यज्ञभूमि आदि पवित्र तीर्थप्रदेशों में प्राणीमात्र की हिंसा न करे" इस छान्दोग्यश्रुति के अनुसार हिंसा तो सामान्यतया निषिद्ध ही है। (फिर उसके अलग प्रतिषेध का विधान क्यों किया गया?) (इसका समाधान करते हैं—) यह सत्य है कि छान्दोग्यश्रुति में प्रतिषिद्ध है, तथापि यहाँ जो श्रुति का कथन है, वह अमावस्या से भिन्न समय में प्राणीसामान्य अथवा केवल गिरगिट की हिंसा का अभ्यनुज्ञा करने के लिए नहीं हैं, तो फिर किस लिए है? इस सोम देवता को "अपचित्यै" अर्थात् पूजा के लिए यह कथन है ॥१४॥

जो भी षोडश कलाओं वाला संवत्सर प्रजापति परोक्षरूप से कहा गया है, उसे अत्यन्त परोक्ष ही नहीं मानना चाहिए क्योंकि 'अयमेव स' अर्थात् वह (उपासनाविषय में) प्रत्यक्ष सिद्ध

१ चन्द्रात्मा प्रजापतिः। २ रात्रिशब्दोऽहोरात्रपरः। उक्तं हि—'रात्रय एवाहोरात्राणीति"। ३. हिंस्यात्। ४ सत्यम्। ५ साधारण्येन सर्वहिंसानिषेधेऽपि। ६ प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादित्यनेन प्राणिसामान्यविषयाया हिंसाया अमावास्यातिरिक्ते कालेऽभ्यनुज्ञाऽवगम्यते। अपि कृकलासस्य—किं वा कृकलासस्येत्यर्थस्तथा चानेन कृकलासविषयाया हिंसाया एव वाऽमावास्यातिरिक्ते कालेऽभ्यनुज्ञा प्रतीयते तदेतदुभयं निषेधति—नामावास्याया इति। ७ अभ्यनुज्ञार्थम्। ८ हिंसाया —प्राणिसामान्यविषयाया इत्यर्थः। ९ कृकलासविषये वेति—कृकलासविषयाया वा हिंसाया अन्यत्र प्रतिप्रसवार्थं वचनं नेत्यन्वयः। अपिशब्दस्त्वत्र कैमुत्यद्योत्येवेत्यवधेयम्। १० विशेषेण निषेधस्य शेषानुज्ञापरत्वाभावे तत्प्रयोजनं पृच्छति—किं तर्हीति। ११ तत्प्रयोजनं दर्शयति—एतस्या इति। १२ प्राजापत्यफलकविहितपाङ्क्तकर्मसजातीयत्वेन स्मृतस्य हिंसात्मकनिषिद्धकर्मण उपेक्षानर्हत्वं प्रसङ्ग तस्मादागतं प्रासङ्गिकममावास्यारात्रौ प्राणिहिंसावर्जनरूपमर्थमित्यर्थः। १३ विशेषेति—अमावास्याकालाधिकरणककृकलासकर्मकहिंसानिषेधकशास्त्रस्य। उक्तातिरिक्ते का हिंसानुज्ञापरत्वादित्यर्थः। अनुमतितात्पर्यकत्वान्न हिंस्यादिति सामान्यविरोधः स्यात्। १४ यज्ञभूम्यादि। १५. सर्वदा प्राणिमात्रविषयत्वेन। १६ सामान्यशास्त्रेत्यर्थः।

यो वै संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य[1] वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवाऽऽ च पूर्यतेऽप च

जो भी वह सोलह कलाओं वाला संवत्सर प्रजापति है, वह यही है। जो इस प्रकार अन्नत्रयरूप प्रजापति को जानने वाला पुरुष है; वित्त ही उसकी पन्द्रह कलाएँ हैं तथा शरीर ही उस रहस्यवेत्ता की सोलहवी कला है। वह चन्द्रमा के समान गौ-अश्वादि वित्त से ही बढ़ता है और क्षीण

यो वै परोक्षाभिहितः संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः स नैवात्यन्तं[2] परोक्षो मन्तव्यो यस्मादयमेव स प्रत्यक्ष उपलभ्यते। कोऽसावयं यो यथोक्तं त्र्यन्नात्मकं प्रजापतिमात्मभूतं वेत्ति स एवंवित्पुरुषः केन [3]सामान्येन प्रजापतिरिति [4]तदुच्यते—तस्यैवंविदः पुरुषस्य गवादिवित्तमेव पञ्चदश कला उपचयापचयधर्मत्वाद्वित्तसाध्यं च कर्म। तस्य कृत्स्नताया आत्मैव [5]पिण्ड एवास्य विदुषः षोडशी कला ध्रुवास्थानीया स चन्द्रवद्वित्ते-

---

[6]यत्पूर्वमाधिदैविकत्र्यन्नात्मकप्रजापत्युपासनमुक्तं तदहमस्मि प्रजापतिरित्यहङ्ग्रहेण कर्तव्यमित्याह—यो वा इति। प्रत्यक्षमुपलभ्यमानं प्रजापतिं प्रश्नद्वारा प्रकटयति—कोऽसाविति। [7]तस्य प्रजापतित्वमप्रसिद्धमित्याशङ्क्य परिहरति—केनेत्यादिना। कलानां जगद्वृद्धिपरिणामहेतुत्वं [8]कर्मेत्युक्तं वित्तेऽपि [9]कर्महेतुत्वमस्ति [10]तेन [11]तत्र कलाशब्दप्रवृत्तिरुचितेत्याह—वित्तेति। यथा चन्द्रमाः कलाभिः शुक्लकृष्णपक्षयोरापूर्यतेऽपक्षीयते च तथा स विद्वान्वित्तेनैवोपचीयमानेनाऽऽपूर्यतेऽपचीयमानेन चापक्षीयते। [12]एतच्च

होता है। वह यह कौन है जो पूर्वोक्त अन्नत्रयात्मक आत्मभूत प्रजापति को जानता है, वह इस प्रकार जानने वाला पुरुष किस सादृश्य से प्रजापति है? इसका प्रतिपादन किया जाता है। उस इस प्रकार जानने वाले पुरुष की, गवादि वित्त ही पञ्चदश कलाएँ हैं क्योंकि उनका उपचय अपचय धर्म वाला होना लोकसिद्ध है और कर्म भी वित्त से ही साध्य है। उसकी पूर्णता के लिए 'आत्मैव' यानी पिण्ड ही या प्राणादिविशिष्ट देह ही 'अस्य' अर्थात् इस विद्वान् की ध्रुवास्थानीया 'सोलहवी कला है। वह चन्द्रमा के समान वित्त से ही बढ़ता और घटता है—यह बात लोक मे प्रसिद्ध है।

---

१ तस्य वित्तमेवत्यादि क्षीयत इत्यन्तेन ग्रन्थेनैतदुक्तं भवति प्रजापतेश्चन्द्रमसो या पञ्चदशकलास्ता मे गवादिवित्तमेव यत्तस्य जगत्परिणामरूपं कर्म तन्मे वित्तस्य हान्युपचयावेव याऽस्य ध्रुवा षोडशीकला सा मे प्राणादिविशिष्टो देह एव तदेवं साधर्म्यात् षोडशकलः प्रजापतिरहमस्मीत्युपासीनस्तद्भावमाप्नोतीति प्रजापतेरात्मनोऽन्यत्वेऽपि तदात्मत्वध्यानात् तद्भावं तं यथा यथेत्यादि श्रुतेः प्रतिमादावीश्वरबुद्ध्या फलदृष्टेश्चेति॥ २ यो हि न कदाप्यपरोक्षो भवति साऽत्यन्तं परोक्षः। अयं तु न तथा उपास्तिसिद्धावपरोक्षत्वादिति। ३ सादृश्येन। ४ सूत्रस्योपासकस्य च साधर्म्यं प्रजापतित्वारोपहेतु। ५ प्राणादिविशिष्टो देहः। ६ यत्पूर्वमिति—न एते सर्व एव समा इत्यत्र ध्यानस्योक्तत्वात् किं पिष्टपेषणेन (उत्तरग्रन्थेन) इत्याशङ्क्येत्यादि। उत्तरग्रन्थतात्पर्यान्तरं तु वार्तिके द्रष्टव्यम्। ७ उपासकस्य। ८ यागादिकर्मेत्यर्थः। ९ कर्महेतुत्वसाधर्म्येण। १० वित्ते। ११. वित्तोपचयादिप्रयुक्तं पूर्णत्वादि।

क्षीयते तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिवित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीयत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनाऽगादित्येवाऽऽहुः ॥ १५ ॥

होता है। यह जो शरीर है वह रथचक्र की नाभिरूप है और वित्त रथचक्र के बाहर का घेरारूप नेमि है। अतः सर्वस्व नष्ट हो जाने के कारण यदि पुरुष हीन हो जाय, पर शरीर से जीवित रहे तो यही कहते हैं कि केवल प्रधि (नेमि) से ही क्षीण हुआ है अर्थात् धनाभाव होजाने पर भी जीवित पुरुष पुनः धन को प्राप्त कर सुखी हो जाता है ॥ १५ ॥

नैवाऽऽपूर्यते चापक्षीयते च। तदेतल्लोके प्रसिद्धम्। तदेतन्नभ्यं नाभ्यै हितं नभ्यं नाभिं वाऽर्हतीति। किं तद्यदयं योऽयमात्मा पिण्डः प्रधिवित्तं परिवारस्थानीयं बाह्यं चक्रस्येवारनेम्यादि। तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं सर्वस्वापहरणं जीयते हीयते ग्लानिं प्राप्नोत्यात्मना चक्रनाभिस्थानीयेन चेद्यदि जीवति प्रधिना बाह्येन परिवारेणायमगात्क्षीणोऽयं यथा चक्रमरनेमिविमुक्तमेवमाहुर्जीवंश्चेदरनेमिस्थानीयेन वित्तेन पुनरुपचीयत इत्यभिप्रायः ॥१५॥

लोकप्रसिद्धत्वाच्च प्रतिपादनसापेक्षमित्याह—स चन्द्रवदिति। आत्मैव ध्रुवा कलेत्युक्तं तदेव रथचक्रदृष्टान्तेन स्पष्टयति—तदेतदिति। नाभिश्चक्रपिण्डिका तत्स्थानीयं वा नभ्यं तदेव प्रश्नद्वारा स्फोरयति—किं तदिति। शरीरस्य चक्रपिण्डिकास्थानीयत्वमयुक्तं परिवारादर्शनादित्याशङ्क्याऽऽह—प्रधिरिति। शरीरस्य रथचक्रपिण्डिकास्थानीयत्वे फलितमाह—तस्मादिति। पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—जीवंश्चेदिति ॥ १५ ॥

"तदेतन्नभ्यम" अर्थात् जो नाभि के लिए हितकारक या नाभि के लिए योग्य हो, उसे नभ्य कहते हैं। वह क्या है? *'यदयमात्मा' अर्थात् जो यह प्राणादिविशिष्ट देह है। 'प्रधिवित्तम्' यानी वित्त बाह्य* परिवाररूप है, जैसे पहिये के अरे और नेमि इत्यादि। इसलिए यद्यपि 'सर्वज्यानिम्' अर्थात् सर्वस्व अपहरण होने से 'जीयते' यानी पुरुषहीनता या ग्लानि को प्राप्त हो जाता है, तथापि यदि वह चक्र की नाभिस्थानीय अपने प्राणादिविशिष्ट देह से जीवित है तो कहा जाता है कि यह 'प्रधिना' यानी बाह्य परिवार से 'अगात्' अर्थात् क्षीण हो गया; जिस प्रकार कि अरो और नेमि से विहीन चक्र। अभिप्राय यह कि यदि वह जीवित रहता है तो रथ की नेमिरूप धन से फिर भी वृद्धि को प्राप्त हो जाता है ॥१५॥

---

१. उपासकस्य देह एव ध्रुवास्थानीया षोडशी कलेति यदुक्तं तत्। २. इदं तु व्युत्पत्तिप्रदर्शनमात्रम्। ३. जायादिरूपम्। ४. बाह्यं वित्तमित्यन्वयः। ५. शरीरस्य नाभिस्थानीयत्वात्। ६. सर्वस्वापहरणनिमित्ताम्। ७. गतत्वं क्षीणत्वम्। ८. मध्यस्था। ९. अयमेवार्थो विवक्षितः। १०. अभिमतं नभ्यशब्दवाच्यम्। ११. अरनेम्याद्यदर्शनात्।

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको [1]देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा

मनुष्यलोक, पितृलोक और दवलोक यही तीन लोक है । उनमे से वह यह मनुष्यलोक पुत्र के द्वारा ही जीता जा सकता है, किसी अन्य कर्म से नही । तया कर्म से पितृलोक और उपासना से

एवं पाङ्क्तेन दैववित्तविद्यासंयुक्तेन कर्मणा त्र्यन्नात्मकः प्रजापतिर्भवतीति व्याख्यातमनन्तरं च जायादिवित्तं परिवारस्थानीयमित्युक्तम्[2] । तत्र पुत्रकर्मापरविद्यानां लोकप्राप्तिसाधनत्वमात्रं सामान्येनावगतं न पुत्रादीनां लोकप्राप्तिफलं प्रति विशेषसंबन्धनियमः । सोऽयं पुत्रादीना साधनाना [3]साध्यविशेषसबन्धो वक्तव्य इत्युत्तरकण्डिका प्रणीयते—

अथेति वाक्योपन्यासार्थः । त्रयो वावेत्यवधारणार्थः । त्रय एव शास्त्रोक्तसाधनार्हा[4] लोका न न्यूना नाधिका वा । के त इत्युच्यते——मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति ।

अन्नत्रयात्मनि प्रजापतावहग्रहोपासनस्य सफलस्योक्तत्वाद्वक्तव्याभावादुत्तरग्रन्थवैयर्थ्यमित्याशङ्क्य तद्विषयं वक्तुं वृत्तमनुवदति—एवमिति । साधनोक्त्यैव फलमुक्त तयोर्मिथोबद्धत्वात्प्राजापत्यं च फलं प्रागेव दर्शितं तत्किमुत्तरग्रन्थेनेत्याशङ्क्य [5]सामान्येन [6]तत्प्रतीनावपोदमस्येति [7]विशेषो [8]नोक्तस्तदुक्त्यर्थमुत्तरा श्रुतिरित्याह—तत्रेति । पूर्वग्रन्थ· सप्तम्यर्थ. । नियमो नावगत इति संबन्ध· । उपन्यासः प्रारम्भ. । वावशब्दस्यावधारणरूपमर्थं विवृणोति—त्रय एवेति । तदेव लोकत्रय प्रश्नद्वारा स्फोरयति—के त इत्यादिना । जयो नाम पुत्रेण मनुष्यलोकस्यातिक्रम[9] इति [10]केचित्तान्प्रत्याह—साध्य

इस प्रकार दैववित्त और विद्यायुक्त पाङ्क्तकर्म के द्वारा प्रजापति अन्नत्रयात्मक है, इसकी व्याख्या की जा चुकी । इसके बाद परिवारस्थानीय जायादिवित्त का वर्णन किया गया । वहाँ पुत्र, कर्म और अपरविद्या का सामान्यतया लोकप्राप्ति मे साधनमात्र होना सिद्ध होता है, पुत्रादि का लोकप्राप्तिरूप फल के प्रति विशिष्टसम्बन्ध हाने का नियम नही सिद्ध होता । वह सम्बन्ध पुत्रादि-साधनो का साध्यविशेषो के साथ बतलाना है, इसलिए आगे की कण्डिका का प्रणयन किया जाता है ।

'अथ' यह शब्द वाक्योपक्रम के लिये है । 'त्रयो वाव' यहाँ 'वाव' निश्चयार्थक है । शास्त्रोक्त साधन तीन ही लोक है, न इससे कम हैं, न ही अधिक है । वे कौन से हैं ? इस पर कहा जाता है, मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक । उनमे वह यह मनुष्यलोक पुत्ररूप साधन के द्वारा 'जय्य' अर्थात् जीतने योग्य यानी साध्य है । इस प्रकार आगे हम बतलाएँगे । किसी अन्यकर्म अथवा विद्या से नही,

---

१ ब्रह्मलोक । २ इत्युक्तमिति—तथा च जायावित्तोपलक्षितसाधनान्येव न श्रुति अब्रवीन्न तु तत्साध्य तदुक्त्यर्थं परा श्रुतिरिति शेष । ३ व्यवस्थया लोकत्रयसबन्ध । ४ साधनसाध्या । ५ फलत्वेन । ६ फलप्रतीतौ । ७ विशिष्टफलसम्बन्ध । ८ साधनोक्तिमात्रेण नोक्त स्यादित्यर्थं । ९ अतिक्रम इति—समुल्लघनम् अत्यय इति यावत् । पुत्रादिभिस्त्रिभिरेव मनुष्यादिलोके त्रयोपलक्षितस्य ससारस्य ध्वस इति भर्तृप्रपञ्चादीना भाव इत्यन्यत्र विस्तर । १० भर्तृप्रपञ्चादय ।

कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको वै लोकानाᳪ
श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशᳪसन्ति ॥ १६ ॥

देवलोक जीते जा सकते है। इन लोकों में देवलोक ही श्रेष्ठ है। इसीलिए देवलोकप्राप्ति के साधनभूत विद्या की प्रशंसा करते हैं॥१६॥

तेषां सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव साधनेन जय्यो जेतव्यः साध्यो यथा च पुत्रेण जेतव्यस्तथोत्तरत्र[1] वक्ष्यामो नान्येन कर्मणा विद्यया वेति वाक्यशेषः। कर्मणाऽग्निहोत्रादिलक्षणेन

इति। पुत्रेणास्य साध्यत्वमसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—यथा चेति। द्विविधो हि मनुष्यलोकजयः कर्तव्यशेषानुष्ठानं भोगश्च। तत्राऽऽद्यमाश्रित्यान्ययोगव्यवच्छेदमेवकारार्थं दर्शयति—नान्येनेति। द्वितीये त्वयोगव्यवच्छेदस्तदर्थो 'ज्योतिषेमं लोकं जयतीति साधनान्तरेणापि मनुष्यलोकजयश्रुतेरिति भावः। ※पूर्ववाक्यस्थमेवकारमुत्तरवाक्ययोरनुषक्तमुपेत्य वाक्यद्वयं व्याचष्टे—कर्मणेत्यादिना। साधनद्वयापेक्षया

यह वाक्यशेष है। अग्निहोत्रादिरूप केवल कर्म से पितृलोक जीतने योग्य है, पुत्र अथवा विद्या से नहीं। तथा उपासितरूप विद्या से देवलोक प्राप्त होने योग्य है, पुत्र अथवा कर्म से नहीं। तीनों लोकों

१ अग्रिमकण्डिकायाम्। २ पितुरत्राध्ययनादिकर्तव्यशेषानुष्ठानम्। ३ पुत्रेणापि जय्य एव। ४. ज्योतिष्टोमेन।

※ पूर्ववाक्यस्थमेवकारमुत्तरवाक्ययोरनुषक्तमुपेत्य वाक्यद्वयं व्याचष्टे—इत्थ वाक्यद्वयव्याख्यानं वार्तिककारासम्मतम् तथाहि—'विद्यया देवलोकाप्ति श्रुतत्वादेव कारणात्। नैवकाराभिसबन्धादेवेत्यत्र न सगति ॥२५६॥ पुत्रश्चेदनुशिष्ट स्याल्लोकस्तेनैव जीयते। नान्येन कर्मणाऽन्यार्थो नृलोकजयसिद्धये॥ पुत्रस्यैवावधृतय एवकारो भवेदयम्। पितृदेवलोकसप्राप्ति श्रुतेहान्यैश्च साधनै॥ व्याख्यानमिदमेवात्र विदोष दोषवत्परम्। इदमेव ततो ग्राह्य न तु यद्दोषवन्मतमिति" ॥२७६-२८१॥ इति। पूर्ववाक्यस्थमेवकार विद्याकर्मवाक्ययो प्रक्षिप्य भाष्यकृतो व्याख्यानमयुक्तमित्याह—विद्ययेति। तया देवलोकस्य कर्मणा पितृलोकस्य च प्राप्तिर्युक्ता तयोस्तत्साधनत्वश्रुतेर्न तयोरेवकारसबन्धाद्विद्ययैव देवलोकस्य कर्मणैव पितृलोकस्य प्राप्तिरिति युक्त तस्या (देवपितृलोकाप्ते) साधनान्तराधीनत्वस्यापि श्रुतेरतो विद्यादावेवकारसङ्गतिरसङ्गतत्यर्थं ॥ साधनान्तराधीनत्वमेव तस्या दर्शयन् यत्रैवकार श्रुतस्तत्रैवामाविति साधयति—पुत्रश्चेदिति। अत्र मनुष्यलोके। द्विविधो हि मनुष्यलोकजय पितुरत्राध्ययनादिकर्तव्यशेषानुष्ठान भोगश्च तत्र पुत्रेणैतल्लोकजयबुद्ध्या पितृभि सोऽनुशिष्टश्चेत्तेनैवाऽऽद्यो जयो न हि यथोक्तलोकजयार्थं कर्मणो विद्याया वा कश्चिदुपयोगोऽस्तस्तदर्थं पुत्रस्यैवोपायत्वात्तदवधारणार्थमेवकारो युक्तस्तस्यान्ययोगव्यवच्छेदार्थकत्वात द्वितीयस्तु जयो हेत्वन्तरेणापि स्याज्ज्योतिषेम लोक जयतीति श्रुतेरत्रत्वयोगव्यवच्छेदस्तदर्थं इति भाव ॥ उत्तरवाक्ययोस्तु तत्सम्बन्धो न युक्तिमानित्याह—पितृदेवेति। न हि पितृलोकजयो नित्यादिकर्मनियत सकल्पादेव तु तच्छ्रुते (बृ उ ४ ४ ८) इतिन्यायविरोधादपि विद्ययैव देवलोकजय सन्यासादब्रह्मण स्थानमित्यादिविरोधादतो लोकद्वयजयस्य हेत्वन्तरायत्तत्वसभवादेवकार प्रक्षिप्य वाक्ययोर्व्याख्या न युक्तेत्यर्थं ॥ एवकारो यत्र श्रुतस्ततोऽन्यत्र नेत्येतदेव श्रुत्यादिसमतवान् निर्दोष वाक्यद्वयेऽप्येवकारानुपत्तिरिति तु श्रुत्याद्यसमतत्वात् सदोष तस्मादस्मद्व्याख्यानमेव विद्वद्भिर्ग्राह्य न भाष्यकारीयमिति फलितमाह—व्याख्यानमिति। अत्र कर्मणेत्यादि वाक्ये। एकस्य विदोषत्वमपरस्य सदोषत्वमिति स्थित फलितमाह—इदमिति]॥

अथातः संप्रत्तिर्यदा 'प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति यद्वै किंचानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मे-

अब इसके बाद सप्रत्ति कर्म कहा जाता है । (मरण-चिन्ह को देखकर) जब पिता यह समझता है कि अब मैं मरने वाला हूँ, उस समय पुत्र को बुला कर कहता है 'तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है" इस प्रकार पिता से शिक्षा प्राप्त कर वह पुत्र प्रत्युत्तर में कहता है मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ,

---

'केवलेन पितृलोको जेतव्यो न पुत्रेण नापि विद्यया । 'विद्यया देवलोको न पुत्रेण नापि कर्मणा । देवलोको वै लोकानां त्रयाणां श्रेष्ठः प्रशस्यतमः । तस्मात्तत्साधनत्वाद्विद्यां प्रशसन्ति ॥ १६ ॥

एवं साध्यलोकत्रयफलभेदेन'`'विनियुक्तानि पुत्रकर्मविद्याख्यानि त्रीणि साधनानि । जाया तु 'पुत्रकर्मार्थत्वान्न 'पृथक्साधनमिति पृथङ्नाभिहिता । वित्तं च कर्मसाधनत्वान्न पृथक्साधनम् । विद्याकर्मणोर्लोकजयहेतुत्वं 'स्वात्मप्रतिलाभेनैव 'भवतीति

फलद्वारकमुत्कर्षं विद्यायां दर्शयति—देवलोक इति ॥ १६ ॥

वृत्तमनुवदति—एवमिति । पुत्रादिवज्जायावित्तयोरपि प्रकृतत्वात्फलविशेषे विनियोगो "वक्तव्य इत्याशङ्क्याऽऽह—जाया त्विति । न पृथक्पुत्रकर्मभ्यामिति शेषः । न 'पृथक्साधनं कर्मणः सकाशादिति द्रष्टव्यम् । भवत्वेवं साधनत्रयनियमस्तथाऽपि विद्याकर्मणी हित्वा समनन्तरग्रन्थे किमिति पुत्रनिरूपण-

---

में देवलोक ही 'श्रेष्ठ' यानी सबसे अधिक प्रशसनीय है । अत उसका साधन होने से विद्या की प्रशसा करते हैं ॥१६॥

इस प्रकार पुत्रकर्म और विद्यासज्ञक तीन साधनो का उनके साध्य लोकत्रयरूप फल के भेद से विनियोग किया गया । जाया तो पुत्र और कम के लिए ही होने के कारण कोई पृथक् साधन नहीं है, इसलिये उसका अलग वर्णन नही किया गया । वित्त भी कर्म का साधन होने के कारण स्वतन्त्र साक्षात् साधन नही है । विद्या और कर्म स्वरूपलाभमात्र के द्वारा लोकजय के हेतु होते हैं, यह प्रसिद्ध है । पुत्र के अक्रियात्मक होने से वह किसप्रकार लोकजय का हेतु होता है, यह नही जाना जाता । अत उसे बतलाना है, इसलिये अग्रिम ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है । 'सप्रत्ति' सम्प्रदान का नाम है । 'सप्रत्ति" यह

---

१ प्रैष्यन्नित्यस्य प्रव्रजिष्यन्नित्यर्थान्तरं वार्तिकोक्तमनुसधेयम् । २ इतरासहकृतेन । ३ विद्ययेति—उपास्तिरूपयेत्यर्थः । देवलोकप्राप्तिफलकत्वश्रवणान्मात्र मुख्या विद्या । विस्तरस्तु वार्तिके । ४ विशेषेण सह । ५ सर्वाभितयोक्तानीत्यर्थ । अनेनाथशब्दार्थ सूचित । ६ उभयार्थत्वात् । ७ स्वतन्त्र साक्षात्साधनम् । ८ स्वरूपलाभमात्रेणैव । ९ तयो क्रियारूपत्वात् । १० वक्तव्य इति—अन्यथा तयो पुरुषार्थत्वान्वयिवन्नोपपद्येतेति भाव । ११ पुत्रकर्मणोरेव जायावित्तयोरन्तर्भावात् तयो सिद्धेऽपि फलसम्बन्धे तदन्तर्भूतयोस्तयोरपि तत्सिद्धेस्तयोर्न स्वातन्त्र्येण फलान्वयानुकीर्तनमपेक्षितमिति भाव ।

स्येकता । ये वै के च यज्ञास्तेषाꣳ सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषाꣳ सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वा इदꣳ सर्वमेतन्मा सर्वꣳ सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात्पुत्र-

मैं लोक हूँ'। (इन तीनो वाक्यों की व्याख्या स्वयं श्रुति करती है) जो कुछ भी अनूक्त स्वाध्याय है, उन सबकी 'ब्रह्म' यह एकता है। जो कुछ भी न किया हुआ यज्ञ है, उन सबकी 'यज्ञ' यह एकता है और जो कुछ भी ज्ञातव्यलोक है, उन सबकी 'लोक' यह एकता है। बस ! यह इतना ही गृहस्थपुरुष का सम्पूर्ण पालनीय कर्तव्य है। (फिर पिता यह समझता है कि) मेरे अधीन इस सम्पूर्णभार को

प्रसिद्धम्। 'पुत्रस्य त्वक्रियात्मकत्वात्केन प्रकारेण लोकजयहेतुत्वमिति न 'ज्ञायतेऽतस्तद्वक्तव्यमित्यथानन्तरमारभ्यते—संप्रत्तिः संप्रदानम्। संप्रत्तिरिति वक्ष्यमाणस्य कर्मणो

मित्याशङ्क्याऽऽह—विद्याकर्मणोरिति। ꣲअयथोक्ते चोद्ये पुत्रस्य लोकहेतुत्वज्ञानापनार्थं संप्रत्तिवाक्यमित्याह—अत इति। अथात इति पदद्वयं व्याख्याय संप्रत्तिपदं व्याचष्टे—संप्रत्तिरिति। किमिदं संप्रदानं

आगे कहे जाने वाले कर्म का नाम है। पिता पुत्र में स्वदेहसपाद्याध्ययनादिव्यापार का इस प्रकार से सम्प्रदान करता है, इसलिए यह कर्म "संप्रत्ति" नाम वाला है। उसे किस समय करना चाहिए? इस पर श्रुति कहती है। वह पिता 'यदा' यानी जिस समय, 'प्रैष्यन्' अर्थात् मरणकाल समीप देखकर

---

१ सम्प्रयमिति—शिष्टोऽयं मे पुत्र। २ पुत्रस्तु मनुष्यलोकजय न तथा हेतुर्द्रव्यत्वात् नहि क्रियानाविष्ट साधन दृष्टमतस्तस्य लोकजये कथ साधनतत्यभिप्रेत्याह—पुत्रस्येति। ३ यतो न ज्ञायतेऽनस्तज्ज्ञापनाथमुत्तर वाक्यमिति श्रुवनाऽस्त शब्दार्थो व्याख्यात। तथा चायात संप्रतिरिति वाक्यस्यायमर्थ। अत पूर्वोक्तात्कर्मोपासनयोरनुष्ठानात्। अथ अनन्तरमेव प्रारब्धावसाने कर्मोपास्यो फलार्थं फलाङ्गत्वेन संप्रत्तिनामक कर्म विधीयत इति। ४. पुत्रादिसाधनाना साध्यविशेषसबन्धकथनानन्तरमित्यर्थ।

ꣲअयथोक्ते चोद्ये पुत्रस्य लोकहेतुत्वज्ञापनार्थं संप्रत्तिवाक्यमिति वार्तिककारोऽर्थस्तु संप्रत्तिवाक्यस्य सम्बन्धान्तरमाहुस्तथाहि—"नीत्वा समाप्ति कर्माणि फलवन्त्यफलानि च॥ शुद्धधी प्रव्रजेत्पश्चाद्विरक्त कर्मणा फलात्॥ इत्यनुक्रमसंन्यासे संप्रत्तिरुपदिश्यते॥ योऽनुक्रमेणेति तथा श्रुतौ स्पष्टमिद वच॥ अननुक्रमसंन्यासे न संप्रत्तिरिष्यते। पुत्रे सत्येव सा यस्मान्नास्त्यसौ ब्रह्मचारिणि॥ यदपुत्र इति वच सभवे सति युक्तिमत्। निरस्तदारसम्बन्धे न तु स्यादब्रह्मचारिणि॥ ब्रह्मचर्यादेवेत्यादिवाक्यानि शतश श्रुतौ। श्रूयन्ते तु ऋणवचो विरोधात्स्यादपस्मृति॥ वदाहमितिमन्त्रोक्तेस्तमेवेत्यवधारणात्। निषेधाम्नाय इत्युक्तेन मुक्ति सुतजन्मत॥ न तत्र दक्षिणा यन्ति विद्ययैव तदाप्यते। इति न्याय्य श्रुतवाक्य कस्मात्ताऽऽद्रियतेऽञ्जसा॥ संन्यासमेवोपक्रम्य संप्रत्ति श्रूयते श्रुतौ। यथाऽन्यत्र तथेहापि कस्मान्नाभ्युपगम्यते॥ सर्वकर्मनिवृत्तिर्हि जीवतोऽत्र विधीयते। एकमेव व्रतमिति संन्यासिन्येव युक्तिमत्"॥ २६२ ७१॥ इति। संक्रामितात्मभारस्य त्व ब्रह्मेति वचोऽयवत्। तदा स्यात्सर्वकर्माणि यदि संन्यस्य तिष्ठति॥ सर्वात्मकायनिचयपुत्रसंक्रामितत्वत। न चेत्तित्यक्षित सर्वं प्रतिप्रसवगामिवत्॥ कौषीतकिश्रुतौ तद्वद्गृहस्थस्यैव जीवत। संन्यास श्रूयत स्पष्ट पुत्रैश्वर्ये सुख वसेत्॥ संन्यस्य सर्वकर्माणि सर्वदोषानपानुदन्। इत्यादि मनुनाऽप्युक्त तद्विरुद्ध च भण्यते॥ उपासितफलमेवास्य पितुर्यद्वदिहोच्यते। प्रतिप्रसूयते

मनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति स यदैवंवि-
दस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति।
स यद्यनेन किंचिदक्ष्णयाऽकृतं भवति तस्मादेनं

यह अपने ऊपर लेकर इस लोक से जाने पर मेरा पालन करेगा। अत इस प्रकार उस अनुशासन किए हुए पुत्र को लोकप्राप्ति में हितकर होने से 'लोक्य' कहते हैं। इसी से पिता उसको शिक्षा देता है। ऐसे विज्ञान वाला वह पिता जब इस लोक से जाता है, तो अपने उन्हीं प्राणों के साथ पुत्र में व्याप्त हो

'नामधेयम्। पुत्रे हि 'स्वात्मव्यापारप्रदानं करोत्यनेन' प्रकारेण पिता तेन संप्रत्तिसंज्ञकमिदं कर्म। तत्कस्मिन्काले कर्तव्यमित्याह—स पिता यदा यस्मिन्काले प्रैष्यन्मरिष्य-

नाम तदाह—संप्रत्तिरितीति। तदेव कर्म विशदयति—पुत्रे हीति। अनेन प्रकारेणेति वक्ष्यमाणप्रका-

'अब मैं मरूँगा' ऐसा अरिष्ट उपस्थित हुआ समझता है, उस समय पुत्र को बुलाकर इस प्रकार कहता है—'तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है' इस प्रकार कहे जाने पर वह पुत्र उत्तर में कहता है। वह शिक्षित होने के कारण पहले से ही जानता है कि मुझे यह करना चाहिए, इसलिए कहता है—

१ नामधेयमिति—तदुक्तं वार्तिके 'संप्रत्तिरिति नामैतदात्मसंस्कारकर्मणः" ॥२८५॥ इति। स्नानादिवदुपासितुः स्वगतसंस्कारकर्मणः संप्रत्तिसंज्ञेत्यर्थः। संप्रत्तिः संप्रदानं विसर्जनं निक्षेप इति यावत्। २ स्वदेहसंपाद्याध्ययनादिव्यापारसम्प्रदानमिति। ३ वक्ष्यमाणेन।

कस्माद्यागिनहोत्रादिकं तथा" ॥ ३०७-३११ ॥ "लब्धव्यश्चात्मकफलो भावनाज्ञानकर्मभिः ॥ संन्यस्ताशेषकर्मा सन्बोध्यतेऽजातशत्रुणा ॥ नामरूपक्रियादेहः सर्वोऽस्मीत्यभिमानवान्। यतस्त्वज्ञोऽधिकार्यत्र विद्याया उपवर्ण्यते। अयं लोकश्च पुत्रेण यादृशेन च जीयते। तादृक्पुत्रोऽत्र वक्तव्य इत्यारब्धोत्तरा श्रुतिः ॥ पुत्रकर्मापरज्ञानं पितृमरलोकतः। व्याख्यातो नियमोऽन्योन्य फलसाधनसंगतेः ॥ पुत्रकर्मार्थमात्रत्वाच्च पृथक्साधनान्तरम्। जाया मानुषवित्तं च धर्मैकार्थस्वकारणात् ॥ 'स्वरूपलाभमात्रेण' साधनत्वं निगच्छतः। कर्मज्ञाने सुतस्तस्य साधनत्वं व्रजेत्कथम् ॥ इत्येवमभिसम्बन्धो वक्तुर्भाष्यकृतः स्फुटः। अस्मदुक्ताविरोधीति तेन नेहातियत्यते" ॥ २७२-२७८ ॥ "कर्मस्य प्रव्रजिष्यन्वा प्रैष्यन्नित्यभिधीयते। धातूपसर्गयोर्मुख्यस्तथाऽर्थोऽप्याश्रितो भवेदिति" ॥ २८६ ॥ अथातः संप्रत्तिरित्यादेस्तात्पर्यमाह—नीत्वेति ॥ क्रमसंन्यासाङ्गत्वेन संप्रत्तिरित्यत्र काठकश्रुतिं संवादयति—य इति। यथा क्रमसंन्यासाङ्गं संप्रत्तिस्तथा योऽनुक्रमेण संन्यस्यति स संन्यस्तो भवति। कोऽयं संन्यास उच्यते कथं संन्यस्तो भवतीत्युपक्रम्य य आत्मानं (श्रवणादिभिः) क्रियाभिः सुगुप्तं करोतीत्यादिनेतिकर्तव्यताजातमुक्त्वा सशिखान्केशान्निकृन्त्य विसृज्य यज्ञोपवीतं निष्क्रम्येति संन्यासं विधाय पुत्रं दृष्ट्वा त्वं ब्रह्म (वेदः) त्वं यज्ञस्त्वं लोकस्त्वं सर्वमित्यनुमन्त्रयीतेति स्पष्टमिदं संप्रत्तिवचो दृष्टं तदेषा स्यात्क्रमसंन्यासाङ्गमित्यर्थः ॥ अस्तु तर्हि संन्यासमात्रस्यैव संप्रत्तिरङ्गं नेत्याह—अननुक्रमेति। ब्रह्मचारिणोऽपुत्रत्वात्तस्य संप्रत्त्ययोगात्तस्यास्तत्संन्यासाऽनङ्गतेत्यर्थः ॥ अस्तु तर्हि गृहस्थमात्रसंन्यासाङ्गं सेत्याशङ्क्य पुत्रिगृहिसंन्यासाङ्गं सेति वक्तुमपुत्रिणोऽपि तस्य संन्यासं साधयति—यदीति। यद्यपुत्रो भवत्यात्मानमेव सर्वं ध्यात्वाऽनपेक्षमाणः प्राचीमुदीचीं वा दिशं प्रव्रजेदित्यादिवाक्यमपुत्रस्यापि गृहिणः संन्याससंभवे घटते नान्यथेत्यर्थः। नेदमपुत्रिगृहिविषयं किन्तु ब्रह्मचारिसंन्याससाधकमित्याशङ्क्याऽऽह—

सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठत्यथैनमेते दैवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥ १७ ॥

जाता है। किसी असावधानी से उस पिता के द्वारा कोई कर्तव्यकर्म पूर्ण नहीं हुआ होता तो उस कर्म से उसका पुत्र उसे मुक्त कर देता है। उसका पुत्र नाम इसीलिए है, क्योंकि अपूर्णकर्म की पूर्ति के द्वारा वह पिता का त्राण करता है। वह पिता पुत्र के द्वारा ही इस लोक में प्रतिष्ठित होता है। फिर उस पिता में ये वागादि हिरण्यगर्भसम्बन्धी, अमरणधर्मा प्राण प्रवेश करते हैं ॥१७॥

न्मरिष्यामीत्यरिष्टादिदर्शनेन मन्यतेऽथ तदा पुत्रमाहूयाऽऽह—त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति। स एवमुक्तः पुत्रः प्रत्याह स तु पूर्वमेवानुशिष्टो जानाति मयैतत्कर्तव्यमिति तेनाऽऽहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति। एतद्वाक्यत्रयम्।

रोक्तिः। अरिष्टादीत्यादिपदेन दुःस्वप्नादिसंग्रहः। प्रत्याह वाक्यत्रयमिति संबन्धः। पुत्रस्याहं ब्रह्मेत्यादिप्रतिवचने हेतुमाह—स त्विति। मया कार्यं यदध्ययनादि तदेवावशिष्टं त्वया कार्यमिति पुत्रस्य प्रागनुशिष्टताभावे प्रतिवचनानुपपत्तिरित्यर्थः।

'मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं लोक हूँ'। यह वाक्यत्रय है।

इन वाक्यों का अर्थ गूढ़ है ऐसा समझते हुए श्रुति इसकी व्याख्या करने के लिए प्रवृत्त होती है। 'यद्वै किञ्च' अर्थात् जो कुछ भी अवशिष्ट 'अनूक्तम्' अर्थात् अध्ययन किया हुआ और अध्ययन

---

१ कथं मृतिज्ञानमित्यत्राह—अरिष्टादीति। अरिष्टं मरणचिह्नम्। २ एतदिति—पितुरत्राध्ययनादिकर्तव्यावशिष्टमित्यर्थः। ३ तेनेति—मत्कार्याध्ययनादिशेषस्त्वया कार्य इति शिक्षितत्वेनेत्यर्थः। ४ पूर्वमेव शिक्षितत्वं तस्य व्यतिरेकमुखेनाह—मयेत्यादिना।

निरस्तेति। यद्यपुत्र इति। प्राप्तनिषेधत्वादप्राप्तनिषेधस्यागतिकगतित्वादब्रह्मचारिण्यप्राप्तेर्गृहस्थे च प्राप्तेन ब्रह्मचारिविषयमेतदित्यर्थः॥ ऋणापाकरणस्मृतेः सपुत्रस्यापुत्रस्य वा गृहस्थस्यैव संन्यासो नान्यस्येत्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मचर्यादिति। प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे स्मृतेरप्रामाण्यं सर्वभवार्तिके साधितमिति भावः॥ पुत्रोत्पत्त्यादिहेतोरेव मुक्तिसिद्धर्नार्थः संन्यासेन तत्साध्यज्ञानेन् चेत्याशङ्क्याऽऽह—वेदेति। वेदाहमेतं पुरुषं मित्यारभ्य तमेव विद्वानमृत इह भवतीति वाक्यात्तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेतीत्यवधारणान्नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति निषेधाच्च ज्ञानादेव मुक्तिरित्यर्थः॥ तत्रैव वाक्यान्तरमाह—नेति। दक्षिणास्तत्प्रधाना कर्मिणो दक्षिणमार्गगामिन इत्यर्थः। कैवल्यमुक्तिस्तदा परामृष्टमविद्याध्वस्तिमुक्तिन च सा विद्या विना निरसितुं शक्या तयोरेव विरोधादतो विद्यातो मुक्तिं मुखतो (साक्षात्) वदद्वाक्यं न्यायवदशक्यं हातुमित्याह—इति न्याय्यमिति॥ ननु पुत्रिणो गृहिण संन्यासाङ्गं संप्रत्ति संप्रत्तिवाक्योक्तेत्ययुक्तं न हीह तदङ्गत्वेन सोऽभ्यते किंतूपस्थितमृतेरुपासकस्योपास्त्यङ्गत्वेन सा विधीयते तत्राऽऽह—संन्यासमिति। अमत्र योऽनुक्रमेणत्यादौ। सर्ववेदान्तप्रत्ययन्यायादुपनिषदन्तरसिद्धमिहाप्यविरुद्धमादेयमिति

एतस्यार्थस्तिरोहित इति मन्वाना श्रुतिर्व्याख्यानाय प्रवर्तते-यद्वै किंच यत्कि-ञ्चावशिष्टमनूक्तमधीतमनधीतं च तस्य सर्वस्यैव ब्रह्मेत्येतस्मिन्पद एकत्वं योऽध्ययन-

यद्वै किंचेत्यादिवाक्यानां पुत्रानुमन्त्रणवाक्यैरर्थभेदाभावात्पुनरुक्तिरित्याशङ्कयाऽऽह—एतस्येति । यद्वै किंचेत्यादिवाक्ये वाक्यार्थमाह—योऽध्ययनेति । त्वं ब्रह्मेतिवाक्यवत्त्वं यज्ञ इति वाक्यमपि व्याख्यं

नहीं किया हुआ है, उस सभी की 'ब्रह्म' इस पद में एकता है। तात्पर्य यह है कि जो वेदविषयक अध्ययन कार्य इतने समय तक मेरे द्वारा करने योग्य था, वह आज से 'त्वं ब्रह्म' यानी तू उसका करने वाला हो। तथा 'ये वै के च यज्ञा' अर्थात् मेरे द्वारा अनुष्ठान करने योग्य जो कुछ भी अनुष्ठित और

१ एकार्थत्वमिति यावत्। २ आदिना त्वं ब्रह्मेति मन्त्रवाक्यम्। घटकत्वं सप्तम्यर्थः। वाक्यार्थं सपिण्डितार्थं विवक्षितार्थमिति यावत्।

भाव ॥ वाक्यशेषाच्चात्र सन्यासविधिरित्याह—सर्वेति। एकमेव व्रत चरेदित्यत्र जीवत सर्वकर्मनिवृत्तिर्विधीयते तच्च व्रत सन्यासिन्येव घटतेऽतोऽत्र तद्विधिरित्यर्थ । विधीयमानव्रतस्य सर्वकर्मनिवृत्तौ पर्यवसानादिति हिशब्दार्थ ॥ त्व ब्रह्मेत्यादि वाक्यमपि कृतसप्रत्तिकस्य सन्याससाधकमित्याह—सन्नामितेति। यदि पिता कृत-सप्रत्तिको यावज्जीवति तावत्कर्माणि सर्वाणि सन्यस्यैव तिष्ठति तर्हि पुत्रे समर्पितात्मकर्तव्यताकलापस्यापि पितु-स्त्व ब्रह्मेत्यादि पुत्र प्रति वाक्यमर्थवद्भवत्यतो यथोक्तवाक्यादपि प्रकृते सन्याससिद्धिरित्यर्थ ॥ अथ सन्यासे सत्येव वाक्यस्यार्थवत्त्व तत्राऽऽह—सर्वात्मेति। यतिपयकर्मत्यागेऽपि नाग्निहोत्रादित्यागोऽत्र विवक्षित इत्याशङ्कयाऽऽह—न चेदिति। सप्रत्तिवाक्ये सर्वकर्म त्यक्तु नेष्ट चेत्कृतसप्रत्तिकेनाप्येतत्कार्यमिति वाक्य स्यान्न च तदस्त्यत सर्वकर्मत्यागोऽत्रेष्ट इत्यर्थ ॥ क्रमसन्यासे सप्रत्तिवाक्यवत्काठकश्रुतौ योऽनुक्रमेणेत्याद्युक्तवाक्यवच्च ब्रह्मचारी वेदमधीत्य वेदौ वेदान्वा चरितब्रह्मचर्यो दारानाहृत्य पुत्रानुत्पाद्याग्निमाधाय यथाशक्ति यज्ञैरिष्ट्वा ताननुरूपाभि-र्वृत्तिभि सविभज्य तस्य सन्यासो गुरुभिरनुज्ञातस्येत्युपक्रम्यात ऊर्ध्वमनशनमपां प्रवेशन महाप्रस्थान वृद्धाश्रम वा गच्छेत्पुत्रैश्वर्ये वा वसेदिति कौषीतकिश्रुतावपि जीवतो गृहस्थैव सन्यासो नि सदिग्ध श्रूयतेऽतोऽपि न तदपह्नव इत्याह—कौषीतकीति। तां श्रुतिमेव सक्षिप्याऽऽह—पुत्रेति। प्रकृतसन्यासे स्मृतिरपि मानमित्याह—सन्यस्येति। "धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ॥ दशलक्षणानि धर्मस्य ये विप्रा समधीयते। अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ दशलक्षणक धर्ममनुतिष्ठन् हि मानव । वेदान्तान्विधिवच्छ्रुत्वा सन्यस्येदनृणो द्विज ॥ सन्यस्य सर्वकर्माणि सर्वदोषानपानुदन् । नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुख वसेत् ॥ एव सन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृह । सन्यासेनापहत्यैन प्राप्नोति परमां गतिम्" ॥ इति ब्रुवता मनुनापि क्रमसन्यासोऽङ्गीकृत । यदि कृतसप्रत्तिकस्यापि कार्यमग्निहोत्रादीत्याग्रहस्तदा श्रुतिस्मृतिवि-रोध स्यादित्याह—तद्विरुद्ध चेति ॥ यद्यपि श्रुतिस्मृत्योरग्निहोत्रादित्यागो विवक्षितस्तथाऽपि नात्र तद्विवक्षानि-मित्तमस्तीत्याशङ्कय न चेत्तित्यक्षितमित्युक्त प्रपञ्चयति—उपास्तीति। यथा कृतसप्रत्तिकस्योपास्तिफलमेव पृथिव्यै चैतमित्यादावुच्यते न कार्यान्तर तथा सर्वकर्मसन्यास सप्रत्तिवाक्येनाविवक्षितश्चेदग्निहोत्राद्यपि तस्यान-न्तरवाक्ये प्रतिप्रसूयेतान्न च तदभावात्सन्यासो विवक्षित इत्यर्थ ॥ किं च गार्ग्यं सर्वं कर्म सन्यस्याजातशत्रुमुप-गतो विद्यार्थमिति चतुर्थे श्रुतेरत्र तद्विधिरस्तीत्याह—लब्धेति ॥ ननु बालाके सन्यासित्वमसिद्धमजातशत्रूपगतेर्न हि सन्यासित्वे राजोपगतिर्युक्तेत्याशङ्कयोक्तमेव प्रपञ्चयति—नामेति। अत्र बालाक्यजातशत्रुसवादे। सन्यासिनो ब्राह्मणस्य क्षत्रियोपसत्त्यभावेऽपि तदनुज्ञया श्रवणादि युक्तमाधुनिकक्वनिष्ठसन्यासिनो ज्येष्ठसन्यासिनस्तद्दृष्टेरिति भाव ॥ सप्रत्तिवाक्यस्य स्वमतेन सबन्धमुक्त्वा भाष्योक्तमनुवदति—अर्थमिति। कर्मादिना पितृलोकादिवदिति

व्यापारो मम कर्तव्य आसीदे तावन्तं कालं वेदविषयः स इत ऊर्ध्वं त्वं ब्रह्म त्वत्कर्तृकोऽस्त्वित्यर्थः । तथा ये वै के च यज्ञा अनुष्ठेयाः सन्तो मयाऽनुष्ठिताश्चाननुष्ठिताश्च तेषा सर्वेषा यज्ञ इत्येतस्मिन्पद एकतैकत्वं मत्कर्तृका यज्ञा य आसस्त इत ऊर्ध्वं त्व यज्ञस्त्वत्कर्तृका भवन्त्वित्यर्थः । ये वै के च लोका मया जेतव्या सन्तो जिता अजिताश्च तेषा सर्वेषा लोक इत्येतस्मिन्पद एकता । इत ऊर्ध्वं त्व लोकस्त्वया जेतव्यास्ते । इत ऊर्ध्वं मयाऽध्ययनयज्ञलोकजयकर्तव्य क्रतुस्त्वयि समर्पितोऽहं तु मुक्तोऽस्मि कर्तव्यताबन्धनविषयात्क्रतो. ।

व्याख्यातुमित्याह—तथेति । 'ब्राह्मणार्थं संगृह्णाति—मत्कर्तृका इति । त्व लोक इत्यस्य व्याख्यान ये वै केचेत्यादि । तत्र पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—इत इति । किमिति त्वत्कर्तृकमध्ययनादि मयि समर्प्यते त्वयैव कि नानुष्ठीयते तत्राऽऽह—इत ऊर्ध्वमिति । कर्तव्यतैव बन्धनं तद्विषय क्रतु सकल्प-

अननुष्ठित यज्ञ थे, उन सब की 'यज्ञ' इस पद मे एकता है। तात्पर्य यह है कि जो यज्ञ अब तक मै किया करता था, वे अब तेरे द्वारा किये जाने वाले हो। 'ये वै के च लोका' तथा जो कोई भी लोक मेरे द्वारा जीतने योग्य होकर जीते गये अथवा नही जीते गये, उन सब लोको की 'लोक' पद मे एकता है। अब से 'तू लोक है, अर्थात वे लोक तेरे द्वारा जीते जाने योग्य हैं। आज के बाद अध्ययन, यज्ञ और लोकजयात्मक कर्तव्य का सकल्प तुझे सौंप दिया, अब मै इनकी कर्तव्यता के बन्धनविषयक सकल्प से छूट गया। सुशिक्षित होने के कारण उस पुत्र ने वह सभी उसी प्रकार से निश्चय कर लिया।

१. ब्रह्मचर्यादारभ्याद्यपर्यन्तम् । २ सकल्प । ३ मन्त्रोपलक्षणम् ।

प्रथमचकारार्थ । कर्मवद्विद्यावच्चेति वक्तु द्वितीयश्चकार । सप्तमी निर्धारणे ॥ तमेव संबन्ध साधयितु वृत्तमनुद्रवति—पुत्रेति । पुत्रादित्रयस्य लोकत्रयेण यथाक्रमं फलसाधनत्वमित्यन्योऽन्यसगतेर्नियमो व्याख्यात इति योजना । पुत्रादिवज्जायावित्तयोरपि प्रकृतत्वात्फलविशेषे विनियोगो वाच्योऽपि नोच्यते चेन्न पुरुषार्थत्वान्वयित्व तयोरुपपद्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—पुत्रेति । साधनान्तर स्वतन्त्र साधन चकारात्कर्मणो न पृथगिति सबन्ध ।। पुत्रकर्मणोरेव जायावित्तयोरन्तर्भावात्तयो सिद्धेऽपि फलसबन्धे तदन्तर्भूतयोस्तयोरपि तत्सबन्धस्य सिद्धेस्तयोर्न स्वातन्त्र्येण फलान्वयानुकीर्तनमपेक्षितमित्यर्थ ॥ नन्वेव साधनत्रयनियमेऽपि विद्याकर्मणी हित्वा किमिति पुत्रनिरूपणमित्याशङ्क्याऽऽह—स्वरूपेति । साधनत्व लोकद्वयस्येति शेष । क्रियारूपत्वादित्यर्थ । पुत्रस्तु मनुष्यलोकजये न तथा हेतुर्द्रव्यत्वाद्य हि द्रव्य क्रियाऽनाविष्ट साधन दृष्टमतस्तस्य लोकजये कथ साधनतेति पृच्छति—सुत इति । तस्य मनुष्यलोकस्येत्यर्थ ॥ एव चोद्ये पुत्रस्य लोकहेतुत्वज्ञापनार्थं सप्रतिवाक्यमित्याह—इत्येवमिति । नाय सबन्ध सूचितोऽपि तु मुखतो दर्शित इति वक्तु स्फुट इति,विशेषणमय सबन्धोऽस्मदुक्तसबन्धाविरोधित्वान्न दूष्यत इत्याह—अस्मदिति । क्रमसन्यासाङ्ग सप्रत्युक्तिरित्यस्मदुक्तसम्बन्धस्तस्याय भाष्योक्त सबन्धो न विरोधी संन्यासकाले सप्रत्यनुष्ठाने पुत्रेणैतल्लोकजयसिद्धेस्तेन भाष्योक्ते सबन्धे न यत्यते दूषणायेति शेष । आपाततोऽत्र न दोषोऽस्तीति द्योतनार्थमतीत्युक्तम् ॥ क्रमसन्यासाङ्गत्वेन सप्रत्तिविधिपक्षे प्रैष्यन्नित्यस्यार्थमाह—कर्मभ्य इति । भाष्योक्त पक्षमपेक्ष्यात्रातिशयमाह—धात्विति । प्रैष्यन्नित्यस्य पारिव्राज्येऽर्थे सति धातोरिणो गत्यर्थस्य प्रोपसर्गस्य च मुख्योऽर्थ स्वीकृत स्यात्प्रकर्षेण कर्मभ्यो निर्गमिष्यन्नस्मीति हि तदाऽर्थो भवेत्तथा चेयमेव व्याख्या युक्तेत्यर्थ ॥

स च सर्वं तथैव प्रतिपन्नवान्पुत्रोऽनुशिष्टत्वात् ।

तत्रेमं पितुरभिप्रायं मन्वानाऽऽचष्टे श्रुतिरेतावदेतत्परिमाणं वा इदं सर्वं यद्गृहिणा कर्तव्यं यदुत वेदा अध्येतव्या यज्ञा यष्टव्या लोकाश्च जेतव्या एतन्मा सर्वं सन्नयं सर्वं होमं भारं मदधीनं मत्तोऽपच्छिद्याऽऽत्मनि निधायेतोऽस्माल्लोकान्मा मामभुनजत्पालयिष्यतीति लृडर्थे लङ् छन्दसि कालनियमाभावात् । यस्मादेवं संपन्नः पुत्रः पितरमस्माल्लोकात्कर्तव्यताबन्धनतो मोचयिष्यति तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यं लोकहितं पितुराहुर्ब्राह्मणाः । अत एव ह्येनं पुत्रमनुशासति लोक्योऽयं नः स्यादिति पितरः ।

स पिता यदा यस्मिन्काल एवंवित्पुत्रसमर्पितकर्तव्यताक्रतुरस्माल्लोकात्प्रैति म्रियतेऽथ

स्तस्मादिति यावत् । स पुत्र इत्यादेस्तात्पर्यमाह—स चेति ।

तत्रेति यथोक्तानुशासनोक्तिः । एतन्मा सर्वमित्यादि प्रतीकमादाय व्याचष्टे—सर्वं हीति । अनद्यतने भूतेऽर्थे विहितस्य लङो भविष्यदर्थत्वं कथमित्याशङ्क्याऽऽह—छन्दसीति । पुत्रानुशासनस्य फलवत्त्वमाह—यस्मादित्यादिना ।

कृतसप्रतिकः सन्पिता किं करोतीत्यपेक्षायामाह—स पितेति । कोऽयं प्रवेशो न हि विशिष्टस्य

यहाँ श्रुति पिता का अभिप्राय दृष्टिपथ में रखते हुए यह बात कहती है। गृहस्थ पुरुष के लिए जो कर्तव्य है, वह 'एतावत्' अर्थात् इतना ही है कि वेदों का अध्ययन करना चाहिए, यज्ञों का यजन करना चाहिए और लोकों पर जय प्राप्त करनी चाहिए। 'एतन्मा सर्वं सन्नयम्' इस श्रुति का भाव यह है कि यह पुत्र सब कुछ होकर मेरे ऊपर रहने वाले इस समग्र भार का मुझ से लेकर मुझे स्वाधीन-कर्तव्य वाला करके इस लोक से जाने पर 'मा अभुनजत्' अर्थात् मेरा पालन करेगा (इस अभिप्राय से पिता ने उसके प्रति 'त्वं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य कहे)। यहाँ 'लृट्' के अर्थ से 'लङ्' लकार का प्रयोग हुआ है, क्योंकि वेद में काल का (विकरण आधिक्य) नियम नहीं है। क्योंकि इस प्रकार सुशिक्षित हुआ पुत्र पिता को इस लोक से कर्तव्यताबन्धन से मुक्त करा देगा। इसलिए ब्राह्मणसमुदाय

---

१ निश्चितवान् । २ उक्तानुशासने । ३ कर्मणा । ४ कर्तव्यस्यैतावत्त्वमेव दर्शयति—यदुतेति । ५ सन्नयशब्दं व्याचष्टे—भारमिति । तथा च कोशः—पश्चादवस्थायि बलं समवायश्च सन्नयाविति समवायः समुदायः स एवात्र भारः । सन् अयमिति वा च्छेदः । ६ स्वाधीनकर्तव्यतामापाद्येत्यर्थः । ७ इतीति—इत्यभिप्रायेण पिता त्वं ब्रह्मेत्यादिवाक्यमुक्तवानिति सम्बन्धः । ८ कालनियमाभावादिति—विकरणनियमाभावोऽप्युपलक्षणीयस्तेन विकरणाधिक्यमित्यवधेयम् । ९ अनुशिष्टम् । १० पुत्रफलं प्रति यन्ते कर्मणि । ११ अत अनुशिष्टस्य लोक्यत्वात् । १२ अद्यतना अपि । १३ एवंविदिति—अयमात्मा प्रजापतिरस्मीत्युपासीनः साक्षात्कृततद्भाव इत्यर्थः । अहमस्म्यनन्तवाङ्मनःप्राणात्मा इति जानान इति यावत् । १४ मन्त्रवाक्यस्य । १५ न हि विशिष्टस्येति—अयं भावः उपाधेरुपहितस्य प्रतीचो वा मुख्या सङ्क्रान्तिर्नाऽऽद्योऽध्यक्षविरोधात् न हि पितृगतं शरीरादि पुत्रे सङ्क्रान्तमुपलभ्यते । न द्वितीयः सवितुर्जले सङ्क्रान्तिवदुपहितस्य पितुरपि स्वकार्यसङ्कल्पस्य पुत्रे अर्पणरूपाभासात् (प्रतिबिम्बात्) तत्र स्वप्रवेशभ्रमहेतौ सङ्क्रान्त्युक्तेः अन्याहृशसङ्क्रान्तेरध्यक्षविरुद्धत्वात् न तृतीयः प्रतीचः कूटस्थत्वादिति ।

तदैभिरेव प्रकृतैर्वाङ्मनःप्राणैः[1] पुत्रमाविशति पुत्रं व्याप्नोति । अध्यात्मपरिच्छेदहेत्वपगमात्पितुर्वाङ्मनःप्राणाः स्वेनाऽऽधिदैविकेन रूपेण पृथिव्यग्न्याद्यात्मना भिन्नघटप्रदीपप्रकाशवत्सर्वमाविशन्ति । तैः प्राणैः सह पिताऽप्याविशति वाङ्मनःप्राणात्मभावित्वात्पितुः । अहमस्म्यनन्ता वाङ्मनःप्राणा अध्यात्मादिभेदविस्तारा[3] इत्येवं भावितो हि पिता । तस्मात्तत्प्राणानुवृत्तित्वं पितुर्भवतीति युक्तमुक्तमेभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशतीति । सर्वेषां ह्यसावात्मा भवति पुत्रस्य च । एतदुक्तं भवति—यस्य पितुरेवमनुशिष्टः पुत्रो भवति । सोऽस्मिन्नेव लोके वर्तते पुत्ररूपेण नैव मृतो मन्तव्य इत्यर्थः । तथा च श्रुत्यन्तरे—

केवलस्य वा बिले सर्पवत्प्रवेशः संभवत्यत आह—अध्यात्मेति । हेतुर्मिथ्याज्ञानादिः । वागादिष्वाविष्टेष्वपि कुतोऽर्थान्तरस्य पितुरावेशधीरित्याशङ्क्याह—वागिति । तद्भावित्वमेव स्फोरयति—अहमिति । भावनाफलमाह—तस्मादिति । 'पुत्रविशेषणात्परिच्छिन्नत्वं पितुस्तदवस्थमित्याशङ्क्याह—सर्वेषा हीति । मृतस्य पितुरितो लोकाद्व्यावृत्तस्य कथं 'यथोक्तरूपत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—एतदुक्तमिति । पुत्ररूपेणात्र स्थितिमेव विभजते—नैवेति । मृतोऽपि पिताऽनुशिष्टपुत्रात्मनाऽत्र' वर्तते 'नास्मादत्यन्तं व्यावृत्तः फलरूपेण च परत्रेति भावः । उपपत्तेऽर्थं ऐतरेयश्रुतिं संवादयति—तथा चेति । पष्ठीप्रथमाभ्या पितापुत्रा उच्येते' ।

इस प्रकार सुशिक्षित पुत्र को पिता के लिए 'लोक्यम्' अर्थात् लोक मे हितकर बतलाते हैं । इसलिए पितृगण (आज भी) इस पुत्र को अपने लिए लोक मे हितकर होने का उपदेश करते है ।

'स.' यानी वह पिता, 'यदा' यानी जिस समय इस प्रकार जानने वाले पुत्र को अपनी कर्तव्यता का सकल्प सौंपकर इस लोक से 'प्रैति' अर्थात् मरता है, तब 'एभि' यानी इन प्रकृत वाक्, मन और प्राणो से ही पुत्र मे 'आविशति' यानी व्याप्त हो जाता है । अध्यात्मपरिच्छेदरूप हेतु की निवृत्ति हो जाने के कारण पिता के वाक्, मन और प्राण अपने पृथिवी, अग्नि आदि आधिदैविकरूप से फूटे हुए घडे मे दीपक के प्रकाश के समान सब मे व्याप्त हो जाते हैं । क्योकि पिता भी तो वाक्, मन और प्राण का स्वरूपभूत ही है; इसलिए वह पिता भी उन प्राणो के साथ सब मे व्याप्त हो जाता है । पिता इस प्रकार की भावना से अनुप्रेरित रहता है कि "मैं ही अध्यात्मादिभेद विस्तार वाले अनन्त वाक्, मन और प्राण हूँ" । अतः पिता के उन प्राणो की अनुवृत्ति होती है । ऐसे मे यह उचित ही कहा है कि 'वह इन प्राणो के साथ ही पुत्र मे व्याप्त होता है' क्योकि वह सभी का और पुत्र का भी आत्मा हो जाता है । इससे सिद्ध होता है कि जिस पिता का इस प्रकार सुशिक्षित पुत्र होता है, वह पुत्ररूप से इसी लोक मे रहता है । भाव यह हुआ कि उसे मरा हुआ नही समझना चाहिए । अन्यत्र श्रुतिवाक्य मे भी कहा गया है । "उसका (स्वदेह, पुत्रदेहरूप द्विविध आत्मा मे) यह पुत्रदेहरूप दूसरा

१ सह । २ पुत्रमाविशतीति—सर्वस्य सङ्कल्पस्य पुत्रे समर्पितत्वात् । यथोक्तप्राणात्मास्मीति सङ्कल्पस्यैवावशिष्टत्वात्तत्सङ्कल्पसंस्कृतैर्वागादिभिर्देवं सर्वत्र प्रविशद्भिः सह पिता प्रविशन् पुत्र प्रविशतीति व्यपदिश्यत इत्यभिप्रेत्याह—पुत्र व्याप्नोतीति । ३ इत्येव भावित —उक्तप्रकारकवासनावासितचित्त । ४ आधिदैविकप्राणानुगतत्वम् । ५ पुत्र प्रविशतीत्युक्ते । ६ पुत्रात्मत्वम् । ७ अत्रेति—कर्तव्यशेषसिद्धये यथाशक्त्यनुतिष्ठन्निति शेष । ८ मनुष्यलोकात् । ९ वुच्येते इति पाठ ।

"सोऽस्यायमितर आत्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते" इति ।[1]

※अथेदानीं पुत्रनिर्वचनमाह—स पुत्रो यदि कदाचिदनेन पित्राऽक्ष्णया[2] कोणच्छिद्रतोऽन्तराऽकृतं भवति कर्तव्यम् । तस्मात्कर्तव्यतारूपात्पित्राऽकृतात्सर्वस्माल्लोकप्राप्तिप्रतिबन्धरूपात्पुत्रो मुञ्चति मोचयति तत्सर्वं स्वयमनुतिष्ठन्पूरयित्वा । तस्मात्पूरणेन त्रायते स

स यदीत्यादिवाक्यमवतार्य व्याकरोति—अथेत्यादिना । अकृतमकृतादिति च च्छेदः । तस्मादिति प्रतीकमादाय व्याकरोति—पूरणेनेति । तदेव प्रपञ्चयति—इदं तदिति । पुत्रपदनिष्पत्तिं निगमयति

आत्मा पुण्यकर्मों के लिए प्रतिनिधि बना दिया जाता है ।" इत्यादि ।

(पिता के पुत्रप्रवेशनिरूपण के पश्चात्) अब पुत्रशब्द की निरुक्ति की जाती है—'स' यानी वह पुत्र, 'यदि' यानी कदाचित् 'अनेन' उसके इस पिता द्वारा 'अक्षणया' अर्थात् असावधानी या प्रमाद से कोई कर्त्तव्यकर्म अननुष्ठित ही रह जाता है, 'तस्मात् सर्वस्मात्' यानी पिता द्वारा अननुष्ठित लोकप्राप्ति के प्रतिबन्धरूप, उस सबका कर्तव्यरूप से पुत्र स्वयं अनुष्ठान करते हुए उसको पूरा करके

१ सोऽस्येति—द्वावात्मानौ भवतः स्वदेहः पुत्रदेहश्चेति तयोर्मध्येऽस्य पितुः स पूर्वोक्तोऽयं प्रत्यक्ष आत्मा पुत्रदेहः पुण्येभ्यः शास्त्रोक्तेभ्यः कर्मभ्योऽग्निहोत्रादिभ्यः तन्निष्पादनार्थं प्रतिधीयते पित्रा यत्कर्तव्यं तत्करणाय प्रतिनिधित्वेन स्वगृहे स्थाप्यत इत्यर्थः । २. पितुः पुत्रप्रवेशनिरूपणानन्तरम् । ३ कोणेति—कस्मिंश्चित्कर्मैकदेशे । कर्तव्यविस्मृतं सदकृतं भवतीत्यभिप्रेत्याह—अन्तराऽकृतमिति । प्रमादतोऽननुष्ठितं भवतीति यावत् । ४ उक्तपुत्रत्वम् । ५ अनुशिष्टत्वरूपम् ।

※अथेत्यादि चैनमित्यादीत्यन्तभाष्यार्थसंग्राहकाणि दश वार्तिकानि प्रदर्श्यन्ते—"पुत्राधिकारनुत्त्यर्थमथशब्दः प्रयुज्यते ॥ कृतसप्रतिक देवा प्राणा वागादयः समम् । पितरं सविशन्त्युक्ता सदातद्भावभावितम् ॥ पृथिव्यै चैनमित्यादि तद्व्याचष्टे यथा तथा । हेत्वर्थो वाऽथशब्दोऽयं यस्मात्मत्रामितश्च्यु तु ॥ तद्वियोगादतो देवा आविशन्ति यथोदिता ॥ श्रुतिस्था या हि वाक्तस्याः पञ्चमीयं परा भवेत् । ततो लब्धात्मलाभाया प्रथमा जन्महेतुता ॥ वाचं सश्रुत्य वाक्यस्था चिनुते भावनामयीम् । उपादानमतो भौती स्याद्वाणी भावनात्मनः ॥ न हि वस्तु स्वतःसिद्धमन्यत्स्यात्परमात्मनः । सदेवेत्यादिकं शास्त्रं बाधितं स्यात्तथा सति ॥ धिया धियेति कार्यत्वे कृत्स्नस्य जगतः स्वयम् । श्रुत्यैव स्पष्टमाख्यात नातोऽभिव्यक्तिरिष्यते ॥ आर्तंश्रुतेश्च प्राणादि वाचारम्भणशास्त्रतः । नाऽऽत्मवत्स्यात्स्वतःसिद्धमुत्पत्त्यादिश्रुतेस्तथा ॥ कर्तृभिः क्रियते तस्माद्भावनाज्ञानकर्मभिः । व्यष्टात्मकमिदं विश्वं नातोऽभिव्यक्तिरिष्यते ॥ ब्रह्म वेद तथात्मैव पुरुषश्चेति चाऽऽगमः । एवं सत्यर्थवान्स्यादन्यथा स्यादनर्थकः" ॥३२४–३३४॥ इति । अनुशिष्टपुत्रेणैतल्लोकजयिनं पितरमधिकृत्याथैनमित्यादिवाक्यं तत्राथशब्दार्थमाह—पुत्रेति । पुत्रस्य प्रकृतत्वादेनमिति तन्निर्देशे शङ्किते तन्निवृत्त्यर्थमथेत्युक्तमित्यर्थः ॥ प्रकरणविच्छेदायाथशब्द इति व्याख्यातमिदानीमेनमित्यादेरर्थमाह—कृतेति । तेषां मध्ये कस्याऽऽदौ प्रवेशः कस्य वा पश्चादित्यपेक्षायामाह—सममिति । उक्ता इत्यमृतत्वोक्तिः अन्यस्या यत्वं विरुद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—सदेति । दैवेषु सौत्रेषु प्राणेष्वात्मभावभावितमित्यर्थः ॥ एनं प्रविशन्तीत्युक्तं तत्प्रकारबुभुत्सायामाह—पृथिव्यै चेति । तदिति प्रवेशस्वरूपं परामृश्यते । अथैनमित्यादावथशब्दस्य प्रकरणविच्छेदकत्वमुक्त्वाऽर्थान्तरमाह—हेत्विति । हेतुरूपमर्थं स्फोरयति—यस्मादिति ॥ हेतुमनूद्यैनमित्यादेरर्थं निगमयति—तदिति । कर्तव्यतासङ्कल्पस्तच्छब्दार्थः । यथोदिता इति अमृतानां प्राणानां परामर्शः ॥ वर्तमानस्थूलदेहं हित्वा स्थितमुपासकं दैवाः प्राणा आविशन्ति तत्प्रकारं च पृथिव्यै चेति व्याकरोतीत्युक्तमिदानीं

पितरं यस्मात्तस्मात्पुत्रो नाम । इद तत्पुत्रस्य पुत्रत्वं यत्पितुश्छिद्रं पूरयित्वा त्रायते । स पितैवविधेन पुत्रेण मृतोऽपि सन्नमृतोऽस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठत्येवमसौ पिता पुत्रेणेमं मनुष्यलोक जयति । न तथा विद्याकर्मभ्या देवलोकपितृलोकौ स्वरूपलाभसत्तामात्रेण ।

—स पितेति । पुत्रेणैतल्लोकजयमुपसहरति—एवमिति । यथोक्तात्पुत्राद्विद्याकर्मणोर्विशेषमाह—न तथेति । कथ तर्हि ताभ्यां पिता तौ जयति तत्राऽऽह—स्वरूपेति । तदेव स्फुटयति—न हीति । अनुशि-

पिता को मुक्त करा देता है । क्योंकि पिता के अवशिष्ट कर्तव्य की पूर्ति कर पिता का त्राण करता है इस निर्वचन से उसका नाम पुत्र पड़ा । पुत्र के पुत्रत्व होने मे यही कारण है कि वह पिता की त्रुटि को, छिद्रप्रयुक्तप्रत्यवाय से पूरा करके उसकी रक्षा करता है । इस प्रकार के सुशिक्षित पुत्र से वह पिता मृत होकर भी अमृत हो जाता है, उसकी इसी लोक मे प्रतिष्ठा होती है । इस प्रकार के सुशिक्षित पुत्र के द्वारा पिता इस मनुष्यलोक पर विजय प्राप्त करता है । विद्या और कर्म के द्वारा पुत्र की तरह वह देवलोक और पितृलोक पर उनके स्वरूपलाभ की सत्तामात्र से विजय प्राप्त नही करता । विद्या और कर्म (देव पितृलोक के) स्वरूपलाभ के सिवा पुत्र की तरह किसी व्यापारान्तर की अपेक्षा से लोकजय के कारण नही होते । फिर जिसने सप्रत्तिकर्म किया है, ऐसे (स्थूल से छूट कर

१ त्रुटिम् । २ छिद्रप्रयुक्तप्रत्यवायात् । ३ अनुशिष्टेन । ४ अनुशिष्टेन । ५ पुत्रवत् । ६ तर्हीति —तयो पुत्रवल्लोकजयहेतुत्वानभ्युपगमे । ७ तदेवति—तयो स्वरूपलाभमात्रेण लोकजयहेतुत्वमेवेत्यर्थ ।

पृथिव्यग्न्यारेव दैववाक्त्वात्कथमेतयैव पञ्चमी प्रथमा चेत्याशङ्क्याऽऽह—श्रुतिस्थेति । या श्रुमिदृष्टा प्राकृतैरशास्त्रैः पजनैरग्राह्या वाक्पूर्वसिद्धोपास्यसूत्ररूपा तस्या परस्तात्पृथिव्या अग्नेरिति चापादानपञ्चमी । आधाराधेयभूतो-पास्यसूत्रवाग्रूपादपादानात्प्राप्तप्रकृतोपासकफलभूतवाच परस्ताद्दैवी वागिति प्रथमेत्यर्थ । मनोवत्सूत्रीभूतवाचो प्राणवच्चोपासकप्रसिद्धिविषयत्व वक्तु हिशब्द । कथं सूत्रवाचो नश्वरत्व फलभूतोपासकवाच सिध्यति तत्राऽऽह—जन्मेति ॥ लब्ध प्राप्त आत्मलाभस्वरूपसद्भावो यया यस्या वाचा तया तस्या सकाशात्परा प्रथमा भवेत् । उपासकवाच सूत्रवाचो जन्मासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—वाचमिति । वाक्पीया सौत्री वाच वाक्यादेव ज्ञात्वा ध्यात्वा-र्यातोऽर्ध्वमिदमुपासकेन ध्यानफले वाच विलुतक्ष श्रुतिराय्यर ध्येयसूत्रवागुपादान ध्यातृवाचो भवतीति ध्यानस्याधित-ष्यधात्मभावमुपासक कारण कार्यत्वाद्भागाविशति कारणे कार्यविशस्य युक्तत्वादित्यर्थं । ननु सूत्रस्य स्वत सिद्धेस्तद्वागपि तथेति ध्यातृवाचोऽपि तदभिन्नाया जन्माभावाद्भिन्नघटदीपदीप्तिवदध्यारमोपाधिकत्वया वाचो व्यक्ति-मात्रमित्याशङ्क्य सूत्रादे स्वत सिद्धि दूषयति—न हीति । सूत्रादि न स्वत सिद्धमनात्मत्वाद्घटादिवदित्यर्थ । सूत्रादेरात्मवद्विद्यमानत्वे सदेव सोम्येदमित्यादिशास्त्रविरोध स्यादिति विपक्षे दोषमाह—सदिति ॥ तस्य स्वतोऽसिद्धत्वे हेत्वन्तरमाह—धियेति । सप्ता नात्मन समस्तस्य जगतो धिया धिया जनयते कर्मभिरिति श्रुत्या स्वयमेव कार्यत्व मुखतो दर्शित जगदात्मक च सूत्रमतो न तत्स्वत सिद्ध कार्यत्वाद्घटवदित्यर्थ । सूत्रादे स्वत सत्वाभावे ध्यातृवाचोऽपि तदभावात्तस्या न व्यक्तिरेव किन्तु सूत्रवागधीनत्वेन जन्मेति फलितमाह—नेति ॥ वागादे स्वतोऽसिद्धो हेत्वन्तरमाह—आर्तेति । प्राणादि न स्वत सिद्ध स्यादिति सम्बन्ध ॥ स्वतोऽसिद्धत्वे सिद्धमर्थमाह —कर्तृभिरिति । सूत्रवाचो ध्यातृवाचो व्यक्त्यनभ्युपगममुपसहरति—नात इति ॥ आत्मैव स्वतसिद्धो न सूत्रादिरित्यत्रैवानेकागमानुग्रह दर्शयति—ब्रह्मैवेति । पुरुष एवेद सर्वमित्यस्य पूर्वाभ्या समुच्चयार्थश्चकार । द्वितीयस्तु हेत्वन्तरसमुच्चये । नोऽस्माकम् । अन्यथा कस्यचिदनात्मनोऽपि स्वत सिद्धत्वे सति ॥

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै दैवी
वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति ॥ १८ ॥

इस सप्रत्ति कर्म करनेवाले मे पृथिवी और अग्नि से आधिदैविक वाक् का आवेश होता है, क्योंकि पृथिवी और अग्निरूपा दैवी वाक्, समग्र वाक् की उपादान भूता है। अतः वही दैवी वाक् है, जिससे पुरुष जो भी बोलता है; वह अमोघरूप से वैसा ही हो जाता है ॥१८॥

न हि विद्याकर्मणी स्वरूपलाभव्यतिरेकेण पुत्रवद्व्यापारान्तरापेक्षया लोकजयहेतुत्वं प्रतिपद्येते। अथ कृतसंप्रत्तिक 'पितरमेनमेते वागादयः प्राणा दैवा हैरण्यगर्भा अमृता अमरणधर्माण आविशन्ति' ॥१७॥

कथमिति वक्ष्यति पृथिव्यै चैनमित्यादि। एवं पुत्रकर्मापरविद्यानां मनुष्यलोकपितृलोकदेवलोकसाध्यार्थता प्रदर्शिता श्रुत्या स्वयमेवात्र' 'केचिद्बावदूकाः श्रुत्युक्त'विशेषार्थानभिज्ञाः सन्तः पुत्रादिसाधनानां मोक्षार्थतां वदन्ति। तेषां मुखापिधानं श्रुत्येदं' कृतं जाया

ष्टपुत्रेणैतल्लोकजयिनं पितरमधिकृत्यायमेनमित्यादि वाक्यं तद्व्याकरोति—अथेति। 'पुत्रप्रकरणविच्छेदार्थोऽथशब्दः ॥ १७ ॥

आवेशप्रकारबुभुत्सायामुत्तरवाक्यप्रवृत्तिं प्रतिजानीते—कथमित्यादिना। पृथिव्यै चेत्यादिवाक्यस्य व्यावर्त्यं 'पक्षं वृत्तानुवादपूर्वकमुत्थापयति—एवमिति। अत्रेति वैदिकानिर्धारयितुं सप्तमी। बहुवदनशीलत्वे हेतुः श्रुत्युक्तेति। मोक्षार्थता ऋणापाकरणश्रुतिस्मृतिभ्यां वदन्तीति शेषः। मीमांसकपक्षं प्रकृतश्रुतिविरोधेन दूषयति—तेषामिति। "कथमित्याशङ्क्य श्रुतेरादिमध्यावसानालोचनया पुत्रादेः

स्थित) उस पिता मे ये वागादिदेव "प्राणा अमृताः" हिरण्यगर्भसम्बन्धी अमरणधर्मा प्राण युगपत् प्रविष्ट होते हैं ॥१७॥

प्राण किस प्रकार प्रविष्ट होते हैं, उसे यह "पृथिव्यै चैनम्"—इत्यादि श्रुति बतलायेगी। इस प्रकार श्रुति ने स्वयं ही पुत्र, कर्म और अपराविद्या को मनुष्यलोक, पितृलोक, एवं देवलोक की साध्यार्थता दिखलाया। वैदिको मे कुछ मीमासक श्रुत्युक्त विशिष्टतात्पर्य से अनभिज्ञ पुत्रादिसाधनो की मोक्षार्थता बतलाते हैं। परन्तु श्रुति ने मीमासको का मुख बन्द कर दिया है, क्योंकि 'मेरी पत्नी हो' इत्यादि पाङ्क्तकाम्यकर्म से उपक्रम करके श्रुति पुत्रादिको का साध्यविशेष मे विनियोगरूप उपसहार करती है। इस से निष्कर्ष निकला कि ऋणत्रयश्रुति का अधिकारी अज्ञानी विषयी है,

---

१. स्थूल हित्वा स्थितम्। २ युगपत्। ३. वैदिकेषु मध्ये। ४. मीमांसका। ५. तात्पर्येत्यर्थ.। ६. अनेन वक्ष्यमाणप्रकारेणेति यावत्। ७ पुत्रेति—पुत्रस्य प्रकृतत्वादेनमिति तन्निर्देशे शङ्किते तन्निवृत्त्यर्थमथेत्युक्तमित्यर्थः। ८ पूर्वपक्षम्। ९. ऋणेति—"जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते" इति श्रुत्या मनुष्या देवादीन्प्रति ऋणिनो गम्यन्ते। अपाकरणेति—"ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्य प्रजया पितृभ्य" इति श्रुते। अत्रानृणीभवतीति शेष। "ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्ष तु सेवमानो व्रजत्यध." ॥ इति स्मृते। १०. प्रकारमेवाकाङ्क्षापूर्वकं दर्शयति—कथमिति।

मे स्यादित्यादि[1] पाङ्क्तं काम्यं कर्मेत्युपक्रमेण पुत्रादीनां च साध्यविशेष[2]विनियोगोपसंहारेण च। तस्मादृणश्रुतिरविद्वद्विषया न[3] परमात्मविद्विषयेति सिद्धम्। वक्ष्यति[4] च—किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति।[5]

केचित्तु पितृलोकदेवलोकजयोऽपि पितृलोकदेवलोकाभ्यां व्यावृत्तिरेव।[6] तस्मात्पुत्रकर्मापरविद्याभिः समुच्चित्यानुष्ठिताभिस्त्रिभ्य एतेभ्यो लोकेभ्यो व्यावृत्तः परमात्म[7]विज्ञानेन मोक्षमधिगच्छतीति [8]परम्परया मोक्षार्थान्येव पुत्रादिसाधनानीच्छन्ति। तेषामपि मुखापिधानायेयमेव श्रुतिरुत्तरा [9]कृतसंप्रत्तिकस्य पुत्रिणः कर्मिणस्त्र्यन्नात्मविद्याविदः [10]फल-

---

संसारफलत्वावगमान्न मुक्तिफलतेत्याह—जायेत्यादिना। पुत्रादीनां चेतिचकारादेतावान्वै काम इति मध्यसंग्रहः। यदुक्तमृणापाकरणश्रुतिस्मृतिभ्यां पुत्रादेर्मुक्तिफलतेति तत्राऽऽह—तस्मादिति। पुत्रादेः श्रुतं संसारफलत्वं परामृशत् तच्छब्दः। श्रुतिशब्दः स्मृतेरुपलक्षणार्थः। श्रुतिस्मृत्योरविरक्तविषयत्वे वाक्यशेषमनुकूलयति—वक्ष्यति चेति।

मीमांसकपक्षं निराकृत्य भर्तृप्रपञ्चपक्षमुत्थापयति—केचित्त्विति। मनुष्यलोकजयस्ततो व्यावृत्तिर्यथेत्यपेरर्थः। पुत्रादिसाधनाधीनतया लोकत्रयव्यावृत्तावपि कथं मोक्षः संपद्यते न हि पुत्रादीन्येव मुक्तिसाधनानि "विरक्तत्वविरोधादित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति। पृथिव्यै चेत्याद्योत्तरा श्रुतिरेव मीमांसकमतवद्भर्तृप्रपञ्चमतमपि निराकरोतीति दूषयति—तेषामिति। कथं सा संमतं निराकरोतीत्याशङ्क्य श्रुतिं विशिनष्टि—कृतेति।

विरक्त नहीं। "जिनके लिए आत्मा ही लोक है; ऐसे हम, प्रजा का क्या करेंगे ?" इत्यादि वाक्यों को श्रुति चतुर्थ अध्याय में प्रतिपादन करेगी।

किन्हीं (भर्तृप्रपञ्चादि वादियों) का मत है कि पितृलोक और देवलोक पर विजय भी पितृलोक और देवलोक से निवृत्ति ही है। (पुत्रादिकों से लोकत्रय से निवृत्तिप्रयोजक होने से) इसलिए समुच्चय-पूर्वक अनुष्ठित पुत्र, कर्म और अपराविद्या द्वारा इन तीनों लोकों से निवृत्त हुआ पुरुष परमात्मज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिए उनके विचार में पुत्रादिसाधन भी परम्परा से मोक्ष के ही लिए हैं। उनके मत का निराकरण करने के लिए यह आगे की श्रुति, जिसने पुत्र को भार संक्रामित कर दिया है; उस पुत्रवान्, कर्मकाण्डी एवं त्र्यन्नात्मविद्या के ज्ञाता को प्राप्त, फल बतलाने के लिए प्रवृत्त होती है।

---

१. इत्यादि—सर्वमपि पाङ्क्तं कर्म काम्यमेवेत्यर्थः। २. विनियोगः सम्बन्धः। ३. परमात्मेति—विदितवेद्यस्य पुत्रादिविषये निरपेक्षत्वात्तद्विषया ऋणश्रुत्यादयः कथं स्युरिति भावः। ४. परमात्मविदिति—विरक्तेति यावत्। ५. बृ० उ० ४।४।२२। ६. तस्मादिति—पुत्रादीनां लोकत्रयव्यावृत्तिप्रयोजकत्वादित्यर्थः। ७. परम्परयेति—पुत्रादिवशा लोकत्रयव्यावृत्तिद्वारा देहद्वयध्वस्तौ बन्धध्वस्तिरिति क्रमेण तेषां मोक्षफलत्वमिति भावः। ८. पुत्रसंक्रामितभारस्य। ९. फलेति—त्र्यन्नात्मोपासितुस्तदाप्तिः फलं पृथिव्यै चेत्यादि नोच्यते। तथा च कृतसंप्रत्तिकस्य पुत्रिणः कर्मिणस्तदुपास्त्या तद्भावश्रुतिविरुद्धं भर्तृप्रपञ्चमतमिति भावः। १०. विरक्तत्वेति—वैराग्यसंन्यासप्रतिपादकश्रुतिविरोधादित्यर्थः।

प्रदर्शनाय प्रवृत्ता ।

न चेदमेव फलं मोक्ष इति शक्यं वक्तुम् । अन्नसंबन्धान्मेधातपःकार्यत्वाच्चान्नानां पुनः पुनर्जनयते इति दर्शनात् । यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत हेति च क्षयश्रवणाच्छरीरं ज्योतीरूपमिति च कार्यकरणत्वोपपत्तेस्त्रयं वा इदमिति च नामरूपकर्मात्मकत्वेनोपसंहारात् । न चेदमेव साधनत्रयं संहृतं सत्कस्यचिन्मोक्षार्थं कस्यचित्त्र्यन्नात्मफलमित्यस्मादेव वाक्यादवगन्तुं शक्यं पुत्रादिसाधनानां त्र्यन्नात्मफलदर्शनेनैवोपक्षीणत्वाद्वाक्यस्य ।

पृथिव्यै पृथिव्याश्चैनमग्नेश्च दैव्यधिदैवात्मिका वागेनं कृतसंप्रत्तिकमाविशति ।

त्र्यन्नात्मोपासितुस्तदाप्तिवचनविरुद्धं परमतमित्ययुक्तं तदाप्तेरेव मुक्तित्वादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । तथाऽपि कथं यथोक्तं फलं मोक्षो न भवति तत्राऽऽह—मेधेति । त्र्यन्नात्मनो ज्ञानकर्मजन्यत्वे हेतुमाह—पुन पुनरिति । सूत्राप्तेरमुक्तित्वे हेत्वन्तरमाह—यद्धेति । कार्यकरणवत्त्वश्च तेरपि सूत्रभावो न मुक्तिरित्याह—शरीरमिति । अविद्यातदुत्थद्वैतस्य त्र्यात्मकत्वेनोपसंहारात्तदात्मसूत्रभावो बन्धान्तर्भूतो न मुक्तिरिति युक्त्यन्तरमाह—त्रयमिति । नन्वविरक्तस्यान्नत्रय सूत्राप्तिफलमपि कर्मादि विरक्तस्य विदुषो मुक्तिफलमिति व्यवस्थितिरित्याह—न चेदमिति । न हि पृथिव्यै चेत्यादिवाक्यस्यैकस्य सकृच्छ्रुतस्यानेकार्थत्वम् । भिद्यते हि तथा वाक्यमिति न्यायादित्यर्थः ।

पृथिव्यै चेत्यादिवाक्यमवष्टभ्येन पक्षद्वय प्रतिक्षिप्य तदक्षराणि व्याचष्टे— पृथिव्या इति । एनमित्युक्तमनूद्य व्याकरोति—एनमिति । कथ पुन सूत्रात्मभूता वागुपासकमाविशति तत्राऽऽह—सर्वेषा

तथा यह त्र्यन्नात्मसूत्राप्तिरूप फल ही मोक्षफल है, ऐसा भी नही कह सकते; क्योकि इसका अन्नत्रय से सम्बन्ध है और अन्न मेधा और तप का कार्य है,। श्रुतिवाक्यानुसार "वह इन्हें बार-बार उत्पन्न करता है", "यदि वह इन्हें उत्पन्न न करे तो यह क्षीण हो जाय" इस प्रकार इनका नाश होना भी सुना गया है । (जो कृतक है, वह अनित्य है, उनकी प्राप्ति मोक्ष नही हो सकती) । एव शरीर और ज्योतिरूप बतलाकर इनमे कार्यत्व और करणत्व की सम्भावना दिखलायी गयी है । और (षष्ठ ब्राह्मण के प्रथम मन्त्र मे) "त्रयं वा इदम्" ऐसा कहकर नाम-रूप-कर्मात्मकरूप से इनका उपसहार किया है । इस वाक्य का ऐसा भी अर्थ नही जाना जाता कि ये साधनत्रय मिलकर भी किसी के मोक्ष के लिए होते हैं और किसी के लिए त्र्यन्नात्मरूप फल वाले होते हैं क्योकि पुत्रादिसाधनों का त्र्यन्नात्म-फल दिखाते हुए ही यह वाक्य समाप्त होता है ।

"पृथिव्यै चैनमग्नेश्च" यानी पृथिवी और अग्नि के साथ (पुत्रसक्रामितभाररूप) सम्प्रत्ति-कर्म करने वाले मे 'दैवी' अर्थात् आधिदैविकी वाक् का आवेश होता है । (आधाराधेयभूत) पृथिवी

---

१ त्र्यन्नात्मसूत्राप्तिरूपम् । २ जनयत इति—नहि कृतकस्य मोक्षत्वमनित्यत्वप्रसगादिति भाव । ३ इति चेति—इति वाक्येन त्र्यन्नात्मनो जगद्रूपस्य विनाशश्रवणात् च न तत्प्राप्तिर्मुक्तिरित्यर्थ । ४ बृ० उ० १।६।१ । ५. पृथिव्यै चेत्यादिवाक्यात् । ६. पृथिव्या अग्नेश्च सकाशादित्यर्थ । आधाराधेयभूतपृथिव्यग्निरूप-सूत्रवागुपादानिकेति यावत् । ७ मुक्तित्वादिति—तद्धेतुकर्मादेस्तद्धेतुतेति कुतस्तदाप्तिवचनविरुद्ध परमतमिति शेष । ८. आदिना विद्यापुत्रौ । ९. एकस्यानेकार्थत्वे ।

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्वै दैवं मनो येनाऽऽनन्द्येव भवत्यथो न शोचति ॥ १६ ॥

द्युलोक और आदित्य से इस पुरुष में दैव मन का आवेश होता है। स्वभाव से निर्मल होने के कारण दैव मन वही है, जिस मन से वह सुखी होता है और कभी शोक नही करता ॥ १६ ॥

सर्वेषा हि वाच उपादानभूता दैवी वाक्पृथिव्यग्निलक्षणा । सा ह्याध्यात्मिकासङ्गादिदोष-निरुद्धा विदुषस्तद्दोषापगम आवरणभङ्ग इवोदकं प्रदीपप्रकाशवच्च व्याप्नोति । तदेतदुच्यते पृथिव्या अग्नेश्च नं दैवी वागाविशतीति । सा च दैवी वागनृतादिदोषरहिता शुद्धा यया वाचा दैव्या यद्यदेवाऽऽत्मने परस्मै वा वदति तत्तद्भवत्यमोघाऽप्रतिबद्धाऽस्य वागमवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

तथा दिवश्च नमादित्याच्च दैव मन आविशति । तच्च दैव मनः स्वभावनिर्मलत्वात् । येन मनसाऽऽसावानन्द्येव भवति सुख्येव भवत्यथो अपि न शोचति शोकादिनिमित्ता-सयोगात् ॥ १६ ॥

हीति । तर्हि तयोरभेदादविदुषोऽपि व्याप्तैव वागिति विदुषि विशेषो नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह—सा हीति । दैव्या वाचि दोषविगममुत्तरवाक्येन(ण) साधयति—सा चेति । विद्वद्वाचं स्वरूपं संक्षिपति—अमोघेति ॥ १८ ॥

वाचि दर्शितन्यायं मनस्यतिदिशति—तथेति । यन्मन स्वभावनिर्मलत्वेन दैवमित्युक्तं तदेव विशिनष्टि—येनेति । असाविति विद्वदुक्ति । येन मनसा विद्वान्न शोचत्यपि तद्धेत्वभावात्तद्दैवमिति पूर्वेण सबन्ध ॥ १६ ॥

और अग्निरूपा दैवीवाक् सभी की वाणी की उपादानभूता है। वह आधिदैविकी वाक् (अविद्वानो मे) आध्यात्मिक आसक्ति आदि दोषो से आवृत है। विद्वान् के उस आसक्तिरूप दोष के निवृत्त हो जाने पर वाक् उसी प्रकार आविष्ट हो जाती है, जैसे आवरण मे नाश हो जाने पर जल और प्रदीप का प्रकाश व्याप्त हो जाते है। इसी से (यथोक्त व्यापकत्व) यह कहा है कि इसमे पृथिवी और अग्नि के साहचर्य से दैवी वाक् का प्रवेश हाता है। एव वह दैवीवाक् असत्य आदि दोषो से विमुक्त और शुद्ध होती है, जिस दैवी वाक् से वह अपने या दूसरे के लिए जो-जो कहता है, वही-वही हो जाता है। अर्थात् इस विद्वान् की वाणी निष्फल न जाने वाली और अमोघ होती है ॥१८॥

द्युलोक और आदित्य से इसमे दैव मन प्रविष्ट हो जाता है। स्वभाव से ही निर्मल दैव मन वही है, जिस मन से 'आनन्द्येव भवति' अर्थात् सुखी ही होता है और शोकादिको के हेतुओं का सयोग न होने से कभी शोक भी नही करता ॥१६॥

१. आधिदैविकी वाक्। २ अविदुषीति शेष। ३ यथोक्तव्यापकत्वे। ४. सर्ववाचस्तदुपादानत्वे।

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति स वै दैवः प्राणो यः संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति स एवंवित्सर्वेषां भूतानामात्मा भवति यथैषा

जल और चन्द्रमा से इस पुरुष मे दैव प्राण आविष्ट होता है। सुख-दु खादि से मुक्त होने के कारण वही दैव प्राण है। (जो समष्टि और व्यष्टिरूप से प्राणियो मे) सचार करता हुआ और संचार न करता हुआ व्यथित नही होता और न नष्ट ही होता है। वह इस प्रकार जानने वाला पुरुष समस्त

तथाऽद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति। स वै दैवः प्राणः किंलक्षण इत्युच्यते—यः संचरन्प्राणिभेदेष्वसंचरन्समष्टिव्यष्टिरूपेणाथवा संचरञ्जङ्गमेष्वसंचरन्स्थावरेषु न व्यथते न दुःखनिमित्तेन भयेन युज्यते। अथो अपि न रिष्यति न विनश्यति न हिंसामापद्यते। स यो यथोक्तमेवं वेत्ति त्र्यन्नात्मदर्शनं स सर्वेषां भूतानामात्मा भवति [१]सर्वेषां भूतानां प्राणो भवति सर्वेषां भूतानां [२]मनो भवति सर्वेषां भूतानां वाग्भवतीत्येवं सर्वभूतात्मतया [३]सर्वज्ञो भवतीत्यर्थः। सर्वकृच्च। [४]यथैषा [५]पूर्वसिद्धा हिरण्यगर्भदेवतैवमेव नास्य सर्वज्ञत्वे सर्वकृत्त्वे वा क्वचित्प्रतिघातः। स इति दार्ष्टान्तिकनिर्देशः। किंच यथैतां

मनस्युक्तं न्यायं प्राणेऽतिदिशति—तथेति। तमेव दैवं प्राणं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति—स वा इति। स एवंविदित्यादि व्याचष्टे—स य इति। विदिरत्र लाभार्थः। न केवलं यथोक्तमेव विद्याफलं किंतु फलान्तरमप्यस्तीत्याह—किंचेति।

जल और चन्द्रमा से इसमे दैव प्राण का प्रवेश हो जाता है। उस दैव का सामान्यस्वरूप क्या है, इसकी विवेचना की जाती है। जो समष्टि और व्यष्टिरूप से प्राणियो मे सञ्चार और असञ्चार करता हुआ अथवा चेतन मे सञ्चार करता हुआ और जड मे सचार न करता हुआ 'न व्यथते' अर्थात् दु खनिमित्तक भय से युक्त नही होता, 'अथो न रिष्यति' अर्थात् विनाश या हिंसा को प्राप्त नही होता। जो इस उपरोक्त त्र्यन्नात्मदर्शन को जानता है; वह समस्त भूतो का आत्मा हो जाता है। (आत्मा शब्द के अर्थ को ही कहते हैं—) वह समस्त भूतो का प्राण हो जाता है, समस्त भूतो का मन हो जाता है, समस्त भूतो का वाक् हो जाता है। भावाशय यह है कि वह इस प्रकार सर्वभूतात्मरूप से सर्वज्ञ हो जाता है, तथा सब का कर्ता भी हो जाता है। जिस प्रकार यह पूर्वसिद्ध हिरण्यगर्भ देवता है, उसी प्रकार इसके सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व मे भी कभी व्याघात नही होता। श्रुतिवाक्य मे 'स' यह दार्ष्टान्तिक निर्देश है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार इस हिरण्यगर्भ

१. आत्मशब्दार्थमेवाह—सर्वेषां भूतानां प्राणो भवतीति। २ न केवलं विद्वान् प्राण एव सर्वभूतानामपितु मन आद्यात्मापि इत्याह—मन इति। वाङ्मनसे श्रोत्रादीनामुपलक्षणार्थे। ३ सर्वोपादानत्वेन सर्वात्मत्वमुक्त्वा तत्फलं सर्वज्ञत्वादिकमाह—सर्वज्ञ इति। ४ प्रस्तुतोपास्ते फलान्तरमाह—यथेति। ५ पूर्वेति—पूर्वजन्माभिनिर्वृत्ता जन्मान्तरीयज्ञानकर्मफलभूता सर्गादौ सत्यलोक एव देवभावमुपगतेति यावत्।

देवतैव स यथैतां देवता सर्वाणि भूतान्यवन्त्येव हैवंविद सर्वाणि भूतान्यवन्ति । यदु किंचेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवाऽऽसां तद्भवति पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान्पापं गच्छति ॥ २० ॥

प्राणियों का आत्मा होता है। जैसा यह हिरण्यगर्भ देवता है, वैसा ही वह अपरिच्छिन्न हो जाता है। जैसे समस्त प्राणी इस हिरण्यगर्भ देवता का पालन करते है, वैसे ही इस उपासक का पालन सभी भूत करते है। ये प्रजाएँ जो कुछ भी शोक करती हैं; वह शोकजन्य दु:ख इन प्रजाओं के साथ ही रहता है। उस विद्वान् को तो पुण्य ही प्राप्त होता है क्योंकि देवताओं के पास पाप नहीं जाता ॥ २० ॥

हिरण्यगर्भदेवतामिज्यादिभिः सर्वाणि भूतान्यवन्ति पालयन्ति पूजयन्त्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्तीज्यादिलक्षणां पूजां सततं 'प्रयुञ्जत इत्यर्थः ।

अथेदमाशङ्क्यते—सर्वप्राणिनामात्मा भवतीत्युक्तं तस्य च सर्वप्राणिकार्यकरणात्मत्वे सर्वप्राणिसुखदुःखैः संबध्येतेति । तन्न । अपरिच्छिन्नबुद्धित्वात् । परिच्छिन्नात्मबुद्धीनां ह्याक्रोशादौ दुःखसंबन्धो दृष्टोऽनेनाहमाक्रुष्ट इति । 'अस्य तु सर्वात्मनो य आक्रुश्यते यश्चाऽऽक्रोशति तयोरात्मत्वबुद्धिविशेषाभावान्न तन्निमित्तं दुःखमुपपद्यते ।

सर्वभूतात्मत्वे तद्दोषयोगात्प्राजापत्यं पदमनादेयमित्युत्तरवाक्यव्यावर्त्यामाशङ्कामाह—अथेति । सर्वप्राणिसुखदुःखैरित्यस्मादूर्ध्वं मशब्दोऽध्याहर्तव्यः । सर्वात्मके विदुष्येकैकभूतनिष्ठदुःखयोगो नास्तीत्युत्तरमाह—तन्नेति । 'तदेव प्रपञ्चयति—परिच्छिन्नेति । अपरिच्छिन्नधीत्वेऽपि सूत्रात्मके विदुषि

देवता का समस्त प्राणी 'अवन्ति' यानी यागादि के द्वारा पालन या पूजन करते हैं, इसी प्रकार ऐसी पूजा करने वाले का समस्त प्राणी "अवन्ति" यानी यागादिरूप पूजा का सर्वभोगों के द्वारा उपयोग करते हैं।

यहाँ यह शङ्का होती है—पूर्व श्रुतिवाक्य मे प्रतिपादित किया गया है, वह समस्त प्राणियों का आत्मा हो जाता है। इस प्रकार तो समस्त प्राणियों के देह और इन्द्रियरूप हो जाने से उनका सब भूतों के सुख-दुःख से सम्बन्ध होने लगेगा (यह अनर्थ होने लगेगा)। (इस शङ्का का समाधान किया जाता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वह अपरिच्छिन्नबुद्धि वाला है। जिनकी परिच्छिन्न आत्मबुद्धि होती है, उन्हीं को दुर्वचनादि कहने पर 'इससे मैं दुर्वचन कहा गया हूँ' दुःख-सम्बन्ध होते देखा

---

१ प्रयुञ्जत इति—पूर्वसिद्धदेवतामिव तद्भावसाक्षात्कारवन्तमपि पुरुषं सर्वावस्थासु सर्वाणि भूतानि सर्वभोगैरवन्तीति भावः । २ संबध्येतेति—तथा चैव वित्ताऽनर्थायैव स्यादिति शेषः । ३ शप्तः । ४ विदुषः । ५ उपपद्यत इति—सर्वात्मके विदुषि नैकैकभूतस्थसुखदुःखादिसंबन्ध इति भावः । ६ अपरिच्छिन्नबुद्धित्वप्रयुक्तदुःखादिसंसर्गराहित्यमेव ।

मरणदुःखवच्च निमित्ताभावात्। यथा हि कस्मिंश्चिन्मृते कस्यचिद्दुःखमुत्पद्यते ममासौ पुत्रो भ्राता चेति पुत्रादिनिमित्तम्। तन्निमित्ताभावे तन्मरणदर्शिनोऽपि नैव दुःखमुपजायते। तथेश्वरस्याप्यपरिच्छिन्नात्मनो ममतवतादिदुःखनिमित्तमिथ्याज्ञानादिदोषाभावान्नैव दुःखमुपजायते। तदेतदुच्यते—यदु किंच यत्किंचेमाः प्रजाः शोचन्त्ययमेव सहैव प्रजाभिस्तच्छोकादिनिमित्तं दुःखं संयुक्तं भवत्यासां प्रजानां परिच्छिन्नबुद्धिजनितत्वात्। सर्वात्मनस्तु केन सह किं संयुक्तं भवेद्वियुक्तं वा। अमुं तु प्राजापत्ये पदे वर्तमानं पुण्यमेव

सर्वभूतान्तर्भावात्तद्दुःखादियोगः स्यादेवेत्याशङ्क्य जठरकुहरविपरिवर्तिक्रिमिदोषैरस्माकमसंसर्गवत्प्रकृतेऽपि संभवामेवमित्यभिप्रेत्याऽऽह—मरणेति। नोपपद्यते विदुषो दुःखमिति पूर्वेण संबन्धः। दृष्टान्तं विवृणोति—यथेति। मैनस्य स्वहस्ताद्यभिमानवतस्तद्दुःखादियोगवद्विदुषः सूत्रात्मनः स्वांशभूतसर्वभूताभिमानिनस्तद्दुःखादिसंसर्गः स्यादित्याशङ्क्य दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति। ममतवतादीत्यादिपदेनाहंताग्रहणं तदेव दुःखनिमित्तं मिथ्याज्ञानम्। आदिशब्देन रागादिरुक्तः। उक्तेऽर्थे श्रुतिमवतार्य व्याचष्टे—तदेतदिति। शुभमेव गच्छतीति संबन्धः। फलरूपेण वर्तमानस्य कथं कर्मसंबन्धः स्यादित्या-

गया है। इस विद्वान् सर्वात्मा को ता, जिसे दुर्वचन कहा जाता है अथवा जो दुवचन कहता है, उन दोनों के प्रति आत्मत्वबुद्धि में कोई विशेषभेद न होने के कारण उसे तन्निमित्तक दुःख होना सिद्ध नहीं होता। जिस प्रकार निमित्त के अभाव में मरणदुःख भी नहीं होता। जिस प्रकार लोकव्यवहार में किसी के मर जाने पर किसी को "यह मेरा पुत्र है यह मेरा भाई है" इस प्रकार चिन्ता कर पुत्रादिनिमित्तक दुःख उत्पन्न होता है। मदीयत्व के निमित्त बिना उसके मरण के देखने वाले को भी कभी दुःख नहीं होता। उसी प्रकार अपरिच्छिन्नस्वरूप ईश्वरीभूत विद्वान् को भी ममता-त्वतादि दुःख के निमित्त और मिथ्याज्ञानादि दोष के अभाव से कभी भी दुःख नहीं होता। उक्त युक्तिकलाप को हृदय में रखते हुए श्रुति कहती है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी ये प्रजाएँ (त्रिविध दुःखप्रयुक्त) शोक करती हैं वह शोकादिजनित दुःख उन स्वात्मा प्रजाओं के साथ संयुक्त रहता है, क्योंकि वह दुःख इन प्रजाओं की परिच्छिन्न बुद्धि में उत्पन्न होता है। किन्तु जो सर्वात्मा है, वह उस दुःख के लिए किसके साथ संयुक्त रहेगा और किसके साथ वियुक्त रहेगा? इस प्राजापत्य पद पर विद्यमान विद्वान् को तो

१ मदीयं वेति यावत्। २ अपरिच्छिन्नस्वरूपस्येश्वरीभूतस्य विदुषः। ३. दोषाभावादिति—ननु मैत्रदृष्टान्तेन सूत्रभूतस्य विदुषोऽपि स्वांशभूतसर्वप्राण्यभिमानित्वमुक्तमिति चेन्न। तस्य कृत्स्नाभिमानित्वान्नास्ममःभाभिमानता। न च तस्य कृत्स्नाभिमानित्वे कृत्स्नदुःखादि तादवस्थ्यमिति वाच्यम्। ईश्वरत्वाच्च तस्यास्मद्दुःखैर्न स्यात् समागमः। न च तस्येश्वरत्वेऽप्यस्मदाद्यभिमानित्वादस्मदादिवद्दुःखादिसंगतिः स्यादेवेति वाच्यम्। अत्रानुमानेऽनीश्वरत्वस्य उपाधित्वात्। अस्माक दुःखसंप्राप्तिरनीश्वरत्वकृतैव हि। इति नोक्तोपाधेः साध्याव्यापकत्वं यत्र विस्तरः। ४ तदेतदुच्यत इति—उक्तयुक्तिकलापं हृदि निधाय श्रुत्योच्यत इत्यर्थः। प्रजागतदुःखस्य प्रजापतिरूपे विदुषि प्रतिषेधकमिदं वाक्यमिति यावत्। ५ त्रिविधदुःखप्रयुक्तमवसीदन्ति। ६ स्वात्मभिः। ७ संयुक्तमिति—प्रजाभिः स्वगतं दुःखं स्वात्मनैवोपभुज्यत इति यावत्। अन्यथा कृतनाशादिप्रसंगः स्यादित्यवधारणाय। ८ दुःखस्येति शेषः। ९ दोषा दुःखादयः। १० उक्तेऽर्थे इति—प्रजागतं दुःखं प्रजापतिरूपे विदुषि न संयुज्यत इत्युक्तेऽर्थे इत्यर्थः।

अथातो व्रतमीमांसा, प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो

अब यहाँ से व्रत का विचार किया जाता है। प्रजापति ने कर्म के साधनभूत वागादि करणो की सृष्टि की। सृष्टि हो जाने पर वे सभी कर्म परस्पर संघर्ष करने लगे। वाक् ने व्रत लिया कि मैं बोलती ही रहूँगी। मैं देखता ही रहूँगा, ऐसा नेत्र ने व्रत लिया और मैं सुनता ही रहूँगा, ऐसा श्रोत्र ने व्रत लिया। ऐसे ही अपने-अपने कर्मानुसार अन्य सभी इन्द्रियो ने भी व्रत लिया। तब सबके मारक मृत्यु ने परिश्रम

शुभमेव फलमभिप्रेतं पुण्यमिति[1]। निरतिशय हि तेन पुण्यं कृतं तेन तत्फलमेव गच्छति न ह वै देवान्पापं गच्छति पापफलस्यावसराभावात्[2]पापफलं दुःखं[3] न गच्छतीत्यर्थः ॥ २० ॥

त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ता[4] इत्यविशेषेण वाङ्मनःप्राणानामुपासनमुक्तं नान्यतमगतो विशेष उक्तः। किमेवमेव[5] प्रतिपत्तव्य किं वा विचार्यमाणे कश्चिद्विशेषो

शङ्काऽऽह—करमिति। 'उक्त'मेव व्यनक्ति—निरतिशम होति ॥ २०॥

अथेत्यादिवाक्यस्य वक्तव्यशेषाभावादानर्थक्यमाशङ्क्य 'व्यवहितोपासनानुवादेन तदङ्गव्रतविधानार्थमुत्तरं वाक्यमित्यानर्थक्यं परिहरति—त एत इत्यादिना। व्रतमित्यवश्यानुष्ठेयं कर्मोच्यते। जिज्ञासायाः सत्यमल-शब्दार्थ। उपासनोक्त्यानन्तर्यमथशब्दार्थं कथयति—अनन्तरमिति। विचारणामेव

'पुण्यमेव' अर्थात् शुभ ही प्राप्त होता है। पुण्यफल अभीष्ट है, न कि कर्म। इसलिये उसने अत्यन्त पुण्य किया हुआ होता है, जिसका उसे फल प्राप्त होता है। 'न ह वै देवान्पाप गच्छति' अर्थात् पापफलरूप अहममाभिमान के अवसर के अभाव से पापफल यानी दुःख प्राप्त नही होता ॥२०॥

'वे ये सभी समान है और सभी अनन्त है' इस प्रकार अनन्तत्व तुलना द्वारा वाक्, मन और प्राण की उपासना बतलायी गयी, उनमे एक-एक की कोई विशिष्टता नही बताई गयी। सो क्या इस तरह ही अवबोध करना चाहिए अथवा विचार करने पर किसी विशेष व्रत-उपासना के लिए ज्ञान होना शक्य है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है।

'अथातो' अर्थात् उक्त जिज्ञासा होने के पश्चात् व्रतमीमांसा अर्थात् उपासना कर्म विचार की प्रवृत्ति होती है। इन प्राणो मे से किस प्राण के कर्म को व्रतरूप मे धारण करना चाहिए, इसकी मीमासा

---

१ न तु कर्मेत्यर्थः। २ अवसराभावादिति—अहं ममाद्यभिमानाभावादिति यावत्। ३. दुःख नेति—न हि शैत्यमग्निं स्पृशति तस्योष्णस्वाभाव्यात् तथा पाप्मनो देवता न स्पृशन्ति तस्या सुकृतफलत्वादिति भाव। ४. अनन्तत्वतौल्येन। ५ किमेवमेवेति—त एत इत्यादिवाक्याद् वाङ्मनःप्राणानां साम्यनिश्चये वागादीनां विकल्पेन ध्याने प्राप्ते किं त्रयमपि तत्तुल्य ध्येयं किं वा विचार्य प्राण एव प्राधान्येन ध्येय इति निश्चेतुमुत्तर वाक्यमित्यर्थः। ६. उक्तमेवेति—सूत्रीभूत विद्वान सुखमेव प्राप्नोति न दुःखमित्युक्तमेवार्थमित्यर्थः। ७ पूर्वव्यवहितेति यावत्।

भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत्तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्ध तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्र-मथेममेव नाऽऽप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं दधिरे । अयं वै नः श्रेष्ठो यः संचरꣳश्चासंच-रꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव

होकर उन्हे पकड लिया और उनमे व्याप्त हो गया । उनमे व्याप्त होकर मृत्यु ने उनका अवरोध किया अर्थात् अपने-अपने कर्मों से च्युत कर दिया । इसीलिये भाषण मे प्रवृत्त हुई यह वाणी श्रान्त हो जाती हैं । देखने मे प्रवृत्त हुआ नेत्र श्रान्त होता ही है और शब्द सुनने मे श्रोत्र भी श्रान्त हो जाता है । पर यह जो मध्यम प्राण है, केवल इसी मे वह मृत्यु व्याप्त न हो सका । इस अद्भुत घटना मे इन्द्रियो ने कभी न थकने वाले उस प्राण को जानने का निश्चय किया । निश्चय हम सब मे यही श्रेष्ठ है, जो सचार करता हुआ और न करता हुआ कभी थकता नही और न क्षीण ही होता है । अस्तु हम सब भी

व्रतमुपासनं प्रति प्रतिपत्तुं शक्यत इत्युच्यते[1]—

'अथातोऽनन्तर व्रतमीमांसोपासनकर्मविचारणेत्यर्थः । एषां प्राणानां कस्य कर्म

स्फोरयति—एषामिति । प्रवृत्तायां[2] मीमांसायां प्राणव्रतमभग्नत्वेन धारणीयमिति निर्धारणार्थमाख्यायिका

प्रारम्भ की जाती है । प्रवृत्त मीमांसाविषयक आख्यायिका मे प्रजापति ने निश्चय ही प्रजा की सृष्टि कर 'कर्माणि' वागादिकरणो की 'ससृजे' यानी सृष्टि की । यहाँ 'ह' शब्द प्रसिद्धि के अर्थ मे है । कर्म प्रयोजक एव वागादि के करण होने के कारण उन्हें 'कर्म' कहा गया है । पुन उन उत्पन्न इन्द्रियो ने

---

१. इत्युच्यत इति—अथेत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यान्तरमुक्तं वार्तिके । तथाहि—"सर्वात्मकर्मसन्यासात्प्राप्ते नैष्कर्म्यरूपके । प्राणव्रतविधानार्थं परो ग्रन्थोऽवतार्यते' ॥३६४॥ इति । सप्रत्तिकाले सर्वस्य सकार्यस्य करणस्यागाग्निर्वाणे प्राप्ते प्राणोपास्त्यङ्गस्य प्राणव्रतस्य प्रतिप्रसवायमुत्तर वाक्यमित्यर्थः । कृतसप्रत्तिकोऽपि जीवेच्चेत्तदोपासनस्य त्यक्तत्वेऽपि तदङ्गभूतमिद प्राणव्रत तु पुनरप्युपादेयमित्यर्थः ॥ ननु स्वतन्त्रस्यैव प्राणव्रतस्य विधायकमिद वाक्य न प्राणोपास्त्यङ्गस्य प्रापकाभावादिति चेन्नेत्याह— "बहूक्त्यैव तु सर्वेषां सिद्ध पूर्वमुपासनम् । स यो हैतानिति ततो नेद पूर्वमपेक्षत" ॥३६५॥ बहूक्त्येति । प्राणव्रतस्य स्वातन्त्र्यशङ्कानिरासार्थस्तुशब्द । स यो हैताननन्तानिति बहुवचनाद्वागादित्रयोपासन सिद्धे तेनैव प्राणोपासनस्यापि सिद्धत्वात्प्राणोपासक प्रति प्राणव्रतवाक्य स यो हैतानित्यादिपूर्ववाक्यमपेक्षतेऽतो नास्य स्वतन्त्रव्रतविधायितेति प्रकृतप्राणध्यानधर्म (अङ्ग) विध्यर्थमेतदित्यर्थः ॥ नेद यथोक्तमेव व्रतविधायकम् [इद व्रतविधायक (तद्विधायित्वे नाभिमत) वाक्य यथोक्तमेव न यथा त्वयोक्त तथैव नेत्यर्थ । प्राणोपासक प्रति प्रश्नोपास्त्यङ्गस्य प्राणव्रतस्य विधायकमेव नेति यावत्] वाङ्मनसयोरुपास्यत्वनिवृत्तिपरत्वादित्याशङ्क्याऽऽह यथैव वार्तिके—'वाक्स्वान्तयोः स्वरूपोक्तिर्यथैव स्यात्पुरोदिता । तयोरुपासन नो चेत्प्राणवत्स्याद्विवक्षितमिति' ॥३६६॥ वागिति । प्राणोपसर्जनत्वेन तयोर्ध्यानमुपेयमन्यथा तदुक्तिर्वैयर्थ्यादित्यर्थः ॥ २ उक्तजिज्ञासाया सत्त्वात् । ३ प्रवर्तत इति शेष । ४ निर्धारणषष्ठीयम् ।

सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवँस्तस्मादेत
एतेनाऽऽख्यायन्ते प्राणा इति तेन ह वाव तत्कुलमा-
चक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद य उ हैवंविदा
स्पर्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्या-
त्मम् ॥ २१ ॥

इस ज्येष्ठ प्राण के रूप हो जायें। ऐसा निश्चय कर वे वागादि सभी इन्द्रियाँ इसी मुख्यप्राण के रूप हो गयी। इसीलिये वे इसी के नाम से "प्राण" ऐसा कही जाती हैं। अतएव जो कोई ऐसा जानता है, वह विद्वान् जिस कुल में उत्पन्न होता है; वह कुल उस विद्वान् के नाम से पुकारा जाता है और जो इस विद्वान् से संघर्ष करता है; वह सूख जाता है और सूखकर अन्त में मर जाता है। यही अध्यात्म प्राणदर्शन है ॥ २१ ॥

व्रतत्वेन धारयितव्यमिति मीमांसा प्रवर्तते । तत्र प्रजापतिर्ह हशब्दः किलार्थे प्रजापतिः किल प्रजाः सृष्ट्वा कर्माणि करणानि वागादीनि कर्मार्थानि हि तानीति कर्माणीत्युच्यन्ते ससृजे सृष्टवान्वागादीनि करणानीत्यर्थः । तानि पुनः सृष्टान्यन्योन्येनेतरेतरमस्पर्धन्त स्पर्धां संघर्षं चक्रुः । कथम् । वदिष्याम्येव स्वव्यापाराद्वदनादनुपरतैवाहं स्यामिति वाग्व्रतं दध्रे धृतवती । यद्यन्योऽपि मत्समोऽस्ति स्वव्यापारादनुपरन्तुं शक्तः सोऽपि दर्शयत्वात्मनो

प्रणयति—तत्रेत्यादिना । कथं वागादिषु करणेषु कर्मशब्दप्रवृत्तिरित्याशङ्कयाऽऽह—कर्मार्थानीति । तदीयसृष्टेरुपयोगमुपदर्शयितुं भूमिकां करोति—तानीति । स्पर्धाप्रकारं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति—कथमित्यादिना । यथाकर्म स्वीयं स्वयं व्यापारमनुसृत्य व्रतं दध्रिरे वागादीनि करणानीत्यर्थः ।

'अन्योन्येन' अर्थात् एक दूसरे से 'अस्पर्धन्त' यानी स्पर्धा या संघर्ष किया। स्पर्द्धा किस तरह की ? वाक् ने ऐसा व्रत 'दध्रे' यानी धारण किया कि '*वदिष्याम्येव*' अर्थात् *मैं अपने उच्चारणरूप व्यापार से* विमुक्त होऊँगी ही नहीं। भाव यह है कि यदि मेरे समान कोई दूसरा भी अपने व्यापार से अविमुक्त रहने की सामर्थ्य रखता हो, तो वह भी अपना पराक्रम दिखलावे। तथा 'मैं देखता ही रहूँगा' ऐसा चक्षु इन्द्रिय ने, और 'मैं सुनता ही रहूँगा' ऐसा श्रोत्र इन्द्रिय ने व्रत धारण किया। इसी प्रकार अन्य 'कर्माणि' यानी इन्द्रियों ने भी 'यथाकर्म' अर्थात् जिसका जो-जो कर्म था, उसी के अनुसार व्रत धारण किया। 'तानि' यानी उन इन्द्रियों को 'मृत्यु.' यानी मारक यम ने 'श्रमः' अर्थात् श्रमरूपी होकर 'उपयेमे' अर्थात् पकड़ा यानी अपने कर्मों से प्रच्युत किया।

यम ने किस प्रकार पकडा ? 'तानि' अर्थात् अपने- अपने व्यापार मे प्रवृत्त उन इन्द्रियों को

---

१. तत्रेति—प्रवृत्तमीमांसाविषयामाख्यायिकामाहेत्यर्थः । तामेव दर्शयति—प्रजापतिर्हेति । आख्यायिकाऽव-द्योती हेति निपातः इत्यभिप्रेत्याह हशब्द इति । किलार्थ ऐतिह्यार्थे । २. उपयोगं वदनादिव्यापारनिष्पत्तिरूपं फलम् । ३. भूमिकामिति—तदुपयोग्यर्थं कथयति ।

वीर्यमिति । तथा- द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि करणानि यथाकर्म यद्यदस्य कर्म यथाकर्म तानि करणानि मृत्युर्मारकः श्रमः श्रमरूपी भूत्वोपयेमे संजग्राह स्वकर्मभ्यः प्रच्यावितवानित्यर्थः ।

कथम् । तानि करणानि स्वव्यापारे प्रवृत्तान्याप्नोच्छ्रमरूपेणाऽऽत्मानं दर्शितवानाप्त्वा च तान्यवारुन्धावरोधं कृतवान्मृत्युः स्वकर्मभ्यः प्रच्यावितवानित्यर्थः । तस्माद्यत्वेऽपि वदने स्वकर्मणि प्रवृत्ता वाक्श्राम्यत्येव श्रमरूपिणा मृत्युना संयुक्ता स्वकर्मतः प्रच्यवते । तथा श्राम्यति चक्षुः । श्राम्यति श्रोत्रम् । अथेममेव मुख्यं प्राणं नाऽऽप्नोत् प्राप्तवान्मृत्युः श्रमरूपी योऽयं मध्यमः प्राणस्तम् । तेनाद्यत्वेऽप्यश्रान्त एव स्वकर्मणि प्रवर्तते तानीतराणि करणानि तं ज्ञातुं दध्रिरे धृतवन्ति मनः । अयं वै नोऽस्माकं

प्रजापतेर्वागादिषु श्रमद्वारा स्वकर्मप्रच्युतिरासीदित्यत्र कार्यलिङ्गकमनुमानं प्रमाणयति—तस्मादिति। वागादीनां भग्नव्रतत्वनिर्धारणानन्तर्यमथशब्दार्थः । प्राजापत्ये प्राणे मृत्युग्रस्तत्वाभावे कार्यलिङ्गकमनुमानं सूचयति—तेनेति । प्रवर्तते प्राण इति संबन्धः । तथाऽपि कथं प्राणस्यैव व्रतं धार्यमित्यपेक्षायामाह—तानीति । ज्ञानार्थमनुसंधानप्रकारमेव दर्शयति—अयमिति । तस्य श्रेष्ठत्वे

'आप्नोत्' व्याप्त किया यानी श्रमरूप से अपने को प्रदर्शित किया। उन्हे व्याप्त करके मृत्यु ने उनका 'अवारुन्ध' अर्थात् अवरुद्ध किया । अपने अपने कर्मों से गिरा दिया, यह इसका अर्थ है। इसलिए (प्रजापतिवाक् के श्रमविद्ध होने से) आजकल भी प्रजाओं की वाक् उच्चारणरूप स्वकर्म मे लगी हुई 'श्राम्यति' श्रमरूपी मृत्यु से संयुक्त होती है अपने कर्म से स्खलित हो जाती है। इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय भी अपने कर्म से च्युत होती है, तथा श्रोत्रेन्द्रिय भी अपने कर्म से स्खलित होती है । 'अथ' यानी वागादिको के व्रतभग होने पर 'इममेव' अर्थात् इसी मुख्यप्राण को जो यह शरीर के मध्य मे प्राण है, उसे श्रमरूपी मृत्यु ने 'नाऽऽप्नोत्' यानी प्राप्त नही किया । इसलिए (प्राजापत्यप्राण के मृत्यु से ग्रस्त न होने के कारण) आज तक भी वह अश्रान्त ही अपने कर्म मे लगा रहता है । (इसलिए प्राण का ही व्रत धारण करना चाहिए) 'तानि' अर्थात् उन दूसरी इन्द्रियो ने उसे जानने के लिए 'दध्रिरे' यानी मन मे धारणा की । निश्चय ही यह 'न' अर्थात् हम सब मे 'श्रेष्ठ' यानी अत्यधिक प्रशंसनीय है, क्योंकि जो सञ्चरण करते हुए और संचरण न करते हुए भी व्यथित नही होता, इसलिए हिंसित नही होता । 'हन्त' यानी अच्छा अब हम सभी इस प्राण को ही 'रूपमसाम' आत्मभाव ये विनिश्चय करलें । इस प्रकार विनिश्चय हो जाने पर वे सब इस प्राण का स्वरूप हो गयी, आत्मभाव से प्राण-

१ यम । २ प्रजापतिवागादे श्रमविद्धत्वात् । ३ प्रजानां वाक् । ४ वागादिषु भग्नव्रतेषु सत्सु । ५ शरीरमध्यभव । ६ प्राजापत्यप्राणस्य मृत्य्वग्रस्तत्वेन । ७ तस्मात् प्राणस्यैव व्रतं धार्यमिति शेषः । ८ प्रजावागादिगत श्रम सकारणक कार्यगतत्वात् घटादिगतरूपादिवदित्याह् । ९ अनुमानमिति—प्रजापतिप्राण श्रमाभाववान् प्राणत्वात् प्रजाप्राणवत् । यद्वा श्रमरहितप्रजा प्राणकार्यकत्वादिति हेतु । यो यद्रहितकार्यक स तद्रहित नीलादिरहितघटादिकार्यककपालादिवदिति । १० प्राणस्य मृत्युग्रस्तत्वाभावेऽपि ।

मध्ये श्रेष्ठः प्रशस्यतमोऽभ्यधिको यस्माद्यः संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तेदानीमस्यैव प्राणस्य सर्वे वयं रूपमसाम प्राणमात्मत्वेन प्रतिपद्येमहि । एवं विनिश्चित्य त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्प्राणरूपमेवाऽऽत्मत्वेन प्रतिपन्नाः प्राणव्रतमेव दध्रिरेऽस्मद्व्रतानि न मृत्योर्वारणाय पर्याप्तानीति ।

यस्मात्प्राणरूपेण रूपवन्तीतराणि करणानि चलनात्मना स्वेन च प्रकाशात्मना । न हि प्राणादन्यत्र चलनात्मत्वोपपत्तिः । चलनव्यापारपूर्वकाण्येव हि सर्वदा स्वव्यापारेषु लक्ष्यन्ते । तस्मादेते वागादय एतेन प्राणाभिधानेनाऽऽख्यायन्तेऽभिधीयन्ते प्राणा इत्येवम् । य एवं प्राणात्मतां सर्वकरणानां वेत्ति प्राणशब्दाभिधेयत्वं च तेन ह वाव तेनैव विदुषा तत्कुलमाचक्षते लौकिकाः । यस्मिन्कुले स विद्वाञ्जातो भवति तत्कुलं विद्वन्नाम्नैव प्रथितं

फलितमाह—हन्तेति । इतिशब्दं व्याकरोति—एवं विनिश्चित्येति । अस्माकं वागादीनां व्रतानि मृत्योर्वारणाय न पर्याप्तानीति विनिश्चित्य दध्रिरे प्राणव्रतमेवेति सबन्धः ।

प्राणरूपत्वमुक्त्वा करणानां तन्नामत्वमाह—यस्मादिति । यस्मादित्यस्य तस्मादिति व्यवहितेन सबन्धः । प्राणरूपं चलनात्मत्वमिति कुतो निश्चीयते तत्राऽऽह—न हीति । तर्हि करणेषु प्रकाशात्मकत्वमेव न चलनात्मत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—चलनेति । संप्रति विद्याफलमाह—य एवमिति । तदेव

रूपता को प्राप्त हो गयी । तथा यह सोच कर कि हमारे व्रत मृत्यु का अवरोध करने मे समर्थ नही है, उन्होंने आत्मरूप से प्राणव्रत को धारण किया ।

क्योंकि दूसरी इन्द्रियाँ प्राण के चलनात्मकरूप एवं अपने प्रकाशात्मकरूप से रूपवाली हैं । कारण यह है कि प्राण के अतिरिक्त दूसरी इन्द्रियो मे चलनात्मकसिद्धि नही हो सकती । और (मनसहित ये एकादश) इन्द्रियाँ सर्वदा चलनव्यापारपूर्वक ही अपने व्यापारो मे प्रवृत्त दिखाई देती है । इसी से ये वागादि इन्द्रियाँ इस प्राणनाम से ही कहकर 'आख्यायन्ते' अर्थात् पुकारी जाती है । इस प्रकार जो समस्त इन्द्रियो की प्राणात्मभावरूपता एव 'प्राण' शब्द द्वारा पुकारा जाना जानता है, 'तेन ह वाव' उसी के द्वारा ही व्यवहार मे लौकिक पुरुष उसके कुल को पुकारते है । जिस कुल मे जो विद्वान् उत्पन्न होता है, वह कुल उस विद्वान् के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है कि यह कुल अमुक का है । जिस प्रकार (कुरुवश मे तपती की अपत्य का) तापत्यवश प्रसिद्ध है । जो कोई इस प्रकार वागादि की उपरोक्त प्राणरूपता और प्राणसंज्ञकता को जानता है, उसे यह फल प्राप्त होता है । एव जो कोई भी 'एव विदा'' अर्थात् प्राणात्मकदर्शी से 'स्पर्धते' अर्थात् उसका प्रतिपक्षी होकर उससे

१ निश्चिनुयाम । २ तदात्मत्वेन तद्व्रतवत्त्व तपाम् । ३ चलनात्मना प्राणरूपेण प्रकाशात्मना च स्वीय-
रूपेणेत्यन्वय । ४ चलनेति—मन सहितेषु एकादशेन्द्रियेषु क्रिया प्रकाशशक्तिमत्सु परिस्पन्दो यावानस्ति तावांश्चलनस्वभावस्य प्राणस्यैवावसेय वागादीना स्वविषयेषु कर्म चक्षुरादीनामर्थेषु प्रकाशनं च विज्ञेयम् । एकादशेन्द्रियेषु साधारणचलनस्य प्राणात्मत्वात् तेषा प्राणरूपता तन्नामता चेति भाव । ५ पूर्वोक्तमेव ।

अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्यह
मित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता

अब आगे देवता विषयक दर्शन कहा जाता है। अग्नि ने व्रत लिया कि मैं जलता ही रहूगा। सूर्य ने नियम किया कि मैं तपता ही रहूगा तथा चन्द्रमा ने निश्चय किया कि मैं प्रकाशित होता ही

भवत्य[1]मुष्येदं कुलमिति। यथा तापत्य इति। य एवं यथोक्तं वेद वागादीनां प्राणरूपतां प्राणाख्यत्वं च तस्यैतत्फलम्। किंच यः कश्चिदु[2] हैवंविदा प्राणात्मदर्शिना स्पर्धते तत्प्रतिपक्षी [3]सन्सोऽस्मिन्नेव शरीरेऽनुशुष्यति [4]शोषमुपगच्छति। अनुशुष्य हैव[5] शोषं गत्वैवान्ततोऽन्ते [6]म्रियते न सहसाऽनुपद्रुतो म्रियत इत्येवमुक्तम[7]ध्यात्मं प्राणात्मदर्शनमि[8]त्युक्तोपसंहारोऽधिदैवत[9]प्रदर्शनार्थः ॥ २१ ॥

अथानन्तरमधिदैवतं देवताविषयं दर्शनमुच्यते। कस्य देवताविशेषस्य व्रतधारणं

स्पष्टयति—यस्मिन्निति। [10]तपती सूर्यसुता तस्या [11]वंशस्तापत्य। कस्येद फलमित्युक्ते पूर्वोक्तमेव स्फुटयति—य एवमित्यादिना। न केवलं विद्याया यथोक्तमेव फल किंतु फलान्तरमप्यस्तीत्याह—किंचेति। [12]प्राणविदा सह स्पर्धा न कर्तव्येति भाव। इत्यध्यात्ममित्यस्याऽनर्थक्यमाशङ्क्याऽऽह—इत्येवमिति॥२१॥

अध्यात्मदर्शनमुक्त्वाऽधिदैवतदर्शन वक्तुमनन्तरवाक्यमवतारयति—अथेति। [13]तर्हि ज्वलिष्या-

---

ईर्ष्या करता है, वह इसी शरीर में 'अनुशुष्यति' यानी असह्य क्लेश को प्राप्त होता है। 'अनुशुष्य हैव' अर्थात् दीर्घकाल तक असह्य क्लेश को प्राप्त होकर अन्त मे मर जाता है, वह बिना किसी उपद्रव के सहसा नही मरता। इस प्रकार यह अध्यात्मसघात प्राणात्मदर्शन कहा। अध्यात्मदर्शन का श्रुत्यनुकूल उक्त उपसहार अधिदैवदर्शन का (प्रकरणविच्छेद) प्रदर्शन के लिए है ॥२१॥

'अथ' मानी इसके बाद अब 'अधिदैवतम्' अर्थात् देवताविषयक दर्शन कहा जाता है। किस देवता विशेष का व्रतधारण करना श्रेष्ठ है?—यह निर्णय करने के लिए पूर्ववत् व्रतमीमासा आरम्भ की जाती है। अध्यात्मवागादि के समान यहाँ भी अधिदैव-अग्न्यादि का श्रमित होना, व्रतभङ्ग होना आदि सब कुछ समझ लेना चाहिए। अग्नि ने व्रत धारण किया कि मैं जलता ही रहूँगा, इसी प्रकार आदित्य ने व्रत धारण किया कि मैं तपता ही रहूँगा, चन्द्रमा ने व्रत लिया कि मैं प्रकाशित होता ही रहूँगा। इसी प्रकार अपने-अपने व्यापार के अनुसार अन्य विद्युदादि देवताओ ने व्रत धारण किया। उन वागादि-अध्यात्मप्राणो मे जिस प्रकार शरीर के मध्यभाग मे रहने वाला मध्यमप्राण, मृत्यु से अनभिभूत,

---

१ अमुष्येति—"प्राणरूपाभिधानाभ्या ख्याता वागादयो यथा। प्राणवित्सज्ञया ख्याति याति विद्वत्कुल तथा"॥ वा ३७४॥ २ अपि। ३ ईर्ष्यति। ४ असह्यक्लेश प्राप्नोति। ५ दीर्घकालम्। ६ म्रियत इति—यथाऽऽसङ्गपाप्मरूपो मृत्यु प्राण प्राप्य प्रध्वसते तद्वदित्यर्थं। ७ सघाते। ८ उक्तस्योपसहार। ९ प्रकरणविच्छेदार्थं इति यावत्। १० तपनी सूर्यसुतेति—सा च सवरणराजपत्नी कुरोश्च मातेति महाभारते प्रसिद्धम्, तथा च कुरुवश एव तापत्यवश इति भाव। ११ कुरुवश। १२ उपासके स्पर्धमानस्य प्रत्यवायवाचेतद्वाक्यस्य तात्पर्यमाह—प्राणविदेति। १३ अधिदैवतोपासनस्य वक्तव्ये।

यथादैवतꣳस यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुर्म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः ॥ २२ ॥

रहूँगा, ऐसा ही अपने अपने व्यापारानुसार अन्य देवताओं ने भी व्रत लिया । जैसे इन वागादि-प्राणों में मध्यम प्राण है, वैसे ही इन देवताओं में मध्यम वायु है, क्योंकि अन्य देवता अस्त हो जाते है, परन्तु वायु अस्त नही होता । यह जो वायु देवता है, वह कभी भी अस्त न होने वाला देवता है ॥ २२ ॥

श्रेय इति [1]मीमांस्यते । [2]अध्यात्मवत्सर्वं, ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे । तप्स्याम्यहमित्यादित्यः । भास्याम्यहमिति चन्द्रमाः । एवमन्या देवता यथादैवतम् । सोऽध्यात्मं वागादीनामेषां प्राणानां मध्ये मध्यमः प्राणो मृत्युनाऽनाप्तः[3] स्वकर्मणो न प्रच्यावितः स्वेन प्राणव्रतेनाभग्नव्रतो यथैवमेतासामग्न्यादीना देवतानां वायुरपि । म्लोचन्त्यस्तं यन्ति स्वकर्मभ्य उपरमन्ते यथाऽध्यात्मं वागादयोऽन्या देवता अग्न्याद्या न वायुरस्तं याति यथा मध्यमः प्राणोऽतः [4]सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुर्योऽयं वायुः । एवमध्यात्ममधिदैवं च मीमांसित्वा निर्धारितं प्राणवाय्वात्मनोर्व्रतमभग्नमिति ॥ २२ ॥

अथैतस्यैवार्थस्य प्रकाशक एष श्लोको मन्त्रो भवति । यतश्च यस्माद्वायोरुदेत्युद्ग-

मीत्यादि किमर्थमित्याशङ्क्याऽऽह—त्तस्येति । वदिष्यामीत्यादावुक्त व्याख्यानमिहापि द्रष्टव्यमित्याह—अध्यात्मवदिति । यथादैवत स्व स्व देवताव्यापारमनतिक्रम्यान्या देवता विद्युदाद्या दध्रिरे व्रतमित्यर्थ । स यथेत्यादि व्याचष्टे—सोऽध्यात्ममिति । वायुरपि मृत्युनाऽनाप्त. स्वकर्मणो न प्रच्यावित. स्वेन वायुव्रतेनाभग्नव्रत इति शेष । [5]तदेव साधयति—म्लोचन्तीति । ब्राह्मणोक्तमर्थमुपसहरति—एवमिति ॥ २२ ॥

ब्राह्मणार्थदार्ढ्यार्थं मन्त्रमवतार्य व्याकरोति—अथेत्यादिना । सूर्योऽधिदैवमुदयकाले वायोरुद्ग-

अपने कर्म से च्युत नही किया गया, प्राणव्रत से उसका (श्रमित होकर) व्रतभङ्ग नही हुआ उसी प्रकार अधिदैवत मे, इन अग्न्यादि देवताओं मे वायु रहा, क्योंकि वागादि-अध्यात्मप्राणो के समान अग्न्यादि देवता 'म्लोचन्ति' यानी अस्त होते है, अपने कर्मों से विश्राम प्राप्त कर लेते है किन्तु वायु अस्त नही होता । यह जो वायु है वह अविनाशी व्रत वाला देवता है, जैसे शरीरमध्यवर्ती प्राण है । इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवसम्बन्धी विचार करके यह निश्चय किया गया है कि प्राण और वायु के उपासकों का व्रत भङ्ग नही होता ॥२२॥

१ इति निर्णेतु पूर्ववत् व्रतमीमांसाऽऽरभ्यत इत्यर्थ । २ अध्यात्मवत्सर्वमिति—अध्यात्म वागादय इवाधिदैवमग्न्यादयोऽपि व्याप्रियमाणा श्राम्यन्त्यस्त यन्ति च श्रमाख्यमृत्युग्रस्तत्वादतस्तेऽपि भग्नव्रता जाता इत्यादि सर्वमित्यर्थ । ३ अनभिभूत । ४ अविनाशिव्रता । ५ वागेरिति वायो प्राणाच्च क्रमेणाधिदैवत सूर्योऽध्यात्म चक्षु प्रात काले पुरुषप्रबोधकाले च क्रमश उदतीति योज्यम् । ६ अभग्नव्रत वादिकर्मेत्यर्थ ।

'अथैष श्लोको भवति 'यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स 'उ 'श्व इति यद्वा एतेऽ-

इसी अर्थ का प्रकाशक यह मन्त्र है। "जिस वायुदेव से सूर्य उदित होता है और जिसमें वह सूर्य अस्त होता है" इत्यादि। यह प्राण से ही उदित होता है और प्राण में ही अस्त होता है। उस धर्म को देवताओं ने धारण किया अर्थात् अध्यात्म और अधिदैव ने क्रमशः प्राणव्रत और वायुव्रत को धारण

च्छति सूर्योऽध्यात्मं च चक्षुरात्मना प्राणादस्तं यत्र वायौ प्राणे च गच्छत्यपरसंध्यासमये स्वापसमये च पुरुषस्य तं देवास्तं धर्मं देवाश्चक्रिरे धृतवन्तो वागादयोऽग्न्यादयश्च प्राणव्रतं वायुव्रतं च पुरा विचार्य 'स एवाद्येदानीं श्वोऽपि भविष्यत्यपि कालेऽनुवर्ततेऽनुवर्तिष्यते च देवैरित्यभिप्रायः। तत्रेमं मन्त्रं संक्षेपतो व्याचष्टे ब्राह्मणम्। 'प्राणाद्वा एष सूर्यं उदेति

च्छति 'तत्र चापरसंध्यासमयेऽस्तं गच्छति। "स एव चाध्यात्मं प्रबोधसमये चक्षुरात्मना प्राणादुदेति पुरुषस्य स्वापसमये च तस्मिन्नेवास्तं गच्छतीति यतश्चे"त्यादौ "विभाग। श्लोकस्योत्तरार्धं प्राणादित्यादिब्राह्मणव्यवहितं श्लोके पूर्णताज्ञापनार्थं प्रथमं व्याचष्टे—तं देवा इति। धारणस्य प्रकृतत्वात्सामान्येन" विशेष" लक्षयित्वाऽऽह—धृतवन्त इति। स एवेति धर्मपरामर्शः। तत्रेति सप्तमी संपूर्णमन्त्रमधिकरोति।

इसी ही अर्थ का प्रकाशक यह 'श्लोक.' अर्थात् मन्त्र भी है। क्योंकि 'यतश्च' यानी जिस वायु से 'उदेति' यानी सूर्य उदय होता है तथा जिस अध्यात्मप्राण से वह चक्षुरूप से उदय होता है, जहाँ वायु और प्राण में सायंकालीन सन्ध्या के समय एवं पुरुष की सुषुप्ति के समय वह अस्त हो जाता है, उस (प्राण और वायु के) धर्म को देवताओं ने 'चक्रिरे' अर्थात् धारण किया अर्थात् वागादि इन्द्रियों और अग्न्यादि-देवताओं ने प्राचीनकाल में विचार कर प्राणव्रत और वायुव्रत धारण किया। वही प्राण-

---

१ अथ शब्दोऽप्यर्थकः। २ अत्र वार्तिककृद्भिः प्राणाद्वा इत्यादिब्राह्मणवाक्यमुत्तरत्वेनाभ्युपगम्य यतश्चोदेतीत्यादि मन्त्रस्य पूर्वार्धं प्रश्नत्वेन व्याख्यातमिति बोध्यम्। ३ उशब्दोऽप्यर्थः। ४. श्वोऽपि। ५ धर्ममिति—अध्यात्मं प्राणस्य वागादिजातधारित्ववदधिदैवं वायोरग्न्यादिगणधारित्वात्प्राणस्य वायोश्च व्रतं धर्ममागमिका विदुरित्यर्थः। वरोतधारणार्थत्वे प्रकरणं नियामकमभिप्रेत्याह—धृतवन्त इति। तदुक्तं वार्तिके—"वागादिगणधारित्वाद्धर्मं वायुव्रतं विदुः। चक्रिरे दध्रिरे धर्मं धारणं प्रकृतं यतः" ॥३८२॥ इति। ६ प्राणवायुव्रतलक्षणो धर्मः। ७ अनुष्ठितो भवतीति यावत्। ८ प्राणाद्वा एष इति—नन्वादित्यायुत्पत्तिलयहेतुत्वं प्रसिद्धप्राणस्य कथमुपगम्यते तस्याल्पशक्तित्वादित्याशङ्क्य समाहितं वार्तिके—'आत्मैव प्राणशब्दः स्यात्प्राणबन्धनवाक्यतः" ॥ ३८०॥ इति। अज्ञातात्मनोऽत्र प्राणशब्दत्वे नियामकमाह—प्राणेति। तत्र मनःशब्देन तदुपाधिको जीवो गृह्यते। न च स प्राणानां धारयिता मुख्ये प्राणे स्थातुमर्हत्यतो जीवायतनं प्राणशब्दं परमेव ब्रह्म तथाऽनापीत्यर्थः। अत्र च वार्तिकद्वयम्—'यदा वै पुरुषः शेते प्राणमप्येति वाक्तदा। चक्षुः श्रोत्रं मनस्तद्वज्जायते तत एव च ॥ अधिदैवतमप्येवं वायोरग्न्यादिसंभवः। अप्ययश्च यथाऽध्यात्मं श्रेयान्प्राणस्ततोऽन्यतः" ॥३७८-३७९॥ इति। ९ वायावेव। १० सूर्यः। ११ मन्त्रे। १२ विवेक। १३. कृधात्वर्थेन। १४ धृधात्वर्थम्।

मुह्य धियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति । तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नु-वदिति यद्यु चरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यꣳ सलोकतां जयति ॥ २३ ॥

इति प्रथमाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

किया, वही आज भी चल रहा है और कल भी रहेगा। देवताओं ने उस समय जो व्रत को धारण किया था, वे वही कार्य आज भी कर रहे हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति एक ही व्रत का आचरण करे। प्राणन और अपानन व्यापार करे। इन्द्रियों की भाँति मुझे भी कहीं पापी मृत्यु दबोच न डाले, इस भय से इस व्रत का आचरण प्रारम्भ करे, तो इसे समाप्त करने की इच्छा रक्खे। इससे वह व्रत करने वाला उस देवता के साथ सायुज्य और सालोक्य प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

॥ इति पञ्चम ब्राह्मणम् ॥

प्राणेऽस्तमेति ।

तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्व इत्यस्य कोऽर्थ इत्युच्यते । यद्वा एते व्रतममुह्य मुष्मिन्काले[1] वागादयोऽग्न्यादयश्च प्राणव्रतं वायुव्रतं चाध्रियन्त तदेवाद्यापि कुर्वन्त्यनुवर्तन्तेऽनुवर्तिष्यन्ते च व्रतं तेरभग्नमेव । यत्तु वागादिव्रतमग्न्यादिव्रतं च तद्भ-ग्नमेव । तेषामस्तमनकाले स्वापकाले च वायौ प्राणे च निम्लुक्तिदर्शनात् ।

इमं मन्त्रमिति पूर्वार्धोक्तिः ।

उत्तरार्धस्य ब्राह्मणमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थाप्य व्याचष्टे—तमित्यादिना । तैरभग्नं देवैरभग्नत्वेन मीमांसितं तेऽनुगच्छन्तीत्यर्थः । विशेषणस्यार्थवत्त्वं साधयति—यत्त्विति ।

वायुव्रत का लक्षणरूप धर्म ही आज इस समय अनुष्ठान किया जाता है और आगे भविष्यकाल में भी देवताओं द्वारा उसी का अनुष्ठान किया जायगा यह इसका अभिप्राय है। यहाँ ब्राह्मण इस मन्त्र की संक्षेप से व्याख्या करता है कि प्राण से ही सूर्य का उदय होता है और प्राण में ही विलय होता है।

"तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्व" इस श्रुतिवाक्य का क्या अर्थ है? ऐसी आकाङ्क्षा होने पर कहा जाता है। इन वागादि और अग्न्यादि ने उस (मीमांसावच्छिन्न) भूतकाल में क्रमशः जिन प्राणव्रत और वायुव्रत को धारण किया था, उन्हीं को आज भी धारण करते हैं, उसी का वे अनुष्ठान करते हैं और उसी का अनुष्ठान करेंगे। उनका यह व्रत भङ्ग नहीं हुआ है। किन्तु जो वागादि और अग्न्यादि का व्रत है, वह तो भग्न ही है। उन वागादि और अग्न्यादि का सायंसन्ध्या एवं सुषुप्ति के समय वायु और प्राण में विलय होना देखा जाता है।

---

१ यदेव। २ मीमांसावच्छिन्ने भूतकाले। ३ वागादीनामग्न्यादीनां च। ४ अस्तमनस्वरूपस्य।

'अथैतदन्यत्रोक्तम्—"यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं मनः प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं यदा प्रबुध्यते 'प्राणादेवाधि पुनर्जायन्त इत्यध्यात्ममथाधिदैवतं यदा वा अग्निरनुगच्छति वायुं तर्ह्यनूद्वाति तस्मादेनमुदवासीदित्याहुर्वायुं ह्यनूद्वाति यदादित्योऽस्तमेति वायुं तर्हि प्रविशति वायुं चन्द्रमा वायौ दिशः प्रतिष्ठिता वायोरेवाधि पुनर्जायन्ते" इति ।

यस्मादेतदेव व्रतं वागादिष्वग्न्यादिषु चानुगतं यदेतद्वायोश्च प्राणस्य च परिस्पन्दात्मकत्वं सर्वैर्देवैरनुवर्त्यमानं व्रतम् । 'तस्यादन्योऽप्येकमेव व्रतं चरेत् । किं तत्प्राण्यात्प्राणनव्यापारं कुर्यादपान्यादपाननव्यापारं च । न हि प्राणापानव्यापारस्य प्राणनापाननलक्षणस्योपरमोऽस्ति । 'तस्मात्तदेवैकं व्रतं चरेद्धित्वेन्द्रियान्तरव्यापारं नेन्मा मां पाप्मा मृत्युः

उक्तं हेतुमग्निरहस्यमाश्रित्य विशदयति—अथेति । यथाऽत्रेत्युपमार्थोऽयशब्दः । अनुगच्छति शाम्यतीत्येतत् । वायुमनु तदधीन एव तस्मिन्काल उद्वात्यस्तमेति । उदवासीदस्तं गत इत्यर्थः । इतिशब्दोऽग्निरहस्यवाक्यसमाप्त्यर्थः ।

अध्यात्मं प्राणव्रतमधिदैवं च वायुव्रतमित्येकमेव व्रतं धार्यमिति मन्त्रब्राह्मणाभ्यां प्रतिपाद्य तस्मादिति व्याचष्टे—यस्मादिति । न हि वागादयोऽग्न्यादयो वा परिस्पन्दविरहिणः स्थातुमर्हन्ति तेन प्राणादिव्रतं तैरनुवर्त्यत एवेत्यर्थः । एकमेवेति नियमे प्राणव्यापारस्याभग्नत्वं हेतुमाह—न हीति । तदनुपरमे फलितमाह—तस्मादिति । ननु प्राणनाद्यभावे जीवनासंभवात्तस्याऽऽर्थिकत्वात्तदनुष्ठानमविधेयमित्याशङ्क्य वकारलभ्यं नियमं दर्शयति—'हित्वेति । नेदित्यादिवाक्यस्याक्षरार्थमुक्त्वा तात्पर्या-

प्राण से आदित्यादि की उदय और अस्त होने वाली यह बात अन्यत्र भी श्रुति द्वारा प्रतिपादित की गई है । जब यह पुरुष सोता है, तो उस समय वाक्-इन्द्रिय प्राण में लीन हो जाती है तथा मन, चक्षु एवं श्रोत्र भी प्राण में लीन हो जाते हैं । जिस समय यह पुरुष उठता है, उस

१ प्राणादादित्यादेरुदयास्तमयपरवम् । २ प्राणाधिष्ठिता एव जायन्त इत्यर्थः । ३ उपासकोऽपि नैरन्तर्येण यावज्जीवमेकमेव व्रतं चरेदित्यर्थः । ४ प्राणव्रतस्याभग्नत्वात् । ५ हित्वेति—ननु कथं वागादिव्यापारं हित्वा प्राणव्यापारस्यैवानुष्ठेयत्वमित्याशङ्क्य समाहितं वार्तिके—"अन्तर्भावो यतोऽमीषां श्रोत्रादीन्द्रियकर्मणाम् । प्राणकर्मणि तेनैतदेकमेव व्रतं चरेत् ॥ प्राणात्मनैव वागादिव्रतान्यपि चरेत्सदा । प्राणापानात्मकं यस्माद्व्रतं व्रतं प्राणैककर्तृकम् ॥ प्राण्यादपान्याच्च ततो नित्यमा मरणाद्बुधः" ॥३८६-३८८॥ इति । एकमेवेत्यवधृतवागादिव्रतस्य त्यक्तत्वात्तदुक्तिरनर्थिकेत्याशङ्क्यान्तर्भावादित्यभोक्तं स्मारयति—प्राणात्मनैवेति । वागादीनामुपसर्जनत्वात्प्राणस्य प्रधानत्वादवधारणमित्यर्थः ॥ प्राणोपासितुरुपास्यप्राणात्मनस्तद्व्रतमेव धार्यमित्यत्र हेत्वन्तरमाह—प्राणापानात्मकमिति । नित्यं निरन्तरम् । बुधः सर्वेषु वागादिव्यापारेषु प्राणव्यापारदृष्टिस्तदुपासितेति यावत् । ६ उपासकम् । ७ निम्लुक्तिदर्शनादित्युक्तं हेतुम् । ८ तस्य प्राणनादेः, आर्थिकत्वात् जीवनान्यथानुपपत्त्यैव लब्धत्वादिति । ९ ननु सर्वप्राणिनां प्राणनादिव्यापारस्य स्वारसिकत्वादिच्छया तदनुष्ठातुमशक्यत्वात्कथं तत्र विधिरित्याशङ्क्य प्राङ्मुखभुक्तिवाक्यवत् व्यापारान्तरनिवृत्तिपरत्वाद्वाक्यस्य मैवमित्याह—हित्वेति । इत्यवतरणान्तरम् ।

श्रमरूप्याप्नुवदाप्नुयात् । नेच्छब्दः परिभये । यद्यहमस्माद्व्रतात्प्रच्युतः स्यां ग्रस्त एवाहं मृत्युनेत्येव त्रस्तो[1] धारयेत्प्राणव्रतमित्यभिप्रायः[2] । यदि कदाचिदु चरेत्प्रारभेत प्राणव्रतं समापिपयिषेत्समापयितुमिच्छेद्यदि ह्यस्माद्व्रतादुपरमेत्प्राणः परिभूतः स्याद्देवाश्च[3] । [4]तस्मात्समापयेदेव ।

तेन [5]उ तेनानेन व्रतेन प्राणात्मप्रतिपत्त्या सर्वभूतेषु वागादयोऽग्न्यादयश्च मदात्मका एवाहं प्राण आत्मा [6]सर्वपरिस्पन्दकृदेवं तेनानेन व्रतधारणेनैतस्या एव प्राणदेवतायाः सायुज्यं सयुग्भावमेकात्मत्वं सलोकतां समानलोकतां वैकस्थानत्वं

यमाह—यद्यहमिति । प्राणव्रतस्य सकृदनुष्ठानमाशङ्क्य सर्वेन्द्रियव्यापारनिवृत्तिरूप संन्यासमामरणमनुवर्तयेदित्याह—यदीति । विपक्षे दोषमाह—यदि हीति । प्राणादिपरिभवपरिहारार्थं नियमं निगमयति —तस्मादिति ।

विद्याफलं वक्तुं भूमिकां करोति—तेनेति । [7]व्रतमेव विशिनष्टि—प्राणेति । प्रतिपत्तिमेव प्रकटयति—सर्वभूतेष्विति । संप्रति विद्याफलं कथयति—एवमिति । कथमेकस्मिन्नेव विज्ञाने फलविकल्पः स्यादित्याशङ्क्य विज्ञानप्रकर्षापेक्षं सायुज्यं तन्निकर्षापेक्षं च सालोक्यमित्याह—

समय ये सभी प्राण से अधिष्ठित होकर उत्पन्न होते है, यह अध्यात्मदृष्टि है । अब अधिदैवदृष्टि बतलायी जाती है, जब अग्नि शान्त होने लगती है तो उस समय वह वायु के अधीन होकर ही विलीन होती है । इसीलिए "यह इसमे विलीन हो गया' ऐसा कहते हैं । जब सूर्य अस्त होता है, तो वह वायु मे ही विलीन हो जाता है, यानी वायु मे ही प्रविष्ट हो जाता है, वायु मे ही चन्द्रमा, और दिशाएँ भी वायु मे प्रतिष्ठित है, एव वायु के आश्रित होकर ही वे पुन उत्पन्न होती है" इत्यादि ।

क्योंकि वागादि और अग्न्यादि मे यही व्रत अनुगत है अर्थात् वायु और प्राण का जो परिस्पन्दन-रूप धर्म है, वही सभी देवताओ द्वारा अनुष्ठान किया जाने वाला व्रत है । इसलिए उपासक को भी निरन्तर जीवन भर एक ही व्रत का आचरण करना चाहिए । वह अद्वितीय व्रत क्या है ? 'प्राण्यात्' अर्थात् प्राणन व्यापार करे और 'अपान्यात' यानी अपानन व्यापार करे, क्योंकि प्राणन और अपानन लक्षणरूप प्राण और अपान के व्यापार की कभी निवृत्ति नही होती । इसलिए (प्राणव्रत के भङ्ग न होने के कारण) इस भय से कि कही मुझ उपासक को श्रमरूपी पापी मृत्यु वरण न कर ले, इन्द्रियो के अनन्तर व्यापार को छोडकर इसी एक ही व्रत का अनुष्ठान करना चाहिये । श्रुतिमन्त्र मे 'नेत्' शब्द परिभय अर्थ मे है । भावाशय यह है कि यदि मैं इस व्रत से स्खलित हो जाऊँगा तो मृत्यु का ग्रास बन जाऊँगा । इस पर भयभीत हुआ प्राणव्रत को धारण करे । यदि कभी प्राणव्रत का आचरण प्रारम्भ करे तो उसे 'समापिपयिषेत्' यानी समाप्त करने की इच्छा रखे । क्योंकि यदि उसे इस व्रत से उपरामता हो जायगी तो अनुष्ठाता को प्राण और देवताओ का परिभव हो जायगा । इसलिए (प्राणादि का परिभव इष्ट न होने के कारण) इस व्रत को समाप्तिपर्यन्त अनुष्ठान करना ही चाहिए ।

'तेन उ' अर्थात उसी इस प्राणात्म की उपलब्धिरूप व्रत से समस्त भूतो मे वागादि और

---

१ सन् । २ वागाद्यासङ्गवत्समा पाप्मा प्राप्तदासुर इत्यवमभिसन्धि सन् विद्वान्प्राणव्रत चरेत् । ३ तद्व्रतानुष्ठायिन । ४ प्राणादिपरिभवस्यानिष्टत्वात् । ५ एव । ६ सर्वव्यापारकृत् । ७ भूमिकाकरणानन्तरम् ।

(अथ प्रथमाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणम् ।)

[1]त्रयं वा [2]इदं नाम रूपं कर्म [3]तेषां [4]नाम्नां [5]वागि-
त्येतदेषा[6]मुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्ति-

नाम, रूप और कर्म यह तीन का समुदाय है और यही त्रय है। उन नामों की "वाक्" यह उक्थ अर्थात् कारण है, क्योंकि सम्पूर्ण नाम इसी वाक् से उत्पन्न होते हैं। यह वाक् ही इन नामों का साम है (क्योंकि देवदत्त यज्ञदत्तादि नामविशेष इसीसे विभक्त होते हैं) यही सब

विज्ञानमान्द्यापेक्षमेतज्जयति प्राप्नोतीति ॥ २३ ॥

इति बृहदारण्यकभाष्ये प्रथमाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

यदेतदविद्याविषयत्वेन प्रस्तुतं साध्यसाधनलक्षणं व्याकृतं जगत्प्राणात्मप्राप्त्यन्तोत्कर्षवदपि फलम् । या चैतस्य व्याकरणात्प्रागवस्थाऽव्याकृतशब्दवाच्या वृक्षबीज-

---

विज्ञानेति ॥ २३ ॥

इति बृहदारण्यकभाष्यटीकायां प्रथमाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

प्रपञ्चितस्याविद्याकार्यस्य संक्षेपेणोपसंहारार्थं ब्राह्मणान्तरमवतारयति—यदेतदिति । फलमपि ज्ञानकर्मणोरुक्तविशेषणवद्यदेतत्प्रस्तुतमिति संबन्धः । अव्याकृतप्रक्रियायामुक्तं स्मारयति—या चेति ।

अग्न्यादि मेरे ही स्वरूप है, मैं प्राणरूप आत्मा सब व्यापार करने वाला हूँ, इसलिए इस व्रत को धारण करने से इसी प्राणदेवता के 'सायुज्यम्' अर्थात् साहचर्य या एकात्मकता को तथा 'सलोकताम्' यानी विज्ञान की मन्दता की अपेक्षा से समानलोकता या स्थानैकता को 'जयति' अर्थात् प्राप्त कर लेता है ॥२३॥

इस प्रकार बृहदारण्यकभाष्य के हिन्दीभाषानुवाद में प्रथमाध्याय का
सप्तान्नसञ्ज्ञक पञ्चम ब्राह्मण पूर्ण हुआ ॥५॥

यह जो साध्यसाधन लक्षण व्याकृत जगत् और प्राणात्मप्राप्ति पर्यन्त अविद्या-विषयक उत्कर्ष-रूप फल प्रस्तुत किया गया तथा वृक्ष-बीज के समान जो 'अव्याकृत' शब्द से कही जाने वाली इस जगत् की व्याकृत होने से पूर्व की अवस्था है, वह सब त्रय है। वह 'त्रय' क्या पदार्थ है ? इस के निर्णय के लिए कहा जाता है। नाम रूप और कर्म यह अनात्मा ही वह त्रय है, जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म

---

१ त्रयात्मकमेव । अविद्यासूत्रमारभ्य सार्धब्राह्मणवर्णितम् । विद्यासूत्रात्पुरोक्तं च जगत्संक्षिप्य वर्ण्यते ॥ अल्पत्वे सति तत्त्याग सभावयति धीनृणाम् । षष्ठेऽस्मिन् ब्राह्मणे तेन जगत् संक्षिपति श्रुति ॥' (बृ०वा०सा० १६ १-२) २ यथोक्तव्याकृताव्याकृतं जगत् । ३ त्रयाणां मध्ये । ४ देवदत्तादिनामविशेषाणाम् । ५ शब्दसामान्यम् । ६ उपादानकारणम् । ७ जगत । ८ प्रेति—ननु सूत्रिताया अविद्याया विवृतत्वादविद्याप्रकरणे वक्तव्याभावादध्यायसमाप्तिरेव युक्तेत्याशङ्क्येत्यादि । ९ व्याख्यातस्य । १० उपसंहारार्थमिति—अव्याकृतवाक्ये साभासा प्रत्यगविद्या सकार्या सूत्रिता तस्याश्चाथ योऽयामित्यत्रारब्धाया गतेन संदर्भेण कार्यं प्रपञ्चितं तस्य सहेतोरुपसंहारायोत्तरं ब्राह्मणमित्यर्थः । संक्षेपविस्तरौ च सुखप्रतिपत्त्यर्थमिष्टाविति भावः । ११ तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदित्यत्र प्रकरणे ।

ष्ठन्ति । एतदेषाᳮ सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सम-
मेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥१॥

नामो मे समान है (वाक्‌रूप सामान्य से ही नामविशेष का विभाग लोक मे देखा गया है, इसीलिये
नाम का उत्पादन कारण वाक् को कहा गया है। यह वाक् ही नामविशेष का 'ब्रह्म' यानी आत्मा
है, क्योकि यही समस्त नामो को धारण पोषण करती है ॥ १ ॥

वत्सर्वमेतत्त्रयम् । किं तत्त्रयमित्युच्यते । नाम रूपं कर्म चेत्यनात्मैव नाऽऽत्मा यत्सा-
क्षादपरोक्षाद्ब्रह्म । 'तस्मादस्माद्विरज्येतेत्येवमर्थस्त्रयं वा इत्याद्यारम्भः । न 'ह्यस्मादना-
त्मनोऽव्यावृत्तचित्तस्याऽऽत्मानमेव लोकमहं ब्रह्मास्मीत्युपासितुं बुद्धिः प्रवर्तते ।
बाह्यप्रत्यगात्मप्रवृत्त्योर्विरोधात् । तथा च काठके—

व्याकृताव्याकृतस्य जगत सगृहीतं 'रूपमाह—सर्वमिति । वाङ्मन.प्राणाख्य त्रयमिति शङ्कां प्रत्याह—
किं तदित्यादिना । किमर्थं. पुनरयमुपसंहार इत्याशङ्क्याऽऽह—अनात्मैवेति । आत्मशब्दार्थमाह—
यत्साक्षादिति । अनात्मत्वेन जगतो हेयत्व तच्छब्देन परामृश्यते । वैराग्यमपि किमर्थमित्याशङ्क्याऽऽह
—न हीति । अविरक्तोऽपि 'कुतूहलितया 'तत्राधिकारो स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—बाह्येति । 'अनात्म-
प्रमाणमप्यात्मान प्रत्याययिष्यत्यात्मन सर्वात्मत्वात्कुतो विरोध" इत्याशङ्क्याऽऽह—"तथेति । कथं "तर्हि

है, वह आत्मा नही । इसलिए (अनात्मरूप से जगत् के हेय होने के कारण) इस जगत् से वैराग्य ले
ले, इसी प्रयोजन को लेकर "त्रय वा' इस श्रुतिमन्त्र का प्रारम्भ किया जाता है । इस अनात्म
(ऐहिक-आमुष्मिक फल के साधनस्वरूप ससार) मे आसक्तचित्त वाले की बुद्धि 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार
आत्मलोक के अनुसधान करने के लिए प्रवृत्त नही होती क्योकि बाह्य प्रवृत्ति और प्रत्यगात्म-
विषयिणी प्रवृत्ति मे पारस्परिक विरोध है । इसी को कठश्रुति मे भी प्रतिपादित किया है—'स्वयम्भु
भगवान् ने इन्द्रियो को वहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है (क्योकि विषयबुद्धि विषयत्वरूप से आत्मा
को जानने मे समर्थ नहीं है) इसलिए पुरुष बाह्यविषयो को देखता है, अन्तरात्मा को नही । (आत्म-
बुद्धि और अनात्मबुद्धि मे परस्पर विरोध होने के कारण) अमृतत्व की इच्छा करने वाले किसी-किसी
धीर पुरुष ने ही इन्द्रियो को विषयो से हटाकर प्रत्यगात्मा को देखा है' इत्यादि ।

विरज्येत वैराग्य-

१ तस्मादिति—अनात्मत्वेन जगतो हेयत्वात् । अस्मात् उक्तरूपाज्जगत सकाशादधिकारी
माप्नुयादित्यर्थ । तथा च वार्तिकम्— "एवमुक्ते विरक्तोऽस्मान्मुमुक्षु श्रद्धयान्वित । ब्रह्मज्ञानेऽधिकारी स्यात्कथ
नामेति भण्यते" ॥३॥ नामरूपात्मक जगदाविद्यमनात्मत्वेन हेयमिति निश्चितेऽस्माद्विरक्तो मुमुक्षुस्तद्धेतु श्रद्धया-
ऽनुसदधानो ब्रह्मधीहेतौ श्रवणादौ सन्यासपूर्वके कथमधिकुर्यादिति यत श्रुतिरालोचयतऽतोऽयमुपसहार क्रियते—
तयेति ॥ २ जगत । ३ ऐहिकामुष्मिक फलतत्साधनात्मकात्ससारात् । ४ अनुसधातुम् । ५ विरोधा-
दिति—अनात्मा सङ्गस्यात्मवेदनस्य च अन्योन्य प्रत्यनीकत्वादित्यर्थ । ६ त्रयात्मकम् । ७ अर्थवादोक्ता-
नात्मरूपफलविशेषेप्सुतया । ८ सन्यासपूर्वके ब्रह्मधी हेतुश्रवणादौ । ९ अनात्मविषयक ज्ञानमपि । १०
तद्धियोरिति शेष । ११ "अनात्मप्रमाण (ज्ञान) मपि आत्मानमाश्रयत्वेन (विषयत्वेन) प्रत्याययिष्यत्यतो न
तद्धियोर्विरोधितेत्याशङ्क्याऽऽह—तथेतीति" पाठान्तरम् । १२ आत्मानात्मधियोर्मिथो विरोधित्वे सतीत्यर्थ ।

"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" इत्यादि ॥

कथं पुनरस्य व्याकृताव्याकृतस्य क्रियाकारकफलात्मनः संसारस्य नामरूपकर्मात्मकतैव न पुनरात्मत्वमित्येतत्संभावयितुं शक्यत इति । अत्रोच्यते—तेषां नाम्नां यथोपन्यस्तानां वागिति शब्दसामान्यमुच्यते । यः कश्च शब्दो वागेव सेत्युक्तत्वाद्वागित्येतस्य शब्दस्य योऽर्थः शब्दसामान्यमात्रमेतदेषां नामविशेषाणामुक्थं कारणमुपादानं सैन्धवलवणकणानामिव सैन्धवाचलस्तदाहातो ह्यस्मा द्वामसामान्यात्सर्वाणि नामानि यज्ञदत्तो देवदत्त इत्येवमादिप्रविभागान्युत्तिष्ठन्त्युत्पद्यन्ते प्रविभज्यन्ते लवणाचलादिव लवणकणाः । कार्यं च कारणेनाव्यतिरिक्तम् । तथा विशेषाणां च सामान्येऽन्तर्भावात् ।

प्रत्यगात्मधीस्तत्राऽऽह—कश्चिदिति ।

उपसहारस्येत्यं सफलत्वेऽपि सर्वस्य जगतो नामादिमात्रत्वं प्रमाणाभावादयुक्तमिति शङ्कते—कथमिति । अनुमानैः संभावना दर्शयति—अत्रेति । तत्र कार्यत्वहेतुकमनुमानमाह—तेषामिति । वागत्येतिदुक्थमिति संबन्ध । इन्द्रियव्यावृत्त्यर्थं वाक्पदार्थमाह—शब्देति । सगृहीतमर्थं विवृणोति—य कश्चेत्यादिना । उक्थत्वमुपपादयितुमुत्तर वाक्यमित्याह—तदाहेति । कार्यकारणभावेऽपि किमायातमत आह—कार्यं चेति । सर्वे नामविशेषास्तन्मात्रा तत्त्वतो न भिद्यन्ते तत्कार्यत्वाद्यद्यत्कार्यं तत्ततो न भिद्यते यथा मृदो घट इत्यर्थं । सर्वे नामविशेषास्तत्सामान्ये कल्पिता प्रत्येक तदनुविद्धत्वाद्रज्जिवदंशानुविद्धमर्पादिवदित्यनुमानान्तरमाह—तथेति । कार्याणां कारणेऽन्तर्भाववदिति यावत् ।

किन्तु इस व्याकृत और अव्याकृत क्रिया-कारक-फलरूप जगत की नामरूप और कर्मात्मकता ही क्यो है ? आत्मरूपता क्यो नही है ? ऐसी सम्भावना की जा सकती है । ऐसी शङ्का होने पर उसका समाधान दिया जाता है—'तेषा नाम्ना' यानी (देवदत्त इत्यादि) लोकप्रसिद्ध जिन नामो का उपरोक्त वर्णन है, उन नामो का 'वाक्' यह शब्दसामान्य कहा जाता है । क्योंकि (पचम ब्राह्मण के तृतीय मन्त्र

---

१ पश्यतीति—न हि विषयधीराश्रयत्वेन (विषयत्वेन) आत्मानमावेदयितुमल तस्या विषय(विशेष्य)मात्रावसायित्वादतो विरोधस्तद्धियोरिति भाव । २ अत्रेति—अस्मिंश्चोद्ये समाधानमुच्यते । उक्त च वार्तिके—"नामाद्यात्मकतैवास्य ब्रह्मादे स्थावरावधे । न तु वस्त्वन्तर तस्याद्यथा तदिह वण्यते" ॥ इति ॥ ३ देवदत्त इत्यादीना लोकप्रसिद्धानाम् । ४ बृ०उ० १५३ । ५ शब्दसामान्यात् । ६ अन्तर्भावाद्विशेषा अपि न सामान्यातिरिक्ता इति शेष । ७ अनात्मबोधनेन जगत । ८ जगतस्त्रयात्मकत्वसभावनाम् । ९ त्रिष्वनुमानेषु मध्ये । १० सामान्यविशेषयो । ११ किं फल निष्पन्नम् । १२ वाक्छब्दितशब्दसामान्यमात्रात् । १३ काल्पनिकभेद व्यावर्तयितुमिदम् । १४ इत्यर्थं इति—कार्यकारणयोरविभागस्य मृद्घटादौ दृष्टत्वात् प्रकृते च कार्यकारणभावसत्त्वात् तादात्म्यदर्शनात् वाचारम्भण विकार इति च कार्यानृतत्वोक्ते शब्दसामान्यमन्तरेण न तद्विशेषा वस्तुत सन्तीति भाव । १५ एतदेवानन्तरानुमानेन सूचयति—सर्वं इति । १६ तदनुविद्धत्वात्—नामसामान्यव्याप्तत्वात् ।

कथं सामान्यविशेषभाव इति । एतच्छब्दसामान्यमेषां नामविशेषाणां साम समत्वात्साम सामान्यमित्यर्थः । एतद्धि यस्मात्सर्वैर्नामभिरात्मविशेषैः समम् । किंचाऽऽत्मलाभाविशेषाच्च नामविशेषाणाम् । यस्य च यस्मादात्मलाभो भवति स तेनाप्रविभक्तो दृष्टो यथा घटादीनां मृदा । कथं नामविशेषाणामात्मलाभो वाच इत्युच्यते । यत एतदेषां वाक्शब्दवाच्यं वस्तु ब्रह्माऽऽत्मा । ततो ह्यात्मलाभो नाम्नां शब्दव्यतिरिक्तस्वरूपानुपपत्तेः ।

उक्तमेव प्रश्नपूर्वकं प्रपञ्चयति—कथमित्यादिना । सामत्वं साधयति—एतद्धीति । इतश्च नामविशेषा नाममात्रेऽन्तर्भवन्तीत्याह—किंचेति । नामविशेषाणां नाममात्रादात्मलाभात्तस्मादविशेषात्तत्रैवान्तर्भाव इत्यक्षरार्थः । सर्वे नामविशेषास्तत्सामान्यान्न पृथग्वस्तुतः सन्ति तेनाऽऽत्मवत्त्वाद्येनाऽऽत्मवन्तस्ते ततोऽन्ये वस्तुतो न सन्ति यथा मृदाऽऽत्मवन्तो घटादयो वस्तुतस्ततोऽन्ये न सन्तीत्युक्तेऽनुमाने व्याप्तिं साधयति—यस्य चेति । हेतुसमर्थनार्थमुत्तरं वाक्यमुत्थापयति—कथमित्यादिना । अतः शब्दमात्रात्तद्विशेषाणामात्मलाभो भवतीति शेषः । तत्रैव युक्तिमाह—ततो हीति । तत्रैव वाक्यमवतार्य

मे) कहा गया है कि "जो कुछ शब्द है; वह सभी कुछ वाक् ही है।" इसलिए 'वाक्' इस शब्द का जो
अर्थ है; वह शब्दसामान्यमात्र 'एतदेषाम्' अर्थात् इन नामविशेषों का 'उक्थम्' यानी उपादानकारण
है। जिस प्रकार सैन्धव नमक के कणों का उपादानकारण सैन्धव पहाड़ है। इसी को श्रुति कहती है—
'एतो हि' यानी इस शब्दसामान्य से ही लवण के पहाड़ से लवण के कणों के समान समस्त नाम, यज्ञदत्त-
देवदत्तादि इस प्रकार नामविभागपूर्वक 'उत्तिष्ठन्ति' यानी विभक्त होते है। तथा कार्य कारण से व्यति-
रिक्त नहीं होता। (सामान्य से अतिरिक्त न होने के कारण) विशेष भी सामान्य के अन्तर्गत रहते है।

किन्तु वाक् और उसके विशेष का सामान्य-विशेषभाव किस प्रकार सिद्ध होगा? इस पर
कहते हैं। "एतद्" यानी यह शब्दसामान्य "एषाम्" अर्थात् इन नामविशेषों का साम है। समता होने
के कारण साम नाम पड़ा; अर्थात् यह सामान्य है। क्योंकि यही वाग्रूपशब्दसामान्य अपने विशेषभूत
सम्पूर्ण नामों से अविशेषरूप से अनुस्यूत है। इसके अतिरिक्त जितने नामविशेष है, उन्हे नामसामान्य
के कारण ही आत्मोपलब्धि होती है, उनसे अभिन्न होने के कारण उनका नाममात्र मे अन्तर्भाव होता
है। जिससे जिसको अपने स्वरूप की प्राप्ति होती है, वह उससे अभेदरूप मे ही देखा गया है, जिसप्रकार
मिट्टी का घड़े मे कोई भेद नहीं है। नामविशेषों को 'वाक्' यानी नामसामान्यरूप आत्मीयत्वप्राप्ति कैसे
होती है? इस पर कहा जाता है। क्योंकि 'एतदेषाम्' वह वाक्शब्दवाच्य वस्तु इन विशेषों का "ब्रह्म"
अर्थात् आत्मा है क्योंकि उसीसे नामों को अपना स्वरूप प्राप्त होता है; शब्द से भिन्न तो नामों का कोई
स्वरूप सिद्ध नहीं होता। इसी को श्रुति द्वारा वर्णन किया जाता है। क्योंकि यह शब्दसामान्य ही

---

१. वाक्तद्विशेषयोरिति शेष । २. सर्वविशेषानुगतत्वात् । ३ एतद्धीति—वाग्रूप शब्दसामान्य स्वविशेषभूतैर्नामभि. समम् अविशेषेणानुस्यूतमिति हि प्रसिद्ध सामान्यानुविद्धस्य विशेषस्याभावादित्यर्थ । ४. वाग्विशेषै । ५. विशेषाणाम् । ६. व्यतिरेकेण । ७. सामान्यविशेषत्वमेव । ८ वाच । ९ नामसामान्यात् । १०. नाममात्रादवैलक्षण्यात् । ११. सामान्य एव । १२. अनुमानघटकीभूताम् । १३. उक्तानुमानघटकहेतुरिति यावत् । १४. नामविशेषाणा नामसामान्यात्मीयत्वात् । १५ तत्रैवेति—नामसामान्यात्र एवेत्यर्थ । १६. उक्तार्थम् ।

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाᳪ सामतद्धि सर्वै रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मै तद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ॥२॥

अब शुक्लनीलादि रूपो का सामान्य चक्षु है। यह उपादान कारण है । इसी चक्षु से समस्त रूप उत्पन्न होते है। यह चक्षु ही उन रूपो का साम है क्योकि यह समस्त रूपो का प्रकाशक होने से उनमे सम है। यह चक्षु ही इन नीलादि रूपो का आत्मा है क्योकि यही समस्त रूपो को धारण करता है ॥ २ ॥

'तत्प्रतिपादयत्येतच्छब्दसामान्य हि यस्माच्छब्दविशेषान्सर्वाणि नामानि बिभर्ति धारयति स्वरूपप्रदानेन । एव कार्यकारणत्वोपपत्ते. सामान्यविशेषोपपत्ते'रात्मप्रदानोपपत्तेश्च नामविशेषाणा शब्दमात्रता सिद्धा । एवमुत्तरयोरपि सर्वं योज्य यथोक्तम् ॥१॥

अथेदानीं रूपाणा सितासितप्रभृतीना चक्षुरिति चक्षुर्विषयसामान्य चक्षु शब्दाभिधेय 'रूपसामान्य प्रकाश्यमात्रमभिधीयते । अतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषा

व्याचष्टे—तदित्यादिना । 'तस्मा'त्तन्मात्रात्तद्विशेषाणामात्मलाभ इति वाक्यशेष । प्रथमकण्डिकया सिद्धमर्थमुपसहरति—एवमिति । उपपत्तित्रयमुत्तरवाक्यद्वयेऽपि तुल्यमित्याहिशति—एवमुत्तरयोरिति ॥ १ ॥

'तत्र व्याख्यानसापेक्षाणि पदानि व्याकरोति— अथेत्यादिना । नामव्याख्यानानन्तर्यमथशब्दार्थ । चक्षुरुक्थमिति सबन्ध । चक्षुरिति चक्षु शब्दाभिधेय चक्षुर्विषयसामान्यमभिधीयते तच्च रूपसामान्य

शब्दविशेषरूप सम्पूर्ण नामो को अपना स्वरूप प्रदान कर "बिभर्ति" अर्थात् धारण करता है। इस प्रकार कार्यकारणत्व, सामान्यविशेषत्व और आत्मीयोपपत्ति होने से नामविशेषों की शब्दमात्रता सिद्ध होती है। इसी प्रकार इस ब्राह्मण मे आगे वर्णन किये गये दो श्रुतिवाक्यो मे भी उपरोक्त सम्बन्ध लगा लेना चाहिये ॥ १ ॥

---

१ तदिति—विशेषाणा सामान्यादात्मलाभत्वमित्यर्थ । २ आत्मात्मीयत्वोपपत्त । ३ रूपसामान्यमिति—रूपाणा चक्षुरुक्थमित्यत्र रूपविशेषाणा कार्यत्व चक्षुष कारणत्वमिति (कार्यकारणभाव) सम्बन्धदर्शनात् रूपसामान्य चक्षुरुक्त प्रसिद्धाच्चक्षुषो रूपविशेषानुत्पत्त रूपसामान्याच्च तद्विशेषोत्पत्तरिष्टत्वात् । चक्षुषो रूपमात्रतेजोविकारत्वेन रूपात्मत्वाच्चक्षुशब्देन रूपसामान्यग्रहणमिति भाव । चक्षुषो रूपात्मत्वमुपपादित वार्तिके—
यद्यद्धि रूप्यते किञ्चिच्छब्दस्पर्शादिक धिया । तत्तद्रूपमिति ज्ञेय तैजसत्वाविशेषत ॥ त्वाष्ट्रमेव हि सर्वत्र तेजो रूपादिलक्षणम् । तस्माद्विषयसामान्य चक्षुशब्देन भण्यते ॥ १९ २० ॥ इति । बुद्ध्या रूप्यमाणेऽर्थे रूपशब्दप्रवृत्तेरौचित्यद्योतनार्थो हिशब्द । रूप्यमाणकार्यमात्रस्य रूपत्वे हेतुमाह—तैजसत्वेति । कार्यमात्रस्य तैजसत्वाविशेषात्तस्य च रूपात्मत्वस्वीकारादित्यर्थ ॥ कथ कार्यमात्रस्य तैजसत्व तदाह—त्वाष्ट्रमिति । सर्वं हि कार्यं सावित्रेण तेजसा पच्यमानमात्मान लभते तथाच तदेव तदित्यर्थ । चक्षुषस्तैजसत्वेन रूपात्मत्वमुक्त्वा फलितमाह—तस्मादिति । एतेन प्रकाश्यमात्रमिति भाष्य व्याख्यातम् । ४ धारकत्वात् । ५ तत्सामान्यात् । ६ उत्तरवाक्यद्वये ।

अथ कर्मणामात्मेत्य[1]तदे[2]षामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्म[3]तद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत्त्रयꣳ सदेकमय[3]मात्माऽऽत्मो[4] एकः सन्नेतत्त्रयं

तथा चलन, दर्शन, मननादि सम्पूर्ण कर्मों का सामान्य शरीर है। यही उन क्रियाओं का उपादान कारण है, इस शरीर से ही सब कर्म उत्पन्न होते हैं। यह शरीर इसका साम है क्योंकि यह समस्त कर्मों में समान होने से सम है। यह शरीर उन कर्मों का आत्मा है क्योंकि यही समस्त कर्मों को धारण करता है। वह यह नाम, रूप और कर्म तीन होते हुए भी संघातरूप

सामैतद्धि सर्वै रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ॥२॥

अथेदानीं सर्वकर्मविशेषाणां मननदर्शनात्मकानां चलनात्मकानां च क्रियासामान्यमात्रेऽन्तर्भाव उच्यते। कथं, सर्वेषां कर्मविशेषाणामात्मा शरीरं सामान्यमात्माऽऽत्मनः कर्मेत्युच्यते। आत्मना हि शरीरेण कर्म करोतीत्युक्तम्। शरीरे च सर्वं कर्माभि-

तदपि "प्रकाश्यमात्रमिति योजना ॥ २ ॥

रूपप्रकरणानन्तर्यमथेत्युच्यते। क्रियाविशेषाणां क्रियामात्रेऽन्तर्भावं प्रश्नद्वारा स्फोरयति—कथमित्यादिना। आत्मशब्देनात्र शरीरनिर्वर्त्यकर्मग्रहणे "पुरुषविधब्राह्मणशेषमनुकूलयति—आत्मना हीति। "तत्रैवोपपत्तिमाह—शरीरे चेति। "तथाऽपि कथमात्मशब्द. शरीरनिर्वर्त्यं कर्म ब्रूयादित्याशङ्क्य

'अथ' यानी इसके बाद 'रूपाणाम्' अर्थात् शुक्ल-कृष्ण आदि रूपों का 'चक्षु' अर्थात् चक्षु सामान्य है। चक्षु के विषयभूत रूपों का सामान्य चक्षुशब्द से कहा जाने वाला रूपसामान्य अथवा कार्यमात्र कहा जाता है। इसलिए सारे रूप उत्पन्न होते हैं, यह इनका साम है क्योंकि यह समस्त रूप से विशेष द्वारा अनुगत है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही सब रूपों को धारण करता है ॥ २ ॥

अब इसके बाद मनन दर्शनात्मक एवं चलनात्मक समस्त कर्मविशेषों की क्रियासामान्यमात्र में

१ कर्मसामान्यम्। २ कर्मविशेषाणाम्। ३ शरीरम्। ४ उशब्दोऽप्यर्थे। ५ क्रियासामान्यैकात्मित्यर्थः। ६ ननु कथमात्मा कर्मणामुक्थमिति विशेषतो व्यपदिश्यते तस्य सर्वोपादानत्वादित्याशङ्क्यात्मशब्दार्थमाह—आत्मा शरीरमिति। शरीरविषयात्मशब्देनात्र तन्निर्वर्त्यं कर्मसामान्यं लक्ष्यत इति प्रतीकोपादानपूर्वकमाह—आत्मेति। तथा च वार्तिकम्—'वाक्चक्षुःशब्दनो यद्वद्गृह्यते विषयस्तयोः। आत्मनो विषयस्तद्वदात्मशब्देन गृह्यते" ॥ २५ ॥ इति। ७ शरीरस्य। ८ बृ० उ० १।४।१७। ९ सर्वं कर्मेति। तदुक्तं वार्तिके—"सर्वेन्द्रियपरिस्पन्दो व्यज्यते न शरीरके। शरीरविषयस्तस्मादात्मत्वेनाभिधीयते ॥२६॥ इति। शरीरविषयस्य-उज्जन्यपरिस्पन्द इति यावत्। अत्र प्रकृतवाक्य ॥ १० कार्यमात्रम्। ११ चतुर्थब्राह्मणे। १२ तत्रैवेति—अत्रात्मशब्दितदेहनिर्वर्त्यकर्ममात्रग्रह इत्यर्थः। १३ शरीरस्य कर्मनिर्वर्तकत्वेऽपि।

तदेतदमृतꣳ सत्येन छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥३॥

इति प्रथमाध्याये षष्ठं ब्राह्मणम् ॥६॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

बृहदारण्यकक्रमेण तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

से एक आत्मा (शरीर) है और यह कार्यकरणसघातरूप आत्मा एक होते हुए तीन हैं। वह यह अमृत शरीरावस्थित कार्यात्मक नाम, रूप सत्य से आच्छादित है। यहाँ पर प्राण ही अमृत है और नाम रूप सत्य है इनमे यह अविनाशी प्राण अप्रकाशित है। (यहाँ तक अविद्या के विषय ससार का स्वरूप दिखलाया गया। अब विद्या के विषय आत्मा को कहेंगे) ॥ ३ ॥

व्यज्यते। [1]अतस्तात्स्थ्यात्तच्छब्दं कर्म कर्मसामान्यमात्रं सर्वेषामुक्थमित्यादि पूर्ववत्।

तदेतद्यथोक्तं नाम रूपं कर्म त्रयमितरेतराश्रयमितरेतराभिव्यक्तिकारणमितरेतर-

लक्षणयेत्याह—अत इति।

[2]सक्षेपस्यापि सक्षेपान्तरमाह—तदेतदिति। तदेतत्त्रयं त्रिदण्डविष्टम्भवत्संहतं सदेकमिति संबन्ध। कथ सहतत्वमत आह—इतरेतराश्रयमिति। [3]रूपं विषयमाश्रित्य नामकर्मणो सिध्यत स्वातन्त्र्येण

एकता बतलायी जाती है। किस प्रकार यह एकता है? सभी कर्मविशेषो का 'आत्मा' यानी शरीर सामान्य आत्मा है। अथवा शरीर का कर्म होने से यहाँ कर्म को आत्मा कहा जाता है। (चतुर्थ ब्राह्मण के सतरहवें मन्त्र म) पहले कह चुके है कि "आत्मा ही से यानी शरीर से कर्म करता है", शरीर मे ही सभी कर्मों का परिस्पन्दन होता है। इसलिए (आत्मशब्दित शरीर के सर्व कर्मो के जनक होने के कारण) आत्मस्थ कर्म को उसी शब्द से कहा जाता है, वह कर्म सामान्यमात्र आत्मा समस्त कर्मों का उपादान कारण है इत्यादि पूर्ववत् ग्रन्थ की तरह समझ लेना चाहिए।

वे ये उपरोक्त नाम, रूप और कर्म तीनो एक दूसरे के आश्रित, एव एक दूसरे की अभिव्यक्ति के कारण है, एक दूसरे मे लय को प्राप्त होने वाले और परस्पर सम्मिलित हुए तीन दण्डो के समूह के समान (आश्रय-आश्रयी भाव से रहने के समान) एक है। उनकी किस प्रकार एकरूपता है? इसका प्रतिपादन किया जाता है। इस आत्मा, कार्यकरणसघातरूप पिण्ड तथा अन्नत्रय के प्रकरण मे "वह यह आत्मा एतन्मय है' इस श्रुति से व्याख्या की गई है। यह जो नाम, रूप और कर्म है वह इतना ही बस

१ अत इत्यादे। आत्मशब्दितदेहस्य सर्वकर्मजनकत्वात् सर्वकर्मणामात्मशब्दितदेहस्थत्वात्। अजहल्लक्षणयाऽऽत्मशब्दित कर्म। तदपि कर्मसामान्यमात्रमित्यर्थ। २ सक्षेपस्यापीति—नामरूपकर्मात्मना सक्षिप्तस्यापि जगत. पुन सक्षेपान्तरमित्यर्थ। ३ इतरेतराश्रयमिति विशेषणस्य तात्पर्यं वदन् नामकर्माश्रयत्व रूपस्य प्रदर्शयति—रूपमिति। तदुक्त वार्तिके—'रूपमेव प्रतिष्ठा स्यात्सर्वदा नामकर्मणो। न हि रूपमनाश्रित्य विद्येते नामकर्मणी" ॥३०॥ इति। सर्वदा देहिकयोर्द्वयो सत्त्वावच्छिन्नकाले। तत्र युक्तिमाह—न हीति। तयोरस्वातन्त्र्यादित्यर्थ.।

प्रलय संहतं त्रिदण्डविष्टम्भवत्सदेकम्। केनाऽऽत्मनैकत्वमित्युच्यते। अयमात्माऽयं पिण्ड कार्यकरणात्मसंघातस्तथाऽन्नत्रये व्याख्यात एतन्मयो वा अयमात्मेत्यादिना। एतावद्धीदं सर्वं व्याकृतमव्याकृतं च यदुत नाम रूपं कर्मेत्यात्मा उ एकोऽयं कार्यकरणसंघातः सन्नध्यात्माधिभूताधिदैवभावेन व्यवस्थितमेतदेव त्रयं नाम रूपं कर्मेति।

निर्विषययोस्तयोः सिद्धत्वदर्शनान्नामकर्मणी चाऽऽश्रित्य रूपं सिध्यति। न हि ते हित्वा किंचिदुत्पद्यत इत्यर्थः। वाचकेन वाच्यस्य तेनेतरस्य ताभ्यां च क्रियायास्तया तयोरपेक्षादर्शनादन्योन्यमभिव्यञ्जकत्वमाह—इतरेतरेति। सति नाम्नि रूपसंहारदर्शनाद्रूपे च सति नामसंहारदृष्टेः सतोश्च तयोः कर्मणस्तस्मिंश्च सति तयोरुपसंहारोपलम्भादितरेतरप्रलयमित्याह—इतरेतरप्रलयमिति। त्रयाणामेकत्वं विरुद्धमिति शङ्कित्वा परिहरति—केनेत्यादिना। कथं कार्यकरणसंघातात्मना त्रयाणामेकत्वं तत्राऽऽह—तथेति। नामरूपकर्मणां कार्यकरणसंघातमात्रत्वेऽपि ततो व्यतिरिक्तं संघातादन्यत्स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—एतावदिति। नामादित्रयस्य संघातमात्रत्वे कथं 'व्यवहारा' साकर्यमित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मेति। संघातोऽयमात्मशब्दितः स्वयमेकोऽपि सन्नध्यात्मादिभेदेन स्थितः "त्रयमेव "भवतीति व्यवहारासांकर्यमित्यर्थः।

सम्पूर्ण व्याकृत और अव्याकृत संसार है। एवं देह भी कार्यकरणसंघातमात्र एक होते हुए यही अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव भाव से स्थित नाम, रूप और कर्म त्रयात्मकस्वरूप है।

प्राणात्मक सौत्र शरीर का अब आगे विवेचन किया जाता है। अमृतं सत्येन च्छन्नम् इस

१ संहतमिति—सम्मिलितम्। उक्तं वार्तिके— आश्रयाश्रयिभावेन नामरूपक्रियात्मनाम्। एकार्थानां सतां तेषां संहतिः स्याच्छरीरकम्॥ एकार्थानामेकस्य भोक्तुः सुखदुःखप्रदत्वेनैकशरीरारम्भकत्वेनावस्थितानामित्यर्थः। २ आश्रयाश्रयिभावेनावस्थानवत्। ३ कार्येति—प्रत्यक्षोपलब्धकार्यकरणसंघातात्मना त्रयाणामेकत्वमिति यावत्। ४ तथेति—कार्यकरणसंघातो यथात्रयात्मकस्तथाऽन्नत्रये (तत्प्रकरणे) एतन्मय इत्यादिना व्याख्यात इत्यन्वयः। ५ बृ० उ० १।५।३। ६ देहः। ७ अपि। देहस्य त्रयात्मत्वं न केवलं प्रत्यक्षं वाक्यीयमपीति भावः। ८ इत्यर्थ इति—एवं कर्मणो नामरूपाश्रयत्वमुक्तं वार्तिके— 'प्राण एव प्रतिष्ठेवं सदा स्यान्नामरूपयोः। प्राणे धात्म्याश्रयाद्यस्मादात्मलाभः सदा तयोः॥३१॥ इति। एवं रूपस्य नामकर्माश्रयत्ववदित्यर्थः। प्राणस्य क्रियासामान्यात्मना नामरूपाश्रयत्वे हेतुमाह—प्राणेति। नामरूपयोर्देहस्थयोः सत्त्वं सदा प्राणाधीनमिति प्राणस्य तदाश्रयत्वोक्तिरित्यर्थः। नाम्नो रूपाद्याश्रयत्वमपि तत्रैवोक्तं— तद्वद्वागाश्रयत्वं च तयोः स्याद्रूपकर्मणोः। वाचा प्रकाश्यमाने ते प्रयुज्येते यतः सदा॥३२॥ इति। रूपस्य कर्मणश्च प्रत्येकमितरेतराश्रयत्ववदित्यर्थः। वाक्छब्दस्य नाममात्रस्य रूपाद्याश्रयत्वे हेतुमाह—वाचेति। न हि रूपस्य कर्मणश्चाप्रकाशितस्य क्वचिद्विनियोगस्तेन प्रकाश्ययोस्तयोरुक्तं प्रकाशकाश्रयत्वमित्यर्थः॥ ९ वाचकस्य। १० नामादीनाम्। ११ भिन्नत्वेन व्यवहरणम्। १२ नामरूपकर्मात्मकमेव। १३ भवतीति—एकस्यैव देहस्य कृतस्त्रिरूपत्वमत आहुर्वार्तिके— नामरूपक्रियाभिन्नो देहोऽयं गृह्यते यतः॥३४॥ इति। नामादिभिन्नस्य देहस्य गृह्यमाणत्वादित्यर्थः। नामादिव्यतिरेकेण तस्यागृह्यमाणत्वादिति यावत्। अभिन्न इति च्छेदे तु सरला योजना। भिन्नशब्दस्य राभिप्रायत्वं तु सरलतरेति द्रष्टव्यम्। तथा च वनवृक्षवत् समुदायविवक्षयाऽयं देह इति व्यवहारः। समुदायिविवक्षया त्वपरत इति तदसाङ्कर्यमित्यभिप्रत्याह—इति व्यवहारासाङ्कर्यमिति।

तदेतद्वक्ष्यमाणम् । अमृतं सत्येन च्छन्नमित्येतस्य वाक्यस्यार्थमाह—'प्राणो वा अमृतं करणात्मको'ऽन्तरुपष्टम्भक आत्मभूतोऽमृतोऽविनाशी । नामरूपे सत्यं कार्यात्मके शरीरावस्थे क्रियात्मकस्तु प्राण'स्तयोरुपष्टम्भको बाह्याभ्यां शरीरात्मकाभ्यामुपजनापायधर्मिभ्यां 'मर्त्याभ्यां छन्नोऽप्रकाशीकृतः । 'एतदेव 'संसारसतत्त्वम'विद्याविषयं प्रदर्शितम् । अत ऊर्ध्वं विद्याविषय आत्माऽधिगन्तव्य इति चतुर्थ आरम्यते ॥३॥

इति बृहदारण्यकभाष्ये प्रथमाध्याये षष्ठं ब्राह्मणम् ॥६॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशंकरभगवतः कृतौ बृहदारण्यकभाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

एकस्मिन्नपि संघाते 'कार्यकरणरूपेणावान्तरविभागमाह—तदेतदिति । आत्मभूतस्त''स्योपाधित्वेन स्थित इति यावत् । अविनाशी स्थूलदेहे गच्छत्यपि यावन्मोक्षं न गच्छतीत्यर्थः । सच्च त्यच्च सत्यं भूतपञ्चकं तदात्मके नामरूपे इत्याह—नामेति । करणयाथात्म्यं कथयति—क्रियात्मकस्त्विति । पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतात्मकं तत्कार्यं सर्वं सच्च त्यच्चेति व्युत्पत्ते' सत्यं वैराजं शरीरं कार्यमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मककरणरूपसप्तदशकलिङ्गस्य सूत्राख्यस्याऽऽयतनं तस्यैवाऽऽच्छादकं "तत्खल्वनात्माऽपि स्थूलदेहच्छन्नत्वाद्दुर्विज्ञान" तेनापि" च्छन्नं प्रत्यग्वस्तु सुतरामिति तज्ज्ञानेऽग्रहितं भाव्यमिति भावः । इदानीमविद्याकार्यप्रपञ्चमुपसंहरति—एतदिति । "अविद्याविषयविवरणस्य "वक्ष्यमाणोपयोगमुपसंहरति—अत इति । प्रपञ्चिते सत्यविद्याविषये ततो विरक्तस्याऽऽत्मानं विविदिषो"स्तज्ज्ञापनार्थं चतुर्थप्रमुख' संदर्भो भविष्यति । "तस्मादविद्याविषयविवरणमुपयोगीति भावः ॥ ३ ॥

इति बृहदारण्यकभाष्यटीकाया षष्ठ ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्येण भगवदानन्दज्ञानेन कृतायां बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां प्रथमोऽध्याय. ॥ १ ॥

श्रुतिवाक्य का अर्थ किया जाता है। लिङ्गात्मप्राण ही अमृत है। जो इन्द्रियस्वरूप, शरीर के भीतर धारकरूप से विद्यमान, आत्मस्वरूप है, वह प्राण ही अमृत है यानी अविनाशी है तथा शरीरावस्थित कार्यात्मक नाम और रूप सत्य हैं, उन (नाम और रूप) का आधारभूत क्रियात्मक प्राण वृद्धि और क्षरणशील, बाह्य, शरीररूप विनश्वर नाम-रूपों से 'छन्न' अर्थात् अप्रकाशित किया हुआ है। (स्थूल-सूक्ष्म देहद्वय आत्मा से उपसहृत है) यही अविद्या का कार्यभूत ससार का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। इसके बाद अग्रिम ग्रन्थ मे विद्या का विषयभूत आत्मावबोध करना चाहिए—इसीलिए चतुर्थ अध्याय (उपनिषत् क्रम से द्वितीय अध्याय) का प्रारम्भ किया जाता है ॥३॥

इस प्रकार बृहदारण्यकभाष्य के हिन्दीभाषानुवाद मे प्रथमाध्याय का षष्ठ ब्राह्मण पूर्ण हुआ ॥६॥

---

१. प्राणात्मक सोन शरीरमित्यर्थ । २ लिङ्गात्मैव । ३ अन्त सन् धारक । ४ नामरूपयो । ५ विनश्वरनामरूपाभ्याम् । ६ देहद्वयात्मनोपसहृतमेव । ७ ससारस्वरूपम् । ८ अविद्याकार्यम् । ९ कार्यकरण इति यावत् । १० आत्मन । ११ सूक्ष्मशरीरम् । १२ अप्रत्यक्षम् । १३. अपिना स्थूलसमुच्चय । १४ अविद्याकार्यप्रपञ्चनस्य । १५ वक्ष्यमाणे तत्त्वज्ञाने य उपकारस्त दर्शयति । १६ आत्मयाथात्म्यबोधनार्थम् । १७ तस्मादित्यादि—प्रपञ्चिताविद्याकार्यस्यात्मज्ञानोपयोगिवैराग्यप्रतियोगित्वात्तत्कार्यप्रपञ्चनमात्मज्ञानोपकारकमित्यर्थं ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

'आत्मेत्येवोपासीत 'तदन्वेषणे च 'सर्वमन्विष्टं स्यात्तदेव चाऽऽत्मतत्त्वं सर्वस्मात्प्रेयस्त्वादन्वेष्टव्यम् । आत्मानमेवा'वेदहं ब्रह्मास्मीत्यात्मतत्त्वमेकं 'विद्याविषयः । यस्तु 'भेददृष्टिविषयः सोऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेदेत्य'विद्याविषय. ।

"'एकधैवानुद्रष्टव्यं" "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" इत्येवमादिभिः प्रविभक्तौ विद्याविद्याविषयौ सर्वोपनिषत्सु । तत्र चाविद्याविषयः सर्व एव

'तृतीयेऽध्याये सूत्रितविद्याविद्ययोरविद्या प्रपञ्चिता, संप्रति विद्यां प्रपञ्चयितु चतुर्थमध्यायमारभमाणो वृत्तं कीर्तयति—आत्मेति। किमित्यर्थान्तरेषु सत्स्वात्मतत्त्वमेवानुसधातव्यं तत्राऽऽह—तदन्वेषणे चेति। तस्यैवान्वेष्टव्यत्वे परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्दत्वं हेत्वन्तरमाह—तदेवेति। आत्मतत्त्वज्ञानस्य सर्वाप्तिफलत्वाच्च तदेवान्वेष्टव्यमित्याह—आत्मानमिति। उक्तया 'परिपाट्या "सिद्धमर्थं संगृह्णाति—'आत्मतत्त्वमिति। उक्तमर्थान्तरमनुवदति—यस्त्विति। सोऽविद्याविषय इति संबन्ध । कथ भेददृष्टिविषयस्याविद्याविषयत्वं तत्राऽऽह—अन्योऽसाविति। यो भेददृष्टिपर स न वेदेत्य"विद्या तद्दृष्टिमूलं सूत्रिता "तेन "तद्विषयो भेददृष्टिविषय इत्यर्थ. ।

कथ यथोक्तौ "विद्याविद्याविषया"वसंकीर्णविषयसातु शक्येते तत्राऽऽह—एकधेति। सप्तान्नब्राह्मणे वृत्तमर्थं कथयति—तत्र चेति। विद्याविद्याविषययोरिति यावत्। आदिपद साध्यसाधना"वान्तरभेद-

'आत्मा है' इस प्रकार (शब्दप्रत्यय से अगम्य आत्मा की) उपासना करे। उसका अनुसन्धान कर लेने पर (यह सब एक हो जाते हैं, इससे) सब का अनुसन्धान हो जाता है और वह आत्मतत्त्व सब से प्रिय होने के कारण अनुसन्धान करने योग्य है। "उसने (सघात मे अधिकारीरूप से स्थित ब्रह्म कर्ता) आत्मा को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ", इससे ज्ञान का विषय केवल आत्मतत्त्व ही है। जो भेददृष्टि (अनात्मप्रपञ्च) का विषय है—"वह यह अन्य है, मैं अन्य हूँ, इस प्रकार जो सोचता है, वह नहीं जानता" ऐसा कहना अज्ञान का कार्य है।

"विज्ञानघन, एकरसत्वलक्षण आत्मा को एक ही रूप से देखना चाहिए"; "जो यहां नानात्व देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है" इस प्रकार के श्रुतिवाक्यो द्वारा विद्या और अविद्या

१ आत्मेति—आत्मन शब्दधियोरविषयत्वद्योतक इतिशब्द । यस्यात्मन स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवतीति प्राणादिविशेषणान्युक्तानि यश्च तानि सर्वाण्यप्युपसंहृत्य आत्मेत्युच्यते तमात्मेत्येवोपासीत न केनचिद्विशेषणेन विशिष्टतया। शब्दप्रत्ययागम्यमात्मानमनुसदधीतेति यावत्। २ तदनुसन्धाने। ३ "अत्र ह्येते सर्वं एक भवन्ती' ति वाक्यशेषात्। ४ सघातेऽधिकारितया स्थित ब्रह्म कर्तृरूपम्। ५ अनात्मप्रपञ्च। ६ अज्ञानकार्यमिति यावत्। ७ एकधेति—विज्ञानघनैकरसत्वलक्षणेनैकेनैव रूपेणेत्यर्थं। ८ उपनिषत्प्रथमे। ९ उक्तवृत्तानुवादेनेति यावत्। १० उक्तक्रमेण। ११ इत्युक्त्या। १२ अविद्याया भेददृष्टिमूलत्वेन। १३ अविद्याविषय। १४ आत्मानात्मानौ। १५ विविक्तौ। १६ अवान्तरभेदश्चाध्यात्मादि। भूतभविष्यदादिश्चेति बोध्यम्।

साध्यसाधनादिभेदविशेषविनियोगेन व्याख्यात आ तृतीयाध्यायपरिसमाप्तेः । स च व्याख्यातोऽविद्याविषयः सर्व एव द्विप्रकारः । अन्तःप्राण उपष्टम्भको गृहस्येव स्तम्भादिलक्षणः प्रकाशकोऽमृतः । बाह्यश्च कार्यलक्षणोऽप्रकाशक उपजनापायधर्मकस्तृणकुशमृत्तिकासमो गृहस्येव सत्यशब्दवाच्यो मर्त्यः । तेनामृतशब्दवाच्यः प्राणश्छन्न इति चोपसंहृतम् ।

स एव च प्राणो बाह्याधारभेदेष्वनेकधा विस्तृतः । प्राण एको देव इत्युच्यते ।

सपहार्थम् । यथोक्तो भेद एव विशेषः तस्मिन्विनियोगो व्यवस्थापनं तेनेत्यर्थः । उपसंहारब्राह्मणान्ते वृत्तमनुभाषते—स चेति । अथवोक्तौ विद्याविद्याविषयौ कथमसंकीर्णौ मन्तव्यावित्याशङ्क्याऽऽह—एकधेति । 'तत्रो'त्तरग्रन्थस्य विषयपरिशेषार्थं पुरुषविधब्राह्मणशेषमारभ्योक्तं दर्शयति—तत्र चेति । "तर्हि समाप्तत्वादविद्याविषयस्य कथमविदुषो गार्ग्यस्य प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य "तदर्थमवान्तरविभागमनुवदति—स चेति । तावेव प्रकारौ दर्शयन्नादौ सूक्ष्मं शरीरमुपन्यस्यति—अन्तरिति । "तस्य बाह्यकरणद्वारा स्थूलेषु विषयेषु प्रकाशकत्वममृतत्वं" च व्युत्पादितम् । द्वितीयं प्रकारमाचक्षाणः स्थूलं शरीरं दर्शयति—बाह्यश्चेति । "तस्य कयाऽपि विद्यया सूक्ष्मदेहं प्रत्यप्रकाशकत्वादप्रकाशकत्वम् । आगमापायित्वेनावहेयत्वं सूचयति—उपजनेति । यथा "गृहस्य तृणादि बहिरङ्गं तथा सूक्ष्मस्य देहस्य स्थूलो देह"स्तथाऽपि तृणादि विना गृहस्य व्यवहारायोग्यत्ववत्तस्यापि स्थूलदेहं विना न तद्योग्यत्वमिति मत्वाऽऽह—तृणेति । "तस्य पूर्वब्राह्मणान्ते नामरूपे सत्यमित्यत्र प्रस्तुतत्वमस्तीत्याह—सत्येति । सर्वथा बाधवैधुर्यं सत्यत्वमिति शङ्कां निरसितुं विशिनष्टि—मर्त्य इति । तस्य कार्यं दर्शयति—तेनेति ।

वृत्तमनूद्याजातशत्रुब्राह्मणमवतारयति—स एवेति । "आदित्यचन्द्रादयो बाह्याधारभेदा अनेकधात्वमतिष्ठा मूर्धेत्यादिवक्ष्यमाणगुणवशाद्ब्रह्मत्वम् । कथं "तर्हि तस्यैकत्वं तत्राऽऽह—प्राण इति ।

के आत्म और अनात्मविषयो को समस्त उपनिषदो मे पृथक्-पृथक् कर दिया है। उन (विद्या और अविद्या विषयो) मे साध्यसाधनादि भेदविशेष के विनियोग द्वारा अविद्या के सभी विषयो (कार्य) की (ब्राह्मणक्रम से) तृतीयाध्याय (उपनिषत्क्रम से प्रथमाध्याय) की समाप्तिपर्यन्त व्याख्या कर दी गई है। एव वह व्याख्या किया गया समस्त अविद्या का कार्य (स्थूलसूक्ष्मदेहात्मक सघातरूप) दो प्रकार का है। पहला, घर के स्तम्भ के समान स्थूलशरीर को धारण करने वाला स्थूलदेह के अन्तर्गत प्राण है जो प्रकाशक और अमृत है; दूसरा, बाह्य कार्यरूप प्रपञ्च है जो अप्रकाशक, वृद्धि और क्षरणशील, घर के तृण, कुश और मृत्तिका के समान मरणस्वभाव वाला 'सत्य' शब्द वाच्य है, उससे अमृतशब्दवाच्य प्राण आवृत है—ऐसा पहले उपसहार कर आये हैं।

---

१. स्थूलसूक्ष्मदेहात्मकः संघातरूप इति यावत् । २ अन्तर्गतः स्थूलस्य । ३ स्थूलस्य धारक । ४. सूक्ष्मदेह । ५ तृतीयाध्याये । ६ तत्रेति—विद्याऽविद्याविषययोरसंकीर्णत्वेनावगतौ । ७ उत्तरग्रन्थस्येति—उत्तरग्रन्थस्य चतुर्थाध्यायस्य यो विषयो विद्यारूपस्तस्य परिशेषो विवेचनं तदर्थमित्यर्थः । ८ दोषिरूपमिति यावत् । ९ सप्तान्नब्राह्मणम् । १० सर्वाविद्याविषयस्य व्याख्यातत्वे । ११ तत्प्रवृत्तिप्रदर्शनार्थम् । १२ प्राणस्य लिङ्गदेहस्येति यावत् । १३ ज्ञानमृतेऽनाशयत्वम् । १४ स्थूलदेहस्य । १५ आकाशविशेषकारमनस्य । १६ ननु तद्घटकत्वाभावः कथमन्तरङ्गत्वमत आह—तथाऽपीति । तद्घटकत्वाभावेऽपीत्यर्थः । १७ स्थूलस्य । १८ वक्ष्यमाणा । १९ अनेकत्वे ।

तस्यैव बाह्य पिण्ड एकः साधारणो विराड्वैश्वानर आत्मा पुरुषविधः प्रजापतिः को हिरण्यगर्भ इत्यादिभिः पिण्डप्रधानैः शब्दैराख्यायते सूर्यादिप्रविभक्तकरणः । एकं चानेकं च ब्रह्म तावदेव नातः परमस्ति प्रत्येकं च शरीरभेदेषु परिसमाप्तं चेतनावत्कर्तृ भोक्तृ चेत्य विद्याविषयमेवाऽऽत्मत्वेनोपगतो गार्ग्यो ब्राह्मणो वक्तोपस्थाप्यते । तद्विपरीतात्मदृगजातशत्रुः श्रोता ।

एवं हि यतः । पूर्वपक्षसिद्धान्ताख्यायिकारूपेण समर्प्यमाणोऽर्थः श्रोतुश्चित्तस्य वशमेति । विपर्यये हि तर्कशास्त्रवत्केवलार्थानुगमवाक्यैः समर्प्यमाणो दुर्विज्ञेयः स्यादत्यन्त-

---

प्राणस्य नानात्वमेकत्वं चोक्तं तत्रैकत्वं विवृणोति—तस्यैवेति । प्राणस्यैव स्वभावभूतोऽनात्मलक्षणः पिण्डः समष्टिरूपो हिरण्यगर्भादिशब्दैरुपाधिविषयैस्तत्र तत्र श्रुतिस्मृत्योरुच्यते । स च "अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ" इत्यादिश्रुतेः सूर्यादिभिः प्रविभक्तैः करणैरुपेतो भवतीत्यर्थः । यद्ब्रह्म समस्तं व्यस्तं च तदिदं हिरण्यगर्भमात्रमेव न तस्मादधिकमस्तीति हिरण्यगर्भं स्तौति—एक चेति । एकत्वं विशदीकृत्य प्राणस्य नानात्वं विशदयति—प्रत्येक चेति । गोत्वादिसामान्यतुल्यत्वं व्यावर्तयति—चेतनावदिति । केवलभोक्तृत्वपक्षं वारयति—कर्त्रिति । वक्ता पूर्वपक्षवादीति यावत् । तस्मादमुख्याद्ब्रह्मणो विपरीतं मुख्यं ब्रह्म तस्मिन्नात्मदृष्टी राजा श्रोता सिद्धान्तवादीत्यर्थः ।

किमिति वक्तृश्रोतृरूपाख्यायिका प्रणीयते तत्राऽऽह—एव हीति । एवंशब्दार्थमेव स्फुटयति—पूर्वपक्षेति । अतो भवितव्यमाख्यायिकयेति शेषः । आख्यायिकानङ्गीकारे दोषमाह—विपर्यये हीति । यथा तर्कशास्त्रेण समर्प्यमाणोऽर्थो ज्ञातुं न शक्यत औत्प्रेक्षिकतर्काणां निरङ्कुशत्वात्तथा केवलमर्थोऽनुगम्यते प्रश्नप्रतिवचनभावरहितैर्वाक्यैस्तैः समर्प्यमाणोऽपि दुर्विज्ञेयोऽर्थः स्याद्यद्याख्यायिका नानुश्रीयते तेन सा सुखप्रतिपत्त्यर्थमनुसर्तव्येत्यर्थः । कुतो दुर्विज्ञेयत्वं तत्राऽऽह—अत्यन्तेति । यथोक्तस्य वस्तुनो

वही प्राण (सूक्ष्मदेह), बाह्य आधार भेदों से अनेक प्रकार से फैला हुआ है और "प्राण एक ही देव है" ऐसा (पूर्व अध्याय में) कहा गया है । उसी का अनात्मरूप बाह्यदेह-समष्टिरूप एक है, जिसके सूर्यादिरूप असंकीर्ण करण , जो विराट्, वैश्वानर, आत्मा, पुरुषविध, प्रजापति, क और हिरण्यगर्भ इत्यादि देहविषयक शब्दों से पुकारा जाता है । समष्टि और व्यष्टि ब्रह्म—बस इतना ही है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । वह प्रत्येक शरीरभेदों म परिसमाप्त होने वाला चैतन्य-रूप, कर्ता और भोक्ता है । इस प्रकार अविद्या के कार्य प्राण को ही आत्मरूप से समझने वाला गार्ग्य ब्राह्मण यहां वक्तारूप मे प्रस्तुत किया जाता है, तथा इसके विपरीत (सिद्धान्तवाली) आत्मद्रष्टा राजा अजातशत्रु श्रोता है ।

क्योंकि इस प्रकार (वक्ता और श्रोता द्वारा) पूर्वपक्ष और सिद्धान्तरूप आख्यायिका द्वारा उपदिश्यमान विषय श्रोता के चित्त मे प्रवेश कर जाता है । इसके विपरीत (कपोलकल्पित) तर्क-

---

१ अनात्मरूप । २ देह । ३ समष्टिरूप । ४ देहविषयैं । ५ सूर्यादिरूपा । ६ समष्टिरूपम् । ७ व्यष्टिरूपम् । ८ चैतन्यरूपम् । ९ अविद्याकार्यं प्राणम् । १० उपदिश्यमान । ११ चित्तमारोहति । १२ स्वरूपम् । १३ समष्टिव्यष्टिरूपम् । १४ साक्यम् । १५ कपोलकल्पितानाम् । १६ स्वतन्त्रत्वात् । १७ अवबुध्यन्ते । १८ आख्यायिकामृतेऽर्थस्य दुर्विज्ञेयत्वेन ।

सूक्ष्मत्वाद्वस्तुनः। तथा च काठके—"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः" इत्यादिवाक्यैः सुसंस्कृतदेवबुद्धिगम्यत्वं सामान्यमात्रबुद्ध्यगम्यत्वं च सप्रपञ्चं दर्शितम्। "आचार्यवान्पुरुषो वेद" "आचार्याद्धैव विद्या" इति च च्छान्दोग्ये। "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" इति च गीतासु। इहापि च शाकल्ययाज्ञवल्क्यसंवादेनातिगह्वरत्वं महता संरम्भेण ब्रह्मणो वक्ष्यति। 'तस्माच्छ्लिष्ट एवाऽऽख्यायिकारूपेण पूर्वपक्षसिद्धान्तरूपमापाद्य वस्तुसमर्पणार्थं आरम्भः।

आचारविध्युपदेशार्थश्च। एवमाचारवतोर्वक्तृश्रोत्रोराख्यायिकानुगतोऽर्थोऽवगम्यते।

दुर्विज्ञेयत्वे श्रुतिस्मृतिसंवादं दर्शयति—तथा चेति। सुसंस्कृता परिशुद्धा देवबुद्धिः सात्त्विकी बुद्धिः। सामान्यमात्रबुद्धिस्तामसी राजसी च बुद्धिः। अतिगह्वरत्वमत्यन्तगम्भीरत्वम्[4]। संरम्भस्तात्पर्यम्[5]। ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयत्वे फलितमाह—तस्मादिति।

आख्यायिकाया मुख्यप्रतिपत्त्यर्थत्वमुक्त्वाऽर्थान्तरमाह—आचारेति। उत्तमादधमेन प्रणिपातोपसदनादिद्वारा[6] विद्या ग्राह्या। अधमात्तूत्तमेन तद्व्यतिरेकेण श्रद्धादिमात्रेण[7] सा लभ्येत्याचारप्रकारज्ञापनार्थश्चायमारम्भ इत्यर्थः। आख्यायिकाया यथोक्तेऽर्थेऽन्वितत्वं[8] कथयति—एवमिति। वक्तृश्रोत्रोर्मध्ये यथोक्ताचारवता श्रोत्रा विद्या लब्धव्या। वक्त्रा च तादृशेन सोपदेष्टव्येत्येषोऽर्थोऽस्यामाख्यायिकायामनुगतो गम्यते। तस्मादाचारविशेषं दर्शयितुमेषाऽऽख्यायिका युक्तेत्यर्थः। 'आगमानुसारिगुरुसंप्रदायादेव[9] तत्त्वधीर्लभ्यते[10]। यत्तु "केवलस्तर्कस्तद्वशान्नैषा बुद्धिः सिध्यति।" तथा च

शास्त्र के समान केवल वस्तु का बोध कराने वाले वाक्यों से तो उपदिश्यमान विषय सरलता से समझ में नहीं आता क्योंकि आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है। इसी बात को कठोपनिषत् में समर्थित किया गया है—"जो बहुतों को सुनने पर भी प्राप्त नहीं होता" इत्यादि श्रुतिवाक्यों में आत्मतत्त्व परिशुद्ध, सात्त्विकबुद्धिगम्य, तामसी और राजसीबुद्धि से न प्राप्त होने योग्य है, ऐसा विस्तारपूर्वक दिखलाया गया है। "आचार्य की शरणापन्न हुआ पुरुष इसे जानता है" तथा "आचार्य से ही विद्या फलीभूत होती है" इत्यादि छान्दोग्य उपनिषत् में एवं "तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी लोग तुझे आत्मतत्त्व का उपदेश करेंगे" इस स्मृतिवाक्य श्रीमद्भगवद्गीता में भी ऐसा ही कहा है। इस बृहदारण्यक उपनिषद् में भी शाकल्य-याज्ञवल्क्यसंवाद द्वारा बड़ी तत्परतापूर्वक (प्रत्यक्षादि के अविषय) ब्रह्मतत्त्व की अत्यन्त गम्भीरता को कहा जायगा। इसलिए (आत्मतत्त्व के अत्यन्त सूक्ष्म होने से सरलता से समझ में न आने के कारण) आख्यायिकारूप से पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष के स्वरूप का वर्णन करके आत्मतत्त्व बोध के लिए (ग्रन्थ का) आरम्भ करना उचित ही है।

अर्थान्तररूप से आचारविधि का उपदेश करने के लिये भी ग्रन्थारम्भ की उपादेयता है। इस प्रकार के आचार वाले वक्ता और श्रोता के होने पर ही आख्यायिका द्वारा प्रस्तुत विषय का ज्ञान होता

---

१. श्रोतुमपि। २ आत्मनोऽत्यन्तसूक्ष्मत्वेन दुर्विज्ञेयत्वात्। ३ बोधनार्थ.। ४ प्रत्यक्षाद्यविषयत्वम्। ५ तत्परत्वम्। ६ आदिना शुश्रूषा। ७ आदिनाऽनुज्ञानुसरणादि। ८ सम्बद्धत्वम्। ९ आगमानुसरणशीलानां गुरूणां परम्परात एव। १० आगमासहकृतस्तद्विरुद्धो वा। ११ केवलतर्कस्य तत्त्वबुद्ध्यप्रयोजकत्वे च।

ॐ ॥ दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचा-
जातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः

किसी कालविशेष में गार्ग्यगोत्रीय गर्वीला बालाकि नामक बहुत बोलने वाला था। वह काशीराज अजातशत्रु के पास जाकर बोला, मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँ? इस पर अजातशत्रु ने कहा—इस माङ्गलिक वचन के लिए मैं आपको सहस्र गौएँ देता हूँ। लोग जनक-जनक ऐसा कह कर

केवलतर्कबुद्धिनिषेधार्था चाऽऽख्यायिका। नैषा तर्केण मतिरापनेया। न तर्कशास्त्रदग्धा-येति श्रुतिस्मृतिभ्याम्। श्रद्धा च ब्रह्मविज्ञाने परमं साधनमित्याख्यायिकार्थः। तथा हि गार्ग्याजातशत्र्वोरतीव श्रद्धालुता दृश्यत आख्यायिकायाम्। "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्" इति च स्मृतिः।

तत्र 'पूर्वपक्षवाद्यविद्या'विषयब्रह्मविद्दृप्तबालाकिर्दृप्तो गर्वितोऽसम्यग्ब्रह्मवित्त्वा-

---

केवलतर्कप्रयुक्ता तत्त्वबुद्धिरितिसंभावनानिषेधार्थाऽऽख्यायिकेति पक्षान्तरमाह—केवलेति। केवलेन तर्केण तत्त्वबुद्धिर्न सिध्यतीत्यत्र श्रुतिस्मृती दर्शयति—नैषेति। 'मति दद्यादिति शेषः। 'प्रकारान्तरेणा-ऽऽख्यायिकामवतार्य तत्राऽऽख्यायिकानुगुण्यं दर्शयति—तथा हीति। श्रद्धा ब्रह्मज्ञाने परमं साधनमित्यत्र भगवतोऽपि संमतिमाह—श्रद्धावानिति।

आख्यायिकार्थं बहुधा स्थिते तदक्षराणि व्याचष्टे—तत्रेत्यादिना। पूर्वपक्षवादित्वे हेतुमाह—अविद्याविषयेति। गर्वितत्वे हेतुमाह—असम्यगिति। इयमेव तु वाङ्निमित्तमित्यत्रापि कस्मादित्यनुष-

---

है। यह आख्यायिका केवल तर्कबुद्धि का निषेध करने के लिए भी है। "स्वकल्पनामात्र से ही तत्त्वबुद्धि नहीं प्राप्त होती", "तर्कशास्त्र से दग्धबुद्धि वाले का आत्मज्ञान नहीं होता" इत्यादि श्रुति-स्मृतियों से यही सिद्ध होता है। ब्रह्मविज्ञान में श्रद्धा ही चरम साधन है, यह इस आख्यायिका का भाव है। इसी-लिए इस आख्यायिका में गार्ग्य और अजातशत्रु की अतीव श्रद्धा देखी जाती है। स्मृति भी इसका समर्थन करती है, "श्रद्धावान् साधक पुरुष ही ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करता है" इत्यादि।

वहाँ किसी समय में अविद्या के कार्य प्राणादि को ब्रह्म जानने वाला, गोत्र से गार्ग्य पूर्वपक्षवादी दृप्त-बालाकि जो ब्रह्म का यथार्थस्वरूप न जानने के कारण 'दृप्त' यानी अभिमानी था और बलाका की सन्तान होने के कारण बालाकि कहलाता था, इस प्रकार दृप्त और बालाकि होने के कारण जो दृप्तबालाकि

---

१ स्वकल्पनामात्रेण। २ टीकोक्तार्थम्। ३ पूर्वपक्षवादीति। तदुक्तं श्रीमद्विद्यारण्यस्वामिभिर्बृहदारण्य-कवार्तिकसारे—"योऽध्यारोपस्तृतीयात्तश्चतुर्थेऽसावपोद्यते। विद्यासूत्रस्य तात्पर्यमथवाऽत्र निरूप्यते॥ सन्ति षड् ब्राह्मणान्यत्र प्रथमं ब्राह्मणत्रयम्। अपवादप्रधानं सद्ब्रह्मतत्त्वनिरूपकम्॥ चतुर्थं त्वात्मसूत्रस्य साक्षात्तात्पर्य-विस्तृति। फलानुसारी सावाक्यविस्तार पञ्चमे स्मृत॥ विद्यावक्तस्य विस्तारो जपार्थं षष्ठ ईरितः। जपाद्गुरूननुसृत्य विद्यां प्राप्नोति मुक्तिदाम्॥ अपवादप्रधानं यद्ब्राह्मणत्रयमीरितम्। तत्राऽऽद्येऽऽत्मता तावत्प्राणादीनामपोद्यते॥ अतः प्राणात्मवाद्यत्र बालाकिः पूर्वपक्ष्यभूत्। ब्रह्मात्मतत्त्वविद्राजा सिद्धान्ती प्रतिवक्ति तम्" ॥१-६॥ इति। ४ अविद्याकार्यप्राणादि। ५ ब्रह्मविषयम्। ६ श्रद्धाख्येन।

सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥१॥

उसी के पास दौड जाते हैं (लोक में यह प्रसिद्ध है, जनक बडा दानी और बडा श्रोता है, ये दोनो बाते आपने अपने इस माङ्गलिक वचन से मुझे अत्यन्त सुलभ कर दी है। अतएव मैं आपको हजार गौएँ देता हूँ) ॥ १ ॥

देव बलाकाया अपत्यं बालाकिर्दृप्तश्चासौ बालाकिश्चेति दृप्तबालाकिर्हशब्द ऐतिह्यार्थ आख्यायिकायामनूचानोऽनुवचनसमर्थो वक्ता वाग्मी गार्ग्यो गोत्रत आस बभूव क्वचित्कालविशेषे स होवाचाजातशत्रुमजातशत्रुनामानं काश्यं काशिराजमभिगम्य ❀ब्रह्म ते ब्रवाणीति ब्रह्म ते तुभ्यं ब्रवाणि कथयानि । स एवमुक्तोऽजातशत्रुरुवाच—सहस्रं गवां दद्म

ज्यते । अतो ब्रह्म ते ब्रवाणीति वागेव सहस्रदाने निमित्तमिति शेषः । श्रुतिं व्याचष्टे—जनक इति ।

नाम से प्रसिद्ध था, वह 'अनूचानः' अर्थात् अनुवचन मे समर्थ 'वक्ता' यानी बोलने वाला था। आख्यायिका मे 'ह' शब्द परम्परागत उपदेशार्थक है। उसने 'अजातशत्रुम्' अर्थात् अजातशत्रु नामक 'काश्य' यानी काशिराज से, उसके पास जाकर कहा। 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' अर्थात तुम्हें मैं निरुपाधिक, सत्यादिलक्षण वाले ब्रह्म का निरूपण करता हैं। इस प्रकार कहे जाने पर वह अजातशत्रु बोला—

१. परम्परागतोपदेशार्थक । २ 'पारम्पर्योपदेशे स्यादैतिह्यमितिहाव्ययमि त्यमर । च वार शेष । ३ अनूचान साङ्गवेदाध्यायी । 'अनूचान प्रवचने साङ्गेऽधीतीत्यमर" 'अनूचाना विनीत स्यात्साङ्गवेदविचक्षण" इति च विश्व । ४ निरुपाधिक सत्यादिलक्षणमेवात्र ब्रह्म ग्राह्यम् 'यस्मात्पर नापरमस्ति किंचित्तद्ब्रह्मापूर्वमनपरमि"त्यादिश्रुते । ५ आहानन्तरम् ।

❀ब्रह्म ते ब्रवाणीति अत्र वार्तिकानि सप्त सन्ति तथाहि—"नापृष्ट इति मन्वेतद्विरुद्धमकरोदपि । यद्ब्रह्म ते ब्रवाणीति ह्यपृष्ट काश्यमब्रवीत् ॥ दर्पादिदर्शनान्नून वेत्त्यकृत्स्नात्मदर्शनम् । कृत्स्नत्वार्थमतोऽप्राक्षीत्काश्य प्रज्ञासमन्वितम् ॥ श्रद्धालुरधिकारी यो जिज्ञासुर्विनयान्वित । अपृष्टेनापि वक्तव्या तस्मै विद्या विपश्चिता । धर्मार्थौ यत्र न स्याता शुश्रूषा वापि तद्विधा । तत्र विद्या न वक्तव्या शुभ बीजमिवोषरे ॥ धर्मार्थौ यत्र च स्याता शुश्रूषा वापि तद्विधा । वक्तव्या तत्र विद्येति निषेधादेव लिङ्ग्यते ॥ नष्टाश्वदग्धरथवन्न्याय चाऽऽश्रित्य भूमिपम् । प्राह मानुषवित्ताढ्य दैववित्तसमन्वितम् ॥ वित्तद्वयेन सपन्नो यतोऽधिक्रियत नर. । सर्वकर्मस्वतोऽवादीद्बालाकि काश्यमन्तिकादिति' ॥३३-३९॥ इति । "नापृष्ट कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छत । जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्" ॥ इति स्मृतिविरुद्धमृषिचेष्टितमिति शङ्कते—नेत्यादिना । काश्यस्य गार्ग्यं प्रति प्रथमतो न प्रश्नोऽस्तीतिप्रसिद्धयर्थो हिशब्द । यच्छब्दो यस्मादर्थे तदभिव्यक्त्यर्थं हीत्युक्तम् ॥ ब्रवाणीत्येतत्पृच्छानीत्यर्थे धातूनामनेकार्थत्वात्तन्न स्मृतिविरोध इत्येकदेश्याह—दर्पादीति । धर्मित्वादिग्रहार्थमादिपदम् । अकृत्स्नात्मदर्शन स्वात्मान गार्ग्यो वेत्तीति शेष । कृत्स्नत्वार्थं पूर्णवस्तुविज्ञानार्थमित्यर्थ । त प्रति सम्यग्ज्ञानार्थं प्रश्नस्य प्रवृत्तिरुचितेति सूचयितु प्रज्ञेत्यादिविशेषणम् । अत्र श्रुतेरनाञ्जस्याद्यथाश्रुतमादाय स्वपक्षमाह—श्रद्धालुरिति । अधिकारित्वसिद्धयर्थानि विशेषणानि विपश्चितेति वक्तुस्तदधिगतियोग्यतोक्ता—'अधर्मेण तु यः

एतस्यां वाचि यां मा प्रत्यवोचो ब्रह्म ते ब्रवाणीति तावन्मात्रमेव गोसहस्रप्रदाने निमित्तमित्यभिप्रायः । साक्षाद्ब्रह्मकथनमेव निमित्त कस्मान्नापेक्ष्यते सहस्रदाने ब्रह्म ते ब्रवाणीति । इयमेव तु वाङ्निमित्तमपेक्ष्यत इत्युच्यते । यतः श्रुतिरेव राज्ञोऽभिप्रायमाह——जनको दाता जनकः श्रोतेति चैतस्मिन्वाक्यद्वये पदद्वयमभ्यस्यते जनको जनक इति । वैशब्दः प्रसिद्धाद्योतनार्थः । जनको दित्सुर्जनकः शुश्रूषुरिति ब्रह्म शुश्रूषवो विवक्षवः प्रतिजिघृक्षवश्च जना धावन्त्यभिगच्छन्ति । तस्मात्तत्सर्वं मय्यपि संभावितवानसीति ॥१॥

प्रसिद्धं जनकस्य दातृत्वादि तदद्योतको वैनिपात इति यावत् । वाक्यार्थमाह—जनको दित्सुरित्यादिना । संभावितवानसीति प्रागुक्तं वाङ्मात्रं सहस्रदाने निमित्तमिति शेषः । 'तस्मान्मुग्धप्रसिद्ध्यतिक्रमणादिति यावत् । तत्सर्वं दातृत्वादिकमित्यर्थः । इतिशब्दोऽभिप्रायसमाप्त्यर्थः ॥ १ ॥

आपने जो कहा कि "मैं तुम्हारे प्रति ब्रह्म का निरूपण करूँ" इस आपके कथन के लिए हम सहस्र गौएँ देते हैं । भावाशय यह है कि सहस्र गौएँ प्रदान करने मे केवल गार्ग्य की वाक्मात्र ही निमित्त थी । सहस्र गौएँ देने मे साक्षात् ब्रह्मनिरूपण की ही अपेक्षा क्यो नही की गई, केवल 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इस वाक्य की ही अपेक्षा क्यों थी ? इस पर कहा जाता है, क्योकि श्रुति भी राजा के अभिप्राय को बतला रही है । (श्रुतिवाक्य मे) 'जनको जनक' इन दो पदो की आवृत्ति जनक दाता है, जनक श्रोता है" इन दो वाक्यो क अर्थ मे हुई है । 'वै' शब्द प्रसिद्धि का द्योतन करने के लिए है । "जनक दान करने की इच्छा वाला है, जनक श्रवण करने की इच्छा वाला है' इतना जानते हुए 'ब्रह्मज्ञान को सुनने और कहने की इच्छा वाले तथा (धन के) प्रतिग्रह की इच्छा वाले लोग 'धावन्ति' उसके पास चले जाते है ।

---

१ गार्ग्यीयवाङ्मात्रमेव २ वाक्यद्वयार्थमिति यावत् । ३ जानत । ४ धनम् । ५ इतिशब्दोऽय शेषान्तर्गत इत्यवधेयम् । ६ भाष्यस्थतस्माच्छब्दस्यायमाह—मुग्धेति । जनको दित्सुरित्यादिप्रसिद्धिर्मुग्धानाम तस्योपदेशाद्विद्या गृहीत्वैव दातृत्वात् मामुपगतस्तु तामतिक्रान्तवान् न मुग्ध मम प्रतिज्ञामात्रेणेव दित्सुत्वादित्यर्थं ।

प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति । तयोरन्यतर प्रैति विद्वेष वा निगच्छति ॥ विद्या ब्राह्मणमित्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् । असूयकाय मा माऽदास्तथा स्या वीर्यवत्तमा" ॥ इत्यादिशेपादुक्तस्मृतेरनधिकारिणे विद्या न वाच्येत्येवपरत्वान्न तद्विरुद्धमृपिचेष्टितमिति भाव । शेवधि विधिरूपा ॥ अनधिकारिणि प्रष्टर्यपि विद्या न देयेत्यत्र स्मृतिमुवाहरति—धर्मेति । सप्तमीद्वय शिष्यविषयम् । तद्विधा विद्या देशकालसामर्थ्यानुरोधिनीति यावत् । तत्र विद्या दत्तापि न फलवतीति दर्शयितुमुदाहरणम । विद्यासम्बन्धिदेशकालसामर्थ्यानुकूला न तु श्रद्धाभक्तिपुरःसरेति भाव ॥ अधिकारिण्यपृष्टेनापि सोपदेष्टव्येत्यत्र मानमाह—धर्मार्थाविति । ननु निषेधवचन विना नैव विधमस्ति स्मृतिवचन तत्राऽऽह—इति निषेधादिति । अयोग्ये पात्रे विद्याप्रदाननिषेधाद्योग्ये प्रश्न विनाऽपि सा देयेति गम्यते इत्यर्थ ॥ अधिकारिणे विद्या वक्तु गार्ग्यश्चेदुपचक्रमे तर्हि योग्य ब्राह्मण हित्वा किमिति राजानमुपेत्य ब्रवीति तत्राह—नष्टेति । यथाऽऽहु भर्तृप्रपञ्चा —युक्त सयोगोऽधिकारित्वेन हेतुना नष्टाश्वदग्धरथवदिति । (उचित काश्यगार्ग्ययो श्रोतृवक्तृभावसम्बन्धस्तयो श्रोतृवक्तृत्वयोरधिकारादिति यावत् । अधिकाररूपार्थाभिन्नहेतोरिति वर्णार्थं ॥ उक्तनीत्या गार्ग्यकाश्यसम्बन्धफल प्रकटयति—वित्तेति । यथाऽऽहु —उभयवित्तवतोऽस्य ह्यधिकारस्तस्मादधिकारार्थेन हेतुना युक्तमुपेत्य वचनमिति । अधिकार सम्बन्ध । फलस्वाम्यमिति यावत् । तदभिन्नोऽर्थो विद्यते यत्र स तथा तेन हेतुना इत्यर्थ । राज्ञोऽधिकारित्वादिति यावत् ।

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो आदित्य में पुरुष है, मैं ब्रह्मरूप से इसी की उपासना करता हूँ। इस पर उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं; इस सम्बन्ध में बात न करो (इस ब्रह्म को मैं भी जानता हूँ)। यह तो सबका अतिक्रमण करके स्थित है, यह समस्त भूतों का मस्तक है एवं दीप्तिमान् है। इसी

---

[1]एवं राजानं शुश्रूषुमभिमुखीभूतं स होवाच गार्ग्यः। य एवासावादित्ये चक्षुषि चैकोऽभिमानी [2]चक्षुर्द्वारेणेह हृदि प्रविष्टोऽहं भोक्ता कर्ता चेत्यवस्थितः। एतमेवाहं ब्रह्म पश्याम्यस्मिन्कार्यकरणसंघात उपासे। [3]तस्मात्तमहं पुरुषं ब्रह्म तुभ्यं ब्रवीम्युपास्स्वेति। स एवमुक्तः प्रत्युवाचाजातशत्रुर्मा मा मेति हस्तेन विनिवारयन्। एतस्मिन्ब्रह्मणि [4]विज्ञेये मा [5]संवदिष्ठाः। मा मेत्या[6]बाधनार्थं द्विर्वचनम्। एवं समाने विज्ञानविषय आद्यो-

---

[7]हृदि प्रविष्टो भोक्ताऽहमित्यादि प्रत्यक्ष [8]प्रमाणयति—अहमिति। [9]दृष्टिफलं नैरन्तर्याभ्यासं दर्शयति—उपास इति। [10]तावता मम [11]किमायातं [12]तदाह—तस्मादिति। मा मेति [13]प्रतीकमादायाभ्यासस्यार्थमाह—मा मेति। विनिवारयन्प्रत्युवाचेति सबन्ध। एकस्य माङो निवारकत्वमपरस्य [14]संवादेन [15]संगतिरिति विभागे संभवति कुतो द्विर्वचनमित्याशङ्क्याऽऽह—मा मेत्याबाधनार्थमिति। [16]तदेव स्फुटयति

अत इससे आपने वह सब मेरे लिए सम्भव कर दिया॥ १॥

इस प्रकार सुनने की इच्छा वाले और अपने प्रति अभिमुख हुए राजा से उस गार्ग्य ने कहा—"यह जो सूर्य में और चक्षु में उनका एक ही अभिमानी चक्षु के द्वार से यहाँ हृदय में प्रविष्ट होकर "मैं भोक्ता हूँ और मैं कर्ता हूँ, इस प्रकार प्रतिष्ठित है, उसी को मैं ब्रह्म देखता हूँ, इस कार्यकरणसघात में मैं उसकी उपासना करता हूँ। इसलिये (मेरा वह उपासक होने के कारण) उस पुरुष को ही मैं तुम्हें ब्रह्मरूप से बतलाता हूँ, उसी की तुम उपासना करो। इस प्रकार कहे जाने पर उस अजातशत्रु ने "नहीं, नहीं" इस प्रकार हाथ से निषेध करते हुए कहा—'एतस्मिन्' अर्थात् इस विज्ञेयब्रह्म के

---

१. श्रोतुकाम राजान प्रति ब्राह्मणो बालाकि कीदृग्ब्रह्मोक्तवानित्याशङ्क्य य एवासावादित्यादेरर्थं वक्तुमुपक्रमते—एवमित्यादिना। २ हृदि प्रविष्टस्य प्रमातुर्द्रष्टृत्वस्य चक्षुर्द्वारकत्वमभिप्रेत्याह—चक्षुर्द्वारेणेत्यादि। ३ मम तदुपासकत्वात्। ४. न तूपास्य इति भाव। विज्ञेये अविद्याविषयान्न पानिति विज्ञेये उपास्ये इति यावत्। स्पष्ट चैतत् बृ० उ० २।१।१४ भाष्ये। ५ संवाद मा कार्षीः। ६ आबाधे चेति सूत्रेण पीडाया द्योत्याया द्वित्वमित्यभिप्रेत्याह—आबाधनार्थमिति। गार्ग्यस्येषद्बाधनार्थमित्यर्थं। तथाहि गार्ग्यो हि विना स्वोपदेश राज्ञा ज्ञातस्य ब्रह्मण प्रवदनशीलोऽतस्तस्येषद्बाधितत्वबुद्ध्या राज्ञा निषेधोऽभ्यस्त (निषेधार्थे द्वित्व बोध्यम्) तेन मुख्य ब्रह्म प्रतिज्ञाय तदनुक्ते प्रतिज्ञाहानिरूपो बाध इत्यर्थ। ७ हृदि प्रविष्टे आत्मनीत्यर्थ। ८ अध्यात्माधिदैवतयोरेकत्वे प्रत्यक्ष प्रमाणयतीत्यर्थं। ९ यथोक्तब्रह्मदर्शनफलकम्। १० यथोक्तत्वदीयोपासनेन। ११ लब्धम्। १२ यदायात तत्। १३ द्विरुक्ते। १४ क्रियापदेन। १५ सम्बन्ध। १६ द्विर्वचनस्येषद्बाधनार्थत्वमेव।

अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां
भूतानां मूर्धा राजा भवति ॥२॥

प्रकार से मैं इसकी उपासना करता हूँ। जो भी कोई पुरुष इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सभी भूतों का अतिक्रमण करके स्थित हो समस्त प्राणियों का मस्तक और राजा हो जाता है (क्योंकि जैसे गुण वाले की उपासना की जाती है, वैसा ही फल मिलता है) ॥ २ ॥

रस्मानविज्ञानवत इव दर्शयता ¹बाधिताः स्यामा²ऽतो मा संवदिष्ठा मा ³संवादं कार्षीर-⁴स्मिन्ब्रह्मणि। अन्यच्चेज्जानासि तद्ब्रह्म वक्तुमर्हसि न तु यन्मया ⁵ज्ञायत एव। ⁶अथ चेन्मन्यसे जानीषे त्वं ब्रह्ममात्रं न तु ⁷तद्विशेषणोपासनफलानीति। तन्न मन्तव्यं यतः सर्वमेतदहं जाने यद्ब्रवीषि। कथम्, अतिष्ठा अतीत्य ⁸भूतानि तिष्ठतीत्यतिष्ठाः⁹। सर्वेषां च भूतानां मूर्धा ¹⁰शिरो राजेति वै ¹¹राजा दीप्तिगुणोपेतत्वादेतै¹²र्विशेषणैर्विशिष्टमेतद्ब्रह्मा-

---

—एवमिति। त्वदुक्तेन प्रकारेण यो विज्ञानविषयोऽर्थस्तस्मिन्नावयोर्विज्ञानसाम्यादेव समानेऽपि विज्ञानवत्त्वे सत्यसमानविज्ञानवत इव स्वीकृत्य तमेवार्थमस्मान्प्रत्युपदेशेन ज्ञापयता भवता वयं बाधिताः स्यामेति योजना। "तथाऽपि" गार्ग्यस्य कथमीषद्बाधनं तत्राऽऽह—अत इति। अतिष्ठा सर्वेषामित्यादि वाक्यं शङ्काद्वाराऽवतार्य व्याकरोति—अथेत्यादिना। एतं पुरुषमिति शेषः। इतिशब्दो गुणोपहितसमा-

---

विषय में संवाद मत करो। 'मा-मा' यह द्विरुक्ति (गार्ग्य की उक्ति का) सम्यक् बाधन करने के लिए है। क्योंकि इस प्रकार हम दोनों के विज्ञान का विषय समान होने पर भी हमें अविज्ञात सा देखने वाले तुमसे हम बाधित (अज्ञानवान्) हो जायेंगे, इसलिए संवाद मत करो (मुझ से) इस विज्ञात ब्रह्म का कथन न करो। यदि तुम किसी दूसरे ब्रह्म को जानते हो, तो उसका कथन करो, जिसे मैं जानता हूँ, उसका वर्णन न करो। पक्षान्तर में यदि तुम यह मानो कि तुम तो ब्रह्ममात्र को जानते हो, उसके गुणों की उपासना के फल को तो नहीं जानते, ऐसा तुम्हें नहीं मानना चाहिये क्योंकि तुम जो कहते हो, वह तो सब कुछ मैं जानता हूँ। किस प्रकार ? 'अतिष्ठा' यानी क्योंकि यह समस्त प्राणियों का अतिक्रमण करके स्थित है इसलिए 'अतिष्ठा' यानी प्रधान है। समस्त प्राणियों का 'मूर्धा' अर्थात् मस्तक है यानी पूज्य है, 'राजेति' अर्थात् दीप्तिगुण से विशिष्ट होने से वह राजा है। इन (प्रधानत्व, पूज्यत्व और दीप्तिमत्व) विशेषणों से विशिष्ट इस ब्रह्म की जो कार्यकरण संघात में कर्ता और भोक्ता है, इसको मैं निरन्तर देखता हूँ। इस प्रकार विशेषणों से युक्त ब्रह्म को देखने वाले को फल भी वैसा मिलता है। जो इस पुरुष की इस प्रकार (त्रिगुणविशिष्ट) उपासना करता है,

---

१ बाधिता—भवदुक्तार्थाज्ञानवन्तः। २ अत—मया त्वच्छासनमृतेऽपि यथोक्तब्रह्मणो ज्ञातत्वात्। ३ कथनम्। ४ मद्विज्ञाते। ५ ज्ञायत एवेति—तद्वक्तुमर्हसीति पूर्वेण सम्बन्धः तथा चापूर्वार्थविज्ञान प्रतिज्ञाय तदनुक्तेर्गार्ग्यस्येषद्बाध इति भाव। ६ पक्षान्तरे। ७ गुणैश्वर्यं। ८ सर्वाणि। ९ प्रधान। १० पूज्य। ११ प्रधानत्वपूज्यत्वराजत्वाख्यगुणं राजत्व दीप्तिः। १२ राज्ञो बाधितत्वेऽपि। १३ आवाधे चेत्यत्राङ् ईषदर्थत्वमाश्रित्य बाधन प्रयोक्तृगत श्रोतृगत वेत्यनियम चाभ्युपेत्याह—तथाऽपीत्यादि ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्सवदिष्ठा बृहन्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो चन्द्रमा मे पुरुष स्थित है, उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, इसके सम्बन्ध मे बात न करो (इस ब्रह्म को मैं भी जानता हूँ)। यह तो महान् है, शुक्ल वस्त्रधारी सोम राजा है। मैं इसी प्रकार इसकी उपासना करता हूँ। जो भी कोई पुरुष इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके लिए प्रतिदिन सोमसुत और प्रसुत-

---

स्मिन्कार्यकरणसंघाते कर्तृ भोक्तृ चेत्यहमेतमुपास इति फलमप्येव विशिष्टोपासकस्य। स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति। यथागुणोपासनमेव हि फलम्। "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति श्रुतेः॥ २॥

संवादेनाऽऽदित्यब्रह्मणि प्रत्याख्यातेऽजातशत्रुणा चन्द्रमसि ब्रह्मान्तरं प्रतिपेदे

प्यर्थं। पूर्वोक्तरीत्या त्रिभिर्गुणैर्विशिष्ट ब्रह्म तदुपासकस्य फलमपि जानामीत्युक्त्वा फलवाक्यमुपादत्ते—स य इति। किमिति यथोक्त फलमुच्यते तत्राऽऽह—यथेति॥ २॥

मनसि चेति चकाराद्बुद्धौ चेत्यर्थं। य एक पुरुषस्तमेवाह ब्रह्मोपासे त्व चेत्यमुपास्स्वेत्युक्ते

वह सभी का प्रधान, पूज्य और दीप्त होता है। (इस मे हेतु प्रदर्शन करते हैं—) जिस प्रकार के गुणो से युक्त उपास्य की उपासना की जाती है, वैसा फल मिलता है। इसी बात की सङ्गति श्रुति द्वारा प्रदर्शित की जाती है। "उस (निरुपाधिक ब्रह्म) की जो जिस भाव से उपासना करता है, वह तादात्म्यरूप को प्राप्त हो जाता है।" २॥

(ज्ञातज्ञापनरूप) सवाद के जब द्वारा राजा अजातशत्रु ने आदित्यब्रह्मविषयक उपदेश का निषेध कर दिया, तो गार्ग्य ने चन्द्रमण्डलान्तर्गत दूसरे ब्रह्म का व्याख्यान करना प्रारम्भ किया। यह जो चन्द्रमा और मन मे एक ही पुरुष कर्ता और भोक्ता है, इसके, पिछले मन्त्र मे कथित विशेषण समझ लेने चाहियें (सूर्यमण्डल से द्विगुण विस्तार होने के कारण) वह बृहत् अर्थात् महान् है,

---

१ सोमो राजेति—सोम सौम्यत्वकारणात्। तदुक्त वार्तिके—"ज्योत्स्नया राजतेऽयर्थं सोमो ब्राह्मणराजत। सोमो राजेत्यतो वक्ति तदुपासाविधित्सया" ॥ ८६॥ सोमो ब्राह्मणाना राजेतिश्रुतिमाश्रित्य ब्राह्मणराजत इत्युक्त राजत्वादित्यर्थं। गुणचतुष्टयोक्तिफलमाह—तदुपासेति। तथा च सोमत्व मनोज्ञत्व गुणो बोध्य॥ २ अनवरत पश्यामीत्यर्थं। ३ पुरुषम्। ४ त्रिगुणविशिष्टम्। ५ दीप्र। ६ सवादेन—ज्ञातज्ञापनरूपेण मतिसवाददोषेणेत्यर्थं। उक्तञ्च—"केवलो मनिस वादो भवदुक्तिर्ममाभवत्। न त्वपूर्वार्थविज्ञान प्रतिभात यथा त्वया" ॥ ४५॥ इति। भवद्विज्ञाने ब्रह्मणि सवाद वर्तुमेवोपक्रान्त मयेति चेन्नेत्याह—प्रतिज्ञातमिति॥ ७ आदित्यब्रह्मविषयोपदेशे। ८ वक्तुमुपचक्रमे।

नास्यान्नं क्षीयते ॥ ३ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं

रूप होकर उपस्थित होता है अर्थात प्रकृति-विकृति दोनो प्रकार के यज्ञानुष्ठान म उसे सामर्थ्य प्राप्त होता है तथा उसका अन्न कभी क्षीण नहीं होता ॥ ३ ॥

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो विद्युत मे पुरुष है, मैं उसकी ही ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ ।

गार्ग्य. । य एवासौ चन्द्रे मनसि चैकः पुरुषो भोक्ता कर्ता चेति पूर्ववद्विशेषणम् । बृहन्महान्पाण्डर शुक्ल वासो यस्य सोऽयं पाण्डरवासा अप्शरीरत्वात्प्राणस्य । सोमो राजा चन्द्रः । यश्चान्नभूतोऽभिषूयते लतात्मको यज्ञे तमेकीकृत्यैतमेवाह ब्रह्मोपासे ' यथोक्तगुण य उपास्ते तस्याहरह 'सुतः सोमोऽभिषुतो भवति यज्ञे प्रसुतश्च विकारेष्वन्न चास्य न क्षीयतेऽन्नात्मकोपासकस्य ॥ ३ ॥

तथा विद्युति त्वचि हृदये चैका देवता तेजस्वीति विशेषण तस्या स्तत्फल तेजस्वी

मा मेत्यादिना प्रत्युवाचेत्याह—इति पूर्ववदिति । भानुमण्डलतो 'द्विगुणं चन्द्रमण्डलमिति प्रसिद्धिमाश्रित्याऽऽह—महानिति । कथ पाण्डर वासश्चन्द्राभिमानिन 'प्राणस्य सभवतीत्याशङ्क्याऽऽह—अप्शरीरत्वादिति । पुरुषो हि शरीरेण वाससेव वेष्टितो भवति पाण्डरत्व चापा प्रसिद्धमापो वास प्राणस्येति च श्रुतिरतो युक्त प्राणस्य पाण्डरवासस्त्वमित्यर्थ । न केवल सोमशब्देन चन्द्रमा गृह्यते किंतु लताऽपि 'समाननामधमत्वादित्याह—यश्चेति । त चन्द्रमस लतात्मक बुद्धिनिष्ठ च पुरुषमकीकृत्याह-ग्रहेणोपास्तिरित्यर्थ । सप्रत्युपास्तिफलमाह—यथोक्तेति । यज्ञशब्देन प्रकृतिरुक्ता' । विकारशब्देन विकृतयो गृह्यन्ते । यथोक्तोपासकस्य प्रकृतिविकृत्यनुष्ठानसामर्थ्य ''लीलया लभ्यमित्यर्थ । अन्नाक्षयस्योपासनानुसारित्वादुपपन्नत्वमभिप्रेत्योपासक विशिनष्टि—अन्नात्मकेति ॥ ३ ॥

''सवाददोषेण चन्द्रे ''ब्रह्मण्यपि प्रत्याख्याते ब्रह्मान्तरमाह—तथेति । कथमेकमुपासन''मनेकफल-

---

'पाण्डरवासा' यानी शुक्ल वस्त्र वाला है क्योकि चन्द्राभिमानी प्राण जलमयशरीर से युक्त है । 'सोमो राजेति' यानी सोम राजा चन्द्रमा है तथा जो यज्ञ मे पेय अन्न के रूप मे टपकाया जाता है, वह सोमलता भी सोम ही है । उस चन्द्र एव लतात्मकपुरुष का अद्वैत रूप मान कर इन गुणो से

---

१ कण्ठचत । २ गुणचतुष्टयोपेत पुरुषम् । ३ कृतकण्डव । ४ यद्यपि तेजस्वित्व पूर्वोक्तादित्यादावप्यस्ति तथापि तत्तेजसो जलदादिभिरभिभाव्यत्वाद्विद्युत्तेजसस्त्वतथात्वादत्रैव तदुक्तमिति ध्येयम् । ५ उपासनफलम् । ६ द्विगुणमिति— नवयोजनसाहस्रो विष्कम्भ सवितु स्मृत । द्विगुणस्तस्य विस्तारो मण्डलस्य प्रमाणत ॥ द्विगुण सूर्यविस्ताराद्विस्तार शशिन स्मृत ॥' इति पुराणप्रसिद्धि । अत्र विष्कम्भ विस्तार, प्रमाणत परिमाणत, सवितु अभिमानिपुरुषस्य मण्डलस्य तदाश्रयस्य पुरुषापेक्षया द्विगुणविस्तार मण्डलमिति । ७ पुरुषस्य । ८ समाननामधर्मत्वादिति—सोम इत्यभिधानस्य वृद्धिह्रासाख्यधर्मस्य चोभयत्र समत्वादित्यर्थ । द्वयोश्च प्रदेवताकत्वादित्यपि बोध्यम् । ९ उभय प्राणात्मकमेवेति प्राणात्मनैकीकृत्येत्यर्थ । १० प्रकृताख्ययज्ञ । ११ अनायासेव । १२ ज्ञातज्ञापकत्वेन प्रतिज्ञाहानिरूपेण । १३ चन्द्र उपदेशे ब्रह्मविषयके इत्यर्थ । १४ स्वस्मिन् प्रजायां चेत्यनेकवृत्तित्वमेव फलस्य बाहुल्यमिति ध्येयम् ।

ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदि-ष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेव-मुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति ॥ ४ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संव-

तब अजातशत्रु ने कहा—नहीं नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो (इसे मैं जानता हूँ) और इसकी तो मैं तेजस्वीरूप से उपासना करता हूँ। जो भी कोई पुरुष इसको इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वयं तेजस्वी होता है, उसकी प्रजा भी तेजस्वी होती है (विद्युत् के बाहुल्य से इस उपासक का प्रजाबाहुल्यरूप भी सम्भव है) ॥ ४ ॥

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो आकाश में पुरुष है, मैं इसी की ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो (मैं जानता हूँ) और इसकी उपासना

ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति। विद्युतां बहुत्वस्याङ्गीकरणादात्मनि प्रजायां च [१]फलबाहुल्यम् ॥ ४ ॥

तथाऽऽकाशे हृदाकाशे चैका देवता पूर्णमप्रवर्ति चेति विशेषणद्वयं पूर्णत्व-

---

मित्याशङ्क्याऽऽह—विद्युतामिति ॥ ४ ॥

विशिष्ट ब्रह्म की मैं उपासना करता हूँ। जो पुरुष उपरोक्त गुणचतुष्टय से युक्त ब्रह्म की उपासना करता है, उसके लिए नित्यप्रति 'सुत' यानी यज्ञ में लतात्मक सोम उपस्थित रहता है और विकृति-यज्ञ में 'प्रसुत' अधिक प्रमाण में सोम (अनायास ही) प्राप्त हो जाता है। तथा ब्रह्म की इस प्रकार अन्नात्मक उपासना करने वाले का अन्न कभी क्षीण नहीं होता ॥ ३ ॥

(ब्रह्मविषयक चन्द्र उपदेश में भी दोष आने पर) इसी प्रकार विद्युत्, त्वक् और हृदय में भी एक ही देवता है। (यद्यपि आदित्य चन्द्रमा में भी तेजस्विता है, परन्तु मेघ आदि के द्वारा उनके तेज के परिभव हो जाने के कारण) विद्युत् का तेजस्वी यह विशेषण दिया गया है। (जो कोई विद्युत् के तेजस्वी रूप की उपासना करता है) इसकी उपासना का फल यह है कि वह तेजस्वी होता है, उसकी प्रजा भी तेजस्विनी होती है। विद्युत् की अनेकता अङ्गीकार की गई है, इसलिए अपने और प्रजा के लिए (उपास्यबाहुल्य होने से) फल का बाहुल्य सम्भव है ॥ ४ ॥

---

१ उपास्यबाहुल्यात्फलबाहुल्यम्।

दिष्ठाः 'पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते ॥ ५ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास

पूर्ण तथा अप्रवर्तिरूप से करता हूँ। जो कोई इस आकाश की इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा और पशुओं से पूर्ण होता है तथा इस लोक में उसकी प्रजासंतति का विच्छेद नहीं होता ॥ ५ ॥

उन गार्ग्य ने कहा—यह जो वायु में पुरुष है, ब्रह्मरूप से मैं इसी की उपासना करता हूँ। उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो, इसे मैं जानता हूँ। इसकी तो मैं परमेश्वर, वैकुण्ठ और अपराजिता सेनारूप से उपासना करता हूँ (मरुतों का एकरूप होना प्रसिद्ध

विशेषणफलमिदं पूर्यते प्रजया पशुभिरप्रवर्तिविशेषणफलं नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तत इति प्रजा संतानाविच्छित्तिः ॥ ५ ॥

तथा वायौ प्राणे हृदि चैका देवता तस्या विशेषणमिन्द्रः परमेश्वरो 'वैकुण्ठोऽप्रसह्यो न परैर्जितपूर्वाऽपराजिता सेना मरुतां गणत्वप्रसिद्धेरुपासनफलमपि । जिष्णुर्ह

'अप्रवर्तित्वमप्रवर्तकत्वमक्रियावत्त्वं वा ॥ ५ ॥

कथमेकस्मिन्वायावपराजिता सेनेति गुणं संभवति तत्राऽऽह—मरुतामिति । विशेषणत्रयस्य फलत्रयं क्रमेण व्युत्पादयति—जिष्णुरित्यादिना । अन्यतस्त्यानामन्यतो 'मातृतो जातानाम् ॥ ६ ॥

इसी प्रकार आकाश, हृदयाकाश और हृदय में भी एक ही देवता है। (उसके घटादि के समान अविभक्त) पूर्ण और अक्रियात्व (स्वयं का अप्रवृत्तत्व होना) ये दो विशेषण हैं। पूर्णत्व विशेषण (वाले ब्रह्म की उपासना) का फल यह है कि वह प्रजा और पशुओं से पूर्ण होता है तथा अक्रियात्व' विशेषण का यह फल है कि इस लोक से उसकी 'प्रजाद्वर्तते' यानी प्रजा का सन्तानविच्छेद नहीं होता ॥ ५ ॥

इसी प्रकार वायु, प्राण और हृदय में भी एक ही देवता है। उसके विशेषण हैं, 'इन्द्र' अर्थात् परमेश्वर, "वैकुण्ठ" यानी आलस्यरहित या अजित स्वभाव वाला, "अपराजिता सेना" यानी जो सेना किसी दूसरे से पहले कभी पराजित न हुई हो, ऐसे अपराजितसेनात्व गुण वाला। मरुत्

१ पूर्णत्वं घटादिवदविभक्तत्वम्। दृष्टान्तो व्यतिरेके विभागोऽवयवशो घटादीनाम्। २ कुण्ठा मन्दक्रिया आलस्यं तद्रहितं स्वार्थेऽण्। ३ अजितस्वभाव इत्यर्थः। ४ अपराजितसेनात्वं गुणः। ५ स्वयमप्रवृत्तत्वमिति यावत्। ६ मातुः सपत्नीतो जातानाम्।

इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यत-
स्त्यजायी ॥ ६ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं
ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संव-
दिष्ठा [1]विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य
एतमेवमुपास्ते विषासहिर्ह भवति विषासहिर्हास्य
प्रजा भवति ॥ ७ ॥

है)। जो कोई इसकी इस रूप से उपासना करता है, तो वह जयनशील, दूसरे से कभी न हारने वाला और शत्रुओं का विजेता होता है ॥ ६ ॥

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो अग्नि में पुरुष है, मैं इसी की ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, इस सम्बन्ध में चर्चा न करो। (इसे मैं जानता हूँ और) इसकी मैं विषासहि (दूसरों को सहन करने वाले) रूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, निःसन्देह वह स्वयं विषमहि होता है और उसकी प्रजा भी विषासहि होती है ॥७॥

जयनशीलोऽपराजिष्णुर्न च परैर्जितस्वभावो भवति। अन्यतस्त्यजाय्यन्यतस्त्यानां सपत्नानां जयनशीलो भवति ॥ ६ ॥

अग्नौ वाचि हृदि चैका देवता तस्या [2]विशेषणं विषासहिर्मर्षयिता' परेषाम्। अग्निबाहुल्यात्फलबाहुल्यं पूर्ववत् ॥ ७ ॥

यद्वाविविष्यते क्षिप्यते तत्सर्वं भस्मीकरणेन सहते तेनाग्निर्विषासहिः। यथा पूर्वं विद्युतां बाहुल्यादात्मनि प्रजायां च फलबाहुल्यमुक्तं तथाऽग्नाप्यग्नीनां [3]बहुलत्वादुपासकस्याऽऽत्मनि प्रजायां च दीप्ताग्नित्वं सिध्यतीत्याह—अग्नीति ॥ ७ ॥

देवताओं का भी गणत्व (समूह या संघरूप) होना प्रसिद्ध है। ब्रह्म के इन गुणों की उपासना का फल इस प्रकार है—वह "जिष्णुर्ह" अर्थात् जयनशील होता है, "अपराजिष्णुर्भवति" यानी दूसरों के द्वारा कभी पराजित न होने के स्वभाव वाला होता है तथा "अन्यतस्त्यजायी" अर्थात् विरोधी या शत्रुओं को जीतने के स्वभाव वाला होता है ॥ ६ ॥

अग्नि, वाक् और हृदय एक ही देवता है। उसका गुण है—"विषासहि" अर्थात् दूसरों को सहन करने वाला। पूर्व मन्त्रों की तरह उपास्य अग्नि की बहुलता होने के कारण उसके फल की भी बहुलता है ॥ ७ ॥

---

१ विष्यते क्षिप्यत इति विष हविः तद् आसहते इति विषासहिः। यद्वा विशेषेण सहते इति तथा। २ गुणः। ३. फलोक्तिरियम्। ४ गार्हपत्यादिभेदत।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपᳪ हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥८॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेव-

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो जल मे पुरुष है, मैं ब्रह्मरूप से इसी की उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा—नही-नही, इस सम्बन्ध मे बात न करो। इसकी मैं (श्रुति, स्मृति के अनुकूल) प्रतिरूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके पास प्रतिरूप ही आता है, उसके विपरीत नही आता और उससे प्रतिरूप सतति उत्पन्न होती है ॥ ८ ॥

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो दर्पण मे पुरुष है, मैं इसी की ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। इस पर अजातशत्रु ने कहा—नही-नही, इसकी चर्चा न करो, इसकी तो मैं दीप्तिशालीरूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस रूप से उपासना करता है, निःसन्देह वह दीप्तिस्वभाव वाला हो जाता

अप्सु रेतसि हृदि चैका देवता तस्या विशेषणं प्रतिरूपोऽनुरूपः श्रुतिस्मृत्यप्रतिकूल इत्यर्थः। फलं प्रतिरूपं श्रुतिस्मृतिशासनानुरूपमेवैनमुपगच्छति प्राप्नोति न विपरीतमन्यच्चास्मात्तथाविध एवोपजायते[1] ॥ ८ ॥

आदर्शे प्रसादस्वभावे चान्यत्र खड्गादौ हार्दे च [2]सत्त्वशुद्धिस्वाभाव्ये चैका देवता

प्रतिरूपत्वं प्रतिकूलत्वमित्येतद्व्यावर्तयति[3]—अनुरूप इति। अन्यच्च फलमिति संबन्धः। अस्मादुपासितुरित्यर्थः। तथाविध श्रुतिस्मृत्यनुकूल इति यावत् ॥ ८ ॥

हार्दे चेत्येतदेव स्पष्टयति—सत्त्वेति। सर्वत्रैकेति विशेषणस्य देवतेति विशेष्यतया संबध्यते।

जल, वीर्य और हृदय मे एक ही देवता है। उसका गुण है—"प्रतिरूप" अर्थात अनुरूप अथवा यूँ कहो कि श्रुति स्मृति के अनुकूल होना। ब्रह्म के इस गुण की उपासना का फल है—"प्रतिरूपम्" यानी श्रुति-स्मृति के अनुकूल पदार्थ ही उपासक को "उपगच्छति" यानी प्राप्त हो जाता है, इसके विपरीत नही। इसके अतिरिक्त उससे वैसा ही पुत्र उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

स्वाभाविक निर्मल दर्पण और खड्गादि अन्य पदार्थों मे तथा सत्त्वगुणयुक्त स्वाभाविक शुद्ध

---

१ पुत्र इति शेष। २ बुद्धाविति यावत्। ३ तथा च प्रतिशब्दोऽत्रानुशब्दार्थ इति भाव।

मुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः संनिगच्छति सर्वाꣳस्तानतिरोचते ॥९॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳहैवास्मिंल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालात्प्राणो जहाति ॥१०॥

है और उसकी प्रजा भी दीप्तिशाली होती है। तथा जिनमे उसका समागम होता है, उन सभी से बढकर दीप्तिमान् होकर चमकता है ॥ ९ ॥

उस गार्ग्य ने कहा—जाते हुए वायु के पीछे जो यह शब्द होता है, इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा—नही-नही, इसके विषय मे बात न करो। इसकी मैं प्राणरूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह इस लोक मे पूर्ण आयु प्राप्त करता है और नियत समय से पूर्व इसे प्राण नही छोडता ॥ १० ॥

तस्या विशेषणं रोचिष्णुर्दीप्तिस्वभावः फलं च तदेव रोचनाधारबाहुल्यात्फलबाहुल्यम् ॥९॥

यन्तं गच्छन्तं य एवायं शब्दः पश्चात्पृष्ठतोऽनूदेत्यध्यात्मं च जीवनहेतुः प्राणस्तमेकीकृत्याऽऽहासुः प्राणो जीवनहेतुरिति गुणस्तस्य फलं सर्वमायुरस्मिंल्लोक एतीति।

तदेव रोचिष्णुत्वमित्यर्थः ॥ ९ ॥

आहैतमेवाहमित्यादीनि शेषं । तस्य गुणवदुपासनस्येत्यर्थं । सर्वमायुरित्येतद्व्याचष्टे—

बुद्धि वाले हृदय मे एक ही देवता है। उसका गुण है, "रोचिष्णु" यानी प्रकाशमान् स्वभाव वाला। उस गुण की उपासना का फल भी वही है। दीप्ति के आधारबाहुल्य होने से फल की भी बहुलता हो जाती है ॥ ९ ॥

"यन्तम" यानी मार्ग मे जाते हुए के "पश्चात्" यानी पीछे जो यह शब्द उत्पन्न होता है, और जो अध्यात्म दृष्टि से जीवन का हेतुरूप प्राण है, उसको यहाँ एक करके कहा है। उस शब्द-

---

१ सर्वेभ्योऽतिरोचते। २ ब्रह्म धिया ध्यायामि। ३ रोचना दीप्ति। ४ अध्वनि धावन्तम्। ५ अनूदेति—उत्पद्यते। तत्र कारणम् वार्तिके—"पुंसोऽभिधावतस्तूर्णं देहदेशे समाहृत। प्राणो वृत्तिविशेषेण बहिर्वंत्कुरुते ध्वनिम्' ॥७५॥ इति। वृत्तिविशेषेण गतिभेदेनेति यावत्। यद्वा प्राणनादिवृत्तीरत्यक्त्वा वृत्त्यन्तरेणेत्यर्थः ॥ ६ शब्दपुरुषस्यासुरिति विशेषण तस्यायमर्थः उपासना प्राणनादिवृत्तीनामेव बाह्यांशेन त्यागात्स प्राणात्मा असुगुणक इति। तदुक्तं वार्तिके—' वृत्तिक्षेपादसुरयमायुषश्च तदाश्रिते ॥७६॥ अस्यतीत्यसु।

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान्ह भवति नास्माद्गणश्छिद्यते ॥११॥

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो दिशाओं मे पुरुष है इसकी मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा—नही-नही, इस सम्बन्ध मे बात न करो। इसकी तो मैं द्वितीय और अनपगम (पृथक न होने वाले) रूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार से उपासना करता है, वह द्वितीयवान् होता है और उससे गण का विच्छेद नही होता ॥ ११ ॥

यथोपात्तं कर्मणाऽऽयुः कर्मफलपरिच्छिन्नकालात्पुरा पूर्वं रोगादिभिः पीड्यमानमप्येनं प्राणो न जहाति ॥ १० ॥

दिक्षु कर्णयोर्हृदि चैका देवताऽश्विनौ देवावविंयुक्तस्वभावौ गुणस्तस्य द्वितीयवत्त्वमनपगत्वमवियुक्तता चान्योन्यं दिशामश्विनोश्चैवं धर्मित्वात्तदेव च फलमुपासकस्य गणाविच्छेदो द्वितीयवत्त्वं च ॥ ११ ॥

यथोपात्तमिति ॥ १० ॥

का पुनरसावेका देवता तत्राऽऽह—अश्विनाविति । तस्य देवस्येति यावत् । यथोक्तं गुणद्वयमुपपादयति—दिशामिति । द्वितीयवत्त्व साधुभृत्यादिपरिवृतत्वम् ॥ ११ ॥

पुरुष का "असु" यानी जीवनहेतुकप्राण गुण है। उसकी उपासना का फल यह है कि वह उपासक इस लोक मे पूर्ण आयु लाभ करता है, उसके कर्मफल से परिच्छिन्न समय से पहले, रोगादि से पीडित होने पर भी उसे प्राण परित्याग नही करता ॥ १० ॥

दिशा, कर्ण और हृदय मे एक ही देवता अश्विनी है, (युगल होने पर भी) अवियुक्त स्वभाव होने पर एक ही है। उसके गुण है—द्वितीयत्व और अनपगत्व यानी अवियुक्तता, क्योंकि दिशाएँ और अश्विनीकुमार ये परस्पर (द्वितीयत्व और अवियुक्तत्व) ऐसे ही स्वभाव वाले हैं। उसकी उपासना का फल यह है कि इससे उपासक का सदा पुत्रादिगण-सन्तानस्थैर्य होता है और दूसरे से युक्त होता है ॥ ११ ॥

---

१ अतएव द्वयोरेकेत्युक्ति । २ एवधर्मित्वम्—स द्वितीयत्वम् । परस्परमवियुक्तत्व च दिशा सद्वितीयत्व तु वार्तिके—"दु सम्भाव्या हि पूर्वा दिङ्मुक्त्वाऽऽशां पश्चिमा जनैरिति" ॥७७॥ ३ "पुत्रादिगणसन्तानस्थैर्यमेव सदा भवेत्" ॥७८॥ इति वार्तिकम् ।

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वं ह वास्मिंल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालान्मृत्युरागच्छति ॥१२॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो छाया में पुरुष है, इसकी ही मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो। इसकी मैं मृत्युरूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार से उपासना करता है, वह इस लोक में पूर्ण आयु प्राप्त करता है और नियत समय से पहले इसके पास मृत्यु नहीं आता ॥ १२ ॥

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो बुद्धि में पुरुष है, उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।

छायाया बाह्ये [1] तमस्यध्यात्मे चाऽऽवरणात्मकेऽज्ञाने हृदि चैका देवता विशेषणं मृत्युः फलं सर्वं पूर्ववन्मृत्योरनागमनेन रोगादिपीडाभावो विशेषः ॥ १२ ॥

आत्मनि प्रजापतौ [3] बुद्धौ हृदि [4] चैका देवता तस्या विशेषणमात्मन्व्यात्मवानिति

शब्दब्रह्मोपासकस्येव [6] तमोब्रह्मोपासकस्यापि फलमित्याह—फलमिति । फलभेदाभावे कथमुपासनभेदः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—मृत्योरिति ॥ १२ ॥

❀व्यस्तानि [7] ब्रह्माण्युपन्यस्य समस्तं [8] ब्रह्मोपदिशति—प्रजापताविति । आत्मवत्त्वं, वश्यात्मक-

---

शरीरछायारूप बाह्य अन्धकार, शरीर के अन्दर आवरणरूप अज्ञान और हृदय में भी एक ही देवता है। इसका गुण मृत्यु है। उसकी उपासना का फल है कि मृत्यु के आगमन से पूर्व रोगादि-पीडा का भी अभाव रहता है, यही विशिष्टता है ॥ १२ ॥

---

१. शरीरच्छायारूपे । २. मृत्योरागमनात्प्राक् रोगादिपीडाया अप्यभाव इति यावत् । ३. विराजि । ४. हृदयदेशे । ५ वश्य आत्मा विद्यतेऽस्याऽसावात्मन्वी स्वतन्त्र इति यावत् । तदाह—आत्मवानिति । ६ तत्तुल्यम् । ७. व्यष्टिरूपाणि । ८ समष्ट्यात्मकम् ।

❀व्यस्तानि ब्रह्माण्युपन्यस्य समस्तं ब्रह्मोपदिशतीति । अत्र वार्तिकानि चत्वारि सन्ति । तथाहि—"व्यस्तानां पूर्वमुद्देशः समस्तानां त्विहोदितः । विवक्षाऽवमितिर्गार्ग्यो तथा सत्युपपद्यते ॥ प्रत्याख्यातोपदेशः सन् संवादेन पुनः पुनः । ब्रह्मान्यदन्यदवददात्मन्वीत्यन्तमादरात् ॥ विशेषाणामनन्तत्वात्समस्तं ब्रह्म सोऽवदत् ॥ तस्मिन्नपि निषिद्धेऽथ तूष्णीं गार्ग्यो बभूव ह ॥ यत्कृत्स्नं ब्रह्म पूर्वोक्तं तदेवेदमविद्यया । एकधाऽनेकधा मूढैः कल्प्यते रज्जुसर्पवत्" ॥८१–८४॥ इति । पूर्वोत्तरपर्यायेऽवान्तरं भेदं दर्शयति—व्यस्तानामिति । उद्देशो ध्येयत्वेनोक्तिरित्यर्थः । अन्ते पर्याये समस्तोपदेशे नियामकमाह—विवक्षेति । तथा सति समस्तव्यस्तोपदेशे सति ॥ गार्ग्यसंबन्धिनी

ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैत-स्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वी ह भवत्या-त्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्यः ॥ १३ ॥

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू ३ इत्येतावद्धीति नैतावता विदितं भवतीति स होवाच गार्ग्य उप त्वा यानीति ॥१४ ॥

तब उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, उसके विषय मे बात न करो । इसकी तो मैं आत्मन्वीरूप से उपासना करता हूँ । जो कोई इसकी इस रूप से उपासना करता है, वह निःसन्देह आत्मवान होता है और उसकी प्रजा की सनति भी बुद्धिमती होती है। इसके बाद वह गार्ग्य चुप हो गया (क्योंकि ब्रह्म का इससे अधिक ज्ञान उसे था नहीं) । अतः वह नतमस्तक हो गया ॥ १३ ॥

उस अजातशत्रु ने कहा—क्या इतना ही तू जानता है ? गार्ग्य ने कहा—हाँ, मुझे इतना ही ब्रह्म विदित है । अजातशत्रु ने कहा—इतना जानने से तो ब्रह्म विदित नहीं होता । तब उस गार्ग्य ने कहा—मैं आपकी शरणापन्न हूँ, मुझे आप ब्रह्म का उपदेश करें ॥ १४ ॥

विशेषणं फलमात्मन्वी ह भवत्यात्मवान्भवति । आत्मन्विनी हास्य प्रजा भवति बुद्धि-बहुलत्वात्प्रजायां संपादनम् । स्वयं परिज्ञातत्वेनैव क्रमेण प्रत्याख्यातेषु ब्रह्मसु स गार्ग्यः क्षीणब्रह्मविज्ञानोऽप्रतिभासमानोत्तरस्तूष्णीमवाविशरा आस ॥ १३ ॥

त्वम् । फलस्या'ऽऽत्मगामित्वान्न प्रजाया तदभिधानमुचितमित्याशङ्क्याऽऽह—बुद्धीति ॥ १३ ॥

"आत्मनि" यानी विराट् प्रजापति, बुद्धि और हृदय देश में एक ही देवता है । उसका गुण है, "आत्मन्वी" अर्थात् आत्मवान् या स्वतन्त्र होना । इसकी उपासना का फल है, वह आत्मन्वी अर्थात् आत्मा को वश में कर लेता है । उसकी प्रजा भी आत्मा को वश में कर लेती है । उपासना की बहुलता से वस्तुतः वाचनिक फलबहुलता होने से प्रजा में उस फल का सम्पादन होता है, यह इसकी विशेषता है । स्वयं परिज्ञात होने के कारण इस प्रकार उपदेश किये हुए आदित्य ब्रह्मविषयक प्रत्याख्यान होने

---

१ उपासनबाहुल्यात् वस्तुतस्तु वाचनिक फलबाहुल्यम् । २ आदित्यादिब्रह्मविषयोपदेशेषु । ३ उपासक-गामित्वौचित्यात् ।

वक्तव्यच्छा परिसमाप्तिरुपपद्यते तत्समाप्तिमेव प्रकटयति—प्रत्याख्यातेति । ब्रह्मोपदेशप्रत्याख्यानानन्तरमज्ञाना-देव गार्ग्यो विवक्षारहितोऽभूदित्यर्थः ॥ कतिपयविशेषानुक्त्वा सर्वोपसंहारं विना किं मन्ये समस्तब्रह्मोक्तिरित्या-शङ्क्याऽऽह—विशेषाणामिति । अनन्तत्वात्प्रत्येकं वक्तुमशक्यत्वादिति शेषः । तत्र सर्वान्तर्भावाच्चेति भावः ।

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद्ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषꣳ सुप्तमाजग्मतु-,

उस अजातशत्रु ने कहा—यद्यपि यह विपरीत बात है कि क्षत्रिय के प्रति ब्राह्मण इस उद्देश्य से जावे कि यह क्षत्रिय मुझे ब्रह्म का उपदेश करेगा, (इस प्रतिलोमविधि का शास्त्रों में निषेध किया गया है) तो भी मैं तुझे उस ब्रह्म का बोध कराऊँगा ही। उसके बाद वह अजातशत्रु उस गार्ग्य ब्राह्मण के हाथों को पकड़कर उठ खड़ा हुआ और वे दोनों एक सोये हुये पुरुष के पास आये। वहाँ

ज्ञातव्यमस्तीति दर्शितं भवति। तच्चानुपसन्नाय न वक्तव्यमित्याचारविधिज्ञो गार्ग्यः स्वयमेवाऽऽहोप त्वा यानीत्युपगच्छानीति त्वा यथाऽन्यः शिष्यो गुरुम् ॥ १४ ॥

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं विपरीतं चैतत्किं तद्यद्ब्राह्मण उत्तमवर्ण आचार्यत्वेऽधिकृतः सन्क्षत्रियमनाचार्यस्वभावमुपेयादुपगच्छेच्छिष्यवृत्त्या ब्रह्म मे वक्ष्यतीत्येतदाचारविधिशास्त्रेषु निषिद्धम्। तस्मात्तिष्ठ त्वमाचार्य एव सन्। विज्ञपयिष्याम्येव

मूलवाक्यमुत्थाप्य व्याचष्टे—तच्चेति ॥१४॥

"अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः॥
नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्"

इत्यादीन्याचारविधिशास्त्राणि।

का द्वार है, इसलिये यह कहना उचित ही है कि 'इतना मात्र जानने से ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता।' अविद्यावस्था में ब्रह्म विज्ञेयरूप और नामरूपकर्मात्मक है। यह बात तृतीय अध्याय (उपनिषत् के प्रथम अध्याय) में प्रदर्शित की जा चुकी है। इसलिये "इतना मात्र जानने से ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता" ऐसा कहकर यह सिद्ध किया गया है कि अभी इससे पूर्णब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना है। उस निरुक्तब्रह्म का उपदेश जो शरणापन्न न हो, उसे नहीं करना चाहिये। अतः आचारविधि को जानने वाला गार्ग्य स्वयं ही कहता है, "उप त्वा यानीति" अर्थात् जैसे कोई दूसरा शिष्य अपने गुरु के शरणापन्न होता है, उसी तरह मैं भी तुम्हारे शरणापन्न होऊँ ॥१४॥

---

१ ज्ञपयिष्यामीति। वर्णतो गार्ग्यस्याधिक्यादुपसत्त्यभावेऽपि विद्यातो राज्ञो वैशिष्ट्यात्ततस्तद्ग्रहो (विद्याग्रहो) युक्तः 'न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः। ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महानिति' स्मृतेः। धर्मं धर्मनिर्णयम्। २ निरुक्तं ब्रह्म। ३ उपसीदानि। ४ निषिद्धम्। ५ तथा च विद्यार्थमेवोपगमनं निषिद्धं न तु योगक्षेमाद्यर्थमिति सूच्यते। ६ मत्तस्तवोत्तमत्वात्। ७ अनुपसन्नमेव शिष्यवत्त्वां विज्ञापनमात्रं करिष्यामि न त्वाचार्यवदुपदेक्ष्यामि ब्रह्म। ८ ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन् गतिमनुत्तमामिति' शेषः (—मनु)। अनूचानः साङ्गवेदाध्यायी।

स्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयांचक्रे बृहन्पाण्डरवासः सोम राजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिनाऽऽपेषं बोधयांचकार स होत्तस्थौ ॥ १५ ॥

पर हे बृहन्! हे पाण्डरवास! हे सोम राजन्! इन नामो से अजातशत्रु ने उस सुषुप्त पुरुष को पुकारा, किन्तु वह सोया हुआ पुरुष न उठा। तत्पश्चात् हाथ से दवा-दवा कर उस सुषुप्त पुरुष को जगाया, इससे वह उठ बैठा ॥ १५ ॥

त्वामहम्। 'यस्मिन्विदिते 'ब्रह्म विदितं भवति 'यत्तन्मुख्यं ब्रह्म वेद्यम्। त गार्ग्यं सलज्जमालक्ष्य विश्रम्भजननाय पाणौ हस्त आदाय गृहीत्वोत्तस्थावुत्थितवान्। तौ ह गार्ग्याजातशत्रू पुरुषं सुप्तं राजगृहप्रदेशे क्वचिदाजग्मतुरागतौ। तं च पुरुषं सुप्तं प्राप्यैतैर्नामभिर्बृहन्पाण्डरवासः सोम राजन्नित्येतैरामन्त्रयाचक्रे। एवमामन्त्र्यमाणोऽपि स सुप्तो नोत्तस्थौ। तमप्रतिबुध्यमानं *पाणिनाऽऽपेषमापिष्याऽऽपिष्य बोधयाचकार

आदित्यादिब्रह्मभ्यो' विशेषमाह—यस्मिन्निति। प्राणस्य व्याप्रियमाणस्यैव सबोधनार्थं प्रयुक्तनामाश्रवणादापेषणाच्चोत्थानात्तस्याभोक्तृत्वं सिध्यतीति फलितमाह—तस्मादिति।

उस राजा अजातशत्रु ने कहा—यह तो "प्रतिलोम" यानी निषिद्ध है कि उत्तमवर्ण मे उत्पन्न ब्राह्मण आचार्यत्व का अधिकारी होकर "क्षत्रियम्" अर्थात् जिसका आचार्य होना स्वभाव नही है, उस क्षत्रिय के प्रति "उपेयात्" अर्थात् शिष्यभाव से शरणापन्न हो, इस प्रयोजन से कि यह मुझे ब्रह्म का उपदेश करेगा, यह आचारविधिपरक शास्त्रो मे निषिद्ध माना है (क्योकि विद्या के लिए क्षत्रिय के पास जाना निषिद्ध है, योगक्षेम के लिए उसके पास जाने मे कोई दोष नही)। इसलिए (मेरे से तुम उत्तम होने के कारण) तुम ही आचार्यपद को अलकृत किये रहो। फिर भी (क्षत्रिय होने पर) जिसका ज्ञान होने पर ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है और इस प्रकार जो मुख्यब्रह्म

---

१ यस्मिन् मुख्ये ब्रह्मणि। २ आदित्याद्यमुख्य ब्रह्म। ३ ईदृग्यत्। ४ मद्द्विजेताऽसौ कथ मामुपदिशेत्सर्वमित्यविश्वासपरिजिहीर्षू राजा। ५ आजग्मतुरिति—'गार्ग्योक्तब्रह्माभोक्तृत्व तथाऽमीषामनात्मताम्। बालाकर्बोधयिष्यामीत्यत सुप्तमगा नृप ॥वा ६७॥ ६ उक्तार्थानि विशेषणानि। ७ पुन पुनश्चालयित्वा। ८ वक्ष्यमाणे मुख्ये ब्रह्मणि। ९ अनात्मत्वम्।

---

*पाणिनेत्यादि स होत्तस्थावित्यन्ता तथा च वार्तिकम्— पाणिनाऽऽपिष्य बहुश सुप्त काश्योऽप्यबोधयत्। आपेषोद्भूतसक्षोभस्ततोऽसौ प्रत्यबुध्यत ॥ कारणानामिद वृत्त यन्निमित्तान्तराश्रयात्। स्वात्मकार्यसमुद्भूतिरम्बरादभ्रभूतिवत् ॥ आपेषाल्लीनबुद्ध्यादिसमुत्पत्तौ परात्मन। घटाकाशवदुत्पत्तिर्नाञ्जसैव सदा दृशेरिति ॥ १७८–१८०॥ उत्थानकर्तृत्वादात्मन स्वात भ्यात्कतुस्तल्लक्षणत्वात्कि पेषणादिनेत्याशङ्क्याऽऽह—कारणानामिति। आकाशमभ्रोद्भूतिकारणमपि पुरोवाताद्यपेक्षते तथाऽऽत्मोत्थानकर्ताऽपि पेषणाद्यपेक्षिष्यते कारकान्तराप्रयोज्यस्य तत्प्रयोक्तु कर्तृत्वादित्यथ ॥ ननूत्थानमात्मन सुप्तेरुद्बोधस्तस्य स्वरूपत्वेनानुत्पत्तेर्न हेत्वपेक्षया-

प्रतिबोधितवान् । तेन स होतस्यो । तस्माद्यो गार्ग्येणाभिप्रेतो नासावस्मिञ्छरीरे कर्ता भोक्ता ब्रह्मेति ॥

कथं पुनरिदमवगम्यते सुप्तपुरुषगमनतत्संबोधनानुत्थानैर्गार्ग्याभिमतस्य ब्रह्मणोऽब्रह्मत्वं ज्ञापितमिति । जागरितकाले यो गार्ग्याभिप्रेतः पुरुषः कर्ता भोक्ता ब्रह्म संनिहितः करणेषु यथा तथाऽजातशत्र्वभिप्रेतोऽपि तत्स्वामी भृत्येष्विव राजा संनिहित एव । किं तु भृत्यस्वामिनोर्गार्ग्याजातशत्र्वभिप्रेतयोर्यद्विवेकावधारणकारणं तत्संकीर्णत्वाद् नवधा–

तो ह सुप्तमित्यादिसुप्तपुरुषगत्युक्तिमाक्षिपति—कथमिति । गार्ग्यकाश्याऽभिमतयोरुभयोरपि जागरिते करणेषु संनिधानाविशेषात्तत्रैव किमिति विवेको न दर्शित इत्यर्थः । जागरिते करणेषु द्वयोः संनिधानेऽपि सांकर्याद्दुष्करं विवेचनमिति परिहरति—जागरितेति । ब्रह्मशब्दादूर्ध्वं सशब्दमध्याहृत्य योजना । तर्हि स्वामिभृत्यन्यायेन तयोर्विवेकोऽपि सुकरः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—किं त्विति । किं

वेद्य है, उसका ज्ञान मैं तुम्हें कराऊँगा ही (हां, आचार्य की तरह उपदेश नहीं करूँगा) । उस (ब्राह्मण), गार्ग्य को लज्जित देखकर उसे विश्वास दिलाने के लिए वह राजा उसका हाथ पकड़कर खड़ा हुआ, तथा वे दोनों गार्ग्य और राजा अजातशत्रु राजभवन के भीतर कहीं सोए हुए पुरुष के पास "आजग्मु" यानी आये । उस सोये हुए पुरुष के पास जाकर राजा ने उसे 'हे वृहन् !–हे पाण्डरवास ! हे सोम राजन् !' इन नामार्थक विशेषणों से पुकारा । इस प्रकार बुलाये जाने पर भी वह सोया हुआ पुरुष न उठा, तब नहीं सुनने वाले उस पुरुष को हाथ से "आपेष" यानी पुन पुनः हिलाकर "बोधयाञ्चकार" यानी जगाया; उससे वह उठ बैठा । अत: जिस प्राणदेवता को गार्ग्य ब्रह्म मानता था, वह इस शरीर मे कर्ता भोक्ता ब्रह्म नही है ।

किन्तु फिर यह कैसे सिद्ध होता है कि सोए हुए पुरुष के पास जाने, उसे पुकारने और उसके

१. टीकाकृत्कार्थम् । २ नासाविति—गार्ग्याभिमतप्राणदेवतातिरिक्त एवात्माऽस्मिञ्छरीरे कर्ता भोक्ता न प्राण इति निश्चीयतेऽन्यथोच्छ्वासनिश्वासरूपेण व्याप्रियमाणस्य प्राणस्य वृहन्नित्यादि प्राणात्मचन्द्रादित्यादिनामभिः संबोधनाश्रवणमनुत्थानं च न स्यात् । आपेषणेन च संघातो भोक्ता नेति निर्णीतम् अन्यथा स्पर्शमात्रेणाप्युत्थानं स्यादिति भाव. । ३ ज्ञापित राजेति शेष । ४ प्राणात्मा । ५ आत्मनो । ६ भेदनिश्चयप्रयोजकम् । ७ अनिश्चितस्वरूपम् । ८ पुरुषम् । ९ किमिति—सुप्तपुरुषगमनमित्याक्षेप । १० साक्ष्यसाक्षिरूपयो. पुरुषयो । ११ किमिति न दर्शित इति—संनिहित हित्वा व्यवहितगमनस्युक्तत्वात् स्वापे सर्वव्यापारलोपे न तद्गतरनर्थकत्वात् जाग्रति सर्वस्याप्युपदिष्ट(उपदेष्टव्य)स्यार्थस्य विविच्य वक्तु शक्यत्वाच्चेति भाव । १२ क्षीरनीरवत् । १३ जाग्रति द्वयोऽसंनिहितत्वे ।

शङ्क्याऽऽह—आपेषादिति । स्वापे प्रतीच्यज्ञात लीनस्य बुद्ध्यादेर्जाग्रद्धेतुकर्मादिना परस्मादुत्पत्तौ बोधोदयो व्यवह्रियते घटोत्पत्तौ तदाकाशोत्पत्तिवन्न साक्षादेव तदुत्पत्तिरित्यत्र हेतुमाह—सदेति । "तस्मादप्रतिबोधेन प्राणोऽभोक्तेति गम्यताम् । पुंसस्तु प्रतिबोधेन भोक्तृतैवानमीयते ॥ अदाहकाना दग्धृत्व यथा दाहकसंगते । भोक्तृयोगतस्तद्वदभोक्तृत्व देवतात्मन" ॥१८१-१८२॥ पुरुषस्यैव भोक्तृत्व चेत्कथ प्राणदेवतायास्तत्प्रसिद्धिस्तत्राह—अदाहकानामिति ॥

रितविशेषम् । यद् द्रष्टृत्वमेव भोक्तृत्वं दृश्यत्वं यच्चाभोक्तृ दृश्यत्वमेव न तु द्रष्टृत्वं तच्चोभयमिह संकीर्णत्वाद्विविच्य दर्शयितुमशक्यमिति सुप्तपुरुषगमनम् ।

ननु सुप्तेऽपि पुरुषे विशिष्टैर्नामभिरामन्त्रितो भोक्तैव प्रतिपत्स्यते नाभोक्तेति

तद्विवेकावधारणकारण तदाह—यद्द्रष्टृत्वमिति । कथं तदनवधारितविशेषमिति तदाह—तच्चेति । इहेति जागरितोक्तिः ।

यद्यपि जागरित हित्वा सुप्ते पुरुषे विवेकार्थं "तयोरुपगतिस्तत्र" च भोक्तैव सबोधित स्वनाम-

न उठने से गार्ग्य द्वारा अभिमत ब्रह्म का अब्रह्मत्व राजा द्वारा सूचित किया गया है ? (इस शङ्का का समाधान देते हैं—) गार्ग्य से अभिप्रेत जो प्राणात्मा पुरुष है, जिस तरह जाग्रत् अवस्था मे वह कर्ता, भोक्ता ब्रह्म है और वह इन्द्रियों से सन्निहित है, उसी प्रकार अजातशत्रु से अभिप्रेत उसका स्वामी नौकरो मे राजा के समान सन्निहित ही है । किन्तु गार्ग्य के माने हुए भृत्यस्थानीय आत्मा और अजातशत्रु के अभिमत स्वामीस्थानीय आत्मा के भेदनिश्चय का जो प्रयोजक है, वह सकीर्ण होने के कारण अनिश्चितस्वरूप वाला है । चेतन मे साक्षित्व ही है, दृश्यत्व नही है । तथा जो (जड प्राण) अभोक्ता मे साक्षी ही है, द्रष्टा नही है, ऐसे (द्रष्टृत्व और दृश्यत्व) विवेक का जो कारण है, वे दोनो तादात्म्य होने से भिन्न-भिन्न करके नही दिखाये जा सकते । इसीसे सुप्तपुरुष के पास जाया गया ।

किन्तु सुप्तपुरुष को विशेषणयुक्त नामों से पुकारे जाने पर (राजा द्वारा अभिमत) चेतन ही समझेगा, (गार्ग्य द्वारा अभिमत) अचेतन नही समझगा । इसलिए तब भी निर्णय न हो सकेगा ।

१ साक्षित्वम् । २ चेतनस्य । ३ जडस्य प्राणस्य । ४ साक्ष्यत्वम् । ५ द्रष्टृत्व दृश्यत्व च । ६ उभयोस्तादात्म्यात् । ७ राजाभिमत । ८ गार्ग्याभिमत । ९ द्रष्टृत्वादि । १० उचितेति शेष । ११ सुप्ते ।

तच्चोभयमिह सकीर्णत्वाद्विविच्य दर्शयितुमशक्यमिति सुषुप्तपुरुषगमनमिति । ननु स्वापेऽपि साङ्कर्यसाम्यात् कुतो विवेकधीरित्याशङ्क्य समादधुर्वार्तिकाचार्या—"आत्मन प्रोषितत्वात्तु भोगोऽस्मै न प्रयुज्यते । उदासतेऽखिला सुप्त देवता करणै सह ॥ जाग्रद्भोगप्रयुक्तस्य कर्मण प्रक्षयात्तदा । शेरते करणान्यस्य सह भोक्त्राऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥ प्राण एवस्तु जार्गात भोक्ता यो गार्ग्यसमत । प्राणेन रक्षन्निति च तथोदर्के प्रवक्ष्यते ॥ प्राणाग्नय इति स्पष्ट तथाऽनस्तमिति श्रुत । अश्रान्त प्राण एवातो जागत्यत्र दिवानिशम् ॥ यथा जाग्रदवस्थाया भोक्ता प्राण पुराऽभवत । स्वप्नेऽप्येष तथैवाऽऽस्ते बोद्धा चेदबुध्यतामयम् ॥ प्राणस्येन्दोस्तथा चापा त्यक्षात्माविष्कृतो यत । ऐक्यमुक्तमत प्राणो बोध्यते चन्द्रनामभि ॥ बृहन्नित्येवमादीनि सन्तु चेहोपलक्षणम् । अनुक्तदेवतानाम्ना सामर्थ्यात्तद्ग्रहोऽथवा ॥ यदि भोक्ता भवेत्प्राणो जाग्रद्वच्छब्दमागतम् । अथोष्यत्स न चेद्बोद्धा नाश्रोष्यदुपलादिवदिति ॥१०५ ११२॥ आत्मन इति । भोक्तृकरणसहिताधिष्ठातृदेवतानां सुषुप्तावुपसहारादसाङ्कर्यात्तत्र विवेकसौकर्यमित्यर्थ ॥ सुषुप्तावुपसहारे हेतुमाह—जाग्रदिति । तदा सुषुप्तौ आत्मनि अज्ञाते परस्मिन्नित्यर्थ ॥ प्राणेन गार्ग्येष्टात्मनोऽपि तत्रोपसहारान्न भोगप्रसक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—प्राण इति । तत्र मानमाह—प्राणनेति । प्राणेन रक्षन्नवर कुलायमित्युत्तरत्र तस्य स्वापेऽनुपसहारो वक्ष्यत इत्यर्थ ॥ तत्र श्रुत्यन्तरमाह—प्राणेति । प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रतीति श्रुतिरिममेवाथमाहेत्यर्थ । 'न व्यथतेऽथो न रिष्यति' (बृ उ १ ५ २०) सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुरित्यादिवाक्यादपि स्वापे तस्य नोपसहृतिरित्याह—तथेति । उक्तमानफलमुपसहरति—अश्रान्त इति । स्वप्नेऽपीति अपिना स्वाप समुच्चीयते ॥ प्राणस्यासुप्तस्यैव अत्र देहे ॥ प्राणस्य सदा जागरे लब्धमर्थमाह—यथेति ।

नैव निर्णयः स्यादिति । न, निर्धारितविशेषत्वाद्गार्ग्याभिप्रेतस्य । यो हि सत्येन च्छन्नः प्राण आत्माऽमृतो वागादिष्वनस्तमितो निम्लोचत्सु यस्याऽपः शरीरं पाण्डरवासा यश्चासपत्नत्वाद् बृहन्यश्च सोमो राजा षोडशकलः स स्वव्यापारारूढो यथानिर्ज्ञात एवानस्तमितस्वभाव आस्ते । न चान्यस्य कस्यचिद्व्यापारस्तस्मिन्काले गार्ग्येणाभिप्रेयते तद्विरोधिनः । तस्मात्स्वनामभिरामन्त्रितेन प्रतिबोद्धव्यं न च प्रत्यबुध्यत । तस्मात्पा-

भिस्तच्छब्दं श्रोष्यति नाचेतनस्तथाऽपि नेष्टविवेकसिद्धिर्गार्ग्यकाश्याभीष्टात्मनोरित्यतिसंशयादिति शङ्कते—नन्विति । संशयं निराकरोति—नेत्यादिना । विशेषावधारणमेव विशदयति—यो हीत्यादिना । स्वव्यापारस्तुमुलशब्दादि. । यथानिर्ज्ञातो यथोक्तविशेषणैरुपलब्धरूपमनतिक्रम्य वर्तमान । प्राणस्योक्तविशेषणवत स्वापेऽवस्थानेऽपि तस्य तदा भोगाभावस्तत्र भोक्त्रन्तराभ्युपगमादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । तस्यैव भोक्तृत्वे फलितमाह—तस्मादिति । अस्तु तस्य प्राप्तशब्दश्रवणं तत्राऽऽह—न चेति । परिशेषसिद्धमर्थमाह—तस्मादिति ।

(उक्त शङ्का का समाधान करते हैं—) ऐसा कहना ठाक नहीं है । क्योंकि गार्ग्य से अभिमत ब्रह्म का विशिष्टरूप (अभोक्ता) निश्चित कर दिया गया है। गार्ग्याभिमत नामरूपादिरूप विराडात्मा स्थूलदेह से आच्छादित प्राणात्मा मोक्षपर्यन्त नाश न होने वाले वागादि के अस्त होने पर भी अस्त

१ निर्धारितविशेषत्वादिति—गार्ग्येष्टस्य प्राणस्य काश्यष्टात्मन सकाशाद्यो विशेष सदा व्यापृतत्व तस्य प्रबोधात् प्रागपि प्रमितत्वात् प्राणोत्थाने शब्दाश्रवणायोगात् पाणिपेषानुपपत्ते स न भोक्तेत्यर्थं । २ गार्ग्याभिमत प्राणात्मा । ३ नामरूपापरपर्यायेण विराडात्मकस्थूलदेहेन । ४ आमोक्षमनाशी । ५ अस्तमितपु । ६ नन्वनस्तमितत्व काश्येष्टेऽप्यात्मन्यक्षतमित्याशङ्क्य विशेषणान्तरमाह—यस्येति । ७ प्रतिपक्षाभावात् । ८ महान् । ९ षोडशकल इति—ताश्च कलाश्छान्दोग्यचतुर्थाध्याये सत्यकामविद्यायामुक्ता । तथाहि—'प्राचीदिक्कला । प्रतीची । दक्षिणा । उदीची । पृथिवीकला । अन्तरिक्षम् । द्यौ । समुद्र । अग्नि कला । सूर्य । चन्द्र । विद्युत् । प्राणकला । चक्षु । श्रोत्रम् । मन ।" इति ऋषभाद्युपदिष्टा ग्राह्या ॥ १० प्राणभिन्नस्य । ११ स्वापे । १२ प्राणविरोधिम इत्यर्थं । १३ प्राणस्यैव भोक्तृत्वादिमतत्वात् । १४ प्राणेन । १५ अश्रौषीत् शब्दमित्यर्थ । १६ पुस साक्षित्वमेव प्राणस्य साध्यत्वमेवेत्याकारकेष्टविवेक । १७ उत्क्रान्तमनो वा उत्थित इति संशय । १८ तुमुलत्व जागरापेक्षया सुप्तौ प्राणशब्दस्याधिक्याद्बोध्यम् । १९. विशिष्टम् । २० स्वापे । २१ स्वापे । २२ जागरे प्राण एव भोक्ता सुप्तौ चान्य इति गार्ग्याभिप्रायात् । २३ स्वनामाप्रतिबोधनात् ।

स्वापे संबोधनशब्दाश्रवणात्तभोक्तृत्वयुक्त प्राणचन्द्रमसोर्भेदात्तस्य चन्द्रनामभि संबोधनादप्रतिबोधो नाचेतनत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—प्राणस्येति । व्यष्टात्माविष्कृतौ अर्थतस्य प्राणस्याऽऽप शरीर ज्योतीरूपमसौ चन्द्र इत्यादावित्यर्थ ॥ अथापि कुतश्चन्द्रनामभिरेव संबोधन प्राणस्य सर्वात्मत्वादादित्यादिनामभिरपि तत्संभवादित्याशङ्क्याऽऽह—बृहन्निति । इह संबोधनवाक्ये । अतस्तैरपि संबोधितवानिति शेष । यद्वा संबोध्यमानप्राणस्य सूत्रैक्यात्तत्सामर्थ्यादनुक्तसूत्रावयवादित्यादिनाम्नां चन्द्रनामवद्ग्रहात्तैरपि संबोधितवानित्याह—सामर्थ्यादिति ॥ चन्द्रनामभि संबोधन प्रसाध्य तच्छब्दाश्रवणात्तदभोक्तृत्व यथा जाग्रदवस्थायामित्यत्रोक्तमुपसंहरति—यदीति । स चेन्नाश्रोष्यत्स भोक्ता स्यादिति योजना ॥

रिशेष्याद्गार्ग्याभिप्रेतस्याभोक्तृत्वं ब्रह्मणः।

[1]भोक्तृस्वभावश्चेद्भुञ्जीतैव स्व विषयं प्राप्तम्। न हि दग्धृस्वभावः प्रकाशयितृस्वभावः सन्वह्निस्तृणोलपादि दाह्यं [2]स्वविषयं प्राप्त न दहति, प्रकाश्यं वा न प्रकाशयति। न चेद्दहति प्रकाशयति वा प्राप्तं स्व विषयं नासौ वह्निर्दग्धा प्रकाशयिता वेति निश्चीयते। तथाऽसौ प्राप्तशब्दादिविषयोपलब्धृस्वभावश्चेद्गार्ग्याभिप्रेतः प्राणो बृहन्पाण्डरवास इत्येवमादिशब्दं स्व विषयमुपलभेत। यथा प्राप्तं तृणोलपादि वह्निर्दहेत्प्रकाशयेच्चाव्यभिचारेण तद्वत्। तस्मात्प्राप्तानां शब्दादीनामप्रतिबोधादभोक्तृस्वभाव इति निश्चीयते। न हि यस्य यः स्वभावो निश्चितः स तं व्यभिचरति कदाचिदपि। अतः सिद्धं प्राणस्याभोक्तृत्वम्।

प्राणस्याभोक्तृत्वं व्यतिरेकद्वारा साधयति—भोक्तृस्वभावश्चेदिति। न च 'भुङ्क्ते तस्मादभोक्तेति शेषः। [3]उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—न हीत्यादिना। उलपं बालतृणम्। [4]विपक्षे दोषमाह—न चेदिति। [5]उक्तमर्थं संक्षिप्याऽऽह—यथेत्यादिना। प्राणस्याभोक्तृत्वमुक्तमुपसंहरति—तस्मादिति। यद्यपि प्राण. स्वापे शब्दादीन्न प्रतिबुध्यते तथाऽपि भोक्तृस्वभावो भविष्यति। नेत्याह—न हीति। संबोधनशब्दाश्रवणमतःशब्दार्थः।

नही होता। जिसका जल शरीर है, इसलिये जो पाण्डरवास है तथा जो प्रतिपक्ष के अभाव होने के कारण महान् है और जो सोलह कलाओ वाला सोम राजा है, वह अपने व्यापार मे आरूढ हुआ, पहले जिन विशेषणो से विशिष्ट जाना गया है, उसी के अनुसार अनस्तस्वभाव वाला है। इसके अतिरिक्त प्राणविरोधी (प्राणभिन्न) किसी अन्य का व्यापार गार्ग्य को सुषुप्ति के समय अभीष्ट नही है। (प्राण के ही भोक्तृत्व इष्ट होने से) इसलिए अपने नामो से पुकारे जाने पर (प्राण के द्वारा) उसे जागना चाहिये किन्तु वह (शब्द सुनकर) जागा नही। इसलिए परिशेषत गार्ग्य से अभिमत ब्रह्म का अभोक्तृत्व (अचेतनत्व) ही सिद्ध होता है।

यदि वह भोक्तृस्वभाव वाला होता तो अपने को प्राप्त विषय का उपभोग करता। दाहक और प्रकाशकस्वभाव वाला अग्नि अपने मे आये हुए तृण और फूस आदि दाह्य पदार्थों को न जलाये, प्रकाशित होने वाली वस्तुओ को प्रकाशित नही करे, यह नही हो सकता। यदि वह अपने मे प्राप्त पदार्थों को जलाता या प्रकाशित नही करता तो वह अग्नि जलाने या प्रकाशित करने वाला है—ऐसा निश्चय नही किया जा सकता। इसी प्रकार यदि गार्ग्य द्वारा अभिमत प्राणात्मा अपने को प्राप्त हुए शब्दादिविषय को ग्रहण करने के स्वभाव वाला है तो अपने लिए प्रयुक्त 'बृहन्, पाण्डरवास' इत्यादि शब्दो को ग्रहण कर लेता। जिस प्रकार अपने को प्राप्त घास-फूस आदि को अग्नि, निश्चय ही दग्ध और प्रकाशित कर देता है, उसी तरह यहाँ भी अर्थ समझ लेना चाहिये। इसलिए अपने को प्राप्त हुए शब्दादि का ज्ञान न होने से यह निश्चय होता है कि प्राणो का भोक्तृस्वभाव नही है। क्योकि जिसका जो स्वभाव होता है, उसका वह कभी त्याग नही करता। इससे प्राण का अभोक्तृत्व

---

१ प्राण उपलब्धृस्वभावश्चेत्तर्हि 'बृहन् पाण्डरवास' इत्येवमादिशब्द स्वीय विषय प्राप्तमुपलभेतैवेत्यर्थ।

२ शृणोति। ३ प्राप्ते विषय शक्तस्य कार्यकरत्वरूपम्। ४ प्राप्त विषये शक्तस्यापि कार्याकरत्व।

५ अभोक्तृत्वम्।

सबोधनार्थनामविशेषेण सबन्धाग्रहणादप्रतिबोध इति चेत् । स्यादेतत् । यथा बहुष्वासीनेषु स्वनामविशेषेण संबन्धाग्रहणान्मामय सबोधयतीति शृण्वन्नपि सबोध्यमानो विशेषतो न प्रतिपद्यते, तथेमानि बृहन्नित्येवमादीनि मम नामानीत्यगृहीतसबन्धत्वात्प्राणो न [१]गृह्णाति सबोधनार्थं शब्दं न त्वविज्ञातृत्वादेवेति चेत् । न । देवताभ्युपगमेऽग्रहणानुपपत्तेः । [३]यस्य हि चन्द्राद्यभिमानिनी देवताऽध्यात्म प्राणो भोक्ताऽभ्युपगम्यते तस्य [४]तया सव्यवहाराय विशेषनाम्ना सबन्धोऽवश्य ग्रहीतव्योऽन्यथाऽऽह्वानादिविषये [५]सव्यवहारोऽनुपपन्न स्यात् ।

[७]व्यतिरिक्तपक्षेऽप्य[८]प्रतिपत्तेरयुक्तमिति चेत् । यस्य च प्राणव्यतिरिक्तो भोक्ता [९]तस्यापि बृहन्नित्यादिनामभि सबोधने बृहत्वादिनाम्ना सदा तद्विषयत्वाप्रतिपत्तिर्युक्ता ।

---

[१]तस्य स्वनामाग्रहण सबन्धाग्रहणकृत नानात्मत्वकृतमिति शङ्कते—सबोधनार्थेति । शङ्कामेव विशदयति—स्यादेतदित्यादिना । देवताया सबन्धाग्रहणमयुक्त सर्वज्ञत्वादित्युत्तरमाह—न देवतेति । [३]तदेव प्रपञ्चयति—यस्य हीत्यादिना । तयेति ग्रहणकर्तृनिर्देश । अग्रहयमिति सूचितामनुपपत्तिमाह—अन्यथेति । आदिपदेन यागस्तुतिनमस्कारादि गृह्यते । सव्यवहारो[६]ऽभिज्ञाभोगप्रसादादि ।

सबोधननामाग्रहस्तत्कृतानात्मत्वदोषश्च त्वदिष्टात्मनोऽपि तुल्य इति शङ्कते—व्यतिरिक्तेति । सप्तृतीन चोद्य विवृणोति—यस्य चेति । तदा सुषुप्तिदशाया प्रतिपत्तिर्युक्तेति सबन्ध । तद्विषयत्वादित्यतिरिक्तात्मविषयत्वादिति यावत् । अस्त्येवातिरिक्तस्याऽऽत्मन सबोधनशब्दश्रवणमिति चेन्नेत्याह—

(अचेतनत्व) ही सिद्ध होता है ।

(यहाँ शङ्का होती है कि) सम्बोधन के लिये प्रयुक्त नामविशेष से अपना सम्बन्ध ग्रहण न करने के कारण प्राण का अप्रतिबोध रहा हो तो ? यदि ऐसा कहो हो कि जिस प्रकार बैठे हुए बहुत से पुरुषो मे अपने नामविशेष से सम्बन्ध ग्रहण न करने कारण 'यह मुझे ही बुलाता है' ऐसा न समझ सकने से, पुकारे जाने पर सुनते हुए भी कोई पुरुष विशेषरूप से नहीं समझता, उसी प्रकार 'ये बृहन् आदि मेरे नाम हैं' ऐसा सम्बन्ध ग्रहण न करने के कारण प्राण अपने को सम्बोधन करने के लिये प्रयुक्त शब्दो को ग्रहण नहीं करता अविज्ञाता होने के कारण ही नहीं । (समाधान देते है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि देवता स्वीकृत किये जाने के कारण (इसके सर्वज्ञत्व होने से) उसका ग्रहण न करना सिद्ध नहीं होता । जिस वादी के मत मे चन्द्रमा आदि का अभिमानी देवता अध्यात्मप्राण भोक्ता स्वीकृत किया जाता है उसे उस देवता के सम्यक्व्यवहार के लिए उसे अपने विशेष नाम से अवश्य सम्बन्ध ग्रहण करना चाहिये । अन्यथा स्वनाम का शक्तिग्रह न होने पर आह्वानविषयक सव्यवहार असम्भव होने लगेगा ।

(पुन शङ्का होती है—) प्राणातिरिक्त आत्मपक्ष मे भी सम्बन्ध की प्रतिपत्ति से अभोक्तृत्व मे

---

१ सामान्येन । २ विशेषण । ३ वादिनो मते । ४ देवतया । ५ स्वनाम्नि शक्तिग्रहानुपगमे । ६ विषयक । ७ प्राणातिरिक्तात्मपक्षे । ८ सबोधनाप्रतिपत्तेरभोक्तृत्वे कारणत्व न युक्तमित्यर्थ । ९ तव मते । १० तवापि आत्मनो वा । ११ प्राणात्मन । १२ अग्रहणानुपपन्नत्वमेव । १३ बोध ।

न च कदाचिदपि बृहत्त्वादिशब्दैः संबोधितः प्रतिपद्यमानो दृश्यते । तस्मादकारणमभोक्तृत्वे संबोधनाप्रतिपत्तिरिति चेत् । न । तद्वतस्तावन्मात्राभिमानानुपपत्तेः । यस्य प्राणव्यतिरिक्तो भोक्ता स प्राणादिकरणवान्प्राणी तस्य न प्राणदेवतामात्रेऽभिमानो यथा हस्ते । तस्मात्प्राणनामसंबोधने कृत्स्नभिमानिनो युक्तैवाप्रतिपत्तिः । न तु प्राणस्यासाधारणनामसंयोगे ।

देवतात्मत्वानभिमानाच्चाऽऽत्मनः । स्वनामप्रयोगेऽप्यप्रतिपत्तिदर्शनादयुक्तमिति

न च कदाचिदिति । स्वदिष्टात्मनः संबोधनशब्दाप्रतिपत्तावपि भोक्तृत्वाङ्गीकारस्तच्छब्दार्थः । अभोक्तृत्वे प्राणस्येति शेषः । यथा हस्तः पादोऽङ्गुलिरित्यादिनामोक्तौ मंत्री नोत्तिष्ठति सर्वदेहाभिमानित्वेन तन्मात्रानभिमानित्वादेवं काश्येष्टात्मनः सर्वकार्यकरणाभिमानित्वादङ्गुलिस्थानीयप्राणमात्रे तदभावात्तन्नामाग्रहणं न त्वचेतनत्वादिति परिहरति—न तद्वत इति । तदेव स्फुटयति—यस्येति । प्राणमात्र प्राणादिकरणवतोऽभिमानाभावे फलितमाह—तस्मादिति । चन्द्रस्यापि प्राणैकदेशत्वात्तन्नामभिः संबोधने कृत्स्नाभिमानी स नोत्तिष्ठति । अत्राप्यङ्गुल्यादिदृष्टान्तापेपत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति । गोत्वव तस्य सर्ववस्तुषु समाप्तेरहमिति सर्वत्राभिमानसंभवाच्चचन्द्रनामोक्तावपि नाप्रतिपत्तिर्युक्तेत्यर्थः ।

प्राणवच्चिदात्मनोऽपि पूर्णतया सर्वात्माभिमानसिद्धेर्बोधाबोधौ तुल्यावित्याशङ्क्याऽऽह—देवतेति । विशिष्टस्याऽऽत्मनो देवतायामात्मत्वाभिमानाभावादितरस्य च कूटस्थज्ञप्तिमात्रत्वेन तवयो-

---

कारण होना उपयुक्त नही है। तुम्हारे मत मे भी भोक्ता प्राण से अतिरिक्त है, आत्मा को भी जब बृहन् बृहन् इत्यादि नामो से पुकारा जाय तो उस उसका ज्ञान होना चाहिये क्योंकि उस समय 'बृहन्' आदि शब्दो से बुलाये जाने पर कभी भी बोध होते हुए नही दिखाई देता। इसलिए सम्बोधन को न जान पाना, यह अभोक्तृत्व मे कारण नही हो सकता। (सिद्धान्ती समाधान करता है—) ऐसा कहना ठीक नही है क्योंकि कार्यकरणसघातवान् प्राणातिरिक्त आत्मा को प्राणमात्र का अभिमान होना सभव नही है। हमारे मत मे भोक्ता प्राण से भिन्न है। वह प्राणादि इन्द्रियो वाला प्राणी है। उस आत्मा को (अथवा मुझे) प्राणदेवतामात्र मे (आत्मा का) अभिमान नही हो सकता। जिस प्रकार हाथ वाले को हस्त मे अभिमान नही हो होता। इसलिये (सघातवान का केवल एक देशमात्र मे अभिमान होने से) समग्र शरीर के अभिमानी को प्राण नाम लेकर पुकारे जाने पर उसमे श्रवण न हो पाना उचित ही है, किन्तु प्राण का उसके किसी असाधारण नाम से सयाग होने पर श्रवण न हो पाना

---

१. कार्यकरणसघातवत प्राणातिरिक्तात्मन प्राणमात्राभिमानित्वानुपपत्ते । २ मम मते । ३ आत्मन ममेति वा । ४ सघातवत एकदेशमात्रनभिमानित्वात् । ५ अश्रवणम् । ६. अप्रतिपत्तिर्युक्तेत्यन्वय । ७ प्राणदेवताया नात्मत्वाभिमान । ८ आत्मनः चित । ९ अभिमानाभावात । १० सग्रहवाक्यमेव । ११ चन्द्रनामभि । १२. प्राण. । १३ प्राणेऽपि । १४ प्राणस्य । १५ प्रत्येकम् । १६ व्याप्ते । १७ सघाताभिमानिन । १८ प्राणे । १९. स एवात्मा मुख्यो नान्योऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—इतरस्य सघातसाक्षिण । जलस्थादित्यान्मुख्यादित्यवत् चैतन्याभासात् कूटस्थबोधोऽन्योऽस्तीति भाव । २० कुत्राप्यभिमानासभवात् ।

चेत् । सुपुप्तस्य यल्लौकिकं देवदत्तादि नाम तेनापि संबोध्यमानः कदाचिन्न प्रतिपद्यते सुपुप्तस्तथा भोक्ताऽपि सन्प्राणो न प्रतिपद्यत इति चेत्, न । आत्मप्राणयोः सुप्तासुप्तत्वविशेषोपपत्तेः । सुपुप्तत्वात्प्राणग्रस्ततयोपरतकरण आत्मा स्वनाम प्रयुज्यमानमपि न प्रतिपद्यते । न तु तदसुप्तस्य प्राणस्य भोक्तृत्व उपरतकरणत्वं संबोधनाग्रहणं वा युक्तम् ।

अप्रसिद्धनामभिः संबोधनमयुक्तमिति चेत् । सन्ति हि प्राणविषयाणि प्रसिद्धानि प्राणादिनामानि । तान्यपोह्याप्रसिद्धैर्बृहत्त्वादिनामभिः संबोधनमयुक्तं लौकिकन्याया-

गाम्न तुल्यतेत्यर्थः । प्रकारान्तरेण प्राणस्याभोक्तृत्वं वारयन्नाशङ्कते—स्वनामेति । अयुक्तं प्राणेतरस्य भोक्तृत्वमिति शेषः । तदेव विवृणोति—सुपुप्तस्येति । विशेषं दर्शयन्नुत्तरमाह—नाऽऽत्मेति । काश्याभोक्तुरात्मनः सुप्तत्वविशेषप्रयुक्तं फलमाह—सुपुप्तत्वादिति । प्राणस्यापि संहृतकरणत्वात्स्वनामाग्रहणमित्याशङ्क्य तस्यासुप्तत्वकृतं कार्यं कथयति—न त्विति । न हि करणस्वामिनि व्याप्रियमाणे करणोपरमः संभवति तस्य चानुपरतकरणस्य स्वनामाग्रहणमयुक्तमित्यर्थः ।

प्राणनामत्वेनाप्रसिद्धनामभिः संबोधनात्तदनुत्थानं नानात्मत्वादिति शङ्कते—अप्रसिद्धेति । तदेव स्पष्टयति—सन्ति हीति । प्रसिद्धमनूद्याप्रसिद्धं विधेयमिति लौकिको न्यायः । अप्रसिद्धसंज्ञाभिः

ठीक नही है ।

क्योकि आत्मा अथवा चित को प्राणदेवता मे आत्माभिमान नही होता । (यहाँ शङ्का होती है—) अपने नाम का प्रयोग करने पर भी देखा जाता है कि बोध नही होता । इसलिए उपरोक्त कथन ठीक नही । सुपुप्त पुरुष का लोकव्यवहार मे देवदत्तादि नाम होता है, उसके द्वारा बुलाये जाने पर भी कभी कभी सोया हुआ पुरुष नही सुनता है । इसी प्रकार भोक्ता होते हुए भी प्राण को उसका बोध नही होता । (समाधान देते हैं—) तो ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि आत्मा और प्राण मे सुप्त और असुप्त का भेद सभव है । सुप्त पुरुष का इन्द्रियसमुदाय प्राण मे विलीन होने के कारण उपरत हो जाता है । इसलिये उसे अपने नाम के प्रयुक्त किये जाने पर भी श्रवण नही होता । किन्तु असुप्त प्राण मे भोक्तृत्व मानने पर उनमे उपरतकरणत्व और सम्बोधन के न सुनने की सिद्धि नही हो सकती ।

(पुन शङ्का होती है—) किन्तु अप्रसिद्ध नामो से सम्बोधन करना तो ठीक नही है । प्राणविषयक प्रसिद्ध नाम तो प्राणादि हैं, उन्हे त्याग कर अप्रसिद्ध बृहन् आदि नामो से सम्बोधन करना उचित नही है क्योकि इससे लौकिक मार्ग का भी त्याग होता है, इसलिये भोक्ता होने पर भी प्राण को उसकी जानकारी न हुई । ऐसी शङ्का करना ठीक नही है क्योकि वह सम्बोधन देवता का निषेध करने के

१ प्रतिपद्यते—शृणोति । अथापि भोक्ता यथेति शेष । २ करणग्रामस्य प्राणविलीनतया । ३ गार्ग्य । ४ सगृहीतचोद्यम् । ५ आत्मप्राणयो । ६ नत्वभोक्तृत्वादिति भाव । ७ फलम् । ८ सभवतीति । 'नामात्या शेरेते यस्माद्ग्राणि स्वामिनि जाग्रतीति' वार्तिके ॥१३०॥ प्राणस्य प्राधान्यञ्च तत्रैवोक्तम्—"श्रोत्रादेर्गुणभूतत्वात्प्रधान प्रति सर्वदा । तस्मिञ्जाग्रति जागर्ति सुप्ते स्वपिति तद्वशात् ॥ नेन्द्रियाणा भवेत्स्वापो यदि प्राणप्रधानतेति" ॥१२९—१३०॥ गुणस्य प्रधानानुवर्तित्वादिति भाव । ९ प्राणस्य । १० प्राणवाचकत्वेन । ११ बृहन्नित्यादिशब्दै । १२ प्राणेति यावत् । १३. सगृहीतचोद्यम् । १४ प्राणस्येद नामेत्येवम् ।

'पोहात्। तस्माद्भोक्तुरेव सतः प्राणस्याप्रतिपत्तिरिति चेन्न। देवताप्रत्याख्यानार्थत्वात्। 'केवलसंबोधनमात्राप्रतिपत्त्यैवासुप्तस्याऽऽध्यात्मिकस्य प्राणस्याभोक्तृत्वे सिद्धे यच्चन्द्रदेवताविषयैर्नामभिः सबोधन तच्चन्द्रदेवता प्राणोऽस्मिञ्छरीरे भोक्तेति गार्ग्यस्य 'विशेषप्रतिपत्तिनिराकरणार्थम्। न हि 'तल्लौकिकनाम्ना सबोधने शक्य कर्तुम्।

'प्राणप्रत्याख्यानेनैव 'प्राणग्रस्तत्वात्करणान्तराणां' प्रवृत्त्यनुपपत्तेर्भोक्तृत्वाशङ्कानुपपत्तिः। 'देवतान्तराभावाच्च। नन्वतिष्ठा इत्याद्यात्मन्वीत्यन्तेन ग्रन्थेन गुणवद्देवताभेदस्य 'दर्शितत्वादिति चेन्न। "तस्य प्राण एवैकत्वाभ्युपगमात्सर्वश्रुतिष्वरनाभिनिदर्शनेन।

संबोधनस्यायुक्तत्वे फलितमाह—तस्मादिति। चन्द्रदेवताऽस्मि देहे कर्त्री भोक्त्री चाऽऽत्मेति गार्ग्याभिप्रायनिषेधे देवतानामग्रहस्य तात्पर्यात्तद्ग्रहोऽर्थवानिति परिहरति—न देवतेति। "तदेव प्रपञ्चयति—केवलेति। प्राणादिनामभि. संबोधनेऽपि "तन्निराकरण कर्तुं शक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। लौकिकनाम्नो देवताविषयत्वाभावादित्यर्थः।

प्राणस्याभोक्तृत्वेऽपीन्द्रियाणां भोक्तृत्वमिति केचित्तान्प्रत्याह—प्राणेति। प्राणकरणचन्द्रदेवतानामभोक्तृत्वेऽपि देवतान्तरमत्र" भोक्तृ स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—देवान्तराभावाच्चेति। भोक्तृत्वाशङ्कानुपपत्तिरिति पूर्वेण संबन्धः। "तत्रोपक्रमविरोधं शङ्कते—नन्विति। दर्शितत्वाद्देवतान्तराभावो नास्तीति शेषः। स्वतन्त्रो देवताभेदो नास्तीति समाधत्ते—न तस्येति। प्राणे देवताभेदस्यैक्ये युक्तिमाह

लिए था। केवल सम्बोधनमात्र की अप्रतिपत्ति के द्वारा ही असुप्त आध्यात्मिक प्राण का अभोक्तृत्व सिद्ध होने पर जो उसे चन्द्रमादेवताविषयक नामो से सम्बोधन किया है। वह गार्ग्य के उस विलक्षण अभिप्राय को खण्डन करने के लिए है कि इस शरीर मे चन्द्रमा देवता ही भोक्ता प्राण है। यह खण्डन प्राण इत्यादि लोकप्रसिद्ध नाम से सम्बोधन करने पर सभव नही है।

प्राण के निषेध से अन्य इन्द्रियो के भोक्तृत्व को आशङ्का नही हो सकती क्योकि सुषुप्त अवस्था मे प्राण के अधीन रहने के कारण उसकी (स्वतन्त्र) प्रवृत्ति सभव नही है। प्राण के अतिरिक्त और कोई देवता भी (इस शरीर मे) नही है। (देह मे देवतान्तर स्वीकार न करने पर उपक्रम-विरोध होता है) इस पर शङ्का करते हैं। किन्तु "अतिष्ठा सर्वेषा भूतानाम्" इति श्रुतिवाक्य से

---

१ त्यागात्। २ केवलेति—चन्द्रदेवतानाम व्यावृत्तप्राणादिनाम्ना यत्सबोधन यद्वाऽविवेचितप्रसिद्धाप्रसिद्धत्वनाम्ना यत्सबोधन तन्मात्रापरिज्ञानादेवेत्यर्थः। प्रतिपत्तिविषयचौरादिव्यावृत्त्यर्थं मात्रपदम्। प्रतिपत्तिभिन्नेच्छाकृत्यादिव्यावृत्तये च एवकार। ३ विलक्षणाभिप्रायेति यावत्। ४ प्राण इत्यादि लोकप्रसिद्धनाम्ना। ५ प्राणप्रत्याख्यानेनैवेति। तदुक्तम्—"दण्डापूपकनीत्यैव करणानामभोक्तृता" ॥वा १३५॥ इति। अपूपलग्ने दण्डे गृह्यमाणे बलादपूपोऽपि गृह्यते तया नीत्या प्राणस्याऽऽत्मत्वनिरासे तद्ग्रस्ताना करणानामप्यनात्मताऽर्थिकीत्यर्थः। ६ प्राणाधीनत्वात्। ७ स्वतन्त्रप्रवृत्तिरिति यावत्। ८ देवतान्तरेति—न च प्राणातिरिक्ता देवताऽन्योपपद्यते। प्राणे सर्वदेवतान्तर्भावस्याभिधानस्य मानत्वादिति भाव। ९ दर्शितत्वादिति। तदुक्त वार्तिके—'ननु तद्व्यतिरेकेण प्रागादित्यादिरीरित। देवताविषयो भेद' स कथ विनिवार्यते" ॥१३६॥ इति। १० देवताभेदस्य। ११ सगृहीतम्। १२ तत—चन्द्रदेवताया आत्मत्वादि। १३ देहे। १४ देहे देवतान्तरानभ्युपगमे।

सत्येन च्छन्नः 'प्राणो वा अमृतमिति च प्राणवाह्यस्यान्यस्यानभ्युदगमाच्चोक्तुः । 'एष उ ह्येवं सर्वे देवाः 'कतम एको देव इति प्राण इति 'च । सर्वदेवाना प्राण एवैकत्वोपपादनाच्च ।

तथा 'करणभेदेष्वनाशङ्का । 'देहभेदेष्विव स्मृतिज्ञानेच्छा'दिप्रतिसंधानानुपपत्तेः । न ह्यन्यदृष्टमन्यः स्मरति 'जानातीच्छति ''प्रतिसंदधाति वा । ''तस्मान्न करणभेदविषये भोक्तृत्वाशङ्का विज्ञान''मात्रविषया वा कदाचिदप्युपपद्यते ।

—अरनाभीति । न देवतान्तरस्य भोक्तृत्वं गार्ग्यस्य स्वपक्षविरोधादिति शेष । सर्वश्रुतिष्वित्युक्ताः सक्षेपतो दर्शयति—एष इति । ''कति देवा याज्ञवल्क्येत्यादिना सक्षेपविस्तराभ्यां सर्वेषा देवानां प्राणात्मन्येवैकत्वमुपपाद्यते । ''अतो न देवताभेदोऽस्तीत्याह—सर्वदेवानामिति । प्राणात्पृथग्भूतस्य देवस्या''ऽऽत्मातिरेके ''सत्यसत्त्वा''पत्तेश्च प्राणान्तर्भाव सर्वदेवताभेदस्येति वक्तु चशब्द ।

''करणानामभोक्तृत्वे हेत्वन्तरमाह—तथेति । देवताभेदेष्विवेति यावत् । अनाशङ्का भोक्तृत्वस्येति शेष । ''तत्रोदाहरणा'न्तरमाह—देहभेदेष्विवेति । ''न हि हस्तादिषु प्रत्येकं भोक्तृत्व शङ्क्यते । तथा श्रोत्रनेत्रादिष्वपि न भोक्तृत्वाशङ्का युक्ता । ''तेषु स्मृतिरूपज्ञानस्येच्छाया योऽह रूपमद्राक्ष—स शब्द शृणोमीत्यादिप्रतिसंधानस्य चायोगादित्यर्थं । अनुपपत्तिमेव स्फुटयति—''न हीति । 'क्षणिकविज्ञानस्य ''निराश्रयस्य भोक्तृत्वाशङ्काऽपि प्रतिसधानासभवादेव प्रत्युक्तेत्याह—विज्ञानेति ।

प्रारम्भ कर "आत्मन्वी ह भवति" इत्यादि ग्रन्थपर्यन्त विशेष विशेष गुणो से युक्त देवता का भेद प्रदर्शित किये जाने के कारण उपरोक्त कथन ठीक नही । (सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नही क्योकि सभी श्रुतिवाक्यो मे अर और नाभि के दृष्टान्त द्वारा उस देवताभेद का प्राण मे ही एकत्व स्वीकृत किया गया है । "(नामरूपात्मक विराटस्थूलदेह) सत्य से आच्छादित है,(सूत्रात्मा) प्राण ही अमृत है" इत्यादि श्रुतिवाक्यो से प्राण के अतिरिक्त कोई अन्य भोक्ता स्वीकृत नही किया गया, तथा "यही समस्त देवता है ', ' वह एक देव कौन है ? प्राण है ' इस श्रुतिवाक्य से भी (अग्नि की अपेक्षा वायु की प्रधानता होने से) प्राण मे ही समस्त दवताओ के एकत्व का सम्पादन किया गया है ।

---

१ नामरूपात्मकविराट्स्थूलदेहन । २ सूत्रम् । ३ बृ०उ० १४६ । ४ बृ०उ० ३९९ । ५ अग्न्याद्यपेक्षया वायो प्राधान्य सवर्गविद्याया प्रसिद्ध तथा च तदात्मक (वाय्वात्म) प्राणातिरेकेण नास्ति देवतेति चशब्दार्थ । ६ करणविशेषषु । ७ देहावयवेषु हस्तादिष्विव । ८ आदिना कृति । ९ अनुव्यवस्यति । १० प्रतिसदधातीति—न ह्यन्यदृष्टेऽन्यस्तत्सपादनाय यतत इत्यपि द्रष्टव्यम् । ११ प्रतिसधानाद्यसभवात् । १२ मात्रशब्दाऽधिष्ठान व्यावर्तयति । १३ बृ०उ० ३९१ । १४ प्राणाऽभेदोपपादनात् । १५ आत्मातिरेक इति—आत्मत्वे स्वसमत्पक्षसिद्धिरिति भाव । १६ असत्त्वापत्तेरिति साधकमानाभावादिति भाव । १७ अनात्मत्वादिति भाव । १८ सिंहावलोकनन्यायेन । १९ करणानामभोक्तृत्वे । २० देवतोदाहरणादन्यत् । २१ करणाना प्रत्यक भोक्तृत्व तत्समुदायस्य वेति विकल्प्याऽऽद्य दूषयति—न हीत्यादिना । २२ करणेषु । २३ न हीति—प्रतीकानन्तरम् न द्वितीय । यथा समुदाय समुदायिभ्यो भेदाभेदाभ्यामयुक्त (अनिर्वाच्य) तथा चेतनाद्भिन्नस्य करणग्रामस्य घटादिवज्जडत्वाग्रभोक्तृत्व चिदन्यस्य च भोज्यत्वान्न भोक्तृत्वमुभयपक्षनिरासे साधारणी युक्तिद्रष्टव्येति शेषो द्रष्टव्य । २४ निरधिष्ठानस्य ।

नतु संघात एवास्तु भोक्ता किं व्यतिरिक्तकल्पनयेति । न, ॐ आपेषणे विशेषदर्शनात् । यदि हि प्राणशरीरसंघातमात्रो भोक्ता स्यात्संघातमात्राविशेषात्तदाऽपिष्टस्या-

---

प्राणादीनामनात्मत्वमुक्त्वा स्थूलदेहस्य तद्वत्तु पूर्वपक्षयति—नन्विति । सघातो 'भूतचतुष्टयसमाहार. स्थूलो देह इति यावत् । गौरोऽहं पश्यामीत्यादिप्रत्यक्षेण 'तस्याऽऽत्मत्वदृष्टेरिति भावः । प्रमाणाभावादतिरिक्तकल्पना न युक्तेत्याह—किं व्यतिरिक्तेति । सघातस्याऽऽत्मत्वं दूषयति—नाऽऽपेषण इति । 'विशेषदर्शनं व्यतिरेकद्वारा विशदयति—यदि हीति । प्राणेन सहितं स्थूलं शरीरमेव सघातस्त-

---

इसके अतिरिक्त (सिंहावलोकन न्याय से) करणविशेष मे भी भोक्तृत्व की आशङ्का नहीं हो सकती क्योकि देहावयव हस्तादि के समान उनमें स्मृतिज्ञान, एव इच्छा (कृति) आदि का प्रतिसन्धान होना सभव नही है । अन्यथा पुरुष के देखे हुए पदार्थ के विषय मे कोई दूसरा पुरुष स्मरण, बोध, इच्छा अथवा प्रतिसधान नही करता । इसलिए (प्रतिसधानादि सभव न होने से) करणविशेष के विषय मे अथवा विज्ञानमात्र के विषय मे भोक्तृत्व की आशङ्का होनी कभी भी सभव नही है ।

(इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) अच्छा तो सघात को ही भोक्ता मान लिया जाय, उससे अतिरिक्त कल्पना करने की क्या आवश्यकता है ? (सिद्धान्ती उत्तर देता है—) ऐसा कहना ठीक है, क्योकि उसे हाथ से हिलाने पर विशेष अनुभव (जागरण) देखा जाता है । यदि प्राण और शरीर

---

१ देहात्मवादि(चार्वाक)मत आकाशस्यावरणाभावात्मत्वादाह—भूतचतुष्टयेति । २ रूपादौ तस्य ज्ञातृत्वदर्शनादिति पाठान्तरम् । ३ आपेषणप्रयुक्तेत्यादि ।

ॐ आपेषण विशेषदर्शनादित्यादि तथा शब्दादिषट्मात्रादिकृतश्चेत्यन्तभाष्यतात्पर्यसंग्राहकाणि वार्तिकानि
प्रदर्श्यन्ते । तथाहि— 'आपेषणे विशेषस्य दृष्टत्वाद्देहमहति । न भोक्त्री सुखदुःखादिफलानां स्यात् कदाचन ॥
यदि सघातमात्रस्य भोक्तृत्वमिह कल्प्यते । सघातस्याविशिष्टत्वान्नातिशीतिर्भवेत्सदा ॥ ईषत्तास्पृष्टमात्रस्य बला-
च्चाऽऽपेषणात्तथा । देहादिभिन्नजातीयो भोक्ता यस्य च वादिन ॥ धर्मादिहेतुसबन्धबहुत्वात्स्यात्समञ्जसम् ।
पेषणापेषणकृतवेदनाया भवद्भिदा ॥ सुखदुःखादिहेतूनामुत्तमाधममध्यत । तत्प्रबोधविशेषोऽयं युक्त एव भवेत्तदा ॥
१४८–१५२॥ इति । पेषण पाणिना देहस्यपच्चालनमापेषण तु तेन तस्य तीव्रचालन पेषणापेषणयो सतोरुत्थाने
विशेष । शीघ्रत्वविलम्बितत्वरूपोऽतिशयापरपर्याय । देहस्यानात्मत्वे हेत्वन्तरमाहाऽऽपेषण इति । स्थूलदेहाख्या
भूतचतुष्टयसहतिरिति यावत् ॥ आदिपद तदवान्तरभेदसंग्रहार्थम् । उक्त व्यतिरेकद्वारा व्यनक्ति—यदीति । इह
भोज्य । सघातस्य भोक्तृत्वे तस्य पेषणापेषणयोरविशेषान्नोत्थाने विशेष स्यान्न च तस्मिन्नपि ताभ्यां विशेषस्तद-
भावेऽपि प्रागुत्थाने हेत्वदृष्टेर्न च पेषणजन्यविशेषस्यैवोत्थापकत्व नियमेन प्रागुत्थानप्राप्तेरिति भाव ॥ सदा
सघातस्याविशिष्टत्व स्पष्टयति—ईषदिति । यथा मृदुस्पर्शस्पृष्टमात्रस्य सघातस्याविशेषस्तथा बलादापेषणेऽपि
तस्याविशेषात्प्रबोधे नातिशय स्यादित्यर्थ । स्वपक्षेऽपि कथ पेषणापेषणयोरुत्थाने विशेष इत्याशङ्क्याऽऽह—
देहादीति । आदिपद तदवान्तरभेदसंग्रहार्थकम् । धर्मादिहेतूनामात्मसबन्धस्य च बहुत्वात्तद्धेतुकमुत्थानादि मत्पक्षे
युक्तमित्यर्थ । उत्थानादे सामञ्जस्यमेव साधयति—पेषणेति ॥ यथोक्तवेदनाया समुत्थानहेतोर्विशेषे हेतुमाह—
सुखेति । सुख दुःख सबुद्धिरित्यादीना समुत्थानहेतूना हेतवो दृष्टादृष्टरूपा धर्मादयस्तत्तारतम्याद्वेदनाभिदेत्यर्थ ।
तद्भेदे फलितमाह—तत्प्रबोधेति । सघातातिरिक्तमात्मान तच्छब्दोऽधिकरोति—तदेति । प्रागुक्तरीत्या प्रबोध-
हेतुविशेषे सतीति यावत् ।

सिद्धम् ।

संहतत्वाच्च पारार्थ्योपपत्तिः प्राणस्य । गृहस्य स्तम्भादिवच्छरीरस्यान्तरुप[1]ष्टम्भकः प्राणः शरीरादिभिः [2]संहत इत्यवोचाम[3] । अरनेमिवच्च । [4]नाभिस्थानीय एतस्मिन्सर्वमिति च । [5]तस्मादगृहादिव[6]त्स्वावयवसमुदायजातीयव्यतिरिक्तार्थं संहन्यत इत्येवमवगच्छामः ।

[6]स्तम्भकुड्यतृणकाष्ठादिगृहावयवाना स्वात्मजन्मोपचयापचयविनाशनामाकृतिकार्य-

देहादेरनात्मत्वमुक्त्वा प्राणस्यानात्मत्वे [7]हेत्वन्तरमाह—संहतत्वाच्चेति । हेतु साधयति—गृहस्येति । यथा नेमिरराश्च मिथ संहन्यन्ते तथैव प्राणस्य संहतिरित्याह—अरनेमिवच्चेति । किं च प्राणे [8]नाभिस्थानीये [9]सर्वं समर्पितमिति [10]श्रूयते [11]तद्युक्त तस्य संहतत्वमित्याह—नाभीति । संहतत्व-फलमाह—तस्मादिति ।

प्राणस्य गृहादिव[12]त्पारार्थ्येऽपि [13]संहतशेषित्वमेषितव्य गृहादेस्तथा[14] दर्शनादित्याशङ्क्याऽऽह—, स्तम्भेति । [15]स्वात्मना स्तम्भादीनां जन्म चोपचयश्चापचयश्च विनाशश्च नाम चाऽऽकृतिश्च कार्यं चेत्येते धर्मास्तन्निरपेक्षतया लब्धा सत्ता स्फुरणं च येन स च तेषु [16]स्तम्भादिषु विषयेषु द्रष्टा च श्रोता च मन्ता च विज्ञाता च तदर्थत्व तेषा [17]तत्संघातस्य च दृष्ट्वा प्राणादीनामपि तथात्व भवितुमर्हतीति मन्यामहे

होते हुए के समान देह से मानो कहीं से आकर उसे सुप्तादि अवस्था से विलक्षण बोध, चेष्टा एव आकृति विशेषादि से युक्त कर दिया । वह गार्ग्य के द्वारा उपदिष्ट ब्रह्मो से भिन्न है, ऐसा सिद्ध होता है ।

संहत होने के कारण भी प्राण की परार्थता सिद्ध हो जाती है । गृह के स्तम्भ आदि के समान शरीर के अन्दर वर्तमान होते हुए धारक प्राण शरीरादि से सम्मिलित है—ऐसे (द्वितीय अध्याय के उपक्रम में) हम पहले प्रतिपादित कर चुके है । तथा जिस प्रकार अरे और नेमि संहत है, उसी प्रकार देह और प्राण मिले हैं एव नाभिस्थानीय प्राण में सब इन्द्रियाँ समर्पित हैं (ऐसा छान्दोग्यश्रुति कहती है) इसलिए संहत होने के कारण वह गृहादि के समान अपने (स्तम्भादि) अवयव-समुदाय की जाति वाले पदार्थों से भिन्न आत्मा के लिए संहत हुआ है—ऐसा हम समझते हैं ।

गृह के स्तम्भ, दीवार, तृण एव काष्टादि अवयवों के जन्म, वृद्धि, क्षय, विनाश, नाम, आकृति

१ अन्तर्वर्तमान सन् धारक । २ सम्मिलित । ३ द्वितीयाध्यायोपक्रमे । ४ संहतत्वात् । ५ स्वावयवेति—स्वस्य गृहादेरवयवस्स्तम्भादिस्तस्य समुदायोऽवयवी स्वयमेव गृहादिस्तत्सजातीयमन्यद्गृहादि-तद्व्यतिरिक्तस्यासंहतस्यार्थं भोग्य यथा गृहादि तथा प्राणोऽपि संहतत्वात्स्वासंहतस्य भोग्य इत्यर्थ । ६ स्तम्भेति । वार्तिके यथा— स्वात्मांशादिसजातीयविविक्तफलरूपवत् । संहतत्वात्तथा प्राणोऽसंहतात्मोपभोगकृत् ॥ १६० ॥ इति । स्वात्मनो गृहादेरंश स्तम्भादिरंशी स्वयमेव गृहादि एभ्यो विविक्तस्यासंहतस्य भोग्य गृहादि तथा प्राणोऽपि संहतत्वात्स्वासंहतस्य भोग्य इत्यर्थ । ७ सिंहावलोकनन्यायेन । ८ चक्रनाभिस्थानीये । ९ सर्वं समर्पितमिति श्रूयत इति—तथाहि 'प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पित' मित्यादि (छा उ ७ १५ १) । १० छां० उ० ७।१५ । ११ तस्मात् । १२ आत्मार्थत्वेऽपि । १३ संघात । १४ संहतस्तम्भादिशेषित्वदर्शनात् । १५ स्व गृह तदवयवतया तद्रूपाणाम् । १६ तद्धर्मेषु चेत्यपि बोध्यम् । १७ स्तम्भादिसंघातस्य गृहस्य ।

धर्मनिरपेक्षलब्धसत्तादितद्विषयद्रष्टृश्रोतृमन्तृविज्ञात्रर्थत्वं दृष्ट्वा मन्यामहे 'तत्संघातस्य च तथा 'प्राणाद्यवयवानां तत्संघातस्य च स्वात्मजन्मोपचयापचयविनाशनामाकृतिकार्यधर्मनिरपेक्षलब्धसत्तादितद्विषयद्रष्टृश्रोतृमन्तृविज्ञात्रर्थत्वं भवितुमर्हतीति।

'देवताचेतनावत्त्वे 'समत्वाद्गुणभावानुपगम इति चेत्। प्राणस्य विशिष्टैर्नामभिरामन्त्रणदर्शनाच्चेतनावत्त्वमभ्युपगतम्। चेतनावत्त्वे च पारार्थ्योपगमः समत्वादनुपपन्न इति चेन्न। 'निरुपाधिकस्य केवलस्य विजिज्ञापयिषितत्वात्।

'क्रियाकारकफलात्मकता ह्यात्मनो नामरूपोपाधिजनिताऽविद्याध्यारोपिता। 'तन्निमित्तो लोकस्य क्रियाकारकफलाभिमानलक्षणः संसारः स निरुपाधिकात्मस्वरूपविद्यया

इति सबन्धः। प्राणादिः स्वातिरिक्तद्रष्टृशेषः संहतत्वाद्गृहादिवदित्यनुमानात्सत्ताया प्रतीतौ च प्राणादिविक्रियानपेक्षतया सिद्धो द्रष्टा निर्विकारो युक्तस्तस्य विकारवत्त्वे हेत्वभावादिति भावः।

प्राणदेवतापारार्थ्यानुमानं व्याप्त्यन्तरविरुद्धमिति शङ्कते—देवतेति। प्राणदेवतायाश्चेतनत्वमेव कथमभ्युपगतं तत्राऽऽह—प्राणस्येति। "तथाऽपि प्रकृतेऽनुमाने कथं व्याप्त्यन्तरविरोधस्तत्राऽऽह—चेतनावत्त्वे चेति। यो येन समः स तच्छेषो न भवति। यथा दीपो दीपान्तरेण तुल्यो न तच्छेष इति व्याप्तिविरोधः स्यादित्यर्थः। नायं विरोधः समाधातव्य. "शेषशेषिभावस्या"त्रा"प्रतिपाद्यत्वादिति परिहरति—न निरुपाधिकस्येति।

"तदेव स्फुटयति—क्रियेत्यादिना। उपनिषदारम्भो निरुपाधिकं स्वरूपं ज्ञापयितुमित्यत्र

और कार्यरूप से निरपेक्ष रहकर जिसने सत्ता उपलब्ध की है, वही इन विषयों (स्तम्भादि और उनके धर्मों) का द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता है। तथा संघातरूप घर के स्तम्भादि अवयवों की स्थिति को देखकर हम मानते हैं कि प्राणादिसंघात अवयवों का और उनके संघात को भी उसी के लिये होना चाहिये—जिसने इनके जन्म, वृद्धि, क्षय, विनाश, नाम, आकृति और कार्यरूप धर्म से निरपेक्ष रहकर सत्तादि उपलब्ध की हो और जो इन प्राणादि विषयों का द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता भी हो।

(पूर्वपक्षी शङ्का करता है--) प्राणदेवता के चेतन होने के कारण आत्मा के तुल्य होने के कारण उसका गौणत्व होना स्वीकृत नहीं किया जा सकता। प्राण का विशिष्ट नामों द्वारा आमन्त्रण देखे जाने से उसका चेतन होना स्वीकृत किया गया है। इसलिए चेतन होने के कारण आत्मा के तुल्य ही होने से उसको परार्थ मानना उचित नहीं है। (सिद्धान्ती उक्त शङ्का का समाधान करता है--) ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ केवल निरुपधिक अशेषविशेषशून्य आत्मा का ज्ञान कराना इष्ट है।

' आत्मा की क्रियाश्रयता, कारकरूपता, फलभोक्तृता तो नाम और रूप के निमित्तहोने के कारण

---

१ तेषां स्तम्भाद्यवयवानां संघातरूपगृहस्य। २ संघातावयवानां प्राणादीनामित्यर्थः। ३ प्राणदेवताया-श्चेतनत्वे। ४ आत्मतुल्यत्वात्। ५ शेषशेषित्वाद्यशेषविशेषशून्यस्येत्यर्थः। ६ क्रियाश्रयता कारकरूपता फलभोक्तृतेत्यर्थः। ७ निमित्तेति यावत्। ८ अविद्यापादानिता। ९ अविद्याप्रयुक्तः। १० प्राणदेवतायाश्चेतनत्वेऽपि। ११ गुणप्रधानभावस्य। १२ अत्र—अस्यामुपनिषदि। १३ तात्पर्याविषयत्वात्। १४. यथोक्तात्मनो विजिज्ञापयिषितत्वमेव।

निवर्तयितव्य इति तत्स्वरूपविजिज्ञापयिषयोपनिषदारम्भः । ब्रह्म ते ब्रवाणि नैतावता विदितं भवतीति चोपक्रम्यैतावदरे खल्वमृतत्वमिति चोपसंहारात् । न चातोऽन्यदन्तराले विवक्षितमुक्तं वाऽस्ति । तस्मादनवसरः समत्वाद्गुणभावानुपगम इति चोद्यस्य ।

विशेषवतो हि सोपाधिकस्य सव्यवहारार्थो गुणगुणिभावो न विपरीतस्य । निरुपाख्यो हि विजिज्ञापयिषित सर्वस्यामुपनिषदि । स एष नेति नेतीत्युपसंहारात् । तस्मादादित्यादिब्रह्मभ्य एतेभ्योऽविज्ञानमयेभ्यो विलक्षणोऽन्योऽस्ति विज्ञानमय इत्येतत्सिद्धम् ॥ १५ ॥

गमकमाह—ब्रह्मेति । "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं चेत्यादिदर्शनादस्यामुपनिषदि सोपाधिकमपि ब्रह्म विवक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । "द्वित्ववादस्य कल्पितविषयत्वान्नेति नेतीति" निर्विशेषवस्तुसमर्पणादतोऽन्यदन्तमिति' चोक्तेरत्र निरुपाधिकमेव ब्रह्म प्रतिपाद्यमिति भाव । शेषशेषिभावस्याप्रतिपाद्यत्वे फलितमाह—तस्मादिति ।

किमर्थं "तर्हि शेषशेषिभावस्तत्र" तत्रोक्तस्तत्राऽऽह—विशेषवतो हीति । सोपाधिकस्य शेषशेषिभावो विवक्षितस्तत्र च "स्वामिभृत्यन्यायेन विशेषसम्भवादसिद्ध समत्वमित्यर्थं । न विपरीतस्य निरुपाधिकस्य शेषशेषित्वमस्तीत्यत्र हेतुमाह—निरुपाख्यो हीति । शेषशेषित्वाद्यशेषविशेषशून्य इत्यर्थं । पाणिपेषवाक्यविचारार्थं" संक्षिप्योपसंहरति—आदित्यादीति ॥१५॥

अविद्या की उपादानिका है। उसके अविद्या से प्रयुक्त होने के कारण पुरुष को क्रिया, कारक एवं फलाभिमानरूप संसार की प्राप्ति हुई है। उसे अशेषविशेषशून्य आत्मस्वरूप के ज्ञान से निवृत्त करना है। इसलिये उसके स्वरूप का ज्ञान कराने की इच्छा से ही इस उपनिषत् का आरम्भ हुआ है। क्योंकि "मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँ" 'इतना मात्र जानने से ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता" इस प्रकार उपक्रम करके 'अरे ! निश्चय ही इतना मात्र अमृतत्व है' इस प्रकार उपसंहार किया गया है। बीच में भी इस निरुपाधिक स्वरूप से भिन्न कोई और तात्पर्य का विषय व्याख्याता द्वारा नहीं बतलाया गया। इसलिये (शेषशेषिभाव के प्रतिपाद्य न होने से) 'तुल्य होने के कारण इसका गौणत्वभाव स्वीकृत नहीं किया जा सकता'—ऐसा कहना नहीं बनता।

विशेषवान से सोपाधिक का ही कर्तृत्वादि व्यवहार के लिए शेषशेषिभाव होता है। इससे विपरीत (निरुपाधिक) का नहीं। और समस्त उपनिषदों में निरुपाधिक ब्रह्म का ज्ञान कराना इष्ट

१ अमृतत्वसाधन ज्ञानम् । २ बृ० उ० ४।५।१५ । ३ चतुर्थाध्याये । ४ निरुपाधिकस्वरूपात् । ५ मध्ये । ६ तात्पर्यविषयम् । ७ केनापि व्याख्यात्रा तात्पर्यविषयतया नोक्तमित्यर्थ । ८ अत्र शेषशेषिभावस्याप्रतिपाद्यत्वात् । ९ कर्तृत्वादिव्यवहारार्थ । १० गुणगुणिभाव । ११ निरुपाधिकस्य । १२ निरुपाधिक । १३ बृ० उ० ४।४।२२ । १४ प्रागुक्तश्रुतिस्मृतियुक्तिवशात् । १५ बुद्धिप्राय । १६ बृ० उ० २।३।१ । १७ सोपाधिकब्रह्मभ्यनस्य । १८ बृ० उ० २।३।६ । १९ बृ० उ० ३।५।२ । २० तात्पर्याविषयत्वे । २१ तदविवक्षितत्व । २२ प्रकटत्वे । २३ द्वयोश्चेतनत्वे तुल्येऽपि स्वामिभृत्ययोर्यथा न समत्व तथा प्राणदेवताऽऽत्मनो रित्यर्थ । २४ विचारसिद्धमर्थम् ।

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष[1] एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः [2]क्वैष तदाऽभूत्कुत[3] एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः ॥१६॥

(इस प्रकार देह से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन करके गार्ग्य से) उस अजातशत्रु ने कहा—हाथ से दबाकर जगाने से पूर्व जब यह विज्ञानमय पुरुष सोया हुआ था, उस समय वह कहाँ था और यह कहाँ से आया ? इस प्रश्न का उत्तर गार्ग्य न जान सका और न ही बतला सका ॥१६॥

स एवमजातशत्रु[4]र्व्यतिरिक्तात्मास्तित्वं प्रतिपाद्य गार्ग्यमुवाच । यथा यस्मिन्काल एष विज्ञानमयः पुरुष एतत्स्वप्नं सुप्तोऽभूत्प्राक्पाणिपेषप्रतिबोधात् । विज्ञानं विज्ञायतेऽनेनेत्यन्तःकरणं बुद्धिरुच्यते तन्मय[5]स्तत्प्रायो विज्ञानमयः । किं पुनस्तत्प्रायत्वम् । [6]तस्मिन्नु-

वृत्तमनूद्यानन्तरग्रन्थमवतार्य व्याचष्टे—स एवमित्यादिना । [7]एतत्स्वपनं यथा भवति तथेति यावत् । यत्रेत्युक्तं कालं विशिनष्टि—प्रागिति । तदा क्वाभूदिति सम्बन्धः । विज्ञानमय इत्यत्र विज्ञानं परं ब्रह्म तद्विकारो जीवस्तेन विकारार्थे मयडिति केचित्तान्निराकरोति—विज्ञानमिति । अन्तःकरणप्रायत्वमात्मनो न प्रकल्पते तस्यासङ्गस्य [8]तेनासम्बन्धादित्याक्षिपति—किं पुनरिति । असङ्गस्याप्या[9]विद्यं

है। क्योंकि 'वह यह कार्य नहीं है, कारणरूप नहीं है" ऐसा श्रुतिमन्त्रों द्वारा उसका उपसंहार किया गया है'। इसलिये (पूर्वोक्त श्रुति, स्मृति और युक्ति के कारण) यह सिद्ध हो जाता है कि इन अविज्ञानमय आदित्य आदि ब्रह्म से विज्ञानमय (बुद्धिप्राय) भिन्न और विलक्षण है ॥ १५ ॥

उस अजातशत्रु ने इस प्रकार (देह इन्द्रिय मन व बुद्धि से) व्यतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व प्रतिपादन करके गार्ग्य से कहा— 'यत्र' अर्थात् जिस समय यह विज्ञानमय पुरुष हाथ से हिलाने पर जागने से पूर्व सोया हुआ था जिससे विशेषरूप से जाना जाता है, उस अन्तःकरण या बुद्धि को

१ यद्ययमात्मा स्वापे स्थितोऽन्यत्राभूत् (स्वरूपात्) यदि वाऽजतो ततोऽन्यस्मादागतस्तदा क्रियाकारकफलव्यवहारो वास्तवः स्यात् । स्थितावागतौ च स्वयमेवावधिर्नान्यश्चेत्तदा आन्तोऽयं व्यवहारः स्यादेकत्र तदनुपपत्तेरित्यभिप्रायेण प्रश्नाविति द्रष्टव्यम् । क्रिया आगमनम् । कारकं तत्कर्ता । फलं जागरस्थित्यादि । अवधिशब्दोऽधिकरणापादानोभयपरो द्रष्टव्यः । २ कस्मिन् स्वाभाव्ये । ३ कीदृग्विधात्स्वरूपात् प्रच्युतः सन् । ४ व्यतिरिक्तेति — देहेन्द्रियमनोधीभ्यो विविच्याऽऽत्मानमेकलम् । भोक्तारं दर्शयित्वाथ राजा गार्ग्यमपृच्छत' ॥ वा० १८३ ॥ विवेकान्तरं वक्ष्यमाणप्रश्नस्यावकाशं दर्शयितुमथेत्युक्तम् । ५ तत्प्रचुरस्तत्प्रधान इति यावत् । प्राचुर्ये मयट् । ६ अन्तःकरणे बुद्धौ । ७ एतत्स्वपनमिति—विप्रकृष्टस्वपनव्यावृत्तये एतदिति विशेषणम् । एतत्प्रकृतस्वपनाभिन्नस्वपनविशिष्टो यथा भवति तथेत्यर्थः । ८ विकारत्ववदिति द्रष्टव्यम् । ९ अन्तःकरणेन । १० आविद्यमिति । वार्तिके यथा—'स्वाभासवदविद्योत्थबुद्ध्यादिव्याप्तिविभ्रमात् । तदात्मत्वाभिमानित्वाद्विज्ञानमयतात्मनः' ॥ १८७ ॥ इति । प्रत्यगाभासवती याऽविद्या तदुत्थबुद्ध्यादिव्याप्तिकृतं भ्रममेव व्याकरोति—तदात्मत्वेति । भ्रान्तिफलमाह—विज्ञानेति ॥

पलभ्यत्वं तेन चोपलभ्यत्वमुपलब्धृत्वं च। कथं पुनर्मयटोऽनेकार्थत्वे प्रायार्थतैवावगम्यते। 'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमय इत्येवमादौ प्रायार्थ एव प्रयोगदर्शनात्परविज्ञान-विकारत्वस्याप्रसिद्धत्वाद्य एष विज्ञानमय इति च प्रसिद्धवदनुवादादवयवोपमार्थयोश्चा-असंभवात्पारिशेष्यात्प्रायार्थतैव। 'तस्मात्सकल्पविकल्पाद्यात्मकमन्तःकरणं' 'तन्मय इत्येतत्।' 'पुरुषः पुरि शयनात्।

बुद्ध्यादिसंबन्धमुपेत्य परिहरति—तस्मिन्निति। 'तत्साक्षित्वाच्च तत्प्रायत्वमित्याह—उपलब्धृत्व चेति। 'नियामकाभाव शङ्कित्वा परिहरति—कथमित्यादिना। 'एकस्मिन्नेव वाक्ये पृथिवीमय इत्यादौ 'प्रायार्थत्वोपलम्भाद्विज्ञानमय इत्यत्रापि तदर्थत्वमेव मयटो निश्चितमित्युक्तमिदानीं जीवस्य परमात्मरूपविज्ञानविकारत्वस्य श्रुतिस्मृत्योरप्रसिद्धत्वाच्च प्रायार्थत्वमेवेत्याह—परेति। अप्रसिद्धमपि विज्ञानविकारत्व "श्रुतिवशादिष्यतामित्याशङ्क्याऽऽह—य एष इति। य एष विज्ञानमय इत्यत्र विज्ञानमयस्यैव इति "प्रसिद्धवदनुवादादप्रसिद्धविज्ञानविकारत्व "सर्वनामश्रुतिविरुद्धमित्यर्थः। जीवो ब्रह्मावयवस्तत्सदृशो वा तदर्थो मयडित्याशङ्क्याऽऽह—अवयवेति। ब्रह्मणो निरवयवत्वश्रुतेस्तस्यैव जीवरूपेण प्रवेशश्रवणाच्च प्रकृते वाक्ये मयटोऽवयवाद्यर्थायोगा"न्निर्विषयत्वासभवाच्च पारिशेष्यात्पूर्वोक्ता प्रायार्थतैव तस्य प्रत्येतव्येत्यर्थः। विज्ञानमयपदार्थमुपसहरति—तस्मादिति।

विज्ञान कहते हैं। जो बुद्धिमय या बुद्धिप्राय हो, वह विज्ञानमय है। किन्तु आत्मा की विज्ञानमयता क्या है? जो उस अन्तःकरण या बुद्धि मे प्राप्त किया जा सकता है तथा जो उपलब्धा है, उसे विज्ञानमय कहते हैं। किन्तु 'मयट' प्रत्यय के अनेक अर्थों मे प्रयुक्त होने पर यहाँ (प्रचुर या प्रधानरूप) प्राय अर्थ कैसे समझा जाता है? "वह यह आत्मा है—ब्रह्म विज्ञानमय है।" इत्यादि श्रुतिवाक्यो मे भी 'प्राय' अर्थ में ही इसका प्रयोग देखा जाने से परब्रह्मरूप विज्ञान का विकार अर्थ प्रसिद्ध न होने से "जो यह विज्ञानमय है" इत्यादि श्रुतिवाक्यो मे "यह" इस प्रकार विज्ञानमय का प्रसिद्धवत् अनुवाद करने से तथा (मयट् प्रत्यय का) अवयव और उपमारूप अर्थ सम्भव होने से परिशेषत इसका 'प्राय' अर्थ ही सिद्ध होता है। इसलिए संकल्प-विकल्पादिरूप अन्तःकरण विज्ञानप्रधान आत्मा है—यह

१ बृ० उ० ४।४।५। २ विज्ञानशब्दस्य करणव्युत्पन्नत्वात् मयटोऽर्थान्तरासभवाच्च। ३ विज्ञानम्। ४ तत्प्रधान इति यावत्। ५ पुरुष पुरि शयनादिति। वार्तिकाचार्यस्तु—'अनात्मनो यतोऽप्याप्त्वं ल्पितत्वादकल्पित। पूरय पुरुष प्रत्यक् पादीन् रक्षना यथा॥ व्युत्पत्तिरियमेवात्र तात्पर्यस्य समीक्षणात्। स वा इतिह्युपक्रम्य नैननेत्यादिनिर्णयात् ॥ १९२-१९३॥ इत्याहु। अत्र स वाऽयं पुरुष सर्वासु पूर्ष्वित्युपक्रम्य पुरुष नैनेन किचनानावृतमित्याद्युपसहारात्तत्पूर्णत्व निर्णीयत इति वाक्यशेषेणात्रापि तथा। सदिग्धस्य वाक्यशेषेण निर्णयो भवतीति हि शब्दार्थ। ६ बुद्ध्यादि। ७ मयट प्रायार्थकत्वे। ८ एकस्मिन्निति—'विज्ञानमय इत्युक्त्वा पृथिव्यादिमयोक्तित। षड्विकारनिषेधाच्च प्रायार्थत्व समञ्जसम्'' ॥ वा० १९१॥ न हि पृथिव्यादिविकारत्व प्रतीतोऽप्युपगतम्। तथाच समभिव्याहाराद्विज्ञानमयत्वमपि न विकारत्वमित्यर्थ। ९ प्रायार्थत्वोपलम्भादिति—न हि पृथिव्यादिविकारत्वमङ्गीकृत सभवति च तथाच समभिव्याहाराद्विज्ञानमय इत्यत्रापि प्रायार्थत्वमेव मयट इत्यर्थ॥ १० प्रकृतश्रुतीत्यर्थ। ११ प्रसिद्धस्यानुवादोऽयं सत्वपूर्वम्। १२ एष इति सर्वनामश्रुति। १३ निरर्थकत्वासभवात्।

क्वैष तदाऽभूदिति प्रश्नः 'स्वभावविजिज्ञापयिषया। प्राक्प्रतिबोधा'त्क्रियाकारकफलविपरीतस्वभाव आत्मेति 'कार्याभावेन दिदर्शयिषितम्'। न हि प्राक्प्रतिबोधात्कर्मादि'कार्यं सुखादि किंचन गृह्यते। तस्मादकर्मप्रयुक्त'त्वात्तथा'स्वाभाव्यमेवाऽऽत्मनोऽवगम्यते यस्मिन्स्वाभाव्येऽभूत्। यतश्च स्वाभाव्यात्प्रच्युतः संसारी 'स्वभावविलक्षण 'इत्येतद्विवक्षया पृच्छति गार्ग्यं "प्रतिभानरहितं "बुद्धिव्युत्पादनाय। क्वैष तदाऽभूत्कुत एतदागादित्येत"दुभयं गार्ग्येणैव प्रष्टव्यमासीत्तथाऽपि गार्ग्येण न पृष्टमिति' नोदास्तेऽजातशत्रुर्बोधयितव्य एवेति प्रवर्तते। ज्ञपयिष्याम्येवेति प्रतिज्ञातत्वात्"। एवमसौ "व्युत्पाद्यमानोऽपि गार्ग्यो यत्रैष

यत्रेत्यादि "व्याख्याय वाक्यशेषमवतार्य तात्पर्यमाह—क्वैष इति। स्वरूपज्ञापनार्थं प्रश्नप्रवृत्तिरित्येतत्प्रकटयति—प्रागिति। कार्याभावेनेत्युक्तं व्यनक्ति—न हीति। तस्मादित्यस्यार्थमाह—"अकर्मप्रयुक्तत्वादिति। किं तथास्वाभाव्यमिति तदाह—यस्मिन्निति। द्वितीयप्रश्नार्थं संक्षिपति—यतश्चेति। तथास्वाभाव्यमेवेति" सम्बन्धः। एतदित्यधिकरणमपादानं उच्यतेऽर्थे प्रश्नद्वयमुत्थापयति—एतदिति। च गृह्यते। किमिति तं प्रत्युभयं पृच्छ्यते स्वकीया प्रतिज्ञा निर्वोढुमित्यभिप्रेत्याऽऽह—बुद्धीति। ननु शिष्यत्वाद्गार्ग्येणैव प्रष्टव्यं स चेदज्ञत्वान्न पृच्छति तर्हि राज्ञस्तस्मिन्नौदासीन्यमेव युक्तं तत्राऽऽह—इत्येतदुभयमिति। तदु हेत्यादि व्याकरोति—एवमिति। एतदागमनं यथा भवति तथेति यावत्।

इसका भावाशय है। (शरीररूप) पुरी में शयन करने के कारण 'पुरुष' है।
'उस समय वह कहाँ था'? यह प्रश्न आत्मा का स्वाभाविकस्वरूप बोधन कराने की इच्छा से है। जागने से पूर्व आत्मा कूटस्थ अद्वैत चैतन्य स्वभाव वाला है। यहाँ उसे कर्मादि के कार्यसुखादि अभाव से दिखाना अभीष्ट है, क्योंकि उठने से पहले कर्मादि का कार्य (अज्ञानस्वरूप सुख का कार्य न होने से) सुखादि कुछ भी ग्रहण नहीं होता। अतः (स्वाभाविकस्वरूप से) अकर्म द्वारा प्रयुक्त आत्मा की क्रियाकारकफल-विपरीतस्वरूपता सिद्ध होती है। जिस स्वरूप में यह था और जिस स्वभाव से च्युत होकर यह संसारी और स्वाभाविकस्वरूप से विलक्षण है, यह बताने की इच्छा से उक्त उभयविषयकबोधहीन गार्ग्य से बुद्धि के आधान के लिए राजा अजातशत्रु पूछता है। उस समय यह कहाँ था और कहाँ से आया है? ये दोनों (अधिकरण और अपादान) प्रश्न गार्ग्य को ही पूछने चाहिये थे, परन्तु गार्ग्य ने इन्हें नहीं पूछा। इसमें अजातशत्रु ने उपेक्षा नहीं की कि इसे बताना ही है। ऐसा निर्णय करके वह (उपदेश करने में) प्रवृत्त हो गया, क्योंकि (इसे) "बोध कराऊँगा ही' ऐसी उसने प्रतिज्ञा

---

१ आत्मनः स्वाभाविकस्वरूपबोधनेच्छया। २ कूटस्थाद्वैतचैतन्यस्वरूपः। ३ कर्मादिकार्यसुखाद्यभावेन।
४ इत्यन्तं कर्मात्र। ५ अज्ञातस्वरूपसुखस्याकार्यत्वात्। ६ स्वाभाविकस्वरूपस्य। ७ क्रियाकारकफलविपरीतस्वरूपत्वमेव। ८ स्वाभाविकस्वरूपविलक्षणः। ९ इत्येतदिति—विज्ञानमयस्य स्वापे सर्वेशनाधिकरणं तस्य जागरे प्रत्यागतावपादानं च वक्तुमिच्छया तथा स्वाभाव्यमेव पृच्छतीत्यर्थः। १०. उक्तोभयविषयकबोधहीनम्। ११ उक्तोभयविषयकबुद्ध्याधानस्य १२ अधिकरणमपादानं च। १३ हेतोः। १४. न च सत्पुरुषैः प्रतिज्ञा हेया। १५ बोध्यमानः। १६ यत्रेत्यादिपुरुष इत्यन्तवाक्यस्थपदार्थान्प्रदर्श्येत्यर्थः।
१७ कर्मादिहेत्वप्रयोज्यत्वात् निर्निमित्तत्वादिति यावत्। १८ इति कर्मणः पृच्छतिक्रियया सबन्धः।

स[१] होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष[२] एतत्सुप्तोऽभूद्य एष[३] विज्ञानमयः पुरुष[४] स्तदेषां[५] प्राणानां विज्ञानेन विज्ञान-मादाय [६]य [७]एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि

उस अजातशत्रु ने कहा—यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जिस समय यह सोया हुआ था, उस समय अन्तःकरण उपाधि में अभिव्यक्ति आभासरूप विज्ञान के द्वारा इन वागादिप्राणों के विषय विज्ञान को ग्रहण कर, यह जो हृदय में आकाश है, उसमें सोता है। जिस समय यह विज्ञानों को ग्रहण कर लेता है अर्थात् शरीर और इन्द्रियों की अध्यक्षता छोड़ देता है। उस समय यह पुरुष 'स्वपिति'

आत्माऽभूत्प्रायप्रतिबोधाद्यतश्चैतदागमनमागात्तदुभयं न व्युत्पेदे वक्तुं वा प्रष्टुं वा गार्ग्यो ह न मेने न ज्ञातवान् ॥ १६ ॥

स होवाचाजातशत्रुर्विवक्षितार्थसमर्पणाय। यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाऽभूत्कुत एतदागादिति यदपृच्छाम [८]तच्छृणूच्यमानं यत्रैष एतत्सुप्तो-

---

'तत्र क्रियापदयोर्यथाक्रमं वक्तुं प्रष्टुं वेत्याभ्यां संबन्धः ॥१६॥

कूटस्थचिदेकरसोऽयमात्मा 'तत्र क्रियाकारकफलव्यवहारो वस्तुतो नास्तीति' विवक्षितोऽर्थ-स्तस्य प्रकटीकरणार्थं प्रस्तुतं प्रश्नद्वयमनुवदति—यत्रेति। उपाधिरन्तःकरणं तस्य स्वभावस्तदुपादान-मज्ञानं तेन जनितमन्तःकरणगतमभिव्यक्तं विशेषविज्ञानं चैतन्याभासलक्षणं तेन करणेनेत्यर्थः।

की थी। इस प्रकार बोधित किये जाने पर जहाँ यह आत्मा जागने से पहले था और जहाँ से यह आया है' इन दोनों बातों को गार्ग्य न समझ सका इन्हें कहने और पूछने का उसे ज्ञान न हुआ ॥ १६ ॥

उस अजातशत्रु ने विवक्षित अर्थ को प्रकट करने के लिए कहा। यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जिस समय यह सोया हुआ था, उस समय यह कहाँ था कहाँ से आया ?—इस प्रकार जो हमने पूछा था उसका उत्तर देते हैं—सुनो। जिस समय वह सुप्त था उस समय (अन्तःकरणस्वरूप) उपाधि के स्वभाव से जनित विज्ञान यानी अन्तःकरणस्थ अभिव्यक्ति-विशेषविज्ञान से (चैतन्याभास लक्षणरूप करण द्वारा) वागादि प्राणों के विज्ञान को अपने अपने विषयों में प्रकाशनसामर्थ्य को ग्रहण कर 'एषोऽन्तर्हृदये' अर्थात यह जो हृदय के मध्य में आकाश है, जो यह आकाशशब्द से अपना प्रत्यगात्मा

---

१ यत्र काले सुप्तोऽभूत् विशेषविज्ञानरहितोऽभूत् स्वनामामन्त्रणध्वनिमपि नाश्रौषीदिति यावत्। २ तत् तदा। ३ एषाम्—प्रत्यगात्मचिदाभासकरणानां मध्ये वागादिप्राणानां स्वविषयप्रकाशनसामर्थ्यं विज्ञानेन चैतन्याभासलक्षणेन आदाय गृहीत्वेति योजना। ४ य वेदान्तप्रसिद्धः। एष चिद्वदनुभवसिद्धः। ५ य एष इति—स्वप्रकाशतत्पदार्थो यच्छब्दार्थः स एव प्रत्यग्भूत एतच्छब्दार्थः। ६ एतदिति—विप्रकृष्टभूतभाव्यनुपस्थितागमनव्यावृत्तये प्रकृतोपस्थितसमीपतरवर्त्यागमनोपस्थापकमेतदिति विशेषणं तथाच प्रवृत्तागमनाभिन्नागमनं कृतवानित्यर्थः। ७ तच्छृणूच्यमानमिति— पृष्टेनापि न विज्ञातं भवता तदिदं मया। उच्यमानं यथा तत्त्वं सम्यक्त्वं श्रोतुमर्हसि ॥ वा २१३ ॥ इत्यर्थः। ८ व्याख्येयभाष्यं। ९ यथोक्तात्मनि। १० पूर्ववाक्यं।

यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतꣳ श्रोत्रं गृहीतं मनः ॥१७॥

नाम वाला कहा जाता है। उस समय प्राण गृहीत रहता है, वाक् निगृहीत रहता है, चक्षु निगृहीत रहता है, श्रोत्र निगृहीत रहता है और मन भी निगृहीत हो जाता है अर्थात् अन्तःकरण और इन्द्रियों के उपसहार हो जाने पर आत्मा अपने स्वरूप में स्थित रहता है ॥१७॥

ऽभूत्तत्तदा तस्मिन्काल एषां वागादीनां प्राणानां विज्ञानेनान्तःकरणगताभिव्यक्तिविशेषविज्ञानेनोपाधिस्वभावजनितेनाऽऽदाय विज्ञानं ❀वागादीनां स्वस्वविषयगतसामर्थ्यं

वागादीनां स्वस्वविषयगतं प्रतिनियतं प्रकाशनसामर्थ्यं विज्ञानमित्यर्थः। य एषोऽन्तरिति प्रतीकमादाय

हो कहा गया है; 'तस्मिन्' अर्थात् उस स्वाभाविक असांसारिक स्वात्मा आकाश में ही सोता है, (उक्त विशेषणों से रहित) केवल भूताकाश में नहीं सोता। इस का अन्य श्रुतियाँ भी समर्थन करती

❀वागादीनां स्वस्वविषयगतसामर्थ्यमिति। य एष विज्ञानमय पुरुषस्तदवा प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादायेत्यादिवाक्यस्य जीवश्चिदाभासेन करणैरिन्द्रियाणामर्थग्रहणसामर्थ्यं संहृत्याकाशेऽज्ञाते ब्रह्मणि शेत तिष्ठतीत्यर्थो भगवत्पादैरुक्त। वार्तिकाचार्यास्तूक्तवाक्यस्यार्थान्तरमप्याहुस्तथाहि— "शक्तय करणान्यत्र गृह्यन्ते कारणात्मना। परमात्मा ग्रहीताऽत्र स्वाभासाभिन्नविग्रह ॥ तथा संवर्गविद्यायां प्राणवाय्वात्मना श्रुति। वागग्न्याद्युपसंहार वक्ति नान्येन कारणात् ॥ नामाद्याशावसान च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। प्राणबन्धनवाक्याच्च सूक्तमेतद्यथोदितम् ॥ आविर्भूतस्वकार्यस्य ससग कारणात्मना। वागाद्यादानमत्र स्याद्बुद्बुदानां यथाऽम्भसा ॥ सहार्थे वा तृतीयेय विज्ञानेनेति या श्रुता। सह प्रमातृज्ञानेन वागादेरुपसंहृति ॥ यदि वाऽस्तु तृतीयेयमित्थंभूतार्थवाचिनी। प्रत्यग्ज्ञानस्वभावेन कार्यकारणसंहृति" ॥२२७–२३२॥ इति ॥ शक्त्योऽर्थग्रहशक्तिमन्ति समर्थानीति करणानि विज्ञानमिति द्वितीयान्तपदोक्तानि विज्ञानानि विज्ञानेनेतीत्थंभूतार्थकतृतीयान्तपदोक्ताज्ञातचैतन्यात्मना सुषुप्तावादानकर्माणि तत्र च स्वस्याऽऽभासो यस्मिन्नज्ञाने तत्रैक्याध्यासमुपगत स्वभासेन वा जीवेनाभिन्न परःकर्ता स चाऽऽकाशे शुद्धे स्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थ ॥ स्वापे सर्वस्य कार्यस्य कारणात्मनोपसंहारे श्रौतं लिङ्गमाह—तथेति। सुषुप्तौ कार्यलयानुसारेण संवर्गविद्याधिकारे वायुर्वाव संवर्ग इत्यारभ्य वायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इत्यन्तेनाग्न्यादीनां वाय्वात्मनोपसंहारमुक्त्वा प्राणो वाव संवर्ग इत्युपक्रम्य प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इत्यन्तेन च वागादीनां प्राणात्मनोपसंहारं वक्ति श्रुति। न च कार्यस्य कारणादन्यात्मनोपसंहारोऽस्तो वागादीनां प्राणात्मनोपसंहारं स्वापे वदन्ती श्रुतिस्तत्र कार्यस्य कारणात्मनोपसंहार विवक्षतीत्यर्थ ॥ भूमविद्याप्रकरणमपि यथोक्तार्थद्योतकमित्याह—नामादीति ॥ प्राण इति प्राणशब्देनाज्ञातं ब्रह्मोच्यते। सर्वमपि कार्यं नाम शब्दितजीवपूर्वकमज्ञाते ब्रह्मणि प्रतिष्ठितमित्यत्रैव वाक्यान्तरमाह—प्राणेति। स्वापे कारणात्मना कार्यं सर्वमुपसंहृतमित्युपपादितमुपसंहरति—सूक्तमिति। आदायेत्यत्र प्रत्ययार्थमुक्त्वा प्रकृत्यर्थमाह—आविर्भूतेति। परात्मविषय स्वशब्द। अत्र सुप्ताविति यावत्। ससर्गस्तादात्म्यमिति वक्तुमुदाहरणम् ॥ करणेत्थंभावयोस्तृतीया व्याख्यायार्थान्तरमाह—सहेति। तमेव विशदयति—सहेति। प्रमाता तन्निष्ठार्थज्ञानेन च सह करणानां संहृतिरित्यर्थ ॥ तृतीयाया शक्तय करणानीत्यत्रोक्तार्थेऽपि न दूषणमस्तीत्याह—यदि वेति। तर्हि पुनरुक्तिरित्याशङ्क्य विज्ञानशब्दयोर-

गृहीत्वा य एषोऽन्तर्मध्ये हृदये हृदयस्याऽऽकाशो स आकाशशब्देन पर एव स्व आत्मोच्यं तस्मिन्स्व आत्मन्याकाशे शेते स्वाभाविकेऽसंसारिके न केवल आकाश एव श्रुत्यन्तर सामर्थ्यात्सता सोम्य सदा संपन्नो भवतीति। लिङ्गोपाधिसंबन्धकृत विशेषात्मस्वरूप मुत्सृज्याविशेषे स्वाभाविक आत्मन्येव केवले वर्तत इत्यभिप्रायः।

व्याचष्टे—मध्य इति। आकाशशब्दस्य भूताकाशविषयत्वमाशङ्क्या''ऽऽकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदे शादिति न्यायेनाऽऽह—आकाशशब्देनेति। सद्रूपे ब्रह्मण्येव सुषुप्तस्य शयनं भूताकाशे तु न भवतीत्यः च्छान्दोग्यश्रुतिसंमतिमाह—श्रुत्यन्तरेति। कीदृगत्र शयनं विवक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह—लिङ्गेति स्वापाधिकारे स्वाभाविकत्वमविद्यामात्रसंमिथितत्वं 'सति संपद्य न विदुः' इत्यादिश्रुतेरिति द्रष्टव्यम्।

हैं। "हे सोम्य!—उस समय यह सत् वस्तु से युक्त हो जाता है।" सूक्ष्मशरीर की उपाधि के सम्बन्ध से होने वाले अपने कर्तृत्वादिविशेष आत्मस्वरूप को छोडकर अशेषविशेषशून्य निर्निमित्त आत्म मे ही वह विद्यमान रहता है, यह इसका अभिप्राय है।

जब यह शरीर और इन्द्रियो की अध्यक्षता छोड देता है, उस समय यह कैसे जाना जाता है

१ अन्तर्मध्ये हृदय इति। 'अनन्यबोधप्रत्यक्षो स एष इति भण्यते। तस्य सम्प्रतिपत्त्यर्थमन्तर्हृदयकीर्तनम्।। तात्स्थ्याद्धृदयशब्देन बुद्धिरत्राभिधीयते। ऐकात्म्यप्रतिपत्त्यर्थं क्षेत्रज्ञपरमात्मनोरिति''। वार्तिके आह ॥ २३३, २३६॥ य एष इति पदयोरर्थमाह—अनन्येति। स्वप्रकाशतत्पदार्थो य इत्युक्त स एव प्रत्यग्भूत एषशब्दोक्त इत्यर्थ। अन्तरित्यादेस्तात्पर्यमाह—तस्येति। प्रतीचो हृदय स्थान तदेव ब्रह्मणोऽपीत्युक्त सति तयोरैक्यसिद्धिस्तस्य सम्यक्प्रतिपत्त्यर्थं हृदयऽन्तर्ब्रह्मेति ब्रह्मणो हृदयस्थानत्वोक्तिरित्यर्थ॥ अन्तर्हृदय इत्यत्र हृदयशब्दार्थमाह— तात्स्थ्यादिति। पुण्डरीकाकारमांसपिण्डस्यैव हृदयत्व किं न स्यात्तत्र तच्छब्दस्य मुख्यत्वादित्याशङ्क्याह— ऐकात्म्येति। जीवस्य विज्ञानमयशब्दितस्य बुद्धिस्थत्वप्रसिद्धेराकाशशब्दितस्यापि तन्निष्ठत्वोक्तौ तयोरैक्य सिध्यति तदर्थं हृदयशब्देन बुद्धिग्रहणमित्यर्थ। २ एष। ३ पर एवेति। 'बुद्धेरन्य प्रतीचोऽन्यो नार्थ सभाव्यत यत। तस्मादाकाशशब्देन प्रत्यगात्माऽभिधीयत'' ॥ २४१॥ यद्यपि भूताकाशस्यापि तदन्त स्थत्व सभवति सर्वगतत्वात् तथाप्यत्राऽऽकाशशब्दोक्तस्यास्मादात्मन इत्युत्तरत्र (प० २०) आत्मशब्दावृष्टस्य प्राणादिजन्महेतुत्व- श्रुतेर्ब्रह्मैवात्राऽऽकाशशब्दितमन्यथा वाक्यशेषविरोध स्यात्। "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त' इति च श्रुते। तस्यापि वाक्यस्य भूताकाशविषयत्वे तु ('आकाश इति' ब्र० सू० १।३।४१) सूत्रविरोध स्यात्। ४ उक्तविशेषणनिर्मुक्त भूताकाशे। ५ सूक्ष्मशरीरोपाधिप्रयुक्तकर्तृत्वादिविशेषात्मस्वरूपम्। ६ अशेष- विशेषशून्ये। ७ निर्निमित्ते। ८ प्रत्यक्चैतन्ये निद्रात्मकप्रसिद्धशयनानुपपत्तेरिति ध्येयम्। ९ स्वरूपनि भाव। १० आशङ्क्येति। तथा च 'तस्या ब्रह्मार्थत्वाच्च प्रत्यग् ब्रह्मणोरैक्यधी ॥" ११ आकाश इति —(ब्र० सू० १।३।४१) 'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृत स आत्मा" (छा० उ० ८।१४।१) इत्यत्र परमेव ब्रह्माकाशशब्द कस्मात् अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् त यदन्तरेति नामरूपाभ्यामर्थान्तर- व्यपदेशात्। ते नामरूपे यस्मादन्तरा—भिन्ने। इति सूत्रार्थ। १२ सतसंपद्यामह इति शेष।

र्थान्तरस्वीकारान्नैवमित्याह—प्रत्यगिति। अनुभवात्मना सहेतोर्जगत महाराऽत्र विवक्षितोऽस्त स्वमहिम्नि तिष्ठत्यात्मेत्यर्थ॥

यदा शरीरेन्द्रियपार्थक्यतामुत्सृजति तदाऽसौ स्वात्मनि वर्तत इति कथमवगम्यते । नामप्रसिद्ध्या । काऽसौ नामप्रसिद्धिरित्याह—तानि वागादीनि विज्ञानानि यदा यस्मिन्काले गृह्णात्यादत्तेऽस्य तदा हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम । एतन्नामास्य पुरुषस्य तदा प्रसिद्धं भवति गौणमेवास्य नाम भवति स्वमेवाऽऽत्मानमपीत्यपिगच्छतीति स्वपितीत्युच्यते । सत्यं स्वपितीतिनामप्रसिद्ध्याऽऽत्मनः संसारधर्मविलक्षणं रूपमवगम्यते न त्वत्र युक्तिरस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—तत्तत्र स्वापकाले गृहीत एव प्राणो भवति । प्राण इति घ्राणेन्द्रियं वागादिप्रकरणात् । वागादिसम्बन्धे हि सति तदुपाधित्वादस्य संसारधर्मित्वं

तानि यदेत्यादिवाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमादत्ते—यदेत्यादिना । विज्ञानानि तत्साधनानीत्येतत् । पुरुष इति प्रथमा षष्ठ्यर्थेऽतो वक्ष्यति—अस्य पुरुषस्येति । अश्वकर्णादिनाम्नो विशेषमाह—गौणमेवेति । गौणत्वं व्युत्पादयति—स्वमेवेति । नाम्नोऽर्थव्यभिचारस्यापि दृष्टत्वात्तद्वशात्स्वापे स्वरूपावस्थानमिति शङ्कामनूद्य तद्गृहीत एवेत्यादि वाक्यमुत्थाप्य व्याचष्टे—सत्यमित्यादिना । का पुनरात्मनः स्वापावस्थायामसंसारित्वरूपेऽवस्थानमित्यत्र युक्तिरिहोक्ता भवति तत्राऽऽह—वागादीति ।

कि यह स्वात्मा में विद्यमान रहता है ? नाम की प्रसिद्धि से। (विद्यमान रहता है)। वह नाम की प्रसिद्धि क्या है ? इस पर श्रुति कहती है । "तानि" उन वागादि विज्ञानों को "यदा" जिस समय यह "गृह्णाति" स्वीकार करता है, "अथ" यानी उस समय 'स्वपिति' नाम होता है । यह 'स्वपिति' नाम इस पुरुष का प्रसिद्ध होता है, यौगिक अरूढ नाम इसका होता है । 'स्व' इस यौगिक शब्द आत्मा को ही 'अपीति' अर्थात् प्राप्त हो जाता है, इसलिये स्वपिति कहा जाता है । यह सच है कि "स्वपिति" इस नाम की (आत्मा के लिए) प्रसिद्धि हो जाने पर आत्मा का रूप सांसारिक धर्मों से विलक्षण प्रतीत होता है । परन्तु इसके (स्वप्न में सांसारिक धर्मों से विलक्षणस्वरूप) होने में कोई युक्ति नहीं है । ऐसी आशङ्का होने पर श्रुति कहती है । उस समय उस सुषुप्ति अवस्था में प्राण लीन ही हो जाता है । वागादि इन्द्रियों का प्रकरण होने से "प्राण" शब्द से घ्राण इन्द्रिय का ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि (जाग्रत् आदि अवस्था में) वागादि इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर ही इनका संसारी होना देखा जाता है । उस समय (स्वप्नावस्था में) उन वागादिकों का वह उपसंहार ही कर लेता है । किस प्रकार सम्बन्धाभाव हो जाता है ? उस समय वाक् भी लीन हो जाता है, चक्षु भी लीन हो जाता है, श्रोत्र भी लीन हो जाता है और मन भी लीन हो जाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि वागादिकों के लय हो जाने पर क्रिया, कारक और फलरूपता का अभाव हो जाने से आत्मा अपने

---

१ यौगिक न रूढम् । २ स्वमेवेति । "समाख्यासश्रयात्तस्मादभूत्प्राक्प्रत्यगात्मनीति ॥ वा० २५८ ॥ समाख्या यौगिक शब्द । ३ स्वापे संसारधर्मविलक्षणस्वरूपे । ४ आहेति—अनन्तरवाक्येन युक्तिरपि तत्रोच्यत इत्यर्थः । ५ उपसंहृत लीन इति यावत् । ६ करणप्रकरणात् । ७ प्रकरणात्—श्रुते प्रकरणाद्बलीयस्त्वे मुख्ये प्राणस्य तदा प्रत्यक्ष एवानुपसंहार इति ध्येयम् । ८ जागरादौ । ९ स्वविषयप्रकाशसाधनानि । १० वक्ति । ११ सालवृक्षवाचिन । १२ यौगिकत्वम् । १३ अश्वकर्णादिनाम्न । १४ "स्वमपीतो भवति" इति छान्दोग्यश्रुतिवशात् ।

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं

यह प्रकृत आत्मा जब दर्शनरूपा स्वप्नवृत्ति से व्यवहार करता है, उस समय इसके वे कर्मफल उदित होते हैं। वहाँ भी यह महाराज-सा होता है या महाब्राह्मण होता है या ऊँची-नीची देव-असुरादि

लक्ष्यते। वागादयश्चोपसंहृता एव तदा तेन। कथम्। गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः। तस्मादुपसंहृतेषु वागादिषु क्रियाकारकफलात्मताभावात्स्वात्मस्थ एवाऽऽत्मा भवतीत्यवगम्यते ॥ १७ ॥

ननु दर्शनलक्षणायां स्वप्नावस्थायां कार्यकरणवियोगेऽपि संसारधर्मित्वमस्य दृश्यते। यथा च जागरिते सुखी दुःखी बन्धुवियुक्तः शोचति मुह्यते च। तस्माच्छोक-

---

तदा सुषुप्त्यवस्थायां तेनाऽऽत्मना चैतन्याभासेन हेतुनेत्यर्थः। स्वापे करणोपसंहारं विवृणोति—कथमित्यादिना। तदुपसंहारफलं कथयति—तस्मादिति ॥ १७ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वागाद्युपाधिकमात्मनः संसारित्वमुक्तं तत्र व्यतिरेकासिद्धिमाशङ्कते—नन्विति। व्यतिरेकासिद्धौ फलितमाह—तस्मादिति। स्वप्नस्य रज्जुसर्पवन्मिथ्यात्वेन वस्तुधर्मत्वाभावा-

---

स्वरूप मे ही प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ १७ ॥

(पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) किन्तु (वासनाप्रयुक्त ज्ञानाधिकरणरूपा) दर्शनरूपा सुषुप्ति व जाग्रत अवस्था से भिन्न स्वप्नावस्था मे तो शरीर और इन्द्रियो का अभाव होने पर भी इसका (सुखादिमत्व) ससारी स्वभाव देखा जाता है। जिस प्रकार जाग्रत् अवस्था मे सुखी, दुखी, बन्धुओ से वियुक्त होता है, शोक करता है एव मोहित होता है, उसी प्रकार ससारी स्वभाव वाला होता है। इसलिए (व्यतिरेकव्यभिचार होने से) यह शोकमोहरूप धर्मो वाला है। इसके शोकमोहादि और सुख दुखादि, देह और इन्द्रियो के सयोग से जनित भ्रान्ति से आरोपित नही है। (सिद्धान्ती उक्त शङ्का का समाधान करता है—) ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि स्वप्न (रज्जुसर्प की तरह) मिथ्या है। "स" अर्थात् वह प्रकृत आत्मा 'यत्र' अर्थात् जिस समय "स्वप्न्यया" यानी दर्शनलक्षणा स्वप्न-वृत्ति से "चरति" यानी वर्तता है, उस समय उसके वे कर्मफल उदित होते हैं। वे कर्म कौन से हैं?

---

१ एतदिति क्रियाविशेषण विप्रकृष्टव्यावृत्तये। २ उपसहृता एवेति—तथा च स्वापे वागादिसबन्धाभावात् कर्तृत्वाद्यसबन्धो जागरादौ च तत्सबन्धात्कर्तृत्वाद्यतस्तदुपाधिकमेवेति निश्चितमिति। ३ स्वप्ने करणोपरमेऽपि नाससार इति व्यभिचारोऽशङ्क्य तत्र वासनात्मना करणसत्त्वादित्यपि द्रष्टव्यम्। ४ वासनाप्रयुक्तज्ञानाधिकरणरूपायाम्। ५ सुषुप्तिव्यावृत्तये विशेषण जागरव्यावृत्तये तत्र प्रयुक्तान्तम्। ६ सुखादिमत्त्वम्। ७ तद्वत्। ८ व्यतिरेकव्यभिचारात्। ९ कर्त्रा। १० करणेन। ११ स्वापे वागाद्युपसहारात्। १२ वागादिसबन्धे ससारस्तदभावनति। १३ अन्वयव्यतिरेकयो। १४ वस्तु आत्मा।

निगच्छति स यथा महाराजो जानपदान्गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्ततैवमेवैष एतत्प्राणान्गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते ॥१८॥

गति को प्राप्त होता है। जैसे कोई महाराजा अपने प्रजाजनों को स्वाधीन कर स्वेच्छापूर्वक अपने देश मे विचरता है ; वैसे ही यह स्वप्नपुरुष कल्पित प्राणो को ग्रहण कर अपने देह मे यथेच्छ विचरता है ॥१८॥

मोहधर्मवानेवायं नास्य शोकमोहादयः सुखदुःखादयश्च कार्यकरणसंयोगजनितभ्रान्त्याऽध्यारोपिता इति। न मृषात्वात् स्वप्नस्य। स प्रकृत आत्मा यत्र [1]यस्मिन्काले दर्शनलक्षणया [2]स्वप्न्यया स्वप्नवृत्त्या चरति वर्तते तदा ते हास्य लोकाः कर्मफलानि। के ते। तत्रोतापि महाराज इव भवति। सोऽयं महाराजत्वमिवास्य [3] लोको न महाराजत्वमेव जागरित इव। तथा [5]महाब्राह्मण इवोताप्युच्चावचमुच्चं च देवत्वाद्यवचं च तिर्यक्त्वाद्युच्चमिवावचमिव च निगच्छति।

मृषैव महाराजत्वादयोऽस्य लोका [6]इवशब्दप्रयोगाद्व्यभिचारदर्शनाच्च। [7]तस्माच्च

नाऽऽत्मन ससारित्वमित्युत्तरमाह—न मृषात्वादिति। [8]तदुपपादयन्नादौ स यत्रेत्यादीन्यक्षराणि योजयति—स प्रकृत इत्यादिना।

"अथात्र" स्वप्नस्वभावो निर्दिश्यते न तस्य मिथ्यात्व कथ्यते तत्राऽऽह—मृषैवेति। स्वप्ने दृष्टानां महाराजत्वादीनां जाग्रत्यनुवृत्तिराहित्य व्यभिचारदर्शनम्। स्वप्नस्य मिथ्यात्वे सिद्धमर्थमाह—

तब उस समय वह महाराज के समान हो जाता है। आत्मा का वह लोक (कर्मफल) महाराजत्व के समान हो जाता है, जागरित अवस्था के समान महाराजत्व ही नही होता इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता के समान होता है अथवा 'उच्चावचम्" अर्थात् देवत्वादि ऊँची एव तिर्यक्त्वादि नीची गतियों को प्राप्त होता है।

इस आत्मा के ये महाराजत्वादिलोक मिथ्या ही हैं क्योकि दृष्टचर्थ के साथ "इव" शब्द का

---

१ स्वप्नयोग्यकाले। २ स्वप्नयति काण्वशाखापाठ। स्वप्न्ययेति माध्यदिनशाखापाठ स्वप्ने भवा स्वप्न्या-तयेत्याशयेनाऽऽह—स्वप्नवृत्त्येति। ३ आत्मन। ४ कर्मफलम्। ५ ब्रह्मवेत्ता। ६ इवेति—स्वप्नो कर्मफलभूतमहाराजत्वादीना मिथ्यात्वमैकात्म्यस्य स्पष्ट दृष्टचर्थमिव शब्देनोच्यत इति यावत्। ७ स्वप्नो मिथ्या व्यभिचारित्वाद्रज्जुसर्पवत्। ८ स्वप्नस्य मृषात्वात्। ९ स्वप्नमिथ्यात्वम्। १० अथ ननु। ११ अत्र—वाक्ये।

बन्धुवियोगादिजनितशोकमोहादिभिः स्वप्ने प्रसज्यत एव ॥¹ ननु च यथा जागरिते जाग्रत्कालाव्यभिचारिणो लोका एव स्वप्नेऽपि तेऽस्य महाराजत्वादयो लोकाः स्वप्नकालभाविनः स्वप्नकालाव्यभिचारिण आत्मभूता एव न त्वविद्याध्यारोपिता इति । ²ननु च जाग्रत्कार्यकरणात्मत्वं देवतात्मत्वं चाविद्याध्यारोपितं न परमार्थत इति व्यतिरिक्तविज्ञानमयात्मप्रदर्शनेन प्रदर्शितम् । तत्कथं दृष्टान्तत्वेन स्वप्नलोकस्य मृत इवोज्जीविष्यन्प्रादुर्भविष्यति ।³ सत्यं विज्ञानमये व्यतिरिक्ते कार्यकरणदेवतात्मदर्शनमविद्याध्यारोपितं शुक्तिकायामिव रजतत्वदर्शनमित्येतत्सिध्यतीति व्यतिरिक्तात्मास्तित्वप्रदर्शनन्यायेनैव न

तस्मादिति । विमता लोका न मिथ्या तत्कालाव्यभिचारित्वाज्जाग्रल्लोकवदिति शङ्कते—ननु न यथेति । साध्यवैकल्यं दृष्टान्ते सिद्धान्ती पाणिपेषवाक्योक्तं स्मारयति—ननु चेति ॥ जाग्रल्लोकस्य मिथ्यात्वे फलितमाह—तत्कथमिति ॥ प्रादुर्भावि जाग्रल्लोकस्य कर्तृत्वं प्राकरणिकमेष्टव्यम् । तत्र पूर्ववादी दृष्टान्तं साधयति—सत्यमित्यादिना । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां न्याय । देहद्वयस्याऽऽत्मनश्च विवेकमात्रं प्रागुक्तं न तु प्राधान्येनाऽऽत्मनः शुद्धिरुक्तेति विभागमङ्गीकृत्य वस्तुतोऽसन्तमपि दृष्टान्तं सन्तं कृत्वा तेन स्वप्नसत्यत्वमाशङ्क्य तन्निरासेनाऽत्यन्तिकी शुद्धिरात्मनः स्वप्नवाक्येनोच्यते "तथा च जाग्रतोऽपि तथा

प्रयोग किया गया है और रज्जुसर्प की तरह स्वप्न का मिथ्याव्यभिचार भी देखा गया है। इसलिये (स्वप्न के मृषा होने से) स्वप्नावस्था में बन्धुवियोगादिजनित शोक-मोहादि से सम्बन्ध होना ही हो, ऐसी कोई बात नहीं है। (इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) किन्तु जिस प्रकार जागरित अवस्था के कर्मफल जाग्रत् अवस्था में व्यभिचरित होने वाले हैं, उसी प्रकार वे स्वप्नावस्था में होने वाले आत्मा के महाराजत्व आदि कर्मफल स्वप्नावस्था में अव्यभिचारी और आत्मस्वरूप ही होते हैं, अविद्या से अध्यस्त नहीं होते। (प्रत्युत्तर में सिद्धान्ती आक्षेप करता है—) लेकिन जाग्रदवस्था का भी देह-इन्द्रिय, प्राणत्व और देवतात्मत्व भी अविद्या से अध्यस्त है, वस्तुतः नहीं है। यह मत (पहले ही) विज्ञानमय आत्मा को प्राणादि से भिन्न सिद्ध करके प्रदर्शित कर दिया गया है। तो वह पुनः जीवित होने वाले मृत के समान स्वप्नगत कर्मफल के दृष्टान्तरूप से किस प्रकार उपस्थित हो सकता है, (उक्त अनुमान में पूर्ववादी आक्षेप करता है—) ठीक है, आत्मा प्राणादिव्यतिरिक्त है इसे प्रदर्शित करने में प्रयुक्त "अन्वयव्यतिरेक" न्याय से ही विज्ञानमय के व्यतिरिक्त सिद्ध होने पर शरीर-इन्द्रिय-देवतात्म

१ ननु चेति—निपातसमुदायो विरोधार्थः । यदि स्वप्नस्य मिथ्यात्वं मन्यसे तर्ह्यनुमानविरोधः स्यादित्यर्थः । ननु च स्यादिरोधोक्तावित्यमरः । निपातद्वयस्य समाहारद्वन्द्वः तद्विरोधमेवाह—यथेति । २ ननु चेति—अत्र ननुशब्दः प्रयुक्तावाक्षेपे वा बोध्यः । 'नन्वाक्षेपे परिप्रश्ने प्रत्युक्तावधारणे । वाक्यारम्भेऽप्यनुनयामन्त्रणानुनयोरपि' इति हैमः । ३ भविष्यतीति—जाग्रल्लोक इति कर्तृपदं प्रकरणाल्लभ्यत इति टीकाकृत् । ४ स्वप्ने कर्मफलानि । ५ अनुमानप्रसङ्गादागतम् । ६ अनुमानं । ७ तत्सद्भावप्रदर्शनेन । ८ इति विभागमिति—उक्तविवेकात्मविशुद्धयोर्भेदमित्यर्थः । ९ पाणिपेषवाक्यतोक्तविवेके सिद्धे सति स्थूलोऽहं क्षुधितोऽहमित्याद्यात्मत्वस्थौल्यादिधीर्मिथ्येति जाग्रन्मिथ्यात्वस्याभिमतत्वात् स्वप्नलोकाऽमिथ्यात्वे जाग्रल्लोकः दृष्टान्तत्वमित्यभिप्रेत्याऽऽह—वस्तुत इति । १० स्वप्नसत्यत्वचोद्ये निरस्ते सति च ।

तु तद्विशुद्धिपरतयैव न्याय उक्त इत्यसन्नपि दृष्टान्तो जाग्रत्कार्यकरणदेवतात्मत्वदर्शनलक्षण: पुनरुद्भाव्यते । सर्वो हि न्याय किंचिद्विशेषमपेक्षमाणोऽपुनरुक्तो भवति ।

न तावत्स्वप्नेऽनुभूतमहाराजत्वादयो लोका आत्मभूता: । आत्मनोऽन्यस्य जाग्रत्प्रतिबिम्बभूतस्य लोकस्य दर्शनात् । महाराज एव तावद् व्यस्तसुप्तासु प्रकृतिषु पर्यङ्के शयान: स्वप्नान्पश्यन्नुपसंहृतकरण: पुनरुपगतप्रकृति: महाराजमिवाऽऽत्मानं जागरित इव पश्यति यात्रागतं भुञ्जानमिव भोगान् । न च तस्य महाराजस्य पर्यङ्के शयानाद्द्वितीयोऽन्य: प्रकृत्युपेतो विषये पर्यटन्नहनि लोके प्रसिद्धोऽस्ति यमसौ सुप्त पश्यति । न

मिथ्यात्वादात्मैकरस शुद्ध स्यादित्याशयवानाह—इत्यसन्नपीति । पाणिपेषवाक्ये जाग्रन्मिथ्यात्वस्योक्त्वादुक्ता शुद्धिरत्रापि संवोच्यते चेत्पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वो हीति । यत्किंचित्सामान्यात्पौनरुक्त्य सर्वत्र तुल्यम् । अवान्तरभेदादपौनरुक्त्य प्रकृतेऽपि सम पूर्वत्र शुद्धिद्वारस्यार्थिकत्वादिह वाचनिकत्वादिति भाव ।

जाग्रद्दृष्टान्तेन स्वप्नसत्यत्वचोद्यसंभवाद्वाक्यस्तस्य समाधिरिति पूर्ववादिमुखेनोक्त्वा समाधिमधुना कथयति—न तावदिति । धिमता न द्रष्टुरात्मानो धर्मा वा तद्दृश्यत्वाद्घटादिवदित्यर्थ । किंच स्वप्नदृष्टाना जाग्रद्दृष्टार्थान्तरत्वेन दृष्टेर्मिथ्यात्वमित्याह—महाराज इति । तेषा जाग्रद्दृष्टार्थान्तरत्वमसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । प्रमाणसामग्र्यभावाच्च स्वप्नस्य मिथ्यात्वमित्याह—न चेति । योग्यदेशाभावाच्च तन्मिथ्यात्वमित्याह—न चेति । देहाद्बहिरेव स्वप्नदृष्टपर्यङ्काद्यो...

प्रदर्शन शुक्ति मे रजतदर्शन के समान अविद्या से अध्यस्त है यह सिद्ध हो जाता है । किन्तु यह न्याय आत्मा की विशुद्धि सिद्ध करने मात्र म नहीं कहा गया है । अत असत् होते हुए भी इस जाग्रत कार्य करण देवतात्मरूप दृष्टान्त की पुन उद्भावना की जाती है । सभी वाक्य कुछ विशिष्टता की अपेक्षा रखने पर अपुनरुक्त मान जाते हैं ।

(सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का खण्डन करता है—) किन्तु स्वप्नावस्था मे अनुभव किये गये महाराजत्वादि लोकफल तो आत्मभूत नही है यानी आत्मावस्थित नही हैं क्योकि उस समय स्वप्नद्रष्टा आत्मा से भिन्न जाग्रत संस्काररूप प्रतिबिम्बभूत कर्मफल देखा जाता है । आरम्भ में उस समय जिसकी इन्द्रियाँ लीन रहती है वह पलग पर सोया हुआ अमात्यादि श्रेणियों से पृथक सोते रहने पर स्वप्न देखता हुआ अपने को जागरित अवस्था के समान पुन अमात्यादि से युक्त व्यवहरित महाराज के समान यात्रा म चलते हुए एव भोग का उपभोग करते हुए देखता है । उस महाराज के पलग पर सोने वाली देह से पृथक् अमात्यादि के सहित जागरित अवस्था म भ्रमण करने वाला कोई अन्य देह दिन म नही देखा जाता जिसे यह सोते हुए देखता हो । जिसकी इन्द्रियाँ लीन हो गई है उसे रूपादि

१ सवमेव वाक्यमिति यावत् । २ स्वप्नद्रष्टु । ३ जाग्रत्संस्काररूपस्य । ४ तावत्–आदौ जागरिते व्यावहारिको महाराज इति यावत् । ५ पृथक्सुप्तासु । ६ अमात्यादिपौरश्रेणीषु । ७ जागरिते । ८ जाग्रन्मिथ्यात्वस्य । ९ व्यभिचारित्वेन स्वाप्नार्थाना मिथ्यात्वम् । १० स्वप्नज्ञानस्य । ११ अत्र सवत्र हेतुषु शुक्तिरूप्यादिदृष्टान्त ।

चोपसंहृतकरणस्य रूपादिमतो[1] दर्शनमुपपद्यते। न च देहे देहान्तरस्य तत्तुल्यस्य [2]संभवोऽस्ति। [3]देहस्थस्यैव हि स्वप्नदर्शनम्।

[4]ननु पर्यङ्के शयानः पथि प्रवृत्तमात्मानं पश्यति न बहिः स्वप्नान्पश्यतीत्येतदाह—[5]स [6]महाराजो जानपदाञ्जनपदे भवान्राजोपकरणभूतान्भृत्यान्[8]न्यांश्च गृहीत्वोपादाय स्व आत्मीय एव जयादिनोपार्जिते जनपदे यथाकामं यो यः कामोऽस्य यथाकाममिच्छातो यथा परिवर्ततेत्यर्थः। एवमेवैष विज्ञानमय एतदिति क्रियाविशेषणं प्राणान्गृहीत्वा जागरितस्थानेभ्य उपसंहृत्य स्वे शरीरे स्व एव देहे न बहिर्यथाकामं परिवर्तते। कामकर्मभ्यामु[9]द्भासिताः पूर्वानुभूतवस्तुसदृशीर्वासना अनुभवतीत्यर्थः। [10]तस्मात्स्वप्ने मृषाऽध्यारो-

देशसिद्धिरित्याशङ्कयाऽऽह—देहस्थस्येति।

[11]एतदेव साधयितुं शङ्कयति—नन्विति। तत्र स यथेत्यादिवाक्यमुत्तरत्वेनावतार्य व्याचष्टे—न बहिरित्यादिना। यथाकामं त तं काममनतिक्रम्येत्यर्थः। एतदिति क्रियाया ग्रहणस्य विशेषण[12]मेतद्ग्रहणं यथा भवति तथेत्यर्थः। परिवर्तनमेव विवृणोति—कामेति। योग्यदेशाभावे सिद्धे सिद्धमर्थं दर्शयति—तस्मादिति। स्वप्नस्य मिथ्यात्वे तद्दृष्टान्तेन जडत्वादिहेतुना [13]जागरितस्यापि तथात्वं शक्यं

मान् घटादिपदार्थ का दर्शन नहीं हो सकता। देह के अन्दर उसके समान किसी अन्य देह का होना भी सिद्ध नही होता क्योंकि स्वप्न दर्शन देहस्थ जीव को ही होता है।

किन्तु पलग मे सोने वाला देह ही तो अपने को मार्ग मे ही चलता हुआ देखता है, ऐसी बात भी नही है, वह शरीर के बाहर तो स्वप्न नही देखता। इसी बात को श्रुति प्रतिपादित करती है। दृष्टान्तस्वरूप वह सार्वभौम महाराज जनपद मे होने वाले जानपद राजा के अमात्य-भृत्य भोगोपकरण को "गृहीत्वा" अर्थात् लेकर "स्वे जनपदे" अर्थात् विजयादि द्वारा प्राप्त किये हुए अपने देश मे "यथाकाम परिवर्तेत" यानी जो जो इसे इच्छा होती है, उसे पूर्ण करता हुआ यथेच्छा स विचरता है, यह इसका अर्थ है। इसी प्रकार "एष" यह विज्ञानमय 'प्राणान्गृहीत्वा' अर्थात् प्राणो को जागरित विषयो से हटाकर "स्वे शरीरे" अर्थात् अपनी देह मे इच्छानुसार विचरता है, बाहर नही। काम और

१ घटादे। २ सभवोऽस्तीति—चक्षुरादीना बाह्यार्थदर्शनकरणानां देहमध्यस्थार्थेक्षण न च प्रामाणिकम्। नापि तद्विषयमहापरिमाणहिमवदादीनामत्यल्पपरिमाणे हृदि सभवाऽस्तीति शेष। ३ देहस्थस्यैवति। वार्तिके यथा—"नापि देहाद्विनिष्क्रम्य पर्वतादीन्समीक्षते। देह विना कथमगाद्गतिसाधनवर्जित ॥ अन्तरणापि देहादीस्तत्कार्यं चेत्करोत्ययम्। व्यर्थं देहाद्युपादानमस्य प्राप्नोत्यसशयम्" ॥२९९-३००॥ इति। ४ नन्विति। वार्तिके यथा—"ननु पर्यङ्क आसीनो गच्छन्निशाबिकया वनम्। वेश्मतो बहिरात्मान द्रश्यतीति न तद्यत" ॥३०१॥ इति। देहान्त स्वप्नोक्तिरनुभवविरुद्धेत्यर्थ ॥ ५ स्वप्नो मिथ्याऽन्तरुपलभ्यमानत्वाद्दर्पणाद्यन्तरुपलभ्यमाननगरादिवदित्यत्र विवक्षित प्रयोग। ६ दृष्टान्त। ७ सार्वभौम स्वदेशस्य एवेति शेष। ८. भोगोपकरणीभूतान्। ९. उद्बोधिता। १० योग्यदेशकालाद्यभावात्। ११ देहान्तरेव स्वप्नदर्शनम्। १२ मरणादिकालीनग्रहणव्यावृत्त्यर्थम्। १३ जागरित मिथ्या जडत्वादिन स्वप्नवत्।

अथ यदा सुषुप्तो भवति *यदा न कस्यचन वेद हिता

इसके बाद जिस समय वह सो जाता है यानी जब वह किसी विषय मे कुछ भी नही जानता

पिता एवाऽऽत्मभूतत्वेन लोका अविद्यमाना एव सन्तस्तथा जागरितेऽपीति प्रत्येतव्यम्। तस्माद्विशुद्धोऽक्रियाकारकफलात्मको विज्ञानमय इत्येतत्सिद्धम्। यस्माद्दृश्यन्ते प्रद्रष्टुर्विषयभूताः क्रियाकारकफलात्मकाः कार्यकरणलक्षणा लोकास्तथा स्वप्नेऽपि। तस्मादन्योऽसौ दृश्येभ्यः स्वप्नजागरितलोकेभ्यो द्रष्टा विज्ञानमयो विशुद्धः ॥१८॥

दर्शनवृत्तौ स्वप्ने वासनाराशेर्दृश्यत्वात् तद्धर्मतेति विशुद्धताऽवगताऽऽत्मनस्तत्र यथाकामं परिवर्तत इति कामवशात्परिवर्तनमुक्तम्। द्रष्टुर्दृश्यसंबन्धश्चास्य स्वाभाविक इत्यशुद्धता शङ्क्यते ऽतस्त द्विशुद्ध्यर्थमाह——

निश्चेतुमित्याह—तथेति। द्वयोर्मिथ्यात्वे प्रतीचो विशुद्धिः सिद्धेत्युपसंहरति—तस्मादिति। अक्रियाकारकफलात्मक इति विशेषणं समर्थयते—यस्मादिति। जागरितं दृष्टान्तीकृत्य दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति। द्रष्टृदृश्यभावे सिद्धे फलितमाह—तस्मादिति। अन्यत्वकारणं कथयति—विशुद्ध इति।

वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरश्रुतिनिरस्यामाशङ्कामाह—दर्शनवृत्तावित्यादिना। तत्रेति स्वप्नोक्तिः। कामादिसबन्धश्चकारार्थः। निवर्त्यशङ्कासद्भावान्निवर्तकानन्तरश्रुतिप्रवृत्तिं प्रतिजानीते—अत इति।

कर्मो से उद्बोधित पूर्वानुभूत वस्तुओ के सदृश वासनाओ का अनुभव करता है। मन्त्र मे "एतत्" शब्द क्रियाविशेषण है। अत. योग्य देशकालादि के होने से आत्मधर्मरूप से अविद्यमान ही होने के कारण स्वप्नावस्था मे जो कर्मफल हैं, वे मिथ्या ही अध्यस्त है—इसी प्रकार जाग्रत् अवस्था मे भी वे मिथ्या ही अध्यस्त है, ऐसा जानना चाहिये। इसलिए (दोनो के मिथ्या सिद्ध होने के कारण) यह सिद्ध होता है कि क्रिया कारक और फलरूपता से भिन्न विज्ञानमय विशुद्ध ही है। क्योकि क्रिया, कारक एव स्वरूप कार्यकरणात्मक कर्मफल द्रष्टा के विषयभूत ही देखे जाते है, उसी प्रकार वे स्वप्न मे भी होते है। इसलिए (विषय और विषयी के द्रष्टा और दृश्य होने से) इन स्वप्न और जागरित के दृश्यभूत कर्मफलो से विज्ञानमय द्रष्टा भिन्न और विशुद्ध है ॥ १८ ॥

वासनाप्रयुक्त ज्ञानाधिकरण मे स्वप्नावस्थ वासनाराशि दृश्यरूप होने के कारण अनात्मधर्मता है, इससे आत्मा की विशुद्धता ज्ञात होती है। उस स्वप्नावस्था मे वह इच्छानुसार विचरना है, इस प्रकार उसका यथेच्छ विचरण बतलाया गया। किन्तु इस द्रष्टा का दृश्य से सम्बन्ध

१. आत्मधर्मत्वेन। २ कर्मफलानि। ३ द्वयोरपि मिथ्यात्वात्। ४ विषयविषयिणा द्रष्टृदृश्यभावात्। ५ वासनाप्रयुक्तज्ञानाधिकरणे। ६ अनात्मधर्मता। ७ दृश्यादिसबन्धस्य द्रष्टु स्वाभाविकत्वात्। ८ निवर्त्यशङ्कासद्भावात्। ९ आत्मविशुद्ध्यर्थं शङ्किता विशुद्धिनिवृत्त्यर्थमिति वाक्य।

*यदा न कस्यचन वेदेतिश्रुतिभाष्याभिप्रेतार्थाविष्करणपराणि वार्तिकानि प्रदर्श्यन्ते—'न वेदेत्यात्मन श्रवणकर्तृत्व प्रतिषिध्यते। पश्यन्नपि यत प्राज्ञो कौटस्थ्यान्न प्रपश्यति॥ अथ यो वेदेति तथा ज्ञानृमाक्षित्वमात्मन। प्रती-

नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीतत-

है, उस समय उस हिता नाम की नाडी द्वारा बुद्धि के साथ जाकर वह देह में व्याप्त होकर सोता है।

'अथ यदा सुषुप्तो 'भवति तदा स्वप्न्यया चरति तदाऽप्ययं विशुद्ध एव । अथ

स्वप्नेऽपि शुद्धिरुक्ता किं सुषुप्तिग्रहेणेत्याशङ्क्याऽऽह—यदेति । गतो भवति तदा सुतरामस्य शुद्धि-

स्वाभाविक है, इसलिये उसकी अशुद्धता पर शङ्का की जाती है । अतः श्रुति उसकी विशुद्धि के लिए कहती है ।

"अथ यदा सुषुप्तो भवति' अर्थात् जिस समय (अवस्थाद्वयद्रष्टा) स्वप्नावस्था में वर्तता है, उस समय भी यह विशुद्ध ही होता है । इसके अनन्तर दर्शनवृत्ति-स्वप्न में "यदा" अर्थात् जिस समय

१ जाग्रत्स्वप्नत आत्मनो व्यतिरेकशुद्ध्योः कथनानन्तरम् । २ अवस्थाद्वयद्रष्टा ।

चोऽज्ञारकत्वं न सर्वत्र प्रतिपाद्यते ।। क्वचित्प्रमातृवित्साक्षी क्वचित्प्रत्ययवित्परः । क्वचिद्बाह्यार्थविच्चाऽऽत्मा तत्कर्तृत्वं निषिध्यते ।। परप्रयुक्तं वेतृत्वं यदस्य प्रत्यगात्मनः । संबन्धजत्वात्तस्यातः कस्येत्यत्राभिधीयते ।। कर्मोत्थत्वात्प्रमात्रादेस्तत्क्षये क्षयवत्त्वतः । षष्ठीयं कर्मणि न्याय्या द्वयाभावविवक्षया ।। अप्यर्थे घनशब्दोऽयमभावस्यापि वारकः । शेषशेषितिरोभावे सुषुप्तिरिह भण्यते" ।। (३१३–३१८) इति । यदेत्यादौ न वदेत्यस्यार्थमाह—नेति । तथा ज्ञानकर्तृत्वमात्मनो न निषेद्धुं युक्तं तस्य साक्षित्वेन तत्कर्तृत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—पश्यन्निति । अतो निषेधश्रुतिरविरुद्धेति शेषः ।। ज्ञानकर्तृसाक्ष्यात्मा न तत्कर्तेत्यत्र श्रुत्यन्तरमाह—अथेति । स्वमथपरिशोधनप्रारम्भार्थोऽथशब्दः । इदं जिघ्राणीति स्थितं ज्ञातारं यो वेद स आत्मेत्यादिश्रुतावस्मदुक्तानुसारेणाऽऽत्मनो ज्ञातृसाक्षित्वोक्तेन कर्तृतेत्यर्थः । किंच कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षीत्याद्युपनिषत्सु कूटस्थत्वेनाद्वयचिन्मात्रत्वं प्रतीचो मुमुक्षून्प्रत्युच्यते तन्न तस्य कर्तृतेत्याह—प्रतीच इति ।। ज्ञातृसाक्षीतिविशेषणकृतं संकोचमाशङ्क्याऽऽह—क्वचिदिति । कदाचित्क्वचित्कुत्रचित्प्राधान्येऽपि सर्वसाक्षित्वमक्षतं चेत्तर्हि न वेदेतिनिषेधोक्तिस्तत्राऽऽह—तदिति । कस्येति षष्ठीमवतारयति—परेति । विषयसंबन्धात्प्रतीचो यद्वेतृत्वं तस्यास्माद्विषयसंबन्धजत्वाद्धेतोरत्र संबन्धे कस्येति षष्ठीत्यर्थः ।। तां विशेषे योजयति—कर्मेति । एषा षष्ठी हि कर्मण्येव न्याय्या मात्रादेः कर्मकार्यत्वात्कर्मणः सुप्तौ क्षये तज्जस्यापि तत्र क्षयात्सर्वद्वितीयाभावाभिप्रायेण न किंचिदपि मात्राद्यनुभवतीत्यस्यार्थस्य विवक्षितत्वादित्यर्थः ।। घनेत्यस्य पदद्वयत्वं व्यावर्तयति—अप्यर्थ इति । अपिशब्दस्य विवक्षितमाह—अभावस्येति । स्वापे जगद्भाववत्तदभावोऽपि निषिध्यत इत्यर्थः । भावनिषेधेऽप्यभावो न निषेध्यस्तद्भावेऽपि स्वापाविरोधादित्याशङ्क्याऽऽह—शेषेति । शेषोऽभावो गुणत्वाच्छेषी भावः प्रधानत्वात्तयोस्तिरोभावो विशेषज्ञानाभावोऽतोऽभावस्यापि स्वापे निषेधो भाव्यमित्यर्थः । इह पुरुषः । अशुद्धता शङ्क्यत इति । तथा च वार्तिकम्— ननु कामवशादस्य त्वयोक्तं परिवर्तनम् । द्रष्टृदृश्यादिभावश्च कथं शुद्धस्तथा सति ।। नैव स्मृतोऽप्यबुद्धत्वात्कुतोऽज्ञानेन संगतिः । अज्ञानसंगतिं मुक्त्वा न स्यात्तज्जेन संगतिः ।। एवं यस्मात्स्वतः शुद्धो द्वितीयासंगतेरयम् । आत्मा तस्मात्स्वतो मुक्तः कूटस्थज्ञप्तिमात्रतः ।। न यथा श्रोत्रविज्ञानं रूपेणेति समागमम् । संसारेण तथैवाऽऽत्मा कौटस्थ्यान्नैति संगतिम् ।। इत्यर्थस्यावबोधार्थं परो ग्रन्थोऽवतार्यते । विशुद्धिं व्यतिरेकं च स्वप्नजाग्रदवस्थयोः । उक्त्वाऽऽत्मनोऽद्वयत्वं च सुषुप्तेऽथाधुनोच्यते ।। (३०७–३१२) इति । स्वप्नादिमिथ्यात्वेन तद्द्रष्टुः शुद्धतामुक्त्वाऽथ यदेत्याद्यवतारयितुमुक्तं शुद्धत्वमाक्षिपति—नन्विति । अस्येति स्वप्नदृशो निर्देशः । चकारेणोक्तपदानुवृत्तिः सूच्यते । आदिना श्रोतव्यादिभावो गृह्यते । कामादिसम्बन्धे द्रष्टुर्न शुद्धतेति फलितमाह—कथमिति ।। आत्मनो न कामादियोगोऽस्तीत्याह—नैवमिति । तत्र हेतुमाह—स्वत इति । बोधैकरसस्याज्ञाना-

मभिप्रतिष्ठन्ते ॐताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते

जो बहत्तर हजार नाड़ियाँ हृदय से सम्पूर्ण देह में व्याप्त होकर स्थित हैं। जैसे कोई बालक या

पुनर्यदा हित्वा दर्शनवृत्ति स्वप्नं यदा यस्मिन्काले सुषुप्तः 'सुष्ठु सुप्तः संप्रसादं 'स्वाभाव्यं भवति सलिलमिवान्यसंबन्धकालुष्यं हित्वा स्वाभाव्येन प्रसीदति। कदा सुषुप्तो भवति।

सिध्यतीति शेषः। तमेव सुषुप्तिकालं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति—कदेति। विकल्पं व्यावर्तयति—पूर्वं

"सुषुप्त." अच्छी तरह सोया हुआ अर्थात् सम्प्रसाद या स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हुआ होता है यानी जल के समान अन्य वस्तु के सम्बन्ध से प्राप्त मलिनता को त्यागकर स्वस्वरूपब्रह्मैक्य अवस्था से प्रसन्न

---

१ विशेषज्ञानविक्षेपाभावेन सप्रसन्न। २ स्वस्वरूपब्रह्मैक्यम्।

सबन्धेऽपि कामादिसम्बन्ध. स्यादिति चेन्नेत्याह—अज्ञातेति॥ द्रष्टुरज्ञानतज्जासम्बन्धे फलितमाह—एवमिति। उक्तरीत्या द्वयायोगादात्मा यत. स्वत. शुद्धोऽत स्वतो मुक्त कूटस्थचिन्मात्रो भवतीत्यर्थ। प्रथमार्थे तमि॥ आत्मन· कामादिसबन्धाभाव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—नेत्यादिना॥ तत्र मानत्वेनाथेत्यादिवाक्यमादत्ते—इत्यर्थस्येति। उक्तमनूद्यायेत्यादि व्याचष्टे—विशुद्धिमिति। अवस्थाद्वयं विशुद्धयादिकथनानन्तर स्वापे प्रतीचोऽद्वयब्रह्मत्व विवक्षितमित्यर्थ॥

ॐताभि प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेत इति। अत्र वार्तिकानि—"स्वाप्ना·भोगानशेषेण भुक्त्वा स्वप्नक्रियाक्षये। ताभिरेवोपसहृत्य प्राणो यानि सुषुप्तताम्॥ जाग्रत्स्वप्नक्रियोद्भूतान्भुक्त्वा भोगानशेषत। इन्द्रियाण्युपसहृत्य शेते नाडीभिरात्मनि॥ सामान्यप्रज्ञया देह सव्याप्यान्तर्वहि श्रमात्। श्यनवत्परम स्थानमात्मनाऽऽत्मनि सुषुप्तताम्"॥३३०-३३२॥ इति। ताभिरित्यादेरर्थमाह—स्वाप्नानिति। वासनामयानि करणानीति शेष॥ स्वप्नभोगात्तत्कर्मक्षयेऽपि कथ करणसहारद्वारा स्वापो जाग्रत्स्यापि सभवादित्याशङ्क्याह—जाग्रदिति॥ ननु स्वप्नजागरिते कर्मणा गच्छति न स्वाप नहि तत्कृता ब्रह्माप्तिस्तत्कथ सुप्तिस्तत्राऽऽह—सामान्यति। यथा श्येनो श्रान्त श्रान्त. स्वनीडमासाद्य निर्वृणाति तथाऽयमा स्थानद्वयगतिकृतश्रान्तिध्वस्त्यै विशेषबुद्धि हित्वा साधारणया चिन्मात्रप्रज्ञया स्वदेह तप्तायोवदन्तर्वहि सव्याप्य प्रत्यक्त्वेन ब्रह्म गत्वा तद्रूपेणासङ्गादासीनतामेतीत्यर्थः॥ "स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतेति"। अत्रापि वार्तिकानि प्रदर्श्यन्ते—"स्तनधयो यथा बालो रागद्वेषविवर्जित। तदभावाद्विकुर्वन्ति चेतो न विषया सदा॥ अप्ररूढेन्द्रियत्वाच्च रागद्वेषाद्यसम्प्लुति। मृदुकण्टकवत्तद्धीर्नाल वेद्धुं स्वगोचरान्॥ सर्वत्राव्याहताज्ञश्च विधेयप्रकृतिस्वत.। राजा वाऽतिसुखी लोके प्ररूढेन्द्रियवानपि॥ विज्ञाताऽशेषतत्त्वो वा ब्राह्मण कृतकृत्यत। आनन्दस्य परां काष्ठामतिघ्नीमेत्य निर्वृत॥ बालादित्रयमप्यतदेको दृष्टान्त इष्यते। बालमौढ्यमदान्धत्वनिवृत्त्यर्थं तथोच्यते॥ बालस्य निर्विवेकत्वात्सविवेक क्षितीश्वर। तन्मदान्ध्यनिषेधार्थं महाब्राह्मण उच्यते"॥३४४-३४६॥ इति। कुमारदृष्टान्त व्याकुर्वन्बाल्यादेव तस्य रागाद्यभावमाह—स्तनधय इति। स्तन धयति पिबतीत्यत्यन्तशिशुरिति यावत्। दार्ष्टान्तिकस्यैवशब्देन यथाशब्दस्य सम्बन्ध। रागाद्यभावफलमाह—तदभावादिति॥ बालस्य बाल्यमिव रागाद्यभावे हेत्वन्तरमाह—अप्ररूढेति। तथापि बालस्य बुद्धेर्विषयप्रवणत्वात्कुतो रागादिराहित्यमत आह—मृद्विति॥ महाराजदृष्टान्त व्याचष्टे—सर्वत्रेति। तत्र हेतुमाह—विधेयेति। पूर्वस्माद्वैलक्षण्यमाह—प्ररूढेति॥ महाब्राह्मणदृष्टान्त विभजते—विज्ञातेति। ब्राह्मणो

स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽति-
घ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥१९॥

महाराज। अथवा महाब्राह्मण आनन्द की दु खविनाशक अवस्था को प्राप्त हो, सो जाता है, ठीक उसी प्रकार यह सो जाता है ॥ १९ ॥

यदा यस्मिन्काले न कस्यचन 'न किंचनेत्यर्थो वेद विजानाति। कस्यचन वा 'शब्दादेः संबन्धि वस्त्वन्तरं' किंचन न वेदेत्यध्याहार्यम्। पूर्वं तु न्याय्य 'सुप्ते तु विशेषविज्ञानाभावस्य विवक्षितत्वात्।

एवं तावद्विशेषविज्ञानाभावे सुपुप्तो भवतीत्युक्तम्। केन पुनः क्रमेण सुपुप्तो भवतीत्युच्यते—हिता नाम 'हिता इत्येवनाम्न्यो नाड्यः 'शिरा देहस्यान्नरसविपरिणामभूतास्ताश्च द्वासप्ततिः सहस्राणि द्वे सहस्रे अधिके सप्ततिश्च सहस्राणि ता द्वासप्ततिः सहस्राणि

त्विति।

वृत्तमनूद्य प्रश्नपूर्वकं 'सुपुप्तिगतिप्रकार दर्शयति—एव तावदिति। हितफलप्राप्तिनिमित्तत्वान्नाड्यो हिता उच्यन्ते। तासां देहसबद्धानामन्वयव्यतिरेकाभ्यामन्नरसविकारत्वमाह—अन्नेति। तासामेव 'मध्यमसंख्यां कथयति—ताश्चेति। तासा च हृदयसबन्धिनीना ततो निर्गत्य' देहव्याप्त्या

होता है। सुपुप्त कब होता है ? "यदा" जिस समय "न कस्यचन" अर्थात् कुछ भी नही, "वेद" यानी जानता। अथवा किसी शब्दादि के सम्बन्ध वाली किसी अन्य वस्तु को नही जानता, ऐसा अध्याहार करना चाहिये क्योकि सोये हुए पुरुष मे विज्ञान का अभाव विवक्षित है, इसलिए पहला अर्थ ही उचित है।

इस तरह विशेषविज्ञान के अभाव मे पुरुष सुपुप्तावस्था मे होता है। पुन किस क्रम से वह सुपुप्तावस्था मे होता है ? इस पर श्रुति कहती है। "हिता" यानी (हितफलप्राप्तिनिमित्तक) हिता नाम

---

१. कर्मार्थां षष्ठीस्यायन व्याचष्टे—न किंचनेति। सबन्धषष्ठीपक्षमाश्रित्याऽऽह—कस्यचन वेति। २ प्रमात्रादिरम्। ३ गुणस्याधिकरणमाकाशादिद्रव्यम्। ४ स्वस्मात्। ५ न कस्यचनेत्यस्य न किञ्चनेति पूर्वोक्तार्थो न्याय्य इत्यत्र हेतुमाह—सुप्ते त्विति। ६ हितफलप्राप्तिनिमित्तत्वात्। ७ कदम्बकुसुमोद्भूतकेशरसमा। ८ सुपुप्ति प्रति गमनप्रकारम्। ९ अनेन ७२७२१०२०१ इत्युत्तमा १०१ इत्यधमापि संख्या न हेयत्यसूचि।

विशिष्ट सघान दस्य काष्ठा परमत्य कृतकृत्यतो निर्वृत नायीनति सबन्ध ॥ दृष्टान्तश्रुतेरक्षरार्थमुक्त्वा विवक्षितमाह—बालेति। यदेतद्बालादिमय दृष्टान्तत्वेनान्न तत्र तथा किंत्वयो महाब्राह्मणो दृष्टान्त इत्यर्थ। अपिस्तद्बालानमितरता नत्रमनुकपति। दृष्टान्तेपु त्रिपु श्रौतपु किमिति द्वयमुपेक्ष्यत तत्राऽऽह—बालेति। बालस्य मौढ्य राज्ञो मदाद्यभिमानदोषद्वयापनुत्त्यथमन्यदृष्टान्तग्रहणमित्यर्थं ॥ तृतीयमुपपादयितु बाल त्यक्त्वा राज्ञो ग्रहे हेतुमाह—बालस्येति। दृष्टान्तत्वेनोच्यत इति सबन्ध। पूर्वत्र दोषे राज्ञो ग्रहस्तत्रापि दोष सन्निपधान्महाब्राह्मणग्रहोऽन्य स एव दृष्टान्त इत्याह—तदिति ॥

हृदयाद्[1]हृदय नाम [1]मासपिण्डस्तस्मान्मासपिण्डात्पुण्डरीकाकारात्पुरीतत [2]हृदयपरिवेष्टनमाचक्षते तदुपलक्षित शरीरमिह पुरीतच्छब्देनाभिप्रेत पुरीतत[3]मभिप्रतिष्ठन्त इति शरीर कृत्स्न व्याप्नुवत्योऽश्वत्थपर्णराजय इव बहिर्मुख्य प्रवृत्ता [3]इत्यर्थ ।

तत्र बुद्धे[4]रन्त करणस्य हृदय स्थान तत्र बुद्धितन्त्राणि चेतराणि बाह्यानि करणानि । [5]तेन बुद्धि कर्मवशाच्छ्रोत्रादीनि ताभिर्नाडीभि र्मत्स्यजालवत्कर्णशष्कुल्यादिस्थानेभ्य[6] [7]प्रसारयति प्रसार्य [8]चाधितिष्ठति [9]जागरितकाले । ता विज्ञानमयो[10]ऽभिव्यक्तत्वात्मचैत-न्यावभासतया [11]व्याप्नोति । [12]सकोचनकाले च [13]तस्या अनुसकुचति । [14]सोऽस्य विज्ञानमयस्य

---

[1]बहिर्मुखत्वमाह—हृदयादिति ।

ताभिरित्यादि व्याकर्तु भूमिका करोति—तत्रेति । शरीर सप्तम्यर्थ । शरीरे करणानां बुद्धितन्त्रत्वे किं स्यात्तदाह—तेनेति । [17]तथाऽपि जीवस्य किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह—ता विज्ञानमय इति ।

वाली नाडियाँ (कदम्ब कुसुम से उद्धृत पराग के समान) अन्नरस की परिणामभूता देह की शिराएँ है। वे द्वासप्तति सहस्राणि अर्थात बहत्तर हजार ह हृदयात' यानी हृदय नाम का जो कमल के आकार के समान मासपिण्ड है उससे ' पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते यानी सम्पूण शरीर को व्याप्त होकर स्थित है। 'पुरीतत् हृदयपरिवेष्टन का नाम है। यहाँ उससे उपलक्षित शरीर 'पुरीतत् शब्द से अभिप्रेत है। सम्पूण शरीर को व्याप्त करती हुई वहिर्मुख होकर प्रवृत्त है, जैसे पीपल के पत्तो की नसें बाहर की ओर व्याप्त है।

शरीर म वुद्धि या अन्न करण का हृदय स्थान है उसम स्थित बुद्धि के अधीन दूसरी बाह्य इन्द्रियाँ है। इसी स बुद्धि कमवश श्रोत्रादि इन्द्रियो को मछली पकडने क लिए जाल के समान उन नाडियो के द्वारा कणरन्ध्रादि स्थानो से बाहर फैलाती है। तब उन्हे फलाकर जाग्रत् अवस्था के आरम्भ म उनकी अध्यक्ष होकर स्थित रहती ह। इस (पूर्वोक्त) बुद्धि को विज्ञानमय आत्मा अनावृत

---

१ मासपिण्ड इति— आ नाभितस्तथा कण्ठाद्धृदय मध्यत स्थितम्। सनाल पद्मकोशाम पञ्चच्छिद्रमधामु खमिति वार्तिकम् ॥ ३२० ॥ २ अभिनि मरन्ति । ३ इत्यथ इति । अभिप्रतिष्ठन्त इत्यस्य तात्पयमाह वार्तिके— स्वप्नकमसमुद्‌भूता वासना या हृदि स्थिता । नाडीभिस्ता वितत्याऽऽत्मा स्वप्नान्पश्यति मामत ॥ ३२६ ॥ इति । स्वप्नकम—स्वप्नभोगप्रद कम तनोद्‌बाधिता इत्यथ । ४ तत्र तेषा तत्तन्त्रत्वेन । ५ मत्स्यबन्धनाथजालवत् । ६ वहि । ७ प्रसारयतीति—बुद्धि स्वाधीनकरणानि जाग्रद्धतुकमणा नाडीद्वारा कर्णशष्कुल्यादिस्थानानि धीवृत्तिद्वाराणि करणानीति विषयाभिमुखानि करोतीति यावत्। ८ अधितिष्ठतीति—कणशष्कुल्यादिस्थानानि धीवृत्तिद्वाराणि करणानीति नेप। ९ एतदारम्भे। १० यथोक्ता धियम्। ११ अनावृतेत्यथ । १२ व्याप्नोतीति—यतो बुद्धे करणाना च बहि सपण तत स्वतोऽनवयवोऽक्रियोऽप्यात्मा स्वाज्ञानविशिष्टो व्यक्तचैतन्याभासाम्यविशेषयुक्तधी सहित श्रोत्रादिद्वारा सर्वानर्थान् व्याप्नोति रश्मिद्वारा सवव्यापकसवितृवदित्यथ । १३ एवमात्मनो जाग्रद्धी-नेऽपि कथ सुषुप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—सङ्कोचनकाल इति । १४ धिय । १५ धीसङ्कोचमनुसङ्कोचनास्य । १६ सूर्यादिरश्मीनामिव । १७ तथापि—बुद्धेरिन्द्रियाणा च सावयवत्वसक्रियत्वाभ्यां बहि सपणेऽपि निरवयवस्य चात्मनो न तद्युक्तमिति भाव ।

[1]स्वापः। [2]जाग्रद्विकासानुभवो भोगः। [3]बुद्ध्युपाधिस्वभावानु[4]विधायी हि [5]स चन्द्रादिप्रतिबिम्ब इव जलाद्यनुविधायी। तस्मात्तस्या बुद्धेर्जाग्रद्विषयायास्ताभिर्नाडीभिः प्रत्यवसर्पणमनु[6]प्रत्यवसृप्य पुरीतति शरीरे शेते तिष्ठति तप्तमिव लोहपिण्डमविशेषेण संव्याप्याग्निव[7]च्छरीरं संव्याप्य वर्तत इत्यर्थः। स्वाभाविक एव स्वात्मनि वर्तमानोऽपि कर्मानुगतबुद्ध्यनुवृत्तित्वात्पुरीतति शेत इत्युच्यते। न हि सुषुप्तिकाले शरीरसंबन्धोऽस्ति। [8]तीर्णो [9]हि तदा [10]सर्वाञ्छोका[11]न्हृदयस्येति हि [12]वक्ष्यति।

भोगशब्दो जागरविषयः। बुद्धिविकासमनुभवन्नात्मा जागर्तीत्युच्यते तत्सकोचं चानुभवन्स्वपितीत्यत्र हेतुमाह—बुद्धीति। बुद्ध्यनुविधायित्व "परामृश्य ताभिरित्यादि व्याचष्टे—तस्मादिति। प्रत्यवसर्पणं व्यावर्तनम्। पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—तप्तमिवेति। कर्मत्वे देहस्य कर्तृत्वे चाऽऽत्मनो दृष्टान्तद्वयम्। "*हृदयाकाशे ब्रह्मणि शेते विज्ञानात्मेत्युक्त्वा पुरीतति शयनमाचक्षाणस्य पूर्वापरविरोध. स्यादित्या*शङ्क्याऽऽह—स्वाभाविक इति। "औपचारिकमिदं वचनमित्यत्र हेतुमाह—न हीति।

स्वात्मचैतन्य प्रकाशरूप से व्याप्त कर लेता है। तथा सकुचित अवस्था मे उसी बुद्धि के साथ सकुचित हो जाता है। (अनुसकोच नामक) यह (धीसकोच) विज्ञानमय का सोना है, और जाग्रत्कालीन बुद्धि के विकास का अनुभव जाग्रत् विषय है। जिस प्रकार चन्द्रादि का प्रतिबिम्ब जलादि का अनुकरण करने वाला होता है, उसी प्रकार वह विज्ञानमय बुद्धिरूप उपाधि के स्वभाव का अनुकरण करता है। इसलिये उस जाग्रद्विषयिणी बुद्धि के वापिस लौटने के साथ-साथ वह उन नाडियो द्वारा लीन होकर "पुरीतति" यानी शरीर मे "शेते" यानी रहता है। भावाशय यह है कि तप्त लोहपिण्ड मे अग्नि के समान वह शरीर मे सामान्यरूप से व्याप्त होकर प्रतिष्ठित है। वह स्वस्वरूप ब्रह्मैक्य मे स्थित रहते हुए भी कर्मानुगत बुद्धि का अनुकरण करने के कारण "शरीर मे शयन करता है" ऐसा कहा जाता है। ऐसा इसलिए कहा जाता है क्योकि सुषुप्ति अवस्था मे उसका शरीर से सम्बन्ध नही रहता। आगे बृहदारण्यक श्रुति मे भी कहा जायगा "उस समय विज्ञानमय हृदय के सारे शोको को पार कर

१ स्वाप इति। "ता एवेन्द्रियवृत्ती स्वाश्चैतन्यसचिता यदा। सप्रयच्छति प्रतीच्यात्मा स्वपितीति तदोच्यते" ॥ वा० ३३७॥ इति। स्वकीयेन्द्रियवृत्तीना जाग्रद्भोगहेतूना चैतन्याभासव्याप्ताना प्रतीच्युपसहारे सुषुप्तिरित्यर्थ ॥ २ जाग्रत्कालीनधीविकासानुभव प्रतीचो जागर। ३ बुद्धीति—"बुद्ध्युपाध्यनुरोधेन प्रतीच प्रभवाप्ययौ। विक्षेपलयहीनस्तु स्वत कुम्भखवत्पर" ॥ ३३८॥ स्वाभाविकावात्मनस्तौ प्रभवाप्ययौ जागरसुप्तौ किं न स्याता तत्राऽऽह—विक्षेपेति। ४ अनुकरणशील। ५ विज्ञानमय। ६ उपसहृतीभूय। ७ शरीर सव्याप्येति। देहेन्द्रियाणा स्वापे सहारात्कुत शरीर व्याप्य शयनमित्याशङ्क्य समादधुर्वार्तिके—' स्वहेतुमात्रया स्थानमिन्द्रियाणा न कार्यत। यतोऽतश्चिदाभिनैव व्याप्ति स्यात्कारणात्मना" ॥ ३४०॥ स्वहेतुमात्रया कारणात्मना इति सबन्ध। देहेन्द्रियाणां न स्वापे स्वरूपेणावस्थिति किन्तु कारणात्मनाऽतस्तदात्मकदेहादेश्चिदाभासव्याप्तिसभवाद्देह व्याप्य स्वापे स्वात्मनि शयन युक्तमित्यर्थ ॥ ८ तत्र मानमाह—तीर्ण इति। नन्वत्र शोकसम्बन्धो वार्यते न शरीरादिसम्बन्धस्तत्राह—हीति। तत्र शब्देनात्र 'पिताऽपिता भवतीति' सर्वसम्बन्धवारणश्रुतिवचन सूचितम्। ९ विज्ञानमय। १० बृ० उ० ४।३।२२। ११ भवति। १२ चतुर्थाध्याय। १३ अनुसधाय हेतुत्वेन। १४ बृ० उ० २।१।१७। १५ गौणम्।

सर्वसंसारदुःखविपुक्तेयमवस्थेत्यत्र दृष्टान्त.—स यथा 'कुमारो वाऽत्यन्तबालो वा महाराजो वाऽत्यन्त'वश्यप्रकृतिर्यथोक्तकृ'न्महाब्राह्मणो वाऽत्यन्तपरिप'क्वविद्याविनयसंपन्नोऽ'तिघ्नीमतिशयेन दुःखं हन्तीत्यतिघ्न्यानन्दस्यावस्था सुखावस्था तां प्राप्य गत्वा शयीता'वतिष्ठेत । एषां च कुमारादीनां 'स्वभावावस्थानां 'सुखं निरतिशयं प्रसिद्धं लोके। 'विक्रियमाणानां हि तेषां दुःखं न स्वभावतस्तेन' ❀तेषां स्वाभाविक्यवस्था दृष्टान्तत्वेनोपादीयते

इयमवस्थेति प्रकृता सुषुप्तिरुच्यते । उक्तेषु दृष्टान्तेषु विवक्षितमंशं दर्शयति—एषां चेति । दुःखमपि तेषां प्रसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह— विक्रियमाणानां हीति । 'कुमारादिस्वापस्यैव दृष्टान्तत्वं कि

लेता है" इत्यादि।

यह सुषुप्ति अवस्था ससार के सारे दुःखो से विलग है। इस विषय मे यह दृष्टान्त दिया जाता है। वह "कुमार" यानी (दुधमुहा, विषयविकारो से रहित रागादिशून्य) अत्यन्त छोटा बालक, अथवा "महाराज" यानी सर्वतः स्थिरबुद्धि वाला एव विहित अनुष्ठान करने वाला महाराज, "महाब्राह्मण" यानी अशेषज्ञ होने से आनन्द को पराकाष्ठा को प्राप्त करके कृतार्थ ब्रह्मविद, विद्याविनयसम्पन्न महाब्राह्मण, "अतिघ्नीम्" अतिशय दुःख से छुडाकर दुःख के कारणो का हनन कर देने वाली "आनन्दस्य" यानी सुख की अवस्था को प्राप्त होकर "शयीत" अर्थात् प्रतिष्ठित होवे। अपनी स्वाभाविक अवस्था वाले इन कुमारादि का सुख लोकव्यवहार मे सब से बढकर प्रसिद्ध ही है। क्षुधा और पिपासा आदि विकार को प्राप्त मनुष्यो को ही दुःख होता है, स्वाभाविकरूप से नही। वक्ष्यमाण हेतु से प्रसिद्ध होने से उनकी स्वाभाविक अवस्था को दृष्टान्तरूप से प्रतिपादित किया जाता है।

१ कुमारः स्तनधयोऽप्ररूढेन्द्रियो विषयप्रावण्यरहितो रागाद्यभाववानित्यर्थः । २ सर्वत्राव्याहताज्ञो विहितानुष्ठायी। ३ अशेषज्ञत्वात् आनन्दस्य परां काष्ठामेत्य कृतार्थः ब्रह्मवित्। ४ अतिघ्नीमिति। "अतीत्य दुःखहेतून्या हन्ति दुःखान्यशेषतः । आनन्दस्य परा काष्ठा तेनातिघ्नीति भण्यते" ॥ वा० ३५० ॥ ५ स्वाभाविकावस्थावताम् । ६ सुखमिति। "निर्विकारात्मना यस्माद्बालादीनां स्व आत्मनि। अतीव जायते ह्लादो दृष्टान्तः स विवक्षितः' ॥ वा० ३५१ ॥ ७ क्षुत्पिपासादिविकारं प्राप्तानाम् । ८ वक्ष्यमाणहेतुना। ९ कुमारादिस्वापस्यैवेति—दृष्टान्ते शयीतेति श्रुतेः बालादिस्वस्थावस्थाया न दृष्टान्तेति तदाशयः ।

❀तेषां स्वाभाविक्यवस्था दृष्टान्तत्वेनोपादीयते प्रसिद्धत्वादिति अत्राहुर्वार्तिकाचार्याः—'अव्याहतमतिर्बालः सर्वातिशयवर्जिताम् । आनन्दस्य परां काष्ठामतिघ्नीं प्रतिपद्यते ॥ यावद्यावत्प्ररूढत्वं रागादेर्जायते शिशोः । तावत्तावत्प्ररूढत्वं दुःखस्याप्यभिजायते ॥ यथैव तत्तनुत्वं च यावद्यावदिहाऽऽत्मनः । दुःखस्यापि तनुत्वं स्यात्तावत्तावत्सुखात्मनः ॥ उत्तरोत्तरवृद्धयाऽतो दुःखहेतुक्षयाच्छ्रुतौ । सहस्रदशभागेन निष्ठाऽऽनन्दस्य भण्यते ॥ आनन्दः स्वयमेवाऽऽत्माऽव्यावृत्तानुगतप्रत्यङ्मात्रसमाप्तितः । भूम्न्येव तु परा निष्ठाऽऽनन्दस्येति श्रुतेर्वचः ॥ भेदसंसर्गवर्जितः । दुःखहेतुविनिर्मुक्तावतिघ्नीमेत्यतः स्वतः" ॥ ३५७ ३६२ ॥ ननु बालस्याविवेकप्रधानत्वात्तस्यावस्था परानन्दरूपाऽस्ति तत्कथं तद्दृष्टान्तसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—अव्याहतेति ॥ रागाद्यनुपहतधीः शिशुरनतिशयानन्दावस्थां दुःखतद्धेतुहीनामाप्नोतीत्युक्तं तस्यापि क्षुत्पिपासादिदृष्ट्या रागाद्युपहतेरित्याशङ्क्याऽऽह—यावदिति । रागादिभूयस्त्वे दुःखबाहुल्यात्सुखाल्पतेत्यर्थः ॥ उक्तमन्वयं वैधर्म्यमाह—यथेति । रागादिमान्द्ये दुःखाल्पतया सुखप्राचुर्यादप्ररूढरागादिशिशुरनुपहतधीरनतिशयानन्दावस्था दृष्टान्त इत्यर्थः । इहेति व्यवहार-

प्रसिद्धत्वात् । न तेषां स्वाप एवाभिप्रेतः । स्वापस्य दार्ष्टान्तिकत्वेन विवक्षितत्वा-द्विशेषाभावाच्च । विशेषे हि सति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभेदः स्यात् । तस्मान्न तेषां स्वापो दृष्टान्तः । एवमेव यथाऽयं दृष्टान्त 'एष विज्ञानमय एतच्छयनं शेत' इत्येतच्छब्दः क्रिया-विशेषणार्थः । एवमयं स्वाभाविके स्व आत्मनि सर्वसंसारधर्मातीतो वर्तते स्वापकाल इति ॥ १६ ॥

क्वैष तदाऽभूदित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनमुक्तम् । अनेन च प्रश्ननिर्णयेन विज्ञान-

---

न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न तेषामिति । तत्स्वापस्य दृष्टान्तत्वमस्मत्स्वापस्य दार्ष्टान्तिकत्वमिति विभागमाशङ्क्याऽऽह—विशेषाभावादिति । क्वैष तदाऽभूदिति प्रश्नस्योत्तरमुपपादितमुपसंहरति—एवमिति ॥ १६ ॥

स यथेत्यादेः संगतिं वक्तुं वृत्तं संकीर्तयति—क्वैष इति । किं पुनराद्यप्रश्ननिर्णयेन फलति

यहाँ केवल उनकी सुषुप्तावस्था का ग्रहण करना इष्ट है क्योंकि सुषुप्तावस्था तो दार्ष्टान्तिकरूप से विवक्षित की गई है और उनमे भेदाभाव भी है। भेद के रहने पर ही दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का भेद रह सकता है, इसलिए (अभेदापत्ति होने से) उनका सुषुप्ति दृष्टान्त संभव नहीं है। इसी प्रकार जैसे यह दृष्टान्त है, "यह विज्ञानमय 'एतच्छेते' यानी इसमे शयन करता है"। यहाँ 'एतत्' शब्द क्रिया-विशेषणार्थक है। इस प्रकार यह विज्ञानमय सुषुप्तावस्था मे अपने स्वाभाविक ब्रह्मैक्यस्वरूप मे सब सासारिक धर्मों से अतीत होकर रहता है ॥ १६ ॥

---

१ प्रसिद्धत्वादिति । "इन्द्रियस्याऽप्ररूढत्वात् स्वेष्टप्राप्तिविवेकतः । नीरागाणां बालराजब्राह्मणानां क्रमात्सुखम् ॥ दुःख रागद्वेषजन्यं तदभावे सुखं स्वतः । इति व्याप्तिगृहीत्यर्थं बहुदृष्टान्तवर्णनम्" ॥ वा० सा० ११५-११६ ॥ इति श्रीमद्भगवत्पादानामाशय । २ भेदाभावात् । ३ कुमारादिस्वापस्य दृष्टान्तत्वेऽस्मत्स्वापस्य दार्ष्टान्तिकत्वे चाभ्युपगते तयोर्विशेषाभावेनाभेदापत्ते भेदे सत्येव तयोर्युक्तत्वात् । ४ एष विज्ञानमय — सर्वसंसारधर्मातीत एतच्छयनं यथा स्यात्तथा शेते सुषुप्तो ब्रह्मात्मना वर्तत इत्यर्थः । अहंकारादिविशिष्ट आत्मा-ऽज्ञातेन ब्रह्मणा तादात्म्यं स्वापे प्राप्नोतीत्यतः साक्षाद्ब्रह्मरूपेण स्थितिस्तस्य शयनमित्यर्थः । तदानीं चातिसामीप्या-देव न वेत्त्यहं ब्रह्मेति सामीप्यातिशयस्यापि ज्ञानविरोधित्वदर्शनात्कज्जलादाविति ध्येयम् । ५ विज्ञानमय । ६. तथाविधा शुद्धिरन्यत्रापि श्रुतिवाक्येषु प्रसिद्धेति प्रथमचकारेण सूच्यते । ७ भेदम् ।

भूमिरुक्ता । रागादिक्षये दुःखक्षयाद्भूयस्त्वं सुखस्येत्यत्र मानमाह—उत्तरेति । स एको मानुष आनन्द इत्यारभ्य स एको ब्रह्मण आनन्द इत्यन्तश्रुतौ पूर्वपूर्वभूमेः शतशतगुणोत्कर्षेणोत्तरोत्तरभूमौ वृद्ध्या ब्रह्मण्यानन्दस्यावसान-मुच्यते तत्र श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति श्रुतेर्दृष्टेन रागादिक्षयासत्त्वार्थद्वारकत्वया सुखबाहुल्यसिद्धिरित्यर्थः ॥ आनन्दस्य परा निष्ठा ब्रह्मणीत्यत्र श्रुत्यन्तरं संवादयति—अध्यावृत्तेति । सर्वत्रैवाऽसे प्रतीच्यवमानात्तत्रैवाऽऽनन्दस्य निष्ठेति मत्वा यो वै भूमा तत्सुखमित्यादिवाक्यमित्यर्थः ॥ आनन्दस्य भूम्नि निष्ठेत्युक्तेरानन्दात्मनामेदमाश-ङ्क्याऽऽह—आनन्द इति । तस्याऽऽत्मना क्रियाकारकवर्जीनोत्पलवद्वा सर्गतिरित्याशङ्क्याऽऽह—भेदेति । आत्मान-न्दैकरस्ये फलितमाह—दुःखेति । अतिघ्नीमानन्दस्य निष्ठामिति शेषः । अवस्थाद्वयसंचारोऽथशब्दार्थः सुषुप्त्यनार्ष-करणस्य विनैव ज्ञानमेषा निष्ठाऽस्यतेऽतो युक्त पुनरुत्थानमिति मत्वाऽऽह—अत ऊर्ध्व इति ।

मयस्य स्वभावतो 'विशुद्धिरसंसारित्वं चोक्तम् । कुत एतदागादित्यस्य प्रश्नस्यापाकरणार्थं आरम्भः । ननु यस्मिन्ग्रामे नगरे वा यो भवति सोऽन्यत्र गच्छंस्तत एव ग्रामान्नगराद्वा गच्छति 'नान्यतः । 'तथा सति क्वैष तदाऽभूदित्येतावानेवास्तु प्रश्नो यत्राभूत्तत एवाऽऽगमन प्रसिद्ध स्यान्नान्यत इति कुत एतदागादिति प्रश्नो 'निरर्थक एव । किं श्रुतिरुपालभ्यते भवता । न, किं तर्हि द्वितीयस्य प्रश्नस्यार्थान्तरं श्रोतुमिच्छाम्यत आनर्थक्यं चोदयामि ।

'एवं तर्हि कुत -इत्यपादानार्थता न गृह्यते ।- अपादानार्थत्वे हि पुनरुक्तता

त्वपदार्थशुद्धिरित्याह—अनेनेति । शुद्धिद्वारा ब्रह्मत्व च तस्योक्तमित्याह—असंसारित्व चेति । उत्तरग्रन्थस्य तात्पर्यमाह—कुत इति । पूर्वेणोत्तरस्य गतार्थत्वं शङ्कते—नन्विति । 'स्थित्यवधेरेव निर्धारितत्वाद्'गत्यवधेर्निर्दिधारयिषया "प्रश्ने प्रतिवचन सावकाशमित्याशङ्क्याऽऽह—तथा सतीति । अपौरुषेयी श्रुतिरशेषदोषशून्यत्वाद"नतिशङ्कनीयेति सिद्धान्ती गूढाभिसंधिराह—किं श्रुतिरिति । न श्रुतिराक्षिप्यते निर्दोषत्वादिति पूर्ववाद्याह—नेति । श्रुतेरनाक्षेप्यत्वे त्वदीयं चोद्यं निरवकाशमित्याह—किं तर्हीति । तस्य सावकाशत्वं पूर्ववादी साधयति—द्वितीयस्येति ।

पूर्ववादिन्यपादानादर्थान्तरे पञ्चम्या शुश्रूषमाणे सत्येकदेशी ब्रवीति—एवं तर्हीति । कथमन्या-

---

"वह कहाँ गया था ?" इस प्रश्न का उत्तर बतला दिया गया। इस प्रश्न के निर्णय से ही विज्ञानमय आत्मा की (मोह से उत्पन्न सम्पूर्ण कार्यो से असंसर्गित्वरूपा) स्वभावत विशुद्धि और असंसारिता कह दी गयी। इस प्रश्न के समाधान के लिए कि 'वह कहाँ से आया' आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है। (पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) (लोकव्यवहार में) जो पुरुष जिस ग्राम या नगर में होता है, वह अन्यत्र जाते समय (स्थिति के अधिकरण) उसी ग्राम या नगर से जाता है (गति का अपादान वही स्थान होता है), दूसरे स्थान से नहीं जाता। इस प्रकार (स्थिति-आधार के निर्णय से ही गति का अवधि निर्णीत हो जाने पर) 'उस समय वह कहाँ था' बस इतना ही प्रश्न हो, जहाँ वह था वहीं से आगमन प्रसिद्ध होगा दूसरी जगह से नहीं। इसलिये यह प्रश्न कि 'वह कहाँ से आया' उपयुक्त नहीं है। (सिद्धान्ती पूछता है—) क्या इस प्रकार आप श्रुति का उपालम्भन कर रहे हैं? (पूर्ववादी कहता है—) नहीं। (सिद्धान्ती पूछता है—) तो फिर क्या कर रहे हैं? (पूर्ववादी कहता है—) मैं दूसरे प्रश्न का (अपादान में) कोई अन्य अर्थ सुनना चाहता हूँ इसीलिए (पुनरुक्तिदोष से) इसकी अनर्थकता की आशङ्का करता हूँ।

तुम्हारी अर्थान्तर सुनने के इच्छा होने पर फिर "कुत" इस शब्द को अपादानार्थता ग्रहण नहीं

---

१ मोहोत्थाशेषकार्यासंसर्गित्वरूपा। २ समाधानार्थ। ३ स्थित्यधिकरणस्यैव गत्यपादानत्व लोके प्रसिद्धमिति भाव। ४ तथा सति—स्थित्याधारनिर्णयादेवागत्यवधेर्निर्णीतत्वे सतीत्यर्थ। ५ निरर्थक इत्यत्र—स्थित्यधिकरणनिश्चयेन तद्द्वारा देवागत्यवधेरपि निश्चयसंभवात्तादर्थ्येनोत्तरग्रन्थारम्भो न युज्यते पौनरुक्त्यादिति भाव। ६ अपादानादन्यमर्थम्। ७ त्वमर्थान्तर श्रोतुमिच्छसि सति। ८ अधिकरणस्य। ९ अपादानस्य। १० प्रश्ने सत्युत्तरमावश्यकमिति भाव। ११ आक्षेपानास्पदम्।

नान्यार्थत्वे। अस्तु तर्हि [1]निमित्तार्थः प्रश्नः कुत एतदागात्किंनिमित्तमिहाऽऽगमनमिति। न, [2]निमित्तार्थताऽपि [3]प्रतिवचनवैरूप्यात्। आत्मनश्च सर्वस्य जगतोऽग्निविस्फुलिङ्गादिवदुत्पत्तिः प्रतिवचने श्रूयते। न हि विस्फुलिङ्गानां [4]विद्रवणेऽग्निनिमित्तमपादानमेव तु सः। तथा परमात्मा विज्ञानमयस्याऽऽत्मनोऽपादानत्वेन श्रूयतेऽस्मादात्मन इत्येतस्मिन्वाक्ये। [5]तस्मात्प्रतिवचनवैलोम्यात्कुत इति प्रश्नस्य निमित्तार्थता न शक्यते वर्णयितुम्।

नन्वपादानपक्षेऽपि पुनरुक्ततादोषः स्थित एव। नैष दोषः। [6]प्रश्नाभ्यामात्मनि क्रियाकारकफलात्मतापोहस्य विवक्षितत्वात्। [7]इह हि विद्याविद्याविषयावुपन्यस्तौ[8]।

र्थत्वं तदाह—अस्त्विति। तर्हि तस्यामपादानार्थत्वेन पुनरुक्तत्वायस्यामित्यर्थः। एकदेशिनं पूर्ववादी दूषयति—नेति। अपादानार्थतावदित्यपेरर्थः। तदेव स्फुटयति—आत्मनश्चेति। जगतः सर्वस्य चेतनस्याचेतनस्य चेति वक्तुं चशब्दः।

[9]तर्हि भवत्वपादानार्था पञ्चमीत्याशङ्क्य पूर्ववादी पूर्वोक्तं स्मारयति—नन्विति। सर्वाविद्यातज्जनिर्मुक्तं प्रत्यगद्वयं ब्रह्म प्रश्नद्वयव्याजेन प्रतिपिपादयिषितमिति न पुनरुक्तिरिति सिद्धान्ती स्वाभिसंधिमुद्घाटयति—नैष दोष इति। यथोक्तं वस्तु प्रश्नाभ्यां विवक्षितमिति कुतो ज्ञातमित्याशङ्क्य तद्वक्तुं [10]तार्तीयमर्थमनुवदति—इह हीति। विद्याविषयनिर्णयस्य कर्तव्यत्वमत्र[11] न प्रतिभातीत्याशङ्क्याऽऽह

की जाती क्योंकि पुनरुक्तिदोष अपादान अर्थ करने पर ही होता है, अन्य अर्थ ग्रहण करने पर नहीं। अच्छा तो इस प्रश्न को निमित्तार्थक माना जाय कि "कुत एतदागात्" (सुखरूप ब्रह्म मे स्थित रहकर दुःखबहुल शरीर मे) यहाँ किस निमित्त से आया? (सिद्धान्ती समाधान करता है—) इस (पञ्चमी विभक्ति) की निमित्तार्थता भी नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा मानने से उत्तर प्रश्न के अननुरूप हो जायगा। प्रत्युक्ति मे अग्नि से विस्फुलिङ्ग आदि के समान आत्मा से ही समस्त जगत् की उत्पत्ति सुनी जाती है। चिनगारियो का ऊपर गमन अग्निनिमित्तक नहीं है, वह तो अपादान ही है। उसी प्रकार "इस आत्मा से" इस श्रुतिवाक्य मे परमात्मा विज्ञानमय आत्मा के अपादानरूप से सुना जाता है। इसलिए प्रत्युक्ति से विरोध आने के कारण 'कुत एतदागात्' इस प्रश्न की निमित्तार्थता वर्णन नहीं की जा सकती।

(पूर्वपक्षी आक्षेप करता है—) किन्तु पूर्वोक्त प्रश्न मे अपादानपक्ष को स्वीकार करने पर भी पुनरुक्तिदोष तो ज्यो का त्यो बना रहता है। (सिद्धान्ती अपना मत प्रस्तुत करता है—) इसमे दोष की

१ ब्रह्मणि स्थितस्य सुखरूपे दुःखभूयिष्ठे शरीरे। २ पञ्चम्याः। ३ प्रत्युक्तिविरोधात् उत्तराननुरूपत्वात्प्रश्नस्येति यावत्। उत्तरं ह्यग्रिमवाक्यऽपादानत्वमाश्रित्य दत्तं भाति। ४ उद्गमने। ५ यथोक्तप्रतिवचनविरोधात्। ६ अज्ञानतत्कार्यविनिर्मुक्तं शुद्धस्वमर्थं प्रथमप्रश्नेन विवक्षितं। अव्यावृत्ताननुगत(अजातिव्यक्ति)पूर्णं प्रत्यङ्मात्रैकयाथात्म्यं ब्रह्मविवक्षितं द्वितीयप्रश्नेनेत्यभिप्रेत्याऽऽह—प्रश्नाभ्यामिति। ७ अतिक्रान्ताध्याये। ८ तथाहीति शेषः। ९ तर्हीति—प्रत्युक्तौ निमित्ता प्रतीतिमुपेत्य श्रौतप्रयोगस्यार्थवत्तानियमेऽर्थान्तरस्य चाभावे इत्यर्थः। १० उपनिषदि प्रथमाध्यायगतम्। ११ ब्राह्मणे।

'आत्मेत्येवोपासीता'ऽऽत्मानमेवावेदा'त्मानमेव लोकमुपासीतेति- विद्याविषयः' । तथा-ऽविद्याविषयश्च पाङ्क्तं कर्म, तत्फलं चान्नत्रयं नामरूपकर्मात्मकमिति । तत्राविद्याविषये वक्तव्यं सर्वमुक्तम् । 'विद्याविषयस्त्वात्मा 'केवल उपन्यस्तो, न निर्णीतः । तन्निर्णयाय च ब्रह्म ते ब्रवाणीति प्रक्रान्तं ज्ञपयिष्यामीति च । 'अतस्तद्ब्रह्मविद्याविषयभूतं ज्ञापयितव्यं याथात्म्यतः । 'तस्य च याथात्म्यं क्रियाकारकफलभेदशून्यमत्यन्तविशुद्धमद्वैतमित्येतद्विवक्षितम् । अत'स्तदनुरूपौ प्रश्नावुत्थाप्येते श्रुत्या क्वैष तदाऽभूत्कुत एतदागादिति ।

"तत्र यत्र भवति तदधिकरणं यद्भवति तदधिकर्तव्यं तयोश्चाधिकरणाधिकर्त-

—तन्निर्णयाय चेति । "अन्यथा "प्रक्रमभङ्गः स्यादिति भावः । किं तद्याथात्म्यं तदाह—तस्य चेति ।

कथं "यथोक्तयाथात्म्यव्याख्यानोपयोगित्वं प्रश्नयोरित्याशङ्क्य तयोः "श्रौतमर्थमाह—तत्रेति ।

कोई बात नही है क्योकि उक्त प्रथम और द्वितीय प्रश्न से आत्मा मे क्रिया-कारक और फलात्मकता की निवृत्ति करना अभीष्ट है । पिछले अध्याय मे विद्या और अविद्या दोनो ही के विषयो का वर्णन किया है । "आत्मा है, इस रूप से उसकी उपासना करे", "आत्मा के तत्त्व को ही जाना", "आत्मलोक की ही उपासना करे" इत्यादि श्रुतिवाक्यो मे आत्मा विद्या का विषय है । तथा पाङ्क्तकर्म और उसका फल नामरूपकर्मात्मक-अन्नत्रय अविद्या का विषय है । प्रथमाध्याय की समाप्तिपर्यन्त अविद्या के विषय मे जो कुछ कहना था, वह सब कह दिया । विद्या का विषय तो विशुद्ध आत्मा ही है, उसका वर्णन किया गया परन्तु निर्णय नही लिया गया । उसका निर्णय करने के लिए "मैं तुम्हे ब्रह्म का उपदेश करूँगा" इस श्रुतिवाक्य से तथा "ज्ञान कराऊँगा" इस श्रुतिमन्त्र मे उपक्रम किया है । अत. विद्या के विषयभूत उस ब्रह्म का याथात्म्य ज्ञान कराना है । उसका तात्त्विक स्वरूप क्रिया-कारक-फलरूप भेद से शून्य, अत्यन्त विशुद्ध और अद्वैत है, यह बतलाना अभीष्ट है । इसी से यथोक्त याथात्म्य-व्याख्यान के अनुकूल ही श्रुति "उस समय वह कहाँ था" और "यह कहाँ से आया" इन दोनो प्रश्नो को उठाती है ।

उन दोनो प्रश्नो मे, जहाँ रहता है, वह अधिकरण होता है और जो रहता है, वह अधिकर्तव्य

१ बृ०उ० १.४.७ । २ बृ०उ० १.४.१० । ३ बृ०उ० १.४.१५ । ४ आत्मा । ५ समाप्ति-विद्यासूत्रमातृतीयसमाप्तेर्व्याख्यातम् । ६ विद्याविषयस्त्विति । वार्तिके यथा—'अविद्याप्रनिरासाय विद्याविषयोऽधुना । प्रवक्तव्योऽतस्तद्योग्यौ प्रश्नौ द्वौ समुदाहृतौ ॥ हेतुस्वरूपकार्याणि विरोधीनि परस्परम् । अविद्याविद्ययोर्यस्मात्तद्योग्यप्रश्नगौरव' ॥३७५–३७६॥ विद्यासूत्र न प्रपञ्चितमतस्तादर्थ्येन प्रश्नयोरुत्थानमित्याद्यभिप्राय ॥ कथमविद्याप्रतिपक्षा विद्येति तत्राऽऽह—हेत्विति । अविद्याज्ञापकोऽविवेकरागादिर्विद्यायाम्नूला-दक्षो ज्ञापकश्चविवेकवैराग्यादिस्तयो स्वरूप प्रकाशोऽप्रकाशश्च कार्यं बन्धस्तन्निवृत्तिश्चैतानि मिथो विरुद्धानि तस्मादविद्याप्रतिकूलविद्याव्याख्यानयोग्यप्रश्नद्वयप्रवृत्तिरित्यर्थः । ७ शुद्ध । ८ विद्याविषयस्य प्रक्रान्तत्वात् । ९ विद्याविषयब्रह्म । १० यथोक्तयाथात्म्यव्याख्यानानुकूलौ । ११ प्रश्नसामर्थ्य । १२ अथर्थेति— १३ प्रक्रान्तयोरेव निर्णीतमेव च नेति । १४. विद्याविषय-विद्याविषयनिर्णयस्य कर्तव्यत्वाभ्युपगमे । स्यात्मन. । १५ श्रुत्यभिप्रेतम् ।

व्ययोर्भेदो दृष्टो लोके। तथा यत आगच्छति तदपादानं य आगच्छति स कर्ता तस्मादन्यो दृष्टः। तथाऽऽत्मा क्वाप्यभूदन्यस्मिन्नन्यः कुतश्चिदागादन्यस्मादन्यः केनचिद्भिन्नेन साधनान्तरेणेत्येवं लोकवत्प्राप्ता बुद्धिः सा प्रतिवचनेन निवर्तयितव्येति। नायमात्माऽन्योऽन्यत्राभूदन्यो वाऽन्यस्मादागतः साधनान्तरं वाऽऽत्मन्यस्ति। किं तर्हि स्वात्मन्येवाभूत् "स्वमात्मानमपीतो भवति सता सोम्य तदा संपन्नो भवति "प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः परं आत्मनि संप्रतिष्ठते" इत्यादिश्रुतिभ्यः। अत एव नान्योऽन्यस्मादागच्छति। तच्छ्रुत्यैव प्रदर्श्यतेऽस्मादात्मन इति। आत्मव्यतिरेकेण वस्त्वन्तराभावात्।

प्रश्नप्रवृत्तिमुक्त्वा प्रतिवचनप्रवृत्तिमाह—सेति। निवर्तयितव्येति तत्प्रवृत्तिरिति शेषः। संप्रति प्रतिवचनयोस्तात्पर्यमाह—नायमिति। स्वात्मन्येवाभूदित्यत्र प्रमाणमाह—स्वमात्मानमिति। सुषुप्तौ स्वात्मन्येव स्थितिरत शब्दार्थ। प्रबोधदशायामात्मन एवाऽऽगमनापादानत्वमित्यत्र मानत्वेनानन्तरश्रुतिमुत्थापयति—तच्छ्रुत्यैवेति। स्थित्यागत्योरात्मन एवावधित्वमित्यत्रोपपत्तिमाह—आत्मेति।

होता है। लोकव्यवहार मे अधिकरणो और अधिकर्तव्यो का भेद देखा जाता है। (अब द्वितीय प्रश्न का अर्थ सग्रह करते है—) इसी प्रकार जहाँ से आता है, वह अपादान होता है, और जो आता है, वह कर्ता अपादान से भिन्न देखा जाता है। इसी प्रकार आत्मा किसी अन्य मे उससे भिन्नरूप मे था और किसी अन्य स्थान से उससे भिन्नरूप से अथवा किसी दूसरे साधन के द्वारा आया है, ऐसी लोकव्यवहार की तरह बुद्धि प्राप्त होती है। इसका आत्मयाथात्म्य-सम्यग्ज्ञानजनक प्रत्युक्तिवाक्य से समाधान करना है। (तात्पर्य यह है कि) यह आत्मा न तो अन्यरूप से किसी अन्य स्थान मे अथवा न यह अन्यरूप से किसी अन्य के पास से आया है और न आत्मा मे (अश्वादिस्थानीय) कोई अन्य साधन ही है। तो फिर क्या विवक्षित है ? यह अपने स्वरूप मे ही था। "वह अपने परमार्थरूप को प्राप्त हो जाता है", "हे सोम्य ! उस समय यह सत् से युक्त हो जाता है", "प्राज्ञ आत्मा से भली भाँति मिला हुआ रहता है", "परमात्मा मे सम्यकरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है" इत्यादि श्रुतिवाक्यो से यही सिद्ध होता है। इसलिए अन्य आत्मा किसी अन्य के पास से नही आता। यह बात "इस आत्मा से" इत्यादि श्रुतिमन्त्र से भी सिद्ध हो जाती है क्योकि आत्मा से भिन्न वस्तु की सुषुप्ति मे तो सत्ता ही नही है।

---

१ भेद इति—अनेन सर्वोऽप्ययं कारकव्यवहार स्वसत्ताकानेऽविद्याविषय एवेति ध्वनितम्। २ आद्यप्रश्नस्य श्रुत्यभिप्रेतमर्थं संक्षिप्य द्वितीयप्रश्नस्य तदभिमतमर्थं सगृह्णाति—तथेति। ३ अपादानात्। ४ बुद्धिरिति। वार्तिके यथा— क्रियाकारकभेदाद्या लोकेत धीमुषी स्वभूत्। यथास्थितात्मयाथात्म्यसम्यग्ज्ञानेन बाध्यते"॥३७१॥ द्वैतधीरविद्या संसारमात्मधिया बाध्यते तस्मात्तदुत्पादनाय तन्निवर्त्याविद्याविषयौ प्रश्नाविति भाव। ५ प्रतिवचनेनेति। उक्तात्मयाथात्म्यसम्यग्ज्ञानजनकप्रतिवचनवाक्येनेत्यर्थ। ६ अश्वादिस्थानीयम्। ७ किं तर्हीति—आधाराधेयभावोऽपादानकर्तृभावश्चाविवक्षितश्चेत्किं तर्हि विवक्षितमित्यर्थ। ८ स्वात्मन्यवति— आत्मविद्याद्वारा निःशेषात्माविद्याकार्यध्वंसोऽत्र विवक्षित प्रश्नप्रतिवचनवाक्ययोरभेदव्यतिरेकाभ्यां (भेदाभेदाभ्या) भेदहेतोरज्ञानस्य प्रतिषेधेन तत्कार्याधाराधेयादेर्निषेधादिति भाव। ९ (छा०उ०) स्वीयपरमार्थरूपम्। १० बृ० उ० ४।३।२१। ११ सुषुप्तौ। १२ प्रवृत्त्यभिप्रायमिति यावत्। १३ प्रतिवचनप्रवृत्ति। १४ क्रमादधिकरणत्वमपादानत्वं चेत्यर्थ।

*नन्वस्ति प्राणाद्यात्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरं,[1] न,[2] प्राणादेस्तत एव निष्पत्तेः । तत्कथमिति । उच्यते—

वस्त्वन्तराभावस्यासिद्धिं शङ्कित्वा दूषयति—नन्वित्यादिना । क्रियावतो मृदादेर्घटाद्युत्पत्तिदर्शनाद्ब्रह्मणोऽक्रियत्वात्ततो न प्राणाद्युत्पत्तिरिति शङ्कते—तत्कथमिति । सृष्टेर्मायामयत्वमाश्रित्य

किन्तु (पूर्वपक्षी के मत में) आत्मा से भिन्न प्राणादि भी तो वास्तव में है। (समाधान में सिद्धान्ती कहता है—) नहीं, क्योंकि प्राणादि की निष्पत्ति तो आत्मा से ही होती है। वह किस

१. वास्तवमिति भावः । २. नेति । "नाऽऽत्मन्येव तदध्यामाच्छुक्तिकारजतादिवत्" ॥ वा० ३८२ ॥

*नन्वस्ति प्राणाद्यात्मव्यतिरिक्त वस्त्वन्तरमित्यादिभाष्यार्थाविष्करणपराणि नववार्तिकानि प्रदर्श्यन्ते । मृदादिदृष्टान्तैर्या सृष्टिर्नानाविधोपदिष्टा स सर्वोऽप्युपदेशप्रकारो जीवपरयोरेकत्वज्ञानोत्पत्तय उपायो भवति । सृष्ट्यादिप्रयुक्तो भेदस्तु न कथमपि सभवतीत्यर्थ. । 'ननु प्राणादिभि र्भिद्धिः कथं निर्भेदतात्मनः । नाऽऽत्मन्येव तदध्यासाच्छुक्तिकारजतादिवत् ॥ कथ तदिति दृष्टान्ते ऊर्णनाभ्यादिरुच्यत । वास्तवं वृत्तमापेक्ष्य न त्वियं सृष्टिरात्मन. ॥ नासतो जन्मना योग सतः सत्वान्न चेष्यते । कूटस्थे विक्रिया नास्ति तस्मादज्ञानतो जनिः ॥ नि.शेषवेदसिद्धान्तपुस्प्रबोधप्रसिद्धयर्थं सृष्टिव्याजोऽयमुच्यते । कौटस्थ्यात्स्वात्मन' सृष्टिर्न कथचन युज्यते ॥ मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या विद्वद्भिरपि भाषितम् । गौडाचार्यैरिद वस्तु यथाऽस्माभि प्रपञ्चितम् ॥ सृष्टावन्यपरायां तु न चोद्यस्यास्ति सभवः । चोदिताऽन्यथा । उपायः सोऽवताराय नास्ति भेद कथचन ॥ निःसाधन च कार्याणि कथं कुर्यादनेकधा । विश्वरूपसमुत्पत्तिकूटस्थात्कथमुत्पत्तिरचितः चेतनात्कथम् ॥ निःसाधन च कार्याणि कथं कुर्यादनेकधा । विश्वरूपसमुत्पत्तिरेकरूपात्कथ भवेत् ॥ इत्येवमादिचोद्याना पुस्वभावानुरोधत । परिहारवचः श्रौतं न च वस्त्वनुरोधतः ॥ ३८२-३९० ॥ इति आत्मनो निर्भेदत्वमाक्षिपति—नन्विति । तैस्तस्य भेदादिति शेष । न प्राणादीना सत्त्व शुक्त्यादौ रजतादिवदात्मन्यारोपादिति परिहरति—नात्मनीति ॥ तत्र तेषा कल्पितत्वमप्रामाणिकमित्याह—कथमिति । तत्रोत्तरत्वेन यथेत्याद्यवतारयति—दृष्टान्त इति । नन्वत्र दृष्टान्तेन प्राणादेरात्मनो वास्तवी सृष्टिरुच्यते न तस्य तस्मिन्नध्यासस्तद्द्योतकाभावान्नेत्याह—वास्तवमिति । कूटस्थासङ्गाद्वयमात्मरूपमपेक्ष्य प्राणादिसृष्टेरयोगात् कल्पितैव सेत्यर्थ ॥ किं च प्राणादेरसतः सतो वा जन्म नाद्य इत्याह—नासत इति । न द्वितीय इत्याह—सत इति । जन्यस्वरूपालोचनया जन्मायोगमुक्त्वा जनकस्वभावालोचनयाऽपि तदयोगमाह—कूटस्थ इति । भासमानजनेस्तर्हि का गतिस्तत्राऽऽह—तस्मादिति ॥ सृष्टिरवास्तवी चेत्किमर्थं कथ्यते तत्राऽऽह—पुस्प्रबोधेति । सृष्टिश्चेत्फलवती तर्हि वास्तव्येव किं न स्यात्तत्राऽऽह—कौटस्थ्यादिति ॥ मायामय्या सृष्टेरात्मज्ञानार्थत्वे वृद्धसमतिमाह—नि शेषेति ॥ तदेवानुवदति—मृदिति ॥ सृष्टिश्रुतेरैक्यपरतया सृष्ट्यादेरप्रामाणिकत्व प्रदर्श्य तदन्यपरत्वे फलितमर्थान्तरमाह—सृष्टाविति । किं तदसभावित चोद्य तदाह—कूटस्थादिति । क्रियावतो मृदादेर्घटाद्युत्पद्यते ब्रह्मणोऽविकारित्वान्न ततो विश्वोत्पत्तिरित्यर्थ । किंच सालक्षण्ये हेतुफलभावो दृष्टो न च चेतनाचेतनयोर्ब्रह्मजगतोस्तदस्त्यतो न ततो जगज्जन्मेत्याह—अचित्कमिति ॥ ब्रह्मणो विश्वोपादानत्वानुपपत्तिमुक्त्वा तन्निमित्तत्वानुपपत्तिमाह—निःसाधन चेति । अद्वयत्वान्निःसाधनत्वमेकरस्यात्तच्च ब्रह्मणो द्विधाऽपि न हेतुतेत्याह—विश्वेति । एतच्चोद्यजातमयुक्त सृष्टिश्रुतेरन्यपरत्वेन सृष्टेर्मायात्मकत्वादिति भाव ॥ सा चेन्मायामयी तर्हि तत्परिहारार्थं स यथेत्यादि कथमित्याशङ्क्याऽऽह—इत्येवमिति । वस्त्वनुरोधं विना केवल पुबुद्ध्यनुसारेण पूर्वोक्तनीत्या भवता चोद्याना परिहारार्थं स यथेत्यादीत्यर्थ. । एवशब्द प्रकृतवाक्यपरामर्शी । ईश्वरस्य न स्वार्था सृष्टिराप्तकामत्वान्नान्यार्थाऽद्वयत्वादिति चोद्यमादिशब्दार्थ. ॥

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् **यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्-**

लोक मे जैसे मकडा तन्तुओ पर ऊपर की ओर जाता है तथा जैसे एक ही अग्नि से अनेको क्षुद्र चिनगारियाँ निकलती है; उसी प्रकार इस आत्मा से सम्पूर्ण प्राण, सम्पूर्ण लोक, सभी देवगण, सभी भूत अनेकरूप से उत्पन्न होते है। वह सत्य का सत्य है, यही उस आत्मा की रहस्यमय उपनिषत् है।

तत्र दृष्टान्तः—'स यथा लोक ऊर्णनाभिः। ऊर्णनाभिर्लूताकीट एक एव प्रसिद्धः स्वात्माप्रविभक्तेन तन्तुनोच्चरेदुद्गच्छेत्। न चास्ति तस्योद्गमने स्वतोऽतिरिक्त

श्रुत्या परिहरति—उच्यत इति। स्वात्माप्रविभक्तेनेत्युक्तमन्वयं व्यतिरेकद्वारा स्फोरयति—न चेति।

प्रकार होती है? इस पर कहते हैं—

उस (निष्क्रियब्रह्म मे प्राणादिप्रपञ्च की उत्पत्ति) मे एक दृष्टान्त है। लोकव्यवहार मे प्रसिद्ध जिस प्रकार जाल बनाने वाला कीडा होता है। "ऊर्णनाभि" यानी वह लूताकीट अकेला ही अपने सर्वथा अभिन्न तन्तुओ द्वारा "उच्चरेत्" अर्थात् ऊपर की ओर जाता है, उसके ऊपर जाने मे अपने से अतिरिक्त कोई दूसरा कारक नही है, जिस प्रकार एक रूप वाली एक ही अग्नि से "क्षुद्रा"

१. अज्ञाताच्चेतनात्। २ अक्रियाद्ब्रह्मण प्राणादिप्रपञ्चोत्पत्तौ। ३ प्रसिद्ध। ४ एक एवेत्यनेन स्वातिरिक्तसाधनाभावमुक्त्वा स्वाऽव्यतिरिक्तसाधन नानकधा स्पष्टत्वमाह—स्वात्मेति। असहाय एव सस्तन्तून् सृष्ट्वा तैन स्वाप्रविभक्तेन गच्छतीत्यर्थ।

*यथाऽग्न क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा इति। अत्र वार्तिकानि—'विस्फुलिङ्गा यथा चाग्नर्जायन्तेऽग्निस्वभावका। सुषुप्तादात्मनस्तद्वत्प्राणादीना समुद्भव ॥ सुषुप्तोदाहृतिर्येय तया समुपलक्ष्यत। विश्वाभिव्यक्तित पूर्वं ब्रह्मैवानामरूपकम् ॥ सर्वासूपनिषत्स्वेव कारण नान्यदात्मन। श्रूयतऽत परात्मैव जगत कारण परम् ॥ ब्रह्मण्यस्तमितेऽत्यर्थं जगत्यस्मिन्नशेषत। जगत्प्रसूतौ को हेतुस्तदन्यात्व्यतिरेकत ॥ अस्तीशो व्यतिरिक्तश्चेत्सोऽपि केन प्रवर्तित। जगन्निर्मिनुयादेतत्स्वनश्चेत् सर्वदा न किम् ॥ ऐश्वर्यं पारतन्त्र्य च नापि सभाव्यते मिथ। नापि कार्यं विलीनत्वात्स्वात्मोत्पत्तौ प्रवर्तत ॥ ३६७-३६८ ॥ इत्यादि विस्तरस्तु तत एव द्रष्टव्य। सुषुप्तात्प्राणादीनामुत्पत्तिरित्युक्त स्यात्तस्यापि कारणत्व शङ्कयेत तत्राऽऽह—सुषुप्तेति। अस्मादात्मन इति सुषुप्तस्यापादानत्वोक्त्या प्राग्बोधादव्यक्तनामरूपमज्ञात ब्रह्म लक्ष्यत तदेव कारणमित्यर्थ ॥ किचाज्ञातब्रह्मातिरिक्ते कारणे मानाभावात्तदेव तथेत्याह—सर्वास्विति। एवमित्यज्ञातब्रह्मपरामर्शं। प्रधानादि व्यावर्तयति—नान्यदिति। अत श्रूयमाणत्वादिति यावत् ॥ स्वपक्षमुक्त्वा स्वयूथ्य प्रत्याह—ब्रह्मणीति। सप्तम्यर्थं तमि। न हि सर्वात्मना लीनस्य पुनरुदये ब्रह्मणोऽन्यो हेतुरनिष्टेर्नापि ब्रह्मकोटस्थ्यादित्यर्थं ॥ तदुपादानातिरेकेणेशस्य तदधिष्ठातृत्वादुपादाने लीनस्यापि जगतस्तद्वशाज्जन्मेति तटस्थश्वरवाद्याह—अस्तीति। न तावत्तटस्थ सोऽस्ति मानाभावात्सत्त्वेऽपि स केनचित्प्रवर्तित स्वतो वा जगत्कुर्यादिति विकल्पयति—सोऽपीति। द्वितीयमनूद्य दूषयति—स्वतश्चेदिति ॥ आद्ये दोषमाह—ऐश्वर्यमिति। न हि द्वयमेकस्य प्रामाणिक मिथो विरोधादित्यर्थं। कार्यमेव स्वोत्पत्तौ व्याप्रियते न कारणापेक्षयति स्वभाववादिन प्रत्याह—नापीति। लीनस्यापि स्वोत्पत्तौ व्यापारश्चेत्तत्कालानियतिस्तस्यासत्त्वाविशेषादिति भाव ॥

[1]सत्यस्य [2]सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥२०॥
इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयाध्यायस्य
प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

प्राण ही सत्य हैं और उन्हीं के यह सत्यमय प्रपञ्च है ॥ २० ॥
इति प्रथम ब्राह्मणम् ॥१॥

यथा चैकरूपादेकस्मादग्नेः क्षुद्रा अल्पा विस्फुलिङ्गास्त्रुटयोऽग्न्यवयवा व्युच्चरन्ति विविधं नाना वोच्चरन्ति । यथेमौ दृष्टान्तौ [3]कारकभेदाभावेऽपि [4]प्रवृत्तिं दर्शयतः, प्राक्प्रवृत्तेश्च स्वभावत एकत्वमेवमेवास्मादात्मनो विज्ञानमयस्य प्राक्प्रतिबोधा[5]द्यत्स्वरूपं तस्मादित्यर्थः । सर्वे प्राणा [6]वागादयः सर्वे लोका भूरादयः सर्वाणि कर्मफलानि सर्वे देवाः प्राणलोकाधिष्ठातारोऽग्न्यादयः सर्वाणि भूतानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि प्राणिजातानि सर्व एत आत्मान इत्यस्मिन्पाठ [7]उपाधिसंपर्कजनितप्रबुध्यमानविशेषात्मान इत्यर्थो व्युच्चरन्ति ।

यस्मादात्मना स्थावरजङ्गमं जगदिदमग्निविस्फुलिङ्गवद्व्युच्चरत्यनिशं यस्मिन्नेव

---

[1]असहायस्य कारणत्वे दृष्टान्तमुक्त्वा कूटस्थस्य तद्भावे दृष्टान्तमाह—यथा चेति । [2]माध्यंदिनश्रुतिमाश्रित्याऽऽह—सर्व एत इति ।

तस्येत्याद्यवतार्य व्याचष्टे—यस्मादित्यादिना । ननु प्रत्यग्भूतस्य ब्रह्मणो वाचकेषु शब्दान्त-

---

अर्थात् छोटी-छोटी "विस्फुलिङ्गा" यानी चिनगारियाँ या अग्निकण "व्युच्चरन्ति" अर्थात विविध या नानारूप से उडते है। जिसप्रकार ये दोनो दृष्टान्त कर्ता-अपादानादि कारकभेद न होने पर भी (प्रसर्पणादिरूपा) प्रवृत्ति प्रदर्शित करते हैं और प्रवृत्ति से पूर्व वास्तविक एकता प्रदर्शित करते हैं, इसी प्रकार इस आत्मा यानी बोध होने से पूर्व विज्ञानमय (हार्दाकाशाख्य अज्ञातब्रह्म) स्वरूप से वागादि-संघात समस्त प्राण, भूरादि समस्त लोक, सम्पूर्ण कर्मफल, प्राण और लोको के अध्यक्ष अग्नि आदि समग्र देवतागण, ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणीसमुदाय उत्पन्न होते है। माध्यन्दिनशाखा के "सर्व एत आत्मान" इस पाठ का अर्थ है कि अन्तःकरणरूप उपाधि के संसर्ग के कारण जिनका विशेष कर्तृत्वादि-विशिष्टस्वरूप अनुभव किया जाता है, वे अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं।

अग्नि से निकली चिनगारियो के समान जिस आत्मा से यह चराचर जगत् निरन्तर उत्पन्न

---

१ प्राणोपलक्षितस्य जगत । २ अबाध्यमधिष्ठानम् । ३ कारकेति—कर्त्रपादानादिकारकभेदाभावेऽपीत्यर्थः । अग्नेरेवाग्नित्वेनोच्चरणापादानत्वम् । तस्यैव स्फुलिङ्गत्वेन कर्तृत्वमिति कारकैक्यम् । ४ प्रसर्पणादिरूपाम् । ५ हार्दाकाशाख्यमज्ञात ब्रह्म । ६ आदिना करणसंघात । ७ उपाधीति—अन्तःकरणादिसंसर्गजोऽनुभूयमानो विशेष कर्तृत्वादिविशिष्ट स्वरूप यषा ते च त आत्मान जीवा इत्यर्थ । ८ परमात्मन । ९ तच्छाखा-पठितप्रकृतश्रुतिम् ।

पादकवाक्येषु ब्रह्म विजिज्ञासूनां 'बुद्धिव्युत्पादनाय विचारयिष्यामः ।
न तावदसंसारी परः 'पाणिपेषणप्रतिबोधिताच्छब्दादिभुजोऽवस्थान्तरविशिष्टा-
'दुत्पत्तिश्रुतेः । न 'प्रशासिताऽशनायादिवर्जितः 'परो विद्यते । कस्मात् । यस्माद्ब्रह्म
ज्ञपयिष्यामीति प्रतिज्ञाय सुप्तं पुरुषं 'पाणिपेषं बोधयित्वा 'तं शब्दादिभोक्तृत्वविशिष्टं
दर्शयित्वा 'तस्यैव 'स्वप्नद्वारेण सुषुप्त्याख्यमवस्थान्तरमुन्नीय" तस्मादेवाऽऽत्मनः सुषुप्त्य"-
वस्थाविशिष्टादग्निविस्फुलिङ्गोर्णनाभिदृष्टान्ताभ्यामुत्पत्तिं दर्शयति श्रुतिरेवमेवास्मादि-
त्यादिना । न "चान्यो जगदुत्पत्तिकारणमन्तराले" श्रुतोऽस्ति । विज्ञानमस्यैव हि
"प्रकरणम् ।

"संशयादिना विचारकार्यतामवतार्य पूर्वपक्षयति—न तावदिति । जगत्कर्ता ह्यीश्वरो "विप्रक्ष्यते "प्रकृते च सुषुप्तिविशिष्टाज्जीवाज्जगज्जन्मोच्यते तस्मादीश्वरो जीवादतिरिक्तो नास्तीत्यर्थः । "तदेव प्रपञ्चयति—नेत्यादिना । "प्रकृतेऽपि जीवे जगत्कारणत्वमीश्वरस्यैवात्र" श्रुतमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । "तत्र प्रकरणविरोध हेतुमाह—विज्ञानेति ।

ब्रह्म हूँ' इत्यादि परब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का विरोध हो जायगा क्योंकि ब्रह्म से भिन्न किसी संसारी की सत्ता न होने के कारण उसका उपदेश निरर्थक होगा। इस प्रकार जिस का प्रत्युत्तर नहीं दिया गया है, उस ऐकात्म्यविचारविषयक प्रश्न का विषय लौकिक पण्डितों के लिए भी अत्यन्त अज्ञान का स्थान है। इसलिए ब्रह्मजिज्ञासुओं की बुद्धि को यथार्थतत्त्व में अवगाहन करने के लिए ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों में प्रवृत्त करने के लिए हम यथाशक्ति विचार करेंगे।

इनमें से असंसारी परमात्मा तो जीव से भिन्न नहीं हो सकता क्योंकि हाथ दबाने से उठे हुए शब्दादि के भोक्ता एवं सुषुप्तिसंज्ञक अवस्थान्तर से विशिष्ट जीव में जगत् की उत्पत्ति सुनी गई है। जीव से भिन्न क्षुत्पिपासादि से वर्जित परमेश्वर नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि "मैं तुझे ब्रह्म का ज्ञान कराऊँगा" इस प्रकार प्रतिज्ञा करके सोए हुए पुरुष को हाथ से दबा दबा कर जगा करके उस प्रबोधावस्था वाले को शब्दादि भोक्तृत्वविशिष्ट दिखाकर, उसी प्रबोधावस्थायुक्त जीव की स्वप्न उपन्यास द्वारा सुषुप्तिसंज्ञक अवस्थान्तर को प्राप्त करा कर श्रुति "एवमेवास्मात" इस मन्त्र से सुषुप्ति-अवस्थाविशिष्ट उस आत्मा से ही अग्नि की चिनगारी और लूताकीट के दृष्टान्तों द्वारा संसार की उत्पत्ति दिखलाती है। यहाँ (ब्रह्म ते ब्रवाणि" से लेकर "एवमेवास्मादात्मन" इस श्रुति-

१ धियं यथातत्त्वमवगाहिनीं कर्तुम् । २ असंसारी परमात्मा परः जीवभिन्नो नास्तीति प्रतिज्ञाते हेतुमाह—पाणीति । ३ उत्पत्तीति—एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणा इति प्राणाद्युत्पत्तिश्रवणादनयोर्मध्येऽस्येयमुपनिषदिति शङ्कैव नास्तीति शेषः । ४ परमेश्वरः । ५ जीवान्यः । ६ पाणिनाऽऽपिष्याऽऽपिष्य । ७ प्रबोधावस्थम् । ८ प्रबोधावस्थजीवस्य । ९ स यत्र स्वप्न्यया चरतीति वाक्येन स्वप्नोपन्यासद्वारा । १० प्रापय्य । ११ जीवात् । १२ ईश्वराख्यः जीवेतरः । १३ ब्रह्म ते ब्रवाणीत्युपक्रम एवमेवास्मादात्मन इत्युपसंहारयोर्मध्ये । १४ अतो जीवस्यैव ब्रह्मशब्देन प्रकृतत्वमिति भावः । १५ संशयप्रयोजनाभ्याम् । १६ अभिमतः । १७ वाक्ये । १८ संग्रहवाक्यम् । १९ ब्रह्मशब्देन । २० प्रकरणे । २१ ब्रह्म ते ब्रवाणीति ।

समानप्रकरणे च श्रुत्यन्तरे कौषीतकिनामादित्यादिपुरुषान्प्रस्तुत्य स होवाच यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य चैतत्कर्म स वै वेदितव्य इति प्रबुद्धस्यैव विज्ञानमयस्य वेदितव्यतां दर्शयति नार्थान्तरस्य। तथा चाऽऽत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं

श्रुत्यन्तरवशादपि जीव एवात्र जगत्कर्तेत्याह—समानप्रकरणे चेति। श्रुत्यन्तरस्य च जीवविषयत्वं 'जगद्वाचित्वाधिकरणपूर्वपक्षन्यायेन द्रष्टव्यम्। 'वाक्यशेषवशादपि जीवस्यैव वेदितव्यत्वं "वाक्यान्वयाधिकरणपूर्वपक्षन्यायेन दर्शयति—तथा चेति"। जीवातिरिक्तस्य परस्य वेदितव्यस्याभावे

मन्त्र तक के) मध्य मे जगत् की उत्पत्ति का ईश्वरसंज्ञक जीव से अन्य कोई कारण नहीं सुना गया है और यह विज्ञानमय जीव का ही प्रकरण है।

इसके समान प्रकरण मे ही कौषीतकीशाखा वालो की एक अन्य श्रुति म आदित्यादि पुरुषो को प्रस्तुत कर श्रुति "वह बोला—हे बालाकि! जो भी इन पुरुषो का कर्ता है और जिसका यह जगत् कार्य है, वह निश्चय ही ज्ञातव्य है" इस प्रकार जगे हुए विज्ञानमय जीव को ही ज्ञानव्यता सिद्ध होती है, अन्य वस्तु की नही। उसी प्रकार ही "आत्मा के लिए ही सब प्रिय होता है" इस श्रुतिवाक्य द्वारा ऐसा कहकर यह दिखाना है कि जो आत्मा प्रयरूप से प्रसिद्ध है, वही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है। तथा उसी प्रकार ही विद्यासूत्र के उपन्यास समय मे "आत्मा है।—इस रूप से उसकी उपासना करे", "वह यह आत्मा पुत्र से प्रिय है और धन से भी प्रिय है", "उसने

१ विज्ञानमयविषयत्वं नैव प्रकरणतुल्यप्रकरणे। २ एतच्छाखीयानाम्। ३ जगत्। ४ कार्यम्।
५ तथैव। ६ बृ० उ० २।४।५, बृ० उ० ४।५।६। ७ प्रियै पुत्रवित्तादिभिर्भोगोपायैरुपलक्षित भोक्तारमनूद्येत्यर्थः। ८ 'जगद्वाचित्वात्' (ब्र सू १।४।१६) पूर्वपक्षति। कौषीतकिब्राह्मणे बालाकयजातशत्रुसंवादे श्रूयते। यो वै इत्यादिवाक्ये किमआदित्यादि पुरुषाणां कर्ता जीवो वेदितव्यत्वेनापदिश्यत उत मुख्य प्राण आहोस्वित् परमात्मेति विशय। जीव इति तावत्प्राप्त जीवोऽपि भोक्तृत्वात्स्वभोगोपकरणभूतानाममपा पुरुषाणा कर्तोपपद्यते तथा तस्यापि धर्माधर्मलक्षण कर्म शक्यते श्रावयितुम्। यस्य चैतत्कर्मेति वाक्यशेषे च सुप्तोत्थापनाख्य जीवलिङ्गमत्र गम्यते। तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वा श्रेष्ठिन भुञ्जते एवमेवैष प्रज्ञात्मतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैत आत्मान एतमात्मानं भुञ्जन्तीति वाक्यशेषे भोक्तृत्वाख्य जीवलिङ्गमवगम्यते। श्रेष्ठी प्रधान पुरुष स्वैर्भृत्यैरुपकरणैर्भुङ्क्ते भृत्या अप्यशनाच्छादनादिना प्रधानमुपजीवन्ति। एवं जीवोऽप्यादित्यादिभि प्रकाशादिना भोगोपकरणैर्भुङ्क्ते भृत्यादिवदादित्यादयो देवा अपि जीव हविर्ग्रहणादुपजीवन्तीति तदर्थ। अथास्मिन् प्राण एकधा भवतीति श्रुत्युक्त प्राणशब्दादपि जीव तस्य प्राणभृत्वाच्चोपपन्नस्ततो जीवसमन्वितमिद वाक्यमिति तत्सूत्रपूर्वपक्षन्याय। १० वाक्यान्वयेति—वाक्यान्वयात् (१।४।
९ वाक्यशेषेति—उपक्रमानुसारेण संसारिणो वेद्यत्वमुक्त्वेत्यादि। १९) इति वेदान्तसूत्रे। बृहदारण्यके श्रूयते न वा अरे पत्यु कामायेत्युपक्रम्य न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादिरूपेणोपदिश्यते परमात्मा वेति। तत्र जीव इति प्राप्त कुत पतिजायादिभोग्यजातवतो भोक्तुरुपक्रमात् मध्येऽपीदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय 'तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य सञ्ज्ञाऽस्तीति' प्रकृतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्य समुत्थान जीवरूपेण वदन् जीवस्य द्रष्टव्यत्वं दर्शयति विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति' विज्ञानकर्तृवचनेन (वाचकेन) शब्देनोपसहरन् विज्ञानात्मानमेवेहोपदिष्ट दर्शयति। तस्मादात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानवचन (अत्रोक्तम्) भोक्त्रर्थत्वाद्भोगजातस्योपचारिक द्रष्टव्यमिति तदधिकरणपूर्वपक्षन्याय।

भवतीत्युक्त्वा य एवाऽऽत्मा प्रियः प्रसिद्धस्तस्यैव द्रष्टव्यश्रोतव्यमन्तव्यनिदिध्यासितव्यतां दर्शयति। तथा च विद्योपन्यासकाल 'आत्मेत्येवोपासीत तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्' 'दात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीत्येवमादिवाक्यानामानुलोम्यं स्यात्परामावे। वक्ष्यति च- "आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः" इति।

सर्ववेदान्तेषु च प्रत्यगात्मवेद्यतैव प्रदर्श्यतेऽहमिति न बहिर्वेद्यता शब्दादिवत्प्रदर्श्यतेऽसौ ब्रह्मेति। तथा कौषीतकिनामेव "न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्" इत्यादिना वागादिकरणैर्व्यापृतस्य कर्तुरेव वेदितव्यतां दर्शयति।

अवस्थान्तरविशिष्टोऽसंसारीति चेत्। अथापि स्याद्यो जागरिते शब्दादिभुग्विज्ञानमयः स एव सुषुप्ताख्यमवस्थान्तरं गतोऽसंसारी पर." प्रशासिताऽन्यः स्यादिति चेत्। न,

---

पूर्वोत्तरवाक्याना(णा)मानुकूल्यं हेत्वन्तरमाह—तथा चेत्यादिना।

इतश्च जीवस्यैव वेद्यतेत्याह—सर्वेति। तत्रैव हेत्वन्तरमाह—तथेति। स वै वेदितव्य इत्यत्र" न स्पष्टं जीवस्य वेदितव्यत्वमिह तु स्पष्टमिति "भेद।

स्वापावस्थाज्जीवाज्जगज्जन्मश्रुतेस्तस्यैव वेद्यत्वदृष्टेश्च जगद्धेतुरीश्वरो वेदान्तवेद्यो नास्तीत्युक्ते सेश्वरवादी चोदयति—अवस्थान्तरेति। चोद्यमेव विवृणोति—अथापीति। उक्तोपपत्तिस्त्वेऽपीति यावत्"। नावस्थाभेदाद्वस्तुभेदस्तयाऽननुभवादपराद्धान्ताच्चेति परिहरति—नादृष्टत्वादिति। अवस्था-

---

आत्मतत्त्व को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ" इत्यादि श्रुतिवाक्यो की पराभाव मे अनुकूलता हो सकती है। आगे भी श्रुति इसे प्रतिपादित करेगी—"वह परमात्माख्य पुरुष मैं ही हूँ, इस प्रकार सत्त्वशुद्धि से किसी तरह आत्मा को जान जाय।"

समस्त वेदान्तो मे ब्रह्म की "मैं ब्रह्म हूँ" इस रूप से प्रत्यगात्मभाव से वेद्यता प्रदर्शित की गयी है, शब्दादि के समान "यह ब्रह्म है" इस प्रकार बहिर्वेद्यता प्रदर्शित नही की गयी। इसी तरह कौषीतकी-शाखा वालो की श्रुति भी 'वाणी को जानने की इच्छा न करे, बोलने वाले को जाने" इत्यादि वाक्य से वागादि-इन्द्रियो से भिन्न कर्ता की वेद्यता प्रदर्शित करती है।

यदि कहो कि अवस्थान्तरविशिष्ट होने पर ईश्वर असंसारी हो जाता है अर्थात् यदि ऐसे कहो कि जागरित अवस्था मे शब्दादि का भोक्ता विज्ञानमय है, वही सुषुप्तसंज्ञक अवस्थान्तर मे जाने पर उससे भिन्न प्रशासक परमात्मा असंसारी हो जाता है, ऐसा कहना ठीक नही क्योकि ऐसा देखा नही जाता। क्षणिकवादी सिद्धान्त के सिवा और कही ऐसे धर्मवाला पदार्थ नही देखा गया। लोकव्यवहार मे ऐसा नही देखा जाता कि गाय बैठते और चलते समय तो गाय रहे और साते समय वह अश्वादि कोई

---

१ तस्यैव। २ विद्यासूत्रोपन्यासकाले। ३ बृ० उ० १।४।७। ४ बृ० उ० १।४।८। ५ बृ० उ० १।४।१०। ६ आदिना आत्मानमेव लोकमुपासीतेति। ७ बृ० उ० ४।४।१२। ८ अहं ब्रह्मेति। ९ परमात्मा। १० पर इति—अवस्थाद्वयसम्बन्धी स्वतः संसार्येवाऽयं जीवः स्वापाख्यमवस्थान्तरं गतः परो भवतीति परस्मादेव जगज्जन्मश्रुत्योच्यत इति तदाशयः। ११ पूर्वभाष्योक्तकौषीतकिवाक्य। १२ इति न पौनरुक्त्यमिति भावः। १३ परस्मादेव जगज्जन्म स्यादिति शेषः।

अदृष्टत्वात् । न ह्येवंधर्मकः पदार्थो दृष्टोऽन्यत्र वैनाशिकसिद्धान्तात् । न हि लोके गौस्तिष्ठन्गच्छन्वा गौर्भवति शयानस्त्वश्वादिजात्यन्तरमिति । न्यायाच्च । यद्धर्मको यः पदार्थः प्रमाणेनावगतो भवति स देशकालावस्थान्तरेष्वपि तद्धर्मक एव भवति । स चेत्तद्धर्मकत्वं व्यभिचरति सर्वः प्रमाणव्यवहारो लुप्येत । तथा च न्यायविदः सांख्यमीमांसकादयोऽसंसारिणोऽभावं युक्तिशतैः प्रतिपादयन्ति ।

संसारिणोऽपि जगदुत्पत्तिस्थितिलयक्रियाकर्तृत्वविज्ञानस्याभावादयुक्तमिति चेद्यन्महता प्रपञ्चेन स्थापितं भवता शब्दादिभुक्संसार्येवावस्थान्तरविशिष्टो जगतः कर्तेति । तदसत् । यतो जगदुत्पत्तिस्थितिलयक्रियाकर्तृत्वविज्ञानशक्तिसाधनाभावः सर्वलोकप्रत्यक्षः

भेदाद्वस्तुभेदाभाव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—न हीति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—न्यायाच्चेति । जागरादिविशिष्टस्यैव स्वापवैशिष्ट्यात्तस्य संसारित्वान्नेश्वरोऽन्योऽस्तीत्युक्त्वा तदभावे वादिसंमतिमाह—तथा चेति । आदिशब्दो लोकायतादिसमस्तनिरीश्वरवादिसंग्रहार्थः । युक्तिशतैरिति । तस्य देहित्वेऽस्मदादितुल्यत्वात्तदभावे मुक्तवज्जगत्कर्तृत्वायोगाज्जीवानामेवादृष्टद्वारा तत्कर्तृत्वसंभवात्तस्याकिंचित्करत्वमित्यादिभिरित्यर्थः ।

जीवो जगज्जन्मादिहेतुर्न भवति तत्रासमर्थत्वात्पाषाणवत्तच्च संसारित्वादिति शङ्कते—संसारिणोऽपीति । ईश्वरस्येवेत्यपेरर्थः । अयुक्तं प्राणादिकर्तृत्वमिति शेषः । संग्रहवाक्यं विवृणोति—

अन्य जाति का पशु हो जाय । तथा यह न्यायसंगत भी है कि जो पदार्थ प्रमाण द्वारा जिन धर्मों वाला जाना जाता है; वह अन्य देश, काल अथवा अवस्थाओं में भी उन्हीं धर्मों वाला होता है । यदि वह उन धर्मों का परित्याग कर दे तो सारे ही प्रमाण-व्यवहार का लोप हो जाय । उसी प्रकार ही सांख्यवादी, मीमांसक और नैयायिकादि भी सैकड़ों युक्तियों द्वारा असंसारी परमेश्वर के अभाव का प्रतिपादन करते हैं ।

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लयरूप क्रियात्रय के कर्तृत्व का विज्ञान न होने के कारण संसारी जीव को संसार का कर्ता मानना उचित नहीं है—यदि ऐसा मानें तो जगत्कर्ता ईश्वर के निरास के लिए तुमने यह विस्तार से स्थापित किया है कि शब्दादि का भोक्ता अवस्थान्तरविशिष्ट संसारी जीव ही यहाँ जगत् का कर्ता है । यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि संसारी जीव में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लयरूप क्रियात्रय के कर्तृत्वविज्ञान की शक्ति के साधनों का अभाव लोकव्यवहार में

---

१ स्वतोऽन्यजातिविशिष्टो गमनशयनाद्यवस्थाभेदाज्जात्यन्तरभाग्भवतीत्येतादृक् । २ क्षणिकवादिसिद्धान्त इति यावत् । ३ इतीति—दार्ष्टान्तावद्योतीतिशब्द । तथा च एवमात्मन्यपि नावस्थाभेदात्स्वरूपभेद इत्यर्थः । ४ लुप्येतेति कुप्येतेति पाठान्तरम् । वार्तिके यथा—"स्वभावमपि जह्याच्चेदग्निः शीतो भवेद्ध्रुवम् । सर्वप्रमाणकोपश्च सर्वं स्यादथरोत्तरमिति" ॥४४०॥ यो भावो यद्धर्मको मितो नासौ तद्धर्मं व्यभिचरत्यतिप्रसङ्गादिति भाव । ५. तथैव । ६ उत्पत्त्यादिक्रियात्रयम् । ७ प्रपञ्चेन—जगत्कर्त्रीश्वरनिरासकयुक्तिविस्तरेण महत्त्व युक्तिषु निर्दोषत्वम् तासामागमवत्साधकत्व च । ८. ईश्वराभावे । ९ ईशितु । १० देहाभावे । ११. मुक्तपुरुषवत् । १२. ईश्वरस्य ।

संसारिणः । [1]स कथमस्मदादिः संसारी [2]मनसाऽपि चिन्तयितुमशक्यं [3]पृथिव्यादि [4]विन्यास-विशिष्टं जगन्निर्मिमीतुमिति [5]ततोऽयुक्तमिति चेत् । न, शास्त्रात् । शास्त्रं संसारिण एवमेवास्मादात्मन इति जगदुत्पत्त्यादि [6]दर्शयति । [7]तस्मात्सर्वं श्रद्धेयमिति[8] स्यादयमेकः पक्षः ।

"[9]यः सर्वज्ञः सर्ववित्" "[10]योऽशनायापिपासे अत्येति" "[11]असङ्गो न हि सज्जते" "[12]एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने" "[13]यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्नन्तर्याम्यमृतः" "[14]स यस्तान्पुरुषान्निरुह्यात्यक्रामत्" "[15]स वा एष महानज आत्मा" "[16]एष सेतुर्विधरणः" "[17]सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः"

यन्महतेत्यादिना । [18]कालात्ययापदेशेन दूषयति—न शास्त्रादिति । निरीश्वरवादमुपसंहरति—तस्मादिति ।

[19]सेश्वरवादमुत्थापयति—य सर्वज्ञ इत्यादिना । तान्पृथिव्याद्यभिमानिनः पुरुषान्निरुह्योत्पाद्य योऽतिक्रान्तवान्स एष सर्वविशेषशून्य इति यावत् । उदाहृताः श्रुतयः स्मृतयश्च । न्यायस्तु विचित्र

सर्वविदित है । उक्त विशेषणवान् हमारी तरह संसारी जीव इस पृथिवी आदि लोक को समुचित स्थान में स्थापित कर विभिन्न प्रकार की रचना से विशिष्ट, मन द्वारा अचिन्तनीय जगत् की रचना किस प्रकार कर सकता है ? इसलिए ऐसा मानना सर्वथा अनुचित है । ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं क्योंकि शास्त्र से यही सिद्ध होता है । "इसी प्रकार इस आत्मा से (जगत् की उत्पत्ति हुई)" इत्यादि श्रुति-वाक्य संसारी जीव से ही जगत् की उत्पत्ति आदि सिद्ध करता है । शास्त्रप्रमाण द्वारा सब को पूर्वरीति से श्रद्धा करनी चाहिये कि यह भी एक पक्ष है ।

"जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है", "जो क्षुधा और पिपासा को अतिक्रमण कर जाता है", "जो असंग होने से किसी आसक्त नहीं होता", "इस अक्षर के प्रशासन में (हे गार्गी ! सूर्य और चन्द्र स्थित हैं)", "जो समस्त भूतप्राणियों में रहता हुआ अन्तर्यामी और अमृत है", (ये आठ आयतन हैं, आठ लोक हैं, आठ देव हैं और आठ पुरुष हैं) वह जो उन पुरुषों को जानकर औपाधिक कर्मों का अतिक्रमण किये हुए है", "वही यह महान् अजन्मा आत्मा (अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्म) है", "(इन

१. उक्तविशेषण । २ जगतो विचित्रकार्यत्वाद्विशिष्टबुद्धिमत्कर्तृकत्वं प्रासादादिवदनुमेयमित्यभिप्रेत्याह—मनसेति । एतेन जगत्कर्तुः सर्वशक्तिमत्त्वं सभावितम् । ३ आदिना स्वर्गपातालादिलोकग्रहः । ४ विन्यासोऽपरोत्तरभावेनावस्थानम् । ५ अनुमानं निगमयति—अत इति । सामर्थ्याभावाज्जीवस्य प्राणादिकर्तृत्वमयुक्तमित्यर्थः । ६ दर्शयतीति—एवमेवेत्यादिश्रुतेरपि प्रत्यक्षाद्यगोचरे संसारिणो जगद्धेतुत्वेन प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह वार्तिके—'अक्षाद्यगोचरो यद्वच्छास्त्रादध्यवसीयते । तद्वत्संसारिकारित्वं जगतो गम्यतां श्रुतेरिति" ॥४४३॥ प्रत्यक्षाद्यगोचरो धर्मादि न हि मानान्तरमपेक्ष्य श्रुतिः स्वार्थमवगमयति स्वतो मानत्वादिति भावः । ७ शास्त्रात् । ८ एवंरीत्या । ९ मु० उ० १।१।९ । १० बृ०उ० ३।५।१ । ११ बृ० उ० ३।९।२६ । १२. बृ० उ० ३।८।९ । १३ बृ० उ० ३।७।१५ । १४ बृ० उ० ३।९।२६ । १५ बृ० उ० ४।४।२५ । १६ बृ० उ० ४।४।२२ । १७ बृ० उ० ४।४।२२ । १८ पक्षे साध्याभावात्मकबाधेन हेत्वाभासेन साध्यकालाभावे पक्षे हेतोः प्रयोगः कालात्ययापदेशो नाम हेतोर्दोषः । १९ जीवादिभिन्नतटस्थेश्वरवादम् । २० असङ्ग एव स्थितवान् ।

"य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु." "तत्तेजोऽसृजत" "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" "न लिप्यते लोकदु खेन बाह्य." इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः। स्मृतेश्च "अह सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते" इति परोऽस्त्यससारी श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यश्च स च कारण जगतः।

नन्वेवमेवास्मादात्मन इति ससारिण एवोत्पत्ति दर्शयतीत्युक्तम्। न, "य एषोऽन्त-र्हृदय आकाश इति परस्य प्रकृतत्वादस्मादात्मन इति युक्तः परस्यैव परामर्शः। क्वैष तदाऽभूदित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनत्वेनाऽऽकाशशब्दवाच्य पर आत्मोक्तो "य एषोऽन्तर्हृदय

कार्यं विशिष्टज्ञानवत्पूर्वक प्रासादादौ तथोपलम्भादित्यादि।

"प्रकरणमनुसृत्य जीवस्य प्राणादिकारणत्वमुक्त स्मारयति—"नन्विति। नेद जीवस्य प्रकरण-मिति" परिहरति—नत्यादिना। "प्रतिवचनस्थाकाशशब्दस्य परविषयत्वमसिद्धमित्याशङ्क्या"ऽऽह—क्वैष

लोको की मर्यादा भङ्ग न हो—इस प्रयाजन से) वह इनको धारण करने वाला सेतु है", "वह सबको वश मे रखने वाला, सब का शासन करने वाला (और सब का अधिपति) है', "जो पाप, जरा और मृत्यु से रहित आत्मा है', 'उसने तेज को रचा', 'सृष्टि क प्रारम्भ मे वह आत्मा एक ही था", "वह लोकदु ख से लिप्त नही हाता क्योकि वह उसमे परे है'—इत्यादि सैकडो श्रुतिवाक्यो से तथा "मैं सबका उत्पत्तिस्थान हूँ और मुझमे ही यह सब प्रवृत्ति होती है' इत्यादि स्मृतियो से परमात्मा जीव से भिन्न असमारी सिद्ध होता है एव श्रुति, स्मृति और तर्क से वही जगत का कारण है।

(इस पर पूर्ववादी स्मरण कराता है—) किन्तु "उसी प्रकार इस आत्मा से (समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवगण और समस्तभूत उत्पन्न होते है)' इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति तो ससारी-जीव से ही प्राणादि की उत्पत्ति दिखाती है। ऐसा मन्त्र में कहा जा चुका है। (आक्षेप का समाधान किया जाता है—) ऐसा कहना ठीक नही। "यह जो हृदय के भीतर आकाश है (उसमे विज्ञानमय पुरुष शयन करता है)" इस श्रुतिमन्त्र मे परमात्मा का ही उपक्रम होने के कारण "इस आत्मा से (समस्तभूत उत्पन्न होते हैं) इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा परब्रह्म का परामर्श मानना ही युक्त है। "उस समय यह कहाँ था" इस प्रकार इस प्रश्न के प्रत्युत्तररूप मे "यह जो हृदय के भीतर आकाश है,

१ छा उ ८।७।१। २ छा उ ६।२।३। ३ ऐत उ १।१।१। ४ क उ २।५।१२। ५ परमात्मा जीवभिन्न। ६ श्रौते तस्मिन् कायलिङ्गकमनुमानमपि दर्शयति—स चेति। यथा वार्तिके—"स एव जगत्कारी सत्यज्ञानादिलक्षण। तस्मादित्यारमनश्चेति सामानाधिकरण्यत ॥४४७॥'ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यारम्य सत्य ज्ञान-मित्यादिलक्षणमुक्त्वा तस्मादित्यनुकृष्य तत्रात्मपद प्रयुज्य ब्रह्मवाचितच्छब्दस्याऽऽत्मशब्दस्य च सामानाधिकरण्यात् प्रत्यग्ब्रह्मण सकाशादाकाशादिसृष्टिरुक्तेत्यर्थ ॥ ७ सकाशात्। ८ प्राणाद्युत्पत्तिम्। ९ बृ० उ० २।१।१७। १० बृ० उ० २।१।१७। ११ जैवमिद प्रकरणमित्यनुसधाय। १२ न तैत्तिरेयश्रुतेरीश्वरो जगद्धतु वाजसनेयिश्रुतिविरोधादिति शङ्कते—नेति वतीत्यवतरणान्तरम्। १३ य एषोऽन्तर्हृदये आकाशस्त-स्मिञ्छेतत्यत्र परस्यैवाकाशत्वस्वीकारादेवमेवास्मादिति प्रकृतपरमात्माकाशपरामर्शात्ततो जगदुत्पत्तिरत्रोच्यते तत्र तैत्तिरीयकश्रुतिविरोधो वाजसनेयश्रुत्येति परिहरति—नेत्यादिनेति अवतरणान्तरम्। १४ राजोक्तोत्तरस्येति यावत्। १५ आहेति—प्रकरणानुसधानपूर्वकमाहेत्यर्थ।

'आकाशस्तस्मिञ्छेत 'इति। "सता सोम्य 'तदा 'संपन्नो भवत्यहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न 'विन्दन्ति 'प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः 'पर आत्मनि संप्रतिष्ठते" इत्यादिश्रुतिभ्य आकाशशब्दः पर आत्मेति निश्चीयते। 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इति प्रस्तुत्य तस्मिन्नेवाऽऽत्मशब्दप्रयोगाच्च। प्रकृत एव पर आत्मा। "तस्माद्युक्तमेवमेवास्मादात्मन इति परमात्मन एव" "सृष्टिरिति। संसारिणः सृष्टिस्थितिसंहारज्ञानसामर्थ्याभावं चावोचाम।

अत्र चाऽऽत्मेत्येवोपासीताऽऽत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मविद्या प्रस्तुता। ब्रह्म-

---

इति। इतश्चाऽऽकाशशब्दस्य परमात्मविषयतेत्याह– दहरोऽस्मिन्निति। य आत्माऽपहतपाप्मेत्यात्मशब्द-प्रयोग। प्रतिवचने परस्याऽऽकाशशब्दवाच्यत्वे फलितमाह—प्रकृत एवेति। तस्य प्रकृतत्वे लब्धमर्थमाह—तस्मादिति। इतश्च परस्मादेव प्राणादिसृष्टिरित्याह–मसारिण इति। "यन्महता प्रपञ्चेनेत्यादाविति शेष।

अस्तीश्वरो जगत्कारणं ब्रह्म "तदेव जीवस्य स्वरूप "तस्येयमुपनिषदिति सिद्धान्तमाशङ्क्य दूषयति—अत्र चेति। "तृतीयोध्याय. सप्तम्यर्थं। का पुन· सा ब्रह्मविद्येति तत्राऽऽह—ब्रह्मविषय चेति।

उसमे यह सोया करता है" इस श्रुतिवाक्य द्वारा आकाशशब्दवाच्य परमात्मा ही कहा गया है। "हे सोम्य! सोते हुए वह सत् से पूर्ण रहता है", "प्रतिदिन वहां जाती हुई भी इस ब्रह्मलोक को नहीं जानती है", "यह पुरुष प्राज्ञात्मा से आलिङ्गित होने पर (न कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का)", "परमात्मा मे सम्यक् प्रकार से स्थित होती है" इत्यादि श्रुतिवाक्यो से आकाशशब्द से कहा जाने वाला परमात्मा ही है, ऐसा निश्चय होता है। तथा "इसमें अन्तराकाश दहर है" इस प्रकार उपक्रम करके उसी अर्थ मे "आत्मा" शब्द का प्रयोग भी किया गया है। इसलिए यहाँ परमात्मा का प्रकरण है। अत "इसी प्रकार इस आत्मा से" इस श्रुतिमन्त्र द्वारा परमात्मा से ही सृष्टि होती है, यह कहना ठीक ही है। इससे अतिरिक्त जगत् को उत्पत्ति, स्थिति और सहार के ज्ञान की शक्ति का अभाव ससारी जीव मे हम पहले ही कह चुके हैं।

(पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) उपनिषद् के प्रथम अध्याय मे भी "आत्मा है—उसकी इस रूप से उपासना करे', "उसने आत्मा को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ' —इस श्रुतिवाक्य से ब्रह्मविद्या का

---

१ आकाश इति—आकाशशब्दस्याब्रह्मत्वे प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिय स्याता न हि धीपूर्वकारिणोऽप्रकृतोक्तिर्युक्तेति भाव। वार्तिके यथा—'ब्रह्म तेऽह ब्रवाणीति प्रकृत्य अब्रह्मबोधनम्। अब्रह्माप्रकृत ब्रूयात् कथ राजाऽतिपण्डित"॥ ४४६॥ २ वाक्ये। ३ छा० उ०। ४ सुप्तौ। ५ किं च प्रतिवचनवाक्यस्थाकाशशब्दस्य ससारिपरत्वे श्रुत्यन्तरविरोध इत्याह–सतेति। अस्या अपि श्रुते ससारिविषयत्वमस्त्विति चेन्न सन्नाम्ना ब्रह्मणोऽत्र विवक्षितत्वात् अन्यथा सदवेत्यादिप्रक्रमभङ्गादिति भाव। ननु व्यवस्थान्ययोगिप्रकृताकाशस्य ससारित्वमेव युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—अहरहरिति। ६ जानन्ति। ७ बृ० उ० ४।३।२१। ८ प्र० उ० ४।९। ९ छा० उ० ८।१।१। १० तस्मात्—प्रतिवचने परस्यैवाकाशशब्दवाच्यत्वेन प्रकृतत्वात्। ११ सकाशात्। १२ प्राणादे। १३ बृ० उ० ४४५ पृष्ठभाष्ये। १४ नेश्वरस्तदस्य इति भाव। १५ प्रत्यगभिन्नब्रह्मण। १६ उपनिषदि प्रथमोऽध्याय।

विषयं च ब्रह्मविज्ञानमिति। ब्रह्म ते ब्रवाणीति ब्रह्म ज्ञपयिष्यामिति प्रारब्धम्। तत्रेदानीमसंसारि ब्रह्म जगतः कारणमशनायाद्यतीतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं तद्विपरीतश्च संसारी तस्मादहं ब्रह्मास्मीति न गृह्णीयात्। परं हि देवमीशानं निकृष्टः संसार्यात्मत्वेन स्मरन्कथं न 'दोषभाक्स्यात्। 'तस्मान्नाहं ब्रह्मास्मीति युक्तम्।

तस्मात्पुष्पोदकाञ्जलिस्तुतिनमस्कारबल्युपहार'स्वाध्यायाध्ययनध्यानयोगादिभिराराधयिवेत्। 'आराधनेन विदित्वा सर्वेशितृ ब्रह्म भवति। न पुनरसंसारि ब्रह्म 'संसार्यात्मत्वेन चिन्तयेदग्निमिव शीतत्वेनाऽऽकाशमिव मूर्तिमत्त्वेन। ब्रह्मात्मत्वप्रतिपादकमपि

इति ब्रह्मविद्या प्रसिद्धमिति शेषः। चतुर्थं च ब्रह्मविद्या प्रस्तुतेत्याह—ब्रह्मेति। सत्यमस्ति प्रस्तुता ब्रह्मविद्या सा जीवविद्याऽपि भवति जीवब्रह्मणोरभेदादित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति। ब्रह्मविद्यायां प्रस्तुतायामिति यावत्। इदानीं न गृह्णीयादिति संबन्धः। मिथोविरुद्धत्वप्रतीत्यवस्थायामित्येतत्। अन्योन्यविरुद्धत्व तच्छब्दार्थः। 'विपक्षे दोषमाह—परमिति।

कथं 'तर्हीश्वरे मति कुर्यादित्याशङ्क्य स्वामित्वेनेत्याह—तस्मादिति। आदिपदं प्रदक्षिणादिसंग्रहार्थम्। ऐकात्म्यशास्त्रादात्ममतिरेव ब्रह्मणि कर्तव्येत्याशङ्क्याऽऽह—न पुनरिति। का 'तर्हि

प्रकरण प्रस्तुत किया गया है। तथा (ब्रह्मवेत्ताओ को) ब्रह्मविज्ञान ब्रह्मविषयक ही होता है। इसलिए "मैं तुझे ब्रह्म का उपदेश करूँ", "तुझे ब्रह्म का ज्ञान कराऊँगा" इत्यादि श्रुतियो से ब्रह्मज्ञान का उपक्रम किया है। वहाँ क्षुधा-पिपासादि से अतीत, नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव, असंसारी ब्रह्म जगत् का कारण कहा गया है, संसारी जीव उससे विपरीत स्वभाव वाला है। इसलिए ब्रह्मविद्या से प्रकरण मे "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार अपने का ग्रहण नही कर सकता है। निकृष्ट अल्पज्ञ संसारी जीव सर्वनियन्ता परमात्मा को आत्मरूप से भावना करके प्रत्यवाय का भागी कैसे नही होगा? इसलिए (अभेद अनुसंधान करने वाला दोषभाक् होने से) "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसी भावना करना उचित नही है।

इसलिए पुष्पाञ्जलि, जलाञ्जलि स्तुति, नमस्कार, बलि, उपहार, स्वाध्याय, भगवद्गुणवर्णनात्मक भेदस्तोत्रो का अध्ययन, और योगादि साधनो द्वारा उसकी आराधना करने की इच्छा करे। (पञ्चरात्रमतानुसारी) आराधना के द्वारा उसे जानकर जीव सर्वनियन्ता ब्रह्म हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि को शीतरूप से एवं आकाश को मूर्तरूप से चिन्तन करना उचित नही है, उसी प्रकार

---

१ तद्विपरीतश्चेति संसार्यसंसारिणौ नाऽभिन्नौ मिथो विरुद्धत्वात् तमःप्रकाशवदिति तदाशयः। २. दोषभागिति—यथाऽमात्य आत्मानं राजानं भावयन् प्रत्यवैति तथेशमात्मानं पश्यञ्जीवः प्रत्यवेयादिति भावः। ३ अहं ब्रह्मेति ज्ञानाभावेन अभेदानुसंधातुर्दोषभाक्त्वात्। ४ भगवद्गुणवर्णनात्मकभेदस्तोत्राद्यध्ययनम्। ५ उक्तं हि भगवता—"मत्कर्मकृन्मत्परम" इत्यादि। मुक्तिस्तमेवेत्यादिश्रुतिरित्याशङ्क्याऽऽह—आराधनेनेति। "ये संश्रयन्ति तं भक्त्या सूक्ष्ममध्यात्मचिन्तकाः। ते यान्ति वै पदं विष्णोर्जरामरणवर्जितं' मिति च"॥ पञ्चरात्रिणश्चाहुः—'परब्रह्मत्वमायाति मत्कर्म परमं पुमानिति"॥ ६ संसारी जीवः। ७ अभेदे। ८ तर्हि ईशमात्मानं भावयितुं प्रत्यवायित्वे। ९ तर्हीति—ब्रह्मात्मैक्यज्ञानाभावः इत्यर्थः। ऐक्यप्रतिपादकशास्त्रस्य कथमुपपत्तिः प्रामाण्यम्।

शास्त्रमर्थवादो भविष्यति । सर्वतर्कशास्त्रलोकन्यायैश्चैवमविरोधः स्यात् ।

न । मन्त्रब्राह्मणवादेभ्यस्तस्यैव प्रवेशश्रवणात् । 'पुरश्चक्रे इति प्रकृत्य पुरः पुरुष आविशदिति "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय" "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" इति सर्वशाखासु सहस्रशो मन्त्रवादाः सृष्टिकर्तुरेवासंसारिणः शरीरप्रवेशं दर्शयन्ति । तथा ब्राह्मणवादाः—"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" "सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य" "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते" इत्याद्याः । सर्वश्रुतिषु च ब्रह्मण्यात्मशब्दप्रयोगादात्मशब्दस्य च प्रत्यगात्माभिधायकत्वात् "एष सर्वभूतान्तरात्मा"

शास्त्रगतिस्तत्राऽऽह—ब्रह्मे ति । मुख्यार्थत्वसंभवे किमित्यर्थवादतेत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वे ति । संसारित्वासंसारित्वादिना मिथो विरुद्धयोर्जीवेश्वरयोः शीतोष्णवदैक्यानुपपत्तिर्न्यायः ।

विज्ञानात्मविषयत्वं तदस्थेश्वरविषयत्वं चोपनिषदो निवारयन्परिहरति—नेत्यादिना । परस्यैव प्रवेशवादी मन्त्रब्राह्मणवादानुदाहरति—पुर इत्यादिना । यस्त्वहं ब्रह्मे ति न गृह्णीयादिति तत्राऽऽह—सर्वश्रुतिषु चेति ।

जीव असंसारी ब्रह्म की आत्मरूप से भावना नही कर सकता । आत्मा को ब्रह्मभाव से प्रतिपादन करने वाला शास्त्र भी अर्थवाद ही होगा । उनका अर्थवाद स्वीकार करने पर समस्त युक्ति, शास्त्र और लौकिक न्यायो से अविरोध हो जायगा ।

(सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का निरास करता है—) ऐसा कहना ठीक नही क्योकि मन्त्र और ब्राह्मणवाक्यो द्वारा उस परब्रह्म का प्रवेश सुना गया है । "परमात्मा ने दो पैरो वाले शरीर बनाये और चार पैरो वाले शरीर बनाये" इस प्रकार उपक्रम करके "(पहले वह पुरुष पक्षी होकर) शरीरो मे प्रविष्ट हो गया", "वह रूप-रूप के प्रतिरूप हो गया, इसका वह प्रतिबिम्बरूप प्रकट करने के लिए है", "जो धीर सम्पूर्ण रूपों की उत्पत्ति करके उनके नाम रखकर उन्ही के द्वारा बोलता रहता है" इस प्रकार सभी शाखाओ मे सहस्रो मन्त्रवाक्य सृष्टि के कर्ता असंसारी ब्रह्म का ही शरीर प्रवेश प्रदर्शित करते है । इसी प्रकार "इस जगत की सृष्टि करके वह उसी मे प्रविष्ट हो गया", वह इसी ही सीमा को विदीर्ण कर इसी के द्वारा प्रविष्ट हो गया", "उस इस देवता ने संघातात्मा द्वारा परिणत भूतत्रय को त्रिवृत्प्रक्रिया से देवताओ मे जीवरूप से अनुप्रवेश करके", "सम्पूर्ण भूतों मे छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशित नही होता" इत्यादि वाक्य प्रमाण है । इसके अतिरिक्त समस्त श्रुतिवाक्यो मे 'ब्रह्म' को विषय करके ही 'आत्मा' शब्द का प्रयोग होने से तथा 'आत्मा' शब्द प्रत्यगात्मा का बोधक होने से एव "यह परमात्मा समस्त भूतो का अन्तरात्मा है' इस मुण्डक श्रुति से परमात्मा से व्यतिरिक्त संसारी

---

१. एवम्—तेषामर्थवादत्वाभ्युपगमे । २. बृ उ. २।५।१८ । ३. बृ उ. २।५।१९ । ४. उपाधिभूत देहम् । ५. प्रतिबिम्ब । ६ प्रतिबिम्बत्वम् । ७ स्वयाथात्म्यप्रख्यापनाय । ८. महावाक्योपनिषदि तै. आ. च । ९. उत्पाद्य । १०. यत्—यः । ११. छा. उ. । १२. संघातात्मना परिणत भूतत्रयम् त्रिवृत्प्रक्रियात्वादिदम् । १३. परमात्मेति यावत् (मु० उ) १४. सत्यस्य सत्यमिति नाम्न. । १५. सिद्धान्ती ।

इति च श्रुतेः परमात्मव्यतिरेकेण संसारिणोऽभावात् "एकमेवाद्वितीयम्" "ब्रह्म वेदम्," "आत्मैवेदम्" इत्यादिश्रुतिभ्यो युक्तमेवाह ब्रह्मास्मीत्यवधारयितुम् ।

यदेवं स्थितः शास्त्रार्थस्तदा परमात्मनः ससारित्वम् । तथा च सति शास्त्रानर्थक्यमससारित्वे चोपदेशानर्थक्य स्पष्टो दोषः प्राप्तः । यदि तावत्परमात्मा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वशरीरसंपर्कजनितदुःखान्यनुभवतीति स्पष्ट परस्य ससारित्व प्राप्तम् । तथा च परस्याससारित्वप्रतिपादिकाः श्रुतयः कुप्येरन्स्मृतयश्च सर्वे च न्यायाः । अथ कथंचित्प्राणिशरीरसंबन्धजैर्दुःखैर्न संबध्यत इति शक्य प्रतिपादयितुं परमात्मनः साध्यपरिहार्याभावादुपदेशा-

शास्त्रीयमप्येकत्वमनिष्टप्रसङ्गान्न स्वीकर्तव्यमिति शङ्कते—यदेति । परस्य ससारित्वे तदसंसारित्वशास्त्रानर्थक्य फलितमाह—तथा चेति । ससारिणोऽनन्यस्यापि परस्याससारित्वे ससारित्वाभिमनोऽप्य"ससारीत्युपदेशानर्थक्य त विनैव मुक्तिसिद्धेरिति दोषान्तरमाह—असमारित्वे चेति । तत्राऽऽद्य दोष विवृणोति—यदि तावदिति । 'न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्य', इत्याद्या श्रुतय । 'यस्य नाहकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते' इत्याद्या स्मृतय । "कूटस्थासङ्गत्वादयो न्यायाः । द्वितीयं दोषं "प्रसङ्गमापाद्य प्रकटयति—अथेत्यादिना ।

जीव का अभाव होने के कारण (हे सोम्य ! उत्पत्ति से पूर्व यह दीखने वाला नामरूपात्मक जगत (सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य) एकमात्र अद्वितीय सत ही था", "यह अमृतस्वरूप ब्रह्म ही सबके आगे है", "(विशेष क्या कहें) यह सब कुछ आत्मा ही है" इत्यादि श्रुतियों से "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा निर्णय करना उचित ही है।

जब इस प्रकार उक्त रीति से शास्त्र का अर्थ अभेद में सिद्ध हो जाता है, तब परमात्मा का ससारी होना मान लिया जाता है। ऐसे में शास्त्र की अनर्थकता हो जाती है और यदि जीव को असंसारी मान लिया जाय, तो उसे उपदेश करना व्यर्थ है, इस प्रकार स्पष्ट दोष प्राप्त हो जाता है। तथा यदि परमात्मा ही सभी भूतों का अन्तरात्मा है तो सभी शरीरों से होने वाले दुःखों को अनुभव करता है, इस प्रकार परमात्मा की ससारित्व प्राप्ति स्पष्ट हो जाती है। परमात्मा के ससारित्व स्वीकृति होने पर परमात्मा को असंसारित्व प्रतिपादक श्रुति स्मृति और युक्तियाँ बाधित हो जाती है। एव यदि किसी प्रकार परमात्मा को 'प्राणियों के शरीर से होने वाले दुःखों से सम्बन्ध न होना' प्रतिपादित कर

१ छा उ । २ नृ उ । ३ नृ उ, छा उ च । ४ उक्तरीत्या । ५ अभेद । ६ तर्हीति शेष । ७ परस्य ससारित्वाभ्युपगमे च । ८ अथेत्ययमथशब्दो यदार्थक । कथंचिदिति असङ्गत्वादिश्रुतिबलेनेत्यर्थ । प्राणिशरीरेत्यत्र प्राणशरीरेति पाठान्तरम् । ९ परमात्मन इति—परम् आत्मन इति च्छेद । परशब्द परत्वर्थक । आत्मन जीवस्य । तदेति शेष । १० साध्येति—साध्यम् असंसारित्व परिहार्यं ससारित्वमुपदेशेन तदभावादित्यर्थ । ११ असंसारीति—ससारिणा सहाभेदस्याससारित्वप्रयोजकत्व यतो दृष्टमीश्वरे इत्याशय । १२ कूटस्थेति—कूटस्थत्वे नावगतस्य श्रुत्या ससारित्वानुपपत्ति । असङ्गस्य चेत्थविधा न्याया इति द्वन्द्वात्त्व । यद्वा कूटस्थस्यासङ्गत्वादय कूटस्थत्वेनासङ्गत्वसाधिका युक्तय इत्यर्थं । १३ अभिका कृत्वा ।

नर्थक्यदोषो न शक्यते निवारयितुम् ।

[1]अत्र केचित्परिहारमाचक्षते । [2]परमात्मा न साक्षाद्भूतेष्व[3]नुप्रविष्टः स्वेन [4]रूपेण । [5]किं तर्हि विकारभावमापन्नो विज्ञानात्मत्वं [6]प्रतिपेदे । स च विज्ञानात्मा परस्मादन्योऽ-[7]न्यश्च । [8]येनान्यस्तेन संसारित्वसंबन्धी[9] येनानन्यस्तेनाहं ब्रह्मेत्यवधारणार्हः । [10]एवं [11]सर्वमविरुद्धं भविष्यतीति ।

तत्र विज्ञानात्मनो विकारपक्ष एता गतयः । पृथिवीद्रव्यवदनेकद्रव्यसमाहारस्य

दोषद्वये स्वयूथ्यसमाधिमुत्थापयति—अत्रेति । कथं तर्हि तस्य कार्ये [12]प्रविष्टस्य जीवत्व तत्राऽऽह—किं तर्हीति । जीवस्य ब्रह्मविकारत्वेऽपि ततो भेदेनाहं ब्रह्मेति धीरभेदे ब्रह्मणोऽपि संसारितेत्याशङ्क्याऽऽह—स चेति । [13]तथाऽपि कथं शङ्कितदोषाभावस्तत्राऽऽह—येनेति । एवमिति भिन्नाभिन्नत्वपरामर्शः । सर्वमित्युपदेशा[14]दिनिर्देशः ।

एकदेशिमतं निराकर्तुं विकल्पयति[15]—तत्रेति । एता गतय इत्येते पक्षा वक्ष्यमाणाः संभवन्ति न गत्यन्तरमित्यर्थः । यथा पृथिवीशब्दितं द्रव्यमनेकावयवसमुदायस्तथा भूतभौतिकात्मकानेकद्रव्यसमु-

भी लिया जाय तो भी असंसारित्व और संसारित्व उपदेश के अभाव होने के कारण जीव को अनर्थकतारूप दोष से विमुक्ति मिलनी असंभव है ।

कुछ लोग उपरोक्त प्रस्तुत किये हुए मत का इस प्रकार परिहार करते हैं । कार्य और करण का स्पर्श न हो सकने से ईश्वर का अपने अविकृतस्वरूप से साक्षात् अनुप्रविष्ट होना संभव नहीं है । तो फिर स्वरूपप्रवेश किस रूप में होता है ? ईश्वर ही विकारभाव को प्राप्त होकर जीवात्मत्व को प्राप्त हुआ है और वह जीवात्मा परमात्मा से भिन्न और अभिन्न भी है । जिस रूप से वह भिन्न है, उससे संसारित्व सम्बन्धी है और जिस हेतु से अभिन्न है, उससे "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार निर्णय की योग्यता रखता है । भेद और अभेद दोनों रूप स्वीकार कर लेने से असंसारित्व उपदेशादि की सार्थकता सिद्ध हो जायगी ।

(एकदेशीमतनिरास के लिए सिद्धान्ती विकल्प करता है—) उपरोक्त सिद्धान्त में जीवात्मा

१. अत्र चोद्ये एवं प्रचोदिते सतीति यावत् । २ तस्य साक्षादप्रवेशे कार्यकरणास्पृष्टत्वं हेतुमाह—परमात्मेति । ३ अनुप्रविष्ट ईश्वर इति शेषः । ४ अविकृतस्वरूपेण । ५ किं तर्हीति—स्वरूपेणाप्रवेशे किं केन रूपेणेत्यर्थः । ६ जीवात्मत्वम् । ७ प्रतिपेद इति—तथा चेश्वरविकार एव जीव इति भावः । "ममैवांश" इत्यादिशास्त्रात् । ८ अन्योऽनन्यश्चेति—सर्वस्य वस्तुनो भिन्नाभिन्नस्वभावत्वात् (घटत्वद्रव्यत्वादिना) जीवस्यापि वस्तुत्वाद्ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नत्वं समुद्रतरङ्गवदिति भावः । ९ रूपेण हेतुना वा । १० उक्तरीत्या व्यवस्थायां ब्रह्मणो न संसारित्वं नाप्युपदेशवैयर्थ्यमिति फलितमाह—एवमिति । तथा च वार्तिके—"यथोक्तदोषसंबन्धो नैव सति भविष्यति । इतोऽन्यथा कल्पनाया यतो दोषेणसंगतिः" ॥४७२॥ इति । एवस्य भिन्नाभिन्नत्वं विरुद्धत्वादनिष्टमित्याशङ्क्य समुद्रतरङ्गादिन्यायेन नैवमित्याह—इत इति । अत्यन्त भिन्नत्वेऽभिन्नत्वे वा कल्प्यमाने नोपदेशार्थवत्ता नापि ब्रह्मणोऽसंसारिता तद्भिन्नाभिन्नता पारिशेष्यादित्यर्थः ॥ ११. एवं भेदाभेदाभ्युपगमे । १२ प्रवेश इति पाठान्तरम् । १३ जीवस्य परभिन्नाभिन्नत्वेऽपि । १४. आदि असंसारित्वोपदेशसार्थक्यस्पृक् । १५ सिद्धान्ती ।

सावयवस्य परमात्मन एकदेशविपरिणामो विज्ञानात्मा घटादिवत्पूर्वसंस्थानावस्थस्य वा परस्यैकदेशो विक्रियते केशोपरादिवत्सर्व एव वा परः परिणमेत्क्षीरादिवत् । तत्र समानजातीयानेकद्रव्यसमूहस्य कश्चिद्द्रव्यविशेषो विज्ञानात्मत्वं प्रतिपद्यते यदा तदा च समानजातीयत्वादेकत्वमुपचरितमेव न तु परमार्थतः । तथा च सति सिद्धान्तविरोधः ।

अथ नित्यायुतसिद्धावयवानुगतोऽवयवी पर आत्मा तस्य तदवस्थस्यैकदेशो

दाय. सावयवः परमात्मा तस्यैकदेशश्चैतन्यलक्षणस्तद्विकारो जीवः पृथिव्येकदेशमृद्विकारघटशरावादिवदित्येकः कल्पः । यथा भूमेरूषरादिदेशो नखकेशादिर्वा पुरुषस्य विकारस्तथाऽवयविनः परस्यैकदेशविकारो जीव इति द्वितीयः कल्प. । यथा क्षीरं स्वर्णं वा सर्वात्मना दधिरुचकादिरूपेण परिणमते तथा कृत्स्न एव परो जीवभावेन परिणमेदिति कल्पान्तरम् । तत्राऽऽद्यमनूद्य दूषयति—तत्रेत्यादिना । नानाद्रव्याणां समाहारो वा तानि वाऽन्योन्यापेक्षाणि परश्चेन्न तस्यैक्यं स्यान्नहि बहूना मुख्यमैक्यं समाहारस्य च समुदायापरपर्यायस्य समुदायिभ्यो भेदाभेदाभ्यां दुर्भणत्वेन कल्पितत्वादित्यर्थः । तर्हि ब्रह्मणो मुख्यमैक्य मा भूत्तत्राऽऽह—तथा चेति । न हि तन्नानात्व कस्यापि समतमिति भावः ।

द्वितीयमनूद्य निराकरोति—अथेत्यादिना । सर्वदेवापृथगवस्थितेष्ववयवेषु जीवेष्वनुस्यूतश्चेतनोऽवयवी परश्चेत्तर्हि यथा प्रत्यवयव मलससर्गे देहस्य मलिनत्वं तथा परस्य जीवगतंदुःखमंहद्दुःखं

को परमात्मा का विकार मानने के पक्ष मे ये तीन गतियाँ सभव हैं। प्रथम, पृथिवीद्रव्य के समान (भूतभौतिक) अनेक द्रव्यो के सघातरूप सावयव परमात्मा का जीवात्मा घटादि के समान एकदेशी विपरिणाम है, अथवा दूसरे अनुपमर्दित अपने पूर्वरूप मे स्थित ईश्वर का केश या ऊसर भूमि के समान एक ही देश मे विकार होता है, अथवा तीसरे दूध, सुवर्ण से दही और आभूषण के समान सारा ही परमात्मा विकारभाव को प्राप्त हो जाता है। उक्त तीनो विकल्पो मे से यदि समानजाति वाले अनेक द्रव्यो के सघात का कोई द्रव्यविशेष परमात्मा ही जीवात्मभाव को प्राप्त होता है, तो समानजातीय होने के कारण उनका एकत्व गौण होगा, मुख्य नही। ईश्वर के मुख्य, ऐक्य स्वीकार न करने पर सर्वसिद्धान्त मे विरोध आने लगेगा।

तथा पक्षान्तर मे यदि ईश्वर अयुतसिद्ध अवयवो मे अनुगत अवयवी है और उसी रूप मे स्थित हुए उस ईश्वर का एकदेश ससारी जीवात्मा है, तो भी अवयवगत गुण या दोष समस्त अवयवो मे अनुगत रहने के कारण अवयवी मे ही रहेगा, इस प्रकार जीवात्मा के ससारित्वरूप दोष से ईश्वर

---

१ अनुपमर्दितपूर्वावस्थस्य । २ परमात्मन । ३ गौणम् । ४ मुख्यम् । ५ परस्य मुख्यैक्यानभ्युपगमे । ६ सर्वसिद्धान्तविरोध । ७ पक्षान्तरे । ८ नित्यति—न पूर्वोक्तस्वरूप पर किन्तु सतत मिथ सबन्धेष्ववयवेषु जीवेष्वेकमवयविद्रव्यमनुवर्तमान ब्रह्म तस्यानुपमर्दितपूर्वावस्थस्य परिणामो जीव ससारितामगादित्यर्थ । ९ ननु बहूना खण्डमुण्डादीनामेकगोत्वयोगादेकत्ववत् बहुष्वपि द्रव्येष्वेकजातिद्वारकमेकत्व स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । १० दुर्भणत्वेनेति—दुर्निरूप्यत्वेनेत्यर्थ । तथाहि न तावत्समुदाय समुदायिभ्यो भिन्नस्तद्व्यतिरेकेण तत्स्वरूपानुपलम्भात् । नाप्यभिन्न प्रत्येकस्मिन् समुदायिनि समुदायव्यवहारापत्ते मिथ समुदायिनामभेदापत्तेश्च तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमात् । ११ कल्पितत्वादिति—न परत्वमिति शेष । अवस्तुत्वादित्यर्थ । १२ यथोक्तपक्षे मुख्यैक्यासभवे । १३ वादिन प्रतिवादिन उदासीनस्य मध्यस्थस्य च ।

विज्ञानात्मा संसारी तदाऽपि सर्वावयवानुगतत्वादवयविन एवावयवगतो दोषो गुणो वेति विज्ञानात्मनः संसारित्वदोषेण पर एवाऽऽत्मा संबध्यत इतीयमप्यनिष्टा कल्पना। क्षीरवत्सर्वपरिणामपक्षे सर्वश्रुतिस्मृतिकोपः, स चानिष्टः।

"निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" "स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतः" "न जायते म्रियते वा कदाचित्" "अव्यक्तोऽयम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धा एते सर्वे पक्षाः। अचलस्य परमात्मन एकदेशपक्षे विज्ञानात्मनः "कर्मफलवद्देशसंसरणानुपपत्तिः। परस्य वा संसारित्वमित्युक्तम्"।

स्यादिति प्रथमकल्पनावद्द्वितीयाऽपि कल्पना युक्तेत्यर्थः। तृतीयं प्रत्याह—क्षीरवदिति। "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" इत्याद्याः श्रुतयः। 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' इत्याद्याः स्मृतयः। श्रुत्यादिकोपस्येष्टत्वमाशङ्क्य वैदिकं प्रत्याह—स चेति।

श्रुतिस्मृती विवेचयन्पक्षत्रयसाधारणं दूषणमाह—निष्कलमित्यादिना। कूटस्थस्य निरवयवस्य कार्त्स्न्यैकदेशाभ्यां परिणामासंभवो न्यायः। जीवस्य परमात्मैकदेशत्वे दोषान्तरमाह—अचलस्येति। एकदेशस्यैकदेशिव्यतिरेकेणाभावाज्जीवस्य स्वर्गादिषु गत्यनुपपत्तिरित्युक्तमन्यथा" परस्यापि गतिः स्यान्नहि पटावयवेषु चलत्सु पटो न चलतीत्याह—परस्य वेति। उक्तं यदि तावत्परमात्मेत्यादाविति शेषः।

का ही सम्बन्ध सिद्ध होता है। इस प्रकार यह भी एक अनिष्ट कल्पना है। दुग्ध-सुवर्ण का दही-रुचक के समान सम्पूर्णरूप से परमेश्वर का परिणाम मानने वालो के पक्ष में भी समस्त श्रुति-स्मृतियो से असगति होती है, (वेद में विश्वास की अभिव्यक्ति करने वालो के मत मे) यह भी अनिष्ट-कल्पना है।

"वह कला रहित है अतः क्रिया शून्य (असङ्ग-उदासीनरूप में स्थित) शान्त है", '(वह अक्षर ब्रह्म स्वयप्रकाश होने के कारण) निश्चय ही दिव्य आकार रहित; बाहर-भीतर अधिष्ठानरूप और कूटस्थ है', "वह आकाश के समान सर्वगत और नित्य है", "वही यह अजन्मा, आत्मा, महान्, अजर अमर, अमृत एव अभय ब्रह्मरूप है", 'यह आत्मा न कभी उत्पन्न होता है और न कभी मरता है", 'वह अव्यक्त रूप से स्थित है" (आत्मा विमल व्योम के समान स्थित है।) इत्यादि श्रुतिवाक्य यही सिद्ध करते है कि उक्त तीनो विकल्प श्रुति, स्मृति और युक्ति के प्रतिकूल हैं (अतः प्रयत्न द्वारा उक्त सभी पक्ष त्याज्य है)। कूटस्थ ईश्वर के एकदेश मे जीवात्मा है, इस विकल्प म जीवात्मा का कर्मफल वाले स्वर्गादि देशविशेष म जाना असभव है, तथा परमेश्वर की ससारित्वप्राप्ति आपके द्वारा पहले ही

१ चेद्बद्धावस्थस्येति शेषः। २ श्वे उ ६।१६। ३ अतः। ४ असङ्गोदासीनतया स्थितम्। ५ मु उ २।२। ६ बाह्याभ्यन्तराधिष्ठानः। ७ कूटस्थः। ८ बृ उ ४।४।२४। ९ विमलव्योमवत्स्थितम्। १० त्याज्यास्तेऽत्र प्रयत्नतः। ११ कूटस्थस्य। १२ कर्मफलवन्तं देशं स्वर्गादिकं प्रति। १३ भवद्भिरेवेति शेषः। १४ क उ १।२।१८। १५ 'एष महानज आत्मा'। १६ 'अविकार्योऽयमुच्यते'। १७ गत्यभ्युपगमे। १८ बृ उ ४।१ पृष्ठभाष्ये।

परस्यैकदेशोऽग्निविस्फुलिङ्गवत्स्फुटितो' विज्ञानात्मा संसरतीति चे'त्तथाऽपि परस्यावयवस्फुटनेन क्षतप्राप्तिस्तत्संसरणे च परमात्मप्रदेशान्तरावयवव्यूहे छिद्रताप्राप्तिर व्रण-त्ववाक्यविरोधश्च । आत्मावयवभूतस्य विज्ञानात्मनः संसरणे परमात्मशून्यप्रदेशाभावादव-यवान्तर'नोदनव्यूहनाभ्यां हृदयशूलेनेव परमात्मनो 'दु.खित्वप्राप्तिः । ।

अग्निविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तश्रुतेर्न दोष इति चेन्न । श्रुते'र्ज्ञापकत्वात् । न शास्त्रं

जीवस्य संसारित्वेऽपि परस्य तन्नास्तीति शङ्कते—परस्येति । परस्य निरवयवत्वश्रुतेरवयव-स्फुटनानुपपत्ति मन्वानो दूषयति—तथाऽपीति । 'यत्र परस्यावयव स्फुटति तत्र तस्य क्षत प्राप्नोति तदीयावयवसंसरणे च परमात्मनः प्रदेशान्तरेऽवयवाना 'व्यूहे सत्युपचय. स्यात्तथाच' परस्यावयवा यतो निर्गच्छन्ति तत्र छिद्रताप्राप्तिर्यत्र च ते गच्छन्ति तत्रोपचय स्यादित्यकायमव्रणमस्थूलमनण्वह्रस्व-मित्यादिवाक्यविरोधो भवेदित्यर्थः । परस्यैकदेशो विज्ञानात्मेति पक्षे दु खित्वमपि तस्य दुर्वारमापते-दिति दोषान्तरमाह—आत्मावयवेति ।

मृल्लोहविस्फुलिङ्गदृष्टान्तश्रुतिवशात्परस्यावयवा जीवाः सिध्यन्तीत्यतो" जीवानां परैकदेशत्वे "नोक्तो दोषो"ऽवतरति युक्त्यपेक्षया श्रुतेर्बलवत्त्वादिति शङ्कते—अग्निविस्फुलिङ्गादीति । शास्त्रार्थो युक्तिविरुद्धो न सिध्यतीति दूषयति—न श्रुतेरिति । "नत्रयं विवृणोति—न शास्त्रमिति । हेतुभाग-

---

प्रतिपादित की जा चुकी है ।

यदि कहो कि अग्नि से चिनगारी के समान परमात्मा का एकदेश रूप जीवात्मा उससे वियुक्त होकर संसरण करता है, तो भी जीव के अवयव के स्फुटित अंश होने से परमात्मा मे क्षतप्राप्ति होगी, तथा उसके संसरण होने पर परमेश्वर के अन्य देशस्थ अवयवसंघात मे छिद्रता की भी प्राप्ति होगी । "वह आत्मा सूक्ष्मशरीर से रहित अक्षत है" इस ईशोपनिषद्वाक्य मे विरोध आने लगेगा । परमेश्वर से शून्य देश का सर्वथा अभाव होने के कारण आत्मा के अवयवभूत जीवात्मा के संसरण होने पर अवयवान्तर के निर्गमन और समूहन के कारण परमात्मा को हृदयशूल के समान दु ख की प्राप्ति होगी ।

(यहां पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) किन्तु "अग्नि की चिनगारियों" आदि का दृष्टान्त प्रति-

---

१ परस्माद्वियुक्त । २ तथापि—परस्मादात्मनोऽग्नेर्विस्फुलिङ्गवत् स्फुटितोऽंशो जीव तस्य च गतिरिति स्वदुक्ताभ्युपगमेऽपि । ३ अकायमव्रणम् (ई उ ८) । ४ निर्गमसमूहनाभ्याम् । नोदनेति—"वारिणो मत्स्यसचारे छिद्रसप्रथने यथा । भ्रमत्सु तद्वज्जीवेषु प्राप्नुत परमात्मन ॥वा ४८८॥ ५ दु खित्वेति—जीवस्य सचरणमुपेत्यदमुक्त वस्तुतस्तदेव नास्तीत्याहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"स्वकारणातिरेकेण वृत्ति कार्यस्य नान्यत ॥ परमात्मैकवृत्तित्वात्कुतो जीवस्य ससृति । स्वप्नसचारवत्तस्माज्जीवसचार इष्यते ॥ स्थास्नुष्वपि महद्दु ख कण्टकादिषु देहिनाम् । परमात्मनो महद्दु ख जीवसचरणेऽप्यत ॥४८९ ४९१॥ इति । उक्त सामान्यन्याय प्रकृत योजयति—परमेति । कथ तर्हि तस्य सचरणधीर्भ्रान्त्येत्याह—स्वप्नेति ॥ तत्सचारो वस्तुतस्त्वया नेष्टश्चेन्मयाऽपि भ्रान्त्योपेतस्तेन स्थास्नवस्ते ब्रह्मवदित्याशङ्क्याऽऽह—स्थास्नुष्विति । ६ ज्ञाप-कत्व हि भवति प्रमाणस्य न कारकत्वम् । ७ यद्देशावच्छेदेन । ८ समूहे । ९ परमात्मानि क्षतोपचय-स्वीकारे च । १० तयोरशांशित्वादे शास्त्रसिद्धत्वात् । ११ नोक्त —अनन्तस्य परमात्मन इत्यारभ्योक्त । १२ नावतरति—तन्नित्यत्वादेरपि शास्त्रत एव सिद्धेरिति भाव । १३ प्रतिज्ञाभागम् ।

'पदार्थानन्यया 'कर्तुं प्रवृत्तम् । किं 'तर्हि 'यथाभूतानामज्ञातानां ज्ञापने । 'किंचातः । शृण्वतो यद्भवति । 'यथाभूता 'मूर्तामूर्तादिपदार्थधर्मा' लोके प्रसिद्धास्तद्दृष्टान्तो'पादानेन 'तदविरोध्येव वस्त्वन्तरं ज्ञापयितुं प्रवृत्तं शास्त्रं न लौकिकवस्तुविरोधज्ञापनाय लौकिकमेव दृष्टान्तमुपादत्ते । उपादीयमानोऽपि दृष्टान्तोऽनर्थकः स्याद्दार्ष्टान्तिकासंगतेः' । न ह्यग्निः शीत आदित्यो न तपतीति वा "दृष्टान्तशतेनापि प्रतिपादयितुं शक्यम् । "प्रमाणान्तरेणान्यथाधिगतत्वाद्वस्तुनः ।

माकाङ्क्षापूर्वकं विभजते—किं तर्हीति । स्मृत्यादिव्यावृत्त्यर्थमज्ञातानामित्युक्तम् । अस्तु शास्त्रमज्ञातार्थज्ञापकं तथाऽपि परस्य नास्ति सावयवत्वमित्यत्र किमायातमिति पृच्छति—किंचात इति । शास्त्रस्य यथोक्तस्वभावत्वे यत्परस्य निरवयवत्वं फलति तदुच्यमानं समाहितेन श्रोतव्यमित्याह—शृण्विति । "तत्र प्रथमं लोकाविरोधेन शास्त्रप्रवृत्तिं दर्शयति—यथेति । आदिपदेन भावाभावादि गृह्यते । पदार्थेष्वेव भावत्"पारतन्त्र्याद्धर्मशब्दस्तेषां लोकप्रसिद्धपदार्थानां दृष्टान्तानामुपन्यासेनेति यावत् । तदविरोधि लोकप्रसिद्धपदार्थविरोधीत्यर्थः । वस्त्वन्तरं निरवयवादि दार्ष्टान्तिकम् । तदविरोध्येवेत्येवकारस्य व्यावर्त्यमाह—न लौकिकेति । विपक्षे दोषमाह—उपादीयमानोऽपीति । सामान्येनोक्तमर्थं दृष्टान्तविशेषनिविष्टतया स्पष्टयति—न हीति । अग्नेरुष्णत्वमादित्यस्य तापकत्वमन्यथेत्युच्यते ।

पादन करने वाली श्रुति होने के कारण ऐसा मानने में भी कोई दोष नही (इसपर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नही क्योकि श्रुति के प्रमाणो की नकारात्मकता सिद्ध होती है। शास्त्र प्रत्यक्षादिप्रमा से निश्चित हुए पदार्थो का अन्यथा करने के लिए प्रवृत्त नही होता। तो फिर क्या करने के लिए प्रवृत्त होता है ? यथास्वरूप यथास्थित अज्ञात अर्थो का ज्ञान कराने के लिए प्रवृत्त होता है। शास्त्र के अज्ञातज्ञापन स्वभाव होने पर भी परमात्मा के निरवयवस्वरूप होने पर क्या उपलब्धि हुई ? इससे जो होता है, वह सुनिये। लोकव्यवहार मे जिस प्रकार के स्थूल-सूक्ष्मादि पदार्थ यानी धर्म प्रसिद्ध है, उन्हे दृष्टान्त के द्वारा लोकप्रसिद्ध पदार्थ के अविरोधी एक अन्य वस्तु को बतलाने के लिए शास्त्र प्रवृत्त होता है। वह लौकिक वस्तुओ का विरोध ज्ञापन करने के लिए लौकिक दृष्टान्तो को ही ग्रहण नही करता। दार्ष्टान्तिक से वैषम्य होने के कारण ऐसा दृष्टान्त ग्रहण किए जाने पर भी व्यर्थ ही होगा। अग्नि शीतस्वभाव वाली है, अथवा सूर्य तपनशील नही है,- यह बात सैकडो अनुमानो से भी प्रतिपादित नही हो सकती है क्योकि प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणो से वह वस्तु दूसरे प्रकार की जानी जाती है।

एक प्रमाण का दूसरे प्रमाण से (लौकिक-वैदिक व्यवहार मे) विरोध भी नही होता। जो वस्तु एक प्रमाण से नही ज्ञात होती, उसी को दूसरा प्रमाण ज्ञात करवाता है। लौकिक पद और

---

१. प्रत्यक्षादिमाननिश्चितान् । २ तर्हि किं कर्तुं प्रवृत्तम् । ३ यथास्वरूपाणां यथास्थितानामर्थानाम् । ४. शास्त्रस्याज्ञातज्ञापनस्वभावत्वेऽपि परस्य निरवयवत्वे किं लब्धम् । ५. मादृशा । ६ स्थूलसूक्ष्माः । ७. पदार्था एव धर्मा । ८ उपन्यासेन । ९ लोकप्रसिद्धपदार्थाविरोधि । १०. असम्बन्धात्—असाम्यात् वैषम्यादिति यावत् । ११. अनुमानशतेनापीति यावत् । १२ प्रत्यक्षादिना । १३. शास्त्रस्य यथोक्तस्वभावत्वे स्थिते सति । १४. पारतन्त्र्यं हि धर्मलक्षणम् ।

न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते । 'प्रमाणान्तराविषयमेव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति । न च लौकिकपदपदार्थाश्रयणव्यतिरेकेणाऽऽगमेन शक्यमज्ञातं वस्त्वन्तरमवगमयितुम् । 'तस्मात्प्रसिद्धन्यायमनुसरता 'न शक्या परमात्मनः 'सावयवांशांशित्वकल्पना परमार्थतः प्रतिपादयितुम्' ।

क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा ममैवांश इति च श्रूयते स्मर्यते चेति चेन्न । 'एकत्वप्रत्ययार्थपरत्वात् । अग्नेर्हि विस्फुलिङ्गोऽग्निरेवेत्येकत्वप्रत्ययार्हो दृष्टो लोके । 'तथा चांशोऽशि-

ननु लौकिकं प्रमाणं लौकिकपदार्थाविरुद्धमेव स्वार्थं समर्पयति वैदिकं पुनरपौरुषेयं तद्विरुद्धमपि स्वार्थं प्रमापयेदलौकिकविषयत्वादत आह—न चेति । ननु श्रुतेरज्ञातज्ञापकत्वे लोकानपेक्षत्वात्तद्विरोधेऽपि का हानिस्तत्राऽऽह—न चेति । लोकावगतसामर्थ्यं शब्दो वेदेऽपि 'बोधक इति न्यायात्तदनपेक्षा श्रुतिर्नाज्ञातं ज्ञापयितुमलमित्यर्थः । शास्त्रस्य लोकानुसारित्वे सिद्धे फलितमाह—तस्मादिति । प्रसिद्धो न्यायो लौकिको दृष्टान्तः । न हि नित्यस्याऽऽकाशादेः सावयवत्वं परश्च नित्योऽभ्युपगतस्तत्र'' तस्य सावयवत्वेनांशांशित्वकल्पना वस्तुतः संभवति लोकविरोधादित्यर्थः ।

जीवस्य परांशत्वानङ्गीकारे श्रुतिस्मृत्यो''र्गतिर्वक्तव्येति शङ्कते—क्षुद्रा इति । तयोर्गतिमाह—नेत्यादिना । विस्फुलिङ्गे दर्शितं न्यायं सर्वत्रांशमात्रेऽतिदिशति—तथा चेति । दृष्टान्ते यथोक्तनीत्या

पदार्थों के आश्रय के अभाव में शास्त्र के द्वारा किसी दूसरी अज्ञात वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता । इसलिए (अवतरण के उक्त अर्थ के लिए) इस प्रसिद्ध न्याय का अनुसरण करने वाले पुरुष के द्वारा परमात्मा की सावयवरूप से अंश और अंशित्वकल्पना (शास्त्र द्वारा) परमार्थतः प्रतिपादन करना संभव नहीं है ।

यदि कहो कि 'क्षुद्र चिनगारियाँ जैसे अग्नि से उड़ती हैं' इत्यादि श्रुतिवाक्य एवं 'ईश्वर का जीवभूत अंश सनातन और मेरा ही अंश है'' इत्यादि स्मृतिवाक्य भी उपरोक्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं, तो ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि वे तो ऐकात्म्यप्रतिपत्ति के लिए हैं । अग्नि की चिनगारी अग्निरूप होती है, इस प्रकार लोकव्यवहार में अग्नि से अभेदनिश्चय का विषय देखा जाता है ।

१ ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यमध्यक्षादिविरुद्धार्थबोधि दृष्टमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रमाणान्तराविषयमेव हीति । तथा च वार्तिके—'मानान्तरविरुद्धं च न च मानं सदिष्यते । मानान्तरेणासंव्याप्ते मेये स्यान्मानता यतः ॥ तथा पदतदर्थांश्च लिङ्गप्रत्यक्षगोचरान् । नानादृत्याऽऽगमेनार्थमज्ञातं वत्ति कश्चन ॥४६७ ४६८॥ इति ॥ तत्र हेतुमाह—मानान्तरेणेति ॥ कल्पितद्वैतविषयाध्यक्षाद्यगोचरे वस्तुनि वस्तुतोऽद्वये शास्त्रप्रामाण्याद्भिन्नविषयतया विरोधसमाधिमुक्त्वा तदविरोध एव हेत्वन्तरमाह—तथेति । तेन न विरोधो मानान्तरेण शास्त्रस्येति शेषः ॥ २ अवतरणोक्तार्थम् । ३ न शक्येति । तथा च वार्तिके—'लोकप्रसिद्धन्यायार्थैरंशांशित्वादिकल्पना । परात्मनः कल्पयितुं नातो युक्ता कथंचन' ॥४६६॥ इति । लोकप्रसिद्धन्याया विस्फुलिङ्गादयो दृष्टान्तास्तैरर्थैरग्न्यादिवत्परस्यांशित्वादिकल्पना न स्वीकर्तुं युक्ता तन्निष्फलत्वादद्वयत्वादिशास्त्रविरोधादतो दृष्टान्तश्रुतेन विरुद्धार्थबोधितेत्यर्थः ॥ ४ सावयवत्वेनांशांशित्वकल्पना । ५ शास्त्रेणेति शेषः । ६ एकत्वनिश्चयरूपेऽर्थे श्रुतिस्मृत्योस्तात्पर्यवत्त्वात् ऐकात्म्यप्रतिपत्त्यर्थत्वादिति यावत् । ७ अग्न्यभेदनिश्चयविषयः । ८ तथैव । ९ स्वार्थसमर्पकः । १० नित्यत्वात् । ११ गतिः विषयः ।

'मैकत्वप्रत्ययार्हः। तत्रैवं सति विज्ञानात्मनः परमात्मविकारांशत्ववाचकाः शब्दाः 'परमात्मैकत्वप्रत्ययाधित्सवः। उपक्रमोपसंहाराभ्यां च। सर्वासु ह्युपनिषत्सु पूर्वमेकत्वं प्रतिज्ञाय 'दृष्टान्तैर्हेतुभिश्च परमात्मनो विकारांशादित्वं जगतः प्रतिपाद्य पुनरेकत्वमुपसंहरति। तद्यथेहैव' तावदिदं सर्वं यदयमात्मेति प्रतिज्ञायोत्पत्तिस्थितिलयहेतु'दृष्टान्तैर्विकारविकारित्वाद्येकत्वप्रत्ययहेतून्प्रतिपाद्या'नन्तरमबाह्यम्''यमात्मा ब्रह्मे'त्यु''पसंहरिष्यति। ''तस्मादुपक्रमोपसंहाराभ्यामयमर्थो निश्चीयते परमात्मैकत्वप्रत्ययद्रढिम्न उत्पत्तिस्थितिलयप्रतिपादकानि वाक्यानीति। अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात्।

स्थिते दार्ष्टान्तिकमाह—तत्रेति। परमात्मना सह जीवस्यैकत्वविषय ''प्रत्ययमाधातुमिच्छन्तीति तथोक्ताः। ''तेषामेकत्वप्रत्ययमात्रता'हेतुत्वे हेत्वन्तरं संगृह्णाति—उपक्रमेति। ''तदेव स्फुटयति—सर्वासु हीति। उक्तमर्थमुदाहरणनिष्ठतया ''विभजते—तद्यथेति। इहेति प्रकृतोपनिषदुक्तिः। आदिशब्देनाशाशित्वादि गृह्यते। विवृतं संग्रहवाक्यमुपसंहरति—तस्मादिति। ''तेषां स्वार्थनिष्ठत्वे दोषं वदन्नेकत्वप्रत्ययार्थत्वे हेत्वन्तरमाह—अन्यथेति।

उसी प्रकार अंशी के साथ अंश भी अभेदनिश्चय का विषय है। ऐसा समझ लेने पर जीवात्मा को परमात्मा का विकार या अंश बतलाने वाले शब्द परमात्मा के साथ उसकी ऐकात्म्यप्रतिपत्ति कराने के लिए है। उपक्रम और उपसंहारपरक श्रुतिवाक्य से ऐकात्म्यप्रतिपत्ति सिद्ध होती है। समस्त उपनिषन्मन्त्रों मे पहले जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व की प्रतिज्ञा कर दुन्दुभि आदि दृष्टान्त एवं तज्जन्यत्वादिरूप हेतुओं के द्वारा जगत् को परमात्मा का विकार या अंशादि बतलाकर पुनः उनके ऐकात्म्य का उपसंहार किया है। जैसा कि यहाँ भी उपनिषत् में "यह जो कुछ है, यह सब एकमात्र आत्मतत्त्व ही है (क्योंकि आदि, मध्य और अन्त में आत्मा को छोड़कर पृथक् इनकी उपलब्धि नहीं होती है" ऐसी प्रतिज्ञा कर उत्पत्ति, स्थिति एवं लयरूप उक्त हेतु और दृष्टान्तों द्वारा उनके ऐकात्म्यप्रतिपत्ति के हेतुभूत विकार और विकारित्वादि का प्रतिपादन कर "वह यह ब्रह्म (कारणरहित, करणरहित, विजातीय द्रव्य) संसर्गशून्य और अबाह्य है", "यह आत्मा ही सब का अनुभव करने वाला परमात्मा है" इस प्रकार उपसंहारात्मक श्रुतिवाक्य का प्रतिपादन किया जाएगा। अतः उपक्रम और उपसंहार के द्वारा यह अर्थ निश्चित होता है कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का प्रतिपादन करने वाले श्रुतिवाक्य परमात्मा के लिए उसकी ऐकात्म्यप्रतिपत्ति की दृढता कराने के लिए है। ऐसा न मानने से वाक्यभेद का प्रसङ्ग आ जायगा।

सभी उपनिषदों में परमात्मा के साथ जीवात्मा के ऐकात्म्यज्ञान का उपदेश किया जाता है, आगम के तात्पर्य जानने वालों को इसमें जरा भी संशय नहीं है। उत्पत्त्यादिवाक्यों की भी उस

---

१ अभेदनिश्चयविषयं। २ ऐकात्म्यप्रतिपत्त्यर्था इति यावत्। ३ जीवपरयोः। ४ दुन्दुभ्यादिभिः। ५ तज्जन्यत्वादिरूपैः। ६ अत्रैवोपनिषदि। ७ बृ उ २।४।७। ८ उक्तैः। ९ कार्यकारणजातिव्यक्तिवर्जितम्। १० अनेन प्रत्यगभेदं प्रादर्शि। ११ बृ उ २।५।१९। १२ आदिमध्यावसानेषु श्रुतेरेकरूपत्वात्। १३ निश्चयम्। १४ सृष्टिवाक्यानामैकात्म्यप्रतिपत्तौ तात्पर्यवत्त्वे। १५ संगृहीतहेतुत्वमेव। १६ विवृणोति। १७ सृष्टिवाक्यानाम्।

सर्वोपनिषत्सु हि विज्ञानात्मनः परमात्मनैकत्वप्रत्ययो विधीयत इत्यविप्रतिपत्तिः सर्वेषामुपनिषद्वादिनाम् । तद्विध्येकवाक्ययोगे च संभवत्युत्पत्त्यादिवाक्यानां वाक्यान्तरत्वकल्पनायां न प्रमाणमस्ति । फलान्तरं च कल्पयितव्यं स्यात् । तस्मादुत्पत्त्यादिश्रुतय आत्मैकत्वप्रतिपादनपराः ।

अत्र च संप्रदायविद आख्यायिकां संप्रचक्षते—कश्चित्किल राजपुत्रो जातमात्र

'संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते' इति न्यायेनोक्तं प्रपञ्चयति—सर्वोपनिषत्स्विति । किंच तेषां स्वार्थनिष्ठत्वे श्रुतफलाभावात्फलान्तरं कल्पनीयम् । न चैकत्वप्रत्ययशेषतया तत्फले निराकाङ्क्षेषु तेषु तत्कल्पना युक्ता । दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनानवकाशादित्याह—फलान्तरं चेति । उत्पत्त्यादिश्रुतीनां स्वार्थनिष्ठत्वासंभवे फलितमुपसंहरति—तस्मादिति ।

तत्त्वमस्यादिवाक्यमैक्यपरं तच्छेषः सृष्ट्यादिवाक्यमित्युक्तेऽर्थे द्रविडाचार्यसंमतिमाह—अत्र चेति । तत्र दृष्टान्तरूपामाख्यायिकां प्रणयति—कश्चिदिति । जातमात्रे प्रागवस्थायामेव राजाऽस्मीत्यभिमानाभिव्यक्तेरित्यर्थः । ताभ्यां तत्परित्यागे निमित्तविशेषस्यानिश्चितत्वद्योतनार्थं किलेत्यु-

"तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्य के साथ ऐक्यविधि के साथ शेषशेषित्वभाव संभव होने पर उन्हें विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन करने वाला मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त ("फलवत्सन्निधौ अफलं तदङ्गम्" इस न्याय के विरोध से) फलान्तर की कल्पना करनी पड़ेगी। इसलिए उत्पत्त्यादि श्रुतियाँ जीवात्मा-परमात्मा का ऐकात्म्यज्ञान स्थापित करती हैं।

(ब्रह्मात्मैक्य ही समस्त वेदान्तों का सार है, इस अभीष्ट अर्थ में) यहाँ साम्प्रदायिक लोग यह आख्यायिका कहते हैं—किसी राजपुत्र का, जन्मते ही माता-पिता द्वारा त्यक्त कर दिये जाने पर व्याध के घर में लालन-पालन किया गया। वह राजपुत्र अपनी राजा की स्वनिष्ठ वंश-परम्परा को न जानने के कारण अपने को व्याधजाति का ही मानकर व्याधजाति के कर्मों का ही अनुशीलन करता था; "मैं राजा हूँ" ऐसा मानकर राजोचित किसी कर्म का भी अनुशीलन नहीं करता था। फिर जब परम करुणालु पुरुष, जो राजपुत्र की राज्यलक्ष्मी-प्राप्ति की योग्यता जानता है, उस उसकी राजपुत्रता

१. उपदिश्यते । २. सर्वेषामिति । तथा चैक्यमेवागमार्थोऽखिलवृद्धसंमतत्वादिति भावः । सर्वेषां वेदान्तवाक्यानामैक्ये महातात्पर्येऽप्यवान्तरतात्पर्येण सृष्ट्यादिरपि विवक्षितस्तद्वाक्यैरित्याशङ्क्याऽऽह—तद्विधीति । ऐक्यविधिस्तत्त्वमादिवाक्यं तेनैकवाक्यत्वं योगः शेषशेषित्वं तस्मिन् संभवति सति सृष्ट्यादिवाक्यानां सृष्ट्याद्यर्थत्वकल्पना न युक्ता संभवत्येकवाक्यत्वे तद्भेदस्यान्याय्यत्वादिति भावः । ३ आगमतात्पर्यविदाम् । ४. किं च सृष्ट्यादिवाक्यानां स्वार्थनिष्ठत्वे मानं फलं वा कल्पकं नाऽऽद्य इत्याह—न प्रमाणमिति । ५ न द्वितीय—फलान्तरमिति । न च तत्कल्पयितुं शक्यं फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमिति न्यायविरोधादिति भावः । ६ ब्रह्मात्मैक्ये सर्ववेदान्तावसानमित्यभिमतेऽर्थे । ७ जातमात्रे जन्मनि सत्येवेति यावत् । ८ सम्प्रदायविदां वाक्यमिदम् । ९ सृष्टिवाक्यानाम् । १०. एकत्वं प्रतीयते येभ्यस्तान्येकत्वप्रत्ययानि वाक्यानि तच्छेषतयेत्यर्थः । एकत्वप्रत्यायकतत्त्वमस्यादिवाक्यशेषतयेति यावत् । फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमिति न्यायादिति भावः । ११. स्वार्थनिष्ठत्वपक्षे स्वतन्त्रफले । १२ फलान्तरकल्पना । १३. श्रुते फले । १४. दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकरूपाख्यायिकयोर्मध्ये । १५. कथयति । १६ जातमात्र इतीति पाठान्तरम् ।

एव मातापितृभ्याम[1]पविद्धो व्याधगृहे संवर्धितः सो[2]ऽमुष्य 'वंश्यतामजानन्व्याधजातिप्रत्ययो व्याधजातिकर्माण्येवानुवर्तते न राजाऽस्मीति राजजातिकर्माण्यनुवर्तते । यदा, पुनः कश्चि[3]त्परमकारुणिको राजपुत्रस्य राजश्रीप्राप्तियोग्यतां जानन्नमुष्य पुत्रतां बोधयति न, त्वं, व्याधोऽमुष्य राज्ञः पुनः कथंचिद्व्याधगृहमनुप्रविष्ट [4]इति । [5]स एवं बोधितस्त्यक्त्वा व्याधजातिप्रत्ययकर्माणि पितृपैतामहीमात्मनः [6]पदवीमनुवर्तते राजाऽहमस्मीति[7] । तथा किलायं[8] परस्मादग्निविस्फुलिङ्गादिव[9]तज्जातिरेव विभक्त [10]इह देहेन्द्रियादिगहने[11] प्रविष्टोऽसंसारी

क्तम् । व्याधजातिप्रत्ययस्तत्प्रयुक्तो व्याधोऽस्मीत्यभिमानो यस्य स तथा । व्याधजातिकर्माणि तत्प्रयुक्तानि मांसविक्रयणादिनि । राजाऽस्मीत्यभिमानपूर्वकं तज्जातिप्रयुक्तानि परिपालनादीनि कर्माणि । अज्ञानं तत्कार्यं चोक्त्वा ज्ञानं तत्फलं च दर्शयति—यदेत्यादिना । बोधनप्रकारमभिनयति—न त्वमिति । कथं तर्हि शबरवेश्मप्रवेशस्तत्राऽऽह—कथंचिदिति । राजाऽहमस्मीत्यभिमानपूर्वकमात्मनः पितृपैतामहीं पदवीमनुवर्तत इति संबन्धः । दार्ष्टान्तिकरूपामाख्यायिकामाचष्टे—तथेति । जीवस्य परस्माद्विभागे निमित्तमज्ञानं तत्कार्यं च प्रसिद्धमिति द्योतयितुं किलेत्युक्तम् । तज्जातिस्तत्स्वभावो वस्तुतः परमात्मैवेति यावत् । इहेत्यपरोक्षानुभवगम्यतोक्तिः । गहनं गम्भीरं वनम् । संसारधर्मानुवर्तने हेतुमाह—

का बोध करा देता है और यह बतला देता है कि "तू व्याध की वंशपरम्परा में नहीं हुआ, अमुक राजा का पुत्र है जो कि किसी प्रकार व्याध के घर में तू आ गया है" ऐसा आप्तपुरुष का उपदेश है। वह इस प्रकार उस कथन के फल से ज्ञान प्राप्त कर व्याधजाति के प्रत्यय से होने वाले सभी कर्मों को छोड़कर "मैं राजा हूँ" ऐसा प्रत्यय करके (राज्याभिषक प्रजापालनादि) अपने पिता-पितामहों की मर्यादा का अनुशीलन करने लगता है। उसी प्रकार अग्नि की चिनगारियों के समान परमात्मा से विभक्त यह जीव उसी परमात्मा के स्वरूप में ही यहाँ देह और इन्द्रियादिरूप गहनवन में प्रविष्ट होकर असंसारी होते हुए भी आत्मा-परमात्मा का ऐकात्म्यज्ञान न होने के कारण "मैं देह और इन्द्रियादि का संघातरूप, कृश, स्थूल, सुखी या दुःखी हूँ" ऐसा प्रत्यय होने के कारण देह और इन्द्रियादि सांसारिक धर्मों का अनुशीलन करने लगता है। किन्तु 'तू संघातात्मक रूप नहीं है, बल्कि असंसारी ब्रह्म ही है" इस प्रकार आचार्य द्वारा प्रतिबोधित कराये जाने पर यह एषणात्रय की अनुवृत्ति को छोड़कर "मैं ब्रह्म ही हूँ" ऐसा जान लेता है।

१ त्यक्त । २ राज । ३ स्वनिष्ठाम् । ४ इत्याप्तोपदेश । ५ अथ तत्फल स इति । ६ पदवीमिति—सिंहासनारोहणराज्याभिषेकप्रजाशासनादिमार्ग (मर्यादा) मित्यर्थ । तथा च वार्तिके—"राज्याभिषेकमाप्नोति प्राप्य सिंहासन पितु । अवाप्तराजसूनुत्वात्तत्प्राप्तौ नापि चेष्टते ॥ मोहाध्यस्तात्मव्याधत्वान्मोहध्वस्तातिरेकत । राजपुत्रत्वसप्राप्तौ नान्यत्किंचिदपेक्षते" ॥५१५-५१६॥ इति । ननु सुचिरं शबरसदने निवसतो राजसुतस्य पुना राजपुत्रत्वाप्तौ ज्ञानात्प्रतिबन्धध्वंसादृते व्यापारान्तरमपेक्षित स्यान्नेत्याह—अवाप्तेति ॥ स्वतश्चेदाप्त राजपुत्रत्व कुतस्तर्हि व्याधत्वधीस्तत्राऽऽह—मोहेति । आरोपितव्याधत्वबाधेन राजत्वाप्त्यर्थं तज्ज्ञानमावर्तनीयमित्याशङ्क्याऽऽह—मोहध्वसेति । तद्ध्वसश्च ज्ञानादेवेति नाऽऽवृत्तिरर्थवतीत्यर्थं । ७ प्रत्यय सन् । ८. जीव । ९ परस्वरूप एव । १०. प्रत्यक्षे । ११ वने ।

सन्देहेन्द्रियादिसंसारधर्ममनुवर्तते देहेन्द्रियसंघातोऽस्मि कृशः स्थूलः सुखी दुःखीति परमात्मतामजानन्नात्मनः । न त्वमे[1]तदात्मकः परमेव ब्रह्मास्यसंसारीति प्रतिबोधित आचार्येण [2]हित्वैषणात्रयानुवृत्तिं च ब्रह्मैवास्मीति प्रतिपद्यते ।

[3]अत्र राजपुत्रस्य राजप्रत्ययवद्ब्रह्मप्रत्ययो दृढो भवति विस्फुलिङ्गवदेव त्वं परस्माद्ब्रह्मणो [4]भ्रष्ट इत्युक्ते । विस्फुलिङ्गस्य प्रागग्नेर्भ्रंशादग्न्येकत्वदर्शनात् । तस्मादेकत्वप्रत्ययदार्ढ्याय [5]सुवर्णमणिलोहाग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्ता नोत्पत्त्यादि[6]भेदप्रतिपादनपराः । [7]सैन्धवघनवत्प्रज्ञप्त्ये[8]करस[9]नैरन्तर्यावधारणाद्[10]एकधैवानुद्रष्टव्यमिति च । यदि च ब्रह्मणश्चित्रपटवद्वृक्षसमुद्रादिवच्चोत्पत्त्याद्यनेकधर्मविचित्रता विजिग्राहयिषितैकरसं सैन्धवघनव-

परमात्मतामिति । उक्तविद्यातत्कार्यविरोधिनीं ब्रह्मात्मविद्यां "लम्भयति—न त्वमिति ।

राजपुत्रस्य राजाऽस्मीतिप्रत्ययवद्वाक्यादेवाधिकारिणि ब्रह्मास्मीति प्रत्ययश्चेत्कृतं विस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तश्रुत्येत्याशङ्क्याऽऽह—अत्रेति । "तथापि कथं ब्रह्मप्रत्ययदार्ढ्यं तत्राऽऽह—विस्फुलिङ्गस्येति । दृष्टान्तेष्वेकत्वदर्शनं तस्मादिति परामृष्टम् । उत्पत्त्यादि"भेदे नास्ति "शास्त्रतात्पर्यमित्यत्र "हेत्वन्तरमाह—सैन्धवेति । चकारोऽवधारणादिति पदमनुकर्षति । संगृहीतमर्थं विवृणोति—यदि

(श्रुतिवाक्य द्वारा ब्रह्मज्ञान होने पर भी) यहाँ "अग्नि से विस्फुलिङ्ग के समान तू परमेश्वर से विश्लिष्ट हुआ है" राजपुत्र के इस राजप्रत्यय के समान उसका ब्रह्मीभावप्रत्यय दृढ हो जाता है। क्योंकि अग्नि से विशिष्ट होने से पूर्व विस्फुलिङ्ग की अग्नि के साथ एकता देखी जाती है। इसलिए सुवर्णपिण्ड, मणि, लोह एवं अग्नि-विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्त ऐकात्म्यज्ञान की दृढताप्रतिपादन के लिए है, उत्पत्ति आदि का प्रपञ्च प्रतिपादन करने के लिए नहीं है। इसके अतिरिक्त "उसे एकरूप से ही देखना चाहिए" इस श्रुतिवाक्य से लवणपिण्ड के समान उसे ज्ञानरूप एकरस से व्यवधानरहित परिपूर्ण भी सिद्ध किया गया है। यदि चित्र, पट अथवा वृक्ष या समुद्रादि के समान उत्पत्ति आदि अनेकधर्मों के कारण ब्रह्म की विचित्रता का ही ग्रहण करना इष्ट होता तो "वह लवणपिण्ड के समान एकरस एवं अन्दर-बाहर से शून्य है" इस प्रकार उपसहारात्मक श्रुतिवाक्य का प्रतिपादन न किया जाता। तथा "(आचार्योपदेश के बाद उस ब्रह्म को) आकाश के समान अन्तर-बाह्यशून्य एकमात्र विज्ञानघनरूप से ही देखना चाहिए" ऐसे आदेश का और "जो इसमें नाना के समान देखता है, (उसे अज्ञान के कारण बारम्बार जन्म लेना पड़ता है)" ऐसे निन्दासूचक वचन का प्रयोग न होता।

१. संघातात्मक । २. औपदेशिकज्ञानफलमाह—हित्वेति । वार्तिके यथा—"सम्यग्ज्ञानाग्निसंप्लुष्टप्रत्यक्तत्त्वमहातमाः । हित्वा मोहोत्थमखिलं ब्रह्मैव ब्रह्म यात्ययम् ॥ प्रत्यक्तत्त्वतमोध्वंसव्यतिरेकेण मुक्तये । अपेक्ष्यते यतो नान्यत् किंचित्साधनमण्वपि" ॥५२१-५२२॥ इति । अन्यस्यान्यत्वायोगमाशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मैवेति । तर्हि ब्रह्म यातीत्ययुक्तम् । स्वात्मनो गन्तव्यत्वायोगादित्यत आह—हित्वेति । ज्ञानतत्फलयोर्मध्ये कार्यान्तरवारणार्थमुभयत्र चायशब्दो ॥ तत्र हेतुमाह—प्रत्यगिति । ३ वाक्याद्ब्रह्मप्रतिपत्तौ जातायामपि । ४. विश्लिष्टः । ५. सुवर्णपिण्ड. । ६. प्रपञ्चेति यावत् । ७ बृ० उ० २।४।१२ । ८. बृ० उ० ४।५।१३ । ९. अव्यवधानेनेत्यर्थः । १०. एकरूपेण (बृ० उ० ४।४।२०) । ११. प्रापयत्याचार्यः । १२. उक्तोऽत्रावपि । १३. प्रपञ्चे । १४ सृष्टिशास्त्रेति यावत् । १५. श्रुत्यन्तरविरोधात्स्यम् ।

'दनन्तरमबाह्यमिति नोपसमहरिष्यदेदधंवानुद्रष्टव्यमिति' च न प्रायोक्ष्यत। 'य इह नानेव पश्यतीति निन्दावचनं च।

'तस्मादेकरूपै'कत्वप्रत्ययदार्ढ्यायैव सर्ववेदान्तेषूत्पत्तिस्थितिलयादिकल्पना न 'तत्प्रत्ययकरणाय। न च निरवयवस्य परमात्मनोऽसंसारिणः संसार्येकदेशकल्पना न्याय्या स्वतोऽदेशत्वात्परमात्मनः। 'अदेशस्य परस्यैकदेशसंसारित्वकल्पनायां पर एव संसारीति कल्पितं भवेत्।

अथ 'परोपाधिकृत एकदेशः परस्य घटकरकाद्याकाशवत्। न, "तदा "तत्र विवेकिनां

चेत्यादिना। निन्दावचनं च न प्रायोक्ष्यतेति सबन्ध।

"एकत्वस्यावधारणफलमाह—तस्मादिति। "एकत्वस्य भेदसहत्वं "वारयितुमेकरूपविशेषणम्। आदिशब्देन प्रवेश"नियमने गृह्येते। न तत्प्रत्ययकरणायेत्यत्र तच्छब्देनोत्पत्त्यादिभेदो विवक्षित.। "किंच परस्यैकदेशो विज्ञानात्मेत्यत्र तदेकदेश स्वाभाविको वा स्यादौपाधिको वेति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—न चेति। "विपक्षे दोषमाह—अदेशस्येति।

द्वितीयमुत्थापयति—अथेति। एकदेशस्यौपाधिकत्वपक्षे परस्मिन्विवेकवतां तदखण्डत्वबुद्धिभाजां तदेकदेशो वस्तुत पृथग्भूत्वा व्यवहारालम्बनमिति नैव बुद्धिर्जायत औपाधिकस्य स्फटिकलौहित्यवन्मिथ्यात्वादित्युत्तरमाह—न तदेति। ननु जीवे कर्ताऽहं भोक्ताऽहमिति परिच्छिन्नधी. "सर्वेषामुप-

इसलिए समस्त वेदान्तवाक्यो मे जो उत्पत्ति, स्थिति एव लय आदि की कल्पना है। वह "मैं ब्रह्म हूँ" इस अभेदनिश्चय की दृढता के लिए ही है, उन (उत्पत्त्यादि वाक्यो) के निश्चयप्रतिपादन कराने के लिए नही है। इसके अतिरिक्त निरवयव और असंसारी परमात्मा मे ससारित्व एव एकदेश की कल्पना करना उचित नही है क्योकि परमात्मा मे स्वत ही अवयवाभाव है। निरवयव परमात्मा मे एकदेश व संसारीकल्पना करने से "परमात्मा ही ससारी है"—ऐसी कल्पना होने लग जायगी।

और यदि ऐसा माना जाय कि घटाकाश और मठाकाश आदि के समान किसी कल्पित उपाधि

१ बृ० उ० २।५।१६, ४।५।१४। २ इति चेति—'यद्वाचानभ्युदितम्' इत्यादिवाङ्मनसातीतत्वप्रतिपादकवचनसमुच्चयार्थश्चकार। तथा च समुद्रतरङ्गादेरिव ब्रह्मज्ञापके सृष्टिवाक्ये ब्रह्मणो वस्तुतोंऽशाशित्वादीष्ट चेत्तदा तस्य वाङ्मनसातीतत्वमद्वितीयत्व च तात्पर्येण श्रुतिन ब्रूयात्सविशेषस्य तद्विषयत्वादित्यर्थ। ३ बृ० उ० ४।४।१९। ४ उक्तानेकवाक्यविरोधेन सृष्ट्यादिवाक्याना स्वार्थे तात्पर्याभावावधारणात्। ५ अह ब्रह्मास्मीत्येवमभेदनिश्चय। ६ तन्निश्चयोत्पादनाय। ७ अवयवाभावात्। ८ निरवयवस्य। ९ कल्पितोपाधिकृत। १० एकदेशस्यौपाधिकत्वावसरे। ११ परस्मिन्—तदभिन्ने विज्ञानात्मनीति यावत्। १२ एकत्वावधारणमेव फल विस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तश्रुतीनामित्यर्थ। १३ एकत्वस्य भेदसहत्वमिति तादात्म्यरूपत्वमित्यर्थ। भेदसहिष्णोरभेदस्य तादात्म्यत्वात्। किञ्चिद्रूपेण भेद किञ्चिद्रूपेणाभेद। १४ भेदाभेदापनुत्त्यर्थम्। १५ नियमन शासनम्। १६ ननु शास्त्रस्याशाशित्वादावतात्पर्यात्तद्वशात्तत्कल्पना मा भूदुपादानस्य मृदादे सावयवत्वदृष्टेर्ब्रह्मणोऽपि जगदुपादानतया तथात्वमित्यादिन्यायात्तु भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—किंचेति। १७ विपक्षे स्वतोऽदेशिस्यापि तस्य संसार्येकदेशकल्पनायाम्। १८ विवेकाविवेकवताम्।

परमात्मैकदेशः 'पृथक्संव्यवहारभागिति बुद्धिरुत्पद्यते । अविवेकिनां विवेकिनां चोपचरिता बुद्धिर्दृष्टेति चेत् । न, अविवेकिनां मिथ्याबुद्धित्वात् । विवेकिना च 'संव्यवहारमात्रा-लम्बनार्थत्वात् ।

यथा कृष्णो रक्तश्चाऽऽकाश इति विवेकिनामपि कदाचित्कृष्णता रक्तता चाऽऽकाशस्य संव्यवहारमात्रा'लम्बनार्थत्वं प्रतिपद्यत इति न परमार्थतः कृष्णो रक्तो वाऽऽकाशो

लभ्यते । सा च 'तस्य वस्तुतोऽपरिच्छिन्नब्रह्ममात्रत्वान्मञ्चक्रोशनधीवदु'पचरिता । तस्मादु'भयेषा-मुक्तात्म'बुद्धिदर्शना'त्परमात्मैकदेशत्वं जीवस्य दुर्वारमिति चोदयति–अविवेकिनामिति । 'तत्राविवेकिनां यथोक्ता बुद्धिरुपचरिता न भवत्यतस्मिस्तद्बुद्धित्वेना''विद्यात्वादिति परिहरति–नेत्यादिना । ''तथाऽपि विवेकिनामीदृशी धीरुपचरितेति चेत्तत्राऽऽह—विवेकिना चेति । तेषा संव्यवहारो''ऽभिज्ञाभिवदनात्म-कस्तावन्मात्रस्याऽऽलम्बन''माभासभूतो''ऽर्थस्तद्विषयत्वात्तद्बुद्धेरपि मिथ्याबुद्धित्वादु''पचरित्वासिद्धि-रित्यर्थः ।

विवेकिनामविवेकिना चाऽऽत्मनि परिच्छिन्नधीरुपलब्धेत्येतावता न ''तस्य ''वस्तुतो ब्रह्मां-शत्वादि सिध्यतीत्येतद्दृष्टान्तेन साधयति– यथेति । अविवेकिनामिवेत्यपेरर्थः । ब्रह्मणि वस्तुतोऽशावि-

के कारण जीवात्मा परमात्मा का एकदेश है ता परमात्मा से अभिन्न विज्ञानात्मा मे विवेकी मनुष्यो को ऐसी बुद्धि उत्पन्न नही हो सकती कि परमात्मा का एकदेश "मैं जानता हूँ" इस पृथक् व्यवहार का विषय होने मे समर्थ है । यदि शङ्का करो कि परिच्छिन्न बुद्धि तो अज्ञानी और ज्ञानी दोनो को होती हुई देखी जाती है—तो ऐसा कहना ठीक नही क्योंकि अविवेकियो की वह बुद्धि मिथ्या होती है और विवेकियो को "मैं जानता हूँ" ऐसे व्यवहारमात्र के आलम्बन करने के लिए होती है ।

जिस प्रकार (अज्ञानियो की तरह) विवेकियो को भी कभी-कभी "आकाश काला या लाल है" इस प्रकार आकाश की मलिनता या लालिमा व्यवहारमात्र के मिथ्या-विषयत्व को प्राप्त हो जाती है किन्तु परमार्थत आकाश मलिन अथवा लाल नही हो सकता, अत विद्वानो को ब्रह्मस्वरूप के ज्ञान के विषय मे, ब्रह्म के अश-अशी, एकदेश-एकदेशी अथवा विकार-विकारित्वादि की कल्पना नही करनी चाहिए क्योंकि समस्त श्रुतियो का तात्पय समस्त कल्पनाओ की निवृत्तिसार बतलाने मात्र मे है ।

१ जानामीति व्यवहारविषय । २ सव्यवहारेति—कर्ता भोक्ताऽहमित्यादिरूपस्य सव्यवहारमात्रस्य आलम्बन स्वनिष्ठकर्तृत्वादिरूपो मिथ्याभूतो विषयोऽर्थो विषयो यस्याविवेकिबुद्धे सा तथा तत्वादित्यर्थं । ३. मिथ्याविषयत्वम् । ४ जीवस्य । ५ उपचरितेति—उपचारो गुणस्तत्प्रयुक्ता गौणीत्यर्थं न तु मिथ्याभूतेति यावत् । प्रकृतेऽन्त करणाद्युपाधिससर्ग एव गुणो द्रष्टव्य । मञ्चक्रोशनधियां तु क्रोशनकर्तृपुससर्ग स । ६ विवेकाविवेकवताम् । ७ परिच्छिन्नधीरिति यावत । ८ परमात्मैकदेशत्व जीवस्येति उक्तधीविषयत्वमेव जीवत्व तच्च परिच्छिन्ने एव नत्वपरिच्छिन्ने ब्रह्मणीति परैकदेशस्यैव जीवत्वमानुभविकमिति भाव । ९ उभयोरात्मनि वा । १० मिथ्यात्वादिति यावत् । ११ अविवेकिधीमिथ्यात्वेऽपि । १२ ज्ञानशब्दप्रयो-गात्मक । १३ मिथ्याभूत । १४ विषय । १५ उपचरित्वासिद्धिरिति—उपचारस्थले हि मञ्चादि सत्यमे... । १६ जीवस्य । १७ पारमार्थिकम् ।

सर्वोपनिषदा परमात्मैकत्वज्ञापनपरत्वेऽस्य 'किमर्थं 'तत्प्रतिकूलोऽर्थो विज्ञानात्मभेद-परिकल्प्यत इति । कर्मकाण्डप्रामाण्यविरोधपरिहारायेत्येके' । कर्मप्रतिपादकानि हि वाक्यान्य'नेकक्रियाकारकफलभोक्तृकर्त्राश्रयाणि । 'विज्ञानात्मभेदाभावे ह्यससारिण एव परमात्मन 'एकत्वे 'कथमिष्टफलासु क्रियासु 'प्रवर्तयेयुरनिष्टफलाभ्यो वा क्रियाभ्यो 'निवर्तयेयु. ।

कस्य वा बद्धस्य मोक्षायोपनिषदारभ्येत । अपि च परमात्मैकत्ववादिपक्षे कस्मा उपदेश कस्य चोपदेश''ग्रहणफलम् । बद्धस्य हि बन्धनाशायोपदेशस्तदभाव उपनिषच्छास्त्र ''निर्विषयमेव ।

न्यायागमाभ्या जीवेश्वरयोरशांशित्वादिकल्पनां निराकृत्य वेदान्तानामद्वयपरत्वे स्थिते सति द्वैतासिद्धि फलतीत्याह—सर्वोपनिषदामिति । एकत्वज्ञानस्य सनिदानद्वैतध्वंसि''त्वमर्थशब्दार्थः । प्रकृत ज्ञान तत्पदेन परामृश्यते । इत्यद्वैतमेव तत्त्वमिति शेष । किमर्थमिति प्रश्न मन्वानो द्वैतिना मतमुत्थापयति—कर्मकाण्डेति । वेदान्तानामद्वयपरत्वेऽपि कथ तत्प्रामाण्यविरोधप्रसङ्गस्तत्राऽऽह—कर्मेति । तथाऽपि कथ विरोधावकाश स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—विज्ञानात्मेति ।

''केवलाद्वैतपक्षे कर्मकाण्डविरोधमुक्त्वा तत्रैव ज्ञानकाण्डविरोधमाह—कस्य वेति । परस्य नित्यमुक्तत्वादन्यस्य ''स्वत ''परतो वा बद्धस्याभावाच्छिष्याभावस्तथा ''चाधिकार्यभावादुपनिषदारम्भासिद्धिरित्यर्थं । कर्मकाण्डस्य काण्डान्तरस्य च प्रामाण्यानुपपत्तिर्विज्ञानात्मादिभेद कल्पयतीत्यर्थापत्तिद्वयमुक्त तत्र द्वितीयामर्थापत्ति प्रपञ्चयति—अपि चेति । ''का पुनरुपदेशस्यानुपपत्तिस्तत्राऽऽह—बद्धस्येति । तदभाव इत्यत्र तच्छब्दो बद्धम''धिकरोति । निर्विषय निरधिकारम् । ''किच यद्यर्थापत्तिद्वय-

---

समस्त उपनिषदो का प्रयोजन परमात्मा के एकत्वप्रतिपादन म है फिर विज्ञानात्मा के भेद-रूप ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से प्रतिकूल विषय की कल्पना किसलिए की जाती है ? इस पर कुछ द्वैतवादी मीमासको का मत है कि यह कल्पना कर्मकाण्ड के प्रामाण्य के विरोध का परिहार करने के लिए है क्योकि कर्म के प्रतिपादक श्रुतिवाक्य अनेक कर्ता और भोक्ताओ की क्रिया, कारक और फल का आश्रय करने वाले है। परमात्मप्रतियोगिक भेद न होने पर असंसारी परमात्मा का अद्वैत रहते हुए, वे वाक्य लोगो को इष्टफलो वाली क्रियाओ म किस प्रकार प्रवृत्त करेंगे अथवा अनिष्ट फलो वाली क्रियाओ से किस प्रकार निवृत्त करेंगे ?

तथा किस बद्ध जीव के मोक्ष के लिए उपनिषत् का प्रारम्भ किया जायगा ? इसके अतिरिक्त परमात्मा जीवात्मा का एकत्वप्रतिपादन करने वालो के मत म किसी को परमात्मा के ऐकात्म्यज्ञान का उपदेश कैसे दिया जायगा और किस प्रकार उसके उपदेश का फल ज्ञान होगा ? क्योकि बद्ध जीव

---

१ तत्कल्पना न न्याय्यस्याक्षपार्थ किंशब्द । २ ब्रह्मात्मैक्यज्ञानप्रतिकूल । ३ मीमासका । ४ अनेके ये भोक्तारः कर्तार । ५ परमात्मप्रतियोगिकभेदाभाव । ६ अद्वैतत्व । ७ क प्रवर्तयेयुरिति यावत् । ८ वाक्यानीति शेष । ९ निवर्तयेयुरिति—तथा चाधिकार्यभावप्रयुक्तमप्रामाण्यमिति भाव । १० ज्ञानेति यावत् । ११ निरधिकारिकम् । १२ वरकथनान तयमिति यावत् । १३ द्वैताद्वैत(भेदाभेद)व्यावृत्तये केवलेति । १४ स्वभावत । १५ उपाधित । १६ शिष्याभाव च । १७ निरूपा । १८ गोचरयति । १९. इत एवाग्रिमभाष्यावतरण बोध्यम् ।

'एव तर्ह्युपनिषद्वादिपक्षस्य कर्मकाण्डवादिपक्षेण चोद्यपरिहारयोः समानः पन्थाः येन भेदाभावे कर्मकाण्ड 'निरालम्बनमात्मान न लभते प्रामाण्य प्रति तथोपनिषदपि। एव तर्हि यस्य प्रामाण्ये स्वार्थविघातो नास्ति तस्यैव कर्मकाण्डस्यास्तु प्रामाण्यम्। उपनिषदा तु प्रामाण्यकल्पनाया स्वार्थविघातो भवेदिति मा भूत्प्रामाण्यम्। न हि कर्मकाण्ड प्रमाण सदप्रमाण भवितुमर्हति न हि प्रदीप प्रकाश्य प्रकाशयति न प्रकाशयति

मुक्तया विधयोत्तिष्ठति 'तर्हि भेदस्य दुर्निरूपत्वात्कथ कर्मकाण्ड प्रमाणमिति, यद्ब्रह्मवादिना कर्मवादी चोद्यते 'तद्' ब्रह्मवादस्य कर्मवादेन तुल्यम्। "ब्रह्मवादेऽपि शिष्यशासित्रादिभेदाभावे कथमुपनिषत्प्रामाण्यमित्याक्षेप्तु सुकरत्वाद्यश्चोपनिषदा "प्रतीयमान शिष्यशासित्रादिभेदमाश्रित्य प्रामाण्यमिति परिहार स कर्मकाण्डस्यापि समान।

तत्रापि प्रातीतिकभेदमादाय प्रामाण्यस्य सुप्रतिपन्नत्वान्न च "भेदप्रतीतिर्भ्रान्तिर्बाधाभावादित्यभिप्रेत्याऽऽह—एव तर्हीति। चोद्यसाम्य विवृणोति—येनेति। इति चोद्यसाम्यात्परिहारस्यापि साम्यमिति शेष। ननु कर्मकाण्ड भेदपरं ब्रह्मकाण्डमभेदपर प्रतिभाति न च "वस्तुनि विकल्प सभवत्यतो"ऽन्यतरस्याप्रामाण्यमत आह—एव तर्हीति। तुल्यमुपनिषदामपि स्वार्थविघातकत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—उपनिषदामिति। स्वार्थ शब्दशक्तिवशात्प्रतीयमान "सृष्ट्यादिभेद। यत्तूच्यते कर्मकाण्डस्य व्यावहारिक प्रामाण्य न तात्त्विक तात्त्विक तु काण्डान्तरस्येति तत्राऽऽह—न हीति। यद्धि प्रामाण्यस्य व्यावहारिकत्व तदेव तस्य तात्त्विकत्व न हि प्रमाण तत्त्व च नाऽऽवेदयति" व्याघातादित्यभिप्रेत्य दृष्टान्तमाह—न हीति। स्वार्थविघातात्कर्मकाण्डविरोधाच्चोपनिषदामप्रामाण्य-

के बन्धनो के नाश के लिए ही मोक्षशास्त्र का उपदेश किया जाता है बन्धन न होने पर तो उपनिषच्छास्त्र का कोई अधिकारी ही नही रहता।

इस प्रकार (प्रातीतिकभेद का लेकर उपनिषदों का प्रामाण्य स्वीकार करने पर) तो उप-
निषद्वादी पक्ष क आक्षेप और परिहार का मार्ग कर्मकाण्डवादी पक्ष क समान है क्योंकि भेद के
दुर्निरूपकत्व होने स जिस प्रकार कर्मकाण्ड आत्मा क प्रति निरधिकारी होकर अपना प्रामाण्य सिद्ध
नही कर सकता उसी प्रकार उपनिषत् भी स्वयप्रामाण्य नही हो सकता। (दोनो जगह शङ्का-
समाधान क साम्य होने पर) तब तो जिसका प्रामाण्य मानने पर शब्दशक्ति से प्रतीयमान यागादिभेद
का विधान नही होता, उस कर्मकाण्ड की ही प्रामाणिकता माननी चाहिए। उपनिषदो के प्रामाण्य
की कल्पना करन मे तो स्वार्थ का विघात हाता है, इसलिए उनका प्रामाण्य भले हो न भी हो।
(व्यावहारिक दृष्टि स) कर्मकाण्ड प्रामाणिक हाकर (तात्त्विक दृष्टि से) अप्रामाणिक नहीं हो सकता
क्योंकि दीपक अपने प्रकाश्यपदार्थ को कभी प्रकाशित करता है और कभी नही भी करता हो,

१ प्रातीतिकभेदमादायोपनिषदा प्रामाण्ये सति। २ भेदस्य दुर्निरूपत्वेन। ३ निरधिकारित्वम्। ४ आत्मान प्रतीत्यन्वय। ५ उभयत्र चोद्यपरिहारसाम्ये। ६ शब्दतया प्रतीयमानो यागादिभेद। ७ उत्थाने सत्यपि। ८ तस्य दुर्निरूपत्व प्रागुक्तश्रुत्यादिभिर्बोध्यम्। ९ चोद्यम्। १० ज्ञानकाण्डस्य। ११ तौल्यमेवोपपादयति। १२ प्रातीतिकम्। १३ शिष्यादिभेद। १४ ब्रह्मात्मनि। १५ भेदाभेदात्मक। १६ वस्तुनि विकल्पासभवात्। १७ 'यतो वा इमानी'त्यादौ। १८ तत्त्वावेदकत्वं हि तात्त्विकत्वम्।

चेति।

प्रत्यक्षादिप्रमाणविप्रतिषेधाच्च । न केवलमुपनिषदो ब्रह्मैकत्वं प्रतिपादयन्त्यः स्वार्थविघातं, कर्मकाण्डप्रामाण्यविघातं च कुर्वन्ति । प्रत्यक्षादिनिश्चितभेदप्रतिपत्त्यर्थप्रमाणैश्च विरुध्यन्ते । तस्मादप्रामाण्यमेवोपनिषदाम्। अन्यार्थता वाऽस्तु न त्वेव ब्रह्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्थता।

न, उक्तोत्तरत्वात् । प्रमाणस्य हि प्रमाणत्वमप्रमाणत्वं वा प्रमोत्पादनानुत्पादननिमित्तम् । अन्यथा चेत्स्तम्भादीनां प्रामाण्यप्रसङ्गाच्छब्दादौ प्रमेये । किंचातः ।

मित्युक्तमुपसंहर्तुमितिशब्दः ।

उपनिषदप्रामाण्ये हेत्वन्तरमाह—प्रत्यक्षादीति । प्रत्यक्षादीनि निश्चितानि भेदप्रतिपत्त्यर्थानि प्रमाणानि तैरिति विग्रहः । अध्ययनविध्युपादापिताना कुतस्तासामप्रामाण्यमित्याशङ्क्याऽऽह—अन्यार्थता वेति ।

सिद्धान्तयति—नेत्यादिना । तदेव स्फुटयितुं सामान्यन्यायमाह—प्रमाणस्येति । स्वार्थे प्रमोत्पादकत्वाभावेऽपि प्रामाण्यमिच्छन्तं प्रत्याह—अन्यथेति । यथोक्तप्रयोजकप्रयुक्तं प्रामाण्यमप्रामाण्यं वेत्येतस्मिन्पक्षे किं फलतीति पृच्छति—किंचेति । तत्र किमुपनिषदः स्वार्थं बोधयन्ति न वेति

ऐसा नहीं होता ।

इसके अतिरिक्त ऐकात्म्यप्रतिपादक श्रुतियों का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी विरोध है। ब्रह्म की ऐकात्म्यप्रतिपादक श्रुतियाँ केवल स्वार्थविघात और कर्मकाण्ड के प्रामाण्य का ही विघात नहीं करतीं, अपितु निश्चितभेदज्ञान के प्रयोजक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उनका विरोध भी करती हैं। इसलिए उपनिषदें अप्रामाण्य ही हैं अथवा उन श्रुतियों के अध्ययनकाल में जपार्थादि अन्य प्रयोजन हो सकता है; वे केवल ब्रह्मैकात्म्यज्ञान प्रतिपादन करने के लिए ही नहीं हो सकतीं।

(सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का समाधान करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इसकी प्रत्युक्ति पहले ही हो चुकी है। प्रमाण का प्रामाण्य या अप्रामाण्य प्रमा की उत्पत्ति करने या न करने के कारण होता है, अन्यथा स्वप्रमेय में प्रमा के उत्पादकत्व का अभाव होने पर तो शब्दादि प्रमेय में स्तम्भादि के भी प्रामाण्य का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। (पूर्ववादी आक्षेप करता है—) तो इससे

---

१ जपार्थं वा स्तुता सामध्ययनम् । २ बृ० उ० २२६पृष्ठभाष्ये । उक्तति—ज्ञानकाण्डं नाफलं नाप्यन्यशेष इति सम्बन्धग्रन्थादावुक्तमित्यर्थः । तथा च वार्तिके "ब्रह्मास्मीति धियो जन्मसमकाला विमुक्तता । यतोऽनुभूयते साक्षाज्ज्ञानर्थक्य भवेत्तत ॥ वस्तुमात्रावसायित्व सम्बन्धे प्रावप्रपञ्चितम् । यतोऽतो नोपनिषदामन्यार्थत्व कथंचनेति" ॥५४१-५४२॥ ३ उक्त स्मारयित्वोपनिषत्प्रामाण्यार्थं प्रमाणाप्रमाणलक्षण तावदाह—प्रमाणस्य हीति । ४. प्रमेति—प्रमोत्पादकत्वमन्तरा न प्रमाणत्व घटादेरपि तत्प्रसङ्गात्नापि तदनुत्पादकत्व विनाऽप्रमाणत्व चक्षुरादेरपि रूपादौ तत् प्रसङ्गादिति भाव । ५. तथा सति वस्तुत्वस्यैव प्रमाणत्वत्वादिति भाव । ६. उपनिषन्मानत्वोपयुक्त तव किं सिद्धम् । ७ भेदप्रतिपत्तिफलवानि । ८. स्वाध्यायोऽध्येतव्यो द्विजातिभि । ९. उक्तोत्तरत्वमेव । १०. प्रमाणाप्रमाणसामान्यलक्षणम् । ११. स्वप्रमेये । १२. वस्तुत उपनिषदि किमायाति । १३. मानामानयोरुक्तलक्षणत्वे सति । १४ स्वप्रमेये प्रमा जनयन्ति न वा ।

यदि तावदुपनिषदो ब्रह्मैकत्वप्रतिपत्तिप्रमां कुर्वन्ति कथमप्रमाणं भवेयुः । न कुर्वन्त्येवेति चेद्यथाऽग्निः शीतमिति स भवानेवं वदन्वक्तव्य उपनिषत्प्रामाण्यप्रतिषेधार्थं भवतो वाक्यमुपनिषत्प्रामाण्यप्रतिषेधं किं न करोत्येवाग्निर्वा रूपप्रकाशम् । अथ करोति । यदि करोति भवतु तदा प्रतिषेधार्थं प्रमाणं भवद्वाक्यमग्निश्च रूपप्रकाशको भवेत् । प्रतिषेधवाक्यप्रामाण्ये भवत्येवोपनिषदां प्रामाण्यम् । अत्र भवन्तो ब्रुवन्तु कः परिहार इति ।

नन्वत्र प्रत्यक्षा मद्वाक्य उपनिषत्प्रामाण्यप्रतिषेधार्थप्रतिपत्तिरग्नौ च रूपप्रकाशनप्रतिपत्तिः प्रमा । कस्तर्हि भवतः प्रद्वेषो ब्रह्मैकत्वप्रत्ययप्रमां प्रत्यक्षां कुर्वतीषूपनिषत्सूप-

---

विकल्प्याऽऽद्यमनूद्य दूषयति—यदि तावदिति । द्वितीयमुत्थाप्य निराकरोति—नेत्यादिना । अग्निर्यथा शीतं न करोति तथोपनिषदोऽपि ब्रह्मैकत्वे प्रमां न कुर्वन्तीति वदन्तं प्रति 'प्रतिबन्दिग्रहो न युक्तोऽनुभवविरोधादित्याशङ्क्याऽऽह—यदीति । तर्हि स्वार्थे प्रमितिजनकत्वान्मद्वाक्यस्य प्रामाण्यं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—प्रतिषेधेति । उपनिषदप्रामाण्ये भवद्वाक्याप्रामाण्यं तत्प्रामाण्ये तूपनिषत्प्रामाण्यं दुर्वारमिति साम्ये प्राप्ते व्यवस्थापकः समाधिर्वक्तव्य इत्याह—अत्रेति ।

उक्तमेवार्थं चोद्यसमाधिभ्यां विशदयति—नन्वित्यादिना । प्रतिषेधमङ्गीकृत्योक्ता यथोक्तो-

---

क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? (इसका समाधान यह है कि—) यदि श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञानरूप प्रमा उत्पन्न करती हैं, तो वे अप्रामाणिक किस प्रकार होंगी ? किन्तु अग्नि शीतगुणवाला है, इस वाक्य के समान यदि श्रुतिवाक्य प्रमा उत्पन्न करते ही न हों तो ? (पूर्ववादी से सिद्धान्ती पूछता है—) इस प्रकार आक्षेप करने वाले आप से हमें यह कहना है कि उपनिषत् के प्रामाण्य प्रतिषेध के लिए प्रवृत्त क्या आपका वाक्य उपनिषत्प्रामाण्य प्रतिषेध नहीं करता है, तथा क्या अग्निरूप के समान प्रकाशित नहीं करता है ? (पूर्ववादी कहता है—) प्रतिषेध तो करता है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) यदि वह उसका प्रतिषेध करता है, तो प्रतिषेध करने में आपका वाक्य प्रमाण हो सकता है, तथा अग्नि भी रूप का प्रकाशक हो सकता है । अतः यदि आपका प्रतिषेधवाक्य प्रामाणिक है तो उपनिषद्वाक्यों की भी प्रामाणिकता होनी ही चाहिए । अब आप ही बतलाएँ कि इस का क्या समाधान हो सकता है ?

(पूर्ववादी कहता है—) यहाँ "उपनिषदें स्वप्रमेय में प्रमा उत्पन्न नहीं करतीं" मेरे इस वाक्य में उपनिषत्प्रामाण्य के प्रतिषेध की बोधरूपा प्रमा एवं अग्नि में रूपप्रकाशन की ज्ञानरूपा प्रमा तो प्रत्यक्ष ही है । (इस पर सिद्धान्ती पूछता है—) तुम्हारे वाक्य को उसी रूप में स्वीकार कर लिए

---

१ इवार्थे वाशब्दः । २. चशब्दो यथा अर्थे । ३ उपनिषदः स्वप्रमेये प्रमां न जनयन्तीति वाक्ये । ४. चशब्दोऽयं यथार्थकः । ५ स्वद्वाक्यस्य तथात्वस्वीकारे । ६ तदप्रामाण्यं दूषयति । ७ माम् । ८. प्रतिवादि-प्रतिबन्दिः तुल्ययुक्त्या दोषोद्भावनं तस्या ग्रहः उद्भावनीयत्वेन स्वीकारः । ९ अनुभवविरोधादिति—उपनिषदो ब्रह्मात्मैकत्वे प्रमाजनकत्वाभावानुभवविरोधादिति यावत् । १०. मद्वाक्यस्योक्तप्रतिषेधप्रमापकत्वे सति । ११ वाक्यस्योपनिषत्प्रामाण्यप्रतिषेधकारकत्वाभावाभिधानस्यानुभवविरुद्धत्वादित्यर्थः । १२ मद्वाक्यमेव प्रमाणं नोपनिषदिति व्यवस्थाकरः । १३. साम्यप्राप्तिरूपम् । स्वाविशेषादिति भावः । तथा चाभ्युपगमवादेन स्वद्वाक्यजप्रतिषेधं स्वीकृत्य सोपपत्तेत्यर्थः । १४ उक्तेति—प्रद्वेषानुपपत्तिरिति सम्बन्धः । अधुनेति शेषः । १५ स्वप्रमेये प्रमां कुर्वदुपनिषद् ।

लभ्यमानासु । [1]प्रतिषेधानुपपत्तेः । शोकमोहादिनिवृत्तिश्च [1]प्रत्यक्षं फलं ब्रह्मैकत्वप्रतिपत्तिपारम्पर्यजनितमित्य[2]वोचाम । [3]तस्मादुक्तोत्तरत्वादुपनिषदं प्रत्यप्रामाण्यशङ्का तावन्नास्ति ।

यच्चोक्तं स्वार्थविघातकरत्वादप्रामाण्यमिति तदपि न । [3]तदर्थप्रतिपत्तेर्बाधका-

---

पनिषदुपलम्भे सति [4]तस्य निरवकाशत्वात्प्रद्वेषानुपपत्तिरित्याह—प्रतिषेधेति । [5]उपनिषदुत्थाया धियो वैफल्यात्तासाममानतेत्याशङ्क्याऽऽह—शोकेति । एकत्वप्रतिपत्तिस्तावदा[6]पातेन जायते । सा च [7]विचारं [8]प्रयुज्य मननादिद्वारा दृढी भवति । [9]सा पुनरशेषं शोकादिकमपनयतीति पारम्पर्यजनितं फलमिति द्रष्टव्यम् । स्वार्थे प्रमाजनकत्वादुपनिषदां प्रामाण्यमित्युक्तमुपसंहरति—तस्मादिति ।

प्रामाण्यहेतुसद्भावादुपनिषदां प्रामाण्यं प्रतिपाद्य तदप्रामाण्यं परोक्तमनुवदति—यच्चोक्तमिति । कथं हि तासां [10]स्वार्थविघातकत्वं किं ताभ्यो ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं नैव चेति प्रतिपत्तिरुत्पद्यते किं वा काश्चिद्ब्रह्मैकत्वप्रतिपत्तिमन्याश्चोपनिषदस्तत्प्रतिषेधं कुर्वन्तीति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—

जाने पर ब्रह्मैकात्म्यज्ञान में प्रमा को प्रत्यक्ष करती हुई उपलभ्यमान उपनिषदों में ही आपका क्या द्वेष है? क्योंकि उनके प्रामाण्य का प्रतिषेध करना असंभव ही है । तथा यह भी कहा जा चुका है कि 'शोक-मोह आदि की निवृत्ति होना' यह ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान की परम्परा से होने वाला प्रत्यक्ष फल है । इसलिए इस का उत्तर पूर्व में दे दिए जाने के कारण उपनिषदों में अप्रामाण्य शङ्का के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता ।

इसके अतिरिक्त यह जो कहा कि स्वार्थविघातकारक होने से उनकी अप्रामाणिकता है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मात्मैकत्व प्रमा का (विरोध नहीं होने से)

---

१. प्रत्यक्षमिति—यथाग्निदाहात्प्रत्यक्षं स्फोटाख्यं फलं यथा च मन्त्रौषधादिप्रयुक्तया विषादिनिरासो यथा चोदकपानादजीर्णं तद्ध्वस्तिरध्यक्षा तद्वदित्यर्थः । २. बृ० उ० २२१ पृष्ठभाष्ये । ३. तदर्थेति—वेदान्तप्रतिपाद्यब्रह्मात्मैकत्वप्रमाया बाधकाभावादित्यर्थः । विरोधाभावेनेति शेषः । वार्तिके यथा—"किमेकविषयत्वेन किंवा विषयभेदतः । विरोधः स्यात्प्रमाणानामित्येतदभिधीयताम् ॥ मानान्तरेण संवादो यदि चेदनुवादिता । विरोधो न तु मानानां सदैवार्थसमागमे ॥ भिन्नप्रमेयतायां च श्रोत्रादीनां यथा तथा । परस्परानपेक्षत्वान्नितरामविरुद्धता" ॥५५३-५५५॥ इति । मानानां विरोधस्य दुरुपपादत्वान्न तेषु बाध्यबाधकतेति वक्तुं विकल्पयति—किमिति ॥ तत्राऽऽद्यमनूद्य दूषयति—मानान्तरेणेति । यदि मानस्य मानान्तरेण संवादस्तुल्यविषयत्वं तदाऽनुवादतैव न विरोधश्चेच्छब्दस्यावधारणार्थत्वादेकार्थोपनिपाते मानानां विरोधायोगादन्यथा नैकार्थत्वं रूप्यतदभावादिधीष्वदृष्टत्वादित्यर्थः ॥ कल्पान्तरं निराह—भिन्नेति । अर्थभेदे विरोधस्य वार्ताऽपि नेत्याह—नितरामिति ॥ ४. प्रतिषेधस्य । ५. उपनिषदिति—उपनिषदामनुत्पत्तिरूपा प्रामाण्याभावेऽणीत्यादिः । द्विविधं ह्यप्रामाण्यम् प्रमानुत्पत्तिप्रयुक्तम् । उत्पन्नाया अपि तस्या वैफल्यप्रयुक्तम् । ६. पारोक्ष्यात्मना अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितेति यावत् । ७. विचारं श्रवणाख्यम् । ८. प्रयुज्य संपाद्य । ९. सा दृढीभूता अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितेति यावत् । १०. स्वार्थेति—वेदान्तानां स्वार्थविघातकत्वं वक्तुं सामान्यतस्तावन्मानानां स्वार्थमाहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"स्वप्रमेयावबोधो हि मानानां स्वार्थ उच्यते । तं चेत्कुर्वन्ति वेदान्ताः कुतस्तेषाममानता" ॥५५०॥ इति । अत्र लौकिकपरीक्षकसंप्रतिपत्त्यर्थो हिशब्दः । उक्तस्वार्थकारिणो वेदान्ता न तद्विघातकास्ततो नाऽमानता तेषामित्याह—न चेदिति ॥

भावात्। न ह्युपनिषद्भ्यो ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं नैव चेति प्रतिपत्तिरस्ति। [1]यथाऽग्निरुष्णः शीतश्चेत्यस्माद्वाक्याद्विरुद्धार्थद्वयप्रतिपत्तिः। अभ्युपगम्य चैतदवोचाम। न तु वाक्य-प्रामाण्य[2]समय एष [3]न्यायो यदुतैकस्य वाक्यस्यानेकार्थत्वम्। सति चानेकार्थत्वे स्वार्थश्च स्यात्तद्विघातकृच्च विरुद्धोऽन्योऽर्थः। न [4]त्वेतद्वाक्य[5]प्रमाणकानां [6]विरुद्धमविरुद्धं चैकं वाक्यमनेकमर्थं प्रतिपादयतीत्येष [7]समयः। [8]अर्थैकत्वाद्ध्येकवाक्यता।

-तदपि नेति। [9]तदेव प्रपञ्चयति—न हीति।—एकस्य वाक्यस्यानेकार्थत्वमङ्गीकृत्य वैधर्म्योदाहरणमुक्त-मित्याह—अभ्युपगम्येति। [10]तस्याङ्गीकारवादत्वे हेतुमाह—न त्विति। [11]उक्तमर्थं व्यतिरेकद्वारा विवृणोति—सति चेति। भवत्वेकस्य वाक्यस्यानेकार्थत्वं नेत्याह—न त्विति। कस्तर्हि तेषां समय-स्तत्राऽऽह—अर्थैकत्वादिति। तदुक्तं प्रथमे तन्त्रे*—"अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यादिति।

बाधकाभाव है। उपनिषद्वाक्यों से यह ज्ञान नहीं होता कि ब्रह्म एकमात्र अद्वितीय भी है और नहीं भी है। जिस प्रकार "अग्नि उष्ण स्वभाववाला भी होता है और शीतल स्वभाव वाला भी होता है", इस एक ही वाक्य से दो विरुद्ध अर्थों का ज्ञान होता है। ऐसा विचार कर ही हम पहले कह आये है कि मीमासक के वाक्यप्रामाण्य के सिद्धान्त मे एक ही वाक्य के अनेक अर्थ मानना उचित नही है। अनेक अर्थो के मान लेने पर एक अर्थ स्वार्थपरक होगा और दूसरा उसका विघातक विरुद्ध अर्थ होगा और 'एक ही वाक्य विरुद्ध और अविरुद्ध अर्थविशेषणो का प्रतिपादन करता है' वाक्य को प्रमाण मानने वाले मीमासको का यह सिद्धान्त नही है क्योंकि (जिस प्रकार एक वाक्य मे अनेकार्थता का अभाव होता है, उसी प्रकार) अर्थ की एकता होने से एकवाक्यता होती है।

१ तत्र वैधर्म्योदाहरणमाह—यथेति। २ मीमासकसिद्धान्ते। ३ नीतिः। ४ एतत्किमित्यत आह—वाक्येति। ५. मीमासकानाम्। ६ अर्थविशेषणे। ७ सिद्धान्तः। ८ अर्थैकत्वादिति—यथाऽर्थं हिशब्दः। यथैकस्य वाक्यस्यानेकार्थत्वाभावस्तथाऽर्थैकत्वादेकं वाक्यमित्येकवाक्यलक्षणं तज्ज्ञैरुच्यते। लौकिकस्य वैदिकस्य वा एकस्यैव वाक्यस्य द्व्यर्थबोधित्वे तदुक्तलक्षणानाक्रान्तमिति न तदेकं वाक्यं स्यादित्यर्थः। वार्तिके यथा—"अर्थैकत्वादिति तथा वाक्यलक्षणमुच्यते। अनेकार्थावबोधित्वं न स्याल्लक्षणवद्वच"॥५६४॥ इति। ९. बाधकाभावत्वमेव। १०. एकवाक्यस्यानेकार्थत्वस्य। ११. एकवाक्यस्यानेकार्थत्वाभावरूपम्। १२. अर्थैकत्वादिति—(जै० सू० २।१।४६) विभागे—विच्छिद्य पाठे साकाङ्क्षत्वे सति अर्थैकत्वं यावति स्यात्तावदेकं वाक्यमित्यर्थं। यथा "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे" इति। अर्थैकत्वमात्रोक्तौ "भगो वां विभजतु पूषा वां विभजतु" इत्यत्रापि विभागरूपार्थैक्यादेकवाक्यता स्यादत साकाङ्क्षं चेदिति। विभागे साकाङ्क्षत्वं "स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेधसुमनस्यमान" इत्यत्राप्यस्ति तच्छब्दस्य पूर्वसाकाङ्क्षत्वादतस्तद्वारणायार्थैकत्वादिति। तत्र तु सदनसादनरूपार्थभेद इति नातिव्याप्तिरिति।

*एकवाक्यत्वलक्षणाधिकरणसूत्रम्—"अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्" जै० सू २।१।४६। अथ प्रश्लिष्टपठितेषु यजुःषु कथमवगम्यत, इयदेकं यजुरिति। यावता पदसमूहेनेज्यते तावान् पदसमूह एकं यजुः। कियता चेज्यते। यावता क्रियाया उपकारः प्रकाश्यते तावद्वक्तव्यत्वाद् वाक्यमित्युच्यते तेनाभिधीयते—अर्थैकत्वादेकं वाक्यमिति। एतस्माच्चेत्कारणादेकवाक्यता भवति तस्मादेकार्थः पदसमूहो वाक्यम्। यदि च

न च कानिचिदुपनिषद्वाक्यानि ब्रह्मैकत्वप्रतिषेधं कुर्वन्ति । यत्तु लौकिकं वाक्यमग्निरुष्णः शीतश्चेति न तत्रैकवाक्यता तदेकदेशस्य प्रमाणान्तरविषयानुवादित्वात् । अग्निः शीत इत्येतदेकं वाक्यमग्निरुष्ण इति तु प्रमाणान्तरानुभवस्मारकं न तु स्व-

द्वितीयं दूषयति—न चेति । 'एकस्य वाक्यस्यानेकार्थत्वं लोके दृष्टमित्याशङ्कयाऽऽह—यत्त्विति । तदेकदेशस्येत्यादिवाक्यं विवृणोति—अग्निरिति । अनुवादकबोधकभागयोरेकवाक्यत्वाभावं

ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कि कुछ श्रुतिवाक्य ब्रह्मात्मैक्य का प्रतिषेध करते हैं—"अग्नि उष्ण स्वभाव वाला है, और शीतल स्वभाव वाला भी होता है" यह जो लौकिक वाक्य है, वहाँ एकवाक्यता नहीं होती क्योंकि उसके एकदेश का प्रमाणान्तर के विषयभूत अर्थ का अनुवादक होना सिद्ध

१. उक्तौ । २ अनुभवमाश्रित्य शङ्कते—एकस्येति ।

विभज्यमानं साकाङ्क्षं पदं भवति । स्मिमुदाहरणं 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे' इति । दर्शपूर्णमासयोराम्नायते—'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् अग्नये जुष्टं निर्वपामि इति वाक्यानि भिन्नानि भवितुमर्हन्ति । कुतः । एकत्वनियामकस्य दुर्बोधत्वात् । अर्थैक्यं वाक्यैक्यप्रयोजकमिति चेन्न । एकस्मिन्पदेऽतिव्याप्तेः पदसमूहस्य वाक्यत्वे समूहानामत्र बहूनां सम्भवाद्वाक्यभेदः स्यादिति चेन्मैवम् । यद्विभागे साकाङ्क्षमविभागे चैकार्थं तदेकं वाक्यमिति प्रयोजकस्य बोद्धुं शक्यत्वात् । विभागे साकाङ्क्षमित्युक्तेऽतिव्याप्तिः स्यात् 'स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि । तस्मिन्सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेधसुमनस्यमान' इत्यत्र । तस्मिन्नित्यादिपदसमूहस्य विभागे सति प्रकृतवाचि तच्छब्दार्थनिर्णयाय पूर्वपदसमूहे साकाङ्क्षत्वमस्ति । अतस्तद्व्यवच्छेत्तुमेकार्थमित्युच्यते । न हि तत्रैकार्थत्वमस्ति पूर्वसमूहस्य सदनकरणमर्थः—उत्तरसमूहस्य पुरोडाशप्रतिष्ठापनम् । अत्र द्वयोः समूहयोर्वाक्यद्वयमुभयवादिसिद्धं तदेकार्थमित्यनेन व्यावर्त्यते । एकार्थमित्युक्तेऽतिव्याप्तिः स्यात् 'भगो वां विभजतु पूषा वां विभजतु' इत्यत्र । अनयोर्विभजनमन्त्रत्वेन समतयोः पदसमूहयोस्तात्पर्यविषयस्य द्रव्यविभागरूपार्थस्यैकत्वात्तद्व्यवच्छेत्तुं विभागे साकाङ्क्षमित्युक्तम् । प्रकृते तु अग्नये जुष्टमित्यादिसमूहे पृथक्कृते पूर्वो देवस्य त्वा इति समूहः साकाङ्क्षो भवति । एकीकृते तु कृत्स्नस्यैक एव निर्वापोऽर्थ एतेनैकवाक्यत्वनिर्णयेनानियतपरिमाणस्य यजुषोऽवसानं निश्चेतुं शक्यमिति माधवीयव्याख्या । "अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्" । अर्थैकवाक्यतालक्षणमाह—अर्थेति । विभागे वाक्यघटकपदानां विभागे साकाङ्क्षमेकपदरहितस्यापरपदस्य शाब्दबोधाजनकत्वं तयोरेवार्थैकत्वमेकफलप्रतिपादकत्वम् । विभागे साकाङ्क्षत्वे सति एकफलप्रतिपादकं यत्तदेव वाक्यमित्यर्थः । यथाऽग्नये जुष्टं निर्वपामीत्यत्र विभागे परस्परसाकाङ्क्षं निर्वापरूपैकार्थप्रतिपादकमिति जैमिनिसूत्रवृत्तिः सुबोधिनीनामिका । अत्र विशेष्यानुपादाने 'स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि । तस्मिन्सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेधसुमनस्यमान' ।। इत्यत्र तस्मिन्नित्याद्युत्तरार्द्धघटकतत्पदस्य बुद्धिविषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नवाचकत्वेन बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वज्ञानापेक्षशाब्दबोधोपयोगिशक्तिग्रहविषयत्वाद्बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वज्ञानस्य च सादनादिपदार्थज्ञानाधीनत्वादुत्तरार्धस्य—विभागे सति साकाङ्क्षत्वस्य स्फुटत्वेन तत्रैकवाक्यत्वलक्षणातिव्याप्तिः स्यादतस्तद्वारणाय तदुपादानम् । 'भगो वां विभजतु पूषा वां विभजतु' अनयोरेकवाक्यत्ववारणाय सत्यन्तम् । विशेष्यविशेषणयोरुभयोरुपादाने तु न कश्चिद्दोषः पूर्वत्र सदनसादनरूपभिन्नपदार्थप्रतिपादकत्वात् उत्तरत्र च विभागे साकाङ्क्षत्वाभावादिति रामेश्वरसूरीया व्याख्या ।

यम'र्थावबोधकम् । 'अतो नाग्निः शीत इत्य'नेनैकवाक्यता प्रमाणान्तरानुभवस्मारणेनैवो-पक्षीणत्वात् । यत्तु विरुद्धार्थप्रतिपादकमिदं वाक्यमिति 'मन्यते तच्छीतोष्णपदाभ्यामग्निपद-सामानाधिकरण्यप्रयोगनिमित्ता भ्रान्तिर्न ह्येकस्य वाक्यस्यानेकार्थत्वं लौकिकस्य वैदिकस्य वा ।

यच्चोक्तं कर्मकाण्डप्रामाण्यविघातकृदुपनिषद्वाक्यमिति तन्न, 'अन्यार्थत्वात् । 'ब्रह्मैक-त्वप्रतिपादनपरा ह्यु'पनिषदो नेष्टार्थप्राप्तौ साधनोपदेशं 'तस्मिन्वा 'पुरुषनियोगं वारयन्त्य-नेकार्थत्वानुपपत्तेरेव । न च कर्मकाण्डवाक्यानां स्वार्थे प्रमा नोत्पद्यते । 'असाधारणे

फलितमाह—अत इति । हेत्वर्थमुक्तमेव स्फुटयति—प्रमाणान्तरेति । शीतः "शैशिरोऽग्निरित्येतद्बोधकमेव चेद्वाक्यं कथं "तर्हि तत्र लोकस्य विरुद्धार्थधीरित्याशङ्क्याऽऽह—यत्त्विति ।

स्वार्थविघातकत्वादप्रामाण्यमुपनिषदामित्येतन्निराकृत्य चोद्यान्तरमनूद्य निराकरोति—यच्चेत्यादिना । तस्मिन्निति'ष्टार्थप्रापकसाधनोक्तिः । ननूपनिषद्वाक्यं ब्रह्मात्मैकत्व "साक्षात्प्रतिपादयद"र्थात्कर्मकाण्डप्रामाण्यविघातकमिति चेत्तत्र "तद"प्रामाण्यमनुत्पत्तिलक्षणं "विपर्यासलक्षणं वेति विकल्प्याऽऽद्यमनूद्य दूषयति—न चेति । विदितपदतदर्थसंगते"र्वाक्यार्थन्यायविदस्तदर्थे" प्रमोत्पत्तिदर्शना-

---

है । "अग्नि शीतलस्वभाव वाला है" यह एकवाक्य है, और "अग्नि उष्णस्वभाव वाला होता है" यह प्रमाणान्तर से प्राप्त अनुभव का स्मारक है; (अपूर्व अर्थबाधक होने से अप्रामाणिक होने के कारण) स्वय किसी अर्थविशेष का बोधक नहीं है। अतः (वक्ष्यमाण हेतु से) "अग्नि शीतलस्वभाव वाला है" इस (अपूर्वबोधक) वाक्य से उसको एकवाक्यता नहीं है क्योकि वह प्रमाणान्तर से होने वाले अनुभव की स्मृति दिला कर ही समाप्त हो जाता है । इसके अतिरिक्त ऐसा जो प्रतीत होता है कि यह वाक्य विरुद्ध अर्थों का प्रतिपादन करने वाला है, वह शीत और उष्णपदो का अग्निपद की समानाधिकरण प्रयुक्त भ्रान्ति है क्योकि एक वाक्य के अनेक अर्थ तो न ही लौकिक वाङ्मय मे हो सकते है, न ही वैदिक वाङ्मय मे हो सकते हैं ।

इसके अतिरिक्त जो यह कहा कि उपनिषद्वाक्य कर्मकाण्ड की प्रामाणिकता के विघातक है;

---

१. अपूर्वार्थबोधकत्वेनाप्रमाणत्वात् । २. वक्ष्यमाणात् । ३. अनेन अपूर्वबाधकतदेकदेशेन । अग्निरुष्ण इत्यनुवादकभागस्येति शेषः । ४ प्रतीयते । ५. उपनिषदाम् । ६ हेतुवाक्य विवृणोति ब्रह्मेति । ७. साधने । ८. पुरुषप्रवृत्तिम् । ९. प्रमाणान्तराविषये । १०. शीताग्नेस्सभावितत्वमाशङ्क्याऽऽह—शैशिर इति । शिशिरर्तुभवः । तदा हि सेव्यमानेऽपि तस्मिन्नृतुप्रभावाद्यापनीयते शीत तदेत्य प्रयुज्यते हन्ताग्निरपि शीतायत इति शीत इति वा इति शीतानपहारकत्वेन तस्य तत्त्वम् । यद्वा विद्युन्मेघादिप्रभवोऽपि दिव्योऽविन्धनः शैशिरो विवक्षितः । पार्थिवस्तूष्णोऽग्निरिति बोध्यम । ११. अग्निरुष्णः शीतश्चेत्येकोक्ति-वदेकदेशोऽग्निरुष्ण इति तेनाध्यक्षसिद्धोष्णाग्न्यनुवादेन शीतोऽग्निरित्येकदेशान्तरेणापूर्वः शैशिरः शीतोऽग्नि-र्बोध्यते न चानुवादकबोधकयोर्विरोधोऽतुल्यबलत्वादित्यभिप्रेत्याऽऽह—तर्हीति । उक्तरीत्या यथोक्तवाक्यस्याविरुद्धत्वे इत्यर्थः । तत्र यथोक्तवाक्ये । १२. शक्त्या । १३. जीवस्य कर्तृत्वे ब्रह्मत्वे नानुपपत्तिरित्यर्थापत्त्या । १४. कर्मकाण्डेति यावत् । १५. स्वार्थ प्रमाजनकत्वाभावरूपम् । १६. भ्रमजनकत्वरूपम् । १७. वाक्यार्थ-बोधप्रक्रियाभिज्ञस्य । १८. वाक्यार्थे ।

चेत्स्वार्थे प्रमामुत्पादयति वाक्यं कुतोऽन्येन विरोधः स्यात् ।

'ब्रह्मैकत्वे निर्विषयत्वात्प्रमा नोत्पद्यत एवेति चेत् । न, 'प्रत्यक्षत्वात्प्रमायाः । "'दर्शपूर्णमासाभ्यां 'स्वर्गकामो यजेत" "ब्राह्मणो न 'हन्तव्य." इत्येवमादिवाक्येभ्यः प्रत्यक्षा प्रमा जायमाना 'सा नैव भविष्यति यद्युपनिषदो ब्रह्मैकत्वं बोधयिष्यन्तीत्यनुमानम् । न चानुमानं प्रत्यक्षविरोधे प्रामाण्यं लभते । तस्मादसदेवैतद्गीते प्रमैव नोत्पद्यत इति ।

दित्यर्थं । स्वार्थं प्रमामुत्पादयदपि वाक्य मानान्तरविरोधादप्रमाणमित्याशङ्क्याऽऽह—असाधारणे चेदिति । 'स्वगोचरशूरत्वात्प्रमाणानामित्यर्थः ।

विमत कर्मकाण्डवाक्यं न प्रमोत्पादक "प्रमाणापहृतविषयत्वादनुष्णाग्निवाक्यवदिति शङ्कते —ब्रह्मेति । प्रत्यक्षविरोधादनुमानमनवकाशमिति परिहरति—नेत्यादिना ।

यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि उपनिषदों का अर्थ तो दूसरा ही है । ब्रह्मात्मैक्य प्रतिपादन करने वाली उपनिषदें इष्ट अर्थ की प्राप्ति के साधन का उपदेश तथा उस साधन में पुरुष की प्रवृत्ति का निवारण नहीं करती क्योंकि उनके अनेक अर्थ होना असंभव है । इसके अतिरिक्त कर्मकाण्डपरक वाक्यों की स्वार्थ में प्रमा उत्पन्न न होती हो—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता । यदि कोई वाक्य अपने (प्रमाणान्तराविषय) असाधारण अर्थ में प्रमा उत्पन्न करता है तो उसका दूसरे वाक्य से विरोध कैसे होगा ?

(पूर्ववादी कहता है—) ब्रह्मात्मैक्यबोधक वेदान्तवाक्यों में तो कर्मकाण्डपरक वाक्यों का विषय ही नहीं रहता, इसलिए प्रमा उत्पन्न नहीं हो सकती । (सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का परिहार करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । अनुमान के उपजीव्य प्रत्यक्षप्रमाण के प्रबल होने से उसके विरोध में अनुमान की अप्रवृत्ति होने से प्रमा होगी ही । "स्वर्ग की इच्छा वाला दर्श और पूर्णमास यागों द्वारा यजन करे" (ऐसा विधिवाक्य है), "ब्राह्मण का वध नहीं करना चाहिए" (ऐसा निषेधवाक्य है) इत्यादि विधिनिषेधपरक वाक्यों से प्रत्यक्षप्रमा उत्पन्न होती है । यदि उपनिषद्वाक्य ब्रह्मात्मैक्य का बोध कराएँगे, तो प्रमा नहीं होगी"—यह अनुमान प्रमाण का स्वरूप है । प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध होने से अनुमान प्रमाण की प्रामाणिकता नहीं हो सकती । इसलिए प्रमा के प्रत्यक्ष होने से यह कहना अनुचित ही है कि उनसे प्रमा उत्पन्न नहीं होती ।

इसके अतिरिक्त जो पुरुष अविद्या के द्वारा मन में आरूढ यथाप्राप्त क्रिया, कारक और फल का आश्रय करके सामान्य इष्टप्राप्ति, अनिष्टपरिहार और उपाय में प्रवृत्त है, वह विशेष को नहीं

---

१ ब्रह्मैकत्व इति—ब्रह्मात्मैक्य बोधयता ब्रह्मवाक्येन (वेदान्तवाक्येन) कर्मवाक्यार्थस्य भेदस्यापहृतत्वात् न तद्वाक्यात् प्रमोत्पत्तिरित्यर्थं । २ प्रत्यक्षत्वादिति—अनुमानोपजीव्यस्याध्यक्षस्य प्राबल्यात्तद्विरोधेऽनुमानाप्रवृत्तिरित्यर्थ । ३ प्रत्यक्षप्रमामेव दर्शयति—दर्शेति । ४ विधिवाक्यम् । ५ निषेधवाक्यम् । ६ अनुमानस्वरूप दर्शयति—सा नैवेति । ७ इत्यनुमानमिति—प्रत्यक्षविरोध निरवकाशमिति दोष । ८ प्रमाया प्रत्यक्षत्वात् । ९ स्वविषयबोधनसमर्थत्वात् । १० प्रमाणेति—उपनिषत्प्रमाणेनापहृतो भेदात्मको विषयो यस्य तत्त्वात् ।

अपि च यथाप्राप्तस्यैवा'विद्याप्रत्युपस्थापितस्य क्रियाकारकफलस्याऽऽश्रयणेने'ष्टा-निष्टप्राप्तिपरिहारोपायसामान्ये प्रवृत्तस्य' 'तद्विशेषमजानतस्तदाचक्षाणा श्रुतिः क्रिया-कारकफलभेदस्य लोकप्रसिद्धस्य सत्यतामसत्यतां वा नाऽऽचष्टे न च वारयति । इष्टानिष्ट-फलप्राप्तिपरिहारोपायविधिपरत्वात् ।

यथा काम्येषु प्रवृत्ता श्रुतिः 'कामानां मिथ्याज्ञानप्रभवत्वे सत्यपि 'यथाप्राप्तानेव कामानु'पादाय तत्साधनान्येव विधत्ते न तु कामानां मिथ्याज्ञानप्रभवत्वादनर्थरूपत्वं' चेति न विदधाति, तथा नित्याग्निहोत्रादिशास्त्रमपि मिथ्याज्ञानप्रभवं क्रियाकारकभेदं यथा-प्राप्तमेवा'ऽऽदायेष्टविशेषप्राप्तिमनिष्टविशेषपरिहारं वा किमपि प्रयोजनं पश्यदग्निहोत्रादीनि कर्माणि विधत्ते नाविद्यागोचरासद्वस्तु''विषयमिति न प्रवर्तते । यथा काम्येषु । न च

इतश्च कर्मकाण्डस्य नाप्रामाण्यमिति वदन्द्वितीयं प्रत्याह—अपि चेति । यथाप्राप्तस्येत्यस्यैव व्याख्यानमविद्याप्रत्युपस्थापितस्येति । साध्यसाधनसंबन्धबोधकस्य कर्मकाण्डस्य न ''विपर्यासो ''मिथ्यार्थत्वेऽपि ''तस्यार्थक्रियाकारित्वसामर्थ्यानपहारात्प्रामाण्योपपत्तेरिति भावः ।

ननु कर्मकाण्डस्य मिथ्यार्थत्वे ''मिथ्याज्ञानप्रभवत्वाद''नर्थनिष्ठत्वेना''प्रवर्तकत्वादप्रामाण्यमत आह—यथेति'। ''विमतनप्रमाणं मिथ्यार्थत्वाद्विप्रलम्भकवाक्यवदित्याशङ्क्य व्यभिचारमाह—यथा काम्येष्विति । अग्निहोत्रादिषु काम्येषु कर्मसु मिथ्याज्ञानजनितं मिथ्याभूतं काममुपादाय शास्त्रप्रवृत्ति-वन्नित्येष्वपि तेषु ''साधनमसदेवाऽऽदाय शास्त्रं प्रवर्तता ''तथाऽपि बुद्धिमन्तो न ''प्रवर्तिष्यन्ते वेदान्ते-भ्य''स्तन्मिथ्यात्वावगमादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति ।

जानता। तब विशेषप्रतिपादक वह श्रुति लोकप्रसिद्ध क्रिया, कारक और फलभेद की सत्यता और असत्यता का न तो विधान ही करती है और न ही निषेध करती है क्योंकि वह तो इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहार के उपाय का विधान करती है ।

जिस प्रकार काम्यकर्मों में प्रवृत्त हुई श्रुति विषयों के मिथ्याज्ञानजनित होने पर भी अविद्या से प्रत्युपस्थित विषयों का संकीर्तन करके उनके साधनों का ही विधान करती है। किन्तु विषय मिथ्या-ज्ञानजनित होने के कारण अनर्थरूप नहीं हैं—ऐसा हेतुविधान नहीं करती । इसी प्रकार अग्निहोत्रादि-नित्यकर्मों का प्रतिपादक शास्त्र भी मिथ्याज्ञानजनित अविद्याप्रत्युपस्थित क्रिया, कारक और फलरूप

---

१. अविद्यया मनस्यारूढस्य । २. इष्टेत्यादि—सुखजनकत्वावच्छिन्ने वैधकर्मसामान्ये एव परिहारोपायसामान्य-मपि बोध्यम् । ३. पुरः । ४. तद्विशेषमिति—ज्योतिष्टोमादि हिंसादिनिवृत्ति चेत्यर्थ. । ५. विषया-णाम् । ६. अविद्याप्रत्युपस्थितान् । ७. उद्दिश्य । ८. हेतोः । ९. उपजीव्य । १०. कर्म । ११. विपर्यासलक्षणमप्रामाण्यम् । १२. कल्पितकर्मादिविषयत्वेऽपि । १३. कर्मकाण्डस्य । १४. मिथ्याज्ञान-जनकत्वात् । १५. सुखसाधननिष्ठत्वाभावेन । १६. स्वविषय प्रवृत्तिजनकत्वाभावात् अप्रवर्तकत्वलक्षण-मेवाप्रामाण्यम् । १७ नित्यकर्मवाक्यम् । १८. फलेच्छासाधनमुपलक्षयति साधनेच्छा जनयतीति न्यायमभिप्रेत्य साधनमित्युक्तम् । १९ यथाप्राप्त कामिमुपादाय शास्त्रप्रवृत्तावपि । २०. तथा सानुष्ठान-लक्षणमप्रामाण्यमिति भाव. । २१ तत साधनादि ।

पुरुषा न प्रवर्तेरन्नविद्यावन्तो [1]दृष्टत्वाद्यथा [2]कामिनः ।

विद्यावतामेव कर्माधिकार इति चेन्न । ब्रह्मैकत्वविद्यायां [3]कर्माधिकारविरोध-स्योक्तत्वात् । एतेन ब्रह्मैकत्वे [4]निर्विषयत्वादुपदेशेन [5]तद्ग्रहणफलाभावदोषपरिहार उक्तो वेदितव्यः ।

पुरुषेच्छारागादिवैचित्र्याच्च । अनेका हि पुरुषाणामिच्छा रागादयश्च दोषा विचित्रास्ततश्च बाह्यविषयरागाद्यपहृतचेतसो न शास्त्रं निवर्तयितुं शक्तम् । नापि

अविद्यावतां कर्मसु प्रवृत्तिमाक्षिपति—विद्यावतामेवेति । द्रव्यदेवतादिज्ञानं वा ब्रह्मैकत्वज्ञानं वा कर्मसु प्रवर्तकमिति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गीकृत्य द्वितीयं दूषयति—नेत्यादिना । कर्मकाण्डप्रामाण्यानुपपत्तिरित्याद्यामर्थापत्तिं निराकृत्य द्वितीयामर्थापत्तिमतिदेशेन निराकरोति—एतेनेति । कर्मकाण्डस्याज्ञं प्रति सार्थकत्वोपपादनेनेति [10]यावत् ।

ननु कर्मकाण्डं साध्यसाधनसंबन्धं बोधयत्प्रवृत्त्यादिपरमतो[11] रागादिवशात्[12]तदयोगाच्छास्त्रीयप्रवृत्त्यादिविषयस्य द्वैतस्य [13]सत्यत्वमन्यथा [14]तद्विषयत्वानुपपत्तिरित्यर्थापत्त्यन्तरमायातमिति तत्राऽऽह—पुरुषेच्छेति । न प्रवृत्तिनिवृत्ती [15]शास्त्रवशादिति शेषः । तदेव [16]स्फुटयति—अनेका हीति । [17]शास्त्रम्या-

---

भेद को उद्देश करके इष्टविशेष की प्राप्ति और अनिष्टविशेष के परिहाररूप किसी प्रयोजन को देखकर अग्निहोत्रादि कर्मों का विधान करता है। इसकी, अविद्यागोचर असद्वस्तु कर्म से सम्बन्ध होने से प्रवृत्ति न होती हो—ऐसी बात नहीं है जैसा कि काम्यकर्मों के प्रसंग में देखा गया है। अविद्यावान् पुरुषों की उन कर्मों में प्रवृत्ति न होती हो—ऐसा भी नहीं है क्योंकि काम्यकर्मों के अनुष्ठान करने वाले पुरुषों के समान उनकी भी प्रवृत्ति देखी गई है।

विद्यावान् पुरुषों का ही कर्म में अधिकार है, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म की एकता के ज्ञान में कर्म की विधि पुरुष और सम्बन्धादि-अधिकार का विरोध तो पहले ही कहा जा चुका है। इससे उपनिषदों में ब्रह्मात्मैक्यज्ञान निरधिकारी होने से ब्रह्मात्मैक्य के उपदेश से उसका ज्ञानरूप फलाभाव दोष का परिहार बतलाया गया, ऐसा जान लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त पुरुषों की इच्छा एवं रागादि की विचित्रता होने के कारण भी उपदेश की

---

१ दृष्टत्वादिति—अतत्त्वविदां प्रवृत्तेर्दृष्टत्वात् प्रत्यक्षसिद्धत्वादित्यर्थः । तत्प्रवृत्तौ प्रयोजकं दर्शयति—यथाकामिन इति । अज्ञानां प्रवर्तके कामसद्भावादिति भावः । स यथाकामो भवति 'अकामतः क्रिया काचित्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः । कामनिमित्तैव कर्मसु प्रवृत्तिरिति तत्त्वम् । २ काम्यकर्मानुष्ठायिनः । ३ जातायां सत्याम् । ४ कर्मेति—अधिकारो विधिपुरुषसम्बन्धादिः । विरोधस्येति तदुक्तं वार्तिके—"सर्वाधिकारप्रध्वंसाच्च कृत्स्नारम्भवबाधिनः । प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा गुणभावः सदेष्यते" ॥५८०॥ गुणभावः कर्तृत्वम् । ५ सम्बन्धादौ बृ० उ० ९०पृष्ठभाष्ये । ६ निरधिकारित्वादुपनिषदाम् । ७ ब्रह्मात्मैक्योपदेशेनैतज्ज्ञानफलाभावदोषपरिहारः । ८ वैचित्र्यात् । ९ अर्थापत्तिद्वयमुक्तं प्राक् बृ० उ० ५०६पृष्ठटीकायाम् । १० तथा च उपनिषत्सार्थक्यमपि समधिकृत्यैवेत्यर्थः । ११ आदिना निषिद्धनिवृत्तिः । १२ तस्य तत्परत्वात् । १३ प्रवृत्त्याद्ययोगात् । १४ तस्सत्यत्वानभ्युपगमे । १५ द्वैतस्य शास्त्रविषयत्वानुपपत्तिरिति यावत् । १६. शास्त्रस्याकारकत्वादिति भावः । १७ सगृहीतमेव । १८ ज्ञापकत्वमेव हि शास्त्रस्य ।

स्वभावतो बाह्यविषयविरक्तचेतसो विषयेषु प्रवर्तयितुं शक्तम्। [1]किंतु शास्त्रादेतावदेव भवतीदमिष्टसाधनमिदमनिष्टसाधनमिति साध्यसाधनसंबन्धविशेषाभिव्यक्तिः। प्रदीपादिवत्तमसि रूपाविज्ञानम्। न तु शास्त्रं भृत्यानिव बलान्निवर्तयति नियोजयति वा। दृश्यन्ते हि पुरुषा रागादि[2]गौरवाच्छास्त्रमप्यतिक्रामन्तः।

[3]तस्मात्पुरुषमतिवैचित्र्यमपेक्ष्य साध्यसाधनसंबन्धविशेषाननेकधोपदिशति। [4]तत्र पुरुषाः स्वयमेव यथारुचि साधनविशेषेषु प्रवर्तन्ते शास्त्रं तु सवितृप्रदीपादिवदुस्त एव। तथा कस्यचित्परोऽपि पुरुषार्थोऽपुरुषार्थवदवभासते यस्य यथा[5]वभासः स [6]तथारूपं

कारकत्वात्प्रवर्तकत्वाद्यभावमुक्त्वा 'तत्रैव युक्त्यन्तरमाह—दृश्यन्ते हीति।

'तर्हि शास्त्रस्य किं कृत्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति। तत्र संबन्धविशेषोपदेशे सतीति यावत्। यथारुचि पुरुषाणां प्रवृत्तिश्चेत्परमपुरुषार्थं कैवल्यमुद्दिश्य सम्यग्ज्ञानसिद्धये तदुपायश्रवणादिषु संन्यासपूर्विका प्रवृत्तिर्बुद्धिपूर्वकारिणामुचितेत्याशङ्क्याऽऽह—तथेति। रागादिवैचित्र्यानुसारेणेति यावत्। उक्तं हि—

'अपि "वृन्दावने शून्ये सृगालत्वं स इच्छति।
न तु निर्विषयं मोक्षं गन्तुमर्हति गौतम' इत्यादि।

"तर्हि कथं पुरुषार्थविवेकसिद्धिस्तत्राऽऽह—यस्येति। पुरुषार्थदर्शनकार्यमाह—तदनुरूपाणीति।

उपयुक्तता सिद्ध होती है। पुरुषो की इच्छाएँ अनेक हैं, रागादि भी विभिन्न प्रकार के दोष है। वैचित्र्य से जिनका चित्त बाह्य विषयो के राग से अनुरक्त है, उन्हे उन विषयो से निवृत्त कराने मे शास्त्र समर्थ नही है। इसी तरह जिनका चित्त स्वभाव से ही बाह्य विषयो से विरक्त है; उनकी प्रवृत्ति विषयो के प्रति कराने मे भी शास्त्र की सामर्थ्य नही है। (तो फिर शास्त्र क्या करता है?) शास्त्र तो इतना ही कर पाता है कि इष्टप्राप्ति साधन और अनिष्टपरिहार साधन है, इस प्रकार साध्य-साधन के सम्बन्ध-वैशिष्टच की प्रतीति ही होती है। जिस प्रकार दीपक आदि से अन्धकार मे रूपादि का ज्ञान होता है अथवा जिस प्रकार नौकरो को (स्वामी अपने) बलाधिकार का प्रयोग करके कार्य मे प्रवृत्त या निवृत्त करता है, उस प्रकार शास्त्र नही करता। क्योकि (विषयो के प्रति) रागादि के अतिशय होने पर लोग शास्त्र का अतिक्रमण करते हुए देखे जाते हैं।

इसलिए पुरुषो की विभिन्न बुद्धि को देखते हुए शास्त्र अनेक प्रकार से साध्य-साधनरूप सम्बन्ध-विशेषो का उपदेश करता है। (शास्त्र की उपेक्षा कर विषयो मे प्रवृत्ति होने के कारण) वहाँ पुरुष स्वय ही अपनी रुचि के अनुसार (शास्त्र द्वारा ही निर्दिष्ट प्रदीप के समान) साधनविशेषो मे प्रवृत्त होते है। शास्त्र तो सूर्य और प्रदीपादि के समान तटस्थ ही रहता है। इस प्रकार किसी पुरुष को

१. किं तर्हि करोति शास्त्रम्। तत्राऽऽह—शास्त्रादिति। २ अतिशयात्। ३. शास्त्रस्याकारकत्वेनाप्रवर्तकत्वात्। ४. कामस्य प्रवर्तकत्व न शास्त्रस्येत्युपसहरति—तत्रेति। ५. शास्त्रैकप्रदीपेषु। ६. अवबोध.। ७. स्वाभिप्रायानुरूपम्। ८. शास्त्रप्रयुक्तप्रवृत्त्याद्यभावे। ९. अकारकत्वेनाप्रवर्तकत्वे। १०. भक्तत्वात्। ११. रागादिवैचित्र्यानुरोधेन पुरुषार्थादिप्रतिभाने सति।

पुरुषा न प्रवर्तेरन्नविद्यावन्तो दृष्टत्वाद्यथा कामिनः।

विद्यावतामेव कर्माधिकार इति चेन्न। ब्रह्मैकत्वविद्याया कर्माधिकारविरोधस्योक्तत्वात्। एतेन ब्रह्मैकत्वे निर्विषयत्वादुपदेशेन तद्ग्रहणफलाभावदोषपरिहार उक्तो वेदितव्य.।

पुरुषेच्छारागादिवैचित्र्याच्च। अनेका हि पुरुषाणामिच्छा रागादयश्च दोषा विचित्रास्ततश्च बाह्यविषयरागाद्यपहृतचेतसो न शास्त्रं निवर्तयितुं शक्तम्। नापि

अविद्यावतां कर्मसु प्रवृत्तिमाक्षिपति—विद्यावतामेवेति। द्रव्यदेवतादिज्ञानं वा ब्रह्मैकत्वज्ञानं वा कर्मसु प्रवर्तकमिति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गीकृत्य द्वितीय दूषयति—नेत्यादिना। कर्मकाण्डप्रामाण्यानुपपत्तिरित्याद्यामर्थापत्ति निराकृत्य द्वितीयामर्थापत्तिमनिर्देशेन निराकरोति—एतेनेति। कर्मस्वङ्गस्याज्ञ प्रति सार्थकत्वोपपादनेनेति यावत्।

ननु कर्मकाण्ड साध्यसाधनसबन्ध बोधयत्प्रवृत्त्या दिपरमतो रागादिवशात्तदयोगाच्छास्त्रीयप्रवृत्त्यादिविषयस्य द्वैतस्य सत्यत्वमन्यथा तद्विषयत्वानुपपत्तिरित्यर्थापत्यन्तरमायातमिति तत्राऽऽह—पुरुषेच्छेति। न प्रवृत्तिनिवृत्ती शास्त्रवशादिति शेष। तदेव स्फुटयति—अनेका हीति। शास्त्रस्या-

---

भेद को उद्देश करके इष्टविशेष की प्राप्ति और अनिष्टविशेष के परिहाररूप किसी प्रयोजन को देखकर अग्निहोत्रादि कर्मों का विधान करता है। इसको, अविद्यागोचर असद्वस्तु कर्म से सम्बन्ध होने से प्रवृत्ति न होती हो—ऐसी बात नहीं है जैसा कि काम्यकर्मों के प्रसग मे देखा गया है। अविद्यावान् पुरुषो की उन कर्मों मे प्रवृत्ति न होती हो– ऐसा भी नहीं है क्योकि काम्यकर्मों के अनुष्ठान करने वाले पुरुषो के समान उनकी भी प्रवृत्ति देखी गई है।

विद्यावान् पुरुषो का ही कर्म मे अधिकार है, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योकि ब्रह्म की एकता के ज्ञान मे कर्म की विधि पुरुष और सम्बन्धादि-अधिकार का विरोध तो पहले ही कहा जा चुका है। इससे उपनिषदो मे ब्रह्मात्मैक्यज्ञान निरधिकारी होने से ब्रह्मात्मैक्य के उपदेश से उसका ज्ञानरूप फलाभाव दोष का परिहार बतलाया गया ऐसा जान लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त पुरुषो की इच्छा एव रागादि की विचित्रता होने के कारण भी उपदेश की

---

१ दृष्टत्वादिति—अतत्त्वविदा प्रवृत्तद्दृष्टत्वात् प्रत्यक्षसिद्धत्वादित्यर्थ। तत्प्रवृत्तौ प्रयोजक दर्शयति—यथाकामिन इति। अज्ञाना प्रवर्तके काममङ्गवादिति भाव। स यथाकामो भवति 'अकामत क्रिया काचित्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्य। कामनिमित्तैव कर्मसु प्रवृत्तिरिति तत्त्वम्। २ काम्यकर्मानुष्ठायिन। ३ जाताया सत्याम्। ४ कर्मेति—अधिकारो विधिपुरुषसम्बन्धादि। विरोधस्येति तदुक्त वार्तिके—"सर्वाधिकारप्रध्वसान्न कृत्स्नात्मावबोधिन। प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा गुणभाव सदेष्यते ॥५८०॥ गुणभाव कर्तृत्वम्। ५ सम्बन्धादौ बृ० उ० ६०पृष्ठभाष्ये। ६ निरधिकारित्वादुपनिषदाम्। ७ ब्रह्मात्मैक्योपदेशेनेतज्ज्ञानफलाभाव दोषपरिहार। ८ वैचित्र्यात्। ९ अर्थापत्तिद्वयमुक्त प्राक् बृ० उ० ५०६पृष्ठटीकायाम्। १० तथा च उपनिषत्साधकत्वमपि तमधिकृत्यैवत्यर्थ। ११ आदिना निषिद्धनिवृत्ति। १२ तस्य तत्परत्वात्। १३ प्रवृत्त्याद्ययोगात्। १४ तत्सत्यत्वानभ्युपगमे। १५ द्वैतस्य शास्त्रविषयत्वानुपपत्तिरिति यावत्। १६ शास्त्रस्याकारकत्वादिति भाव। १७ सगृहीतमेव। १८ ज्ञापकत्वमेव हि शास्त्रस्य।

स्वभावतो बाह्यविषयविरक्तचेतसो विषयेषु प्रवर्तयितुं शक्तम्। [1]किंतु शास्त्रादेतावदेव भवतीदमिष्टसाधनमिदमनिष्टसाधनमिति साध्यसाधनसंबन्धविशेषाभिव्यक्तिः। प्रदीपादिव-तमसि रूपादिज्ञानम्। न तु शास्त्रं भृत्यानिव बलान्निवर्तयति नियोजयति वा। दृश्यन्ते हि पुरुषा रागादि[2]गौरवाच्छास्त्रमप्यतिक्रामन्तः।

[3]तस्मात्पुरुषमतिवैचित्र्यमपेक्ष्य साध्यसाधनसंबन्धविशेषाननेकधोपदिशति। [4]तत्र पुरुषाः स्वयमेव यथारुचि साधनविशेषेषु प्रवर्तन्ते शास्त्रं तु सवितृप्रदीपादिवदुस्त एव। तथा कस्यचित्परोऽपि पुरुषार्थोऽपुरुषार्थवदवभासते यस्य यथाऽवभासः स [5]तथारूपं

कारकत्वात्प्रवर्तकत्वाद्यभावमुक्त्वा 'तत्रैव युक्त्यन्तरमाह—दृश्यन्ते हीति।

तत्र संबन्धविशेषोपदेशे सतीति

[3]तर्हि शास्त्रस्य किं कृत्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति। तदुपायश्रवणादिषु यावत्। यथारुचि पुरुषाणां प्रवृत्तिश्चेत्परमपुरुषार्थं कैवल्यमुद्दिश्य सम्यग्ज्ञानसिद्धये तदुपायश्रवणादिषु संन्यासपूर्विका प्रवृत्तिर्बुद्धिपूर्वकारिणामुचितेत्याशङ्क्याऽऽह—तथेति। रागादिवैचित्र्यानुसारेणेति यावत्। उक्तं हि—

'अपि [10]वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति।

न तु निर्विषयं मोक्षं गन्तुमर्हति गौतम' इत्यादि।

[11]तर्हि कथं पुरुषार्थविवेकसिद्धिस्तत्राऽऽह—यस्येति। पुरुषार्थदर्शनकार्यमाह—तदनुरूपाणीति।

उपयुक्तता सिद्ध होती है। पुरुषो की इच्छाएं अनेक है, रागादि भी विभिन्न प्रकार के दोष हैं। वैचित्र्य से जिनका चित्त बाह्य विषयों के राग से अनुरक्त है, उन्हे उन विषयो से निवृत्त कराने मे शास्त्र समर्थ नही है। इसी तरह जिनका चित्त स्वभाव से ही बाह्य विषयों से विरक्त है; उनकी प्रवृत्ति विषयो के प्रति कराने मे भी शास्त्र की सामर्थ्य नही है। (तो फिर शास्त्र क्या करता है?) शास्त्र तो इतना ही कर पाता है कि इष्टप्राप्ति साधन और अनिष्टपरिहार साधन है, इस प्रकार साध्य-साधन के सम्बन्ध-वैशिष्टय की प्रतीति ही होती है। जिस प्रकार दीपक आदि से अन्धकार मे रूपादि का ज्ञान होता है अथवा जिस प्रकार नौकरो को (स्वामी अपने) बलाधिकार का प्रयोग करके कार्य मे प्रवृत्त या निवृत्त करता है, उस प्रकार शास्त्र नही करता। क्योकि (विषयो के प्रति) रागादि के अतिशय होने पर लोग शास्त्र का अतिक्रमण करते हुए देखे जाते हैं।

इसलिए पुरुषो की विभिन्न बुद्धि को देखते हुए शास्त्र अनेक प्रकार से साध्य-साधनरूप सम्बन्ध-विशेषो का उपदेश करता है। (शास्त्र की उपेक्षा कर विषयो मे प्रवृत्ति होने के कारण) वहाँ पुरुष स्वय ही अपनी रुचि के अनुसार (शास्त्र द्वारा ही निर्दिष्ट प्रदीप के समान) साधनविशेषो मे प्रवृत्त होते है। शास्त्र तो सूर्य और प्रदीपादि के समान तटस्थ ही रहता है। इस प्रकार किसी पुरुष को

---

१. किं तर्हि करोति शास्त्रम्। तत्राऽऽह—शास्त्रादिति। २ अतिशयात्। ३. शास्त्रस्याकारकत्वेना-प्रवर्तकत्वात्। ४. कामस्य प्रवर्तकत्वं न शास्त्रस्येत्युपसंहरति—तत्रेति। ५. शास्त्रैकप्रदीपेषु। ६. अवबोध। ७. स्वाभिप्रायानुरूपम्। ८. शास्त्रप्रयुक्तप्रवृत्त्याद्यभावे। ९. अकारकत्वेनाप्रवर्तकत्वे। १०. भक्तत्वात्। ११. रागादिवैचित्र्यानुरोधेन पुरुषार्थादिप्रतिभाने सति।

शैकत्वं विरुध्यत इत्यथ न विरुध्यते न 'र्तोह प्रत्यक्षविरोधः ।

यच्चोक्तं प्रतिशरीरं शब्दाद्युपलब्धारो धर्माधर्मयोश्च कर्तारो' भिन्ना अनुमीयन्ते तथाच' ब्रह्मैकत्वेऽनुमानविरोध इति । भिन्नाः कैरनुमीयन्त इति प्रष्टव्याः ।

अथ यदि ब्रूयुः सर्वैरस्माभिरनुमानकुशलैरिति । के यूयमनुमानकुशला इत्येवं

भूतस्यमेकमाकाशमित्यत्र' न शब्दादिभेदग्राहिप्रत्यक्षविरोधस्तथैकं ब्रह्मेत्य'त्रापि न 'तद्विरोधो'ऽस्तीत्याह—अथेति । 'तस्य कल्पितभेदविषयत्वादिति भाव. ।

अनुमानविरोध परोक्तमनुवदति—यच्चेति । या चेष्टा सा प्रयत्नवत्पूर्विकेत्ये'तावता ना''ऽऽत्मभेदः ''स्वप्रयत्नपूर्वकत्वस्यापि सभवादनुपलब्धिविरोधे त्वनुमानस्यैवानुत्थाना''त्स्वदेहचेष्टायाः स्वप्रयत्नपूर्वकत्ववत्परदेहचेष्टायास्तद्यत्नपूर्वकत्वे चा''ऽऽदावेव स्वपरभेदः सिध्येत्स च ''नाध्यक्षात्परस्यानध्यक्षत्वान्नाप्यनुमानादन्योन्याश्रयादित्याशयवानाह्—भिन्ना इति ।

दोषान्तराभिधित्सया शङ्कते—अथेति । अस्मदर्थं पृच्छति—के यूयमिति । ''स हि स्थूलदेहो

श्रोत्रादिकरणो से प्रत्यक्ष उपलब्ध होने वाले शब्दादि से ब्रह्मात्मैक्य का विरोध है, इस प्रकार कहने वाले भेदवादियों से अद्वैतवादियों को पूछना चाहिए, क्या शब्दादि के भेद से आकाश की एकता का विरोध है ? यदि विरोध नही है, तो (ब्रह्मात्मैक्य के शब्दादिभेदग्राही) प्रत्यक्ष से विरोध नहीं हो सकता ।

इसके अतिरिक्त यह जो कहा कि प्रत्येक शरीर म शब्दादि को उपलब्ध करने वाले तथा धर्माधर्म का अनुष्ठान करने वाले जीव भिन्न-भिन्न ही अनुमान किये जाते हैं और उनके भिन्न होने पर ब्रह्मात्मैक्य मे अनुमानप्रमाण से विरोध होगा । जीव भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा अनुमान किनके द्वारा किया जाता है ? यह पूछा जाना चाहिए ।

इस पर यदि वे तार्किक उत्तर दें कि अनुमान करने मे कुशल हम सभी के द्वारा जीवो को

---

१ शब्दादिभेदेन खस्यैकत्वस्य विरोधाभाव न ब्रह्मैकत्वस्य शब्दादिभेदग्राहिप्रत्यक्षेण विरोधाऽस्ति । २ जीवा । ३ तेषा भिन्नत्वे च । ४ इत्युक्तौ । ५ इत्युक्तावपि । ६ प्रत्यक्षविरोध । ७ भिन्नविषयत्वादिति शेष । ८ प्रत्यक्षस्य । ९ व्याप्तिमात्रेण । १० जीवभेद । ११ स्वप्रयत्नपूर्वकत्वस्यापीति अत्र स्वशब्देनानुमाता गृह्यते । पक्षीभूतचेष्टाया इत्यादौ शेष । तथा चार्थान्तर प्रसक्तमिति भाव । अर्थान्तरपरिहारमाशङ्क्य निषधति—अनुपलब्धिविरोधे त्विति । उक्तचेष्टानुकूलप्रयत्नस्य स्वस्मिन्ननुपलब्धेस्तत्पूर्वकत्वस्य बाधान्न तत्पूर्वकत्व पक्षीभूतचेष्टाया अनुमितिविषय इति भाव । अनुत्थानादिति परप्रयत्नस्याप्यनुपलम्भादिति भाव । तथा चानुपलभ्यमानोऽपि परप्रयत्नो यथानुमानबलादास्थीयत तथैवानुपलभ्यमानोऽपि स्वप्रयत्न एव तद्बलात्कि नास्थीयत विनिगमनाविरहात् । न च स्वप्रयत्नानुपलब्धेर्योग्यतयाऽभावनिश्चायकत्वादनुमितिबाधकत्व परप्रयत्नानुपलब्धेस्त्वयोग्यत्वान्न तथात्वमित्यव विनिगमकमिति वाच्य स्वव्यवहारस्य परसापेक्षत्वेन तत्सिद्धे प्रागसभवादिति । १२ व्याप्त्यन्तरेण भेदानुमितिमाशङ्क्य परिहरति—स्वदेहेति । देवदत्तशरीरे चेष्टा तदीयप्रयत्नपूर्विका मदीयशरीरचेष्टावत् । १३ आदावेवेति—अनुमितेः प्रागेवेत्यर्थं । (तथा च सिद्धसाधनम्) ननु सिद्ध न समीहितमत आह—स चेति । परसिद्धौ व्याप्तिसिद्धया परानुमानम् अनुमिते च परस्मिन् व्याप्तिसिद्धिरित्यभिप्रेत्याह—अन्योन्याश्रयादिति । १४ धर्मिप्रतियोगिप्रत्यक्षसापेक्षत्वाद्भेदाध्यक्षस्येति भाव । १५ अनुमानकुशल ।

'सा शरीरेन्द्रियमन'आत्मसाधनैः 'कारकैरात्मकर्तृका निर्वर्त्यत इत्येतत्प्रतिज्ञातम् । 'तत्र वयमनुमानकुशला इत्येवं वदद्भिः शरीरेन्द्रियमनःसाधना आत्मनः प्रत्येकं वयमनेक इत्यभ्युपगतं स्यात् । अहो अनुमानकौशलं दर्शितमपुच्छशृङ्गैस्तार्किकबलीवर्दैः । यो ह्यात्मानमेव न जानाति स कथं मूढस्तद्गतं भेदमभेदं वा 'जानीयात् ।

'तत्र 'किमनुमिनोति केन वा लिङ्गेन । न ह्यात्मनः 'स्वतो भेदप्रतिपादकं किंचिल्लिङ्गमस्ति येन लिङ्गेनाऽऽत्मभेदं साधयेत् । यानि लिङ्गान्यात्मभेदसाधनाय नाम-

'एतेन देहादिष्वपि कारकत्वं ''प्रत्युक्तमिति भावः । परस्मात्माऽऽत्मप्रतियोगिकभेदवान्वस्तुत्वाद्घटवदिति, ''तत्राऽऽत्मा ''प्रतिपन्नोऽप्रतिपन्नो वेति विकल्प्य द्वितीयं प्रत्याह—यो हीति ।

प्रतिपन्नत्वपक्षेऽपि भेदेनाभेदेन वा तत्प्रतिपत्तिरुभयथाऽपि नानुमानप्रवृत्तिरित्याह—तत्रेति । ''इतश्चाऽऽत्मभेदानुमानानुत्थानमित्याह—केनेति । किंशब्दस्याऽऽक्षेपार्थत्वं स्फुटयति—न हीति । ❀''जन्मादीनां प्रतिनियमादिलिङ्गवशादात्मभेदं सेत्स्यति'' चेन्नेत्याह—यानीति । आत्मनः सजातीयभेदे

अनुमान भी क्रिया ही है। वह क्रिया शरीर, इन्द्रिय, मन व आत्मस्वरूप करणकारकसाधनों के द्वारा आत्मकर्तृक होकर सम्पादित होती है, ऐसी प्रतिज्ञा आप कर चुके हैं। उक्त प्रतिज्ञा के होने पर "हम अनुमानकुशल हैं"—ऐसा कहकर आप यह मान लेते हैं कि हम प्रत्येक शरीर, इन्द्रिय और मनरूप साधन वाले जीवात्मा अनेक हैं। वाह जी वाह! बिना सींग-पूँछ वाले आप तार्किक साँडो ने अच्छा

१ धात्वर्थत्वाद्भाट्टमते वा ज्ञानस्य क्रियात्वाभ्युपगमादित्यर्थः । तथात्वे लब्धमर्थमाह—सेति । २ आत्मशब्दः स्वरूपवचनः । ३ करणकारकैः । ४ उक्तप्रतिज्ञायां सत्याम् । ५ अनुमिनुयात् । ६ तत्रेति—भेदेनाभेदेन वा प्रतिपन्ने आत्मनि नानुमानप्रवृत्तिरिति भावः । आद्येऽनुमाने सिद्धसाधनता अन्त्ये बाध इति गूढाभिसंधिः । ७ आक्षेपे किम् । ८ अन्तरेणोपाधिम् । ९ आत्मन्युक्तं न्यायं देहादावतिदिशति—एतेनेति । आत्मनि कारकत्वप्रत्युक्तिन्यायेनेत्यर्थः । १० प्रत्युक्तमिति—तथाहि देहादेरवान्तरक्रियाऽस्ति न वाऽन्त्येऽकारकत्वमाद्ये प्रत्यकमनेकत्वं देहादेरवान्तरक्रिया किमनेककारकसाध्या न वेत्याद्युक्तरीत्या द्रष्टव्यम् । ११ अनुमाने पक्षीभूत आत्मा । १२ ज्ञातोऽज्ञातो वा । १३ अनुमातुरयोगेऽनुमानानुत्थानमुक्त्वा तल्लिङ्गमपि दुर्वचमिति मन्वानः साङ्ख्येष्टजन्मादीनां प्रतिनियमादिलिङ्गं दूषयितुमवतारयति—इतश्चेति । १४ जन्मादीनाम्—आदिपदेन मरणं त्रयोदशकरणानि च गृह्यन्ते । तानि च महत्तत्त्वाहंकारमनांसि त्रीणि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि दशेति द्रष्टव्यानि । तेषां प्रतिनियमो व्यवस्था । आदिना अयुगपत्प्रवृत्तित्रैगुण्यविपर्ययौ गृह्येते । उक्तहेतुवशादात्मभेद इत्यर्थः । तदुक्तं साङ्ख्याचार्यैः—'जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च । पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैवेति' ॥ एकस्मिञ्जाते न सर्वे जायन्त इति जन्मप्रतिनियम एवं मरणेऽपि करणप्रतिनियम एकस्यान्धत्वेन सर्वेषां तथात्वमिति । एकस्य धर्मेऽन्यस्याधर्मे प्रवृत्तिरित्ययुगपत्प्रवृत्तिः । एको राजसोऽन्यस्तामसोऽपरः सात्त्विक इति त्रैगुण्यवैलक्षण्याच्च पुरुषाणां नानात्वं सिद्धमित्यर्थः । (सा० का० १८) १५ इति ।

❀जन्मादीनां प्रतिनियमादिलिङ्गवशादात्मभेद इति । तदुक्तं साङ्ख्याचार्यैः—'जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च । पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैवेति' । पुरुषबहुत्वं सिद्धं कस्माज्जन्ममरणकरणानां

रूपवन्त्युपन्यस्यन्ति[1] तानि [2]नामरूपगतान्युपाधय एवाऽऽत्मनो घटकरका[4]पवरकभूछिद्राणी-वाऽऽकाशस्य । यदाऽऽकाशस्य भेदलिङ्गं पश्यति[5] तदाऽऽत्मनोऽपि भेदलिङ्गं,[6]लभेत स. ।

लिङ्गाभाव दृष्टान्तेन साधयति—यदेति । किंचौपाधिको वा स्वाभाविको वाऽऽत्मभेदः साध्यते नाऽऽद्यः

अनुमानकौशल दिखलाया है । जो आत्मस्वरूप को ही नही जानता, वह मन्दबुद्धि पुरुष उसके भेद या अभेद का किस प्रकार अनुमान कर सकता है ?

उक्त आक्षेप म वह क्या अनुमान करता है और किस लिङ्ग के द्वारा अनुमान करता है ? उपाधि के विना आत्मा का अपने से भेदप्रतिपादन करने वाला कोई लिङ्ग तो है नही, जिस लिङ्ग के द्वारा आत्माओ का भेद सिद्ध कर लिया जा सके । वे (साख्यदर्शनावलम्बी) जिन नामरूप लिङ्गो की आत्मभेदसिद्धि प्रस्तुत करते है, वह सब तो आकाश की उपाधि घट, कमण्डलु मठ और भूच्छिद्र के समान आत्मा की (अनात्मधर्मभूत) नामरूपगत उपाधियाँ ही हैं । यदि वादी आकाश के भेद का अनुमापक लिङ्ग देखता है, तो आकाश के भेद का अनुमापक लिङ्ग भी प्राप्त कर सकता है । किन्तु उपाधि

१ साख्या । २ नामरूपगतानीति—नहि पुरुषबहुत्वसाधक जन्मादियुक्त तस्य नामरूपात्मकदेहनिष्ठत्वमा-दमन्यवृत्तेरित्यर्थं । ३ अनात्मधर्मभूतानि । ४ अपवरको मठ । ५ वादी । ६ लभेतेति—"आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य इति" इत्यान्तितत्वादिति भाव ।

प्रतिनियमात् निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियमनोऽहङ्कारबुद्धिवेदनाभि पुरुषस्याभिसम्बन्धो जन्म न तु पुरुषस्य परिणाम तस्यापरिणामित्वात्तेषामेव च देहादीनामुपात्ताना परित्यागो मरण न त्वात्मनो विनाश तस्य कूटस्थनित्यत्वात् । करणानि बुद्ध्यादीनि त्रयोदश तेषा जन्ममरणकरणाना प्रतिनियमो व्यवस्था सा खल्वियं सर्वशरीरेष्वेकस्मिन्पुरुषे नोपपद्यते । तदा खल्वेकस्मिन् जायमाने सर्वे जायेरन्म्रियमाणे च म्रियेरन्नन्धादौ चैकस्मिन्सर्वे एवान्धादयो विचित्त चैकस्मिन्सर्वे एव विचित्ता स्युरित्यव्यवस्था प्रति क्षेत्र पुरुषभेदे तु भवति व्यवस्था । न चैकस्यापि पुरुषस्य देहोपाधानभेदाद्व्यवस्थेति युक्त पाणिस्तनादि उपाधिभेदेनापि जन्ममरणादि-व्यवस्थाप्रसङ्गात् । नहि पाणौ वृणे जाते वा स्तनादौ महत्यवयवे युवतिर्जाता मृता वा भवतीति । इतश्च प्रतिक्षेत्र पुरुषभेद इत्याह—अयुगपत्प्रवृत्तेश्च । प्रवृत्तिश्च प्रयत्नलक्षणा यद्यप्यन्त करणवर्तिनी तथापि पुरुष उपचर्यते । तथा च तस्मिन्नेकत्र शरीरे प्रयतमाने स एव सर्वशरीरेष्वेक इति सर्वत्र प्रयतेत । ततश्च सर्वाण्येव शरीराणि युगपच्चालयेत्तन्नानात्वे तु नाय दोष इति । इतश्च पुरुषभेद इत्याह—त्रैगुण्यविपर्ययाच्चेति । एवकारो भिन्नक्रम सिद्धमित्यस्यानन्तर द्रष्टव्य सिद्धमेव नासिद्धमित्यर्थ । त्रयो गुणास्त्रैगुण्य तस्य विपर्ययोऽन्य-थाभाव । केचित्खलु सत्त्वनिकाया सत्त्वबहुला यथोर्ध्वरेतस, केचिद्रजोबहुला यथा मनुष्या, केचित्तमोबहुला यथा तिर्यग्योनय । सोऽयमीदृशस्त्रैगुण्यविपर्ययोऽन्यथाभावस्तेषु तेषु सत्त्वनिकायेषु न भवेद्यद्येक पुरुष स्यात्तद्भेदे त्वयमदोष इति । आत्मनो जनिविकारप्रयुक्तपरिणामित्वाभावादुद्योतकराचार्योक्त जन्मपदार्थमाह—निकायविशिष्टाभिरिति । निकायो देवमनुष्यतिर्यगादीनामनौत्तराधर्येणावस्थित सधानस्तद्विशिष्टाभिरित्यर्थ इति तात्पर्यटीकाया मिश्रा एव च सङ्घे चानौत्तराधर्ये (पा सू ३।३।४२)" इति सूत्रेण निकायपदनिष्पत्तिरिति दर्शितम् । यद्यपि महाभाष्यादिव्याख्यानात्प्राणिना समूह एव अत्र सूत्रे सङ्घपदेन गृह्यते न समूहमात्रमत एव ब्राह्मणनिकाय इतिवत् प्रमाणनिकाय इति प्रयुञ्जतेऽपि तु प्रमाणनिचय इति । तथापि प्राणिसर्वाधित्वेन क्वचिदत्रापि प्राणिसमूह सभाव्यनिकायपदप्रयोगोपपत्तिर्नेया ॥ ननु देवदत्तो जात इति व्यवहारदर्शनात्पुरुषमेव

'न ह्यात्मनः 'परतो 'विशेषमभ्युपगच्छद्भिस्तार्किकशतैरपि भेदलिङ्गमात्मनो दर्शयितुं शक्यते । स्वतस्तु 'दूरादपनीतमेवाविषयत्वादात्मनः ।

सिद्धसाध्यत्वादित्यभिप्रेत्याऽऽह—न हीति । न द्वितीय इत्याह—स्वतस्त्विति ।

से भेद स्वीकार न करने वाले सैकडो तार्किको द्वारा भी आत्मा के भेद का लिङ्ग नही दिखलाया जा सकता । स्वय आत्मा मे भिन्नत्व होना तो सर्वथा निराकृत कर दिया जाता है क्योंकि आत्मा किसी का विषय न होने के कारण अद्वितीय है ।

---

१ आकाशस्यवात्मन स्वतो भेदस्तु नैव सभवतीत्यभिप्रेत्याह—न हीति । तथा च भेदप्रतीत्युपपत्तये परत एव भेदोऽभ्युपेय । एव च सिद्धसाधनमिति भाव । २. उपाधित । ३. भेदम् । ४. दूरनिरस्त भिन्नत्वमिति शेष ।

घटादेरिवात्मनो जन्म न जायमानदेहादिसबन्धरूप भाक्तमिति तत्राऽऽह—न तु पुरुषस्य परिणाम इति । घटादेरिव मुख्य उत्पत्तिरूप परिणाम पुरुषस्य न चेत्यर्थं । अपरिणामित्वान्नात्मनो मुख्य जन्मेति यावत् । मरण तु यद्यपि मृङ् प्राणत्याग इति स्मरणात्प्राणोपलक्षितदेहादीना त्यागरूप मुख्यमेवात्मनि सभवति तथापि घटादेरिव विनाशरूप मरणमत्र मा कश्चिदग्रहीदित्याशयेनाऽऽह—न तु विनाश इति । "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" "अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराण"इत्यादिश्रुत्याऽऽत्मनो जन्मादिपरिणामशून्यत्वेन कूटस्थनित्यत्वाऽऽम्नानान्नात्मनो मुख्यौ जन्मनिधनावित्यर्थं । मा नाम भूज्जातो मृत इति व्यवहारात्पराणा व्यामोह इत्यनुकम्पावती बृहदारण्यकश्रुतिरपि 'स वा अय पुरुषो जायमान शरीरमभिसपद्यमान स उत्क्रामन्म्रियमाण" इत्येव स्वयमेव शरीरादिना सयुज्यमानत्वमेवात्मनो जायमानत्व शरीरादुत्क्रमणमेव चात्मनो म्रियमाणत्वमिति निराह । एव च देवदत्तो जात इत्यादिव्यवहारो भाक्त इत्यत्र फलितम् । एतच्च चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वादित्यादि ब्रह्मसूत्रभाष्ये व्यक्तम् । कथन्नोपपद्यत इति पृष्टोऽनुपपत्ति स्पष्टयति—तदा खल्विति । इद चार्थापत्तिप्रदर्शनमात्मैक्यवादिन वेदान्तिन प्रति स्वमत तु जन्मादिव्यवस्था वस्तुभेदनिबन्धना व्यवस्थात्वात् सम्मतवत् इत्यनुमान मनसि निधाय तत्र तदा खल्वेकस्मिन्पुरुष इत्यादिना विपक्षबाधकस्तर्क उच्यत इति ध्येयम् । ननु यथाऽऽकाशस्यैकत्वेऽपि घटाद्युपाधिभेदेनौपाधिक भेदमादाय व्यवस्थाऽऽस्थीयते तथाऽत्रापि देहोपाधिक भेदमास्थाय व्यवस्थाऽऽस्थीयता किं गौरवग्रस्तेन पारमार्थिकेन भेदेन । तथा चाहु —यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते न सर्वे सप्रयुज्यन्ते तथा जीवा सुखादिभिरितीत्याशङ्का निरस्यति—न चैकस्यापीति । तथा सति देहबद्धस्तनादीना देहावयवानामप्युपाधित्वेन भेदकत्व स्यात्तथा च देहावयवोद्भवनिरोधाभ्यामपि पुरुषस्य जन्ममरणादिव्यवहार स्यादित्यभिप्रेत्यायुक्तत्वे हेतुमाह—पाणिस्तनादीति । प्रसङ्गस्येष्टत्वमाशङ्क्य व्यवहारविरोधेन परिहरति—न हीति । भवतीत्यनेन चात्र स्वगोचरो व्यवहार स्वविषयक वा ज्ञानमुपलक्षणीयमेव हस्ते पतिते युवतिर्मृतेति स्तनादौ च जाते युवतिर्जातेति च न केनापि व्यवह्रियते नापि ज्ञायते इत्यर्थोऽत्र फलित । यद्यपि स्तनादौ जाते बाल्य विहाय युवत्व प्राप्त सञ्जातस्तथापि तदवच्छेदेन तदधिष्ठात्र्या न जातत्वव्यवहार. । सैवेयमबलेति प्रत्यभिज्ञानात् भवन्मते तु कायोपाधिजन्मना तदवच्छेदेनात्मनि जातत्वव्यवहारवत्कायावयवजन्मनाप्यात्मनि जातत्वव्यवहार. स्यादुपाधित्वाविशेषात्स च बाधित इति नौपाधिकभेदकल्पनया निस्तार इति भाव । शरीराणि प्रतिशरीर विभिन्नपुरुषाधिष्ठेयानि अयुगपत्प्रवृत्तिमत्त्वाद्रथादिवदित्याशयेन प्रवृत्त हेत्वन्तर-

एतेनाऽऽगमविरोधः प्रत्युक्तः ।

यदुक्तं ब्रह्मैकत्वे यस्मा उपदेशो यस्य चोपदेशग्रहणफलं तदभावादेकत्वोपदेशानर्थक्यमिति । तदपि न, अनेककारकसाध्यत्वात्क्रियाणां कश्चोद्यो भवति । एकस्मि-

देशेन निराकरोति—एतेनेति । औपाधिकभेदाश्रयत्वेन व्यवहारस्योपपन्नत्वोपदर्शनेनेति यावत् ।

प्रत्यक्षानुमानागमैरद्वैतस्याविरोधेऽपि स्याद्विरोधोऽर्थापत्त्येति चेदत आह—यदुक्तमिति । उपदेशो 'यस्मै' क्रियते यस्य चोपदेशग्रहणप्रयुक्तं फलं 'ययोर्ब्रह्मैकत्वे सत्युपदेशानर्थक्यमित्यनुवादार्थः । किं क्रियाणामनेककारकसाध्यत्वादेव चोद्यते किं वा ब्रह्मणो नित्यमुक्तत्वादिति विकल्प्याऽऽद्य दूषयति —तदपीति । 'तासामनेककारकसाध्यत्वस्य प्रत्युदस्तत्वादिति भाव । यदि ब्रह्मणो नित्यमुक्तत्वाभिप्रायेणोपदेशानर्थक्य चोद्यते 'तत्र नित्यमुक्ते ब्रह्मणि ज्ञातेऽज्ञाते वा तदानर्थक्य चोद्यत इति विकल्प्याऽऽद्य-

एव प्रलयरूप हैं तथा ब्रह्म उनसे भिन्न है, अत आत्मा, अनुमान का विषय न होने के कारण, अनुमान से उसका विरोध किस प्रकार हो सकता है ? उक्त विवेचन से आगमविरोध का भी परिहार कर दिया गया ।

और जो ऐसा कहा कि ब्रह्म की एकता के पक्ष मे जिसे उपदेश दिया जायगा एव जिसे उपदेश-ग्रहण का फल होगा, उन दोनो का अभाव होने के कारण ब्रह्मैकत्व-उपदेश का आनर्थक्य ही सिद्ध होगा । ऐसा समझना भी उचित नही है, क्योकि क्रियाओ के अनेक कारको द्वारा सपादित होने के

१ ब्रह्मैकत्वपक्षे । २ अनेकेत्यादि—ब्रह्मैकत्वमभ्युगम्य कथमुपदेशं करोषीति यत्त्वया चोद्यत तदेतत्त्वयापि क प्रति चोद्यते त्वत्पक्षे क्रियाणामनेककारकसाध्यत्वे नोपदेशकर्तुरेकस्य कस्यचिदनिर्णयादिति मयापि शक्य चोदयितुमित्यर्थ इति स्थितस्य गति । वस्तुतस्तु अनेककारकसाध्यत्वादित्येवमुक्त पाठ । ३ कुचोद्यमेतत् । ४ उपदेशादिव्यवहारस्येति यावत् । ५ व्यवहारो ग्रामकामो यजेतेत्यादिरूप ५००पृष्ठभाष्ये । ६ यस्मै यस्येत्युभयत्र यच्छब्दार्थस्यैकत्वेऽपि पुनरुक्तिशङ्का नावतरति । ७ यस्मा इति यस्मै फलायेत्यर्थं । यत्फलमुद्दिश्येति यावत् । तयो फलफलिनोरित्यर्थ । 'लोके तथैवानुवाददर्शनात् लोकप्रसिद्धानुवादत्वेनेति' पाठ । ८ क्रियाणाम् । ९ द्वितीयपक्षे ब्रह्मणि वा ।

प्रमेशाश्च नाऽऽत्मन स्तम्भकुम्भवत्" ॥५६८॥ "अनुमानादनेकत्वमात्मनो य प्रचक्षते । तथा प्रत्यक्षमानेन बाधो लिङ्गधियो भवेत्' ॥६११॥ इति । प्रतिवादिदेहान्यदेहाभ्तदात्मना तादात्म्यवन्तो जीवदेहत्वात्सम्मतवदित्यर्थ ॥ देहपूक्तन्यायमिन्द्रियादिष्वतिदिशति—तथेति । विमतानि प्रतिवादिभोगसाधनानीन्द्रियत्वात्प्रतिवादीन्द्रियवदेव मनोबुद्धिविषयान्पक्षीकृत्यानुमातव्य तद्देहवदिन्द्रियादिष्वप्यैकात्म्यमनुमानेन योजयदित्यर्थ । भेदानुमानस्यानुमाविरोधवदध्यक्षविरोधमाह—सर्वेति ॥ किं तत्प्रत्यक्ष तदाह—जाग्रतीति । सर्वेषु चराचरशरीरेष्वात्मा स्वप्रकाशश्चिदेकरस सदा विदुषाऽनुभूयत तद्विरुद्धमध्यक्षविरुद्धानुमेत्यर्थ । अविरुद्धदृष्टैरनुमाऽनगुणत्वात्तयैव बलवत्त्वादध्यक्ष बाध्यमित्याशङ्क्याऽऽह—नेत्यादिना । आत्मन स्वप्रकाशत्वे दृश्यत्वे च तदभेदो मानतो न सिध्यतीत्युक्तमिति भाव ॥ तदसिद्धिमेव प्रकटयति—अनयेति । यस्याऽऽत्मनो भेद साध्य स स्वप्रकाशो दृश्यो वाऽऽद्ये तस्यागोचरत्वात्तदभेदो न मानत सिध्यद्द्वितीये दृश्यस्य स्तम्भादिवदनात्मत्वाद्धर्म्यसिद्धेस्तद्भेदासिद्धिरित्यर्थ ॥ अनुमानग्राहकाध्यक्षाभावाच्च तेनाध्यक्ष बाध्य किंतु तेनैवानुमेत्युपसंहरति—अनुमानादिति । एव प्रत्यगससारिब्रह्मणो वेदान्तप्रमाणकस्य सत्यस्य सत्यमित्युपनिषदिति स्थितम् ॥

न्ब्रह्मणि निरुपाधिके 'नोपदेशो नोपदेष्टा न 'चोपदेशग्रहणफलम् । 'तस्मादुपनिषदां चाऽऽनर्थक्यमित्येतदभ्युपगतमेव । अथानेककारकविषयानर्थक्यं चोद्यते । न, 'स्वतोऽभ्युपगमविरोधादात्मवादिनाम् ।

तस्मात्तार्किकचाटभटराजाप्रवेश्यमभयं दुर्गमिदमल्पबुद्ध्यगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैश्च । "कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति" "देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा" "नैषा तर्केण मतिरापनेया" 'वरप्रसादलभ्यत्वश्रुतिस्मृतिवादेभ्यश्च । "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे

मङ्गी करोति—एकस्मिन्निति । द्वितीयमुत्थापयति—अथेति । उपदेशस्तावदनेकेषां कारकाणां साध्यतया विषयस्तदानर्थक्यमज्ञाते नित्यमुक्ते ब्रह्मणि चोद्यते चेदित्यर्थः । सर्वैरात्मवादिभिरुपदेशस्य ज्ञानार्थमिष्टत्वात्तद्विरोधादज्ञाते ब्रह्मणि तदानर्थक्यचोद्यमनुपपन्नमित्याह—न स्वत इति ।

अद्वैते विरोधान्तराभावेऽपि तार्किकसमयविरोधोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति । प्रमाणविरोधाभावस्तच्छब्दार्थः । आर्यमर्यादां भिन्दानाश्चाटा विवक्ष्यन्ते । भटास्तु सेवका मिथ्याभाषिणस्तेषां सर्वेषां राजानस्तार्किकास्तैरप्रवेश्यमनाक्रमणीयमिदं ब्रह्मात्मैकत्वमिति यावत् । शास्त्रादिप्रसादशून्यैरगम्यत्वे प्रमाणमाह—कस्तमिति । देवतादेर्वरप्रसादेन लभ्यमित्यत्र "श्रुतिस्मृतिवादाः सन्ति तेभ्यश्च शास्त्रादिप्रसादहीनैरलभ्यं तत्त्वमिति निश्चितमित्यर्थः । शास्त्रादिप्रसादवतामेव तत्त्वं सुगममित्यत्र श्रौतं स्मार्तं च "लिङ्गान्तरं दर्शयति—तदेजतीति । ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वे सर्वप्रकारविरोधाभावे फलित-

---

कारण यह दुरुक्तिमान है । निरुपाधिक एक ही ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर न उसमें उपदेश संभव है, न उपदेष्टा संभव है और न ही उपदेशग्रहण का फल ही संभव है । ब्रह्मज्ञान हो जाने पर सभी उपनिषदों की अनर्थकता सिद्ध हो जाती है, यह तो हम भी मानते ही हैं । तथा यदि अनेक कारकों के विषयभूत उपदेश को व्यर्थ कहें तो ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि (उपदेश के ज्ञान के लिए इष्ट होने के कारण) इसका तो आत्मोपदेशक विद्वानों के मत से भी विरोध है ।

इसलिए अल्पबुद्धि वाले पुरुषों के लिए अप्राप्य, शास्त्र तथा गुरुकृपा से रहित जीवों द्वारा अगम्य यह (ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानरूप) अभय दुर्ग आर्यमर्यादा को तोड़ने वाले एवं मिथ्यावादियों के सिरमौर तार्किकों द्वारा अनाक्रमणीय है । "(वह अचल होता हुआ भी दूर तक जाता है तथा सोता हुआ भी सभी ओर जाता है) वह मद से युक्त और हर्ष से रहित है, उस देव को मेरे अतिरिक्त और कौन जान सकता है", "इस विषय में पहले देवताओं को सन्देह हुआ था (क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म धर्म सरलता से जानने योग्य नहीं है)", "(हे प्रियतम ! तुम बड़े ही सत्य धैर्य वाले हो) तुम जिस बुद्धि

---

१. ज्ञाते सति । २ ब्रह्मणो ज्ञातत्वात् । ३ आनर्थक्यम् । ४ स्वस्य उपदेशस्य । ५. अगम्यम् । ६. विरुद्धधर्माध्यासाधिष्ठानमिति यावत् । ७ वरप्रसादेत्यादि—वरायाभिलाषिताय प्रसादोऽनुग्रह इष्टप्राप्तिप्रयोजकोऽनुग्रह इति यावत् । तेन लभ्यत्वबोधका ये श्रुत्यादिवाक्यानि तेभ्य इत्यर्थः । ८. आत्मोपदेशकैर्विद्वद्भिः । ९. विद्वदभ्युपगमविरोधात् । १० सिद्धान्तेति यावत् । ११ श्रुतिस्मृतिवादा इति वादा वचांसि तानि च 'तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व", कौषीतकिब्राह्मणे दिवोदासपुत्र प्रतर्दनं प्रतीन्द्रवाक्यं यथा 'प्रतर्दन वरं ते ददानीति' । स्मृतिवादाश्च "ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना । महाभयकृतत्राणा द्वित्राणामुपजायते" ।। "ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" इत्यादयः । १२. विरुद्धधर्मवत्त्वरूपम् ।

तद्वन्तिके" इत्यादि[1] विरुद्धधर्म[2] समवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यश्च । गीतासु च "मत्स्थानि सर्वभूतानि" [3]इत्यादि । तस्मात्परब्रह्मव्यतिरेकेण संसारी नाम नान्यद्वस्त्वन्तरमस्ति । [4]तस्मात्सुष्ठूच्यते "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" "तदात्मानमेवावेत्" "अहं ब्रह्मास्मीति" "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ" इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः । [5]तस्मात्परस्यैव ब्रह्मणः सत्यस्य सत्यं नामो[6]पनिषत्परा ॥२०॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम्

ब्रह्म ज्ञपयिष्यामीति प्रस्तुतम् । [7]तत्र यतो जगज्जातं [8]यन्मयं यस्मिश्च लीयते

माह—तस्मादिति । संसारिणो ब्रह्मणोऽर्थान्तरत्वाभावे श्रुतीनामा[9]नुकूल्यं दर्शयति—तस्मादिति । अद्वैते श्रुतिसिद्धे विचारनिष्पन्नमर्थमुपसंहरति—तस्मात्परस्येति ॥२०॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

"[10]वृत्तवर्तिष्यमाणयोः संगतिं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—ब्रह्मे[11]ति । ब्रह्म ते ब्रवाणीति प्रक्रम्य व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति प्रतिज्ञाय जगतो जन्मादयो यतस्तदद्वितीयं ब्रह्मे ति व्याख्यातमित्यर्थः । "जन्मादि-

---

को प्राप्त किये हो, यह स्वकल्पनामात्र से प्राप्त होने योग्य नहीं है" तथा देवताओं के अभिलषित वर और इष्टप्राप्तिप्रयोजक अनुग्रह से उसके बोधकत्व का प्रतिपादन करने वाले श्रुति और स्मृतिवाक्यों से एवं "वह आत्मतत्त्व (सोपाधिकरूप से) चलता है और (निरुपाधिकरूप से) नहीं भी चलता, वह (अत्यन्त) दूर में है और वही अत्यन्त निकट में भी है" इत्यादि ब्रह्म में विरुद्धधर्मों का आश्रयत्व-प्रतिपादन करने वाले उपनिषन्मन्त्रों से भी यही सिद्ध होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है—"सब भूत मुझमें स्थित हैं" इत्यादि। इसलिए परब्रह्म से पृथक् संसारी जीवनाम की कोई वस्तु नहीं है। इसलिए "उत्पत्ति से पूर्व यह नामरूपात्मक जगत् ब्रह्मस्वरूप ही था। उसने अपने को ही जाना कि "मैं ब्रह्म हूँ (इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया)", "इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों द्वारा ठीक ही कहा गया है। श्रौत अद्वैत के विचारनिष्पन्न होने के कारण "सत्य का सत्य है" यह परम गुह्य रहस्य नाम उपनिषत् परब्रह्म की ही है ॥२०॥

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् द्वितीय अध्याय के अजातशत्रु नामक प्रथम ब्राह्मण में शाङ्करभाष्य का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ ॥१॥

(दोनों ब्राह्मणों की संगति का निरूपण करते हैं—) "मैं तुझे उस ब्रह्म का बोध कराऊँगा ही" इस प्रकार राजा अजातशत्रु ने गार्ग्य से प्रतिज्ञा की थी। यह प्रतिज्ञा करके "जिससे जगत् की

---

१ अनेजदेकमित्यादिरादि । २ आश्रयत्वेति यावत् । ३ 'न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्' । ४. संसारिणो ब्रह्मातिरिक्तत्वात् । ५ श्रौताद्वैतस्य विचारनिष्पन्नत्वात् । ६ परम गुह्य रहस्य नाम । ७. तस्मिन्प्रस्तुते सति । ८ स्थितौ । ९ संवादम् । १० उक्तवक्ष्यमाणब्राह्मणयोः । ११ जन्मादिमन इति यावत् ।

तदेकं ब्रह्मेति विज्ञापितम् । किमात्मकं पुनस्तज्जगज्जायते लीयते 'च । पञ्चभूतात्मकम् । भूतानि च नामरूपात्मकानि । नामरूपे सत्यमिति ह्युक्तम् । तस्य सत्यस्य पञ्चभूतात्मकस्य सत्यं ब्रह्म । कथं पुनर्भूतानि 'सत्यमिति मूर्तामूर्तब्राह्मणम्' । मूर्तामूर्तभूतात्मकत्वात्कार्यकरणात्मकानि भूतानि प्राणा 'अपि सत्यम् । तेषां 'कार्यकरणात्मकानां भूतानां 'सतत्त्वनिर्दिधारयिषया 'ब्राह्मणद्वयमारभ्यते 'सैवोपनिषद्व्याख्या । कार्यकरणसत्त्वावधारणद्वारेण हि सत्यस्य सत्यं ब्रह्मावधार्यते । 'अत्रोक्तम् 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्'

विषयस्य जगतः स्वरूपं पृच्छति—किमात्मकमिति । विप्रतिपत्तिनिरासार्थं तत्स्वरूपमाह—पञ्चेति । कथ 'र्ताह नामरूपकर्मात्मकं जगदित्युक्तं तत्राऽऽह—भूतानीति । तत्र गमकमाह—नामरूपे इति । भूतानां सत्यत्वे कथं ब्रह्मणः सत्यस्यवाचो' युक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—तस्येति । 'तत्सत्यमित्यवधारणाद्बाध्येषु भूतेषु सत्यत्वासिद्धिरिति शङ्कयित्वा समाधत्ते—कथमित्यादिना । सच्च त्यच्च सत्यमिति व्युत्पत्त्या भूतानि सत्यशब्दवाच्यानि विवक्ष्यन्ते चेत्कथं र्ताह कार्यकरणसंघातस्य प्राणाना च सत्यत्वमुक्तं तत्राऽऽह—भूत ति । यथोक्तभूतरूपत्वात्कार्यकरणानां 'तदात्मकानि भूतानि सत्यानीत्यङ्गीकारात्कार्यकरणानां सत्यत्वं प्राणा अपि "तदात्मकाः सत्यशब्दवाच्या भवन्तीति प्राणा वै सत्यमित्यविरुद्धमित्यर्थः । एवं पातनिका कृत्वोत्तरब्राह्मणद्वयस्य "विषयमाह-तेषामिति।। "उपनिषद्व्याख्यानाय ब्राह्मणद्वयमि"त्युक्तिविरुद्धमेतदित्याशङ्क्याऽऽह—सैवेति । कार्यकरणात्मकानां भूतानां स्वरूपनिर्धारणवोपनिषद्व्याख्येत्यत्र हेतुमाह—कार्येति । ब्राह्मणद्वयमेवम"वतार्य शिशुब्राह्मणस्यावान्तरसंगतिमाह—

सृष्टि हुई है, जिसमें यह जगत् स्थित है और जिसमें यह लीन हो जाता है, वह एक ही ब्रह्म है" ऐसा उपदेश किया गया। तो यह जगत् किस प्रकार उत्पन्न होता है, लीन होता है और स्थित होता है? (संशयपरिहार के लिए जगत् का स्वरूप कहते है—) पञ्चभूतरूप से जगत् (उत्पन्न, लीन और स्थित) होता है। वे पञ्चमहाभूत नामरूपात्मक हैं और नाम व रूप सत्य है—ऐसा कहा जा चुका है। उस पञ्चभूतात्मक सत्य का ब्रह्म सत्य है। किन्तु वह पञ्चभूत सत्य किस प्रकार है, यह निर्धारण करने के लिए ही मूर्तामूर्त ब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है। मूर्तामूर्त पञ्चभूतात्मक होने के कारण देह-इन्द्रियरूप भूत और प्राण भी सत्य है। उन देह-इन्द्रियरूप भूतो के स्वरूप की सत्यता निर्धारण करने की इच्छा से ये दो ब्राह्मण प्रारम्भ किये जाते है, यही इस ब्राह्मण की व्याख्या है क्योंकि देह और इन्द्रियों के स्वरूप की सत्यता निर्धारण से ही 'सत्य के सत्य' ब्रह्म का निश्चय होता है। सृष्टिवाक्य में कहा गया है कि "प्राण ही सत्य है और यह उनका भी सत्य है।" सो प्राण कौन से है तथा प्राण ही अभिधेय विषय जिनका है, ऐसी उपनिषदें कितनी हैं और कौन-कौन सी हैं? "सत्य के सत्य" इस

१. चात्तिष्ठति । २. भूनाना सत्यत्वनिर्धारणार्थमितीतिशब्दार्थ । ३. आरभ्यत इति शेष । ४. स्वरूपेति यावत् । ५. अस्मादात्मन सर्वे प्राणा इति प्राग्दृष्टे प्रथमोक्तेः सृष्टिप्रस्तावेऽत्र प्राण सम्बन्धाच्छिशुब्राह्मण मूर्तामूर्तब्राह्मणापेक्षया प्रथम व्याख्यायत इति ध्येयम् । ६. सृष्टिवाक्ये । ७. जगतः पञ्चभूतात्मकत्वे सति । ८. वचनौचित्यम् । ९. छा उ ६।१२।३ 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति शेष. । १०. कार्यकरणात्मकानि । ११. कार्यकरणभूतात्मका. । १२. प्रतिपाद्यम् । १३. सत्यस्य सत्यमित्युपनिषद्व्याख्यानाय । १४. बृ. उ ४०५पृष्ठभाष्ये । १५. उत्थाप्य ।

[1]यो ह[2] वै शिशुँ साधानँ सप्रत्याधानँ सस्थूणँ सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि। अयं [3]वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाऽऽधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणाऽन्नं दाम ॥१॥

जो भी कोई आधान, प्रत्याधान, स्थूणा और बन्धनरज्जु के सहित शिशु को जानता है, वह अपने से द्वेष करने वाले शीर्षस्थ सात शत्रुओं को अपने वश मे कर लेता है। यह जो मध्यमप्राण है, वही शिशु है। यहं वर्तमान देह ही उसका आधान है और शिर प्रत्याधान है। प्राण स्थूणा (अन्न-पान-जनित शक्ति) है और अन्न बाँधने की रस्सी के समान है ॥१॥

इति। [2]तत्र के प्राणाः कियत्यो वा [3]प्राणविषया उपनिषदः का इति च [4]ब्रह्मोपनिषत्प्रसङ्गेन करणानां प्राणानां स्वरूपमवधारयति। पथिगतकूपारामाद्य[5]वधारणवत्।

यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेद तस्येदं फलम्। किं तत्। [6]सप्त सप्तसंख्याकान्ह द्विषतो द्वेषकर्तॄन्भ्रातृव्यान्भ्रातृव्या हि द्विविधा भवन्ति द्विषन्तोऽद्विषन्तश्च तत्र द्विषन्तो ये भ्रातृव्यास्तान्द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि। सप्त ये शीर्षण्याः

अत्रेत्यादिना। [1]उपनिषदः काः कियत्यो वेत्यु[2]पसंख्यातव्यमित्याकाङ्क्षायामिति शेषः। ब्रह्म चेदवधारयितुमिष्टं तर्हि तदेवावधार्यतां किमिति मध्ये करणस्वरूपमवधार्यते तत्राऽऽह—पथीति।

ब्राह्मणतात्पर्यमुक्त्वा तदक्षराणि योजयति—यो हेत्यादिना। विशेषणस्यार्थवत्त्वार्थं भ्रातृव्यान्भिनत्ति—भ्रातृव्या हीति। के पुनरत्र भ्रातृव्या विवक्ष्यन्ते तत्राऽऽह—सप्तेति। कथं श्रोत्रादीनां सप्तत्वं

प्रकार ब्रह्मोपनिषत् के प्रसङ्ग से, मार्ग मे पड़ने वाले कुएँ, बगीचे आदि के निश्चय के समान श्रुति इन्द्रियों और प्राणो के स्वरूप का निर्धारण करती है।

जो भी कोई आधान, प्रत्याधान, स्थूणा और बन्धनरज्जु के सहित शिशु को जानता है, उसे यह फल प्राप्त होता है। क्या फल मिलता है? "सप्त ह द्विषतः" अर्थात् वह द्वेष करने वाले सात भ्रातृव्यों को अपने वश मे कर लेता है। भ्रातृव्य दो प्रकार के होते हैं; द्वेष करने वाले और मैत्रीभाव करने वाले। उनमे जो द्वेष करने वाले भ्रातृव्य होते है; उन द्वेषयुक्त भ्रातृव्यो को वश मे करता है। (यहाँ भ्रातृव्य कौन है?) शिर मे स्थित सात प्राण जो विषयानुभूति के द्वार है, उनसे होने वाले

---

१. एव प्राणा वै सत्यमित्यादि ब्राह्मणभागेन व्याख्यातामा अप्युपनिषदां विशेषतोऽर्थप्रकाशनाय ब्राह्मणद्वयम्। तत्र प्राणा वै सत्यमित्यन्तेनोक्तप्राणोपनिषदुपाख्यानाय शिशुब्राह्मण प्रवर्तते—यो ह वा इत्यादि। २. उत्तवाक्ये। ३. प्राणाः विषया अभिधेया यासां ता उपनिषद अभिधानानि। ४. सत्यस्य सत्यमिति ब्रह्मोपनिषत्। ५. यथा ग्रामाद्युद्दिश्य गच्छन् पथि प्राप्त कूपादिकमप्यवधारयति तद्वदित्यर्थः। ६. सप्तेति—चक्षुर्द्वयघ्राणद्वयश्रोत्रद्वयमुखात्मकसप्तच्छिद्रायतनानि इन्द्रियाणि विषयासक्तत्वाद्द्विषतो भ्रातृव्यान् शत्रूनवरुणद्धि जितेन्द्रियो भवतीत्यर्थः। ७. नामानि। ८. निर्णतव्यम्।

प्राणा विषयोपलब्धिद्वाराणि तत्प्रभवा विषयरागाः 'सहजत्वाद्भ्रातृव्याः । ते हृस्य' स्वात्मस्थां दृष्टिं विषयविषयां कुर्वन्ति तेन ते द्वेष्टारो भ्रातृव्याः । प्रत्यगा'त्मेक्षणप्रतिषेधकरत्वात् । काठके चोक्तम्—"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्" इत्यादि । तत्र यः 'शिश्वादीन्वेद तेषां याथात्म्यमवधारयति स एनान्भ्रातृव्यानवरुणद्धचपावृणोति विनाशयति ।

'तस्मै फलश्रवणेनाभिमुखीभूतायाऽऽह—'अयं वाव शिशु । कोऽसौ । योऽयं मध्यमः प्राणः शरीरमध्ये यः प्राणो लिङ्गात्मा यः पञ्चधा शरीरमाविष्टो बृहन्पाण्डरवासः सोम राजन्नित्युक्तः । यस्मिन्वाङ्मनःप्रभृतीनि करणानि 'विषक्तानि । 'पड्वीशशङ्कु-

द्वारभेदादित्याह—विषयेति । कथं तेषां भ्रातृव्यत्वमित्याशङ्कच विषयाभिलाषद्वारेणेत्याह—तत्प्रभवा इति । 'तथाऽपि कथं तेषां द्वेष्टृत्वमत आह—ते हीति । अथेन्द्रियाणि विषयविषयां दृष्टिं कुर्वन्त्येवाऽऽत्मविषयामपि तां करिष्यन्ति तन्न यथोक्तभ्रातृव्यत्वं तेषामिति तत्राऽऽह—प्रत्यगिति । इन्द्रियाणि विषयप्रवणानि तत्रैव दृष्टिहेतवो न प्रत्यगात्मनीत्यत्र प्रमाणमाह—काठके चेति । फलोक्तिमुपसंहरति—तत्रेति । "उक्तविशेषणेषु भ्रातृव्येषु सिद्धेष्विति यावत् ।

प्राणे वागादीनां विषक्तत्वे हेतुमाह—पड्वीशेति । यथा "जात्यो हयश्चतुरोऽपि पादबन्धन-

विषयसम्बन्धी राग साथ-साथ जन्म लेने के कारण (भ्राता ही सहजशत्रु होने से) भ्रातृव्य हैं । वे ही इस अधिकारी की आत्मस्थ दृष्टि को विषयाभिलाषी करते है, इसीलिए वे द्वेषी भ्रातृव्य हैं क्योंकि वे प्रत्यगात्मदृष्टि के अपहारक है । कठोपनिषत् मे भी कहा गया है—"स्वयम्भू (परमेश्वर) ने (शब्दादि विषयो को प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त होने वाली) इन्द्रियो को बहिर्मुख करके उनका हनन कर दिया है । अत (जीव सर्वदा) अनात्मभूत बाह्य विषयो को ही देखता है, अन्तरात्मा को नही" इत्यादि । यहाँ जो कोई इन शिशु आदि को गुणसहित जानता है अर्थात् उनका याथात्म्यज्ञान करता है, वह इन भ्रातृव्यो को "अवरुणद्धि" अर्थात् अपावृत यानी विनष्ट कर देता है ।

इस प्रकार फलश्रवण से (प्रलोभित होकर) अभिमुख होने वाले उस शिष्य (गार्ग्य) से (राजा अजातशत्रु) कहता है—निश्चय ही वही शिशु है । वह शिशु कौन है ? जो यह मध्यम प्राण है, जो यह शरीर के बीच मे लिङ्गात्मा प्राण है, जो शरीर मे पाँच प्रकार से प्रविष्ट होकर बृहन्, पाण्डरवास, सोम और राजन् इन नामो से कहा जाता है, जिसमे वाणी और मन आदि इन्द्रियाँ तादात्म्यरूप से आपन्न है । जिस प्रकार सिन्धुदेशीय महान् अश्व परीक्षा क समय पर बाँधने के खूँटो

२ अधिकारिण । ३ आत्मदृष्टयपहारकत्वादित्यर्थं । ४ सगुण शिशुम् । ५ एव फलेन प्रलोभित को वा शिश्वादिपदार्थ इत्युत्पन्नजिज्ञास प्रति शिश्वादिपदार्थानाहेत्यर्थ । ६ अय वाव—अयमेव शिशु 'शिशुर्वद्धिपयागङ्करहित प्राण' इत्याह—तस्मा इति । शिष्यायेत्यर्थं । ७ तादात्म्यापन्नानि । ८ बृ उ ६।१।१३ । ९. सहजत्वेऽपि । १० शीर्षण्येषु द्वेष्टृष्विति वा । ११ प्रशस्तजातीय. ।

१. भ्रातरो हि सहजशत्रव । "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । ... विषयोऽस्य न दृश्यत" ।।२।२।६।। इति वार्तिकसारे । ... दृश्यत । वागादीनामिव यतो विषयोऽस्य न दृश्यत

निदर्शनात् । स एष शिशुरिव विषयेष्वि[1]तरकरणवदनासक्तत्वात् । शिशुं साधान-मित्युक्तम् । किं पुनस्तस्य शिशोर्वत्सस्थानीयस्य [2]करणात्मन आधानम् । तस्ये[3]दमेव शरीरमाधानं कार्यात्मकमाधीयतेऽस्मिन्नित्याधानम् । तस्य हि शिशोः प्राणस्येदं शरीरम-धिष्ठानम् । [4]अस्मिन्हि करणान्यधिष्ठितानि लब्धात्मकान्युपलब्धिद्वाराणि भवन्ति [5]न तु प्राणमात्रे विषक्तानि । तथा हि दर्शितमजातशत्रुणा । उपसंहृतेषु करणेषु [6]विज्ञानमयो [7]नोपलभ्यते । [8]शरीरदेशव्यूढेषु तु करणेषु विज्ञानमय [9]उपलभमान उपलभ्यते । तच्च दर्शितं पाणिपेषप्रतिबोधनेन ।

कीलानपर्यविणो"त्पाट्योत्क्रामति तथा प्राणो वागादीनीति निदर्शनवशात्प्राणे "विषक्तानि वागादीनि सिद्धानीत्यर्थः । शरीरस्य प्राणं प्रत्याधानत्वं साधयति—तस्य हीति । शरीरस्याधिष्ठानत्वं स्फुटयति—अस्मिन्हीति । "प्राणमात्रे विषक्तानि करणानि नोपलब्धिद्वाराणीत्यत्र प्रमाणमाह—तथा हीति । "देहा-धिष्ठाने प्राणे विषक्तानि तान्युपलब्धिद्वाराणीत्यत्रानुभवमनुकूलयति—शरीरेति । "तत्रैवाजातशत्रुब्रा-ह्मणसंवादं दर्शयति—तच्चेति । शरीराश्रिते प्राणे वागादिषु विषयतेषूपलब्धुरुपलभ्यमानत्वमिति यावत् ।

को उखाड डालता है (वैसे ही मुख्यप्राण ने भी इन वागादिप्राणो को अपने स्थान से विचलित कर दिया) इत्यादि दृष्टान्त मे बतलाया है । वह यह प्राण (व्यतिरेकि दृष्टान्तरूप) इतर इन्द्रियो की तरह न होने के कारण शिशु के समान है । शिशु को आधानरहित जानने के लिए मन्त्र मे कहा गया है । तो फिर उस वत्सस्थानीय सूक्ष्मशरीरात्मारूप शिशु का आधान क्या है ? उसका यह कार्यात्मकशरीर ही आधान है (—ऐसा प्रसिद्ध है) । जिसम लिङ्गात्माप्राण प्रतिष्ठित किए जाएँ, उसे आधान कहते है । अत उस शिशु अर्थात् प्राण का यह शरीर अधिष्ठान है क्योकि इस शरीर मे अधिष्ठित होकर अपने स्वरूप को प्राप्त करने वाली इन्द्रियाँ विषयो की उपलब्धि का मार्ग बन जाती हैं, वे केवल प्राणमात्र मे तादात्म्यरूप से आपन्न नही होती । ऐसा ही राजा अजातशत्रु ने प्रदर्शित किया है । इन्द्रियो के उपसहृत हो जाने पर (प्राप्नकर्ता) विज्ञानमय की उपलब्धि नही होती । शरीरस्थान मे स्व-स्व गोलकसबद्ध इन्द्रियो मे तो (शब्दादि को) उपलब्ध करते हुए रूप मे ही विज्ञानमय की उपलब्धि होती है । यह बात हाथ दबाकर जगा देने के द्वारा दिखायी गई है ।

यह शिर प्रत्याधान है । श्रोत्रादि छिद्ररूप प्रवेशविशेषो के प्रति इसमे प्रत्याधान किया जाता है, इसलिए यह प्रत्याधान है । प्राण "स्थूणा" अर्थात् अन्नपानजनित शक्ति है । प्राण और बल ये पर्यायवाची शब्द है । बलाधीन स्थितिस्थापक इस शरीर मे प्राण ही है । 'वह यह आत्मा जब दुर्बलता

---

१ व्यतिरेकिदृष्टान्त । २ सूक्ष्मशरीरात्मन । ३ प्रसिद्धम् । ४ लिङ्गात्मा प्राण । ५ शरीरे । ६ न त्विति—पचधा व्यूह्य विभज्य देहस्थितप्राणाश्रितानि करणानि ज्ञायकराणि न तु मूर्च्छादौ प्राणमात्र-ग्रस्तान्यत शरीर तस्याधानमित्यर्थ । ७ उपलब्धा । ८ नोपलभ्यते—न ज्ञायते शब्दादिज्ञानलिङ्गकानु-मितिविषयो न भवतीत्यर्थ । ९ स्वस्वगोलकसम्बद्धेषु । १० शब्दादीनिति शेष । ११ प्रादास्य परीक्षितु पादबन्धन कृत्वोपर्यारूढनादवाराहेण कशाघात कृते सतीति शेष । १२ प्राणाधीनदेहस्थितिकानीति यावत् । १३ मूर्छादौ प्राणसामान्य स्यकापानादिवृत्तिक इति यावत् । १४ देहाश्रिते उपात्तपञ्चवृत्तिक इति यावत् । १५ पत्नानुभवानुकूल्यमर्दर्श ।

इदं प्रत्याधानं शिरः [1]प्रदेशविशेषेषु [2]प्रति प्रत्याधीयत[3] इति[4] प्रत्याधानम्। प्राणः स्थूणाऽन्नपानजनिता शक्तिः प्राणो बलमिति पर्यायाः। [3]बलावष्टम्भो हि प्राणोऽस्मिन्शरीरे। [4]स यत्रायमात्माऽबल्यं [5]न्येत्य [6]संमोहमिवेति दर्शनात्। यथा वत्सः स्थूणावष्टम्भ एवम्। [7]शरीरपक्षपाती वायुः प्राणः स्थूणेति केचित्। अन्नं दाम। अन्नं हि भुक्तं त्रेधा परिणमते। यः स्थूलः परिणामः स एतद्द्वयं भूत्वे[8]मामप्येति मूत्रं च पुरीषं च। यो मध्यमो रसः[9] स रसलोहितादिक्रमेण स्वकार्यं शरीरं साप्तधातुकमुपचिनोति। स्वयोन्यन्नागमे[10] हि शरीरमुपचीयते[11]ऽन्नमयत्वात्। [12]विपर्ययेऽपक्षीयते पतति। यस्त्वणिष्ठो रसोऽमृतमूर्क्प्रभाव इति च कथ्यते। स नाभेरूर्ध्वं हृदयदेशमागत्य हृदयाद्विप्रसृतेषु द्वासप्तति-

प्रत्याधानत्वं शिरसो व्युत्पादयति—प्रदेशेति। बलपर्यायस्य प्राणस्य स्थूणात्वं समर्थयते—बलेति। अयं मुमूर्षुरात्मा यस्मिन्काले देहमबलभावं नीत्वा संमोहमिव प्रतिपद्यते तदोत्क्रामतीति [13]षष्ठे दर्शनादिति यावत्। बलावष्टम्भोऽस्मिन्देहे प्राण इत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति। भर्तृप्रपञ्चपक्षं [14]दर्शयति—शरीरेति। [15]उक्तं हि प्राण इत्युच्छ्वास[16]निश्वासकर्मा वायुः शरीरः [17]शरीर[18]पक्षपाती गृह्यते। एतस्यां स्थूणायां शिशु[19] प्राणः [20]करणदेवता लिङ्गपक्षपाती गृह्यते। [21]स देवः प्राण एतस्मिन्बाह्ये प्राणे [22]बद्ध इति। [23]तद्व्याख्यातुं भूमिकां करोति—अन्न हीति। त्वगसृङ्मांसमेदोमज्जास्थिशुक्रेभ्यः सप्तभ्यो धातुभ्यो

को प्राप्त हो, मानो सम्मूढता (विवेकाभाव) को प्राप्त होता है" इत्यादि श्रुति इसमे प्रमाण है। जिस प्रकार गोवत्स खूँटे के आश्रित रहता है, उसी प्रकार प्राण भी है। स्थूलशरीर का पक्षपाती वायु प्राण खूँटा है, ऐसा भर्तृप्रपञ्च आदि का मत है। अन्न बन्धनरज्जु है क्योकि खाया गया अन्न तीन प्रकार से विकार को प्राप्त होता है। उसका जो स्थूलविकार होता है; वह मल और मूत्र दो रूपो मे परिणत होकर भूमि पर गिरता है। जो मध्यम विकार होता है वह सारभूत रस है जो कि रक्तादि के क्रम से अपने कार्यभूत सप्तधातुमय शरीर को पुष्ट करता है। क्योकि शरीर अन्नमय है, इसलिए अपने कारणभूत अन्न के प्राप्त करने से शरीर की पुष्टि व स्थिति होती है, अन्न के न प्राप्त होनेसे यह क्षीण हो जाता है एव गिर जाता है। तथा जो अणुतम रस होता है, वह अमृत, ऊर्क् अथवा प्रभाव ऐसा कहा जाता है, वह नाभि से ऊपर हृदयदेश मे आकर हृदयप्रदेश मे फैली हुई बहत्तर हजार नाडियो मे प्रवेश कर प्रसिद्ध शिशुसज्ञक इन्द्रियसघातरूप लिङ्गशरीर की स्थिति मे

१. प्रदेशेति—प्रदेशविशेषेषु श्रोत्रादिच्छिद्रेषु प्रत्येकमाधीयत करणात्मा प्राणोऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या मस्तक प्रत्याधानम्। वार्तिक यथा—"शिरोदेशविशेषेषु प्रति प्रति स आहित." ॥१३॥ इति। २. अस्मिन्। ३. बलाश्रय. बलाधीनस्थितिक.। ४. बृ० उ० ४।४।१। ५. नितरामेत्य। ६. समूढतामिव। ७. स्थूलशरीरेति यावत्। ८. पृथ्वीं पतति। ९ सारः। १०. प्राप्तौ। ११. तिष्ठति। १२. अन्नाप्राप्तौ। १३. प्राणोत्क्रान्तेरुक्तार्थानुसारेण दर्शनादुक्तार्थ एव ज्यायान्। १४. इदमपि शक्याङ्गीकारमित्याशयेन। १५. भर्तृप्रपञ्चे.। १६. एतद्व्यापार.। १७ स्थूलेति यावत्। १८. पक्षपातो निर्वाहमरत्वम्। १९. अधिष्ठाता। २०. एकमेव स्थूलाद्युपाधिभ्यां द्वेधा विभज्येदमिति बोध्यम्। २१. सबद्धः। २२. उक्तवाक्यम्।

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन्लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनꣳ रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनका तयाऽऽदित्यो

ये नेत्रस्थ] सात अक्षितियां उस मध्यमप्राण शिशु का सदा स्तवन करती है। उनमे से जो ये आँख मे लाल रेखाएँ है, उनके द्वारा 'रुद्र' इस मध्यमप्राण के अनुगत हैं तथा धूमादि से नेत्र मे जो जल अभिव्यक्त होता है, उसके द्वारा 'मेघ' (उस मध्यमप्राण के अनुगत हैं) जो दर्शनशक्ति है, उसके द्वारा

नाडीसहस्रेष्वनुप्रविश्य 'यत्तत्करणसंघातरूपं लिङ्गं शिशुसंज्ञकं तस्य शरीरे स्थितिकारणं भवति बलमुपजनय'त्स्थूणाख्यं 'तेनान्नमुभयतःपाशवत्सदामवत्प्राणशरीरयोर्निबन्धनं भवति ॥१॥

इदानीं 'तस्यैव शिशोः 'प्रत्याधान 'ऊढस्य चक्षुषि 'काश्चनोपनिषद उच्यन्ते—

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते। 'तं करणात्मकं प्राण शरीरेऽन्नबन्धनं चक्षुष्यू'ढमेता वक्ष्यमाणाः सप्त सप्तसंख्याका अक्षितयो'ऽक्षितिहेतुत्वादु' पतिष्ठन्ते। यद्यपि "मन्त्रकरणे

जातं साप्तधातुकम्। "तथाऽपि कथमन्नस्य दामत्वं तदाह—तेनेति ॥१॥

यो ह वै शिशुमित्यादौ सूत्रितशिश्वादिपदार्थान्व्याख्यायानन्तरसंदर्भस्य तात्पर्यं दर्शयन्नुत्तरवाक्यमुपादाय व्याकरोति—इदानीमित्यादिना। ननु यत्र मन्त्रेणोपस्थानं क्रियते तत्रैवोपपूर्वस्य तिष्ठतेरात्मनेपदं भवति। उक्तं हि—'उपान्मन्त्रकरणे' [पा० सू० १।३।२५] इति। दृश्यते चाऽऽदित्यं "गायत्र्योपतिष्ठत इति। न चात्र मन्त्रेण किंचि"त्क्रियते किंत्वन्नक्षयहेतुत्वा"त्प्राणस्य सप्ताक्षितय "इत्युपनिषदो"

कारण होता है एव स्थूणाख्य बल को उत्पन्न करता है। (मध्यम और अणुतम विकार द्वारा अन्न के देह-प्राण की स्थितिहेतुक होने मे) इस प्रकार दोनो ओर पाश के सदृश एव बन्धनरज्जु के समान अन्न, प्राण और शरीर का बन्धन है।

अब प्रत्याधान (शिर) मे आरूढ उसी करणात्मा शिशु के नेत्र मे कुछ रुद्राभिधान की उपनिषदे बतलायी जाती है।

ये नेत्रस्थ सात अक्षितियाँ उस मध्यमप्राण शिशु की सदा स्तुति करती रहती है। शरीर मे अन्नबन्धनरज्जु के कारण नेत्रस्थान मे आरूढ उस शिशुसंज्ञक करणात्मा प्राण की जो ये वक्ष्यमाण 'सप्त'

---

१. प्रसिद्धम्। २ स्थूणाख्य बलमित्यन्वय। ३ तेन—अन्नस्य मध्यमाणिष्ठपरिणामद्वारा देहप्राणयो स्थितिहेतुत्वेन। ४. करणात्मन। ५. शिरसि। ६ आरूढस्य। ७ रुद्राद्यभिधानानि। ८. शिशुसंज्ञम्। ९ अन्नदामानम्। १०. आरूढम्। ११ अक्षयेति यावत्। १२ उपासते। १३ स्तवन इति शेष। १४ शिशो स्थितिकारणत्वेऽपि। १५ ऋचा। १६ स्तूयते। १७. प्राणस्यान्नेरन्वयः। १८. पदेन। १९. अभिधानानि।

यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥२॥

'आदित्य', जो नेत्र मे कृष्ण वर्ण है, उसके द्वारा 'अग्नि' और जो शुक्ल रूप है, उसके द्वारा इन्द्र, इस मध्यमप्राण के अनुगत है, एव नीचे के पलक द्वारा 'पृथिवी' तथा ऊपर के पलक द्वारा 'द्युलोक' इसमे अनुगत है। जो इस प्रकार इस मध्यमप्राण को जानता है, उसका अन्न कभी भी क्षीण नही होता ॥२॥

तिष्ठतिरुपपूर्व आत्मनेपदी भवति। [१]इहापि सप्तदेवताभिधानानि मन्त्रस्थानीयानि करणानि तिष्ठतेरतोऽत्राप्यात्मनेपदं न विरुद्धम्। कास्ता अक्षितय इत्युच्यन्ते। [२]तत्तत्र या इमाः प्रसिद्धा अक्षन्नक्षणि लोहिन्यो लोहिता राजयो रेखास्ताभिर्द्वारभूताभिरेनं मध्यमं प्राणं रुद्रोऽन्वायत्तो[३]ऽनुगतः। अथ या अक्षन्नक्षण्यापो धूमादिसंयोगेनाभिव्यज्यमानास्ताभिरद्भिर्द्वारभूताभिः पर्जन्यो देवतात्माऽन्वायत्तोऽनुगत उपतिष्ठत इत्यर्थः। [४]स चान्नभूतोऽक्षितिः प्राणस्य। "पर्जन्ये वर्षत्यानन्दिनः प्राणा भवन्ति" इति श्रुत्यन्तरात्।

विवक्ष्यन्ते तत्राऽऽह—यद्यपीति। [५]मन्त्रेण कस्यचिदनुष्ठानस्य [६]करणे विवक्षिते तिष्ठतिरुपपूर्वो यद्यप्यात्मनेपदी भवति तथाऽप्यत्र सप्त रुद्रादिदेवतानामानि मन्त्रवदवस्थितानि तैश्च करणैरुपासनानुष्ठानान्यत्र[७] क्रियन्ते। [७]अतस्तिष्ठतेरुपपूर्वस्याऽऽत्मनेपदमविरुद्धमिति योजना। लोहितरेखाभो रुद्रस्य प्राणं प्रत्यनुगतेरनन्तरमित्यथशब्दार्थः। पर्जन्यस्यान्नद्वारा प्राणाक्षयहेतुत्वे प्रमाणमाह—पर्जन्य इति। कथं पुनरेतेषां

अर्थात् सात सख्या वाली अक्षयहेतुक होने से अक्षितियाँ उपासना करती है। यद्यपि स्तवनकरण अर्थ मे 'उप' पूवक 'स्था' धातु आत्मनेपदी होता है, यहाँ भी रुद्रादि सप्तदेवतासञ्ज्ञक करण मन्त्रस्थानीय ही है, इसलिए यहाँ भी 'उप' पूर्वक 'स्था' धातु मे आत्मनेपद हाना असगत नही है। वे 'अक्षितियाँ' कौन सी है? वे वतलाई जाती है। "तद्या इमा" अर्थात् यहाँ ये प्रसिद्ध जा "अक्षल्लोहिन्यो राजय" अर्थात् नेत्रस्थ रक्तवर्ण की रेखाएँ है, "ताभि" उन द्वारभूता रेखाओ के द्वारा "एन रुद्रोऽन्वायत्त" अर्थात इस मध्यमप्राण के द्वारा रुद्र उपासित है। तथा "या अक्षन्" नेत्र मे जो धूमादि के सयोग से अभिव्यक्त होने वाला जल है, "ताभि" उस द्वारभृत जल के द्वारा देवतात्मा पर्जन्य इससे उपासित है। वह पर्जन्य प्राण का अन्नभूत अक्षिति है। जैसा कि दूसरी श्रुति मे भी कहा गया है—'मेघ के वरसने पर प्राण आनन्दित हा जाते हैं'। "या कनीनका" जो गोलक कृष्णतारा की दर्शनशक्ति है, उस कनीनका के द्वारा आदित्य मध्यमप्राण की उपासना करता है, नेत्र मे जो कृष्णवर्ण है, उसके द्वारा अग्नि इसमे उपासित होता है, नेत्र मे जो शुक्लवर्ण है, उससे इन्द्र तथा नीचे की

---

१ प्रकृते। २ सप्तस्वक्षितिषु मध्य। ३ अनुगत इति—उपतिष्ठते उपास्त इत्यर्थ। वार्तिके यथा—"उपास्तेऽप्राणि प्राण रुद्राद्या सप्त देवता" ॥२३॥ इति। ४ पर्जन्य। ५. मन्त्रकरणकस्य। ६. कृतिविषयत्वे। ७ यथोक्तस्य कृतिविषयत्वेन विवक्षितत्वात्।

तदेष श्लोको भवति । अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति । अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति

इस अर्थ में यह मन्त्र है। नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर की ओर उठा हुआ चमस है, उसमे अनेक रूपो वाला यश स्थित है। उसके तीर पर सप्त ऋषिगण और वेद के द्वारा संवाद करने वाली आठवी वाणी है। नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर की ओर उठा हुआ चमस क्या है? वह शिर ही है क्योंकि यह मस्तक ही नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर की ओर उठा हुआ चमस है। उसमे विश्वरूप निहित यश क्या है? अध्यात्मवायु प्राण ही अनेकरूपो वाला यश इनमे निहित है।

या कनीनका 'दृक्शक्तिस्तया कनीनकया द्वारेणाऽऽदित्यो मध्यमं प्राणमुपतिष्ठते । यत्कृष्णं चक्षुषि तेनैनमग्निरुपतिष्ठते । यच्छ्वलं चक्षुषि तेनेन्द्रोऽधरया वर्तन्या 'पक्ष्मणैनं 'पृथिव्यन्वायत्ताऽधरत्वसामान्यात् । द्यौरुत्तरयोर्ध्वत्वसामान्यात् । एताः समान्नभूताः प्राणस्य सततमुपतिष्ठन्त इत्येवं यो वेद तस्यैतत्फलं—नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥२॥

तत्तत्रैतस्मिन्नर्थे एष श्लोको मन्त्रो भवति—अर्वाग्बिलश्चमस इत्यादिः । तत्र

प्राण प्रत्यक्षितित्व सर्वेषां सिध्यति तत्राऽऽह—एता इति । सम्प्रत्युपासितिफलमाह—इत्येवमिति ॥२॥

रुद्रादिशब्दानां देवताविषयत्वान्मन्त्रस्यापि तद्विषयतेत्याशङ्क्य 'चक्षुषि रुद्रादिगणस्योक्तत्वादिन्द्रियसबन्धात्तस्य करणग्रामत्वप्रतीतेस्तद्विषय श्लोको न प्रसिद्धदेवताविषय इत्यभिप्रेत्याऽऽह—

पलकस्थानीय चर्म द्वारा इसमें पृथिवी उपासित है, (अन्तरिक्ष की अपेक्षा पृथिवी की नीचे स्थिति होने से) दोनो मे अधरत्वरूप समानता है, और ऊपर के पलक द्वारा इसमे द्युलोक उपासित है क्योंकि ऊर्ध्वत्व में दोनो की एकरूपता है। ये सातो प्राण के अन्न होकर सतत उपासना करते रहते हैं, "य एव वेद" यानी जो इस प्रकार उपासना करता है, उसके अन्न का कभी भी क्षय नहीं होता, उसका यह फल है ॥२॥

"तदेष श्लोको भवति" अर्थात् वहाँ इस अर्थ में 'अर्वाग्बिलश्चमस" इत्यादि मन्त्र है। श्रुति अब इस मन्त्र का व्याख्यान करती है। "नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर की ओर उठा हुआ चमस है" इत्यादि। परन्तु नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर उठा हुआ चमस क्या है? (प्राण के प्रति

---

१ गोलक कृष्णतारा । २ अधस्तन्या । ३ पक्ष्मस्थानचर्मणेति यावत् । ४ अन्तरिक्षाद्यपेक्षया पृथ्व्या अधरत्वम् । ५ उक्ता रुद्रादिदेवता प्राणोपासनात् वागाद्यात्मका एव संवृत्ता इति वागादय एवात्र रुद्रादिशब्दाभिधेया इत्यभिप्रेत्याह—चक्षुषीति । ६ रुद्रादिगणस्य । ७ करणगणविषयः ।

प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते ॥३॥

प्राणो के विषय मे ही (सात श्रोत्रादि और उनमे सात भागो मे विभक्त होकर फैला हुआ वायु यश है) ऐसा मन्त्र कहता है। उसके तीर पर सात ऋषि रहते हैं, यहाँ पर शीर्षस्थ श्रोत्रादि सप्त प्राण ही ऋषि हैं क्योकि प्राणो के विषय मे ही ऐसा मन्त्र कहता है। वाक् ही आठवी है क्योकि वेद के द्वारा सवाद करने वाली यही है। यही वेद के द्वारा सवाद करती है ॥३॥

मन्त्रार्थमाचष्टे श्रुतिः—अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इति। कः पुनरसावर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः। इदं तच्छिरश्चमसाकारं हि तत्। कथम्। एष ह्यर्वाग्बिलो मुखस्य बिलरूपत्वाच्छिरसो बुध्नाकारत्वादूर्ध्वबुध्नः। तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति यथा सोमश्चमस एवं तस्मिञ्छिरसि विश्वरूपं नानारूपं निहितं स्थितं भवति। किं पुनस्तद्यशः प्राणाः वै विश्वरूपं प्राणाः श्रोत्रादयो वायवश्च मरुतः सप्तधा तेषु प्रसृता यश इत्येतदाह मन्त्रः। शब्दादिज्ञानहेतुत्वात्। तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणाः

तत्तत्रेति। मन्त्रस्य व्याख्यानसापेक्षत्वं तत्रेत्युच्यते। शिरसश्चमसाकारत्वमस्पष्टमित्याशङ्क्य समाधत्ते—कथमित्यादिना। वागष्टमीत्ययुक्तं तस्याः सप्तमत्वेनोक्तत्वात्त चैकस्या द्वित्वमित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मणेति। शब्दराशिर्ब्रह्म, तेन सवादः ससर्गस्त गच्छन्ती शब्दराशिमुच्चारयन्ती वागष्टमी स्यादिति

प्रत्याधानरूप से युक्त) वह यह प्रसिद्ध शिर है क्योकि वह चमस के आकार वाला है। यह चमसाकार किस प्रकार है ? क्योकि यह नीचे की ओर स्थित छिद्र वाला है, मुख छिद्ररूप है और शिर गोलाकार होने के कारण यह ऊर्ध्वबुध्न है। उसमे अनेक रूपो वाला यश स्थित है। इसी प्रकार उस शिर मे "विश्वरूपम्' अर्थात् नाना रूपो वाला यश 'निहितम्" अर्थात् स्थित है। वह यश क्या है ? प्राण ही अनेक रूपो वाला यश है। प्राण यानी सात श्रोत्रादि एव इन्द्रिय से उपाधिकृत सात मरुत् ही यश है,

---

१ इद तदिति—इद प्रसिद्ध तद् प्राण प्रति प्रत्याधानत्वेनोक्तम्। शिर एव अर्वाग्बिलोऽर्वाङ्मुख ऊर्ध्वबुध्न ऊर्ध्वासन चमस चमसपात्रमिवेत्यभिप्रेत्याह—चमसाकारमिति। २ कथ चमसाकारम्। ३. हि यस्मादय शिरोलक्षणश्चमसोऽर्वाग्बिलो अध स्थितस्यैव मुखस्य बिलरूपत्वाच्छिरसा बुध्नाकारस्योपरि भागे दृश्यमानत्वाच्च ऊर्ध्वबुध्नस्तस्माच्छिर एवात्तलक्षणश्चमस इत्यर्थ.। ४. गोलाकारत्वात्। ५ यश.। ६. इन्द्रियोपाधिकृतमरुता सप्तधात्वम्। ७. प्राणानेव यश इत्याह। ८. शब्दादिप्रकाशनरूपयशोहेतुत्वा- त्प्राणानाम्। ९. शिरश्चमसस्य। १०. शब्दादिद्रष्टृत्वात्। ११. पार्श्वे। १२. करणात्मना। १३. अप्रसिद्धम्। १४. 'सप्त वै शीर्षण्या प्राणा' इत्यत्र बृ० उ० ५३०पृष्ठभाष्य। १५ द्विरूपत्वम्। १६. वेदादि.।

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्य-

ये दोनो श्रोत्र ही गोतम और भरद्वाज है। यह दक्षिण श्रोत्र ही गोतम है और यह वाम श्रोत्र ही भरद्वाज है। ये दोनो नेत्र ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। इनमे दक्षिण नेत्र ही विश्वामित्र है और वाम नेत्र ही जमदग्नि है। ये दोनो नासिकाछिद्र ही वशिष्ठ तथा कश्यप है। इनमे दक्षिणछिद्र ही वशिष्ठ है और वामछिद्र कश्यप है तथा वाक् ही अत्रि है क्योंकि वागिन्द्रिय द्वारा ही पुरुष अन्न भक्षण

परिस्पन्दात्मकास्त एव च ऋषय प्राणानेतदाह मन्त्रः। वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति। ब्रह्मणा संवादं कुर्वत्यष्टमी भवति। तद्धेतुमाह—'वाग्ध्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्त इति ॥३॥

के पुनस्तस्य चमसस्य तीर आसत ऋषय इति। इमावेव गोतमभरद्वाजौ कर्णाविः अयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजो दक्षिणश्चोत्तरश्च विपर्ययेण वा। तथा चक्षुषी उपदिशन्नुवाचेमावेव विश्वामित्रजमदग्नी दक्षिणं विश्वामित्र उत्तरं जमदग्निर्विपर्ययेण वा। इमावेव वसिष्ठकश्यपौ नासिके उपदिशन्नुवाच। दक्षिणः पुटो भवति वसिष्ठः। उत्तरः कश्यपः

प्राणा। तथाऽपि सप्तमत्व विहाय कथमष्टमत्वं तत्राऽऽह—तद्धेतुमिति। वक्तृत्वात्तृत्वभेदेन द्विधा वागिष्टा तत्र वक्तृत्वेनाष्टमी सप्तमी चात्तृत्वेनेत्यविरोध.। रसना तूपलब्धिहेतुरिति भाव. ॥३॥

ऐसा श्रुति कहती है क्योंकि वे प्राण शब्दादि-प्रकाशनरूप यश के हेतु हैं। उसके शिर के पास मे सप्त ऋषियो का (शब्दादिदृष्टत्व होने के कारण) वास है। यह (करणाश्रय) प्राण परिस्पन्दनात्मक सप्तप्राण ही समझने चाहिएँ, वे ही ऋषि हैं। प्राणो के विषय मे ही श्रुति ऐसा कहती है "वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति" अर्थात् वेद के द्वारा संवाद करने वाली वाक् आठवी है। वक्तृत्वरूप मे अष्टम होने मे हेतु कहते है क्योंकि आठवी वाणी ही वेद के द्वारा संसृष्टि करती है ॥३॥

किन्तु उस चमस के निकट किन ऋषियो का वास है? यह प्रसिद्ध दोनो कर्ण ही गोतम और भरद्वाज है। ये दाँये और बाँयें के कर्ण ही गोतम और भरद्वाज हैं। अथवा दाँयें भरद्वाज और बाँये गोतम है। इसी प्रकार नेत्रो के विषय मे उपदेश करते हुए श्रुति कहती है कि ये ही विश्वामित्र और

---

१. सप्त वायव। २ प्रसिद्धपर्याश्रयत्वाद्वा। २ वक्तृत्वेनाष्टमत्वे हेतुम्। ३ यस्मादष्टम्यव वाक् इत्यन्वय। ४ संसृज्यते। ५ पूर्वं प्राणत्वसामान्यनोक्तम् विशेषतो ज्ञानायाय प्रश्नो नामसूचक. इत्यादि ना। ६ प्रसिद्धावव। ७ वक्तृत्वेऽपि। ८ उच्चारणक्रियावत्वेन। ९. चर्वणक्रियावत्वेन। १० अत्तृत्वेनेति—न च चर्वणस्य वाक्कार्यत्व मूके चवणानुपपत्ति गोलकवैगुण्येन वचनशक्तिप्रतिरोधेऽपि वाच. शक्त्यन्तराप्रतिघातादित्यूह्यम्। १० ननु वचनस्य वागिन्द्रियकार्यत्वेऽपि रसास्वादनस्य रसनकार्यत्वात्कथ वाचो द्वैविध्यमित्याशङ्क्याऽऽह—रसनेति। उपलब्धिर्मधुरत्वादिप्रत्यक्षम्।

दत्त्रिरिति, सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥२॥

करता है। जिसे अत्रि कहते है, निःसन्देह वह अत्तिनाम वाला ही है। जो इसे (इस पूर्वोक्त प्राण के यथार्थस्वरूप का) जानता है वह सबका भक्षण करने वाला हो जाता है, इसका सब भोज्य हो जाता है अर्थात् भोज्यवर्ग से निवृत्त हो जाता है ॥४॥

॥ इति द्वितीय ब्राह्मणम् ॥

पूर्ववत्। 'वागेवात्रिरदनक्रियायोगात्सप्तम.। वाचा ह्यन्नमद्यते। 'तस्मादत्तिर्ह वै प्रसिद्धं नामैतदत्तृत्वादत्तिरिति । अत्तिरेव सन्यदत्रिरित्युच्यते' परोक्षेण सर्वस्यैतस्यान्नजातस्य प्राणस्यात्रिनिर्वचनविज्ञानादत्ता भवति। 'अत्तैव भवति नामुष्मिन्नन्नेन पुन प्रतिपद्यत इत्येतदुक्त भवति सर्वमस्यान्नं भवतीति। य एवमेतद्यथोक्त प्राणयाथात्म्य वेद स एवं

विपर्ययेण वेत्येतत्पूर्ववदित्युच्यते। अत्रि सप्तम इति सबन्ध। अत्रित्वे हेतुरदनक्रियायोगादिति। हेतु साधयति—वाचा हीति। 'साध्यमर्थं निगमयति—तस्मादिति। तर्हि कथमत्रिरिति व्यपदिश्यतेऽत आह—अत्तिरेवेति। प्राणस्य यदन्नजातमेतस्य सर्वस्यात्ता भवत्यत्रिनिर्वचनविज्ञानादिति सबन्ध। 'सर्वमस्येत्यादिवाक्यमर्थोक्तिपूर्वक प्रकटयति—अत्तैवेति। न केवलमत्रिनिर्वचनविज्ञानकृतमेतत्फलं किंतु प्राणयाथात्म्यवेदनप्रयुक्तमित्याह—य एवमिति ॥४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयाध्यायस्य द्वितीय ब्राह्मणम् ॥२॥

जमदग्नि है। इनमें दक्षिण नेत्र विश्वामित्र और बाँया जमदग्नि है अथवा दक्षिण नेत्र जमदग्नि और बाँया विश्वामित्र है। नासिका के विषय में उपदेश करते हुए श्रुति कहती है कि यह दोनो वसिष्ठ और कश्यप हैं दाँया नासापुट वसिष्ठ है और बाँया कश्यप है अथवा दाँया नासापुट कश्यप है और बाँया वसिष्ठ है। रसाभिव्यक्ति की हेतु चर्वणक्रिया वाली वाक् सप्तम ऋषि अत्रि है क्योंकि वाक् से ही अन्न भक्षण किया जाता है इसलिए उसके चर्वणक्रिया सम्पादन करने से प्रसिद्ध 'अत्ति' नाम वाला है भक्षण करने वाला होने के कारण यह 'अत्ति' है। (देवता परोक्षप्रिय हैं प्रत्यक्ष से द्वेष करने वाले है, इस उक्ति के अनुसार) 'अत्ति' होते हुए भी परोक्षरूप से अत्रि कहा गया है। इस 'अत्रि' शब्द को

---

१ रसाभिव्यक्तिहेतुचर्वणक्रियावती वागत्रि सप्तम। २ यस्मात्। ३ तस्याश्चर्वणक्रियावत्त्वात्। ४ तत्। ५ परोक्षप्रिया इव हि देवा। ६ उपास्तिफल वक्ति—सर्वस्येति। ७ अत्तैवेति—उपासकोऽस्मा-वमुष्मिन् परत्र (पर प्रतीति यावत्) पुनरन्नेन (अन्नत्वेन) कदाचिन्न प्रतिपद्यते अद्यत्वेन न प्राप्यत उपासितुरद्योऽन्य तस्य तं प्रति न भोक्तृत्व किं तु भोक्तृत्वमेवेति यावत्। अमुष्मिन्नित्यस्य परलोक इति याथ। ८ इति न पौनरुक्त्यम्। ९ यदर्थं हेतुरुपन्यस्तम्। १० सर्वमस्येति—पूर्ववाक्यगतार्थतामाशङ्क्याह।

(अथ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम्)

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥१॥

ब्रह्म के दो रूप हैं; मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थावर और जंगम, सत् और त्यत् ॥१॥

मध्यमः प्राणो भूत्वाऽऽधानप्रत्याधानगतो भोक्तैव भवति न भोज्यं भोज्याद्व्यावर्तत इत्यर्थः ॥४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥२॥

तत्र प्राणा वै सत्यमित्युक्तम् । याः प्राणानामुपनिषदस्ता 'ब्रह्मोपनिषत्प्रसङ्गेन व्याख्याता 'एते ते प्राणा इति च । 'ते किमात्मकाः कथं वा तेषां सत्यत्वमिति च वक्तव्यमिति 'पञ्चभूतानां 'सत्यानां 'कार्यकरणात्मकानां स्वरूपावधारणार्थमिदं 'ब्राह्मण-

---

'संबन्धं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—तत्रेति । अजातशत्रुब्राह्मणावसानं सप्तम्यर्थः । उपनिषदो रुद्राद्यभिधानानि । चकारादुक्तमित्यनुषङ्गः । उत्तरब्राह्मणतात्पर्यमाह—ते किमात्मका इति । "ब्रह्मणो

निरुक्ति का ज्ञान होने से 'पुरुष' इस सम्पूर्ण अन्नसमुदाय का अन्न होता है (यह उपासना का फल है)। (इससे उपासक) अन्न का भोक्ता होता है, परलोक मे "सर्वमस्यान्न भवति" अर्थात् पुनः अन्नत्वरूप से भक्ष्यत्व को प्राप्त नही होता है। "य एव वेद" जो इस प्रकार उपर्युक्त प्राण की यथार्थरूप से उपासना करता है, वह इस प्रकार मध्यमप्राण होकर आधान-प्रत्याधानगत भोक्ता ही होता है; भोज्य नही होता अर्थात् भोज्य से निवृत्त हो जाता है ॥४॥

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् के द्वितीय अध्याय के शिशुसञ्ज्ञक द्वितीय ब्राह्मण मे शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥२॥

पिछले ब्राह्मण मे कहा गया है कि प्राण ही सत्य हैं। जो प्राणो की प्रतिपादक उपनिषदें है,

---

१. "गार्ग्योक्त ब्रह्म विस्तृत्य तन्निरासाय साम्प्रतम् । तृतीयब्राह्मणे प्राह राजोक्त ब्रह्म विस्तृतम् ॥ प्रथमब्राह्मणे राजा ब्रह्म यद्यप्यदीपत. । उवाचाऽथाऽपि सत्यस्य सत्यता नहि विस्तृता ॥ सत्यसत्यत्वविस्तारमुखेन प्रतिपाद्यते । निष्प्रपञ्चब्रह्मतत्त्व तृतीयब्राह्मणे स्फुटम्" ॥१-३॥ इति वार्तिकसारे । २. सत्यस्य सत्यमिति ब्रह्माभिधानप्रसङ्गेन । ३ सत्यात सप्त श्रोत्रादय. । ४. ते किमात्मका' कथ वा तेषा सत्यत्वमितीति—ते चेतनाः, स्युरचेतना वा द्वितीये कारणात्मनो विकारा वा न तावच्चेतना अनात्मत्वात् नापि कारणात्मानो जन्मश्रुते. विकारत्वे वाचारम्भणत्वान्न सत्या इत्याकांक्षाप्रकारानुवादार्थमितिशब्द' । इतीद ब्राह्मणमारम्यत इति सम्बन्ध' । ५. ननु तेन (प्रकृतब्राह्मणेन) प्राणाना स्वरूप सत्यत्व वा नोच्यते भूतानामेव निरूपणादित्याशङ्क्याऽऽह—पञ्चभूतानामिति । कार्यकरणरूपाणि सत्यशब्दितानि भूतानि अतस्तदात्मना प्राणाना निरूपणात्तत्स्वरूपादिवक्तुमुत्तर वाक्यमविरुद्धमित्यर्थ. । -६. सत्यशब्दवाच्यानाम् । ७. स्थूलसूक्ष्मरूपाणाम् । ८. ब्राह्मणमिति—ब्राह्मणैकदेशभूतमथात आदेश इत्यत. प्राक्तन वाक्यमित्यर्थ. । ९. पूर्वोत्तरब्राह्मणयो. । १०. प्राणाना सत्यशब्दिताना यत्सत्य ब्रह्म तस्य ।

मारभ्यते । यदुपाधिविशेषापनयद्वारेण नेति नेतीति ब्रह्मणः सतत्त्वं निर्दिधारयिषितम् । तत्र द्विरूपं ब्रह्म पञ्चभूतजनितकार्यकरणसंबद्धं मूर्तामूर्ताख्यं मर्त्यामृतस्वभावं तज्जनितवासनारूपं च सर्वज्ञं सर्वशक्ति सोपाख्यं भवति । क्रियाकारकफलात्मकं च सर्वव्यवहारास्पदम् । तदेव ब्रह्म विगतसर्वोपाधिविशेषं सम्यग्दर्शनविषयमजमजरममृतमभयं वाङ्मनसयोरप्यविषयमद्वैतत्वान्नेति नेतीति निर्दिश्यते । तत्र यदपोहद्वारेण नेति नेतीति निर्दिश्यते ब्रह्म, ते एते द्वे वाव वावशब्दोऽवधारणार्थः । द्वे एवेत्यर्थः । ब्रह्मणः परमात्मनो रूपे रूप्यते याभ्यामरूपं परं ब्रह्माविद्याध्यारोप्यमाणाभ्याम् । के ते द्वे । मूर्तं चैव मूर्तमेव च ।

निर्धारणीयत्वात्किमिति भूताना सतत्त्व निर्धार्यते तत्राऽऽह—यदुपाधीति । तेषामुपाधिभूताना स्वरूपावधारणार्थं ब्राह्मणमिति" संबन्ध । सत्यस्य सत्यमित्यत्र षष्ठ्यन्त"सत्यशब्दित हेयप्रथमान्त"सत्यशब्दितमादेयं "तयोराद्यस्वरूपो"ऽत्यर्थ"मथेत्यत प्राक्तनं वाक्य तदूर्ध्वमा ब्राह्मणसमाप्तेरादेयनिरूपणार्थमिति समुदायार्थः । सविशेषमेव ब्रह्म न निर्विशेषमिति केचित्तान्निराकर्तुं "विभजते—तत्रेति । ब्राह्मणार्थे पूर्वोक्तरीत्या स्थिते सतीति यावत् । 'द्वे वाव' इत्यादिश्रुते सोपाधिक ब्रह्मरूप विवृणोति—पञ्चभूतेति । शब्दप्रत्ययविषयत्वं सोपाख्यत्वम् । निरुपाधिक ब्रह्मरूप दर्शयति—तदेवेति । एव "भूमिकामारचय्याक्षराणि व्याकरोति—तत्रत्यादिना । द्वैरूप्ये सतीति यावत् । "अमूर्तं "चेत्यत्र चकारादेवकारानुषक्ति ।

उनकी "ये सप्तसख्या वाले श्रोत्रादि प्राण है" (सत्यस्य सत्यम्) ऐसा कहकर ब्रह्माभिधान-प्रसङ्ग से व्याख्या कर दी गई है । उनका सत्यत्वादि किस प्रकार है और चेतन अथवा अचेतन कैसा उनका स्वरूप है ? इसलिए स्थूल और सूक्ष्मरूप सत्यशब्दवाच्य पञ्चभूतो के स्वरूप का निर्धारण करने के लिए यह ब्राह्मण प्रारम्भ किया जाता है । जिनकी उपाधिविशेष के निषेध द्वारा "नेति नेति" इत्यादि रूप से श्रुति को ब्रह्मतत्त्व निर्णय कराना इष्ट है । पञ्चभूतजनित स्थूल और सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध ब्रह्म के दो रूप है । वह मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत स्वभाव वाला है, कार्यकरणसघातजनित वासनारूप एव सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् शब्दप्रतीति का विषय है । वह क्रिया, कारक और फलस्वरूप तथा

१ येषामुपाधिविशेषरूपाणामिति विग्रह । २ सोपाधिक निरुपाधिकमिति ब्रह्मणि द्वैविध्य सिद्धवत्कृत्य सोपाधिकस्यैव ब्रह्मणो द्वैरूप्यमाह—तत्रेति । 'रूपे वा ब्रह्मणो विद्यान्मूर्तामूर्ते सवासने । ब्रह्मैव रूप्यते ताभ्या ब्रह्मत्व न हि रूपवत्" ॥ वा० ६॥ इति । अत्र वाशब्दश्चार्थं । वासनामय तृतीय रूपमाशङ्क्याऽऽह—सवासने इति । कथ तयोर्ब्रह्मरूपत्व तदाह—ब्रह्मैवेति । रूप्यते ज्ञाप्यते विशेषणेति यावत् । चैतन्यादिवत्तयोर्ब्रह्मरूपत्वमाशङ्क्य निरुपाधिक ब्रह्म विवक्षित्वाऽऽह—ब्रह्मत्वमिति । स्वार्थो भावप्रत्ययोऽरूपादिश्रुतेरित्यर्थ । ३ स्थूलसूक्ष्मशरीरसम्बद्धम् । ४ वासनामय तृतीय रूपमाशङ्क्याऽऽह—तज्जनितेति । कार्यकरणसघातजनिते वासनामय वासनामयस्य सोपाधिके एवान्तर्भावादद्वे एवेति भाव । ५. निरासद्वारा । ६ मायामये रूपे । ७ कथ तयोर्ब्रह्मरूपत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—रूप्यत इति । ज्ञाप्यते ज्ञायत इति वार्थ । ८ तथा च ब्रह्म ज्ञापके एवैतेन स्वरूपि ब्रह्म ताभ्या रूपवत । ६ स्वरूपम् । १०. पूर्वत्रेति शेष । ११ सस्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चजाता प्राणा । १२ पर ब्रह्म । १३ मध्ये । १४ हेयस्वरूपप्रतिपादनार्थम् । १५ अथात इत्यत इत्यर्थ । १६ ब्रह्मस्वरूपम् । १७ सबन्धोक्तिं कृत्वा । १८ नन्वमूर्तमेव नेति कथ भाष्यम् । १९ एवकारस्यामूर्तं चेत्यत्राश्रुतेरत आहामूर्तं चेत्यत्रेति ।

**तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेत-
त्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य
स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो
ह्येष रसः ॥ २ ॥**

जो यह वायु अन्तरिक्ष इन दो भूतो से भिन्न (पृथिवी, जल तथा तेज) है, वह मूर्त है। यह मर्त्य है। यह स्थावर है और चक्षुरादि से प्रतीत होने के कारण यह सत् उस इस मूर्त का, इस मर्त्य का, इस स्थित का और इस सत् का, यही रस है। जो यह अन्तरिक्ष मे सवितृमण्डल तपता है, यह सद्रूप तीनो भूतों का ही सारतम रस है ॥२॥

तथाऽमूर्तं चामूर्तमेव चेत्यर्थः । अन्तर्णीतस्वात्मविशेषणे मूर्तामूर्ते द्वे एवेत्यवधार्यते । कानि पुनस्तानि विशेषणानि मूर्तामूर्तयोरित्युच्यन्ते—मर्त्यं च मर्त्यं मरणधर्म्यमृतं च तद्विपरीतं स्थितं च परिच्छिन्नं गतिपूर्वकं यत्स्थास्नु यच्च यातीति यद्व्याप्य परिच्छिन्नं स्थितविपरीतं 'सच्च सदित्य'न्येभ्यो विशेष्यमाणासाधारणधर्मविशेषवत् । त्यच्च तद्विपरीतं त्यदित्येव सर्वदा परोक्षाभिधानार्हम् ॥१॥

तत्र चतुष्टयविशेषणविशिष्टं मूर्तं तथाऽमूर्तं च । तत्र कानि मूर्तविशेषणानि

विवक्षितब्रह्मणो रूपद्वयमवधारितं चेन्मर्त्यत्वादीनि वक्ष्यमाणविशेषणान्यवधारणविरोधादयुक्तानी-त्याशङ्क्याऽऽह—अन्तर्णीतेति । मूर्तामूर्तयोरन्तर्भावितानि स्वात्मनि यानि विशेषणानि तान्याकाङ्क्षा-द्वारा दर्शयति—कानि पुनरित्यादिना । यद्गतिपूर्वकं स्थास्नु तत्परिच्छिन्नं स्थितमिति योजना । विशेष्यमाणत्वं प्रत्यक्षेणोपलभ्यमानत्वम् ॥१॥

तत्रेति निर्धारणार्था सप्तमी । तत्र प्रत्येकं मूर्तामूर्तचतुष्टयविशेषणवत्त्वे सतीति यावत् । कथं

समस्त व्यवहार का आश्रय है। यही ब्रह्म सब प्रकार के उपाधिविशेषों से अतीत सम्यक्ज्ञान का विषय, जन्म, जरा, मरण व भय से रहित तथा वाणी और मन का अविषय एवं अद्वैत होने के कारण उसका 'नेति नेति' ऐसा निर्देश किया जाता है। वहाँ जिस ब्रह्म का निरास द्वारा 'नेति नेति' वर्णन किया जाता है "द्वे वाव" अर्थात् वे दो रूप उस "ब्रह्मणः" अर्थात् परमात्मा के है। मन्त्र में 'वाव' शब्द

---

१. सारः कार्यम् । २ मण्डलमित्यर्थः । ३ भूतत्रयभूतद्वयात्मके । ४ रूपे । ५ मरणधर्मविनश्वरं न तु प्राणत्यागोऽत्र मरणमिति न पृथिव्यादावव्याप्तिः । ६ मूर्तविरुद्धं ध्रुवमिति यावत् । ७ व्यापि—अपरिच्छिन्नम् । ८ व्यक्तम् । ९ अयम्य वाय्वाकाशेभ्य बहुवचनमवान्तरभेदापेक्षम् अन्यव्यावृत्तो य प्रत्यक्षोपलभ्यमानोऽसाधारणधर्मविशेषो गन्धादिस्तद्वदित्यर्थः । १० तच्छब्दार्थकस्त्यच्छब्दः । ११ भूतत्रय-भूतद्वयात्मकरूपद्वयमध्ये । १२ मूर्तादिविशेषणचतुष्टयविशिष्टमिति यावत् । १३ भूतत्रयात्मकं विशेष्यमित्यर्थः । १४ एवममूर्तं भूतद्वयम् । १५ भूतत्रयविशेषणानीति यावत् । १६ सोपाधिकेत्यर्थः । १७ रूपद्वयमवधार्यं मूर्तं चामूर्तं चेत्येतावदेव वक्तुं घटते षट्कमधिकं तु विरुद्धं स्यादवधारणतः ।

क्रानि, चेतराणीति[1] विभज्यते[2] । तदेतन्मूर्तं मूर्छितावयवमितरेतरानुप्रविष्टावयवं घनं [3]संहतमित्यर्थः । किं तद्यदन्यत्कस्मादन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च भूतद्वयात्परिशेषात्पृथिव्यादि भूतत्रयमेतन्मर्त्यं यदेतन्मूर्ताख्यं भूतत्रयमिदं मर्त्यं मरणधर्मि । कस्माद्यस्मा[4]त्स्थितमेतत्[5] । परिच्छिन्नं ह्यर्थान्तरेण संप्रयुज्यमानं [6]विरुध्यते । यथा घटः स्तम्भकुड्यादिना तथा मूर्तं स्थितं परिच्छिन्नमर्थान्तरसंबन्धि [7]ततोऽर्थान्तरविरोधान्मर्त्यमेतत्[8]सद्विशेष्यमाणासाधारण-धर्मवत् । [9]तस्माद्धि परिच्छिन्नं [10]परिच्छिन्नत्वान्मर्त्यमतो मूर्तं मूर्तत्वाद्वा मर्त्यं मर्त्यत्वा-त्स्थितं स्थितत्वात्सत् । [11]अतोऽन्योन्याव्यभिचाराच्चतुर्णां धर्माणां यथेष्टं विशेषणविशेष्य-भावो हेतुहेतुमद्भावश्च दर्शयितव्यः । [12]सर्वथाऽपि तु भूतत्रयं चतुष्टयविशेषणविशिष्टं मूर्तं

स्थितत्वेऽपि मर्त्यत्वं तत्राऽऽह—परिच्छिन्न हीति । [13]तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेत्यादिना । अतो मर्त्यत्वान्मूर्तमिति शेषः । मूर्तत्वमर्त्यत्वयोरन्योन्यहेतुमद्भावं द्योतयितुं वाशब्दः । कथं पुनश्चतुर्षु धर्मेषु विशेषणविशेष्यभावो हेतुहेतुमद्भावश्च निश्चेतव्यस्तत्राऽऽह—अन्योन्येति । रूपरूपिभावस्यापि व्यवस्थाभावमाशङ्क्याऽऽह—सर्वथाऽपीति । तस्यैतस्यैष रस इत्येव वक्तव्ये किमिति मूर्तस्येत्यादिना

निर्धारणार्थक है । जिस अविद्या अध्यारोप के द्वारा अरूपी ब्रह्म भी ज्ञापित होता है (वे दो ही रूप हैं) । वे दो रूप कौन से है ? "मूर्त चैवामूर्तं च" अर्थात मूर्त तथा अमूर्त ही वे दो रूप हैं । जिनमे उनके अपने अन्य भूतत्रयात्मक विशेषणो का अन्तर्भाव हो जाता है, ऐसे वे मूर्त और अमूर्त, दो ही ब्रह्म निर्धारित किए जाते है । वे मूर्त और अमूर्त के विशेषण कौन से है—इस पर श्रुति कहती है । वह ब्रह्म "मर्त्यं चामृत च" यानी विनश्वरधर्मा और (ध्रुव) अविनाशी स्वभाव वाला है, "स्थित" यानी परिच्छिन्न या गतिपूर्वक स्थित रहने वाला, "यच्च" जो व्यापी अपरिच्छिन्न स्थितिरहित है, "सत्" अर्थात् दूसरो की अपेक्षा विशेषरूप से व्यक्त किए जाने वाले असाधारण धर्मविशेष वाला है, "त्यत्" यानी सत् से विपरीत अथवा "तद्" शब्द की तरह सदा अप्रत्यक्षरूप मे कहने योग्य है ॥१॥

इस प्रकार भूतत्रयात्मक मूर्त और भूतद्वयात्मक अमूत चार विशेषणो से युक्त है । उनमे मूर्त के विशेषण कौन से है, अमूर्त के कौन से है ? इसका विभाग किया जाता है । "तदेतन्मूर्तम्" अर्थात् वह यह मूर्त मूर्च्छित अवयवो वाला है यानी इसके अवयव एक दूसरे मे अनुप्रविष्ट घनीभूत एव एक दूसरे मे मिले हुए है । वह क्या है ? "यदन्यत्" अर्थात जो अन्य है । किससे अन्य है ? वायु और अन्तरिक्ष इन दो भूतो से । अत बचे हुए पृथिवी, जल और तेज तीन भूत ही मूर्त हैं । "एतन्मर्त्यम्" यह जो मूर्तनामा तीन भूत है, वह "मर्त्यम्" यानी विनश्वरधर्मा है । विनश्वरधर्मा क्यो हैं ? क्योकि वे स्थित है यानी परिच्छिन्न वस्तु ही किसी अन्य पदार्थ के सयोग किए जाने से विनाश को प्राप्त हो जाता है । मूर्त स्थित, परिच्छिन्न और अर्थान्तरसम्बन्धी उसी प्रकार है, जिस प्रकार स्तम्भ और दीवार आदि

---

१. भूतद्वयविशेषणानीत्यर्थ. । २. जिज्ञासायाम् । ३, तानीति शेष. । ४. भूतत्रय त्रिवृत्प्रक्रियया-ऽन्योन्य समिलिताशकमित्यर्थं । ५ मर्त्यम् । ६. अन्याश्रितम् । ७ विनश्यतीति यावत् । ८. अर्थान्तरसबन्धित्वान्मर्त्यमित्यन्वय । ९. व्यक्तम् । १० प्रत्यक्षणोपलभ्यमानत्वात् । ११. स्थितत्वात् । १२. परस्पराभाववदवृत्तित्वात परस्पर व्याप्यत्वादिति यावत् । १३. सर्वथाऽपीति—विशेष्यविशेषणभावा-द्यवच्छिन्नत्वेऽपीत्यर्थं । १४ यथोक्तविरुद्धत्वमेव ।

रूपं 'ब्रह्मणः । 'तत्र चतुर्णामेकस्मिन्गृहीते विशेषण 'इतरद्'गृहीतमेव विशेषणमित्याह—तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सतश्चतुष्टयविशेषणस्य भूतत्रयस्येत्यर्थः । 'एष रस' सार इत्यर्थः । त्रयाणा हि भूताना 'सारिष्ठ 'सविता । 'एतत्साराणि 'त्रीणि "भूतानि यत एतत्कृतविभज्यमानरूपविशेषणानि भवन्ति । "आधिदैविकस्य कार्यस्यैतद्रूप "यत्सविता "यदेतन्मण्डल तपति" । "सतो भूतत्रयस्य हि यस्मादेष रस इत्ये"तद्"गृह्यते ।

विशेषणचतुष्टयमनूद्यते तत्राऽऽह—तत्रेति । सारत्व साधयति—त्रयाणा हीति । तत्र प्रतिज्ञामनूद्य हेतुमाह—एतदिति । "एतेन सवितृमण्डलेन कृतानि विभज्यमानान्यसकीर्णानि कृष्ण शुक्ल लोहितमित्येतानि रूपाणि विशेषणानि येषा पृथिव्यप्तेजसां तानि तथा । "ततो भूतत्रयकार्यमध्ये सवितृमण्डलस्य प्राधान्यमित्यर्थं । य एष तपतीत्यस्यार्थमाह—आधिदैविकस्येति । 'हेतुवाक्यमादाय तस्य तात्पर्यमाह—सत इति । मण्डलमेवैतच्छब्दार्थं । मण्डलपरिग्रहे हेतुमाह—मूर्तो हीति । मूर्तग्रहणस्योपलक्षण-

से घट । इसलिए (अर्थान्तरसम्बन्धी होने के कारण) अविनश्वरधर्मा का अर्थान्तर से विरोध है। यह व्यक्त अर्थात विशेष्यमाण असाधारण धर्म वाला है। इसलिए (प्रत्यक्ष प्रमाण से) उपलब्ध होने के कारण स्थित है, स्थित होने के कारण अविनश्वरधर्मा है, इसलिए मूर्त है। अथवा मूर्त होने से कारण स्थित है और स्थित होने से व्यक्त है। अत इन चारो धर्मों के परम्पराभाव के समान वृत्ति न होने से यथेष्ट विशेषणविशेष्यभाव और हेतुहेतुमद्भाव दिखलाना चाहिए । विशेषणविशेष्यभावादि मे ऐच्छिक होने पर भी, चारो विशेषणो से विशिष्ट भूतत्रयात्मकरूपी ब्रह्म का मूर्त रूप है। इन चारो विशेषणो म से किसी एक को ग्रहण करने पर दूसरे विशेषण भी गृहीत हो ही जाते हैं—इसी बात को श्रुति कहती है। तस्यैतस्य' अर्थात् उस मूर्त मरणधर्मा का, इस स्थित का और "सत" यानी इस सत् का अर्थात् इन चारो विशेषणो से विशिष्ट भूतत्रय का एष रस' अर्थात् यह (सवितामण्डल) सार है। सविता तीनो भूतो का सारतम है। तीन भूतो का यही सार है क्योकि वे इसी के द्वारा विभाजित

१ रूपिण । २ भूतत्रयस्य चतुर्विशेषणत्वे प्रमाणसिद्ध सति । ३ इतरद्गृहीतमेव विशेषणमिति—इतरद्विशेषणमेव गृहीत स्यादित्यन्वय । चतुर्विशेषणमध्ये एकस्य विशेषणस्य ग्रहण अन्यस्यापि विशेषणस्यैव ग्रहण स्यात्त्मा भूदिति विशेषणचतुष्टयमनूद्यते तथा च मण्डलस्य चतुर्विशेषणकभूतत्रयकार्यत्व न त्वेकैकविशेषणकार्यतेति सिद्धम् । अधिकोक्तरधिकार्यद्योतकत्वादित्यर्थ । ४ गृहीतमेवेति—अत्र अगृहीतमित्येव युक्तम् । तथा चायमर्थ —तस्यैतस्येत्यनाव मात्रोक्तावव्यवहितपूर्वस्य सद्विशेषणस्यैव ग्रहण भवेदितरथागृहीतमेव भवेद्विशेषण तथा च विशेषणचतुष्टयविशिष्टस्य कार्यं न सिध्यदिति सर्वमनूदितमिति । ५ सवितात मण्डल-मिति यावत् । ६ सारतम । ७ मण्डलम् । ८ बहुव्रीहि । ९ भूतद्वयोपसर्जनानि मण्डलारम्भे त्रयाणा प्राधान्यात् मण्डलस्य च पचककार्यत्वात् । १० त्रीणि भूतानीति भूतद्वयोपसर्जनानि तन्मण्डलारम्भे स्व प्रधानानीति यावत् तस्यापि (मण्डलस्यापि) पचभूतात्मकत्वादिति । ११ त्रयाणा भूतानामिति शेष । १२ श्रौतमेषपद विवृणोति—सवितेति । १३ तस्य चेतनविषयत्वमाशङ्क्याऽऽह—यदेतदिति । १४ धस्वद्विस्वमिति शेष । १५ विशेषणान्तरोपलक्षणमिदम् । १६ एषशब्दस्य चेतनविषयत्वमाशङ्क्याऽऽह—एतदिति । १७ प्रत्यक्षमुपलभ्यत । १८ एतेन—भूतत्रयरूपाणा कृष्णादीना सवितृमण्डलेऽसकीर्णतया प्रतीयमानत्वात् तस्य भूतत्रयसारत्वमिति भाव । १९ भूतत्रयरूपाणा स्वस्मिन् त्रिरष्टमादर्शकत्वात् । २० एषशब्देन मण्डलपरिग्रहे यद्धेतुवाक्य तत् ।

'ममूर्तत्वाद'स्थितमतोऽविरुध्यमानं केनचिद'मृतममरणधर्म्येतद्य'त्स्थितविपरीतं 'व्याप्य-परिच्छिन्नं 'यस्मादेतद'न्येभ्योऽप्रविभज्यमानविशेषमतस्त्यदिति 'परोक्षाभिधानार्हमेव पूर्ववत्। तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्य 'चतुष्टयविशेषणस्या"मूर्तस्यैष रसः। कोऽसौ। य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः "करणात्मको हिरण्यगर्भः प्राण इत्यभिधीयते। यः स एषोऽमूर्तस्य भूतद्वयस्य रसः पूर्ववत्सारिष्ठः। एत"त्पुरुषसारं ह्यामूर्तं भूतद्वयं "हैरण्यगर्भ"लिङ्गारम्भाय हि भूतद्वयाभिव्यक्तिर"व्याकृतात्तस्मा"त्तादर्थ्या त्तत्सारं.

अमूर्तत्वमुभयत्र हेतुत्वेन संबध्यते। अपरिच्छिन्नत्वमविरोधे हेतुः। अमर्तत्वादीनां मिथो विशेषणविशेष्यभावो हेतुहेतुमद्भावश्च यथेष्टं द्रष्टव्य इत्याह—पूर्ववदिति। पुनरुक्तिरपि "पूर्ववत्। य एष इत्यादि प्रतीकग्रहणं तस्य व्याख्यानं करणात्मक इत्यादि। यथा मूतत्रयस्य मण्डलं सारिष्ठमुक्तं तद्वदित्याह—पूर्ववदिति। सारिष्ठत्वमनूद्य हेतुमाह—एतदिति। तादर्थ्याद्भूतद्वयस्य भूतत्रयोपसर्जनस्य "स्वयंप्रधानस्य हिरण्यगर्भारम्भार्थत्वादिति यावत्। भूतद्वयं "भूतत्रयोपसर्जनमिति शेषः। "हेतुमक्तार्थं व्याचष्टे—

के कारण वे अस्थित हैं, इसका किसी से विरोध न होने के कारण यह अमृत यानी अविनश्वरधर्मा है। "एतद्यत्" अर्थात् परिच्छिन्न विशेषण होने से स्थित है और इसके विपरीत अपरिच्छिन्न होने से व्यापी है क्योंकि भूतद्वय पृथिव्यादि अन्य से अविभक्त विशेष है, इसलिए यह "त्यत" है ('तत्' शब्दार्थ मे ही 'त्यत्' शब्द है) "त्यत्" इस शब्द मे परोक्षार्थाभिधान की ही योग्यता है—इत्यादि व्याख्या पूर्व के समान समझनी चाहिये। उस इस अमूर्त का, इस अमृत का, इस चल का, इस त्यत् का यानी इन चारो विशेषणो वाले भूतद्वय अमूर्त का यह सार है। वह कौन सा है? "य एष एतस्मिन् मण्डले" जो इस अन्तरिक्षमण्डल मे समष्टि अन्त करणस्वरूप पुरुष हिरण्यगर्भ प्राण कहा जाता है, वही इस अमूर्त भूतद्वय का रस अर्थात पूर्वमन्त्रोक्त सारतम भाग है। अमूर्त भूतद्वय इस पुरुषरूप सार वाले है क्योंकि हिरण्यगर्भ लिङ्गात्मा के आरम्भ के लिए ही अव्याकृत (कारणादि ईश्वर)रूप से इन दोनो भूतो का अभिव्यक्ति होती है। इसलिए भूतद्वय उसके प्रयोजनभूत होने से उस पुरुषरूप सार

---

१. निरशत्वात्। २ अपरिच्छिन्नमित्यर्थ.। ३ तात्पर्यमभिधायाक्षरार्थमाहामृतमित्यादिना। ४. परिच्छिन्नविपरीतमिति यावत्। ५. व्यापीति च्छेद. (अपरिच्छिन्नत्वात्)। ६. भूतद्वयम्। ७. अन्येभ्य पृथिव्यादिभ्योऽप्रविभज्यमानो व्यावृत्तत्वेनाप्रत्यायितो विशेषोऽसाधारणधर्मो यस्य वाय्वादेस्ततथा पृथिव्यादीना मण्डलमिव वाय्वाकाशयोर्विशेषाभिव्यञ्जककार्याभावादिति भावः। तत्कार्यं हि करणात्मा स च न प्रत्यक्षो मण्डलान्तर्गतः। ८. तच्छब्दार्थस्त्यच्छब्द.। ९. बहुव्रीहि.। १०. भूतद्वयस्य। ११. समष्टघन्त.करणस्वरूपो नायमपि चेतन इति ध्येयम्। १२. बहुव्रीहिः। १३. हेतुमुपपादयति—हैरण्येति। १४. लिङ्गात्मेत्यर्थः। १५. कारणादीश्वरात्। १६. तादर्थ्यादिति—मण्डलाधिष्ठातृपुरुषे(करणात्मनि) अमूर्तामृतयत्त्यदा चतुर्णामन्वयोऽपरो हेतुर्द्रष्टव्य.। १७. बहुव्रीहि। १८. पूर्ववदिति—विशेषणचतुष्टयवतो भूतद्वयस्य प्रागुक्तस्य पुनरुक्ति किमिति कृतेत्युक्त मण्डलपुरुषस्य चतुर्विधविशेषणकभूतद्वयकार्यत्व नैकैककार्यतेति अतस्तु पुनरुक्तिरधिकोक्तरधिकार्थत्वादित्यर्थः। १९. स्वय प्रधान यत्र समुदाये। २०. हिरण्यगर्भस्यापि पाञ्चभौतिकत्वादिति भावः। २१. हेतुमिति—एष लिङ्गात्मा रसो भूतद्वयस्येत्यत्र त्यस्य हीत्यादि हेतुवाक्यमित्यर्थ.।

भूतद्वयम् । [1]त्यस्य ह्येष रसो यस्माद्यो मण्डलस्थः पुरुषो [2]मण्डलवन्न गृह्यते सारश्च भूतद्वयस्य । तस्मादस्ति मण्डलस्थस्य पुरुषस्य भूतद्वयस्य च [3]साधर्म्यम् । [4]तस्माद्युक्तं प्रसिद्धवद्धेतूपादानं त्यस्य ह्येष रस इति ।

॥रसः [5]कारणं हिरण्यगर्भविज्ञानात्मा चेतन इति केचित् । तत्र च किल हिरण्य-

---

त्यस्य हीति । पुरुषशब्दादुपरिष्टात्तच्छब्दो द्रष्टव्यः । अमूर्तत्वादिविशेषणचतुष्टयवैशिष्ट्यं साधर्म्यम् । [6]तत्फलमाह—तस्मादिति ।

[7]स्वमतमुक्त्वा भर्तृप्रपञ्चमतमाह—रस इति । त्यस्य हीत्यादौ रसशब्देन भूतद्वयकारणमुक्तं न च तच्चेतनादन्यत् । न च जीवः । [8]तथाऽसामर्थ्यात् । नापि परः कौटस्थ्यात् । [9]तस्माच्चेतनः सूत्रक्षेत्रज्ञ[10]स्तथेत्यर्थः । सोऽपि कथं भूतद्वयकारणमत आह—तत्रेति । परकीयपक्षः सप्तम्यर्थः । तत्कर्मण[11]स्तत्रा-

---

वाले ही हैं । त्यदादिविशेषण से विशिष्ट भूतद्वय का यह सार है क्योंकि यह जो मण्डलस्थ पुरुष है, इसकी मण्डल के समान प्रत्यक्षप्रतीति नहीं होती । इसलिए यह भूतद्वय का सार है । अतः मण्डलस्थ पुरुष और भूतद्वय का साधर्म्य है । यथोक्त साधर्म्य होने के कारण "यह त्यत् का ही सार है" इस प्रकार प्रसिद्ध के समान हेतुसम्पादन करना उचित ही है ।

भर्तृप्रपञ्च का मत है कि हिरण्यगर्भाख्य विज्ञानात्मा (क्षेत्रज्ञ) चेतन है; वही रस होने से

---

१. त्यदादिविशेषणविशिष्टभूतद्वयस्य । २. प्रत्यक्ष नोपलभ्यते । ३. यथा मण्डलस्य भूतत्रयसारत्वे सतो हीति चतुर्णामन्वयो हेतुरुक्त सतश्चानुक्तोपलक्षणार्थं ग्रहणम् । तथा तत्स्थपुरुषस्य भूतद्वयसारत्वे चतुष्टयान्वयो हेत्वर्थः । त्यस्य च ग्रहणमनुक्तोपलक्षणार्थमित्यभिप्रेत्याह—साधर्म्यमिति । ४ यथोक्तसाधर्म्यात् । ५. त्यस्य हीति वाक्ये रसशब्देन हिरण्यगर्भाख्य क्षेत्रज्ञश्चेतन उच्यते । तत्र हेतुमाह—कारणमिति । कारणत्वादिति हेतुगर्भविशेषणम् । ६. साधर्म्यफलम् । ७ अमूर्तवाक्य इति शेष. । ८ कारणम् । ९. जीवपरयो-र्भूतद्वयकारणत्वासंभवात् । १०. कारणम् । ११ वाय्वन्तरिक्षयो कारणत्वम् ।

॥रसः कारणमित्यादि रस कारणमुच्यत इतीयन्तभाष्यवार्तिकानि प्रदर्श्यन्ते । "हिरण्यगर्भक्षेत्रज्ञ रस केचित्प्रचक्षते । कारण रसशब्देन यस्मादत्राभिधीयते ॥ यस्माद्धिरण्यगर्भस्य कर्म वाय्वन्तरिक्षयो । अयोर्वत्र-व्यक्तयोस्तस्माद्रसः क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ भूतद्वयरसो ज्ञेयो मण्डले चेतन पुमान् । त्यस्य ह्येष रस इति तत्सिद्धौ कारणाभिधा ॥ न्यायोक्तेरेव ससिद्धेः प्रतिज्ञातस्य वस्तुन । क्षेत्रज्ञ कारण कस्मादित्यत्र न्याय उच्यते ॥ एतस्मिन्मण्डले योऽन्तर्विज्ञानात्मत्वमागत । अविद्याभावनाकर्महेतुतो नान्यकारणात् ॥ तस्य यत्कर्मरूप तद्वियद्वायुप्रयोजकम् । खस्थस्य कर्मणस्तस्य मरुत्प्रस्पन्दरूपिणः ॥ वाय्वाकाशप्रनाड्यैव तेजस संभवस्तत । जज्ञाते तेजसो भूते जल च पृथिवी तथा ॥ कर्मणा पौरुषेणैव रसभूतेन सभव । वाय्वन्तरिक्षयोर्यस्माद्रसस्तेन पुमास्तयोः ॥ मेधया तपसेत्यादि तथाच प्रागुदाहृतम् । न्यायेनानेन पुरुषो रसशब्देन भण्यते ॥ त्यस्य ह्येष इति ह्युक्त्या न्यायः श्रुत्याऽप्युच्यते" ॥४६-५८॥ स्वमतमुक्त्वा भर्तृप्रपञ्चमतमाह—हिरण्यगर्भेति । तत्र हेतुमाह—कारणमिति । त्यस्य हीत्यादौ रसशब्देन भूतद्वयकारणमुक्त न च तच्चेतनादन्यन्न च जीवस्तथाऽसामर्थ्यान्नापि परः कौटस्थ्यात्तस्माच्चेतन. सूत्रक्षेत्रज्ञोऽत्र रस इत्यर्थ ॥ सोऽपि कथ भूतद्वयकारणमत आह—यस्मादिति ॥ स स्वकर्मद्वारा कारणमस्यूलस्य वाय्वादेरित्युक्त समर्थयितु तस्यैतस्यामूर्तस्येत्यादिवाक्यार्थं सङ्क्षिप्याऽऽह—भूतेति । हेतुवाक्यमादत्ते—त्यस्येति । तस्यार्थं सङ्क्षिपति—तत्सिद्धाविति । मण्डलपुरुषस्य भूतद्वयकारणत्वप्रतिपत्तावित्ति

गर्भविज्ञानात्मनः कर्म वाय्वन्तरिक्षयोः 'प्रयोक्तृ 'तत्कर्म वाय्वन्तरिक्षाधारं सदन्येषां भूतानां प्रयोक्तृ भवति। 'तेन स्वकर्मणा वाय्वन्तरिक्षयोः 'प्रयोक्तेति' तयो रसः कारण-मुच्यत इति।

तन्न, मूर्तरसेनातुल्यत्वात्। मूर्तस्य तु भूतत्रयस्य रसो मूर्तमेव मण्डलं दृष्टं भूतत्रय समानजातीयं न; चेतनस्तथाऽमूर्तयोरपि भूतयोस्तत्समानजातीयेनैवामूर्तरसेन

साधारण्यम सप्रतिपन्नमित्यभिप्रेत्य- किलेत्युक्तम्। यथाऽऽहुः'—यो ह्येतस्मिन्मण्डले विज्ञानात्मैष खल्वविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञा"परिष्कृतो "विज्ञानात्मत्वमापद्यते "तदेतत्कर्मरूपं" विज्ञानात्मनस्तद्वाय्वन्तरिक्ष-"प्रयोक्तृ भवतीति। ननु हिरण्यगर्भदेहस्य पञ्चभूतात्मकत्वाद् तद्वयो"त्पत्तावपीतरभूतोत्पत्तिं विना कुतोऽस्य भोग सिध्यत्यत आह—तत्कर्मेति। वाय्वन्तरिक्षाधारं तद्रूपपरिणतमिति यावत्। वाय्वन्त-रिक्षयोर्भूतत्रयोपसर्जनयोरिति शेषः। प्रयोक्ता हिरण्यगर्भविज्ञानात्मा।

निराकरोति—तन्नेति। कथं मूर्तरसेन सह "यथोक्तामूर्तरसस्यातुल्यतेत्याशङ्क्याऽऽह—मूर्तस्येति। अमूर्तश्चासौ रसश्चेत्यमूर्तरसस्तेनेति यावत्। अमूर्तरसस्य चेतनत्वे तु रसयोर्वैजात्यं स्यादिति भावः।

कारण है। उस अवस्था मे हिरण्यगर्भ क्षेत्रज्ञ का कर्म वायु और अन्तरिक्ष का प्रयोजक है, उस (सूत्र क्षेत्रज्ञ) का कर्म वायु और अन्तरिक्षरूप आधार वाला होकर अन्य भूतो का प्रयोजक होता है; उस वायु-अन्तरिक्षात्मक परिणतिरूप से अपने कर्मद्वारा वायु और अन्तरिक्ष का जनक है, इसलिए (प्रयोजक होने के कारण) रसहेतुक कारण कहा जाता है।

ऐसा कहना ठीक नही है क्योंकि मूर्त के सार से इसकी समानता नही है। मूर्त भूतत्रय का

१ प्रयोजकम्। २ सूत्रक्षेत्रज्ञस्य कर्म। ३ वाय्वन्तरिक्षात्मना परिणतम्। ४ जनक। ५ प्रयोक्तृत्वात्। ६ अचेतनत्वेन। ७ तत्समानेति—मूर्तद्वयसमानजातीयनाचेतनेनेनं अन्तःकरणेनैवेत्यर्थः। ८. सिद्धान्तविरुद्ध तस्यैवाभिमतम्। ९ भर्तृप्रपञ्चा। १० सम्मिलित समवाये मुट्। ११. जीवत्वम्। १२ यदर्थं तत्। १३ कर्मस्वरूपम्। १४ जनकम्। १५ कर्मद्वारा हिरण्यगर्भादुत्पत्तावित्यर्थ। १६ मदुक्तक्षत्रज्ञस्य।

यावत्॥ श्रौतेऽर्थे हेतुर्नेत्याशङ्क्याऽऽह—न्यायेति॥ न्यायमेव दर्शयन् यो ह्येतस्मिन्मण्डले विज्ञानात्मेति भर्तृप्रपञ्चभाष्यायमाह—एतस्मिन्निति। एष खल्वविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञापरिष्कृतो विज्ञानात्मत्वमापद्यत इत्येत-दस्यानुवञ्जीवत्वप्रापकमाह—अविद्येति। सूत्रक्षेत्रज्ञस्य भूतद्वयकारणत्वं ब्रुवाणस्तदेव तत्कर्मरूपं विज्ञानात्मन-स्तद्वाय्वन्तरिक्षप्रयोक्तृ भवतीत्यस्यार्थमाह—तस्येति। तद्देहस्य पञ्चभूतात्मकत्वाद्भूतद्वयोरुत्पत्तावपीतरमूर्तोत्पत्तिं विना न तस्य भोग इत्याशङ्क्यान्तरिक्षाधारस्य वायुपरिस्पन्दस्य कर्मणो वाय्वन्तरिक्षद्वारेणैव तेजस सम्भव इत्यस्यार्थमाह—तस्थस्येति। तदाकाशमुत्पाद्य तद्रूपेण स्थित तस्य मरुत्कार्यं तन स्पन्दात्मना स्थितस्य द्वयद्वारा तेज एव कर्मणस्तयोस्तेजसश्च जन्मेत्यर्थ। तैजसे इतरे भूते इत्यस्यार्थमाह—जज्ञाते इति॥ तदस्मात्पौरुषेण कर्मणा रसभूतेनाऽऽविष्टयोर्वाय्वन्तरिक्षयो प्रवृत्तिरित्येतद्व्याकुर्वन्फलितमाह—कर्मणेति। मेधया तपसाऽजन-यत्पितेति ह्युक्तमित्यस्यार्थमाह—मेधयेति। नैयायिकमर्थं निगमयति—न्यायेनेति। श्रौतीं न्यायोक्तिमुपसंहरति—त्यस्येति। श्रुतस्तत्त्न्यायसाधनसामर्थ्यद्योतनार्थो हिशब्दः।

युक्तं भवितुम्[1] । वाक्यप्रवृत्तेरतुल्यत्वात् । यथा हि [2]मूर्तामूर्तं चतुष्टयधर्मवती [3]विभज्येते तथा [4]रसरसवतोरपि मूर्तामूर्तयोरतुल्येनैव न्यायेन युक्तो विभागः । न चार्धवैशसम् । [5]मूर्तरसेऽपि मण्डलोपाधिश्चेतनो विवक्ष्यत इति चेत् । अत्यल्पमिदमुच्यते । [6]सर्वत्रैव तु मूर्तामूर्तयोर्ब्रह्मरूपेण विवक्षितत्वात् । पुरुषशब्दोऽचेतनेऽनुपपन्न इति चेत् । न । [7]पक्ष-

अस्तु तयोर्वैजात्य नेत्याह—यथा हीति । मूर्तं मर्त्यं स्थित सदिति [8]मूर्तस्य धर्मचतुष्टयममूर्तममृत व्यापि त्यदित्य[9]मूर्तस्य विभजनमसंकीर्णत्वेन प्रदर्शनं यथा [10]रसवतोर्मूर्तामूर्तयोस्तुल्यत्वमुक्त तथा [11]रसयोरपि तयो[12]स्तुल्येनैव प्रकारेण प्रदर्शनमुचितं नत्वमूर्तरसश्चेतनो मूर्तरसस्त्वचेतन इति युक्तो विभागोऽर्धजरतीयस्याप्रामाणिकत्वादित्याह—तथेति । अर्धवैशसं परिहर्तुं शङ्कते—मूर्तरसेऽपीति । अमूर्तरसवन्मूर्तरसशब्देनापि चेतनस्यैव ब्रह्मणो [13]मण्डलापन्नस्य ग्रहणमित्येतद्दूषयति—अत्यल्पमिति । मण्डलस्य चेतनकार्यतया चेतनत्वे सर्वस्य तत्कार्यतया तन्मात्रत्वाद्रसयोश्चेतनतेति विशेषणानर्थक्यमित्यर्थः । [14]मण्डलाधारस्य चेतनत्वं पुरुषशब्दश्रुतिवशादेष्टव्यमिति शङ्कते—पुरुषशब्द इति । अनुपपत्ति

सार तो मूर्त मण्डल ही प्रत्यक्ष है । भूतत्रय की की समानजाति वाले अचेतन का सार चेतन नही हो हो सकता । इसी प्रकार अमूर्त भूतो का भूतद्वय के समानजातीय अचेतन अन्त करण से ही अमूर्त रस होना चाहिए क्योकि मूर्त और अमूर्त प्रतिपादक श्रुतिवाक्यो की प्रवृत्ति मे एकरूपता है । जिस प्रकार (भूतत्रय और भूतद्वयरूप) मूर्तामूर्त का चार धर्मो से युक्त असकीर्णतया प्रदर्शन किया जाता है, उसी पद्धति से मूर्तामूर्त रस का भी विभाग करना उचित है आधा नाश करना उचित नही है । (पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) यदि मूर्तमण्डल रस मे भी मण्डलोपाधिक चेतन की विवक्षा ही मानें तो ? (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) तुम्हारी यह बात बहुत थोडे महत्व की है । वेदान्त मे सर्वत्र ही भिन्नक्रम मूर्त और अमूर्त भूतमात्र ब्रह्मरूप से विवक्षित है । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) पुरुषशब्द का अचेतन

१ मूर्तामूर्तवाक्ययो प्रवृत्तरेकरूपत्वात् । २ भूतत्रयभूतद्वयरूपे । ३ असकीर्णतया प्रदर्श्येते । ४ अत्र रसयोरिति पाठ उचित । ५ मण्डलेऽपि । ६ वेदान्तेषु एव भिन्नक्रम । ७ पक्षपुच्छादिविशिष्टस्यैवेति —एवकारोऽप्यर्थ । अचेतनेष्वपि पक्षाद्यवयववत्सु कोशेषु पुरुषशब्दप्रयोगदर्शनादिति यावत् । यत्तु सूत्रक्षत्रशस्य स्वकर्मद्वारा कारणतेति तत्राह्नवार्तिके—'न ह्यात्मव्यतिरेकेण किंचित्कारणमिष्यते । तेन तेन स्वरूपेण प्रत्यगात्मैव कारणम् ॥ मण्डलात्मनि चाऽऽधार लिङ्गात्मैवावसीयताम् । करणस्यैव तत्स्यत्वाद्विज्ञानात्मा हि लिङ्गग ॥ अज्ञात पुरुषो यस्मात्कार्यकारणशब्दभाक । अज्ञातमिथ्याविज्ञानरूपत्वान्न तु तत्त्वत " ॥६३-६५॥ इति । परस्यैवाज्ञातस्य कारणताया वैदिकत्वादित्यर्थ । आकाशाद्वायुरित्यादावाकाशादेरपि कारणत्व श्रुतमित्याशङ्क्याऽऽह—तेनेति ॥ यत्तु पुरुषो मण्डलाधारो विज्ञानात्मेति तत्राऽऽह—मण्डलेति । तत्र हेतुमाह—करणस्येति । यथा गोलकेषु करणात्मैवावतिष्ठत तथा मण्डलेऽपि तस्यैवावस्थितिरित्यर्थ । तत्क्षत्रशस्तर्हि कुत्रास्ति तत्राऽऽह—विज्ञानेति । मण्डलस्य लिङ्गोपाधित्ववत्तस्यापि विज्ञानात्मोपाधित्व प्रामाणिकमिति वक्तु हिशब्द ॥ परस्यापि कूटस्थत्वान्न कारणतेति तत्राहाज्ञात इति । अज्ञातरूपत्व कारणत्वे तच्छब्दभाक्त्वे मिथ्याज्ञानरूपत्व च कार्यशब्दभाक्त्वे हेतुरिति भेद । तस्मात्परस्मिन्कार्यादिभावस्याऽऽरोपान्न कौटस्थ्यादिदौस्थ्यमिति शेष ॥ ८ भूतत्रयस्येत्यर्थ । ९ मूर्तद्वयस्येत्यर्थ । १० भूतत्रयभूतद्वयरूपयोश्चतुष्टयधर्मवत्वेन तुल्यम् । ११ व्यधिकरणषष्ठ्यौ । १२ अचेतनत्वेन तुल्यधर्मणैव । १३ मण्डलाभावापन्नस्य । १४ करणात्मन ।

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः ॥ ४ ॥

अब अध्याय मे मूर्तामूर्त का निरूपण किया जाता है। जो प्राण से भिन्न है तथा देहान्तर्गत आकाश से भिन्न है, यही शरीर मे मूर्त है, यही मर्त्य है, यही स्थावर है और यही सत् है। जो यह नेत्र है, यही इस मूर्त का, इस मर्त्य का, इस स्थित का एव प्रतीयमान सत् का सारतम रस है, यही सत् का सारतम रस है ॥ ४ ॥

पुच्छादिविशिष्टस्यैव 'लिङ्गस्य पुरुषशब्ददर्शनात् । न वा इत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजाः प्रजनयितुमिमान्सप्त पुरुषानेकं पुरुषं करवामेति त एतान्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्नित्या-दावन्नरसमयादिषु च श्रुत्यन्तरे पुरुषशब्दप्रयोगात्' । 'इत्यधिदैवतमित्युक्तोपसंहारोऽध्या-त्मविभागोक्त्यर्थः ॥३॥

अथाधुनाऽध्यात्मं मूर्तामूर्तयोर्विभाग उच्यते । किं 'तन्मूर्तमिदमेव । किंचेदं

परिहरति—नेत्यादिना । तदेव व्याकरोति—न वा इति । इत्थं विभक्ताः सन्तो नैव शक्ष्यामो 'व्यवहार प्रजनयितुमित्यालोच्य त्वक्चक्षुश्रोत्रजिह्वाघ्राणवाङ्मनोरूपानिमान्सप्त पुरुषानेकं पुरुषं सहत लिङ्गं करवामेति च निश्चित्यामी प्राणाः सप्त पुरुषानुक्तानेकं पुरुषं लिङ्गात्मानं कृतवन्त इति श्रुत्यर्थं । आदिशब्देन 'लौकिकमपि दर्शन सगृह्यते । श्रुत्यन्तर तैत्तिरीयकम् । पुरुषशब्दप्रयोगः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय इत्यादि. । परकीयं व्याख्यानं प्रत्याख्याय प्रकृत श्रुतिव्याख्यानम'नुवर्तयति—इत्यधिदैवतमिति ॥ ३ ॥

"चक्षुषो रसत्वं प्रतिज्ञापूर्वकं प्रकटयति—आध्यात्मिकस्येत्यादिना । चक्षुषः सारत्वे शरीरा-

---

मे प्रयोग तो अनुचित है। (सिद्धान्ती उत्तर देता है—) ऐसा कहना भी ठीक नही है। पुरुषशब्द से पक्ष और पुच्छविशिष्ट लिङ्गशरीर का ही बोध होता है, ऐसा देखा गया है। "हम इस प्रकार पृथक् पृथक रहकर सृष्टि की उत्पत्ति नही कर सकते, अत इन श्रोत्रादि सात पुरुषो को एक कर द, ऐसा विचार कर उसने सात पुरुषो को एक पुरुष कर दिया" इत्यादि अन्यत्र भी श्रुतिवाक्यो मे भी पुरुषशब्द अन्न-रसमयादि अर्थों का बोधक है। "यह अधिदैवत (देवताओ मे) मूर्तामूर्त विभाग है" ऐसा कह कर जो मन्त्र मे उपसहार किया है, वह अध्यात्मविभाग की उक्ति प्रतिपादन करने के लिए है ॥३॥

---

१ शरीरस्य। २ न मण्डलाधारस्य चेतनत्वमपितु करणात्मत्वमेवेति शेष । ३ देवेषु मूर्तामूर्तयोर्विभाग समाप्त इत्यर्थ । ४. अध्यात्मविभागोक्त्यवधिज्ञप्त्यर्थं । ५ देहे । ६ अध्यात्मम् । ७ स्वस्वविषयग्रहरूप व्यवहारमिति यावत् । ८ लौकिकमपि दर्शनमिति—भेरी स्त्री दुन्दुभि पुमानित्यादावप्यतात्मनि शब्दादौ पुरुषशब्दप्रयोगदर्शनादिति। ९ अनुसरति। १० गौनकस्य।

यदन्यत्प्राणाच्च 'वायोर्यश्चायमन्तरश्यन्तरे आत्मन्ना'तस्मन्याकाशः' खं शरीरस्थश्च यः प्राण एतद्द्वयं वर्जयित्वा यदन्यच्छरीरारम्भकं भूतत्रयमेतन्मर्त्यमित्यादि समानमन्यत्पूर्वेण। एतस्य सतो ह्येष रसो यच्चक्षुरिति। आध्यात्मिकस्य शरीरारम्भकस्य 'कार्यस्यैष' रसः सारस्तेन हि सारेण 'सारवदिदं शरीरं समस्तं यथा'ऽधिदैवतमादित्यमण्डलेन। प्राथम्याच्च। चक्षुषी एव प्रथमे संभवतः संभवत इति। तेजो रसो निरवर्तताग्निरिति लिङ्गात्। तैजसं हि "चक्षुः। एतत्सारमाध्यात्मिकं भूतत्रयम्। सतो ह्येष रस "इति

वयवेषु प्राथम्यं हेत्वन्तरमाह—प्राथम्याच्चेति। "तत्र प्रमाणमाह—चक्षुषी एवेति। संभवतो "जायमानस्य जन्तोश्चक्षुषी एव प्रथमे "प्रधाने संभवतो जायेते। शम्भद्वं रेतसः सिक्तस्य चक्षुषी एव प्रथमे संभवत इति हि ब्राह्मणमित्यर्थः। चक्षुषः सारत्वे हेत्वन्तरमाह—तेज इति। "शरीरमात्रस्याविशेषेण निष्पादकं "तत्र सर्वत्र संनिहितमपि "तेजो "विशेषतश्चक्षुषि स्थितम्। "आदित्यश्चक्षु"र्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्" इति श्रुतेः। "अतस्तेजःशब्दपर्यायरसशब्दस्य चक्षुषि प्रवृत्तिरविरुद्धेति भावः। इतश्च तेजःशब्दपर्यायो रसशब्दश्चक्षुषि संभवतीत्याह—तैजस हीति। "प्रतिज्ञार्थमुपसंहरति—एतत्सारमिति। "हेतुमवतार्य तस्यार्थमाह—सतो हीति। चक्षुषो मूर्तत्वान्मूर्तभूतत्रयकार्यत्वं युक्तं

"अथ" यानी अब अध्यात्म (देह) मे मूर्तामूर्त विभाग का प्रतिपादन किया जाता है। वह अध्यात्म क्या है? "इदमेव मूर्तम्" यानी यह मूर्त ही है। यह क्या है? जो शरीर मे रहने वाली उच्छ्वासात्मक प्राणवायु से भिन्न है, "यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः" अर्थात् जो इस शरीर के भीतर आकाश है, उससे भिन्न आकाश है, शरीरस्थ जो प्राण है; इन दोनों को छोड़ कर जो शरीर के आरम्भक तीन भूत है, वे ही मर्त्य है। अन्य व्याख्यान पूर्वमन्त्र के समान है। यह जो चक्षुगोलक है; वह सत् का ही सार है। आध्यात्मिक शरीरारम्भक भूतत्रय कार्य का यह चक्षुरूप रस ही सार है। उसी सार से यह सारा शरीर सौन्दर्यशाली है, जिस प्रकार अधिदैवत शरीर आदित्यमण्डल से सौन्दर्यशाली है। प्रथम होने के कारण भी चक्षु ही सार है। उत्पन्न होने वाले जीव के पहले नेत्र ही उत्पन्न होते हैं। "प्रजापतितेजरूप रस वाला अग्नि हुआ" यह इसमे प्रमाण भी है। चक्षुगोलक भी तैजस ही है। चक्षु आध्यात्मिक भूतत्रय सारवान् ही है। "सतो ह्येष रस." यह कथन भूतत्रय सत् का चक्षु के

१. शरीरस्थादुच्छ्वासात्मकात्। २. शरीरे। ३. तदन्यदिति शेष.। ४. गोलकम्। ५. भूतत्रयस्य। ६. चक्षूरूपः। ७. सौन्दर्यशालीति यावत्। ८. शरीरम्। ९ तेजो रस इति—प्रजापतेस्तेजो रसः तेज एव रसोऽग्निः विराडभिमानी प्रजापतिश्चतुर्मुखब्रह्मशब्दवाच्य. प्रथमशरीरी निरवर्तत उत्पन्न इत्यर्थ.। अत्र हि तेजो रसयो. पर्यायत्व श्रूयते। चक्षुषश्च तैजसत्व प्रसिद्धमतस्तेजः पर्यायस्य रसशब्दस्य चक्षुषि प्रवृत्तिरिति भावः। १०. चक्षुः तद्गोलकं तैजस तेजोरूपस्य चक्षुरिन्द्रियस्याधिकरण हीति प्रसिद्धम्। ११. इति वाक्यभागः चक्षुषो मूर्तत्रयसारत्वे यो हेतुस्तदर्थ इत्यर्थः। १२. प्राथम्ये ब्राह्मणवाक्यात्मकम्। १३. गर्भाशये उत्पद्यमानस्य। १४. अवयवान्तरापेक्षया पूर्वमिति यावत्। १५. सर्वावयवस्य। १६. स्वनिष्पादितेषु शरीरेषु। १७. शरीरारम्भकभूतात्मकम्। १८. प्रकाशरूपेण। १९. तत्तादात्म्यापन्न इति यावत्। २०. तेजसस्तत्र विशेषतोऽवस्थानात्। २१. आध्यात्मिकचक्षुषो भूतत्रयसारत्वरूपम्। २२. सत एव इत्येपशब्देन चक्षुषः परिग्रहे यद्धेतुवाक्यं तदवतार्य।

**अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमे-
तद्यदेतत्त्यत्तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य
त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येष
रसः ॥ ५ ॥**

अब अमूर्त का वर्णन किया जाता है। जो यह प्राण और शरीर के भीतर आकाश है यह अमूर्त है, यह अमृत, है यह अपरिच्छिन्न है और यह त्यत् है। उस अमूर्त का, इस अमृत का, इस यत् का एव इस त्यत् का यही सारतम रस है। जो इस दक्षिणनेत्र मे पुरुष है, यह त्यत् का ही सारतम रस है ॥५॥

मूर्तत्रयसारत्वे [1]हेत्वर्थः ॥४॥

[2]अथाधुनाऽमूर्तमुच्यते। यत्परिशेषितं भूतद्वयं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमूर्तम्। अन्यत्पूर्ववत्। एतस्य त्यस्यैष रसः सारो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषो दक्षिणेऽक्ष-न्निति विशेषग्रहणं शास्त्रप्रत्यक्षत्वात्। [3]लिङ्गस्य हि दक्षिणेऽक्षिण विशेषतोऽधिष्ठातृत्वं

---

[4]साधर्म्याद्देहावयवेषु प्राधान्याच्च तस्याऽऽध्यात्मिकभूतत्रयसारत्वसिद्धिरित्यर्थः ॥ ४ ॥

कुतो विशेषोक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—दक्षिण इति। [5]शास्त्रस्य [6]तेन वा दक्षिणेऽक्षणि विशेषस्य प्रत्यक्षत्वादित्यर्थ.। [7]द्वितीय[8]व्याख्यानमाश्रित्य हेत्वर्थं स्फुटयति—लिङ्गस्येति। [9]हेतुमनूद्य तदर्थं

मूतत्व और सारत्व मे हेतुक है ॥४॥

(आध्यात्मिक कार्यात्मिक ब्रह्म के रूप को निरूपण कर) अब अमूर्त का व्याख्यान किया जाता है। अवशिष्ट भूतद्वय प्राण और जो शरीरान्तर्गत आकाश है, वे अमूर्त हैं। अन्य अर्थ तो पूर्वमन्त्र के समान ही समझ लेना चाहिए। इस 'त्यत्' का वह साररूप रस है, जो यह दक्षिण नेत्रवर्ती पुरुष है। मन्त्र मे "दक्षिणेऽक्षन्" यानी यह दक्षिण नेत्रवर्ती विशेषग्रहण वेद-उपवेद मे ईश्वर की अपरोक्षरूपता सिद्ध करने के लिए है। तदन्त पाती चक्षु-इन्द्रिय की विशेषरूप से दक्षिण नेत्र मे प्रतिष्ठा है, शास्त्र (और उसके उपदेश ईश्वर) का प्रत्यक्ष सर्वश्रुतिया द्वारा होना सिद्ध है। मन्त्र मे "त्यस्य ह्येष रस'

---

१ हेत्वर्थं इति—मूर्तत्वसारत्वे इति हेतुवाक्यस्यायद्वयमित्यर्थ। २ आध्यात्मकार्यात्मकस्य ब्रह्मणो रूप निरूप्य करणात्मकस्य तदाह—अथेति। आध्यात्मिक यत्कार्यं तद्ब्रह्मणो रूपमित्येतन्निरूपणानन्तर तादृश यत्करण तद्ब्रह्मणो रूपमित्येतदिदानी निरूप्यत इत्यथ। ३ तदन्त पातिचक्षुरिन्द्रियस्य। ४. चक्षुर्मूर्त-त्रययोर्मूर्तत्वादिना साधर्म्यात्। ५ शरीरान्त पाति। ६. शास्त्रस्य—वेदोपदेष्टुरीश्वरस्येत्यथ। ७ शास्त्रेण वेत्यर्थ.। ८. द्वितीयव्याख्यानमिति—शास्त्रेण प्रत्यक्षत्वादित्यतद्व्याख्यानमित्यर्थं। सर्वश्रुतिषु तथा प्रयोगदर्शनादित्यनेन हि यथोक्तद्वितीयव्याख्यानस्यैव समर्थनादिति भाव। ९ अवरोहणक्रमेण द्वितीय टीकोक्त विग्रह प्रथमोक्त षष्ठीविग्रहमिति यावत्। १०, हेतुवाक्यम्।

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् । यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाऽग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तꣳ सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति

उस इस लिङ्गशरीररूप पुरुष का वासनामय स्वरूप ऐसा है, जैसा हल्दी मे रंगा हुआ वस्त्र, सफेद ऊनी वस्त्र, जैसा बरसाती लाल रंग का कीडा, जैसे अग्निज्वाला, जैसा सफेद कमल और जैसी बिजली की चमक होती है। जो ऐसा जानता है, उसकी श्री विद्युत्चमक को भाँति एक साथ सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। अब उसके बाद 'नेति नेति' यह ब्रह्म का आदेश बतलाया जाता है। इस आदेश से बढकर

शास्त्रस्य प्रत्यक्षं सर्वश्रुतिषु तथा प्रयोगदर्शनात् । त्यस्य ह्येष रस इति पूर्ववद्विशेषतोऽग्रहणादमूर्तत्वसारत्वे हेत्वर्थः ॥५॥

ब्रह्मण उपाधिभूतयोर्मूर्तामूर्तयोः कार्यकरणविभागेनाध्यात्माधिदैवतयोर्विभागो व्याख्यातः सत्यशब्दवाच्ययोः । तथेदानीं तस्य हैतस्य पुरुषस्य करणात्मनो लिङ्गस्य

कथयति—त्यस्येति । यथा पूर्वत्र चक्षुषि मूर्तादिचतुष्टयदृष्ट्या तादृग्भूतत्रयसारतोक्ता तथाऽत्रापि लिङ्गात्मन्यमूर्तत्वादिचतुष्टयस्य विशेषेणाग्रहणादमूर्तत्वादिना साधर्म्यात्तथाविधभूतद्वयसारत्वं तस्य शरीरे प्राधान्याच्च तत्सारत्वसिद्धिरित्यर्थः ॥ ५ ॥

तस्य हेत्यादेर्वृत्तानुवादपूर्वकं संबन्धमाह—ब्रह्मण इति । विभागो विशेषः । तस्याधिदैवं प्रकृतस्यैतस्याध्यात्मं संनिहितस्यामूर्तरसभूतान्तःकरणस्यैव रागादिवासनेति वक्तुं तस्येत्यादि

यानी 'यह त्यत् का सार है' यह व्याख्यान पूर्वमन्त्र के समान विशेषरूप से ग्रहण न होने के कारण (भूतद्वय अमूर्त) अमूर्तत्व और सारत्व हेतुवाक्य के अर्थद्वयसम्पादन के लिए है ॥५॥

सत्यशब्द के वाच्य ब्रह्म के उपाधिभूत अध्यात्म और अधिदैवत मूर्तामूर्त का कार्यकरणरूप से विभाग का व्याख्यान किया गया। अब उस अन्तःकरणरूप इन्द्रियात्मा पुरुष के वासनामय मूर्तामूर्त स्वरूप की वासना नाना रंगों के संयोग से बने पट एवं दर्पणादि से परावृत प्रकाश के संयोग से चित्रित

---

१ एवं यथोक्तं हिरण्यगर्भोपवासनारूपमुपास्ते अस्योपासकस्य सकृद्विद्युत्तेव विद्योतनमिव श्री स्यान्निर्भवत्येवेत्यर्थः । २. तदुपदेष्टुरीश्वरस्य । ३ प्रयोगदर्शनादिति—किं च न तत्र केवल शास्त्रादेव विशेष किंतु विमतमतिशयवत् दक्षिणाङ्गत्वात् दक्षिणहस्तादिवदित्यनुमानाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । ४ हेत्वर्थ इति—अमूर्तसारत्वे इति हेतुवाक्यस्यार्थद्वयमित्यर्थः । ५ रूपेण । ६ अन्तःकरणस्येति यावत् । ७ अध्यात्मकार्यात्मकस्य ब्रह्मणो रूपनिरूपणपर्याये । ८. दर्शनात् । ९. आध्यात्मिककरणात्मकब्रह्मणो रूपनिरूपणपर्याये । १०. चक्षुरिन्द्रिये इति यावत् । ११. विशेषणाग्रहणादिति—धर्मिणोऽप्रत्यक्षत्वेनामूर्तत्वादिचतुष्टयस्य । तत्रानुमेयत्वादिति यावत् । १२. ग्रहणे सति मूर्तत्वं स्यादिति भाव । १३ विशेषणागृहीता मूर्तत्वादिविशेषणचतुष्टयविशिष्टेत्यर्थः । १४. लिङ्गात्मनः ।

'न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयꣳ सत्य-
स्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥६॥
इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयाध्याये
तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

दूसरा आदेश है ही नही। 'सत्य का सत्य' यह उस ब्रह्म का नाम है। प्राण ही सत्य हैं। यह ब्रह्म उनका भी सत्य है (क्योकि इस ब्रह्म का सत्यत्व ही निखिल प्रपच के साथ तादात्म्य होकर प्रतीत हो रहा है) ॥ ६ ॥

॥ इति तृतीय ब्राह्मणम् ॥

रूपं वक्ष्यामो वासनामयं मूर्तामूर्तवासनाविज्ञानमयसंयोग जनितं विचित्र 'पटभित्तिचित्रवन्मायेन्द्रजालमृगतृष्णिकोपमं ²सर्वव्यामोहास्पदम् । एतावन्मात्रमेवाऽऽत्मेति विज्ञानवादिनो वैनाशिका यत्र भ्रान्ताः । एतदेव वासनारूप पटरूपवदात्मनो द्रव्यस्य गुण इति

वाक्यमित्यर्थं । कथमिद रूप ¹लिङ्गस्य प्राप्तमिति तदाह—मूर्तेति । मूर्तामूर्तवासनाभि²विज्ञानमयसयोगेन च जनित बुद्धे रूपमिति यावत् । ³नेदमात्मनो रूप तस्यैकरसस्यानेकरूपत्वानुपपत्तेरिति⁴ विशिनष्टि—विचित्रमिति । ⁵वास्तवत्वशङ्का वारयति—मायेति । वैचित्र्यमनुसृत्यानेकोदाहरणम् । अन्त करणस्यैव रागादिवासनाश्चेत्कथं पुरुषस्तन्मयो दृश्यते तत्राऽऽह—सर्वेति । ⁶तदेव व्याकुर्वन्विज्ञानवादिना भ्रान्तिमाह—एतावन्मात्रमिति । बुद्धिमात्रमेवाहवृत्तिविशिष्ट ⁷स्वरसभङ्गुरं रागादिकलुषितमात्मा नान्य स्थायी क्षणिको वेति ⁸यत्र ते भ्रान्तास्तस्य रूप वक्ष्याम इति सबन्ध । तार्किकाणामपि बौद्धवद्भ्रान्तिमुद्भावयति—एतदेवेति । अन्त करणमेवा⁹हंधीग्राह्य रागादिधर्मक-

---

दीवार के समान विज्ञानमय को आश्रय करके फैलती है, इसलिए मायिक इन्द्रजाल एव मृगतृष्णा के समान सर्ववादियो केलिए आत्मा का भ्रमगोचरत्व सिद्ध होता है। विज्ञानवादी वैनाशिको को ऐसा भ्रम होता है कि (स्वाभावत नश्वर क्षणिक) इतना ही आत्मा है। (बौद्धो के समान) नैयायिक और वैशेषिक भी ऐसा कहते हैं कि पट के शुक्लत्व गुण के समान यह वासना ही 'आत्मा' नामक द्रव्य का गुण है। साख्यमतावलम्बियो की भ्रान्ति है कि यह गुणत्रययुक्त स्वतन्त्र एव प्रधान के आश्रय होने के कारण

नैयायिका वैशेषिकाश्च संप्रतिपन्नाः । इदमात्मार्थं त्रिगुणं स्वतन्त्रं प्रधानाश्रयं पुरुषार्थेन हेतुना प्रवर्तत इति सांख्याः ।

औपनिषदंमन्या अपि केचित्प्रक्रिया रचयन्ति—मूर्तामूर्तराशिरेकः परमात्मराशिरुत्तमस्ताभ्यामन्योऽयं मध्यमः किल तृतीयः कर्त्रा भोक्त्रा विज्ञानमयेनाजातशत्रुप्रतिबोधितेन सह विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञासमुदायः । प्रयोक्ता कर्मराशिः प्रयोज्यः पूर्वोक्तो मूर्तामूर्तभूतराशिः साधनं चेति ।

मात्मा' तस्य वासनामयं रूपं पटस्य शौक्ल्यवद्‍गुणः स च संसार इति यत्र तार्किका भ्रान्तास्तस्य रूपं वक्ष्याम इति पूर्ववत् । सांख्यानां भ्रान्तिमाह—इदमिति । कथमस्य त्रिगुणत्वादिकं सिध्यति तत्राऽऽह—प्रधानाश्रयमिति । केन प्रकारेणान्तःकरणमात्मार्थमिष्यते तत्राऽऽह—पुरुषार्थेनेति । नान्तःकरणमेवाऽऽत्मा किन्त्वन्यः सर्वगतः सर्वविक्रियाशून्यः स्वप्रकाशस्तस्य भोगापवर्गानुगुण्येन प्रधानात्मकमन्तःकरणं तत्सधर्मकं प्रवर्तत इति यत्र कापिला भ्राम्यन्ति तस्य रूपं वक्ष्याम इति संबन्धः ।

यत्र विचित्रा विपश्चितां भ्रान्तिस्तदन्तःकरणं तस्य हेत्यत्रोच्यते नाऽऽत्मेति स्वपक्षमुक्त्वा भर्तृप्रपञ्चपक्षमुत्थापयति—औपनिषदमन्या इति । कीदृशी प्रक्रियेत्युक्ते राशित्रयकल्पनां वदन्नादावधमं राशिं दर्शयति—मूर्तेति । उत्कृष्टराशिमाचष्टे—परमात्मेति । राश्यन्तरमाह—ताभ्यामिति । तान्येतानि त्रीणि वस्तूनि "मूर्तामूर्त"माहारजनादिरूपमात्मतत्त्वमिति परोक्तिमाश्रित्य राशित्रयकल्पनामुक्त्वा मध्यमाधमराश्योर्विशेषमाह—प्रयोक्तेति । उत्पादकत्वं प्रयोक्तृत्वम् । कर्मग्रहणं विद्यापूर्वप्रज्ञयोरुपलक्षणम् । साधनं ज्ञानकर्मकारणं कार्यकरणजातं तदपि प्रयोज्यमित्याह—साधनं चेति । इतिशब्दो राशित्रयकल्पनासमाप्त्यर्थः ।

उसके समान ही त्रिगुणात्मक अन्तःकरण पुरुषार्थ हेतु से आत्मा के लिए प्रवृत्त होता है ।

उसके अभिप्राय को न जानने वाले कोई-कोई औपनिषद (भर्तृप्रपञ्चादि) अपनी उत्प्रेक्षा से ही प्रमाण एवं युक्ति से रहित प्रक्रिया प्रस्तुत करते हैं । एक मूर्तामूर्त राशि है, दूसरी परमात्मसंज्ञक उत्तम राशि है, तीसरी दोनों से भिन्न मध्यम राशि है । (वह आदित्य कौन है ? इस पर कहते हैं—) अजातशत्रु द्वारा जगाये गये कर्ता, भोक्ता और विज्ञानमय से आत्मा के साथ जो विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा का समुदाय है । प्रयोजक कर्मराशि है और उत्पाद्य पूर्वोक्त मूर्तामूर्तभूतराशि एवं (ज्ञानकर्महेतुक कार्यकरणात्मक) साधन है ।

---

१. तथा च तदाश्रितत्वात्तद्वदेव त्रैगुण्यात्मकम् । २ तत्तात्पर्यानभिज्ञा इति भावः । ३. स्वोत्प्रेक्षावशादेव मानयुक्तिहीनां कामपि प्रक्रियाम् । ४. तत्कल्पनाया. श्रुतिबाह्यत्वद्योतनाय किलेति । ५. कोऽसावित्यत्राह —कर्त्रेति । ६. आत्मना । ७. उत्पाद्यः । ८. नैयायिकसमत आत्मा विचार्यमाणोऽन्तःकरणमेव निष्पद्यते सुखादितद्धर्मवत्तयाऽभ्युपगमात् । ९. भोगापवर्गानुगुण्येन हेतुना त्रिगुणं प्रधानमिष्टं तदात्मनैव स्थितमन्तःकरणं तत्सधर्मकमिति पाठान्तरम् । १०. प्रधानमिदयं. । ११. पृष्टे । १२. मूर्तामूर्तमिति पाठः । १३. मूर्तामूर्ते माहारजनादीनि च तेषां समाहारस्तद्रूपमित्यर्थः । तथा च मूर्तामूर्तरूपमेकं वस्तु, माहारजनादिरूपं द्वितीयमात्मतत्त्वं च तृतीयमित्येतानि त्रीणि वस्तूनीत्यर्थः ।

तत्र च तार्किकैः सह संधिं कुर्वन्ति । लिङ्गाश्रयश्चैष कर्मराशिरित्युक्त्वा पुनस्तत्त्रस्यन्तः सांख्यत्वभयात्कर्मराशिः पुष्पाश्रय इव गन्धः पुष्पवियोगेऽपि पुटतैलाश्रयो भवति तद्वल्लिङ्गवियोगेऽपि परमात्मैकदेशमाश्रयति । स परमात्मैकदेशः किलान्यत आगतेन गुणेन कर्मणा सगुणो भवति निर्गुणोऽपि स कर्ता भोक्ता बध्यते मुच्यते च विज्ञानात्मेति वैशेषिकचित्तमप्यनुसरन्ति । स च कर्मराशिर्भूतराशेरागन्तुकः स्वतो निर्गुण एव परमात्मैकदेशत्वात् । स्वत उत्थिताऽविद्याऽनागन्तुकाऽप्यूषरवदनात्मधर्म इत्यनया कल्पनया सांख्यचित्तमनुवर्तन्ते ।

परकीयकल्पनान्तरमाह—तत्रेति । राशित्रये कल्पिते सतीति यावत् । संधिकरणमेव स्फोरयति—लिङ्गाश्रयश्चेति । तत इत्युक्तिपरामर्शः । सांख्यत्वभयात्त्रस्यन्तो वैशेषिकचित्तमप्यनुसरन्तीति संबन्धः । कथं तच्चित्तानुसरणं तदुपपादयति—कर्मराशिरिति । कथं निर्गुणमात्मानं कर्मराशिराश्रयतीत्याशङ्क्याऽऽह—स परमात्मैकदेश इति । अन्यत इति कार्यकरणात्मकाद्भूतराशेरिति यावत् । यदा भूतराशिनिष्ठं कर्मादि तद्द्वाराऽऽत्मन्यागच्छति तदा स कर्तृत्वादिसंसारमनुभवतीत्याह—स कर्तेति । स्वतस्तस्य कर्मादिसंबन्धेन संसारित्वं स्यादिति चेन्नेत्याह—स चेति । निर्गुण एव विज्ञानात्मेति शेषः । सांख्यचित्तानुसारार्थमेव परेषां प्रक्रियान्तरमाह—स्वत इति । नैसर्गिक्यप्यविद्या परस्मादेवाभिव्यक्ता सती तदेकदेशं विकृत्य तस्मिन्नेवाऽन्तःकरणाख्ये तिष्ठतीति वदन्तोऽनात्मधर्मोऽविद्येत्युक्त्या सांख्यचित्तमप्यनुसरन्तीत्यर्थः । अविद्या परस्मादुत्पन्ना चेत्तमेवाऽऽश्रयेन्न तदेकदेशमित्याशङ्क्याऽऽह—ऊषरवदिति । यथा पृथिव्या जातोऽप्यूषरदेशस्तदेकदेशमाश्रयत्येवमविद्या परस्माज्जाताऽपि तदेकदेशमाश्रयिष्यतीत्यर्थः ।

इस पर वे, तर्क से अर्थनिर्णय कर लेने वाले सांख्यादिकों के साथ सन्धि कर लेते हैं। 'यह प्रयोजक कर्मराशि लिङ्गशरीर के आश्रित है' ऐसा कहकर फिर उसके सांख्यसिद्धान्त हो जाने के भय से वैशेषिकों के दर्शन का अनुसरण कर डरते हुए कहने लगते हैं कि जिस प्रकार पुष्प के आश्रय रहने वाला गन्ध पुष्प के न रहने पर भी दोने अथवा तेल के आश्रित रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण कर्मराशि लिङ्गशरीर के न रहने पर भी, परमात्मा के एकदेश जीव को आश्रय करती है। परमात्मा का एकदेश वह जीव अन्य स्थान से प्राप्त उस गुणरूप कर्म द्वारा निर्गुण होकर भी सगुण हो जाता है तथा वह विज्ञानात्मा कर्ता भोक्ता ही बन्धनयुक्त या मुक्त हो जाता है। वह कर्मराशि भूतराशि के सम्बन्ध से आत्मा में अध्यस्त स्वतः निर्गुण ही है क्योंकि वह परमात्मा का एकदेश है। "परमात्मा से प्रकटीभूता अविद्या अनादिसिद्धा होने पर भी ऊसर के समान अनात्मा का धर्म है" इस कल्पना से वह सांख्यदर्शनानुगामियों के मन की बात कह लेते हैं।

---

१ तर्कणार्थनिर्णायकैः सांख्यादिभिः । २ प्रयोजकः । ३ यथा । ४. पुट पत्रपात्रम् । ५ जीवम् । ६. परेषामेव समतनिदर्शित त्रिलोक्ति । ७. भूतराशिसम्बन्धेनात्मन्यध्यस्तः । ८. विनोक्तोपाधिसंबन्धम् । ९. परमात्मतः । १०. प्रकटीभूता । ११. अनादिसिद्धा । १२. भूतराश्याद्युपाधिं विना । १३. अनादिसिद्धा । १४. जीवम् । १५. वियोज्य । १६. विज्ञानप्रधाने जीवे । १७. कारणमतिक्रम्य कार्यस्यान्यत्रावृत्तेरिति दोषः । १८. ऊषरदोष इति पाठः ।

सर्वमेतत्तार्किकैः सह सामञ्जस्यकल्पनारमणीयत्वं पश्यन्ति नोपनिषत्सिद्धान्तं सर्वन्यायविरोधं च पश्यन्ति । कथम् । [1]उक्ता एव तावत्सावयवत्वे परमात्मनः संसारित्वसव्रणत्व[2]कर्मफलदेशसंसरणानुपपत्त्यादयो दोषाः । [3]नित्यभेदे च विज्ञानात्मनः परेणैकत्वा[4]नुपपत्तिः । [5]लिङ्गमेवेति चेत्परमात्मन उपचरितदेशत्वेन कल्पितं[6] घटकरकभूछिद्रा-

---

तदेतद्दूषयितुमुपक्रमते—सर्वमेतदिति । तार्किकैः सह [7]संधिकरणादिकमेतत्सर्वम[7]धिकृत्य [7]सामञ्जस्येन पूर्वोक्तानां कल्पनानामा[8]पातेन रमणीयत्वमनुभवन्तीति यावत् । यथोक्तकल्पनानां श्रुतिन्यायनुसारित्वाभावात्त्याज्यत्वं सूचयति—नेत्यादिना । [9]कर्मद्वयं प्रत्येकं क्रियापदेन संबध्यते । नञश्चोभयत्रान्वयः । कथं यथोक्तकल्पनानामापातरमणीयत्वेन श्रुतिन्यायबाह्यत्वमिति पृच्छति—कथमिति । यदुक्तं परस्यैकदेशो विज्ञानात्मेति [10]"तत्र तदेकदेशत्वं वास्तवम[11]"वास्तवं वा प्रथमे स परस्मादभिन्नो भिन्नो वेति विकल्प्या[12]ऽऽद्यं दूषयति—उक्ता एवेति । आदिशब्देन [13]"श्रुतिस्मृतिविरोधो गृह्यते । [14]"कल्पान्तरं प्रत्याह—नित्यभेदे चेति । भेदाभेदयोर्विरुद्धत्वादनुपपत्तिश्चकारार्थः । लिङ्गोपाधिरात्मा परस्यांश इति [15]"कल्पान्तरं शङ्कते—लिङ्गमेवेति । उपचरितत्वं कल्पितत्वम् । लिङ्गोपाधिना कल्पितः परांशो जीवा-

---

तार्किको के साथ समन्वयस्थापना की कल्पना करके वे मन मे बडे प्रसन्न होते है किन्तु औपनिषद सिद्धान्त तथा आने वाले सब प्रकार के न्यायविरोध को नही देखते । ऐसा कैसे कहते हो ? पूर्वोक्त (प्रथमब्राह्मण के बीसवें मन्त्र के 'अचलस्य' इत्यादि ४६४ पृष्ठ के भाष्य मे) परमात्मा के सावयवत्व मान लेने पर उसमे ससारित्व, सच्छिद्रत्व तथा कर्मफल भोग के स्थान मे ससरण की अनुपपत्ति आदि दोष बतलाये है । अत्यन्तभेद स्वीकार करने पर तो जीवात्मा और परमात्मा का अभेद होना सभव नही है (इस प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्यप्रतिपादक श्रुतियो का विरोध होने लगेगा)। यदि कहो कि घटाकाश, करकाकाश, भूछिद्राकाशादि के समान तदुपाधिक लिङ्गशरीर आत्मा ही परमात्मा के औपचारिक एकदेश मे कल्पित है, ऐसा मानने पर तो लिङ्गशरीर जीवात्मा के चले जाने पर भी, वासना का

---

१. 'अचलस्येत्यादि' ४६४पृष्ठभाष्ये । २ कर्मफलदेशेति । एकदेशस्यैव देशिव्यतिरेकेणाभावाज्जीवस्य कर्मफलदेशस्वर्गादिषु गत्यनुपपत्तिरन्यथा परस्यापि गतिः स्यान्नहि परावयवेषु चलत्सु परो न चलतीत्याह—ससारित्वमिति । परस्यैकदेशोऽग्निविस्फुलिङ्गवत्स्फुटितो विज्ञानात्मा ससरतीति जीवस्य ससारित्वेऽपि परस्य तथास्तीत्याशङ्क्याऽऽह—सव्रणत्वेति । परस्यावयवस्फुटनेन क्षतप्राप्तिः । अव्रणत्ववाक्यविरोधश्चेति । ३. अत्यन्तभेदे । ४. अनुपपत्तिरिति—तथा च "तत्त्वमस्यादि"श्रुतिविरोध इति भाव । ५. लिङ्गमिति—तदुपाधिरात्मेत्यर्थ. । कल्पितमिति व्यस्तपाठे परमात्मन कल्पितदेशत्वेन लिङ्गोपाधिरात्मा परमात्मन एव कल्पितोंऽश इति योजना । कल्पितघटेति समस्तपाठे तु कल्पितपदस्य आकाशेऽन्वय । ६ उद्दिश्य । ७ तार्किकाद्यविरोधेन । ८. अविचारेण । ९. कर्मद्वयमित्यादि—उपनिषत्सिद्धान्तमित्येतस्य कर्मणो न पश्यन्तीति पूर्वक्रिययान्वय । सर्वन्यायविरोध च न पश्यन्तीत्येव नञनुषङ्गेण द्वितीयकर्मण उत्तरक्रियया सबन्ध इत्यर्थः । अत्र सर्वन्यायविरोध च पश्यन्तीत्यस्य भिन्नवाक्यत्वेन तत्र नञनुषङ्गोऽस्फुट इति तद्बोधनार्थमेवेतदुक्तम् । उपनिषत्सिद्धान्तसर्वन्यायविरोधयोर्विशेषणविशेष्यभावभ्रमापोहार्थं वेत्यवधेयम् । १० विज्ञानात्मनि । ११. उपाधिकृतम् । १२. प्रथमे आद्यम् । १३. "अस्थूलमनणु", "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्य.", "यस्य नाहकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते" ॥ १४. प्रथमे द्वितीयम् । १५. द्वितीयमवास्तवपक्षम् ।

काशादिवत् । तथा लिङ्गवियोगेऽपि परमात्मदेशाश्रयणं वासनायाः[1] ।

अविद्यायाश्च [2]स्वत उत्थानमूषरवदित्यादिकल्पनाऽनुपपन्नैव । न च [3]वास्यदेशव्यतिरेकेण वासनाया वस्त्वन्तरसंचरणं मनसाऽपि कल्पयितुं [4]शक्यम् । न च श्रुतयो [5]अनुगच्छन्ति [6]कामः संकल्पो विचिकित्सा, [7]हृदये ह्येव रूपाणि[8], [9]ध्यायतीव लेलायतीव,

त्मेत्युक्ते स्वापादौ लिङ्गध्वसे वासना नाऽऽत्मनि स्याल्लिङ्गाभावे तदधीनजीवाभावात्ततश्च [10]तद्वियोगेऽपि लिङ्गस्था वासना जीवे तिष्ठतीति प्रक्रियाऽनुपपन्नेति दूषयति—तथेति ।

यत्तु परस्मादविद्यायाः समुत्थानमिति तन्निराकरोति—अविद्यायाश्चेति । आदिपदेनानात्मधर्मत्वमविद्याया गृह्यते[11] । परस्मादविद्योत्पत्तौ तस्यैव संसारः स्यात् । [12]तयोरैकाधिकरण्यात् । [13]अतश्चाविद्याया सत्यां न[14] मुक्तिर्न च तस्यां नष्टायां [15]तत्सिद्धिः कारणे स्थिते कार्यस्या[16]त्यन्तनाशायोगा[17]त्कार्याविद्यानाशे तत्कारणपराभव[18]स्तथाच [19]मोक्षिणोऽभावा[20]न्मोक्षासिद्धिः । न चानात्मधर्मोऽविद्या विद्याया अपि तद्धर्मत्वप्रसङ्गात्तयोरेकाश्रयत्वादिति भावः । यत्तु लिङ्गोपरमे तद्गता वासनाऽऽत्मन्यस्तीति तत्राऽऽह—न चेति । पुटकादौ तु पुष्पाद्यवयवानामेवानुवृत्तिरिति भावः । इतश्च वासनाया जीवाश्रयत्वमसंगतमित्याह—न चेति ।

परमात्मा के एकदेश का आश्रयण करना अनुपपन्न हो जायगा ।

ऊसर भूमि के समान अविद्या की उत्पत्ति भी परमात्मा से ही हुई है, ऐसी कल्पना भी अयुक्त ही है । इसके अतिरिक्त अपने आश्रय को छोडकर वासना की, किसी अन्य वस्तु मे सचरण होने की कल्पना तो मन से भी नही की जा सकती । इसके अतिरिक्त श्रुतियाँ भी तात्पर्यविषयक अर्थ ने स्वारस्य अनुगमन करती है—"काम, सकल्प, सशय (आस्तिक्य, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि और भय) यह सब मन ही है", "(क्योकि पुरुप वासनात्मक रूपो का हृदय से ही स्मरण करता है) अतः हृदय मे ही रूप प्रतिष्ठित है", "(वही बुद्धि-वृत्ति के अनुसार) चिन्तन करता हुआ सा और (प्राण-वृत्ति के अनुसार) चेप्टा करता हुआ सा जान पडता है", "जब इसके हृदय मे स्थित समस्त कामनाएँ

१. अनुपपन्नमिति शेष. । २. परमात्मत. । ३. स्वाश्रयव्यतिरेकेण । ४. शक्यमिति—न हि गुणो द्रव्य हित्वा स्वातन्त्र्येण स्थातुमर्हति पुष्पपुटिकायामपि पुष्पावयवानुवृत्तेर्न धर्मस्य धर्म्यतिक्रमः । ५. अनुगच्छन्तीति —तात्पर्यविषयेऽर्थे स्वारस्येन(शक्त्या)नानुगता भवन्तीत्यर्थ । आत्मनो वासनाश्रयत्वकल्पनायामिति शेष. । अतस्तस्य तदाश्रयत्वकल्पना श्रुतियुक्तिविरुद्धाऽयुक्तेति भाव । आत्मनाऽपि मनोवद्वासनाधर्मित्याशङ्क्यावधारण-श्रुतेश्च न तस्य तद्धर्मित्वमित्याह—हृदय ह्येवेति । तर्हि आत्मनि धर्मप्रतीति कथ तत्राऽऽह—ध्यायतीवेति । चित्तस्यैव कामादीत्यत्र वाक्यान्तरमाह—कामा यऽस्येति । आत्मनो नेत्यत्रैव वाक्यान्तरमाह—तीर्णो हीति । तदा सुप्तौ । ६. बृ० उ० १।५।३ । ७. बृ० उ० ३।९।२० । ८. प्रतिष्ठितानि भवन्तीति शेषः । ९ बृ० उ० ४।३।७ । १०. लिङ्गापगमेऽपि । ११. जीवाश्रयत्व चेत्यपि द्रष्टव्यम् । १२. अविद्यासंसारयो । १३. अविद्याया परनिष्ठत्वाच्च । १४. परस्येति शेष । १५. मुक्ति. । १६. समूलनाशायोगात् कारण हि मूलम् । १७. कार्याविद्यानाश इति—परमात्मकार्यभूताया अविद्याया अत्यन्तनाशेऽभ्युपगम्यमानेऽविद्याकारणस्य परस्याभाव एव स्यात् कार्यात्यन्तनाशस्य समूलोच्छेदरूपत्वादिति । १८. पराभावाभ्युपगमे च । १९. परस्य । २०. मोक्षेति—निरात्मवादप्रसक्तिश्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । न च परोत्थाविद्याया जीवाश्रयत्वमिति वाच्य कारणमतिक्रम्य कार्यस्यान्यत्रावृत्तेरित्युक्तत्वात् ।

'कामा येऽस्य हृदि श्रितास्तीर्णो' हि तदा सर्वाञ्शोकान्हृदयस्येत्याद्याः ।

न चाऽऽसां श्रुतीनां 'श्रुतादर्थान्तरकल्पना न्याय्या । आत्मनः परब्रह्मत्वोपपादनार्थपरत्वादासामेतावन्मात्रार्थोपक्षयत्वाच्च सर्वोपनिषदाम् । तस्माच्छ्रुत्यर्थकल्पनाऽकुशलाः 'सर्व एवोपनिषदर्थमन्यथा कुर्वन्ति 'तथाऽपि वेदार्थश्चेत्स्यात्कामं 'भवतु न मे द्वेषः ।

न च द्वे 'वाव ब्रह्मणो रूपे इति राशित्रयपक्षे समञ्जसम् । यदा तु मूर्तामूर्ते

'ननु जीवे समवायिकारणे मन संयोगादसमवायिकारणात्कामाद्युत्पत्तिरित्युदाहृतश्रुतिषु विवक्ष्यते तत्राऽऽह–न चाऽऽसामिति । 'दृश्यमानससारमोपाधिकमभिधाय जीवस्य ब्रह्मत्वोपपादने तात्पर्यं श्रुतीनामुपक्रमोपसहारैकरूप्यादिभ्यो गम्यते तन्नार्थान्तरकल्पनेत्यर्थं । "इतश्च यथोक्तश्रुतीना नार्थान्तरकल्पनेत्याह—एतावन्मात्रेति । सर्वासामुपनिषदामेकरसेऽर्थे "पर्यवसान "फलवत्त्वादिलिङ्गेभ्यो गम्यते तत्कथमुक्तश्रुतीनामर्थान्तरकल्पनेत्यर्थं । ननूपनिषदामैक्यादर्थान्तरमपि प्रतिपाद्य "व्याख्यातारो वर्णयन्ति तत्कथमर्थान्तरकल्पनानुपपत्तिरत आह—तस्मादिति । सर्वोपनिषदामैक्यपरत्वप्रतिभासस्तच्छब्दार्थ । ननु परैरुच्यमानोऽपि वेदार्थो भवत्येव किमित्यसौ द्वेषादेव त्यज्यते तत्राऽऽह—तथाऽपीति । न चार्थान्तरस्य वेदार्थत्व "तत्र तात्पर्यलिङ्गाभावादिति भाव ।

लिङ्गवियोगेऽपि पुसि वासनाऽस्तीत्येतन्निराकृत्य राशित्रयकल्पना निराकरोति—न चेति । कथ सिद्धान्तेऽपि वावशब्दादिसामञ्जस्य तत्राऽऽह—यदेति । राशित्रयपक्षे जीवस्य रूपमध्येऽन्तर्भावि

मूल से नष्ट हो जाती है तब वह मरणशील पुरुष अमर हो जाता है और इस वर्तमान शरीर मे ही वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है", 'उस समय यह पुरुष पुण्य से असबद्ध तथा पाप से भी सम्बन्धरहित हो जाता है ।"

इन श्रुतिवाक्यो मे श्रुतार्थ छोडकर किसी दूसरे अर्थ की कल्पना करनी उचित नही है क्योकि इन (श्रुतिवाक्यो) का प्रयोजन परब्रह्मरूप तात्पर्यबोध कराने मे है और इसी अर्थप्रतिपादन मे सभी उपनिषदो का उपसहार होता है । इसलिए श्रुति के अर्थ की कल्पना करने मे कुशल ये सभी वादी उपनिषत् का अर्थ उल्टा कर देते हैं । ब्रह्मात्मैक्यरूप अर्थ से विरुद्ध अर्थ होने पर भी यदि वेद का अर्थ हो, तो रहे, इसमे हमे कोई आपत्ति नही है ।

किन्तु (वेदान्तैकदेशी के मत मे) राशित्रय पक्ष मे 'ये ही ब्रह्म के दो रूप हैं" ऐसा कहना ठीक नही है । जबकि वासनापूर्वक मूर्त और अमूर्त दो रूप हो और रूपी ब्रह्म तीसरा रूप हो, और इसके बीच मे कोई चौथा रूप न हो उसी समय ऐसा निश्चय करना ठीक होगा कि ब्रह्म के दो ही रूप हैं । अन्यथा राशित्रय स्वीकार कर लेने पर ब्रह्मैकदेश जीवात्मा के रूप हैं, अथवा जीवात्मा द्वारा

१ बृ उ ४।४।७ । २ बृ० उ० ४।३।२२ । ३ अर्थात । ४ सर्वोपनिषदिति पाठ । ५ परोक्तैक्यार्थविरोध्यर्थोऽपि । ६ तिष्ठतु । ७ एव । ८ उक्तश्रुतिस्थमनोहृदयादिशब्दैरात्मैवोच्यतेऽतो मन सयोगादात्मनि कामादितन्मात्रविवक्षितमिति शङ्कते नैयायिको नन्विति । ९ जीवे । १० सर्वासा श्रुतीना प्रतीचो ब्रह्मत्वप्रमितिशेषत्वाच्च । ११ तात्पर्यम् । १२ फलाख्यलिङ्गेभ्य इति भाव । १३ अर्थात् । १४ नैयायिकादय । १५ अर्थान्तरे ।

[1]तज्जनितवासनाश्च [2]मूर्तामूर्ते एव द्वे रूपे ब्रह्म च रूपि तृतीयं न चान्यच्चतुर्थमन्तराले तदेतदनुकूलमवधारणं द्वे एव ब्रह्मणो रूपे इति। [3]अन्यथा ब्रह्मैकदेशस्य विज्ञानात्मनो रूपे इति [4]कल्प्यं परमात्मनो वा विज्ञानात्मद्वारेणेति। तदा [5]च रूपे एवेति द्विवचनम[6]समञ्जसम्। रूपाणीति वासनाभिः सह बहुवचनं युक्ततरं स्यात्। द्वे च मूर्तामूर्ते वासनाश्च तृतीयमिति।

अथ मूर्तामूर्ते एव परमात्मनो रूपे वासनास्तु [7]विज्ञानात्मन इति चेत्। [8]तदाऽपि विज्ञानात्मद्वारेण विक्रियमाणस्य परमात्मन इतीय[9] [10]वाचोयुक्तिरनर्थिका स्यात्। [11]वासनाया अपि विज्ञानात्मद्वारत्वस्या[12]विशिष्टत्वात्। न च वस्तु वस्त्वन्तरद्वारेण विक्रियत

निषेध्यकोटिनिवेशः स्याद्रूपिमध्येऽन्तर्भावे [13]श्रुतिः शिक्षणीयेत्याह—अन्यथेति। भवत्वेव श्रुतेः शिक्षेति तत्राऽऽह—तदेति। [14]रूपिमध्ये जीवान्तर्भावकल्पनायामिति यावत्।

[15]विषयभेदेनोपक्रमाविरोध[16] चोदयति—अथेति। इत्य[17]व्यवस्थायां जीवद्वारा विक्रियमाणस्य परस्य रूपे मूर्तामूर्ते [18]इत्युक्तिरयुक्ता[19] वासनाकर्मादेरपि [20]तद्द्वारा [21]तत्र संबन्धा[22]विशेषादिति दूषयति—तदेति। [23]विज्ञानात्मद्वारा परस्य विक्रियमाणत्वमङ्गीकृत्योक्तं तदेव नास्तीत्याह—न चेति।

परमात्मा के दो रूप है, ऐसा श्रुति द्वारा कहना चाहिए। उस समय भी 'रूपे' यह द्विवचनान्त प्रयोग अयुक्त होगा। वासनात्मक तृतीय रूप होने के कारण "रूपाणि" ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग करना अधिक उपयुक्त होगा अर्थात् मूर्तामूर्त दो रूप हैं और तीसरा वासनात्मक रूप है।

यदि कहा मूर्त और अमूर्त, ये परमात्मा के दो ही रूप हैं, वासनाएँ तो जीवात्मा की है। इस प्रकार स्वीकार कर लेने पर भी ऐसी वाक्योक्ति कहना कि ये जीवात्मा के द्वारा विकार को प्राप्त हुए परमात्मा के रूप है, व्यर्थ ही होगा क्योंकि जीवात्मा का द्वारत्व मूर्त और अमूर्त के तुल्य होने के कारण (कर्मादि) वासना का भी उपलक्षण है। इसके अतिरिक्त एक वस्तु किसी अन्य वस्तु के द्वारा विकार को प्राप्त होती है, ऐसी कल्पना मुख्यावृत्ति से नहीं की जा सकती। एवं जीवात्मा परमात्मा से कोई भिन्न वस्तु भी नहीं है क्योंकि ऐसी कल्पना करने में अद्वैतवेदान्त सिद्धान्त में दोष आता है। अनेक न्यायों से विरोध होने के कारण वेदार्थज्ञान न होने वाले उन पुरुषों को ऐसी मनमानी कल्पना करना अक्षरबाह्य है। अक्षरबाह्य वेदार्थ अथवा वेदार्थ में उपयोगी नहीं हो सकता क्योंकि वेद प्रामाण्य-

१ तज्जनितेति—यदा तु सवासने मूर्तामूर्ते द्वे एव रूपे इत्यर्थः। २ राशिद्वयाभ्युपगमे। ३ श्रुत्या वक्तव्यम्। ४ अपि। ५ अयुक्तम्। ६ असमञ्जसमिति—वासनात्मकतृतीयरूपस्य सत्त्वादिति भावः। तदेवाह—रूपाणीति। ७ जीवस्य। ८ इत्थं व्यवस्थास्वीकारेऽपि। ९ ते। १० वाक्योक्तिः। ११ कर्माद्युपलक्षणम् १२ मूर्तामूर्ताभ्यां तुल्यत्वात्। १३ इत्थं त्वया वक्तव्यमासीदिति सा शिक्षणीया स्यात्। १४ ब्रह्मात्मकरूपिमध्ये। १५ रूपवासनयोराश्रयभेदेन। १६ द्विवचनाद्यविरोधमिति पाठः। १७ त्वदीया। १८ स्यात्। १९ जीवद्वारा। २० परमात्मनि। २१ मूर्तामूर्ताभ्याम्। २२ अस्तु तर्हि जीवात्मना परिणतस्य परस्य वासनामयमपि रूपमित्याशङ्क्याऽऽह—विज्ञानात्मद्वारेति। २३ प्राक्तनमस्माभिः।

इति मुख्यया वृत्त्या शक्यं कल्पयितुम्। न च विज्ञानात्मा परमात्मनो वस्त्वन्तरम्। तथा कल्पनाया सिद्धान्तहानात्। तस्माद्वेदार्थमूढानां स्वचित्तप्रभवा एवमादिकल्पना अक्षरबाह्याः। न ह्यक्षरबाह्यो वेदार्थो वेदार्थोपकारो वा। निरपेक्षत्वाद्वेदस्य प्रामाण्यं प्रति। तस्माद्राशित्रयकल्पनाऽसमञ्जसा।

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष इति लिङ्गात्मा प्रस्तुतोऽध्यात्मेऽधिदैवे च य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष इति तस्येति प्रकृतोपादानात्स एवोपादीयते योऽसौ त्यस्यामूर्तस्य रसो न तु विज्ञानमयः। ननु विज्ञानमयस्यैवैतानि रूपाणि कस्मान्न भवन्ति विज्ञानमयस्यापि

तथाभूतस्यान्यथाभूतस्य च विक्रियाया दुरुपपादत्वादित्यर्थः। किंच जीवस्य ब्रह्मणो वस्त्वन्तरत्वमात्यन्तिकम् नात्यन्तिकं वा नाऽऽद्य इत्याह—न चेति। न द्वितीयो "भेदाभेदनिरासादिति द्रष्टव्यम्। परपक्षदूषणमुपसंहरति—तस्मादिति। एवमादिकल्पना राशित्रय जीवस्य कामाद्याश्रयत्वमित्याद्याः। अक्षरबाह्यत्वे फलितमाह—न हीति। वेदार्थोपकारित्वाभावे हेतुमाह—निरपेक्षत्वादिति। वेदार्थत्वाद्यभावे सिद्धमर्थं कथयति—तस्मादिति।

तस्य हेत्यत्र परकीयप्रक्रिया प्रत्याख्याय स्वमते तच्छब्दार्थमाह—योऽयमिति। प्रकृतत्वाल्लिङ्गात्मग्रहे जीवस्यापि पाणिपेषवाक्ये "तद्भावात्तस्यैवात्र तच्छब्देन ग्रह. स्यादिति शङ्कते—नन्विति। प्रकृतत्वेऽपि तस्य निर्विशेषब्रह्मत्वेन ज्ञापयितुमिष्टत्वान्न वासनामयं संसाररूपं" तत्त्वतो

निरपेक्ष है। इसलिए अक्षरबाह्य होने के कारण राशित्रयकल्पना अयुक्त ही है।

"यह जो दाँयें नेत्र के अन्तर्गत पुरुष है" इस श्रुतिवाक्य द्वारा प्रकृत अध्यात्मप्रकरण मे लिङ्गात्मा (अन्त करण) का वर्णन किया गया है तथा अधिदेवप्रकरण म "यह जो इस आदित्यमण्डल मे पुरुष है" इस प्रकार 'तस्य' पद से लिङ्गात्मा अन्त करण का अवलम्बित्व होने के कारण यह अमूर्त 'त्यत्' का सार है, जीव का नही, उसी का उपादान किया गया है। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) यहाँ तो जीवात्मा का ही प्रकरण है, इसलिए ये जीवात्मा के ही रूप क्यो नही होते क्योकि 'तस्य' इस पद स तो जीव का ही ग्रहण किया गया है? (इस पर सिद्धान्तवादी कहता है—)

---

१. अनेकन्यायविरोधात्। २ अक्षरबाह्यत्वात्। ३ अन्तःकरणमिति यावत्। ४ अस्य। ५ अवलम्बित्वात्। ६ जीव। ७ "यथापूर्वमवस्थित विक्रियते चेति व्याहतम्। अयथाभूय विक्रियते तदा नासौ तद्विकार" इति। ८ दुरुपपादत्वादिति—न हि तथाभूत परिणामत्वे नाभिमतवस्त्वाभिन्न यद्वस्तु तत्तदात्मना परिणमतेऽत्यन्ताभेदे परिणामपरिणामिभावस्य विरुद्धत्वात्। अन्यथाभूत परिणामत्वेनाभिमतवस्तुभिन्न वस्त्वपि तदात्मना न परिणमते मृदादेरपि दध्याद्यात्मना परिणत्यापत्त्याऽव्यवस्थापत्तेः। यद्वा तथाभूत कूटस्थं वस्तु न परिणमते कूटस्थत्वविरोधात्। अन्यथाभूतमकूटस्थ वस्तु तदपि न परिणमत परिणामस्यापि परिणामापत्त्या घटादघटान्तर तस्मादपि तदन्तरमित्यनवस्थापत्तेरिति भाव। ९ आत्यन्तिकत्वमभेदस्यापिकरणत्वम्। १०. अभेदसमानाधिकरणत्व चानात्यन्तिकत्वम्। ११ एकस्मिन्न भेदाभेदयोर्विरुद्धत्वेन निरस्तत्वादित्यर्थ। १२. प्रकृतत्वात्। १३. तस्य।

प्रकृतत्वात्तस्येति च प्रकृतोपादानात् । नैवम्, विज्ञानमयस्या रूपित्वेन विजिज्ञापयिषितत्वात् । यदि हि तस्यैव विज्ञानमयस्यैतानि माहारजनादीनि रूपाणि स्युस्तस्यैव नेति नेतीत्यनाख्येयरूपतयाऽऽदेशो न स्यात् ।

नन्वन्यस्यैवासावादेशो न तु विज्ञानमयस्येति । न । षष्ठान्त उपसंहाराद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति विज्ञानमयं प्रस्तुत्य स एष नेति नेतीति विज्ञपयिष्यामीति च प्रतिज्ञाया अर्थवत्त्वात् । यदि च विज्ञानमयस्यैवाऽसंव्यवहार्यमात्मस्वरूपं ज्ञापयितुमिष्टं स्यात्प्रध्वस्तसर्वोपाधिविशेषं तत इयं प्रतिज्ञाऽर्थवती स्यात् । येनासौ ज्ञापितो जानात्यात्मानमेवाह ब्रह्मास्मीति शास्त्रनिष्ठां प्राप्नोति न बिभेति कुतश्चनेति । अथ पुनरन्यो

युक्तमिति परिहरति—नैवमिति । इतश्च जीवस्य न वासनारूपिता किंतु चित्तस्येत्याह—यदि हीति । निषेध्यकोटिप्रवेशादिति भावः ।

नाय जीवस्याऽऽदेशः किंतु ब्रह्मणस्तटस्थस्येति शङ्कयित्वा दूषयति—नन्वित्यादिना । षष्ठावसाने विज्ञातारमरे केनेत्यात्मानमुपक्रम्य स एष नेति नेत्यात्मेत्यात्मशब्दात्तस्यैवाऽऽदेशोपसंहारादिहापि तस्यैवाऽऽदेशो न तटस्थस्येत्यर्थः । इतश्च प्रत्यगर्थस्यैवायमादेश इत्याह—विज्ञपयिष्यामीति । तदेव समर्थयते—यदीति । कथमेतावता प्रतिज्ञार्थवत्त्वं तदाह—येनेति । ज्ञानफलं कथयति—शास्त्रेति । अन्वयमुखेनोक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन(ण) साधयति—अथेत्यादिना । विपर्यये गृहीते

ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जीवात्मा को (निर्विशेष ब्रह्मरूप से) अरूपी बतलाना इष्ट है। यदि ये माहारजनादि रूप उस जीवात्मा के ही हों, तो उसका 'नेति नेति' इस प्रकार निषेधाधिष्ठानरूप उपदेश नहीं किया जा सकता।

(इस पर पूर्वपक्षी कहता है—) यह निषेध अवधि द्वारा उपदेश तो किसी दूसरे का ही है, जीवात्मा का तो नहीं है। (सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का समाधान करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि "हे मैत्रेयी! विज्ञाता को किससे जाने"? इस प्रकार विज्ञानात्मरूप का उपक्रम करके छठे अध्याय के अन्त में "वह आत्मा ऐसा नहीं है, ऐसा भी नहीं है" इस प्रकार निषेधाधिष्ठान मुख से उपसंहार किया है। ऐसा अर्थ स्वीकार कर लेने पर ही "विशेषरूप से ज्ञान कराऊंगा" इस प्रतिज्ञा की सार्थकता भी सिद्ध हो जाती है। यदि यहाँ विज्ञानात्मा के शब्दप्रत्यय से अगोचर सर्वोपाध्यतीत आत्मस्वरूप का ज्ञान करना अभीष्ट होगा, तभी यह प्रतिज्ञा सार्थक कही

---

१ निर्विशेषब्रह्मरूपत्वेन । २ निषधाधिष्ठानतया । ३ निर्देशः उपदेशः । ४ निषेधावधितयोपदेशः । ५ बृ० उ० ४।५।१५ । ६ शब्दप्रत्ययागोचरम् । ७ हेतुना उक्तात्मस्वरूपेण वा विज्ञानात्मा । ८ शास्त्रप्रतिपाद्या स्वरूपावस्थितिम् । ९ इति प्रतिज्ञाया अर्थवत्त्वमिति शेषः । १० धर्मिता । ११ जीवभिन्नस्य । १२ यथापूर्वमैत्रेयीब्राह्मणान्ते (बृ० उ० २।४।१४) "यनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्" 'विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति'नयोर्वाक्ययोरव्यवधानं तद्वत् षष्ठान्तेऽपि तयोर्व्याख्यानव्याख्येयभावेनैकार्थ्यादिपक्रमेणाव्यवधानमवाश्रित्याऽऽह—षष्ठावसान इत्यादि । १३ विज्ञानमयस्यैव । १४. प्रतिज्ञाया अर्थवत्त्वमेव । १५ यथोक्तविज्ञानात्मस्वरूपप्रतिपादनमात्रेण ।

विज्ञानमयोऽन्यो नेति नेतीति व्यपदिश्यते तदाऽन्यदसौ[1] ब्रह्मान्योऽहमस्मीति [2]विपर्ययो गृहीतः स्यात् । [3]नाऽऽत्मानमेवावेदह ब्रह्मास्मीति । [4]तस्मात्तस्य हैतस्येति लिङ्गपुरुषस्यैवैतानि रूपाणि ।

[5]सत्यस्य च [6]सत्ये परमात्मस्वरूपे वक्तव्ये [7]निरवशेषं सत्यं वक्तव्यम् । [8]सत्यस्य च विशेषरूपाणि वासनास्तासामिमानि रूपाण्युच्यन्ते । एतस्य पुरुषस्य प्रकृतस्य [9]लिङ्गात्मन

ब्रह्मकण्डिकाविरोधं दर्शयति—नाऽऽत्मानमिति । तच्छब्देन जीवपरामर्शासंभवे फलितमाह—तस्मादिति ।

ननु लिङ्गस्य चेदेतानि रूपाणि किमित्युपन्यस्यन्ते परमात्मस्वरूपस्यैव वक्तव्यत्वादत[10] आह—सत्यस्य चेति । [11]इन्द्रगोपोपमानेन कौसुम्भस्य [12]गतत्वान्महारजनं हरिद्रेति व्याख्यातम् । [13]तत्र

जायगी । जिस आत्मस्वरूप के ज्ञान से यह विज्ञानात्मा ज्ञान कराये जाने पर अपने को "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार शास्त्रप्रतिपाद्य स्वरूपस्थिति को प्राप्त करता है, ऐसा जीव किसी से भी भय को प्राप्त नहीं करता । एवं यदि विज्ञानात्मा कोई अन्य हो तथा 'नेति नेति' इस निषेधाधिष्ठान वाक्य से किसी अन्य का उपदेश किया गया हो तो ऐसी स्थिति में "यह परोक्ष ब्रह्म अन्य है और मैं अन्य हूँ" ऐसे विपरीतप्रत्यय का अभ्युपगम होने लगेगा । ऐसा अभ्युपगम नहीं होगा "अपने को जाना, मैं ही ब्रह्म हूँ" । जीव के ब्रह्म से अभिन्न एवं वासनारूपित्व योग न होने से इस प्रकार आधिदैविक और आध्यात्मिक प्रकृत लिङ्गपुरुष मन के ही रूप हैं ।

षष्ठ्यन्त सत्यशब्द के प्रथमान्त सत्यशब्दित परमात्मा में उपदेश करने पर समस्त द्विविध सत्यों को बतलाना है । षष्ठ्यन्त सत्यशब्दित लिङ्ग के विशेषरूप वासनाएँ हैं उनके ये रूप कहे जाते हैं । ये इस प्रकृत लिङ्गात्मा पुरुष अन्तःकरण के ही रूप हैं । वे रूप कौन-से हैं ? सो बतलाया जाता है ।

---

१ परोक्षम् । २ विपरीतप्रत्ययोऽभ्युपेतः स्यात् । ३ अन्यो जीवोऽन्यच्चाऽऽदिश्यमानं ब्रह्मेति विपर्यये गृहीते तदाऽऽत्मानमेवावेदह ब्रह्मास्मीति ब्रह्मकण्डिकाविरोधः दोषान्तरमाह—नेति । तदुक्तं वार्तिके—"न स्यादात्मानमेवावेदह ब्रह्मेतिमानजा । सम्यग्धीर्निगिलन्ध्वान्तघातिनी मुक्तिदायिनीति" ॥१५७॥ ४ तस्मादिति—जीवस्य ब्रह्माभिन्नत्वात् वासनारूपित्वायोगाच्चेत्यर्थः । तस्य आधिदैविकस्य । एतस्य आध्यात्मिकस्य प्रकृतस्य लिङ्गपुरुषस्य मनस इत्यर्थः । लिङ्गस्य कर्तृत्वादिवासनारूपित्वे कथमात्मनि तद्भानमिति चेन् स्वाभासभ्रमदोषेणेति गृहाण स्वस्यात्मन आभासो यत्रेत्यविद्याऽक्तिस्तत्प्रयुक्तभ्रमदोषेणेत्यर्थः । यद्वा स्वस्य या वासनावति लिङ्गेऽन्तःकरणे प्रतिबिम्बस्तत्ग्राहत्वभ्रमेणेत्यर्थः । यद्वा सवासनलिङ्गसंनिहिते स्वस्मिन्स्फटिकोपमे यो वासवानामाभास प्रतिफलनं तत्प्रयुक्तभ्रमेत्यर्थः । तदुक्तम्—"वासना भूरिरूपास्ता लिङ्गस्था लिङ्गसाक्षिणः । कुर्वन्ति बहुरूपत्वं मणेरास्तरणं यथेति" ॥१५६॥ आस्तरणं कुथः । अत्र तु नीलपीताद्युपलक्षणम् । ५ षष्ठ्यन्तसत्यशब्दितस्य । ६ प्रथमान्तसत्यशब्दिते परमात्मनि । ७ निरवशेषम्—निखिलं द्वयमपि सत्यमिति यावत् । ८ षष्ठ्यन्तसत्यशब्दितस्य लिङ्गस्य । ९. अन्तःकरणस्य । १०. वेदार्थैर्मुमुक्षुभ्य इति शेषः । ११. ननु कुसुम्भे तच्छब्दस्य प्रसिद्धत्वात्तस्यात्र ग्रहणं किं न स्यात् । तदुक्तम्—"स्यात्कुसुम्भं वह्निशिखं महारजनमित्यपी"त्यत आह—गतत्वादिति । १२ अनयोस्तुल्यरूपत्वादिति भावः । १३ चित्तस्य रञ्जनाकारत्वे ।

एतानि रूपाणि । कानि तानीत्युच्यन्ते—यथा लोके महारजनं हरिद्रा तया रक्तं माहारंजनं यथा वासो लोके । एवं [१]स्त्र्यादिविषयसंयोगे [२]तादृशं वासनारूपं [३]रञ्जनाकारमुत्पद्यते चित्तस्य । [४]येनासौ पुरुषो रक्त इत्युच्यते वस्त्रादिवत् । यथा च लोके पाण्ड्वाविकम् । अवेरिदमाविकमूर्णादि । यथा च तत्[५]पाण्डुरं भवति तथाऽन्यद्वासनारूपम् । यथा च लोक इन्द्रगोपोऽत्यन्तरक्तो भवत्येवमस्य[६] वासनारूपम् । [७]क्वचिद्विषयविशेषापेक्षया रागस्य तारतम्यं क्वचित्पुरुषचित्तवृत्त्यपेक्षया । यथा च लोकेऽग्न्यर्चिर्भास्वरं भवति तथा [८]क्वचि[९]त्कस्यचिद्वासनारूपं भवति [१०]। यथा पुण्डरीकं शुक्लं तद्वदपि च वासनारूपं कस्यचिद्भवति । यथा सकृद्विद्युत्तं यथा लोके सकृद्विद्योतनं [१२]सर्वतः प्रकाशकं भवति तथा ज्ञानप्रकाश[१२]विवृद्ध्यपेक्षया [१४]कस्यचिद्वासनारूपमु[१५]पजायते ।

लोकप्रसिद्धिं दर्शयति—येनेति । ऊर्णादीत्यादिपदं कम्बलादिग्रहार्थम् । मनसि वासनावैचित्र्ये किं कारणमिति तदाह—क्वचिदिति । चित्तवृत्तिशब्देन "सत्त्वा"दिगुणपरिणामो विवक्षितः ।

जिस प्रकार लोकव्यवहार में महारजन यानी हल्दी से रँगे हुए वस्त्र को माहारजन वस्त्र कहते हैं, उसी प्रकार स्त्री आदि विषय के संयोग से माहारजन वस्त्र की तरह चित्त की वैसी ही रागात्मक वासनारूप वृत्ति उत्पन्न होती है। जिस रँगने से यह पुरुष भी वस्त्रादि के समान रक्त कहा जाता है। "यथा पाण्ड्वाविकम्" यानी जिस प्रकार लोकव्यवहार में सफेद ऊन होती है। जो भेड़ का विकार हो, उस ऊन आदि को आविक कहते हैं। जिस प्रकार वह (पीति से रहित) शुक्लवर्ण की होती है; उसी प्रकार अन्य वासना का रूप होती है। 'यथेन्द्रगोप" यानी जिस प्रकार लोक में इन्द्रगोप नामक कीट अत्यन्त रक्तवर्ण का होता है उसी प्रकार लिङ्गात्मा अन्तःकरण का वासनामय रूप है। यहाँ अन्तःकरण में कहीं तो विषय विशेष की अपेक्षा राग का तारतम्य है और कहीं पुरुष की चित्तवृत्ति को लेकर है। "यथाग्न्यर्चि" अथवा जिस प्रकार लोक में अग्नि की शिखा प्रकाशयुक्त रहती है; उसी प्रकार कहीं-कहीं विषयों में मन की वासनाओं का भी रूप होता है। "यथा पुण्डरीकम्" यानी जिस प्रकार पुण्डरीक शुक्लवर्ण का होता है, उसी प्रकार किसी की (मन की) वासनाओं का रूप होता है। "यथा सकृद्विद्युतम्" यानी जिस प्रकार लोकव्यवहार में एकदम बिजली चमकने से सर्वत्र प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप प्रकाशातिशय की अपेक्षा से किसी हिरण्यगर्भादि की वासना का रूप (एक बार ही सब ओर प्रकाशित हो जाने से) उत्पन्न हो जाता है।

वासना के उक्त रूपों के आदि, अन्त, मध्य संख्या अथवा देश, काल या निमित्त निर्धारित नहीं

---

१ निमित्तमाह—स्त्रीति । २. माहारजनवस्त्रोपमम् । ३. रागात्मकम् । ४. रञ्जनेन । ५. पीतिमभिन्नशुक्लम् । ६ लिङ्गस्य । ७. मनसि । ८. विषये । ९. मनसः । १०. अत्यन्तभासुरमस्मदीयचक्षुषस्तद्विषये प्रवृत्तिप्रतिबन्धकम् । ११. अतिशयेति भावः । १२. हिरण्यगर्भादि. । १३. सकृदेव सर्वत. प्रद्योतमानमुद्गच्छतीत्यथ. । १४. सत्त्वादीति । तदुक्तं वार्तिके—"रजसः क्वचिदुद्रेकस्तमसः क्वचिदिष्यते । सत्त्वस्यापि तमोत्कर्षः कुतश्चित्क्वचिदुपजायते" ॥१६२॥ इति । क्वचित् मनसि । १५. गुणवैचित्र्यमिति यावत् ।

'व्यक्तिर्भवतीति तदीयं वासनारूपं हिरण्यगर्भस्य यो वेद तस्य सकृद्विद्युत्तेव । ह वा इत्यवधारणार्थौ । एवमेवास्य श्रीः 'ख्यातिर्भवतीत्यर्थः । यथा हिरण्यगर्भस्यैवमेतद्यथोक्तं वासनारूपमन्त्यं यो वेद ।

एवं 'निरवशेषं 'सत्यस्य स्वरूपमभिधाय यत्तत्सत्यस्य सत्यमवोचाम तस्यैव स्वरूपावधारणार्थं ब्रह्मण 'इदमारभ्यते—अथानन्तरं सत्यस्य स्वरूपनिर्देशानन्तरं यत्सत्यस्य सत्यं 'तदेवावशिष्यते यस्मादस्तस्मात्सत्यस्य' सत्यं 'स्वरूपं निर्देक्ष्यामः । आदेशो "निर्देशो ब्रह्मणः । कः पुनरसौ निर्देश इत्युच्यते—नेति नेतीत्येष निर्देशः ।

ननु कथमाभ्यां नेति नेतीति शब्दाभ्यां सत्यस्य "सत्यं निर्दिदिक्षितमिति । उच्यते—सर्वोपाधिविशेषा"पोहेन । यस्मिन्न कश्चिद्विशेषोऽस्ति नाम वा रूपं वा कर्म

"तदेव स्फुटयति—यथेत्यादिना ।

"वृत्तमनूद्यानन्तरग्रन्थमवतारयति—एवमित्यादिना । तस्यैव ब्रह्मण इति संबन्धः । कस्मादनन्तरमित्युक्ते "तद्दर्शयन्नत शब्द" चापेक्षित पूरयन्व्याकरोति—सत्यस्येति ।

यथोक्तादेशस्याभाव"पर्यवसायित्व मन्वान. शङ्कते—नन्विति । "निरवधिकनिषेधासिद्धे"स्तदवधित्वेन सत्यस्य सत्य ब्रह्म निर्देष्टुमिष्टमिति परिहरति—उच्यत इति । ब्रह्मणो विधिमुखेन निर्देशे सभाव्यमाने किमिति निषेधमुखेन तन्निर्दिश्यते तत्राऽऽह—यस्मिन्निति । तद्विधिमुखेन निर्देष्टुमशक्यमिति

यानी ख्याति हिरण्यगर्भ के समान हो जाती है ।

इस प्रकार नि शेष उपकरणसहित सत्यशब्द के अर्थ की स्वरूपाभिव्यक्ति कर जिसे पहले 'सत्य का सत्य' कह आये हैं । उसी ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय करने के लिए यह आदेशवाक्य प्रारम्भ किया जाता है । "अथ" यानी इसके बाद अर्थात् सत्य के स्वरूप का उपदेश करने के पश्चात् जो 'सत्य का सत्य' है, वही अवशिष्ट रह जाता है । इसलिए षष्ठ्यन्त अर्थ वाले 'सत्य के सत्य' पारमार्थिक स्वरूप का उपदेश करेंगे । "आदेश" यानी ब्रह्म का उपदेश । पर वह उपदेश क्या है । इस पर बतलाया जाता है—'नेति-नेति' । इस प्रकार किया हुआ उपदेश ही आदेश है ।

किन्तु 'नेति-नेति' इन दो शब्दों द्वारा 'सत्य के सत्य' यानी ब्रह्म वस्तु का उपदेश करना किस प्रकार इष्ट है ? इस पर बतलाया जाता है । समस्त उपाधिरूप विशेषरूप के निरास के द्वारा

---

१ व्यक्तिरिति—हिरण्यगर्भस्य तद्वासनारूप व्यक्ति । सर्वस्य वस्तुजातस्याश्रयभूत विद्युद्विद्योतनमिव सकृदेवोत्पद्यत इत्यन्वयमुखेनार्थं । २ उत्पद्यते । ३ ख्यातिरिति—दृष्टमुपास्तिफलमिदम् । अदृष्ट तु त यथा यथेत्यादि शास्त्रीयमेवेति ध्येयम् । ४ नि शेषम् सोपकरणम् । ५ षष्ठ्यन्तसत्यशब्दार्थस्य । ६ आदेशवाक्यमित्यथ । ७ ब्रह्मातिरिक्तो नान्यद्यतो वस्त्ववशिष्यते । ८ षष्ठ्यन्तार्थस्य । ९ पारमार्थिक स्वरूपमित्यर्थ तस्य लक्ष्यमिति यावत् । १० उपदेश । ११ ब्रह्मवस्तु । १२ निरासेन । १३ ख्यातिभवनमेव । १४ आशिशुब्राह्मणादाचादेशादिति शेष । १५ आनन्तर्यावधिम् । १६ अनन्तशब्द-व्याख्याने । १७ तत्तात्पर्यंवत्वम् । १८ निरधिष्ठानत्वेति भाव । १९ निषधावधित्वनत्यथ ।

वा [1]भेदो वा जातिर्वा गुणो वा । तद्द्वारेण हि शब्दप्रवृत्तिर्भवति । न चैषां कश्चिद्विशेषो ब्रह्मण्यस्ति । [3]अतो न निर्देष्टुं शक्यत इदं तदिति । [4]गौरसौ स्पन्दते शुक्लो विषाणीति यथा लोके निर्दिश्यते तथा । [5]अध्यारोपितनामरूपकर्मद्वारेण ब्रह्म निर्दिश्यते विज्ञानमानन्दं ब्रह्म विज्ञानघन एव ब्रह्माऽऽत्मेत्येवमादिशब्दैः । यदा पुनः [6]स्वरूपमेव निर्दिदिक्षितं भवति निरस्तसर्वोपाधिविशेषं तदा न शक्यते[7] [8]केनचिदपि प्रकारेण [9]निर्देष्टुम् । [10]तदाऽयमेवाभ्युपायो यदुत प्राप्तनिर्देशप्रतिषेधद्वारेण नेति नेतीति निर्देशः ।

शेषः । नामरूपाद्यभावेऽपि ब्रह्मणि शब्दप्रवृत्तिमाशङ्क्याऽऽह—तद्द्वारेणेति । जात्यादीनामन्यतमस्य ब्रह्मण्यपि संभवात्तद्द्वारा तत्र शब्दप्रवृत्तिः स्यादिति चेन्नेत्याह—न चेति । उक्तमर्थं वैधर्म्यदृष्टान्तेन स्पष्टयति—गौरिति । तथा जात्याद्यभावान्न ब्रह्मणि शब्दप्रवृत्तिरिति शेषः । कथं तर्हि क्वचिद्विधिमुखेन ब्रह्मोपदिश्यते तत्राऽऽह—अध्यारोपितेति । विज्ञानानन्दादिवाक्येषु शबले गृहीतशक्तिभिः शब्दैर्लक्ष्यते ब्रह्मेत्यर्थः । ननु लक्षणामुपेक्ष्य साक्षादेव ब्रह्म किमिति न विवक्ष्यते तत्राऽऽह—यदा पुनरिति । निर्देष्टुं लक्षणामुपेक्ष्य साक्षादेव वक्तुमिति यावत् । तत्र शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानां जात्यादीनामभावस्योक्तत्वादित्यर्थः । विधिमुखेन निर्देशासंभवे फलितमाह—तदेति । प्राप्तो निर्देशो यस्य विशेषस्य तत्प्रतिषेधमुखेनेति यावत् ।

(उपदेश करना) सभव है । जिसमे नाम, रूप, कर्म, सम्बन्ध, जाति और गुणरूप कोई भी विशेषता नही है । क्योकि शब्द की प्रवृत्ति ब्रह्म मे इन्ही के द्वारा होती है । किन्तु इनमे से कोई भी विशेषता ब्रह्म मे नही है । इसलिए "यह वह है" इस प्रकार उसका उपदेश नही किया जा सकता । जिस प्रकार लोकव्यवहार मे "(सास्नादिमान्) यह गो चेष्टा करता है, श्वेत वर्ण वाला है, विषाणयुक्त है" ऐसा कहकर निर्देश किया जाता है, उस प्रकार उस ब्रह्म का उपदेश नही किया जा सकता । कल्पित नाम, रूप और कर्म के द्वारा "ब्रह्म विज्ञानरूप है, आनन्दस्वरूप है" "विज्ञानघन ही परमात्मा है" इत्यादि शब्दो से ब्रह्म का ही उपदेश किया जाता है । किन्तु जिस समय सब प्रकार उपाधिविशेषो से रहित चिन्मात्र का ही उपदेश करना इष्ट होता है, तब तो उसका किसी भी जात्यादिशक्ति से उपदेश करना सभव नही है । विधिमुख से उपदेश करना असभव होने के कारण यह ही एक उपाय शेष रह जाता है कि भ्रान्ति से प्राप्त सम्बन्धप्रतिषेध द्वारा "यह नही है, यह नही है" इस प्रकार उसका निरूपण किया जाय ।

"नेति-नेति" श्रुति मे नकारद्वय का प्रयोग द्विरुक्ति बल से प्राप्त सर्वविषय का निषेध करने के लिए है । जो-जो प्राप्त है, उस-उसका निषेध किया जाता है । विषयस्वरूप से प्राप्त सबका निषेध

---

१. भेद. सभेद सबन्ध इति यावत् । २. मध्ये । ३. उक्तशब्दप्रवृत्तिनिमित्ताभावात् । ४. गौरसावित्यादि गौरित्यनेन गवि नाम्ना सास्नादिमत्त्वेन रूपेण गोत्वजात्या च शब्दप्रवृत्तिर्दर्शिता स्पन्दत इत्यनेन कर्मप्रयुक्ता शुक्ल इत्यनेन गुणप्रयुक्ता विषाणीत्यनेन च भेदप्रयुक्तेति द्रष्टव्यम् । ५. कल्पितेनेत्यर्थः । ६. चिन्मात्रम् । ७. शक्यया । ८. जात्यादिना । ९. विधिमुखेन निर्देशासंभवदशायाम् । १०. विस्पष्टमुक्तं । ११. अत्रत्य तत्त्व संक्षेपशारीरके । १२. विधिना शक्त्या वा । १३. प्राप्तेति शेषः । १४. सबन्ध. । १५. नामादेः ।

इदं च [1]नकारद्वयं वीप्साव्याप्त्यर्थम् । यद्यत्प्राप्तं तत्तन्निषिध्यते । [2]तथा च सत्य[3]निर्दिष्टाशङ्का ब्रह्मणः परिहृता भवति । [4]अन्यथा हि [5]नकारद्वयेन [6]प्रकृतद्वयप्रतिषेधे यदन्यत्प्रकृतात्प्रतिषिद्धद्वयाद्ब्रह्म [7]तत्र निर्दिष्टं[8] कीदृशं तु खल्वित्याशङ्का[9] न निवर्तिष्यते । [10]तथा चानर्थकश्च स [11]निर्देशः पुरुषस्य विविदिषाया अनिवर्तकत्वात् । ब्रह्म ज्ञपयिष्यामीति च [12]वाक्यम[13]परिसमाप्तार्थं स्यात् । यदा तु सर्वदिक्काला[14]दिविविदिषा निवर्तिता स्यात्सर्वो-

---

[15]एव ब्रह्म निर्दिदिक्षितं चेदेकेनैव नञा[16]ऽलं [17]कृत द्वितीयेनेत्याशङ्क्याऽऽह—इदं चेति । [18]वीप्सया व्याप्ति. सर्वविषयसंग्रहस्तदर्थं नकारद्वयमित्युक्तमेव व्यनक्ति—यद्यदिति । विषयत्वेन प्राप्तं सर्वं न ब्रह्मेत्युक्ते [19]सत्यविषय. प्रत्यगात्मा ब्रह्मेत्येकत्वे [20]शास्त्रपर्यवसानान्नैराकाङ्क्ष्यं श्रोतु· सिध्यतीत्याह—तथा चेति । [21]इतिशब्दस्य प्रकृतपरामर्शित्वात्प्रकृतमूर्तामूर्तादिरन्यत्वे[22] ब्रह्मणो नकारपर्यवसानं किमिति नेष्यते तत्राऽऽह—[23]अन्यथेति । आशङ्कानिवृत्त्यभावे दोषमाह—तथा चेति । अनर्थकश्चेति चकारेण समुच्चितं दोषान्तरमाह—ब्रह्मेति । [24]उक्तमर्थमन्वयमुखेन समर्थयते—यदा त्विति । सर्वो-

---

कर दिये जाने पर 'ब्रह्म का उपदेश नही होता' यह शङ्का निरस्त हो जाती है । द्वित्व के अङ्गीकार न करने पर वाक्यद्वयवर्ती नकारद्वय से प्रकृत मूर्त-अमूर्त रूप निषेध हो जाने पर प्रतिषिद्ध दो भिन्न पदार्थों से अन्य जो ब्रह्म है, उसका उपदेश नही होगा । "वह ज्ञेय या अज्ञेय, कार्य या अकार्य कैसा है" इस आक्षेप की निवृत्ति नही होगी । ब्रह्मोपदेशाभाव से प्रतिषेधद्वयनिर्देश भी अनर्थक हो जायगा

---

१ नकारद्वय वीप्सेति—नतीत्यस्य वीप्सया द्वित्व नेति नेतीत्यक्मेव वाक्य वीप्सावलाच्च प्राप्तस्य सर्वविषयस्य निषेध । वीप्सानभ्युपगम तु वाक्यद्वय भवेत्तथा च मूर्तादिद्वयस्यैव निषेधे तदतिरिक्तमेव किंचित्तत्सजातीय तदभाव एव वा ब्रह्मावगम्यतत्यादिदूषणम् । २ विषयत्वेन प्राप्तसर्वनिषधे सति । ३ अनिर्दिष्टेति—वाङ्मनसविषयस्यारोपस्य नञ्भ्या निषेध तदतीत प्रत्यङ्मात्र ब्रह्मेत्यर्थादादिष्टम् निरवधिनिषेधायोगात् । तथा च तदनिर्दिष्टत्वाशङ्का निरस्ता भवतीत्यर्थ । ४. वीप्सानङ्गीकारे । ५ वाक्यद्वयघटकेन । ६ मूर्तामूर्तप्रतिषेधे । ७ न निर्दिष्टमिति—प्रतिषिद्धाभ्या मूर्तामूर्ताभ्यामन्यस्य कस्यचिद्व्यपदेशस्य तदुभयनिषेधस्य वा ब्रह्मत्वबुद्धर्यनिवारणाभाव्यपदस्यब्रह्मनिर्देशसभव इति भाव । अत कीदृशमित्याशङ्काऽनिवर्तनमिति । ८ भवेत् । ९ ज्ञेयमज्ञय वा कार्यमकार्यं वत्येवमादि । १० ब्रह्मनिर्देशाभावेन । ११ प्रतिषेधद्वय-निर्देश । १२ प्रतिज्ञावाक्यम् । १३ अपरिसमाप्तार्थमिति—परिसमाप्त प्राप्तो लब्धोऽर्थो यस्य तन्न स्यादित्यथ । यद्वा इति वाक्योक्तप्रतिज्ञाया अर्थवत्त्व न स्यात् यद्वा परि परित पूर्णतया सम् सम्यक् असंदिग्धविपर्यस्तमाप्त व्याप्त ब्रह्म अर्थो यस्य तादृश वाक्य न स्यात् तथा च प्रतिज्ञाहानिरूप निग्रहस्थान-मापतेदिति यावत् । १४ आदि —देश । १५ निषेधमुखेनत्यर्थ । १६ पर्याप्त सिद्धमिष्टमिति यावत् । १७ कृतमिति न किमपि प्रयोजनमित्यर्थ । १८ व्याप्तुमिच्छया हेतुभूतया । १९ सति अ इति च्छेद । २० तात्पर्यमहादित्यर्थ । २१ वीप्सा विना स्वतन्त्रमेवास्तु वाक्यद्वयमित्यभिप्रेत्य शङ्कते—इतिशब्दस्य-त्यादिना । २२ सकाशात् । २३ अन्यथति—प्रतीकान्तर ब्रह्मणोऽनिर्दिष्टत्वेन तद्धर्मिकभेदस्य निर्देष्टुमशक्यत्वात् (भेदग्रहे धर्मिग्रहस्य कारणत्वात्) इति भाव इति शेषो द्रष्टव्य । २४ उक्तमर्थमिति—अन्यथा हीत्यादि भाष्येण व्यतिरेकद्वारोक्तम् । अद्वैतशास्त्रतात्पर्यावधारणपुर सर श्रोतुर्नैराकाङ्क्ष्यरूप नेति नेतीति निर्देशस्य सार्थक्यरूप प्रतिज्ञावाक्यस्य परिसमाप्तार्थत्वरूप चार्थमित्यर्थ ।

पाधिनिराकरणद्वारेण तदा सैन्धवघनवदेकरसं प्रज्ञानघनमनन्तरमबाह्यं सत्यस्य सत्यमहं ब्रह्मास्मीति सर्वतो निवर्तते विविदिषाऽऽत्मन्येवावस्थिता प्रज्ञा भवति। तस्माद्वीप्सार्थं नेति नेतीति नकारद्वयम् ।

ननु महता यत्नेन परिकरबन्धं कृत्वा किं युक्तमेव निर्देष्टुं ब्रह्म । बाढम् । कस्मात् । न हि यस्मादिति नेति नेत्येतस्मादितीति व्याप्तव्यप्रकारा नकारद्वयस्य विषया

पाधिनिरासेन "तत्र तत्र विषयवेदनेच्छा यदा निवर्तिता तदा यथोक्तं प्रत्यग्ब्रह्माहमिति निश्चित्याकाङ्क्षा "सर्वतो व्यावर्तते "तेन निर्देशस्य सार्थकत्वं यदा चोक्तरीत्या ब्रह्माऽऽत्मेत्येव" प्रज्ञाऽवस्थिता भवति तदा प्रतिज्ञावाक्यमपि परिसमाप्तार्थं स्यादिति योजना । "वीप्सापक्षमुपसंहरति—तस्मादिति । "

"आदेशस्य प्रक्रमाननुगुणत्वमाशङ्क्यानन्तरवाक्येन(ण) परिहरति—नन्वित्यादिना । न हीति प्रतीकोपादानम् । यस्मादित्यस्य हिशब्दार्थस्य तस्मादित्यनेन सम्बन्ध । व्याप्तव्या सग्राह्या विषयी-

---

क्योकि (यहाँ तो) पुरुष की जिज्ञासा ही निवृत्त नही होगी । 'तुझे मैं ब्रह्म का उपदेश कराऊँगा" इस प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोजन भी अधूरा रह जायगा । किन्तु जिस समय सम्पूर्ण दिशा, काल और देश-विषयिणी जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है, उस समय समस्त उपाधियो के निरासमुख द्वारा "मैं लवण के ढेले के समान एकरस, प्रज्ञानघन, जातिव्यक्तिरहित और 'सत्य का सत्य' ब्रह्म हूँ" ऐसा ज्ञान होता है, तब सब प्रकार से जिज्ञासा शान्त हो जाती है, बुद्धि आत्मा मे ही सम्यक् स्थित हो जाती है। इसलिए 'नेति-नेति इस श्रुतिवाक्य म नकारद्वय वीप्सा के लिए ही है ।

(इस पर पूर्वपक्षी कहता है—) तो फिर तात्पर्यपूर्वक महान् प्रयत्न परिकर-बन्ध करके क्या ब्रह्म का उपदेश करना उचित है । (सिद्धान्ती कहता है—) बहुत ठीक है । (पूर्ववादी पूछता है—) ऐसा क्यो है ? (सिद्धान्तवादी कहता है—) ऐसा नही है क्योकि "न इति" "न इति" इस प्रकार "इति इति' दो शब्दो के द्वारा विषयीकर्तव्य जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी नकारद्वय के विषय होते हुए

---

१ जातिव्यक्तिरहितम् । २ सवस्वाधिष्ठानम् । ३ वीप्सापक्षेऽभिमतस्य प्रतिज्ञार्थवत्त्वादे सभवात् । ४ महतेत्यादे—ब्रह्मोपदेशायायात इति शब्दाभ्या महता प्रयत्नेन उपकरणकलाप सपाद्यापि नति नेतीत्यवमेव ब्रह्मोपदेष्टु युक्त किं नैवयुक्तमुपक्रमविरोधादित्यर्थं । प्रयत्नमहत्त्व तात्पयपूवकत्वम् । ५ मृश युक्तमित्यथ । ६ यद्यपि श्रुतौ 'इति न इति सकृदेव पठित तथापि निषधद्वयानुवादानुरोधाद द्विविवक्षित्वाऽह—इति न, इति न, इत्येतस्मादिति । निषधवाक्यस्थेति शब्दार्थमाह—इतीतीति । ७ शब्दाभ्याम् । ८ व्याप्तव्येति—विषयीकर्तव्या यावन्त पदार्थास्त सर्वे नकारद्वयस्य विषया सन्तो निर्दिश्यन्ते इति कृत्वा नति नेतीत्यतस्मान्नि-र्देशाद यत्परमुत्कृष्ट निर्देशन हि यस्मान्नास्ति तस्मादयमेव निर्देशो ब्रह्मण इत्यथ । ९ प्रकारा इति—प्रक्रियन्त व्याक्रियन्ते ये ते तथा कार्यात्मानोऽखिलपदार्था इत्यथ । १० देशकालादौ । ११ सवस्मात् अनात्मवर्गात् सर्वथा सर्वात्मना निखिलाकाङ्क्षति वाथ । १२ यथोक्ताकाङ्क्षानिवर्तनेन । १३ एवेन व्यपदश्य मूर्ता-मूर्तपरिणामकार्यकरणसघातविषया प्रज्ञा व्यवच्छिन्त । १४ सर्वानुस्यूतब्रह्मात्मकसिति यावत् । १५ वार्तिके वीप्सामनाश्रित्यैव वाक्यद्वयत्वस्य शङ्कितत्व सूचयन्नाह—वीप्सापक्षमिति । १६ आदेशस्येति—नेति नतीत्यादेशवाक्यस्येत्यर्थं । प्रक्रमेत्यादि—"द्व वाव ब्रह्मणो रूपे इत्युपक्रमणाननुकूलत्वमित्यथ । ब्रह्माति-रिक्तसर्वनिषधे हि उपक्रमोक्तरूपद्वयस्यापि निषधादित्यथ ।

निर्दिश्यन्ते । यथा ग्रामो ग्रामो रमणीय इत्यन्यत्परं निर्देशनं नास्ति । तस्मादयमेव निर्देशो ब्रह्मणः । यदुक्तं तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमित्येवंप्रकारेण सत्यस्य सत्यं तत्परं ब्रह्म । ॐअतो युक्तमुक्तं नामधेयं ब्रह्मणो नामैव नामधेयम् । किं तत्सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमिति ॥ ६ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायस्य
तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

कर्तव्या ये 'प्रकारास्ते नकारद्वयस्य विषया सन्तो निर्दिश्यन्त 'इति नेति ने'त्येतस्मादित्यनेन भागेनेति योजना । इतिशब्दाभ्यां 'व्याप्तव्यसर्वप्रकारसंग्रहे दृष्टान्तमाह—यथेति । ग्रामो ग्रामो रमणीय इत्युक्ते राष्ट्रनिविष्टरमणीयसर्वग्रामसंग्रहवत्प्रकृतेऽपीतिशब्दाभ्यां विषयभूत'सर्वप्रकारसंग्रहे नकाराभ्यां तन्निषेधसिद्धिरित्यर्थः । यथोक्तान्निषेधरूपान्निर्देशादन्यन्निर्देशनं यस्माद्ब्रह्मणो 'न परमस्ति तस्मादित्युपसंहारः । अथेत्यादि वाक्यं प्रकृतोपसंहारत्वेन व्याचष्टे—यदुक्तमित्यादिना ॥६॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयाध्यायस्य
तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

निर्दिष्ट किए जाते हैं। जिस प्रकार ग्राम-ग्राम रमणीय है, इस द्विरुक्ति द्वारा सभी ग्रामों का निर्देश नहीं है, इसलिए यही ब्रह्म का निर्देश है। और जो कि 'सत्य का सत्य' (ब्रह्म वस्तु) ऐसा कहा है, यह उसकी उपनिषत् है। इस प्रकार से वह परब्रह्म 'सत्य का सत्य' है। इसलिए यह ब्रह्म का उचित ही नामधेय बतलाया जाता है। नाम ही को नामधेय कहा जाता है। वह क्या है? 'सत्य का सत्य' है। प्राण ही सत्य हैं और यह उनका भी सत्य है ॥६॥

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् के द्वितीय अध्याय के मूर्तामूर्तसञ्ज्ञक तृतीय ब्राह्मण में शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ।

---

१ बृ० उ० २।१।२०। २ एवमिति—येन उक्तप्रकारेण परमार्थसत्यं परं ब्रह्मैव अथ अतो युक्तमुक्तं ब्रह्मण उपनिषदिति उपनिषच्छब्दार्थमाह—नामधेयमिति। सत्यस्येति सस्थावरं सजीवं भूतभौतिकं जगत्सर्वं षष्ठ्यन्तसत्यशब्दार्थस्तन्निषेधावधिभूतं परमार्थभूतं सत्यं नेति नेतीत्यवधारितं परं ब्रह्म प्रथमान्तसत्यशब्दार्थ इत्युक्तार्थमेतदिति। ३ पदार्था। ४ श्रुतौ सकृदुक्तमपि विवक्षावशाद्भाष्ये द्विः पठितं योजयति—इति न, इति न इति। ५ इत्येतस्मादिति—यथोक्तार्थनिर्देशो यद्यपि 'इति न' इत्यनेनैव भागेन संभवति तथापि इत्येतस्मादित्यस्य तत्परामर्शित्वेन तदभिन्नत्वादेव निर्देशकभागान्तर्भाव उक्त इत्यवधेयम्। ६ निर्देशनीय। ७ मूर्तामूर्तादिसकलपदार्थसंग्रह। ८ न परमस्तीति—ननु कथं ब्रह्मणो निर्देशान्तराभावो विधिरूपस्यापि संभवादिति चेन्न यत्परतत्त्वं ब्रह्मणो निर्देष्टुमिष्टं तत्र यावन्तो मूर्तादयो निर्देशयोग्यास्तेषां नेति नेतीति निरासं विना विधिमुखं तदबोधनम्। तथा च वार्तिकम्— आदिदिक्षितमेतस्य तत्त्वं यद्ब्रह्म परम्। यावन्तस्तत्र निर्देश्यास्तेऽर्था सर्वे निवर्तिता " ॥ २३८ ॥ इति।

ॐअथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमिति। अत्र वार्तिका एकादश सन्ति। तथाहि— 'मूर्तामूर्तं हि सत्याह्वं प्राणाः सत्यास्तदात्मनः। क्षत्रज्ञस्तदुपाधित्वात्सत्य इत्यभिधीयते ॥ अनिर्देश्यस्य निर्देश्या ये भेदाः कार्यलक्षणाः। तेषु लब्धास्पदं नाम परस्मिन्नुपचर्यते ॥ मूर्तामूर्तात्मकं सत्यं प्राणादे

(अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ।)

'आत्मेत्येवोपासीत । तदेवं'तस्मिं'न्पदनीयमात्मतत्त्वं यस्मात्प्रेयः' पुत्रादेरित्युप-

संबन्धाभिधित्सया वृत्तं कीर्तयति—आत्मेत्येवेति । किमित्यात्मतत्त्वमेव ज्ञातव्यं तत्राऽऽह—तदेवेति । इत्थं सूत्रितस्य विद्याविषयस्य वाक्यस्य व्याख्यानमेव विषयस्तत्र विद्यासाधनं साध्या मुक्तिरिति संबन्धो मुक्तिश्च फलमित्येते तदात्मानमित्यादिना दर्शिते इत्याह—इत्युपन्यस्तस्येति' ।

"आत्मा है, इसी रूप से ही उपासना करे; सभी अनात्मसंघात में यह आत्मतत्त्व ही गवेषणीय है, क्योंकि वह पुत्रादि से भी प्रिय है" इस प्रकार जिसका व्याख्यान किया गया है; उस वाक्य के व्याख्यान में आत्मविद्या के सम्बन्ध और प्रयोजन का "(उत्पत्ति से पहले यह नामरूपात्मक जगत्

१. अनात्मवर्गे संघाते वा । २. सर्वस्मिन् बृ० उ० १।४।७ । ३. गवेषणीयम् । ४. बृ० उ० १।४।६ ।
५. तस्माद्यथोक्तविद्याविषयमात्मतत्त्वमेव ज्ञातव्यमिति शेषः ।

कार्यरूपिणः । तस्याप्येतत्परं सत्यं यन्नेतीत्यवधारितम् ॥ उक्तत्रस्वव्यतिरेकेण नामीषां सत्यता यतः । न चाप्यसत्यता तस्मात्तेषां सत्य परं पदम् ॥ आत्मवन्तो यथा रज्ज्वा रज्जुसर्पादयस्तथा । आत्मवन्तो निरात्मानः प्राणाद्याः प्रत्यगात्मना ॥ यत एवमतोऽन्वीक्ष्य मूर्तामूर्तादिवर्त्मना । सत्यशब्दाभिधेयार्थं तथा द्वारा परं पदम् ॥ व्यपदिश्यमानमैकात्म्यं सत्यस्याऽऽत्मानमद्वयम् । द्रष्टव्यमात्मनैवैनं सत्यं पश्येद्यथोदितम् ॥ अतोऽव्याकृतयाथात्म्यं व्याकृतेनोपदिश्यते । सत्यस्य सत्यमिति तद्यथान्यथा व्यपदेशभाक् ॥ व्यपदेशाय नामैतन्न ह्येव नामास्य विद्यते । ननु ब्रह्माक्षरमिति व्यपदेशोऽत्र नामभिः ॥ कार्यकारणगं सर्वे नामलब्धास्पदं यतः । रूपाभिधेयसंबन्धमरूपाशब्दमक्षरम् ॥ लक्षयेत्साञ्जसा वक्ति परं ब्रह्म कथंचन । शब्दप्रवृत्तिहेतूनां साक्षाद्ब्रह्मण्यसंभवात् ॥२४४-२५४॥

अथेत्यादौ षष्ठ्यन्तसत्यशब्दार्थमाह—मूर्तेति । सच्च त्यच्चाभवदिति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धमुक्तेऽर्थे द्योतयति हिशब्दः । भूतपञ्चकं तत्कार्यं तदुपाधिकं च चैतन्यं सत्यमित्यर्थः ॥ सेश्वरं सजीवं सर्वं जगदस्तु षष्ठ्यर्थस्तथाऽपि न प्रथमार्थो निरुपाधिकं ब्रह्म तत्र शब्दप्रवृत्तिनिरस्तत्वादित्याशङ्क्य लक्षणया तत्र सत्यशब्दास्पति प्रतिजानीते—अनिर्देश्यस्येति ॥ षष्ठ्यर्थानुवादेन विवक्षितं प्रथमार्थमाह—मूर्तेति । परस्य स्वरूपेण सत्यत्वेन्मूर्तादीनामपि तद्योगात्कथमिदं सत्यस्य सत्यमित्याशङ्क्याऽऽह—उक्तेति ॥ ब्रह्मणा तेषां लब्धात्मता न स्वातन्त्र्येणत्यत्र दृष्टान्तेनाऽऽह—आत्मवन्त इति ॥ तत्रैव तेषामात्मवत्त्वे फलितमाह—यत इति । रज्जुसर्पादिरिव सर्वस्य ब्रह्मणैवाऽऽत्मत्वान्मूर्तादिरूपेण षष्ठ्यर्थं सर्वमालोच्य तद्द्वारा प्रथमार्थमुच्यमानमकार्यकारणमैकात्म्यमादाय तदेवाद्वयं षष्ठ्यर्थस्यापि सत्तास्फूर्तिदं दृष्टिप्रयोग्यं ज्ञात्वा दर्शितरूपमनतिक्रम्य स्थितमेन परात्मानं प्रथमालक्ष्यं स्वरूपत्वेनैव मुमुक्षुरनुसंदध्यादित्यक्षरार्थः ॥ रज्ज्वा सर्पादेरात्मवत्त्वमन्वयादिसिद्धं ब्रह्मणा सर्वस्याऽऽत्मवत्त्वं किं मानमित्याशङ्क्य तत्र सत्यशब्दप्रवृत्तिरित्याह—अत इति । व्याकृताव्याकृतयोर्यथावत ब्रह्मयाथात्म्यमत एव तद्द्वारा सत्यस्य सत्यमिति ब्रह्मोच्यते यदि तयोर्न याथात्म्यं ब्रह्म तदा न तत्र शब्दप्रवृत्तिः स्याद्द्वारं विना साक्षादेव तस्याव्यपदेश्यत्वादित्यर्थः ॥ मा तर्हि ब्रह्मणि व्यपदेशो भूदित्याशङ्क्याऽऽह—व्यपदेशायेति । स्वनामभिरेव ब्रह्मणा व्यपदेशमाशङ्क्याऽऽह—न स्वमिति । स्वीयनामासत्वमसिद्धमिति शङ्कते—नन्विति । अत्रेति ब्रह्मोक्तिः ॥ कार्यकारणोपाधिके ब्रह्मणि यतो नाम सावकाशमतो नोभयविलक्षणे तत्र शब्दप्रवृत्तिरिति परिहरति—कार्येति । द्वयविलक्षणेऽपि सत्यज्ञानादिशब्दप्रयोगोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—रूपेति । सोपाधिके ब्रह्मणि वाच्ये गृहीतसम्बन्धं पदं विरुद्धांशत्यागेन शुद्धं लक्षयति न तु विना लक्षणां ब्रह्मणि शब्दप्रवृत्तिरित्यर्थः । तत्र मुख्यवृत्त्या शब्दाप्रवृत्तौ हेतुमाह—शब्देति । अतो लक्षणयैव निष्प्रपञ्चं प्रत्यग्ब्रह्म वेदान्तप्रमाणकमिति भावः ।

न्यस्तस्य वाक्यस्य 'व्याख्यानविषये' संबन्धप्रयोजने अभिहिते 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवदिति । एवं प्रत्यगात्मा ब्रह्मविद्याया विषय इत्येतदुपन्यस्तम् । अविद्यायाश्च विषयोऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेदेत्यारभ्य चातुर्वर्ण्यप्रविभागादिनिमित्तपाङ्क्तकर्मसाध्यसाधनलक्षणो बीजाङ्कुरवद्व्याकृताव्याकृतस्वभावो नामरूपकर्मात्मकः संसारस्त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्मेत्युपसंहृतः "शास्त्रीय उत्कर्षलक्षणो "ब्रह्मलोकान्तोऽधोभावश्च स्थावरान्तोऽशास्त्रीयः पूर्वमेव प्रदर्शितो "द्वया हेत्यादिना ।

विद्याविषयमुक्तं निगमयति—एवमिति । उक्तमर्थान्तरं स्मारयति—अविद्यायाश्चेति । अन्योऽसावित्याद्यारभ्याविद्याया विषयश्च संसार उपसंहृतस्त्रयमित्यादिनेति संबन्धः । संसारमेव विशिनष्टि—चातुर्वर्ण्येति । चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यमिति प्रविभागादिनिमित्तं "यस्य पाङ्क्तस्य कर्मणस्तस्य साध्यसाधनमित्येवमात्मक इति यावत् । "तस्यानादित्वं दर्शयति—बीजाङ्कुरवदिति । तमेव त्रिधा संक्षिपति—नामेति । "स चोत्कर्षापकर्षाभ्यां द्विधा भिद्यते तत्रा"ऽऽद्यमुदाहरति—शास्त्रीय इति । उत्कृष्टो हि संसार"स्त्यब्रह्मभावः शास्त्रीयज्ञानकर्मलभ्य इत्यर्थः । द्वितीयं कथयति—अधोभावश्चेति । निकृष्टः संसारः "स्वाभाविकज्ञानकर्मसाध्य इत्यर्थः ।

ब्रह्मस्वरूप ही था) उसने अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ, इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया" इस श्रुतिवाक्य से निरूपण किया है । इस प्रकार यह प्रदर्शित किया गया है कि प्रत्यगात्मा ब्रह्मविद्या का विषय है और अविद्या का विषय है । "यह आराध्यदेव भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूँ, इस प्रकार जो अपने से भिन्न देवता की उपासना करता है" इस श्रुतिवाक्य से उपक्रम करके चातुर्वर्ण्यादि विभाग के निमित्तभूत पाङ्क्तकर्मरूप साध्यसाधनसंज्ञक, बीजाङ्कुर के समान कार्यकरणस्वरूप नामरूपकर्मात्मक संसार का "नाम, रूप और कर्म यह तीन का समुदाय है और यही त्रय है" इस श्रुतिमन्त्र से उपसंहार किया गया है । इसके अतिरिक्त पृथिवी से ब्रह्मलोक पर्यन्त शास्त्रविहित (उपास्त्यादिजन्य) उत्कर्ष और स्थावरपर्यन्त शास्त्रनिषिद्ध उपासनादिजन्य अधोगति का व्याख्यान भी "प्रजापति के देव और असुर—ऐसे दो प्रकार के पुत्र थे" इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा पहले ही प्रदर्शित कर दिया गया है ।

१. व्याख्याने इति यावत् । २ आत्मविद्यायाः । ३ तदात्मानमिति—"ब्रह्म वा इदमग्र आसीदि"ति श्रुतिशेष आदौ । अयमर्थः—अग्रे प्राक् प्रबोधादपि इदं शरीरस्थं प्रमात्रादिसाक्षिभूतं त्वंपदलक्ष्यं ब्रह्मैवासीत् तदब्रह्माविद्याविशिष्टतयाऽधिकारित्वेन व्यवस्थितं नासि त्वं संसारी सकलधर्मविनिर्मुक्तं चिदानन्दैकरसं ब्रह्मैवासीति दयालुनाचार्येण कथंचिद्बोधितमात्मानमेवाह ब्रह्म प्रमात्रादिसाक्षि अशनायाद्यतीतं नेतिनेत्यस्थूलादिलक्षणमस्मीत्यवमवेद्विज्ञातवत्तस्मादेव विज्ञानात्तद्ब्रह्म सर्वमभवत् । अब्रह्मत्वाध्यारोपणाविद्यापगमात् तत्कार्यस्यासर्वत्वस्य निवृत्तौ स्वाभाविकं सर्वत्वं प्राप्तवदित्यर्थः । ४ बृ० उ० १।४।१० । ५ प्रदर्शितम् । ६. बृ० उ० १।४।१० । ७ आदिना आत्मा जायाप्रजावित्तादिग्रहः । ८. कार्यकारणस्वरूपः । ९. बृ० उ० १।६।१ । १० शास्त्रविहितोपास्त्यादिजन्यः । ११. भूरादिः । १२ निषिद्धोपासनादिजन्यः । १३. बृ० उ० १।३।१ । १४ यथोक्तकर्मणः साध्यः प्रयोज्यः साधनरूपः प्रयोजकश्च संसार इत्यर्थः । १५. संसारस्य । १६ यथोक्तसंसारः । १७. उत्कर्षवन्तम् । १८ मनोवाक्प्राणाख्यो हिरण्यगर्भभावस्त्र्यात्मत्वम् । १९ अशास्त्रीयस्त्वय । निषिद्धेति यावत् ।

'एतस्मादविद्या विषयाद्विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषयब्रह्मविद्यायामधिकारः कथंचिदपि स्यादिति 'तृतीयेऽध्याय उपसहृत' समस्तोऽविद्याविषयः । 'चतुर्थे तु ब्रह्मविद्याविषय प्रत्यगात्मान 'ब्रह्म ते ब्रवाणीति ब्रह्म ज्ञपयिष्यामीति' च प्रस्तुत्य तद्ब्रह्म कमद्वयं 'सर्वविशेषशून्य क्रियाकारकफलस्वभावसत्यशब्दवाच्याशेषभूतधर्मप्रतिषेधद्वारेण नेति नेतीति ज्ञापितम् ।

⊛"अस्या ब्रह्मविद्याया अङ्गत्वेन सन्यासो विधित्सित" । जायापुत्रवित्ता"दिलक्षण

किमित्यविद्याविषयो व्याख्यातो न हि "स "पुरुषस्योपयुज्यते तत्राऽऽह—एतस्मादिति । प्रत्यगात्मव विषयस्तस्मिन्या ब्रह्मेति विद्या तस्यामिति यावत् । "तार्तीयमनूद्य चातुर्थिकमर्थं कथयति —चतुर्थे त्विति ।

एव "वृत्तमनूद्योत्तरब्राह्मणतात्पर्यमाह—अस्या इति । किमिति सन्यासो विधित्स्यते कर्मणव

इस अविद्या के काय ससार से विरक्त पुरुष का प्रत्यगात्मविषयक ब्रह्मविद्या म अधिकार किस प्रकार हो, इसलिए ब्राह्मणक्रम से तृतीय अध्याय म ही अविद्या के समस्त विषयो का उपसहार कर लिया गया है। चतुर्थ (उपनिषत्क्रम से प्रकृत द्वितीय) अध्याय मे ब्रह्मविद्या के विषयभूत प्रत्यगात्मा का 'अब मैं तुझ ब्रह्म का व्याख्यान करूँ" तथा 'मैं तुझ ब्रह्म का ज्ञान कराऊँगा इन दोनो श्रुतिवाक्यो से उपक्रम करके क्रियाकारकफलस्वभाव, सत्यशब्दवाच्य समस्त जीवधर्मों के प्रतिषेध मार्ग से निर्धर्मक, एक और अद्वय उस ब्रह्म का 'नेति नेति' इस श्रुतिवाक्य से ज्ञान कराया गया है।

प्रकृत ब्रह्मविद्या का अङ्गस्वरूप से सन्यास इस ब्राह्मण मे विधान करना इष्ट है। जाया, पुत्र

---

१ अविद्याकार्यात । २ यथोक्तमसारात् । ३ उपनिषदि प्रथमे । ४ बृ० उ० द्वितीये प्रकृते एव । ५ बृ० उ० २।१।१ । ६ बृ० उ० २।१।१५ । ७ वाक्याभ्याम् । ८ निधमकम् । ९ बृ० उ० २।३ ६ । १० प्रवृताया । ११ अत्र ब्राह्मण । १२ आदिना आत्मा शरीरम् । १३ ससार । १४ मुमुक्षोरधिकारिण । १५ अथम् । १६ अतिक्रान्तमथम् ।

⊛अस्या ब्रह्मविद्याया अङ्गत्वेन सन्यासो विधित्सित इति भाष्यम् । एतद्रहस्याविष्करणपराणि वार्तिकानि प्रदर्श्यन्ते । तथाहि— नित्यकर्माद्यनुष्ठानसशुद्धधिषण पुमान् । निःशेषकर्महेतूत्थफलसावद्यधीस्तत ॥ विरक्त आब्रह्मजात्सोऽस्य तत्सावद्यसमीक्षणात् । ससारदुःखसस्कारस्मृतिभि प्रयमाणधी ॥ उद्भूततज्जिहास सस्तद्धाने साधनस्पृह । त्यक्ताशेषैषण सोऽथ प्रत्यग्याथात्म्यनिश्चय ॥ वस्तुवृत्तात्मसबोधध्वस्तससारकारण । व्याविद्धाशेषससारो विमुक्तो ना विमुच्यते ॥ यावत्किंचिदविद्याया कार्यं वैराग्यकारणम् । तत्सन्यासो विरक्तत्वात्स्वत एव न शास्त्रत ॥ ब्रह्मयाथात्म्यविज्ञानसाधनत्व विनाऽऽश्रमात् । सन्यासस्य न विज्ञात तच्छास्त्रेणेह बोध्यते ॥ ब्रह्मविद्यासमुत्थानात्कार्यकारणलक्षणात् । व्युत्थाप्य नेति नेतीति पर ब्रह्म प्रदर्शितम् ॥ तत्रैतच्छङ्क्यते चोद्य ब्रह्मत्वासिद्धिदोषकृत् । निषिद्ध नेति नेतीति मूर्तामूर्तादि वस्तु यत् ॥ किं तदब्रह्मानुग सर्वं किं वा तस्माद्विविच्यत । यदि ब्रह्मानुग ब्रह्म स्यादनथात्मक तदा ॥ अभावनिष्ठ तच्चेत्स्यान्मुख्य ब्रह्म न सिध्यति । अभावस्य सतोऽन्यत्वाद्वस्तुव्यतिरेकत ॥ नेतीत्यपि निषेधोक्तिस्तथा सति विरुध्यते । वैदिकश्च प्रयासोऽस्य सव स्यात्तुषखण्डनम् ॥ विविच्यते ब्रह्मणश्चेन्मैव दोषस्तथाऽपि हि । ब्रह्मत्व ब्रह्मणो न स्याद्द्वितीये सति वस्तुनि॥ ——

पाङ्क्तं कर्माविद्याविषयं यस्मान्नाऽऽत्मप्राप्तिसाधनम् । अन्यसाधनं ह्यन्यस्मै फलसाधनाय प्रयुज्यमानं प्रतिकूलं भवति । न हि बुभुक्षापिपासानिवृत्त्यर्थं धावनं गमनं वा साधनम् ।

विद्यालाभादित्याशङ्क्याऽऽह—जायेति । अविद्याया 'विषय एव 'विषयो यस्येति विग्रहः । तस्मात्संन्यासो विविदिषित इति पूर्वेण संबन्धः । ननु प्रकृतं कर्माविद्याविषयमपि किमित्यात्मज्ञानं 'तादर्थ्येनानुष्ठीयमानं 'नोपनयति तत्राऽऽह—अन्येति । 'तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—न हीति । पाङ्क्तस्य

धन और शरीरलक्षण पाङ्क्तकर्म अविद्या का विषय है क्योंकि वह आत्मप्राप्ति का साधन नहीं है। किसी अन्यफल की सिद्धि के लिए किसी अन्य साधन का प्रयोग करना विपरीत ही हो जाता है। भूख और प्यास मिटाने के लिए दौडना अथवा चलना साधन नहीं हो सकता। पुत्रादिसाधन मनुष्यलोक,

१ कार्यम् । २ फलम् । ३ आत्मज्ञानार्थमिति यावत् । ४ जनयतीत्यर्थः । ५ प्रतिकूलत्वमेव ।

वृत्तान्ननुगतं वस्तु ब्रह्मत्वमश्नुते । एतच्च दुर्लभं तस्य द्वितीये सति लक्षणम् ॥ अथाब्रह्मात्मकं वस्तु जग्ध्वा चेद्ब्रह्म तद्भवेत् । प्रतीचो ब्रह्मणाऽस्तत्वान्न मोक्षो नापि संसृतिः ॥ संसारिणो न चेदस्ति संसार्येव प्रसज्यते । नाऽऽप्नोति ब्रह्मतां साक्षात्सत्सु संसारिवस्तुषु ॥ संसारे चापि जग्धेऽस्मिन्ब्रह्मणा निखिले सति । ऋतेऽपि ब्रह्मविज्ञानात्सर्वे स्युर्मुक्तबन्धनाः । अन्वयादिनिषेधाय सर्वमात्मेति वाक्यतः । मैत्रेयीत्यादिको ग्रन्थस्तस्मादारभ्यते परः ॥ सर्वाब्रह्मनिषेधेन तदर्थो वेह निश्चितः । तस्य संसिद्धिविषयमैकात्म्यमधुनोच्यते ॥ नेतीति ब्रह्मणोऽन्यत्र मूर्तामूर्तव्यवस्थितौ । प्रसक्ते सांख्यसिद्धान्ते सर्वमात्मेति चोच्यते ॥ सत्यपि ब्रह्मवादित्वे नासत्यक्तैषणो यतिः । मुक्तिभागिति चेहोक्तः संन्यासेन समुच्चयः ॥ निरस्तातिशयज्ञानो याज्ञवल्क्यो यतो गृही । कैवल्याश्रममास्थाय प्राप तद्वैष्णवं पदम् ॥ त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् । त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्" ॥२-२३॥ "ब्रह्मचर्याद्गृहाच्चैव वनाच्चापि विधीयते । निःशेषकर्मसंन्यासो यतोऽतो नर्णबद्धता ॥ श्रुत्या जाबालशाखायां तथाचानधिकारिणाम् । संन्यासस्य विधानाच्च कार्योऽतोऽसौ मुमुक्षुभिः ॥ नरलोकादिकामानां सुतोत्पत्त्यादि साधनम् । तेभ्यो व्युत्थितचित्तानां संन्यासस्त्वात्मकामिनाम् ॥ इममर्थं श्रुतिर्वक्ति सर्वकर्मानपेक्षिणी । प्रजादिना करिष्यामः किं तत्फलवितृष्णतः ॥ उत्पत्त्यादिविरुद्धोऽयं लोको येषामकर्मजः । मोहमात्रान्तरायत्वाज्ज्ञानमात्रमपेक्षते ॥ प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् । तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥ भावितैः करणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु । आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे । तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः । त्रिष्वाश्रमेषु कोऽन्वर्थो भवेत्परमभीप्सतः" ॥२७-३४॥ 'मुख्यायता वा प्रागुक्ता ब्रह्मेत्यस्य सदार्थिनः । प्रतीच्यथाऽऽत्मशब्दस्य मुख्यार्थो ब्रह्मणीयतः ॥ ततस्तदेतदिति च ब्रह्मात्मपदवाच्ययोः । मधुकाण्डार्थसर्वस्वं वाक्येन प्रतिपाद्यते ॥ प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानजन्मनः श्रुतिः स्वयम् । विधिरस्तीह संन्यासं मैत्रेयीति प्रवर्तते' ॥३६-३८॥ मुक्तिहेतुत्वेन प्रस्तुतविद्याङ्गतया संन्यासविधानार्थं ब्राह्मणमिति संबन्धः विवक्षुणां मुक्तिसिद्धौ क्रमं वदन्निहामुत्र वाऽनुष्ठितनित्यादिकर्मफलं चित्तशुद्धिरित्याह—नित्येति । शुद्धिफलं संसारासारतादृष्टिरित्याह—निःशेषेति । ततः शुद्धेरिति यावत् ॥ संसारदोषदृष्टिफलमाह—विरक्त इति । वैराग्यफलं संसारजिहासा तज्जं सहेतूक्तिपूर्वकमाह—संसारेति ॥ उत्पन्नसंसारजिहासाकार्यमाह—तद्धान इति । आत्यन्तिकबन्धध्वस्तौ हेतुं जिज्ञासमानः स्वाध्यायादापातेनाऽऽत्मज्ञानं तदुपायं श्रुत्वा तच्छेषत्वेन पुत्राद्येषणात्रयं त्यजतीत्याह—त्यक्त्वेति । विविदिषासंन्यासानन्तरमसकृदनुष्ठितश्रवणादिफलमाह—अथेति ॥ तत्त्वज्ञानफलमाह—वस्त्विति । कारणध्वस्त्या

मनुष्यलोकपितृलोकदेवलोकसाधनत्वेन हि पुत्रादिसाधनानि [1]श्रुतानि नाऽऽत्मप्राप्तिसाधनत्वेन । [2]विशेषितत्वाच्च । न च ब्रह्मविदो विहितानि[3] [4]काम्यत्वश्रवणादे[5]तावान्वै[6] काम[7]

कर्मणोऽन्यसाधनत्वमेव कथमधिगतमित्याशङ्क्याऽऽह—मनुष्येति । [8]सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यः कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक इति विशेषितत्वम् । श्रुतत्वमेव विशेषितत्वोक्तिद्वारा स्फुटीकृतमिति चकारेण द्योत्यते । [9]ननु ब्रह्मविद्या स्वफले विहितं कर्मापेक्षते श्रौतसाधनत्वा[10]द्दर्शादिवत्तथा[11]च समुच्च-

पितृलोक और देवलोक की प्राप्ति के साधनरूप से सुने गए हैं, आत्मप्राप्ति के साधनरूप से नहीं सुने गये । पुत्रादिकों का मनुष्यलोकादि फल में विनियोग हो जाने से ऐसा होता है । विहित कर्मों के काम्यत्वविषयक श्रवण करने पर प्रसिद्ध, जाया, पुत्र, वित्तकर्मसंज्ञक कामना किये जाने वाले विषय

१. बृ० उ० १।५।१६ । २. पुत्रादीनां मनुष्यलोकादौ फले विनियुक्तत्वाच्चेत्यर्थः । ३. कर्माणि । ४. कर्मणां कामनाविषयत्वश्रवणात् । ५. प्रसिद्धजायापुत्रवित्तकर्माख्यः । ६ बृ० उ० १।४।१७ । ७. कामयितव्यो विषयः । ८ बृ० उ० १।५।१६ । ९. सन्यासमनिच्छु समुच्चयवादी शङ्कते—नन्विति । १०. तेषां हि साङ्गानामेव फलजनकत्वमिति तानि प्रयाजादिकमङ्गकर्मापेक्षन्ते । ११. विद्याया. स्वफलोत्पादने कर्मापेक्षत्वे सति ।

कार्यध्वस्तिमाह—व्याविद्धेति । आत्मनः स्वतो मुक्तस्य कुतः सा हेत्वधीनेत्याशङ्क्याज्ञानाद्बन्धवज्ज्ञानाद्बुद्धस्य सकार्याज्ञानध्वस्तौ मोपचर्यते ब्रह्मविदाप्नोतीत्यादावित्याह—विमुक्त इति ॥ ज्ञानाङ्गत्वेनोक्तसन्यासस्य वैराग्यादेव प्राप्तेर्न तद्विध्यर्थं ब्राह्मणमारम्भमित्याशङ्क्य सन्यासस्वरूपे विध्यानर्थक्य तस्य ज्ञानाङ्गत्वे नेति विकल्प्याऽऽद्य-मङ्गी करोति—यावदिति । तस्य तत्कारणत्व दुःखबहुलत्वादवधेयम् ॥ द्वितीय दूषयति—यद्यो ति । इहेति वैदिकपक्षोक्ति ॥ सन्यासस्य ज्ञानसाधनत्वोक्त्यर्थं ब्राह्मणमिति भाष्योक्तमर्थमुक्त्वाऽर्थान्तरं वक्तुमनन्तर-ब्राह्मणोक्तमनुवदति—ब्रह्मविद्येति ॥ उत्तरब्राह्मणापोद्य चोद्यमाह—तत्रेति । तस्य निरस्यतामाह—यद्यो नि । चाद्यमेव विशदयितु विकल्पविषयमाह—निषिद्धमिति ॥ तत्किं ब्रह्मणोऽभिन्नं किंवाऽभावनिष्ठमथ भिन्नमिति विकल्पयति—किं तदिति । अभेदपक्षमनुभाष्य दूषयति—यदीति ॥ अभावनिष्ठत्वपक्षमनूद्य निरस्यति—अभावेनि । कुतो मुख्यब्रह्मसिद्धिस्तत्राऽऽह—अभावस्येति । मूर्तादेरभावनिष्ठत्वे तस्य ब्रह्मणोऽन्यत्वमनन्यत्व वाऽऽद्यं तस्य तेन संयोगवियोगयोगाद्द्वैतासिद्धेर्मुख्यब्रह्मसिद्धिरित्यर्थः ॥ द्वितीये निषेधोक्तिरफला बोध्यब्रह्माभावादित्याह—नेतीत्यपीति । वक्ष्यमाणदोषसमुच्चयार्थोऽपिशब्द । ब्रह्माभावे सर्वोपनिषदारम्भवैयर्थ्यं दोषान्तरमाह—वैदिकश्चेति ॥ भेदपक्षमनूद्य प्रत्याह—विविच्यत इति । तमेव प्रकटयति—ब्रह्मत्वमिति ॥ सत्यपि द्वितीये तत्किं न स्यादित्याशङ्क्य ब्रह्मलक्षणमाह—अव्यावृत्तेति । द्वितीय सत्यपीद लक्षण ब्रह्मणि किं न स्यात्तत्राऽऽह—एतच्चेति ॥ तदपि द्वितीयमुपसंहृत्य ब्रह्मोक्तलक्षणं स्यादित्याऽऽह—अथेति । ब्रह्म द्वितीयमुपसंहरत्तथा जीवमुपसंहरति न वा नाऽऽद्य इत्याह—प्रतीच इति ॥ कल्पान्तरमनुवदति—संसारिण इति, । से ब्रह्मणोऽभिन्ना भिन्ना वेति विकल्प्याऽऽद्य निराह—संसारीति । ब्रह्मे ति शेषः । भेदपक्ष निरस्यति—नाऽऽप्नोतीति । संसारिब्रह्मणो-रभेदेऽपि न ब्रह्मणः संसारस्तस्य तेन ग्रस्तत्वादित्याशङ्क्यातिप्रसङ्गमाह—संसारे चेति ॥ एतदुत्तरत्वेन ब्राह्मणमवतारयति—अन्वयादीति । अन्वयव्यतिरेकाभावपरिहाराभ्या सर्वमात्मेति वाक्यार्थप्रत्यक्षमात्र इत्यादिति वक्तुमुत्तरो ग्रन्थो यस्मादारभ्यते तस्मान्नोक्तदोषप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ चोद्योत्तरत्वेन ब्राह्मणमवतार्यार्थान्तरमाह—सर्वेति । इहेत्यनन्तरब्राह्मणमुक्तम् । मूर्ताद्यनात्मनिरासेन तदर्थो निर्धारितस्तस्य स्वमर्थेनैक्यं मुक्त्यालम्बनमत्र निर्धार्यत इत्यर्थः ॥ प्रकारान्तरेण ब्राह्मणमुत्थापयति—नेत्यादिना । निषेधोक्तेर्ब्रह्मणोऽन्यत्र द्वैतसंभावनाभा

इति। ब्रह्मविदश्चाऽऽप्तकामत्वादाप्तकामस्य कामानुपपत्तेः। 'येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति च श्रुतेः।

याम्न कर्मसन्यासमिद्धिरत आह—न चेति। कर्मणा 'काम्यत्वेऽपि ब्रह्मविदस्तानि किं न स्युरित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मविदश्चेति। इतश्च तस्य पुत्रादिसाधनानुपपत्तिरित्याह—येषामिति।

ब्रह्मवेत्ता के लिए नहीं हैं क्योंकि ब्रह्मवेत्ता आप्तकाम होता है और आप्तकाम को कोई कामना नहीं होती। "(उनका निश्चय था कि हमें प्रजा से क्या लेना है) जिन हम मोक्षाभिलाषियों को यह स्वयंप्रकाश आत्मलोक प्राप्त करना ही इष्ट है" इत्यादि श्रुतिवाक्य इसमें प्रमाण है।

कुछ दार्शनिक तो ब्रह्मज्ञानी का एषणात्रय से सम्बन्ध होना बतलाते हैं। उन्होंने बृहदारण्यक उपनिषत् नहीं सुना। पुत्रादि एषणाएँ तो अविद्वान् को ही होती हैं। विद्या के विषय में 'जिन हम

१ बृ० उ० ४।४।२२। २ स्वयप्रकाश: ३ फलेच्छा साधनमुपसक्रामतीति न्यायेन कामनाविषयत्वेऽपि।

द्वैतिमतमाशङ्क्य कल्पितस्य सर्वस्याऽऽत्ममात्रत्वं वक्तुमनन्तरब्राह्मणमित्यर्थः॥ तस्यार्थान्तरमाह—सत्यपीति। सन्यासस्य सम्यग्ज्ञानाङ्गत्वस्थापनायाऽऽरम्भः प्रागुक्तोऽधुना ज्ञानस्य तेन समुच्चयविधानायेति भेदः॥ ज्ञाने सत्यपि सन्यासाभावादमुक्तेरदृष्टेर्न मुक्तौ समुच्चयस्तत्राऽऽह—निरस्तेति। अतः सन्यासज्ञानयोर्युक्तो मुक्तौ समुच्चय इति शेषः॥ तत्समुच्चितधियो मुक्तिहेतुत्वे न केवलं लिङ्गमेव मानं किन्तु स्मृतिरपीत्याह—त्याग इति। तर्हि त्यागस्यैव मुक्तिहेतुता न तत्समुच्चितज्ञानस्येत्याशङ्क्याऽऽह—त्यजतेति॥ ऋणापाकरणश्रुतिस्मृतिविरोधात्सन्यासायोगे कुतस्तत्समुच्चयसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मचर्यादिति। न विधिविरोधेऽर्थवादश्रुतिस्मृत्योः स्वार्थे मानतेति सबन्धग्रन्थे साधितमिति भावः। अथ जाबालश्रुतौ कर्मानधिकृतान्धादिविषयः सन्यासविधिः। यथाऽऽहुः—'तत्रैव शक्यते वक्तुं येऽन्धपङ्ग्वादयो नराः। गृहस्थत्वं न शक्ष्यन्ति कर्तुं तेषामयं विधिः॥ नैष्ठिकब्रह्मचर्यं वा परिव्राजकताऽपि वा। तैरवश्यं ग्रहीतव्या तेनाऽऽदावतदुच्यते'॥ इति तत्राऽऽह—तथाचेति। अथ पुनरव्रती वेत्यादिना पृथगनधिकृतानां सन्यासविधानात्पूर्वमधिकृतविषयमेवेति भावः। ऋणश्रुत्याद्यविरोधे फलितमाह—कार्य इति॥ ऋणप्रमाणाविरोधेऽपि मोचकज्ञानाङ्गत्वेन सन्यासो न कार्यः सुतादिसाधनात्तत्समुच्चितज्ञानाद्वा तत्सिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—नरेति॥ पुत्रादेः स्वतन्त्रस्य परतन्त्रस्य वा न मुक्तिहेतुतेत्यत्र श्रुतिमाह—इममिति। पुत्रादिना मनुष्यलोकादिसिद्धेरिष्टत्वादाक्षेपानुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—तत्फलेति॥ तद्वैतृष्ण्ये हेतुमाह—उत्पत्त्यादीति। ते वयं तत्फलवितृष्णा इति सबन्धः। मोक्षः सुताद्यनपेक्षश्चेत्किमपेक्ष्य भवति तत्राऽऽह—मोहेनि॥ पुत्रादेरन्यत्र विनियुक्तत्वात्केवलस्य समुच्चितस्य वा मुक्तिहेतुत्वायोगाज्ज्ञानस्यैव तद्धेतुत्वात्तदङ्गत्वेन सन्यासविधिरित्युक्त सम्प्रति तस्य ज्ञानहेतुत्वे स्मृतिमाह—प्रवृत्तीति॥ अमसन्यासविषयमिदं वाक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—भाविर्तेरिति॥ ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजितस्यापि पुनरिच्छया गार्हस्थ्यादौ प्रवृत्तिः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तमिति॥ ज्ञानस्य स्वरूपे फले चोपकारित्वेन सन्यासं विधातुं ब्राह्मणमित्युक्त्वाऽर्थान्तरविवक्षया पूर्वब्राह्मणार्थमनुवदति—मूर्त्येति। तदर्थस्य स्वमर्थपर्यन्तता विहितेत्यर्थः। वक्ष्यमाणब्राह्मणार्थं संक्षिपति—अथेति। स्वमर्थस्य तदर्थपर्यन्ततानन्तरमुच्यत इत्यर्थः॥ ब्राह्मणद्वयं पदार्थोपक्षीणं चेद्वाक्यार्थस्तर्हि केनोच्यत इत्याशङ्क्य मधुब्राह्मणेनेत्याह—तत इति। तदेतद्ब्रह्मापूर्वमित्यादिना वाक्येनेति सबन्धः। ब्रह्मादिपदवाच्ययोस्तद्द्वारा लक्ष्ययोरिति यावत्। मधुकाण्डार्थसर्वस्वमैक्यमित्यर्थः॥ ब्राह्मणार्थमनेकधोक्त्वा सन्यासस्य ज्ञानाङ्गत्वपक्षे ब्राह्मणमवतारयन्मुखप्रतिपत्त्यर्थमाख्यायिकामुत्थापयति—प्रत्यगिति। सन्यासस्य ज्ञानाङ्गत्वपरामर्शार्थोऽत्र शब्दः। इहेति विरक्ताधिकारोक्तिः॥

केचित्तु ब्रह्मावदाऽप्ययपरणासवन्धं वर्णयन्ति तैर्बृहदारण्यकं न श्रुतम् । पुत्राद्येषणानामविद्वद्विषयत्वम् । विद्याविषये च [1]येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इत्यतः किं प्रजया करिष्याम इत्येष विभागस्तैर्न श्रुतः, श्रुत्या कृतः । सर्वक्रियाकारकफलोपमर्दस्वरूपायां च विद्यायां सत्यां सह कार्येणाविद्याया अनुपपत्तिलक्षणश्च विरोधस्तैर्न विज्ञातो व्यासवाक्यं च तैर्न श्रुतम् । कर्मविद्यास्वरूपयोर्विद्याविद्यात्मकयोः प्रतिकूलवर्तनं विरोधः ।

"यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ।
[2]कां गतिं विद्यया यान्ति कां च [3]गच्छन्ति कर्मणा ॥
एतद्वै श्रोतुमिच्छामि तद्भवान्प्रब्रवीतु मे ।
[4]एतावन्योन्यवैरूप्ये वर्तेते प्रतिकूलतः" ॥

समुच्चयपक्षमनुभाष्य श्रुतिविरोधेन दूषयति—केचित्त्विति । श्रुतिविरोधमेव स्फोरयति—पुत्रादीति । अविद्वद्विषयत्वं श्रुत [5]तत्प्रकरणे [6]तेषामुपदेशादिति शेषः । किं प्रजया करिष्याम इत्यत आरभ्य येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति च [7]विद्याविषये श्रुतमिति योजना । एष विभागः श्रुत्या कृतस्तैः समुच्चयवादिभिर्न श्रुत इति संबन्धः । न केवलं श्रुतिविरोधादेव समुच्चयासिद्धिः किंतु युक्तिविरोधाच्चेत्याह—सर्वेति । द्वितीयश्चकारोऽवधारणार्थो नञा सबध्यते । स्मृतिविरोधाच्च समुच्चयासिद्धिरित्याह—व्यासेति । [8]तत्र प्रथमं पूर्वोक्तं युक्तिविरोधं स्फुटयति—कर्मेति । प्रतिकूलवर्तनं निवर्त्यनिवर्तकभावः । संप्रति स्मृतिविरोधं स्फोरयति—यदिदमिति । प्रसिद्धं वेदवचनं कुरु कर्मेत्यज्ञं प्रति यदिदमुपलभ्यते विवेकिनं प्रति च त्यजेति [9]तत्र कां गतिमित्यादिः शिष्यस्य व्यासं प्रति प्रश्नस्तस्य बीजमाह—एताविति । विद्याकर्माख्यावुपायौ परस्परविरुद्धत्वेन वर्तेते साभिमानत्वनिरभिमानत्वादिपुरस्कारेण प्रातिकूल्यात्समुच्चयानुपपत्तेर्यथोक्तस्य प्रश्नस्य सावकाशत्वमित्यर्थः । इत्येवं पृष्टस्य

मोक्षाभिलाषी को यह स्वयंप्रकाश आत्मलोक प्राप्त करना ही अभीष्ट है", इसलिए "हमे प्रजा से क्या लेना है" इत्यादि श्रुतियो द्वारा किया हुआ विभाग उन्होंने नही सुना। इसके अतिरिक्त "समस्त क्रिया, कारक और फल का निरास करनेवाली विद्या के होने पर वहाँ कार्यसहित अविद्या का रहना असभव है" यह विरोध भी वे लोग नही जानते, न ही उन्होंने भगवान् व्यास के (श्रुति-अनुकूल) वचनों को भी सुना है। कर्म और विद्या का स्वरूप अज्ञानात्मक और ज्ञानात्मक होने से उनमे परस्पर विरोध है क्योंकि उनमे विपरीतस्वभाव है।

(अब स्मृतिविरोध का प्रतिपादन करते हैं—) "ऐसे जो वेद के वाक्य है कि कर्म का अनुष्ठान करो और कर्म का त्याग करो तो अधिकारी विद्या से किस फल को प्राप्त करते है और अविद्या के द्वारा (यानी कर्मानुष्ठान के द्वारा) किस फल को फल प्राप्त करते हैं ? इसका रहस्य मैं सुनना चाहता हूँ। आप मुझे इसका उपदेश करें क्योंकि कर्मानुष्ठान और ज्ञान (कर्मत्याग) परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले और प्रतिकूल आचरण (फल) वाले है"।

---

१. बृ० उ० ४।४।२२ । २. किं फलमित्यर्थः। ३. अधिकारिणः । ४. कर्मतत्त्यागावित्यर्थः। ५. अविद्वत्प्रकरणे । ६. पुत्रादीनाम् । ७. विद्याप्रकरणे । ८. युक्तिस्मृतिविरोधयोर्मध्ये । ९. कर्मतत्त्यागरूपाविद्याविद्ययोर्मध्ये ।

इत्येवं पृष्टस्य प्रतिवचनेन—

"कर्मणा वध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः" ॥

'इत्येवमादिविरोधः प्रदर्शितः ।

'तस्मान्न 'साधनान्तरसहिता ब्रह्मविद्या पुरुषार्थसाधनं सर्वविरोधात्साधननिरपेक्षैव पुरुषार्थसाधनमिति' पारिव्राज्यं 'सर्वसाधनसंन्यासलक्षणम्'ङ्गत्वेन विधित्स्यते । 'एतावदेवामृतत्वसाधनमित्यवधारणा'त्पष्ठसमाप्तौ लिङ्गाच्च कर्मी सन्याज्ञवल्क्यः प्रवव्राजेति ।

भगवतो व्यासस्येति शेष । विरोधो ज्ञानकर्मणोः समुच्चयस्येति 'वक्तव्यम् ।

समुच्चयानुपपत्तिमुपसहरति—तस्मादिति । कथं तर्हि ब्रह्मविद्या पुरुषार्थसाधनमिति तत्राऽऽह—सर्वविरोधादिति । सर्वस्य क्रियाकारकभेदात्मकस्य द्वैतेन्द्रजालस्य ब्रह्मविद्यया विरोधादिति यावत् । एकाकिनी ब्रह्मविद्या मुक्तिहेतुरिति स्थिते फलितमाह—इति पारिव्राज्यमिति । न केवलं संन्यासस्य श्रवणादिपौष्कल्यद्वारेण विद्यापरिपाकाङ्गत्वं श्रुत्यादिवशादवगम्यते किं तु लिङ्गादपीत्याह—एतावदेवेति । तत्रैव लिङ्गान्तरमाह—पष्ठसमाप्ताविति । एतच्चोभयत संबध्यते । यदि कर्मसहितं ज्ञानं मुक्तिहेतुस्तदा किमिति कर्मिणः सतो याज्ञवल्क्यस्य पारिव्राज्यमुच्यते ';तस्मा' त्त्याग-"स्तदङ्गत्वेन विधित्सित इत्यर्थ ।

इस प्रकार किये गये प्रश्न का समाधान देते हुए—

"जीव कर्मानुष्ठान के द्वारा बन्धन मे फँस जाता है और ज्ञान द्वारा मोक्षलाभ करता है । इसलिए तत्त्वद्रष्टा महात्मा कर्म का अनुष्ठान नही करते" ।

इस प्रकार प्रवृत्तिलक्षण कर्म और निवृत्तिलक्षण ज्ञान मे परस्पर विरोध प्रदर्शित किया है ।

इसलिए (ज्ञान और कर्म का समुच्चय सभव न होने के कारण) कर्माख्य साधनान्तरसहित ब्रह्मविद्या मोक्षरूप पुरुषार्थ का साधन नही हो सकती, बल्कि सबसे विरोध रहने के कारण (ब्रह्मविद्या) साधननिरपेक्ष ही पुरुषार्थसिद्धि सम्पादित करती है, इस कारण से ब्रह्मविद्या के अङ्गत्वरूप से कर्मादि निखिल साधनो के त्यागात्मक सन्यास का विधान करना इष्ट है । (सन्यासपूर्वक "नेति-नेति"रूप परमात्मज्ञान) इतना मात्र ही अमृतत्व का साधन है—ऐसा निश्चय बृहदारण्यक उपनिषत्

१ इत्यवमादिविरोध इत्यत्रेत्यादिशब्देन "प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञान सन्यासलक्षणम् । तस्माज्ज्ञान पुरस्कृत्य सन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥ भावितं करणैश्चाय बहुससारयोनिपु । आसादयति शुद्धात्मा मोक्ष वै प्रथमाश्रमे ॥ तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चित । त्रिष्वाश्रमेपु को न्वर्थो भवेत्परमभीप्सत" ॥ वा० ३२-३४ ॥ इत्यादिस्मृतयो गृह्यन्ते । योग कर्मयोग । पुरस्कृत्य उद्दिश्य ॥ भावितं सस्कृतं । मोक्ष सन्यासम् । प्रथमाश्रमे तदवसरे ॥ दृष्टार्थस्य अपरोक्षीकृतात्मतत्त्वस्य । ननु सन्यस्यापि प्राच्याश्रमान्गृह्णीयात्पुन कर्मार्थमित्याशङ्क्याऽऽह—त्रिष्विति । २ ज्ञानकर्मणो' समुच्चयासभवात् । ३ कर्माख्यसाधनान्तरेरित्यर्थ । ४ हेतो । ५ कर्मादिखिलसाधनत्यागात्मकम् । ६ ब्रह्मविद्याङ्गत्वेनेत्यर्थ. । ७ सन्यास नेति नेतीत्याद्युक्तरूपमात्मज्ञानमेवेत्यर्थ । ८ बृ०, उ० ४।५।१५ । ९ इति, शेष इति यावत् । १० पारिव्राज्योक्ते । ११ कर्मत्यागेति भाव । १२ ज्ञानाङ्गत्वेन ।

मैत्रेय्यै च कर्मसाधनरहितायै साधनत्वेनामृतत्वस्य ब्रह्मविद्योपदेशाद्वित्तनिन्दावचनाच्च । यदि ह्यमृतत्वसाधनं कर्म स्याद्वित्तसाध्यं पाङ्क्तं कर्मेति तन्निन्दावचनमनिष्टं स्यात् । यदि तु परितित्याजयिषितं कर्म ततो युक्ता तत्साधननिन्दा । कर्माधिकारनिमित्तवर्णाश्रमादिप्रत्ययोपमर्दाच्च ब्रह्म तं परादात्क्षत्त्रं तं परादादित्यादिना । न हि ब्रह्मक्षत्त्राद्यात्मप्रत्ययोपमर्दे ब्राह्मणेनेदं कर्तव्यं क्षत्त्रियेणेनेदं कर्तव्यमिति विषयाभावादात्मानं लभते विधिः । यस्यैव पुरुषस्योपमर्दितः प्रत्ययो ब्रह्मक्षत्त्राद्यात्मविषयस्तस्य

तत्रैव लिङ्गान्तरमाह—मैत्रेय्यै चेति । न हि मैत्रेयी भर्तरि त्यक्तकर्मणि स्वयं कर्माधिकर्तुमर्हति पतिद्वारमन्तरेण भार्यायास्तदनधिकारात् । "तथाच तस्यं कर्मशून्यायं मुक्तेः साधनत्वेन विद्योपदेशात्कर्मत्याग"स्तदङ्गत्वेन ध्वनित इत्यर्थः । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—वित्तेति । किमहं तेन कुर्यामिति वित्तं निन्द्यते । "अतश्च तत्साध्यं कर्म ज्ञानसहायत्वेन मुक्तौ नोपकरोतीत्यर्थः । "तदेव विवृणोति—यदि हीति । तन्निन्दावचनमित्यत्र तच्छब्देन वित्तमुच्यते । त्वत्पक्षे वा कथं निन्दावचनमिति तत्राऽऽह—यदि त्विति । किंच ब्राह्मणोऽहं क्षत्त्रियोऽहमित्याद्यभिमानस्य कर्मानुष्ठाननिमित्तस्य *निन्दया सर्वमिदमात्मैवेति प्रत्यये श्रुतेस्तात्पर्यदर्शनाद्विद्याङ्गत्वेन संन्यासो विधित्सित इत्याह*—कर्माधिकारेति । ननु जाग्रति "विधौ कर्मानुष्ठानमशक्यमपहारयितुमत आह—न हीति । ननु वर्णाश्रमाभिमानवतः संन्यासोऽपीष्यते स कथं तदभावे संभवेत्तत्राऽऽह—यस्यैवेति । अर्थप्राप्तश्चेत्य-

षष्ठ अध्याय की समाप्ति मे लिङ्ग होने से स्पष्ट होता है । तभी तो कर्मकाण्डी होते हुए भी याज्ञवल्क्य ने सन्यास ग्रहण कर लिया ।

इसके अतिरिक्त मैत्रेयी के प्रति, जो कर्मात्मक साधन से रहित थी, अमृतत्व के साधनरूप से ब्रह्मविद्या का उपदेश किये जाने से एव वित्तसाध्य कर्मो की निन्दा किये जाने से भी यही स्पष्ट होता है । क्योकि यदि कर्मानुष्ठान ही *अमृतत्व का साधन होता तो वित्त से सम्पन्न होने वाले कर्मों के लिए* उसकी निन्दाज्ञापक श्रुतियाँ व्यर्थ हो जाती । कर्मो मे साध्यभूत वित्त की निन्दा करनी तो तभी उपयुक्त ठहराई जा सकती है जबकि कर्मों का (स्वरूपत) त्याग करना ही अभिमत हो । इसके अतिरिक्त "ब्राह्मणजाति उस पुरुष को *परास्त कर देती है, जो आत्मा से भिन्न ब्राह्मणजाति को* समझता है", "क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रियजाति को आत्मा से भिन्न समझता है" इत्यादि श्रुतिवाक्य से कर्माधिकार के निमित्तभूत वर्णाश्रमादिप्रत्यय के प्रतिषेध हो जाने से भी उपरोक्त मत की पुष्टि होती है । ब्रह्मक्षत्रादि मे आत्मत्व अध्यास के निवृत्त हो जाने पर "यह ब्राह्मण

१. कर्मात्मसाधनरहितायै । २ वित्तसाध्यकर्मणि तात्पर्यम् । ३. प्रतिषेधात् । ४. ब्रापत् । ५. बृ० उ० २।४।६ । ६. ब्रह्मक्षत्त्रादिष्वात्मत्वाध्यासनिवृत्तौ । ७ नियोज्याभावात् । ८. ब्राह्मणोऽहमित्यादि. । ९. सन्यासस्य ज्ञानपरिपाकाङ्गत्वे । १० कर्मण्यधिकार लब्धुम् । ११ त विना तस्यात्मत्वाधिकाराभावे च । १२. तदङ्गत्वेन । तदुक्त वार्तिकसारे—"विज्ञानसाधनत्वेन मैत्रेयी वित्तमत्यजत् । तत्यागे धीसमाधानाज्ज्ञाने स्यादधिकारिता ॥ चतुर्थ आश्रमो नार्या नाऽस्ति चेन्माऽस्त्वथाप्यसौ । ज्ञानाङ्गं सर्वसंत्यागमर्हत्येवाऽनिषेधकात्" ॥ १२-१३ ॥ इति भावः । १३. निन्दावचनादेव । १४. संग्रहवाक्यमेव । १५. कर्मानुष्ठानस्य ।

'मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य' उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥ १ ॥

अरी मैत्रेयी ! ऐसा याज्ञवल्क्य नामक ऋषि ने अपनी भार्या से कहा—मैं अपने इस गार्हस्थ्य जीवन से ऊपर उठकर सन्यास आश्रम मे जाना चाहता हूँ (अतः इस विषय मे तेरी अनुमति चाहता हूँ) अपनी इस दूसरी भार्या कात्यायनी के साथ तेरा बँटवारा भी कर देता हूँ (तत्पश्चात् मैं चला जाऊँगा) ॥१॥

तत्प्रत्ययसंन्यासा'त्तत्कार्याणां कर्मणां कर्मसाधनानां चार्थप्राप्तश्च संन्यासः । 'तस्मादात्मज्ञानाङ्गत्वेन संन्यासविधित्सयैवाऽऽख्यायिकेयमारभ्यते ।

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यो मैत्रेयीं स्वभार्यामा'मन्त्रितवान्याज्ञवल्क्यो नाम ऋषिः । उद्यास्यन्नूर्ध्वं यास्यन्पारिव्राज्याख्यमाश्रमान्तरं वा अर इति संबोधनमहमस्मा-

---

वधारणार्थश्चकारः । 'प्रयोजकज्ञानवतो वैधसंन्यासाभ्युपगमादविरोध इति भावः । आत्मज्ञानाङ्गत्वं संन्यासस्य श्रुतिस्मृतिन्यायसिद्ध चेत्किमर्थमियमाख्यायिका प्रणीयते तत्राऽऽह—तस्मादिति । विध्यपेक्षितार्थवादसिद्ध्यर्थमाख्यायिकेति भावः ।

भार्यामामन्त्र्य किं कृतवानिति तदाह—उद्यास्यन्निति । वैशब्दोऽवधारणार्थः । आश्रमान्तर

का कर्तव्य है", "यह क्षत्रिय का कर्तव्य है" इन विधिवाक्यो मे आत्मा से नियोज्य का अभाव होने से विधान की सार्थकता नही रह जाती । जिस पुरुष का भी "मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ" इत्यादि-रूप प्रत्यय निवृत्त हो गया, उसे उस प्रत्यय की निवृत्ति हो जाने से स्वभावत ही उस प्रत्यय के प्रयोज्य कार्य-कर्मों का एव कर्म के साधनो का सन्यास प्राप्त हो जाता है । इसलिए आत्मज्ञान के अङ्गस्वरूप से एव (ज्ञानसन्याससमुच्चय होने के कारण) सन्यास का विधान करने की इच्छा से ही यह आख्यायिका प्रारम्भ की जाती है ।

"मैत्रेयी होवाच याज्ञवल्क्य" अर्थात् याज्ञवल्क्यनामक ऋषि ने अपनी भार्या मैत्रेयी को सबोधित किया । मैं यहाँ से "उद्यास्यन्" अर्थात् ऊपर के पारिव्राज्यसज्ञक आश्रमान्तर मे जाने वाला हूँ ।

---

१. "अपोदित समारोप इत्येव ब्राह्मणत्रये । आत्मेत्येवेति सूत्रार्थो ब्राह्मणेऽस्मिन्नुदीर्यते" ॥वा० सा० २।४।१॥ सूत्रार्थोऽखण्डार्थरूप । २. यथोक्तप्रत्ययप्रयोज्यानाम् । ३. सन्यासज्ञानाङ्गत्वस्य श्रुत्यादिसिद्धत्वात् । ४. ज्ञानसन्याससमुच्चयस्याप्युपलक्षणमिदम् । ५. सबोधितवान् । सति भार्यादौ तदनुमतिपूर्वकमेव क्रमसन्यासस्य श्रुतिविहितत्वाद्युक्तमामन्त्रणम् । श्रुतिश्चेयम्—"मातर पितर भार्यां पुत्रान् सुहृदो बन्धूनेतानानुमोदयित्वा ये चास्यर्त्विज तान् सर्वान् पूर्ववद्वृणीत्वा वैश्वानरीमिष्टिं कृत्वा सर्वस्व दद्यादिति" कौपीतकिनाम् ॥ ६. प्रयोजकेति—प्रयोजकज्ञानम् आनन्दाद्वयात्मप्रतिपादकवाक्यजन्यमापातज्ञानम् । तत्त्व चाप्रामाण्यशङ्कास्पदत्वम् । सशयाद्यविरोधित्वमिति यावत् । ब्राह्मण प्रव्रजेद्गृहादिति श्रुत्वा ब्राह्मणोऽहमिति प्रयोजकज्ञानवान् विधितः प्रव्रजेत् । गलिताभिमानस्त्वर्थादित्यपि केचित् ।

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं' तेनामृता

तब उस मैत्रेयी ने कहा—हे भगवन् ! यदि यह धन-धान्य से सम्पन्न सम्पूर्ण पृथिवी मुझे प्राप्त हो जाय तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ ? याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं-नहीं । धन से अमृतत्व

द्गार्हस्थ्यात्स्थानादाश्रमादूर्ध्वं गन्तुमिच्छन्नस्मि भवामि । 'अतो हन्तानुमतिं प्रार्थयामि ते तव । किंचान्यत्ते तवानया द्वितीयया भार्यया कात्यायन्याऽन्तं विच्छेदं करवाणि । पति-द्वारेण युवयोर्मया संबध्यमानयोर्यः संबन्ध आसीत्तस्य 'संबन्धस्य विच्छेदं करवाणि द्रव्यविभागं कृत्वा 'वित्तेन संविभज्य युवां गमिष्यामि ॥१॥

सैवमुक्ता होवाच यद्यदि न्विति वितर्के मे ममेयं पृथिवी भगो भगवन्सर्वा 'सागर-

---

यास्यन्नेवाहमस्मीति संबन्धः । यथोक्तेच्छानन्तरं भार्यायाः 'कर्तव्यं दर्शयति—अत इति । सति भार्यादौ संन्यासस्य तदनुज्ञापूर्वकत्वनियमादिति भावः । कर्तव्यान्तरं कथयति—किंचेति । आवयो-र्विच्छेदः स्वाभाविकोऽस्ति किं तत्र कर्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—पतिद्वारेणेति । त्वयि प्रव्रजिते स्वयमेवाऽऽवयोर्विच्छेदो भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—द्रव्येति । 'वित्ते तु न स्त्रीस्वातन्त्र्यमिति भावः ॥ १ ॥

मैत्रेयी मोक्षमेवापेक्षमाणा भर्तारं प्रत्यानुकूल्यमात्मनो दर्शयति—सैवमिति । कर्मसाध्यस्य

"अरे" यह पद सम्बोधन के लिए प्रयुक्त है । "अहमस्मात्स्थानात्" यानी मैं इस गृहस्थाश्रम से ऊपर अन्य आश्रम में जाने के लिए इच्छुक "अस्मि" यानी हूँ । अतः (ऊपर जाने की उत्कट इच्छा होने से) "हन्त ते" यानी तेरी अनुमति की प्रार्थना हूँ । इसके सिवा यह भी चाहता हूँ कि "अनया कात्याय-न्याऽन्त करवाणीति" अर्थात् अपनी इस दूसरी भार्या के साथ तुम्हारा (द्रव्य) विभाजन भी करवा दूँ । सपत्नीभाव से मुझसे सम्बद्ध हुई तुम दोनों का पतिद्वार से जो सम्बन्ध था, अब द्रव्य विभाजन करके मैं उस सम्बन्ध का विच्छेद कर दूंगा । "अपनी अपनी अनुरूप वृत्ति के अनुसार विभाग करके संन्यास ग्रहण करे" इस शास्त्रोक्ति से (प्रेरित होकर) धन के द्वारा तुम दोनों का विभाजन कर मैं सन्यास मार्ग में प्रवृत्त हो जाऊँगा ॥१॥

इस प्रकार कहे जाने पर वह मैत्रेयी बोली—"यन्नु म इय भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्" यानी यदि सागर से परिवेष्टित तथा धन से पूर्ण सारी पृथिवी मेरी हो जाय, तो भी क्या मैं अमर

---

१. किम् । २. उद्गमनोत्कटेच्छायाः सत्त्वात् । ३. सपत्नीत्वरूपस्येत्यर्थः । ४. स्वान् अनुरूपाभिर्वृत्तिभिः सविभज्य संन्यस्येदिति शास्त्रं चात्र नियामकमिति भावः । ५. सागरपरिवेष्टिता । ६. यद्वा पत्या भार्यायां यत्कर्तव्यं तत् समतिप्रदानाख्यम् । ७. नन्वावामेव वित्तं सविभक्ष्यावहे त्वया संन्यस्यतामित्यत्राह—वित्ते त्विति । तदुक्तं वार्तिके—"निःस्वा स्त्री स्ववता पुंसा नियुक्ता कर्मसंपदि । मयि प्रव्रजिते तस्माद्युवयोर्नार्थ-सगतिः" ॥ ४३ ॥ इति । "भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रयस्ते निर्धनाः स्मृताः । यं ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्" ॥ इति स्मृतेश्च । यमर्थं ते भार्यादयः समधिगच्छन्ति लभन्ते तदपि धनं तस्यैव भवति स्वामिनः यस्यैव ते स्वभूता इत्यर्थः । अथ तर्हि हिमा कर्मण्यधिक्रियते तत्राऽऽह—स्ववतेति ॥

स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवो-
पकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृ-
तत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति [1]वित्तेनेति ॥ २ ॥

की आशा नहीं की जा सकती है। उससे तो केवल इतना ही होगा कि जैसे विपुल भोगसामग्री से युक्त पुरुष का जीवन होता है; वैसा ही तेरा भी जीवन होगा ॥२॥

परिक्षिप्ता वित्तेन धनेन पूर्णा स्यात्कथं [2]न कथंचनेत्याक्षेपार्थः प्रश्नार्थो वा, तेन पृथिवीपूर्णवित्तसाध्येन कर्मणाऽग्निहोत्रादिनाऽमृता किं स्यामिति व्यवहितेन संबन्धः । प्रत्युवाच याज्ञवल्क्यः । कथमिति यद्याक्षेपार्थं[3]मनुमोदनं नेति होवाच याज्ञवल्क्य इति । प्रश्नश्चेत्प्रतिवचनार्थं नैव स्या अमृता किं तर्हि यथैव लोक उपकरणवतां साधनवतां जीवितं सुखोपभोगसंपन्नं तथैव तद्वदेव तव जीवितं स्याद[4]मृतत्वस्य तु नाऽऽशा मनसाऽप्यस्ति वित्तेन वित्तसाध्येन कर्मणेति ॥२॥

गृहप्रासादादिवन्नित्यत्वानुपपत्तिराक्षेपनिदानम् । कथंशब्दस्य प्रश्नार्थत्वपक्षे वाक्यं योजयति—तेनेति । कथं तेनेत्यत्र [5]कथंशब्देन किमहं तेनेत्य[6]त्रत्यं किंशब्दमु[7]पादाय वाक्यं योजनीयम् । [8]वित्तसाध्यस्य कर्मणोऽमृतत्वसाधनत्वमात्रासिद्धौ तत्प्रकारप्रश्नस्य निरवकाशत्वादित्यर्थः । मुनिरपि भार्याहृदयाभिज्ञः संतुष्टः सन्नाक्षेप प्रश्नं च प्रतिवदतीत्याह—प्रत्युवाचेति । वित्तेन ममामृतत्वाभावे तदकिंचित्करसनादेयमित्याशङ्क्याऽऽह—किं तर्हीति ॥ २ ॥

हो सकती हूँ ? "नु" वितर्क के अर्थ मे अव्यय है, अर्थात् किसी प्रकार भी नहीं हो सकती । इस प्रकार 'कथ'शब्द क्षेपार्थ अथवा प्रश्नार्थ के लिए प्रयुक्त है । इससे सम्पूर्ण पृथिवी के वित्त से साध्य अग्निहोत्रादि कर्म से क्या मैं अमर हो जाऊँगी, इसका व्यवहित पदों से सम्बन्ध है । इसका उत्तर याज्ञवल्क्य ने निषेध मे दिया । यदि मन्त्रस्थ 'कथम' पद को क्षेपार्थक माना जाय तब "न इति" पद से याज्ञवल्क्य ने अनुमोदन किया है और यदि उसे प्रश्नार्थक माना जाय तो यह प्रत्युत्तर के लिए है अर्थात् यदि तू उससे अमर न हो सकी तो क्या होगा । "यथैव" अर्थात् जिस प्रकार लोकव्यवहार मे 'उपकरणवताम्" यानी साधनसम्पन्न मनुष्यों का जीवन सुख के साधनभूत भोग मे आसक्त रहता है, वैसा ही तेरा जीवन भी हो जायगा । "वित्तेन" अर्थात् धनसाध्य कर्म से अमृतत्व की आशा तो मन से

१. वित्तसाध्यकर्मणेत्यभिप्राय. । २ आक्षेपपक्षे कथशब्दस्यार्थमाह—नेति । प्रश्ने तमाह—कथचनेति । ३. सदा न इति अनुमोदनमुवाच याज्ञवल्क्य इत्यन्वय । ४. अमृतत्वस्य त्विति—अविद्यामात्रविध्वसाज्ज्ञानादेवामृत यत. अमृतत्वस्य नाशाऽपि वित्तसाध्यन कर्मणेति पञ्चमीद्वय समानाधिकरणम् । ५. कथशब्देनेति—उत्तरवाक्यानुसारेण कथशब्दस्य स्थाने किंशब्द प्रयुज्येति यावत् । ६. अग्रिमकण्डिकास्थम् । ७. तत्समानार्थकमुपेत्येत्यर्थः । ८. ननु सभवति प्रकारार्थत्वे किमिति कथशब्देन किंशब्द उपादीयते तत्राऽऽह—वित्तसाध्यस्येति ।

स होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥३॥ स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ४ ॥

तब उस मैत्रेयी ने कहा—जिस धन से मैं अमर नही हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी। भगवान् जो कुछ अमरत्व का साधन जानते हैं, उसी का उपदेश मुझे भी करे ॥३॥

तब यह याज्ञवल्क्य बोले—धन्यवाद, अरी प्रिया! तू पहले भी हमारी प्रिया रही है और इस समय भी अनुकूल बात ही कह रही है, अत बहुत ठीक है! आ, यहाँ पर बैठ जा, मैं तुझे अमरत्व के साधन की व्याख्या सुनाऊँगा। तत्पश्चात् व्याख्यान किये हुये वाक्यो के अर्थ का भलीभाँति चिन्तन करना अर्थात् मनन एव निदिध्यासन करना ॥४॥

सा होवाच मैत्रेयी। एवमुक्ता प्रत्युवाच मैत्रेयी यद्येवं येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन वित्तेन कुर्यां यदेव भगवान्केवलममृतत्वसाधनं वेद तदेवामृतत्वसाधनं मे मह्यं ब्रूहि ॥३॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः। एवं वित्तसाध्येऽमृतत्वसाधने प्रत्याख्याते याज्ञवल्क्यः स्वाभिप्रायसंपत्तौ तुष्ट आह। स होवाच प्रियेष्टा बतेत्य[1]नुकम्प्याऽऽह। अरे मैत्रेयि

वित्तस्यामृतत्वसाधनत्वाभावमधिगम्य तस्मिन्नास्था त्यक्त्वा मुक्तिसाधनमेवाऽऽत्मज्ञानमात्मार्थं दातुं पतिं नियुञ्जाना ब्रूते—सा हेति ॥ ३ ॥

भार्यापेक्षितं मोक्षोपायं विवक्षुस्तामादौ [2]स्तौति—स हेत्यादिना। वित्तेन साध्यं कर्म तस्मिन्नमृतत्वसाधने [3]शङ्किते किमहं तेन कुर्यामिति भार्ययाऽपि प्रत्याख्याते सतीति यावत्। स्वाभिप्रायो न कर्म मुक्तिहेतुरिति तस्य भार्याद्वाराऽपि संपत्तौ सत्यामित्यर्थः ॥ ४ ॥

भी सभव नही है ॥२॥

"सा होवाच मैत्रेयी" अर्थात् इस प्रकार कहे जाने पर मैत्रेयी ने उत्तर दिया। यदि ऐसा है तो जिस धन से मैं अमृतत्वलाभ नही कर सकती, उसका मैं क्या करूंगी। इसलिए भगवन्! जो कुछ आप केवल अमृतत्वलाभ का साधन जानते है, वही अमृतत्वप्राप्ति का साधन मेरे प्रति कहिये ॥३॥

"स होवाच याज्ञवल्क्य" अर्थात इस प्रकार वित्तसाधन कर्म अमृतत्वसाधन मे पर्याप्त हैं, इस शङ्का का नकारात्मक उत्तर स्वय भार्या द्वारा दिये जाने पर जो कि उसे भी प्रतिपादित करना इष्ट

---

१. अनुकम्प्येति—ल्यबन्तन बतशब्दार्थो दर्शित। २. तस्या वैराग्य दृष्ट्वा तुष्टस्य पत्युरनद्वियस्तुतिरिष्टेति बोध्यम्। ३ अमृतत्वसाधनत्वेन तस्मिन्शङ्किते सतीत्यर्थः।

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया

याज्ञवल्क्य बोले—अरी मैत्रेयी ! इसमे कुछ भी सन्देह नही है कि पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नही होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री को पति प्रिय होता है। वैसे ही स्त्री के प्रयोजन के लिये पति को स्त्री प्यारी नही होती, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिए स्त्री प्यारी होती है। पुत्रो के प्रयोजन के लिये पुत्र प्यारे नही होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये पुत्र प्यारे होते हैं। धन के प्रयोजन के लिये धन प्रिय नही होता, अपितु अपने ही प्रयोजन के लिये धन प्रिय होता है।

नोऽस्माकं पूर्वमपि प्रिया सती भवन्तीदानीं प्रियमेव चित्तानुकूलं भाषसे । अत एह्यास्स्वोपविश व्याख्यास्यामि यत्ते तवेष्टममृतत्वसाधनमात्मज्ञानं कथयिष्यामि । व्याचक्षाणस्य तु मे मम व्याख्यानं कुर्वतो निदिध्यासस्व वाक्यान्यर्थतो निश्चयेन [1]ध्यातुमिच्छेति ॥४॥

स होवाच याज्ञवल्क्योऽमृतत्वसाधन [2]वैराग्यमुपदिदिक्षुर्जायापतिपुत्रादिभ्यो [3]विराग-

---

अमृतत्वसाधनमात्मज्ञान विवक्षितं चेदात्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादि वक्तव्यं किमित न वा अरे पत्युरित्यादि वाक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—जायेति । उवाच जायादीनामा[4]त्मार्थत्वेन प्रियत्वमात्मन-

---

था, याज्ञवल्क्य ने सतुष्ट होकर कहा। मूल श्रुति मे 'बत' शब्द का अर्थ है कि अनुकम्पापूर्वक बोले—हे मैत्रेयी ! तू हमारी "प्रिया" यानी इष्टा है। पूर्व (गृहस्थाश्रम) काल मे प्रिय होकर इस समय (प्रव्रजनकाल मे) भी हमारे अनुकूल कर रही है। इसलिए आओ, "आस्स्व" यानी बैठ जाओ। मैं तुम्हारी रुचि के अनुसार अमृतत्वप्राप्ति के साधनस्वरूप आत्मज्ञान का 'व्याख्यास्यामि" यानी उपदेश करूँगा। "व्याचक्षाणस्य तु मे" अर्थात् मेरे द्वारा सुने हुए उपदेश का "निदिध्यासस्व" गम्भीरार्थ होने के कारण उनके अर्थों को निश्चयपूर्वक ध्यान करो ॥४॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—उपदेश की इच्छा से जाया, पति एव पुत्रादि का त्याग करने के लिए वैराग्य उत्पन्न कराया जाता है। मूलमन्त्र "न वा" मे "वै" शब्द प्रसिद्ध अर्थ को स्मरण कराने के लिए है

---

१. गम्भीरार्थत्वात्तेषामिति भाव । २ वैराग्यमित्यधिकम् । ३. विरागमिति—"आब्रह्मणोऽस्मात्संसाराच्छुद्धधीर्न विरज्यते । यावत्तावन्न विद्याया अधिकारी भवेन्नर." ॥ वा. ७२ ॥ इत्युक्ते. ॥ शुद्धधी. अन्यार्थधारणनिपुणोऽपीति यावत् । ४. आत्मीयतया आत्मशेषत्वेनेति यावत् ।

भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति । न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्त्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्त्रं प्रियं भवति । न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु

ब्राह्मण के प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय नही होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय होता है। क्षत्रिय के प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय नही होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय होता है। लोको के प्रयोजन के लिये लोक प्रिय नही होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये लोक प्रिय होते है। देवताओ के प्रयोजन के लिये देवता प्रिय नही होते, किन्तु अपने हो प्रयोजन के लिये

मुत्पादयति 'तत्संन्यासाय । न वै । वैशब्दः प्रसिद्धस्मरणार्थः । प्रसिद्धमेवैतल्लोके । पत्युर्भर्तुः कामाय प्रयोजनाय जायायाः पतिः प्रियो न भवति किं तर्ह्यात्मनस्तु कामाय प्रयोजनायैव भार्यायाः पतिः प्रियो भवति । तथा न वा अरे जायाया इत्यादि समानमन्यत् । न वा अरे पुत्राणाम् । न वा अरे वित्तस्य । न वा अरे ब्रह्मणः । न वा अरे क्षत्त्रस्य । न वा अरे लोकानाम् । न वा अरे देवानाम् । न वा अरे भूतानाम् । न वा अरे सर्वस्य । पूर्वं पूर्वं

श्चानौपाधिकप्रियत्वेन परमानन्दत्वमिति शेषः । प्रतीकमादाय व्याचष्टे—न वा इति । किं तन्निपातेन स्मार्यते तदाह—प्रसिद्धमिति । यथोक्ते 'क्रमे नियामकमाह—पूर्वं पूर्वमिति । यद्यदासन्नं प्रीतिसाधनं

यानी यह लोकव्यवहार मे प्रसिद्ध ही है । 'पत्यु' यानी भर्ता के 'कामाय" यानी प्रयाजन के लिए "पति." अर्थात् जाया को पति प्रिय नही होता । तो फिर कैसे होता है ? "आत्मनस्तु कामाय" अर्थात् अपन ही प्रयोजन के लिए ही भार्या को पति प्रिय होता है । इसी प्रकार आगे मन्त्र म "न वा अरे जायायै" यानी जाया के प्रयाजन के लिए पति को जाया प्रिय नही होती इत्यादि रूप अय उपरोक्त के समान समझ लेना चाहिए । जैसे कि पुत्रो के प्रयोजन के लिए पुत्र प्रिय नही होते, वित्त क प्रयोजन क लिए वित्त प्रिय नही हाता, ब्राह्मण के प्रयोजन के लिए ब्राह्मण प्रिय नही होता, क्षत्रिय के प्रयोजन के लिए क्षत्रिय प्रिय नही हाता, लोको के प्रयोजन के लिए लोक प्रिय नही हाते, देवताओ व प्रयोजन के लिए देवता प्रिय नही हाते, भूतो व सबक प्रयोजन के लिए भूत व सब प्रिय नही हाते; जो-जो प्रीति के निकटतम सम्बन्ध मे जुड़े है, उनका क्रम से पूर्व-पूर्व उपदेश किया गया है । यथाक्रम प्रीति क

---

१. तत्त्यागायेत्यर्थः । २. पूर्वं पतिस्ततो जाया इत्येवं वचनक्रम इत्यर्थः ।

कामाय देवाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । [1]आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो [2]मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम् ॥ ५ ॥

देवता प्रिय होते हैं। भूतों के प्रयोजन के लिये भूत प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये भूत प्रिय होते हैं। किंबहुना सबके प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं। अरी मैत्रेयी! निःसन्देह यह आत्मा ही दर्शन के योग्य है, इसे (आचार्य तथा शास्त्र द्वारा पहले) श्रवण करना चाहिए, (तत्पश्चात् तर्क द्वारा) मनन करना चाहिये तथा निदिध्यासन करना चाहिये। हे मैत्रेयी! इस आत्मतत्त्व के दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान से ये सभी विज्ञात हो जाते हैं (क्योंकि लोक में अधिष्ठान रज्ज्वादि के ज्ञान से अध्यस्त सर्पादि विज्ञात होते देखे गये हैं) ॥५॥

---

[3]यथासन्ने प्रीतिसाधने वचनम् । तत्र तत्रेष्टतरत्वाद्वैराग्यस्य । सर्वग्रहणमुक्तानुक्तार्थम् ।

तत्तदनतिक्रम्य तस्मिन् विषये पूर्वं पूर्वं वचनमिति योजना । तत्र हेतुमाह—तत्रेति । न वा अरे सर्वस्येत्ययुक्तं पत्यादीनामुक्तत्वादशेन पुनरुक्तिप्रसङ्गादित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वग्रहणमिति । उक्तवदनु-

---

साधना का त्याग करना ज्यादा अच्छा है। (पत्यादिनिरूपण के बाद) सर्व का ग्रहण इसलिए किया,

---

१ आत्मेति । "अविचारेण पुत्रादौ या प्रीतिस्तां विचारतः । आत्मन्यवोपसंहृत्य चित्तैकाग्र्यं विवर्द्धयत् ॥ ऐकाग्र्यमचलं कृत्वा निदिध्यासनकारणम् । आत्मा द्रष्टव्य इत्येतत्सूत्रं व्याख्यातुमाददे ॥ वा० सा० २५-२६ ॥ 'आत्मा प्रत्यक्प्रसिद्धः स्यात्तत्रैवाऽऽत्माऽनुभूतितः । इति प्रमेयनिर्देशो द्रष्टव्य इति तत्प्रमा ॥ आत्मबुद्धिरियं तावत्सर्वेषां जायते स्वतः । अप्राप्ता सर्वमात्मेति सैवातो धीर्विधीयते ॥ वा० ६५ ६६ ॥ "अज्ञातज्ञापनं तव्यप्रत्ययेनाभिधीयते । अप्रवृत्तप्रवृत्तिश्च न्यायाभावान्न युज्यते ॥ अज्ञात आत्मा वेदान्तजन्यज्ञानेन मीयते । इत्यवंधोऽत्र वाक्यार्थो नाऽप्रवृत्तप्रवर्तनम् ॥ वा० सा० २८ २९ ॥ आत्मशब्दार्थमाह—आत्मेति । प्रतीच्यात्मशब्दस्य प्रसिद्धिं साधयति—सर्वेति । वाच्यार्थमुक्त्वाविवक्षितमाह—इतीति । प्रतीच्यात्मनि प्रमेये वैदिक दर्शनम् (ज्ञानम्) इत्येतदत्र विवक्षितमित्यर्थः ॥ २ हे मैत्रेयि श्रवणेन श्रवणोत्पन्नेन मत्या मननेन विज्ञानेन निदिध्यासनेन च इत्थंभूतेनात्मनो वै दर्शनेन साक्षात्काररूपेणेदं सर्वं स्थावराद्यात्मकमखिलं विदितमेवेत्यर्थः । अत्र परामर्श (अनुवाद) वाक्ये दर्शनादि स्वशब्देनैवानूदितं निदिध्यासनं च विज्ञानशब्देन । तत्रायमभिप्रायः, यत् श्रवणादिसाधनसहायस्तैर्निदिध्यासनं ध्यानं मात्रं हि अपितु ध्यानसहितश्रवणादिफलभूतं वाक्यार्थविज्ञानमिति ध्यानस्य साधनत्वं तु समाहितो भूत्वेत्यादि श्रुतिसिद्धमेवेत्यादिस्पष्टं वार्तिके । ३ यथासन्ने प्रीतिसाधने ।

तस्माल्लोकप्रसिद्धमेतदात्मैव प्रियो नान्यत्। तदेतत्प्रेयः पुत्रादित्युपन्यस्तं तस्यैतद्वृत्तिस्थानीयं प्रपञ्चनम्। तस्मादात्मप्रीतिसाधनत्वाद्गौण्यन्यत्र प्रीतिरात्मन्येव मुख्या। तस्मादात्मा वा अरे द्रष्टव्यो दर्शनार्हो दर्शनविषयमापादयितव्यः। श्रोतव्यः पूर्वमाचार्यत आगमतश्च। पश्चान्मन्तव्यस्तर्कतः। ततो निदिध्यासितव्यो निश्चयेन ध्यातव्यः। एवं

क्तानामपि ग्रहणं कर्तव्यं न च सर्वे विशेषतो ग्रहीतुं शक्यन्ते तेन सामान्यार्थं सर्वपदमित्यर्थः। सर्वपर्यायेषु सिद्धमर्थमुपसंहरति—तस्मादिति। ननु तृतीये प्रियत्वमात्मन आख्यातं तदेवात्रापि कथ्यते चेत्पुनरुक्तिः स्यात्तत्राऽऽह—तदेतदिति। अथो न्यासविवरणाभ्यां प्रीतिरात्मन्येवेत्ययुक्तं पुत्रादावपि तद्दर्शनादत आह—तस्मादिति। आत्मनो निरतिशयप्रीत्यास्पदत्वेन परमानन्दत्वमभिधायोत्तरवाक्यमादाय व्याचष्टे—तस्मादित्यादिना। कथं पुनरिदं दर्शनमुत्पद्यते तत्राऽऽह—श्रोतव्य इति। श्रवणादीनामन्यतमेनाऽऽत्मज्ञानलाभात्किमिति सर्वेषाम् ध्ययनमित्याशङ्क्याऽऽह—एव- हीति।

जिससे पत्यादि से अतिरिक्त न कहे हुए प्रिय साधनो का बोध हो जाय। जायादि सभी अनात्म-पदार्थों का आत्मा के प्रयोजन के लिए प्रिय न होने के कारण लोकप्रसिद्ध यह आत्मा ही प्रिय है; दूसरी कोई वस्तु नहीं। (प्रथम अध्याय चतुर्थ ब्राह्मण के आठवें मन्त्र मे) पहले कहा गया है कि आत्मतत्त्व पुत्र से बढ कर प्रिय है, उसी पूर्वप्रतिपादित संक्षिप्त व्याख्यान को यहाँ विस्तार से बतला दिया। इसलिए (सर्वत्र केवल आत्मप्रयोजन के लिए प्रियता का उल्लेख होने के कारण) आत्म-प्रीति का साधन होने से से अन्यत्र प्रीति गौणी है, आत्मा के प्रयोजन के लिए प्रीति ही मुख्या है। इसलिए (आत्मा के परमानन्दस्वरूप होने से) आत्मा ही "द्रष्टव्यः" अर्थात् प्रत्यक्ष करने के अनुरूप है अथवा साक्षात् ही प्राप्त करने योग्य है, "श्रोतव्यः" यानी पहले आचार्यमुख एवं शास्त्रप्रतिपादित ज्ञान से श्रवण करने योग्य है, फिर "मन्तव्यः" यानी तर्क से मनन करने योग्य है। उसके बाद "निदिध्यासितव्यः" निश्चयपूर्वक

१. जायादिसर्वानात्मवर्गस्यात्मार्थत्वेन प्रियत्वात्। २. बृ० उ० १।४।८। ३. इति तस्य प्रियत्वं संक्षेपतो व्याख्यातम्। ४. संक्षेपविस्तराभ्यामात्मन्येव प्रीतेरुक्तत्वात्। ५. अनौपाधिकप्रियत्वे नात्मनः परमानन्दरूपत्वात्। ६. दर्शनविषयमिति—तच्च प्रादर्शि वार्तिके तथाहि—"सर्वमात्मेत्यतः पश्येदात्मानात्मविभागवित्। आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्त्या ह्युपोऽर्थोऽत्राभिधीयते" ॥ २११ ॥ वेदान्तेष्वप्रवृत्तप्रवर्तनात्मकविधेरनुपपत्तेर्विवेकी सर्वमात्मेति निश्चिनुयात्। तत्र वाक्यमवतारयति—आत्मेति। स सर्वस्मादिष्टत्वात्परानन्दो दृष्टग्रहस्त ब्रह्मेति विवेकी पश्यतीत्यर्थोऽस्या श्रुतावनेन वाक्येन भातीत्यर्थः। अर्थान्तरासंभवे हेतु कर्तुं हिशब्दः॥ ७. पाठक्रमेण श्रवणादीनां क्रमं प्रदर्शयति—पूर्वमित्यादिना। ८. नैरन्तर्येण सजातीयप्रत्ययप्रवाहविषयतामापादयितव्य इत्यर्थः। ९. जिज्ञासितपदार्थाः। १०. उपनिषदि प्रथमाध्याये। ११. संक्षेपविस्तराभ्याम्। १२. केनोपायेन प्रकारेण वा। १३. निर्वर्तनम्।

श्रोतव्य इत्यादि ध्यातव्य इत्यन्तभाष्यरहस्याविष्करणानि वार्तिकान्युपन्यस्यन्ते। तथाहि—"सर्वमानप्रसक्तौ च सर्वमानफलाश्रयात्। श्रोतव्य इत्यतः प्राह वेदान्तावरुरुत्सया ॥ दर्शनस्याविधेयत्वात्तदुपायो विधीयते। वेदान्तश्रवणं यत्नादुपायस्तर्क एव च ॥ श्रुतिलिङ्गादिको न्यायः शब्दशक्तिविवक्षया। आगमार्थं विनिश्चित्य मन्तव्य इति भण्यते ॥ वस्तुतत्त्वविवक्षेह मन्तव्य इति शासनात्। योगिदृग्न्यायदृष्टौ हि नैव मन्तव्यतादिधिः ॥ वेदशब्दानुरोध्यत्र तर्कोऽपि विनियुज्यते। वाच्यवाचकसम्बन्धनियमे तस्य हेतुना ॥ अपरायत्तबोधोऽत्र निदिध्या-

ह्यसौ दृष्टो भवति श्रवणमनननिदिध्यासनसाधनैर्निर्वर्तितैः । यदैकत्वमेतान्युपगतानि तदा सम्यग्दर्शनं ब्रह्मैकत्वविषयं [1]प्रसीदति नान्यथा श्रवणमात्रेण । यद्ब्रह्मक्षत्रादि [2]कर्म-

---

विध्यनुसारित्वमेवंशब्दार्थः । श्रुतत्वाविशेषा[3]द्विकल्पहेत्वभावाच्च [4]सर्वैरेवाऽऽत्मज्ञानं जायते चेत्तेषां समप्रधानत्वमा[5]ग्नेयादिवदापतेदित्याशङ्क्याऽऽह—यदेति । श्रवणस्य प्रमाणविचारत्वेन प्रधानत्वादङ्गित्वं मनननिदिध्यासनयोस्तु [6]तत्कार्यप्रतिबन्धप्रध्वंसित्वादङ्गत्वमित्यङ्गाङ्गिभावेन यदा श्रवणादीन्यसकृदनुष्ठानेन समुच्चितानि तदा सामग्रीपौष्कल्यात्तत्त्वज्ञानं [7]फलशिरस्कं सिध्यति । मननाद्यभावे श्रवणमात्रेण नैव [8]तदुपपद्यते । मननादिना प्रतिबन्धाप्रध्वंसे वाक्यस्य फलवज्ज्ञानजनकत्वायोगादित्यर्थः । [9]परामर्शवाक्यस्य तात्पर्यमाह—यदित्यादिना । कर्मनिमित्त ब्रह्मक्षत्रादि तदेव वर्णाश्रमा-

---

ध्यान करने योग्य है क्योंकि इस प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप साधनों से अनुष्ठित यह आत्मा दर्शन का विषय होती है । जब इन सभी साधनों की समष्टिरूप से एकतापूर्वक प्राप्ति की जाती है, तभी ब्रह्मैकत्व विषयक सम्यक्दर्शन होकर (प्रतिबन्धाख्य मल हटकर) चित्त शुद्ध हो जाता है; नहीं तो केवल श्रवणमात्र से चित्त विमल नहीं होता । आत्मा में अविद्या से अध्यस्त ज्ञान के विषय जो

---

१ प्रसीदति—प्रतिबन्धाख्यमलराहित्येन विमलीभवति फलावसान सिध्यतीति यावत् । २. कर्मणः प्रयोजकम् । ३ विकल्पे हेत्वभावाच्चेत्यर्थ. । ४ समिलितै. । ५ आग्नेयादीति—अग्नीषोमीय आदिग्राह्यः । यथा ब्राह्मणपाठादादावग्नीषोमीयानुष्ठानम् मन्त्रपाठादादावाग्नेयानुष्ठान ततस्तयो समप्रधानत्वमेवमित्यर्थ. । ६. श्रवणकार्यतत्त्वज्ञाने योऽसंभावनादिप्रतिबन्ध । ७ फलावसान सफलमिति यावत् । ८ तत्—फलशिरस्क ज्ञानम् । ९. अनन्तरवाक्योक्तदर्शनादिपरामर्शकवाक्यस्य ।

सनमुच्यते । पूर्वयोरवधित्वेन तदुपन्यास इष्यते ॥ श्रवणादिक्रिया तावत्कर्तव्येह प्रयत्नत । यावद्यथोक्त विज्ञानमाविर्भवति भास्वरम् ॥ आगमाद्दर्शन पूर्वमागमाचार्यतो मति । त्रयाणामपि सगानाच्छास्त्राचार्यात्मना स्थिरम् ॥ प्रतिपत्ति. पुरा शाब्दी यावन्न मनुते श्रुतम् । श्रुत्वा मत्वाऽथ त साक्षादात्मान प्रतिपद्यते ॥ अनन्यायत्तविज्ञाने श्रवणादेरुपायत । जाते नापेक्षत किंचित्प्रतीचोऽनुभवात्परम्" ॥ २१२-२२१ ॥ इति । द्रष्टव्यवाक्ये तव्यो न विधायक किन्त्वर्हार्थोऽतश्चाऽऽत्मा दर्शनार्ह इति वाक्यार्थमुक्त्वा श्रोतव्यवाक्यमवतारयति —सर्वेति । प्रत्यक्षादिमानफलभूतदृष्टयवष्टम्भादात्मनि सर्वस्य मानस्य तत्कारणत्वेन प्रसक्तावौपनिषदत्वाभावे शङ्किते तन्निरासार्थं वेदान्तानामेवाऽऽत्मदृष्टिहेतुत्वेन स्वीकारेच्छया श्रोतव्य इत्येतदाह श्रुतिस्तस्मात्तदौपनिषदत्वसिद्धिरित्यर्थ ॥ श्रोतव्यवाक्यार्थमाह—दर्शनस्येति । विधीयमानश्रवणस्याग्निहोत्रवदसकृदनुष्ठेयत्व यत्नादिति श्राव्यते । मन्तव्यवाक्यमादत्ते—उपाय इति ॥ तयोः श्रवणस्वरूपमाह—श्रुतीति । श्रुत्यादिभि शक्तितात्पर्यनिश्चायकैर्न्यायैर्ब्रह्मात्मनि वेदान्ततात्पर्यनिरूपण श्रवणमित्यर्थ । मननस्वरूपमाह—आगमेति । श्रुत्यादिना ज्ञातस्य तत्त्वस्यासंभावनादिनिरासेन निश्चयार्थं द्वैतमिथ्यात्वसाधको यस्तर्कस्तदनुसधान मन्तव्य इत्युच्यत इत्यर्थ ॥ वेदान्ता न वस्तुपरा किं तूपास्तिविधिपरा इति केचित्तान्प्रत्याह—वस्त्विति । कथ वेदान्तेषु वस्तुनि तात्पर्यं मननविधिना ज्ञात तत्राऽऽह—योपिदिति । यत्र दृष्टिमात्रमिष्ट न वस्तु तत्र तस्य श्रुतस्य न मन्तव्यादिविधिरत्र तु तद्विधेर्वस्तुनि तात्पर्यं सिद्धमित्यर्थ । दृष्टान्ते मननविध्यभावसप्रतिपत्त्यर्थो हिशब्द ॥ मननाख्यतर्कस्य भूयस्त्वात्तस्य सर्वस्यात्राऽपायःवे नैषा तर्केणेत्यादि विरुद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—वेदेति । अत्रेति श्रुतार्थनिश्चयोक्ति । नैषेत्यवैदिकतर्कनिन्दा तदनुसारितर्काङ्गीकारेऽविरुद्धेत्यपेरर्थ । वैदिकशब्दार्थेव तत्त्वनिश्चायकत्वात्तर्कस्य श्रुत्रोप-

निमित्तं वर्णाश्रमादिलक्षणमात्मन्यविद्याध्यारोपितप्रत्ययविषयं क्रियाकारकफलात्मकम- 'विद्याप्रत्ययविषय रज्ज्वामिव सर्वप्रत्ययस्तदुपमर्दनार्थमाह—'आत्मनि खल्वरे मैत्रेयि दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितं भवति ॥५॥

'वस्थाविरूपमात्मन्यविद्ययाऽध्यारोपितस्य प्रत्ययो मिथ्याज्ञान तस्य विषयतया स्थित क्रियाद्यात्मकं तदुपमर्दनार्थमाहेति सबन्ध. । अविद्याध्यारोपितप्रत्ययविषयमित्येतदेव व्याकरोति—अविद्येति। अविद्याजनितप्रत्ययविषयत्वे दृष्टान्तमाह—रज्ज्वामिति ॥ ५ ॥

ब्राह्मण और क्षत्रियादि वर्णाश्रमसज्ञक धर्म का प्रयोजक है, वह क्रियाकारक और फलरूप है तथा रस्सी मे सर्पप्रतीति के समान अविद्यासम्बन्धी ज्ञान का विषय है। उस अध्यास की निवृत्ति के लिए श्रुति कहती है—हे मैत्रेयी ! आत्मा का साक्षात्कार, श्रवण, मनन और विज्ञान होने पर यह सब विदित हो जाता है ॥५॥

इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है कि अन्य वस्तु के ज्ञान हो जाने पर उससे भिन्न अन्य वस्तु का बोध कैसे हो जाता है ? (सिद्धान्तवादी उक्त आक्षेप का परिहार करता है—) ऐसे कहने मे कोई दोष नही है क्योकि आत्मा से पृथक् तो कोई वस्तु है ही नही। यदि पृथक् वस्तु होती तो उसकी प्रतीति

१ आविद्यज्ञानविषयमिति यावत् । २ बृ० उ० ४।५।६। मैत्रेयीब्राह्मणवाक्यीयप्रतीकग्रहणमिदमनयोरेक-वाक्यतासूचनाय। ३ अवस्थादीति—आदिना वयसो ग्रहणम्। वर्णस्य कर्मनिमित्तत्वे 'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेते'त्यादि शास्त्रम्। आश्रमस्य तन्निमित्तत्वे "गृहस्थ सदृशी भार्यामुपेयादि"त्यादि। अवस्थाया 'अविचि-किित्सितव्याधेरपा प्रवेशो वे'त्यादि। वयसस्तथात्वे 'जातपुत्र कृष्णकेशोऽग्नीनादधीते"त्यादि शास्त्र प्रमाणम्।

योगस्तत्राऽऽह—वाच्येति । त्वपदवाच्य न देहादि किंतु तत्साक्षी चिदात्मा तत्पदवाच्यमपि न प्रधानादि किंतु सच्चिदानन्दात्मकमद्वय ब्रह्मेत्येवविधो वाच्यवाचकसबन्धनियमस्तत्र तस्य तर्कस्य विनियोगो यद्यपि शब्दस्तत्त्व-निश्चायकस्तथाप्यसभावनादिध्वस्त्या मननाख्यतर्कोऽपीतिकर्तव्यत्वेनोपयुज्यते सेतिकर्तव्यताकस्य करणत्वादित्यर्थ ॥ निदिध्यासनस्वरूपमाह—अपरेति । श्रवणमनने शमादियुक्ते कृत्वा स्थितस्य वाक्यार्थज्ञानान्तरायहीनस्यानायासेन वाक्योत्थो वाक्यार्थबोधो निदिध्यासनवाक्ये निदिध्यासनमित्युच्यते । द्रष्टव्यवाक्ये तु विचारप्रयोजकमापातिक ज्ञानमुक्तमेतदेव वा साधन विधातुमनूदितमिति भाव । निदिध्यासनोक्तिफलमाह—पूर्वयोरिति ॥ तस्य शमादिमहितश्रवणाद्यवसानभूमित्वमेव स्फोरयति—श्रवणादीति । इहेत्यात्मोक्ति । प्रयत्न शमादिसाहित्य तत्राऽऽवृत्ति सूचयति—यावदिति । भास्वरत्व फलशिरस्कत्वम् ॥ पाठक्रमेण दर्शनादीना क्रममनुक्रामति—आगमादिति । अङ्ग महाधीताद्वेदादादौ विचारप्रयोजक ज्ञान जायते तदन्वागमादाचार्याच्च श्रवण ततो मतिमनन तत शास्त्रादिप्रयुक्तश्रवणस्याऽऽत्मधीहेतुत्वेनाऽऽत्मशब्दितमननस्य च समानात्पूर्णतयाऽनुष्ठानादसभाव-नादिशून्य स्थिर ब्रह्मज्ञान निदिध्यासनाख्य भवतीत्यर्थ ॥ न श्रौतोऽयं क्रम किंत्वार्थोऽपीत्याह—प्रतिपत्तिरिति। यावन्न श्रुत मनुते तावच्छृणोतीति शेष । विशिष्टस्य श्रवणादे साक्षादात्मप्रतिपत्तौ सामग्रीत्व द्योतयितुमथशब्द ॥ शब्दादुदितायामपि तस्यां श्रवणाद्यपेक्षते चेत्तर्हि ततो जाते विज्ञाने किंचिदपेक्षेत तत्र केवला धीर्मुक्तिहेतुरित्या-शङ्क्याऽऽह—अनन्यति । स्वत सिद्धात्माकारे ज्ञाने ततो लब्धे प्रत्यगपरोक्षस्य लब्धेरनन्तर न किंचिद्विद्वानपेक्षत आत्मलाभस्मृतरित्यर्थं ॥

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान्वेद भूतानि तं

ब्राह्मणजाति उस पुरुष को परास्त कर देती है, जो आत्मा से भिन्न ब्राह्मणजाति को समझता है। क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रियजाति को आत्मा से भिन्न समझता है। सभी लोक उसे परास्त कर देते हैं, जो लोको को आत्मा से भिन्न समझता है। देवता उसे परास्त कर देते हैं, जो देवताओं को आत्मा से भिन्न देखता है। उसे सभी भूत परास्त कर देते हैं, जो आत्मा से भिन्न सभी भूतो

ननु कथमन्यस्मिन्विदितेऽन्यद्विदितं भवति। नैष दोषः। ※न ह्यात्मव्यतिरेकेणान्यत्किंचिदस्ति। यद्यस्ति न तद्विदितं स्यान्न त्वन्यदस्त्यात्मैव तु सर्वम्। [1]तस्मात्सर्व-

---

आत्मनि विदिते सर्वं विदितमित्युक्तमाक्षिपति—नन्विति। [2]दृष्टिविरोधं निराचष्टे—नैष दोष इति। आत्मनि ज्ञाते ज्ञातमेव सर्वं ततोऽर्थान्तरस्याभावादित्युक्तमेव स्फुटयति—यदीत्यादिना।

(आत्मज्ञान से ही) न होती। पर अन्य वस्तु तो कुछ भी नहीं है, सब कुछ तो आत्मा ही है। इसलिए (आत्मा मे अर्थान्तर का अभाव होने के कारण) आत्मा का ज्ञान होने से सबका ज्ञान हो जाता है।

---

१. आत्मनोऽर्थान्तरस्याभावात्। २ दृष्टीति—ब्रह्म तमित्यादि सर्वं वेदेत्यन्तस्य तात्पर्यं वदन्नित्यादि। न ह्यन्यस्मिन्दृष्टेऽन्यद्भवति दृष्टमिति दृष्टिविरोध। दृष्टि प्रत्यक्षम्।

※न हीत्यादि स्यादित्यन्तस्य भाष्यस्य तात्पर्यमाहुर्वार्तिकाचार्या। "आत्मधीमात्रगम्यार्थाद्यस्तदन्योऽवभासते। तद्दर्शननिषेधार्थं ब्रह्मेत्याह परा श्रुति॥ समस्तव्यस्तता तस्मान्नैवेह श्रुतिमानत। अनात्मबुद्धिविषय यतो यत्नान्निषेधति॥ कार्यात्मा कारणात्मा च द्वावात्मानौ परात्मन। प्रत्यग्याथात्म्यमोहोत्थौ तन्नाशे नश्यतस्तत॥ अपूर्वानपरोक्तेर्हि कार्यकारणताऽऽत्मन। कुत प्रमाणात्सभाव्या कार्यकारणधर्म्मरे॥ नैतस्माज्जायते किंचिन्नाय जात कुतश्चन। आत्मेत्येव श्रुतिर्वक्ति कारणादिनिषेधकृत्॥ ज्ञेय यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुत। अनादिमत्पर ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम॥ यो मामेवमसमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ इति वेदात्मन साक्षाद्वचन श्रुतिसमतम्। सर्वान्तर्यामिण शौरेर्नोपेक्ष्य तद्बुधादृतैं॥ तत्रैव सति यो मूढ कार्यकारणदर्शन। पराङ्मुख निदध्यात्तमात्मा कृत्स्नत्वदर्शिनम्"॥ २४० ४६॥ अनुवादवाक्यतात्पर्यमुक्त्वा ब्रह्म तमित्यादि सर्वं वेदेत्यन्तस्य तात्पर्यमाह—आत्मेति। स्वप्रकाशादात्मनो योऽन्यस्तादृशोऽर्थो भाति तस्य दर्शनं निषेद्धु ब्रह्मेत्यादिवाक्यमुत्तरा श्रुतिराहेत्यर्थं॥ अनात्मदृष्टिनिषेधेन स्वयूथ्यकल्पनाऽपि निरस्तेति निषेधफलमाह—समस्तेति। इह आत्मनि। तच्छब्दार्थं स्फुटयति—अनात्मेति। निषेधाभ्यासो यत्न॥ ननु स तस्मिन्निषेद्धुमशक्यस्तस्य कार्यकारणात्मना भेदादित्याशङ्क्याऽऽह—कार्येति। तयोर्मोहोत्थत्वफलमाह—तन्नाश इति। ततो

परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा ॥६॥

को समझता है। किंबहुना—उसे सभी परास्त कर देते हैं, जो सबको आत्मा से भिन्न देखता है। अतः यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देवता, ये भूत और ये सब जो कुछ हैं; ये सब एकमात्र आत्मतत्त्व ही है (क्योंकि आदि, मध्य और अन्त मे आत्मा को छोड़कर पृथक् इनकी उपलब्धि नही होती है) ॥६॥

मात्मनि विदिते विदितं स्यात्। कथं पुनरात्मैव सर्वमित्येतच्छ्रावयति। ब्रह्म ब्राह्मणजातिस्तं पुरुषं परादात्परादध्यात्पराकुर्यात्। कं, योऽन्यत्राऽऽत्मन आत्मस्वरूपव्य-

---

आकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरवाक्यमुदाहृत्य व्याचष्टे—कथमित्यादिना। पुरुषं विशेषतो ज्ञातुं प्रश्नमुपन्यस्य प्रतीकं गृहीत्वा व्याकरोति—कमित्यादिना। पराकरणे पुरुषस्यापराधित्वं दर्शयति—अनात्मेति।

"सबका आत्मत्व होना किस प्रकार है" इस पर श्रुति सुनाती है। "ब्रह्म" अर्थात् ब्राह्मण-जाति उस पुरुष को "परादात्" अर्थात् पुरुषार्थ से भ्रष्ट कर देती है। किसे भ्रष्ट कर देती है? 'अन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद" अर्थात जो आत्मस्वरूप को छोड़कर यानी 'यह ब्राह्मणजाति आत्मा ही नही

---

१ 'अपोदितत्वाद्ब्रह्मादिदर्शनस्यति किं पुन। द्रष्टव्यमित्यतो वक्ति त्विद ब्रह्मेति न श्रुति" ॥ वा० २६१ ॥ इतिशब्दो ब्रह्मेत्यादिवाक्यपरामर्शार्थं। प्रश्नसमाप्तौ द्वितीय ॥ २ सर्वस्यात्मत्वमित्यर्थं। ३ मात्र ब्रह्मशब्द परविषय क्षत्रसंनिधानादिति भाव। ४ पुमर्थभ्रष्ट कुर्यात्। ५ अवतार्य।

वस्त्वेनरम्यगिति शेष ॥ तयोरज्ञानोत्थत्वमसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—अपूर्वेति। प्रमाणविरुद्धमर्थं न प्रमाणमुपस्थापयत्यविरोधापेक्षितत्वात्प्रमापकत्वस्येति हिशब्दार्थं। अपूर्वादिवाक्योक्त कार्यादिप्रसनहीने केवले ब्रह्मणि न सा प्रामाणिकीत्यत्र न जायते म्रियते वेत्यादि मानमित्याह—नैतस्मादिति ॥ तत्रैव स्मृतिमाह—ज्ञेयमिति। तत्प्रवचनफलमाह—यदिति। किं तज्ज्ञेयं तदाह—अनादिमदिति। तस्य मूर्तामूर्तविलक्षण्यमाह—न सदिति। कार्यकारणनिर्मुक्तत्व चानेनोच्यते ॥ तत्रैव वाक्यान्तरमाह—यस्मादिति। स उत्तम, पुरुष इति श्रुतिर्वेदशब्दार्थं ॥ उक्तोऽर्थो विवक्षितस्तज्ज्ञानस्य फलवत्त्वादित्याह—यो मामिति। उक्तस्मृतिप्रामाण्यमाप्तोक्तत्वेन सूचयति—वेदेति। वेदमूलत्वाच्च तत्प्रामाण्यमित्याह—श्रुतीति। तस्यानुपेक्ष्यत्वे हेतुमाह—सर्वेति। भगवद्वाक्यमपि केचिदुपेक्षन्ते तत्राऽऽह—भवादृशैरिति। वैदिकैरित्यर्थं ॥ ब्रह्मेत्यादेस्तात्पर्यमुक्त्वाक्षरार्थं संक्षिप्याऽऽह—तत्रेति। तस्मिन्नात्मन्युक्तरीत्या द्वैतनिर्मुक्त यो विवेकशून्य स्वगतत्वेन कार्यं कारण च पश्यति स भेददर्शितमस्त्र ब्रह्मक्षत्रादि मिथ्यादृष्ट पुमर्थात्पराकरोतीत्यर्थं ॥ ब्रह्मेत्यादिवाक्यमुपसंहरति—"आत्मान यो यथा वेत्ति सम्यग्वा यदि वाऽन्यथा। यथादर्शनमेवासौ फलमाप्नोति मानव" ॥ २५६ ॥ यथादर्शनफलमित्युक्तं व्यनक्ति—"इति ब्रह्म तमित्यादे संक्षेपार्थं समीरित। संसरत्यन्यथाज्ञानात्सम्यग्ज्ञानाद्विमुच्यते" ॥ वा २६० ॥ इति।

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्शब्दा-
ञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दु-

लोक में जैसे दण्डादि से ताड़ित किये गए नक्कारे के बाह्य शब्दों को कोई पकड़ नहीं सकता, किन्तु नक्कारे या उसके आघात को पकड़ लेने से उसका शब्द भी पकड़ा जाता है; यही आत्मा की

तिरेकेणाऽऽत्मैव न भवतीयं ब्राह्मणजातिरिति तां यो वेद तं परादध्यात्सा ब्राह्मणजातिरनात्मस्वरूपेण मां पश्यतीति। परमात्मा हि सर्वस्यात्मा। तथा क्षत्त्रं क्षत्त्रियजातिस्तथा लोका देवा भूतानि सर्वमिदं ब्रह्मेति यान्यनुक्रान्तानि तानि सर्वाण्यात्मैव यदयमात्मा योऽयमात्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्य इति प्रकृतः। यस्मादात्मनो जायत आत्मन्येव लीयत आत्ममयं च स्थितिकाल आत्मव्यतिरेकेणाग्रहणादात्मैव सर्वम् ॥६॥

कथं पुनरिदानीमिदं सर्वमात्मैवेति ग्रहीतुं शक्यते। चिन्मात्रानुगमात्सर्वत्र चित्स्व-

---

परमात्मातिरेकेण दृश्यमानामपि ब्राह्मणजातिं स्वस्वरूपेण पश्यन्कथमपराधी स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—परमात्मेति। इदं ब्रह्मेत्युत्तरवाक्यानुवादस्तस्य व्याख्यानं यान्यनुक्रान्तानीत्यादि। आत्मैव सर्वमित्येतत्प्रतिपादयति—यस्मादित्यादिना। स्थितिकाले तिष्ठति तस्मादात्मैव सर्वं तद्व्यतिरेकेणाग्रहणादिति योजना ॥ ६ ॥

स्थित्यवस्थायां सर्वस्याऽऽत्ममात्रत्व ज्ञातुमशक्यं ज्ञापकाभावादित्याक्षिपति—कथं पुनरिति।

है' इस प्रकार उसे जानता है, उसे वह ब्राह्मणजाति 'यह मुझे अनात्मरूप से देखता है' इस अपराध से भ्रष्ट कर देती है क्योंकि परमात्मा ही सभी का स्वरूप है। उसी प्रकार 'क्षत्रम्' यानी क्षत्रियजाति, लोक, देव, भूत और सभी ऐसा करते है। जिन ब्राह्मण-क्षत्रियादि का 'यह ब्रह्म है' इस रूप से अनुक्रमण है; वे सभी आत्मा में ही समीभूत हैं। (यह आत्मा क्या है ?) "यदयमात्मा" अर्थात् जो यह दर्शन, श्रवण करने योग्य आत्मा प्रकरण से प्राप्त है। जिस कारण से कि सब कुछ आत्मा से ही उत्पन्न होता है, आत्मा में ही समीभूत हो जाता है एवं स्थितिकाल में भी आत्ममय है, इसलिए आत्मा से भिन्न कुछ भी न होने के कारण सब कुछ आत्मा ही है ॥६॥

(इस पर पूर्ववादी आक्षेप करता है—) किन्तु "स्थितिकाल में यह नाम-रूपादि भेद से भिन्न

---

१. स यथेत्यत्र वार्तिके—"एवं श्रोतव्य आत्माऽस्य समाप्तः श्रवणे विधिः। अथ मन्तव्य इत्यस्य प्रपञ्चः पर उच्यते" ॥ २६३ ॥ श्रवणविधिविचारः शक्तितात्पर्यानुसार्यतिवृत्तः। अथ युक्त्यनुसारी मननविधिविचार आरभ्यत इत्यर्थः ॥ २. अपराधादिति भावः। ३. स्वरूपम्। ४. ब्रह्मक्षत्रादीनि। ५. कोऽसावात्माऽत आह—यदयमिति। ६. हेतोः। ७. नामरूपादिभेदभिन्नमखिलं जगत्। ८. अव्यभिचारात्। ९. अपिस्तयादर्शनसंभावकः। १०. जातित्वेन अनात्मत्वेनेति यावत्। ११. प्रतीकादानम्। १२. अयं शेषः। १३. अयमध्याहारः।

भ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥७॥

सर्वरूपता मे दृष्टान्त है ॥७॥

रूपतैवेति गम्यते । तत्र दृष्टान्त उच्यते ।·यत्स्वरूपव्यतिरेकेणाग्रहणं यस्य तस्य तदात्मत्वमेव लोके दृष्टम् । स यथा स इति दृष्टान्तो लोके यथा दुन्दुभेर्भेर्यादेर्हन्यमानस्य ताड्यमानस्य दण्डादिना न बाह्याञ्छब्दान्वहिर्भूताञ्छब्दविशेषान्दुन्दुभिशब्दसामान्या'न्निष्क्रष्टान्दुन्दुभिशब्दविशेषान्न शक्नुयाद्ग्रहणाय ग्रहीतुम् । दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभिशब्द-

घटः स्फुरतीत्यादिप्रत्ययमाश्रित्य परिहरति—चिन्मात्रेति । स यथा दुन्दुभेरित्यादि वाक्यमवतारयति —तत्रेति । सर्वत्र विदतिरेकेणासत्त्वं सप्तम्यर्थः । 'दृष्टान्ते विवक्षितं संक्षिपति—यत्स्वरूपेति । दुन्दुभिदृष्टान्तमादायाक्षराणि व्याचष्टे—स यथेत्यादिना । शब्दविशेषानेव विशदयति—दुन्दुभीति । कथं 'तर्हि दुन्दुभिशब्दविशेषाणां ग्रहणं तदाह—दुन्दुभेस्त्विति । 'दुन्दुभिशब्दसामान्यस्येति यावत् ।

समस्त जगत् आत्मा ही है" ऐसा ग्रहण किस प्रकार किया जा सकता है ? (उक्त आक्षेप का परिहार किया जाता है—) चित् मात्र का व्यभिचार न होने से (आत्मप्रवण बुद्धि से) इस सभी की (अपरोक्ष) चित्स्वरूपता स्वीकार की जाती है। इस प्रसङ्ग मे (श्रुति) दृष्टान्त का प्रतिपादन करती है। जिसका जिस स्वरूप से व्यतिरिक्त ग्रहण नही किया जा सकता, उसकी तदात्मकता लोकव्यवहार में प्रसिद्ध ही है। "स यथा" अर्थात् वह ताडन किये जाते हुए दुन्दुभि आदि दृष्टान्त से यहाँ तात्पर्य है। जिस प्रकार लोकव्यवहार मे "हन्यमानस्य" यानी दण्डादि से वजाये जाते हुए "दुन्दुभेः" अर्थात् भेरी आदि के "बाह्याञ्शब्दान्" अर्थात् बहिर्भूत तार-मन्दादि शब्दविशेषों को दुन्दभिशब्दसामान्य से निकले हुए दुन्दुभिशब्दविशेषो को "न शक्नुयाद् ग्रहणाय" ग्रहण नही किया जा सकना। 'दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन' अर्थात् दुन्दुभि का शब्दसामान्य जिनका विशेषण है, ऐसे शब्दविशेष से दुन्दुभिलक्षित शब्दसामान्य-भिन्न शब्दविशेष गृहीत हो जाते है क्योकि दुन्दुभि के शब्दसामान्य से पृथक् उनकी सत्ता नही है।

१. आत्मप्रवणधियामपरोक्षमिदम् । २. तारमन्दादिरूपान् । ३. दुन्दुभिशब्दसामान्यादिति । तथा च वार्तिके—"यथा दुन्दुभिशब्दत्वसामान्यादुत्थितान्पृथक् । नाऽऽदातु शक्नुयात्कश्चिद्विशेषानसिकोशवत्" ॥ २६७ ॥ दुन्दुभेर्हन्यमानस्येत्यनेन शब्दत्व लक्ष्यते ततो जाता विशेषा बाह्या शब्दास्तान्निष्कृष्यासिमिव कोशाद्गृहीतु सुशिक्षितोऽपि नालमतस्ते सामान्ये कल्पिताः सर्पादिरिव रज्ज्वामित्यर्थः ॥ लक्ष्यत इति हन्यमानस्येति विशेषण दुन्दुभेस्तु ग्रहणेनेति वाक्यशेषश्च लक्षणाया तात्पर्यग्राहकाविति द्रष्टव्य तथाहि दुन्दुभेस्तु ग्रहणेनेति वाक्यशेषे दुन्दुभिशब्दितकाष्ठग्रहान्न हि शब्दविशेषग्रह सभवति तयोर्भेदात् तत्र दुन्दुभिशब्देन शब्दत्वसामान्ये लक्षणावत् प्रकृतेऽपि लक्षणेति । हन्यमानस्येति विशेषणाच्च तल्लाभोऽधिगन्तव्य अधिकमधिकार्थमिति न्यायात् हनने सत्येव शब्दसभवात् । ४. निःसृतान् । ५. दुन्दुभिशब्दसामान्यविशेषणत्वेनेति । दुन्दुभेः शब्दसामान्य विशेषणं येषु (येषा) शब्दविशेषेषु ते तथा तेषा भावस्तत्त्व तेन शब्दविशेषागृहीता भवन्तीति सम्बन्धः । ६. दृष्टान्त इति—ननु दृष्टान्ते सामान्यविशेषभावाद् दार्ष्टान्तिकेऽपि स स्यात्तयोस्तुल्यत्वादित्याशङ्क्य तत्रापि तद्भावोऽविवक्षित इत्यभिप्रेत्यत्यादिः । ७. सामर्थ्यामात्रे । ८. दुन्दुभिशब्दसामान्यस्येति—नन्वत्र दुन्दुभिमात्रश्रुतेः शब्दसामान्यस्येति विशेषण प्रापकाभावादयुक्तमिति चेन्न तस्य तत्र लाक्षणिकत्वात् । न हि दुन्दुभिशब्दितकाष्ठग्राहाच्छब्दविशेषग्रहस्तयोर्भेदादिति भावः ।

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्श-ब्दाञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्ख-ध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

दूसरा दृष्टान्त यह है—जैसे फूंके गये शङ्ख के बाह्य शब्दों को कोई ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु शङ्ख को अथवा शङ्ख के बजाने को ग्रहण करने पर उसका शब्द स्वयं गृहीत हो जाता है ॥८॥

सामान्यविशेषत्वेन [१]दुन्दुभिशब्दा एत इति-शब्दविशेषा-गृहीता भवन्ति । दुन्दुभिशब्द-सामान्यव्यतिरेकेणाभावात्तेषाम् । [२]दुन्दुभ्याघातस्य वा दुन्दुभेराहननमाघातो [३]दुन्दुभ्या-घातविशिष्टस्य शब्दसामान्यस्य ग्रहणेन [४]तद्गता विशेषा गृहीता भवन्ति । न तु त एव [५]निर्भिद्य ग्रहीतुं शक्यन्ते विशेषरूपेणाभावात्तेषाम् । तथा [६]प्रज्ञानव्यतिरेकेण स्वप्नजाग-रितयोर्न कश्चिद्वस्तुविशेषो गृह्यते । [७]तस्मात्प्रज्ञानव्यतिरेकेणाभावो युक्तस्तेषाम् ॥७॥

तथा स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य शब्देन संयोज्यमानस्याऽऽपूर्यमाणस्य न बाह्या-

---

[१]उक्तेऽर्थे दुन्दुभ्याघातस्येत्यादिवाक्यमुत्थाप्य व्याचष्टे—दुन्दुभ्याघातस्येति । वाशब्दार्थमाह—तद्गता विशेषा इति । [२]उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन(ण) विशदयति—न त्विति । विवक्षित दार्ष्टान्तिक-माचष्टे—तथेति । [३]तत्रैव वस्तुविशेषग्रहणसंभावनामभिप्रेत्य स्वप्नजागरितयोरित्युक्तम् ॥ ७ ॥

तथा दुन्दुभिदृष्टान्तवदिति यावत् । शङ्खस्य तु ग्रहणेनेत्यादिवाक्यमादिशब्दार्थः । दुन्दुभेस्तु

"दुन्दुभ्याघातस्य" पद मे दुन्दुभि बजाने का नाम आघात है, दुन्दुभि-आघातविशिष्ट शब्दसामान्य के ग्रहण से सामान्याभेद होने से विशेष का ग्रहण हो जाता है। उनका उससे विभाजन करके ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि विशेषरूप से उनका अभाव है। इसी प्रकार स्वप्न और जागरित किसी भी स्फूर्त होने वाली वस्तुविशेष का स्फुरणात्मक ब्रह्मसामान्यातिरिक्तरूप से ग्रहण नहीं किया सकता। इसलिए (चित से अतिरिक्त चेत्य के अग्रहण से) प्रज्ञान से पृथक् उनका अभाव कहना उचित ही है ॥७॥

इसी (दुन्दुभिदृष्टान्त) के समान ही जिस प्रकार "ध्मायमानस्य" अर्थात् शब्द से सयुक्त किये जाते अथवा फूंके जाते हुए शङ्ख के बाह्य शब्दों को कोई ग्रहण नहीं कर सकता, अवशिष्ट

---

१ तथा तद्विशेषणवत्त्वमेवाभिनयति—दुन्दुभीति । एत शब्दविशेषा दुन्दुभिशब्दा । दुन्दुभिलक्षितशब्दसामान्याभिन्ना इत्येव प्रकारेण शब्दविशेषा गृहीता भवन्तीत्यर्थः । २ न केवल शब्दसामान्यग्रह एव तद्विशेषग्रहोऽपितु शब्दत्वावान्तरसामान्यग्रहादपि तद्विशेषाणां ग्रह इत्यभिप्रेत्याऽऽह—दुन्दुभ्याघातस्येति । ३. वीरादिनवरसान्यतमरसयुक्तो दुन्दुभ्यादिहननात्पन्न. सग्रामादिगतो ध्वनिरत्र दुन्दुभ्याघात तद्ग्रहे तद्विशेषग्रहस्तयोस्तादात्म्यादित्यभिप्रेत्याऽऽह—दुन्दुभ्याघातविशिष्टस्येति । ४ शब्दसामान्याभिन्ना इत्यर्थः । सामान्याभेदेनैवेति यावत् । ५ विभज्य । ६ स्फुरणात्मकब्रह्मसामान्यातिरिक्त । ७ स्फोर्यमाण । ८ चिदतिरेकेण चेत्याग्रहात् । ९. शब्दसामान्याग्रहे तद्विशेषाग्रहरूपे । १० विशेषाणा सामान्याभेदेनैव ग्रहणरूपम् । ११ स्वप्नजागरयोरेव ।

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ६ ॥

इसमें तीसरा दृष्टान्त वह है—जैसे बजायी गयी वीणा के बाह्य शब्दों को पकड़ने में कोई समर्थ नही होता है, किन्तु वीणा या वीणा के स्वर को पकड़ने से वह स्वय पकड़ा जाता है ॥६॥

ञ्छब्दाञ्शक्नुयादित्येवमादि पूर्ववत् ॥८॥

तथा वीणायै वाद्यमानायै वीणाया वाद्यमानायाः । ❀अनेकदृष्टान्तोपादानमिह सामान्यबहुत्वख्यापनार्थम् । अनेके हि विलक्षणाश्चेतनाचेतनरूपाः [1]सामान्यविशेषाः । तेषां पारम्पर्यगत्या यथैकस्मिन्महासामान्येऽन्तर्भावः प्रज्ञानघने कथं नाम प्रदर्शयितव्य

ग्रहणेनेत्यादिवाक्य दृष्टान्तयति—पूर्ववदिति ॥ ८ ॥

तथेति दृष्टान्तद्वयपरामर्शः । एकेनैव दृष्टान्तेन [2]विवक्षितार्थसिद्धौ किमित्यनेकदृष्टान्तोपादानमित्याशङ्क्याऽऽह—अनेकेति । इहेति जगदुच्यते श्रुतिर्वा । सामान्यबहुत्वमेव स्फुटयति—अनेके हीति । तेषां स्वस्वसामान्येऽन्तर्भावेऽपि कुतो ब्रह्मणि [3]पर्यवसानमित्याशङ्क्याऽऽह—तेषामिति । कथमित्य-

---

व्याख्या पूर्वोक्त मन्त्र के समान समझ लेनी चाहिए ॥८॥

इसी प्रकार "वीणायै वाद्यमानायै" बजायी हुई वीणा का दृष्टान्त भी समझ लेना चाहिए। पूर्वप्रतिपादित अनेक दृष्टान्तो का ग्रहण सामान्य की बहुलताज्ञापन करने के लिए है। चेतन और अचेतन सामान्य के भेद अनेक और विलक्षण ह। जिस प्रकार उनका परम्परा से एक प्रज्ञानघन महासामान्य मे पर्यवसान होता है—यही किसी प्रकार प्रदर्शित करना है। दुन्दुभि, शङ्ख और वीणा के सामान्य और विशेषो का (जिस प्रकार) शब्दत्व मे अन्तर्भाव है (उसी प्रकार प्रज्ञानघन मे समस्त

---

१. सामान्यभेदाः सामान्यस्य भेदाः सामान्यानि विशेषाश्चेत्यव वा विग्रह । २. सर्वस्यात्ममात्रत्व विवक्षितो दार्ष्टान्तिकरूपोऽर्थस्तस्यैक्यादेकेनैव दृष्टान्तेन सिद्धरित्यर्थ । ३. अन्तर्भाव ।

❀अनेकदृष्टान्तेत्यारभ्य दुन्दुभिशङ्खेत्यतः प्राक्तनभाष्यस्यरहस्याविष्करणपराणि वार्तिकानि प्रदर्श्यन्ते । "दार्ष्टान्तिकार्थासभित्तेरेकेनैव कृतार्थत. । दृष्टान्तेन बहूना तु किमर्थोक्तिरितीर्यते ॥ महासामान्य एकस्मिन्विशेषाणामशेषतः । विलय. स्यात्कथ नाम व्यावृत्तान्वयरूपिणाम् ॥ महासामान्यदृष्टान्तो दौन्दुभो रव उच्यत । बाह्यानिति तथावोक्तिर्विशेषाणा तु केवलम् । इत्युक्तार्थप्रसिद्धयर्थसामान्येतररूपस्य दुन्दुभ्याघात इष्यते ॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामभाववपुषाऽथवा । सद्योगम्याद्विरुग्वस्तु न माननावमीयते ॥ मित्युदाहरणत्रयम् ॥ सामान्यभेदरूपाणा षष्ठ्यर्थासभवोऽत. स्याद्द्वितीयासभवात्सत. । यथा मनि तथा विद्यात्प्रतीच्यनन्यमानके ॥ मियोभिन्नपदार्थाना नामरूपक्रियात्मभि. । विशेषाणामशेषतः । महासामान्य एकत्र भूयसा स्याद्यथा तथा ॥ सूक्ष्मताव्याप्तिते ज्ञेये भूम्यादेरुत्तरोत्तरम । प्रत्यगात्मावसानपु स्थूलाद्यनभिसबन्धे कार्यकारणरूपिणाम् ॥

इति दुन्दुभिशङ्खवीणाशब्दसामान्यविशेषाणां यथा शब्दत्वेऽन्तर्भावः । एवं स्थितिकाले तावत्सामान्यविशेषा[1]व्यतिरेकाद्ब्रह्मैकत्वं शक्यमवगन्तुम् ॥९॥

स्मात्पूर्वं तथेत्यध्याहारः। इति मन्यते श्रुतिरिति शेषः। 'विमतं नाऽऽत्मातिरेकि तदतिरेकेणागृह्यमाणत्वाद्यद्यदतिरेकेणागृह्यमाणं तत्तदतिरेकि न भवति यथा दुन्दुभ्यादिशब्दास्तत्सामान्यातिरेकेणागृह्यमाणास्तदतिरेकेण न सन्तीत्यनुमानं विवक्षन्नाह—दुन्दुभीति। शब्दत्वेऽन्तर्भावस्तथा प्रज्ञानघने सर्वं जगदन्तर्भवतीति शेषः। दृष्टान्तत्रयमवष्टभ्य 'निष्टङ्कितमर्थमुपसंहरति—एवमिति ॥ ९॥

जगत् का अन्तर्भाव हो जाता है) । इस प्रकार स्थितिकाल में सामान्य और विशेष से ब्रह्म अभिन्न होने के कारण ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होना संभव है ॥९॥

इसी प्रकार उत्पत्तिकाल में उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म ही था, ऐसा जानना सम्भव है। जिस

---

१. ब्रह्मण । २. अखिल जगत् । ३. साधितम् ।

पूर्वंपूर्वप्रहाणत ॥ नामादीनि च तत्त्वानि प्राणान्तानि तथाऽऽत्मनि । पूर्वंपूर्वप्रहाणेन यान्त्यस्त केवलाद्वये ॥२८६-२९५॥ अनेकदृष्टान्तोक्तिमाक्षिपति—दार्ष्टान्तिकेति । सर्वस्याऽऽत्ममात्रत्व दार्ष्टान्तिकोऽर्थः । तस्यैक्यादेकेनैव दृष्टान्तेन सिद्धेर्दुन्दुभिशङ्खवीणासु दुन्दुभ्यादिरवो दुन्दुभ्याघातादिबाह्यशब्दाश्चेति बहूनामुक्तिरफलेत्यर्थं । तत्फल प्रतिजानीत—ईयंत इति ॥ तत्प्रकटयति—महासामान्येति । एकस्मिन्ब्रह्मणि महासामान्यस्थानीये विशेषाणा सामान्यस्योभयेषा च क्रमेण लय वक्तु नानादृष्टान्तोक्तिरित्यर्थं ॥ लयक्रम दर्शयितु दृष्टान्तत्रयस्य दार्ष्टान्तिकत्रयेणान्वयमाह—महासामान्येति । दुन्दुभ्यादिप्रयुक्तशब्दसामान्याद विना तद्विशेषाभाववन्मूलकारणस्याप्यकार्यकारणब्रह्मातिरेकेणाभावान्महासामान्यस्थानीयस्य कारणस्याद्वये ब्रह्मणि लये दृष्टान्तोऽवान्तरसामान्यावसानभूमिर्दुन्दुभ्यादिशब्दमात्रमित्यर्थं । दुन्दुभ्याघातशब्देन तदाहननकृतशब्दत्वव्याप्य सामान्यविशेषो गृह्यते स च शब्दविशेषसमाप्तिदेश सामान्यविशेषात्मकभूतपञ्चकस्य मूलकारणेऽवसानमित्यत्र निदर्शनमित्याह —सामान्यति ॥ अन्त्यकार्याणा भौतिकाना भूतेष्वनुवृत्तव्यावृत्तेष्वेव निष्ठेत्यत्र बाह्याञ्शब्दानित्युक्तिर्दृष्टान्तस्ते हि दुन्दुभ्याघात शब्दत्वावान्तरसामान्यविशेषे लीयन्त इत्याह—बाह्यानिति । तथाचेति महासामान्यादिदृष्टान्तवदित्यथ । कारणस्याद्वय ब्रह्मणि भूताना कारणे भौतिकाना तथ्ववसानमित्युक्तार्थसिद्धयर्थं दृष्टान्तत्रयमित्युपसहरति—इत्युक्तानि ॥ अनेकदृष्टान्तस्य फलोक्त्या सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वमुक्त्वा तदेव दृष्टान्तान्तरेण साधयितु तदाह—अन्वयति । सद्विशेषाख्य वस्तु तत्सामान्यात्पृथगुच्यमान तेन भेदेनाभेदेन शून्यतया वा मानतो न सिध्यत्यत्यन्तभेदेऽभेदे वा सामान्यविशेषत्वासिद्धे शून्यत्वे च सदद्वैतापत्तेरित्यर्थं ॥ तदद्वयत्वे किं स्यादित्याशङ्क्यानेकव्यक्त्यभाव तदसदन्यात्सामान्यविशेषत्वासिद्धिरित्याह—षष्ठीति । दृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिकमाह —यथति । सत्यद्वयत्वमसङ्गत्व च यथावत तथा स्वप्रकाशे प्रतीच्यपि तज्ज्ञेयमित्यर्थं ॥ दृष्टान्तमुपसहरति—सामान्यति । सद्विशेषाणा सर्वेषामत्रस्मिन् सत्सामान्य यथाऽवसानमित्यर्थं । दार्ष्टान्तिक विवृणोति—तथेति ॥ उक्तदृष्टान्तानुसारेण नामादिभिर्मिथोभिन्नार्थाना कार्यादीनामस्थूलादिके ब्रह्मणि लयात्प्रत्यगनुभवोऽद्वयोऽसङ्गः स्यादिति योजना ॥ सर्वस्य विकारस्य प्रतीचि क्रमेण लय इत्यत्र भाष्यकारसमतिमाह—सूक्ष्मतेति । पृथिवीमारभ्याऽऽत्मान्तपर्वसु पूर्वंपूर्वभूम्यादित्यागनात्तरोत्तरस्याबादे सौक्ष्म्यादि ज्ञेयमिति योजना ॥ तत्रैव च्छान्दोग्यसमतिमाह—नामादीनीति । तथेति अनन्तरोक्तन्यायवत् ॥

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निश्वसितानि ॥१०॥

इसमे चौथा दृष्टान्त यह है—जैसे गीली लकडी के द्वारा आधान किये गये अग्नि से नाना प्रकार धुआँ निकलता है, हे मैत्रेयी ! ऐसे ही ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, (ये चार प्रकार के मन्त्रसमुदाय) उर्वशी-पुरूरवासवादादि इतिहास-पुराण, देवजनविद्या, उपनिषत्, श्लोक (ब्राह्मणभाग के मन्त्र) सूत्र, मन्त्रविवरण और अर्थवाद हैं। वे सभी इस महद्भूत परमात्मा के निःश्वास हैं अर्थात् श्वास-निःश्वास के समान बिना प्रयत्न के ही उस विज्ञानघन से सभी उत्पन्न हुए हैं ॥१०॥

एवमुत्पत्तिकाले प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मैवेति शक्यमवगन्तुम् । यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गधूमाङ्गारार्चिषां प्राग्विभागादग्निरेवेति भवत्यग्न्येकत्वमेवं जगन्नामरूपविकृतं प्रागुत्पत्तेः प्रज्ञानघन एवेति युक्तं ग्रहीतुमित्येतदुच्यते । स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरार्द्रैरेधोभिरिद्धोऽग्निरार्द्रै-

---

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरित्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—एवमित्यादिना । स्थितिकालवदित्येवंशब्दार्थः । तत्र वाक्यमवतार्य व्याचष्टे—इत्येतदिति । महतोऽनवच्छिन्नस्य भूतस्य परमार्थस्येति यावत् ।

प्रकार अग्नि की चिनगारी, धूम, अङ्गार और ज्वालाओं का जन्म होने से पूर्व धूमादि सब अग्निमय है, इससे अग्नि की एकता सिद्ध होती है, उसी प्रकार नाम-रूपात्मक विकृति को प्राप्त जगत् उत्पत्ति से पूर्व प्रज्ञानघन ही था, ऐसा ग्रहण करना ठीक ही है। इसी से यह अग्रिम मन्त्र कहा जाता है। वह "आर्द्रैधाग्नेः यथा" यानी गीली लकडी से चारो ओर प्रज्वलित अग्नि से जिस प्रकार "पृथग्धूमा"

---

१. शक्यमिति—तथा च वार्तिके—"स्थितिकाले यथैकात्म्य शक्यते ज्ञातुमञ्जसा । यथोक्तन्यायतस्तद्वदुत्पत्तावपि शक्यते" ॥ २९७ ॥ इति ॥ यथोक्तन्यायो दृष्टान्तत्रयम् । २. ननु शब्दसामान्ये तद्विशेषाणामैक्य दृष्टं यथा न तथा भिन्नजातीयघटादीनां वीरणादावतो नामादिभिन्नस्य जगतो नात्मन्यैक्य मंजात्यादित्याशङ्क्य समाधत्ते—यथेति । ३ विभागोऽत्र जन्म । ४. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ५. एतदात्मना विकृतम् । ६. उक्ततात्पर्यं स यथेत्यादिवाक्ये नोच्यत इत्यर्थः । ७. तात्पर्यमिति—परस्य कारणत्वे फलेन भाव्यं बुद्धिपूर्वकारिणो विफलप्रवृत्त्ययोगाद्य चासहायस्यायत्नादिमतः कारणतेति साधनमपि किञ्चिद्वाच्यं तथा चाऽन्तःकरणत्वादिहानिरिति केचित्तान्प्रत्येतदेव वाक्यमुत्तरमिति वार्तिकोक्ततात्पर्यान्तरमप्यत्र द्रष्टव्यम् । तथा च वार्तिके—"स्वार्थसाधनयत्नादीननपेक्ष्योत्सृजेद्यथा । धूमादीन्हुतभुक्तद्वत्प्राणादीन्प्रत्यगीश्वरः" ॥ ३०३ ॥ इति । ८. स्वोक्तेऽर्थे ।

इति दुन्दुभिशङ्खवीणाशब्दसामान्यविशेषाणां यथा शब्दत्वेऽन्तर्भावः । एवं स्थितिकाले तावत्सामान्यविशेषाव्यतिरेकाद्ब्रह्मैकत्वं शक्यमवगन्तुम् ॥९॥

स्मात्पूर्वं तथेत्यध्याहारः । इति मन्यते श्रुतिरिति शेषः । 'विमतं नाऽऽत्मातिरेकि तदतिरेकेणागृह्यमाणत्वाद्यद्यदतिरेकेणागृह्यमाणं तत्तदतिरेकि न भवति यथा दुन्दुभ्यादिशब्दास्तत्सामान्यातिरेकेणागृह्यमाणास्तदतिरेकेण न सन्तीत्यनुमानं विवक्षन्नाह—दुन्दुभीति । शब्दत्वेऽन्तर्भावस्तथा प्रज्ञानघने सर्वं जगदन्तर्भवतीति शेषः । दृष्टान्तत्रयमवष्टभ्य 'निष्टङ्कितमर्थमुपसंहरति—एवमिति ॥ ९ ॥

जगत् का अन्तर्भाव हो जाता है) । इस प्रकार स्थितिकाल में सामान्य और विशेष से ब्रह्म अभिन्न होने के कारण ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होना सम्भव है ॥९॥

इसी प्रकार उत्पत्तिकाल मे उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म ही था, ऐसा जानना सम्भव है। जिस

१ ब्रह्मण । २. अखिल जगत् । ३. साधितम् ।

पूर्वंपूर्वंप्रहाणत ॥ नामादीनि च तत्त्वानि प्राणान्तानि तथाऽऽत्मनि । पूर्वंपूर्वंप्रहाणेन यान्त्यस्त केवलाद्वये ॥२८६-२९५॥ अनकदृष्टान्तोक्तिमाक्षिपति—दार्ष्टान्तिकेति । सर्वस्याऽऽत्ममात्रत्व दार्ष्टान्तिकोऽर्थं । तस्यैक्यादेकेनैव दृष्टान्तन सिद्धदुन्दुभिशङ्खवीणासु दुन्दुभ्यादिरवो दुन्दुभ्याघातादिबाह्यशब्दाश्चेति बहूनामुक्तिरफलेत्यर्थं । तत्फल प्रतिजानीत—ईयत इति ॥ तत्प्रकटयति—महासामान्येति । एकस्मिन्ब्रह्मणि महासामान्यस्थानीये विशेषाणा सामान्यस्योभयपा च क्रमेण लय वक्तु नानादृष्टान्तोक्तिरित्यर्थ ॥ लयक्रम दर्शयितु दृष्टान्तत्रयस्य दार्ष्टान्तिकत्रयेणान्वयमाह—महासामान्येति । दुन्दुभ्यादिप्रयुक्तशब्दसामान्यादि विना तद्विशेषाभाववन्मूलकारणस्याप्यकार्यकारणब्रह्मातिरकेणाभावान्महासामान्यस्थानीयस्य कारणस्याद्वये ब्रह्मणि लये दृष्टान्तोऽवान्तरसामान्यावसानभूमिदुन्दुभ्यादिशब्दमात्रमित्यर्थ । दुन्दुभ्याघातशब्देन तदाहननकृतशब्दत्वव्याप्य· सामान्यविशेषो गृह्यते स च शब्दविशेषसमाप्तिदेश सामान्यविशेषात्मकभूतपञ्चकस्य मूलकारणेऽवसानमित्यत्र निदर्शनमित्याह —सामान्यति ॥ अन्त्यकार्याणा भौतिकाना भूतष्वनुवृत्तव्यावृत्तेष्वेव निष्ठेत्यत्र बाह्याञ्शब्दानित्युक्तिर्दृष्टान्तस्ते हि दुन्दुभ्याघात शब्दत्वावान्तरसामान्यविशेषे लीयन्त इत्याह—बाह्यानिति । तथाचेति महासामान्यादिदृष्टान्तवदित्यथ । कारणस्याद्वय ब्रह्मणि भूताना कारणे भौतिकाना तध्ववसानमित्युक्तार्थसिद्धयर्थं दृष्टान्तत्रयमित्युपसहरति—इत्युक्तानि ॥ अनेकदृष्टान्तस्य फलोक्त्या सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वमुक्त्वा तदेव दृष्टान्तान्तरेण साधयितु तदाह—अन्वयति । सद्विशेषास्य वस्तु तत्सामान्यात्पृथगुच्यमान तन भेदेनाभेदेन शून्यतया वा मानतो न सिध्यत्यत्यन्तभेदऽभेदे वा मामान्यविशेषत्वासिद्धे शून्यत्वे च सदद्वैतापत्तेरित्यर्थ ॥ तदद्वयत्वे किं स्यादित्याशङ्क्यानेकव्यवत्यभाव तदसद्भावात्सामान्यविशेषत्वासिद्धिरित्याह—षष्ठीति । दृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिकमाह —यथति । सत्यद्वयत्वममङ्गत्व च यथावत तथा स्वप्रकाशे प्रतीच्यपि तज्ज्ञेयमित्यर्थ ॥ दृष्टान्तमुपसहरनि—सामान्यति । सद्विशेषाणा सर्वेषामस्मिन् सत्सामान्य यथाऽवसानमित्यर्थं । दार्ष्टान्तिक विवृणोति—तथेति ॥ उक्तदृष्टान्तानुसारेण नामादिभिर्मिथोभिन्नार्थाना कार्यादीनामस्थूलादिके ब्रह्मणि लयात्प्रत्यगनुभवोऽद्वयोऽसङ्ग स्यादिति योजना ॥ सर्वस्य विकारस्य प्रतीचि क्रमेण लय इत्यत्र भाष्यकारसम्मतिमाह—सूक्ष्मतेति । पृथिवीमारभ्याऽऽत्मान्तष्वर्थेषु पूर्वपूर्वभूम्यादित्यागनात्तरोत्तरस्याबादे सौक्ष्म्यादि ज्ञेयमिति योजना ॥ तत्रैव च्छान्दोग्यसम्मतिमाह—नामादीनीति । तथेति अनन्तरोत्तं यायवत् ॥

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निश्वसितानि ॥१०॥

इसमे चौथा दृष्टान्त यह है—जैसे गीली लकडी के द्वारा आधान किये गये अग्नि से नाना प्रकार का धुआँ निकलता है, हे मैत्रेयी! ऐसे ही ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, (ये चार प्रकार के मन्त्रसमुदाय) उर्वशी-पुरूरवासंवादादि इतिहास-पुराण, देवजनविद्या, उपनिषत्, श्लोक (ब्राह्मणभाग के मन्त्र) सूत्र, मन्त्रविवरण और अर्थवाद हैं। वे सभी इस महद्भूत परमात्मा के नि श्वास हैं अर्थात श्वास-नि श्वास के समान विना प्रयत्न के ही उस विज्ञानघन से सभी उत्पन्न हुए हैं ॥१०॥

एवमुत्पत्तिकाले प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मैवेति शक्यमवगन्तुम्। यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गधूमाङ्गारार्चिषा प्राग्विभागादग्निरेवेति भवत्यग्न्येकत्वमेवं जगन्नामरूपविकृतं प्रागुत्पत्तेः प्रज्ञानघन एवेति युक्तं ग्रहीतुमित्येतदुच्यते। स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरार्द्रैरेधोभिरिद्धोऽग्निरार्द्रै-

---

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरित्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—एवमित्यादिना। स्थितिकालवदित्येवशब्दार्थः। तत्र वाक्यमवतार्य व्याचष्टे—इत्येनदिति। महतोऽनवच्छिन्नस्य भूतस्य परमार्थस्येति यावत्।

प्रकार अग्नि की चिनगारी धूम, अङ्गार और ज्वालाओ का जन्म होने से पूर्व धूमादि सब अग्निमय है, इससे अग्नि की एकता सिद्ध होती है, उसी प्रकार नाम रूपात्मक विकृति को प्राप्त जगत् उत्पत्ति मे पूर्व प्रज्ञानघन ही था, ऐसा ग्रहण करना ठीक ही है। इसी से यह अग्रिम मन्त्र कहा जाता है। वह 'आर्द्रैधाग्ने यथा'' यानी गीली लकडी से चारो ओर प्रज्वलित अग्नि से जिस प्रकार "पृथग्धूमा"

---

१ शक्यमिति—तथा च वार्तिके—"स्थितिकाले यथैकात्म्य शक्यते ज्ञातुमञ्जसा। यथोक्तन्यायतस्तद्वदुत्पत्तावपि शक्यते" ॥ २९७ ॥ इति ॥ यथोक्तन्यायो दृष्टान्तत्रयम्। २ ननु शब्दसामान्ये तद्विशेषाणामैक्य दृष्ट यथा न तथा भिन्नजातीयघटादीनां वीरणादावतो नामादिभिन्नस्य जगतो नात्मन्यैक्य वैजात्यादित्याशङ्क्य समाधत्ते—यथेति। ३ विभागोऽत्र जन्म। ४ धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थं। ५ एतदात्मना विकृतम्। ६ उक्तताल्पर्यं स यथेत्यादिवाक्ये नोच्यत इत्यर्थं। ७ तात्पर्यमिति—परस्य कारणत्वे फलेन भाव्य बुद्धिपूर्वकारिणो विफलप्रवृत्त्ययोगान्न चासहायस्यायत्नादिमत कारणतेति साधनमपि किञ्चिद्वाच्य तथा चाऽप्तत्वादिहानिरिति केचित्ता प्रत्यतदेव वाक्यमुत्तरमिति वार्तिकोक्ततात्पर्यान्तरमप्यत्र द्रष्टव्यम्। तथा च वार्तिके—"स्वार्थसाधनयत्नादीननपेक्ष्योत्सृजेद्यथा। धूमादी हुतभुक्तद्वत्प्राणादी प्रत्यगीश्वर" ॥ ३०३ ॥ इति। ८ स्वोक्तेऽर्थे।

धाग्निस्तस्माद'भ्याहितात्पृथग्धूमाः पृथग्नानाप्रकारं धूमग्रहणं विस्फुलिङ्गादिप्रदर्शनार्थं धूमविस्फुलिङ्गादयो विनिश्चरन्ति विनिर्गच्छन्ति । एवं यथाऽयं दृष्टान्तः। अरे मैत्रेय्यस्य परमात्मनः प्रकृतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतन्निश्वसितमिव निश्वसितम् । यथाऽप्रयत्नेनैव पुरुषनिश्वासो भवत्येवं वा अरे । किं तन्निश्वसितमिव ततो जातमित्युच्यते । यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो'ऽथर्वाङ्गिरसश्चतुर्विधं मन्त्रजातमितिहास इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादादिरुर्वशी ह्यप्सरा इत्यादि ब्राह्मणमेव । पुराणमसद्वा इदमग्र आसीदित्यादि । विद्या 'देवजनविद्या वेदः सोऽयमित्याद्या । 'उपनिषदः 'प्रियमित्येतदुपासीतेत्याद्याः । श्लोका 'ब्राह्मणप्रभवा मन्त्रास्तदेतेऽश्लोका इत्यादयः। सूत्राणि 'वस्तुसंग्रहवाक्यानि(णि) वेदे यथाऽऽत्मेत्येवोपासीतेत्यादीनि । अनुव्याख्यानानि 'मन्त्रविवरणानि । व्याख्यानान्यर्थवादाः ।

निश्वसितमिवेत्युक्तं व्यनक्ति—यथेति । अरे मैत्रेयि ततो जातमिति संबन्धः। 'तदेवाऽऽकाङ्क्षापूर्वकं विशदयति—किं तदित्यादिना । इतिहास इति ब्राह्मणमेवेति संबन्धः। संवादादिरित्यादिपदेन प्राणसंवादादिग्रहणम् । असद्वा इदमग्र आसीदित्यादीत्यत्राऽऽदिशब्देनासदेवेदमग्र आसीदिति गृह्यते। देवजनविद्या नृत्यगीतादिशास्त्रम् । वेदः "सोऽयं वेदाद्बहिर्न भवतीत्यर्थः। इत्याद्या विद्येति संबन्धः। आदिशब्दः शिल्पशास्त्रसंग्रहार्थः । प्रियमित्येतदुपासीतेत्याद्या इत्यत्राऽऽदिशब्दः सत्यस्य सत्यमित्युपनिषत्संग्रहार्थः। तदेते श्लोका इत्यादय इत्यत्राऽऽदिशब्देन तदप्येष श्लोको भवति। असन्नेव स भवतीत्यादि गृह्यते । इत्यादीनीत्यादिपदमथ योऽन्यां देवतामुपास्ते ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादि

अर्थात् नाना प्रकार का धूम निकलता है। मन्त्र मे धूमग्रहण विस्फुलिङ्ग आदि के प्रदर्शन के लिये है। धूम और चिनगारी आदि "विनिश्चरन्ति" अर्थात् निकलती हैं। इसी प्रकार जैसे यह दृष्टान्त है। अरी मैत्रयी ! इस परमात्मा के प्रकृत महद्भूत का "निश्वसितम्" यानी नि.श्वास के समान नि.श्वास है। जिस प्रकार विना प्रयत्न के श्वास आता जाता है, उसी प्रकार प्रज्ञानघन से जगत् उत्पन्न हुआ है। जो यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वाङ्गिरस चार प्रकार का मन्त्रसमुदाय है तथा उर्वशी-पुरूरवा का संवादरूप जो इतिहास है। ब्राह्मणग्रन्थो मे कहा है—उर्वशी अप्सराएँ थी। "सृष्टि के पहले यह नामरूपात्मक जगत् अव्याकृत ब्रह्मरूप ही था" इत्यादिरूप पुराण है। "वह यह वेद है" इत्यादि नृत्यगीतादिशास्त्र विद्या है। "उसकी उपासना प्रियरूप से करनी चाहिए (क्योंकि 'प्रिय' यह उसका चतुर्थपाद है)" इत्यादि अभिधायकशब्दरूप उपनिषत् है। "स्वयज्योतिष्ट्वादि अर्थ को प्रतिपादन करने वाले ये मन्त्र हैं" इत्यादि ब्राह्मणभागमात्रस्थ श्लोक ही मन्त्र है। विद्यादि वस्तु को संक्षेप में प्रतिपादन करनेवाले वेद मे वाक्य हैं—जिस प्रकार "आत्मा है, इस रूप से उसकी उपासना करे" इत्यादि। ("क्योंकि उस सृष्टिकर्ता ने मेधा व तप के द्वारा उत्पत्ति की" इत्यादि) मन्त्रविवरणात्मक

१ अभित प्रज्वलितात्। २ अथर्वणा अङ्गिरसा च दृष्टा मन्त्रा अथर्वाङ्गिरस । ३. "उदकुम्भं निधाय दास्योर्जालीय परिनृत्यन्तीत्यादि" ब्रा.। ४. अभिधायकशब्दरूपा। ५. बृ० उ० ४।१।३ । ६. ब्राह्मणभागमात्रस्था न तु मन्त्रभागस्थाः। ७ विद्यादिवस्तुसंक्षेपप्रतिपादिकानि । ८ "मेधया हि तपसाऽजनयत्पिते"त्येवमादीनि। ९. ततो जातमेव। १०. नृत्यादिप्रतिपादकशास्त्रमित्यर्थ.।

अथवा 'वस्तुसंग्रहवाक्यविवरणान्यनुव्याख्यानानि । 'यथा 'चतुर्थाध्याय आत्मेत्येवोपासीतेत्यस्य यथा वाऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा 'पशुरेवमित्यस्यायमेवाध्यायशेषः । मन्त्रविवरणाणि व्याख्यानानि । 'एवमष्टविधं ब्राह्मणम् ।

*'एवं मन्त्रब्राह्मणयोरेव ग्रहणम् । नियतरचनावतो विद्यमानस्यैव वेदस्या'भिव्यक्तिः

ग्रहीतुम् । अर्थवादेषु व्याख्यानपदप्रवृत्तौ हेत्वभावं शङ्कित्वा पक्षान्तरमाह—अथवेति । इतिहासादिशब्दव्याख्यानमुपसंहरति—एवमिति । ब्राह्मणमितिहासादिपदवेदनीयमिति शेषः ।

ऋगादिशब्दानामितिहासादिशब्दानां च 'प्रसिद्धार्थत्यागे को हेतुरित्याशङ्क्य 'निश्वसितश्रुतिरितिहासादिशब्दानां प्रसिद्धार्थत्यागे हेतुः ''परिशेषस्त्वन्यत्रेत्यभिप्रेत्याऽऽह—एवं मन्त्रेति । ननु प्रथमे काण्डे वेदस्य नित्यत्वेन प्रामाण्यं स्थापितं ''तदनित्यत्वे तद्धानिरित्यत आह—नियतेति । नियतेत्यादौ वेदो विशेष्यते । ''कल्पान्तेऽन्तर्हितान्वेदानित्यादिवाक्यान्नियतरचनावत्त्वं वेदस्य गम्यते ।

ही अनुव्यख्यान है । व्याख्यान अर्थवाद हुआ करते हैं । अथवा वस्तुसग्रहवाक्य विवरण अनुव्याख्यान है । जिस प्रकार वक्ष्यमाण चतुर्थाध्याय मे "आत्मा है, इस रूप उपासना करे" इस श्रुतिवाक्य की व्याख्या है अथवा "यह आराध्यदेव भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूँ, इस प्रकार जो अपने से भिन्न देवता की उपासना करता है; वह अज्ञानी परमार्थतत्व को नही जानता, जैसे लोक में भारवाही पशु होता है, वैसे ही वह भेदवादी देवताओं का पशु है" । इसी प्रथम अध्याय का शेष व्याख्यान है। मन्त्रविवरण ही व्याख्यान है । उपरोक्त प्रकार से ब्राह्मणभाग अष्टविध है ।

उपरोक्त दिशा से मन्त्र और ब्राह्मण का ग्रहण करना चाहिये । पुरुष के श्वास के समान

---

१. "यथा प्राणा वै सत्यमि"त्येवमादीना शिशुमूर्तामूर्तब्राह्मणे । २. उदाहरणान्तरमाह—यथेति । ३. वक्ष्यमाणश्चतुर्थाध्यायः । उच्यमानः भाष्ये चतुर्थाध्यायो द्वितीयाध्याय इति यावत् । ४ प्रथमाध्यायशेष इत्यर्थः । ५. उक्तदिशा । ६ यथोक्तदिशा । ७. कूपाकाशदिवत्परस्मादप्रयत्नेनाभिव्यक्ति । ८. प्रसिद्धार्थेति । ऋग्वेदादिशब्दाना प्रसिद्धोऽर्थो मन्त्रब्राह्मणोभयात्मकः । इतिहासो भारतादि । पुराण ब्राह्मादि । विद्या आन्वीक्षिक्याद्या । उपनिषद्रहस्यम् । श्लोका अनुष्टुबादयः । सूत्राणि जैमिन्यादिमहर्षिप्रणीतानि । अनुव्याख्यानानि भाष्यादीनि । व्याख्यानानि वार्तिकादीनीतीतिहासादे प्रसिद्धोऽर्थः । ९. निश्वसितश्रुतिरिति—तथा ह्यृगादीनामितिहासादीना च प्रकृतात्परमात्मन उत्पत्तिः श्राव्यते । न च प्रसिद्धाना तेषा तत उत्पत्तिस्तत्कर्तन्तरस्मृतिविरोधादिति भावः । १०. मन्त्रब्राह्मणयोरपि निःश्वसितत्वाविशेषाह—परिशेषस्त्वन्यत्रेति । प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसक्तौ शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेष इति । ऋगादिशब्दाना मन्त्रमात्रपरत्वे परिशेषो हेतुरित्यर्थः । ११. तस्य वेदस्येश्वरकृतत्वेन बुद्धाद्युक्तिवदनित्यत्वेऽनपेक्षमानत्वायोगादित्यर्थः । १२. युगान्त इति पाठः । "सेतिहासान्महर्षयः । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयमुवेति"व्यासस्मृतिशेष ।

---

*एवं मन्त्रब्राह्मणयोरेव ग्रहणमिति । तथाचाहु—"ऋग्वेदादिगिरोच्यन्ते ऋग्यजुसामलक्षणाः । अथर्वाङ्गिरसस्तद्वन्मन्त्राः स्युर्ब्राह्मणोद्धृताः ॥ इतिहासादिसभेदभिन्न ब्राह्मणमेव तु । ब्राह्मणत्र प्रसिद्धस्तु नेतिहासादिरिष्यते" ॥वा०२१३-२१४॥ "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयत्वकारणात् । ऋग्वेदादिगिरा तस्मान्मन्त्रब्राह्मणयोर्ग्रह ॥ यथासिद्धमितिहासपुराणाद्यपि गृह्यते । लोकप्रसिद्धिमुल्लङ्घ्य यतोऽन्याभ्योऽन्यथाग्रहः ॥ इतिहासपुराणाभ्यां वेद समुपबृंहयेत् । इत्यादिमनुनाऽप्युक्त कथ तत्त्यागमर्हति ॥ इतिहासपुराणादेर्वेदमूलत्वकारणात् । प्रामाण्य

पुरुषनिश्वासवन्न च पुरुषबुद्धिप्रयत्नपूर्वकः' । 'अतः प्रमाणं निरपेक्ष एव स्वार्थे । 'तस्माद्य'स्तेनोक्तं तत्तथैव प्रतिपत्तव्यमात्मनः श्रेय इच्छद्भिर्ज्ञानं वा कर्म वेति ।

'अनादिनिधनानित्येत्यादेश्च सदातनत्वं तस्य निश्चीयते । न च 'कृतकत्वादप्रामाण्य प्रत्यक्षादौ 'व्यभिचारात् । 'न च पौरुषेयत्वादनपेक्षत्वहेत्वभावादप्रामाण्यम् । 'बुद्धिपूर्वप्रणीतत्वाभावेन तत्सिद्धे । ''न चोन्मत्तवाक्यसादृश्यमबाधितार्थत्वादिति भाव । सिद्धे वेदस्य प्रामाण्ये फलितमाह—तस्मादिति ।

नियतरचनावान् (कृपाकाशादि के समान) विद्यमान वेद की ही अभिव्यक्ति हुई है, पुरुष की बुद्धि के प्रयत्न से (वेदो की) रचना नही हुई है। इसलिए (चिदात्मा से नित्य होने के कारण) प्रमाण स्वार्थ मे निरपेक्ष ही है। इसलिए (वेद के प्रामाण्य होने से) ज्ञेयत्व अथवा अनुष्ठेयत्वरूप से ज्ञान या कर्म द्वारा जिसका जैसा निरूपण किया है, श्रेयस्कामियों को वैसे ही आत्मप्राप्ति कर लेनी चाहिये। रूप

---

१ वेद इति शेष । २ चिदात्मना नित्यत्वात् । ३ वेदस्य प्रामाण्यात् । ४ ज्ञेयत्वेनानुष्ठेयत्वेन वेति शेष । ५ "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा । आदौ वेदमयी दिव्या यत सर्वा प्रवृत्तय" ॥ इति पूर्णा स्मृति । उत्सृष्टत्वोक्त्या पौरुषेयत्वमाशङ्क्योक्त भगवत्पादै । उत्सर्गोऽप्यय वाच सम्प्रदायप्रवर्तनात्मको द्रष्टव्य । अनादिनिधनाया अन्यादृशस्योत्सर्गस्यासम्भवादिति । सम्प्रदायो गुरुशिष्यपरम्पराध्ययनम् । रूपमर्गा-दप्राथम्यमादिशब्दार्थं । सम्प्रदायातिरेकेणाप्राप्तिर्दिव्यत्वम् । अस्त्वेव शब्दसृष्टिस्तथापि कथ तत्पूर्वोऽर्थसृष्टि-स्तत्राह—यत इति । ६ अभिव्यक्तत्वमेवात्र कृतकत्व तेनानित्यत्वेनानपेक्ष प्रामाण्य घटादिवत् । ७ व्यभिचारादिति—तत्र तत्सत्त्वेऽपि प्रामाण्यसत्त्वादित्यर्थ । अयमाशय न हि नित्यत्व प्रामाण्ये हेतु आकाशादौ तदभावात् नाप्यनित्यत्वमप्रामाण्ये हेतुश्चक्षुरादेरपि प्रामाण्यादतोऽज्ञातार्थपरिच्छेदिनो वेदस्यानपेक्षप्रामाण्य-सिद्धिरिति । ८ न च पौरुषेयत्वादिति—शब्दार्थसम्बन्धस्य साकेतिकत्वाद्वेदस्य स्वशक्त्या चक्षुरादिवद्बा-धकत्वात् सकेतयितृपुरुषबुद्ध्यपेक्षत्वादप्रामाण्यमिति शङ्कितुराशय । ९ बुद्धिपूर्वेति—न हि वेदो धीपूर्वक-स्तदर्थमानान्तरायोगात् ऐशज्ञान तत्र भवदपि न वेदरचनायामुपयुज्यते निःश्वसितश्रुतेरतो वेदवत्तदर्थसम्बन्धोऽपि शक्तिरूपश्चक्षुरादेरिव विद्यमान एव परस्माद्व्यज्यते न साकेतिकस्तस्माद्वस्त्वनुसारी वेदोऽध्यक्षादिवन्मानमिति समाधातुराशय । अनित्यत्वादौ स्थिते सति बुद्धादिवाक्योत्थधीवत् वेदाप्रामाण्यमित्युक्तमयुक्त च द्रष्टव्यम् । वेद स्वार्थे मानमज्ञातज्ञापकत्वात्परेष्टेश्वरधीवदित्यपि बोध्यम् । १० ननु सिद्धान्तेऽपि निःश्वसितश्रुत्या वेदस्याधीपूर्वकत्वोपगमे प्रामाण्यविरोधो बालोन्मत्ताद्युक्तिवदित्याशङ्क्याऽऽह—न चोन्मत्तेति । विप्रलम्भकाद्युक्ति-समो वेद इत्यस्यामुक्तावसंदिग्धाऽबाधिताऽज्ञातधीहेतु सन् न तत्सम इति वक्तु शक्यत्वादित्याशय ।

नान्यथा तस्य प्रामाण्यमुपपद्यते ॥ प्रत्यक्षवेदवचनविरुद्ध तेषु यद्भव । बुद्धवाक्यादिवत्तादृक्त्याज्य श्रुतिविरोधत ॥ न चेश्वरातिरेकेण कश्चित्स्रष्टाऽभ्युपेयत । इतिहासपुराणादेस्तदन्यस्येह कायत ॥ कारणत्व प्रमाणेन यस्य साक्षाद्विनिश्चितम् । अपि तत्नायकर्तृत्वे तदेवाभ्युपगम्यत ॥ बीजमेवाङकुरादीना यथा कारणमिष्यत । अङकुराद्यात्मना तद्वद्बीजमेव तु कारणम् ॥ आद्यन्तयोयता बीज प्रत्यक्षणावसीयत । तस्मात्त मध्यकार्येषु बीजमेवास्तु कारणम् । न च वेदोक्तितो वेद श्रद्धयाय इहेष्यते । कित्वमानत्वहेतूना वेदवाक्येष्वसम्भवात् ॥ प्रामाण्य वेदवाक्याना न च माना तराश्रयात् । अक्षादरपि मानत्व यथोक्तादेव कारणात् ॥ वा ३१६-३२६ ॥ अपौनरुक्त्यर्थं ब्राह्मणोद्धृता इत्युक्तम् ॥ अत्रेति प्रकृतवाक्यग्रहणम् । प्रसिद्धेतिहासादिग्रह निश्वसितश्रुतिप्राति-कूल्यमभिप्रेत्याऽऽह—प्रसिद्धैरिति ॥ भाष्यानुसारेण यद्वेद इत्यादि व्याख्यायाथान्तरमाह—मन्त्रेति । इतिहासा-दिशब्दैस्तर्हि कथमेवंविध ब्राह्मण भाष्ये गृहीतमित्याशङ्क्य दूषयति—लोकेति । बाधकाभाव वृद्धप्रसिद्धि-

'नामप्रकाशवशा हि रूपस्य विक्रियावस्था । नामरूपयोरेव हि परमात्मोपाधिभूतयोर्व्या-क्रियमाणयो. सलिलफेनवत्तत्त्वान्यत्वेना'निर्वक्तव्ययोः सर्वावस्थयोः संसारत्वमित्यतो नाम्न एव निश्वसितत्वमुक्तम् । तद्वचनेनेवे'तरस्य निश्वसितत्वसिद्धेः । अथवा

नामप्रपञ्चसृष्टिरेवात्रोपदिष्टा न रूपप्रपञ्चसृष्टि सा चोपदेष्टव्या सृष्टिपरिपूर्तेरन्यथाऽनुपपत्तेरित्याश-ङ्क्याऽऽह—नामेति' । यद्यपि नामतन्त्रा रूपसृष्टिरिति नामसृष्टिवचनेन रूपसृष्टिरर्थादुक्ता तथाऽपि सर्वसंसारसृष्टिर्नोक्ता नामरूपयोरेव समारत्वे प्राक्तत्सृष्टे ससारो न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—नामरूप-योरिति । सर्वावस्थयोर्व्यक्ताव्यक्तावस्थयोरिति यावत् । नामप्रपञ्चस्यैवात्र सर्गोक्तिमुपपादितामुपसहरति —इतीति । अत शब्दार्थं स्फुटयति—तद्वचनेनेति । निश्वसितश्रुतिं विधान्तरेणावतारयति—

की विकार व्यवस्था नामसञ्ज्ञक प्रकाशक के अधीन है। जल और फन के समान जिसका भेद या अभेदादि के द्वारा जिसका निर्वचन नही हो सकता, उन परमात्मा के उपाधिभूत विकार को प्राप्त हुए समग्र अवस्थाओ मे स्थित नाम और रूप को ही ससार कहते हैं। इसलिए नाम के ही श्वासयुक्त होने का प्रतिपादन किया गया है क्योकि उसके निर्वचन से ही रूप का निर्वचन सिद्ध होता है। अथवा यूँ कहो कि "ब्राह्मण जाति उसे भ्रष्ट कर देती है", 'यह जो कुछ भी है, सब आत्मा ही है"

१ नामाख्यप्रकाशकाधीना । २ भेदाभेदादिनाऽनिर्वाच्ययो । ३ रूपस्य । ४ तथा च साध्यथादुक्तैवति बोध्यमिति भाव ।

नातिक्रमणीयेति भाव ॥ ऋगादिसंनिहितेतिहासादिशब्देनापि प्रसिद्धग्रहे स्मार्तं लिङ्गमाह—इतिहासेति । 'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामय प्रहरिष्यती'ति भागान्तरम् । आदिमनुना वृद्धमनुनेति यावत् । अग्निणाऽपीत्यपेरथ ॥ इतिहासादिना वेदार्थनिरूपण चेत्तदपेक्षया तत्प्रामाण्यादनपेक्षप्रामाण्यक्षतिरित्याशङ्क्य वैपरीत्यान्मैवमित्याह—इतिहासेति । न हि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायाद्व्याख्यातृवाक्याद्वेदार्थनिर्णय तदपेक्षया वेदोऽनपेक्ष प्रामाण्य जहातीति भाव ॥ इतिहासादेरपि वेदवत्प्रामाण्य कुतस्तदपेक्षा स्वत एव तथोगादित्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यक्षेति ॥ कथमत्र प्रसिद्धेतिहासादिग्रहे कर्त्रन्तरस्मृतिरीश्वरस्यात्र कर्तृत्वश्रुतेरित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । ग्रहेति च सिद्धान्तोक्ति ॥ परस्यैव व्यासादिरूपेण पुराणादिकारणत्व साधयति—कारणत्वमिति । परस्याज्ञानद्वारा सर्वकारणतया श्रुत्यादिसिद्धत्वात्तत्कार्यव्यासादेरितिहासादौ कर्तृत्वस्मृतेरपि तदेव ब्रह्म तत्र तत्र तद्रूपेण कारण को ह्यन्य पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेदित्युक्तेरित्यर्थ ॥ ब्रह्मैव व्यासाद्यात्मना तत्तत्कारणमित्यत्र दृष्टान्तनाऽऽह—बीजमिति । आद्यबीजस्याङ्कुरादिहेतुत्व पत्रपुष्पादिहेतुत्वमङ्कुरादेरस्त्वीत्याशङ्क्याऽऽह—अङ्कुरादीति । तदात्मना बीजमेव कारण पत्रपुष्पादेरपीति शेष । तथा ब्रह्मैव तत्तदात्मना तत्र तत्र कारण-मित्याह—तद्वदिति ॥ बीजस्यैवाङ्कुराद्यात्मना पत्रादिहेतुत्वमत्र नियामकापेक्षाया दृष्टान्त प्रपञ्चयति—आद्यन्तयोरिति । कर्त्रन्तरस्मृत्यविरोधेऽपि नेतिहासादे सापेक्ष प्रामाण्य निश्वसितश्रुतेर्वेदवद्बुद्धिपूर्वकत्वादि-त्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । अस्यार्थ—निश्वसितमिति वेदवचनेनाधीपूर्वोक्त्या वेदोऽनपेक्षप्रमाण नेष्यते, किन्तु मानान्तरदृष्टार्थत्वादीनामप्रामाण्यहेतूना तत्राभावादितिहासादेस्तु वेदोपबृंहकत्वात्तद्दृष्टार्थस्य मानपेक्षता न चेतिहासादिविषय निश्वसितश्रुतिविरोध परस्माद्व्यासादिरूपादनायामेन तदुत्पत्ति विषयत्वादिति ॥ लोकावगत-सामर्थ्यं शब्दो वेदेऽपि बोधक इति न्यायाद्वेदस्य मानान्तरादृष्टार्थत्वमसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रामाण्यमिति । पदाना शक्तिधिया मानान्तरापेक्षत्वेऽपि न वाक्यप्रामाण्य तदपेक्ष तस्याज्ञातार्थत्वनियमादित्यर्थ । अज्ञातार्थत्व प्रामाण्यप्रयोजकमिति कथ निश्चीयते प्रसिद्धप्रमाणेषु तथादृष्टेरित्याह—अज्ञातादिति ॥

स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रसानां जिह्वैकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रूपाणां चक्षुरेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ शब्दानाꣳ

आत्मा की सर्वरूपता मे दृष्टान्त यह है कि जैसे सम्पूर्ण नदी-सरोवरादि के जलो का समुद्र ही एकमात्र प्रलयस्थान (अभेदप्राप्ति का स्थल) है, वैसे ही सम्पूर्ण स्पर्शो का प्रलयस्थान त्वचा है। इसी प्रकार सम्पूर्ण गन्धो का एकायन दोनो नासिका है। ऐसे ही सम्पूर्ण रसो का एकायन जिह्वा है। ऐसे

सर्वस्य द्वैतजातस्याविद्याविषयत्वमुक्त ब्रह्म तं परादादिदं सर्वं यदयमात्मेति' तेन वेदस्याप्रामाण्यमाशङ्क्यते। तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थमिदमुक्तं पुरुषनिश्वासवदप्रयत्नोत्थितत्वात्प्रमाण वेदो न यथाऽन्यो ग्रन्थ इति ॥१०॥

किंचाऽन्यन्न केवलं स्थित्युत्पत्तिकालयोरेव प्रज्ञानव्यतिरेकेणाभावाज्जगतो ब्रह्मत्वं

अथवेत्यादिना। 'मिथ्यात्वेऽपि प्रतिबिम्बवत्प्रामाण्यसम्भवादुन्मत्तादिवाक्यानां च 'मिथ्याज्ञानाधीनप्रयत्नजन्यत्वेनामानत्वाद्वेदस्य तदभावाद्विषयाव्यभिचाराच्च नाप्रामाण्यमित्याह—तदाशङ्केति। अन्यो ग्रन्थो बुद्धादिप्रणीतः स्वर्गकाम'श्चैत्य वन्देतेत्यादिः॥ १०॥

स यथा सर्वासामपामित्यादिसमनन्तरग्रन्थमुत्थापयति—किंचान्यदिति। 'तदेव व्याकरोति

इन श्रुतिवाक्यो द्वारा सम्पूर्ण द्वैतप्रपञ्च को अविद्या का कार्य कहा गया है। इन श्रुतिवाक्यो से वेद के अप्रामाण्य होने की शङ्का उपस्थित होती है। उसी आशङ्का के निरास के लिए कहा गया है—पुरुष के निःश्वास के समान निष्प्रयत्न उत्पन्न हुआ होने के कारण वेदो का प्रामाण्य सिद्ध होता है, यह बुद्धादि-प्रणीत) ग्रन्थान्तर की तरह नही है ॥१०॥

इसके अतिरिक्त दूसरी बात कही जाती है। प्रज्ञानघन से व्यतिरिक्त जगत् का अभाव रहने से उसका ब्रह्मत्व केवल स्थिति और उत्पत्ति के समय ही नही है, बल्कि प्रलयावस्था मे भी जगत् का ब्रह्मत्व सिद्ध है। जिस प्रकार जल, बुद्बुद और फेनादि की सत्ता जल को छोडकर नही है, उसी प्रकार

---

१ नायस्वम्। २ अनन वाक्यन। ३ तेन वेदस्य प्रामाण्यमाशङ्क्यत इति। "इद सर्वं यदयमात्मे त्यादि-वाक्यन सवस्य द्वैतजातस्याविद्याविषयत्वकथनन सर्वस्य मिथ्यात्वमुक्त न हि मिथ्यात्व विनाऽविद्याविषयत्व सवस्य सभवति परस्यापि तद्विषयत्वापत्ते तन्मिथ्यात्व तदन्त स्थवेदस्यापि तद्भावादधूमाभासवदमानत्वमित्यर्थं। ४ अथदुच्यत इति शेष। ५ मिथ्यात्वेऽपीति—न हि मिथ्यात्वममानत्व हेतु प्रतिबिम्बादौ व्यभिचारात् (प्रतिबिम्बस्य मिथ्यात्वेऽपि सत्यबिम्बानुमापकत्वात्) किन्तु अनुत्पत्त्यादि(ज्ञानानुत्पादकत्वादि)तथा (मिथ्यात्वहेतु) तदत्र नास्ति श्रुतवाक्यस्य युद्धयुत्पादकत्वात् सशयादश्चाभावादिति भाव। ६ निश्वसित-श्रुत्या वेदस्याधीपूर्वकत्वाभ्युपगमात्प्रामाण्यविरोध उन्मत्तादुक्तिवदित्याशङ्क्याऽऽह—उन्मत्तादीति। ७ भ्रान्तिज्ञानेति यावत्। ८ चैत्यम्—बुद्धम्। ९. अन्यदेव।

¹श्रोत्रमेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ संकल्पानां मन एकायनमेवꣳ सर्वासां विद्यानाꣳ हृदयमेकायनमेवꣳ सर्वेषां कर्मणाꣳ हस्तावेकायनमेवꣳ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवꣳ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवꣳ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवꣳ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ ११ ॥

ही सम्पूर्ण शब्दो का एकायन श्रोत्र है। ऐसे ही सभी सकल्पो का एकायन मन है। ऐसे ही सभी विद्याओ का एकायन हृदय है। ऐसे ही समस्त कर्मो का एकायन हाथ है। ऐसे ही समस्त आनन्दो का एकायन उपस्थ है और इसी प्रकार समस्त विसर्गो का एकायन पायु है। ऐसे ही समस्त मार्गो का एकायन पाद है, इसी प्रकार समस्त वेदो का एकायन वाक् है (इस प्रकार विषयो के प्रलय से इन्द्रियो का प्रलय स्वय ही सिद्ध हो जाता है) ॥११॥

प्रलयकाले च, जलबुद्बुदफेनादीनामिव² सलिलव्यतिरेकेणाभावः। एवं प्रज्ञानव्यतिरेकेण तत्कार्याणां नामरूपकर्मणां तस्मिन्नेव लीयमानानामभावः। तस्मादेकमेव ब्रह्म प्रज्ञानघनमे³करसं प्रतिपत्तव्यमित्यत आह। प्रलयप्रदर्शनाय दृष्टान्तः स इति यथा येन प्रकारेण

—न केवलमिति। प्रलयकाले च प्रज्ञानव्यतिरेकेणाभावाज्जगतो ब्रह्मत्वमिति सम्बन्धः। उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—जलेति। 'तथाऽपि प्रज्ञानमेवैकमेव' स्यान्न ब्रह्मेत्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति। सत्यज्ञानादिवाक्याद्ब्रह्मण'स्तन्मात्रत्वादित्यर्थः। यथोक्तं ब्रह्म चेत्प्रतिपत्तव्यं 'किमिति तर्हि स यथेत्यादि वाक्यमित्याशङ्क्य 'तच्छेषत्वेन प्रलयं दर्शयितुं दृष्टान्तवचनमेतदित्याह—'अत आहेति। प्रलीयतेऽस्मि-

---

प्रज्ञानघन से भिन्न उसके कार्य और उसी मे लीन होने वाले नाम, रूप और कर्मों का भी अभाव है, इसलिए प्रज्ञानघन, एकरूप और अद्वितीयब्रह्म है—ऐसा जानना चाहिए। इसी बात को श्रुति प्रतिपादित करती है। प्रलयप्रदर्शन का यह दृष्टान्त है, मन्त्र मे "स यथा" से लेकर दृष्टान्त है। "यथा" यानी

---

१ श्रोत्रमेकायनमित्यन्तरमित्थ मूलग्रन्थो योज्य। तथाहि एतान्यपि विषयविशेषसामान्यानि मनोविषयसकल्पविशेषेषु प्रलीयन्त तेषा सकल्पविशेषपूर्वकत्वात्। एव सर्वेषा सकल्पाना सकल्पविशेषाणा मन तद्विषयसामान्य सकल्पमात्रमेकायनम् आश्रय। तस्य सकल्पमात्रस्याध्यवसायपारतन्त्र्यदर्शनादबुद्धिविषयविशेषेषु विद्याभिदनेष्वध्यवसायष्वन्तर्भाव.। एवमासा सर्वासा विद्याना हृदय बुद्धिसामान्य विज्ञानमात्रमेकायन तदपि कारणभूत प्रज्ञानघने ब्रह्मणि प्रलीयत इति। २. यथा। ३. एकरूपम्। ४ उत्पत्त्याद्यवस्थासु प्रज्ञानव्यतिरेकेण जगतोऽभावेऽपि। ५ उक्तरीत्या। ६. प्रज्ञानति बोध्यम्। ७ निमर्यम्। ८. यथोक्तब्रह्मप्रतिपत्तिशेषत्वेन। ९. प्रलयप्रदर्शनार्थं दृष्टान्तस्यापेक्षितत्वात्।

'सर्वासां नदीवापीतडागादिगतानामपां' समुद्रो'ऽब्धिरेकायनमेकगमनमेकप्रलयो'ऽविभाग-प्राप्तिरित्यर्थः। यथाऽयं दृष्टान्त एवं सर्वेषां 'स्पर्शानां मृदुकर्कशकठिनपिच्छिलादीनां वायोरा'त्मभूतानां त्वगेकायनं त्वगिति त्वग्विषयं स्पर्शसामान्यमात्रं तस्मिन्प्रविष्टाः स्पर्शविशेषा आप इव समुद्रं तद्व्यतिरेकेणाभावभूता भवन्ति। तस्यैव हि ते संस्थान-मात्रा आसन्।

'तथा तदपि स्पर्शसामान्यमात्रं त्वक्शब्दवाच्यं मनः 'संकल्पे मनोविषयसामान्यमात्रे

न्निति प्रलय एकश्चासौ प्रलयश्चेत्येकप्रलयः। तडागादिगतानामपां कुतः समुद्रे लयो न हि तासां तेन संगतिरित्याशङ्क्याऽऽह—अविभागेति। 'अत्र हि समुद्रशब्देन जलसामान्यमुच्यते तद्व्यतिरेकेण च जलविशेषाणामभावो विवक्षितस्तेषां "तत्संस्थानमात्रत्वाद"तश्चाऽऽमास्मिन्नविभागस्य प्राप्तिरिति समुद्रेऽविभागप्राप्तिरित्यर्थः। पिच्छिलादीनामित्यादिशब्देनानुक्तस्पर्शविशेषाः सर्वे गृह्यन्ते। विषयाणा-मिन्द्रियकार्यत्वाभावात्कुतः स्पर्शानां त्वचि विलयः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—त्वगितीति। स्पर्शविशेषाणां स्पर्शसामान्येऽन्तर्भावं प्रपञ्चयति—तस्मिन्निति।

"तथाऽपि समस्तस्य जगतो ब्रह्मव्यतिरेकेणाभावाद्ब्रह्मत्वमित्येतत्कथं प्रतिज्ञातमित्याशङ्क्य परम्परया ब्रह्मणि सर्वप्रविलयं दर्शयितुं" क्रमम"नुक्रामति—तथेति। मनसि सति विषयविषयिभावस्य

जिस प्रकार "सर्वासामपाम" अर्थात् समस्त नदी वापी और तालाब आदि के विभिन्न रूपों का जल "एकायनम्" अभिन्न नामरूपैक समुद्र को ही प्राप्त हो जाता है अर्थात् वही एक प्रलयस्थान एवं अविभागप्राप्ति का स्थल है। जिस प्रकार यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार वायु के स्वरूपभूत मृदु, कर्कश, कठोर और पिच्छिल आदि सभी वायुविशेषों का त्वगिन्द्रिय ही प्रलयस्थान है। त्वक् से त्वचासम्बन्धी स्पर्शसामान्यमात्र समझना चाहिए उसी में सागर में जल के समान स्पर्शविशेष प्रविष्ट हो जाते हैं। उसके विना वे अभावयुक्त हो जाते हैं क्योंकि वे उसी के सस्थानमात्र ही थे।

---

१ विभिन्नरूपाणाम्। २ अभिन्ननामरूपैक। ३ एकप्राप्य। ४. अविभागस्य प्राप्तिर्यत्र। ५. स्पर्शानामिति। तज्ज्ञानानामित्यपि द्रष्टव्यम्। तत्र मृदुस्पर्शो वायो। कर्कश—उष्ण स्पर्शस्तेजस। कठिन कठोर पृथिव्या। पिच्छिल—स्निग्ध। आदिना शीतो गृह्यते स च जलस्येति विवेक। ६ स्वरूपभूताना वायुविशेषाणामिति यावत्। अत्रत्य रहस्यमनुपदमेव स्फुटीभविष्यति। ७ तथेति—स्पर्शविशेषाणा तत्सामान्ये-ऽन्तर्भाववदित्यर्थः ॥ स्पर्शानामित्यादि प्रलीयत इत्यन्तभाष्यतात्पर्यसंग्राहकाणि वार्तिकानि कथ्यन्ते—"स्पर्शादिज्ञानभेदाना त्वगाद्येकायन तथा। स्वान्ते त्वगादयस्तद्वद्बुद्धौ च मनमस्तथा ॥ कर्मक्षयात्तथा बुद्धि कारणत्वेन तिष्ठति। एष साधारणस्तावत्प्रलयोऽबुद्धिपूर्वक ॥ प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानाद्वस्तुवृत्तानुरोधत। प्रलयोऽज्ञानविध्वसाद्यस्त्वमौ बुद्धिपूर्वक" ॥३२९-३३१॥ "पृथिव्यशस्य बाहुल्यात्कठिन स्पर्श उच्यत। शीतश्च पिच्छिलश्चापा बाहुल्यात्स्पश इष्यत ॥ भूयस्त्वात्तेजसश्चाष्ण सुकुमारस्तथा मरुत्। बाहुल्यादिति विज्ञेयो यथोक्तगुणसश्रयात्" ॥३३८-३३९॥ इति। अत्र साधारणो लय स्वापादौ ज्ञेय.। यथोक्तगुणास्तन्मात्राणि। ८. सकल्पात्मके मनसि। ९. प्रकृतवाक्य। १०. अवस्थाविशेष। ११ समुद्रशब्देन जलसामान्य-विवक्षात। १२ जलविशेषाणा जलसामान्य इव स्पर्शविशेषाणा स्पर्शसामान्येऽन्तर्भावेऽपि। १३. लयस्य। १४ दर्शयति।

त्वग्विषय इव स्पर्शविशेषाः प्रविष्टं तद्व्यतिरेकेणाभावभूतं भवति । एवं मनोविषयोऽपि बुद्धिविषयसामान्यमात्रे प्रविष्टस्तद्व्यतिरेकेणाभावभूतो भवति । विज्ञानमात्रमेव भूत्वा प्रज्ञानघने परे ब्रह्मण्याप इव समुद्रे प्रलीयते । एवं परम्पराक्रमेण शब्दादौ सह ग्राहकेण करणेन प्रलीने प्रज्ञानघने, उपाध्यभावात्सैन्धवघनवत्प्रज्ञानघनमेकरसमनन्तमपारं निरन्तरं ब्रह्म व्यवतिष्ठते । तस्मादात्मैवैकमद्वयमिति प्रतिपत्तव्यम् ।

*तथा सर्वेषां गन्धानां पृथिवीविशेषाणां नासिके घ्राणविषयसामान्यम् । तथा

दर्शनादसति चादर्शनान्मनःस्पन्दितमात्रं विषयजातमिति तस्य तद्विषयमात्रे प्रविष्टस्य तदतिरेकेणासत्त्वमित्यर्थः । संकल्पविकल्पात्मकमनःस्पन्दितद्वैतस्य संकल्पात्मके मनस्यन्तर्भावात्तस्य च संकल्पस्याध्यवसायपारतन्त्र्यदर्शनादध्यवसायात्मिकायां च बुद्धौ तद्विषयस्य पूर्ववदनुप्रवेशान्मनोविषयसामान्यस्य बुद्धिविषयसामान्ये प्रविष्टस्य तद्व्यतिरेकेणासत्त्वमित्याह—एवमिति । सर्वं जगदुक्तेन न्यायेन बुद्धिमात्रं भूत्वा तद्यच्छेच्छान्त आत्मनीति श्रुत्या ब्रह्मणि पर्यवस्यतीत्याह—विज्ञानमात्रमिति । ननु जगदिदं विलीयमानं शक्तिशेषमेव विलीयते । तत्त्वज्ञानादृते तस्य निःशेषनाशानाश्रयणात् । तथा च कुतो ब्रह्मैकरसस्य प्रतिपत्तिरत आह—एवमिति । शक्तिशेषलयेऽपि तस्या दुर्निरूपत्वाद्वस्त्वैकरस्यधीरविरुद्धेति भावः । एकायनप्रक्रियातात्पर्यमुपसंहरति—तस्मादिति । घ्राणविषयसामान्यमित्यादावेकायनमिति सर्वत्र संबन्धः ।

कथं पुनरत्र प्रतिपर्यायं ब्रह्मणि पर्यवसानं तत्राऽऽह—तथेति । यथा सर्वेषु पर्यायेषु ब्रह्मणि

(स्पर्शविशेषों का स्पर्शसामान्य में अन्तर्भाव होने के कारण) इसी प्रकार वह त्वक्शब्द-वाच्य स्पर्शसामान्य, त्वचा के विषय में स्पर्शविशेष के समान, मनोविषय सामान्यमात्ररूप सकल्पात्मक मन में प्रविष्ट होकर उससे पृथक् अभावयुक्त हो जाता है। तथा बुद्धिमात्र ही होकर समुद्र में जल के समान प्रज्ञानघन परब्रह्म में लीन हो जाता है। इस प्रकार परम्पराप्राप्त क्रम से ग्राहक इन्द्रियों सहित शब्दादि के प्रज्ञानघन में प्रलीन हो जाने पर उपाधि के अभाव होने से सैन्धव लवण के खण्ड के समान प्रज्ञानघन, एकरस, अनन्त, अपार, अखण्ड ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। उक्तरीति से (समस्त उपाधियों के विलीन हो जाने पर) एकमात्र अद्वितीय ही है—ऐसा समझ लेना चाहिए।

इसी प्रकार पृथिवी के विशेषरूप सभी गन्धों की नासिकाएँ घ्राणसम्बन्धी विषयसामान्य है।

---

१. बुद्धिमात्रम् । २ उक्तरीत्या निखिलोपाधिविलये तदतिरेकिणोऽभावात् । ३. सकल्पमात्रम् । ४. हेतोः । ५. त्वक्शब्दवाच्यस्पर्शसामान्यस्य । ६ मनोविषयसामान्ये । ७. कल्पितद्वैतस्य । ८. मन शब्दितस्य । ९ मनोविषयसामान्यस्य । १० धीसामान्यम् । ११. अन्तर्भवति । १२. कारणात्मनाऽवस्थानं यथा स्यात्तथा । १३. शक्तिशेषविलये च । १४. कारणात्ययसाने । १५. एकायन-प्रक्रियायाम् ।

---

*तथा सर्वेषां गन्धानामित्यादि परस्मिन्प्रज्ञानघने प्रलीयते इत्यन्तभाष्यतात्पर्यसंग्राहकं वार्तिकद्वयम् । "गन्धादिसहतिः पृथ्वी रसान्ताना तथा जलम् । तेजस्त्रयाणां वायुस्तु द्वयोरेकात्मकः नभः ॥ एवं सक्षणतः पञ्च भूतान्येतानि निर्दिशेत् । मूर्तामूर्ताविष्करण गुणाविष्कृतिरिष्यते" ॥ ३३४-३३५ ॥ इति । अत्रार्थानामिन्द्रियेषु तेषां मनसि तस्य बुद्धौ तस्याः कारणे लयं विवक्षता तेषां तद्धियामिन्द्रियाणां च क्रमेण कारणात्मो लय उक्तः ।

सर्वेषां रसानामब्विशेषाणां जिह्वेन्द्रियविषयसामान्यम् । तथा सर्वेषां रूपाणां तेजोविशेषाणां चक्षुश्चक्षुर्विषयसामान्यम् । तथा शब्दानां[1] श्रोत्रविषयसामान्यं पूर्ववत् । तथा श्रोत्रादिविषयसामान्यानां मनो विषयसामान्ये संकल्पे । मनोविषयसामान्यस्यापि वुद्धिविषयसामान्ये विज्ञानमात्रे । विज्ञानमात्रं भूत्वा परस्मिन्प्रज्ञानघने प्रलीयते । तथा कर्मेन्द्रियाणां विषया वदनादानगमनविसर्गानन्दविशेषास्तत्तत्क्रियासामान्येष्वेव प्रविष्टा न विभागयोग्या भवन्ति समुद्र इवाब्विशेषाः । [2]तानि च सामान्यानि प्राणमात्रं प्राणश्च प्रज्ञानमात्रमेव । "यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः" इति कौषीतकिनोऽधीयते ।

ननु सर्वत्र विषयस्यैव प्रलयोऽभिहितो न तु करणस्य [3]तत्र कोऽभिप्राय इति ।

पर्यवसान तथोच्यत इति यावत् । पूर्ववदिति स्वविषयसामान्यवदित्यर्थः । संकल्पे लय इति शेषः । विज्ञानमात्र इत्यत्रापि तथैव । एवं सर्वेषां कर्मणामित्यादेरर्थमाह—तथा कर्मेन्द्रियाणामिति । क्रियासामान्यानां सूत्रात्मसंस्थानभेदत्वमभ्युपेत्याऽऽह—तानि चेति । क्रियाज्ञानशक्त्योश्चिदुपाधिभूतयोश्चिदभेदादभेदमभिप्रेत्य प्राणश्चेत्यादि भाष्यम् । 'तत्र 'तयोरन्योन्याभेदे मानमाह—यो वा इति ।

श्रुतिमुखात्करणलयो न प्रतिभाति स्वयं च व्याख्यायते तत्र को हेतुरिति पृच्छति—नन्विति ।

इसी प्रकार जल के विशेषरूप सभी रसो का रसनेन्द्रिय सम्बन्धी विषयसामान्य है। इसी प्रकार तेज के विशेषस्वरूप सभी रूपो का चक्षु अर्थात् चक्षुसम्बन्धी विषयसामान्य है। उसी प्रकार आकाश के सभी विशेषरूप शब्दो का पूर्वप्रतिपादित की तरह श्रोत्रसम्बन्धी विषयसामान्य है। इसी प्रकार श्रोत्रादि विषयसामान्यो का मन के विषयसामान्य सकल्प मे है, मन के विषयसामान्य का भी विषयसामान्यरूप विज्ञानमात्र मे है, पुन विज्ञानमात्र होकर प्रज्ञानघन परब्रह्म मे प्रलीन हो जाता है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियो के भाषण, आदान, गमन, विसर्ग और आनन्दरूप विशेष विषय उन-उन क्रियासामान्यो मे प्रविष्ट होकर समुद्र मे प्रविष्ट जल विशेष की तरह विभाग के योग्य नही रहते। उन सभी सामान्यो का प्राणमात्र मे लय हो जाता है और प्राण का (कारणात्मक ब्रह्म) प्रज्ञानमात्र मे लय हो जाता है। कौपीतकि शाखा वालो से ऐसा पाठ सुना जाता है—"जो प्राण है, वही प्रज्ञा है; जो प्रज्ञा है, वही प्राण है"।

(इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) किन्तु सभी जगह तो विषय की प्रलीनता ही उपपादित

१ आकाशविशेषाणाम् । २ तानि चेति—यथा वुद्धीन्द्रियाणा तदर्थाना च तत्सामान्येषु स्पर्शादिषु पञ्चसु लयस्तथा कर्मेन्द्रियाणा तदर्थाना च वदनादिसामान्येषु लयस्तेषा च प्राणे तस्यापि कारणात्मनि ब्रह्मणीति तात्पर्यम् । ३. करणलयानुक्तो । ४. श्रुते. । ५. चित सकाशादभेदात् । ६. तयोश्चिदभेदेऽपि । ७ ज्ञानक्रियाशक्त्यो । ८. इष्टोऽपीतिशेप ।

इदानी भूतलयार्थं तथा प्रागवस्थामाह—गन्धादीति ॥ भूतान्येव प्रसिद्धानि न तेषामुक्तरूपतेत्याशङ्क्य व्याख्यानतो विशेषयोरित्याह—एवमिति । गन्धादिशब्दान्तपञ्चगुणानामुपचयापचयस्थिताना सघातो भूतपञ्चकमित्यप्रसिद्ध किमिति व्याख्यायते तत्राऽऽह—मूर्तेति । या यथोक्तगन्धादीना कारणाद्व्यक्ति सैव मूर्तामूर्ताख्यभूतपञ्चकस्य स्वकारणादुत्पत्तिर्गुणलयश्च भूतलयश्च हेतावित्ति लघीयस्या रीत्या व्युत्पादयितुमित्य व्याख्यत्यथ ॥

बाढम् । किंतु विषयसमानजातीयं करणं मन्यते श्रुतिर्न तु जात्यन्तरम् । विषयस्यैव [1]स्वात्मग्राहकत्वेन संस्थानान्तरं करणं नाम यथा रूपविशेषस्यैव संस्थानं प्रदीपः करणं सर्वरूपप्रकाशन एवं सर्वविषयविशेषाणामेव स्वात्मविशेषप्रकाशकत्वेन संस्थानान्तराणि करणानि प्रदीपवत् । [2]तस्मान्न करणानां पृथक्प्रलये यत्नः कार्यो विषयसामान्या-

श्रुत्या करणलयस्यानुक्तत्वमङ्गी करोति—बाढमिति । पृष्टमभिप्रायं प्रकटयति—किंत्विति । करणस्य विषयसाजात्यं विवृणोति— विषयस्यैवेति । किमत्र प्रमाणमित्याशङ्क्यानुमानमिति सूचयति—प्रदीपवदिति । ※चक्षुस्तैजसं रूपादिषु मध्ये रूपस्यैव व्यञ्जक[3]द्रव्यत्वा[4]त्सप्रतिपन्नवदित्यादीन्यनुमानान्यस्मत्कृत[5]शास्त्रप्रकाशिकायामधिगन्तव्यानि । करणानां विषयसाजात्ये फलितमाह—तस्मादिति ।

की गई है, इन्द्रियों की प्रलीनता नहीं कही गयी है, इसमें श्रुति का क्या अभिप्राय है ? (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) हम आपकी बात को ठीक समझते हैं किन्तु श्रुति इन्द्रिय को विषय की समान-जातीय समझती है; दूसरी जाति वाली नहीं । विषय का ही विषयस्वरूप प्रकाशक भाव से जो दूसरी सस्थिति है, वह इन्द्रिय है, जिस प्रकार रूपविशेष का ही सस्थान प्रदीप सब प्रकार के रूपों को प्रकाशित करने का साधन है, इसी प्रकार प्रदीप की तरह समस्त विषय-विशेषों के विषयस्वरूप के प्रकाशकरूप से इन्द्रियाँ उन्हीं की दूसरी सस्थिति मात्र हैं । इसलिए (विषयसाजात्य होने के कारण) सभी इन्द्रियों के पृथक् प्रलय करने में प्रयत्न नहीं करना चाहिए । विषय सामान्यरूप होने से विषयों की प्रलीनता से ही इन्द्रियों की प्रलीनता सिद्ध हो जाती है ॥११॥

इसी ब्राह्मण के षष्ठ मन्त्र में प्रतिज्ञा की है कि "यह जो कुछ है, सभी आत्मा है" । वहाँ प्रति-

१. विषयस्वरूपप्रकाशकत्वेन । २. करणानां विषयसाजात्यात् । ३ चक्षु सनिकर्षं व्यावर्तयितु द्रव्यत्वोक्ति । ४. प्रदीपवत् । ५ वार्तिकामृतटीकायाम् ।

※चक्षुस्तैजस रूपादिषु मध्ये रूपस्यैव व्यञ्जकत्वात् सप्रतिपन्नवदित्यादीन्यनुमानानीति । तथा च वार्तिकम्—"स्वग्राह्यार्थसजातीयमिन्द्रियं स्यात्प्रदीपवत् । रूपस्यैवावभासित्वान्न चेत्स्याच्छ्रोत्ररूपवत्" ॥ ३६४ ॥ चक्षुषो ग्राह्यरूपासाजात्ये श्रोत्रेण रूपाग्रहवत्तेनापि तन्न गृह्येतेति बाधकमाह—न चेदिति ॥ इत्यादीत्यादिना विमत घ्राण पार्थिव गन्धादिषु गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वात्कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जकघृतवद्विमतमाप्य रसादिषु रसस्यैव व्यञ्जकत्वादास्योदकवद्विमत वायवीय स्पर्शादिषु स्पर्शस्यैव व्यञ्जकत्वाद्व्यजनवायुवत् । विमत श्रोत्रम् नाभस शब्दादिषु शब्दस्यैव व्यञ्जकत्वाद्वेणुविवरवदेतान्यनुमानानि गृह्यन्ते तदप्याह —"असाधारणगन्धादिग्राहकत्वानुमानत । ग्राह्यभूतप्रधानत्व घ्राणादिष्वपि निर्दिशेत्" ॥३६३॥ "न चेदर्थसजातीय सर्वार्थग्रहण भवेत् । एकैकस्येन्द्रियस्येह मनोबुद्ध्योर्यथा तथा ॥ सर्वभूतात्मकत्वात्तु सर्वार्थग्रहण तयो । मनोबुद्ध्योरिति ज्ञेयमन्यथा तदसभवात ॥ त्वगादिज्ञानशक्तीना बुद्धि सामान्यमुच्यते । प्राण एव क्रियाशक्तिसामान्य तद्वदुच्यते" ॥३६५-६७॥ "योग्येन्द्रियस्य या यस्य ततोऽन्यत्रापि सक्षिता । वृत्तिस्तस्यैव सा ज्ञेया न स्वभावविपर्यय." ॥३७०॥ इति । गन्धादीना घ्राणाद्यारम्भकत्वमाह—असाधारणेति । अनुमानतो लिङ्गादिति यावत् । प्रधानत्व सारत्व कार्यत्वमित्यर्थ । दृष्टान्तार्थोऽपिशब्द ॥ उक्तानुमानेषु विपक्षे बाधकमाह—नेत्यादिना । इहेति व्यवहारभूमिरुक्ता ॥ तयोरपि सर्वार्थग्रहण कथमित्याशङ्क्य भूतपञ्चकारब्धत्वादित्याह—सर्वेति । विमत भूतपञ्चकजातीय तद्ग्राहकत्वाद्यद्ग्राहक तत्तथा यथा रूपग्राहको दीपस्तज्जातीयो न च हेत्वसिद्धिर्मनोबुद्ध्योरगोचर-

त्मकत्वाद्विषयप्रलयेनैव प्रलयः सिद्धो भवति करणानामिति ॥११॥

तत्रेदं सर्वं यदयमात्मेति [1]प्रतिज्ञातं [2]तत्र [3]हेतुरभिहित [4]आत्मसामान्यत्वमात्मजत्वमात्मप्रलयत्वं च । [5]तस्मादुत्पत्तिस्थितिप्रलयकालेषु प्रज्ञानव्यतिरेकेणाभावात्प्रज्ञानं ब्रह्म वाऽऽत्मैवेदं सर्वमिति प्रतिज्ञातं यत्त[6]त्तर्कतः साधितम् । [7]स्वाभाविकोऽयं प्रलय इति

पृथग्विषयप्रलयादिति शेषः । एकायनप्रक्रियासमाप्ताविति शब्दः ॥११॥

स यथा सैन्धवखिल्य इत्यादे. [8]संबन्धं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—तत्रेत्यादिना । पूर्व. संदर्भस्तत्रेत्युच्यते । प्रतिज्ञातेऽर्थे पूर्वोक्त हेतुमनूद्य साध्यसिद्धि फलं दर्शयति—तस्मादिति । उक्तहेतोर्यथोक्तं ब्रह्म व सर्वमिदं जगदिति यत्प्रतिज्ञातमिदं सर्वं यदयमात्मेति" तत्पूर्वोक्त"दृष्टान्तप्रबन्धरूपतर्कवशात्साधितमिति योजना । "उत्तरवाक्यस्य "विषयपरिशेषार्थमुक्तप्रलये पौराणिकसम्मतिमाह—स्वाभाविक

ज्ञात अर्थ मे आत्मसामान्यत्व, आत्मजनितत्व और आत्मप्रलयत्व ये कारण बतलाये गये हैं । इसलिए (सामान्यविशेषात्मक सम्पूर्णजगत् के आत्मसामान्यत्व, आत्मजत्व एव आत्मप्रलयत्व होने के कारण) उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकाल मे प्रज्ञानघन को छोडकर किसी की सत्ता न होने के कारण जो ऐसी प्रतिज्ञा की थी कि "प्रज्ञान ब्रह्म है", "यह सब आत्मा ही है", उसे तर्क से भी सिद्ध कर दिया । पौराणिको के मत से ब्रह्म मे लयात्मक प्रलय स्वाभाविक हुआ करता है । और जो ब्रह्मज्ञानियो का

१ षष्ठकण्डिकायाम् । २ प्रतिज्ञातार्थे । ३ नामरूपादिविभिन्नार्थाना महासामान्यस्थानीयात्मनि स्थितिकालेऽपि विचारे क्रियमाणेऽन्तर्भावात्तदात्मकत्वमिति यावत् । एतच्च नवमकण्डिकाव्याख्यावसरे प्रत्यपादि । ४ आत्मा सामान्य यस्य तत्त्वम् । ५ सर्वस्य सामान्यविशेषात्मकस्य जगत आत्मसामान्यत्वादात्मजत्वादात्मप्रलयत्वाच्चेत्यर्थं । ६ मननाख्यात् । ७ स्वाभाविक इति—नैमित्तिकस्वाभाविकात्यन्तिकभेदात्त्रिविधो लय । उक्त हि—"सर्वेषामेव भूताना त्रिविध प्रतिसचर । नैमित्तिक प्राकृतिकस्तथैवाऽऽत्यन्तिको लय इति" ॥ तत्राऽऽद्यो ब्रह्मकर्तृकोऽवान्तरलय । यथाऽऽह—ब्राह्मो नैमित्तिकस्तेषा कल्पान्त प्रतिसचर इति । द्वितीयस्तु कार्याणा प्रकृताववसानम् । आत्यन्तिको ज्ञानाधीनो मोक्ष इत्याह—बुद्धिपूर्वक इति भाष्ये । उक्त च "आत्यन्तिकश्च मोक्षाख्य प्राकृतो द्विपरार्धिक" इति । स्वाभाविकलयस्य धीपूर्वकलयाद्विशेषो वार्तिके दर्शित । तथाहि—"शक्तिमात्रात्मना स्थान कार्याणा यत्स्वकारणे । इत्यनात्यन्तिकलयो भूयोजन्मकृतक्षण" इति ॥ स्वाभाविके लये कार्याणा कारणे शक्त्यात्मनाऽवस्थानमिति यस्मादास्थित तस्मादसावनात्यन्तिक इति योजना । अनात्यन्तिकत्व विशदयति—भूय इति । पुनरपि जन्मार्थं कृतावकाशत्वात्प्राकृतोऽयमित्यर्थ ॥ ८. ब्रह्मणि लयात्मक । ९ पूर्वग्रन्थेन सह । १० वाक्येन । ११ दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तग्रन्थरूप । १२ अखण्डार्थधीप्रकटनार्थस्य । १३. पूर्वग्रन्थविपर्यासाकार्याय ।

स्यानात्मनोऽसत्त्वात्साजात्य च द्रव्यत्वावान्तरजात्येष्टमिति न सिद्धसाध्यता तद्ग्राहकत्व च तत्कारणतति नादृष्टादौ व्यभिचार इति भाव. । अनुभवसिद्धहेत्वनुपपत्ति विपक्षे बाधकत्वेनाऽऽह—अन्यथेति ॥ त्वगादीना भौतिकत्वमुक्त्वा प्रकाशाख्य साधारण रूपमाह—त्वगादीति । ज्ञानेन्द्रियाणा तच्छक्तियुक्ताना प्रकाश साधारण रूपमित्यर्थ । कर्मेन्द्रियाणामितरवद्भौतिकत्व मत्वा साधारण रूपमाह—प्राण इति । अस्यार्थ —वाङ्नभोविकारो विवरप्राधान्ये सति शब्दव्यञ्जकत्वाच्छ्रोत्रवद्धस्तौ वायवीयौ नियमेनाऽऽनानपेक्षस्पर्शवद्ग्राहकासाधारणकरणत्वात्त्वग्वद्वायुरूपस्य बलस्य तत्र दृष्टेश्च प्राणो वै बलमिति हि श्रुति । पादौ तेजसौ प्रायेणाप्णस्पर्शत्वाद्दीपवत् ।

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणायेव स्यात् । यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैव वा अर इदं [1]महद्[2]भूतम[3]नन्तम[4]पारं

इस विषय मे यह दृष्टान्त है, जैसे—जल मे डाला हुआ नमक का डला जल मे ही विलीन हो जाता है। उसे जल से पृथक् करने मे कोई समर्थ नही होता, पर जहाँ-जहाँ से जल ग्रहण किया जाता है, वहाँ वहाँ वह नमकीन ही प्रतीत होता है। हे मैत्रेयी ! वैसे ही यह महद्भूत परमात्मा अनन्त, अपार

पौराणिका वदन्ति । य स्तु बुद्धिपूर्वकः प्रलयो ब्रह्मविदां ब्रह्मविद्यानिमित्तोऽयमात्यन्तिक इत्याचक्षते । अविद्यानिरोधद्वारेण यो भवति तदर्थोऽयं विशेषारम्भः—

तत्र दृष्टान्त उपादीयते स यथेति । ❀सैन्धवखिल्यः सिन्धोर्विकारः सैन्धवः

इति। कार्याणां प्रकृतावाश्रितत्व स्वाभाविकत्वम् । प्रलयान्तरेऽपि तेषा संमति संगिरते—यस्त्विति । द्वितीयप्रलयमधिकृत्यानन्तरग्रन्थमवतारयति—अविद्येति । तत्रेत्यात्यन्तिकप्रलयोक्ति. । उदकं

ब्रह्मविद्या के निमित्त बुद्धिपूर्वक लय है, उसे (मोक्षाख्य) आत्यन्तिक कहते हैं। जो प्रलय अविद्या की निवृत्ति द्वारा होता है, उसी के प्रतिपादन के लिए यह विशेष आरम्भ किया जाता है।

(कार्यकरण प्रपञ्च का ज्ञान द्वारा उससे विलक्षण ब्रह्म मे विलय होने पर) यहाँ दृष्टान्त का उपपादन किया जाता है। "सैन्धवखिल्य" पद मे सिन्धु के विकार का नाम सैन्धव है, सिन्धु शब्द से

१ अनवच्छिन्नम् । २ कूटस्थम् । ३ अकारणकम् । ४ अकार्यकम् । ५ प्रलय । ६. तत्प्रदर्शनार्थोऽज्ञाननिवर्तकधीप्रदर्शनायोत्तरग्रन्थारम्भ इत्यर्थ । ७ कार्यकारणप्रपञ्चस्य तद्विलक्षणे ब्रह्मणि ज्ञानाद्विलये । ८ आत्यन्तिके । ९ त्रैकाल्यजन्मादिहत्वज्ञानध्वस्तिर्हि बुद्धिपूर्वको ध्वसस्तमुपादायेत्यर्थ ।

पायुराप्य स्निग्धत्वात्समतवदुपस्थ पार्थिवो गन्धवत्त्वात्समतवत् । एव भौतिकानामेषा क्रियाशक्तिमता साधारणं रूप त्वगादीना प्रकाशवत्क्रियाति । तेजोमयी वागित्यादिश्रुतेर्वाक्तैजसी हस्तौ पूर्ववद्वायवीयावव पायु पार्थिवो गन्धवत्त्वाद्बस्तिरेव रयिरित्यादिश्रुते प्रजननमाप्य परिशेषात्पादौ नाभसाविति वार्थ ।। यत्तु शब्दव्यञ्जकत्वेन श्रोत्रादेराकाशविकारत्व तदयुक्त तैजसे चक्षुष्यपि तद्व्यञ्जकत्वदृष्टेश्चक्षु श्रवा सर्प इति हि प्रसिद्धि । यच्च हस्तत्वचो स्पर्शवदादानसाधनत्वाद्वायवीयत्व तदसत्पादादौ व्यभिचाराच्च चासति प्रतिबन्धे विशिष्टस्पर्शत्वारूपादादेस्तैजसत्व हस्तादावपि तद्भावाच्च च स्निग्धत्वात्पाय्वादेराप्यत्व घृतादौ व्यभिचाराच्च च गन्धवत्त्वादुपस्थादि पार्थिव पाय्वादावपि तद्भावादतो नेन्द्रियाणा कार्यव्यवस्थया भौतिकत्वमित्यत आह—याग्येति । यस्य श्रोत्रादेर्या योग्या श्रवणाद्या वृत्ति सा चक्षुरादौ दृष्टाऽपि तस्यैव श्रोत्रादर्जेया स्वभाववैपरीत्यायोगात्स्थानभेदाभावेऽपीन्द्रियभेदस्य कार्यभेदगम्यस्य दुरपह्नवत्वादित्यर्थ ।।

❀सैन्धवखिल्य इत्यादीत्युच्यते एतदन्तभाष्यतात्पर्योद्घाटकानि वार्तिकानि तथाहि—"सामुद्रमम्भ खिल्यत्व याति भानुविपाकत । सिन्धारायात स यतस्तस्मात्सैन्धव उच्यते ।। असंभिन्नस्वावयव खिल्य सोऽस्य निगद्यते । सोऽय सैन्धवखिल्योऽस्तो यथैवेह महोदधौ ।। तेजो विरोधिनी प्राप्य प्रकृति विजहात्यथ । तेजोवियोगात्काठिन्य

'विज्ञानघन एव । एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥१२॥

और विज्ञानघन है। यह इन देहादि उपाधियों के साथ मानो सत्यशब्दवाच्य भूतों से प्रकट होकर उनके नाश के पीछे नष्ट हो जाता है। देह-इन्द्रियभाव से मुक्त होने पर (मैं अमुक हूँ, अमुक का पुत्र हूँ, यह मेरा परिवार है—ऐसी कोई) विशेषसंज्ञा इसकी नहीं रह जाती। हे मैत्रेयी! ऐसा मैं तुमसे कहता हूँ। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने अपनी प्रिया भार्या मैत्रेयी के प्रति परमार्थदृष्टि का निरूपण किया ॥१२॥

'सिन्धुशब्देनोदकमभिधीयते स्यन्दनात्सिन्धुरुदकं तद्विकारस्तत्र भवो वा' सैन्धवः सैन्धवश्चासौ खिल्यश्चेति सैन्धवखिल्यः 'खिल एव 'खिल्यः स्वार्थे यत्प्रत्यय उदके सिन्धौ स्वयोनौ प्रास्तः 'प्रक्षिप्त उदकमेव विलीयमानमनुविलीयेत। यत्तद्भौमतेजसः संपर्कात्काठि-

---

विलीयमानमित्ययुक्तं काठिन्यविलयेऽपि तल्लयादर्शनादित्याशङ्क्याऽऽह—यत्तदिति। न हेति प्रतीक-

---

जल का ग्रहण होता है। बहने के कारण जल ही सिन्धु है उसका विकार अथवा उसमें जो आगत हो, उसे सैन्धव कहा जाता है, जो सैन्धव हो और शकल हो, उसका नाम सैन्धवखिल्य है। खिल यानी

---

१ विशुद्धप्रज्ञप्तिमात्रैकरस। २ अचलोद्भूतमेव लवणं सैन्धवशब्दितं न तु सामुद्रं तस्य पाषाणाकारता-ऽभावात् खिल्यशब्देन चात्र तस्याविवक्षितत्वादित्यभिप्रेत्य सिन्धुशब्दार्थमाह—सिन्धुशब्देनेति। ३. सत आयात इत्यपि द्रष्टव्यम्। ४. शकलम्। ५ स्वावयवानां मिथः संसृष्टतया दार्ढ्यं खिल्यत्वम्। ६. प्रक्षिप्तः सन् खिल्यारम्भकत्वेन तदवयवभूतमुदकं विलीयमानमनु पश्चाद्विलीयेतैव उदकभावमापद्यत एवेत्यर्थः।

ध्वस्तौ भवति तद्धनम् ॥ काठिन्यकारणध्वस्तौ खिल्यस्येह महोदधौ। कठिनोदकविध्वंसमनु खिल्यो विलीयते ॥ यदेवाकृत्रिमं रूपं तदेवास्यावशिष्यते। तेजोऽवयवसम्बन्धमभूत्यं विनिवर्तते ॥ तेज आद्यभिसम्बन्धं कारणं खिल्यरूपिणः। तद्भावभावतस्तस्य तद्ध्वस्तौ ध्वस्ततस्तथा" ॥४०४-४०६॥ इति। दृष्टान्तवाक्यार्थं संक्षिप्य प्रपञ्चयन्खिल्यत्वे निमित्तमाह—सामुद्रमिति। सैन्धवशब्दार्थमाह—सिन्धोरिति ॥ खिल्यपदार्थमाह—असभिन्नेति। स्वावयवानामसंभिन्नत्वं मिथः संसृष्टतया दार्ढ्यम्। अयेति स्वयोनावुदके प्रक्षेपात्प्रागस्यायामित्यर्थः। पदयोरर्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—सोऽयमिति। यन्निमित्तमुदकं खिल्यरूपेण परिणतं तद्विरोधिनीं प्रकृतिं प्राप्य तदेव खिल्यरूपं तजो जहातीत्यर्थः। अथशब्दो विरोधिप्राप्तिस्तेजसस्त्यागहेतुत्वद्योतनार्थः ॥ पाचके तेजसि त्यक्तेऽपि खिल्यरूपस्थितिमाशङ्क्याऽऽह—तेज इति ॥ एतदेव स्फुटयति—काठिन्यति। खिल्यस्य महोदधौ क्षिप्तस्य काठिन्यहेतुतेजःसंपर्कध्वस्तौ कठिनोदकध्वंसद्वारा खिल्यस्यापि ध्वस्तिरित्यर्थः ॥ अवशिष्टमर्थमाह—यदेवेति। अस्य खिल्यस्येति यावत्। तच्चोदकमात्रम्। अकृत्रिमत्वं काठिन्येऽपि तुल्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तेज इति ॥ तर्हि तद्योगमात्रं खिल्यताहेतुरिति व्यर्थं पृथिव्यादीत्याशङ्क्याऽऽह—तेज आदीति। तेजोवत्पृथिव्यादेरपि तद्धेतुत्वे हेतुमाह—तद्भावेति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि कारणं कल्पते तौ च तेजसीव पृथिव्यादावपि तुल्यौ तेनाविशिष्टं कारणत्वमित्यर्थः।

न्यप्राप्तिः खिल्यस्य स्वयोनिसंपर्कादपगच्छति तदुदकस्य विलयनं 'तदनु सैन्धवखिल्यो विलीयत इत्युच्यते । 'तदेतदाहोदकमेवानुविलीयेतेति । न ह नैवास्य 'खिल्यस्योद्ग्रहणायो'द्धृत्य 'पूर्ववदग्रहणाय ग्रहीतुं नैव समर्थः कश्चित्स्यात्सुनिपुणोऽपि । इवशब्दोऽनर्थकः । ग्रहणाय नैव समर्थः कस्मात् । यतो यतो यस्माद्यस्माद्देशात्तदुदकमाददीत गृहीत्वा 'स्वादयेल्लवणास्वादमेव तदुदकं न तु खिल्यभावः' ।

यथाऽयं दृष्टान्त एवं वा अरे मैत्रेयीदं परमात्माख्यं महद्भूतम् । यस्मान्महतो 'भूतादविद्यया परिच्छिन्ना सती त्वं कार्यकरणोपाधिसंबन्धा'त्खिल्यभावमापन्नाऽसि मर्त्या जन्ममरणाशनायापिपासादिसंसारधर्मवत्यसि नामरूपकार्यात्मिका''ऽमुष्यान्वयाऽहमिति स

मादाय व्याचष्टे—नैवेति । अन्वयप्रदर्शनार्थं नैवेति पुनरुक्तम् ।

महद्भूतमेकमद्वैतमित्युत्तरत्र संबन्धः । "अस्यार्थस्य सर्वोपनिषत्प्रसिद्धत्वप्रदर्शनार्थो वैशब्दः । इदं महद्भूतमित्यत्रेदशब्दार्थं विशदयति—यस्मादित्यादिना । तदिदं परमात्माख्यं महद्भूतमिति पूर्वेण संबन्धः । खिल्यभावापत्तिकार्यं कथयति—मर्त्येत्यादिना । कोऽसौ खिल्यभावोऽभिप्रेतस्तत्राऽऽह—नामरूपेति । कार्यकरणसंघाते तादात्म्याभिमानद्वारा जात्याद्यभिमानोऽत्र खिल्यभाव इत्यर्थः । इतिशब्देनाभिमानो लक्ष्यते । यथोक्ते खिल्यभावे सति कुतो "भूतस्य "महत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—

शकल ही खिल्य है। इसमे स्वार्थ मे 'यत्' प्रत्यय हुआ है। उदकमय सिन्धुरूप अपने उत्पत्तिस्थान मे "प्रास्त" अर्थात् डाले जाने के कारण "उदकमेवानुविलीयेत" अर्थात् जल मे विलीन होकर जलभाव को प्राप्त हो जाता है। पार्थिव तेजस सम्पर्क से जो उस डले मे ठोसपन आ गया था, वह अपने कारण का सम्पर्क पा जाने से मिट जाता है। यही जल का विलयन होना है। उसके साथ सैन्धवशकल भी विलीन हो जाता है, यह कहा जाता है। इसी से (उदकविलयन को तात्पर्य करके) कहा गया है, वह जल के साथ विलीन हो जाता है। "अस्य" अर्थात् इस विलीन शकल के "उद्ग्रहणाय" अर्थात् जल से निकाल कर उदकप्रक्षेप से पूर्व के समान ग्रहण करने मे कोई परम निष्णात पुरुष भी समर्थ नही होता । 'इव' शब्द (अलङ्काररूप होने से) निरर्थक ही है। उसे ग्रहण करने के लिए समर्थ नही ही होता। क्यों समर्थ नही होता ? क्योकि "यतो यतो" यानी जिस-जिस देश से उस उदक को "आददीत" ग्रहण करके स्वाद लेता है; वह जल लवण के स्वाद वाला होता है, उसमे ठोसपन नही होता ।

जिस प्रकार यह दृष्टान्त है, इसी प्रकार अरी मैत्रेयी ! यह परब्रह्मसंज्ञक अनवच्छिन्न महद्भूत है। जिस महान् परमार्थरूप से तू अविद्या के द्वारा परिच्छिन्न होकर कार्यकरणरूप उपाधि के सम्बन्ध से परिच्छिन्नाभिमान को प्राप्त हुई है, तथा मरणधर्मा जन्म, मरण क्षुधा और पिपासा आदि सांसारिक

---

१. यथात्तकाठिन्यापगमात्मकोदकलयानन्तरम् । २. यथोक्तमुदकविलयनमभिप्रेत्याहेत्यर्थः । ३. विलीनस्य । ४. अङ्कृत्य इति शेषः । ५. उदकप्रक्षेपात्प्रागिव । ६. खिल्यग्रहणाभिलाषी । ७. गृहीतुं सवथ इति शेषः । ८. परमार्थरूपात् । ९. परिच्छिन्नाभिमानम् । १०. अमुकवंश्योऽस्मि यावत् । ११ ब्रह्मणो महत्त्वादि-रूपस्य । १२. ब्रह्मतत्त्वस्य । १३. एवम्भावापन्नस्य खिल्यभावे न विशिष्टत्वात्तावात्म्यस्य विशेषाभिप्राय ।

खिल्यभावस्तव' कार्यकरणभूतोपाधि'संपर्कभ्रान्तिजनितो महति भूते स्वयोनौ महासमुद्रस्थानीये परमात्मन्यजरेऽमरेऽभये शुद्धे सैन्धवघनवदे'करसे प्रज्ञानघनेऽनन्तेऽपारे 'निरन्तरेऽविद्याजनितभ्रान्तिभेदवर्जिते प्रवेशितः । 'तस्मिन्प्रविष्टे 'स्वयोनिग्रस्ते खिल्यभावेऽविद्याकृते भेदभावे 'प्रणाशित इदमेकमद्वैतं महद्भूतं महच्च तद्भूतं च महद्भूतं सर्वमहत्तरत्वादाकाशादिकारणत्वाच्च भूतं त्रिष्वपि कालेषु स्वरूपाव्यभिचारात्सर्वदैव परिनिष्पन्नमिति त्रैकालिको निष्ठाप्रत्ययः ।

अथवा भूतशब्दः परमार्थवाची महच्च तत्पारमार्थिकं चेत्यर्थः । लौकिकं तु यद्यपि महद्भवति स्वप्नमायाकृतं हिमवदादिपर्वतोपमं न परमार्थवस्तु । अतो विशिनष्टीदं

स खिल्यभाव इति । खिल्यभावः स्वशब्दार्थः । परस्य परिशुद्धत्वार्थमजरादिविशेषणानि । केन रूपेणैकरस्यं तदाह—प्रज्ञानेति । तस्यापरिच्छिन्नत्वमाह—अनन्त इति । 'तस्य सापेक्षत्वं वारयति—अपार इति । प्रतिभासमाने भेदे कथं यथोक्तं तत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—अविद्ये ति । भवतु यथोक्ते तत्त्वे खिल्यभावस्य प्रवेशस्तथाऽपि किं स्यादित्यत आह—तस्मिन्निति । महत्त्वं साधयति—सर्वेति । भूतत्वमुपपादयति—त्रिष्वपीति ।

महदित्युक्ते पारमार्थिकं चेति विशेषणं किमर्थमित्याशङ्क्याऽऽह—लौकिकमिति । जाग्रत्कालीन

धर्मों वाली स्थिति को प्राप्त हुई है कि मैं नामरूपकार्यात्मिका अमुकवस्था हूँ । देहेन्द्रियभूत उपाधि के तादात्म्य से भ्रान्तिजनित तेरा यह स्वरूपभूत महान् भूत में खिल्यभाव स्वकारण महासमुद्रस्थानीय अजर, अमर, अभय, शुद्ध, सैन्धवखण्ड के समान ज्ञप्तिरूप, एकरस, प्रज्ञानघन, अनन्त, अपार, अव्यवहितस्वरूप, अविद्याजनित भ्रान्ति भेद से विवर्जित, परब्रह्म में प्रविष्ट हो गया है। यथोक्त ब्रह्मतत्त्व में प्रविष्ट हो जाने पर उस खिल्यभाव के अपने कारण द्वारा लीन कर दिये जाने पर अविद्याकृत द्वैतभाव का ('तत्त्वमसि' महावाक्य अर्थ के ऐक्यबोध से) नाश हो जाने से यह एक अद्वैत महद्भूत (परब्रह्म) ही अवशिष्ट रह जाता है । महान् और भूत होने से वह महद्भूत कहा जाता है। इसके अतिरिक्त वह आकाशादि (भूतों) का कारण होने से सबसे महान है । तीनों ही कालों में उसके स्वरूप का व्यभिचार न होने से वह ज्यों का त्यों सर्वदा बना रहता है, इस से 'भूत' नाम पड़ा । "भूत" शब्द में "क्त" यह निष्ठाप्रत्यय त्रैकालिक है ।

अथवा "भूत" शब्द परमार्थवाची है। जो महान् और पारमार्थिक हो; वह महद्भूत है, यह अर्थ है । यद्यपि हिमवान् आदि पर्वतों के समान लौकिक वस्तु, जो स्वप्न-मायाकृत होती है, वह भी महान् होती है, किन्तु वह परमार्थ वस्तु नहीं है । इसी से यह महान् भी है और भूत भी है, ऐसा विशेषण श्रुति प्रतिपादित करती है । "अनन्तम्" अर्थात् जिसका कार्य विद्यमान नहीं होता, वह (अकारणक) अनन्त है । कदाचित् आनन्त्य अपेक्षित हो, इसलिये 'अपारम्' यानी अकारणक विशेषण

---

१ स्वरूपभूत महति भूत इत्यन्वय । २. तादात्म्येति भाव. । ३. ज्ञप्तिरूपे । ४. अव्यवहितस्वरूप इति यावत् । ५ यथोक्ते ब्रह्मतत्त्वे । ६. प्रविष्ट इत्यतदेव विवृणोति—स्वेति । ७. वाक्यात्तत्त्वमर्थयोरैक्यबोधेन प्रणाशित इत्यर्थः । ८. आनन्त्यस्य ।

तु महच्च तद्भूतं चेति । 'अनन्तं नास्यान्तो' विद्यत इत्यनन्तम् । कदाचिदापेक्षिकं स्यादित्यतो विशिनष्ट्य'पारमिति । विज्ञप्तिर्विज्ञानं विज्ञानं च तद्घनश्चेति विज्ञानघनः । घनशब्दो जात्यन्तर'प्रतिषेधार्थः । यथा सुवर्णघनोऽयोघन इति । एवशब्दोऽवधारणार्थः । नान्य'ज्जात्यन्तरमन्तराले विद्यत इत्यर्थः ।

यदी'दमेकमद्वैतं 'परमार्थतः स्वच्छं संसारदुःखासंपृक्तम् । किंनिमित्तोऽयं खिल्यभाव

परिदृश्यमानं हिमवदादि महद्यपि भवति तथाऽपि स्वप्नमाया'दिसमत्वान्न तत्परमार्थवस्तु । "न हि दृश्य जडमिन्द्रजालादेर्विशिष्यतेऽसौ लौकिकान्महतो ब्रह्म व्यावर्तयितुं विशेषणमित्यर्थः । आपेक्षिकं स्यादा"नन्त्यमिति शेषः । अवधारणरूपमर्थमेव स्फोरयति—नान्यदिति ।

एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थायेत्यादिसमनन्तरवाक्यव्यावर्त्यामाशङ्कामाह—यदीदमिति । वस्तुतः शुद्धत्वे किं सिध्यति तदाह—संसारेति । "तर्हि "तस्मिन्निमित्ताभावान्न तस्य खिल्यत्वमिति मत्वाऽऽह

लगाया है । (विशुद्धप्रज्ञप्तिमात्र एकरस) विज्ञप्ति ही विज्ञान है, जो विज्ञान हो और घन हो; उसे विज्ञानघन कहा है । यहाँ घनशब्द विज्ञप्तिजाति का अर्थान्तरप्रतिषेध करने के लिए है, जिस प्रकार सुवर्णघन, लोहघन इत्यादि । 'एव' शब्द निर्धारणार्थक है । इसके भीतर कोई दूसरी कार्यकारणात्मक जाति नहीं है, यह इसका भाव है ।

यदि यह ब्रह्मात्मतत्त्व एक, अद्वैत, परमार्थत· शुद्ध (आगन्तुक शुद्धिरहित), सासारिक दुःख

---

१. अनन्तमित्याद्यपारमित्यन्तभाष्यरहस्योद्घाटक सार्धवार्तिकम् । तथाहि—"कारणस्य निषेधोक्तिरनन्तमिति यद्वचः । अपारमितिकार्यस्य पारः कार्यस्य कारणम् ॥ कारणस्य तथा कार्यमन्तोऽनादे. प्रसिद्धित." ॥४१३-४१४॥ इति कथमपारशब्देन परस्य कार्यत्वं निरस्यते तत्राऽऽह—पार इति । अपूर्वमिति कारणनिषिद्धे कार्यत्वमस्य निरसितु सुशकमित्यर्थः ॥ तथाऽपि कथमनन्तपदेन कारणत्वमस्य निषिध्यते तत्राऽऽह—कारणस्येति । अनादि हि कारणमन्यथाऽनन्वयादनवस्थानाच्च तस्य कार्यमन्तस्तत्रान्तत्वप्रसिद्धेर्न हि मृदादि घटादिभावापन्न शरावादि करोति ततोऽनपरमिति कार्यनिरासात्कारणत्वं परस्य निषेद्धु शक्यमित्यर्थः । अत्राऽन्यथाऽनन्वयादिति—कारण-निरपेक्षसादित्वाभ्युपगमे तदाकस्मिकत्वापातादित्यर्थः । तत्सापेक्षत्वे चानवस्थानादिति । यद्वाऽनन्वयात्—कारणत्वानुपपत्तेः । सादिनः कार्यत्वेन कारणत्वायोगात्तयोर्विरोधात् । ननु मृद प्रति कार्यस्य घट प्रति कारणत्वं कपालस्येत्यविरोध इति चेन्न यन्निष्पत्त्यर्थं कारण व्याप्रियते तदेव कार्यमवान्तरपरिणामस्तु कारणमेव भवतीति घट एव कार्यं कारणमेव कपालमिति । २. अन्त·—कार्यम् । ३. कारणत्वानधिकरणमिति यावत् । ४. पारः कारणम् । ५. विज्ञप्तेरर्थान्तरप्रतिषेधार्थः । तथा च विज्ञप्तिमात्रमिति यावत् । ६. जात्यन्तरमिति—कार्य-कारणत्वादिरूपमित्यर्थः । तत्त्वमस्यादिवाक्याज्जीवेश्वरयोरैक्यज्ञानात्कार्यकारणाख्यं जगन्निवर्तते एवं सर्व-करस्यमेव पर्यवस्यतीति भावः । ७. ब्रह्मात्मतत्त्वम् । ८. नत्वागन्तुकशुद्धिमदित्यर्थः । ९. आदिः—गन्धर्वनगरम् । १०. ननु कथमर्थक्रियाक्षमस्याबाध्यस्य च लौकिकस्येन्द्रजालादितौल्यमित्याशङ्क्य दृश्यत्वादि-हेतुनोभयत्रापि मिथ्यात्वाविशेषादित्याह—न हीति । न हि तात्त्विकत्वमर्थक्रियाप्रयोजकमतात्त्विकेऽपि रूप्यादौ दर्शनात्तात्त्विकेऽपि ब्रह्मण्यदर्शनाच्च बाधश्च श्रुत्यनुभवसिद्ध एवेति भावः । ११. अस्य चापेक्षिकत्व कार्यत्व-व्याप्यधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताऽनाश्रयत्वरूपत्वम् । कार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतानाश्रयत्व-रूपत्वं च निरपेक्षत्वम् । १२. ब्रह्मतत्त्वस्य निरुक्तस्वरूपत्वे । १३. खिल्यभावे ।

आत्मनो जातो मृतः सुखी दुःख्यहं ममेत्येवमादिलक्षणोऽनेकसंसारधर्मोपद्रुत इति । उच्यते । ❀एतेभ्यो भूतेभ्यो यान्येतानि [1]कार्यकरणविषयाकारपरिणतानि नामरूपात्मकानि सलिलफेनबुद्बुदोपमानि[2] स्वच्छस्य परमात्मनः[3] सलिलोपमस्य । येषां [4]विषयपर्यन्तानां प्रज्ञानघने ब्रह्मणि परमार्थविवेकज्ञानेन प्रविलापनमुक्त [5]नदीसमुद्रवत् । एतेभ्यो हेतुभूतेभ्यो

—किंनिमित्त इति । खिल्यभावमेव विशिनष्टि—जात इति । अनेकः संसाररूपो धर्मोऽशनायापिपासादिस्तेनोपद्रुतो दूषित इति यावत् । खिल्यभावे निमित्तं दर्शयन्नुत्तरमाह—उच्यत इति । 'एतद्बद्दार्य व्याकरोति—यानीति । स्वच्छस्य परमात्मन' कार्यकरणविषयाकारपरिणतानीति संबन्धः । तानि व्यवहारसिद्ध्यर्थं विशिनष्टि—नामरूपात्मकानीति । तेषाम'तिदुर्बलत्वं सूचयति—सलिलेति । स्वच्छत्वे दृष्टान्तमाह—सलिलोपमस्येति । तेषां प्रत्यक्षत्वेऽपि प्रकृतत्वाभावे कथमेतच्छब्देन परामर्शः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—येषामिति । उक्तमेकायनप्रक्रियायामिति शेषः । ब्रह्मणि प्रज्ञानघने मूलानां प्रलये दृष्टान्तमाह—नदीति । हेतौ पञ्चमीति दर्शयति—हेतुभूतेभ्य इति । पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे षष्ठ्यन्तसत्यशब्दवाच्यतया

से असंश्लिष्ट है, तो आत्मा का यह खिल्यभाव जन्म, मरण, सुखित्व, दुःखित्व, अहं, मम इत्यादि लक्षण वाले अनेक सांसारिक धर्मों से दूषित किस कारण से है ? इस पर कहा जाता है—"एतेभ्यो भूतेभ्यो" यानी इन 'सत्य'शब्दवाच्य हेतुभूत भूतों से, जो कि स्थूलसूक्ष्मशब्दाकार में परिणत जल के फेन और बुद्बुद उपमारूप पृथिवी आदि भूत, स्वच्छ सलिल की उपमा वाले परमात्मा के नामरूपात्मक (उपाधिभूत) हैं और जिनके कार्य से लेकर विषयपर्यन्त समुद्र में नदियों के समान पारमार्थिक

१ स्थूलसूक्ष्मशब्दाद्याकारपरिणतानि । २ पृथिव्यादिभूतानीति शेषः । ३ उपाधिभूतानीति शेषः । ४ निरुक्तकार्यादारभ्य विषयपर्यन्तानाम् । ५ समुद्रे नदीनामिवेत्यर्थः । ६ प्रत्यक्षत्वप्रकृतत्वादिरूपमित्यर्थः । ७ उपाधिभूतानीति शेषः । ८ क्षणभङ्गुरत्वमित्यर्थः ।

❀एतेभ्यो भूतेभ्य इत्यादि वार्तिककारास्त्वेतेभ्यो भूतेभ्य इत्यादेरर्थान्तरमाहुस्तथाहि—"तज्ज संबन्धमासाद्य यथाऽम्भः खिल्यतामगात् । तथैवाज्ञानभूतेभ्यः परः क्षेत्रज्ञतां ययौ ॥ कार्यात्माऽपचयं गच्छन्यत्र निष्ठां निगच्छति । तानि भूतान्यविद्यान्ति प्राहुस्त्रय्यन्तनिष्ठिताः ॥ परः कारणकार्येभ्य आत्मा पूर्णत्वकारणात् । एतेभ्योऽविद्याभूतेभ्यः कार्यकारणतामगात् ॥ यतोऽविद्यैव तद्धेतुस्तदुच्छित्तावतो न सन् । कार्यकारणभेदोऽस्य ब्रह्मास्मीतिप्रबाधतः ॥ तस्मिन्ध्वस्तेऽस्य संबाधात्केवलैकात्म्यदर्शनात् । विशेषसंज्ञा नास्त्यस्य पूर्णप्रज्ञप्तिमात्रतः ॥ अविचारितसिद्धीनि यान्यविद्यत्ववादिषम् । एतेभ्यो हेतुभूतेभ्यो भूतेभ्योऽकार्यकारणः ॥ कार्यकारणवद्रूपं समुत्थायेति शब्द्यते । अविद्यासंगतस्यास्य जायतेऽनेकरूपवान् ॥ चेतनाचेतनाभास आत्मनात्मत्वलक्षणः । कार्यकारणरूपेण मिथ्यापेक्षाश्रयं तमः ॥ कार्यकारणतां यात आत्माऽप्येव तमोवशात् । स्वाभासैर्बहुतामेति मनोबुद्ध्याद्युपाधिभिः ॥ समाहृतु समुत्थानं न वेदमीत्यग्रहात्मकम् । मिथ्याज्ञानं तमः कुर्वदीहृगेव करोति तत् ॥ अविद्याकार्यबुद्धिस्थप्रत्यगाभासरूपवत् । बोद्धृत्वादिसमुत्थानं भण्यते परमात्मनः ॥ श्रोता स्प्रष्टेतिरूपं स्यात्तथैवेन्द्रियवृत्तिभिः । दुःखी गौरो द्विजश्चेति शरीरोत्थानतः परः ॥ धनी गोमान्दरिद्रो वा धनाद्यर्थात्मसंगतः । अतद्वानपि संमोहाद्यपोक्तात्मकतामगात् ॥ ४१७-४२६ ॥ इति । एतेभ्य इत्याद्यवतारयति—तेज इति ॥ भूतशब्दस्य महाभूतेषु रूढत्वात्तस्य परस्य क्षेत्रज्ञत्वमज्ञानरूपभूतेभ्योऽभिधीयते तत्राऽऽह—कार्यमिति । यत्र सर्वं कार्यं लीयते तन्मूलकारणमविद्याभूतशब्देनोच्यते यदाहाऽऽचार्यवाचस्पतिर्नामरूपबीजशक्तिभूतमव्याकृतं भूतसूक्ष्ममिति प्रसिद्धभूतानां क्षेत्रज्ञोत्पाद-

भूतेभ्यः सत्यशब्दवाच्येभ्यः समुत्थाय सैन्धवखिल्यवत् । यथाऽद्भ्यः । सूर्यचन्द्रादिप्रतिबिम्बो यथा वा स्वच्छस्य स्फटिकस्यालक्तकाद्युपाधिभ्यो रक्तादिभाव एवं कार्यकरणभूतभूतोपाधिभ्यो [1]विशेषात्मखिल्यभावेन [2]समुत्थाय सम्यगुत्थाय येभ्यो [3]भूतेभ्य [4]उत्थितस्तानि यदा कार्यकरणविषयाकारपरिणतानि भूतान्यात्मनो विशेषात्मखिल्यहेतुभूतानि शास्त्राचार्योपदेशेन ब्रह्मविद्यया नदीसमुद्रवत्प्रविलापितानि विनश्यन्ति ।

तेषां प्रकृतत्वमाह—सत्येति । यथा [5]सैन्धवः सन्खिल्यः [6]सिन्धोस्तेजःसंबन्धमपेक्ष्योद्गच्छति तथा [7]भूतेभ्यः खिल्यभावो भवतीत्याह—सैन्धवेति । समुत्थानमेव विवृणोति—यथेत्यादिना । तान्येवेत्यादि व्याचष्टे—येभ्य इति । खिल्यहेतुभूतानि [8]तत्र हेतुत्वोपेतानीति यावत् । ब्रह्मविद्योत्पत्तौ हेतुमाह—शास्त्रेति । [9]तत्फलं सदृष्टान्तमाचष्टे—नदीति । यथा सलिले फेनादयो विनश्यन्ति तथा तेषु भूतेषु

विवेकज्ञान से प्रज्ञानघन ब्रह्म में समुत्थित होकर सैन्धवशकल के समान लय होना बतलाया गया है । जिस प्रकार (उपाधिभूत) जल में सूर्य और चन्द्रमा आदि का प्रतिबिम्ब अथवा लाक्षादि उपाधि से स्वच्छ स्फटिक का रक्तादि भाव हो जाता है इसी प्रकार कार्यकारणस्वरूप भूतों की उपाधि के कारण विशेषस्वरूप से भिन्न खिल्यभाव से परिच्छिन्न जैवरूप से "समुत्थाय" यानी क्षेत्रज्ञता की प्राप्ति करके जिन अविद्याशब्दित भूतों से खिल्यभाव को प्राप्त हुआ है, वे देह और इन्द्रिय के विषयाकार में विकार

---

१. उपाधिभूतेभ्यः । २. लाक्षाद्युपाधिभ्य इति यावत् । ३. विशेषस्वरूपाभिन्नखिल्यभावेन परिच्छिन्नजैवरूपेण । ४. सम्यगुत्थाय क्षेत्रज्ञतां प्राप्येति यावत् । ५ भूतेभ्य इति—अविद्याशब्दितेभ्य इति वार्तिकानुसारी पन्थाः । ६. खिल्यभावः । ७. सिन्धुविकारः । ८. सलिलात् । ९. कार्यकरणाद्यात्मना परिणतेभ्यः । १० खिल्यत्वे । ११. विद्याफलम् ।

त्वानुपपत्तेरित्यर्थः ॥ तर्हि तदुत्थापकानि कार्यकारणान्येवात्र भूतानीत्याशङ्क्याऽऽह—पर इति । आत्मा पूर्णत्वात्परिच्छिन्नकारणादिविलक्षणः सोऽविद्यात्मकभूतवशात्तद्भावं गतो मूलाविद्याऽत्र कार्यादिभूना भूतशब्देनेत्यर्थः ॥ सर्वस्यानात्मनोऽविद्याजत्वे फलितमाह—यत इति ॥ केचित्तु कार्यनिवृत्तिं शून्यतासमापिनीमाहुस्तान्निवर्तयन्भेदनिवृत्तिफलमाह—तस्मिन्निति । ऐक्यसबोधस्याऽऽविद्यबन्धध्वंसे हेतुत्वमसमर्थनार्थोऽपिशब्दः । मतभावे कैवल्यस्यापुमर्थत्वमाशङ्क्योक्तम्—अस्येति ॥ भूतशब्दार्थमनूद्य समुत्थायेत्यस्यार्थमाह—अविद्यारितेति । योऽकार्यकारणः परस्तस्य यथोक्तभूतेभ्यो भवत्तद्विशिष्टरूपमुत्थायेत्यत्र समुत्थानमित्यर्थः । तत्प्रपञ्चयन्नात्मनोऽविद्ययाऽनेकाकारावाप्तिमाह—अविद्येति ॥ अनेकरूपवन्तं स्वभावं विशदीकुर्वाणश्चिदाभासवैशिष्ट्यं तस्याऽऽचष्टे—चेतनेति । अविद्यायामेवमनेकरूपत्वेऽपि प्रतीचि किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह—कार्येति । न केवलमात्माऽज्ञानवशात्कार्यकारणतां गतः किंतु स्वाभासविशिष्टाविद्याकृतबुद्ध्याद्युपाधिवशान्मातृत्वादिभावं चाऽऽपन्नवानित्याह—स्वाभासैरिति ॥ समुत्थानमित्युक्त्वा तत्र क्रममाह—तम इति । सर्वमात्मनः समुत्थानमज्ञानकर्मित्यत्र न विवादस्तच्च तमोऽज्ञानमादौ न वेद्मि मूढोऽस्मीत्यज्ञानात्मकं मिथ्याज्ञानं कुर्वदेव तन्मूलमिथ्याज्ञानान्तरं करोतीत्यर्थः ॥ अविद्यामात्रनिमित्तमुत्थानमुक्त्वा तत्कार्यबुद्ध्यादिकृतं तदाह—अविद्येति । इन्द्रियनिमित्तमुत्थानमाह—श्रोत्रेति । इन्द्रियाण्येव वा तद्द्वारिका या शादिशब्देन भोक्तृत्वाद्युक्तिः ॥ स्थूलदेहकृतं तदाह—दृशीति ॥ देहवतो धनादिसंबन्धकृतं तदाह—धनेति । वृत्तयस्ताभिरिति यावत् । आत्मशब्दो देहविषयः । आत्मनो मिथ्याभूतमुत्थानमुपसंहरति—मतद्वानिति ॥

सलिलफेनबुद्बुदादिवत्तेषु विनश्यत्स्वन्वेवैव विशेषात्मखिल्यभावो विनश्यति। यथोदकालक्तकादिहेत्वपनये सूर्यचन्द्रस्फटिकादिप्रतिबिम्बो विनश्यति चन्द्रादिस्वरूपमेव परमार्थतो व्यवतिष्ठते। तद्वत्प्रज्ञानघनमनन्तमपारं स्वच्छं व्यवतिष्ठते।

न तत्र 'प्रेत्य 'विशेषसंज्ञाऽस्ति कार्यकरणसंघातेभ्यो 'विमुक्तस्येत्येवमरे मैत्रेयि ब्रवीमि नास्ति विशेषसंज्ञेत्यहमसावमुष्य पुत्रो ममेदं क्षेत्रं धनं सुखी दुःखीत्येवमादिलक्षणाऽविद्याकृतत्वात्तस्या अविद्यायाश्च ब्रह्मविद्यया 'निरन्वयतो नाशितत्वात्कुतो विशेषसंज्ञासंभवो ब्रह्मविदश्चैतन्यस्वभावावस्थितस्य। शरीरावस्थितस्यापि विशेषसंज्ञा नोपपद्यते किमुत कार्यकरणविमुक्तस्य 'सर्वत इति होवाचोक्तवान्किल परमार्थदर्शनं मैत्रेय्यै भार्यायै याज्ञवल्क्यः ॥१२॥

विनश्यत्सु सत्स्वनु पश्चात्खिल्यभावो नश्यतीत्याह—सलिलेति। किं पुनर्भूतानां खिल्यभावस्य च विनाशे सत्यवशिष्यते तत्राऽऽह—यथेति।

तत्रेति कैवल्योक्तिः। उक्तमेव वाक्यार्थं स्फुटयति—नास्तीति। ब्रह्मविदोऽशरीरस्य विशेषसंज्ञाभावं कैमुतिकन्यायेन कथयति—शरीरावस्थितस्येति। सुषुप्तस्येति यावत्। सर्वतः कार्यकरणविमुक्तस्येति संबन्धः ॥ १२ ॥

को धारण करते हुए आत्मा के खिल्यभावरूप विशेष के हेतुस्वरूप भूत जिस समय शास्त्र और आचार्य द्वारा ब्रह्मज्ञान के उपदेश से समुद्र मे नदियो के समान लीन होते हुए नाश को प्राप्त होते हैं; जल मे फेन और बुद्बुदो के समान "अनुविनश्यति" अर्थात् निश्चय ही विशेषात्म खिल्यभाव विनष्ट हो जाता है। जिस प्रकार जल और लाक्षा के हेतु को हटा देने पर सूर्य, चन्द्र और स्फटिक आदि का प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है, केवल चन्द्रादि का पारमार्थिक स्वरूप ही अवशिष्ट रह जाता है, उसी प्रकार प्रज्ञानघन, अकारणक, अकार्यक, स्वच्छ ब्रह्म ही शेष रह जाता है।

न ही वहां विमोक के अनन्तर "अहम् असौ" अर्थात् मैं वह हूँ इस प्रकार क्षेत्रज्ञ और ईश्वर इत्यादिरूपा विशेषसज्ञा कार्यकरणसघात से विमुक्त विद्वान् की रहती है। इसीलिए हे मैत्रेयो! मैं तुम्हे बताता हूँ—"मैं अमुक हूँ, अमुक का पुत्र हूँ, यह मेरा खेत है, धन है, मैं सुखी हूँ, दु खी हूँ" इत्यादि प्रकारक विशेषसञ्ज्ञा नही रहती, क्योकि वह अविद्यानिमित्तक है और अविद्या का ब्रह्मविद्या द्वारा नि शेष नाश हो जाने के कारण चैतन्यस्वरूप मे स्थित ब्रह्मवेत्ता की विशेषसञ्ज्ञा की कैसे सम्भावना हो सकती है? उसका तो शरीर मे स्थित रहते हुए भी विशेषसज्ञा नही होती, फिर कार्यरूप देह एव करणस्वरूप इन्द्रियो के सर्वथा विमुक्त रहने पर कैसे रह सकती है? 'इति होवाच याज्ञवल्क्य.' यानी इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने अपनी भार्या मैत्रेयी को परमार्थदर्शन का उपदेश किया ॥१२॥

इस प्रकार प्रतिबोध कराये जाने पर "सा होवाच" यानी वह मैत्रेयी बोली—"अत्रैव" यानी

---

१. अन्वय—नश्यत्येवेति वाऽवधारणान्वयो ज्ञेय। २ ब्रह्मेति शेष। ३. विमोकानन्तरम्। ४ अहमसावित्यादि क्षेत्रज्ञ ईश्वर इत्यादिरूपा च। ५. विदुष। ६ नि शेषमिति यावत्। ७ सर्वथा।

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ॥१३॥

उस मैत्रेयी ने कहा कि देहपात के बाद कोई सज्ञा नही रहती, ऐसा कहकर आपने मुझे मोह मे डाल दिया (सज्ञा के अभाव मे भला विज्ञानघन की सत्ता कैसे मानी जा सकती है)। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे मैत्रेयी ! मैं तुझे मोह का उपदेश नही कर रहा हूँ, किन्तु अरी प्रिया ! यह तो महद्भूत परमात्मा का बोध कराने के लिए पर्याप्त है (अविद्याजन्य उपाधि के कारण उस विज्ञान मे खिल्यभाव है, वह खिल्यभाव देहपात के अनन्तर या उपाधियो के अभाव हो जाने पर नही रह जाता) ॥१३॥

एव प्रतिबोधिता सा ह किलोवाचोक्तवती मैत्रेयी । अत्रैवतस्मिन्नेवैकस्मिन्वस्तुनि ब्रह्मणि विरुद्धधर्मवत्त्वमाचक्षाणेन भगवता मम मोहः कृतस्तदाह । अत्रैव मा भगवान्पूजावानमूमुहन्मोहं कृतवान् । कथ तेन विरुद्धधमवत्त्वमुक्तमित्युच्यते पूर्वं विज्ञानघन एवेति प्रतिज्ञाय पुनर्न प्रेत्य सज्ञाऽस्तीति । कथ विज्ञानघन एव कथं वा न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति । न ह्युष्णः शीतश्चाग्निरेवैको भवति । 'अतो मूढाऽस्म्यत्र' । स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरे मैत्रेय्यहं मोहं ब्रवीमि मोहन वाक्य न ब्रवीमीत्यर्थः । ननु कथं

उक्त परमार्थदर्शनमेव व्यक्तीकर्तुं चोदयति—एवमिति । तेन याज्ञवल्क्येनेति यावत् । इति वदता विरुद्धधर्मवत्त्वमुक्तमिति शेष । एव वदनेऽपि कुतो विरुद्धधर्मवत्त्वोक्तिस्तत्राऽऽह—कथमिति । एकस्यैव विज्ञानघनत्वे सज्ञाराहित्ये च कुतो विरोधधीरित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । विरोधबुद्धिफलमाह—अत इति । अत्रेत्युक्तविषयपरामर्शः । न वा इति प्रतीक गृहीत्वा व्याकरोति—अर इति । मोहनं वाक्य ब्रवीत्येव भवानिति शङ्कते—नन्विति । समाधत्ते—न मयेति । कथं तर्हि ममैकस्मिन्नेव

एक ही वस्तु ब्रह्म म विरुद्ध धर्मो का बतला देने स आपने मरे मन मे मोह उत्पन्न कर दिया है । उसी को श्रुति कहती है—"भगवान्" पूज्यनीय आपने इसी एक वस्तु मे मुझ "अमूमुहन्" भटका दिया है। याज्ञवल्क्य ने किस प्रकार विरुद्ध धर्मो का प्रतिपादन किया ? इस पर कहा जाता है—पहले "वह परब्रह्म विज्ञानघन है" इस प्रकार प्रतिपादन कर फिर "देहविमोक के अनन्तर काई सज्ञा नही रहती", ऐसा कहा । एक ही अग्नि शीतस्वभाव एव उष्णस्वभाव वाला भी हो, ऐसा नही हुआ करता । आप द्वारा परस्पर विरुद्ध कथन-श्रवण के कारण मुझे इस ब्रह्म मे मूढता प्राप्त हो गयी है । याज्ञवल्क्य बोले—हे मैत्रेयी ! मैं तुझे "न मोह ब्रवीमि" अर्थात् मोह मे डालने वाली बात का उपदेश नही कर रहा हूँ । तो फिर वह विज्ञानघन है और सज्ञाभाव वाला भी है, ऐसे पारस्परिक विरुद्ध धर्म आप क्यो बतला रहे हो ? (मैत्रेयी की इस शङ्का का उत्तर देते हैं—) मैंने एक धर्म वाली वस्तु मे विरुद्ध धम

---

१ उक्तेऽर्थे वाक्य योजयति—तदाहेति । मोहाख्य वस्तु श्रुतिराहेत्यर्थ । २ याज्ञवल्क्येन । ३ भवदीयमिथो विरुद्धोक्तिश्रवणात् । ४ एकत्र ब्रह्मवस्तुनि । ५ त्वया तदनुक्तौ ।

विरुद्धधर्मत्वमवोचो विज्ञानघनं संज्ञाभावं च । न [1]मयेदमेकस्मिन्धर्मिण्यभिहितम् । त्वयैवेद विरुद्धधर्मत्वेनैकं वस्तु परिगृहीतं भ्रान्त्या न तु मयोक्तम् । मया त्विदमुक्तं यस्त्व[3]विद्याप्रत्युपस्थापित. कार्यकरण[4]सबन्ध्यात्मनः [5]खिल्यभावस्तस्मिन्विद्यया नाशिते तन्निमित्ता या विशेषसंज्ञा शरीरादिसबन्धिन्यन्यत्वदर्शनलक्षणा सा कार्यकरणसंघातोपाधौ प्रविलापिते नश्यति हेत्वभावादुदकाद्याधारनाशादिव चन्द्रादिप्रतिबिम्बस्तन्निमित्तश्च प्रकाशादिः । न पुनः परमार्थचन्द्रादित्यस्वरूपानाशवदससारिब्रह्मस्वरूपस्य नाश । "तद्विज्ञानघन इत्युक्तं "स आत्मा सर्वस्य जगतः परमार्थतो भूतनाशान्न विनाशी । विनाशी त्वविद्याकृतखिल्यभावो वाचारम्भणं विकारो नामधेयमिति श्रुत्यन्तरात् । अथ

वस्तुनि विरुद्धधर्मवत्त्वबुद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—त्वयैवेति । त्वया तर्हि किमुक्तमिति तत्राऽऽह—मया त्विति । खिल्यभावस्य विनाशे प्रत्यगात्मस्वरूपमेव विनश्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—न पुनरिति । ब्रह्मस्वरूपस्यानाशे "विज्ञानघनस्य किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह—तदिति । विज्ञानघनस्य प्रत्यक्त्वं दर्शयति—स आत्मेति । कथ "तर्हि तान्येवानुविनश्यतीति तत्राऽऽह—भूतनाशेति । खिल्यभावस्याविद्याकृतत्वे प्रमाणमाह वाचारम्भणमिति । खिल्यभाववत्प्रत्यगात्मनोऽपि विनाशित्वं स्यादिति चेन्नेत्याह

नही बतलाये है । तूने ही ये विरुद्ध धर्म भ्रान्ति मे एक वस्तु मे समझ लिये हैं, मैंने (वास्तव मे) ऐसा उपदेश नही किया है। मैंने तो इतना मात्र कहा है कि आत्मा का जो अविद्या के द्वारा परिकल्पित कार्यकरणनिमित्तक परिच्छिन्न खिल्यभाव है, उसका विद्या के द्वारा नाश कर दिये जाने पर उसकी निमित्तक शरीरादिसम्बन्धी भेदज्ञान निरूपण करने वाली दर्शनरूपा विशेषसंज्ञा कार्यकरणसघातरूप उपाधि मे प्रलीन होने पर आधार के अभाव मे उसी तरह नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार जलादि आधार के नष्ट हो जाने पर चन्द्रादि के निमित्तक प्रकाशादि नष्ट हो जाते हैं। किन्तु जिस प्रकार परमार्थत चन्द्र और आदित्य के स्वरूप का नाश नही होता, उसी प्रकार असंसारी ब्रह्म के स्वरूप का नाश नही होता । वही ब्रह्म विज्ञानघन है" इस प्रकार कहा गया है, वह विज्ञानघन सर्वजगत् का आत्मा है, समस्त भूतो के नष्ट हो जाने पर भी परमार्थत उसका नाश नही होता। विनाशी तो अविद्याकृत खिल्यभाव ही है । श्रुत्यन्तर (छान्दोग्यश्रुति) से यही प्रतिपादित किया है "(हे सोम्य ! लोक मे जिस प्रकार मृत्तिका के एक पिण्ड द्वारा सम्पूर्ण मृत्तिका के कार्यसमूह का ज्ञान हो जाता है कि) विकार केवल वाणी का आधार नाममात्र ही है (वस्तुत सत्य तो केवल मृत्तिका ही है)", किन्तु यह तो पारमार्थिक है और 'हे मैत्रयी ! वह आत्मा तो विक्रियारहित है", इसलिए "अल वा अर इद विज्ञानाय' अर्थात जिस प्रकार इस महद्भूत, अनन्त, अपार को जानने के लिए उपदेश किया गया है, वह बहुत ही आसान है । "(उस सुषुप्तावस्था मे वह जो जानता है, वह वस्तुत जानता हुआ भी

---

१ विरुद्धधर्मवत्त्वम् । २ 'विज्ञानैकघनोवरयाऽऽह कृत्स्नैकात्म्य स्वाभ्रवम् । सज्ञानाशेन चाविद्याहतुत्वापह्नुति तवेति ॥ वा० ४४८ ॥ ३ अविद्यया प्रदर्शित तत्कल्पित इति यावत् । ४ एतन्निमित्तक । ५ यद्वा समस्त पदम । ६ परिच्छिन्नत्वम् । ७ प्रथमा तमिदम् । ८ भेदज्ञाननिरूप्या । ९ प्रतिबिम्बनिमित्तप्रकाशादिरिव । १० ब्रह्म । ११ विज्ञानघन । १२ प्रतीच कथमनाश सिद्ध इति यावत् । १३ तस्य सर्वजगत परमार्थस्वरूपत्वे ।

***यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते**

जिस अविद्या अवस्था मे (परमार्थत. अद्वैत ब्रह्म मे) द्वैत सा प्रतीत होता है; वहाँ पर ही अन्य अन्य को सूंघता है, अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सुनता है, अन्य अन्य का अभिवादन करता है, अन्य अन्य का मनन करता है तथा अन्य अन्य को जानता है। इसके अतिरिक्त जहाँ पर सब

तु पारमार्थिको ऽविनाशी वा अरेऽयमात्मा । अतोऽलं पर्याप्तं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं यथाव्याख्यातं विज्ञानाय विज्ञातुम् । न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वादिति हि वक्ष्यति ॥१३॥

कथं तर्हि प्रेत्य संज्ञा नास्तीत्युच्यते । शृणु । यत्र यस्मिन्नविद्याकल्पिते कार्य-

---

—अयं त्विति । पारमार्थिकत्वे प्रमाणमाह—अविनाशीति । अविनाशित्वफलमाह—अत इति । पर्याप्तं विज्ञातुमिति संबन्धः । इदमित्यादिपदानां गतार्थत्वादव्याख्येयत्वं सूचयति—यथेति । विज्ञानघन एवेत्यत्र वाक्यशेषं प्रमाणयति—न हीति ॥ १३ ॥

आत्मनो विज्ञानघनत्वं प्रामाणिकं चेत्तर्हि निषेधवाक्यमयुक्तमिति शङ्कते—कथमिति । अविद्याकृतविशेषविज्ञानाभावाभिप्रायेण निषेधवाक्योपपत्तिरित्युत्तरमाह—शृण्विति । यस्मिन्नुक्तलक्षणे

नहीं जानता) विज्ञाता की विज्ञानशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह तो नित्य है, हाँ उस समय उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह विशेषरूप से जाने"; इस पर श्रुति आगे इसी बात का समर्थन करेगी ॥१३॥

शरीर विमोक के बाद उसकी संज्ञा किस प्रकार नहीं रहती, इस पर श्रुति कहती है। सुनो ! क्योंकि "यत्र" अर्थात् जिस अविद्या उपादानक कार्यकरणसंघातरूप उपाधि निमित्तक विशेषात्मरूप

---

१. उक्तमेव विशेषविज्ञानाभावमन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृढीकुर्वन्नाऽऽह—यत्र हीति । २. बृ० उ० ४.५.१४ । ३ अस्य प्रतीचोऽविनाशित्वात् । ४. सुनक बहुतरमिति वाथ. । ५ बृ० उ० ४ ३-३० । ६. एतदुपादानके । ७ भाष्योक्तविशेषणके ।

---

*यत्र हि द्वैतमिव भवतीति अस्या. श्रुतस्तात्पर्यमाहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"यथाज्ञातात्मतत्त्वात्माऽविद्यासवीतशेमुषि. । तत्र मिथ्याग्रहग्रस्तो द्रष्टृदृश्यादिभेदधी ॥ यथाज्ञातात्मयाथात्म्यस्ततमोपिहितक्षण । तत्राविद्योत्थबुद्ध्यादिगुणभूतात्मविग्रह ॥ अविद्यामात्रशपरव जगत प्रागवादिषम् । मर्तोऽविद्या कायमिद हीति हतावत पदम् ॥ सतोऽभिव्यञ्जक मान स्वभावोऽस्य मितर्मवत् । अविद्याया. स्वभावोऽस्य यदसत्त्वेन मृषा ॥ उक्तहेत्वर्थदीप्यतद्धीति तस्य निपातत । द्वीत द्विधेतमेक सतद्भावो द्वैतमुच्यत ॥ उपमार्थ इवत्यतद्भवतीति क्रियापदम् । तत्रैवाविद्यावस्थाया सर्वेय युज्यते मृषा ॥ ननु द्वैतमिवेत्येतदुपमान कथ भवेत् । द्वैत वस्तु न चेदस्ति सर्वस्यैकात्म्यमात्रन ॥ नैष दोषो यतो दृष्ट एकस्मिन्नपि वस्तुनि । उपमेयोपमाभावो दिग्धीरिव

तदितर इतरं विजानाति [१]यत्र वा अस्य सर्व-
मात्मैवाभूत्तत्केन कं [२]जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्त-
त्केन कं शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं

आत्मा ही हो गया, वहाँ किससे किसको सूँघे, किससे किसको देखे, किससे किसको सुने, किससे किसका अभिवादन करे, किससे किसका मनन करे, किससे किसको जाने? वस्तुतः जिससे इन सभी को

करणसंघातोपाधिजनिते विशेषात्मनि खिल्यभावे हि यस्माद्द्वैतमिव परमार्थतोऽद्वैते ब्रह्मणि द्वैतमिव भिन्नमिव वस्त्वन्तर[३]मात्मन उपलक्ष्यते। ननु द्वैतेनोपमीयमानत्वाद्द्वैतस्य

खिल्यभावे सति यस्मा[४]द्यथोक्ते ब्रह्मणि द्वैतमिव द्वैतमुपलक्ष्यते तस्मात्तस्मिन्सतीतर इतरं जिघ्रतीति सबन्ध। द्वैतमिवेत्युक्तमनूद्य व्याचष्टे—भिन्नमिवेति। इवशब्दस्योपमार्थत्वमुपेत्य शङ्कते—नन्विति। द्वैतेन द्वैतस्योपमीयमानत्वाद्दृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकस्य च [५]तस्य वस्तुत्वं स्यादुपमानोपमेययोश्चन्द्रमुखयो-

खिल्यभाव मे 'द्वैतमिव" अर्थात् परमार्थत अद्वितीय ब्रह्म मे द्वैत या भिन्न आत्मवस्तु से पृथक् के समान भासता है। (यहाँ पूर्वपक्षी आक्षेप करता है—) किन्तु द्वैत से उपमा दिये जाने पर ता द्वैत की भी पारमार्थिकता सिद्ध होने लगती है। (इसका परिहार करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नही है। "विकार

१ एतावता—एतेभ्यो भूतेभ्य इत्यत्र सूचितो भूताविद्योपाधिक ससारा व्याख्यात। इदानी महद्भूतमनन्तमपारमित्यादि सूचित ब्रह्मात्मदर्शन व्याख्यास्यन् भूतोपाध्यभावेन विशेषविज्ञानलक्षणससाराभाव इति व्यतिरेकमाह—यत्र वा इति। २ एतन्निमित्तके। ३ पञ्चम्यन्तम्। ४ भाष्योक्तविशेषणके। ५ द्वैतस्य।

विहायसि ॥ रामरावणयोर्युद्ध रामरावणयोरिव। यथा प्रसिद्धो जगति तथैवेहापि गम्यताम् ॥ अद्वैतात्परमार्थाद्वा मायाद्वैतमपीष्यते। तेनोपमार्थससिद्धेर्यथा स्वप्नेन्द्रजालयो ॥ मिथ्येव भाति सत्योऽपीत्यपि लोकेऽभिधीयते। मिथ्याभावो न नास्तीति वक्तु कश्चिदपि क्षम ॥ समस्तव्यस्ततारूप यो वक्तीहाऽऽत्मन श्रुते। तत्पक्षस्य निषेधोऽस्य यत्र हीत्यादिनोच्यते" ॥४५३-४६४॥ इति। यत्र हीत्यादेस्तात्पर्यमाह—यत्रेति। अज्ञातात्मक तत्त्वमेवाऽऽत्मा यस्य स तथा ॥ यदा स्वरूपमविद्योपहतधीरात्मा न वद तदा स द्वैतदर्शीत्युक्त प्रपञ्चयति—यत्रेत्यादिना ॥ तात्पर्यमुक्त्वाऽक्षराणि व्याचक्षाणो हिशब्दार्थमाह—अविद्येति। प्रागिति अव्याकृतविचारादावित्यर्थ। उक्तेऽर्थे हेतुमन्वयव्यतिरेकाख्यमाख्याति—नेति। अविद्यामात्र द्वैतमिति पूर्वोक्तस्यैव प्रतिपादके हेतौ हीति पदमतस्तद्युक्तमित्याह—हीतीति। ननु प्रपञ्चोऽस्ति न वाऽऽद्ये नाविद्योपयोगो द्वितीयेऽपि कथमसन्तमविद्याऽपि दर्शयितुमलमित्याशङ्क्य दृष्टान्तेनाऽऽह—सत इति। द्वैतस्याऽऽविद्यत्वेऽपि तद्धेतुद्योतिनस्त्व हिशब्दस्य कथमित्याशङ्क्याऽऽह—उक्तेति। दृश्यत्वादिहेतुतो जगतो रजतादिवदविद्यामात्रत्वात्तद्धेतुद्योतक हीत्येतत्पदमित्यर्थ। हिशब्दस्य यथोक्तहेतुवाचित्वमेव किं न स्यादत आह—तस्येति। निपाताना द्योतकत्वमेवेति हि वैयाकरणसमय। द्वैतमित्यादि व्याकरोति—द्वैतमिति ॥ इवशब्दार्थसमर्थनार्थं यत्र हीत्यादिवाक्यस्य पर्यवसितमर्थमाह—तत्रेति ॥ द्वैतमस्ति न वा नाऽऽद्य ऐकात्म्यविरोधान्न द्वितीय एकत्रोपमानोपमेयत्वायोगादिवशब्दासिद्धिरिति शङ्कते—नन्विति ॥ आत्मेतरद्वैताभावेऽपीवशब्दस्य नोपमार्थत्वासिद्धिरुपमानोपमेयभावस्यैकत्रापि दृष्टेरित्याह—

मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। यनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥१४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयाध्याये
चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४॥

जानता है, उसे किससे जाने ? हे मैत्रेयी ! (भला बतलाओ तो सही) विज्ञाता को किससे जाने ॥१४॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

पारमार्थिकत्वमिति । न । [1]वाचारम्भणं विकारो नामधेयमिति श्रुत्यन्तरादेकमेवाद्वितीय-

---

वस्तुत्वोपलम्भादित्यर्थः । द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्ववादिश्रुतिविरोधाच्च तस्य सत्यतेति परिहरति—

केवल वाणी का विकार नाममात्र ही है वस्तुतः सत्य तो केवल मृत्तिका ही है" इस प्रकार ऐसी अन्य (छान्दोग्य) श्रुति भी प्रतिपादित करती है। "हे सोम्य ! उत्पत्ति से पूर्व यह दीखने वाला नाम-रूपात्मक जगत् (सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य) एकमात्र अद्वितीय सत् था", "(विशेष क्या

---

१ वाचारम्भणमिति । ननु द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे (अभावे) आत्मनि एकत्रोपमानोपमेयत्वायोगादिवशब्दासिद्धिरिति चेन्न । उपमानोपमेयभावस्य रामरावणयोर्युद्धमित्यादावेकत्रापि दृष्टत्वात् । नात्रोपमानोपमेयविवक्षा युद्धमनयोरनुपममित्यस्मिन्नर्थे तात्पर्यादिति चेददाहरणान्तरं शृणु नाऽऽकाशादर्थान्तरं दिगस्ति मानाभावात्तथाऽपि दिगिव तद्भातीति सादृश्यधीराकाशे दृश्यते तथाऽऽत्मनः सकाशादन्यद्वैताभावेऽपि द्वैतमिव स आत्मा भवतीत्युक्तिसिद्धिः । यथा च स्वप्ने महेन्द्रजाले च स्वप्नदृङ् मायावी च स्वकृतद्वैतवद्भवति तथाऽऽत्मा स्वाविद्योत्थकर्त्रादिद्वैतरूपो भातीति कल्पितद्वैतेनोपमासिद्धिः स्पष्टैवेति ध्येयम् ।

नेत्यादिना । दृष्टिमेव व्याचष्टे—दिग्धीरिति । नाऽऽकाशादर्थान्तरं दिगस्ति मानाभावात्तथाऽपि दिगिव तद्भातीति सादृश्यधीराकाशे दृश्यते तथाऽऽत्मान्यद्वैताभावेऽपि द्वैतमिव स भवतीत्युक्तिसिद्धिरित्यर्थः ॥ एकस्मिन्नुपमानोपमेयत्वसंभवमुदाहरणान्तरेणाऽऽह—रामेति ॥ नात्रोपमानोपमेयविवक्षा युद्धमनयोरनुपममित्यस्मिन्नर्थे तात्पर्यादित्याशङ्क्य विधान्तरेणोपमानं समर्थयते—अद्वैतादिति । इवशब्दः संभवतीति शेषः । कल्पितद्वैतेनोपमासिद्धिं स्फुटयति—यथेति । स्वप्ने महेन्द्रजाले च स्वप्नदृशा मायाविना च कृतद्वैतवदात्मा स्वाविद्योत्थकर्त्रादिद्वैतरूपो भातीत्यर्थः ॥ मिथ्यास्वप्नादिद्वैतस्य कथं सत्यात्मदृष्टान्ततेत्याशङ्क्याऽऽह—मिथ्येति । यथा मिथ्यार्थं सत्यवद्भाति तथा वक्तु प्रथमोऽपिशब्दः । द्वितीयस्तु शास्त्रसमुच्चयार्थः । यद्दृश्यं तत्सत्यमिति व्याप्तेर्मिथ्यापदार्थस्यैवासत्त्वे कुतस्तस्य दृष्टान्ततेत्याशङ्क्याऽऽह—मिथ्याभाव इति । भ्रान्तिवाप्रसिद्धिविरोधादिति भावः ॥ यत्र हीत्यादेस्तात्पर्यमविद्यादशायामेव द्वैतदर्शनं नान्यदेत्युक्त्वा सत्यमाह—समस्तेति । एष हि द्रष्टेत्यादिवाक्यमिदं सर्वं यदयमात्मेत्यादि च श्रुतिरित्युच्यते । परीक्षानिर्धारणार्थमिहेत्युक्तम् । आत्मनस्तथाविधं रूपमवास्तवं चेदविरुद्धं वास्तवं चेदविद्यावस्थायामेव द्वैतदर्शनवादिनी श्रुतिर्विरुध्येतेति भावः ।

मात्मैवेदं सर्वमिति च। तत्र यस्माद्द्वैतमिव तस्मादेवेतरोऽसौ परमात्मनः खिल्यभूत आत्माऽपरमार्थश्चन्द्रादेरिवोदकचन्द्रादिप्रतिबिम्बं इतरो घ्रातेतरेण, घ्राणेनेतरं घ्रातव्यं जिघ्रति। इतर इतरमिति कारकप्रदर्शनार्थं जिघ्रतीति क्रियाफलयोरभिधानम्। यथा छिनत्तीति यथोद्यम्योद्यम्य निपातनं छेद्यस्य च द्वैधीभाव उभयं छिनत्तीत्येकनैव शब्देनाभिधीयते क्रियायाः फलावसानत्वात्क्रियाव्यतिरेकेण च तत्फलस्यानुपलम्भात्। इतरो घ्रातेतरेण घ्राणेनेतरं घ्रातव्यं जिघ्रति तथा। सर्वं पूर्ववत्। इयमविद्यावदवस्था।

न वाचारम्भणमिति। तत्र तस्मिन्खिल्यभावे सतीति यावत्। स्वप्नादिद्वैतमिव जागरितेऽपि द्वैतं यस्मादालक्ष्यते तस्मात्परमात्मनः सकाशादितरोऽसावात्मा खिल्यभूतोऽपरमार्थः सन्नितरं जिघ्रतीति योजना। परस्मादितरस्मिन्नात्मन्यपरमार्थे खिल्यभूते दृष्टान्तमाह—चन्द्रादेरिवेति। इतरशब्दमनूद्य तस्यार्थमाह—इतरो घ्रातेति। अविद्यादशायां सर्वाण्यपि कारकाणि सन्ति कर्तृकर्मनिर्देशस्य सर्वकारकोपलक्षणत्वादित्याह—इतर इति। क्रियाफलयोरेकशब्दत्वे दृष्टान्तं विवृणोति—यथेति। दृष्टान्तेऽपि विप्रतिपत्तिमाशङ्क्यानन्तरोक्त हेतुमेव स्फुटयति—क्रियेति। अतश्च जिघ्रतीत्यत्रापि क्रियाफलयोरेकशब्दत्वमविरुद्धमिति शेषः। उक्तं वाक्यार्थमनूद्य वाक्यान्तरेष्वतिदिशति—इतर इति। तथेतरो द्रष्टेतरेण चक्षुषेतरं द्रष्टव्यं पश्यतीत्यादि द्रष्टव्यमिति शेषः। उत्तरेष्वपि वाक्येषु पूर्ववाक्यवत्कर्तृकर्मनिर्देशस्य सर्वकारकोपलक्षणत्वं क्रियापदस्य च क्रियातत्फलाभिधायित्वं तुल्यमित्याह—सर्वमिति। यत्र हीत्यादिवाक्यार्थमुपसंहरति—इयमिति।

कहें) यह सब कुछ आत्मा ही है" ऐसा भी श्रुतिवाक्यो मे कहा गया है। इसलिये उस अवस्था मे क्योकि द्वैत सा रहता है, इसीलिए परमात्मा का खिल्यभाव अपारमार्थिक आत्मा उससे "इतरः" अर्थात् चन्द्रादि के जल मे पड़े हुए चन्द्रादि प्रतिबिम्ब के समान भिन्न है, (जो कि) "इतरः" यानी परमात्मा से भिन्न सूंघनेवाला, भिन्न घ्राणेन्द्रिय से, "इतरम्" यानी भिन्न सूंघने योग्य पदार्थों को सूंघता है। श्रुति मे "इतर इतरम्" यह पदद्वय कारकान्तर उपलक्षण के लिए हैं तथा "जिघ्रति" पद क्रिया के ज्ञान का अभिवाचक है। जिस प्रकार "छिनत्ति" (लकडी काटता है) इस क्रियापद मे कुल्हाडी उठा-उठाकर मारना, काटने योग्य (लकडी) के दो टुकडे करना यह दोनो ही "छिनत्ति" इस एक ही क्रियाशब्द से कहे जाते हैं क्योकि उसी मे क्रिया के फल का तात्पर्य अर्थ है और क्रिया से भिन्न उस क्रिया के फल की उत्पत्ति भी नहीं होती। अत. "इतर" यानी भिन्न सूंघने वाला भिन्न घ्राणेन्द्रिय द्वारा "इतरम्" अर्थात् अन्य घ्रातव्य पदार्थों को सूंघता है। इस प्रकार "यत्र हि—" इत्यादि श्रुतिवाक्य मे अविद्यावस्था (त्रिपुटीभानात्मक) के समान सब पूर्ववत् व्याख्या समझ लेनी चाहिये।

और जहाँ (विद्यावस्था मे) ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्या नष्ट हो गई है, वहाँ आत्मा से पृथक्

---

१. तदित्यादि व्याचष्टे—तत्रेति। तदुक्त वार्तिके—"तस्यामविद्यावस्थाया स्वप्नावस्था गतो यथा। घ्रातेतरः सन्नितर गन्ध घ्राणेन जिघ्रति" ॥४६५॥ इति। २. कारकान्तरोपलक्षणार्थम्। ३. फलमत्र ज्ञानम्। ४. क्रियाफलयोरिति भाव। ५ यत्रेत्य त्रिपुटीभान सेयमित्यर्थः। ६ आदोन्द्रवागुरा। ७. एकशब्दवाच्यत्वे। ८. उक्तमिति शेष.। ९. क्रियाया. फलावसानत्वादित्येतम्। १०. उक्तदृष्टान्तानुरोधादेव।

[1]यत्र तु ब्रह्मविद्ययाऽविद्या नाशमुपगमिता तत्राऽऽत्मव्यतिरेकेणान्यस्याभावः । यत्र वा अस्य ब्रह्मविदः सर्वं नामरूपाद्यात्मन्येव प्रविलापितमात्मैव संवृत्तं[2] यत्रैवमात्मैवाभूत्तत्र केन करणेन कं घ्रातव्यं [3]को जिघ्रेत्तथा पश्येद्विजानीयात् । [4]सर्वत्र [5]हि कारकसाध्या क्रिया । अतः कारकाभावेऽनुपपत्तिः क्रियायाः । क्रियाभावे च फलाभावः । [6]तस्मादविद्यायामेव सत्या क्रियाकारकफलव्यवहारो न ब्रह्मविदः । आत्मत्वादेव [7]सर्वस्य नाऽऽत्मव्यतिरेकेण कारकं क्रियाफलं वाऽस्ति । न चानात्मा सन्सर्वमात्मैव भवति कस्यचित् । [8]तस्मादविद्ययैवानात्मत्वं परिकल्पितं न तु परमार्थत आत्मव्यतिरेकेणास्ति किंचित् । तस्मात्परमार्थात्मैकत्वप्रत्यये क्रियाकारकफलप्रत्ययानुपपत्तिः । अतो विरोधा-

यत्र वा अस्येत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—यत्र त्विति । उक्तेऽर्थे वाक्याक्षराणि व्याचष्टे—यत्रेति । तमेवार्थं संक्षिपति—यत्रैवमिति । सर्वं कर्तृकरणादीति शेषः । तत्केनेत्यादि व्याकरोति—तत्रेति । किंशब्दस्याऽऽक्षेपार्थं कथयति—सर्वत्र हीति । ब्रह्मविदोऽपि कारकद्वारा क्रियादि स्वीक्रियतामित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मत्वादिति । सर्वस्याऽऽत्मत्वासिद्धिमाशङ्क्य सर्वमात्मैवाभूदिति श्रुत्या समाधत्ते—न चेति । कथं तर्हि सर्वमात्मव्यतिरेकेण भातीत्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति । भेदभानस्याविद्याकृतत्वे फलितमाह—तस्मात्परमार्थेति । तद्धेतोरज्ञानस्यापनीतत्वादिति शेषः । एकत्वप्रत्ययादज्ञाननिवृत्तिद्वारा क्रियादिप्रत्यये निवृत्तेऽपि क्रियादि स्यान्नेत्याह—अत इति । [9]करण-

अन्य वस्तु का अभाव हो जाता है । अथवा जहाँ इस ब्रह्मविज्ञानी के सम्पूर्ण नाम-रूपादि आत्मा में ही लीन किये जाने पर आत्मस्वरूप ही हो गये हैं जहाँ उक्तरीति से सब कुछ आत्मा ही हो गया है, तब किस इन्द्रिय से किसको सूँघा जाय, कौन घ्राता सूँघे, इसी प्रकार किसको देखे, कौन देखे, किसको जाने, कौन जाने इत्यादि अर्थ कर लेना चाहिये । क्रिया कारकसाध्या हुआ करती है, ऐसा लोक और वेद में प्रसिद्ध है । इसलिए कारक के अभाव होने पर तो क्रिया की सिद्धि होना सम्भव नहीं है । और जब क्रिया ही नहीं होगी तो फल भी नहीं होगा । इसलिए (क्रियाकारकफलरूपात्मक सभी व्यवहार अविद्याविषयक होने के कारण) अविद्या के रहते हुए ही क्रियाकारकफलरूप व्यवहार सम्भव है । ब्रह्मतत्त्ववेत्ता को ऐसा कुछ भी नहीं होता क्योंकि यह सभी कर्तृ करणादि तो आत्मा ही है आत्मा से पृथक् तो कारक अथवा क्रियाफल की सिद्धि सम्भव नहीं है । और ऐसा भी नहीं होता कि किसी के लिए अनात्मा रहते हुए भी सब कुछ आत्मा ही हो जाता है । इसलिए (सब कुछ आत्मस्वरूप होने के कारण) अविद्या के द्वारा ही अनात्मभाव परिकल्पित है, परमार्थतः तो आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है । इसलिए परमार्थतः आत्मैकत्वज्ञान होने पर क्रिया कारक और फल की प्रतीति होना सम्भव नहीं है । इसलिए (यथोक्त अविद्या-क्रियादि प्रतीति का एकत्वप्रतीति कार्य से) विरोध होने के कारण ब्रह्मतत्त्वदर्शी के लिए क्रिया और उनके साधनों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है ।

१ विद्यावस्थायाम् । २ उक्तरीत्या । ३ घ्राता । ४ लोकवेदयो । ५ प्रसिद्धम् । ६ क्रियाकारकफलव्यवहारस्याविद्यकत्वात् । ७ कर्तृकरणादे । ८ सर्वस्यात्मत्वात् । ९ सवस्यात्मत्वे । १० यथोक्तयोरविद्याक्रियादिप्रत्यययोर्हेतुप्रमाणभूतयोरिति यावत् ।

द्ब्रह्मविदः क्रियाणां तत्साधनानां चात्यन्तमेव निवृत्तिः । केन किमिति 'क्षेपार्थं वचनं प्रकारान्तरानुपपत्तिप्रदर्शनार्थम् । केनचिदपि प्रकारेण क्रियाकरणादिकारकानुपपत्तेः । केनचित्कंचित्कश्चित्कथंचिन्न जिघ्रेदेवेत्यर्थः ।

यत्राप्यविद्यावस्थायामन्योऽन्यं पश्यति तत्रापि 'येनेदं सर्वं विजानाति तं 'केन विजानीयाद्येन विजानाति तस्य करणस्य विज्ञेये विनियुक्तत्वात् । ज्ञातुश्च ज्ञेय एव हि जिज्ञासा नाऽऽत्मनि । न चाग्नेरिवाऽऽत्मनाऽऽत्मनो विषयो न चाविषये ज्ञातुर्ज्ञानमुपपद्यते । 'तस्माद्येनेदं सर्वं विजानाति तं विज्ञातारं केन करणेन को वाऽन्यो विजानीयात् ।

प्रमाणयोरभावे कार्यस्य विरुद्धत्वादिति यावत् । ननु किंशब्दे प्रश्नार्थे प्रतीयमाने कथं क्रियातत्साधनयोरत्यन्तनिवृत्तिर्विदुषो विवक्ष्यते तत्राऽऽह—केनेति । किंशब्दस्य प्रागेवाऽऽक्षेपार्थत्वमुक्तं तच्चाक्षेपार्थं वचो विदुषः सर्वप्रकारक्रियाकारकाद्यसंभवप्रदर्शनार्थमित्यत्यन्तमेव क्रियादिनिवृत्तिर्विदुषो युक्तेत्यर्थः । सर्वप्रकारानुपपत्तिमेवाभिनयति—केनचिदिति ।

कैवल्यावस्थामास्थाय संज्ञाभाववचनमित्युक्त्वा 'तत्रैव 'किं पुनर्न्यायं वक्तुमविद्यावस्थायामपि साक्षिणो ज्ञानविषयत्वमाह—यत्रापीति । येन कूटस्थबोधेन व्याप्तो 'लोकः सर्वं जानाति तं साक्षिणं केन करणेन को वा ज्ञाता जानीयादित्यत्र हेतुमाह—येनेति । येन चक्षुरादिना लोको जानाति तस्य 'विषयग्रहणेनैवोपक्षीणत्वान्न साक्षिणि प्रवृत्तिरित्यर्थः । आत्मनो'ऽसंदिग्ध'भावत्वाच्च प्रमेयत्वासिद्धिरित्याह—ज्ञातुश्चेति । किंचाऽऽत्मा स्वेनैव ज्ञायते ज्ञात्रन्तरेण वा नाऽऽद्य इत्याह—न चेति । न द्वितीय इत्याह— न चाविषय इति । ज्ञात्रन्तरस्याभावात्तस्याविषयोऽयमात्मा कुतस्तेन ज्ञातुं शक्यते । न हि ज्ञात्रन्तरमस्ति नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्यादिश्रुतेरित्यर्थः । आत्मनि 'प्रमातृप्रमाणयोरभावे

मन्त्र मे "केन, कम्" (किससे, किसको) इत्यादि निषेधार्थक वचन प्रकारान्तर से असिद्धिप्रदर्शन के लिए है। किसी भी प्रकार से क्रिया-करणादि कारको की सिद्धि सभव नही है। अर्थात् किसी के द्वारा किसी विषय को कोई किसी भी प्रकार नही सूंघ सकता ।

इसके अतिरिक्त अविद्यावस्था मे भी जहां इतर इतर को देखता है, वहां भी जिसके द्वारा यह सब जानता है, उसको किसके द्वारा जाने क्योकि जिसके द्वारा वह जानता है, उस इन्द्रिय का तो विज्ञेय मे विनियोग हुआ है। तथा ज्ञाता की जिज्ञासा ज्ञेय मे ही होती है, आत्मा मे नही होती । अग्नि के समान आत्मा अपना ही विषय नही हो सकता और जो विषय ही नही है, उसका ज्ञान ज्ञाता को नही हो सकता। इसलिए (आत्मा मे प्रमाता और प्रमाण की प्रवृत्ति का अभाव होने के कारण) जिसके

---

१ निषेधार्थमित्यर्थः। २. येनेत्यादे श्रुत्यंशस्य तात्पर्यमाहुर्वार्तिके—"ज्ञानोत्पत्तौ न संज्ञाऽस्तीत्यास्तां तावदिहाऽऽत्मनः। अपि सत्यामविद्यायां न संज्ञाऽस्त्यात्मनीदृशीति" ॥ ईदृशी ग्राहकादित्रिभागोद्ग्राहिणीत्यर्थं ॥ ३. अविद्यावस्थायामपि सर्वसाक्षी स्वप्रकाशेनान्यापेक्ष. किं पुनर्विद्यावस्थायामित्यर्थ. । ४. आत्मनि प्रमातृप्रमाणयो प्रवृत्त्यभावात् । ५. बृ. उ. ६२३ पृष्ठे सर्वत्र हीत्यादिभाष्येण । ६. कैवल्ये संज्ञाभाववचन एव । ७. किं पुनर्न्यायम्—कैमुतिकन्यायम् । ८. सघात. । ९ स्वस्वनियतशब्दादिविषयेत्यर्थ. । १०. असंदिग्धभावाच्चेत्येव युक्तः पाठ । असंदिग्धत्वाच्चेत्यर्थः । ११. पदार्थत्वात् । १२. अनयोः प्रवृत्तेरिति यावत् ।

'यदा तु पुनः 'परमार्थविवेकिनो ब्रह्मविदो' विज्ञातैव केवलोऽद्वयो वर्तते तं विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥१४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥४॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ।

यत्केवलं कर्मनिरपेक्षममृतत्वसाधनं तद्वक्तव्यमिति मैत्रेयीब्राह्मणमारब्धम् । तच्चाऽऽत्मज्ञानं सर्वसंन्यासाङ्गविशिष्टम् । आत्मनि च विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति । आत्मा च प्रियः सर्वस्मात् । 'तस्मादात्मा द्रष्टव्यः स च श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति च दर्शनप्रकारा उक्ताः । 'तत्र श्रोतव्य आचार्यागमाभ्याम् । मन्तव्यस्तर्कतः ।

ज्ञानाविषयत्वं फलतीत्याह—तस्मादिति । विज्ञातारमित्यादिवाक्यस्यार्थं प्रपञ्चयति—यदा त्विति । तदेवं स्वरूपापेक्षं विज्ञानघनत्वं विशेषविज्ञानापेक्ष तु संज्ञाभाववचनमित्यविरोध इति ॥ १४ ॥

इति बृहदारण्यकभाष्यटीकायां द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

पूर्वोत्तरब्राह्मणयोः संगतिं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—'यत्केवलमिति । कैवल्यं व्याचष्टे—कर्मनिरपेक्षमिति । तच्चाऽऽत्मज्ञानमुक्तमिति 'सबन्धः । 'ततो 'निराकाङ्क्षत्व सिद्धमिति चकारार्थः । आत्मज्ञानं सन्यासिनामेवेति नियन्तुं विशिनष्टि—सर्वेति । ननु कुतस्ततो' नैराकाङ्क्ष्यं सत्यपि तस्मिन्विज्ञेयान्तरसंभवादत आह—आत्मनि चेति । न वा अरे पत्युरित्यादावुक्तं स्मारयति—आत्मा चेति । तस्य निरतिशयप्रमास्पदत्वेन परमानन्दत्वे" फलितमाह—तस्मादिति । स चेद्दर्शनार्हस्तर्हि तद्दर्शने कानि साधनानीत्याशङ्क्याऽऽह—स चेति । दर्शनप्रकारा दर्शनस्योपायभेदाः । श्रवणमननयोः

द्वारा यह सब जानता है, उस विज्ञाता को किस इन्द्रिय के द्वारा जाने, कौन दूसरा जाने (जबकि आत्मा अद्वितीय है) । (विद्यावस्था में) जब (अखण्डार्थ का पर्यालोचन करने वाले) परमार्थतत्त्वद्रष्टा ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि में केवल अद्वितीय विज्ञाता ही रह जाता है, तो हे मैत्रेयी ! उस विज्ञाता को वह किसके द्वारा जाने ॥१४॥

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् द्वितीयाध्याय के चतुर्थ मैत्रेयी ब्राह्मण में शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥४॥

जो केवल कर्मनिरपेक्ष, अमृतत्वसाधन है, उसी का वर्णन करना चाहिए, इसी से मैत्रेयी ब्राह्मण आरम्भ किया गया था और वह सर्वसंन्यासरूप अङ्ग से विशिष्ट आत्मज्ञान ही है। आत्मा का ज्ञान हो जाने पर यह सब ज्ञात हो जाता है। आत्मा ही सबसे प्रिय है। इसलिए (आत्मा के परमानन्दस्वरूप होने से) आत्मा का दर्शन करना चाहिये, एवं उसी का श्रवण, मनन व निदिध्यासन करना चाहिये, ये उसके दर्शन के प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं। उन (श्रवण और मनन) में श्रवण को

---

१. विद्यावस्थायाम् । २. अखण्डार्थं पर्यालोचयत । ३ द्रष्टया । ४ आत्मनः परमानन्दत्वात् । ५. श्रवणमननयोर्मध्ये । ६. उक्ता इत्येतत्पदे लिङ्गवचनाभ्यां विपरिणमय्य सबन्ध । ७. तत —निरपेक्षामृतत्वसाधनस्यात्मज्ञानस्योक्तत्वादित्यर्थः । ८. निराकाङ्क्षत्व विदुष इति शेष । ९. सन्यासविशिष्टात्मज्ञानात् । १० आत्मज्ञाने । ११. सिद्धे सति ।

तत्र च तर्क उक्त 'आत्मैवेदं सर्वमिति प्रतिज्ञातस्य हेतुवचनमात्मैकसामान्यत्वमात्मैकोद्भवत्वमात्मैकप्रलयत्वं च। 'तत्रायं हेतुरसिद्ध इत्याशङ्क्यत आत्मैकसामान्योद्भवप्रलयाख्यस्तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थमेतद्ब्राह्मणमारभ्यते।

यस्मात्परस्परोपकार्योपकारकभूतं जगत्सर्वं पृथिव्यादि। यच्च लोके परस्परोपकार्योपकारकभूतं तदेककारणपूर्वकमेकसामान्यात्मकमेकप्रलयं च दृष्टम्। तस्मादिदमपि पृथिव्यादिलक्षणं जगत्परस्परोपकार्योपकारकत्वात्तथाभूतं भवितुमर्हति। 'एष ह्यर्थो-

स्वरूपविशेषं दर्शयति—तत्रेति। कोऽसौ तर्को येनाऽऽत्मा मन्तव्यो भवति तत्राऽऽह—तत्र चेति। दुन्दुभ्यादिग्रन्थः सप्तम्यर्थः। उक्तमेव तर्कं संगृह्णाति—आत्मैवेति। प्रधानादिवादमादाय हेत्वसिद्धिशङ्कायां तन्निराकरणार्थमिदं ब्राह्मणमिति 'सगतिं संगिरते—तत्रायमिति।

कथं हेत्वसिद्धिशङ्कोद्भाव्यते तत्राऽऽह—यस्मादिति। तस्मात्तथाभूतं भवितुमर्हतीत्युत्तरत्र संबन्धः। अन्योन्योपकार्योपकारकभूतं जगदेकचैतन्या"नुविद्धमे"कप्रकृतिकं चेत्यत्र व्याप्तिमाह—यच्चेति। दृष्ट स्वप्नादीति शेषः। दृष्टान्ते सिद्धमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—तस्मादिति। तच्छब्दार्थं स्फुटयति—परस्परेति। तथाभूतमित्येककारणपूर्वकादि गृह्यते। विमतमेककारणकं परस्परोपकार्योपकारकभूतत्वात्स्वप्नवदित्ययुक्तं हेत्वसिद्धेः न हि सर्वं जगत्परस्परोपकार्योपकारकभूतमित्याशङ्क्याऽऽह

आचार्य और शास्त्र द्वारा करना चाहिए। युक्ति के द्वारा मनन करना चाहिये। उसमे तर्क का स्वरूप बतलाया गया है कि जहाँ "यह जो कुछ भी है, सब आत्मा ही है" इस प्रकार प्रतिज्ञावाक्य से "आत्मा का सबमे समानभाव से विद्यमान रहना, आत्मा से ही सबकी उत्पत्ति होना तथा आत्मा में ही सबका प्रलय होना" यह फलितार्थ कथन है। प्रतिज्ञात अर्थ मे शङ्का की जाती है कि आत्मा का सबमे विद्यमान रहना, उसी से उत्पन्न होना तथा उसी म प्रलय होना रूप हेतु असिद्ध है, इस आक्षेप की निवृत्ति के लिए द्वितीय अ याय का पाँचवा ब्राह्मण प्रारम्भ किया जाता है।

क्योंकि यह पृथिवी आदि समस्त जगत् परस्पर उपकार्य और उपकारक स्वरूप है। लोक मे जो भी पदार्थ परस्पर उपकार्य-उपकारकरूप होते हैं, वे एककारणपूर्वक, एकचैतन्यानुविद्ध और एकप्रलयस्थान वाले देखे जाते हैं। इसलिए यह पृथिवी आदि रूप जगत भी परस्पर उपकार्य-उपकारकरूप

१. इद सर्वं यदयमात्मेत्येतदेव तु प्रतिज्ञावाक्य तस्यव फलितार्थकथनमिदम्। २. आत्मैवेद सर्वमिति प्रतिज्ञातेऽर्थे। ३ आशङ्क्यत इति—जगत स्थितिकाले चित्सामान्यत्व यदुक्तं तन्न सिध्यति चितो नि सामान्यविशेषत्वात् तथा चिदुत्पत्तिलयाख्यहेत्वशोऽपि साम्यादीन् प्रति न सिध्यति। ते हि प्रधानाद जगज्जन्मलयाविच्छन्ति न च त्वयाऽपि चितो जगज्जन्मलयाऽऽवेष्टु शक्यौ कूटस्थासङ्गाद्वयत्वोपगमादित्याशङ्का द्रष्टव्या। ४ आरभ्यत इति—चित्सामान्यादिरूपा हेतुर्वस्तुतो नास्ति, यथाकथचिद्वति विकल्प्याऽऽद्ये इष्टापत्ति। तदुक्त वार्तिके—'ऐकात्म्यवस्तुतात्पर्यं हेत्वादिच्छलनोच्यते। वेदे यतो न हेत्वादि लाववत्म्याद्विवक्षितम्" ॥७॥ न द्वितीयोऽज्ञात ब्रह्मणि चित्सामान्यादिसभवात्तद्वदमित्यादौ तस्माश्रितमपि अभ्युपेत्याप्यसिद्धत्व तत्सिद्धत्वाभिधित्सया मधुब्राह्मणमारब्धमिति भाव। ५. एकचैतन्यानुविद्धम्। ६. सर्वस्य परस्परोपकार्योपकारकत्वरूप। ७. सक्षेपत कथयति। ८ प्रधानादिवादे हि प्रधानादावेव जगदुद्भवादिक न ब्रह्मणीति हेत्वसिद्धि। ९. आक्षेपात्मिकाम्। १०. अनुगतम्। ११. एकोपादानकम्।

ऽस्मिन्ब्राह्मणे प्रकाश्यते । अथवाऽऽत्मैवेदं सर्वमिति प्रतिज्ञातस्या[1]ऽऽत्मोत्पत्तिस्थितिलयत्वं हेतुमुक्त्वा पुनरागमप्रधानेन मधुब्राह्मणेन प्रतिज्ञातस्यार्थस्य [2]निगमनं क्रियते । तथाहि नैयायिकैरुक्तं [3]हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति[4] । अन्यैर्व्याख्यातमा दुन्दुभिदृष्टान्ताच्छ्रोतव्यार्थमागमवचनं प्राङ्मधुब्राह्मणान्मन्तव्यार्थमुपपत्तिप्रदर्शनेन मधुब्राह्मणेन तु निदिध्यासनविधिरुच्यत इति । सर्वथाऽपि तु यथाऽऽगमेनावधारितं तर्कतस्तथैव मन्तव्यम् । यथा तर्कतो मतस्य तर्कागमाभ्यां निश्चितस्य तथैव निदिध्यासनं क्रियत इति पृथङ्निदिध्यासनविधिरनर्थक एव । [5]तस्मात्पृथक्प्रकरणविभागोऽनर्थक इत्यस्मदभिप्रायः

एष हानि । हेत्वसिद्धिशङ्कां परिहर्तुं ब्राह्मणमिति संगतिमुक्त्वा प्रकारान्तरेण तामाह—अथवेति । प्रतिज्ञाहेतू क्रमेणोक्त्वा हेतुसहितस्य [6]प्रतिज्ञार्थस्य पुनर्वचनं निगमनमित्यत्र तार्किकसंमतिमाह—तथा हीति । भर्तृप्रपञ्चानां ब्राह्मणारम्भप्रकारमनुवदति—अन्यैरिति । द्रष्टव्यादिवाक्यादारभ्याऽऽदुन्दुभि[7]दृष्टान्तादागमवचनं श्रोतव्य इत्युक्तश्रवणनिरूपणार्थम् । दुन्दुभिदृष्टान्तादारभ्य मधुब्राह्मणात्प्रागुपपत्तिप्रदर्शनेन मन्तव्य इत्युक्तमनननिरूपणार्थमागमवचनम् । निदिध्यासनं व्याख्यातुं पुनरेतद्ब्राह्मणमित्यर्थः । एतद्दूषयति—सर्वथाऽपीति । श्रवणादेर्विधेयत्वे[8]ऽविधेयत्वेऽपीति यावत् । [9]अन्वयव्यतिरेकाभ्यां श्रवणे प्रवृत्तस्य "तत्पौष्कल्ये सत्य"[10]र्थलब्ध मनन न विधिमपेक्षते । यथा तर्कतो मतं तत्त्वं तथा तस्य तर्कागमाभ्यां निश्चितस्योभयसामर्थ्यादेव निदिध्यासनसिद्धौ तदपि विध्यनपेक्षमेवेत्यर्थः । त्रयाणां विध्यनपेक्षत्वे फलितमाह—तस्मादिति । इति परकीयव्याख्यानमयुक्तमिति शेषः । सिद्धान्तेऽपि

होने के कारण वैसा ही होना चाहिये । यही अर्थ इस ब्राह्मण में प्रकाशित किया जाता है । अथवा "यह जो कुछ है—सब आत्मा ही है" इस प्रतिज्ञात ऐकात्म्य का आत्मा से उत्पत्ति, स्थिति, लय होना रूप हेतु बतलाकर अब फिर आगमप्रधान मधुब्राह्मण से प्रतिज्ञातार्थ का पुन: कथन किया जाता है। इसी बात को नैयायिकों ने प्रतिपादित किया है कि "हेतुसम्बन्ध से प्रतिज्ञातार्थ का पुन: कथन निगमन है" इत्यादि । (भर्तृप्रपञ्चादि) अन्य दार्शनिकों ने इस प्रकार व्याख्या की है कि दुन्दुभि दृष्टान्त के पूर्व जो श्रुतिवचन हैं, वह "श्रोतव्यः" इस विधिवाक्य से प्रारम्भ किये हैं, फिर मधुब्राह्मण से पूर्व का शास्त्र है; वह युक्ति दिखलाते हुए "मन्तव्यः" इस वाक्य में मनन के निरूपण के लिए है। तथा मधुब्राह्मण के द्वारा निदिध्यासन की विधि बतलायी गयी है । किन्तु (श्रवणादि के क्रियारूपत्व पक्ष में विधेयत्व और ज्ञानरूप पक्ष में अविधेयत्व) सभी प्रकार से जैसा श्रुति ने निश्चित किया है, तर्क से वैसा ही मनन करना चाहिये । जिस तर्क से मनन किया हो और तर्क और श्रुति के द्वारा निश्चित अर्थ का उसी प्रकार निदिध्यासन किया जाता है। इसलिए निदिध्यासन के पृथक् विधान करने का कोई

१. ऐकात्म्यस्य । २. निगमनम्—पुनः कथनम् तस्यापि साधना(अनुमाना)ज्ज्ञताया वादिभिरिष्टत्वादवश्य वक्तव्यत्वात्तदुच्यते । ३. हेत्वपदेशादिति—हेतुसबन्धात् प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञातार्थस्य पुनः कथनमित्यक्षरार्थः । हेतोः व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मस्य कथनात् प्रतिज्ञातार्थस्य साध्यविशिष्टपक्षस्य प्रदर्शनमिति यावत् । व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्म (हेतु)कथनपूर्वकसाध्यविशिष्टपक्षप्रदर्शको न्यायावयवो निगमनमिति । ४. गौ० सू० १।१।३९ । ५. त्रयाणां विध्यनपेक्षत्वात् । ६. प्रतिज्ञातार्थस्य । ७ इत आरभ्येत्यर्थः । ८. श्रवणादेः क्रियारूपत्वपक्षे विधेयत्वं ज्ञानरूपत्वपक्षे त्वविधेयत्वम् । ९. सति श्रवणादौ ज्ञानं दृश्यते—नान्यथेत्यन्वयव्यतिरेकौ । १०. श्रवणादिसम्पूर्णौ । ११. विधिमन्तरेण ।

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ

यह प्रसिद्ध पृथिवी (ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त) समस्त भूतों का मधु है (जैसे अनेक मधुकर मधु के छत्ते को बनाते हैं, ऐसे ही समस्त भूतों ने इसे बनाया है) और ऐसे ही समस्त भूत इस पृथिवी के मधु हैं। इस पृथिवी में जो यह चिन्मात्र प्रकाशमय और अमृतमय पुरुष है तथा जो यह अध्यात्म

श्रवणमनननिदिध्यासनानामिति। सर्वथाऽपि त्वध्यायद्वयस्यार्थोऽस्मिन्ब्राह्मण उपसंह्रियते।

इयं पृथिवी [१]प्रसिद्धा सर्वेषां भूतानां मधु सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां भूतानां प्राणिनां मधु कार्यं मध्विव मधु। यथैको मध्वपूपोऽनेकैर्मधुकरैर्निर्वर्तित एवमियं पृथिवी सर्वभूतै[३]र्निर्वर्तिता। तथा सर्वाणि भूतानि पृथिव्यै [४]पृथिव्या अस्या मधुकार्यम्। [५]किं च यश्चायं [६]पुरुषोऽस्यां [७]पृथिव्यां तेजोमयश्चिन्मात्रप्रकाश[८]मयोऽमृतमयो[९]ऽमरणधर्मा पुरुषो

श्रवणादिविध्यभ्युपगमात्कथं परकीयं प्रस्थानं प्रत्याख्यातमित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वथाऽपि त्विति। तद्विध्यभ्युपगमेऽपीति यावत्।

एवं सर्गांतं ब्राह्मणस्योक्त्वा तदक्षराणि व्याकरोति—इयमित्यादिना। यदुक्तं मध्विव मध्विति तद्विवृणोति—यथेति। न केवलमुक्तं मधुद्वयमेव किंतु मध्वन्तरं चास्तीत्याह—किं चेति। पुरुषशब्दस्य

औचित्य ही दिखाई नहीं देता। इसलिए (तीनों का विधि-अनपेक्ष होने से) श्रवण-मनन-निदिध्यासन के प्रकरणों का पृथक् विभाग करना वृथा है—ऐसा हमारा विचार है। सब प्रकार से ही इस अध्यायद्वय में इस ब्रह्म में प्रपञ्चमिथ्यात्वरूप अर्थ का उपसंहार किया जाता है।

"इयम्" अर्थात् प्रसिद्ध यह पृथिवी सभी भूतों का मधु है, "सर्वेषाम्" अर्थात् ब्रह्मादि से लेकर स्तम्ब-पर्यन्त सभी "भूतानाम्" अर्थात् प्राणियों का मधु यानी कार्य है। यह मधु के समान होने से मधु है। जिस प्रकार एक मधु का छत्ता अनेक भौंरों द्वारा तैयार किया हुआ होता है, उसी प्रकार इस पृथिवी की भी सब भूतों द्वारा (क्रियाफल के उपभोगार्थ) सृष्टि की गई है। तथा समस्त जन्तु इस "पृथिव्यै" यानी पृथिवी के "मधु" अर्थात् कार्य हैं। इसके अतिरिक्त इस अधिदैव पृथिवी में जो भी यह लिङ्ग-शरीररूप "तेजोमय" यानी चिन्मात्र प्रकाशमय तथा "अमृतमय" यानी स्थूलदेह के समान आशु

---

१ प्रपञ्चमिथ्यात्वरूप। २ इद शब्दार्थोऽयम्। ३ निर्वर्तितेति—"क्रियाफलोपभोगार्थं सर्वैरेव स्वकर्मभि। जन्तुभि. पृथिवी सृष्टा मधु तथा ततो मही" ॥वा० १८॥ ४ पृथिव्या भूतानि मधु इति। पृथिव्या हि स्वकर्मकभोगार्थं भूतानि सृष्टानि। भूताना पार्थिवत्वात्तत्सृष्टत्वमिति ध्येयम्। ५ कि चेति—पृथिव्या भूताना च स्थूलदेहरूप भाग कर्तृस्वकार्यत्वभोक्तृत्वभोग्यत्वरूपेण चतुर्धा विभज्य तस्मिन्नेव स्थूले पदार्थेष लिङ्गशरीर तस्य चतुर्धा विभागार्थमिद वाक्यमित्यर्थ। ६ लिङ्गशरीररूप.। ७ अधिदैवम्। ८. प्राचुर्ये मयट्। ९. स्थूलदेहवन्नाशुविनाशी।

शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो*ऽयमेव स
[1]योऽयमात्मे[2]दममृतमिदं ब्रह्मे दꣳ सर्वम् ॥ १ ॥

शारीर तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है, यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस वाक्य से बतलाया गया है)। यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यह सर्वरूप है (क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान होने पर वह तत्त्ववेत्ता सर्वरूप हो जाता है) ॥ १ ॥

यश्चायमध्यात्मं शारीरः शरीर भवः पूर्ववत्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। स च [4]लिङ्गाभिमानी। स च सर्वेषां भूतानामुपकारकत्वेन मधु। सर्वाणि च भूतान्यस्य[5] मधु। चशब्दसामर्थ्यात्।

क्षेत्रज्ञविषयत्वं वारयति—स चेति। तस्य पृथिवीवन्मधुत्वमाह—स च सर्वेषामिति। सर्वेषां च भूतानां तं प्रति मधुत्वं दर्शयति—सर्वाणि चेति। नन्वाद्यमेव मधुद्वयं श्रुतमश्रुतं तु मधुद्वयमशक्यं कल्पयितुं कल्प-

---

विनाशी धर्म से रहित पुरुष एव जो इस शरीर मे रहने वाला आत्मा को शरीर के आश्रित रखने वाला पूर्ववत् चिन्मात्रप्रकाशमय एव अमरणधर्मा पुरुष है, वह लिङ्गदेहरूप पृथिवी अंश का अभिमानी है। वह सर्व भूतो का उपकारक होने के कारण मधु है और समस्त जन्तु उस लिङ्गात्मा के मधु है। "यश्चायमध्यात्मम्" मन्त्र मे 'च' शब्द के सामर्थ्य से यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार इन चारो मे एक मधु ही सर्व प्राणियो का कार्य है और सभी भूत इस पृथिवी आदि के कार्य हैं। इसलिये इस समस्त

---

१ योऽयमिति—योऽय पूर्वं मैत्रेय्या इद सर्वं यदयमात्मेति प्रतिज्ञात स एवात्मा अयमुक्तचतुर्विधमध्वात्मक· तदधिष्ठानात्मकः तेषा तद्विवर्तत्मा तदात्मकत्वात्) नान्य इत्यर्थं। २. इदममृतमिति। इदम् चतुष्टयकल्पना-धिष्ठानब्रह्मविषय विज्ञानम् अमृतम् अमृतत्वसाधनम्। इद ब्रह्मेति—इदमेवात्मतत्त्वमुक्तचतुष्टयकल्पनाधिष्ठान ब्रह्म ते ब्रवाणीत्यध्यायादौ प्रकृत ब्रह्म। इद सर्वमिति—इदमेवात्मज्ञान सर्वं सर्वभावापत्तिसाधनमित्यर्थ। ३. आत्मान शरीरगाश्रित्य वर्तमान। ४ लिङ्गदेहरूप पृथिव्यशस्याभिमानीति यावत्। अभिमानस्य चेतनधर्मत्वेऽपि तस्य तत्प्रायत्वात् स इति ध्येयम्। ५ लिङ्गात्मन।

---

*अयमेव स योऽयमात्मेति अस्या श्रुतेरुद्धाप्यार्थमाहुर्वार्तिकाचार्या —"कार्यकारणरूपेण भोज्यभोक्तृतयोदितम्। चतुष्टय पृथिव्यादि तस्य तत्त्वमथोच्यत ॥ चतुष्टयविभागेन स्वार्थोऽप्यात्मा विभज्यते। अविभागोऽपि तादर्थ्या-द्वोक्ताऽत्र. सोऽत्र गृह्यत ॥ प्रत्यक्तया य प्रथते चतुष्टयविलक्षण। प्रात्यक्ष्यात्सोऽयमित्येव प्रत्यक्माक्ष्यभिधीयत ॥ पृथिव्यादिषु य पूर्वं व्याख्यातोऽन्तरबाह्यत। आत्मैव स इति ज्ञेयस्तदबोधप्रसूतित ॥ अयमित्यस्य शेष स्याद्योऽयमित्यादिव पर. । अयमेव स इत्युक्त्या सामानाधिकरण्यत। प्रत्यङ्मात्रैकयाथात्म्य चतुर्धोक्तस्य बोध्यते ॥ तत्त्व चतुष्टयस्यास्य प्रत्यगात्मैव केवल। अव्यावृत्राननुगतध्वस्ताविद्या-एवेत्यवधृतावतत्ससर्गप्रतिषेधकृत् ॥ कार्येति ॥ तदुद्भव:" ॥२१-२७॥ इति। अध्यात्मादिविभागोक्तचतुष्टयमनूद्यायमित्यादिवाक्यतात्पर्यमाह—कार्येति ॥ कथमात्मा चतुष्टयस्य स्वरूपमात्मन स्वार्थत्वादविभागत्वाच्च तद्वैलक्षण्यादित्याशङ्क्याऽऽह—चतुष्टयेति। आत्मन स्वाविद्यया चतुष्टयात्मनाऽवस्थानाद्विभागसिद्धिरित्यर्थ। आत्माविद्याविवर्तत्वेनाऽऽत्मार्थत्वाच्चतुष्टयस्यात्र चतुष्टये स भोक्ताऽऽत्मा तत्त्व गृह्यत इति फलितमाह—तादर्थ्यादिति ॥ अयशब्दार्थमाह—प्रत्यक्तयेति। य· सशब्दार्थाच्चतुष्टयाद्विलक्षण सन्प्रत्यग्भावेन भाति स साक्षी प्रत्यगात्मा प्रात्यक्ष्यादयमित्येवमुच्यत इति सबन्ध ॥ सामानाधिकरण्यार्थमाह—अयमेवेति। चतुर्धेति भोक्तृभोग्यकर्तृ कार्यत्वेनाध्यात्माधिदैवयो प्रत्येकमाधाराधेयत्वेन

एवमेतच्चतुष्टयं तावदेकं 'सर्वभूतकार्यं सर्वाणि च भूतान्यस्य कार्यम्। 'अतोऽस्यैककारणपूर्वकता'। यस्मादेकस्मात्कारणादेतज्जातं तदेवैकं परमार्थतो ब्रह्मेतरत्कार्यं वाचारम्भणं विकारो नामधेयमात्रमित्येष मधुपर्यायाणां सर्वेषामर्थः संक्षेपतः। अयमेव स योऽयं प्रतिज्ञात 'इदं सर्वं यदयमात्मेति। इदममृतं यन्मैत्रेय्या' अमृतत्वसाधनमुक्तमात्मविज्ञानमिदं तदमृतम्। इदं ब्रह्म यद्ब्रह्म ते ब्रवाणि ज्ञपयिष्यामीत्यध्यायादौ प्रकृतं यद्विषया च विद्या

काभावादत आह—चशब्देति। प्रथमपर्यायार्थमुपसंहरति—एवमिति। पृथिवी सर्वाणि 'भूतानि 'पार्थिवः पुरुषः शारीरश्चेति चतुष्टयमेकं मध्विति शेषः। मधुशब्दार्थमाह—सर्वेति। अस्येति पृथिव्यादेरिति यावत्। 'परस्परमुपकार्योपकारकभावे फलितमाह—अत इति। अस्येति सर्वं जगदुच्यते। 'उक्तं च यस्मात्परस्परोपकार्योपकारकभूतमित्यादि। भवत्वनेन "न्यायेन मधुपर्यायेषु सर्वेषु "कारणोपदेशो ब्रह्मोपदेशस्तु कथमित्याशङ्क्याऽऽह—यस्मादिति। स "प्रकृत आत्मैवायं "चतुर्थोक्तो भेद इति योजना। इदमिति चतुष्टयकल्पनाधिष्ठानविषयं ज्ञानं परामृशति। इदं ब्रह्मेत्यत्र चतुष्टयाधिष्ठानमिदंशब्दार्थः। "तृतीये च तस्य प्रकृतत्वं दर्शयति—यद्विषयेति। इदं सर्वमित्यत्र ब्रह्मज्ञानमिदमित्युक्तम्। सर्वं सर्वात्मि-

---

जगत् की एककारणपूर्वकता है (उसका स्वप्न दृष्टान्त से अनुसधान करना चाहिये)। जिस एक कारण से यह जगत् उत्पन्न हुआ, वही एक तत्त्व परमार्थत. ब्रह्म है। उससे भिन्न कार्य "विकार तो केवल वाणी का विकार नाम मात्र ही है" इस प्रकार मधु के पर्यायो से यह अर्थ संक्षेपतः किया गया है। "यह जो कुछ है, सभी आत्मा ही है" इस प्रकार जो यह प्रतिज्ञा की गई थी, यह वही है। "इदममृतम्' अर्थात् मैत्रेयी को जिस अमृतत्व-विज्ञान का साधन उपदेश किया गया था, वह यह आत्मविज्ञान अमृत है। यह ब्रह्म है। "मैं तुझे ब्रह्म का उपदेश करूँगा", "ब्रह्मज्ञान कराऊँगा" इस प्रकार जिस ब्रह्म का अध्याय के आरम्भ मे उपक्रम किया है, उस ब्रह्मविषयिका विद्या को ब्रह्मविद्या कहा जाता है। यह ब्रह्मविद्या ही सब कुछ है क्योकि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होने से सब कुछ आत्मा है, ऐसा ज्ञान हो जाता है ॥१॥

---

१. सर्वप्राणिकार्यम्। कार्यत्वमेव मधुत्वमिति भावः। २. सर्वस्य जगत. परस्परमुपकार्योपकारकत्वात्। ३ स्वप्नोऽत्र दृष्टान्तोऽनुसधेय.। ४ बृ. उ. २-४-६। ५. चतुर्थ्यन्तमिदम्। ६. वपूषि। ७. पार्थिवाधेयलिङ्गात्मा। ८. परस्पर कार्यकारणत्वमेवोपकार्योपकारकत्वम्। ९. बृ. उ. ६२६पृष्ठभाष्ये। १० पुरुषा। ११. एककारणकत्वसाधनेन कारणोपदेशः। १२ मैत्रेयीब्राह्मणे द्रष्टव्यत्वादिना प्रकृतः। १३. एतच्चतुष्टयाधिष्ठानमिति यावत्। १४. उपनिषदि प्रथमाध्याय।

येत्यर्थ.॥ सशब्दार्थं वदन्वाक्यार्थं प्रपञ्चयति—पृथिव्यादिष्विति। अन्तरमाधेयादि बाह्यमाधारादि। चतुष्टयस्याऽऽत्ममात्रत्वे हेतुमाह—तदवोधतीति॥ योऽयमात्मेतिशेषस्यायशब्देन पुनरुक्तिमाशङ्क्याऽऽह—अयमित्यस्येति। अयमित्युक्त आकाङ्क्षा स्यात्तन्निवृत्त्यर्थं विशेषण योऽयमित्यादि। सामानाधिकरण्यस्य नीलोत्पलवदखण्डार्थत्व विना संसर्गमात्रविषयत्वेनोपपत्तेर्नं चतुष्टयस्य प्रत्यङ्मात्रतेत्याशङ्क्याऽऽह—एवेतीति॥ कथमवधारण चतुष्टयस्याऽऽत्मनि संसर्गनिषेधक, संसर्गपक्षेऽप्ययोगव्यवच्छेदित्वेनोपपत्तेस्तत्राऽऽह—तत्त्वमिति। केवलशब्दार्थं स्फुटयति—अव्यावृत्तेति। अयोगव्यवच्छेदे तु चतुष्टयस्याऽऽत्मनो व्यावृत्ततया निरूपणस्य संसर्गानुपपत्तिरिति भाव.॥

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपाᳫँ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मᳫँ रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदᳫँ सर्वम् ॥ २ ॥

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृत-

ऐसे ही ये जल समस्त भूतों के मधु हैं और समस्त भूत इन जलो के मधु हैं। इन जलों में जो चिन्मय अमरणधर्मा पुरुष है तथा यह जो अध्यात्म रैतस तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस प्रतिज्ञावाक्य से बतलाया है), यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यह सर्वरूप है ॥ २ ॥

यह अग्नि समस्त भूतों का मधु है और गमस्त भूत इस अग्नि के मधु हैं। इस अग्नि मे जो

ब्रह्मविद्येत्युच्यते[1] इदं सर्वं यस्माद्ब्रह्मणो विज्ञानात्[2]सर्वं भवति ॥ १ ॥

तथाऽऽपः। [3]अध्यात्मं रेतस्यपां विशेषतोऽवस्थानम् ॥ २ ॥

तथाऽग्निः। वाच्यग्नेर्विशेषतोऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

साधनमिति यावत्। तदेव स्पष्टयति—यस्मादिति ॥१॥

यथा पृथिवी मधुत्वेन व्याख्याता तथाऽऽपोऽपि व्याख्येया इत्याह—तथेति। रैतम इति विशेषणस्यार्थमाह—अध्यात्ममिति। 'आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्' इति हि श्रुत्यन्तरम् ॥२॥

पृथिव्यामप्सु चोक्तं न्यायमग्नावतिदिशति—तथेति। वाङ्मय इत्यस्यार्थमाह—वाचीति।

इसी प्रकार जल मधु हैं। ('आपो रेतो भूत्वा' यानी जल ही रेतस् होकर—इत्यादि श्रुति से) अध्यात्म रेतस् मे जल का विशेषरूप से अवस्थान होने से रेतस् ही जल के मध्य अध्यात्मरूप है (इसलिए अध्यात्म पुरुष का रेतस् यह विशेषण कहना ठीक ही है) ॥२॥

उसी प्रकार अग्नि है। ('अग्नि होकर मुख मे उस पुरुष ने प्रवेश किया' इस वाक्य से) वाणी में अग्नि का आवास है ॥३॥

---

१. बृ० उ. १.४.६-१०। २. सर्वं भवतीति। आधिदैवाध्यात्मयोः स्थूलद्वयं सूक्ष्मद्वयं चेति चतुष्टयं सर्वविशेषाभावोपलक्षितात्ममात्रमिति द्रष्टव्यमित्युपसंहारोऽत्रानुसंधेयः। तथा च वार्तिके—"पृथिवी पार्थिवं घोरं शरीरं साधिदैवतम्। जानीयात्सर्वमात्मेति नेति नेत्युपलक्षणमिति" ॥ ३. अध्यात्मं रेतसीति—आपो रेतो भूत्वेति श्रुतेरध्यात्मं रेतसि जलानां विशेषतोऽवस्थानाद्रेत एवापामध्यात्मं रूपमतोऽध्यात्मपुरुषस्य रैतस इति विशेषणं युक्तमिति भावः। एवमग्रेऽपि बोध्यम्।

मयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजो-
मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेद-
ममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ३ ॥
अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः
सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्वायौ तेजो-
मयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्ते-
जोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमा-
त्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥४ ॥

तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है और जो यह अध्यात्म वाङ्मय तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यही वह है। जो कि 'यह आत्मा है" (इस प्रतिज्ञावाक्य से कहा गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यही सर्वरूप है ॥३॥

इसी प्रकार यह वायु समस्त भूतो का मधु है और समस्त भूत इस वायु के मधु हैं। इस वायु मे जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है तथा जो यह अध्यात्म प्राणरूप तेजामय अमरणधर्मा पुरुष है, यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस प्रतिज्ञावाक्य स कहा गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यही सर्वरूप है ॥४॥

तथा वायु । अध्यात्म प्राणो[1] भूताना[2] शरीरारम्भकत्वेनोपकारान्मधुत्वं तदन्तर्गताना तेजोमयादीना[3] करणत्वेनोपकारान्मधुत्वम् । तथा चोक्तं "तस्यै[4] वाचः पृथिवी शरीरं

अग्निर्वाग्भूत्वा मुख प्राविशदिति हि श्रूयते ॥३॥

अग्नावुक्त न्याय वायौ योजयति—तथेति । 'वायु प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद्' इति श्रुत्यन्तरमाश्रित्याऽऽह—अध्यात्ममिति । पृथिव्यादीना तदन्तर्वर्तिनां च पुरुषाणामेकवाक्योपात्तानामेकरूप मधुत्वमिति शङ्का परिहरन्नवान्तरविभागमाह—भूतानामिति । पृथिव्यादीना कार्यत्वं तेजोमयादीनां करणत्वमित्यत्र सप्रमाणाधिकारसमतिमाह—तथा चोक्तमिति ॥४॥

इसी प्रकार वायु मधु है। अध्यात्म मधु ही (वायुवृत्ति से सहकृत घ्राणेद्रिय यहाँ) प्राण है। (पृथिवी आदि) भूतो का शरीराम्भकसामर्थ्य तथा उनका उपकारक होने के कारण यह मधु है। उसके अन्तगत तेजोमयादि पुरुषों का करणत्व रूप से उपकारक होने के कारण मधुत्व है। इसी से (बृहदारण्यक के प्रथम अध्याय मे) कहा गया है कि "(प्रजापति के अन्नरूप से प्रस्तुत हुए) उस वाक् का

---

१ वायुवृत्तिसहकृत घ्राणेन्द्रियमत्र प्राण । २ पृथिव्यादीनाम् । ३ पुरुषाणाम् । ४ तस्यै वाच इति—तस्यैतस्या प्रजापतेरन्नत्वेन प्रस्तुताया आधिदैविक्या वाच । पृथिवी शरीरम् आधार', ज्योतीरूप प्रकाशात्मक करणभूतमाधेयरूपम् । अय पार्थिवोऽग्निरित्यर्थः । ५ घ्राणम् ।

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽदित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ५ ॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशाꣳ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ श्रौत्रः

यह आदित्य समस्त भूतो का मधु है और समस्त भूत इस आदित्य के मधु हैं। यह जो इस आदित्य मे चिन्मय प्रकाशस्वरूप अमरणधर्मा पुरुष है एव जो यह अध्यात्म चाक्षुप तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस वाक्य से बतलाया गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सर्वरूप है ॥५॥

तथा ये दिशाएँ समस्त भूतो की मधु हैं और समस्त भूत इन दिशाओ के मधु हैं। यह जो उन दिशाओ मे नेजोमय अमृतमय पुरुष हैं और जो यह अध्यात्म श्रौत्र पुरुष प्रातिश्रुत्क (प्रत्येक श्रवण वेला

ज्योतीरूपमयमग्निः"[1] इति ॥ ४ ॥

तथा ऽऽदित्यो मधु। चाक्षुषोऽध्यात्मम् ॥ ५ ॥

तथा दिशो मधु। दिशां यद्यपि श्रोत्रमध्यात्मं रूपं [2]शब्दप्रतिश्रवणवेलायां तु

यद्यप्यादित्यस्तृतीये 'भूतेऽन्तर्भवति तथाऽपि देवताभेदमाश्रित्याग्नावुक्तं न्यायं तस्मिन्नति-
दिशति—तथेति। 'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' इति श्रुतिमाश्रित्याऽऽह—चाक्षुष इति ॥५॥
आदित्यगतं न्यायं दिक्षु संपादयति—तथेति। 'दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्' इति 'श्रुतेः
श्रोत्रमेव दिशामध्यात्मं रूपं 'तथा चाध्यात्मं श्रोत्र 'इत्येव वक्तव्ये कथं प्रातिश्रुत्क इति विशेषण-
मित्याशङ्क्याऽऽह—दिशामिति। तथाऽपीत्यस्मिन्नर्थे तुशब्दः ॥ ६ ॥

पृथिवी बाह्य आधार और पृथिवी का आधेयस्वरूप यह पार्थिव अग्नि ज्योतिरूप प्रकाशात्मक करण है" ॥४॥

इसी प्रकार आदित्य मधु है। ("आदित्य ही चक्षु होकर नेत्रगोलको मे प्रविष्ट हुआ" इस श्रुतिवाक्य से) चाक्षुप पुरुष ही अध्यात्म मधु है ॥५॥

इसी प्रकार दिशाएँ मधु हैं। यद्यपि श्रोत्र दिशाओ का अध्यात्मरूप है, तव भी प्रत्युत्तर श्रवण

---

१. बृ. उ. १. ५. ११ । २. प्रत्युत्तरश्रवणवेलायाम् । ३. तजसि । ४. श्रुतरिति—अध्यात्मश्रोत्रं दिशा
विशेषतोऽवस्थानादिति शेष । ५ तथा चेति—श्रोत्रस्यैव दिशामध्यात्मरूपत्वे चेत्यर्थः । ६ इत्यव—
तथा श्रोत्र इत्येतावन्मात्रे विशेषणे वक्तव्ये ।

तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ हृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १० ॥

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य

इस आकाश में चिन्मात्र प्रकाशमय अमरणधर्मा पुरुष है, एवं जो यह अध्यात्म हृदयाकाशरूप तेजोमय अमृतमय पुरुष है; यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस प्रतिज्ञा वाक्य से बतलाया गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सब कुछ है ॥१०॥

यह धर्म समस्त भूतो का मधु है और समस्त भूत इस धर्म के मधु हैं (परोक्ष होते हुए भी

तथाऽऽकाशः। अध्यात्मं हृद्याकाशः ॥ १० ॥

आकाशान्ताः पृथिव्यादयो भूतगणा देवतागणाश्च कार्यकरणसंघातात्मान उपकुर्वन्तो मधु भवन्ति प्रति शरीरिणमित्युक्तम्। येन ते प्रयुक्ताः शरीरिभिः संबध्यमाना मधुत्वेनोपकुर्वन्ति तद्वक्तव्यमितीदमारभ्यते—

स्तनयित्नावुक्तं न्यायमाकाशेऽतिदिशति—तथेति ॥१०॥

पर्यायान्तरं वृत्तमनूद्योत्थापयति—आकाशान्ता इति। प्रति शरीरिणं सर्वेषां शरीरिणां प्रत्येक-

---

इसी प्रकार आकाश मधु है। अध्यात्म पुरुष का विशेषण हृदयाकाश है ॥१०॥

पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त कार्यकरणसघातरूप भूतगण और देवतागण उपकारक होने के कारण सभी प्राणियो के मधु होते हैं—ऐसा पहले ही कहा जा चुका है। अब जिस धर्म से प्रयुक्त हुए शरीरधारियों से सम्बद्ध होकर मधुरूप से उनका उपकार करते है, उस धर्म के स्वरूप का वर्णन करना है। इसके लिए अग्रिम ग्रन्थ का प्रारम्भ किया जाता है।

---

१. अय धर्म इति—अस्मिन्पर्याये बहवो धर्मशब्दा वर्तन्ते तत्र यश्चायमस्मिन्धर्म इत्यत्र साधारणः पृथिव्यादिकारी धर्मोऽभिधीयते। यश्चायमध्यात्म धार्म इत्यत्राऽऽत्मनो देहाद्यारम्भकः प्रत्यात्ममसाधारणो धर्म उच्यते। अयं धर्म इत्यत्र तु तदुभयात्मकमपूर्वमुच्यत इति विवेकः। किं तदुभयात्मकमपूर्वमित्याशङ्क्य समाहित वार्तिके—"प्राजापत्यमपूर्वं यत्सर्वभूतप्रयोजकम्। अध्यात्म पिण्डकृद्यच्च सोऽस्य धर्माभिधोदित." ॥४६॥ इति ॥ तस्य (धर्मस्य) साधारणाकार दर्शयति—यदिति। तस्यासाधारण रूपमाह— अध्यात्ममिति। प्राथमिकधर्मशब्दार्थं निगमयति—सोऽयमिति ॥ २. अध्यात्मपुरुषविशेषण हृद्याकाश इति। ३. पृथिवीलिङ्गशरीरलिङ्गरूपाः। ४ कार्यं भूतगणाः करण देवतागणाः। ५. इत्युक्तमिति। तथा च वार्तिके—"पृथिव्यादीनि भूतानि तदंशाश्च समीरिताः। हिरण्यगर्भलिङ्गांशास्तथा पूर्वोक्तमूर्तय." ॥४३॥ इति। भूतानि पञ्चोक्तानि तेषामंशाश्च शरीरादयः सूत्रांशाश्च भूतशरीराधारा:। भूतानि शरीराणि चाऽऽधाराः येषां ते तथा तेजोमयादिविशेषणकाः करणात्मानो लिङ्गशरीरभूता. भूतशरीरयोराधेयरूपा इति यावत्। तथा सूत्रांशा. भूतशरीराधारास्तथैव भूतानां शरीराणां च पूर्वोक्ताना मूर्तयः स्वरूपभूता अपीत्यर्थः। ६. धर्मेण। ७. धर्मस्वरूपम्।

सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजो-
-मयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्ते-
-जोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मे-
दममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ११ ॥

"अय धर्म" इस प्रकार धर्म को इसलिये कहा गया है क्योकि उसका कार्य सुखादि प्रत्यक्ष है) इस धर्म मे जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है एव जो यह अध्यात्म धर्मसम्बन्धी तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है; यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस वाक्य से बतलाया गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सर्वरूप है ॥११॥

अयं धर्मोऽयमित्यप्रत्यक्षोऽपि धर्मः कार्येण तत्प्रयुक्तेन प्रत्यक्षेण व्यपदिश्यतेऽयं धर्म इति प्रत्यक्षवत्। धर्मश्च व्याख्यातः 'श्रुतिस्मृतिलक्षणः क्षत्रादीनामपि नियन्ता जगतो वैचित्र्यकृत्पृथिव्यादीनां परिणामहेतुत्वात्प्राणिभिरनुष्ठीयमानरूपश्च। तेन चायं धर्म

मिति यावत्। धर्मस्य शास्त्रैकगम्यत्वेन परोक्षत्वादयमितिनिर्देशानर्हत्वमाशङ्कयाऽऽह—अयमितीति। यद्यपि धर्मोऽप्रत्यक्षोऽयमितिनिर्देशानर्हस्तथाऽपि 'पृथिव्यादिधर्मकार्यस्य प्रत्यक्षत्वात्तेन कारणस्याभेद-मौपचारिकमादाय प्रत्यक्षघटादिवदयं धर्म इतिव्यपदेशोपपत्तिरित्यर्थः। कोऽसौ धर्मो यस्य प्रत्यक्षत्वेन व्यपदेशस्तत्राऽऽह—धर्मश्चेति। व्याख्यात'स्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत' धर्ममित्यादाविति शेषः। 'तर्हि तस्य प्रत्यक्षत्वान्न 'चोदनालक्षणत्वमित्याशङ्कय 'गौणत्वमुख्यत्वाभ्यामविरोधमभिप्रेत्याऽऽह—श्रुतीति। "तत्रैवा"नुमानान्तरं विवक्षित्वोक्तम्—'तस्मिन्नेव कार्यलिङ्गकम'नुमानं सूचयति—क्षत्रादीनामिति। धर्मस्य प्रत्यक्षेण व्यपदेशे हेत्वन्तरमाह—जगत इति। जगद्वैचित्र्यकारित्वे हेतुमाह—पृथिव्यादीनामिति। धर्मस्य प्रत्यक्षेण व्यपदेशे हेत्वन्तरमाह— जगत इति। जगद्वैचित्र्यकारित्वे हेतुमाह—पृथिव्यादीनामिति। ननु "तृतीयेऽध्याये प्राणिभिरिति। तेनानुष्ठीयमानाचारेण प्रत्यक्षेण धर्मस्य "लक्ष्यमाणत्वेनेति यावत्।

उक्त श्रुतिमन्त्र मे "अय धर्म." पदो मे 'अय' पद प्रत्यक्ष न होते हुए भी तत्प्रयुक्त प्रत्यक्ष कार्य के द्वारा निरूपित होता हैं, इसी से यह धर्म मधु है। श्रुति-स्मृति प्रमाणक धर्म की व्याख्या तो की ही

---

१. श्रुतिस्मृतिप्रमाणक । २. अनुष्ठीयमानरूपश्चेति—रूप्यते निरूप्यते आरभ्यते कार्यमनेनेति रूपम् आचाराख्य कारण तद् अनुष्ठीयमानम् यस्येति विग्रह । ३ पृथिव्यादीति—पृथिव्यादिरूपस्य धर्मकार्यस्य । आदिना पिण्डग्रह । तथा चोक्तम्—"तस्य कार्यं द्विधेहोक्त सामान्यात्मविशेषत. । पृथिव्यादीह सामान्य विशेष. पिण्डमात्रकम्" ॥ वा० ४५ ॥ इहेति—शास्त्रे । इह—धर्मादौ ॥ ४ स्पष्ट ग्रह्य । ५ बृ० उ० १-४-१४ । ६. अयमिति निर्देशार्हत्वे । ७ वेदप्रमाणकत्वम् । ८ धर्मस्य प्रत्यक्षत्वं गौण शाब्दत्व च मुख्यम् । ६. धर्मे । १० अनुमानमिति—क्षत्रादीनां नियता प्रवृत्ति नियन्तृपूर्विका नियतप्रवृत्तित्वात् राजपुरुषादिप्रवृत्ति-वदित्याकारम् । ११. धर्मे । १२. अनुमानान्तरमिति—जगद्वैचित्र्य कारणवैचित्र्यप्रयुक्त वैचित्र्यत्वात् पटादिवैचित्र्यवदित्येवमाकारम् । १३ लक्ष्यमाणत्वेनेति—प्रतीयमानत्वेनेति यावत् । तथा चानुमानम् अनुष्ठीय-मानोऽप्रतिबद्ध आचार सफलः कारणत्वात् सम्प्रतिपन्नकारणवत् सति प्रतिबन्धे फलाजननादप्रतिबद्ध इति पक्ष-विशेषणम् । १४. बृ० उ० १-४-१४ ।

इदꣳ सत्यꣳ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ सात्यस्ते-

यह (अनुष्ठीयमान धर्म सत्यपद वाच्य) सत्य समस्त भूतो का मधु है और सम्पूर्ण भूत इस सत्य के मधु हैं। (धर्म के समान सत्य आचार भी दो प्रकार का है, वह सामान्यरूप से पृथिव्यादि से सम्बद्ध

इति प्रत्यक्षेण व्यपदेशः। सत्यधर्मयोश्चाभेदेन निर्देशः [1]कृतः [2]शास्त्राचारलक्षणयोरिह तु भेदेन व्यपदेश' एकत्वे सत्यपि। दृष्टादृष्टभेदरूपेण कार्यारम्भकत्वात्। यस्त्व[3]दृष्टोऽपूर्वाख्यो धर्मः स [4]सामान्यविशेषात्मनाऽदृष्टेन रूपेण कार्यमारभते सामान्यरूपेण पृथिव्यादीनां [5]प्रयोक्ता भवति विशेषरूपेण चाध्यात्मं कार्यकरणसंघातस्य। [6]तत्र पृथिव्यादीनां प्रयोक्तरि यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयस्तथाऽध्यात्म कार्यकरणसंघातकर्तरि धर्मे भवो धार्मः ॥ ११ ॥

यो वै स धर्मः सत्य वै तदिति सत्यधर्मयोरभेदवचनात्तयोर्भेदेनात्र पर्यायद्वयोपादानमनुपपन्नमत आह—सत्येति। कथमेकत्वे सति भेदेनोक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—दृष्टेति। अदृष्टेन रूपेण कार्यारम्भकत्वं प्रकटयति—यस्त्विति। सामान्यात्मनाऽऽरम्भकत्वमुदाहरति—सामान्यरूपेणेति। विशेषात्मना कार्यारम्भकत्व व्यनक्ति—विशेषेति। धर्मस्य [7]द्वौ भेदावुक्तौ तयोर्मध्ये [8]प्रथममधिकृत्य यश्चेत्यादि वाक्यमित्याह—तत्रेति। [9]द्वितीयं विषयीकृत्य यश्चायमध्यात्ममित्यादि प्रवृत्तमित्याह—तथेति ॥११॥

जा चुकी है। यह क्षत्रियादि जाति का नियन्ता है, पृथिवी आदि भूतो के परिणाम का हेतु होने से जगत् की विचित्रता करने वाला है और प्राणियो द्वारा आचाराख्य कारण जिसका अनुष्ठीयमान रूप है, इसी से यह धर्म (समस्त भूतो का मधु) है, यह प्रत्यक्ष व्यपदेश है। (प्रथम अध्याय मे) शास्त्र और आचार प्रमाणकद्वय स्वरूप सत्य और धर्म का अभेदरूप से निर्देश किया गया है, किन्तु एकत्वरूप होने पर भी यहाँ भेदरूप से प्रतिपादन किया गया है क्योकि दृष्ट और अदृष्टरूप से वह कार्य का आरम्भक है। उनमे जो अपूर्वसंज्ञक परोक्ष धर्म है, वह अपने समष्टि और व्यष्टिरूप से परोक्षतया कार्य आरम्भ करता है। वह समष्टिरूप से पृथिवी आदि का कर्ता होता है, एव व्यष्टिरूप से कार्यकरणसंघात अध्यात्म का कर्ता होता है। (समष्टिव्यष्टिरूप) सामान्य और विशेष के मध्य मे पृथिवी आदि प्रेरक के लिए "यह जो इस सत्य मे तेजोमय अमृतमय पुरुष है" यह श्रुतिवाक्य है, एव कार्यकरणसघात के कर्ता के लिए "यह जो अध्यात्म सत्य सम्बन्धी तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है; यही वह है" इत्यादि श्रुतिवाक्य है। जो धर्म मे रहता है, उसे "धार्म" कहते हैं ॥११॥

---

१. प्रथमाध्याये। २. एतद्द्वयप्रमाणकयो। ३ दृष्टः। ४ परोक्ष। ५. समष्टिव्यष्टिरूपेण। ६. कर्ता। ७ सामान्यविशेषयोर्मध्ये। ८. पुनरुक्तमित्यर्थ। ९. सामान्यविशेषणात्मानो। १०. सामान्यम्। ११. विशेषात्मानम्।

जोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मे-
दममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १२ ॥

है और विशेषरूप से देहादि संघात से सम्बन्ध रखता है) यह जो इस सत्य में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, जो यह अध्यात्म सत्यसम्बन्धी तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है; यही वह है । जो कि "यह आत्मा है" (इस वाक्य से कहा गया है) यह अमर है, यह ब्रह्म है और यही सत्य है ॥१२॥

[1]तथा दृष्टेनानुष्ठीयमानेनाऽऽचाररूपेण सत्याख्यो भवति स एव धर्मः [2]सोऽपि द्विप्रकार एव सामान्यविशेषात्मरूपेण । सामान्यरूपः [3]पृथिव्यादिसमवेतो विशेषरूपः कार्यकरणसंघातसमवेतः । [4]तत्र पृथिव्यादिसमवेते [5]वर्तमानक्रियारूपे सत्ये तथाऽध्यात्मं कार्यकरणसंघातसमवेते सत्ये भवः सात्यः । [6]सत्येन वायुरावातीति श्रुत्यन्तरात् ॥ १२ ॥

इदं सत्यमित्यस्मिन्पर्याये सत्यशब्दार्थमाह—तथा दृष्टेनेति । सोऽपीत्यपिशब्दो धर्मोदाहरणार्थः । द्वयोरपि प्रकारयोर्विनियोगं विभजते—सामान्यरूप इति । उभयत्र समवेतशब्दस्तत्र तत्र कारणत्वेनानुगत्यर्थः । यश्चायमस्मिन्नित्यादिवाक्यस्य विषयमाह—तत्रेति । सत्ये, यश्चेत्यादि वाक्यमिति शेषः । यश्चायमध्यात्ममित्यादिवाक्यस्य विषयमाह—तथाऽध्यात्ममिति । सत्यस्य पृथिव्यादौ कार्यकरणसंघाते च कारणत्वे प्रमाणमाह—सत्येनेति ॥१२॥

इसी प्रकार वही धर्म परोक्षरूप से अनुष्ठीयमान आचाररूप से सत्य सज्ञा वाला होता है । वह सत्यशब्दवाच्य धर्म होने पर भी समष्टि और व्यष्टिरूप से दो प्रकार का ही है । सामान्य (समष्टि) रूप से पृथिवी आदि मे कारणस्वरूप से अनुगत है, विशेष (व्यष्टि) रूप से कार्यकरणसघात से अनुगत है । वहाँ पृथिवी आदि मे अनुगत अनुष्ठीयमान आचाररूप सत्य तथा अध्यात्म या कार्यकरणसघात मे अनुगत सत्य, इन दोनों मे (वह आत्मा) है । सत्य मे जो होता है, इसलिए 'सात्य' नाम पड़ा । इसी को अन्य श्रुति मे "सत्य से वायु चलता है" इस वाक्य से प्रतिपादित किया गया है ॥ १२ ॥

"नथैवाऽऽचाररूपेण प्रत्यक्षेण यदीक्ष्यते । स एव धर्म सत्य स्याद्द्वय-
१. तथा दृष्टेनेति । तथा च वार्तिके—"नथैवाऽऽचाररूपेण प्रत्यक्षेण यदीक्ष्यते । स एव धर्म सत्य स्याद्द्वय-वस्थाप्रयोजकम्" ॥५०॥ इति । यथा हैरण्यगर्भमपूर्वं जगदारम्भक तथा तदेव प्रत्यक्षदृष्टेनानुष्ठीयमानाचारेण सत्यमित्युच्यते लोके हि वर्णाश्रमव्यवस्थापक सत्यमिति प्रसिद्धमित्ययं । यत्प्रतीयते स एवाऽपूर्वशब्दार्थो धर्म सत्यमित्युच्यते लोके हि वर्णाश्रमव्यवस्थापक सत्यमिति प्रसिद्धमित्ययं । यत्प्रतीयते स एवाऽपूर्वशब्दार्थो धर्म अत्र सत्यमित्युच्यत इति तथा चैकमेव प्राजापत्यमपूर्वमपरोक्षत्वेन कारणत्वेन अनुष्ठीयमानत्वेन वा रूपेण सत्यशब्देनाभिलप्यते तद्विपरीतरूपेण च धर्मशब्देनाभिधीयत इत्यवच्छेदकभेदेन सत्यधर्मयोर्भेदात्तेनात्र पर्याय-द्वयोपादानमनुपपन्नमिति भाव. । चतुर्थपादार्थमाह—लोके हीति । २. अत्रापि पर्याये बहवः सत्यशब्दान्ने-सामर्थ्यं भेत्तु तद्द्वैविध्यमाह—सोऽपीति । तदुक्त वार्तिके—"साधारणविशेषाभ्यां धर्मवत्तदपि द्विधा । साधारण-विशेषार्थव्यवस्थाकारणत्वत" ॥ ५१ ॥ द्वैविध्ये हेतुमाह—साधारणविशेषार्थेति । यश्चायमस्मिन्सत्य इत्यत्र सामान्यरूप यश्चायमध्यात्म सात्य इत्यत्र विशेषरूपमिद सत्यमित्यत्र मिलितं ग्राह्यमिति भेद ॥ ३. सत्यशब्द-वाच्यो धर्मोऽपि । ४. पृथिव्यादौ कारणत्वेनानुगत । ५. द्वयोर्मध्ये । ६ अनुष्ठीयमानाचाररूपे । ७. बृहदारण्यकोपनिषदि ५.७६ । ८. कारणत्वेन सबन्धम् । ९. पृथिव्यादौ सघाते च ।

इदं मानुषꣳ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १३ ॥

यह मनुष्यादि जाति सभी भूतो का मधु है और समस्त भूत इस मनुष्यादि जाति के मधु हैं। यह जो मनुष्य जाति मे तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है और यह अध्यात्म मनुष्यादि सम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस श्रुतिवाक्य से कहा गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सर्वरूप है ॥१३॥

[1]धर्मसत्याभ्या [2]प्रयुक्तोऽयं कार्यकरणसघातविशेषः। स येन जातिविशेषेण संयुक्तो भवति स जातिविशेषो मानुषादिः। तत्र मानुषादिजातिविशिष्टा एव सर्वे प्राणि[3]निकायाः परस्परोपकार्योपकारकभावेन वर्तमाना दृश्यन्ते। अतो मानुषादिजातिरपि सर्वेषां भूतानां मधु। तत्र मानुषादिजातिरपि बाह्याऽऽध्यात्मिकी चेत्युभयथा निर्देशभाग्भवति ॥१३॥

इद मानुषमित्यत्र मानुषग्रहण सर्वजात्युपलक्षणमित्यभिप्रेत्याऽऽह—धर्मसत्याभ्यामिति। कथं पुनरेषा जाति॰ सर्वेषां भूतानां मधु भवति। तत्राऽऽह—तत्रेति। भोगभूमि सप्तम्यर्थः। यश्चायमस्मिन्नित्यादिवाक्यद्वयस्य विषयभेद दर्शयति—तत्रेति। व्यवहारभमाविति यावत्। धर्मादिवदित्यपेरर्थः। [4]निर्देष्टु स्वशरीरनिष्ठा जातिराध्यात्मिकी शरीरान्तराश्रिता तु बाह्येति तु भेद। वस्तुतस्तु [5]तत्र नोभयथात्वमित्यभिप्रेत्य निर्देशभागित्युक्तम् ॥१३॥

यह कार्यकरणसघातविशेष अपूर्वरूप धर्म और आचाररूप सत्य द्वारा प्रेरित है। यह जिस जातिविशेष से सयुक्त होता है, वह जातिविशेष मनुष्यादि है। वहाँ सम्पूर्ण प्राणीसमूह मनुष्यादि जातिविशिष्ट हो कर ही परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव से विद्यमान देखे जाते हैं। इसलिये मनुष्यजाति भी समस्त भूतो का मधु है। वह मनुष्यजाति भी बाह्य और आध्यात्मिक भेद से दो प्रकार की निर्देश वाली होती है। ॥ १३ ॥

१ अपूर्वाचाराभ्याम्। २ प्रयुक्त इति—धर्मादिप्रयुक्त सूत्रविराट्छब्दितम्। शरीरद्वय यज्जातिविशिष्ट सवव्यवहारक्षम सा सर्वा जातिर्मानुषशब्दितेत्याह—स येनेति। तदुक्त वार्तिके—"सत्यधर्मप्रयुक्तोऽय लिङ्गपिण्डस्वलक्षण। विराड्ढिरण्यगर्भश्च सर्वजातिसमन्वित" ॥५२॥ इति। स्वलक्षणम् स्वरूपम्॥ इद मानुषमिति विशेषणान्न सवजातिसमन्वितमित्याशङ्क्य समाहित वार्तिके—"मनुष्यजातेग्रहण सर्वजात्युपलक्षणम्। इद मानुषमित्येष व्याख्या तस्यास्तु पूर्ववत्" ॥५३॥ इति। इद मानुषमित्यत्र मनुष्यजातेग्रहणमिति सबन्ध। साऽपि बाह्याध्यात्मिकभेदेन द्विधा निर्दिश्यते धर्मादिवत्तनेद मानुषमिति मिलितसवजातेर्यश्चायमस्मिन्निति बाह्यभेदस्य यश्चायमध्यात्ममित्याध्यात्मिकभेदस्योक्तिरित्याह—व्याख्येति॥ ३ समूहा। ४ अहममुकजातिरित्येव निर्देष्टु पुस। ५ जातौ।

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽत्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद७ सर्वम् ॥ १४ ॥

यह देह समस्त भूतो का कार्य होने से मधु है और समस्त भूत इस देह के मधु हैं। यह जो इस देह मे तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है एव जो यह आत्मा तेजोमय अमृतमय,पुरुष है; यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस प्रतिज्ञावाक्य से कहा गया है) यह अविनाशी है, यह ब्रह्म है और यही सर्वरूप है ॥१४॥

यस्तु [1]कार्यकरणसंघातो मानुषादिजातिविशिष्टः सोऽयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु। नन्वयं[2] शारीरशब्देन निर्दिष्टः पृथिवीपर्याय एव। न। [3]पार्थिवांशस्यैव तत्र ग्रहणात्। [4]इह तु [5]सर्वात्मा [6]प्रत्यस्तमिताध्यात्माधिभूतादिसर्वविशेषः [7]सर्वभूतदेवतागणविशिष्टः कार्य-

---

अन्तिम पर्यायमवतारयति—यस्त्विति। आत्मन [8]शारीरेण गतत्वात्पुनरुक्तिरनुपपुत्तेति शङ्कते—नन्विति। [9]अवयवावयविविषयत्वेन पर्यायद्वयमपुनरुक्तमिति परिहरति—नेत्यादिना। परमात्मानं व्यावर्तयति—सर्वभूतेति। [10]चेतन व्यवच्छिनत्ति—कार्येति। यश्चायमस्मिन्नित्यादिवाक्यस्य

जो भी (समष्टि स्थूलसूक्ष्म समुदाय विराड्हिरण्यगर्भ उपाधिरूप) देहेन्द्रियसघात मानुषादि-जातिविशिष्ट है, वह यह आत्मा समस्त भूतो का मधु है। (पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) किन्तु यह उक्त आत्मशब्दार्थ शारीरशब्द से बतलाया हुआ पृथिवी का पर्याय ही है। (आक्षेप का परिहार किया जाता है—) ऐसा कहना ठीक नही है क्योंकि वहाँ पृथिवी के अंशाभिमानी लिङ्गात्मा का ही ग्रहण है। इस पर्याय मे जो सर्वात्मा है, जिसमे अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवादि सब प्रकार के विशेष को निरस्त कर दिया है, जो कार्यकरणसमुदायात्मक समष्टि समस्त भूत और देवगण से विशिष्ट है,

---

१ समष्टिस्थूलसूक्ष्मसमुदायो विराड्हिरण्यगर्भोपाधि। २ उक्त आत्मशब्दार्थ। ३ पृथिव्यंशाभिमानि-लिङ्गात्मन। ४ पर्याये। ५ सर्वात्मेति। वार्तिके यथा—"पृथिवी शारीर इत्यत्र सन्दृशो य पुरोदित। विराड्ढिरण्यगर्भश्चेत्ययमात्मेति तद्वच॥ हिरण्यगर्भभेदानां भूतानां च पृथक्पृथक्। उक्त मधुत्व येनातस्तत्सामस्त्यमथोच्यते" ॥५४-५५॥ इय पृथिवीत्यारभ्य मानुषपर्यायपर्यन्तेन सदर्भेण विराट्सूत्रमित्युच्यमानावयविन पृथिवी शारीर इत्यनेन क्रमेणावयवशो विभाग उक्तस्तद्गताऽवयविनो निर्देशोऽयमात्मेत्यादिना क्रियत इत्यर्थ॥ ६ निरस्तेति भाव। ७ कार्यकरणसमुदायात्मा समष्टि॥ ८ आद्ये पर्याये शारीरशब्देनैवास्यात्मन उक्तत्वात्। ९ पूर्वोक्तो हि व्यष्टितयाऽवयव समष्टितया चायमवयवी। १० जीवम्।

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानाᳩ राजा *तद्यथा रथनाभौ च

वह यह विज्ञानमय आत्मा सम्पूर्ण भूतों का अधिपति एवं सम्पूर्ण भूतों का राजा है। इसमें दृष्टान्त यह है—जैसे रथ की नाभि और रथ की नेमि में सभी अरे लगे रहते है, ऐसे ही इस सर्वात्मा में

करणसंघातः सोऽयमात्मेत्युच्यते। तस्मिन्नस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽमूर्तरसः सर्वात्मको निर्दिश्यते। एकदेशेन तु पृथिव्यादिषु निर्दिष्टोऽत्राध्यात्मविशेषाभावात्स न निर्दिश्यते। यस्तु परिशिष्टो विज्ञानमयो यदर्थोऽयं देहलिङ्गसंघात आत्मा स यश्चायमात्मेत्युच्यते ॥ १४॥

यस्मिन्नात्मनि परिशिष्टो विज्ञानमयोऽन्त्ये पर्याये प्रवेशितः सोऽयमात्मा। तस्मि-

विषयमाह—तस्मिन्निति। यश्चायमध्यात्ममिति किमिति नोक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—एकदेशेनेति। अत्रेत्यन्त्यपर्यायोक्तिः। यश्चायमात्मेत्यस्यार्थमाह—यस्त्विति ॥१४॥

स वा अयमात्मेत्यस्यार्थमाह—यस्मिन्निति। परिशिष्टः पूर्वपर्यायेष्वनुपदिष्टोऽन्त्ये च पर्याये

वही यहाँ "यह आत्मा है" ऐसा कहा गया है। उस इस विराड् आत्मा को तेजोमय, अमृतमय पुरुष अमूर्त सूत्रात्मा, सर्वात्मक बतलाया गया है। अवयवरूप एकदेश से पृथिवी आदि पर्यायों में निर्देश किया गया है। किन्तु यहाँ कोई अध्यात्मविशेष न होने के कारण अध्यात्मविशेष का निर्देश नहीं किया गया है। एवं जो पूर्वपर्यायों में अनुपदिष्ट बुद्धिप्रधान जीवात्मा ही शेष रह जाता है, जिसके

१. अन्त्यपर्यायोक्तात्मनः स्वरूपमाह—स वा इति। वार्तिके हि—"अपूर्वानपरामध्यप्रत्यग्याथात्म्यवित्तये। स वा इत्यादिको ग्रन्थः सदृष्टान्तोऽभिधीयते" ॥६२॥ इति। २. सोऽयमिति। वार्तिके यथा—"अयमात्मेति निर्देशो विराजः प्रथमो मतः। सप्तम्यन्तेन तत्प्रत्यङ्लिङ्गात्माऽतो विधीयते" ॥५६॥ इति। विराजः सूत्रस्य च यन्मिलितं रूपं तस्यायमात्मेत्यत्राऽऽत्मशब्दः प्रथमान्तो वाचकः। यश्चायमस्मिन्नात्मनीत्यत्र सप्तम्यन्तात्मशब्देन विराज एवोक्तिरित्याह—सप्तम्यन्तेनेति। निर्देशो विराज इति पूर्वेणान्वयः। विराजोऽभ्यन्तरो लिङ्गात्मा तेजोमयादिशब्देनोच्यत इत्याह—तत्प्रत्यङिति। अतस्तेजोमयादिशब्दादित्यर्थः ॥ ३. विराजि। ४. सूत्रात्मा। ५. एकदेशेनेति—पृथिव्यादिपर्यायेषु कार्यकारणसंघातस्य व्यष्ट्यात्मनाऽभिधानादवशिष्यते (भिद्यते) शरीरमिति तत्राध्यात्ममित्युक्तम्। अत्र च समष्ट्यात्मना तस्याभिधानान्नावशिष्यते शरीरमिति तथोक्तिरित्यर्थः। ६. अवयवरूपेण। ७. पर्यायेषु। ८. अध्यात्मविशेषः। ९. पूर्वपर्यायेष्वनुपदिष्टः। १०. धीप्रधानो जीवात्मा। ११. यच्छेषः। १२. यश्चायमिति। वार्तिके हि—"कार्यात्मा कारणात्मा च यदर्थौ भवतः सदा। यश्चायमात्मेत्यत्रोक्तो विज्ञानात्मेति यं विदुः" ॥५७॥ इति। यश्चायमात्मेत्याऽऽत्मशब्दस्य चैतन्याभासजीववाचित्वमाह—कार्येति। सोऽत्रात्मशब्देनोक्तः शेषीति शेषः। शेषिणोऽप्रसिद्धिं निरस्यति—विज्ञानात्मेति। १३. स वा इति वाक्यस्थात्मशब्दस्य।

* तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता इति ॥ "व्याचक्षतेऽन्यथैवेमं दृष्टान्तं केचिदात्मनः। समस्तादिप्रतिज्ञार्थसिद्धये ब्रह्मवादिनः ॥ एकीकृत्य स्वमात्मानमक्षरे परमात्मनि। चक्रनाभिवदात्मानं कल्पयित्वा

**रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्ना-
त्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः
सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥ १५ ॥**

सभी भूत, सभी देव, सभी लाक सभी प्राण और ये अविद्याकल्पित सभी जीवात्मा समर्पित हैं ॥१५॥

अविद्याकृतकार्यकरणसघातोपाधिविशिष्टे ब्रह्मविद्यया परमार्थात्मनि प्रवेशिते स एव-

यश्चायमात्मेत्युक्तो 'विज्ञानमयो 'यस्मिन्नात्मनि 'खिल्यदृष्टान्तवचसा प्रवेशितस्तेन' परेणाऽऽत्मना तादात्म्य गतो 'विद्वानत्राऽऽत्मशब्दार्थ । उक्तमात्मशब्दार्थमनूद्य सर्वेषामित्यादि व्याचष्टे—तस्मिन्निति । अविद्यया कृत कार्यकरणसघात एवोपाधिस्तेन विशिष्टे जीवे तस्मिन्परमार्थात्मनि ब्रह्मणि ब्रह्मविद्यया प्रवेशिते सति स एवायमात्मा 'यथोक्तविशेषण सर्वेस्यास्य सर्वेषा भूतानामधि-

लिए यह देहेन्द्रियसघातरूप आत्मा है, वही "जो यह आत्मा है" इस श्रुतिवाक्य से कह कर बतलाया गया है ॥१४॥

जिसका पूर्वोक्त पर्यायों मे उपदश नही हुआ, उस परिशिष्ट विज्ञानमय (जीवात्मा) का अन्तिम पर्याय मे जिस आत्मा मे प्रवेश कराया गया है, उसका 'यह आत्मा है" इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है। अविद्याकृत कार्यकरणसघात उपाधि से विशिष्ट उम परमार्थ आत्मा मे ब्रह्मविद्या के द्वारा प्रवेश कराये जाने पर उसके अनन्तर और अबाह्य, पूर्ण प्रज्ञानघनस्वरूप, सब भूतो का आत्मा इस प्रकार

१ जीव । २ अविद्यातत्कार्यहीन स्वस्वरूपे । ३ खिल्यत्यादे —यथा सैन्धवखिल्य इत्यादि दृष्टान्तपूर्वकादेव वा अरे इद महद्भूतमनन्तमपार विज्ञानघन इत्यादिवाक्यात् प्रवेशित ऐक्येन बोधित इत्यर्थ । ४ प्रवेशित इत्यस्यैवार्थमाह—तेनेत्यादिना । ५ आत्मशब्दार्थ इति । स वा अयमितिपदत्रयार्थमाहुर्वार्तिके —"योऽसावविद्यया देही ससारीवाऽप्यभूत्पुरा । सोऽय साक्षात्पर ब्रह्म विद्यया वर्ततेऽधुनेति ॥६०॥ ६ अनन्तरत्वादिविशेषणक ।

विचक्षण ॥ शरीर नेमिवच्चैतद्देवताद्यरवज्जगत् । कल्पयित्वा निदिध्यासेत्तद्भावाविष्टधी सदा ॥ अनेन ध्यानमार्गेण ध्यायमानस्य सर्वदा । तप्तलोहवदेकत्व भवत्यावृत्तिदुर्लभम् ॥ एतामवस्थामापन्ना ध्यातृत्वादिनिवर्तते । अविद्यातिमिराध्माता ध्येयत्वमधिगच्छति ॥ निश्चित्याचिन्त्यमेतद्धि योगिना निलय परम् । य प्राप्य न निवर्तन्ते निर्वाण परम गता ॥ प्रत्येक प्राणिना ह्येतद्ब्रह्मचक्रमवस्थितम् । असबाधात्तु तं सर्वे प्राणिभिर्नानुभूयते ॥ वैश्वानरत्वरात्केचिदेव व्याचक्षत स्फुटम् । अक्षरानन्वयास्त्याज्या व्याख्येय साध्वपीदृशी ॥ सामर्थ्यादपि सप्राप्ता न चेदक्षरपूर्वक । तादृङ्नोपास्य एवेति प्राहुरागमवेदिन ॥ प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि । अदृष्टशतभागोऽपि न कल्प्यो निष्प्रमाणक ॥ यथोक्तचक्रविन्यासो न श्रुताक्षरपूर्वक । न चाप्युपासनपद कृत्स्नेऽपि ब्राह्मणे श्रुतम् ॥ नाभिनेमिद्वयस्थान दृष्टान्तत्वेन सगते । दार्ष्टान्तिकवाक्यावात्मैव यत्त क्षमादिह श्रुत ॥ समर्पितत्व प्राणादे श्रूयते प्रत्यगात्मनि । भूतेषु देवतादेस्तदश्रुत गृह्यते कथम् ॥ बहिरन्तर्विभागोऽस्य कार्यकारणता तथा । तदेतदिति वाक्येन प्रतीचाऽत्रैव वार्यते ॥ अथ योऽन्यामिति तथा भेददृष्टिर्निराकृता । उपास्योपासनविधिर्न सम्यगिति मे मति । अज्ञानमात्रव्यवधेर्ब्रह्मात्म्यफलस्य च । ब्रह्मविद्यातिरेकेण तत्प्राप्तौ नापरा क्रिया ॥ तद्वाचाऽनभ्युदित मनुत मनसा न यत् । तदेव ब्रह्म विद्धि त्व न त्विद यदुपासते ॥ उपासि-

मुक्तोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनभूतः सर्वेषां भूतानामयमात्मा सर्वैरुपास्यः सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वभूतानां [1]'स्वतन्त्रो' न [2]'कुमारामात्यवर्तिक तर्हि सर्वेषां भूतानां [3]'राजा ।

पतिरिति सबन्ध. । व्याख्येयं [5]पदमादाय [6]तस्य [7]वाच्यमर्थमाह—सर्वेषामिति । तस्यैव विवक्षितोऽर्थः सर्वैरुपास्य इत्युक्तः । स्वातन्त्र्य व्यतिरेकद्वारा स्फोरयति—नेत्यादिना । सर्वेषां भूतानां राजेत्येतावतैव

कहे जाने पर वह सब के द्वारा उपास्य, सभी भूतों का अधिपति, सभी भूतों का शेषी है, न राजकुमार

१. स्वतन्त्र इति—अनन्यशेष इति यावत् । वार्तिके यथा—"तथाऽधिपतिशब्देन स्वातन्त्र्यमभिधीयते । स्वार्थं प्रत्यक्तदर्थत्वात्सहेतोर्जगदात्मन." ॥६४॥ राजशब्देन राजनवदित्यर्थ. । स्वातन्त्र्यमुपपादयति—स्वार्थं इति । आत्मा स्वरूप वस्तुन इति शेष । २ शेषी । ३ राजकुमार. । ४ राजेति—अविलुप्तात्मदर्शनादपणीय इत्यर्थं । वार्तिके यथा—ब्रह्मास्मीतिपरिज्ञानध्वस्तध्वान्तत्वकारणात् । राजेति राजनाद्धास्वदविलुप्तात्मदर्शनात्" ॥ ६३ ॥ इति । ज्ञानादज्ञाननिरासादप्रतिबन्धस्वरूपस्फुरणेन भानादब्रह्मविद्राजेत्युक्तिमर्हतीत्यर्थं ॥ ५ पद पदसमुदायवाक्य मिति यावत् यद्वा अधिपतिपद वाक्यन्तर्भावेणादायेत्यथ. । ६ अधिपतिपदस्य । ७ विवक्षितार्थस्योक्तत्वाद्वाच्यमिति ।

क्रियया व्याप्तिरब्रह्मत्वस्य लक्षणम् । श्रुत्याऽकारि यतस्तादृक्कथ ब्रह्मेत्युपास्यते ॥ दृश्यत त्वग्रघया बुद्धया मनसैवेति यद्वच । तदात्मविद्याविष्यर्थं नोपासनविधायकम् ॥ रजस्तमोनुविद्धेन यतो न ब्रह्म गम्यते । शुद्धचेतस्तया तस्माद्विद्यादब्रह्मान्तरात्मनि ॥ यद्वाऽनात्माभिसबन्धात्पूर्वमैकात्म्यनिष्ठिता । सर्वप्राणभृता बुद्धिरित्यर्थो वचसो भवेत् ॥ एषोऽर्थो वचसस्तस्य न तूपासाविधिर्भवेत् । प्रध्वस्तभेद ऐकात्म्ये नोपासनविधियंत ॥ चक्रक्लृप्तिरतोऽसाध्वी श्रुत्यादिमितिवाहृत । तदेतदितिवाक्यार्थो ग्राह्योऽत्र सभवान्मिते ॥ तदाहुरिति वाक्येन ब्रह्मविद्याप्रयोजनम् । साक्षेप प्रागुपन्यस्त तस्याय निर्णय कृत " ॥ वा० ६७-९० ॥ इति । तद्येत्यादिवाक्यस्य भर्तृप्रपञ्चव्याख्यामुत्थापयति—व्याचक्षत इति । दृष्टान्तग्रहण दार्ष्टान्तिकोपलक्षणम् । अन्यथाव्याख्यानफल सूचयति—आत्मन इति । सप्रपञ्चोऽयमात्मेति प्रतिज्ञेद सर्वं यदयमात्मेत्यत्र स्थिता तदर्थसिद्धयर्थमन्यथाव्याख्यानमित्यर्थं ॥ तदेव स्फुटयति—एकीकृत्यति । न तावदात्मा परस्माद्भिद्यत ऐक्यश्रुते स च चक्रनाभिस्थानीयो देह पञ्चभूतात्मक चक्रनेमिस्थानीय देवतादि जगदरवदात्मनि भूतेषु चार्पित कल्पयित्वा तत्रैव कल्पितेऽर्थे स्थिरबुद्धि सदा ध्यान कुर्यादित्यर्थं ॥ किमनेन ध्यानेनेत्याशङ्क्याऽऽह—अनेनेति । सदातनमेकत्व न ध्यानफलमित्याशङ्क्य बन्धध्वस्तिस्तस्येति मत्वा विशिनष्टि—आवृत्तीति ॥ एकत्वमापन्नोऽपि ध्यानमातनुयादिति चेन्नेत्याह—एतामिति । न केवलमैक्यफल ध्यातृत्वनिवृत्ति किंतु ध्येयत्वाप्तिरपीत्याह—अविद्येति ॥ ध्येयस्वरूप निरूपयति—निश्चित्येति । य ज्ञात्वा मुक्ता सन्तो न पुन ससरन्ति त प्रकृताचिन्त्य परमात्मान ज्ञानिनामयन प्रत्यक्तया निश्चित्य य स्थित स ध्येयत्वमज्ञानप्रत्याप्नातीत्यर्थं ॥ चक्रक्लृप्तिध्यान तत्फल चेति परेषां प्रक्रिया प्रदर्श्य तेषामेव प्रक्रियान्तरमाह—प्रत्यक्मिति । ब्रह्मण सर्वप्राणिहृदयसनिधानमशेषश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धमिति हिशब्दार्थ । यदि ब्रह्माख्य चक्र सर्वप्राणिना हृदि सर्वदा स्थित किमिति तर्हि सर्वैर्नानुभूयते तत्राऽऽह—असबोधादिति ॥ पूर्वपक्षमुपसहरति—वैश्वानरति । आपातरमणीयाऽपीय व्याख्या न स्वीकार्या श्रुत्यक्षरबाह्यत्वादित्याह—अक्षरेति । ईदृशी यथोक्तप्रक्रियाविशिष्टेति यावत् ॥ दृष्टान्तसामर्थ्यादात्मनो नानारसत्वदृष्टेरस्मदिष्टोऽर्थो न श्रुतिबाह्य इत्याशङ्क्याऽऽह—सामर्थ्यादिति । यद्यपि दृष्टान्तसामर्थ्यात्त्वदिष्टोऽर्थो भाति तथाऽपि नासौ श्रौतोऽस्मिन्प्रकरणे तद्वाचकपदाभावादपूर्वादिवाक्यविरोधाच्चातो नाऽऽत्मनोऽनेकरूपत्वाय दृष्टान्तस्तथाचाऽऽर्थिकोऽप्यर्थो नाऽऽदेयो यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थं इति स्थितरन्यथा चातिप्रसक्तिरित्यर्थ ॥ किंच

राजत्वविशेषणमधिपतिरिति भवति [1]कश्चिद्राजोचितवृत्तिमाश्रित्य राजा न त्वधिपति[2]रतो विशिनष्टयधिपतिरिति । एवं सर्वभूतात्मा विद्वान्ब्रह्मविन्मुक्तो भवति । यदुक्तं ब्रह्म-

[3]यथोक्तार्थसिद्धौ किमित्यधिपतिरिति विशेषणमित्याशङ्क्याऽऽह—राजत्वेति । राजत्वजात्यनाक्रान्तोऽपि कश्चित्तदुचितपरिपालनादिव्यवहारवानित्युपलब्धं न पुनस्तस्य स्वातन्त्र्यं राजपरतन्त्रत्वा[4]त्तस्मा[5]त्ततो [6]व्यवच्छेदार्थमधिपतिरिति विशेषणमित्यर्थः । राजाऽधिपतिरित्युभयोरपि मिथो विशेषणविशेष्यत्वमभिप्रेत्य वाक्यार्थं निगमयति—एवमिति । उक्तस्य विद्याफलस्य [7]तृतीयेनैकवाक्यत्व-

है, न मन्त्री के समान ही है; तो वह क्या है ? वह (अविलुप्त आत्मदर्शन से अधर्षनीय होने से) सब भूतों का राजा है । श्रुति में "अधिपतिः" यह पद राजा का विशेषण है; कोई राजा न होते हुए भी राजोचित व्यवहार (ऐश्वर्य) का आश्रय लेकर राजा हो जाता है, परन्तु वह अधिपति (स्वतन्त्र) नही होता, इसलिए 'अधिपति' यह विशेषण दिया गया है । इस प्रकार आत्मा का सर्वभूतात्मक स्वरूप

१. कश्चित्—अराजाऽपीत्यर्थः । २. स्वतन्त्रः । ३. यथोक्तोऽर्थः स्वातन्त्र्यम् । ४. तस्मादिति—राजपरतन्त्रेऽपि यथोक्ते जने राजेतिव्यवहारोपलम्भादित्यर्थं । ५. ततः यथोक्तात्पुंसः राज्ञः । ६. व्यावृत्त्यर्थः । ७. प्रथमाध्यायोक्तविद्याफलेनैक्यमिति यावत् ।

ब्रह्मणोऽन्यदपि न नानारस कल्पकाभावादन्यथाऽतिप्रसङ्गादित्याह—प्रमाणवन्तीति ।। ननु न ब्रह्म समस्तादिरूपं कल्प्यते किंतु चक्रविन्यास श्रुत्यैव श्राव्यते नेत्याह—यथोक्तेति । यत्तु निदिध्यासेदिति तत्राऽऽह—न चेति ।। किञ्च दृष्टान्तस्थस्य न सर्वस्य दार्ष्टान्तिकेऽन्वयस्तद्भावविरोधादतो न ब्रह्म समस्तादिरूपमित्याह—नाभीति ।। यत्तु चक्रनाभिस्थानीये प्रतीचि चक्रनेमिस्थानीयदेहात्मकभूतेषु च देवतादि जगदरवदर्पितमिति तत्राऽऽह—समर्पितत्वमिति ।। प्रधानवाक्यविरोधाच्च न समस्तादिरूप ब्रह्मेत्याह—बहिरिति ।। इतश्च ब्रह्म न समस्तादिरूपमित्याह—अथेति । ननु देवतान्तरे दृष्टिर्निन्दितत्वान्नेष्टा ब्रह्मदृष्टिस्त्वनिन्दितोपपद्यते तत्तस्मिन्नुपास्तिविधिप्रवृत्ते सप्रपञ्चत्व न हि निष्प्रपञ्चमुपास्यते तत्राऽऽह—उपास्येति । न हि भेद विनोपास्यादिप्रकारसंभवः प्रकृते च भेददृष्टिरपोद्यते तन्नात्रोपास्तिविधिरित्यर्थं ।। ब्रह्म सप्रपञ्चमुपास्यत्वात्प्राणवदित्यत्रासिद्धिमुक्त्वा तदुपास्तिरात्मनो ब्रह्मत्वाय फलान्तराय वेति विकल्प्याऽऽद्य दूषयति—अज्ञानेति । न द्वितीय फलान्तराभावान्न हि जीवस्याविद्याध्वस्तौ ब्रह्माप्ति विनाऽन्यदिष्ट ज्ञानादेव च तत्सिद्धेर्व्यर्था तदुपासेति चार्थ ।। उपास्यत्वहेतोरुपास्तिप्रयुक्तफलवत्त्वोपाधिना व्याप्यत्वासिद्धिमुक्त्वा श्रुतिविरोधमाह—यदिति ।। नन्वसंस्कृतवागाद्यगोचरत्वेनोपास्यत्वनिषेधेऽपि ब्रह्मण संस्कृततद्गम्यत्वेनोपास्यत्वमविरुद्धमित्याशङ्क्य श्रुत्यर्थमाह—उपासीति । तादृगित्युपासिक्रियाव्याप्तमिति यावत् । उपास्यतेऽनुष्ठीयतेऽङ्गी क्रियत इत्यर्थ ।। ननु ब्रह्मोपास्तिविधिरपि क्वचिदस्ति तथाच श्रुत्यैव श्रुतेरपसारितत्वादुपास्य ब्रह्मेति तत्राऽऽह—दृश्यते त्विति ।। विद्याविधानस्य प्रागप्रहस्तितत्वात्कथमस्य तदर्थतेत्याशङ्क्याऽऽह—रज इति । ब्रह्मविद्यार्थं बुद्धिशुद्धिविध्यर्थं यथोक्त वाक्यमित्यर्थ ।। यथोक्ते वाक्ये शुद्धिविधिवाचकाभावात्कथ तदर्थतेत्याह—यद्वेति । विषयानुषङ्गात्प्रागेव सर्वथा धीर्जन्ममात्रेण चिदाकारेत्येषोऽर्थो वाक्यस्येष्यतेऽग्रयेतिविशेषणानुगुण्यादित्यर्थं ।। ब्रह्मोपास्तिविधायकत्वेन शङ्कितश्रुतेर्गत्यन्तरमुपसहरति—एष इति ।। ब्रह्मण. समस्तादिरूपत्वे मानाभावात्तद्विरोधाच्चायुक्ता भर्तृप्रपञ्चव्याख्येति निगमयति—चक्रेति । परपक्षस्योपेक्ष्यत्वमुक्त्वा स्वपक्षस्याऽऽदेयत्वमाह—तदिति । तदेतद्ब्रह्मापूर्वमित्यादिवाक्यस्यार्थस्तद्यथेत्यादिवाक्ये विवक्षितो ग्राह्यः पक्षान्तरायोगोक्तेरैकरस्यावेदकागमभावाच्चेत्यर्थः ।। तस्मात्तत्सर्वमभवदिति विद्याफलमुक्त तृतीये तदत्रोपसह्रियत इति पक्षान्तरमाह—तदिति ।।

विद्यया[१] सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदितीदं तद्व्याख्यातम्। एवमात्मानमेव सर्वात्मत्वेनाऽऽचार्यागमाभ्यां श्रुत्वा मत्वा तर्कतो विज्ञाय साक्षादेवं यथा मधुब्राह्मणे दर्शितं तथा। तस्माद्ब्रह्मविज्ञानादेवंलक्षणात्पूर्वमपि ब्रह्मैव सदविद्ययाऽब्रह्माऽऽसीत्सर्वमेव च सदसर्वमासीत्तां[२] त्वविद्यामस्माद्विज्ञानात्तिरस्कृत्य ब्रह्मविद्ब्रह्मैव सन्ब्रह्माभवत्सर्वः सन् सर्वमभवत्।

परिसमाप्तः शास्त्रार्थो यदर्थः प्रस्तुतः। तस्मिन्नेतस्मिन्सर्वात्मभूते ब्रह्मविदि सर्वात्मनि सर्वं जगत्समर्पितमित्येतस्मिन्नर्थे दृष्टान्त उपादीयते—तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ

माह—यदुक्तमिति। तदेव व्याख्यातं स्फोरयति—एवमिति। मैत्रेयीब्राह्मणोक्तक्रमेणेति यावत्। एवमित्यस्यार्थं कथयति—यथेति। मधुब्राह्मणे पूर्वब्राह्मणे चोक्तक्रमेणाऽऽत्मनि श्रवणादित्रयं संपाद्य विद्वान्ब्रह्माभवदिति संबन्धः। ननु मोक्षावस्थायामेव विदुषो ब्रह्मत्वमपरिच्छिन्नत्वं च न प्राच्यामविद्यादशायामित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति। समानाधिकरणे पञ्चमीत्रयम्। एवंलक्षणादहं ब्रह्मास्मीति श्रवणादिकृतात्तत्त्वसाक्षात्कारादिति यावत्। अब्रह्मत्वादिधीध्वस्तिस्तर्हि कथमित्याशङ्क्याऽऽह—तां त्विति।

वृत्तमनूद्योत्तरग्रन्थमवतारयति—परिसमाप्त इति। यस्य शास्त्रस्यार्थो विषयप्रयोजनाख्यो ब्रह्मकण्डिकाया चतुर्थादौ च प्रस्तुतस्तस्यार्थो यथोक्तन्यायेन निर्धारित इत्यनुवादार्थः। सर्वात्मभूतत्वं सर्पादिवत्कल्पितानां सर्वेषामात्मभावेन स्थितत्वम्। सर्वं ब्रह्म तद्रूपत्वं सर्वात्मत्वम्। सर्व एत

जानने वाला ब्रह्मवेत्ता विद्वान् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। तथा जो यह कहा गया है "(उनके विषय मे ब्रह्म की जिज्ञासा करने वाले ब्राह्मणो ने यह कहा है कि) ब्रह्मविद्या के द्वारा मनुष्य हम सर्वरूप हो जायगे ऐसा मानते हैं (उनके विषय मे यह प्रश्न होता है कि) उस ब्रह्म ने क्या जाना, जिस ब्रह्म से वह सर्वरूप हो गया" उसी का यह व्याख्यान किया गया है। इस प्रकार आचार्य और शास्त्र से आत्मा का सर्वभूतात्मकभाव सुनकर तर्क के द्वारा मनन कर, उसका अपरोक्ष विज्ञान वैसे ही कर लेता है जैसा कि मधुब्राह्मण मे प्रतिपादित किया गया है। इसलिये उक्त लक्षण वाले ब्रह्मविज्ञान से (साक्षात् जानकर) जो पूर्व मे ही ब्रह्म होते हुए अब्रह्म था एव सर्वस्वरूप होते हुए भी असर्व था, उस (अब्रह्मत्वादि की प्रयोजिका) अविद्या को इस ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान से तिरस्कृत करके वह ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म होते हुए भी ब्रह्म एव सर्व होते हुए भी सर्व हुआ है।

जिसके लिए इस प्रकरण का प्रारम्भ हुआ था, शास्त्र का वह प्रयोजन तो प्रस्तुत कर दिया। सबके आत्मभूत सर्वात्मस्वरूप उसी ब्रह्मवेत्ता मे समस्त जगत् कल्पित है, इसी प्रयोजन के लिए दृष्टान्त का उपपादन किया जाता है। श्रुतिमन्त्र का—"जैसे रथ की नाभि और रथ की नेमि मे सभी अरे लगे

---

१ बृ० उ० १-४-१। २. अब्रह्मत्वादिप्रयोजिकाम्। ३ कल्पितम्। ४. व्याख्यानम्। ५. मैत्रेयीब्राह्मणे। ६. अन्यपञ्चम्यथ। ७. आयतदर्थ। ८ मध्यमतदय। ९. सत्यामविद्यायां यद्वाऽब्रह्मत्वादिधीसत्त्वे। १० शास्त्रस्य "आत्मेत्येवोपासीत' ति विद्यासूत्राख्यस्य। ११. विषयप्रयोजने—ब्रह्मात्मैक्यसर्वात्मभावापत्ती। १२ बृ० उ० १-४-१०। १३. द्वितीयाध्यादौ। १४. निरुक्तयुक्तिकलापेन। १५ अधिष्ठानतया।

चाराः सर्वे समर्पिता इति प्रसिद्धोऽर्थः । एवमेवास्मिन्नात्मनि परमात्मभूते ब्रह्मविदि सर्वाणि भूतानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि सर्वे देवा अग्न्यादयः सर्वे लोका भूरादयः सर्वे प्राणा वागादयः सर्व एत आत्मानो जलचन्द्रवत्प्रतिशरीरानुप्रवेशिनोऽविद्याकल्पिताः । सर्वं जगदस्मिन्समर्पितम् । यदुक्तं ब्रह्मविद्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति । स एष सर्वात्मभावो व्याख्यातः । स एष विद्वान्ब्रह्मवित्सर्वोपाधिः सर्वात्मा सर्वो भवति । निरुपाधिर्निरुपाख्योऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनोऽजोऽजरोऽमृतोऽभयोऽचलो नेति नेत्यस्थूलोऽनणुरित्येवविशेषणो भवति ।

आत्मान इति कुतो भेदोक्तिरात्मैक्यस्य शास्त्रीयत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—जलचन्द्रवदिति । दार्ष्टान्तिकभागस्य संपिण्डितमर्थमाह—सर्वमिति । उक्तस्य सर्वात्मभावस्य तृतीयेनैकवाक्यत्वं निर्दिशति—यदुक्तमिति । सर्वात्मभावे विदुषः सप्रपञ्चत्वं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—स एष इति । सर्वेण कल्पितेन द्वैतेन सहितमधिष्ठानभूतं ब्रह्म प्रत्यग्भावेन पश्यन्विद्वान्सर्वोपाधिस्तत्तद्रूपेण स्थितः सर्वो भवति । तदेव कल्पितं सप्रपञ्चत्वमविद्वद्दृष्ट्या विदुषोऽभीष्टमित्यर्थः । विद्वद्दृष्ट्या तस्य निष्प्रपञ्चत्वं दर्शयति—निरुपाधिरिति । निरुपाख्यत्वं शब्दप्रत्ययागोचरत्वं ब्रह्मणः सप्रपञ्चत्वमविद्याकृतं निष्प्रपञ्चत्वं तात्त्विकमित्यागमार्थाविरोध उक्तः ।

रहते हैं" यह अर्थ तो प्रसिद्ध ही है। "एवमेवास्मिन्नात्मनि" अर्थात् इसी प्रकार परमात्मभूत ब्रह्मवेत्ता मे 'सर्वानि भूतानि" यानी ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी भूत, "सर्वे देवा" यानी अग्न्यादि सभी देवता, "सर्वे लोका" यानी पृथिवी आदि सभी लोक सर्वे प्राणा ' यानी वागादि सभी प्राण, "सर्व एत आत्मान समर्पिता" अर्थात् यह सभी आत्मा जल मे प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान प्रत्येक शरीर मे प्रवेश करने वाले अविद्याकल्पित हैं। सभी (कार्यकरणप्रपञ्चात्मक) जगत् इसमे समर्पित है। और जो कहा कि ब्रह्मवित् वामदेव ने उस तत्त्व को आत्मभाव से देखते हुए ही जाना "मैं ही मनु और सूर्य भी हुआ था", इस श्रुति वाक्य से इस सर्वात्मभाव की व्याख्या हुई है। वह यह विद्वान् ब्रह्मवेत्ता सकलोपहित, ब्रह्मात्मस्वरूप एव सर्वस्वरूप हो जाता है। तथा निरुपाधिक, अनिर्वचनीय, अनन्तर, अबाह्य, पूर्ण अजन्मा, जरारहित, अमृत, अभय, अचल निषेधात्मक, अस्थूल अनणु—इस प्रकार के विशेषणो से युक्त हो जाता है।

इस अविरोधरूप अर्थ को नही जानने वाले कुछ तार्किक और अपने को पण्डित मानने वाले मीमासक शास्त्र के (औपनिषद ब्रह्म) अर्थ का इससे विपरीत मानते हुए बहुत से विकल्पो को करते

---

१ सर्वमिति—कार्यकारणप्रपञ्चस्य ब्रह्ममात्रेण पर्यवसानमाविष्कर्तुमिच्छन्ती य श्रुतिर्दृष्टान्तद्वारा प्रवृत्तेति भाव । तथा च वार्तिके— प्रत्यग्विज्ञप्तिमात्रेण समाप्ति जगदात्मन । आविरिच्छन्तीयं साक्षान्नरतयेति परा श्रुति" ॥६५॥ इति । २ यदुक्तमिति—अनेन तृतीयोक्त तस्मात्तत्सर्वमभवदिति विद्याफलोपसंहारोऽत्र क्रियत इति सूचयति । वार्तिके यथा—"तदाहुरिति वाक्येन ब्रह्मविद्याप्रयोजनम् । साक्षेपं प्रागुपन्यस्त तस्याय निर्णय कृत' ॥६०॥ इति । ३ बृ० उ० १-४-१० । ४ सकलोपहित । ५ सर्वं ब्रह्म आत्मा यस्य । ६ बहुत्वोक्ति । ७ सिद्धान्तत्वात् । ८ निष्कृष्टमयम् । ९ स्वदृष्ट्या । १० आगमा परस्पर विरुद्धार्थतया प्रतीयमाना अनुपदमेव भाष्ये वक्ष्यमाणा ।

'तमेतमर्थमजानन्त'स्तार्किकाः केचित्पण्डितंमन्याश्चा'ऽऽगमविदः 'शास्त्रार्थं विरुद्धं मन्यमाना विकल्पयन्तो मोहमगाधमुपयान्ति । तमे तमर्थमेतौ मन्त्रावनुवदतः—"अनेजदेकं मनसो जवीयस्तदेजति तन्नैजति" इति । तथा च तैत्तिरीयके—"यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित् । एतत्साम गायन्नास्ते । अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्" इत्यादि । तथाच छान्दोग्ये "जक्षत्क्रीडन्रममाणः । 'स यदि पितृलोककामः । 'सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादि । आथर्वणे च "दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च" । कठवल्लीष्वपि "अणोरणीयान्महतो

कथं 'तर्हि 'तार्किका मीमांसकाश्च शास्त्रार्थं 'विरुद्धं पश्यन्तो 'ब्रह्मास्ति 'नास्तीत्यादि 'विकल्पयन्तो मोमुह्यन्ते तत्राऽऽह—तमेतमिति । वादिव्यामोहस्याज्ञानं मूलमुक्त्वा प्रकृते ब्रह्मणो 'द्वैरूप्ये प्रमाणमाह—तमित्यादिना । तैत्तिरीयश्रुतावादिशब्देनाहमन्नमन्नमदन्तमद्मीत्यादि गृह्यते । 'छान्दोग्यश्रुतावादिशब्देन "सत्यकामः सत्यसंकल्पो विजरो विमृत्युरित्यादि गृहीतम् । श्रुतिसिद्धे द्वैरूप्ये स्मृति-

---

हुए अगाध मोह को प्राप्त होते हैं। इस अविरुद्ध एव द्वैरूप्यात्मक अर्थ का ये दो श्रुतिमन्त्र अनुवाद करते हैं। (पहला मन्त्र है—) "वह आत्मतत्त्व अपने स्वरूप से विचलित न होने वाला सभी भूतों मे एक तथा मन से भी तीव्र गति वाला है", (और दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—) "वह आत्मतत्त्व (सोपाधिकरूप से) चलता है और (निरुपाधिकरूप से)नही भी चलता"। इसको तैत्तिरीयक उपनिषत् मे भी कहा गया है—"जिससे पर और अपर कुछ भी नही है", "(इस विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त कर तथा इस आनन्दमय आत्मा के प्रति सक्रमण कर इन लोको मे यथेच्छ भोगो को भोगता हुआ इच्छानुसार रूप धारण कर विचरता हुआ) इस साम का ज्ञान करता है, विशुद्ध होता हुआ भी मैं भोग्य हूँ, मैं अन्न हूँ मैं अन्न हूँ" इत्यादि। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषत् मे कहा गया है—"(अपने स्वरूप मे स्थित हो जाने पर वह) हँसता, क्रीडा करता, स्त्री, यान अथवा सम्बन्धियो के साथ रमण करता हुआ (अपने साथ उत्पन्न हुए इस शरीर को स्मरण न करता हुआ सभी ओर) घूमता रहता है", "मरने के बाद यदि वह पितृलोक को चाहता है (तो उसके सकल्प से पितृगण वहाँ उपस्थित हो जाते हैं, उस पितृलोक से सम्पन्न हो अपनी महिमा का अनुभव करता है)", "(सर्वव्यापकत्व, सूक्ष्मत्वरूपादि हीनत्वादि आकाश के तुल्य होने से) वह सुखप्रद सम्पूर्ण गन्धवाला, सम्पूर्ण रस वाला, सर्वज्ञ और सर्ववित् है (सबको सामान्यरूप से जानता है, इसीलिये सर्वज्ञ है और विशेषरूप से जानने के कारण सर्ववित् कहा जाता है)"। अथर्ववेदीय मुण्डक उपनिषत् मे यही बात कही गयी है—" वह अविवेकियो के लिए दूर से भी दूर तथा विवेकियो के लिए अत्यन्त समीप, इसी देह मे विद्यमान है"। इसीप्रकार कठोपनिषत् के वचन हैं—"यह जीवात्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर तथा महान् से भी महत्तर इस जीव की हृदयरूपी गुफा मे अन्तरात्मरूप से स्थित है","वह हर्ष से युक्त और हर्ष से रहित भी है(उस देव को मेरे अतिरिक्त और कौन जान

---

१. अविरोधरूपम्। २. कणभक्षाक्षचरणीयाः। ३. मीमांसकाः। ४. औपनिषदं ब्रह्म। ५. अविरुद्धद्वैरूप्यात्मकम्। ६. छा० उ० ८-१२-३। ७ छा० उ० ८-२-२। ८. छा० उ० ३.१४.२-४। ९. सत्यागमार्थाविरोधे। १० निर्मूलोत्प्रेक्षामात्रेणार्थनिर्णयपरायण। ११. सप्रपञ्चं ब्रह्मनिष्प्रपञ्चं चेत्येवम्। १२. प्रतीचोऽन्यत्। १३ कपिलजैमिनीयाः। १४. विकल्पविषयतामापादयन्तः। १५. सप्रपञ्चनिष्प्रपञ्चत्वरूपे। १६. छा० उ० ८-१-५।

महीयान्" "कस्तं मदामदं देवम्"·"तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्" इति च । तथा गीतासु "अहं क्रतुरहं यज्ञः" "पिताऽहमस्य जगतः" "नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापम्" "समं सर्वेषु भूतेषु" "अविभक्तं विभक्तेषु", "ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च" इत्येवमाद्यागमार्थं विरुद्धमिव प्रतिभान्तं मन्यमानाः 'स्वचित्तसामर्थ्यादर्थनिर्णयाय विकल्पयन्तोऽस्त्यात्मा नास्त्यात्मा कर्ताऽकर्ता मुक्तो बद्धः क्षणिको विज्ञानमात्रं शून्यं चेत्येवं विकल्पयन्तो न पारमधिगच्छन्त्यविद्याया विरुद्धधर्मदर्शित्वात्सर्वत्र । 'तस्मात्तत्र' य एव श्रुत्याचार्यदर्शितमार्गानुसारिणस्त एवाविद्यायाः पारमधिगच्छन्ति । त एव चास्मान्मोहसमुद्रादगाधादुत्तरिष्यन्ति नेतरे स्वबुद्धिकौशलानुसारिणः ॥ १५ ॥

मपि संवादयति—तथेति । 'पूर्वोक्तप्रकारेणाऽऽगमार्थविरोधसमाधाने विद्यमानेऽपि 'तदज्ञानाद्वादिविभ्रान्तिरित्युपसंहरति—इत्येवमादीति । विकल्पमेव स्फुटयति—अस्तीति । सर्वत्र श्रुतिस्मृतिष्वात्मनीति यावत् । के 'तर्हि पारमविद्यायाः समधिगच्छन्ति तत्राऽऽह—तस्मादिति । ब्रह्मज्ञानफलमाह—त एवेति ॥ १५ ॥

सकता है ?)", ईशावास्योपनिषत् के वचन भी इसमे प्रमाण है—"वह स्थिर होता हुआ भी अन्य दौड़ने वाले गतिशील पदार्थों को अतिक्रमण कर जाता है"। इसी प्रकार गीता मे भी श्रीमुखवचन से प्रतिपादित किया है—"मैं श्रौतकर्मरूप क्रतु हूँ एव पञ्चमहायज्ञादि स्मार्तकर्मरूप यज्ञ हूँ", "मैं चराचर प्राणियो सहित समस्त विश्व का महाकारण होने से पिता हूँ", "सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसी के पापकर्म को और न किसी के शुभकर्म को ही ग्रहण करता है", "(जो पुरुष नष्ट होते हुए) सब चराचर भूतो मे परमेश्वर को नाशरहित और समभाव से देखता है (वही यथार्थ देखता है)", (जिस ज्ञान से) मनुष्य भिन्न भिन्न भासने वाले समस्त प्राणियो को अविनाशी परब्रह्म से अभिन्न देखता है", "(जो परब्रह्म अभिन्न होते हुए भी समस्त प्राणियो मे विभक्त सा स्थित हुआ प्रतीत होता है) उसे ही तू सम्पूर्ण जगत् का सहार करने वाला 'ग्रसिष्णु' एव सब की उत्पत्ति करने वाला 'प्रभविष्णु' जान"। इस प्रकार के श्रुति एव स्मृतिवाक्य शास्त्र के तात्पर्य को विरुद्ध सा भासने वाला मानकर अपनी बुद्धिस्थ निर्णय के अनुकूल शक्ति के अभिनिवेश से अर्थनिर्णय करने के लिए भाँति-भाँति की कल्पना करते हैं। एव आत्मा है, आत्मा नही है, कर्ता है और अकर्ता है, मुक्त, बद्ध, क्षणिकविज्ञानमात्र शून्य है—इस प्रकार कल्पना करते हुए अविद्या का अन्त नही पाते क्योकि उन्हे सर्वत्र विरुद्ध धर्म ही प्रतीत होता है। उक्त सभी के पारगामी न होने के कारण उन अधिकारियो मे जो भी श्रुति एव आचार्य द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे ही अविद्या का पार पा लेते हैं। वे ही इस मोहरूप अगाध समुद्र को तैर कर पार हो जाते हैं; जो अपनी बुद्धिकौशल के बल पर रहते हैं, वे मझधार मे ही रह जाते हैं ॥१५॥

---

१. स्वबुद्धिस्थनिर्णयानुकूलशक्त्यभिनिवेशात् । २ यथोक्तानां पारगत्वाभावात् । ३. अधिकारिणां मध्ये । ४. ६४६पृष्ठटीकायाम् । ५. समाधानाज्ञानात् । ६. स्वबुद्धिकौशलानुसारिणां तार्किकादीनामविद्यापारगन्तृत्वाभावे ।

'परिसमाप्ता ब्रह्मविद्याऽमृतत्वसाधनभूता । यां मैत्रेयी पृष्टवती भर्तारं यदेव भगवानमृतत्वसाधनं वेद तदेव मे ब्रूहीति । एतस्या ब्रह्मविद्यायाः स्तुत्यर्थेयमाख्यायिकाऽऽनीता' । तस्या आख्यायिकायाः सक्षेपतोऽर्थप्रकाशनार्थावेतौ मन्त्रौ भवतः । 'एवं 'हि मन्त्रब्राह्मणाभ्या स्तुतत्वादमृतत्वसर्वप्राप्तिसाधनत्वं ब्रह्मविद्यायाः प्रकटीकृतं' राजमार्ग'मुपनीतं भवति । यथाऽऽदित्य उद्यञ्शार्वरं तमोऽपनयतीति तद्वत् । 'अपि चैवं स्तुता ब्रह्मविद्या 'येन्द्रराजरक्षिता सा दुष्प्रापा देवैरपि । यस्मादश्विभ्यामपिदेव भिषग्भ्यामिन्द्र-

---

तद्यथेत्यादिवाक्यार्थं विस्तरेणोक्त्वा वृत्त कीर्तयति—परिसमाप्तेति । ब्रह्मविद्या परिसमाप्ता चेत्किमुत्तरग्रन्थेनेत्याशङ्क्याऽऽह—एतस्या इति । इयमिति 'प्रवर्ग्यप्रकरणस्थामाख्यायिका परामृशति । आनीतेद वै तन्मध्वित्यादिना ब्राह्मणेनेति शेष. । "तदेतदृषिरित्यादेस्तात्पर्यमाह—तस्या इति । "तद्वां नरेत्यादिरेको मन्त्र. । "आथर्वणायेत्यादिरपरः । "मन्त्रब्राह्मणाभ्या वक्ष्यमाणरीत्या ब्रह्मविद्यायाः स्तुतत्वे किं सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—एव हीति । तस्या मुक्तिसाधनत्व दृष्टान्तेन स्फुटयति—यथेति । केन प्रकारेण ब्रह्मविद्यायाः स्तुतत्व तदाह—अपि चेति । अपिशब्द· स्तावकब्राह्मणसंभावनार्थः । मन्त्रद्वयसमुच्चयार्थश्चशब्द. । एवशब्दसूचित स्तुतिप्रकारमेव प्रकटयति—येन्द्रेति । तस्या दुष्प्रापत्वे हेतुमाह—यस्मादिति । महान्तमायास स्फुटयति—ब्राह्मणस्येति । "कृतार्थेनापीन्द्रेण रक्षितत्वे विद्याया

अमृतत्व की साधनभूत ब्रह्मविद्या का व्याख्यान हो चुका । (ब्रह्मविद्या का तो भी स्पष्टीकरण नही हुआ) जिसको मैत्रेयी ने अपने पति से इस प्रकार पूछा था—"भगवान् जो कुछ अमरत्व का साधन जानते है, उसी का उपदेश मुझे भी करें ।" इसी ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए यह आख्यायिका उपस्थापित की गई है । उसी आख्यायिका का अर्थ सक्षेप से प्रकाशित करने के लिए ये दोनो मन्त्र हैं क्योकि वक्ष्यमाण रीति से मन्त्र और ब्राह्मण दोनो के द्वारा स्तुत होने के कारण ब्रह्मविद्या को अमृतत्व और सर्वप्राप्ति का साधन प्रकट होने से उसी प्रकार राजमाग को स्फुटीकृत किया गया है, जिस प्रकार सूर्य उदय होकर रात्रि के अन्धकार को भगा देता है । इसके अतिरिक्त उस ब्रह्मविद्या की इस प्रकार भी स्तुति की गई है कि वह इन्द्र और अन्य राजाओ के द्वारा गोपनीय रखी गयी है एव वह ब्रह्मविद्या देवताओ के लिए भी अप्राप्त हो चुकी थी क्योंकि इन्द्र के द्वारा गोपनीय रखी गई वह विद्या देवताओ के चिकित्सक दोनो अश्विनीकुमारो को बडे प्रयत्न से प्राप्त हुई थी । उन्होने ब्राह्मण का शिर

---

१ परिसमाप्तेति—आरमेत्यवेति तृतीय प्रस्तुतविद्यासूत्रस्य व्याख्याऽतीतब्राह्मणपञ्चकेन श्रुत्या सम्यक्कृता । सा च ब्रह्मात्मैकत्वसाक्षात्कारहेतुरिति द्रष्टव्यम् । ननु व्याख्यातापि विद्यासूत्रे ब्रह्मविद्या नाद्यापि स्पष्टीकृतेत्याशङ्क्याऽऽह—परिसमाप्तेति । २ उपस्थापिता । ३ वक्ष्यमाणरीत्या । ४ तस्या मुक्तिसाधनत्वज्ञाने स्तुति पुष्कलो हेतुरिति हिशब्दो द्योतयति । ५ सत् । ६ स्फुटतरीकृतम् । ७ अपि चैवमिति—स्तावकब्राह्मणेन मन्त्राभ्याम् । वक्ष्यमाणप्रकारेणेति तृतीयार्थं । ८ इन्द्रेणान्यैश्च राजभिर्गोपिता । ९ भाष्यकृद्व्याख्यातमाद्य बृहदारण्यकाध्यायद्वय प्रकरणस्थामिति । १० बृ० उ० २।५।१६ । ११ बृ० उ० २।५।१६ । १२ बृ० उ० २।५।१७ । १३ मन्त्रपौरस्त्यब्राह्मणाभ्याम् । १४ कृतो लब्धोऽर्थो विद्याप्रयोजन यन तन लौकिक हीनरक्तृतोपयोग वस्तु त्यज्यते जनैर्नैषा तु तथेति स्तुति ।

क्षिता विद्या महताऽऽयासेन प्राप्ता । ब्राह्मणस्य शिरश्छित्त्वाऽश्व्यं शिरः [1]प्रतिसंधाय तस्मिन्निन्द्रेण च्छिन्ने पुनः स्वशिर एव प्रतिसंधाय तेन ब्राह्मणस्य स्वशिरसैवोक्ता[2]ऽशेषा ब्रह्मविद्या श्रुता । [3]तस्मात्ततः परतरं किंचित्पुरुषार्थसाधनं न भूतं न भावि वा कुत एव वर्तमानमिति नातः परा स्तुतिरस्ति ।

अपि चैवं स्तूयते ब्रह्मविद्या । [4]सर्वपुरुषार्थानां कर्म हि साधनमिति लोके प्रसिद्धम् । तच्च कर्म [5]वित्तसाध्यं तेनाऽऽशाऽपि नास्त्यमृतत्वस्य । [6]तदिदममृतत्वं केवलयाऽऽत्मविद्यया कर्मनिरपेक्षया प्राप्यते । यस्मात्कर्मप्रकरणे वक्तुं प्राप्ताऽपि सती [7]प्रवर्ग्यप्रकरणे कर्मप्रकरणादुत्तीर्य कर्मणा विरुद्धत्वा[8]त्केवलसंन्याससहिताऽभिहिताऽमृतत्वसाधनाय । [9]तस्मान्नातः परं पुरुषार्थसाधनमस्ति । अपि चैवं स्तुता ब्रह्मविद्या । सर्वो हि [10]लोको [11]द्वंद्वारामः । [12]स

दौर्लभ्ये च फलितमाह—तस्मादिति ।

न केवलमुक्तेनैव प्रकारेण विद्या स्तूयते किंतु प्रकारान्तरेणापीत्याह—अपि चेति । तदेव प्रकारान्तरं प्रकटयति—सर्वेति । केवलयेत्यस्य व्याख्यानं कर्मनिरपेक्षयेति । [13]तत्र हेतुमाह—यस्मादिति । किमिति कर्मप्रकरणे प्राप्ताऽपि प्रकरणान्तरे कथ्यते तत्राऽऽह—कर्मणेति । प्रसिद्धं पुमर्थोपाय [14]कर्म त्यक्त्वा विद्यायामेवाऽऽदरे तदधिकता" समधिगतेति फलितमाह—तस्मादिति । प्रकारान्तरेण ब्रह्मविद्यायाः स्तुतिं दर्शयति—अपि चेति । अनात्मरतिं त्यक्त्वाऽऽत्मन्येव रतिहेतुत्वान्महतीयं विद्ये-

---

काट कर उस पर अश्व का शिर लगाया, उस अश्व के शिर को जब इन्द्र ने काट कर अलग कर दिया तो (ब्राह्मण के शरीर में लगे हुए अश्व का शिर कट जाने पर) उस शिर को पुनः अपने में जोड कर फिर ब्राह्मण के अपने शिर से कहे जाने पर अवशिष्ट ब्रह्मविद्या का श्रवण किया। इसलिए उस ब्रह्मविद्या से बढकर अन्य पुरुषार्थ का साधन न कभी हुआ है, न कभी होगा ही, फिर वर्तमान में तो हो ही कैसे सकता है ? इससे बढकर उसकी स्तुति क्या हो सकती है ?

इसके अतिरिक्त ब्रह्मविद्या की इस प्रकार भी स्तुति की जाती है। लोकव्यवहार में यह प्रसिद्ध है कि पुरुषों के द्वारा प्रार्थ्यमान फलों का साधन कर्म है। वह कर्म वित्त द्वारा साध्य है, वित्त अथवा वित्तसाध्य कर्म से अमृतत्व की आशा लेशमात्र भी संभव नहीं है। कर्म से इसकी प्राप्ति असंभव होने के कारण यह अमृतत्व कर्मनिरपेक्ष, केवल आत्मविद्या के द्वारा ही प्राप्त होता है क्योंकि कर्मप्रकरण में कहने का अवसर प्राप्त होने पर भी (कर्मप्रकरण के व्याख्यानस्वरूप) प्रवर्ग्यप्रकरण में कर्मसिद्धान्त से विरुद्ध होने के कारण उसे कर्मप्रकरण से निकाल कर अमृतत्वसाधन के लिए पारमहंस्य संन्यास के साथ वर्णन किया गया है। इसलिए इससे बढकर पुरुषार्थ का साधन नहीं है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मविद्या

---

१. प्रतिसंधायेति—तेनाश्वशिरसा विद्या सामि शुश्रुवतुरिति शेषः । २ अशेषेति—अवशिष्टेति यावत् ।
३. टीकोक्तार्थकम् । ४ पुंभिरर्थ्यमानफलानाम् । ५ वित्तेन तत्साध्यकर्मणा वा । ६ कर्मासंभावित-प्राप्तिकम् । ७ कर्मप्रकरणे इत्युक्तस्यैव व्याख्यानमिदम् । ८ पारमहंस्याश्रममहिम्ना, इतरत्र कर्मलेश-संभवात् । ९. आदरात् । १० अज्ञजनः । ११ द्वन्द्व स्त्रीपुंसमिथुनम् । १२ नैरपेक्ष्ये । १३ प्रदर्श्यमाने सति । १४. कर्मापेक्ष उत्कर्षः ।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । [१]तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । [२]तद्वां नरा सनये दᳪस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् ।

उस इस मधुविज्ञान को दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि ने अश्विनीकुमारों को बतलाया था। इसी मधु को देखते हुए मन्त्र ने कहा था—मेघ जिस प्रकार वृष्टि करता है, हे नराकृति अश्विनीकुमारो! वैसे ही ब्रह्मविद्या की प्राप्तिरूप लाभ के लिये किये हुए तुम दोनों का यह उग्रदंस कर्म मैं प्रकट कर

वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते" [३]इति श्रुतेः। याज्ञवल्क्यो [४]लोकसाधारणोऽपि सन्नात्मज्ञानबलाद्भार्यापुत्रवित्तादिसंसाररतिं परित्यज्य प्रज्ञानतृप्त आत्मरतिर्बभूव। अपि चैवं स्तुता ब्रह्मविद्या। यस्माद्याज्ञवल्क्येन संसारमार्गाद्व्युत्तिष्ठताऽपि प्रियायै भार्यायै [५]प्रीत्यर्थमेवाभिहिता। [६]प्रियं भाषस एह्यास्स्वेति लिङ्गात्।

तत्रेयं स्तुत्यर्थाऽऽख्यायिकेत्यवोचाम। का पुनः साऽऽख्यायिकेति। उच्यते—

त्यर्थः। विधान्तरेण तस्याः स्तुतिमाह—अपि चैवमिति। कथं ब्रह्मविद्या भार्यायै प्रीत्यर्थमेवोक्तेति गम्यते तत्राऽऽह—प्रियमिति।

आख्यायिकायाः स्तुत्यर्थत्वं प्रतिपाद्य वृत्तमनूद्याऽऽकाङ्क्षापूर्वकं [७]तामवतार्य व्याकरोति—तत्रे-

---

की इस प्रकार भी स्तुति की गई है। सभी अज्ञानी लोग स्त्री-पुरुष मिथुन में रमण करने वाले हैं। "उस प्रजापति ने आनन्द का अनुभव नहीं किया, इसी से आज भी एकाकी पुरुष रति का अनुभव नहीं करता (इष्ट वस्तु के संयोग से होने वाली क्रीडा का नाम ही रति है, ऐसी रति के लिए और अरति की निवृत्ति के लिए) उस प्रजापति ने दूसरी वस्तु अर्थात् स्त्री की अभिलाषा की।" याज्ञवल्क्य मनुष्यत्वादि से इतरजन सदृश न होते हुए भी आत्मज्ञान के प्रभाव से भार्या, पुत्र एवं वित्तादिरूप संसार की रति को त्याग कर प्रज्ञानब्रह्म में ही तृप्त हुए आत्मरति वाले हो गये। इसके अतिरिक्त ब्रह्मविद्या की इस प्रकार भी स्तुति की गई है। क्योंकि याज्ञवल्क्य ने संसार मार्ग से उपराम होकर भी अपनी प्रिया पत्नी को (उसके मोह के लिए नहीं, बल्कि) आनन्द के लिए ही इस का उपदेश किया था। "हे मैत्रेयी! तू चित्त के अनुकूल (अमृतत्व के साधन की) बात पूछ रही है, आ बैठ जा (तुझे तेरे अभीष्ट अमृतत्वसाधन आत्मज्ञान का उपदेश करता हूँ)" ऐसा अर्थप्रकाशनसामर्थ्य से जाना जाता है।

---

१ तत्—तत्र वृत्तम्। एतत्—दृष्टिदृष्टम्। ऋषिर्मन्त्रस्तद्द्रष्टा वा। २ तद्वामित्यादि—मन्त्रवर्णयोजनेयम् तथाहि—हे नराकारावश्विनौ भवद्भ्यां लुब्धप्राकृतजनवत् सनये लाभाय यद्दᳪस कर्म उग्र क्रूर कृत रहसि, वां युवयोस्तद्दᳪस कर्म आविष्कृणोमि प्रकट करोमि, क कामिव तन्यतु पर्जन्यो वृष्टिं न वृष्टिमिव यत् कथ्यत्वेन वक्ष्यमाणमात्मज्ञानाख्यं मधु दध्यङ्नामाऽऽथर्वणो वां युवाभ्यामश्वस्य शीर्ष्णा शिरसा प्रयदीमुवाच प्र यद् ईम् इति च्छेदः। यत्प्रोवाच तदप्याविष्कृणोमीति संबन्धः। ह ईम् अनर्थकौ निपातौ॥ ३. बृ० उ० १।४।३। ४. मनुष्यत्वादिनेतरजनसदृक्षोऽपि। ५. आनन्दार्थं न तु तस्या मोहवत्तया। ६. बृ० उ० २।४।४। ७. आख्यायिकाम्।

दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा
प्र यदीमुवाचेति ॥ १६ ॥

देता हूँ । जिस मधुविज्ञान को दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि ने तुम अश्विनीकुमारों के प्रति घोड़े के शिर से प्रतिपादन किया था (मेघगर्जन के समान मन्त्र ने अश्विनीकुमारों के इस दुर्धर्ष कर्म की घोषणा कर दी है, जो वैदिक इतिहास मे प्रसिद्ध है) ॥१६॥

इदमित्यनन्तरनिर्दिष्टं व्यपदिशति बुद्धौ संनिहितत्वात्। वैशब्दः स्मारणार्थः । तदित्याख्यायिकानिर्वृत्तं [1]प्रकरणान्तराभिहितं परोक्षं वैशब्देन स्मारयन्निह व्यपदिशति । यत्तत्प्रवर्ग्यप्रकरणे सूचितं नाऽऽविष्कृतं मधु तदिदं मध्वि[2]हानन्तरं निर्दिष्टमियं[3] पृथिवीत्यादिना । कथं [4]तत्र [5]प्रकरणान्तरे सूचितं दध्यङ् [6]ह वा आभ्यामाथर्वणो मधु नाम ब्राह्मणमुवाच ।

तदेनयोः प्रियं धाम तदेवैनयोरेतेनोपगच्छति । स होवाचेन्द्रेण वा उक्तोऽस्म्येत-

त्यादिना । ब्रह्मविद्या सप्तम्यर्थः । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—यदिति । दध्यङ्ङित्यादि व्याकुर्वन्नाकाङ्क्षापूर्वकं प्रवर्ग्यप्रकरणस्थामाख्यायिकामनुकीर्तयति—कथमित्यादिना । आभ्यामश्विभ्यामिति यावत् ।

केन कारणेनोवाचेत्यपेक्षायामाह—तदेनयोरिति । एनयोरश्विनोस्तन्मधु प्रीत्यास्पदमासी[7]त्तद्धात्ताभ्यां प्रार्थितो ब्राह्मणस्तदुवाचेत्यर्थः । यदश्विभ्यां मधु प्रार्थितं तदेतेन वक्ष्यमाणेन प्रकारेण प्रयच्छन्नेवैनयोरश्विनोराचार्यत्वेन ब्राह्मणः समीपगमनं कृतवानित्याह—तदेवेति । [8]आचार्यस्यानन्तरं

यहाँ यह आख्यायिका आत्मज्ञान की स्तुति के लिये है—ऐसा हम कह आये हैं । तो फिर वह आख्यायिका क्या है ? इसे अब श्रुति बतलाती है—मन्त्र मे "इदं" पद अनन्तर निर्दिष्ट का बोधक है क्योंकि उसका बुद्धि मे सन्निहित होना सिद्ध है । "वै" शब्द स्मरण कराने के लिए है । "तत्" यह पद आख्यायिका में आने वाले एव प्रकरणान्तर (प्रवर्ग्य) मे कहे हुए परोक्ष मधु का "वै" शब्द से स्मरण दिलाकर व्याख्यान करता है । जिस मधु को आविष्कृत न कर प्रवर्ग्यप्रकरण मे केवल सूचित ही किया है; उसी इस मधु को यहाँ विद्याप्रकरण में "इयं पृथिवी" आदि मन्त्र से अनन्तर निर्दिष्ट किया है । प्रवर्ग्याख्य कर्मप्रकरण मे इसकी सूचना किस प्रकार दी गई है ? दध्यङ् आथर्वण ऋषि ने (उन्ही वाक्यों के अनुवाद के रूप मे) उन दोनों अश्विनीकुमारो को इस मधुब्राह्मण का उपदेश किया ।

"यह इन दोनो का प्रिय धाम है" इसी अग्रिम ग्रन्थ के प्रतिपादित विषय को हृदय मे रखकर इन दोनो के पास ब्राह्मण आचार्यत्व रूप से जाता है । वह दध्यङ् आथर्वण बोला कि इन्द्र के द्वारा

१. प्रवर्ग्यप्रकरणान्तरेति यावत् । २. विद्याप्रकरण । ३. बृ० उ० २।५।१ । ४. प्रवर्ग्याख्ये । ५. कर्मप्रकरणे । ६. तत्रत्यवाक्यानुवादोऽयम् । ७. तद्विषयतज्जिज्ञासोत्कट्यादिति यावत् । ८. आचार्यस्वस्वीकारानन्तरम् ।

च्चेदन्यस्मा अनुब्रूयास्तत एव ते शिरश्छिन्द्यामिति । तस्माद्वै बिभेमि यद्वै मे स शिरो न च्छिन्द्यात्तद्वामुपनेष्य इति । तौ होचतुरावां त्वा तस्मात्त्रास्यावहे इति । 'कथं मा त्रास्येथे इति । 'यदा नावुपनेष्यसे । अथ ते शिरश्छित्त्वाऽन्यत्राऽऽहृत्योपनिधास्यावः । 'अथाश्वस्य शिर आहृत्य तत्ते प्रतिधास्यावः । 'तेन 'नावनुवक्ष्यसि । "स यदा नावनुवक्ष्यसि" । "अथ ते "तदिन्द्रः शिरश्छेत्स्यति । अथ ते स्वं शिर आहृत्य "तत्ते प्रतिधास्याव इति । "तथेति तौ होपनिन्ये । तौ यदोपनिन्ये । "अथास्य" शिरश्छित्त्वा"ऽन्यत्रोपनिदधतुः । अथाश्वस्य शिर आहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतुः । "तेन हाऽऽभ्यामनूवाच । स यदाऽऽभ्यामनूवाचाथास्य

ब्राह्मणस्य वचन दर्शयति—स होवाचेति । एतच्छब्दो "मध्वनुभवविषयः । यद्यर्थो यच्छब्दः । तच्छब्दस्तर्हीत्यर्थं । वा युवामुपनेष्ये शिष्यत्वेन स्वी करिष्यामीति यावत् । तौ देवभिषजावश्विनौ, शिरश्छेदनिमित्त मरण पञ्चम्यर्थः । नावावामुपनेष्यसे शिष्यत्वेन स्वी करिष्यसि यदेति यावत् । अथशब्दस्तदेत्यर्थ. । ब्राह्मणस्यानुज्ञानन्तर्यमथेत्युक्तम् । मधुप्रवचनानन्तर्यं तृतीयस्याथशब्दार्थ । यदश्वस्य

मुझे (अच्छी तरह) समझा दिया गया है कि यदि मैं इस ब्रह्मविद्या का उपदेश किसी दूसरे के लिए करूंगा तो फौरन मेरा शिर धड से अलग कर दिया जायगा । इसी से मुझे भय लगता है । यदि वह मेरा शिर धड से अलग न करे, तो मैं तुम्हे (ब्रह्मविद्या हेतु) सन्निधि के लिए वरण करता हूँ । उन दोनो अश्विनीकुमारो ने कहा—(ठीक है) हम दोनो तुम्हारी (उस इन्द्र के त्रास से) रक्षा करेंगे । दध्यड् आथर्वण बोला—मेरी रक्षा आखिर करोगे कैसे ? (उन दोनो ने कहा—)जिस समय आप सन्निधि के लिए हमारा वरण करेंगे, उस समय आपका शिर धड से निकाल कर, हाथो से अश्व के शिर को निकाल कर, वहाँ उस मे (शल्यचिकित्सा द्वारा) लगा देंगे । इस प्रकार आप का शिर अश्व मे सस्थापित कर के अश्व के शिर को लाकर (शल्यचिकित्सा द्वारा ही) तुम्हारे धड के ऊपर जोड देंगे । आप अश्व के शिर द्वारा हमे उपदेश करेंगे । जिस समय आप हम मधुब्राह्मण का उपदेश करगे, तब आपका अश्ववाला शिर इन्द्र धड से अलग कर देगा । इसके बाद अश्व के धड मे सस्थापित हुआ आपका अपना शिर लाकर हम आपमे प्रतिस्थापित कर देंगे । "तथास्तु" कहकर दध्यड् आथर्वण ने दोनो अश्विनीकुमारो का वरण किया । जब उन दोनो का सन्निधि मे वरण किया तो उनके ब्राह्मण का शिर निकाल कर उसे अश्व मे बैठा दिया और अश्व का शिर लाकर उसमें प्रतिस्थापित कर दिया । उन्होने अश्वशिर से (हृदय मे प्रतिष्ठित ब्रह्मविद्या का) उन अश्विनीकुमारो को उपदेश किया । जब उन्होने उपदेश दिया तो इन्द्र ने उस अश्व के शिर को धड से अलग कर दिया । इसके पश्चात् उन्होंने इन (दध्यड् आथर्वण)

---

१ ब्राह्मण आह—वर्यमिति । २ तावाहतुर्यदेति । ३ अश्वे । ४ उद्धृत्य हस्ताभ्याम् । ५ त्वच्छिरोऽश्वे सस्थाप्य । ६ स्कन्धे । ७ सयोजयाव । ८ अश्वशिरसा । ९ आवाभ्यामुपदेक्ष्यसि । १० त्वम् । ११ मधु । १२ मधुप्रवचनानन्तरम् । १३ अश्व्यम् । १४ तत्ते इति—अश्व्य शिर आहृत्याश्वकबन्धे प्रतिधास्यावस्तव च स्व शिरस्त्व कबन्ध प्रतिधास्याव इति योजना । १५ तथास्त्वित्युक्त्वा । १६ ब्राह्मणानुज्ञानान्तरम् । १७ ब्राह्मणस्य । १८ अश्वे । १९ अश्वशिरसा । २०. मधुविद्याविषयक इत्यर्थ ।

तदिन्द्रः शिरश्छिच्छेद । अथास्य स्वं शिर आहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतुरिति । यावत्तु प्रवर्ग्यकर्माङ्गभूतं मधु तावदेव तत्राभिहितं न तु कक्ष्यमात्मज्ञानाख्यम् । तत्र याऽऽख्यायिकाऽभिहिता सेह स्तुत्यर्था प्रदर्शिता । इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽनेन प्रपञ्चेनाश्विभ्यामुवाच ।

तदेतदृषिस्तदेतत्कर्म ऋषिर्मन्त्रस्तद्द्रष्टा वा पश्यन्नुपलभमानोऽवोचदुक्तवान् । कथम् । तद्दंस इति व्यवहितेन संबन्धः । दंस इति कर्मणो नामधेयम् । तच्च दंसः किंविशिष्टम् । उग्रं क्रूरम् । वा युवयोः । हे नरा नराकारावश्विनौ । तच्च कर्म किंनिमित्तम् । सनये लाभाय । लाभलुब्धो हि लोकेऽपि क्रूरं कर्माऽऽचरति तथैवैतावुपलभ्येते यथा लोके तदाविः प्रकाशं कृणोमि यद्रहसि भवद्भ्यां कृतम् । किमिवेत्युच्यते । तन्यतुः पर्जन्यो

शिरो ब्राह्मणे निबद्धं तस्य च्छेदनानन्तर्यं चतुर्थस्याथशब्दस्यार्थः । तर्हि समस्तमपि मधु प्रवर्ग्यप्रकरणे प्रदर्शितमेवेति कृतमनेन ब्राह्मणेनेत्याशङ्क्याऽऽह—यावत्त्विति । प्रवर्ग्यप्रकरणे स्थिताऽऽख्यायिका किमर्थमत्राऽऽनीतेत्याशङ्क्य तस्या ब्रह्मविद्यायाः स्तुत्यर्थमाख्यायिकेत्यत्रोक्तमुपसंहरति—तत्रेति । ब्राह्मणभागव्याख्या निगमयति—इदमिति ।

तद्वामित्यादिमन्त्रमुत्थाप्य व्याचष्टे—तदेतदिति । कथं लाभायापि क्रूरकर्मानुष्ठानमत आह—

का अपना शिर लाकर उनके धड मे पुन जोड दिया । किन्तु जितना भी प्रवर्ग्यकर्म का अङ्गभूत उपासनारूप यहाँ मधु है, उसी को ही यहाँ (प्रथम अध्याय मे) कहा गया है । आत्मज्ञानसज्ञक गोप्य मधुविद्या का व्याख्यान नही किया गया । प्रवर्ग्य प्रकरण मे जो आख्यायिका कही गयी थी, उसी को यहाँ स्तुति के लिए प्रदर्शित किया जाता है । यह वही मधुविद्या है जिसका दध्यङ् आथर्वण ब्राह्मण ने अनन्तरनिर्दिष्ट विस्तार पूर्वक दोनो अश्विनीकुमारो को उपदेश किया था ।

"तदेतत" अर्थात् इस कर्म को "ऋषि" अर्थात मन्त्र या मन्त्रद्रष्टा ने "पश्यन्" उपलब्ध करते हुए "अवोचत" अर्थात् कहा । उक्त श्रुतिवाक्य में दोनो पदो 'तद् दस" का इकट्ठा सम्बन्ध है । 'दस' यह कर्म का नाम है । उस दस नामक कर्म की विशिष्टता क्या है ? (दस कर्म) "उग्रम्" अर्थात् क्रूर है, 'वा नरा' अर्थात् तुम दोनो नराकार अश्विनीकुमारो को वह कर्म किसलिये कहता हूँ ? "सनये" अर्थात् लाभ के लिए । लोकव्यवहार मे भी देखा जाता है कि किसी उपलब्धिविशेष के लोभ मे आया हुआ व्यक्ति क्रूरकर्म का आचरण करता है । जिस प्रकार लोकव्यवहार मे होता है, उसी प्रकार ये दोनो (मधुविद्यालाभ के लिए प्रवृत्त) देखे जाते हैं । उस रहस्य का मैं "आवि कृणोमि" यानी उद्घाटन करता हूँ, जिसको एकान्त मे मैंने तुम दोनो को सकेत किया था । क्या अथवा किस के सदृश वह रहस्य है ?

---

१. उपासनरूपम् । २ प्रथमाध्याय । ३ गोप्यम् । ४ प्रवर्ग्यप्रकरणे । ५ इद वा इति । यदात्मज्ञानसाधन मधुब्राह्मण ब्राह्मणोऽश्विभ्यां प्रवर्ग्यसंनिपातव्यक्तमुक्तवान् तद् एतदेव यद् इय पृथिवीत्यादिनात्र स्फुटमुक्तमित्यर्थः । अनेन अनन्तरनिर्दिष्टेन विस्तरेणेत्यर्थ । ६ क कामिवत्यर्थं । ७ मधुप्रवचने यथोक्तकारणे स्थिते सति । ८. ब्रह्मविद्याप्रकरणे । ९. ६५०पृष्ठभाष्ये ।

नेव । नकारस्तू[1]परिष्टादुपचार[2] उपमार्थीयो वेदे न प्रतिषेधार्थः । यथाऽश्वं न । अश्वमिवेति यद्वत् । तन्यतुरिव वृष्टिं यथा [3]पर्जन्यो वृष्टिं [4]प्रकाशयति स्तनयित्न्वादिशब्दैस्तद्वदहं युवयोः क्रूरं कर्माऽऽविष्कृणोमीति संबन्धः । नन्वश्विनोः स्तुत्यर्थौ कथमिमौ मन्त्रौ स्यातां निन्दावचनौ हीमौ । नैष दोषः । स्तुतिरेवैषा न निन्दावचनौ । यस्मादीदृशमप्यतिक्रूरं कर्म कुर्वतोर्युवयोर्न लोम च हीयत इति । न चान्यत्किंचिद्धीयत एवेति स्तुतावेतौ[6] भवतः । निन्दां प्रशंसां हि [7]लौकिकाः स्मरन्ति । तथा प्रशंसारूपा च निन्दा लोके

लाभेति । ननु प्रतिषेधे मुख्यो नकारः कथमिवार्थे [8]व्याख्यायते तत्राऽऽह—नकारस्त्विति । वेदे [8]पदादुपरिष्टाद्यो नकारः श्रुतः स खलूपचारः सन्नुपमार्थोऽपि संभवति न निषेधार्थ एवेत्यर्थः । तत्रोदाहरणमाह—यथेति । अश्वं न गूढमश्विनेत्यत्र नकारो यथोपमार्थीयस्तथा प्रकृतेऽपीत्यर्थः । [9]तदेव [10]स्पष्टयति —अश्वमिवेति यद्वदिति । उपमार्थीये नकारे सति वाक्यस्वरूपमनूद्य तदर्थं कथयति—तन्यतुरित्यादिना । [11]विद्यास्तुतिद्वारा तद्वन्तावश्विनावत्र न स्तूयेते किं तु क्रूरकर्मकारित्वेन निन्द्येते तथा चाऽऽख्यायिका विद्यास्तुत्यर्थेत्ययुक्तमिति शङ्कते—नन्विति । आख्यायिकाया विद्यास्तुत्यर्थत्वमविरुद्धमिति परिहरति—नैष इति । लोममात्रमपि न हीयत इति यस्मात्तस्मा[12]द्विद्यास्तुत्या तद्वतोः स्तुतिरेवात्र विवक्षितेति योजना । यद्यपि क्रूरकर्मकारिणोरश्विनोर्न दृष्टहानिस्तथाऽप्यदृष्टहानिः स्यादेवेत्याशङ्क्य कैमुतिकन्यायेनाऽऽह—न चेति । कथं पुनर्निन्दायां दृश्यमानायां स्तुतिरिष्यते, तत्राऽऽह—निन्दामिति । न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुमपि तु विधेयं स्तोतुमिति न्यायादित्यर्थः । यथा निन्दा न निन्द्यं निन्दितुमेव तथा स्तुतिरपि स्तुत्यं स्तोतुमेव न भवति किंतु निन्दितुमपि [13]तथा च मा[14]नयोरव्य[15]वस्थितत्वमित्याह—तथेति । तद्वामित्यादिमन्त्रस्य पूर्वार्धं व्याख्यायाऽऽख्यायिकायाः स्तुत्यर्थत्वविरोधं

"तन्यतुर्न" अर्थात् पर्जन्य के समान है । यह नकार का प्रयोग वेद मे अनन्तर रहने के कारण उपचारमात्र मे उपमा के लिए होता है, प्रतिषेध अर्थ मे प्रयुक्त नही होता । जिस प्रकार "अश्व न" का अर्थ अश्व के समान है, इसी प्रकार यहाँ अर्थ है । पर्जन्य के समान वृष्टि को यानी जिस प्रकार मेघ गर्जनादि शब्दो के द्वारा वृष्टि को ज्ञापन करता है, उसी प्रकार मैं भी तुम दोनो के क्रूर कर्मो को प्रकाशित करता हूँ— ऐसा इसका सम्बन्ध है । इस पर पूर्ववादी आक्षेप करता है—ये दो मन्त्र अश्विनीकुमारो की स्तुति के लिए कैसे हो सकते हैं, ये तो उनकी निन्दा को वतला रहे हैं । इस पर सिद्धान्ती समाधान देता है— ऐसा कहने मे कोई दोष नही है । यह तो स्तुति ही है, निन्दापरक वचन नही है, क्योकि ऐसा क्रूरकर्म करने पर भी तुम्हारा रोममात्र भी बिगड़ नही सकता, न हो कोई दूसरी क्षति ही हो सकती है, इस-

---

१. न इवेति च्छेदः । २. अनन्तरम् । ३. गौणः । ४. मेघः । ५. ज्ञापयति । ६. एताविति— अश्विनौ, मन्त्राविति वार्थः । आद्ये स्तुताविति प्रथमा चरमे सप्तमीति । ७. लोकख्याताः । ८. अन्वयवाक्ये च पदादुपरिष्टात्पठ्यते—यथात्र वृष्टिं नेति । ९. अश्व नेति वाक्यमेव । १०. विवृणोति । ११. विद्यास्तुतिद्वारेति—यदि हि विद्यास्तुत्या स्यात्तदा तद्वन्तावेतावपि स्तुत्यावेव भवेताम् न हि स्तुत्यविद्याशालिनौ निन्दास्पदं भवतः । इमौ च स्पष्टं निन्द्येते, तथा च विद्यास्तुत्यर्थमाख्यायिकेति किं मेन सङ्गतमिति भावः । १२. विद्यास्तुतिद्वारेत्यर्थः । १३. न्यायतौल्योः । १४. स्तुतिनिन्दयोः । १५ स्तुत्यादावेव नियतत्वम् ।

[1]इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । आथर्वणायाश्विना[2] दधीचेऽश्व्यꣳ शिरः प्रत्यैरयतम् । स वां मधु [3]प्रवोचदृताय[4]त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वामिति ॥ १७ ॥

उस इस मधुविज्ञान को दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि ने अश्विनीकुमारों से कहा था। इसे देखते हुए मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने कहा—हे अश्विनीकुमारो! तुम दोनों ने दध्यङ्ङाथर्वण के लिए अश्व का शिर लाया और उस ऋषि ने सत्य का पालन करते हुए तुम्हें सूर्यसबन्धी मधु का विज्ञान कराया एव हे शत्रु-हिंसक! जो आत्मज्ञानसबन्धी गोपनीय मधुविज्ञान था (वह भी तुम्हें ऋषि ने बतला दिया था) ॥१७॥

प्रसिद्धा । दध्यङ्नामाऽऽथर्वणः । हेत्यनर्थको निपातः । यन्मधु [5]कक्ष्यमात्मज्ञानलक्षणमाथर्वणो वा युवाभ्यामश्वस्य शीर्ष्णा शिरसा प्रयदीमुवाच यत्प्रोवाच मधु । ईमित्यनर्थको निपातः ॥ १६ ॥

[7]इदं वै तन्मध्वित्यादि पूर्ववन्मन्त्रान्तर[8]प्रदर्शनार्थम् । [9]तथाऽन्यो मन्त्रस्तामेवाऽऽख्या-

---

चोद्धृत्योत्तरार्धं व्याचष्टे—दध्यङ्नामेति । यत्कक्ष्य ज्ञानाख्य मधु तदाथर्वणो युवाभ्यामश्वस्य शिरसा प्रोवाच । यद्वासौ मधु युवाभ्यामुक्तवांस्तदहमाविष्कृणोमीति सबन्ध ॥१६॥

[9]समानार्थत्वे किमिति पुनरुच्यते तत्राऽऽह—मन्त्रान्तरेति । तुल्यार्थस्य ब्राह्मणस्य तात्पर्यमाह

लिये ये दोनों मन्त्र स्तुतिपरक ही हैं। क्योंकि कहीं-कहीं लोकख्यात पुरुष प्रशसा को निन्दा के रूप में देखते हैं और इस प्रकार प्रशसारूपा निन्दा भी लोक में प्रसिद्ध है। "दध्यङ् आथर्वण" का अर्थ है, दध्यङ् नाम वाला आथर्वण। 'ह' यह (वाक्यालकार के लिए) निरर्थक निपात है। "यन्मधु" अर्थात् जिस आत्मज्ञानरूप गोप्य मधुविद्या का "वाम्" अर्थात् तुम दोनों को "अश्वस्य शीर्ष्णा" अर्थात् अश्व के शिर से "प्र यदीमुवाच" अर्थात् उपदेश किया था। मन्त्र में "ईम्" यह निरर्थक निपात है ॥१६॥

"इद वै तन्मधु" इत्यादि श्रुतिमन्त्र भी पूर्ववत् दूसरे मन्त्र के प्रस्ताव के लिए है। पूर्वमन्त्र की तरह दूसरे मन्त्र ने भी उसी आख्यायिका का अनुसरण किया। आथर्वण दध्यङ् नामा है, आथर्वण तो

---

१ इद वा इति। यत्प्रवर्ग्यप्रकरणे सूचित नाविष्कृत तदेवेद मधु, इह इय पृथिवीत्यादि नाऽनन्तरनिर्दिष्ट दध्यङ्नामाऽथर्वणो गोत्रापत्यमाथर्वणोऽश्विभ्यां देवभिषग्भ्यामुवाचोक्तवानित्यर्थं । तत्—वृत्त कर्म। एतत्—हृदिन्द्दृष्टम् । ऋषिर्मन्त्रस्तद्द्रष्टा वा पश्यन् उपलभमानोऽवोचत् प्रकटयामासेत्यर्थ । २ हे अश्विनौ । ३ अश्वशिरसेति ध्येयम्। ४ सत्यभाव आर्ष । ५ गोप्यम्। ६ आविष्कृणोमीति प्रतिज्ञाते क्रूरकर्म मधुनी, के त इत्याकाङ्क्षायामिद वै तन्मध्वित्याद्युक्तार्थब्राह्मणानुवादपूर्वक मन्त्रमाह—इदमिति । ७ प्रस्तावार्थम्। ८ पूर्वमन्त्रवत्। ९ पूर्वब्राह्मणेनैतद्ब्राह्मणस्य तुल्यार्थत्वे ।

यिकामनुसरति स्म । 'आथर्वणो' दध्यङ्नामाऽऽथर्वणोऽन्यो विद्यत इत्यतो विशिनष्टि दध्यङ्नामाऽऽथर्वणस्तस्मै दधीच आथर्वणाय हेऽश्विनाविति मन्त्रदृशो वचनम् । अश्व्यमश्वस्य स्वभूत शिरो ब्राह्मणस्य शिरसि छिन्नेऽश्वस्य शिरश्छित्वे'दृशमतिक्रूर कर्म कृत्वाऽश्व्यं शिरो ब्राह्मणं प्रत्यैरयतं गमितवन्तौ युवाम् । स चाऽऽथर्वणो वा युवाभ्या तन्मधु प्रवोचद्यत्पूर्वं प्रतिज्ञातं वक्ष्यामीति । स किमर्थमेव 'जीवितसदेहमारुह्य प्रावोचदित्युच्यते । ऋतायन्यत्पूर्वं प्रतिज्ञातं सत्यं तत्परिपालयितुमिच्छन् । जीवितादपि हि सत्यधर्मपरिपालना गुरुतरेत्येतस्य' 'लिङ्गमेतत्' । किं तन्मधु प्रावोचदित्युच्यते । त्वाष्ट्रं त्वष्टाऽऽदित्यस्तस्य 'सवन्धि 'यज्ञस्य शिरश्छिन्न त्वष्टाऽभव"तत्प्रतिसंधानार्थं प्रवर्ग्यं कर्म । "तत्र प्रवर्ग्यकर्माङ्गभूतं यद्विज्ञानं" तत्त्वाष्ट्रं मधु यज्ञस्य शिरश्छेदनप्रतिसंधानादिविषय "दर्शन

—तथेति । विशेषणकृत्य दर्शयन्व्याकरोति—दध्यङनामेति । प्रथममश्व्यमित्यादि", पदार्थ"वचनमश्वस्येत्यादौ" छित्त्वेत्यस्य" कर्मोक्तिरश्व्य शिर इत्यत्र त्वन्वयार्थमुक्तमिति विभाग । "प्रेक्षापूर्वकारिणामीदृशी प्रवृत्तिरयुक्तेति शङ्कित्वा समाधत्ते—स किमर्थमिति । ऋतायन्नित्यत्रार्थसिद्ध"मर्थं कथयति जीवितादपीति । "यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत ते देवा अश्विनावब्रुवन्भिषजौ वै स्थ इद यज्ञस्य शिर. प्रतिधत्तम्" इत्यादिश्रुत्यन्तरमाश्रित्याऽऽह—यज्ञस्येत्यादिना । प्रवर्ग्यकर्मण्येव प्रवृत्तेऽपि प्रकृते "विज्ञाने किमायातं तदाह—तत्रेति । उक्तमेव संगृह्णाति—यज्ञस्येति । यद्ययोक्त दर्शनं तत्त्वाष्ट्रं मधु यच्च

दूसरा भी हो जाता है इसलिए आथवण के साथ दध्यङ् विशेषण लगाया जाता है । उस दधीच आथर्वण के लिए 'हे अश्विनौ" यह मन्त्रद्रष्टा का सम्बोधन है । 'अश्व्यम्" अर्थात् अश्व के निजी शिर को, ब्राह्मण के शिर मे, एव ब्राह्मण के शिर को अलगकर अश्व के शिर मे, इस प्रकार (दो शिर छेदनरूप) अति क्रूरकर्म करके अश्व के शिर से 'प्रत्यैरयनम्" यानी ब्राह्मण के पास तुम दोनो ने पहुँचाया । एव "स" अर्थात् उस आथर्वण ने "वा" यानी तुम दोनो को 'मधु प्रवोचत' (अश्व के शिर से) उसी मधुविद्या का उपदेश दिया, जिसको कहने की पहल प्रतिज्ञा की थी । उसने इस प्रकार प्राणो को खतरे मे डालकर उसका उपदश क्यो किया ? इस पर श्रुति कहती है—"ऋतायन्" अर्थात् पूवप्रतिज्ञात सत्य को पालन करने के लिए । इससे यह अर्थ प्रकाशित होता है कि सत्यधर्म का पालन प्राणो से श्रेष्ठ है । वह मधु क्या है, जिसका उपदेश दिया ? इस पर कहा जाता है—'त्वाष्ट्रम्" तद्धितान्त शब्द मे त्वष्टा आदित्य का नाम है । आदित्यविषयक उपासना से यज्ञपुरुप का अलग किया हुआ शिर ही त्वष्टा हो गया, उस त्वष्टारूप शिर को प्रतिस्थापित करने के लिए प्रवर्ग्यकर्म है । वहाँ प्रवर्ग्यकर्माङ्ग भूत जो

---

१ अथवण इति पाठ । २ आथवण इति—दध्यङनामाऽऽथवण एक तदन्योऽपि कश्चिदाथवणाऽस्तीति तद्व्यवच्छेदाय विशिनष्टि—दध्यङ्नामनीति याजना । ३ द्वि शिरश्छेदलक्षणम् । ४ प्राणसन्देहमापद्य सन् । ५ अश्वस्य । ६ ज्ञापकम् । ७ ऋतायन्निति वाक्यम् । ८ आदित्यविषयक विज्ञानमुपासनमिति यावत् । ९ यज्ञपुरुषस्य 'यज्ञो वै विष्णु । १० त्वष्टृरूपशिर प्रतिसधानार्थमिति भाव । ११ अवतरणोक्तार्थमेतत् । १२ उपासनम् । १३ उपास्ति । १४ इत्यादिवाक्यघटक शिर पदमिति यावत् । १५ कथनम् । १६ वाक्ये । १७ शिर इति । १८ धी । १९ आथिकम् । २० त्वाष्ट्रमधुनि ।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः

उस इस मधुविज्ञान को दध्यङ्ङार्वण ने अश्विनीकुमारो से कहा था। इसे देखते हुए ऋषि से कहा है—परमात्मा ने दो पैरो वाले और चार पैरो वाले शरीर बनाये। पहले वह पुरुष पक्षी (लिङ्ग-शरीर) होकर स्थूल शरीरो मे प्रविष्ट हो गया। इसलिये वह यह परमेश्वर सभी शरीरो मे निवास

त्त्वाष्ट्रं यन्मधु। हे दस्रौ दस्राविति परबलानामुपक्षपयितारौ शत्रूणा वा[1] हिंसितारौ। अपि च न केवलं त्वाष्ट्रमेव मधु कर्मसंबन्धि युवाभ्यामवोचदपि च कक्ष्यं गोप्यं रहस्यं परमात्मसबन्धि [2]यद्विज्ञानं मधु मधुब्राह्मणेनोक्तमध्यायद्वयप्रकाशित तच्च वां युवाभ्या प्रवोचदित्यनुवर्तते ॥ १७ ॥

इद वै तन्मध्विति पूर्ववत्। उक्तौ द्वौ मन्त्रौ प्रवर्ग्यसंबन्ध्याख्यायिकोपसंहर्तारौ। द्वयोः प्रवर्ग्यकर्मार्थयोरध्याययोरर्थ[3] आख्यायिकाभूताभ्या मन्त्राभ्या प्रकाशितः। ब्रह्म-

---

तन्मधु तत्प्रवोचदिति सबन्ध। अध्यायद्वयप्रकाशित तृतीयचतुर्थाभ्यामध्यायाभ्या प्रकटितमिति यावत् ॥१७॥

उक्तमन्त्राभ्या वक्ष्यमाणमन्त्रयोर[4]पुनरुक्तत्वाथवत्त्व वक्तु वृत्त कीर्तयति—उक्ताविति। उत्तरमन्त्रद्वयप्रवृत्ति प्रतिजानीते— [5]आख्यायिकाविशेषणप्राप्त [6]सकोच परिहरति—द्वयोरिति।

यज्ञपुरुष के शिरच्छेदन और प्रतिस्थापनादिविषयक जो उपासना है, वही त्वाष्ट्र मधु है। दस्रौ अर्थात् हे दस्युओ! यहाँ दस्रौ से तात्पर्य है—परपक्ष के शत्रुओ के बल को क्षीण करने वाले हे हिंसको! इसके अतिरिक्त उन्होने केवल कर्मसम्बन्धी त्वाष्ट्र मधु का ही उपदेश नही किया, अपितु 'कक्ष्यम्' यानी जो परब्रह्मविषयक गोपनीय रहस्यमय प्रत्यग्यायात्म्यदर्शन मधुविद्या है, उसी का मधु ब्राह्मण द्वारा उक्त दो अध्यायो मे प्रकाशित किया गया, उसी का 'वाम्' अर्थात् तुम दोनो का उपदेश किया। वा के पश्चात् 'प्रवोचत्' क्रिया की अनुवृत्ति इसी श्रुतिवाक्य से ग्रहण हो जाती है ॥१७॥

"इद वै तन्मधु" इस श्रुति का अर्थ पूर्वमन्त्रप्रतिपादित भाष्य के अनुसार समझ लेना चाहिये। उपरोक्त दो श्रुतिमन्त्र प्रवर्ग्यसम्बन्धी आख्यायिकाभूत मन्त्रो का उपसंहार करने वाले हैं। ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी तृतीय और चतुर्थ दो अध्यायो का अर्थ आगे के दो श्रुतिमन्त्रो द्वारा प्रकाशित करना, है इस-

---

१ यदाना वेत्यपि द्रष्टव्यम्। २ प्रत्यग्याथात्म्यदर्शनम्। ३ त्वाष्ट्रमध्वाख्य। ४ अपुनरुक्तत्वन सार्थक्यम्। ५ आख्यायिकारूपविशेषणमिति यावत्। ६ आख्यायिकामात्रोपसहारकत्वरूपम्।

पुरुष आविशदिति। स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पूरिशयो नैनेन किंचनानावृतं नैनेन किंचनासंवृतम् ॥ १८ ॥

करने के कारण पुरुष कहलाता है। ससार मे ऐसा कुछ भी नही है जो उस पुरुष से आच्छादित न हो तथा ऐसा भी कुछ नही है जिसमे परमेश्वर का प्रवेश न हुआ हो, इससे परमात्मा की सर्वव्यापकता स्पष्ट हो जाती है ॥१८॥

विद्यार्थयोस्त्व[1]ध्याययोरर्थं उत्तराभ्यामृग्भ्या प्रकाशयितव्य इत्यतः [2]प्रवर्तते। [3]यत्कक्ष्यं च मधूक्तवानाथर्वणो युवाभ्यामित्युक्तम्। किं पुनस्तन्मध्वित्युच्यते। पुरश्चक्रे पुरः पुराणि शरीराणि यत इयमव्याकृतव्याकरणप्रक्रिया [4]स परमेश्वरो नामरूपे अव्याकृते व्याकुर्वाणः प्रथमं[5] भूरादींल्लोकान्सृष्ट्वा चक्रे कृतवान्द्विपदो द्विपादुपलक्षितानि मनुष्यशरीराणि पक्षिशरीराणि। तथा पुरः शरीराणि चक्रे चतुष्पदश्चतुष्पादुपलक्षितानि पशुशरीराणि। पुरः पुरस्तात्स ईश्वरः पक्षी लिङ्गशरीरं भूत्वा पुरः शरीराणि पुरुष [6]आविशदित्यस्यार्थ-[7]माचष्टे श्रुतिः। स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु सर्वशरीरेषु पुरिशयः पुरि शेत इति

ब्रह्मेति। सप्रत्य'वान्तरसगतिमाह—यत्कक्ष्य चेति। हिरण्यकर्तृकं शरीरनिर्माणमत्र नोच्यते किंतु प्रकरणबलादीश्वरकर्तृकमित्याह—यत इति। शरीरसृष्ट्यपेक्षया लोकसृष्टिप्राथम्यम्। पुरस्ताद्देहसृष्ट्यनन्तर प्रवेशात्पूर्वमिति यावत्। 'स हि सर्वेषु शरीरेषु वर्तमानः पुरि शेत इति व्युत्पत्त्या पुरिशयः

लिए "इद वै—" यहाँ से श्रुति मन्त्रद्वय का प्रतिपादन करती है। यह तो कह ही चुके हैं कि आथर्वण ने तुम दोनो से त्वाष्ट्र ज्ञान (मधुविद्या) को गोपनीय ज्ञान के प्रति हेतुत्व सम्पादन किया था। तो फिर वह मधुविद्या क्या है? इस पर कहा जाता है। "पुरश्चक्रे" मे पुर शब्द शरीरवाचक है क्योकि यह अव्याकृत ब्रह्म के व्याकृत होने की प्रक्रिया है। इसलिये उस परमेश्वर ने, अव्याकृत नाम-रूपो को व्याकृत करते हुए शरीर की सृष्टि से पूर्व (भूतोत्पत्ति क्रम से) पृथिवी आदि लोको को उत्पन्न करके "द्विपद" अर्थात् दो पैरो से उपलक्षित मनुष्य और पक्षी शरीरो को "चक्रे" अर्थात् उत्पन्न किया। उसके बाद उसने "चतुष्पद" अर्थात् चार पैरो से उपलक्षित पशु के शरीरो को रचा। "पुर" अर्थात् पहले वह ईश्वर पक्षी लिङ्गशरीर होकर "पुर" यानी शरीरो मे पुरुष-रूप से प्रविष्ट हो गया। इसी वाक्य का अर्थ श्रुति स्पष्ट करती है। वह यह पुरुष "सर्वासु पूर्षु" सब शरीरो मे पुरिशय है, इसलिए पुरुष कहा जाता है। 'पुरि' यानी शरीरो मे शयन करने से पुरिशय नाम

१. तृतीयचतुर्थयो। २ प्रवर्तत इति—इद वा इत्याद्युक्तार्थब्राह्मणपूर्वक मन्त्रद्वयमिति शेष। ३. यत्कक्ष्य चेति—त्वाष्ट्रज्ञानस्य कक्ष्यज्ञान प्रति हेतुत्व द्योतयितु चकारस्तथा च हेतुहेतुमद्भावस्तयोरवान्तरसङ्गतिरिति ध्वनितम्। ४ अत। ५ शरीरसृष्टे. प्राक् भूतोत्पत्तिक्रमेणेति बोध्यम्। ६ जलचन्द्रवत्। ७ कथमीश्वरस्य पुरुषत्वमित्यपेक्षायाम्। ८. प्राच्याभ्यामुदीच्यमन्त्रयो.। ९. परमात्मा।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।

उस इस मधु को दध्यङ्ङाथर्वण ने अश्विनीकुमारो से कहा। यह देखते हुए मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने कहा—वह परमात्मा रूप रूप के प्रतिरूप हो गया। अपना वह रूप अभिव्यक्त करने के लिए वही परमेश्वर माया से अनेक रूप वाला दीखता है। शरीररूप रथ मे इसके इन्द्रिय घोडे सौ और दश हैं।

पुरिशयः सन्पुरुष इत्युच्यते । नैनेनानेन[1] किंचन [2]किंचिदप्यनावृतमनाच्छादितम् । तथा नैनेन किञ्चनासंवृतमन्तर[3]ननुप्रवेशितं बाह्यभूतेना[4]न्तर्भूतेन च नानावृतम्[5] । [6]एवं स [7]एव नामरूपात्मनाऽन्तर्बहिर्भावेन कार्यकरणरूपेण [8]व्यवस्थितः । पुरश्चक्र इत्यादिमन्त्रः संक्षेपत आत्मैकत्वमाचष्ट [9]इत्यर्थः ॥१८॥

इदं वै तन्मध्वित्यादि पूर्ववत् । रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । रूपं रूपं प्रति प्रति-

सन्पुरुषो भवतीत्युक्त्वा "प्रकारान्तरेण" पुरुषत्वं व्युत्पादयति—नेत्यादिना । वाक्यद्वयस्यैकार्थत्वमाशङ्क्य सर्वं जगदोतप्रोतत्वेनाऽऽत्मव्याप्तमित्यर्थविशेषमाश्रित्याऽऽह—बाह्यभूतेनेति । "पूर्णत्वे सत्यात्मनः 'दिव्यो ह्यमूर्तः'" इत्यादिश्रुतिमाश्रित्य फलितमाह—एवमिति । मन्त्रब्राह्मणयोर"र्थैकमत्यमाशङ्क्याऽऽह—पुर इति ॥ १८ ॥

"प्राचीनमेव ब्राह्मणमनूद्य मन्त्रान्तरमवतारयति—इदमिति । प्रतिशब्द"स्तन्त्रेणोच्चरित' ।

पडा । "नैनेन किंचनानावृत" यानी इस आत्मा से कुछ भी वस्तु अव्याप्त नही है । "नैनेन किंचनासवृतम्" यानी इस से भिन्न कोई वस्तु नही है, जो बाह्यभूत और अन्तर्भूत आत्मा के द्वारा अनुप्रवेशित न हो और व्याप्त न हो । उक्त रीति से (आत्मा की पूर्णता सिद्ध होने पर) वह आत्मा ही नामरूपात्मक अन्तर्बाह्य भाव से कार्य कारणरूप से स्थित है (उससे भिन्न अणुमात्र भी नही है)। "पुरश्चक्रे" इत्यादिमन्त्र आत्मैकत्व को सक्षेप से निरूपण करता है। इस प्रकार पुरुषशब्द का अर्थ वर्णित किया गया ॥१८॥

"इद वै तन्मधुं" इत्यादि श्रुतिवाक्य का अर्थ पूर्वमन्त्र के अर्थ समान है। "रूप रूप प्रतिरूपो

१ आत्मना । २. वस्तु अव्याप्तम् ओततन्तुभिरिव वस्त्रम् । ३ प्रोतैरिव वास । ४. आत्मना । ५. अव्याप्तम् । ६ एवमिति—उक्तरीत्याऽऽत्मन पूर्णत्वे सतीत्यर्थ । ७ आत्मैव । ८ व्यवस्थित इति—न ततोऽन्यदणुमात्रमप्यस्तीति न द्वैतापत्तिशङ्कालुकोऽपीति भावः । ९ इति पुरुषशब्दार्थो वर्णित इत्यर्थ. । १०. आधाराधेयनिर्देशाद्द्वैतापत्तिमाशङ्क्य प्रकारान्तरानुसरणम् । ११. प्रकारान्तरेणेति—पूरयति सर्वं स्वात्मनेति व्युत्पत्त्येत्यर्थं । तथा च वार्तिके—"पूर्णत्वात्पुरुष सोऽयं ब्रह्मैक पुरुषस्तत." ॥१२२॥ इति । ब्रह्म पूर्णं अथ पुरुषस्य तत्त्वमत आह—ब्रह्मेति । १२. एतद्वाक्यद्वयेन । १३. पुरुष "स बाह्यान्तरो ह्यज" । १४. विरोध विसवाद वैलक्षण्यमिति वा । १५. त्रिपूर्वमुक्तमिद वा इत्यादि ब्रा० । १६. अनेकार्थतात्पर्येण ।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति । अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च [1]तदेतद्ब्रह्मा-[2]पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म [3]सर्वा-नुभूरि[4]त्यनुशासनम् ॥ १९ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

यह परमात्मा ही इन्द्रियरूप अश्व भी यही दश सहस्र, अनेक एवं अनन्त हैं। वह यह ब्रह्म कारणरहित, कार्यरहित, विजातीय द्रव्य, ससर्गशून्य और अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला परमात्मा है। बस यही सम्पूर्ण वेदान्तो का उपदेश है ॥१९॥

॥ इति पञ्चम ब्राह्मणम् ॥

रूपो रूपान्तरं बभूवेत्यर्थः । प्रतिरूपो[5]ऽनुरूपो वा यादृक्[6]संस्थानौ मातापितरौ तत्संस्थान-स्तदनुरूप एव पुत्रो जायते । न हि चतुष्पदो द्विपाज्जायते द्विपदो वा चतुष्पात् । स एव हि परमेश्वरो नामरूपे व्याकुर्वाणो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । किमर्थं पुनः [7]प्रतिरूपमा-

---

रूप रूपमु[8]पाधिभेदं प्रति प्रतिरूपो रूपान्तरं प्रतिबिम्बं बभूवेत्येतत्प्रतिरूपो बभूवेत्यत्र विवक्षितमिति योजना । अनुरूपो वेत्युक्तं विवृणोति—यादृगित्यादिना । उक्तमर्थमनुभवारूढं करोति—न हीति । रूपान्तरभवने कर्त्रन्तरं वारयति—स एव हीति । प्रतिख्यापनाय शास्त्राचार्यादिभेदेन तत्त्वप्रकाशना-

---

बभूव" अर्थात् देह-देह क प्रति (यानी उपाधिभेद के प्रति प्रतिबिम्ब) रूपान्तर हो गया। (अवच्छेद पक्ष को प्रदर्शित किया जाता है—) "प्रतिरूप." यानी अनुरूप हो गया। (लोकव्यवहार मे) जिस प्रकार की आकृति वाले माता-पिता होते है, उसी आकृति के अनुरूप ही पुत्र उत्पन्न होता है। ऐसा नही हुआ करता कि चतुष्पाद उपलक्षित पशुशरीरो से द्विपाद उपलक्षित मनुष्यशरीरो की उत्पत्ति हो जाय अथवा मनुष्यो से पशुओ की उत्पत्ति हो जाय। वह परमेश्वर ही नाम-रूप से व्याकृत होकर

---

१ इदानीमात्मन पारमार्थिक स्वरूपमाह—तदेतदिति । अपूर्वादिरूप यद्ब्रह्म तदेवैतत् समस्त जगत् न तद्व्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः । २ किं तद्ब्रह्म आत्मनोऽर्थान्तर नेत्याह—अयमिति । अय प्रत्यगात्मैव ब्रह्मेति न ब्रह्म परोक्ष ब्रह्माभेदाच्च न प्रतीच ससारित्वमित्यभिप्राय । ३. कोऽसौ प्रत्यगात्मा तत्राऽऽह—सर्वानुभूरिति । सर्वरूपाऽनुभवरूपश्चेत्यर्थः । तदुक्त वार्तिके—"सर्वोऽनुभव एवायमत सर्वानुभू पर । कार्त्स्न्यात्सर्वो भवेदेष चि"मात्रत्वात्तथाऽनुभू" ॥१४५॥ इति । कार्त्स्न्यं पूर्णत्वम् । ४ इत्यनुशासनमिति—"इतीत्युक्तपरामर्शो वेदाज्ञा चानुशासनम् । कर्तव्यमेतद्विज्ञानमिति वेदानुशासनम् ॥ अस्यातिलङ्घने दोष ससारानर्थसङ्गति । कुर्वतश्च महाँल्लाभ आत्मन कृतकृत्यतेति" ॥१४६-१४७॥ ५ अवच्छेदपक्ष दर्शयति—अन्विति । ६ सस्थानमाकृति. । ७ प्रत्युपाधिरूपमिति यावत् । ८ देह देह प्रतीति यावत् ।

गमनं तस्येत्युच्यते । तदस्याऽऽत्मनो रूपं प्रतिचक्षणाय प्रतिख्यापनाय । यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते तदाऽस्याऽऽत्मनो निरुपाधिकं रूपं प्रज्ञानघनाख्यं न प्रतिख्यायेत । यदा पुनः कार्यकरणात्मना नामरूपे व्याकृते भवतस्तदाऽस्य रूपं प्रतिख्यायेत । इन्द्रः परमेश्वरो मायाभिः प्रज्ञाभिर्नामरूपकृतमिथ्याभिमानैर्वा न तु परमार्थतः पुरुरूपो बहुरूप ईयते गम्यते एकरूप एव प्रज्ञानघनः सन्नविद्याप्रज्ञाभिः । कस्मात्पुनः कारणात्" । युक्ता रथ इव वाजिनः स्वविषयप्रकाशनाय हि यस्मादस्य" हरयो हरणादिन्द्रियाणि शता "शतानि

येत्यर्थः । "तदेव व्यतिरेकेणान्वयेन च स्फुटयति—यदि हीत्यादिना । मायाभिः प्रज्ञाभिरिति "परपक्षमुक्त्वा स्वपक्षमाह—मायाभिरिति । मिथ्याधीहेतुभूतानाद्यनिर्वाच्य"दण्डायमानाज्ञानवशादेव बहुरूपो भाति । प्रकारभेदात्तु "बहूक्तिरिति । वाक्यार्थमाह—एवरूप एवेति । अविद्याप्रज्ञाभिर्बहुरूपो गम्यत इति पूर्वेण संबन्धः । परस्य बहुरूपत्वे निमित्तं प्रश्नपूर्वकं निवेदयति—कस्मादित्यादिना । यथा रथे युक्ता वाजिनो रथिनं "स्वगोचरं देशं प्रापयितुं प्रवर्तन्ते तथाऽस्य "प्रतीचो रथस्थानीये शरीरे युक्ता "हरयः स्वविषयप्रकाशनाय यस्मात्प्रवर्तन्ते तस्मादिन्द्रियाणां तद्विषयाणां च बहुलत्वा"त्तत्तद्रूपैरेव बहुरूपो भातीति योजना । हरिशब्दस्येन्द्रियेषु प्रवृत्तौ निमित्तमाह—हरणादिति । प्रतीचो विषया-

रूप-रूप के अनुरूप हो गया । उसमे प्रत्युपाधि का आगम किसलिये हुआ, उसे बतलाया जाता है "तदस्य"
अर्थात् उस प्रतिबिम्बात्मक आत्मा के रूप को "प्रतिचक्षणाय" यानी शास्त्र-आचार्यादि द्वारा प्रख्यापन
करने के लिए (उसका आगम हुआ) । क्योकि यदि नाम और रूपो की व्याकृति न होती, तब इस
आत्मा का प्रज्ञानघनाख्य निरुपाधिकरूप प्रकाशित न हो पाता । किन्तु जिस समय कार्यकरणभाव से
नामरूप व्याकृत होते है, तभी इस का रूप प्रकाशित होता है । "इन्द्रः" यानी (नाना रूपो का उपादान
असङ्गात्मा) परमेश्वर "मायाभिः" अर्थात् उपाधिभूत प्रज्ञा या नाम-रूप कृत मिथ्याभिमान से 'पुरुरूपः'
बहुत रूपों वाला 'ईयते' प्रतीत होता है; परमार्थतः ऐसा नही होता । अर्थात् प्रज्ञानघन एकरूप होता
हुआ भी अनृतबुद्धियों के द्वारा बहुत रूपो वाला जाना जाता है । परन्तु आखिर पुरुषो का बहुत्व किस-
लिये होता है । "हि" अर्थात् क्योकि, अपने विषय को प्रकाशन करने के लिए रथ मे जुते हुए घोड़ो के
समान इस शरीर मे 'शता' अर्थात् सैकडो हजारो "दश च" अर्थात् प्राणिभेद बाहुल्य से अनन्त इन्द्रियाँ
है । इन्द्रियों का नाम 'हरि' क्यो पडा ? क्योकि वे विषयो की ओर चित्त हर लेती हैं । इसलिए इन्द्रियो
के विषय की बहुलता होने के कारण अपने विषयो को प्रकाशित करने मे ही इन्द्रियाँ प्रवृत्त हैं, आत्मा को

स्वरूप(याथात्म्य)प्रकाशानुपपत्तेरिति
१. प्रतिबिम्बात्मकम् । २. तदस्येत्यादि—अन्यथाऽविद्यापटलावृतस्य
भावः तद्रूपमित्यन्वयः । ३. शास्त्राचार्यादिना प्रख्यापनाय । ४. प्रकाश्येत । ५. असङ्गात्मनो
बहुभवनोपादानमाचष्टे—इन्द्र इति । ६. प्रज्ञाभिरिति—उपाधिभूताभ्यो धीभ्य इत्यर्थः । ७. इतोऽनन्तरम्
मायाभिरिति स्खलितः पाठो द्रष्टव्यः । ८. ज्ञायते प्रतीयते । ९. अविद्यानृतबुद्धिभिः । १०. पुंसो
बहुत्वम् । ११. शरीरे । १२. दशविंशतिः शतानि सहस्राणीत्येवमसङ्ख्यत्वे तात्पर्यम् ।
१३. उक्तप्रकाशनमेव । १४. मतृप्रपञ्चपक्षम् । १५. लम्बायमाना—अविवेकिजनपारम्पर्येणानुभूयमाना ।
१६. मायया एकत्वेऽपि तच्छक्तिरूपाणां विशेषाणां बाहुल्यात्तत्र बहुत्वोक्तिः । १७. स्वगन्तव्यम् । १८.
रथिस्थानीयस्य । १९. इन्द्रियाणि । २०. तत्तत्तादात्म्यापत्त्येति यावत् ।

दश च प्राणिभेदबाहुल्याच्छतानि [1]दश च भवन्ति । [2]तस्मादिन्द्रियविषयबाहुल्या[3]त्तत्प्रकाशनायैव [4]युक्तानि तानि नाऽऽत्मप्रकाशनाय । "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः" इति हि काठके । [5]तस्मात्तैरेव विषयस्वरूपैरीयते न प्रज्ञानघनैकरसेन स्वरूपेण ।

[6]एवं तर्ह्ययमन्यः परमेश्वरोऽन्ये हरय इत्येवं[7] प्राप्त उच्यते—अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च । प्राणिभेदस्याऽऽनन्त्यात् । किं बहुना तदेतद्ब्रह्म [8]य [9]आत्माऽपूर्वं नास्य [10]कारणं पूर्वं विद्यत इत्य[11]पूर्वम् । नास्यापरं कार्यं विद्यत इत्य[12]न-

न्तीति शेषः । इन्द्रियबाहुल्ये हेतुमाह—प्राणीति । इन्द्रियविषयबाहुल्यात्प्रत्यगात्मा बहुरूप इति शेषः । नन्वात्मानं प्रकाशयितुमिन्द्रियाणि प्रवृत्तानि न तु रूपादिकमेव [13]तत्कथं [14]तद्विषयवशादात्मनोऽन्यथा [15]प्रथे[16]त्याशङ्क्याऽऽह—तत्प्रकाशनायेति । तस्मादिन्द्रियविषयबाहुल्यादित्य[17]त्रोक्तमुपसंहरति—तस्मादिति । यद्वा [18]यथोक्तश्रुतिवशेन लब्धमर्थमाह—तस्मादिति । यस्मादिन्द्रियाणि [19]पराग्विषये प्रवृत्तानि तस्मात्तैरिन्द्रियै[20]र्विषयस्वरूपैरेवायं प्रत्यगात्मा गम्यते न तु स्वासाधारणेन रूपेणेत्यर्थः ।

युक्ता हीति संबन्धमाश्रित्य [21]शङ्कते—एव तर्हीति । अयमित्यादिवाक्येन परिहरति—अयमिति । तत्तदिन्द्रियादिरूपेणाऽऽत्मन एवाविद्यया भानात्संबन्धस्य च कल्पितत्वाद्नाद्वैतहानिरित्यर्थः । इन्द्रियानन्त्ये हेतुमाह—प्राणिभेदस्येति । [22]वाक्यार्थव्याख्यानार्थमित्थं गतेन संदर्भेण भूमिका[23]मारचय्य [24]तत्परं वाक्यमवतार्य व्याकरोति—किं बहुनेत्यादिना । न केवलमध्यायद्वयस्यैवार्थोऽत्र

प्रकाशित करने मे प्रवृत्त नही हैं । कठोपनिषद् में कहा है—"स्वयम्भू परमेश्वर ने (शब्दादि विषयो को प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त होने वाली) इन्द्रियो को बहिर्मुख करके उनका हनन कर दिया है" । अत. (आत्मा के इन्द्रियागोचर होने से) उन्ही विषयरूपो से बहुरूप प्रतीत होता है; प्रज्ञानघन एकरसस्वरूप से नही ।

इस प्रकार यह परमेश्वर अन्य है एव इन्द्रियां अन्य हैं, उनमे यह भेद प्राप्त होने पर श्रुति कहती है । यह इन्द्रियां परमेश्वर ही हैं तथा यही दश, सहस्र, अनेक एव अनन्त हैं क्योंकि प्राणियो के भेद की अनन्तता सिद्ध ही है । अधिक क्या कहे—यह जो क्षेत्रज्ञ आत्मा है, वह ब्रह्म है, "अपूर्वम्" यानी अकार्यरूप है । 'अपूर्व' नाम इसलिए पडा क्योंकि इसका पूव या कारण कोई नही है । "अनपरम्" यानी अका-

१. अनन्तानि भवन्तीत्यर्थ. । २. प्राणिभेदबाहुल्यात् । ३. विषयप्रकाशनायेत्यर्थ. । ४. प्रवृत्तानि । ५ आत्मन इन्द्रियगोचरात् । ६ हरीणामात्मसबन्धे सति अस्य हरय इत्येवम् । ७. तयोर्भेदे । ८. य आत्मेति । "नाऽऽत्मनोऽन्यत्र सभाव्यमपूर्वादि यदीरितम् । ब्रह्माऽऽत्मैवेत्यतो वक्ति श्रुतिरैकात्म्यसिद्धये" ॥ वा० १४२ ॥ ९. क्षेत्रज्ञः । १०. पूर्वमित्यस्यार्थं कारणमिति । ११. अकार्यरूपमित्यर्थः । १२. अकारणरूपमित्यर्थ । १३. आत्मनोऽपि विषयत्वात् । १४. इन्द्रियविषयबाहुल्यानुरोधात् । १५. बहुत्वप्रतीतिः । १६. इत्याशङ्क्येति—विषयबाहुल्यादात्मनो बहुरूपत्व वदता सिद्धान्तिना आत्मबाहुल्यादात्मनो बहुरूपत्वमर्थादुक्तमेव तस्यापि विषयत्वाविशेषात्तथा चात्माश्रय इति शङ्कितुराशय । १७. (भाष्ये) आत्मन औपाधिकबहुत्वम् । १८. काठके । १९. अनात्मवर्गे । २०. विषयात्मनेत्यर्थ । २१. शङ्कत इति—तस्य हरय इति सबन्धप्रतीतेर्द्वैतापत्तिरिति तदाशय. । २२ तदेतदित्यादिमहावाक्यार्थस्येति यावत् । २३. स्वमर्थं परिशोध्येति यावत् । २४. अखण्डार्थतात्पर्यकम् ।

गमनं तस्येत्युच्यते । 'तदस्याऽऽत्मनो रूपं 'प्रतिचक्षणाय प्रतिख्यापनाय । यदि हि नाम-रूपे न व्याक्रियेते तदाऽस्याऽऽत्मनो निरुपाधिकं रूपं प्रज्ञानघनाख्यं न 'प्रतिख्यायेत । यदा पुनः कार्यकरणात्मना नामरूपे व्याकृते भवतस्तदाऽस्य रूपं प्रतिख्यायेत । 'इन्द्रः परमेश्वरो मायाभिः 'प्रज्ञाभि'र्नामरूपकृतमिथ्याभिमानैर्वा न तु परमार्थतः पुरुरूपो बहुरूप ईयते गम्यते एकरूप एव प्रज्ञानघनः सन्न'विद्याप्रज्ञाभिः । कस्मात्पुनः कारणात्" । युक्ता रथ इव वाजिनः स्वविषयप्रकाशनाय हि यस्मादस्य" हरयो हरणादिन्द्रियाणि शता "शतानि

मेत्यर्थः । "तदेव व्यतिरेकेणान्वयेन च स्फुटयति—यदि हीत्यादिना । मायाभिः प्रज्ञाभिरिति "परपक्ष-मुक्त्वा स्वपक्षमाह—मायाभिरिति । मिथ्याधीहेतुभूतानाद्यनिर्वाच्य"दण्डायमानाज्ञानवशादेव बहुरूपो भाति । प्रकारभेदात्तु "बहूक्तिरिति । वाक्यार्थमाह—एकरूप एवेति । अविद्याप्रज्ञाभिर्बहुरूपो गम्यत इति पूर्वेण सबन्धः । परस्य बहुरूपत्वे निमित्त प्रश्नपूर्वकं निवेदयति—कस्मादित्यादिना । यथा रथे युक्ता वाजिनो रथिनं "स्वगोचरं देश प्रापयितुं प्रवर्तन्ते तथाऽस्य "प्रतीचो रथस्थानीये शरीरे युक्ता "हरय स्वविषयप्रकाशनाय यस्मात्प्रवर्तन्ते तस्मादिन्द्रियाणा तद्विषयाणा च बहुलत्वा"त्तत्तद्रूपेण बहुरूपो भातीति योजना । हरिशब्दस्येन्द्रियेषु प्रवृत्तौ निमित्तमाह—हरणादिति । प्रतीचो विषया-

रूप रूप के अनुरूप हो गया । उसमे प्रत्युपाधि का आगम किसलिये हुआ, उसे बतलाया जाता है "तदस्य" अर्थात उस प्रतिबिम्बात्मक आत्मा के रूप को "प्रतिचक्षणाय" यानी शास्त्र-आचार्यादि द्वारा प्रख्यापन करने के लिए (उसका आगम हुआ)। क्योकि यदि नाम और रूपो की व्याकृति न होती, तब इस आत्मा का प्रज्ञानघनाख्य निरुपाधिकरूप प्रकाशित न हो पाता । किन्तु जिस समय कार्यकरणभाव से नामरूप व्याकृत होते हैं तभी इस का रूप प्रकाशित होता है। इन्द्र" यानी (नाना रूपो का उपादान असङ्गात्मा) परमेश्वर "मायाभि" अर्थात उपाधिभूत प्रज्ञा या नाम-रूप कृत मिथ्याभिमान से 'पुरुरूप' बहुत रूपो वाला 'ईयते' प्रतीत होना है, परमार्थत ऐसा नही होता । अर्थात प्रज्ञानघन एकरूप होता हुआ भी अनृतबुद्धिया के द्वारा बहुत रूपो वाला जाना जाता है । परन्तु आखिर पुरुषो का बहुत्व किस-लिये होता है। 'हि" अर्थात क्योकि, अपने विषय को प्रकाशन करने के लिए रथ मे जुते हुए घोडो के समान इस शरीर मे 'शता' अर्थात् सैकडो हजारो 'दश च" अर्थात प्राणिभेद बाहुल्य से अनन्त इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रिया का नाम 'हरि' क्यो पडा ? क्योकि वे विषयो की ओर चित्त हर लेती हैं। इसलिए इन्द्रियो के विषय की बहुलता होने के कारण अपने विषयो को प्रकाशित करने मे ही इन्द्रियाँ प्रवृत्त हैं, आत्मा को

१ प्रतिबिम्बात्मकम् । २ तदस्येत्यादि—अन्यथाऽविद्यापटलावृतस्य स्वरूप(याथात्म्य)प्रकाशानुपपत्तेरिति भाव तद्रूपमित्यन्वय । ३ शास्त्राचार्यादिना प्रख्यापनाय । ४ प्रकाश्येत । ५ असङ्गात्मनो बहुभवनापादानमाचष्टे—इन्द्र इति । ६ प्रज्ञाभिरिति—उपाधिभूताभ्यो धीभ्य इत्यर्थ । ७ इतोऽनन्तरं मायाभिरिति स्खलित पाठो द्रष्टव्य । ८ ज्ञायते प्रतीयते । ९ आविद्यानृतबुद्धिभि । १० पुरो बहुत्वम् । ११ शरीरे । १२ दशविंशति शतानि सहस्राणीत्येवमसङ्ख्यत्वे तात्पर्यम् । १३ रस्त्यस्यानमव । १४ भर्तृप्रपञ्चपक्षम् । १५ लम्बायमाना—अविवेकिजनपारम्पर्येणानुभूयमाना । १६ मायया एकत्वेऽपि तच्छक्तिरूपाणा विक्षेपाणा बाहुल्यात्तत्र बहुत्वोक्ति । १७ स्वगन्तव्यम् । १८ र्दस्यमानोऽस्य । १९ इन्द्रियाणि । २० तत्तत्तादात्म्यापत्त्येति यावत् ।

काच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चा-
नभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लात आनभिम्लाता-
दानभिम्लातो गौतमाद्गौतमः सैतवप्राचीनयोग्याभ्याꣳ
सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भारद्वाजाद्भा-
रद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च गौतमो भार-
द्वाजाद्भारद्वाजः पाराशर्यात्पाराशर्यो बैजवापायनाद्-

से और गौतम से, गौतम ने ॥१॥

आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने शाण्डिल्य और आनभिम्लात से, आनभिम्लान ने आनभिम्लात से, आनभिम्लात ने गौतम से, गौतम ने सैतव और प्राचीनयोग्य से, सैतव और प्राचीनयोग्य ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने भारद्वाज और गौतम से, गौतम ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने

स्वाध्यायार्थो [1]जपार्थश्च [2]तत्र वंश इव वंशो यथा वेणुवंशः [3]पर्वणः पर्वणो हि भिद्यते

हि ब्रह्मविद्या तेन सा [4]महाभागधेयेति स्तुतिः। ब्राह्मणस्यार्थान्तरमाह—मन्त्रश्चेति। स्वाध्यायः [5]स्वाधीनोच्चारणक्षमत्वे सत्यध्यापनं जपस्तु प्रत्यहमावृत्तिरिति भेदः। [6]यथोक्तनीत्या ब्राह्मणारम्भे स्थिते वंशशब्दार्थमाह—तत्रेति। [7]तदेव स्फुटयति—यथेति। शिष्यावसानोपलक्षणीभूतात्पौतिमाष्या-

बतलाया जाता है। यह मन्त्र जप्यमन्त्रकल्प स्वाध्याय और जप के लिए है। बाँस के समान होने से अवतरणोक्तार्थक वंश शब्द का ग्रहण है। जिस प्रकार पर्वों का वशभूत बाँस ग्रन्थिद्वय मध्यवर्ती भाग-

१. जपार्थश्चेति—जपस्तु ब्रह्मविद्योत्पत्तये। तथा च वार्तिके—"जपोऽयं ब्रह्मविज्ञानजन्मने चोद्यते श्रुताविति" ॥ १ ॥ जपार्थश्चेति चशब्दार्थ. वार्तिके—"पुमत्यूहोत्थिताशङ्कानिवृत्त्यर्थं यथोदितम्। ब्रह्मज्ञानस्य वा वशो यत्नाच्छ्रुत्याप्यमुच्यते" ॥ २ ॥ इति। प्रकृतब्रह्मज्ञानस्य पुरुषबुद्धयुत्प्रेक्षितत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थं ब्राह्मणमित्याह—पुमतीति। वंशोपन्यासस्य यत्नो बहुशा वचनम् ॥ अत्र यथोदितमिति ब्रह्मज्ञानस्य विशेषणमव्ययीभावत्वादव्ययम्। २ अवतरणोक्तार्थकम्। ३. ग्रन्थिद्वयमध्यवर्तिभाग पर्व.। ४. महाभागधेयेति—भागधेय मत भाग्ये भागप्रत्ययो. पुमान् इति। भाग्य कर्म शुभाशुभमिति च कोश.। तथा च महाप्रत्ययरूपेत्यर्थ.। महाविज्ञानमिति यावत्। तत्र महत्त्व च महावस्तुविषयत्वमित्याहु यद्वा महाभाग्यरूपेत्यर्थ. यद्वा महद्भागधेय यस्या महाभाग्यवतीत्यर्थ. यतो महद्भिरङ्गीकृता महद्भिरनुगृहीत हि भाग्यवद्भवति स्तुत्य चेति। ५ स्वाधीनेति—स्वाधीनोच्चारणक्षमत्वविशिष्ट यदन्योच्चारणानुकूलोच्चारणकर्तृत्व तत्स्वाध्याय.। शिष्योच्चारणाधीनतटस्थोच्चारणमादाय शिष्येऽतिव्याप्तिवारणाय विशेषणम्। उदासीनावस्थायां गुरौ स्वाध्यायव्यवहारवारणाय विशेष्यमिति निरवद्य लक्षणम्। ६ यथोक्तप्रयोजनार्थमिति यावत्। ७. वंशसादृश्यम्।

वैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥
घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराश-
र्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य
आसुरायणाच्च यास्काच्चाऽऽसुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणि-
रौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज
आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमा-
द्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशो-
र्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो
गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो
वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः

वैजवापायन से, वैजवापायन ने कौशिकायनि से, कौशिकायनि ने ।।२।।
पाराशर्य से, पाराशर्य ने वैजवापायन से, वैजवापायन ने कौशिकायनि से, पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातू-
घृतकौशिक से, घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजधनि से,
कर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्क से, आसुरायण ने त्रैवणि से, आत्रेय ने माण्टि से, माण्टि ने
औपजधनि ने आसुरि से, आसुरि ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने आत्रेय से, शाण्डिल्य ने कैशोर्यकाप्य से,
गौतम से, गौतम ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य से, गालव ने विदर्भीकौण्डिन्य से, विदर्भी-
कैशोर्यकाप्य ने कुमारहारित से, कुमारहारित ने गालव से, पन्था सौभर ने अयास्य आङ्गि-
कौण्डिन्य ने वत्सनपात् बाभ्रव से, वत्सनपात् बाभ्रव ने पन्था सौभर से,

---

अध्यायचतुष्टयस्याऽऽचार्यपरम्पराक्रमो वंश
तद्वदग्रात्प्रभृत्या मूलप्राप्तेरयं वंशः । परमेष्ठी विराट् । ब्रह्मणो
इत्युच्यते । 'तत्र प्रथमान्तः शिष्यः पञ्चम्यन्त आचार्यः ।

वंशशब्देन निष्पन्नमर्य-
दारभ्य तदादिर्वेदाख्यब्रह्ममूलपर्यन्तोऽयं वंश. पर्वण: पर्वणोः भिद्यत इति संबन्धः । 'व्यवस्थेति तत्राऽऽह—
माह—अध्यायचतुष्टयस्येति । अथात्र' शिष्याचार्यवाचकशब्दाभावे कुतो विद्याप्राप्ति-
तनेति । परमेष्ठिब्रह्मशब्दयोरेकार्थत्वमाशङ्क्याऽऽह—परमेष्ठीति । कुतस्तर्हि ब्रह्मणो

रूप पर्व से भिन्न है, उसी प्रकार अग्रभाग से लेकर मूलप्राप्ति पर्यन्त यह वश भी भिन्न है। यहां अध्याय-
चतुष्टयात्मक आचार्यपरम्पराक्रम को वश कहा जाता है। उपरोक्त मन्त्रो मे शिष्य के लिए प्रथमान्त
प्रयोग है एव आचार्य के लिए पञ्चम्यन्त प्रयोग है। "परमेष्ठी" यानी विराट् ने "ब्रह्मण:" अर्थात्

---

१. वशे। २. वशे। ३. अय गुरुरय च शिष्य इति नियम.।

अथ बृहदारण्यकोपनिषत्कण्डिकाद्यपदानां वर्णानुक्रमः ।